विविध प्रकार से शिवपूजा का माहात्म्य

भगवान् शिव की पूजा विविध उपचारों से की जाती है। उपचारों की विविधता उपासक की कामना तथा साधनों की उपलब्धि पर निर्भर करती है। अलग-अलग प्रकार के द्रव्यों से शिवजी की पूजा के फल भी अलग-अलग होते हैं। यहाँ पर हम संक्षेप में कुछ प्रकार के द्रव्यों से की जानेवाली पूजा के फलों की चर्चा करेंगे।

भगवान् शिव को ब्राह्म-स्नान करानेवाला सभी पापों से छूटकर रुद्रलोक को प्राप्त करता है। कपिला गाय के पञ्चगव्य में कुशोदक मिलाकर(अभिषेक के) मन्त्रों द्वारा स्नान कराना ब्राह्म-स्नान कहलाता है।

कपिलापञ्चगव्येन कुशवारियुतेन च।
स्नापयेत् मन्त्रपूतेन ब्राह्मं स्नानं हि तत्स्मृतम्।।
एकाहमपि यो लिङ्गे ब्राह्मं स्नानं समाचरेत्।
विधूय सर्वपापानि रुद्रलोके महीयते।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 205)

जो व्यक्ति कोल्हू से निकले तिल के तेल से शिवलिंग का अभिषेक करता है, वह शिवपद को प्राप्त करता है। जो कपूर और अगुरु मिश्रित जल से लिंग को स्नान कराता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर शिव-सायुज्य को प्राप्त करता है। जो वस्त्र से छाने हुए जल से लिंग को स्नान कराता है वह अपनी कामनाओं को पूरा कर वरुणलोक को प्राप्त करता है।

यःपुमांस्तिलतैलेन करयन्त्रोद्भवेन च।
शिवाभिषेकं कुरुते स शैवं पदमाप्नुयात्।।
कर्पूरागुरुतोयेन यो लिङ्गं स्नापयेत्सकृत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात्।।
वस्त्रपूतेन तोयेन यो लिङ्गं स्नापयेत्सकृत्।
सर्वकामसुतृप्तात्मा वारुणं लोकमाप्नुयात्।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 206)

अष्टांगअर्घ्य को निवेदन करनेवाला दस हजार वर्षोंतक रुद्रलोक में निवास करता है।

योऽष्टाङ्गमर्घमापूर्य लिङ्गमूर्धनि निःक्षिपेत्।।
दशवर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 208)

सुन्दर रंगीन एवं मुलायम वस्त्र समर्पित करनेवाला हजारों वर्षोंतक शिवलोक में निवास करता है। इसी प्रकार श्वेत या पीले रंग का पट्टसूत्रादि से निर्मित तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत अर्पित करनेवाला वेदान्त का ज्ञाता होता है।(वीरमि. पू. प्र. पृ. 208-209)

त्रिवृत् शुक्लं सुपीतं वा पट्टसूत्रादिनिर्मितम्।
दत्त्वोपवीतं रुद्राय भवेद्वेदान्तपारगः।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 209)

चन्दन, अगुरु, कपूर तथा कुंकुमादि से लिंग का लेपन करनेवाला करोड़ों कल्पोंतक स्वर्ग में निवास करता है।

चन्दनागुरुकर्पूरैः श्लक्ष्णपिष्टैः सकुङ्कुमैः।
शिवलिङ्गं समालिप्य कल्पकोटिं वसेद्दिवि।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 209)

पर्वत या जंगल में स्वतः उत्पन्न ताजे छिद्र तथा जन्तुओं से रहित फूल या पत्तों से शिवजी की पूजा का वही फल होता है जो तपस्वी वेदज्ञ ब्राह्मण को सुवर्ण दान देने से होता है। अर्थात् सुवर्ण के दान के फल के बराबर पत्र-पुष्प से पूजा करने पर होता है।(वीरमि. पू. प्र. पृ. 210)

अपामार्ग से चतुर्दशी के दिन शिव की पूजा करनेवाला शिवसारूप्य को प्राप्त करता है। इसी प्रकार पंचाक्षर-मंत्र से बिल्वपत्रों द्वारा शिव की पूजा करनेवाला शिवजी के पद को प्राप्त कर लेता है।

अपामार्गदलैर्यस्तु पूजयेद्गिरिजापतिम्।
स याति शिवसारूप्यं चतुर्दश्यां न संशयः।।
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण बिल्वपत्रैः शिवार्चनम्।
करोति श्रद्धया युक्तः स गच्छेदैश्वरं पदम्।।(वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 213)

भगवान् शिव को बिल्वपत्र इतना प्रिय है कि सूखे हुए एवं बासी बिल्वपत्रों से पूजा करनेवाला भी सभी पातकों से मुक्त हो जाता है।

शुष्कैः पर्युषितैर्वापि बिल्वपत्रैस्तु यो नरः।
पूजयंस्तु महादेवं मुच्यते सर्वपातकैः।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 214)

गुग्गुल में घी मिलाकर जो भगवान् शिव को धूप अर्पित करता है वह रुद्रलोक को प्राप्त कर गणपति के पद को प्राप्त करता है।

गुग्गुलं घृतसंयुक्तं शिवे यश्च निवेदयेत्।
रुद्रलोकमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 216)

घी या तिल के तेल का दीपक शिव के निमित्त प्रदान करनेवाला व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है तथा उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं(वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 75)। कार्तिक मास में दीपमालिका करनेवाला रुद्रलोक को प्राप्त होता है(वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 218)।

भगवान् शिव को घी एवं गुड़ आदि से बने पदार्थों तथा खीर आदि का नैवेद्य अर्पित करनेवाला सहस्त्रों वर्षतक रुद्रलोक में निवास करता है, उसकी दुर्गति नहीं होती तथा वह स्वर्गलोक को भोगता है।

पायसं घृतसंयुक्तं महेशाय प्रयच्छति।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गं लोकं च गच्छति।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 220)

पाँच सुगन्धियों(जैसे इलायची, कपूर तथा कंकोल आदि) से युक्त ताम्बूल को भगवान्

शिव को अर्पित करनेवाला करोड़ों वर्षोंतक रुद्रलोक में निवास करता है(वीरमि. पूजाप्र. पृ. 220)। सफेद या गेरुवे या लाल कपड़े की ध्वजा को अर्पित करनेवाला भी शिवलोक को प्राप्त करता है।

श्वेतं महाध्वजं दत्त्वा कृत्वा वै गैरिकेण तु।
स याति परमं स्थानं यत्र देवः पिनाकधृक्।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 221)

शिवमंदिर में लोहे की शृंखलायुक्त विशाल घण्टे को जो लटकाता है वह घण्टाकर्ण गण के सदृश बलवान् हो शिवलोक को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो शिवजी को भेरी, मृदंग, दुन्दुभि आदि वाद्यों को अर्पित करता है, वह भी दिव्य शिवलोक को प्राप्त करता है(वीरमि. पूजाप्र. पृ. 222)।

माला एवं उपहारों(गन्धादि) से शिवजी का जप एवं पूजन किया जाय तो उससे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

महामाल्योपहारैश्च यो मां जप्यैश्च पूजयेत्।
ददामि ब्रह्मलोकस्य वासं वास्तुसुपूजितम्।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 225)

भगवान् शिव की तीन बार प्रदक्षिणा तथा पाँचबार(अथवा पंचांग) प्रणाम करके पुनः प्रदक्षिणा करने पर व्यक्ति को शिवलोक की प्राप्ति होती है।

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा नमस्कारैश्च पञ्चभिः।
पुनः प्रदक्षिणं कृत्वा शिवलोके महीयते।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 236)

दण्डवत् प्रणाम द्वारा शिवजी की पूजा करने पर सैकड़ों यज्ञों से भी अधिक फल प्राप्त होता है। दण्डवत् नमस्कार से सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। सैकड़ों एवं हजारों तीर्थ महादेवजी के प्रणाम की 16हवीं कला के तुल्य भी नहीं हैं। अर्थात् भगवान् शिव को प्रणाम करने से जो फल प्राप्त होता है वह मात्र तीर्थयात्रा से प्राप्त नहीं हो सकता।

तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च।
महादेवप्रणामस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। (वीरमित्रोदयपूजाप्रकाशः पृ. 236)

रोग को दूर करने के लिये लघुरुद्र, महारुद्र और अतिरुद्र का जप या अभिषेक किया जाता है। भगवान् शिव ने पार्वती से रुद्राभिषेक का माहात्म्य बतलाते हुए कहा है कि–

सर्वकर्माणि सन्त्यज्य सुशान्तमनसो यदा।
रुद्राभिषेकं कुर्वन्ति दुःखनाशो भवेद् ध्रुवम्।।

(धर्मसिन्धुः पृ. 674, पादटिप्पणी)

अर्थात्– सभी कर्मों को छोड़कर शान्तमन से रुद्राभिषेक करने से अवश्य ही दुःखों का नाश हो जाता है।

जल द्वारा रुद्राभिषेक से वृष्टि, कुशोदक द्वारा अभिषेक से व्याधि की शान्ति, दही से पशु की प्राप्ति, गन्ने के रस से श्रेय की प्राप्ति, मधु एवं घी से अभिषेक करने पर धन की प्राप्ति,

तीर्थजल से मोक्ष की प्राप्ति तथा खीर से पुत्र की प्राप्ति होती है।(धर्मसिंधुः पृ. 674)

पूर्वजन्मकृत पाप ही रोग का रूप धारण कर प्राणी को पीड़ित करता है(**'पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते'**)। रुद्रजप या अभिषेक से पाप का नाश निश्चितरूप से होता है(**'रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः'**)। पाप के नाश हो जाने पर रोग का स्वतः ही नाश हो जाता है। अतः शतरुद्रि का प्रयोग रोगादि के नाश के लिये उत्तम माना गया है।(धर्मसिन्धुः पृ. 674, पादटिप्पणी देखें)

चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णमासी तथा अमावस्या के दिन लिंग को दूध से स्नान कराने वाले को पृथ्वीदान का फल प्राप्त होता है।

चतुर्दश्यां तथाष्टम्यां पौर्णमास्यां विधुक्षये।
पयसास्नापयेल्लिङ्गं धरादानफलं व्रजेत्।। (मन्त्रमहोदधिः 19/109)

❀❀❀❀❀❀

ब्राह्मण कौन?

सर्परूपधारी नहुष ने युधिष्ठिर से पूछा कि ब्राह्मण कौन है? तो युधिष्ठिर उत्तर देते हैं-

सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।। (महाभारत, वनपर्व 180/21)

नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया-ये सद्गुण दिखायी देते हों वही ब्राह्मण कहा गया है।

पुनः कहते हैं यदि शूद्र में सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है। और जिसमें इन लक्षणों का अभाव हो उसे शूद्र कहना चाहिये।

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृतं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्।।

(महाभारत, वनपर्व 180/25-26)

जिस मनीषी पुरुष के उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी-ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित(अर्थात् वश में) हैं वही वास्तव में ब्राह्मण है।

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः।।

(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व 269/28)

1

(11) अंगप्रदीप

नंबर १४२५

3811

अथयोगप्रदीपप्रारंभः यावन्नग्रस्यतेरोगैर्यावन्नाभ्येति
तेजरा यावन्नक्षीयतेचायुस्तावत्कल्याणमाचर १ कुतो
स्मिक्कगमिष्यामिकुत्रायातोस्मिसांप्रतं कोबंधुर्ममकस्याह
मित्यात्मानंविचिंतयेत् २ पुरुषास्तीर्थमिछंतिकिंतीर्थैःक्ले
शकारकैः धर्मतीर्थंशरीरस्थंसर्वतीर्थाधिकंमतं ३ इदं
तीर्थमिदंतीर्थमिति ज्ञात्वाभ्रमंतिये ज्ञानध्यानविहीनास्तेस
तितीर्थंस्वमेवहि ४ आजन्मोपार्जितंसर्वंभक्षयेत्कायसंस्थि
तः केनापिदृश्यतेनैवस्वात्मायंपश्यतोहरः ५ लोकैर्विलोक्य
तेचौरोगतेस्वल्पेपिवस्तुनि सर्वस्वहरमात्मानंमनाक्पश्यंति
नोजडाः ६ तस्मात्मापिकदापेनकायदुर्गसमाश्रितः अज्ञा
नछादितःस्वात्मानिरीक्ष्योयोगिभिःसदा ७ आत्मैवसुप्रस

न्नोत्रसुगतिःपरिकीर्त्तिता अप्रसन्नःपुनरयेदुर्गतिःस्याद
संशयः ८ तीर्थेतीर्थेकुर्वतीहयस्यदर्शनवांछया वसन्न
त्रैवदेहेसौदेवोद्रष्टुंनशक्यते ९ स्थानेस्थानेभ्रमंतीहदेव
दर्शनहेतवे शरीरस्थनपश्यंतिदेवमज्ञानबुद्धयः १० स
र्वधातुविनिर्मुक्तोऽस्मन्नरूपोनिरंजनः आत्मेनकर्मनिर्मुक्तोध्या
तव्योमोक्षकांक्षिभिः ११ संतोषामृतनिर्मग्नःशत्रुमित्रसमः
सदा सुखदुःखापरिज्ञाताराग‌द्वेषपराङ्मुखः १२ प्रभारा
शिरिवश्रीमान्सर्वविश्वोपकारकः सदानंदसुखोपूर्णःस्वा
त्माध्यातव्यईदृशः १३ शुद्धस्फटिकसंकाशःसर्वज्ञगुणभू
षितः परमात्माकलायुक्तोध्येयःस्वात्मामनीषिभिः १४
षट्चक्रवस्तुपीठादिसर्वंत्यक्त्वामुमुक्षुभिः आत्माध्यातव्य

एवायंध्यानेरूपविवर्जिते १५ एवमभ्यासयोगेनध्यानेनाने
नयोगिभिः शरीरांतःस्थितःस्वात्मायथावस्थोवलोक्यते
१६ नज्ञातःपुरुषोयेनगुणप्रकृतिवर्जितः तेनैवतीर्थयज्ञादि
सेवनीयंनयोगिभिः १७ आत्मज्ञानंपरंतीर्थंनजलंतीर्थमु
च्यते स्वात्मज्ञानेनयछौचंतछौचंपरमेस्मृतं १८ आत्मज्ञा
नंपरोधर्मःसर्वधर्मकर्मणां प्रधानंसर्वविद्यानांप्राप्यतेह्यमृतं
मतः १९ तपोभिर्दुस्तपैस्तत्तैर्व्रतैस्तैस्तैश्चपुष्करैः आत्मज्ञानं
विनामोक्षोनभवेद्योगिनामपि २० सर्वधर्ममयःश्रीमानसर्व
स्वर्गविवर्जितः आत्मायेज्ञायतेयेनतस्यजन्मनविद्यते २१
एवंध्यात्वास्वमात्मानंस्वकायेकायवर्ज्जितं ध्येयःपरपदारूढं
देवेशांमुक्तिहेतवे २२ शंकरोवाजिनेशोवायोयस्माःभिमतःस

दा एकएवप्रभुःशांतोनिर्वाणस्थोविलोक्यते २३ सुरासुर
नराधीशंपूजितोजगतांहितः सद्दोषविनिर्मुक्तोदेवेशःपरिकी
र्तितः २४ पुण्यापुण्यपघातीतोभववल्लीविनाशनः अव्या
क्तोव्यक्तरूपश्चसर्वज्ञःसर्वदर्शनः २५ निराकारोनिराभासो
निःप्रपंचोनिरंजनः सदानंदमयोदेवःसिद्धोबुद्धोनिराम
यः २६ अनंतकेवलोनित्योव्योमरूपःसनातनः देवाधिदे
वोविश्वात्माविश्वव्यापीपुरातनः २७ कृत्स्नकर्मकलातीतः
सकलोनिष्कलोपिच परमात्मापरंज्योतिःपरंब्रह्मपरात्परः
२८ गुणत्रयविनिर्मुक्तोगंधस्पर्शविवर्जितः अच्छेद्यश्चा
प्यभेद्यश्चनिर्लेपोनिर्मलप्रभुः २९ सगुणोनिर्गुणःशांतःसं
सारार्णवतारकः दुर्लक्ष्योलक्ष्यमापन्नःसुवर्णोविवर्णःवर्जितः

३० एकोप्यनेकरूपश्चस्थूलसूक्ष्मोलघुर्गुरुः निर्वाणपद
मारूढोदेवेशोयमिहोच्यते ३१ ब्राह्मणैर्लक्ष्यतेब्रह्माविष्णुः
पीतांबरैस्तथा रुद्रस्तपस्विभिर्दृश्यएषएवनिरंजनः ३२
जिनेंद्रोजल्प्यतेजैनैर्बुधःकृत्वासमेगतैः कौलिकैःकौलआ
ख्यातःसएवायंसनातनः २ स्फटिकोबहुरूपःस्याद्यथैवोपा
धिवर्जितः सतथादर्शनैःषड्भिःख्यातएकोप्यनेकधा ३४ य
थाप्यनेकरूपंस्याज्जलंभूवर्णभेदतः तथाभावविभेदेनना
नारूपःसगीयते ३५ भावभेदान्नमच्छेतिदर्शनान्येकवर्त्म
ना एकत्रापिस्थितांकार्येपिंचैतेविषयायथा ३६ निष्कलो
निर्ममःशांतःसर्वज्ञःसुखदःप्रभुः सएवभगवानेकोदेवोज्ञे
योनिरंजनः ३७ व्योमरूपोजगन्नाथःक्रियाकालगुणोत्तरः

संसारस्थितिभिर्मुक्तः सर्वतेजो विलक्षणः ३८ केवल
ज्ञानसंपूर्णः केवलानंदसंश्रितः केवलध्यानगम्यश्च
देवेशोयमिहोच्यते ३९ इत्यनंतगुणाकीर्णमनंतसु
खशालिने ध्यायेन्मुक्तिपदारूढं देवेशमपुनर्भवं ४०
शाम रक्तस्वच्छगंगाजलेन स्नापयेत्प्रभुं पूजयेत्तं त
तो योगी भावपुष्पैः सुगंधिभिः ४१ भक्तिस्थलेविशा
लेच वशंकृत्वास्थिरं मनः निक्षिप्यपरमानंदस्नेहपूरं
सुधादिकं ४२ दीपश्रेणीसुदीप्तांच प्रबोध्यज्ञानतेजसा
उत्तारयेत्प्रभोः पुण्यमारात्रिकमिति क्रमात् ४३ सदेव
विधिनानेन देवेशस्यप्रभोरहं भवेयंभावतः पूजाकार
कश्चेतिचिंतयेत् ४४ स्वहंसमतरात्मानंचिद्रूपंपरमात्म
नि

योजयेत्परमेहंसेनिर्वाणपदमश्नुते ४५ द्वाभ्यामेकंवि
४ धायाद्यस्तु भध्यानेनयोगवित परमात्मस्वरूपंतंस्वमात्मा
नेनेविचिंतयेत ४६ सुलब्धानंदसाम्राज्यंकेवलज्ञा
नभास्करः परमात्मास्वरूपोहंजातस्त्यक्तभवार्णवः
४७ आंनिरंजनोदेवः सर्वलोकाग्रमाश्रितः इतिध्या
नंसदाध्यायेदक्षयस्थानकारणं ४८ आत्मनोध्यान
लीनस्पदृष्टेदेवेनिरंजनने आनंदाश्रुप्रयातःस्याद्रोमां
दश्चेतिलक्षणं ४९ संयमोनियमश्चैवकरणंचतृतीय
कं प्राणायामप्रत्याहारासमाधिर्धारणातथा ५० ध्या
नंचेतीह्वयोगस्यज्ञेयमष्टांगकंबुधैः परंगंक्रियमा
राग्स्तुमुक्तयेस्यात्सीमतां ५१ [illegible] तद्दर्म ४

तद्धर्मस्त दृ तं ध्यानं तत्त्व योयोगरावसः सए वहिपदारोहो
नयत्रक्षिरूपेतेमनः ५२ संकल्पेन विकल्पेन हीने हेतुविवर्जि
ते धारणाध्येयनिर्युक्तोनिर्मलस्थानकेध्रुवे ५३ नियुंजि
तसदाचित्तंसभावेभावनांकुरु पदेतत्रगतोयोगीनपुनर्ज
न्मत्तांव्रजेत् ५४ ज्ञेयंसर्वपदातीतं ज्ञानंचमनउच्यते ज्ञा
नंज्ञेयंसमंकुर्यान्नान्योमोक्षपथःपुनः ५५ ध्रुवोपरिमनो
नीत्वातत्परंचावलोकयेत परात्परतरंतत्त्वतद्धक्ष्मंतन्निर
जनं ५६ पूर्वमार्गेनमोक्षोस्तिपश्चिमेपिनविद्यते उन्मार्ग
उन्मनीभावेमुक्तिःस्यान्मार्गवर्जिता ५७ भवभ्रांतिपरित्या
गादानंदैकरसात्मिका सहजावस्थितिःसाध्येरयंमोक्षपथः
स्मृतः ५८ मनोयत्कायरहितेश्वासोछ्वासविवर्जितं गमाग

मपथातीतंसर्वव्यापारवर्जितं ५८ निराश्रयंनिराधारंस
र्वाधारंमहोदयं पराचिनंपदंज्ञेयंयोगिभिस्तन्निरंजनं
६० पवनोम्रियतेयत्रमनोयत्रविलीयते विज्ञेयंसहजंस्था
नंतत्सुखममजरामरं ६१ मनोव्यापारनिर्मुक्तंसदैवाभ्यास
योगतः उन्मनीभावमायातेलभतेतत्पदंक्रमात् ६२ वि
मुक्तविषयासंगंसन्निरुद्धंमनोहृदि यदाग्यात्युन्मनिभावं
तदातत्परमंपदं ६३ ध्यातृध्यानोभयाभावोध्येयनेकंपदा
व्रजेत् सोयंसमरसीभावस्तदेकीकरणंमतं ६४ शुभ
ध्यानस्यसूक्ष्मस्यनिराकारस्यकिंचन अथातःप्रोच्यतेतत्
त्वंदुर्ज्ञेयंमहतामपि ६५ रम्यौसुतेननमूकेनलब्धःस्वप्ना
त्रकेनचित् नब्रूतेसोपिमूकस्तुतेनस्वप्नोनबुध्यते ६६

योमूकोयादृशीरात्रिस्वप्नोपिप्राज्ञयादृशः फलंचयादृ
शंतस्यस्मृणुसौम्यनदादरात् ६७ अविचारात्रिसुप्तेषु
नचित्तमूकेनयोगिना स्वप्नोभावमयोलब्धः▒स्तस्यैवा
नंददायकः ६८ ऊनस्तेहैनस्थिरोभावपरब्रह्मणियो
गिना परब्रह्मगतोभावस्तस्यमुक्तिफलोभवेत् ६९
सोमसूर्यद्वयातीतंवायुसंचारवर्जितं संकल्पवर्जितं
चित्तंपरब्रह्मनिगद्यते ७० परब्रह्मैवतद्ज्ञेयंसिद्धार्थै
विबुधैःसदा स्वप्नार्थःकथितप्राज्ञःयोगयुक्त्यातवाग्रतः
७१ नकिंचिच्चिंतयेच्चित्तेमुन्मनीभावसंगते निराका
रंमहासूक्ष्मंमहाध्यानंतदुच्यते ७२ पिंडरूपपदैर्भेदा
:सुक्लध्यानास्ययेपुरा उक्तास्तस्यैवरोहार्थेप्रासादेपदि

कंयथा ७२ कादृशोस्मीकगंतास्मिक्किंकरोमिस्मरामिभ
किं इतियोगीनजानातिलयेलीनोनिरंजने ७३ आछ
दितेज्ञाननेत्रेविभ्रयेःपटछोपमेः ध्यानंसिध्दिपुरीद्वा
रंनैवपश्यंतिजंतवः ७४ पंचभिश्चंचलैरेभिःपथ
कविषयनामभिः अनिरुद्धैरिंद्रियाधैध्यानादव्यावर्त्त
तेमनः ७५ शामंनीतेषुतेष्वत्रकषायेष्विंद्रियेष्वपि
ध्यानेस्थैर्यकृतेचित्तंकार्यंसंकल्पवर्जितं ७६ ध्यानेमन
:समायुक्तंमनस्तत्रचलंम्चलं वश्यंयेनकृतंतस्यभवेद्व
श्यंजगत्त्रयं ७७ यच्छुभंकर्मकर्त्तव्यंतत्कुर्यान्मनसासह
मनस्तुल्यंफलंयस्मात्सत्येशुभंभवेत्सुनः ७८ कृत्वा
ध्यासोययाधन्वीलक्ष्यंविध्यन्तितन्मना एककित्तस्तथायो

गीवां छिंतंकर्मसाधयेत् ७९ तस्मादपुत्तमंसारंपवित्रं
कर्मनाशनं सर्वधर्मोत्तरंचित्तंकार्येत्रामरसात्मकं ८०
जन्मछक्षैर्व्रतैरुश्रेयैश्चैव क्षीयते कच्चित् मनःशमरसेम
ग्नंतत्कर्मक्षपयेत्क्षणात् ८१ सर्वारंभपरित्यागात्चित्ते
त्रामरसंगते सासिद्धिःस्यात्सतोयानोसर्वातिर्थाव
गाहने ८२ विद्यमानेपरेमहायोगेसमरसात्मके
योगंयोगंप्रकुर्वीणासंभ्रामंतिदिशोदिशीं ८३ ताव
द्वर्णविशेषोस्तियावद्ब्रह्मज्ञानविंदति संप्राप्तापरमंब्र
ह्मसर्वेवर्णाद्विजाः ८४ तयः ८४ धर्ममार्गाधिना
स्संतिदर्शनान्नाविभेदतः मोक्षार्थसमतांयांतिसमुद्रं
सरितोयथा ८५ गवामनेकवर्णानामेकवर्णंपयस्सयः

षट्दर्शनमार्गाणांमोक्षमार्गस्तथासमः ८६ संकल्पक
ल्पनामुक्तं रागद्वेषविवर्जितं सदानंदलयेलीनंमनःसम
रसंस्मृतं ८७ अतीतंचभविष्यच्चयन्नशोचतिमानसं
तान्सामायिकमित्याहुर्निवातस्थानदीपवत् ८८ निःसं
गंयन्निराभासंनिराकारंनिराश्रयं पुण्यपापविनिर्मुक्तंम
नंसामायिकंस्मृतं ८९ गतेशोकोनयस्यास्तीनच हर्षः
समागते शत्रुमित्रसमेचित्तंसामायिकमिहोच्यते ९०
यत्प्रसर्प्पतिलोकेस्मिन्शस्त्रंकुकविभिःकृतं अविद्या
साविनिर्दिष्टासमताभ्रमकारणं ९१ यथारात्रौतमेमूढा
नैवपश्यंतिजंतवः नैवेक्षंतेतथातत्वमविद्यातमसावृताः
९२ मोहमायामयीदुष्टासाधूनांमोक्षकांक्षिणां मुक्ति

मार्गर्गिलानित्यमविद्यानिर्मिताभुवि १३ इतिज्ञात्वाबुधे॰
नित्येस्वात्मनेहितकांछया अविद्यानिर्मिताभुवि १४ इति
ज्ञात्वाबुधैर्नित्यं दूरतस्त्याज्यानश्रोतस्माकदम्बन १४ सर्व
ल्लोकानुसद्विद्याभवविछेदकारणं सैवसेव्यासदासद्भिर्मो
क्षमार्गप्रदायिका १५ सत्वंरजस्तमश्चेतिचारीरांतर्गणत्रयं
रजस्तमश्चसंत्यज्यसत्वमेकंसमाश्रयेत् १६ सत्वंसर्वगुणाधारं
सत्वंधर्मधुरंधरं संसारनाशनंसत्वंसत्वंस्वर्गापवर्गदं १७
निरालंबेनिराकारेसदानंदस्वपदेशुभे संतोध्यानमयेसो
धेसत्वस्तंभोदृढोमतः १८ यथावन्हिलवेनापिदह्यंतेदारुसं
चयाः कर्मेंधनानिदह्यंतेतथाध्यानलवेनतु ११ यथावामे
घसंघाताः प्रलीयंतेनिलाहृताः शुक्लध्यानेनकर्माणिक्षीयंते

८

योगिनांतथा १०० यःसदाल्हादितियोगीशेध्यानस्वरूपमहाज
ले लक्षमेकंकथंतिष्टेत्तस्मिन्कर्मरजोमलः १ नलगेत
पद्मिनिपत्रेयथातोयंस्वभावतः पाषाणोभिद्यतेनैवजलम
ध्यस्थितोयथा २ स्फटिकोमलिनोनस्यात्रजसाछादितो
यथा नलिप्यतेतथापापैरात्मासध्यानमाश्रितः ३ शुद्ध
ध्यानसमायोगाब्रह्मवित्ब्रह्मणिस्थितः भूमिस्थोपिभजे
योगीज्ञात्वाग्रफलमुत्तमं ४ मुक्तिश्रीपरमानंदध्यानेना
नेनयोगिनः रूपातीतंनिराकारंध्यानेध्येयंततोनिरं ५
ग्रंथान्नभ्यस्यतत्वार्थैनत्वज्ञानेपुनःसुधीः पलालमिव
ध्यानार्थैत्यजेद्ग्रंथानशेषतः ६ क्षीयंतेयानिकालेनकिंतैः
कर्त्तव्यमक्षरैः यावन्नोनक्षरप्राप्तंतावन्मोक्षसुखंकुतः

७ ध्यानेकस्यतरुर्लोके ज्ञानपुष्पैः सपुष्पितो मोक्षामृ
तफलैर्नित्यंफलितोयंसुखप्रदैः ८ तथाकुरुयथाशुक्ल
ध्यानवृक्षसमाश्रितः चिन्वानोज्ञानपुष्पाणिलभेन्मोक्षफ
लंबुधः ९ अस्मिन्नेवभवेसौम्य व्योमरूपः सनातनः शुक्ल
ध्यानात्सदानंदोयोगीमुक्तिपदंव्रजेत् १० ज्ञानदर्शनचारि
त्ररूपरत्नत्रयात्मकं योगोमुक्तिपदप्राप्तावुपायःपरिकीर्ति
तः ११ व्यापारछिन्नसंसारः सयोगोमुक्तियोजकः विनकः
संयमाद्यंगैः सोपिस्यादष्टधापुनः १२ मणिहुतवहतारासो
मसूर्यादयोपिच क्षितिविषयमितस्संवाह्यमुद्योतयंति १३
सहजलयससुथंद्योतयेज्ज्योतिरंत स्त्रिभुवनमपिसूक्ष्म
स्थूलभेदंसदैव १४ परमानंदास्पदंसूक्ष्मंलक्ष्यंस्वानुभवा

त्परं अधस्ताद्द्वादशोनस्य ध्यायेन्नादमनाहतं १५ तैलधा
राभिवाछिन्नं दीर्घघंटानिनादवत् लयं प्रणवनादस्य यस्तं वे
त्ति स योगवित् १६ घंटानादे यथा प्रान्ते प्रशाम्यन्मधुरो भवे
त् अनाहतोपि नादो र्धतथा शांतो विभाव्यतां १७ नदत्स
व्यक्तरूपेण सर्वभूतहृदि स्थितः सनादो नाहतस्तेन न नादो
व्यक्तिसंभवः १८ सनादः सर्वदेहस्थो नानारूपेतु व्यवस्थि
तः प्रत्यक्षसर्वभूतानां दृश्यते नैव लक्ष्यते १९ अक्षरध्वनि
निर्मुक्तं निस्तरंगं समे स्थिते यश्चित्तं सहजावस्थं सनादस्ते
नभिद्यते २० तावदेवेंद्रियाणि स्युः कषायास्तावदेव हि
अनाहते मनो नादे यावल्लीनं न योगिनः २१ सौरव्यं विषयि
कं तावत्सुरम्यं प्रतिभासते अनाहतलयोत्थं चेत्सुखं नाव...

न्नलभ्यते २२ जन्मकालार्ज्जितंकर्म्मध्यानेनाशेन्नयोगिनः
तमःसूर्योदयेनेवतत्सर्वंनश्यतिक्षणात् २३ स्थूलंसूक्ष्मं
चसाकारंशुभध्यानमितिस्फुटं रूपातीतंसमाख्यातंनिरा
कारमथोच्यते २४ निराकारमपिध्यानंरूपातीतेसमुच्च
ले स्थूलसूक्ष्मविभेदेनद्विविधंपरिकीर्तितं २५ शरीरंसक
लंत्यक्त्वाब्रह्मद्वारेस्थिरंमनः क्रियतेयदितत्सुक्ष्मंनिराका
रमिहोच्यते २६ ध्यानेत्वनाहतेशुद्धेनित्याभ्यासप्रयोगतः
द्वादशांतेनिराकारेमनोयोगंनिवेशयेत् २७ ब्रह्मरंध्रेंत
रंयोगीत्यक्त्वात्मानंविधाप्यच ब्रह्मद्वारंनिराकारंपरमात्म
पदंश्रयेत् २८ एकांगुलिपरिमाणंसुवृत्तंव्योमसन्निभं यो
गीद्रःप्रथमेयावत्द्वादशांतंविचिंतयेत् २९ नेत्रमंगलेसंस्था

यो द्वादशात्मा निगद्यते तस्मादप्यूर्द्धगं ब्रह्म द्वादशांते तथा
स्मृतं ३० नादबिंदुकलातीतं परमात्मकलायुतं द्वादशां
ते सदा ध्यायेत् सदानंदैकमंदिरं ३१ रुद्धा योगिकषाय
प्रसरमग्निचलानिंद्रियान् स्वान्नियम्य त्यक्त्वा वासंगमन्यं
परमपदसुखप्राप्तये वृद्धबुद्धिः कृत्वा चित्तं स्थिरं त्वं त्रगम
रसकलितं सत्वमालंब्य बाढं ध्यानं ध्यातुं यतेत प्रतिदिनम
मलं शुद्धधर्मो वितंद्रः ३२ छित्वा संसृतिपाशमंतर बलं
जित्वाथ मोहादिकं दीक्षां मोक्षकरीं प्रपद्य सबुधः पार्श्वे प्र
भोरुद्यतः ब्रह्मज्ञानजयेन केवलमयं ज्ञानं समुत्पाद्य च प्रा
यन्मुक्तिपदं सदा सुखमयं क्षीणाष्टकर्मा क्रमात् ३३ अहिं
सा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगतः इत्येतानि व्रतान्यत्र संय

मः पंचधास्मृतः ३४ शौचं तपश्च संतोष स्वाध्यायो देव
तास्मृतिः नियमः पंचधा ज्ञेयः करणं पुनरासनं ३५
श्वासप्रश्वासयोः स्थैर्यं प्राणायामो भवेत्पुनः प्रत्याहारो
विषयध्वंस इंद्रियाणां समाहृतं ३६ समाधिर्भयहृत्वेण
वाक्यानामर्थचिंतनं स्थैर्यहेतोर्भवेद्यो धारणा चित्तयो
जना ३७ स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे च निराकृतौ ध्या
नं ध्यायेत्तु स्थिरं चित्तं नैरा कप्रत्ययसंगते ३८ एवं योगो भवे
द्योगैरष्टधा संयमादिभिः सर्वातिसय संपन्नं ध्यानं कस्मा
त्कारणं ३९ द्विविभ्रमौ तथाकाशो बहिरंतश्च यो विभुः
यो विभात्येव भासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः ४० नाहं बद्धो
विमुक्तश्च इतियस्यास्ति निश्चयः नात्यंततो ज्ञानो मरवैः सो

स्मिन्न्त्रास्त्वेधिकारवान् ४१ सर्वसंकल्पसन्यस्तमेकांत घनवासनं नकिंचित्भावनाकारं तत्ब्रह्मपरमंपदं ४२ इतिश्रीयोगप्रदीपसमाप्तम् ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

पुस्तकं हरिकृष्णस्य

श्रीनिग्रहाचार्यविरचिता

दिव्यास्त्रविमर्शिनी

हिन्दी अनुवाद सहित

लेखक
श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित
NOTION PRESS

NOTION PRESS
India. Singapore. Malaysia.
ISBN xxx-x-xxxxx-xx-x

First Pubished – 2020
Second Edition - 2021

श्रीनिग्रहाचार्यविरचिता

श्रीनिग्रहाचार्यविरचिता

दिव्यास्त्रविमर्शिनी

हिन्दी अनुवाद सहित

लेखक

श्रीभागवतानंद गुरु

आर्यावर्त सनातन वाहिनी 'धर्मराज' के सौजन्य से प्रकाशित
NOTION PRESS

धर्मसंरक्षणार्थायाधर्मसंहारहेतवे ।
निग्रहाणाञ्च धर्माज्ञा लोके लोके प्रवर्धताम् ॥

निग्रहाचार्य श्रीभागवतानंद गुरु

श्रीनिग्रहाचार्यविरचिता

जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ निर्मित हुआ, उनके श्रीचरणों में समर्पित

आचार्यश्री शङ्करदास गुरु

प्राक्कथन

शास्त्र और शस्त्र दोनों का ही स्थान समाज में अपरिहार्य है। जिस प्रकार से एक शास्त्रज्ञ व्यक्ति समाज की रक्षा करता है, वैसे ही उचित हाथों में स्थित शस्त्र भी संसार का त्राण करता है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के मत में यह बात वर्णित है कि जिस क्षेत्र में एक भी धनुर्धर होता है, उसके आश्रय में शेष जन निर्भय होकर निवास करते हैं। धनुर्विद्या यजुर्वेदीय उप-वेदाधिकार के अन्तर्गत आती है। इसके प्राचीन आचार्यों में भगवान् शिव, वैशम्पायन, परशुराम, विश्वामित्र, वशिष्ठ, द्रोण एवं शार्ंगधर आदि प्रसिद्ध हैं। अधुना धनुर्विद्या मात्र एक क्रीड़ागत विषय हो सिमट कर रह गयी है। कुछ वनवासी समुदाय इसके परंपरागत स्वरूप को आज भी जीवित रखे हुए हैं।

युद्ध में अनेकों वर्णों तथा जातियों का समावेश होता है। मुख्य योद्धा समूह क्षत्रियों का ही होता है। युद्धस्थल में मर्यादा तथा शैली का शिक्षण ब्राह्मण करते हैं - *धनुर्वेदे गुरुर्विप्रः*। युद्धस्थल में अश्व, हाथी, रथ आदि का संचालन कोचवान्, सारथी, सूत, महावत आदि करते हैं। युद्ध का उपस्कर कर्मकार, लौहकार, असिनिर्माता आदि तैयार करते हैं - यजुर्वेद भी कहते हैं - *नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च।* युद्ध में धर्मरक्षा के लिए चारों वर्णों के हितार्थ शस्त्राधिकार स्मृतियों से सिद्ध है।

आधुनिक युद्धशैली में भी संदिग्ध वस्तुओं को खोजने तथा अन्य संवेदनशील कार्यों के लिए कुत्तों का प्रयोग होता है - *नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च* । पूर्वकाल में भी सैकड़ों सहस्रों योजनों तक मारक क्षमता रखने वाले अस्त्रों का परिविनियोग मन्त्रवेत्ता ऋषिगण करते हैं - *तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि* । समयानुसार ज्ञान विज्ञान की परम्परा का लोप एवं प्राकट्य होता रहा है। पूर्वकाल में विमान तथा प्रक्षेपास्त्रों का वर्णन शास्त्रों तथा संहिताओं

में प्राप्त होता है जिससे उस समय के ज्ञान विज्ञान का बोध करना कठिन नहीं है। बीच में कालक्रम के प्रभाव से उनका लोप होना और आज पुनः आधुनिक विज्ञान के उत्कर्ष में उनका अंशतः प्रकटीकृत होना सिद्ध ही है। यजुर्वेद का अप्रतिरथ सूक्त तो पूर्णतया युद्ध को ही समर्पित है।

प्रस्तुत ग्रंथ दिव्यास्त्र विमर्शिनी अपने आप में आधुनिक समाज के लिये एक महत्वपूर्ण कृति है क्योंकि इसमें ज्ञानबीज के संरक्षण हेतु महत्वपूर्ण लुप्तप्राय दिव्यास्त्रों के मन्त्र, स्वरूप, मर्यादा एवं विधानों का एकत्रीकरण किया गया है जो कि एक प्रशंसनीय तथा श्रमसाध्य कल्प है। संसार को आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पटलों पर अनेक दिव्य तत्व संचालित करते हैं जिनकी ऊर्जा तथा क्षमता समयानुसार दिव्यास्त्रों के रूप में परिलक्षित होती है। प्रस्तुत ग्रंथ में उनका यथासम्भव चित्रण भी सरलता से किया गया है।

अहिर्बुध्न्य, शरभेश्वर, दुर्वासा, भरद्वाज, नारद, शिव, वैशम्पायन तथा नाथपंथीय सिद्धों के मत से दिव्यास्त्रों का जो स्वरूप एवं विधान वर्णित है, उनका मानवीय दृष्टि से यथासम्भव अवलोकन करके ग्रन्थकार श्रीभागवतानंद गुरु ने एक ही स्थान पर संकलित किया है जो कि अभी तक उपलब्ध तथा प्रकाशित पूर्वग्रन्थों में द्रष्टव्य नहीं होता है। आचार्य अरुण पाण्डेय जी ने उनका शब्दानुशासन परिमार्जित करके श्लाघनीय कृत्य किया है अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। मैं आचार्यद्वय के मङ्गल तथा ज्ञानाभिवर्धन की कामना करता हूँ।

आचार्य शङ्करदास गुरु

--*

दिव्यास्त्रविमर्शिनी

निग्रह उवाच

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्तते |
शस्त्रभीत्या सदाधर्मस्तिष्ठन्नपि न बाधते ||०१||
विजये राज्यलक्ष्मीश्च मृते निर्जरसङ्कुलम् |
धरण्यां चाक्षया कीर्तिः सत्याजौ सक्रिये गते ||०२||
अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद्व्याधिमरणं गृहे |
धर्मार्थे सन्त्यजेत् प्राणान् मोक्षभागी भवेत् पुमान् ||०३||
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा स्त्रीषु बालवधेषु च |
साङ्कर्याद्रक्षणार्थं वा प्राणत्यागी तु मोक्षभाक् ||०४||

निग्रहाचार्य ने कहा - शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्रचर्चा का प्रसार होता है | शस्त्र के भय से अधर्म उपस्थित होता हुआ भी बाधा नहीं पहुँचाता है | जो व्यक्ति युद्ध में सम्मिलित होने जाता है, वह जीतने पर राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करता है, मृत्यु पर देवताओं के समूह में स्थान पाता है तथा पृथ्वी पर उसकी कीर्ति अक्षय रहती है | क्षत्रिय के लिए घर में व्याधिग्रस्त होकर मरना अधर्म कहा गया है | धर्म की रक्षा के लिए जो अपने प्राणों का परित्याग करे, वह पुरुष मोक्ष का भागी होता है | ब्राह्मण, गौ, स्त्री तथा बालक आदि की हत्या होने पर उनकी रक्षा के लिए, अथवा समाज को वर्णसंकरता से बचाने के लिए प्राणों का त्याग करने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है |

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ |
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ||०५||
मूर्च्छितं विकलं भीतमकच्छं शस्त्रवर्जितम् |
स्त्रियं बालं तथा वृद्धमशस्त्रमन्ययोधिनम् ||०६||
विमुखं दीनवाक्यञ्च विनतं नैव हिंसयेत् |
सामान्ये कर्मणि प्राज्ञो दिव्यास्त्राणि न योजयेत् ||०७||
चापबाणगदाशक्तिशूलदण्डकृपाणकाः |
दिव्यास्त्रक्षेपणे प्रोक्ताः सर्वाभावे कुशास्स्मृताः ||०८||
जितेन्द्रियो जितश्वासो जितदौर्बल्यमत्सरः |
धनुर्वेदे सदा योज्यः सर्वनीतिसमन्वितः ||०९||

इस संसार में दो ही पुरुष सूर्यमण्डल का भेदन करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं - एक तो योगयुक्त संन्यासी और दूसरा युद्धभूमि में वीरगति को प्राप्त करने वाला मनुष्य | मूर्छित, विकल, भयभीत, वस्त्र खोल देने वाला, शस्त्रहीन, स्त्री, बालक, वृद्ध, दूसरे से युद्ध में व्यस्त, युद्ध से विमुख, दीनवाक्यों को बोलने वाला तथा शरण में आये हुए व्यक्ति की हत्या नहीं करनी चाहिए | सामान्य कर्म में बुद्धिमान् व्यक्ति दिव्यास्त्रों का प्रयोग न करे | दिव्यास्त्र को चलाने के लिए धनुष-बाण, गदा, शक्ति, शूल, दण्ड तथा कृपाण का प्रयोग कहा गया है | इन सबों के अभाव में कुश का प्रयोग बताया गया है | इन्द्रिय, श्वास, दुर्बलता एवं मत्सर को जीतने वाला, सभी नीतियों के ज्ञान से युक्त व्यक्ति को ही धनुर्वेद में लगाना चाहिए |

यो देवानां प्रियो भूत्वा न देवानां प्रियङ्करः ।
स देवानांप्रियो भूत्वा न देवानां प्रियो भवेत् ॥१०॥
यो देवानांप्रियो भूत्वा नदेवानां प्रियङ्करः ।
स देवानां प्रियो भूत्वा न देवानांप्रियो भवेत् ॥११॥

जो देवताओं का प्रिय होकर भी धर्माचार के द्वारा देवताओं का प्रिय नहीं करता है, वह मूर्ख बन जाता है और फिर देवताओं का प्रिय नहीं रह पाता है। जो मूर्ख होकर भी रत्न के समान प्रकाशित देवताओं का धर्माचार के द्वारा प्रिय करता है, वह देवताओं का प्रिय बन जाता है और फिर मूर्ख नहीं रहता है।

ज्ञानवृद्धो भवेद्विप्रश्चमूवृद्धश्च भूपतिः ।
कोषवृद्धो भवेद्वैश्यो वत्सरेण चतुर्थकः ॥१२॥
जगन्ति देवा मन्त्राश्च सर्वे विप्रपदानुगाः ।
तस्मात् मन्त्रप्रयोगाश्च प्रकर्तव्याः सुमेधसा ॥१३॥

ब्राह्मण ज्ञान से वृद्ध होता है, राजा अपनी सेना से वृद्ध होता है, वैश्य धन से तथा चतुर्थवर्ण (शूद्र) अपनी आयु के वर्षों से वृद्ध होता है। सम्पूर्ण संसार, देवता तथा मन्त्र, ये सभी ब्राह्मण के चरणों का अनुसरण करते हैं, अतएव अच्छी बुद्धि के द्वारा ही मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

वकाराद्वासुदेवश्च तथा वैशाखनन्दनः |
शकाराच्छंकरश्चैव श्वा शकाराच्च निर्मितः ||१४||
श्वा वा मा शङ्करो भूयाद्विष्णुर्वैशाखनन्दनः |
तस्मादुच्चारणे काले नानृतं परुषं वदेत् ||१५||
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुर्व्यासब्राह्मशुकादयः |
तस्योपासनया सिद्धिस्तस्माच्छब्दो महेश्वरः ||१६||

वकार से ही वासुदेव शब्द बनता है और वकार से ही वैशाखनन्दन (गधा) भी बनता है | शकार से ही शंकर शब्द भी बनता है और श्वा (कुत्ता) भी | जिस प्रकार से शकार का प्रयोग शंकर के स्थान पर श्वा अथवा वकार का प्रयोग विष्णु के स्थान पर वैशाखनन्दन आदि के उच्चारण में न लगे, इस हेतु से शब्दों के उच्चारण के समय असत्य एवं गाली आदि कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए | उस शब्द को 'ब्रह्म', ऐसा व्यास वशिष्ठ, शुकदेव आदि ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है | उस शब्दब्रह्म की उपासना से ही कल्याण की प्राप्ति होती है इसीलिए शब्द को महान् ईश्वर कहा गया है |

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ |
ततो युद्धाय युज्यस्व कृष्णाज्ञैषा गरीयसी ||१७||
अवलोकितं सृजनं मया परिवर्तनं त्वलोकितम् |
अवलोकिताः सकला जनाः सकलं जगत् परिवर्तितम् ||१८||

परिवर्तितं खलु पोषणञ्जगतो निपातनमद्भुतम् |
भाग्यञ्च मे परिवर्तितं परिवर्तितानि धिया क्रिया: ||१९||
मम सुहृद: परिवर्तिता मम शत्रव: परिवर्तिता: |
परिवर्तिता विबुधाधिपा: परिवर्तितञ्च कलेवरम् ||२०||
परिवर्तिता मम सत्यता पुनरेव गोषु च मेऽनृतम् |
परिवर्तितावरुणौ मम सकला ग्रहा: परिवर्तिता: ||२१||
सर्वञ्च मे परिवर्तितं भवत: कृपापरिवर्तिता |
तमसापि सा यदि निष्कृता कमलेश का मम सद्गति: ? ||२२||

सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय को एक समान मानते हुए युद्ध के कर्तव्यमात्र के लिये लडे, ऐसी भगवान् श्रीकृष्ण की महत्वपूर्ण आज्ञा है | "मैंने सृष्टि को बनते हुए देखा और इसके परिवर्तन को भी देखा | मैंने सभी लोगों को देखा और समस्त संसार को बदलते हुए देखा | मैंने संसार का पोषण होते हुए देखा है और उसके अद्भुत संहार को भी देखा | मेरा भाग्य भी बदल गया और बुद्धि से प्रेरित होकर मेरी क्रियाएं भी परिवर्तित होती रहीं | मेरे मित्रगण बदल गए, मेरे शत्रुओं का व्यवहार भी बदल गया, देवतागण भी मेरे प्रति बदल गए और यहां तक कि मेरा शरीर भी बदलता ही रहा | मेरा सत्य मेरे प्रति बदल गया तथा इंद्रियों में स्थित मेरा असत्य भी बदल गया | दोनों संध्याएं बदलती रहीं और ग्रहों की चाल भी बदल गयी | ये सब बदलते रहे, किन्तु मेरे प्रति आपकी कृपादृष्टि कभी नहीं बदली | हे नारायण ! यदि मेरे मोह के कारण कभी वह भी बदल जाये तो क्या कभी मेरी सद्गति हो पाएगी !!"

एवं विचिन्त्य कालस्य गतिरस्ति सुदुर्जया |
सम्यग्ज्ञात्वा नरः पक्षापक्षौ मत्वा रणं व्रजेत् ||२३||
न धनेन न रूपेण न पण्येनाभिवर्द्धनम् |
न वाजीविकया भूत्या न चास्ति ग्रन्थसङ्ग्रहैः ||२४||
यस्य गेहे हरेर्भक्तिः सर्वदातिथिपूजनम् |
दया भूतेषु सर्वेषु तत्र प्रोक्ता समुन्नतिः ||२५||

ऐसा विचार करके काल की गति को दुर्जया समझकर भली प्रकार से पक्ष एवं विपक्ष का ज्ञान रखते हुए व्यक्ति युद्धभूमि में जाए | धन, रूप, व्यापार की वृद्धि अथवा उत्तम आजीविका अथवा सिद्धि से, ग्रन्थों के संग्रह से उन्नति नहीं होती है | जिसके घर में भगवान् विष्णु के प्रति भक्ति है, सदैव अतिथियों का सत्कार होता है, सभी प्राणियों के प्रति दया का व्यवहार होता है, वहीं उन्नति कही गयी है |

नन्दीश्वरश्चोपमन्युर्लोमशश्च महामुनिः |
मार्कण्डेयो विजानाति सत्कृपाञ्चैव धूर्जटेः ||२६||
रुद्ध्यते दुर्जयः कालो यस्माद्वै शङ्कराज्ञया |
तस्मादज्ञानसम्मोहौ त्यक्त्वा शम्भुपदं स्मर ||२७||

नन्दीश्वर, उपमन्यु, महामुनि लोमश और मार्कंडेय ही भगवान् शिव की सुन्दर कृपा को जानते हैं | शिवजी की आज्ञा से दुर्जय काल भी स्तंभित हो जाता है, अतएव अज्ञान एवं मोह को छोडकर शिवजी के चरणों का स्मरण करो |

जन्मनैव कलौ घोरे क्वचिन्मित्रं क्वचिद्रिपुः |
हन्यते यवनैर्दुष्टैस्सर्वदायवनो नरः ||२८||
त्यागयुक्तः क्षमाशीलः सर्वभूतोपकारकः |
हन्यते केवलं विप्रः कुराज्ये म्लेच्छहेलया ||२९||
जनात्रक्षेत् स्थितान् पृष्ठे स्थितान् पार्श्वे तु पूजयेत् |
सम्मुखान् मर्मघातस्तु युद्धधर्मः सनातनः ||३०||
सर्वदा सैन्यशक्तिस्तु पुष्टा भवति भूभृता |
वाहिन्या पुष्यते दण्डः सर्वोपद्रवनाशकः ||३१||
मर्यादा चैव न्यायश्च पुष्येते दण्डनीतिना |
उभाभ्यां पुष्यते धर्मः समाजस्तेन पुष्यते ||३२||

इस घोर कलिकाल में जन्म से ही मित्र एवं जन्म से ही कोई शत्रु होता है क्योंकि जन्म से ही अयवन (हिन्दू) व्यक्ति दुष्ट म्लेच्छों के द्वारा सदा मारा जाता है | त्यागयुक्त, क्षमाशील, प्राणियों के प्रति उपकार करने वाला ब्राह्मण भी कुशासन में केवल म्लेच्छ समर्थन न करने के कारण मारा जाता है | धर्मयुद्ध में तत्पर योद्धा को चाहिए कि वह अपने पीछे खड़े (आश्रितों, प्रजा, शरणागत तथा कनीय योद्धाओं) की रक्षा करे, अपने पार्श्वभाग में खड़े (सहयोगियों तथा मार्गदर्शक योद्धाओं) का सम्मान करे तथा अपने सम्मुख खड़े (धर्मद्रोही विपक्षियों) का मर्मघातक प्रहारों से संहार कर डाले, यही युद्ध का सनातन धर्म है | कुशल राजा अपनी सेना को पुष्ट करता है | सेना ही दण्ड को पुष्ट करती है, दण्ड न्याय तथा मर्यादा को पुष्ट करता है | न्याय तथा मर्यादा धर्म को पुष्ट करते हैं और धर्म समाज को पुष्ट करता है |

यं दिव्यास्त्राणि लोके न च मुनिवचनाद्वाक्यदण्डा नुदन्ति
यं देवा नैव घ्नन्ति वनदनुदितिजा नैव नागा न यक्षाः |
वामाभ्रूज्याविलासैः प्रचलितरमणीनेत्रकाण्डप्रहारै -
र्जायामायाकुचाभ्यां निपतति मुहिरः को बली कामदेवात् ||३३||

जिसे संसार में दिव्यास्त्र, मुनियों के वचनों से प्रेरित श्राप भी नहीं मार पाते, जिसे देवता, वन्यजीव, दानव, दैत्य, नाग और यक्ष भी नहीं मार पाते हैं, वह मूर्ख भी स्त्री की भृकुटि से संचालित नयनरूपी बाण के प्रहार से तथा स्त्री के मायामय स्तनों से मारा जाता है, इस स्थिति में कामदेव के समान बली कौन होगा ?

न ब्रह्मा नैव रुद्रो न च भृगुतनयाकान्त इन्द्रो बलिष्ठ -
स्तायन्ते नैव लोकं न च सृजनकलां कल्पयन्तीति मन्ये |
वृन्दाहल्या च वाणी विजयति त्रिदशान्मोहिनीरूपकान्तिः
कं कैर्वा हन्ति कामो न जगति विदितस्सर्वदेवाधिदेवः ||३४||

ब्रह्मा, रुद्र, भृगुपुत्री लक्ष्मी के पति विष्णु अथवा बलवान् इन्द्र आदि इस संसार का निर्माण अथवा पालन नहीं करते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ, क्योंकि विष्णु को वृन्दा, इन्द्र को अहल्या, ब्रह्मा को सरस्वती एवं रुद्र को मोहिनी के रूप की कान्ति जीत लेती है | सभी देवताओं का भी देवता कामदेव किसे, किन उपायों के द्वारा मार डाले, इसे संसार में कोई नहीं जानता है |

स देवो दुर्धरैश्वर्यो जीवानां संयमेन च |
यमेति त्रिषु लोकेषु ज्ञायते सकलैर्बुधैः ||३५||
यच्चकिञ्चित्क्वचित्तत्त्वं धार्यत आत्मभिर्भुवि |
यो जानाति स धर्मस्तं नानाविल्लक्षयोनिषु ||३६||
कालदण्डं करे धृत्वा दण्डपाणिर्महाबलः |
शास्तास्ति सर्वराजानां तस्माद्राजेति कथ्यते ||३७||

दुर्धर ऐश्वर्य को धारण करने वाला वह देव जीवों का संयमन करने से तीनों लोकों में बुद्धिमानों के द्वारा यम और लाखों योनियों में धारण करने योग्य नाना प्रकार के समस्त कर्तव्यों को जानने से धर्म कहलाता है | शासकों का भी शासक होने से उसे राज एवं हाथ में कालदण्ड लेकर (सदैव दुष्टों को दण्ड देने में तत्पर रहने से उसे) दंडपाणि भी कहा जाता है |

सज्जनेभ्यो धर्मराजः सौम्यरूपधरो वपुः |
दुष्टेभ्यो यमराजश्च करालोऽतीवदुःसहः ||३८||
कालयानं समारुह्य दण्डपाणिर्महाभुजः |
मृत्युं सारथिनं कृत्वा पार्श्वे चैव जरामयौ ||३९||
जगत्सर्वं सदाश्नाति तथायुर्नष्टचेतसाम् |
करोति प्रोट्टहासं स विहरन् धरणीतले ||४०||

सज्जनों के लिए वही देव सुंदर रूप वाला धर्मराज है, दुष्टों के लिए कराल एवं भयंकर रूप वाला यमराज है, काल रूपी रथ पर सवार

होकर मृत्युरूपी सारथी से द्वारा वेगवान् हुआ वह देव पार्श्वरक्षक के रूप में रोग तथा जरा को अपना सहायक बनाकर कालदण्ड से निरन्तर इस जगत् के नष्टबुद्धि वाले अनेक प्राणियों की आयु का भक्षण करता हुआ घोर अट्टहासपूर्वक विचरता है |

श्लोकार्धेनैव वक्ष्यामि कारणं जातिवर्णयोः |
कर्मणा पुष्टिमाप्नोति सिद्ध्यते चैव जन्मना ||४१||
जन्मना प्राप्य तद्वर्णं नैवाचरति कर्मणा |
वर्णबन्धुत्वदोषेण पुनर्जन्मनि भ्रष्टता ||४२||
वर्णयुक्तं यदा कर्म क्रियते नरपुङ्गवैः |
उन्नतिं लभते वर्णश्रेण्यां जन्मान्तरे पुमान् ||४३||
मोहाहङ्कारक्रोधैश्चाज्ञानेन वा कुमेधसा |
कर्मातिक्रमणं कृत्वा वर्णहीनस्ततो भवेत् ||४४||
पूर्वजन्मकृतं कर्म गुणञ्चाचरणं तु यत् |
तेन निर्धार्यते वर्णो जातिर्वा चास्य जन्मनः ||४५||
एवं तु वर्तमानानां कर्माणि त्रिगुणानि वै |
निर्धारयन्ति तद्वर्णञ्जातिं वा चाग्रजन्मनः ||४६||

आधे श्लोक में ही वर्ण एवं जाति का कारण बता रहा हूँ | जन्म से जातिवर्ण की सिद्धि होती है तथा कर्म से उसकी पुष्टि | जन्म से प्राप्त वर्ण के अनुसार यदि कर्म न किया जाय तो इससे व्यक्ति वर्णबन्धुत्व के दोष से युक्त होकर अगले जन्म में वर्णभ्रष्टता को प्राप्त होता है | हे विप्र ! अपने वर्ण के अनुसार जब श्रेष्ठ व्यक्तियों के द्वारा कर्म किया

जाता है तो अगले जन्म में उन्हें वर्ण में उन्नति प्राप्त होती है | मोह, अहंकार, क्रोध अथवा दुर्बुद्धि वाले अज्ञान के कारण जब व्यक्ति अपने वर्ण के कर्म का अतिक्रमण करके अन्य वर्णों के कर्म को धारण करता है तो वह वर्णहीनता को प्राप्त होता है | पूर्वजन्म के आचरण, गुण तथा कर्म इस जन्म की जाति तथा वर्ण का निर्धारण करते हैं | उसी प्रकार से वर्तमान के कर्म तथा तीनों गुणों का अनुपात सर्वदा अगले जन्म के वर्ण तथा जाति का निर्धारण करते हैं |

पुरुषार्थञ्च भाग्यञ्च द्वे चक्रे चैव निश्चिते |
वहतः साम्यभावेन रथं जीवनरूपिणम् ||४७||
भाग्यं तु सर्वदा लोके पुरुषार्थे समाश्रितम् |
बलाबलेन भाग्यस्य पुरुषार्थं प्रभावितम् ||४८||
यथैकेनैव चक्रेण नैवापसरते रथम् |
का वार्ता लोकयात्राया विना भाग्यं परेण वा ||४९||
उभयोश्चक्रयोर्मध्ये वामदक्षिणभेदतः |
जीवनेऽपि च तद्विद्धि यदस्ति सुमहत्तरम् ||५०||
कर्मणा सिद्ध्यते भाग्यं भाग्येनाङ्गानि एव च |
अङ्गैश्च क्रियते कर्म ह्येतत् सामुद्रिकं मतम् ||५१||
यथा नीचगया तुङ्गमालया ज्ञायते नरैः |
गुणं वा परिमाणन्तु तथाङ्गलक्षणादिभिः ||५२||

पुरुषार्थ तथा भाग्य जीवनरूपी रथ के दो पहिये निश्चित किये गए हैं जो एक दूसरे के पूरक बन कर इसका वहन करते हैं | इस संसार में

भाग्य सर्वदा पुरुषार्थ पर आश्रित रहता है तथा भाग्य के बलाबल से पुरुषार्थ भी प्रभावित होता है | जिस प्रकार एक चक्के से रथ नहीं चलता, उसी प्रकार से बिना भाग्य या पुरुषार्थ के जीवन यात्रा की क्या बात करनी ? वाम तथा दक्षिण भेद से दोनों चक्रों के मध्य जो भी अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हो, जीवन के परिप्रेक्ष्य में भाग्य तथा पुरुषार्थ के मध्य अधिक महत्वपूर्ण भी उसी के आधार पर समझना चाहिए | हे विप्र ! कर्म से भाग्य की सिद्धि होती है तथा भाग्य के अनुसार अंगों का निर्माण होता है | वही अंग पुनः अपने अपने संस्कारों के अनुसार कर्म में प्रवृत्त किये जाते हैं, ऐसा सामुद्रिक शास्त्रियों का मत है | जैसे नदी या पर्वत के आकार प्रकार से उसके परिमाण आदि का ज्ञान मनुष्य करता है वैसे ही अंगों के लक्षणों से व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों का बोध होता है|

पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते |
दारिद्र्येनाङ्गहीनत्वेनापुत्रत्वेन वा पुनः ||५३||
यथा वारिप्रवाहेण नीचगा वहते तृणम् |
संस्कारं याति कालेनानन्तजन्मनि जन्मनि ||५४||
पूर्वपापं कुभावश्च चित्तमाश्रित्य सुव्रत |
आयातश्चाङ्गहीनत्वेन देहे दण्डभागिनम् ||५५||
न विश्वासो वर्तितव्यमङ्गहीनस्य वै भुवि |
यतस्तु पूर्वपापेन विकलाङ्गाः सदाप्लुताः ||५६||
इन्द्रियाणि वरेण्यानि देहेऽस्मिन् मांसकर्दमे |
ततः परं मनः प्रोक्तं बुद्धिश्चित्तं ततः परम् ||५७||

पूर्वजन्म में किया हुआ पाप रोग के रूप में बाधा देता है अथवा वह निर्धनता, विकलांगता या सन्तानहीनता के रूप में भी कष्ट देता है | जैसे जल के प्रवाह का आश्रय लेकर नदी तृण आदि को बहुत दूर तक बहा ले जाती है, वैसे ही काल का आश्रय लेकर अनन्त जन्मों तक संस्कार भी साथ साथ जाता है | पूर्वजन्म में कृत पाप या कुभाव चित्त में सुरक्षित होकर अगले जन्म में दंडभागी के शरीर में अंगहीनता के रूप में लक्षित होता है | अतः जो व्यक्ति विकलांग है, उसका कभी विश्वास न करे क्योंकि सभी विकलांग पूर्वकृत पापों तथा कुभावों से आविष्ट हैं | इस मांससमूह से युक्त देह में मांस से श्रेष्ठ इंद्रियां हैं | इंद्रियों से श्रेष्ठ मन, उससे श्रेष्ठ बुद्धि तथा उससे श्रेष्ठ चित्त है |

यद्बध्नाति सदा चित्तं सर्वसङ्ग्रहकारकम् |
आत्मानं तद्विजानीहि ब्रह्मांशञ्च सनातनम् ||५८||
जितेन्द्रियं मनो यस्य बुद्धिस्तु समदर्शिनी |
न प्रभावयति स्वाङ्गहीनत्वं तं महाव्रतम् ||५९||
यथा वै वातवेगेन चाल्यते नैव भास्करः |
तथा वै संयतात्मानं प्रारब्धं नैव बाधते ||६०||

जो सभी स्मृतियों तथा संस्कारों के आधार चित्त को भी बांध कर रख दे, उसे ही ब्रह्म का अंश सनातन आत्मा जानो | जिसका मन जितेन्द्रिय है, बुद्धि समदर्शिनी है, उस महाव्रत के चरित्र और व्यवहार को भला अंगहीनता क्या प्रभावित करेगी ? जैसे वायु का वेग सूर्य को प्रभावित नहीं कर सकता, वैसे ही संयतात्मा को प्रारब्ध भी बाधा नहीं देता |

काश्यपेनात्रिपुत्रेण वीर्यौजौ जातवेदसा |
प्राप्नुवन्ति महात्मानो निग्रहाः सर्वनिग्रहाः ||६१||
नमः परमपित्रे च ब्रूयाद्भास्करसन्निधौ |
राज्ञे नमोऽस्तु सोमायाग्नये वै ब्रह्मणे नमः ||६२||
ज्ञानविज्ञानसंयुक्ताः सर्वलोकहिते रताः |
शास्तारः छद्मवृत्तीनां निग्रहार्हा मनीषिणः ||६३||
अव्यक्ताद्वैतसंलिप्ता निर्भया धर्मपालकाः |
धर्मपुत्रा शुभा विप्राः निग्रहार्हा मनीषिणः ||६४||
लोभसंक्षोभनिर्मुक्ताः शमिताशिवकारकाः |
सर्वाचार्यमतं ज्ञात्वा निग्रहार्हा मनीषिणः ||६५||
देवताभेदद्रष्टारो वर्णाश्रमपरायणाः |
लोकमान्या महासत्वा निग्रहार्हा मनीषिणः ||६६||
धर्मसंरक्षणार्थायाधर्मसंहारहेतवे |
निग्रहाणाञ्च धर्माज्ञा लोके लोके प्रवर्धताम् ||६७||

सभी प्राणियों के ऊपर नियंत्रण करने वाले महात्मा निग्रहगण भगवान् सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से बल और ओज प्राप्त करते हैं | (इसीलिए, निग्रहों को) भगवान् सूर्य का दर्शन होने पर, 'हे परमपिता ! आपको प्रणाम है', चन्द्रदेव के दर्शन होने पर, 'हे महाराज ! आपको प्रणाम है', तथा अग्निदेव के दर्शन होने पर, हे परब्रह्म ! आपको प्रणाम है', ऐसा कहना चाहिए | जो बुद्धिमान् जन ज्ञान और विज्ञान से युक्त है, सभी लोकों का हित करने में प्रवृत्त रहते हैं, पाखण्डियों का मर्दन करने

वाले हैं, वे ही निग्रहत्व के योग्य हैं | जो बुद्धिमान् जन अव्यक्तरूपी अद्वैत के मार्ग पर चलने वाले हैं, जिनके व्यक्तित्व में निर्भयता है, जो धर्म का पालन करने वाले हैं, ऐसे धर्माचारी शुभ ब्राह्मण ही निग्रहत्व को धारण करने के योग्य हैं | जो बुद्धिमान् जन लोभादि के विकारों से मुक्त हैं, अशुभों का शमन करने में दक्ष हैं, सभी आचार्यों के मत [श्री (शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, रामानंदाचार्य, कौलाचार्य, माहेश्वराचार्य, निग्रहाचार्य, पाशुपताचार्य, अघोराचार्य) आदि] के ज्ञान को प्राप्त करके ही निग्रहत्व को योग्य होते हैं | जो बुद्धिमान् जन पञ्चदेवों में अभेदबुद्धि रखने वाले हैं, वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुरूप आचरण करने वाले हैं, अपने सदाचरण से समाज में सम्मान और तेजस्विता प्राप्त कर चुके हैं, वे ही निग्रहत्व के योग्य हैं | धर्म की रक्षा के लिए एवं अधर्म के संहार के लिए निग्रहों की यह धर्माज्ञा लोक लोकान्तर में वृद्धि को प्राप्त हो |

मुक्तममुक्तं शस्त्रञ्च मुक्तामुक्तं तथैव च |
यन्त्रमुक्तं चतुर्धा वै युद्धकाले भवन्ति हि ||६८||
धनुर्वेदे गुरुर्विप्रः क्षत्रियाय विशे तथा |
युद्धाधिकारः शूद्राणां स्वयं व्याधादिशिक्षया ||६९||
ब्राह्मणाय धनुर्देयं करवालञ्च वर्मणे |
वैश्याय दापयेत्कुन्तं गदां शूद्राय निर्दिशेत् ||७०||
अभ्यासे यौगिकं चापं युद्धे वा युद्धसंज्ञकम् |
लुब्धधूर्तकृतघ्नेभ्यो नैव मन्दाय दापयेत् ||७१||

मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त एवं यन्त्रमुक्त, ये चार प्रकार के शस्त्र युद्धकाल में प्रयुक्त होते हैं | धनुर्वेद में ब्राह्मण ही क्षत्रिय एवं वैश्य का गुरु होता है | व्याधवृत्ति आदि के लिए शूद्र को भी युद्धाधिकार सीखने और अभ्यास करने का विधान है | प्रारम्भकाल में ब्राह्मण को धनुष दे, क्षत्रिय को तलवार, वैश्य को कुन्त (भाला, शूल आदि) तथा शूद्र को गदा का निर्देश करे | अभ्यास में यौगिक नामक धनुष तथा युद्धकाल में युद्धनामक धनुष का प्रयोग करे | लोभी, धूर्त, कृतघ्न और मूर्ख को शस्त्र की शिक्षा नहीं देनी चाहिए |

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि दिव्यास्त्राणां स्वरूपकम् |
अहिर्बुध्न्येन रुद्रेण नारदायोदितं पुरा ||७२||
शताधिकानि दिव्यान्यस्त्राणि दुर्वाससा पुरा |
भरद्वाजाय कथितान्यशेषाणि वदाम्यहम् ||७३||
कलौ सिद्धिस्तु दिव्यानामस्त्राणां भुवि दुर्लभा |
ज्ञानबीजस्य रक्षार्थं प्रकाशीक्रियतेऽधुना ||७४||

अब मैं दिव्यास्त्रों के स्वरूप का वर्णन करने जा रहा हूँ जो देवर्षि नारद के लिए भगवान् अहिर्बुध्न्य रुद्र ने पूर्वकाल में कहा था | दुर्वासा ऋषि के द्वारा भरद्वाज मुनि के लिए सौ से अधिक दिव्यास्त्र पूर्वकाल में बताये गए हैं, उन सबों को भी मैं कहता हूँ | कलियुग में इस संसार के भीतर दिव्यास्त्रों की सिद्धि दुर्लभ है किन्तु फिर भी ज्ञानबीज की रक्षा के लिए वे सब मेरे द्वारा अब प्रकाशित किये जा रहे हैं |

दिव्यास्त्रस्वरूपवर्णनम्

निग्रह उवाच
रूपं नारायणास्त्रस्य मोहिनीकुसुमोपमम् |
तैजसं विस्तृताग्रञ्च सहस्रार्कसमप्रभम् ||०१||
सहस्त्रधारमत्युग्रं दानवान्तकरं शुभम् |
शरणागतमायान्तं नैव हन्ति कदाचन ||०२||
प्रतिपच्चन्द्रसङ्काशमध्याष्टास्त्र विदीपितम् |
शतधारं तडिद्दीप्तमेतत्पाशुपतं मतम् ||०३||
सहस्रारेण संयुक्तं विद्युज्वालामितप्रभम् |
प्रस्तरप्रतिमं मुष्टिग्राह्याग्रं ब्राह्ममीरितम् ||०४||

नारायणास्त्र का स्वरूप मोहिनी के फूल के समान है, वह सहस्त्रधारों से युक्त, उग्र तथा सहस्त्रसूर्यों की कान्ति वाला है | तेजोमय है और सामने से फैला हुआ है, शुभ है, दानवों का नाश करने वाला है | यह अपने शरणागतों को कभी नहीं मारता है | जो प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान अल्पदृश्य है, मध्यभाग में आठ अस्त्रों या कोणों से दीप्तिमान् है, जिसमें सौ तीक्ष्ण अरे लगे हुए हैं, जो बिजली के समान प्रकाशित है, उसे पाशुपतास्त्र कहते हैं | सहस्त्रधारों से युक्त, बिजली के समान आकृति वाला, पत्थर के समान कठोर और अग्रभाग में मुट्ठी से पकडे जाने योग्य अस्त्र को ब्रह्मास्त्र कहा जाता है |

दन्ष्ट्राकरालं दष्ट्रोष्ठं पिङ्गलाक्षं विभीषकम् |
गृहीतपिङ्गकेशाग्रमेतद्ब्रह्मशिरो मतम् ||०५||
विष्णुचक्रमिति ख्यातं सहस्रारं सुदर्शनम् |
भीमाकारं पाशमेव कालपाशमिति स्मृतम् ||०६||
जृम्भणं त्वष्टवक्राङ्गं दण्डमेवं विदुर्बुधाः |
षट्कोणाग्रं ज्वलज्ज्वालमस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ||०७||
ज्वालाविलं वाजिवक्त्रमस्त्रं हयशिरो मतम् |
प्रस्वापनं कुवलयस्तबकस्तम्बसन्निभम् ||०८||
सतोयतोयदप्रख्यं तामसास्त्रमुदीरितम् |
कालास्त्रं भीषणं दण्डं षष्टिघण्टासमाकुलम् ||०९||

जिसके दाढ कराल हों, जिसने अपने दांतों से ओठों को काट डाला हो, जिसकी आँखें पीली और भयानक हैं, जिसके केश पीले रंग के हों, वही ब्रह्मशिर नामक अस्त्र बताया गया है | सहस्र अरों से युक्त विष्णु सम्बन्धी चक्र को सुदर्शन कहा जाता है| पाश की आकृति वाला अत्यन्त भयानक अस्त्र को कालपाश कहते हैं | बुद्धिमान् जन आठ स्थानों से टेढ़े अंगों वाले दंडाकार अस्त्र को जृम्भणास्त्र कहते हैं | जो अग्रभाग में छः कोणों वाला हो तथा जिससे जलती हुई अग्निज्वाला निकल रही हो, वह उत्तम आग्नेयास्त्र है | घोड़े के समान मुख वाला ज्वाला उगलता हुआ अस्त्र हयशिरस् कहलाता है | नीले कलम के गुच्छे के समान द्रुमाकार अस्त्र प्रस्वापनास्त्र कहलाता है | तामसास्त्र जलयुक्त बादल के समान होता है | दण्ड के समान, साठ शब्दायमान घण्टियों से युक्त अस्त्र को कालास्त्र कहा जाता है |

आद्यन्तचक्रयुग्दण्डं दण्डचक्रमिति स्मृतम् |
कालचक्रं चतुष्कोणं चान्ते राशिसमन्वितम् ||१०||
धर्मचक्रं सुवृतं स्याद्दशयज्ञायुधाङ्कितम् |
शैवं शतमुखाग्निस्तु दण्डवत्परिकीर्तितम् ||११||
शूलं वेणुदलाकारं तीक्ष्णधारं सुदण्डकम् |
रौद्रमुक्तं परश्वस्त्रं तीक्ष्णधारं भयानकम् ||१२||
शूलत्रयाङ्कितमुखं त्रिशूलं दण्डवद्भवेत् |
घोरं नाराचरूपं स्यादस्त्रमाहुर्मनीषिणः ||१३||
कृष्णास्यं पिङ्गनयनं ज्वालाकेशोर्ध्वबन्धनम् |
अघोरास्त्रमिदं प्रोक्तं नाम्ना चैवासिधारकम् ||१४||

जिसके आदि एवं अन्त में दो चक्र लगे हों उसे दण्डचक्रास्त्र कहा जाता है | चार कोणों से युक्त, अन्त में बारह राशियों से आवृत्त अस्त्र को कालचक्रास्त्र कहते हैं | वृत्ताकार, यज्ञसदृश दशायुधों से युक्त अस्त्र की धर्मचक्र संज्ञा है | जिसके सौ मुखों से अग्नि निकल रही हो उस दण्डाकार अस्त्र को शैवास्त्र कहते हैं | तीक्ष्ण धार से युक्त, बांस के पत्ते के समान त्रिदलयुक्त दण्डाकार अस्त्र को शूलास्त्र कहा गया है | रुद्र का प्रधान अस्त्र रौद्रास्त्र परशु भी कहलाता है जो अत्यन्त तीक्ष्ण एवं भयानक है | जिसके अग्रभाग में तीन शूल लगे हों, उस दण्डाकार अस्त्र को त्रिशूलास्त्र कहते हैं | बाण के आकार वाले अस्त्र को मनीषियों ने घोरास्त्र कहा है | काले वर्ण के, पीले नेत्रों वाले, केश के ऊपर में ज्वालामण्डल को धारण करने वाले, तलवार के समान तीक्ष्ण अस्त्र को अघोरास्त्र के नाम से बताया जाता है |

अस्त्रं सम्मोहनं नाम कमलं नालसंयुतम् |
ऐषीकं शरनालाभमस्त्रमाहुर्विचक्षणाः ||१५||
वज्राङ्कितचतुष्कोणं नटाभममितद्युतिम् |
ऐन्द्रचक्राख्यमस्त्रं तत्परवैरिभयङ्करम् ||१६||
सदा ज्वलितसर्वाङ्गं महिषाकृतिभीषणम् |
शुष्काशनिरिदं प्रोक्तमस्त्रमङ्गारसन्निभम् ||१७||
तादृशं शुक्लवर्णं तदार्द्राशनिरिति स्मृतम् |
पैनाकमस्त्रं परमं धनुस्तक्षकसन्निभम् ||१८||
कङ्कालाख्यं भवेदस्त्रं पिशाचाकृतिभीषणम् |
कपालमालिकामाहुः कापालास्त्रमनुत्तमम् ||१९||

डण्डी से युक्त कमल के समान सम्मोहनास्त्र होता है | सरकंडे के नाल के समान ऐषीकास्त्र होता है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है | चार कोणों वाला, शत्रुओं के लिए भयानक, प्रकाशयुक्त, कोण पर वज्रों से युक्त एवं लघुकाय अस्त्र को ऐन्द्रचक्रास्त्र कहते हैं | अंगों से ज्वाला निकालने वाला, भैंसे के समान आकृति और अंगारे के समान प्रदीप्त शुष्काशनि नामक अस्त्र होता है, यदि इसका वर्ण शुक्ल हो तो इसे आर्द्राशनि कहते हैं | तक्षकनाग के समान आकृति वाले धनुष को पैनाकास्त्र कहा जाता है | पिशाच की आकृति वाला महाभयानक कंकाल नामक अस्त्र होता है | कपाल की माला के समान उत्तम अस्त्र को कापालास्त्र के नाम से जाना जाता है |

सौरमस्त्रं समाख्यातं सूर्यबिम्बपरम्परा |
अस्त्रं वरुणपाशाख्यं शीतवृत्तिसुदारुणम् ||२०||
सर्वतत्त्वमयं दाम धर्मपाशमिति स्मृतम् |
वारुणं जालकाकारं द्वात्रिंशच्छिद्रसंयुतम् ||२१||
लगुडं शङ्कुजालाढ्यं सन्तापनमिदं विदुः |
वायव्यमस्त्रं सारङ्गः सश्रृङ्ग इव कथ्यते ||२२||
शक्तिरेका प्रसिद्धैव शक्त्यन्तरमथोच्यते |
द्विशिरस्कैकनाला च दशघण्टाविभूषिता ||२३||
मौसलं मुसलं प्रोक्तं विद्युद्दण्डमिवोज्ज्वलम् |
गान्धर्वमस्त्रमादिष्टं वीणादण्डोपमाकृतिम् ||२४||

सूर्यबिम्ब के समान परम्परा वाले अस्त्र को सौरास्त्र कहा जाता है | जिसका स्वभाव शीतल हो तथा जो महाभयानक हो, उसे वरुणपाश कहते हैं | सभी तत्त्वों के तेज से युक्त रस्सी के समान दिखने वाले अस्त्र को धर्मपाश कहते हैं | बत्तीस छिद्रों से युक्त जाल के आकार का वारुणास्त्र होता है | लोहे की कीलों से व्याप्त डंडे के समान आकृति वाला सन्तापनास्त्र कहा गया है | संसार में प्रसिद्ध शक्ति के अतिरिक्त दूसरी शक्ति भी होती है | एक नाल, दो शिर तथा दश घंटियों वाले अस्त्र को शक्तिद्वयास्त्र कहते हैं | सींग के युक्त हिरण के समान आकृति वाले अस्त्र को वायव्यास्त्र कहते हैं | मुसल को ही मौसल कहते हैं जो बिजली के दण्ड के समान उज्ज्वल होता है | वीणा के दण्ड के समान आकृति वाले अस्त्र को गान्धर्वास्त्र कहते हैं |

दर्पणं दर्पणं प्रोक्तमस्त्रं पूर्णेन्दुसन्निभम् |
शोषणं विकटं शृङ्गमस्त्रं परविशोषणम् ||२५||
पैशाचमस्त्रं परममुल्कामुखमुदाहृतम् |
तेजःप्रभं स्मृतं प्रासप्रतिमं परदारणम् ||२६||
ऐन्द्रमस्त्रं वज्ररूपं तेजसां निलयं स्मृतम् |
अस्त्रं विलापनं नाम धाराधरमुदाहृतम् ||२७||
वैद्याधरास्त्रमाहुस्तत्पुष्पमालां तु मोहिनीम् |
मोदकी नाम परमा वल्लरी पुष्पशालिनी ||२८||
शिखरं नाम खट्वाङ्गमायुधं परिचक्षते |
अस्त्रं कङ्कालमपरं महाघण्टानिनादितम् ||२९||

दर्पण की आकृति वाला, पूर्णचन्द्र की प्रभा से युक्त दर्पणास्त्र है | महाविकट सींग के समान, शत्रुओं का शोषण करने वाला शोषणास्त्र होता है | सर्वदा उल्का उगलने वाला तथा अत्यन्त विस्तृत पैशाचास्त्र कहा गया है | शत्रुओं को विदीर्ण करने वाला भाले के आकार का तेजःप्रभास्त्र होता है | तेजस्विता की खान, वज्र की आकृति वाले को ऐन्द्रास्त्र कहते हैं | बादल की शक्ति से संचालित अस्त्र को विलापनास्त्र कहा जाता है | सबको मोहित करने वाली पुष्पमाला के समान अस्त्र को वैद्याधरास्त्र कहा जाता है | पुष्पों से युक्त लता के समान आकृति वाले श्रेष्ठ अस्त्र को मोदकी कहा जाता है | खट्वांग की आकृति वाले आयुध को ही शिखरास्त्र भी कहते हैं | बड़ी बड़ी घंटासमूहों से युक्त शब्दायमान अस्त्र को दूसरे प्रकार का कंकालास्त्र कहते हैं |

क्रौञ्चमस्त्रं महत्पक्षी क्रौञ्चाकृतिरिहोच्यते |
असिरत्नाह्वयं दिव्यमस्त्रं खड्गो महाद्युतिः ||३०||
अस्त्रं प्रशमनं नाम प्रोच्यते ध्वजसन्निभम् |
कन्दर्पदयितं चास्त्रमिक्षुः परमशोभनम् ||३१||
मदनं चामरप्रख्यमस्त्रं परभयावहम् |
सौमनं शिबिकाभं तदस्त्रमस्त्रविदो विदुः ||३२||
स्थूलमुक्ताक्षमालैव सत्यास्त्रं सर्वसाधकम् |
अस्त्रं संवर्तकं नाम महाशङ्खः प्रकीर्त्यते ||३३||
मायाधराह्वयं प्राहुरस्त्रं शाखिनमेव च |
सोमास्त्रमर्धचन्द्राभं सायकं सम्प्रचक्षते ||३४||

क्रौञ्च पक्षी के समान आकृति वाला क्रौञ्चास्त्र के नाम से बताया जाता है | दिव्य तेज से सम्पन्न अत्यन्त प्रकाशित खड्ग की आकृति वाला अस्त्र असिरत्नास्त्र कहलाता है | ध्वज के समान आकृति वाला प्रशमनास्त्र होता है | अत्यन्त सुन्दर ईख के दण्ड के समान कन्दर्पदयितास्त्र है | चामर की आकृति वाला, शत्रुओं के लिए महाभयानक मदनास्त्र है | अस्त्रविद्या के विशेषज्ञों ने पालकी की आकृति वाले अस्त्र को सौमनास्त्र कहा है | मोटी मोटी मुक्ताओं से गूंथी हुई सर्वार्थसाधक माला के समान सत्यास्त्र कहा गया है | महाशंख की आकृति वाले अस्त्र को संवर्तकास्त्र कहते हैं | अनेक शाखाओं वाले वृक्ष के समान आकृति वाले अस्त्र को मायाधरास्त्र कहा जाता है | अर्धचन्द्राकार बाण के समान सोमास्त्र की आकृति बताई गयी है |

त्वाष्ट्रमस्त्रं चैत्यसमं सदण्डमभिधीयते |
शीतेषुर्नाम कुम्भास्या स्रवन्ती सरिदुत्तमा ||३५||
त्रिकोणं दण्डवद्विद्याद्भगास्त्रममितद्युतिः |
सदामनं समाख्यातञ्चक्रं निरयमुच्यते ||३६||
सत्यवत्तन्महाभूतं व्यात्ताननमिदं विदुः |
वारणं नाम सर्पास्यं वारणं परमाङ्कुशम् ||३७||
धृष्टं कबन्धमुदरं विस्तृताननमुच्यते |
भृशाश्वतनयं नाम द्विधारं क्रकचं स्मृतम् ||३८||
सत्यकीर्तिस्तु मकरो व्यात्तवक्रोऽभिधीयते |
मोहः सर्पशिरो व्यात्तवक्रमस्त्रं विदुर्बुधाः ||३९||

दण्ड से युक्त चैत्यवृक्ष के समान त्वाष्ट्र नामक दिव्यास्त्र कहा गया है | कुम्भ के समान मुख वाली बहती हुई नदी को शीतेषु कहते हैं | अत्यन्त प्रकाशमान त्रिकोणयुक्त दण्ड के समान भगास्त्र की आकृति कही गयी है | बिना अरे वाले चक्र को सदामनास्त्र कहते हैं | मुख - मंडल को फैलाए हुए महाभूत के समान सत्यवदस्त्र होता है | सांप के मुख अथवा अंकुश की आकृति के समान वारणास्त्र का स्वरूप है | कबन्धयुक्त उदर एवं विस्तृत मुख वाले अस्त्र को धृष्टास्त्र कहते हैं | दोनों ओर की धार वाली आरी के समान भृशाश्वतनयास्त्र बताया गया है | मुख फैलाए हुए मगरमच्छ के समान सत्यकीर्त्यस्त्र की आकृति होती है | मुख फैलाये हुए सर्प के शिर के समान मोहास्त्र होता है, ऐसा बुद्धिमान् जन जानते हैं |

अतः परं प्रवक्ष्यामि शेषानस्त्रान् क्षयङ्करान् |
रभसं तारसङ्काशमस्त्रं सर्वास्त्रसादनम् ||४०||
सर्वनाभाह्वयं चास्त्रं कमण्डलुरिहोच्यते |
जृम्भकं नाम रक्ताक्षं त्रिपञ्जरमुदीर्यते ||४१||
प्रतिहाराख्यमस्त्रं तु कुन्तः परमभास्वरः |
ऋक्षास्यं भूतमुद्दिष्टमवाङ्मुखसमाह्वयम् ||४२||
पराङ्मुखाह्वयं चास्त्रं पञ्चाननशिरो विदुः |
धान्यास्त्रमेतत् परमं शालिस्तबकबन्धनम् ||४३||
वृषाक्षं वृषवक्त्राङ्कं महाभूतं प्रचक्षते |
कामरूपं महास्त्रं तु प्रतिभास्करसन्निभम् ||४४||

इसके बाद विनाश करने वाले शेष अस्त्रों को कहता हूँ | सभी अस्त्रों को काटने में समर्थ तारे की आकृति वाला रसभास्त्र होता है | कमण्डलु की आकृति वाला सुन्दर सर्वनाभास्त्र बताया गया है | जिसके नेत्र रक्तवर्ण के हों, और जो तीन पंजरों से जकड़ा गया हो, वह जृम्भकास्त्र कहा गया है | अत्यंत चमकीले भाले के समान आकृति वाला प्रतिहारास्त्र होता है | भालू के समान मुख वाले भूत को अवाङ्मुखास्त्र कहते हैं | पांच मुख तथा शिरों वाले अस्त्र को पराङ्मुखास्त्र कहते हैं | धान के गुच्छे के समान ग्रन्थित आकृति वाला धान्यास्त्र कहलाता है | बैल के समान नेत्र एवं मुख वाला महाभूतास्त्र होता है | सूर्य के समान प्रभा वाला महान् कामरूपास्त्र बताया गया है |

धनाख्यमस्त्रं मुकुटसमानममितद्युतिः |
दृढनाभाख्यमस्त्रं स्यान्नागो बहुफणान्वितः ||४५||
अस्त्रं कामरुचिर्नाम स्वस्तिकं परिचक्षते |
सुनाभं क्षुरिका तीक्ष्णा प्रोच्यतेऽस्त्रमनुत्तमम् ||४६||
मकरो नाम दिव्यास्त्रं दीपिकादण्डसन्निभम् |
दशाक्षमेतज्जानीयात् कौक्षेयकमवारितम् ||४७||
वृत्तिमन्तं चोष्ट्रमुखं वेतालमभिधीयते |
एकस्थं दशवक्त्रं तु दशवक्त्रमुदाहृतम् ||४८||
रुचिराख्यं भवेदस्त्रं हलं परमदारुणम् |
दशवर्षा काकमुखी दशकर्णमुदीर्यते ||४९||

मुकुट के समान चमकीले आकार वाला धनास्त्र कहा गया है जिसमें अपार प्रकाश होता है | अनेक फनों वाले नाग के समान दृढनाभास्त्र की आकृति होती है | कामरुचि नामक अस्त्र की आकृति स्वस्तिक के समान होती है | अस्त्रों में श्रेष्ठ, तीक्ष्ण छुरी के समान सुनाभास्त्र की आकृति होती है | जिस पर दीपक रखा जाता है, ऐसे दण्ड के समान आकृति वाले अस्त्र को मकरास्त्र कहते हैं | कभी मन्द न होने वाली तलवार के समान दशाक्षास्त्र की आकृति होती है | ऊँट के समान मुख वाले, विस्तृत अस्त्र को वेतालास्त्र कहते हैं | एक ही स्थान पर दशमुखों वाले की दशवक्त्रास्त्र संज्ञा है | सबों को चीरने वाले परम दारुण हल को रुचिरास्त्र कहते हैं | काक के समान मुख वाली दशवर्ष की आयु के समान दिखने वाली शक्ति दशकर्णास्त्र कहलाती है |

योगन्धरं दिवाभीतव्यात्तवक्रमिति स्मृतम् |
स्याद्वारुणममित्रघ्नं परास्त्रविनिवारणम् ||५०||
अनिद्रमस्त्रमुन्निद्रमिति प्राज्ञा विदुर्बुधाः |
भेत्तारमस्त्रमाख्यातं कुठारं परभेदनम् ||५१||
शतोदरास्त्रं भूतं स्याच्छतोदरसमन्वितम् |
अस्त्रं सौमनसं नाम जपाकुसुममञ्जरी ||५२||
पद्मनाभं महाभूतं पद्मालङ्कृतनाभिमत् |
महानाभाख्यमस्त्रं तु बको विकटकन्धरः ||५३||
ज्यौतिषं नाम परमं विमानमभिधीयते |
क्रमणं क्षेपणं प्रोक्तं परास्त्रक्रमणं महत् ||५४||

दिन में भय हेतु मुख फैलाने वाले को योगन्धरास्त्र कहते हैं | शत्रुओं के अस्त्रों को रोकने वाला, शत्रुओं को नष्ट करने वाला वारुणास्त्र होता है | निद्रा का अभाव उत्पन्न करने वाले अस्त्र को अनिद्रास्त्र कहा जाता है | कुठार के समान आकृति वाले, शत्रुओं का भेदन करने वाले अस्त्र को कुठारास्त्र के नाम से कहा गया है | जिस भूत के सौ पेट हों, वह शतोदरास्त्र है | जपा के पुष्प की मंजरी के समान सौमनसास्त्र होता है | कमल से सुशोभित नाभि वाला महाभूत पद्मनाभास्त्र कहाता है | बगुले के समान आकृति वाला, विकट कन्धे वाला महानाभास्त्र होता है | उत्कृष्ट विमान के समान दिखाई देने वाला अस्त्र ज्यौतिषास्त्र कहलाता है | अतिक्रमण की क्रिया को क्षेपण कहते हैं | जो शत्रु के अस्त्र का अतिक्रमण करने में समर्थ हो, उसे क्षेपणास्त्र कहा गया है |

त्रैराशिर्वानरमुखं सपक्षं नरपादवत् |
सार्चिमालिमहाभूतमेकपाद्बहुहस्तकम् ||५५||
विमलास्त्रमिदं विद्यात्स्फाटिकाकारदोलिकाम् |
वराहसिंहमनुजकुकुराश्च गजाननाः ||५६||
यस्मिन्स्थितानि तं भूतं धृतिकास्त्रं विदुर्बुधाः |
एवं दिव्यास्त्ररूपाणि कथितानि मयानघ ||५७||
ध्यातं सकृद्भवानेककोट्यघौघं हरत्यरम् |
सुदर्शनस्य तद्दिव्यं भर्गो देवस्य धीमहि ||५८||
अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धनुर्वेदस्य साधनम् |
अस्त्राणां विनियोगञ्च वैशम्पायनकीर्तितम् ||५९||

वानर के समान मुख, पक्षियों के समान पंख एवं मनुष्य के समान पैरों वाले अस्त्र को त्रैराशिकास्त्र कहा जाता है | एक पैर एवं बहुत से हाथों वाला भूतविशेष सार्चिमाल्यस्त्र के नाम से जाना जाता है | स्फटिक से बनी पालकी के समान विमलास्त्र का आकार बताया गया है | जिस भूत में वराह, सिंह, मनुष्य, कुत्ता एवं हाथी के समान मुख हो, उसे धृतिकास्त्र के नाम से विद्वानों ने जाना है | हे निष्पाप ! इस प्रकार से मेरे द्वारा दिव्यास्त्रों के स्वरूप बताये गए हैं | जिनके अरे का एक बार ध्यान करने से करोड़ों जन्मों के पापसमूह नष्ट हो जाते हैं, हम उन सुदर्शन भगवान् के दिव्य तेजोमय स्वरूप का ध्यान करते हैं | अब मैं वैशम्पायन मुनि के द्वारा कहे गये धनुर्वेदसाधन एवं अस्त्रों के विनियोग को कहता हूँ |

चतुष्पाच्च धनुर्वेदो रक्तवर्णश्चतुर्मुखः |
अष्टबाहुस्त्रिनेत्रश्च वृषारूढस्स उच्यते ||६०||
अनेकवल्गिताकारभूषणः पिङ्गलेक्षणः |
जयमालापरिवृतः साङ्ख्यायनसगोत्रवान् ||६१||
सङ्ख्या परार्धपर्यन्ता तदयं साङ्ख्यमुच्यते |
अयनं तस्य यस्मात्तद्ब्रह्मा साङ्ख्यायनस्स्मृतः ||६२||
दिव्यास्त्राणां ऋषिर्ब्रह्मा गायत्रीच्छन्द उच्यते |
महेश्वरो देवतात्र विनियोगोऽरिनिग्रहे ||६३||
द्वात्रिंशद्वर्णकमनुं वर्णसङ्ख्यासहस्रकैः |
जपित्वा सिद्धिमाप्नोति रिपूंश्चाप्यधितिष्ठति ||६४||

धनुर्वेद के चार पैर, लाल रंग, चार मुख, आठ हाथ, पीले रंग के तीन नेत्र होते हैं, यह वृषभ पर आरूढ़ होता है | अनेकों श्रेष्ठ, उज्ज्वल एवं विजयसूचक आभूषण तथा मालाओं से सज्जित होता है और इसका सांख्यायन गोत्र होता है | परार्ध की संख्या को सांख्य कहते हैं | वह सांख्य जिसका आधार है, उस ब्रह्मा को सांख्यायन कहा जाता है | दिव्यास्त्रों के ऋषि ब्रह्मा, गायत्री छन्द, महेश्वर देवता होते हैं | शत्रुओं के निग्रह हेतु इनका विनियोग होता है | धनुर्वेद के बत्तीस अक्षरों वाले मन्त्र को बतीस हजार बार जपने से योद्धा मन्त्र सिद्धि को प्राप्त करता है एवं शत्रुओं के ऊपर हावी होता है |

अत्र धनुर्धारणविधिः

त्रिराचम्य

ॐ ह्रीं शङ्कराय नमः | शिखास्थाने

ॐ ह्रीं केशवाय नमः | बाह्वोः

ॐ ह्रीं ब्रह्मणे नमः | नाभिमध्ये

ॐ ह्रीं गणपतये नमः | जङ्घयोः

एवं न्यासविधानं कृत्वा

ॐ काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि |
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ||

इति यजुषा चापं धारयेत् |

{ तीन बार आचमन करके उपर्युक्त मन्त्र से न्यास करने के बाद यजुर्वेदोक्त मन्त्र से धनुष को धारण करे }

|| **ॐ नमो भगवते धनुर्वेदाय मां रक्ष रक्ष मम शत्रुं बन्धय भक्षय हुं फट् स्वाहेति** द्वात्रिंशद्वर्णको मनुः ||

ॐ नमो भगवते धनुर्वेदाय मां रक्ष रक्ष मम शत्रुं बन्धय भक्षय हुं फट् स्वाहा, ये धनुर्वेद का ३२ वर्णों का मन्त्र बताया गया है |

युद्धारम्भमन्त्रवर्णनम्

ॐ नमः परमात्मने शक्तिमते विरूपाक्षाय भालनेत्राय
रं हुं फट् स्वाहा ।

एवं सहस्रधा जप्त्वा रुद्रं ध्यात्वा ततो दुर्गां ध्यात्वा
जयं देहीति कामनया प्रणम्य
ॐ ह्रीं श्रीं हैमवतीश्वरीं ह्रीं स्वाहा
मन्त्रमुच्चरेत् ।

ॐ ह्रीं वज्रयोगिन्यै स्वाहा ।
इति मन्त्रेण रुद्राणीं ध्यात्वा ततो युद्धमारभेत ।

युद्ध आरम्भ करते समय *ॐ नमः परमात्मने शक्तिमते विरूपाक्षाय भालनेत्राय रं हुं फट् स्वाहा* इस मन्त्र को एक हजार बार जप कर रुद्र का ध्यान करे । इसके बाद दुर्गा का ध्यान करके 'हमें विजय दो' ऐसी कामना से प्रणाम करके *ॐ ह्रीं श्रीं हैमवतीश्वरीं ह्रीं स्वाहा* मन्त्र का उच्चारण करे । *ॐ ह्रीं वज्रयोगिन्यै स्वाहा* मन्त्र से रुद्राणी का ध्यान करके फिर युद्ध प्रारम्भ करे ।

ब्रह्मास्त्रवर्णनम्

ॐ देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे

मन्त्रस्यास्य मन्त्री निखर्वसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् |
विपरीतेन रोधः|
बगलापि ब्रह्मास्त्रमिति कथ्यते | षट्त्रिंशल्लक्षजपात् सिद्धिः |

इस मन्त्र को जानने वाला एक खरब (मतान्तर से दस खरब) संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |
बगलामुखी को भी ब्रह्मास्त्र कहा जाता है |
उसकी सिद्धि छत्तीस लाख जप से होती है |

ब्रह्मदण्डवर्णनम्

ॐ प्रचोदयात् नो यो धियः धीमहि देवस्य भर्गो वरेण्यं सवितुस्तत् अमुकशत्रुं हन हन हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वशत्रूनथवा साध्यनाम ।
लक्षद्वयजपात् सिद्धिः । विपरीतेन रोधः ।

अमुक के स्थान पर *सर्वशत्रून्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे ।
दो लाख जपने से सिद्धि होती है, विपरीत जपने से निरोध होता है ।

ब्रह्मशिरवर्णनम्

ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् भर्गो देवस्य धीमहि
तत्सवितुर्वरेण्यं शत्रून्मे हन हन हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री त्रिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला तीन लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पाशुपतवर्णनम्

ॐ देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे ॐ श्लीं पशुं हुं फट् अमुकशत्रुं हन हन हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वशत्रूनथवा साध्यनाम ।
लक्षद्वयजपात् सिद्धिः । विपरीतेन रोधः ।

अमुक के स्थान पर *सर्वशत्रून्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे ।
दो लाख जपने से सिद्धि होती है, विपरीत जपने से निरोध होता है ।

वायव्यास्त्रवर्णनम्

ॐ वायव्यया या वायव्ययान्योर्वायिया वा अमुकं मे शत्रुं हन हन हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वमथवा साध्यनाम |
नियुतद्वयजपात् सिद्धिः | विपरीतेन रोधः |

अमुक के स्थान पर *सर्वम्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे |
बीस लाख जपने से सिद्धि होती है, विपरीत जपने से निरोध होता है |

आग्नेयास्त्रवर्णनम्

ॐ अग्निस्त्यता हृदुभूं शिवं वनाश्विविणि हगादशंरूपनः सदवा हादिति तोयति राममसो हित्वा वा न सुसेद वेदया अमुकं शत्रुं मे हन हन हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वमथवा साध्यनाम ।
नियुतद्वयजपात् सिद्धिः । विपरीतेन रोधः ।

अमुक के स्थान पर *सर्वम्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे ।
बीस लाख जपने से सिद्धि होती है, विपरीत जपने से निरोध होता है ।

नारसिंहास्त्रवर्णनम्

ॐ वज्रनखवज्रदंष्ट्रायुधाय महासिंहाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला एक लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

वैकुण्ठास्त्रवर्णनम्

ॐ नमाम्यहं मृत्युमृत्युं भद्रं भीषणं नृसिंहं सर्वतोमुखं ज्वलन्तं महाविष्णुं वीरमुग्रम्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वात्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बत्तीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कालपावकास्त्रवर्णनम्

ॐ नमाम्यहं मृत्युमृत्युं भद्रं भीषणं नृसिंहमुग्रम्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

नारायणास्त्रवर्णनम्

ॐ म्हम्यमानत्युंमृत्युमृद्रंभणंषभीहंसिंनृ
खंमुतोर्वसन्तंलज्वष्णुंविहामरंवीग्रंउ

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वात्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः | विपरीतं नृसिंहानुष्टुभमन्त्रमुग्रमिति |

इस मन्त्र को जानने वाला बत्तीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |
मन्त्र का विपरीत नृसिंह का 'उग्रं वीरं' संज्ञक अनुष्टुप् मन्त्र है |

अपरनारायणास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो भगवते श्रीनारायणाय नमो नारायणाय विश्वमूर्तये नमः
श्रीपुरुषोत्तमाय पुष्पदृष्टिं प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा अजीर्णं
पञ्चविषूचिकां हन हन एकाहिकं द्व्याहिकं
त्र्याहिकं चातुर्थिकं ज्वरं नाशय नाशय
चतुरशीतिवातानष्टादशकुष्ठानष्टादशक्षयरोगान् हन हन सर्वदोषान्
भञ्जय भञ्जय तत्सर्वं नाशय नाशय शोषय शोषय आकर्षयाकर्षय
शत्रून् मारय मारय उच्चाटयोच्चाटय विद्वेषय विद्वेषय स्तम्भय
स्तम्भय निवारय निवारय विघ्नैर्हन विघ्नैर्हन दह दह मथ मथ
विध्वंसय विध्वंसय चक्रं गृहीत्वा शीघ्रमागच्छागच्छ चक्रेण हत्वा
परविद्यां छेदय छेदय भेदय भेदय चतुःशीतानि विस्फोटय
विस्फोटय अर्शवातशूलदृष्टिसर्पसिंहव्याघ्रद्विपदचतुष्पदबाह्यान्दिवि
भुव्यन्तरिक्षे अन्येऽपि केचित् तान्द्वेषकान्सर्वान् हन हन
विद्युन्मेघनदीपर्वताटवीसर्वस्थानरात्रिदिनपथचौरान् वशं कुरु कुरु
हरिः ॐ नमो भगवते ह्रीं हुं फट् स्वाहा ठः ठं ठं ठः नमः

लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

एक लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सुदर्शनास्त्रवर्णनम्

(नाथपन्थीय शाबर)

ॐ नमो सुदर्शनचक्राय महाचक्राय शीघ्र आगच्छ आगच्छ प्रगटय प्रगटय मम अमुकं शत्रुं काटय काटय मारय मारय ज्वालय ज्वालय विध्वंसय विध्वंसय छेदय छेदय मम सर्वत्र रक्षय रक्षय हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वमथवा साध्यनाम |
ग्रहणेऽष्टोत्तरशतजपात् सिद्धिः |

अमुक के स्थान पर *सर्वम्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे |
ग्रहण के समय एक सौ आठ बार जपने से सिद्धि होती है |

महापाशुपतास्त्रवर्णनम्

(नाथपन्थीय शाबर)

ॐ नमो पाशुपतास्त्र स्मरणमात्रेण प्रकटय प्रकटय शीघ्र आगच्छ आगच्छ मम सर्वशत्रुसैन्यं विध्वंसय विध्वंसय मारय मारय हुं फट्

ग्रहणेऽष्टोत्तरशतजपात् सिद्धिः ।

ग्रहण के समय एक सौ आठ बार जपने से सिद्धि होती है ।

ब्रह्मास्त्रवर्णनम्

(नाथपन्थीय शाबर)

ॐ नमो ब्रह्माय नमः स्मरणमात्रेण शीघ्र आगच्छ आगच्छ प्रकटय प्रकटय मम सर्वशत्रुं नाशय नाशय शत्रुसैन्यं नाशय नाशय घातय घातय मारय मारय हुं फट्

ग्रहणेऽष्टोत्तरशतजपात् सिद्धिः ।

ग्रहण के समय एक सौ आठ बार जपने से सिद्धि होती है ।

यमास्त्रवर्णनम्

(नाथपन्थीय शाबर)

ॐ नमो यमदेवताय नमः स्मरणमात्रेण प्रकटय प्रकटय अमुकं शीघ्र मृत्युं हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वमथवा साध्यनाम | ग्रहणेऽष्टोत्तरशतजपात्सिद्धिः | प्रयोगे नवोत्तरशतं जप्त्वा शत्रुनाम्ना योजयित्वा भस्ममभिमन्त्र्य चालयेत् |

अमुक के स्थान पर *सर्वम्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे | ग्रहण के समय एक सौ आठ बार जपने से सिद्धि होती है | प्रयोग के समय एक सौ नौ बार शत्रु के नाम के साथ जोडकर जपे एवं भस्म को अभिमन्त्रित करके सञ्चालित करे |

आग्नेयास्त्रवर्णनम्

(नाथपन्थीय शाबर)

ॐ नमो अग्निदेवाय नमः शीघ्रं आगच्छ आगच्छ मम अमुकं शत्रुं ज्वालय ज्वालय नाशय नाशय हुं फट्

अमुकस्थाने सर्वमथवा साध्यनाम | ग्रहणेऽष्टोत्तरशतजपात्सिद्धिः |
प्रयोगे नवोत्तरशतं जप्त्वा शत्रुनाम्ना योजयित्वा
भस्ममभिमन्त्र्य चालयेत् |

अमुक के स्थान पर *सर्वम्* अथवा साध्य शत्रु का नाम पढे |
ग्रहण के समय एक सौ आठ बार जपने से सिद्धि होती है | प्रयोग के
समय एक सौ नौ बार शत्रु के नाम के साथ जोडकर जपे एवं भस्म
को अभिमन्त्रित करके सञ्चालित करे |

दण्डचक्रास्त्रवर्णनम्

ॐ आत्मने चक्राय कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कालचक्रास्त्रवर्णनम्

विल्वर (?) रं दमन कालात्मने चक्राय नमः

(इस मन्त्र का पूर्ण स्वरूप एवं विधान अधुना प्राप्त नहीं है)

इन्द्रचक्रास्त्रवर्णनम्

ॐ ज्वलन्नेमि हिमरूपिनवदानवान् कं शोषय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

धर्मचक्रास्त्रवर्णनम्

ॐ पात्यखिल नियमन धर्मात्मने चक्राय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विष्णुचक्रास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो भगवते तीव्रतेजसे शतसहस्रार परं भिन्धि भीषय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री तत्वोनलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला तेईस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

त्रिशूलास्त्रवर्णनम्

ॐ शूलवराय भीमरूप दारय मारय भीषय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री एकविंशतिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला इक्कीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

ऐषीकास्त्रवर्णनम्

ॐ परमपरसैन्यं विद्रावय क्षिप स्वाहा

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

शिखर्यस्त्रवर्णनम्

ॐ प्रेसन्य वारिणि शिखरि भेदिनि हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य
चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

वरुणपाशास्त्रवर्णनम्

ॐ तुन्दिल सर्ववारण घोररूप कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कालपाशास्त्रवर्णनम्

ॐ दिफयञ् (?) रिपुं विष्टम्भय विष्टम्भय कवचाय हुं

(इस मन्त्र का पूर्ण स्वरूप एवं विधान अधुना प्राप्त नहीं है)

अशन्यस्त्रवर्णनम्

(आद्या)

ॐ परतलकृ मतिपश्चिम कर शोषय शोषय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

(अपरा)

ॐ परमनोदारण भीषय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पैनाकास्त्रवर्णनम्

ॐ कर नृ भिन्धि भिन्धि

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला आठ लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

अन्यनारायणास्त्रवर्णनम्

ॐ अन अरा इव सुदर्शन परदारण विश्वमूर्ते कवचाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री पञ्चविंशतिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला पच्चीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

अन्यपाशुपतास्त्रवर्णनम्

ॐ श्लीं पशुं कवचाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् |विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

अन्याग्नेयास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो बहुवर्णाय वृत्तपिङ्गललोचन विश्वामित्र प्रशमन दह शोषय भीषय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वात्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बत्तीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दयितास्त्रवर्णनम्

ॐ शयखनार वहय प्रक्षेपण कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

वायव्यास्त्रवर्णनम्

ॐ नय नय नय यक्षरक्षः पिशाचादीनमित्रांश्च दूरमुत्सारय उत्सारय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टाविंशतिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अट्ठाईस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

क्रौञ्चास्त्रवर्णनम्

ॐ परसन्तापन हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला आठ लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

शक्त्यस्त्रवर्णनम्

(प्रथमा)

ॐ दीप्तमूर्ते परविदारणि कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

(द्वितीया)

वज्रमूर्ते शङ्कुकर्णि प्रोतसेने कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कङ्कालास्त्रवर्णनम्

ॐ घं कर्माय फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री पञ्चलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला पांच लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मुसलास्त्रवर्णनम्

ॐ चण्डरूप चण्डरूप घातय घातय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री पञ्चदशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला पन्द्रह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कङ्कण्यस्त्रवर्णनम्

ॐ दारिता रते दमय दमय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

वैद्याधरास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो भगवति महामाये कवचायास्त्राय फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

असिरक्तास्त्रवर्णनम्

ॐ खण्डितशत्रुशक्ते कवचाय हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

गान्धर्वास्त्रवर्णनम्

ॐ कलने मोहय मोहय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

प्रस्थापनास्त्रवर्णनम्

ॐ गन गणपतये लोके अमित्रान् प्रस्थापय प्रस्थापय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सौर्यास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः पराय परतेजो निबर्हणाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दर्पणास्त्रवर्णनम्

ॐ दनवि दररि तदपर कवचाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

शोषणास्त्रवर्णनम्

ॐ शोषित मद्वैरीमानस कवचाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सन्तापनास्त्रवर्णनम्

ॐ तपित परेसयसह समूर्ते सन्तापय सन्तापय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री एकविंशतिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला इक्कीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विलापनास्त्रवर्णनम्

ॐ सेत्र मायात्मने हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला आठ लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कन्दर्पदयितास्त्रवर्णनम्

ॐ वहोम मायाविन् अस्त्राय फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पैशाचास्त्रवर्णनम्

ॐ परमोहनि नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला आठ लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

तामसास्त्रवर्णनम्

ॐ न झं झं झं तिमिरकर प्रतिसैन्य संवृणु

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सौमनास्त्रवर्णनम्

ॐ अ ओमद्य शक्ते परस्तम्भन कवचाय हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

संवर्तास्त्रवर्णनम्

ॐ रन् रिपून् क्षिप क्षिप नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् |विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मौसलास्त्रवर्णनम्

ॐ तिग्मवृत्ते भिन्धि भिन्धि नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सत्यास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः परमार्थाय रिपून् जहि जहि

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मायाधरास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो देवाय मायात्मने हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मदनास्त्रवर्णनम्

ॐ दुर्वार महामाये हुं

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला आठ लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

घोरास्त्रवर्णनम्

ॐ घोररूपाय चण्डाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

अघोरास्त्रवर्णनम्

ॐ ह्रीं स्फुर स्फुर प्रस्फुर प्रस्फुर घोर घोरतर
तनुरूप चट चट प्रचट प्रचट कह कह
वम वम बन्ध बन्ध घातय घातय हुं फट्

मन्त्री मन्त्रस्यास्यैकपञ्चाशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला इक्यावन लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

अपराघोरास्त्रवर्णनम्

ॐ चट चट प्रचट प्रचट कह कह वम वम बन्ध बन्ध तप शक्त्यात्मक कवचाय हुं फट्

षड्विंशल्लक्षजपात् सिद्धिः | विपरीतेन रोधः|

इसकी सिद्धि छत्तीस लाख जप से होती है |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सौमास्त्रवर्णनम्

ॐ सनो द्विषन्त उद्वेजय उद्वेजय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

त्वाष्ट्रास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः सकल निमतृछा धाम्ने पराय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

शीतेष्वस्त्रवर्णनम्

ॐ शिवफल विपक्षान् क्षिप क्षिप नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मानवास्त्रवर्णनम्

ॐ पराय परमर्यादाभेदिने भीमरूपाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

रौद्रास्त्रवर्णनम्

ॐ दह दह प्रचण्डरूपरुद्रधाम्ने नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

प्रस्वापनास्त्रवर्णनम्

ॐ दीर्घसुसुप्तिकारि ह्रीं हुं फट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सत्यवदस्त्रवर्णनम्

ॐ परिवृत निवर्तित परमेष्ठिन् ऋतं पिब नमः

मन्त्री मन्त्रस्यास्याष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सत्यकीर्त्यस्त्रवर्णनम्

ॐ नमः सत्यधाम्ने शमय शमय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

प्रतीहारास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री त्रिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला तीन लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पराङ्गमुखास्त्रवर्णनम्

ॐ परस्तुत स्तोभात्मने पराङ्गमुखाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

लक्षाक्षास्त्रवर्णनम्

ॐ दशलक्षभेदिने निरासकाय निरासकाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री विंशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य
चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बीस लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विषमास्त्रवर्णनम्

ॐ विचित्रप्रसार मर्षय मर्षय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दृढनाभास्त्रवर्णनम्

ॐ शान्तिं कुरु निविडगात्र विष्कभ नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

संहारकास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो विसृतचक्राय स्वाहा

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दशाक्षास्त्रवर्णनम्

ॐ विशलता मुण्डवारणाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दशशीर्षास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो बहुवक्राय वज्रवारणायान्तं शतवक्रकं द्योरर्सतकर्तनाय दशशीर्षाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुःत्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौंतीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

शतोदरास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो लुप्तास्त्रजालाय बहूदराय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पद्मनाभास्त्रवर्णनम्

ॐ परहित प्रवृत्तनाशाय प्रवृत्तनाशाय स्वस्ति

मन्त्री मन्त्रस्यास्याष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

महानाभास्त्रवर्णनम्

ॐ महापाशविचक्रात्मने स्वस्ति

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

दुन्दुनाभास्त्रवर्णनम्

ॐ शमितशूलाय चण्डनाभाय स्वस्ति स्वस्ति

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

धृतिमाल्यस्त्रवर्णनम्

ॐ निसूदिताकुशायानिवारित तेजसे स्वस्ति

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

रुचिरास्त्रवर्णनम्

ॐ क्षुद्यं ई क्षामय क्षामय प्रहरण प्रहरण शं तनोतु नमः

मन्त्री मन्त्रस्यास्याष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

पितृसौमनास्त्रवर्णनम्

ॐ पितृदेवसार सर्वाभयप्रद सर्वशान्तिकराय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री एकविंशतिलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला इक्कीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विधूतास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो विधूताखिलतापकराय परमधाम्ने

मन्त्री मन्त्रस्यास्याष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मकरास्त्रवर्णनम्

ॐ नमस्त्रुटित शस्त्रास्त्रशक्तये शक्तिशालिने मकराय प्रवृत्तास्त्रमहार्णवभेदिने

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वात्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बत्तीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

करवीरसमास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः तिरस्कृत गदावीर्याय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री चतुर्दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला चौदह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

धनास्त्रवर्णनम्

ॐ नमः प्रतापधन शिवं कुरु शिवं कुरु

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

धान्यास्त्रवर्णनम्

ॐ परार्तजीवातये नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कृशनास्त्रवर्णनम्

ॐ कलिताकाश शरासनाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

नैराश्यास्त्रवर्णनम्

ॐ विफलीकृतचक्र चक्राय वषट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विमलास्त्रवर्णनम्

ॐ वित्रासिताखिलसत्राय विमलाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

योगन्धरास्त्रवर्णनम्

ॐ सर्वमायीमयास्त्राय तमोबर्हणमूर्तये योगन्धराय महते भीषणाय नमो नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वात्रिंशल्लक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बत्तीस लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

विनिद्रास्त्रवर्णनम्

ॐ निहतनिद्रामुद्राय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

प्रमथनास्त्रवर्णनम्

ॐ नमो विशधीत शतेक्त प्रसादय प्रसादय

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कामरूपास्त्रवर्णनम्

ॐ स्वारप्रवृत्त परसञ्चार भञ्जन स्वाहा

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

कामरुच्यस्त्रवर्णनम्

ॐ नमो निखिलकबन्ध सन्धानाय शिखायै वौषट्

मन्त्रस्यास्य मन्त्री अष्टादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला अठारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

मोहनास्त्रवर्णनम्

ॐ ऐं क्रौं मोहवारिणी नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

आवरणास्त्रवर्णनम्

ॐ धारितमहामाये नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

जृम्भकास्त्रवर्णनम्

ॐ भञ्जभञ्जन स्वस्ति नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री दशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत्
| विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला दश लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सर्वनाभकास्त्रवर्णनम्

ॐ खादितसेना जीवातये नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य
चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को
अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

भृशाश्वतनयास्त्रवर्णनम्

ॐ वेगविश्वाद्यं वेगजित वैनतेयाय नमः

मन्त्रस्यास्य मन्त्री षोडशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला सोलह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

सन्धानास्त्रवर्णनम्

ॐ सर्वनिर्वापण शं कुरु शं कुरु

मन्त्रस्यास्य मन्त्री द्वादशलक्षसंख्यकं जप्त्वा काण्डानभिमन्त्र्य चालयेत् | विपरीतेन रोधः |

इस मन्त्र को जानने वाला बारह लाख संख्या में जपकर बाणों को अभिमन्त्रित करके सन्धान करे |
मन्त्र को उल्टा जपने से निरोध होता है |

निग्रहप्रयोगवर्णनम्

निग्रह उवाच

निग्रहं कर्म वक्ष्यामि शस्त्राणां सर्वदा कलौ |
उचितानुचितं वेत्तुमुपायं तीक्ष्णसङ्गरे ||०१||
आकाशभैरवे कल्पे प्रोक्तान् शङ्करमानितान् |
देव्यै निग्रहयोगाञ्च तान्सर्वान् प्रवदाम्यहम् ||०२||
गुरुमातृपितृद्रोही स्वभार्यामर्मसूचकः |
यस्तं हन्याद्रणे विप्र दोषो नास्ति कदाचन ||०३||
स्वर्णधान्यगृहक्षेत्रधेनुपुस्तकतस्करम् |
कुरुते यस्तमाहर्तुं दोषो नास्ति कदाचन ||०४||
अभाषमाणं पुरुषं हठात्कारेण ताडयेत् |
यस्तमाहर्तुमीशानि दोषो नास्ति कदाचन ||०५||
भाषमाणाञ्च तान्नारीं ब्रूयात्कोपादवाच्यकम् |
तं नरं देवि संहर्तुं दोषो नास्ति कदाचन ||०६||
वनितां वृन्दमध्यस्थां मानभङ्गां करोति यः |
दुश्चारिणीमपि वधूं बलात्कारं करोति यः ||०७||
दम्पतिमेलने काले प्रकाशं यः करोति च |
नराधमं तमाहर्तुं दोषो नास्ति कदाचन ||०८||
एतद्रहस्यं सुबुधः समीक्ष्य दिव्यास्त्रन्यासञ्च करोति लोके |
स एव नूनं शरभेश्वराज्ञां ज्ञात्वा नरो निग्रहकर्म कुर्यात् ||०९||

निग्रहाचार्य ने कहा - कठोर युद्धकाल में उचित एवं अनुचित का विचार करने के लिए कलियुग में शस्त्रों के निग्रहकर्म को कहता हूँ | ये सब *आकाशभैरवकल्प* के अन्तर्गत शिव जी के द्वारा समर्थित देवी पार्वती के लिए कहे गए हैं, उन सभी निग्रहयोगों को मैं कहता हूँ | हे विप्र ! जो व्यक्ति अपने गुरु एवं माता-पिता से द्रोह करता है तथा अपनी पत्नी पर घातक प्रहार करता है, ऐसे व्यक्ति को जो युद्ध में मार देता है, उस व्यक्ति को कोई दोष नहीं लगता है | स्वर्ण आदि धन, धान्य, घर, खेत, गौ तथा पुस्तक को चुराने वाले व्यक्ति के प्राणों का हरण करने से किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है | मौन अथवा तटस्थ व्यक्ति को जो बिना अपराध के ही मारता है, ऐसे व्यक्ति को मारने में कोई दोष नहीं है | हे देवि ! प्रेमपूर्वक वार्तालाप कर रही स्त्री से जो व्यक्ति कठोर वचन बोलता है तथा उसके प्रति अशोभनीय शब्दों का प्रयोग करता है, ऐसे व्यक्ति को मारने में कोई दोष नहीं लगता है | समूह में बैठी हुई स्त्री का जो मान-भंग करता है, जो व्यक्ति व्यभिचारिणी वधू का भी बलात्कार करता है, दम्पति के प्रणयकाल को प्रकाशित करता है, मनुष्यों में अधम ऐसे व्यक्ति का वध करने में कोई दोष नहीं है | बुद्धिमान् व्यक्ति इस रहस्य को भली प्रकार से जानकर ही दिव्यास्त्रों का प्रयोग संसार में करे (अनुचित व्यक्ति और स्थान पर न करे) | ऐसी ही महाशास्ता निग्रहाध्यक्ष भगवान् शरभेश्वर की आज्ञा है | इन सब बातों को जानकर ही व्यक्ति निग्रहकर्म में प्रवृत्त होवे |

|| इति श्रीनिग्रहाचार्यविरचिता दिव्यास्त्रविमर्शिनी सम्पूर्णा ||

| श्रीनिग्रहाचार्य के द्वारा विरचित दिव्यास्त्रविमर्शिनी पूर्ण हुई |

योगासन

लेखक

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

अनुवादिका

डा॰ स्वर्णलता अग्रवाल

प्रकाशक

दिव्य जीवन संघ

पत्रालय : शिवानन्दनगर—२४९१९२

जिला : टिहरी-गढ़वाल, ऊ॰प्र॰ (हिमालय), भारत

मूल्य] १९९६ [रु॰ 50/-

प्रथम हिन्दी संस्करण ... १९८२
द्वितीय हिन्दी संस्करण ... १९८८
तृतीय हिन्दी संस्करण ... १९९६

[४,००० प्रतियाँ]

ISBN 81-7052-126-2

'डिवाइन लाइफ सोसायटी, शिवानन्दनगर' के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज द्वारा प्रकाशित तथा उन्हीं के द्वारा 'योग-वेदान्त अरण्य अकादमी मुद्रणालय, पो॰ शिवानन्दनगर—२४९१९२, जिला टिहरी-गढ़वाल, ऊ.प्र॰' में मुद्रित ।
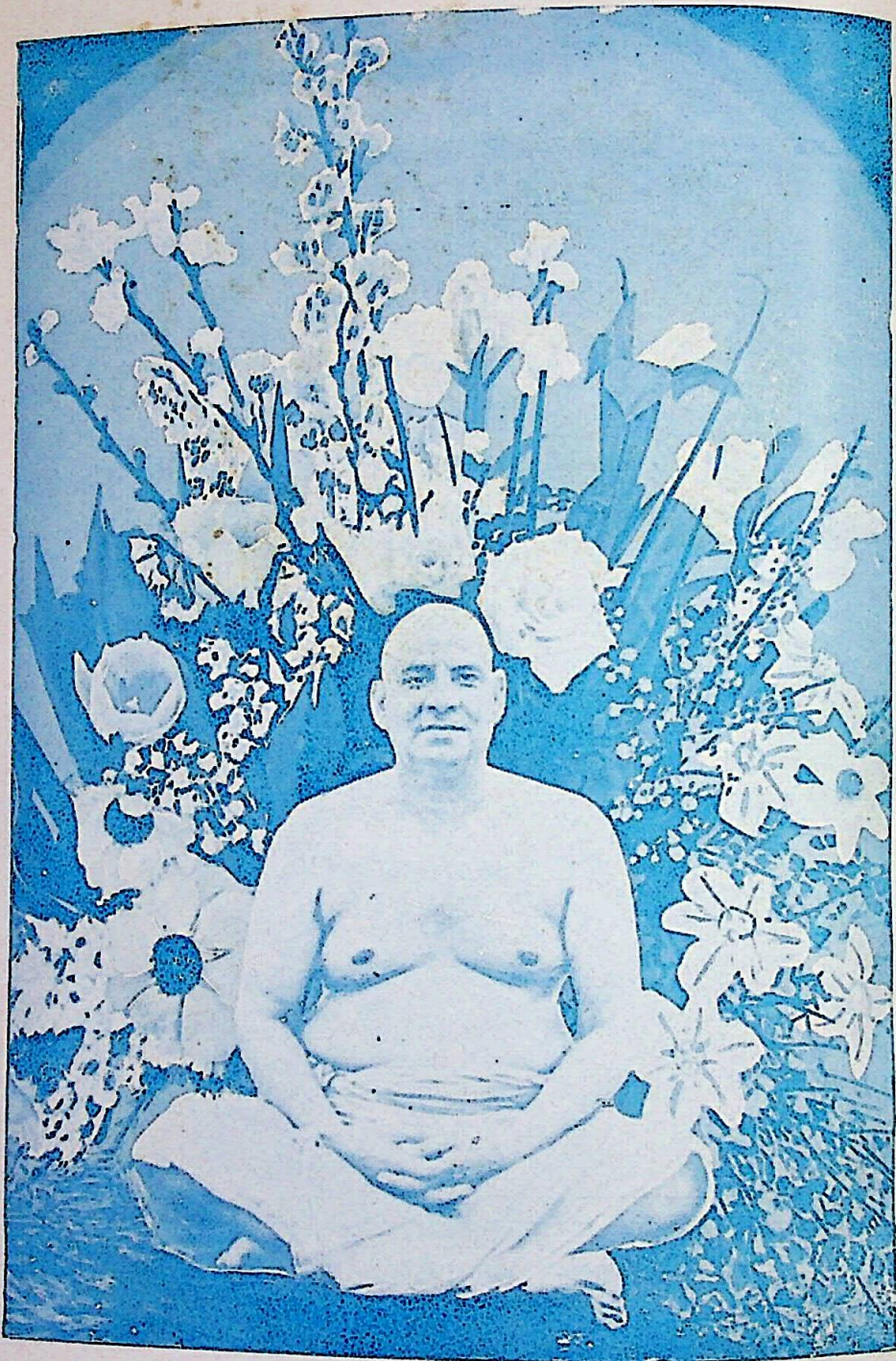
SWAMI SIVANANDA

देवी-स्तोत्र

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

शरण में आये हुए दीनों एवं पीड़ितों की रक्षा में संलग्न रहने वाली तथा सबकी पीड़ा दूर करने वाली नारायणी देवी ! तुम्हें नमस्कार है ।

गुरु-स्तोत्र

गुरुमूर्तिं स्मरेन्नित्यं गुरोर्नाम सदा जपेत् ।
गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत गुरोरन्यन्न भावयेत् ॥

व्यक्ति को चाहिए कि वह सदा गुरु के रूप का स्मरण करे, सदा गुरु के नाम का जप करे तथा गुरु की आज्ञा का पालन करे और गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी का चिन्तन न करे ।

गुरुरेको जगत्सर्वं ब्रह्माविष्णुशिवात्मकम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तस्मात् सम्पूजयेद् गुरुम् ॥

ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक सारा संसार एकमात्र गुरु है । गुरु से महान् कोई नहीं है; अतः गुरु की पूजा करनी चाहिए ।

परा-पूजा

हे केशव प्रभु ! मेरी समस्या यह है : मैं तुम्हें कैसे प्रसन्न करूँ?

१. गङ्गा स्वयं तुम्हारे श्रीचरणों से प्रवाहित हो रही हैं। क्या मैं तुम्हारे स्नानार्थ जल लाऊँ?

२. तुम्हारा सच्चिदानन्द स्वरूप तुम्हारा वस्त्र है। अब मैं तुम्हें कौन-सा पीताम्बर पहनाऊँ?

३. विश्व के समस्त प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में तुम निवास करते हो। हे वासुदेव ! अब मैं तुम्हें कौन-सा आसन बैठने के लिए दूँ?

४. सदा-सर्वदा सूर्य-चन्द्र—दोनों ही तुम्हारी सेवा कर रहे हैं। फिर व्यर्थ ही मैं तुम्हें दर्पण क्या दिखाऊँ?

५. तुम प्रकाशों के प्रकाश हो। बोलो, अब तुम्हारे लिए मैं कौन-सा अन्य प्रकाश जलाऊँ?

६. तुम्हारा स्वागत करने के लिए अहर्निश अनाहतनाद हो रहा है। तब क्या मैं तुम्हें प्रसन्न करने के लिए ढोल-मजीरा या शङ्ख बजाऊँ?

७. चारों वेद चारों प्रकार के स्वरों में केवल तुम्हारी स्तुति ही कर रहे हैं। फिर तुम्हारे लिए मैं किस स्तोत्र का पाठ करूँ?

८. समस्त रस तुम्हारे सुवास ही हैं। हे राम ! तब मैं भोग के रूप में तुम्हारे समक्ष कौन-सा पदार्थ रखूँ?

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेहमय करुणा-सागर प्रभु !
हे शान्ति के असीम सागर !

१. तुम वरुण, इद्र, ब्रह्मा तथा रुद्र हो ।
तुम सबके माता-पिता तथा पितामह हो ।
तुम नीलाम्बर, चन्द्रमा तथा तारक-समूह हो ।
तुम्हारी जय हो, जय हो, सहस्र बार जय हो !

२. तुम अन्तर्, बाह्य, अधः तथा ऊर्ध्व—सर्वत्र हो ।
तुम प्रत्येक दिशा में—पूर्व, पश्चिम तथा चतुर्दिक् हो ।
तुम अन्तर्यामी, साक्षी तथा स्वामी हो ।
तुम्हारी जय हो, पुनः-पुनः जय हो !

३. तुम सर्वव्यापी तथा अन्तर्व्याप्त हो
पुष्पाहार के सूत्र के समान तुम सूत्रात्मन हो ।
तुम जीवन, बुद्धि, विचार अथवा चेतना हो ।
मैं तुम्हें प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक में देख सकूँ—
इसका आशीर्वाद दो ।

४. हे परम महिम मधुर आराध्य सत्ता !
हे सूर्यों के सूर्य, प्रकाशों के प्रकाश, देवों के देव !
मेरी दृष्टि को धुँधला बना देने वाले
अज्ञानावरण को विदीर्ण करो
तथा मुझे अपने साथ एकत्व अनुभव करने की
शक्ति प्रदान करो ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

योगासनों को जो महत्ता प्राप्त हुई है, उसका स्वरूप द्विविध है। आसन मात्र सर्वतोमुखी शारीरिक व्यायामों का समूह नहीं हैं, वे योगाभ्यास के प्रारम्भिक सोपान भी हैं। शरीर-शोधन के लिए तथा उच्चतर एकता हेतु आवश्यक स्नायविक सन्तुलन के साथ इसकी (शारीरिक शोधन) समस्वरता के लिए आसनों की इन प्रविधियों को हठयोग और राजयोग—दोनों में निर्दिष्ट किया गया है। पातञ्जल योगदर्शन में ध्यानाभ्यास के लिए उपयुक्त किसी विशिष्ट आसन का उल्लेख नहीं है; परन्तु हठयोग में शरीर को स्वस्थ रखने एवं इसके कार्यकलापों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने हेतु विभिन्न आसनों के अभ्यास पर बल दिया गया है जिससे कि प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राण-प्रवाह में सन्तुलन तथा सामञ्जस्य लाने की सूक्ष्मतर प्रक्रिया में यह (अभ्यास) सहायक हो सके। इस प्रकार योगासन योग के मूल रूप के आधार ही हैं।

(ब्रह्मलीन) श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज परम तत्त्व पर ध्यान करने के प्रधान योग में विभिन्न योगों को (सोपानों, अवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं के रूप में) मिलाने के लिए विख्यात हैं। उन्होंने इस पुस्तक में योगासनों का वर्णन सीधे-सादे ढङ्ग से किया है जिससे कि सामान्य व्यक्ति भी इन्हें समझ सकें।

इस पुस्तक में अत्यधिक प्राविधिक विवरणों का समावेश सप्रयोजन नहीं किया गया है ताकि सामान्य जन भी इस (पुस्तक) से लाभान्वित हो सकें और उनके लिए सामान्य सांसारिक स्तर से ऊपर उठ कर एक नवीन तथा उच्चतर क्षेत्र में प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त हो सके। महत्त्वपूर्ण आसनों के वर्णन के साथ-साथ उनके चित्र भी दिये गये हैं; फिर भी, किसी प्रशिक्षक के मार्गनिर्देशन में आसनाभ्यास करना उचित होगा।

श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज जैसी दिव्य विभूति द्वारा रचित इस ग्रन्थ के पूर्व हिन्दी संस्करणों का हिन्दी पाठकों में आशातीत स्वागत हुआ! आशा है, यह संस्करण भी पाठकों के लिए पूर्ववत् उपयोगी सिद्ध होगा।

—दिव्य जीवन सङ्घ

भूमिका

मैं उस ब्रह्म को करबद्ध कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ जो शरणागतों के समस्त भयों, दुःखों और कष्टों को नष्ट करने वाला है, जो अजन्मा होते हुए भी अपनी महानता से जन्म लेता हुआ प्रतीत होता है, जो अचल होते हुए भी चलायमान लगता है, जो एक होते हुए भी **(एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म)** उन लोगों को अनेक रूप धारण किये प्रतीत होता है जिनकी दृष्टि अनन्तविध मिथ्या दृश्यों को देखने से धुँधली पड़ गयी है।

हे आदिनाथ भगवान् शिव ! सर्वप्रथम मैं आपको प्रणाम करता हूँ जिन्होंने पार्वती जी को हठयोग (जो परमोत्कृष्ट राजयोग को उपलब्ध करने का एक सोपान है) की शिक्षा दी थी।

गोरक्ष तथा मत्स्येन्द्र हठयोग भली प्रकार जानते थे। योगी स्वात्माराम ने उनकी ही कृपा से यह योग उनसे सीखा। योग की इस शाखा के अज्ञानान्धकार में जो भटक रहे हैं, हठयोग का ज्ञान प्राप्त करने में जो असमर्थ हैं, उन्हें परम दयालु स्वात्माराम योगी हठविद्या का प्रकाश प्रदान करते हैं।

जीवन का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। भारतीय दर्शन की समस्त प्रणालियों का एक ही लक्ष्य है—पूर्णता द्वारा आत्मा की मुक्ति।

प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है तथा दुःख से बचता है। कोई किसी को सुख प्राप्त करने का उपाय नहीं सिखाता। सुख की खोज करना मानव का अन्तर्निष्ठ स्वभाव है। आनन्द मनुष्य का स्वरूप ही है।

इच्छाओं की पूर्ति से मन को वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, यद्यपि उससे स्नायुओं को क्षणिक प्रसन्नता का अनुभव अवश्य होता है। जिस प्रकार अग्नि पर घी डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार विषय-भोग करने से इच्छाएँ तीव्र होती हैं तथा मन और अधिक अशान्त हो जाता है। जो पदार्थ दिक्काल तथा कारणत्व से अनुबन्धित होने के कारण विनाशी तथा अनित्य हैं, उनसे यथार्थ स्थायी सुख की आशा कैसे की जा सकती है ?

विषय-पदार्थों से प्राप्त सुख क्षणिक तथा अनित्य होता है। एक दार्शनिक के लिए यह सुख कदापि सुख नहीं है—यह खुजलाहट अनुभव होने पर शरीर को खुजलाने के समान है। विषय-सुख के साथ ही कठिन श्रम, पाप, भय, पीड़ा, चिन्ता

तथा अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सांसारिक कार्यकलापों के कोलाहल तथा उनकी प्रचण्ड हलचल के बीच रहते हुए भी जीवन में शान्ति के कुछ ऐसे क्षण आते हैं, जब मन कुछ समय के लिए दूषित सांसारिकता से ऊपर उठ कर जीवन की उच्चतर समस्याओं पर मनन करता है—'मैं कौन हूँ?', 'यह संसार किन-किन उपादानों से, कहाँ से, कब और क्यों उत्पन्न हुआ?' आदि। सच्चे जिज्ञासु गम्भीरतापूर्वक अपने चिन्तन के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर लेते हैं। वे सत्य का अन्वेषण करने तथा उसे समझने के प्रयास में जुट जाते हैं। उनमें विवेकोदय होता है। वे आत्मज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन में रत हो जाते हैं, चिन्तन-मनन करते हैं, निदिध्यासन करते हैं, अपने मन को शुद्ध करते हैं तथा अन्ततोगत्वा सर्वोच्च आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। जिनका मन सांसारिक वासनाओं तथा लालसाओं से सन्तृप्त रहता है, वे असावधान रहते हैं। वे राग-द्वेष की तरङ्गों से बलात् दोलायित होते रहते हैं तथा जन्म-मरण और उसकी सहगामी बुराइयों के विक्षुब्ध संसार-सागर में असहाय हो कर हिचकोले खाते रहते हैं।

अध्यात्म-मार्ग कण्टकाकीर्ण तथा अधःपाती है। इस पर दृढ़ सङ्कल्प, निर्भीक मनोवृत्ति तथा अदम्य शक्ति वाले व्यक्ति ही चल पाये हैं। यदि एक बार आप इस मार्ग पर चलने का निश्चय कर लें, तो प्रत्येक वस्तु सुगम एवं सरल हो जायेगी और आपके ऊपर भगवत्कृपा अवतरित होगी। समस्त आध्यात्मिक संसार आपका समर्थन करेगा। यह मार्ग आपको सीधे असीम परमानन्द, परम शान्ति, शाश्वत जीवन तथा शाश्वत प्रकाश के उन लोकों में ले जायेगा जहाँ आत्मा को यातना देने वाले त्रिताप, चिन्ताएँ, परेशानियाँ तथा भय प्रवेश करने का साहस नहीं करते; जहाँ जाति, धर्म, वर्ण आदि के समस्त विभेद एक दिव्य प्रेम में विलीन हो जाते हैं और जहाँ कामनाएँ तथा स्पृहाएँ पूर्णतः तृप्त हो जाती हैं।

जिस प्रकार एक ही कोट जॉन, दास अथवा अहमद को फिट नहीं आ सकता, उसी प्रकार एक ही मार्ग सब लोगों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। चार प्रकार के स्वभाव वाले लोगों के लिए चार मार्ग उपयुक्त होते हैं। वे सब मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं और वह लक्ष्य है परम सत्ता की प्राप्ति। मार्ग अलग-अलग हैं; किन्तु गन्तव्य-स्थान एक ही है। कर्मपरायण, भक्तिपरायण, रहस्यविद् तथा दार्शनिक (विवेकशील)—इन चार प्रकार के व्यक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोणों से परम सत्य की प्राप्ति हेतु जिन चार मार्गों का बोध कराया गया है, वे हैं (क्रमशः) कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग।

ये चार मार्ग एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् परस्पर पूरक हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दू-धर्म की विभिन्न पद्धतियों में परस्पर सामञ्जस्य है। धर्म के द्वारा पूर्ण मानव—उसका हृदय, बुद्धि और हाथ—विकसित तथा प्रशिक्षित होना चाहिए। एकपक्षीय विकास वाञ्छनीय नहीं है। कर्मयोग मल (मन के विकारों) का निवारण, मन को शुद्ध तथा हाथों को विकसित करता है। भक्तियोग विक्षेप को दूर करके हृदय को विकसित करता है। राजयोग मन को स्थिर तथा एकाग्र करता है। ज्ञानयोग अविद्या के आवरण को हटा कर इच्छा-शक्ति एवं विवेक को विकसित करता है तथा आत्मज्ञान उत्पन्न करता है। अतएव मनुष्य को चारों प्रकार के योगों का अभ्यास करना चाहिए। अध्यात्म-मार्ग पर ठीक प्रगति करने के लिए ज्ञानयोग को प्रमुख तथा अन्य योग-प्रणालियों को उसका सहायक बनाया जा सकता है।

'योग' शब्द का अर्थ है—जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन। जो विद्या इस गुह्य ज्ञान को प्राप्त करने का मार्ग बतलाती है, वह योगशास्त्र कहलाती है। हठयोग का सम्बन्ध शरीर से एवं श्वास-नियन्त्रण से है। राजयोग मन से सम्बन्धित है। राजयोग तथा हठयोग एक-दूसरे के अनिवार्य पूरक हैं। पूर्णयोगी बनने के लिए दोनों का ही व्यावहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। जहाँ भली प्रकार से अभ्यास किये हुए हठयोग की समाप्ति होती है, वहीं से राजयोग का प्रारम्भ होता है।

'हठ' शब्द 'ह' तथा 'ठ'—इन दो अक्षरों से बना हुआ संयुक्त शब्द माना जाता है। 'ह' का अर्थ है चन्द्रमा (इड़ा-नाड़ी) तथा 'ठ' का अर्थ है सूर्य (पिङ्गला-नाड़ी)। ये दोनों नाड़ियाँ बायें-दायें नासारन्ध्रों से प्रवाहित होने वाले श्वासों के अनुरूप हैं। हठयोग सूर्य तथा चन्द्र एवं प्राण तथा अपान को श्वास के नियमन द्वारा जोड़ने का उपाय बतलाता है।

हठयोग स्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्राप्त करने में सहायक है। इसके अभ्यास से हृदय, फेफड़ों, मस्तिष्क तथा पाचन-तन्त्र की क्रियाएँ नियमित होती हैं। पाचन तथा रुधिर-परिसञ्चरण की क्रियाएँ भी भली प्रकार होती रहती हैं। वृक्क (गुरदे), यकृत तथा अन्य आन्तराङ्ग भी सुचारु रूप से कार्य करने लगते हैं। हठयोग समस्त प्रकार के रोगों को दूर करता है।

इस पुस्तक में योगशास्त्र द्वारा निर्धारित ९० शारीरिक आसनों, महत्त्वपूर्ण बन्धों तथा मुद्राओं एवं प्राणायाम के प्रकारों का वर्णन है। प्राणायाम का अभ्यास आसनों से साथ-साथ ही किया जाता है। योग के प्रथम दो अङ्ग यम तथा नियम हैं। आसन अष्टाङ्गयोग का तृतीय अङ्ग तथा प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक संस्कृति की रक्षा करने एवं उच्चस्तरीय स्वास्थ्य, बल तथा

स्फूर्ति को बनाये रखने में सहायक उपकरणों के रूप में इनका प्रतिपादन किया था।

साधारण शारीरिक व्यायामों से केवल शरीर की बाह्य आभासी मांसपेशियों का विकास होता है। उनके अभ्यास से आकर्षक डील-डौल वाला पहलवान बना जा सकता है। किन्तु आसनों के माध्यम से शरीर के आन्तरिक अङ्गों—यथा यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय, अँतड़ियों, हृदय, फेफड़ों, मस्तिष्क—तथा शरीर की उपापचय व्यवस्था, उसके चयापचय की स्वस्थता तथा उसके विभिन्न प्रकार के कोशाणुओं और ऊतकों की संरचना, विकास एवं पोषण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाली महत्त्वपूर्ण वाहिनीहीन (अन्तःस्रावी) ग्रन्थियों (यथा, गरदन के मूल पर स्थित अवटु-ग्रन्थि तथा परावटु-ग्रन्थि, प्लीहा में स्थित अधिवृक्क-ग्रन्थि, मस्तिष्क में स्थित पीयूष-ग्रन्थि तथा शंकुरूप-ग्रन्थि) का सम्पूर्ण व्यायाम हो जाता है।

योगासनों की प्रविधियों में सम्बन्धित विस्तृत निर्देश और उनके चित्र इस पुस्तक में दिये गये हैं। इसे पढ़ कर कोई भी व्यक्ति योगासनों का अभ्यास कर सकता है।

भारतवर्ष को इस समय बलवान् और स्वस्थ मानव-प्रजाति की आवश्यकता है। कई कारणों से इसमें ह्रास आ गया है। हमारे प्राचीन ऋषियों द्वारा बताये हुए इन अमूल्य व्यायामों का नियमित एवं विवेचित अभ्यास निश्चय ही मानव-प्रजाति को पुनरुज्जीवित करने तथा एवं शक्तिशाली एक स्वस्थ पीढ़ी के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

'स्थिरसुखमासनम्'—आसन वह है जो स्थिर तथा सुखदायक हो। इससे कोई दुःखदायी अनुभूति अथवा कष्ट नहीं होना चाहिए। यदि आसन स्थिर न हो, तो मन शीघ्र ही विक्षुब्ध हो जायेगा तथा उसकी एकाग्रता समाप्त हो जायेगी। शरीर चट्टान के समान स्थिर होना चाहिए तथा इसे किञ्चित् भी नहीं हिलना चाहिए। आसन स्थिर होने से ध्यानाभ्यास में प्रगति होगी तथा शरीर की चेतना समाप्त हो जायेगी।

प्राचीनकालीन गुरुकुलों में इन आसनों का अभ्यास कराया जाता था। इसी कारण लोग बलवान्, स्वस्थ तथा दीर्घायु होते थे। विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में इन आसनों का प्रचार होना चाहिए।

आसनों की संख्या उतनी ही है, जितनी इस सृष्टि में जीवों की योनियाँ हैं (८४ लाख)। भगवान् शिव के द्वारा बताये हुए आसनों की संख्या ८४ लाख है।

उनमें से ८४ आसन सर्वश्रेष्ठ हैं और इन (८४ आसनों) में से ३२ आसन मानव-जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी माने गये हैं।

चौरासी लाख योनियों से हो कर मानव अपनी वर्तमान स्थित में पहुँचा है। मानव-गर्भ का भली प्रकार अध्ययन करने से भूतकाल की विभिन्न योनियों के चिह्न प्रकट होंगे।

कुछ आसन खड़े हो कर किये जाते हैं यथा—ताड़ासन, त्रिकोणासन, गरुड़ासन आदि। जिन आसनों का अभ्यास बैठ कर किया जाता है, वे हैं—पश्चिमोत्तानासन, जानुशिरासन, पद्मासन, लोलासन आदि। कुछ आसनों का अभ्यास लेट कर किया जाता है; ये आसन हैं—उत्तानपादासन, कर्णपीड़ासन, चक्रासन आदि। दुर्बल एवं सुकुमार व्यक्ति लेट कर आसनों का अभ्यास कर सकते हैं। कुछ आसनों जैसे शीर्षासन, वृक्षासन, सर्वाङ्गासन, विपरीतकरणीमुद्रा आदि का अभ्यास शिर नीचे और पैर ऊपर करके किया जाता है।

सामान्यतः इन आसनों का अभ्यास दश-बारह वर्ष की आयु के बाद से ही किया जा सकता है। बीस-तीस वर्ष की आयु वाले व्यक्ति इन सब आसनों का अभ्यास भली प्रकार कर लेते हैं। एक-दो महीने के अभ्यास के पश्चात् समस्त कठोर नाड़ियाँ, कण्डराएँ, मांसपेशियाँ तथा अस्थियाँ लचीली बन जाती हैं। वृद्धजन भी समस्त प्रकार के आसनों का अभ्यास कर सकते हैं। हाँ, यदि वे शारीरिक रूप से स्वस्थ न हों, तो शीर्षासन का अभ्यास करना उनके लिए आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, कुछ लोग वृद्धावस्था में शीर्षासन भी करते हैं।

वेदान्ती इस कारण आसन-प्राणायाम का अभ्यास करने से भय खाते हैं कि इससे देहाध्यास गहन होगा और वैराग्य-साधना में बाधा पड़ेगी। यद्यपि हठयोग तथा वेदान्त परस्पर बिलकुल भिन्न हैं, फिर भी वेदान्ती अपने सर्वोत्तम लाभ के लिए प्राणायामों के साथ आसनों को सम्मिलित कर सकता है। मैंने कई वेदान्तियों को अस्वस्थ दशा, क्षीणकाय तथा जर्जरावस्था में देखा है। वे कोई भी कठोर वेदान्ती साधना नहीं कर पाते। वे यन्त्रवत् ॐ, ॐ, ॐ का उच्चारण मात्र कर सकते हैं। उनमें इतनी आन्तरिक शक्ति नहीं होती कि शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरण से अपनी ब्रह्माकार-वृत्ति को ऊपर उठा सकें। शरीर मन से अत्यधिक सम्बन्धित है। दुर्बल तथा रोगी शरीर का अर्थ दुर्बल मन भी होता है। यदि वेदान्ती अपने शरीर-मन को सबल तथा स्वस्थ बनाये रखने के लिए प्राणायाम और आसनों का थोड़ा अभ्यास कर ले, तो वह भली प्रकार निदिध्यासन करके उत्कृष्ट आध्यात्मिक साधना सम्पन्न कर सकता है। यद्यपि शरीर जड़ तथा निःसार है, तदपि

आत्मसाक्षात्कार के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इस उपकरण को निर्मल, हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ रखा जाना चाहिए। आपको आपके लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए यह शरीर एक घोड़े के समान है। यदि घोड़ा ठोकर खा कर गिर पड़े तो आप अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकते हैं। यदि यह साधन (शरीर) निर्बल हो जाता है, तो आप अपने आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

षट्कर्मों के नियमित अभ्यास से शुद्धि होती है। ये षट्कर्म हैं—धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति।

आसनों से शक्ति प्राप्त होती है तथा मुद्रा से स्थिरता। प्रत्याहार धैर्य प्रदान करता है। प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर हलका हो जाता है। ध्यान से आत्म-साक्षात्कार होता है। समाधि निर्लिप्तता अर्थात् कैवल्य प्रदान करती है।

इतिहास के आदिकाल से अनेक असाधारण घटनाएँ मानव-जगत् में घटित होती मानी गयी हैं। पाश्चात्य देशों में वैश्व-चेतना शीर्षक के अन्तर्गत कई धार्मिक व्यक्तियों के अनुभव अङ्कित किये गये हैं। कुशल तान्त्रिकों ने सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से पृथक् करने की घटना प्रदर्शित की। सतही ज्ञान रखने वाले कुछ वैज्ञानिक जब विभिन्न प्रकार की योग की अलौकिक घटनाओं के समझने में असमर्थ हो जाते हैं, तब इनकी उपेक्षा करने का प्रयत्न करने लगते हैं। अनेक समझदार वैज्ञानिक ऐसी असाधारण घटनाओं (जो कठोर योगाभ्यासों का परिणाम हैं) का अध्ययन, अनुसन्धान तथा सामान्यीकरण करने हेतु प्रयत्नशील हैं। मानव अपनी अन्तर तथा बाह्य प्रकृति पर नियन्त्रण स्थापित करके अपने को दिव्यता में तत्त्वान्तरित कर सकता है।

वाराणसी के (ब्रह्मलीन) त्रैलिङ्ग स्वामी, आलन्दी के ज्ञानदेव, राजा भर्तृहरि, चाङ्गदेव—इन सभी ने योग-साधना द्वारा अपने-आपको ईश्वरत्व के स्तर तक उठा लिया था। जो-कुछ किसी एक ने प्राप्त किया है, लगन से प्रयत्न करने पर हम सभी उसे प्राप्त कर सकते हैं। यह माँग और पूर्ति का प्रश्न है। माँग प्रबल होने पर उसकी पूर्ति तुरन्त हो जाती है। प्रश्न यह है—क्या आपमें ईश्वर की माँग है ? क्या आपमें आध्यात्मिक पिपासा तथा क्षुधा है ?

आप सबमें सदा-सर्वदा सुख, परमानन्द, अमरता, शान्ति, मनस्थैर्य, महिमा तथा वैभव निवास करें !

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

योग-परिशिष्ट

योगासन

प्रथम अध्याय

सूर्य-नमस्कार

सूर्य-नमस्कार की प्रणाली लयबद्ध श्वसन के साथ कई प्रकार के योगासनों, द्रुतगति, सूर्य-स्नान तथा दिव्य शक्ति (जिसका प्रतिनिधित्व सूर्य करता है) के प्रार्थनामय चिन्तन का सम्मिश्रण है। सूर्य-नमस्कार का अभ्यास सम्पूर्ण संसार को प्रकाश, जीवन, आनन्द तथा ऊष्मा प्रदान करने वाले प्रातःकालीन सूर्य की ओर मुँह करके तथा उसकी प्राणदायिनी किरणों से समग्र शरीर को निमज्जित करते हुए किया जाता है।

सूर्य-नमस्कार के अन्तर्गत १२ आसन किये जाते हैं। प्रत्येक आसन की क्रिया अपने से आगामी आसन की क्रिया में सहज एवं सौम्य रूप से प्रवहणशील रहती है। सूर्य-नमस्कार का अभ्यास करते समय शरीर को ओजपूर्ण गति करनी पड़ती है। इससे मांसपेशियाँ निर्मित होती हैं; परन्तु साथ ही, इस अभ्यास में योग के इस महत्त्वपूर्ण नियम का भी ध्यान रखा जाता है कि शरीर पर कोई अनावश्यक जोर न पड़े। इसका परिणाम एक असाधारण तथा अनूठे प्रभाव के रूप में सामने आता है—अर्थात् सूर्य-नमस्कार का अभ्यास करने के पश्चात् (मात्र शारीरिक संवर्धन करने वाले व्यायाम आदि करने के परिणाम-स्वरूप शरीर पर पड़े हुए प्रभाव के असमान) अभ्यासी का शरीर थकता नहीं तथा वह पूर्ण रूप से ताजगी अनुभव करता है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात उस आन्तरिक भावदशा से सम्बन्धित है जिसमें रहते हुए सूर्य-नमस्कार का अभ्यास किया जाता है। अभ्यास करते समय प्रत्येक छोटी-से-छोटी गति के प्रति जागरूक रहते हुए शरीर, विशेषकर मेरुदण्ड, में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन का ध्यान रखा जाता है। ऐसा होने देने के लिए अभ्यास की अवधि में मन को शान्त तथा सहज रहना चाहिए। कुछ महीनों के अभ्यास के पश्चात् इस प्रकार की जांगरूकता (सतर्कता) विकसित हो जाती है।

प्रविधि

१. सीधे खड़े हो जायें। वक्षस्थल के सामने हाथों को जोड़ें—जिस प्रकार प्राच्य ढङ्ग से अभिवादन किया जाता है। श्वास बाहर निकालें।

२. अपनी दोनों भुजाओं को सीधा रखते हुए शिर के ऊपर ले जायें तथा धड़ को उसके आधार से धीर-धीरे यथासम्भव पीछे की ओर झुकायें। ऐसा करते समय श्वास अन्दर लें। यदि आप इस गति के अन्त में श्वास छोड़ेंगे तो आपको और अधिक झुकने में सहायता मिलेगी।

३. श्वास छोड़ते हुए ऊपर की ओर उठें और आगे की ओर झुकें। मेरुदण्ड में खिंचाव उत्पन्न करें। घुटनों को सीधा रखते हुए अपनी हथेलियाँ भूमि पर समतल रखें। उँगलियाँ सामने की ओर पैरों के समानान्तर रखें। चेहरा दोनों घुटनों के बीच में रखें।

४. श्वास अन्दर लेते हुए, दाहिने पैर को पीछे की ओर ले जायें। बायें पैर को घुटने से मोड़ें तथा (इस पैर की) जाँघ को धड़ के बिलकुल निकट रखें। ऊपर की ओर देखें। श्वास अन्दर लें।

५. बायें पैर को पीछे की ओर ले जायें। पीठ और भुजाएँ सीधी रखें। श्वास छोड़ें।

६. श्वास छोड़ते हुए कोहनियों को मोड़ें। शरीर को फर्श की ओर लायें। माथे, सीने, हथेलियों, घुटनों और पैरों की उँगलियों से फर्श को स्पर्श करें। शरीर के अन्य अङ्ग फर्श को स्पर्श नहीं करेंगे। श्रोणीय झुकाव रखते हुए नितम्बों को ऊपर उठाये रखें।

७. शिर को ऊपर और पीछे की ओर ले जायें। भुजाओं को सीधा करें और मेरुदण्ड को यथासम्भव पीछे की ओर झुकायें। श्वास अन्दर लें।

८. श्वास बाहर निकालते हुए कूल्हों को ऊपर और पीछे की ओर उठायें। शरीर को अँगरेजी के उलटे 'वी' अक्षर के आकार में ले आयें तथा पैरों और हथेलियों को फर्श पर रखें।

९. दाहिने पैर को आगे की ओर ले आयें तथा (दाहिनें पैर के) तलवे को दोनों हथेलियों के बीच फर्श पर समतल रखें (क्रम-संख्या ४ के समान)। श्वास अन्दर लें।

१०. बायें पैर को आगे ले जायें, घुटनों को सीधा कर लें तथा शिर नीचे की ओर करें (क्रम-संख्या ३ के समान)। श्वास छोड़ें।

११. श्वास अन्दर लें। शरीर को सीधा करें। अपनी भुजाओं को सीधा

रखते हुए शिर के ऊपर ले जायें तथा शरीर को पीछे की ओर यथासम्भव मोड़ें (क्रम-संख्या २ के समान)।

१२. सीधे खड़े हो जायें (क्रम-संख्या १ के समान)। सामान्य ढङ्ग से खड़े होने की स्थिति में आ जायें।

प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्य-नमस्कार के अभ्यास की कम-से-कम १२ आवृत्तियाँ करें (एक आवृत्ति में उपर्युक्त क्रमानुसार १२ आसन होते हैं)।

१२ आवृत्तियाँ पूरी करने के पश्चात् फर्श पर पीठ के बल लेट जायें। पैरों की उँगलियों तथा शिर के ऊपरी भाग के बीच के प्रत्येक अङ्ग को एक-एक करके शिथिल करें। इसे शवासन कहते हैं। प्रारम्भ में यदि अभ्यासी तीन या चार आवृत्तियों के बाद थकने लगे तो उसे आवृत्तियों की संख्या शनैः-शनैः (प्रतिदिन या प्रति दो दिन में एक-एक करके) बढ़ानी चाहिए। उसे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी कारण से शरीर के किसी भी भाग पर अधिक जोर न पड़े। आवृत्तियों की संख्या अपनी क्षमता के अनुसार बढ़ानी चाहिए। कुछ अभ्यासी अधिक थकान का अनुभव किये बिना एक-साथ ही १०८ आवृत्तियाँ पूरी कर लेते हैं।

सूर्य-नमस्कार का अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व अभ्यासी को सर्वशक्तिमान् सूर्य भगवान् से निम्नाङ्कित प्रार्थना करनी चाहिए :

सूर्य-प्रार्थना

ॐ सूर्यं सुन्दरलोकनाथममृतं वेदान्तसारं शिवं
ज्ञानं ब्रह्ममयं सुरेशममलं लोकैकचित्तं स्वयम्।
इन्द्रादित्यनराधिपं सुरगुरुं त्रैलोक्यचूड़ामणिं
ब्रह्माविष्णुशिवस्वरूपहृदयं वन्दे सदा भास्करम्॥

मैं सदा सूर्य भगवान् की वन्दना करता हूँ, जो सुन्दर लोकनाथ हैं; अमर हैं; वेदान्त के सार, मङ्गलकारी तथा स्वतन्त्र ज्ञान-स्वरूप एवं ब्रह्मय अपि च देवताओं के अधिपति हैं; जो नित्य शुद्ध हैं; जो जगत् के एकमात्र चैतन्य हैं; जो इन्द्र, मनुष्यों तथा देवताओं के अधिपति और देवताओं के गुरु हैं; जो तीनों लोकों के चूड़ामणि हैं तथा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हृदय-स्वरूप और प्रकाश देने वाले हैं।

सूर्य पृथ्वी के निवासियों के लिए अत्यन्त देदीप्यमान् तथा जीवनदायिनी

शक्ति है। यह अप्रकट सर्वशक्तिमान् ईश्वर का दृश्य प्रतिनिधि है। अधिकांश मानव किसी मूर्त पदार्थ अथवा विचार की सहायता के बिना अनुभवातीत परम तत्त्व का चिन्तन नहीं कर सकते। उनके लिए सूर्य पूजा तथा ध्यान का सर्वोत्तम विषय है।

इस प्रकार सूर्य-नमस्कार मानव के लिए अत्यन्तावश्यक शरीर, मन तथा आत्मा के भव्य तथा सम्पूर्ण संवर्धन की आधारशिला प्रस्तुत करता है।

द्वितीय अध्याय

ध्यान के लिए आसन

सामान्य निर्देश

जप और ध्यान के लिए चार आसन निर्धारित हैं। ये हैं—पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन और सुखासन।

इन चारों में से किसी भी एक आसन में शरीर को बिना हिलाये लगातार तीन घण्टे तक बैठने में समर्थ होना चाहिए। तभी आप आसन-जय प्राप्त कर सकेंगे। तत्पश्चात् आप प्राणायाम और ध्यान का अभ्यास आरम्भ कर सकेंगे। स्थिर आसन प्राप्त किये बिना ध्यान-योग में आप भली प्रकार आगे नहीं बढ़ सकते। आपको आसन में जितनी अधिक स्थिरता प्राप्त होगी, उतना ही अधिक आप मन को एकाग्र कर सकेंगे। यदि आप एक घण्टा भी आसन-मुद्रा में स्थिर रह सकें तो आप चित्त की एकाग्रता को और उसके फल-स्वरूप अनन्त शान्ति तथा आत्मिक आनन्द को प्राप्त कर सकेंगे।

ध्यान-मुद्रा में बैठने पर यह विचार करें कि 'मैं चट्टान के समान दृढ़ हूँ, कोई भी शक्ति मुझे नहीं हिला सकती।' यदि मन को अनेक बार यह निर्देश देते रहें, तो आसन शीघ्र स्थिर हो जायेगा। ध्यान के लिए बैठने पर आपको सजीव मूर्ति के समान हो जाना चाहिए। तभी आपके आसन में यथार्थ स्थिरता आयेगी। वर्ष-भर के नियमित अभ्यास से आपको सफलता मिलेगी और फिर आसन में लगातार तीन घण्टे तक आप बैठ सकेंगे। आधे घण्टे से आरम्भ करें और धीरे-धीरे अभ्यास का समय बढ़ाते जायें।

यदि कुछ समय बाद टाँगों में तीव्र पीड़ा होने लगे तो तुरन्त टाँगों को खोल कर पाँच मिनट तक हाथों से मालिश कर लें और पुनः आसन में बैठ जायें। आसन में प्रगति कर लेने पर आप पीड़ा का अनुभव नहीं करेंगे। आप पीड़ा के स्थान में अत्यधिक आनन्द का अनुभव करेंगे। प्रातः एवं सायं दोनों समय आसन का अभ्यास करें।

आसन में बैठ जाने पर नेत्र बन्द कर लें, भृकुटी अथवा त्रिकुटी (अर्थात्

दोनों भौहों के मध्य भाग) या हृदय-प्रदेश पर, जिसे अनाहत-चक्र कहते हैं, दृष्टि को केन्द्रित करें। त्रिकूट (आज्ञा-चक्र) मन का स्थान है। इस स्थान पर कोमलता से अर्थात् बिना बल लगाये ध्यान लगाने से सरलतापूर्वक मन को वश में किया जा सकता है। आपको तुरन्त एकाग्रता प्राप्त होगी। नासिकाग्र पर मन को एकाग्र करने (नासिकाग्र-दृष्टि) से भी वही लाभ होगा; किन्तु इसमें मन को जमाने में अधिक समय लगेगा। जो लोग भृकुटी अथवा नासाग्र-भाग पर दृष्टि नहीं जमा सकते वे किसी बाह्य बिन्दु अथवा हृदय, शिर, ग्रीवा आदि आन्तरिक चक्रों पर जमा सकते हैं। त्रिकूट (आज्ञा-चक्र) पर दृष्टि जमाने को भ्रूमध्य-दृष्टि भी कहा जाता है।

शिर, गरदन और धड़ के ऊपरी भाग मेरुदण्ड को एक सीधी समरेखा में रखें। पद्म, सिद्ध, स्वस्तिक अथवा सुख में से किसी भी एक आसन के अभ्यास में टिके रहें और बारम्बार अभ्यास के द्वारा उसे बिलकुल दृढ़ एवं त्रुटिहीन बना लें। आसन कभी न बदलें। एक ही आसन के अभ्यास में दृढ़तापूर्वक लगे रहें। उसमें जोंक की भाँति चिपक जायें। ध्यान के लिए एक ही आसन अपनाने के पूर्ण लाभ को भली प्रकार से समझ लें।

१. पद्मासन

पद्म का अर्थ है कमल। इस आसन का प्रदर्शन करने पर यह एक प्रकार से कमल-जैसा प्रतीत होता है, इसलिए इसका नाम पद्मासन रखा गया है। इसे कमलासन भी कहते हैं।

जप और ध्यान के लिए निर्दिष्ट चार आसनों में से पद्मासन सर्वोपरि है। यह ध्यानाभ्यास करने के लिए सर्वश्रेष्ठ आसन है। घेरण्ड, शाण्डिल्य आदि ऋषियों ने इस महत्त्वपूर्ण आसन की अत्यधिक प्रशंसा की है। यह गृहस्थियों के लिए अत्यधिक अनुकूल है। इस आसन में स्त्रियाँ भी बैठ सकती हैं। पद्मासन दुबले-पतले तथा युवा मनुष्यों के लिए भी उपयुक्त है।

प्रविधि

टाँगों को आगे फैला कर भूमि पर बैठें। फिर दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर और बायाँ पैर दायी जङ्घा पर रखें। अब हाथों को जानु-सन्धियों पर रखें।

आप दोनों हाथों की अँगुलियों का ताला बना कर बँधे हाथों को बायें टखने पर रख सकते हैं। यह कुछ व्यक्तियों के लिए बहुत ही सुखकर है। या

आप फिर अपना दायाँ हाथ दायें घुटने पर और बायाँ हाथ बायें घुटने पर रख सकते हैं। इसमें हथेलियाँ ऊपर की ओर होनी चाहिए और तर्जनी अँगूठे के मध्य भाग को छूती हुई होनी चाहिए। इसे चिन्मुद्रा कहते हैं।

पद्मासन के प्रकार

(१) अर्धपद्मासन

यदि आप आरम्भ में अपने दोनों पैरों को जङ्घाओं पर न रख सकें, तो कुछ देर तक कभी एक पैर एक जङ्घा पर तथा कुछ देर तक दूसरा पैर दूसरी जङ्घा पर रखें। कुछ दिन अभ्यास करने से आप अपने दोनों पैरों को जङ्घाओं पर रख सकेंगे। यह अर्धपद्मासन है।

(२) वीरासन

आराम से बैठ कर, दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर तथा बायाँ पैर दायीं जङ्घा के नीचे रखें। गौराङ्ग महाप्रभु इसी आसन में ध्यान के लिए बैठा करते थे। यह आरामदायक मुद्रा है। वीरासन का अर्थ वीर-मुद्रा।

(३) पर्वतासन

साधारण पद्मासन लगा कर घुटनों के बल खड़े हो जायें और अपने हाथों को ऊपर उठायें। यह पर्वतासन है। फर्श पर एक मोटा कम्बल बिछा कर यह आसन करें ताकि घुटनों पर चोट न लगे। प्रारम्भ में, जब तक आप सन्तुलन प्राप्त न कर लें, कुछ दिनों के लिए आप स्टूल या बेञ्च का सहारा ले सकते हैं। बाद में आप हाथों को ऊपर उठा सकते हैं।

वीरासन में बैठ कर हाथों को ऊपर उठायें और स्थिर हो जायें। कुछ लोग इसे भी पर्वतासन कहते हैं।

(४) समासन

बायीं एड़ी को दायीं जङ्घा के सिरे पर और दायीं एड़ी को बायीं जङ्घा के सिरे पर रखें। आराम से बैठें। दायीं या बायीं किसी भी ओर न झुकें। यह समासन कहलाता है।

(५) कार्मुकासन

साधारण पद्मासन लगायें। दायें हाथ से दायें पैर का अँगूठा और बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़ें। इस प्रकार अपने हाथों की कोहनी पर कैंची बना लें।

(६) उत्थित पद्मासन

पद्मासन में बैठ कर अपनी दोनों हथेलियों को अपने दोनों ओर भूमि पर टेक लें। धीरे-धीरे शरीर को उठायें, झटका नहीं लगने पाये, न शरीर काँपे। इस उठी हुई स्थिति में जितनी देर ठहरें, श्वास को रोके रखें। नीचे आने पर आप श्वास को बाहर निकाल सकते हैं। जो लोग कुक्कुटासन नहीं कर सकते, वे यह आसन कर सकते हैं। इसमें हाथ पार्श्व (side) में रखे जाते हैं जबकि कुक्कुटासन में हाथ जङ्घा और पिण्डलियों के बीच में रखे जाते हैं। इन दोनों में इतना ही अन्तर है।

(७) बद्धपद्मासन

कुछ लोग इसे पद्मासन-मुद्रा भी कहते हैं।

(८) ऊर्ध्वपद्मासन

(९) लोलासन

(१०) कुक्कुटासन

(११) तोलांगुलासन

२. सिद्धासन

पद्मासन के बाद महत्त्व की दृष्टि से सिद्धासन आता है। कुछ लोग इस आसन को ध्यान के लिए पद्मासन से भी अधिक उपयोगी मानते हैं। यदि आप इस आसन को सिद्ध कर लें तो आपको अनेक सिद्धियाँ उपलब्ध हो जायेंगी। कई प्राचीन सिद्ध-योगियों ने इस आसन का अभ्यास किया था, इसी कारण इसका नाम सिद्धासन पड़ा।

भारी ज़ङ्घाओं वाले स्थूल जन भी इस आसन को सरलतापूर्वक लगा सकते हैं। वस्तुतः यह आसन कुछ लोगों को पद्मासन की अपेक्षा अधिक उपयोगी लगता है। युवक ब्रह्मचारियों, जो ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहते हैं, को इस आसन का अभ्यास करना चाहिए। महिलाओं के लिए यह आसन उपयुक्त नहीं है।

प्रविधि

बायें या दायें पैर की एड़ी को गुदा से थोड़ा ऊपर सीवनी के मध्य में, जो कि पाचन-नली का अन्तस्थल द्वार है, रखें। दूसरी ऐड़ी को जननेन्द्रिय की जड़

पर रखें। पैर और टाँगों को इतने अच्छे ढङ्ग से जमायें कि टखनों के जोड़ एक-दूसरे को छूते रहें। हाथों को उसी प्रकार रखें जिस प्रकार उन्हें हम पद्मासन में रखते हैं।

सिद्धासन के विभिन्न प्रकार

(१) गुप्तासन

बायीं एड़ी को जननेन्द्रिय के ऊपर रखें। इसी प्रकार दायीं एड़ी को भी जननेन्द्रिय के बाहरी अङ्ग पर रखें। दोनों टखने आमने-सामने या एक-दूसरे से सटे रहें। दाहिने पैर की अँगुलियों को बायीं जङ्घा और बायीं पिण्डलियों के बीच खाली भाग में डाल दें और बायें पैर की अँगुलियों को दायीं टाँग से ढक दें। गुप्त का अर्थ है छिपा हुआ। इस आसन से जननेन्द्रिय को भली-भाँति ढका जाता है, इसलिए इसे गुप्तासन कहा जाता है।

(२) वज्रासन

बायीं एड़ी को जननेन्द्रिय के नीचे और दायीं एड़ी को इसके ऊपर रखें। वज्र का अर्थ है सुदृढ़। वज्रासन का एक और प्रकार भी है। इस सम्बन्ध में अलग से अन्यत्र निर्देश दिये गये हैं।

(३) बद्धयोन्यासन

साधारण सिद्धासन में बैठ जायें और योनि-मुद्रा करें। यह बद्धयोन्यासन है। योनि-मुद्रा का वर्णन अन्य मुद्राओं के साथ किया गया है।

(४) क्षेमासन

सिद्धासन में बैठ कर यदि आप अपने दोनों हाथों को सीने की सीध में ऊपर को उठाते हैं तो इसे क्षेमासन कहा जाता है। इसका अर्थ है कि आप मानव-कल्याण के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। इसमें हथेलियाँ आपस में आमने-सामने होनी चाहिए।

(५) स्थिरासन

कुछ लोग साधारण सिद्धासन को ही स्थिरासन कहते हैं।

(६) मुक्तासन

साधारण सिद्धासन को मुक्तासन भी कहते हैं।

३. स्वस्तिकासन

स्वस्तिकासन का आशय है, शरीर को सीधा रख कर आराम से बैठना।

प्रविधि

टाँगों को आगे फैला कर बैठें, फिर बायीं टाँग को मोड़ कर इस पैर को दायीं जङ्घा की पेशियों के पास रखें। इसी प्रकार दायीं टाँग को मोड़ कर उसे बायीं जङ्घा तथा पिण्डलियों की मांसपेशियों के मध्य वाले खाली स्थान में रख दें। अब आपके दोनों पैर जङ्घाओं तथा टाँगों की पिण्डलियों के बीच में हो जायेंगे। ध्यान के लिए यह आसन अति-सुखद है। हाथों को पद्मासन की भाँति रखें।

४. सुखासन

जप और ध्यान के लिए किसी भी आनन्ददायक आसन को सुखासन कहते हैं। इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिर, गरदन और धड़ सीधे समरेखा में बिना मुड़े रहने चाहिए। जो लोग ३०-४० वर्ष की आयु के बाद जप तथा ध्यान प्रारम्भ करते हैं, वे सामान्यतया पद्म, सिद्ध अथवा स्वस्तिकासन में अधिक समय तक नहीं बैठ पाते हैं। अब मैं सुखासन का एक ऐसा सुन्दर तथा सरल रूप बताता हूँ जिसमें वृद्ध लोग भी देर तक बैठ कर ध्यान लगा सकते हैं। यह सुखासन विशेषकर उन वृद्ध लोगों के लिए उपयुक्त है, जो निरन्तर प्रयत्न करने पर भी देर तक पद्म या सिद्ध आसन में बैठने में असमर्थ हैं। युवक लोग भी इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं।

प्रविधि

पाँच हाथ लम्बा वस्त्र ले कर उसे लम्बाईवार इस प्रकार मोड़ें कि उसकी चौड़ाई आधा हाथ मात्र रह जाये। दोनों पैरों को अपनी जङ्घाओं के नीचे रखते हुए साधारण तरीके से बैठ जायें। दोनों घुटनों को अपने सीने के समकक्ष उस समय तक ऊपर उठाते रहें जब तक कि दोनों घुटनों के बीच में ८-१० इञ्च का अन्तर नहीं रह जाता। अब उस मोड़े हुए कपड़े को ले कर उसका एक छोर बायें घुटने के पास रखें। फिर उसे बायीं ओर से पीठ के पीछे से ला कर दायें घुटने की ओर से लाते हुए आरम्भ के बिन्दु पर ला कर दोनों सिरों को गाँठ बाँध दें। अपनी दोनों हथेलियों को परस्पर आमने-सामने रखते हुए उन्हें घुटनों के बीच में रखें। इस आसन में हाथ, पैर और रीढ़ की हड्डी को सहारा मिलता है; इसलिए आपको कभी थकान अनुभव नहीं होगी। यदि आप कोई अन्य आसन नहीं कर सकते तो कम-से-कम इस आसन में बैठ कर देर तक जप-ध्यान कीजिए।

सुखासन के प्रकार

(१) पवनमुक्तासन

बैठ कर दोनों एड़ियाँ मिलायें एवं दोनों घुटनों को छाती तक उठायें। अब आप दोनों हाथों से घुटने बाँध दें।

(२) वाम पवनमुक्तासन

इसमें केवल बायें घुटने को ही भूमि से ऊपर उठाया जाता है और उसे पवनमुक्तासन की भाँति दोनों हाथों से बाँधा जाता है।

(३) दक्षिण पवनमुक्तासन

इस आसन में दायें घुटने को उठाया जाता है और उसे हाथों से बाँधा जाता है तथा बायीं टाँग को भूमि पर रखा जाता है।

उपर्युक्त तीनों आसन भूमि पर लेटे हुए किये जा सकते हैं।

(४) भैरवासन

वाम पवनमुक्तासन में बैठें और दोनों घुटनों को हाथों से बाँधने के बजाय हाथों को केवल जङ्घाओं के पार्श्व में पैरों के समीप रख लें।

पद्म, सिद्ध और स्वस्तिक आसनों के लाभ

हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थों में पद्म और सिद्ध आसनों के गुणों तथा लाभों की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। जो व्यक्ति इनमें से किसी भी आसन में नित्य प्रति १५ मिनट तक भी नेत्र मूँद कर हृदय-कमल में परमात्मा का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है। इन आसनों से पाचन-शक्ति बढ़ कर भूख लगती है तथा स्वास्थ्य एवं सुख में वृद्धि होती है। इनसे गठिया रोग दूर होता है एवं वात, पित्त, कफ आदि त्रिदोष सन्तुलित रहते हैं। इनसे टाँगों और जङ्घाओं की नाड़ियाँ शुद्ध तथा शक्तिशाली होती हैं। ये ब्रह्मचर्य-पालन के लिए अति-उपयुक्त हैं।

तृतीय अध्याय

मुख्य आसन

५. शीर्षासन

शीर्षासन के अन्य नाम भी हैं जैसे कपाल्यासन, वृक्षासन और विपरीतकरणी। यह आसन सब आसनों का राजा है।

प्रविधि

एक कम्बल को चार तह करके बिछा लें। दोनों घुटनों के बल बैठें और अँगुलियों को एक-दूसरे में डाल कर ताला-सा बनायें और उसे कोहनी तक भूमि पर रखें। अब शिर के ऊपरी भाग को इन अँगुलियों के ताले पर अथवा दोनों हाथों के बीच में रखें। धीरे-धीरे टाँगों को उठायें जब तक कि वे सीधी स्थिति में न हो जायें। प्रारम्भ में पाँच सेकण्ड तक इस स्थिति में खड़े रहें। धीरे-धीरे प्रति सप्ताह १५ सेकण्ड बढ़ाते रहें और उस समय तक बढ़ाते रहें जब कि आप २० मिनट या आधा घण्टे तक इसे न लगा सकें। फिर धीरे-धीरे टाँगें नीचे ले आयें। शक्तिशाली लोग दो-तीन महीने में ही इस आसन को आधा घण्टे तक करने लगते हैं। इसे धीरे-धीरे करें। मन में बेचैनी मत रखें। चित्त को शान्त रखें। आपके सामने शाश्वतता है। इस कारण शीर्षासन के अभ्यास में शिथिलता मत करें। यह आसन खाली पेट करना चाहिए। यदि आपके पास समय हो, तो इसे प्रातः-सायं दोनों समय करें। इस आसन को बहुत धीरे-धीरे करें और झटका मत लगने दें। शिर के बल खड़े होने पर नासिका द्वारा धीरे-धीरे श्वास लेना चाहिए, मुँह के द्वारा कभी श्वास नहीं लेना चाहिए।

हथेलियों को शिर के दोनों ओर भूमि पर रख कर भी यह आसन किया जा सकता है। यदि आपका शरीर स्थूल है, तो इस प्रकार से आसन लगाना आपके लिए सरल रहेगा। सन्तुलन सीखते समय अँगुलियों की ताले वाली पद्धति अपनानी चाहिए। जो लोग पैरेलल बार्स पर या भूमि पर सन्तुलन रख सकते हैं, उन लोगों के लिए यह आसन कठिन नहीं है। अभ्यास करते समय आप अपने

मित्र से टाँगें सीधी रखने के लिए सहायता ले लें या आरम्भ में दीवार का सहारा ले लें।

अभ्यास के प्रारम्भ में किसी-किसी को कुछ उत्तेजना-सी हो सकती है, किन्तु शीघ्र ही यह दूर हो जाती है। इससे प्रसन्नता और आनन्द की प्राप्ति होती है। आसन पूरा हो चुकने पर पाँच मिनट तक थोड़ा विश्राम करें और फिर एक प्याला दूध पी लें। जो लोग देर तक अर्थात् २० मिनट या आधे घण्टे तक इस आसन का अभ्यास करते हों, उन्हें आसन लगाने के बाद किसी भी प्रकार का हलका नाश्ता, दूध या अन्य कुछ अवश्य ले लेना चाहिए। यह बहुत जरूरी है, अपरिहार्य है। गरमी की ऋतु में इस आसन का अभ्यास अधिक देर तक नहीं करना चाहिए। सर्दी में स्वेच्छानुसार देर तक आप यह आसन लगा सकते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इस आसन को एक बार में दो-तीन घण्टे तक करते हैं। बदरीनारायण के पण्डित रघुनाथ शास्त्री को इस आसन में बहुत रुचि थी और वे इसका अभ्यास २ या ३ घण्टे तक करते थे। वाराणसी के एक योगी तो इस आसन में समाधिस्थ भी हो जाते थे। श्री जसपत राय, पी० वी० आचार्य जी महाराज एवं अन्य सत्पुरुष निममित रूप से इस आसन को एक बार में ही एक घण्टे से अधिक समय तक करते थे।

लाभ

यह आसन ब्रह्मचर्य की साधना के लिए अति-लाभप्रद है। यह आपको ऊर्ध्वरेता बनाता है। इससे वीर्य-ऊर्जा आध्यात्मिक ओज-शक्ति में परिणत हो जाती है। इसे काम-वासना का उदात्तीकरण भी कहते हैं। इससे स्वप्न-दोष से मुक्ति मिलती है। इस आसन से ऊर्ध्वरेता योगी वीर्य-शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत होने के लिए ऊपर की ओर मस्तिष्क में प्रवाहित करते हैं। इससे उन्हें ध्यान तथा भजन में सहायता मिलती है। इस आसन को करते समय ऐसा विचार करें कि वीर्य ओज में रूपान्तरित हो कर मस्तिष्क में सञ्चित होने के लिए मेरुदण्ड में प्रवाहित हो रहा है। शीर्षासन से स्फूर्ति और शक्ति बढ़ती है तथा सजीवता आती है।

शीर्षासन वास्तव में एक वरदान और अमृततुल्य है। इसके लाभप्रद परिणामों एवं प्रभावों का वर्णन करने के लिए कोई शब्द नहीं है। केवल इसी आसन से मस्तिष्क को प्रचुर मात्रा में प्राण और रक्त प्राप्त हो सकते हैं। यह

आकर्षण-शक्ति के विरुद्ध कार्य करके हृदय से प्रचुर मात्रा में रक्त खींचता है। इससे स्मरण-शक्ति में प्रशंसनीय वृद्धि होती है। वकील, सिद्ध पुरुष और चिन्तकों के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है। इस आसन द्वारा स्वाभाविक रूप से प्राणायाम और समाधि उपलब्ध हो जाते हैं; किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। यदि आप श्वास पर ध्यान दें तो आपको विदित होगा कि यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है। अभ्यास के आरम्भ में श्वास लेने में कुछ कठिनाई प्रतीत होगी, किन्तु अभ्यास के बढ़ने पर यह कठिनाई बिलकुल समाप्त हो जायेगी और इस आसन से आप वास्तविक आनन्द और आत्मिक स्फूर्ति का अनुभव करेंगे।

शीर्षासन के बाद ध्यान हेतु बैठने से महान् लाभ होता है। अनाहत-शब्द स्पष्ट रूप से सुनायी देने लगता है। हृदय-पुष्ट नवयुवकों को यह आसन करना चाहिए। इस आसन से प्राप्त होने वाले लाभ असंख्य हैं। इस आसन का अभ्यास करने वालों को अधिक सहवास नहीं करना चाहिए।

यह आसन सर्वरोगनाशक रामबाण औषधि है। यह मानसिक शक्तियों को प्रकाशित करता, कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करता, आन्त्र और उदर-सम्बन्धी सब रोगों को दूर करता और मानसिक शक्ति को बढ़ाता है। यह शक्तिशाली रक्तशोधक तथा उत्तेजना शान्त करने वाला टानिक है। इसके अभ्यास से नेत्र, नाक, गला, शिर, पेट, मूत्राशय, जिगर, तिल्ली, फेफड़े, वृक्कशूल, बहरापन, सुजाक, मधुमेह, बवासीर, दमा, क्षयरोग, आतशक इत्यादि रोग दूर हो जाते हैं। इससे पाचन-शक्ति (जठराग्नि) बढ़ती है। इस आसन से चेहरे की झुर्रियाँ तथा भूरापन दूर हो जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार, 'जो मनुष्य इस आसन को लगातार तीन घण्टे तक करते हैं, वे काल पर विजय पा लेते हैं।' स्त्रियाँ भी इस आसन का अभ्यास कर सकती हैं। उनके गर्भाशय तथा डिम्ब-सम्बन्धी रोग, यहाँ तक कि बाँझपन भी दूर हो जाते हैं। प्राणायाम और जप इस आसन के साथ-साथ चलने चाहिए। इस आसन के अभ्यास-काल में अपने इष्ट-मन्त्र या गुरु द्वारा दिये हुए मन्त्र का जप करते रहना चाहिए।

भगवान् कृष्ण के इन अमूल्य शब्दों को सदा याद रखें— **"तस्माद्योगी भव"** अर्थात् इसलिए तू योगी हो (गीता, अध्याय ६, श्लोक ४६)।

टिहरी राज्य (हिमालय) के स्वर्गीय महाराजा के निजी सचिव श्री प्रकाश जङ्ग के पैरों में सूजन थी और उन्हें हृदय-रोग था। चिकित्सकों ने निदान किया कि रक्तसञ्चारण-कार्य में उनके हृदय की मांसपेशियाँ भली-भाँति सिकुड़ तथा फैल

नहीं सकती थीं। तब उन्होंने नियमित रूप से कुछ दिन शीर्षासन का अभ्यास किया। उनके पैरों की सारी सूजन दूर हो गयी। उनका हृदय भी भली प्रकार कार्य करने लगा। उनके कोई दर्द नहीं रहा। वे इस आसन को नित्य आधा घण्टा करते थे।

लखीमपुर खीरी के वकील पं० सूर्यनारायण यह आसन नित्य करते थे। इससे उनकी स्मरण-शक्ति प्रबल हो गयी और कमर तथा कन्धों का जीर्ण सन्धिवात पूर्ण रूप से जाता रहा।

शीर्षासन के प्रकार

(१) वृक्षासन,

(२) विपरीतकरणी-मुद्रा, और

(३) कपाल्यासन

ऊपर वर्णित शीर्षासन को इन तीन नामों से भी जाना जाता है।

(४) अर्ध वृक्षासन

जिस प्रकार आप शीर्षासन में खड़े होते हैं, ठीक वैसे ही खड़े हो कर घुंटनों के जोड़ों से टाँगों को मोड़ लें और उन्हें जङ्घाओं के पास रखें।

(५) मुक्त हस्त-वृक्षासन

अँगुलियों का ताला न बना कर, हाथों को शिर के दोनों ओर भूमि पर रखें।

(६) हस्त-वृक्षासन

इस आसन में आपको केवल दोनों हाथों पर खड़ा होना पड़ता है। सर्वप्रथम अपनी टाँगों को दीवार पर लगा दें और केवल हाथों पर खड़े हो जायें। धीरे-धीरे टाँगों को दीवार से दूर हटाने की कोशिश करें। कुछ दिनों में सन्तुलन सधने लगेगा।

(७) एकपाद वृक्षासन

शीर्षासन करने के बाद, धीरे-धीरे घुटने पर एक टाँग को झुकायें और एड़ी को दूसरी जङ्घा पर रखें।

(८) ऊर्ध्व पद्मासन

६. सर्वांगासन

यह एक रहस्यपूर्ण आसन है और आश्चर्यजनक लाभ देता है। इसे सर्व अङ्गों का आसन कहते हैं; क्योंकि इस आसन को करते समय शरीर के सब अङ्ग कार्य करने लगते हैं।

प्रविधि

भूमि पर एक मोटा कम्बल बिछा लें और उस पर यह आसन करें। पीठ के बल सीधे लेट जायें। धीरे-धीरे टाँगों को उठायें। धड़, कूल्हों तथा टाँगों को बिलकुल सीधे उठायें। पीठ को दोनों ओर से हाथों से सहारा दें। कोहनियों को भूमि पर टिकायें। ठोड़ी को सीने पर दबा कर दृढ़ता से ठोड़ी का ताला बना लें। इसे जालन्धर-बन्ध कहते हैं। पीठ, कन्धों तथा गरदन को भूमि से सटा कर लगा लें। शरीर को हिलने अथवा इधर-उधर मत होने दें। टाँगों को सीधा रखें। आसन पूरा हो चुकने पर टाँगों को धीरे-धीरे आराम से नीचे लायें। इसमें भटका नहीं लगना चाहिए। इस आसन को बड़ी शालीनतापूर्वक करें। इस आसन में शरीर का सारा बोझ कन्धों पर रहता है। वास्तव में आप कोहनियों के सहारे से कन्धों पर खड़े होते हैं। गरदन के सामने निचले भाग वाले लगे के पास गलग्रन्थि पर ध्यान केन्द्रित कर के श्वास को सुविधापूर्वक जितना रोका जा सके, रोकें। फिर, नासिका द्वारा धीरे-धीरे उसे बाहर निकाल दें।

यह आसन नित्य दो-तीन बार प्रातः एवं सायं कर सकते हैं। इस आसन के तुरन्त पश्चात् मत्स्यासन करना चाहिए। इससे गरदन के पीछे के हिस्से का दर्द ठीक हो जाता है और सर्वाङ्गासन की उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। प्रारम्भ में इस आसन का अभ्यास केवल दो मिनट तक करना चाहिए। धीरे-धीरे इसे आधे घण्टे तक बढ़ाया जा सकता है।

लाभ

इस आसन में गलग्रन्थि (Thyroid Gland) का अच्छी प्रकार से पोषण होता है, जिसका कि शारीरिक परिवर्तन, विकास, पोषण और संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वस्थ गलग्रन्थि का अर्थ है—रक्तवह, श्वास, आहार, जनन-मूत्र तथा स्नायविक तन्त्रों की स्वस्थ क्रिया। यह गलग्रन्थि श्लेष्मीय ग्रन्थि, मस्तिष्क में

स्थित शंकुरूप ग्रन्थि, वृक्कों के ऊपर स्थित अधिवृक्कग्रन्थि, यकृत, प्लीहा, अण्डग्रन्थि आदि वाहिनी-हीन ग्रन्थियों के सहयोग से कार्य करती है। यदि यह गलग्रन्थि रुग्ण हो जाती है तो अन्य सभी ग्रन्थियाँ इससे पीड़ित हो जाती हैं। इस प्रकार एक दुश्चक्र बन जाता है। सर्वाङ्गासन गलग्रन्थि (Thyroid Gland) को स्वस्थ रखता है। स्वस्थ गलग्रन्थि से शरीर के सभी अङ्गों की क्रियाएँ समुचित रूप से होती रहती हैं।

मैंने सैकड़ों लोगों को यह आसन सिखाया है। मैंने शीर्ष-सर्वाङ्गासन का प्रचार किया है। जो लोग मेरे पास आते हैं, मैं निरपवाद रूप से उन्हें इन्हीं दो आसनों को पश्चिमोत्तानासन के साथ करने के लिए कहता हूँ। ये ही तीन आसन आपको पूर्ण स्वस्थ रख सकते हैं। इनको करने से दूर तक टहलने अथवा शारीरिक व्यायाम करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सभी ने मुझे एकमत से इस आसन के रहस्यमय, आश्चर्यजनक, लाभदायक परिणाम बताये हैं। इस आसन के समाप्त होते ही आपके शरीर में एक नवीन प्रकार की स्फूर्ति और स्वस्थ भाव की अनुभूति होती है। यह एक आदर्श ओजप्रद आसन है।

इस आसन से मेरुदण्डीय स्नायुओं के मूल को प्रचुर मात्रा में रक्त उपलब्ध होता है। इसी आसन से रीढ़ (spinal column) में रक्त केन्द्रित हो कर उसका उत्तम रूप से पोषण करता है। इस आसन के अभाव में इन तन्त्रिका मूलों को पर्याप्त मात्रा में रक्त प्राप्त करने का और कोई अवसर नहीं है। इससे रीढ़ बहुत लचीली रहती है। रीढ़ के लचीला रहने का अर्थ है—सदा युवा बने रहना। इस आसन से रीढ़ में शीघ्र कड़ापन नहीं आता है; अतः इस आसन से आप चिरकाल तक युवा बने रह सकते हैं। वृद्धावस्था के सभी उपद्रव इस आसन द्वारा समाप्त हो जायेंगे। ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने में यह आसन प्रचुर सहायता प्रदान करता है। शीर्षासन की भाँति, यह आसन भी आपको ऊर्ध्वरेता योगी बना देता है। यह आसन स्वप्नदोष पर प्रभावकारी ढङ्ग से नियन्त्रण रखता है। यह प्रभावशाली रक्त-पोषक एवं रक्त-शोधक टानिक का कार्य करता है। यह नाड़ियों को शक्ति प्रदान करता है। यह आसन अत्यन्त सस्ता और सरलता से उपलब्ध होने वाला, रक्त एवं उत्तेजना को शान्त करता करने वाला तथा पाचन-शक्ति को बढ़ाने वाला एक टानिक है। यह सदा आपको प्राप्त है। इसके अभ्यास से आप डाक्टरों के बिलों के भुगतान से बच जायेंगे। जब आपके पास आसनों के कोर्स को पूरा करने के लिए समय न हो, तो आप इस आसन को शीर्षासन तथा पश्चिमोत्तानासन

के साथ प्रतिदिन अवश्यमेव करते रहें। यह सुजाक तथा मूत्राशय एवं स्त्रियों के डिम्ब-सम्बन्धी रोगों के लिए बहुत उपयोगी है। इससे बाँझपन एवं गर्भाशय-सम्बंन्धी रोग दूर हो जाते हैं। महिलाएँ भी इस आसन को बिना किसी हानि के कर सकती हैं। सर्वाङ्गासन से कुण्डलिनी जाग्रत होती है और जठराग्नि तीव्र होती है। यह बदहजमी (मन्दाग्नि), मलरोध (कब्ज) एवं अन्य जठरतन्त्र-सम्बन्धी पुराने रोगों को दूर कर के शक्ति, स्फूर्ति तथा नव-जीवन प्रदान करता है। शीर्ष-सर्वाङ्गासन का कोर्स प्रभावशाली ढङ्ग से नव-जीवन प्रदान करता है।

७. हलासन

इस आसन को करते समय ठीक हल-जैसी स्थिति हो जाती है।

प्रविधि

भूमि पर एक मोटा कम्बल बिछा कर कमर के बल लेट जायें, हाथों को दोनों ओर भूमि पर रखें, हथेलियों को भूमि की ओर करके दोनों टाँगों को मिला लें और उन्हें धीरे-धीरे ऊपर को उठायें। टाँगों को मुड़ने मत दें और हाथों को ऊपर मत उठायें। धड़ को भी मत झुकने दें। इस प्रकार अधिककोण बना लें। इसके बाद धीरे-धीरे टाँगों को नीचे करें और उन्हें शरीर के ऊपर को मोड़ते जायें जब तक पाँव की अँगुलियाँ भूमि को न छू लें। घुटनों को मिला कर बिलकुल सीधे रखें। टाँगें और जङ्घाएँ एक सीधी रेखा में रहनी चाहिए। ठोड़ी को सीने पर दबा दें और धीरे-धीरे नासिका द्वारा श्वास लें। मुँह के द्वारा श्वास नहीं लेना चाहिए।

इस आसन को करने की एक विधि और है। उपर्युक्त मुद्रा बनाने के बाद, धीरे-धीरे हाथों को उठा कर पैरों की अँगुलियों को पकड़ लें। यह एक श्रेष्ठतर विधि है। इसमें किसी प्रकार का झटका नहीं लगना चाहिए। आसन समाप्त हो जाने पर धीरे-धीरे टाँगों को उठा कर उन्हें भूमि पर सीधे लेटने वाली प्रारम्भिक स्थिति में ले आयें।

लाभ

इस आसन से रीढ़ के स्नायु, कमर की मांसपेशियाँ, कशेरुकाएँ एवं मेरुदण्ड के उभयपार्श्व में फैले हुए अनुकम्पी स्नायु-तन्त्र स्वस्थ रहते हैं। यह आसन सर्वाङ्गासन का पूरक तथा गुणवर्धक है। इससे रक्त पर्याप्त मात्रा में

मेरुदण्डीय स्नायु के मूल में, मेरु-रज्जु, अनुकम्पी गण्डिकाओं, अनुकम्पी तन्त्रिकाओं एवं पीठ की मांसपेशियों में जमा होता है; इसलिए उनका पोषण अच्छी तरह होता है। इस आसन से मेरुदण्ड बहुत अधिक मुलायम एवं लचीला हो जाता है। यह आसन कशेरुका-अस्थियों को शीघ्र कठोर होने से रोकता है। अस्थियों के कठोर होने से हड्डियों में जल्दी अपक्षय पैदा होता है। अस्थियों के शीघ्र कठोर होने से बुढ़ापा जल्दी आता है। इस अपक्षय-अवस्था में हड्डियाँ कठोर एवं टूटने वाली होती हैं। हलासन करने वाला व्यक्ति अधिक फुरतीला, तेज एवं बलवान् होता है। इससे पीठ की मांसपेशियाँ बारी-बारी से सिकुड़ती, ढीली होती, खिंचती तथा फैलती हैं; अतः वे इन विभिन्न गतियों से अच्छी मात्रा में रक्त प्राप्त करती और भली-भाँति पोषित होती हैं। इस आसन के अभ्यास से पेशी-शूल, कटिवात, मोच, तन्त्रिका-शूल आदि रोग दूर हो जाते हैं।

इस आसन के करने से मेरुदण्ड कोमल एवं लचीला बनता है। यह आकुञ्चित तथा वेल्लित हो जाता है, मानो कैनवास चादर का एक टुकड़ा हो। हलासन का अभ्यास करने वाला व्यक्ति आलसी कभी नहीं बन सकता। हमारे शरीर में मेरुदण्ड एक बहुत महत्त्वपूर्ण संरचना है। यह सम्पूर्ण शरीर को अवलम्ब देता है। इसमें मेरु-रज्जु, मेरु-तन्त्रिका एवं अनुकम्पी तन्त्र अन्तर्विष्ट हैं। हठयोग में रीढ़ को मेरुदण्ड कहते हैं। अतः आपको इसे हलासन के अभ्यास से स्वस्थ, पुष्ट एवं लचीला बनाना चाहिए। इससे पेट, मलाशय एवं जङ्घाओं की पेशियाँ भी स्वस्थ बनती एवं पोषित होती हैं। इस आसन से मोटापा, जीर्ण मलावरोध, गुल्म, रक्त-संकुलता तथा यकृत और प्लीहा की वृद्धि के रोग ठीक हो जाते हैं।

हलासन के प्रकार

उत्तानपादासन

लेट जायें। टाँगों को सीधा रखें एवं हाथों को अपने बगल में तथा हथेलियों को जमीन पर रखें। अब टाँगों एवं घुटनों को न झुकने देते हुए आप अपनी दोनों टाँगों को एक-साथ सीधे जमीन से दो फीट ऊपर उठायें। धीरे-धीरे उन्हें नीचे करें। इस प्रकार छः बार अभ्यास करें। इस आसन से आपके मलावरोध तथा कूल्हों एवं जाँघों के दर्द दूर हो जायेंगे। यह सर्वाङ्गासन का एक प्रारम्भिक अभ्यास है।

८. मत्स्यासन

चूँकि प्लाविनी-प्राणायाम के साथ यह आसन जल पर सरलतापूर्वक तैरने में सहायक होता है, अतः इसे मत्स्यासन कहते हैं।

प्रविधि

एक कम्बल बिछा लें। दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर और बायाँ पैर दायीं जङ्घा पर रख कर पद्मासन में बैठें। फिर कमर के बल सीधे लेट जायें। प्रबाहुओं की कैंची बना कर उस पर शिर रख लें। यह एक प्रकार है।

शिर को पीछे की ओर खींचें जिससे एक ओर आपके शिर का शीर्ष भाग तथा दूसरी ओर केवल नितम्ब भाग दृढ़तापूर्वक भूमि पर टिक जायें और इस प्रकार धड़ का एक पुल या चाप-सा बन जाये। हाथों को जङ्घाओं पर रखें अथवा उनसे पैरों की अँगुलियाँ पकड़ लें। इसमें आपको गरदन को अधिक-से-अधिक मोड़ना पड़ेगा। पहले की अपेक्षा यह प्रभेद अधिक प्रभावशाली है। इस प्रकार के मत्स्यासन के लाभ पहले वाले प्रभेद से सौ गुणा अधिक हैं।

भारी पिण्डली वाले स्थूलकाय लोग जिन्हें पद्मासन लगाने में कठिनाई होती है, साधारण रूप से बैठ कर ही इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं। ऐसे लोग सर्वप्रथम पद्मासन का अभ्यास करें। उसमें दृढ़ता, सरलता और स्थिरता लायें, इसके बाद वे मत्स्यासन का अभ्यास करें। प्रारम्भ में आप इसे दश सेकण्ड तक करें और फिर दश मिनट तक बढ़ायें।

आसन समाप्त करने पर धीरे-धीरे हाथों के सहारे शिर को शनैः-शनैः निर्मुक्त कर दें और उठ बैठें। फिर पैरों का ताला (पद्मासन) खोल दें।

इस आसन को सर्वाङ्गासन के तुरन्त बाद करना चाहिए। यह गरदन की कठोरता और दीर्घ काल तक सर्वाङ्गासन के अभ्यास से उत्पन्न हुई ग्रीवा-प्रदेश की ऐंठनग्रस्तता से छुटकारा दिलाता है। ग्रीवा और कन्धों के अवष्टब्ध अङ्गों की सहज ही मालिश होती है। इसके अतिरिक्त यह सर्वाङ्गासन का अधिकतम लाभ प्रदान करता है। यह सर्वाङ्गासन का पूरक है। इस आसन से स्वरयन्त्र अथवा वायुकोष्ठ तथा (श्वासप्रणाल (श्वासनली) भरपूर खुल जाने के कारण गहरी श्वास लेने में सहायता मिलती है, फेफड़ों के शीर्ष भाग, जो जत्रुक (जिसे बोलचाल में हँसली कहते है) के ठीक पीछे एवं ऊपर होता है, को समुचित शुद्ध वायु एवं शुद्ध आक्सीजन प्राप्त होते हैं। ग्रीवा एवं उपरि पृष्ठ की स्नायुओं को प्रचुर मात्रा में

रक्त प्राप्त हो कर पोषण मिलता है एवं वे स्वस्थ रहती हैं। इनसे अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ अर्थात् पीयूष (Pituitary) तथा शंकुरूप (Pineal) ग्रन्थियाँ उद्दीप्त तथा स्वस्थ होती हैं। ये ग्रन्थियाँ शरीर के विभिन्न तन्त्रों के शारीरिक प्रकार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

लाभ

मत्स्यासन अनेक रोगों का नाशक है। इससे मलावरोध दूर होता है। इस आसन को करने से पेट में एकत्रित विष्ठा मलाशय में आ जाती है। यह आसन गहरे श्वसन के कारण दमा, यक्ष्मा, चिरकालिक श्वासनलीशोथ आदि रोगों में उपयोगी है।

९. पश्चिमोत्तानासन

प्रविधि

भूमि पर बैठ कर टाँगों को लकड़ी-जैसी कड़ी करके आगे की ओर फैला लें। दोनों हाथों के अँगूठे, तर्जनी एवं मध्यमा अँगुली से दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़ लें। पकड़ते समय आपको धड़ को आगे की ओर झुकाना पड़ेगा। स्थूल शरीर वालों के लिए झुकना कुछ कठिन जान पड़ेगा। श्वास निकालिए एवं बिना झटके के धीरे-धीरे झुकिए जब तक कि मस्तक घुटनों को स्पर्श न कर ले। आप अपने चेहरे को दोनों घुटनों के बीच में भी रख सकते हैं। झुकते समय पेट को अन्दर की ओर खींच लें। इससे आगे की ओर झुकने में सुविधा होगी। धीरे-धीरे अनुक्रमिक रूप से झुकें। इच्छानुसार समय लगायें। कोई जल्दी नहीं है। झुकते समय दोनों भुजाओं के बीच में शिर आ जाना चाहिए और इन्हीं की सीध में यथाशक्ति रोक लेना चाहिए। युवकजन जिनकी कि रीढ़ लचीली है, प्रथम प्रयास में ही अपना मस्तक घुटनों से लगा सकते हैं। वयस्क लोगों को, जिनकी रीढ़ कठोर हो गयी है, इस आसन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए एक पखवाड़ा या एक मास तक लग जाता है। शिर को अपनी पूर्व-स्थिति में ले जाने तक और फिर से सीधे बैठने तक श्वास को रोके रखें। इसके बाद श्वास लें।

प्रथमतः आसन को पाँच सेकण्ड तक रख कर धीरे-धीरे अवधि को १० मिनट तक बढ़ायें।

जिन्हें पूरा पश्चिमोत्तानासन करने में कठिनाई अनुभव होती हो, वे पहले एक टाँग और एक हाथ से तथा बाद में दूसरी टाँग और दूसरे हाथ से आधा आसन

कर सकते हैं। यह उन्हें अधिक सुकर प्रतीत होगा। कुछ समय बाद जब मेरुदण्ड अधिक लचीला हो जाये तब वह पूरा आसन कर सकते हैं। आसनों के अभ्यास-काल में आपको सामान्य बुद्धि का प्रयोग करना होगा। इस आसन का अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व जानुशीर्षासन पर दिये हुए निर्देशों को पढ़िए।

लाभ

यह अत्युत्तम आसन है। इससे श्वास ब्रह्म-नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना द्वारा चलने लगता है और जठराग्नि उद्दीप्त होती है। इससे पेट की चरबी घटती है। यह आसन मोटापा तथा यकृत और प्लीहा की अपवृद्धि का विशिष्ट उपचार है। हठयोग पर लिखी पुस्तकों में इस आसन की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। जहाँ सर्वाङ्गासन अन्तःस्रावी ग्रन्थि (Endocrine Gland) के उद्दीपन के लिए है, वहाँ पश्चिमोत्तानासन उदर के आन्तराङ्गों यथा वृक्क, यकृत, अग्न्याशय आदि के उद्दीपन के लिए है। यह आन्त्र के क्रमाकुञ्चन में वृद्धि करता है। क्रमाकुञ्चन आन्त्र की कृमिगति है जिससे भोजन और मल को अँतड़ियों के एक भाग से दूसरी ओर धकेला जाता है। इस आसन से मलावरोध दूर होता है। यकृत-मान्द्य, अजीर्णता, डकारें आना तथा आमाशयशोथ के रोग दूर हो जाते हैं। पीठ की अकड़न अथवा कटिवात, सभी प्रकार के पेशीशूल तथा पृष्ठदेश की स्नायुओं के अन्य रोग दूर होते हैं। इस आसन से बवासीर और मधुमेह के रोगों में लाभ होता है। पेट के कुल्हे वाली पेशियाँ, नाड़ियों के सौर-जाल (Solar Plexus of Nerves), नाड़ियों के अधिजठर जाल, मूत्राशय की पुरस्थ ग्रन्थि, कटि-तन्त्रिकाएँ अनुकम्पी-रज्जु—इन सबका इस आसन से उपचार होता है, ये सब स्वस्थ हो कर ठीक स्थिति में रहते हैं। पश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन और सर्वाङ्गासन धन्य हैं और धन्य हैं वे ऋषि ज़िन्होंने हठयोग के विद्यार्थियों के लिए इन आसनों को प्रवर्तित किया।

१०. मयूरासन

संस्कृत में मयूर का अर्थ मोर होता है। इस आसन के करने से आकृति पङ्खों को फैलाये हुए मोर के समान होती है। यह आसन सर्वाङ्गासन तथा मत्स्यासन से कुछ कठिन है। इसके लिए अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। व्यायाम करने वाला व्यक्ति इसे भली प्रकार सरलता से कर

सकता है। यह कुछ अंशों में समानान्तर डण्डों (Parallel Bars) पर किये जाने वाले प्लैंक व्यायाम से मिलता-जुलता है।

प्रविधि

भूमि पर झुक कर पैरों की अँगुलियों के बल बैठें। एड़ियों को ऊँचा उठायें। दोनों प्रबाहुओं को परस्पर मिला लें। दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर टिका दें। दोनों कनिष्ठिकाएँ परस्पर सन्निकट तथा समानान्तर अथवा सान्निध्य में होनी चाहिए। अँगूठे भूमि को स्पर्श करें। वे पैरों की ओर बाहर निकले हों।

अब धड़ और टाँगों को उठाये रखने के आगामी कार्य में पूरे शरीर को टेक देने के लिए आपकी प्रबाहुएँ दृढ़ और स्थिर हो गयी हैं। अब पेट को धीरे-धीरे संयुक्त कोहनियों पर नीचे लायें। अपने शरीर को अपनी कोहनियों पर टिका दें जो कि नाभि से दबी हुई हैं। यह प्रथम प्रावस्था है। अब टाँगों को फैला कर पैरों को शिर के साथ एक रेखा में करते हुए भूमि के समानान्तर उठायें। यह द्वितीय प्रावस्था है।

नये साधकों को भूमि से पैर उठाने पर सन्तुलन रखना कठिन प्रतीत होता है। सामने एक गद्दी रख लें। कभी-कभी आप सामने की ओर गिर जायेंगे। इससे आपकी नासिका में हल्की चोट भी लग सकती है। जब आप सन्तुलन नहीं रख सकते, तो पार्श्वों में गिरने का प्रयत्न करें। यदि एक बार में दोनों टाँगों को पीछे फैलाना कठिन लगे तो पहले धीरे-धीरे एक टाँग फैलायें, फिर दूसरी फैलायें। यदि आप शरीर को आगे की ओर तथा शिर को नीचे की ओर झुकाना सीख जाते हैं, तो आपके पैर स्वतः ही भूमि से उठ जायेंगे और फिर आप सरलतापूर्वक उन्हें फैला सकेंगे। इस आसन के पूर्ण रूप से प्रदर्शित किये जाने पर शिर, धड़, नितम्ब, जङ्घाएँ, टाँगें और पैर भूमि के समानान्तर आ जायेंगे। यह आसन देखने में बड़ा सुन्दर लगता है।

प्रारम्भ में इस आसन को चारपायी की पट्टियाँ पकड़ कर किया जा सकता है। इस विधि से इस आसन को करना सरल जान पड़ेगा। यदि आप अपनी सामान्य बुद्धि का उपयोग करते हैं, तो आप अधिक कठिनाई के बिना ही सन्तुलन रख सकते हैं। स्थूल शरीर वाले व्यक्तियों को गिरने से बचने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए। पैरों को फैलाते समय झटका न दें।

यह आसन पाँच से बीस सेकण्ड तक करें। जिन साधकों में शारीरिक शक्ति अच्छी है, वे दों-तीन मिनट तक इसे कर सकते हैं।

शरीर को उठाते समय श्वास को रोके रखें। इससे आपमें बहुत ताकत आयेगी। आसन की समाप्ति पर श्वास को धीरे से बाहर निकाल दें।

लाभ

मयूरासन का अपने-आपमें एक अद्‌भुत आकर्षण है। यह आपको शीघ्र ही शक्ति प्रदान करता है। कुछ सेकण्ड में ही इससे पूरा व्यायाम हो जाता है। यह एड्रीनेलिन (Adrenalin) अथवा डिजिटेलिन (Digitalin) के हाइपोडरमिक (Hypodermic) अर्थात् अधस्त्वचनीय इञ्जेक्शन का-सा काम करता है।

यह आसन पाचन-शक्ति बढ़ाने के लिए आश्चर्यजनक है। यह अस्वास्थ्यकर भोजन के प्रभाव को नष्ट करता तथा पाचन-शक्ति को बढ़ाता है। भयङ्कर हलाहल विष को भी पचा कर उसके हानिकर प्रभाव को नष्ट करता है। इससे मन्दाग्नि (Dyspepsia) एवं गुल्म आदि उदर के रोग ठीक हो जाते हैं एवं यह अन्तरुदरीय दबाव को बढ़ा कर यकृत तथा प्लीहा की अपवृद्धि को कम करता है। अन्तरुदरीय दबाव की वृद्धि से फेफड़े तथा उदर के समस्त आन्तराङ्ग भली-भाँति स्वस्थ तथा उद्दीप्त होते हैं। यकृत की निष्क्रियता इससे लुप्त हो जाती है। यह अँतड़ियों को आरोग्य रखता, (साधारण, जीर्ण और स्वभावगत) कोष्ठबद्धता को दूर करता और कुण्डलिनी को जाग्रत करता है।

यह आसन असाधारण भूख बढ़ाता है। यह वात, पित्त तथा कफ के आधिक्य से उत्पन्न रोगों को दूर करता, मधुमेह तथा बवासीर को अच्छा करता एवं भुजाओं की पेशियों को शक्तिशाली बनाता है। इससे अल्पतम समय में ही अधिकतम व्यायाम हो सकता है।

मयूरासन के प्रकार

(१) लोलासन

पद्मासन लगा कर मयूरासन की प्रथम प्रावस्था में बैठें। अब आपके शरीर का भार आपके घुटनों तथा हाथों पर होगा। फिर पद्मासन का आकार देने वाले शरीर के निचले भाग को धीरे-धीरे उठायें। यह एक प्रकार का पद्मासन में झूलने का आसन है। इसे लोलासन कहते हैं। यह मयूरासन का एक प्रकार है। इस आसन से भी मयूरासन के लाभ प्राप्त होते हैं।

(२) हंसासन

यह बहुत ही सरल आसन है। मयूरासन का प्रारम्भिक अंश हंसासन कहलाता है। इसमें मयूरासन के लिए टाँगों को उठाने से पूर्व पैर की अँगुलियों को भूमि पर रखा जाता है।

११. अर्ध-मत्स्येन्द्रासन

अर्ध का अर्थ है आधा। यह आधा आकार है। इस आसन का नाम मत्स्येन्द्र ऋषि पर रखा गया है, जिन्होंने हठयोग के विद्यार्थियों को यह आसन सर्वप्रथम सिखाया था। ऐसा कहा जाता है कि मत्स्येन्द्र भगवान् शिव के शिष्य थे। एक बार शिवजी एक निर्जन द्वीप को चले गये। वहाँ उन्होंने पार्वती जी को योग के रहस्य समझाये। एक मत्स्य, जो संयोगवश समुद्र-तट के पास था, ने भगवान् शिवजी का यह उपदेश सुन लिया और शिवजी को इसका पता चल गया। हृदय करुणापूर्ण होने के कारण उन्होंने इस योगी मत्स्य पर जल छिड़का। शिवजी की कृपा से वह मत्स्य तुरन्त दिव्य देहधारी सिद्ध योगी बन गया। इस योगी मत्स्य का नाम मत्स्येन्द्र हुआ।

पश्चिमोत्तानासन और हलासन में मेरुदण्ड को सामने की ओर झुकाते हैं। धनुरासन, भुजङ्गासन तथा शलभासन मेरुदण्ड को पीछे की ओर झुकाने के लिए प्रतिलोम आसन हैं। यह (मेरुदण्ड को आगे और पीछे की ओर झुकाना) पर्याप्त नहीं है। इसे मरोड़ना तथा एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर झुकाना (पार्श्विक गति) चाहिए। तभी जा कर कहीं मेरुदण्ड में पूर्ण लचक सुनिश्चित हो सकती है। मत्स्येन्द्रासन मेरुदण्ड को पार्श्विक मरोड़ देने के उद्देश्य की पूर्ति भली-भाँति करता है। कुछ हठयोगी योगिक विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा इसी आसन से देना प्रारम्भ करते हैं।

प्रविधि

बायीं एड़ी को गुदा के पास और अण्डकोष के नीचे रखें। यह मूलाधार को छूती रहे। एड़ी को इस स्थान से हिलने न दें। जननेन्द्रिय और गुदा के बीच के स्थान को मूलाधार कहते हैं। दायें घुटने को झुकायें और दायें टखने को बायीं जङ्घा के मूल पर रखें और दायें पैर को बायीं श्रोणि-सन्धि के पास भूमि पर टिका कर रखें। बायीं काँख लम्ब-रूप में झुके हुए दायें घुटने के शीर्ष भाग पर टेकें। अब घुटने को थोड़ा पीछे की ओर धकेलें जिससे वह काँख के पीछे वाले भाग

को स्पर्श करे। बायीं हथेली से बायें घुटने को पकड़ें। फिर बायीं स्कन्ध-सन्धि पर दबाव डालते हुए धीरे-धीरे मेरुदण्ड को मोड़ें और पूर्णतया दायीं ओर मुड़ जायें। अपने चेहरे को भी यथासम्भव दायीं ओर मोड़ें ओर इसे दायें कन्धे की सीध में लायें। दायीं भुजा को पीठ के पीछे घुमा लें। फिर दायें हाथ से बायीं जङ्घा को पकड़ें। ५ से १५ सेकण्ड तक इस मुद्रा में रहें। कशेरुकाओं को सीधा रखें। झुकें मत। इसी प्रकार आप मेरुदण्ड को बायीं ओर मोड़ सकते हैं। यह एक पूर्ण रीढ़ का मोड़ होगा।

लाभ

यह आसन जठराग्नि को प्रज्वलित करके क्षुधा में वृद्धि करता है। इससे भीषण रोगों का नाश होता, कुण्डलिनी जाग्रत होती तथा चन्द्र-नाड़ी नियमित रूप से चलने लगती है। चन्द्रमा का वास तालु-मूल पर माना जाता है। जो बूँद-बूँद कर शीतल दिव्य अमृत टपकता रहता है; वह जठराग्नि से मिल कर व्यर्थ हो जाता है। यह आसन उस क्षति को रोकता है।

यह आसन मेरुदण्ड को लचीला बनाता और उदराङ्गों की भली-भाँति मालिश करता है। कटिवात तथा पीठ की पेशियों के सभी प्रकार के वात-रोग ठीक हो जाते हैं। मेरुदण्ड के स्नायु-मूल तथा अनुकम्पी-तन्त्र स्वस्थ होते हैं। उन्हें अच्छी मात्रा में रक्त मिलता है। यह आसन पश्चिमोत्तानासन का सहायक अथवा पूरक है।

१२. शलभासन

इस आसन को करने से शलभ (टिड्डी)-जैसा आकार हो जाता है; इसलिए इसका नाम शलभासन पड़ा।

प्रविधि

पेट के बल भूमि पर लेट जायें। हाथों को दोनों ओर रखें। आपकी हथेलियाँ ऊपर की ओर होनी चाहिए।

आप हाथों को पेट के नीचे भी रख सकते हैं। यह एक दूसरा प्रकार है। हलके से श्वास खींचें (पूरक), आसन करने तक श्वास को रोकें (कुम्भक), फिर श्वास धीरे-धीरे छोड़ दें (रेचक)। पूरे शरीर को तना हुआ रखें और टाँगों को एक हाथ ऊँचा उठायें। शिर को भुजङ्गासन की भाँति उठायें। जङ्घाओं, टाँगों और पैरों की

अँगुलियों को चित्र में दिखाये गये अनुसार रखें। पैरों के तलवों को ऊर्ध्वोन्मुख करें। टाँगों, जङ्घाओं और उदर के अधोवर्ती भाग को उठायें। इस आसन में ५ से ३० सेकण्ड तक रहें; फिर धीरे-धीरे टाँगों को नीचे लायें और अब बहुत ही धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।

यह प्रक्रिया आप ६ से ७ बार तक दोहरा सकते हैं। आप अपने हाथों को छाती के पास भूमि पर रख सकते हैं। हथेली भूमि की ओर हो। यह एक दूसरा प्रकार है। इन दोनों प्रकारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

लाभ

यह आसन मेरुदण्ड में पश्चमोड़ प्रदान करता है। यह मेरुदण्ड को पीछे की ओर झुकाता है। मेरुदण्ड को पीछे की ओर झुका कर यह एक प्रकार से पश्चिमोत्तानासन, हलासन और सर्वाङ्गासन की विपरीत मुद्रा के रूप में कार्य करता है, जिनमें मेरुदण्ड आगे की ओर झुकता है। मयूरासन की भाँति यह अन्तरुदरीय दबाव को बढ़ाता है। यह भुजङ्गासन का पूरक है। भुजङ्गासन से शरीर के ऊपरी अर्ध भाग का और शलभासन से शरीर के निचले अर्ध भाग का तथा नीचे के अग्राङ्गों का भी विकास होता है। इससे उदर, जङ्घाओं और टाँगों की पेशियाँ स्वस्थ होती हैं। यह उदर में एकत्रित विष्ठा को आरोही मलाशय में, आरोही मलाशय से बृहदन्त्र के अनुप्रस्थ मलाशय में और अनुप्रस्थ मलाशय से अवरोही मलाशय में तथा वहाँ से मलाशय में ले जाता है। शरीर-विज्ञान की कोई प्रारम्भिक पुस्तक पढ़ने से बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है।

इस आसन से उदर का अच्छा व्यायाम होता है। कोष्ठबद्धता ठीक हो जाती है। यह उदरीय अन्तराङ्गों—जैसे यकृत, अग्न्याशय, वृक्क आदि—को स्वस्थ बनाता है तथा पेट और आँतों के अनेक प्रकार के रोग दूर करता है। यह यकृत-मान्द्य तथा कमर के कुबड़ेपन को दूर करता है। इससे कटित्रिक अस्थियाँ स्वस्थ हो जाती हैं तथा कटिवात दूर होता है। कटिप्रदेश के सभी प्रकार के पेशी-शूल दूर होते, जठराग्नि प्रदीप्त होती तथा अजीर्ण मिटता है। इस आसन को करने से आपको अच्छी भूख लगने लगेगी।

१३. भुजङ्गासन

भुजङ्ग का अर्थ है सर्प। इस आसन के प्रदर्शन में उठा हुआ शिर और धड़ सर्प के उठे हुए फण से मिलता-जुलता है; इसलिए यह भुजङ्गासन कहलाता है।

प्रविधि

भूमि पर एक कम्बल बिछा लें और पीठ ऊपर करके पेट के बल लेट जायें। सारी मांसपेशियों को ढीला छोड़ दें। सहज भाव से रहें। हथेलियों को कन्धों और कोहनियों के ठीक नीचे भूमि पर रखें। नाभि के नीचे से पैरों की अँगुलियों तक का शरीर भूमि से स्पर्श करता रहे। अब शिर तथा शरीर के ऊपरी भाग को उसी प्रकार धीरे-धीरे उठायें जैसे कि सर्प अपना फण (शिर) उठाता है। मेरुदण्ड को पीछे की ओर झुकायें। अब पृष्ठ तथा कटिप्रदेश की मांसपेशियाँ भली-भाँति तन गयी हैं और अन्तरुदरीय (Intra Abdominal) का दबाव भी बढ़ गया है। अब शिर को, उसकी आद्य स्थिति में, धीरे-धीरे नीचे करते हुए लायें। जब आप सर्वप्रथम मुँह नीचा कर भूमि पर लेटते हैं तो ठोड़ी सीने से दबी होनी चाहिए। ठोड़ी का ताला बनाया जाता है। शिर उठाने और नीचे लाने की प्रक्रिया को स्थिर गति से छः बार दोहरायें। नासिका द्वारा धीरे-धीरे श्वास लें। जब तक आप शिर को उठा और मेरुदण्ड को भली-भाँति झुका नहीं लेते, तब तक श्वास को रोके रखें। तत्पश्चात् आप धीरे-धीरे श्वास निकाल सकते हैं। पुनः शिर को नीचे लाते समय श्वास को रोकें। शिर ज्यों-ही भूमि को स्पर्श करे, आप पुनः धीरे-धीरे श्वास लें।

लाभ

भुजङ्गासन मेरुदण्ड को पीछे की ओर मोड़ता है जबकि सर्वाङ्गासन और हलासन इसे आगे की ओर मोड़ते हैं। इससे कुबड़ापन, पृष्ठशूल, कटिवात तथा पृष्ठपेशी-शूल का शमन होता है। यह आसन अन्तरुदरीय दबाव को बढ़ाता तथा एकत्रित विष्ठा को अनुप्रस्थ मलाशय से मलाशय की ओर नीचे लाता है; अतः इससे मलावरोध का रोग दूर हो जाता है। इससे शरीर का ताप बढ़ता है तथा कई रोग दूर हो जाते हैं। यह मूलाधार-चक्र में सुप्तावस्था में निष्क्रिय पड़ी कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। इससे भूख भी बढ़ती है।

भुजङ्गासन विशेषकर स्त्रियों के लिए उनके डिम्बाशय और गर्भाशय को स्वस्थ करने में उपयोगी है। उनके लिए यह एक प्रभावशाली शक्तिवर्धक औषधि का काम करता है। यह अनार्तव, कष्टार्तव, श्वेतप्रदर तथा अन्य विविध गर्भाशय-डिम्बाशय-रोगों से छुटकारा देता है। इस आसन से उन अङ्गों में प्रभावशाली ढङ्ग से रक्त का प्रक्षालन होने लगता है और यह एल्टेरिस

कोआर्डियल से भी अधिक सशक्त है। इस आसन के अभ्यास से प्रसूति सामान्य एवं सरलता से होगी।

१४. धनुरासन

इस आसन के करने पर शरीर का आकार धनुष-जैसा हो जाता है। तनी हुई भुजाएँ और टाँगों के अधोभाग से धनुष की प्रत्यञ्चा बन जाती है। इसमें मेरुदण्ड पीछे की ओर झुकता है। यह भुजङ्गासन का पूरक है। हम यह कह सकते हैं कि यह आसन एक प्रकार से भुजङ्गासन और शलभासन का सम्मिलित रूप है। इसमें इसके साथ ही हाथों से टखनों को पकड़ा भी जाता है। धनुरासन, भुजङ्गासन और शलभासन का संयोजन बहुत ही उपयोगी होता है। इनका अभ्यास सदा अनुक्रमिक रूप से किया जाता है। इनसे आसनों का एक कुलक बन जाता है। यह योग हलासन और पश्चिमोत्तानासन का प्रतिरूप है जिनमें कि मेरुदण्ड आगे को झुकता है।

प्रविधि

मुँह नीचे की ओर करके छाती के बल लेट जायें। सारी मांसपेशियों को ढीला छोड़ दें। हाथों को दोनों ओर रखें। टाँगों को सहज भाव से पीठ की ओर मोड़ लें। हाथों को पीछे की ओर उठायें उनसे टखनों को पकड़ लें। छाती और शिर को ऊपर उठायें। छाती को फैला लें और भुजाओं तथा टाँगों के अधोभाग को बिलकुल सीधा तान कर रखें। अब एक अच्छा उत्तल चाप बन गया। यदि आप टाँगों को तानें तो छाती को ऊपर उठा सकते हैं। इस आसन में आपको बड़ी सावधानी के साथ अपने को सँभालना चाहिए। श्वास को धीमे से रोकें और धीरे-धीरे छोड़ दें। पाँच-छः बार ऐसा करें। इस आसन-मुद्रा में आप जितनी देर आराम से रह सकें, रहें। घुटनों को पास-पास रखें।

इस आसन से पूरा शरीर पेट पर टिका रहता है। इससे उदरीय भाग की अच्छी मालिश होती है। यह आसन खाली पेट करना चाहिए। आप धनुराकार-शरीर को पार्श्व की ओर तथा आगे और पीछे भली प्रकार गति दे सकते हैं। इससे पेट की सम्यक् मालिश हो जायेगी। झूलें, झूमें तथा आनन्द उठायें। ॐ ॐ ॐ का मानसिक जप करें।

लाभ

यह आसन जीर्णमलावरोध, मन्दाग्नि तथा यकृतमान्द्य को दूर करने के लिए

उपयोगी है। इससे कुबड़ापन तथा टाँगों, घुटनों के जोड़ और हाथों की वात-व्याधि दूर होती है। यह चरबी कम करता है, पाचन-क्रिया को शक्ति प्रदान करता है, क्रमाकुञ्चन बढ़ाता है, भूख को वर्धित करता है, उदर के आन्तराङ्गों को रक्त-संकुलता से मुक्त करता तथा उन्हें स्वस्थ भी बनाता है।

जठरान्त्र-रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए धनुरासन एक वरदान है। हलासन की भाँति यह भी रीढ़ को लचीली बनाता है। यह समय से पूर्व अस्थियों को कठोर होने से रोकता है। हलासन, मयूरासन और धनुरासन करने वाला व्यक्ति सुस्त अथवा आलसी कभी नहीं हो सकता। उसमें शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह हमेशा बना रहता है।

धनुरासन के प्रकार

आकर्षण धनुरासन

इस आसन को धनुरासन कहा जा सकता है। भूमि पर बैठें, पैरों को फैला दें, बायें हाथ से दायें पैर का अँगूठा पकड़ें। धीरे-धीरे बायीं टाँग को झुकायें और उसकी उँगलियों को ठोड़ी के बराबर तक और घुटने को बायीं भुजा की काँख तक ऊपर लायें। अब जङ्घा आपके उदर-भाग को निकट से स्पर्श करेगी। अब बायें पैर के अँगूठे को दायें हाथ से पकड़ें और कोहनी को यथासम्भव पीछे ले जायें। यह पहले प्रकार वाले आसन से अधिक उपयोगी है।

१५. गोमुखासन

इस आसन को करने पर गाय के मुख-जैसी आकृति दिखायी पड़ती है; इसलिए यह सार्थक नाम रखा गया है। गोमुख का अर्थ है—'गाय का मुख'।

प्रविधि

बायें पैर की एड़ी को गुदा के बायें भाग के नीचे रखिए। दायीं टाँग इस प्रकार रखें कि दायाँ घुटना बायें घुटने के ऊपर हो और दायें पैर का तलवा बायीं जङ्घा के पार्श्व के साथ दृढ़तापूर्वक मिला हुआ हो। धीरे-धीरे अभ्यास कर के आपको दायीं एड़ी को बायें नितम्ब से स्पर्श कराना होगा। पूर्णरूपेण तन कर बैठें। अब पीठ की ओर निपुणतापूर्वक दोनों तर्जनियों का ताला-सा बना लें। निःसन्देह इसमें आरम्भ में कुछ कठिनाई होगी। बायाँ हाथ पीठ पीछे ले जायें और बायीं तर्जनी को ऊपर उठायें। दायीं तर्जनी को नीचे की ओर लायें और

बायीं तर्जनी को कस कर पकड़ लें। अब उँगलियों का ताला बना लें। यदि यह छूट जायें तो पुनः प्रयत्न करें और ताले को दो मिनट तक बनाये रखें। धीरे-धीरे श्वास लें। अब यह मुद्रा गाय के मुख-जैसी दिखायी पड़ेगी। उँगलियों का ताला बनाते समय शरीर को मोड़ें मत, एड़ी और सीने को मत झुकायें। धड़ को पूर्णतया सीधा रखें। हाथों तथा पैरों को बारी-बारी से बदलें। स्थूल शरीर वालों को इसमें एड़ी और जङ्घा बिठाने में तथा अँगुलियों का ताला लगाने में कुछ कठिनाई होगी; किन्तु निरन्तर अभ्यास से सब ठीक हो जायेगा।

लाभ

इस आसन से टाँगों का सन्धिवात, गृध्रसी, बवासीर अथवा मस्सा, टाँगों तथा जङ्घाओं की तन्त्रिकार्ति, अपच, अजीर्ण, पीठ का पेशीशूल और प्रबाहुओं की मोच ठीक हो जाते हैं। इससे ब्रह्मचर्य के पालन में और सुन्दर स्वास्थ्य बनाये रखने में सहायता मिलती है। इससे मूल-बन्ध स्वतः लग जाता है और सुविधा से बनाये रखा जा सकता है। अतः यह आसन प्राणायाम-अभ्यास के लिए भी उपयुक्त है। साधारणतया इस आसन में उँगलियों का ताला बनाये बिना हर समय बैठा जा सकता है। इस आसन में देर तक ध्यान में भी बैठा जा सकता है। दुबले-पतले लोगों, जिनकी जङ्घाएँ तथा टाँगें पतली हों, को इस आसन में बैठना अच्छा लगेगा। ज्वालापुर, हरिद्वार के योगी स्वामी स्वरूपानन्द इस आसन के बड़े शौकीन थे। वह सदैव इसी आसन में बैठते थे। यह उनका प्रिय आसन था। यदि आप टाँगों तथा जङ्घाओं में रक्त-संकुलता का अनुभव करने लगें, तो इस आसन को समाप्त करते ही टाँगों तथा जङ्घाओं की अपने हाथों से थोड़ी मालिश करें।

गोमुखासन का एक और प्रकार है। इस प्रकार का आसन करते समय बायें हाथ की कोहनी को ऊपर उठायें और अँगुलियाँ पीठ पर ले जायें। दायाँ हाथ पीठ पर ले जायें और तर्जनी को यथासम्भव ऊपर उठायें तथा तर्जनियों में हुक बनायें।

गोमुखासन के प्रकार

(१) वाम जान्वासन

आपको दायीं जङ्घा और घुटने को बायें के ऊपर रख कर टाँगों को

गोमुखासन की भाँति रखना होगा। हाथों को सीने के पास या घुटनों के अञ्चल पर रखना होगा।

(२) दक्षिण जान्वासन

इस आसन में बायीं जङ्घा और घुटना दायें पर रखे जाते हैं। कुछ लोगों के लिए यह सरल रहता है।

१६. वज्रासन

इस आसन में बैठने वालों की मुद्रा दृढ़ और स्थिर होती है। उन्हें सरलता से हिलाया नहीं जा सकता। घुटने बड़े कठोर हो जाते हैं। मेरुदण्ड दृढ़ तथा पुष्ट हो जाता है। यह आसन कुछ अंश तक नमाज-मुद्रा से मिलता है जिसमें मुसलमान लोग प्रार्थना के लिए बैठते हैं।

प्रविधि

पैरों के तलवों को गुदा के दोनों ओर रखें अर्थात् जङ्घाओं को टाँगों के ऊपर और नितम्बों को तलवों पर रखें। पिण्डलियाँ जङ्घाओं को छूनी चाहिए। पैरों की अँगुलियों से घुटने तक का भाग भूमि को स्पर्श करता हुआ रहना चाहिए। शरीर का पूरा भार घुटनों और गुल्फ पर पड़ना चाहिए। अभ्यास के प्रारम्भ में घुटनों और गुल्फ-सन्धियों में हल्की पीड़ा अनुभव हो सकती है; किन्तु यह शीघ्र ही दूर हो जाती है। पीड़ित अङ्गों और दोनों गुल्फ-सन्धियों की हाथों से मालिश कर लें। आप मालिश में थोड़े आयोडेक्स या अमृताञ्जन का प्रयोग भी कर सकते हैं। पैर और घुटने जमाने के पश्चात् दोनों हाथ घुटनों पर सीधे रखें। घुटने परस्पर पास-पास में हों। अब आप इस प्रकार बैठें कि धड़, गरदन और शिर एक सीधी रेखा में हों। यह बहुत सामान्य आसन है। इस आसन में आप बहुत देर तक आराम से बैठ सकते हैं। योगी जन साधारणतया इसी आसन में बैठते हैं।

लाभ

यदि आप भोजन के तुरन्त बाद आधे घण्टे तक इस आसन में बैठ जायें तो भोजन अच्छी तरह से पच जायेगा। मन्दाग्नि-ग्रस्त लोगों को इससे बहुत अच्छा लाभ होता है। टाँगों तथा जङ्घाओं की स्नायुओं और मांसपेशियों की शक्ति बढ़ती है। घुटनों, टाँगों, पैरों की अँगुलियों तथा जङ्घाओं का पेशी-शूल दूर हो जाता है। गृध्रसी निर्मूल हो जाती है। उदर-वायु दूर हो जाता है। उदर प्रभावशाली ढङ्ग से

कार्य करता है। वज्रासन का अभ्यास कन्द पर उद्दीपक तथा लाभकारी प्रभाव डालता है। यह कन्द गुदा से बारह इञ्च ऊपर स्थित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है और यहाँ से बहत्तर हजार नाड़ियाँ प्रकट होती है।

वज्रासन के प्रकार

कुछ लोग एड़ियों को पूर्णतया अलग रखते हैं। गुदा और नितम्बों को दोनों जङ्घाओं के पार्श्व में एड़ियों और टाँगों के बीच में रखा जाता है।

(१) कूर्मासन

नितम्बों से पैरों के तलवों को दृढ़तापूर्वक दबायें। शिर, गरदन और धड़ को सीधा रखें और हाथों को दोनों कूल्हों पर या घुटनों पर अथवा छाती के दोनों ओर रखें।

(२) अर्ध कूर्मासन

वज्रासन की पूर्व-मुद्रा में बैठ कर हाथों को चेहरे की सीध में फैलायें। हथेलियाँ आमने-सामने हों। धीरे-धीरे झुकें और भूमि पर अपने हाथों के सहारे लेट जायें।

(३) उत्तान कूर्मासन

इस आसन में गर्भासन की भाँति बैठा जाता है और हाथों को जङ्घाओं और पिण्डलियों के बीच में रखना पड़ता है। गर्भासन में पद्मासन की भाँति पैर जङ्घाओं पर रखे जाते हैं; किन्तु उत्तान कूर्मासन में टखने को एक-दूसरे के ऊपर पास-पास रखा जाता है और हाथों से शिर को नीचे की ओर दबाया जाता है। इन सब आसनों से मोच और पीठ-सम्बन्धी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं।

(४) मण्डूकासन

पैरों को पीछे की ओर ले जायें। पैरों की उँगलियाँ एक-दूसरे से स्पर्श करें। घुटनों को दोनों पार्श्वों में रखें। हाथों को घुटनों पर रखें। यह मण्डूकासन कहलाता है।

(५) अर्ध शवासन

सुप्त वज्रासन पर निर्देश अन्यत्र देखिए।

(६) पादादिरासन

कुछ लोग वज्रासन को ही पादादिरासन कहते हैं। इस आसन में आप हाथों

को घुटनों पर अथवा छाती की सीध में रख सकते हैं। इसमें हथेलियाँ एक-दूसरे के सामने होनी चाहिए।

(७) पर्वतासन

वज्रासन की मुद्रा में बैठ जायें। शरीर एवं हाथों को शिर के ऊपर धीरे-धीरे उठायें। यह पर्वतासन कहलाता है। पर्वतासन के एक दूसरे अच्छे प्रकार को अन्यत्र बताया गया है।

(८) आनन्द-मन्दिरासन

वज्रासन में बैठ कर दोनों हाथों से एड़ियों को पकड़ लें।

(९) अंगुष्ठासन

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण आसन है। वज्रासन में बैठ कर धीरे-धीरे घुटनों को उठायें। इसी प्रकार का एक और आसन पादांगुष्ठासन है। पादांगुष्ठासन का वर्णन अन्यत्र देखें।

(१०) सुप्त वज्रासन

यह एक सुप्त मुद्रा और वज्रासन का समन्वित रूप है अथवा अर्ध शवासन है। प्रथम आपको वज्रासन में पूर्णता प्राप्त करनी होगी; तभी आप इस आसन को आरम्भ कर सकेंगे। वज्रासन की अपेक्षा इसमें घुटनों पर अधिक दबाव तथा बल पड़ता है। अर्ध शवासन की भाँति पीठ के बल लेट जायें। उँगलियों का ताला बना लें। शिर को हथेलियों पर टिका लें। उँगलियों का ताला बनाने के बजाय आप हाथों को मत्स्यासन की भाँति भी रख सकते हैं। हो सकता है कि प्रारम्भ में पीठ का पूर्ण भाग भूमि को स्पर्श न करे और उसका निचला भाग भूमि से ऊपर उठा रहे। कुछ दिनों के अभ्यास से आप यह आसन पूर्ण सन्तोषप्रद ढङ्ग से करने लगेंगे।

इस आसन से आपको वज्रासन के सम्पूर्ण लाभ प्राप्त होंगे। इससे कुबड़ापन दूर हो जाता है; क्योंकि इसमें मेरुदण्ड पीछे की ओर झुक जाता है। मेरुदण्ड में लचक भी आती है। इस आसन को करने वाले व्यक्ति के लिए चक्रासन लगाना बड़ा सुकर होता है।

सामान्य सिद्धासन को भी वज्रासन कहा जाता है।

१७. गरुड़ासन

इस आसन को करने से गरुड़-जैसी मुद्रा बन जाती है; इसलिए इसे गरुड़ासन कहते हैं।

प्रविधि

पहले बिलकुल सीधे खड़े हो जायें। दायीं टाँग को भूमि पर सीधा रखें। बायीं टाँग को उठा कर दायीं के चारों ओर लपेट लें। बायीं जङ्घा तथा दायीं जङ्घा से कैंची बना लें। जैसे वृक्ष के चारों ओर बेल चढ़ती है, उसी भाँति बायीं जङ्घा दायीं जङ्घा के चारों ओर घुमा कर ले जायें। हाथों को भी उसी प्रकार रखें अर्थात् एक भुजा दूसरी भुजा के चारों ओर रस्सी की भाँति लपेटें। हथेलियाँ परस्पर स्पर्श करनी चाहिए। अँगुलियों को गरुड़ की चोंच के समान रखें। हाथों को चेहरे के सामने रखें। टाँगों और हाथों को बारी-बारी से बदल लेना चाहिए।

जब आप ऊपर दिये गये निर्देशानुसार खड़े हो जायें, तो स्थिरता के साथ झुकें और लपेटने वाली टाँग के अँगूठे से भूमि को छूने का प्रयत्न करें। तभी आपको इस आसन का अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। झुकते समय आप किसी की सहायता ले सकते हैं। दोनों टाँगें झुकानी पड़ती हैं। इस आसन में स्थित हो कर आप वस्ति-क्रिया भी कर सकते हैं।

लाभ

इस आसन से शरीर का पूरा भार एक टाँग पर आता है, जबकि कुक्कुटासन में शरीर का सारा भार दोनों हाथों पर आता है। इस आसन से टाँगों और हाथों की स्नायुएँ तथा अस्थियाँ बलवती होती हैं। हाथ और टाँगें लम्बी हो जाती हैं। इस आसन के अभ्यास से मनुष्य लम्बा हो सकता है। वृक्क की स्नायुएँ भी बलवती होती हैं। गृध्रसी तथा टाँगों और हाथों के सन्धिवात ठीक हो जाते हैं। पृष्ठवंश की अस्थियाँ विकसित हो कर दृढ़ होती हैं जलवृषण और अण्ड-ग्रन्थियों की सूजन ठीक हो जाती है। पिण्डलियों की पेशियाँ विकसित होती हैं। टाँगों और हाथों की स्नायुएँ बलवती होती हैं।

१८. ऊर्ध्व पद्मासन

प्रविधि

पहले बताये अनुसार शीर्षासन करिए। धीरे-धीरे दायीं टाँग को झुका कर

बायीं जङ्घा पर रखिए और फिर इसके बाद बायीं टाँग दायीं जङ्घा पर रखिए। यह बहुत सावधानीपूर्वक धीर-धीरे करना चाहिए। शीर्षासन में १० या १५ मिनट से अधिक खड़े रह सकने पर ही आप इस आसन को करने का अभ्यास कर सकते हैं, अन्यथा आपके गिरने की आशङ्का रहेगी। व्यायाम करने वाला व्यक्ति जो पैरेलल वार्स या भूमि पर अपना सन्तुलन रख सकता है, वही साधक यह आसन सरलतापूर्वक कर सकता है। इस आसन के अभ्यास में कुछ शक्ति का होना आवश्यक है। धीरे-धीरे नासिका द्वारा श्वास लें, मुँह द्वारा कभी श्वास न लें। प्रारम्भ में इस मुद्रा में ५ से १० मिनट तक रहें और धीरे-धीरे समय बढ़ाते जायें।

प्रारम्भ में इस आसन को चार तह किये गये कम्बल पर किसी दीवार के सहारे करें। इस आसन के अन्य प्रकार भी होते हैं; परन्तु वे अधिक उपयोगी नहीं हैं।

कुछ लोगों को प्रथम पद्मासन लगाना सरल होता है। इस आसन को लगाने के बाद वे धीरे-धीरे अपनी टाँगें (आसन) उठाते हैं। आसन में कुशल व्यक्ति पद्मासन की मुद्रा को नीचे भूमि पर ला सकते हैं और पुनः अपनी टाँगों को पूर्ववत् ऊपर ले जा सकते हैं। इस आसन का अभ्यास करने वालों को आसन करने के बाद हलका-सा नाश्ता, एक प्याला दूध या फलों का रस लेना चाहिए। शीर्षासन एवं ऊर्ध्व पद्मासन करने वालों को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए; तभी वे इससे अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

लाभ

आसन करते हुए यदि किसी भी प्रकार की प्रार्थना या जप किया जाता है, तो यह तप भी हो जाता है। इससे आपको सिद्धियाँ प्राप्त होंगी। प्राचीन काल में तपस्वी लोग बारह वर्ष तक शिर के बल खड़े रह कर अपने इष्टदेवता अथवा गुरु का मन्त्र जपते थे। महाभारत में ऐसे कई उदाहरण मिलेंगे। ऊर्ध्व पद्मासन अथवा शीर्षासन में जप या ध्यान ईश्वर के हृदय के नितल को स्पर्श करता है और शीघ्र ही वह अपनी कृपा-वृष्टि करता है। इस आसन से अनेक कठिनाइयों का निवारण होता है। ऊर्ध्व पद्मासन से शीर्षासन के सारे लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इस आसन का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का अपने शरीर पर पूरा नियन्त्रण होता है।

लखीमपुर के पं० श्री सूर्यनारायण वकील इस आसन को करते थे। उनकी स्मरण-शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। इस आसन से एम० एस-सी० कक्षा के

विद्यार्थी श्री गङ्गाप्रसाद एवं कलकत्ता मेडिकल कालेज के एक छात्र नरेन्द्र का वीर्यपात अथवा स्वप्नदोष-रोग जाता रहा तथा न्यायाधीश केदारनाथ न्यायालय में दोगुना कार्य निपटाने और कई घण्टों तक पुस्तकें पढ़ने में समर्थ हो गये। आप भी नियमपूर्वक इस आसन का हार्दिक भाव से अभ्यास करके पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकते हैं और सर्वथा दीर्घ जीवन यापन कर सकते हैं।

१९. पादांगुष्ठासन

स्थूल शरीर वालों के लिए यह आसन कुछ कठिन प्रतीत होगा। उन्हें कभी एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर तथा कभी आगे और पीछे की ओर हिचकोले खाने पड़ते हैं। थोड़े-से निरन्तर अभ्यास से सब-कुछ ठीक हो जायेगा। प्राचीन काल में गुरुकुलों के नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रतिदिन यह आसन किया करते थे। प्राचीन काल के ऋषिगण वीर्य-रक्षा के लिए ब्रह्मचारियों को शीर्षासन तथा सर्वाङ्गासन के साथ यह आसन निर्दिष्ट किया करते थे।

प्रविधि

बायीं एड़ी को गुदा अथवा मूलाधार, जो कि गुदा एवं जननेन्द्रिय के बीच का स्थान होता है, के ठीक बीच में रखें। शरीर का सारा बोझ पैरों की अँगुलियों पर, विशेषकर बायें अँगूठे पर, रखें। दायाँ पैर घुटने के पास जङ्घा पर रखें और अब सावधानी से सन्तुलन बनाते हुए बैठें। यदि स्वतन्त्र रूप से इस आसन को करने में आप कठिनाई अनुभव करें, तो आप अपने हाथ बेञ्च पर रख कर या दीवार के सहारे बैठ कर बेञ्च अथवा दीवार की सहायता ले सकते हैं। हाथों को कूल्हों के पार्श्व में रखें और श्वास को सुगमता से जितनी देर रोक सकें, रोक लें। धीरे-धीरे श्वास लें। अपने सामने दीवार पर किसी सफेद या काले बिन्दु पर दृष्टि जमा कर देखें और इस आसन को करते समय अपना गुरु-मन्त्र अथवा राम-नाम जपें।

लाभ

मूलाधार-स्थान चार इञ्च चौड़ा होता है। उसके नीचे शुक्र-वाहिनी-नाड़ी अथवा वीर्य-नाड़ी होती है जो वीर्य को अण्डकोष से ले जाती है। इस नाड़ी को एड़ी से दबाने से वीर्य का बाह्य प्रवाह रुक जाता है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से स्वप्नदोष अथवा वीर्यपात को रोक कर साधक ऊर्ध्वरेता योगी अर्थात् वह योगी बन जाता है जिसमें वीर्य की गति ऊपर मस्तिष्क की ओर प्रवाहित हो

कर वहाँ ओजस्-शक्ति अथवा आध्यात्मिक शक्ति के रूप में सञ्चित होती है। शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, सिद्धासन, भुजङ्गासन, पादांगुष्ठासन आदि का सामूहिक रूप से अभ्यास ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रत्येक आसन का अपना विशिष्ट प्रभाव होता है। सिद्धासन और भुजङ्गासन का प्रभाव अण्डग्रन्थि एवं उसकी कोशिकाओं पर होता है और शुक्राणुओं की रचना रुकती है। शीर्षासन और सर्वाङ्गासन वीर्य को मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होने में योग देते हैं। इसी प्रकार पादांगुष्ठासन शुक्रवाहिका नाड़ियों पर शक्तिशाली प्रभाव डालता है।

२०. त्रिकोणासन

प्रविधि

सीधे खड़े हो जायें। टाँगों को दो फीट की दूरी पर रखें। अब हाथों को कन्धों की समरेखा में पार्श्व की ओर सीधे फैलायें। अब आपकी भुजाएँ भूमि के बिलकुल समानान्तर (parallel) होनी चाहिए। व्यायाम का यह अंश तो आपने सम्भवतः अपने विद्यालयों में व्यायाम-कक्षा में किया होगा। अब धीरे-धीरे दायीं ओर झुकें। बायाँ घुटना सीधा और तना हुआ रखें। ऐसा करना आवश्यक है। दायें पैर के अँगूठे को दायें हाथ की उँगलियों से स्पर्श करें। गरदन को थोड़ा-सा दायीं ओर झुकायें। यह दायाँ कन्धा स्पर्श कर सकती है। अब बायीं भुजा को ऊपर की ओर फैलायें। इस मुद्रा को २ या ३ मिनट रखें। धीरे-धीरे श्वास लें। तत्पश्चात् बायीं ओर से आप अभ्यास कर सकते हैं। बायें हाथ की उँगलियाँ बायें पैर के अँगूठे को स्पर्श करें। अब पहले की भाँति दायीं भुजा को ऊपर की ओर फैलायें। प्रत्येक ओर से ३ से ६ बार तक इस प्रकार अभ्यास करें।

लाभ

यह आसन मेरुदण्ड को बहुत अच्छी पार्श्विक गति प्रदान करता है। यह अर्ध मत्स्येन्द्रासन का पूरक है। यह मत्स्येन्द्रासन को बढ़ा कर पूर्ति प्रदान करता है। श्री मुलर ने भी अपनी प्राकृतिक चिकित्सा व्यायाम-पद्धति में इस आसन का वर्णन किया था। यदि आपका मेरुदण्ड स्वस्थ है, तो आप एक ही आसन में कई घण्टे तक बिना थकान के ध्यान में बैठ सकते हैं। योगी के लिए मेरुदण्ड बहुत आवश्यक अङ्ग हैं; क्योंकि यह सुषुम्ना एवं अनुकम्पी तन्त्र से सम्बन्धित होता है। मेरुदण्ड में ही महत्त्वपूर्ण सुषुम्ना-नाड़ी होती है जिसका कि कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। यह आसन मेरुदण्ड की स्नायुओं और

उदर के अवयवों को स्वस्थ बनाता, आँतों के क्रमाकुञ्चन को बढ़ाता तथा क्षुधा को तीव्र करता है। मलावरोध से छुटकारा मिलता है। शरीर हलका हो जाता है। जिनकी टाँगें कूल्हे या जङ्घा की हड्डी (ऊर्वास्थि) या टाँगों की हड्डी (अन्तर्जंघिका अथवा बहिर्जंघिका) टूट जाने के कारण छोटी हो जाती हैं, उन्हें इस आसन को करने से लाभ होगा। इससे टाँगें बढ़ती हैं। सीतापुर के वकील कृष्णकुमार भार्गव ने तीन महीने तक इस आसन का अभ्यास किया। इससे उनकी टाँगें बढ़ गयीं और बाद में वे एक या दो मील चल सकते थे।

२१. बद्धपद्मासन

यह पद्मासन का एक प्रकार है।

प्रविधि

टाँगों की कैंची बना कर पद्मासन में बैठ जायें। एड़ियाँ पेट के निचले भाग को स्पर्श करें। फिर अपना दायाँ हाथ पीठ के पीछे ले जायें। दायें हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा से दायें पैर का अँगूठा पकड़ें। फिर आप अपना बायाँ हाथ पीछे ले जा कर बायें हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा से बायें पैर के अँगूठे को पकड़ें। अब ठोड़ी को सीने पर दबायें, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमायें और धीरे-धीरे श्वास लें।

कुछ साधकों को दोनों अँगूठे एक-साथ पकड़ने में कठिनाई अनुभव होती है। वे लोग आरम्भ में एक महीने तक अर्ध बद्धपद्मासन का अभ्यास कर सकते हैं। कालान्तर में वे पूर्ण बद्धपद्मासन कर सकते हैं। इस अर्ध बद्धपद्मासन को दायीं ओर से करें और फिर बारी-बारी से बायीं ओर से भी करें। पूरी मुद्रा बनाने में कुछ चतुराई बरतनी चाहिए। पहले एक अँगूठा पकड़ें और जब आप दूसरा अँगूठा पकड़ने का प्रयत्न करें, तो शरीर को थोड़ा आगे की ओर झुकायें। इससे दूसरा अँगूठा पकड़ने में आसानी रहेगी। अर्ध मुद्रा में एक उँगली से पैर के एक अँगूठे को पकड़ लें। इसके बाद फिर दूसरी ओर से करें। अर्ध मुद्रा पूर्ण मुद्रा के लिए एक प्रकार से तैयारी की अवस्था है।

लाभ

यह आसन ध्यान के लिए नहीं है। यह मुख्यतया शारीरिक स्वास्थ्य शक्ति और स्फूर्ति को प्रचुर मात्रा में बढ़ाने के लिए है। इस आसन से पद्मासन के लाभ अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कम-से-कम छः महीने तक इस आसन का

नियमित अभ्यास करना चाहिए। तभी अधिकतम लाभ का अनुभव होगा। इस आसन में कुछ मिनट तक बैठने मात्र से ही इस आसन के पूर्ण लाभों की आशा नहीं की जा सकती है। इस आसन को कम-से-कम आधा घण्टे तक करना चाहिए। यदि आप इस आसन को घण्टे या डेढ़ घण्टे तक कर सकते हैं, तो निःसन्देह इससे आपको अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा। ऐसे भी साधक हैं जो इस आसन को पूरे तीन घण्टे तक कर सकते हैं। ये लोग कितने दृढ़निश्चयी और धैर्यवान् होते हैं! इनका स्वास्थ्य और शक्ति आश्चर्यजनक और जीवन-शक्ति उच्च स्तरीय होती है। इस आसन से कई प्रकार के रोग दूर होते हैं। उदर, यकृत, प्लीहा तथा आँतों के वे अनेक जीर्ण रोग भी, जिन्हें एलोपैथिक डाक्टरों और आयुर्वेद के कविराजों ने असाध्य घोषित कर दिया हो, इस आसन के निरन्तर अभ्यास से ठीक हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उदर-रोग— यथा जीर्ण जठरशोथ, अग्निमान्द्य, उदरवायु, आन्त्रशूल, आमातिसार, जलोदर, मलावरोध, अम्लता, डकार तथा जीर्णकटिवात—दूर हो जाते हैं। क्योंकि इससे मेरुदण्ड सीधा रहता है, इसलिए इस आसन से कुबड़ापन भी दूर होता है। कमर, कूल्हे, पैरों और टाँगों की स्नायुएँ शुद्ध होती हैं। यकृत तथा प्लीहा की अपवृद्धि ठीक हो जाती है। यकृत की निष्क्रियता दूर हो जाती है। इस आसन से नाभि के पीछे स्थित सूर्य-चक्र पर प्रबल प्रभाव पड़ता और यह उसे उद्दीप्त करता है। इससे व्यक्ति को अत्यधिक शक्ति प्राप्त होती है।

पेट को पीछे की ओर ऊपर की ओर खींचें। 'ॐ' अथवा 'राम' का मानसिक जप करें और यह भावना करें कि वीर्यशक्ति ओजशक्ति के रूप में सञ्चित किये जाने हेतु मस्तिष्क की ओर प्रवाहित हो रही है।

यह विशेष अभ्यास प्रतिदिन दश मिनट तक करिए। आपको स्वप्नदोष नहीं होगा। यह प्रक्रिया ब्रह्मचर्य-पालन करने में परम सहायक है।

२२. पादहस्तासन

इस आसन को उत्थित पश्चिमोत्तानासन कहा जा सकता है; क्योंकि इस आसन की विधि वही है। भेद इतना ही है कि इस आसन को खड़े हो कर करना होता है। कुछ लोग इसे 'हस्तपादाङ्गासन' कहते हैं।

प्रविधि

सीधे खड़े हो जायें। हाथ दोनों पार्श्वों से मिले हुए लटके रहें। एड़ियों को

पास-पास और अँगूठों को परस्पर अलग-अलग रखें। हाथों को शिर के ऊपर उठायें और शरीर को धीरे-धीरे नीचे झुकायें। घुटनों को तना हुआ और सीधा रखें। टाँगों को घुटनों पर से मत मोड़ें। कोहनियों को बिना झुकाये हाथों को धीरे-धीरे नीचे लायें और केवल अँगूठे, तर्जनी तथा मध्यमा से पैर के अँगूठे को पकड़ें। झुकते समय श्वास धीरे-धीरे बाहर निकालें और पेट को अन्दर ले आयें। मस्तक को घुटनों के बीच में रखें। चेहरा घुटनों के मध्य रिक्त स्थान में छिप जायेगा। शिर को और ऊपर दोनों जङ्घाओं के बीच में भी धकेला जा सकता है। हाथों तथा पैरों के पारस्परिक परिवर्तन से इस आसन के विभिन्न प्रकार हो जाते हैं। उनके विस्तृत विवरण के लिए यहाँ स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त उनसे कोई विशेष लाभ भी नहीं है। इस आसन को दो से दश सेकण्ड तक रखिए। स्थूल शरीर वालों को प्रारम्भ में इस आसन के अभ्यास में कठिनाई अनुभव होगी। धैर्य एवं अध्यवसाय से वे अल्पकाल में ही यह आसन भली प्रकार करने लगेंगे। पीठ को खींचते समय उदरीय मांसपेशियों और मलाशय को सिकोड़ना होगा।

यदि कूल्हों की मांसपेशियों के कठोर होने एवं पेट में चरबी की अधिकता होने के कारण आपको पैरों की उँगलियों को पकड़ने में कठिनाई होती हो, तो आप घुटनों को थोड़ा झुका सकते हैं। पैरों की उँगलियों को पकड़ने के पश्चात् टाँगों को सीधी करके तान लें। यह एक युक्ति है। इस आसन के करने से पूर्व आप थोड़ी मात्र में जल पी सकते हैं।

लाभ

इस आसन के विविध लाभ हैं। अभ्यास की समाप्ति पर आप अपने को अधिक शक्तिशाली अनुभव करेंगे। बहुत-सा तमस् (भारीपन) नष्ट होने के कारण शरीर हलका हो जाता है। इस आसन से शरीर का मोटापा दूर होता है। टाँगों की हड्डी अथवा ऊर्वस्थि के टूटने के कारण यदि टाँग छोटी हो गयी हो, तो वह भी ठीक हो सकती है। तीन महीने तक इस आसन का अभ्यास करने तथा सरसों के तेल में थोड़ा नमक डाल कर मालिश करने से टाँग कुछ बढ़ जाती है। नमक से तेल शरीर में शीघ्रता से रम जाता है। इस आसन से अपान-वायु के मुक्त रूप से नीचे आने में सहायता मिलती है। सुषुम्ना-नाड़ी शुद्ध हो कर सशक्त बनती है। इस आसन से भी पश्चिमोत्तानासन के लाभ प्राप्त होते हैं।

पादहस्तासन के प्रकार

(१) पादहस्तासन (दूसरा प्रकार)

सीधे खड़े हो जायें। धीरे-धीरे बायीं टाँग उठा कर अपनी उँगलियों से पैर का अँगूठा पकड़ें। दायाँ हाथ कमर पर रखें। टाँगों को झुकने मत दें। कुछ लोग इसको पादहस्तासन कहते हैं।

(२) ताड़ासन (वृक्षासन)

यह विद्यालय के विद्यार्थियों के व्यायाम-वर्ग का सुपरिचित व्यायाम है। एक हाथ को शिर से ऊपर बड़ी शीघ्रता से उठायें। शिर को मत झुकाएँ। फिर उस हाथ को पूर्व-स्थिति में ले आयें। ऐसा ही फिर दूसरे हाथ से करें। जितनी बार कर सकें, इसको दोहरायें। हाथ को एक ही बार में सीधे शिर के ऊपर ले जाने के स्थान में आप उसे जब वह कन्धे की सीध में भूमि के समानान्तर आये, तब थोड़ा रोक सकते हैं। दोनों हाथों को आप साथ-साथ भी ले जा सकते हैं। यह आसन कर चुकने पर हाथ, कन्धों आदि की मांसपेशियों की थोड़ी मालिश कर देनी चाहिए। यह आसन वृक्षासन भी कहलाता है। शीर्षासन को भी वृक्षासन कहते हैं। एक टाँग पर सीधे खड़े हो जायें तथा दूसरी टाँग को दूसरी जङ्घा के मूल पर रखें। यह भी वृक्षासन का एक प्रकार है।

(३) उत्थित विवेकासन

खड़े हो कर जप तथा प्राणायाम करने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी है। सीधे खड़े हो जायें। आप अपने हाथों को कोहनी से मोड़ कर सीने के पास रखें।

(४) पूर्णपादासन

यदि हाथों को पार्श्वों में रख कर सीधा खड़ा रहा जाये, तो पूर्णपादासन कहलाता है।

२३. मत्स्येन्द्रासन

जिन्होंने कुछ दिनों तक अर्ध मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास कर लिया है, वे अब पूर्ण मत्स्येन्द्रासन कर सकते हैं। अर्ध मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा पूर्ण मत्स्येन्द्रासन कुछ कठिन है। मालसर (गुजरात) के प्रसिद्ध हठयोगी स्वर्गीय श्री माधवदास जी महाराज अपने शिष्यों को सीधे यही आसन सिखाया करते थे। इस आसन का नाम मत्स्येन्द्र ऋषि के नाम पर रखा गया है।

प्रविधि

टाँगे फैला कर सीधे बैठ जायें। बायें पैर को दोनों हाथों से बलपूर्वक दायीं जङ्घा के जोड़ पर और बायें पैर की एड़ी को नाभि पर दबा कर रखें। दायीं टाँग बायें घुटने के पार्श्व में जमीन से स्पर्श करे। बायें हाथ को दायें घुटने के बाहर रखें और इस घुटने को बायीं ओर दबायें। बायें हाथ के अँगूठे, तर्जनी और मध्यमा उँगलियों से दायें पैर के अँगूठे को पकड़ लें। दायाँ पैर दृढ़ रहना चाहिए। दायाँ हाथ पीठ की ओर मोड़ें और उससे बायीं एड़ी को पकड़ें। मुँह और शरीर पीछे की ओर दायें पार्श्व को मुड़ जाते हैं। रीढ़ को मरोड़ें। नासाग्र भाग पर दृष्टि जमाये रखें और धीरे-धीरे श्वास लें। इस आसन में बीस सेकण्ड तक रहें। आप शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाते हुए २ या ३ मिनट तक कर सकते हैं। इस क्रम को कई बार दोहरायें। यह प्रविधि कठिन प्रतीत होती है। आपके सावधानीपूर्वक ध्यान देने तथा एकाग्र चित्त से विचार करने या अपने किसी मित्र को, यह आसन करते हुए एक बार द्रेखने पर यह आसन बहुत स्पष्ट और सरल हो जायेगा।

यह आसन दायें तथा बायें दोनों पार्श्वों से क्रमानुसार करना चाहिए। तभी इस आसन से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। पहले, २ या ३ सप्ताह तक अर्ध मत्स्येन्द्रासन करके फिर मत्स्येन्द्रासन के लिए प्रयत्न करें। इसके बाद मांसपेशियाँ तथा अस्थि-सन्धियाँ अधिक कोमल एवं लचीली हो जायेंगी। यदि सन्तुलन बनाये रखने में कठिनाई हो तो आप अपने हाथ को मोड़ कर पीठ की ओर ले जाने के स्थान में हथेली भूमि पर रख सकते हैं। इससे आपको अच्छा सहारा मिलेगा एवं कार्य सरल हो जायेगा। धीरे-धीरे आप हथेली को भूमि से हटा कर पीठ की ओर ले जा सकते हैं।

लाभ

अर्ध मत्स्येन्द्रासन से होने वाले सभी लाभ इस आसन से अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। अस्थि-सन्धियों का सन्धिरस बढ़ता है तथा अस्थि-सन्धियाँ क्रियाशील होती हैं। सन्धिवात के कारण हुआ आसंजन दूर हो जाता है। यह सुस्वास्थ्य प्रदान करता है। यह प्राण-शक्ति बढ़ाता है जिसके फल-स्वरूप असंख्य रोगों का निवारण होता है। नाभि के ऊपर पड़ने वाले एड़ी के दबाव से रक्त का प्रवाह पीठ की ओर हो जाता है जिससे पीठ की समस्त स्नायुओं को;

विशेषकर पीठ की प्राण-नाड़ियों को; सम्यक् सम्पोषण मिलता है। इससे कुण्डलिनी जाग्रत होती है और चित्त को शान्ति मिलती है। योगी मत्स्येन्द्र धन्य हैं, धन्य हैं, जिन्होंने हठयोग के विद्यार्थियों में सर्वप्रथम इस आसन को प्रवर्तित किया। **ॐ नमः परम ऋषिभ्यः**—महर्षियों को नमस्कार है !

२४. चक्रासन

बहुत से नट लोग इस आसन को सड़कों पर दिखाते हैं। छोटे बच्चे इस आसन को सरलतापूर्वक कर सकते हैं; क्योंकि उनका मेरुदण्ड बहुत लचीला होता है। बड़ी आयु में जब अस्थियाँ सुदृढ़ और अनम्य हो जाती हैं, तब मेरुदण्ड का मुड़ना कठिन हो जाता है। यह आसन चक्र की भाँति होता है; अतः इसे चक्रासन का अर्थगर्भित नाम दिया गया है। वास्तव में यह चक्र की अपेक्षा धनुष से अधिक मिलता-जुलता है।

प्रविधि

खड़े हो कर हाथों को ऊपर आकाश की ओर उठायें। शरीर को मोड़ते हुए धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकायें। जब आपके हाथ पीछे की ओर कूल्हों की सीध में आ जायें तब टाँगों को धीरे-धीरे घुटनों पर झुकायें। इससे आपका और अधिक झुक कर अपने हाथों से भूमि को छूने में सहायता मिलेगी। जल्दी मत करें। सन्तुलन ठीक करके इसे धीरे-धीरे करें, अन्यथा गिरने का भय लगा रहता है। भूमि पर एक मोटा कम्बल बिछा कर उसके ऊपर इस आसन का अभ्यास करें। प्रारम्भ में आप यह आसन दीवार के पार्श्व में कर सकते हैं, अथवा आप अपने मित्र से कहें कि वह आपके कूल्हों को दृढ़ता से पकड़े रखे और फिर आप झुकें।

इस आसन को करने की एक और विधि है, जो वृद्ध लोगों के लिए उपयुक्त है। इसमें गिरने की आशङ्का बिलकुल नहीं रहती। पीठ के बल लेट जायें। पाँव के तलवे और हथेलियाँ भूमि पर रखें। आपकी हथेलियाँ आपके शिर के पार्श्व में और कोहनियाँ ऊपर की ओर होनी चाहिए। अब अपनी एड़ियों को भूमि पर हथेलियों के पास लायें और अपने शरीर को ऊपर उठायें। इस प्रकार मेरुदण्ड को चक्राकार मोड़ें। इसके निरन्तर अभ्यास से मेरुदण्ड को अत्यधिक लचीला बनाया जा सकता है। मेरुदण्ड के लचीला होने का तात्पर्य है—सदा युवा बने रहना। जिस व्यक्ति का मेरुदण्ड अनम्य हो, वह प्रारम्भ में अधिक-से-अधिक एक

अर्धवृत्त बना सकता है। दो सप्ताह के अभ्यास से समस्त कठोर अङ्ग लचीले बन जायेंगे। इस आसन को करते समय आप अपने हाथों से एड़ियों को पकड़ सकते हैं।

लाभ

इस आसन का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का अपने शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। वह स्फूर्तिवान् और कार्यकुशल हो जाता है और थोड़े समय में अधिक कार्य कर सकता है। इस आसन से शरीर के सभी अङ्गों को लाभ मिलता है। यदि आप देर तक इस आसन को करने में असमर्थ हो जायें, तो भूमि पर चित लेट जायें और पुनः शरीर को ऊपर उठायें। इस आसन में जब आप अपने को उठायें तो आपका शरीर हलका हो जायेगा। आपको तत्काल आत्मोल्लास प्राप्त होगा और आप सक्रिय कार्य करने में तत्पर हो जायेंगे। यदि सर्वाङ्गासन के अभ्यास के पश्चात् गरदन और कन्धों में पीड़ा अनुभव हो, तो तुरन्त कुछ मिनट तक इस आसन को कर लें। इससे पीड़ा दूर हो जायेगी; क्योंकि यह गरदन को पीछे की ओर झुकाता है। इस प्रकार यह सर्वाङ्गासन की विपरीत-मुद्रा है। धनुरासन, शलभासन और भुजङ्गासन के अन्य सब लाभ इस आसन से प्राप्त होते हैं।

२५. शवासन

इस आसन से सभी मांसपेशियों, स्नायुओं आदि को विश्राम मिलता है। यह आसन सब क्रियाओं के अन्त में करना चाहिए। यह अन्तिम आसन है। इसका दूसरा नाम मृतासन है।

प्रविधि

एक नरम कम्बल बिछा लें और पीठ के बल चित लेट जायें। हाथों को अपने दोनों ओर भूमि पर रखें। टाँगों को पूर्णतया सीधा फैला दें। एड़ियों को आपस में मिला लें; पर अँगूठों को अलग-अलग रखें। नेत्र बन्द करके धीरे-धीरे श्वास लें। समस्त मांसपेशियों, स्नायुओं, अङ्गप्रत्यङ्गों आदि को ढीला छोड़ दें। ढीला करने की प्रक्रिया पैर के अँगूठों से प्रारम्भ करके पिण्डलियों की मांसपेशियों, पीठ, सीना, भुजाएँ, हाथ, गरदन, मुँह आदि की मांसपेशियों तक लायें। ध्यान रखें कि पेट के अङ्ग, हृदय, छाती, मस्तिष्क भी शिथिल हो रहे हों। नाड़ी-जाल को भी शिथिल कर दें। अब ३ॐ ३ॐ ३ॐ का मानसिक जप करें।

आत्मा अथवा राम का ध्यान करें। सोयें मत। पन्दरह मिनट तक ध्यान करते रहें। आपको पूर्ण शान्ति, सहजता, विश्राम और चैन की अनुभूति होगी। आप सभी को इसमें आनन्द की प्राप्ति होगी। शब्द अपूर्ण हैं। वे भावनाओं की यथेष्ट अभिव्यक्ति नहीं कर सकते।

लाभ

शवासन में मुद्रा एवं ध्यान दोनों शामिल होते हैं। इससे न केवल शरीर को, अपितु मस्तिष्क एवं आत्मा को भी आराम मिलता है। इससे सुख, सुविधा एवं आराम प्राप्त होता है। शिथिलता लाना मांसपेशियों के व्यायाम में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह तो आप भली-भाँति जानते हैं कि हलासन, सर्वाङ्गासन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन एवं अर्ध-मत्स्येन्द्रासन में पीठ की समस्त मांसपेशियाँ (Lettissimus Dorsi), कटिलंकिनी-पेशी (Psoasmagnus), चतुरस्रा-पेशी (Quadratus), अनुकण्डरिका-पेशी (Lumborum), ऋजुपेशी (Rectus), उदरीय-पेशी (Abdominis), प्रधान-वक्षीय अंसचक्र (Pectoralis major of the chest), द्विशिरस्क-पेशी (Biceps), त्रिशिरस्क-पेशी (Triceps), भुजाओं की अंसछद-पेशी (Deltoid of the arm), जङ्घाओं की अन्तःकोचि-पेशी (Sartorius) प्रचुर मात्रा में तनती तथा सिकुड़ती हैं। मांसपेशियों की तीव्र क्रिया के समय चयापचय (Metabolism) में वृद्धि होती है। चयापचय शरीर में होने वाला उपचयी (Anabolic) तथा अपचयी (Catabolic) परिवर्तन—शरीर में घटित होने वाला विघर्षण तथा दारण—है। उपचयी परिवर्तन रचनात्मक तथा अपचयी परिवर्तन ध्वंसात्मक होता है। चयापचय-काल में मांसपेशियों के सभी ऊतकों (Tissue) को केशिकास्राव (Capillary oozing) से स्वच्छ ओषजनित रक्त (Oxygenated blood) अथवा प्लाविका (Plasma) प्राप्त होती है तथा प्राङ्गार-द्विजारेय (Carbon-dioxide) को शिराओं (Veins) से हो कर दक्षिण हृदयालिन्द (Right auricle of the heart) में वापस लाया जाता है। इसे ऊतक-श्वसन (Tissue-respiration) कहते हैं। जिस प्रकार फेफड़ों में ओषजन (Oxygen) तथा प्राङ्गार-द्विजारेय (कार्बन-डाइआक्साइड) की परस्पर अदला-बदली होती है उसी प्रकार ऊतकों में भी प्राङ्गार-द्विजारेय तथा ओषजन की अदला-बदली होती है। शरीर के अद्भुत सर्जन तथा उसकी आन्तरिक यन्त्रावली की कार्यप्रणाली पर ध्यान दें। यह यन्त्र कितना आश्चर्यजनक है! क्या कोई वैज्ञानिक एक भी परमाणु का, एक भी कोशाणु का अथवा शरीर के एक भी अङ्ग का

निर्माण कर सकता है ! इस अद्‌भुत शरीर-यन्त्र के स्रष्टा को करबद्ध नमस्कार करें। '**ॐ राम**' का जप करें। शान्ति में निमग्न हो जायें। उनके प्रसाद से आपको सृष्टि का समस्त रहस्य ज्ञात हो जायेगा।

जिन मांसपेशियों पर अधिक जोर पड़ता है, उन्हें शिथिल करने तथा आराम देने की आवश्यकता होती है। एकमात्र शवासन ही उन्हें तत्काल निपुणतापूर्वक पूर्ण शिथिलता तथा विश्राम सुनिश्चित रूप से प्रदान करता है।

चतुर्थ अध्याय

विविध आसन

२६. जानुशीर्षासन

प्रविधि

बैठ जायें। बायीं एड़ी से मूलाधार-स्थान को दबाते हुए दायीं टाँग को पूरी फैला दें। इसे बिलकुल सीधी रखें और पैर को दोनों हाथों से पकड़ लें। श्वास बाहर निकालें, पेट को अन्दर ले जायें। धीरे-धीरे शिर को झुकायें और माथे से दायाँ घुटना स्पर्श करायें। इस मुद्रा को ५ से १० सेकण्ड तक रखें। धीरे-धीरे यह समय बढ़ाते जायें। निरन्तर अभ्यास से आप इस आसन को आधा घण्टे तक कर सकते हैं।

फिर शिर को पूर्व सामान्य स्थिति में ऊपर ले आयें और कुछ मिनट विश्राम करें। पुनः यह आसन करें। इस प्रकार इस आसन को पाँच-छः बार करें। क्रमानुसार पार्श्व बदलते रहें। अभ्यास करते समय गुदा की स्नायुओं को ऊपर की ओर रखें। यह अनुभव करें कि वीर्य-शक्ति मस्तिष्क की ओर प्रवाहित हो कर ओज-शक्ति में परिणत हो रही है। आप अपने मस्तिष्क की भावना-शक्ति का प्रयोग करें। जो इस आसन का अभ्यास करते हैं, उनके लिए पश्चिमोत्तानासन करना सरल हो जाता है।

एड़ी को मूलाधार पर ले जाने के स्थान में आप इसे जङ्घा पर भी रख सकते हैं। यह आसन पहले वाले से कुछ अधिक कठिन है। इस आसन को शौच आदि से निवृत्त होने के बाद करना चाहिए।

लाभ

इस आसन से जठराग्नि तीव्र होती है तथा पाचन-शक्ति को सहायता मिलती है। यह सूर्य-चक्र को उद्दीपित करता है तथा ब्रह्मचर्य के पालन में सहायता प्रदान करता है। समस्त मूत्र-रोग दूर होते हैं। यह आसन आन्त्रशूल में बहुत उपयोगी है। इससे कुण्डलिनी जाग्रत होती है तथा सुस्ती और दुर्बलता समाप्त हो जाती है। इस आसन को करने से आपको बहुत स्फूर्ति का अनुभव

होगा। टाँगें शक्तिशाली हो जाती हैं। पश्चिमोत्तानासन में वर्णित किये गये सारे अन्य लाभ इस आसन से भी प्राप्त होते हैं।

२७. तोलांगुलासन

इस आसन में तुला (तराजू)-जैसी मुद्रा हो जाती है; इसलिए इसका नाम तोलांगुलासन है।

प्रविधि

मत्स्यासन की भाँति पद्मासन में लेट जायें। हथेलियों को नितम्बों के नीचे रखें। यदि आपको हथेलियों को नितम्बों के नीचे रखना कठिन अनुभव होता हो, तो आप अनुक्रमिक रूप से झुक कर अपनी दोनों कोहनियों के सहारे धीरे-धीरे टिक जायें। शिर और शरीर का ऊपरी भाग भूमि से ऊपर उठायें। अब पूरा शरीर नितम्बों तथा प्रबाहुओं पर टिक जायेगा। ठोड़ी को सीने पर दबायें। यह जालन्धर-बन्ध है, जो कि इस आसन में किया जा सकता है। जितनी देर आराम से श्वास को रोक सकते हों, रोकें। तत्पश्चात् श्वास को धीरे-धीरे छोड़ें। इसे आप पाँच से तीस मिनट तक कर सकते हैं।

लाभ

इस आसन से उदरवायु दूर होता है। मेरुदण्ड बढ़ता तथा विकसित होता है। पेट के खिंचने के कारण मल बृहदान्त्र से मलाशय की ओर धकेला जाता है। इस आसन से सीना पर्याप्त रूप से विस्तृत होता है। कपोतवक्ष-दोष दूर हो जाता है तथा सीना विशाल और सुन्दर हो जाता है। इस आसन से पद्मासन के पूरे लाभ प्राप्त होते हैं। पेशियों और भुजाओं की स्नायुओं तथा प्रबाहुओं को अधिक मात्रा में रक्त प्राप्त होता है। अतएव वे शक्तिशाली हो जाती हैं।

२८. गर्भासन

इस आसन को करते समय गर्भ-स्थित बालक-जैसी मुद्रा हो जाती है; इसलिए इसे गर्भासन कहते हैं।

प्रविधि

आगे कुक्कुटासन में वर्णन किये अनुसार, दोनों हाथों को जङ्घाओं तथा

पिण्डलियों के बीच में सन्निविष्ट करें। दोनों हाथों की कोहनियों को बाहर निकालें। दाहिने हाथ से दाहिना कान और बायें हाथ से बायाँ कान पकड़ लें। आपको इस आसन का अन्तिम चरण बड़ी सावधानी से करना चाहिए; क्योंकि हाथों से कानों को पकड़ने की कोशिश करते समय आपके पीछे की ओर गिरने की आशङ्का रहती है। शरीर को गिरने से रोके रखने के लिए आपके पास कोई हाथ नहीं होगा, आप निरवलम्ब हो जायेंगे; किन्तु अभ्यास से आप धीरे-धीरे नितम्बों पर शरीर का सन्तुलन रख सकते हैं। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद आपका शरीर स्थिर हो जायेगा। यदि इस आसन को करने में आपको कठिनाई प्रतीत हो, तो आप पद्मासन के बिना ही यह आसन कर सकते हैं। जङ्घाओं के पीछे से भुजाओं को निकाल कर कान अथवा गरदन पकड़ें। इस किञ्चित् परिवर्तित मुद्रा से टाँगें नीचे की ओर फैलेंगी। इस आसन में दो-तीन मिनट तक रहें और इसे पाँच बार करें।

लाभ

इस आसन को करने से पाचन-शक्ति बढ़ती है, भूख तीव्र होती है और शौच खुल कर तथा साफ होता है। अनेक आन्त्र-रोग दूर हो जाते हैं। हाथ और पैर सुदृढ़ हो जाते हैं।

२९. ससाङ्गासन

प्रविधि तथा लाभ

टाँगों को झुका कर पैरों के अँगूठों और घुटनों के बल खड़े हो जायें। हथेलियों को तलवों के पार्श्व में रखें। पीठ को पूरी तरह चक्राकार मोड़ें तथा अपने शिर को भूमि की ओर झुकायें। हाथों को मत झुकायें। उन्हें सीधा रखें। यह आसन धनुरासन-जैसा ही है। आप इसे उत्थित-मुद्रा में धनुरासन या चक्रासन कह सकते हैं। इस मुद्रा में धनुरासन के सम्पूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं।

३०. सिंहासन

प्रविधि तथा लाभ

दोनों एड़ियों को अण्डकोष के नीचे या गुदा और अण्डकोष के बीच में रखें। बायीं एड़ी दायीं ओर तथा दायीं एड़ी बायीं ओर रहे। हाथों को जङ्घाओं

के बीच में रखें। मुँह खोल लें। यह रोगों का विनाशक है। योगी लोग इसका अभ्यास करते हैं। इस आसन से बन्धों का अभ्यास भली प्रकार किया जा सकता है।

३१. कुक्कुटासन

संस्कृत में कुक्कुट का अर्थ मुरगा है। इस आसन के प्रदर्शन में कुक्कुट-जैसी मुद्रा होती है।

प्रविधि

प्रथम पद्मासन लगायें। दोनों भुजाओं को एक-एक करके कोहनी के जोड़ तक पिण्डलियों के बीच वाले स्थान में सन्निविष्ट करें। हथेलियों को भूमि पर इस प्रकार रखें कि उँगलियाँ सामने की ओर रहें। अब शरीर को भूमि से ऊपर उठायें जैसा चित्र में दिखाया गया है। पैरों का ताला कोहनियों के जोड़ तक आना चाहिए। यदि आप पद्मासन में थोड़ा ऊपर उठें, तो हाथों को सन्निविष्ट करना सरल हो जाता है। स्थूल शरीर वाले साधकों के लिए जङ्घा और पिण्डलियों के बीच में हाथ सन्निविष्ट करना कठिन होता है। जितनी देर तक इस आसन में रह सकें, रहें।

लाभ

पद्मासन के सम्पूर्ण लाभ इस आसन से अधिकतम मात्रा में प्राप्त हो सकते हैं। आलस्य दूर होता है। नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। भुजाओं की द्विशिरस्क पेशियों, कन्धों के अंसछद, बृहद् तथा लघु अंसचक्र आदि का भली-भाँति विकास होता है। इस आसन से वक्षस्थल विशाल तथा भुजाएँ प्रवर्धित होती हैं।

३२. गोरक्षासन

प्रविधि

बैठ जायें तथा पैरों को सामने की ओर इस प्रकार फैलायें कि तलवे एक-दूसरे को भली प्रकार स्पर्श करते रहें। पैरों को घुटनों से मोड़ें तथा तलवों को पास-पास रखते हुए उन्हें (तलवों को) शरीर की ओर लायें। एड़ियों को ऊरु-मूलों के पास रखें। अब शरीर को ऊपर की ओर उठायें और

मूलाधार-प्रदेश को एड़ियों पर रखें। हाथों को घुटनों पर रखें। दायें हाथ से दायें घुटने को तथा बायें हाथ से बायें घुटने को फर्श की ओर दबायें। मेरुदण्ड सीधा रखें। नासिका के अग्रभाग पर देखें।

३३. कन्दपीड़ासन

प्रविधि

यह आसन मोटी जङ्घाओं और पिण्डलियों की मांसपेशियों वालों के लिए कुछ कठिन है। पतले-दुबले लोग इसे बड़े सुन्दर ढङ्ग से कर सकते हैं। एड़ियों और पैरों की उँगलियों को मिला कर भूमि पर बैठ जायें अर्थात् पैरों के तलवे एक-दूसरे के सामने हों। धीरे-धीरे पैरों को मोड़ कर एड़ियों को कन्द-स्थान पर तथा पैरों की उँगलियों को पीछे की ओर गुदा पर रखें। अब शरीर केवल दोनों घुटनों और पैरों के पार्श्वों पर टिकेगा। हाथों को घुटनों पर रखें। सीधे बैठ जायें। इस आसन को करने की एक अन्य विधि भी है। भूमि पर इस प्रकार बैठें कि पैरों के तलवे परस्पर विपरीत दिशा में हों। वे दोनों आमने-सामने भी होने चाहिए। दोनों हाथों से एक पैर की उँगलियों को पकड़ कर पैर को धीरे-धीरे पेट पर लाने का प्रयत्न करें। इसी भाँति दूसरा पैर भी पेट पर ले आयें। अब आप इस आसन को अलग-अलग पैरों से करने लगें, तब आप इसे दोनों पैरों से एक-साथ करने का प्रयत्न करें। इस आसन को धीरे-धीरे तथा बहुत सावधानी से करें। यदि इसे आप बलपूर्वक जल्दी-जल्दी करेंगे तो आपकी टाँगों, घुटनों, उँगलियों आदि में पीड़ा होगी। आसन पूर्ण होने पर तलवे भिन्न दिशाओं में होंगे और पैरों के पृष्ठ भाग एक-दूसरे के सामने होंगे।

लाभ

सब प्रकार के घुटनों के रोग, टाँगों का सन्धिवात, गृध्रसी और पैरों की उँगलियों की गठिया (गाउट) ठीक हो जाते हैं। पिण्डलियों और टाँगों की स्नायुओं में शक्ति-सञ्चार होता है। स्थूल शरीर वाले व्यक्तियों के लिए यह आसन करना कठिन प्रतीत होता है।

३४. सङ्कटासन

प्रविधि

दायें पैर पर खड़े हो जायें। बायीं टाँग उठा कर उससे दायीं टाँग को लपेट लें। हाथों को घुटनों पर रखें। यह सङ्कटासन है। गरुड़ासन-मुद्रा को भी इसी नाम से पुकारते हैं।

३५. योगासन

प्रविधि

दायें पैर को बायीं जङ्घा पर और बायें पैर को दायीं जङ्घा पर रखें। तलवे ऊपर की ओर रहें। हाथों को अपनी बगल में भूमि पर रखें। हथेलियों को उपरिमुखी रखें। दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करें तथा चिरकाल तक ध्यान लगायें।

३६. उत्कटासन

प्रविधि तथा लाभ

खड़े हो जायें। पैरों को मिला कर रखें और हाथों को कूल्हों पर— एक हाथ एक ओर एक कूल्हे पर तथा दूसरा हाथ दूसरी ओर दूसरे कूल्हे पर—रखें। फिर शरीर को धीरे-धीरे नीचे लायें। शरीर को नीचे लाते समय आपको कुछ कठिनाई अनुभव होगी। प्रारम्भ में सहायता हेतु दोनों दरवाजों के किनारों को अपने कूल्हों की बराबर ऊँचाई पर पकड़ सकते हैं और फिर उनके आश्रय से शरीर को नीचे लायें। आप कुरसी के दोनों पार्श्वों का भी आश्रय ले सकते हैं। जो व्यक्ति प्राणायाम करते हैं वे इस आसन को बड़ी आसानी से कर सकते हैं। इस आसन में अधिक बल की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति को शरीर का सन्तुलन रखना सीखना चाहिए। अति-दुबला-पतला मनुष्य इस आसन को बड़ी सुन्दरता से कर सकता है। शरीर को नीचे लाने में बहुत सम्भव है, आप सन्तुलन खो बैठें और आपका शरीर आगे-पीछे अथवा पार्श्वों की ओर हिचकोले खाने लगे; किन्तु कुछ दिनों के अभ्यास से आप मुद्रा को स्थिर रख सकेंगे। इस आसन को पूर्ण रूप से करने पर पैरों की उँगलियों से ले कर घुटनों तक आपकी टाँगें तथा नितम्बों से ले कर शिर तक शरीर के

भाग भूमि से लम्ब रेखा में होंगे और आपकी जङ्घाएँ भूमि से समानान्तर रेखा में होंगी। प्रारम्भ में जब आप इस आसन का अभ्यास करें तो आप कुरसी पर बैठ सकते हैं। शरीर को कुरसी से दो या तीन इञ्च ऊपर उठाइए और सन्तुलन रखने का प्रयास कीजिए। कुछ दिनों के पश्चात् आप अपने मित्र से कह कर कुरसी चुपचाप हटवा दें और सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करें। पैरों की उँगलियों के बल पर बैठें। शरीर का पूरा भार केवल उँगलियों पर ही रहे। नितम्ब एड़ियों को स्पर्श करें। इस आसन के करने से कटिवात दूर होता है। कलाई और पैरों की उँगलियाँ पुष्ट होती हैं। यह श्लीपद-रोग के लिए बहुत लाभदायी है। आप शरीर को और भी अधिक नीचे ला सकते हैं। इस आसन का उपयोग वस्तिक्रिया के लिए किया जाता है।

३७. ज्येष्टिकासन

प्रविधि

यह शवासन की भाँति विश्राम करने का आसन है। इसे भी समस्त आसनों के अन्त में करना चाहिए। यह शवासन-जैसा ही है। इस आसन में हाथ अपने शिर के दोनों ओर भूमि पर रखे जाते हैं जबकि शवासन में हाथ पार्श्व में रखे जाते हैं।

३८. अद्वासन

प्रविधि तथा लाभ

पेट तथा छाती के बल भूमि पर लेट जायें। इसमें आपके हाथ पार्श्व में तथा हथेलियाँ भूमि की ओर होंगी। शरीर को अच्छी तरह फैलायें। यह शवासन से विपरीत मुद्रा है; परन्तु इसके लाभ वही हैं। कुछ देर तक अपना दायाँ गाल और कुछ देर तक बायाँ गाल भूमि पर रखें।

३९. ऊर्ध्वपादासन

यह 'उत्तानपादासन' का दूसरा नाम है। निर्देशों के लिए हलासन का विवरण देखें।

४०. उष्ट्रासन

प्रविधि तथा लाभ

नीचे मुँह करके भूमि पर लेट जायें। टाँगों को मोड़ कर जङ्घाओं पर रखें और हाथों से पैरों के अँगूठों अथवा गुल्फों को पकड़ें। शिर को थोड़ा ऊपर उठा सकते हैं। यह भी धनुरासन के समान है; किन्तु इस आसन में जङ्घाएँ भूमि पर रखी जाती हैं। धनुरासन और शलभासन के लाभ इस आसन से मिल सकते हैं।

४१. मकरासन

प्रविधि

अद्वासन की भाँति मुँह नीचे करके भूमि पर लेट जायें। हाथों से शिर को पकड़ लें।

४२. भद्रासन

प्रविधि तथा लाभ

आराम से बैठ जायें। शरीर को सीधा तना हुआ रखें। दोनों एड़ियों को मूलाधार की बगलों में अथवा गुदा पर दृढ़ता से दबायें। दृष्टि को नासिकाग्रभाग पर रखें। इस आसन से समस्त रोग एवं विष-प्रभाव दूर हो जाते हैं।

४३. वृश्चिकासन

प्रविधि तथा लाभ

जो लोग शीर्षासन तथा हस्तवृक्षासन को काफी देर तक कर सकते हैं, वे इस आसन के लिए चेष्टा कर सकते हैं। इस आसन में आप हाथ और कोहनियों को भूमि पर रखें। प्रारम्भ में इस आसन का अभ्यास दीवार के सहारे करें। अब टाँगों को दीवार पर डाल दें और फिर पाँवों को दीवार से दो इञ्च दूर कर के सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करें। कुछ दिन तक इस प्रकार से अभ्यास कर जब आप सन्तुलन रखने लग जायें, तब शनैः-शनैः टाँगों को घुटनों पर और कूल्हों को पीठ की ओर झुकायें और पैरों के तलवों अथवा

उँगलियों को अपने शिर पर रखें। शीर्ष, चक्र और धनुर्-आसनों के सारे लाभ आपको इस आसन के अधिक मात्रा में प्राप्त होंगे।

४४. योगनिद्रासन

प्रविधि

शवासन की भाँति लेट जायें। स्थूलकाय व्यक्ति इस आसन को नहीं कर सकते; अतः उन्हें इसकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। टाँगें पकड़ कर पैरों को गरदन या शिर के नीचे जमा दें। फिर धीरे-धीरे नितम्बों को उठायें। हथेलियों को नितम्बों या कूल्हों के नीचे भूमि पर टिका दें।

४५. अर्ध-पादासन

प्रविधि

भूमि पर बैठ कर दायीं एड़ी दायें नितम्ब के पास और बायाँ गुल्फ बायें घुटने पर रखें। हाथों को नितम्बों से कुछ इञ्च की दूरी पर भूमि पर रखें। इसी प्रकार यह आसन दूसरी टाँग से भी करें।

४६. कोकिलासन

प्रविधि

समासन अथवा सिद्धासन में बैठें। हाथों को बाहुकक्षों में दृढ़ता से रखें। अब कोहनियाँ एक-सीध में हो जायेंगी। धीरे-धीरे झुकें और कोहनियों को अपने सामने की भूमि पर टेकें। सम्पूर्ण शरीर का भार दोनों नितम्बों और कोहनियों पर रहेगा। यह आसन एक कम्बल पर करें। अन्यथा कोहनियों को चोट पहुँचेगी।

४७. कर्णपीड़ासन

प्रविधि

हाथों को पीछे की ओर भूमि पर रख कर हलासन करें। अब धीरे-धीरे घुटनों पर टाँगों को मोड़ें तथा घुटनों को कन्धों से स्पर्श करायें। इस आसन में घुटनों से ले कर उँगलियों तक टाँगें भूमि के समानान्तर रहेंगी।

४८. वातायनासन

प्रविधि

सीधे खड़े हो जायें। दायाँ पैर पकड़ लें तथा उसकी एड़ी को दृढ़ता से जङ्घा के मूल में अथवा जननेन्द्रिय के मूल पर रख कर एक टाँग पर खड़े हो जायें। धीरे-धीरे बायीं टाँग झुका कर दायें घुटने से भूमि को स्पर्श करें। यह वातायनासन है।

४९. पर्यंकासन

साधारण सुप्त-वज्रासन को इस नाम से भी पुकारा जाता है। सुप्त-वज्रासन का वर्णन अन्यत्र किया गया है।

५०. मृतासन

यह शवासन का दूसरा नाम है। इसके लिए निर्देश अन्यत्र देखें।

विशेष निर्देश

(१) आसनों का अभ्यास एक अच्छे सुसंवातित, स्वच्छ कमरे में करना चाहिए जहाँ शुद्ध ताजा वायु की निर्बाध गति हो। कमरे का फर्श समतल हो। नदियों के रेतीले पृष्ठतल पर, खुले हुए हवादार स्थानों पर तथा समुद्री तटों पर भी आसनों का अभ्यास किया जा सकता है। यदि आप कमरे में आसनों का अभ्यास करते हैं तो ध्यान रखें कि कमरा इतना भरा हुआ नहीं हो कि जिसमें आप स्वच्छन्द रूप से हाथ-पैर और शरीर को न हिला-डुला सकें।

(२) आसन प्रातःकाल खाली पेट अथवा भोजन करने के कम-से-कम तीन घण्टे बाद करने चाहिए। प्रातःकाल आसनों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय है।

(३) प्रातः चार बजे सो कर उठते ही जप और ध्यान आरम्भ करना सदैव अच्छा होता है। इस समय मन पूर्णतया शान्त एवं स्फूर्त रहता है। इस समय आप बड़ी सरलता से ध्यानशील चित्त-वृत्ति को अपना सकते हैं। ध्यान अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रातःकाल बिस्तर से उठने पर मन स्वच्छ स्लेट की भाँति होता है, वह सांसारिक विचारों से मुक्त रहता है; अतः इस समय बिना किसी प्रयत्न अथवा सङ्घर्ष के ही मन ध्यान-स्थिति में प्रवेश कर जाता है।

(४) अधिकांश लोग प्रातःकाल के अपने अमूल्य समय को अकारण ही नष्ट कर देते हैं। ये लोग आधा घण्टा मल-त्याग में तथा आधा घण्टा दन्त-धावन में लगा देते हैं; अतः उनके ध्यान में बैठने के पूर्व ही सूर्य निकल आता है। यह बुरी आदत है। साधकों को पाँच मिनट में मलोत्सर्ग से निवृत्त हो जाना चाहिए। दूसरे पाँच मिनट में अपने दाँत साफ कर लेने चाहिए। यदि आपको मलावरोध की शिकायत हो तो बिस्तर से उठने के बाद तत्काल ही पाँच मिनट तक शलभासन, भुजङ्गासन और धनुरासन का सशक्त अभ्यास करें। यदि आप दिन में विलम्ब से मल-त्याग करने के अभ्यस्त हैं तो आप ऐसा आसन, प्राणायाम, जप और ध्यान के बाद कर सकते हैं।

(५) प्रातः चार बजे उठें। मल-मूत्र त्याग करें। अपना मुँह धोयें। इसके बाद अपने आसन, प्राणायाम तथा ध्यान का अभ्यास करें। यह क्रम लाभदायक है। यदि आप प्रातः ४ बजे से ६ बजे के बीच ध्यान करने के लिए विशेष रूप से

उत्सुक हों तो आप १० से १५ मिनट तक शीर्षासन करके ध्यान के लिए बैठ सकते हैं। ध्यान की समाप्ति पर आप अन्य आसन कर सकते हैं। यदि आप प्रातः जल्दी शौचादि से निवृत्त होने के अभ्यस्त नहीं हैं तो आप शौचादि से निवृत्त होने के पूर्व भी आसनों का अभ्यास कर सकते हैं। आसन और ध्यान के बाद आप शौचालय जा सकते हैं। उस समय शौच भी साफ होगा।

(६) जिन्हें जीर्ण मलावरोध हो, वे गणेश-क्रिया कर सकते हैं। साबुन या तेल से चिकनी की गयी मध्यमा उँगली मलाशय में डाल कर मल निकालने की क्रिया गणेश-क्रिया कहलाती है। कभी-कभी भरे-पेट को रिक्त करने के लिए वस्तिक्रिया भी लाभप्रद होती है।

(७) भूमि पर एक कम्बल बिछा दें और उस पर आसनों का अभ्यास करें। शीर्षासन तथा उसके विभिन्न प्रकारों का अभ्यास करने के लिए तकिया या चौहरा कम्बल उपयोग में लायें।

(८) आसन करते समय लँगोटी या कौपीन पहनें। आप शरीर पर बनियान धारण कर सकते हैं।

(९) आसन करते समय चश्मा (उपनेत्र) न पहनें। चश्मा पहने रहने पर उसके टूटने तथा उससे आँख में चोट लगने की आशङ्का रहती है।

(१०) जो साधक अधिक समय तक शीर्षासन आदि का अभ्यास करते हैं, उन्हें आसन की समाप्ति पर अल्पाहार लेना अथवा अथवा एक प्याला दूध पीना चाहिए।

(११) यदि आप अकेले शीर्षासन करने में ही आधा घण्टा या अधिक समय लगा सकते हों तो अन्य आसनों का समय कम कर दें।

(१२) आपको नियमित रूप से अभ्यास करना-चाहिए। मनमौजी ढङ्ग से आसन करने वाले व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता है।

"मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
महारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति ॥"

(घेरण्डसंहिता)

—जो मिताहार न करके योगारम्भ करता है, उसको कुछ भी योग सिद्ध नहीं होता है और उसमें नाना रोग उत्पन्न होते हैं।

(१३) आसनों का अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व, रात्रि को सोते समय एक या दो ग्राम वर्म सैण्टोनिन पाउडर की खुराक तथा प्रातः उठ कर दो औंस अरण्डी का तेल ले लें। तेल को पिपरमिन्ट के पानी, चाय या काली मिर्च के पानी में मिला कर पीयें। यदि आपको पसन्द हो तो केवल तेल ही पी सकते हैं। योगाभ्यास करने से पूर्व आँतों का भली प्रकार साफ होना आवश्यक है।

(१४) प्रारम्भ में आसन कम-से-कम समय तक करें; फिर धीरे-धीरे समय को बढ़ायें। जितनी देर तक आसन-मुद्रा को सुविधापूर्वक स्थिर रख सकते हों, उतनी देर तक आसन करें।

(१५) आसन अष्टाङ्गयोग का तृतीय अङ्ग है। आसन में भली प्रकार स्थिर होने के पश्चात् ही आप प्राणायाम से लाभान्वित हो सकते हैं।

(१६) आसन और प्राणायाम के अभ्यास के साथ यदि जप भी किया जाये तो इससे अधिकतम लाभ होता है।

(१७) यदि भवन की नींव पक्की नहीं डाली गयी तो ऊपर की बनायी हुई इमारत शीघ्र गिर जायेगी। इसी प्रकार यदि योग के साधक ने आसन पर विजय प्राप्त नहीं की तो वह योगाभ्यास के अपने उच्चतर मार्ग में सफलतापूर्वक आगे नहीं बढ़ सकता।

(१८) आसनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए नियमित रूप से अभ्यास करना अत्यावश्यक है। साधारणतया लोग प्रारम्भ में दो महीने तक तो बड़ी रुचि और समुत्साह से आसनों का अभ्यास करते हैं; फिर अभ्यास करना छोड़ देते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। वे चाहते हैं कि यौगिक शिक्षक सदा उनके पास रहे। उनमें स्त्री-सुलभ पराश्रित रहने की मनोवृत्ति होती है। वे आलसी, निष्क्रिय एवं सुस्त होते हैं।

(१९) आजकल मैदान में खेले जाने वाले खेल बड़े मँहगे हो गये हैं। जाल, रैकट, गेंद तथा पम्प बार-बार खरीदने पड़ते हैं। आसनों के अभ्यास के लिए कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता।

(२०) शारीरिक व्यायाम प्राण को बाहर खींचते हैं। आसन प्राण को भीतर खींचते हैं और उसका सारे शरीर और विभिन्न संस्थानों में सम विभाजन कर देते हैं। आसन न केवल शारीरिक अपितु आध्यात्मिक उत्थान भी करते हैं; क्योंकि इनसे मूलाधार-चक्र में सोयी हुई कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है। यह पतञ्जलि

महर्षि के अष्टाङ्ग राजयोग का तृतीय अङ्ग है। विशेष प्रकार के आसन के अभ्यास से विशेष रोग का निवारण होता है।

(२१) आसन केवल शारीरिक व्यायाम मात्र ही नहीं हैं; बल्कि इनमें कुछ और विशेषता भी है। इनका आध्यात्मिक आधार है। इन्द्रियों, मन और शरीर को नियन्त्रित करने में इनसे अत्यधिक योग मिलता है। इनसे शरीर-शुद्धि और नाड़ी-शुद्धि होती है तथा कुण्डलिनी जाग्रत होती है जो साधक को आनन्द, शक्ति और योग-समाधि प्रदान करती है। यदि आप दण्ड-बैठक (केवल शारीरिक व्यायाम) प्रतिदिन ५०० बार अथवा समानान्तर छड़ों पर चलने वाला व्यायाम प्रतिदिन ५० बार करके पाँच वर्षों तक अभ्यास करें तब भी इससे इस रहस्यमयी शक्ति, कुण्डलिनी को जाग्रत नहीं कर सकेंगे। क्या अब आपने साधारण शारीरिक व्यायाम और आसनों के व्यायाम के अन्तर को जान लिया?

(२२) स्त्रियां को भी आसनों का अभ्यास करना चाहिए। इससे उनसे स्वस्थ तथा बलवान् सन्तान उत्पन्न होगी। यदि माताएँ स्वस्थ एवं बलवती होगीं तो निश्चय ही उनके बच्चे भी स्वस्थ और बलवान् होंगे। नवयुवतियों के पुनरुत्थान का तात्पर्य है अखिल विश्व का पुनरुत्थान। यदि स्त्रियाँ रुचि एवं ध्यान के साथ नियमपूर्वक आसनों का अभ्यास करें तो इसमें सन्देह नहीं कि उनके स्वास्थ्य एवं जीवन-शक्ति में अद्भुत वृद्धि होगी। आशा है कि वे मेरी हार्दिक प्रार्थना को धैर्यपूर्वक सुन कर इन यौगिक पाठों को पढ़ते ही यौगिक आसनों का अभ्यास आरम्भ कर देंगी। वे नव-महिला शिक्षार्थी धन्य हैं जो योग के मार्ग पर चलती हैं। योगिनी महिलाओं से उत्पन्न हुई सन्तान भी योगी ही होगी।

(२३) योगासनों के साथ-साथ जप और प्राणायाम भी चलने चाहिए। तभी जा कर यथार्थ योग होता है।

(२४) प्रारम्भ में आप कुछ आसनों को पूर्ण रूप से नहीं कर पायेंगे। नियमित अभ्यास से पूर्णता आ जायेगी। इसके लिए धैर्य और अध्यवसाय की, सच्चाई और तत्परता की आवश्यकता है।

(२५) शीर्ष, सर्वाङ्ग, पश्चिमोत्तान, धनुर् और मयूर आसनों का अच्छा सङ्घटन होता है। शीर्ष, सर्वाङ्ग और पश्चिमोत्तान त्रयासन हैं। यदि आपके पास समय नहीं है तो आप आसनों की संख्या को कम कर सकते हैं। यह आसन-त्रय करने से ही आपको अन्य आसनों के गुण तथा लाभ प्राप्त हो जायेंगे।

(२६) जप तथा ध्यान के लिए चार आसन निर्धारित हैं। ये हैं पद्म, सिद्ध, स्वस्तिक और सुखासन। अधिकांश लोगों के लिए पद्मासन सर्वश्रेष्ठ है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, उन्हें सिद्धासन का अभ्यास करना चाहिए।

(२७) आसनों को कभी न बदलें। एक कुलक बना लें और उसका दृढ़ता से अभ्यास करें। यदि आप एक आसन-कुलक को आज और दूसरे को कल करते हैं, तो इस प्रकार के आसनों के करने से आपको विशेष लाभ नहीं होगा।

(२८) आप आसनों में जितना स्थिर रहेंगे उतना ही अधिक आप अपना ध्यान केन्द्रित तथा मन को एकाग्र कर सकेंगे। आप स्थिर आसन के बिना ध्यान भली प्रकार नहीं कर सकते।

(२९) सम्पूर्ण अभ्यास-काल में आपको अपनी सहज बुद्धि का सदैव उपयोग करना चाहिए। यदि आपको एक प्रकार का भोजन अनुकूल न पड़े तो भली प्रकार विचार कर अथवा अपने गुरु से परामर्श कर के उसे बदल दें। यदि कोई विशेष आसन अनुकूल न पड़े, तो अन्य आसन चुन लेना चाहिए। इसे युक्ति कहते हैं। जहाँ युक्ति है, वहाँ सिद्धि, भुक्ति और मुक्ति हैं।

(३०) यदि आप किसी विशेष आसन को पूर्ण सन्तोषप्रद ढङ्ग से न कर सकें, तो निराश मत हों। जहाँ चाह है, वहाँ राह है। हथेली पर दही नहीं जमता। ब्रूस और मकड़ी की कहानी याद रखें और पुनः-पुनः अभ्यास करें। निरन्तर अभ्यास से सब-कुछ ठीक हो जायेगा।

(३१) कुण्डलिनी जाग्रत हुए बिना समाधि अथवा परम चेतनावस्था की स्थिति सम्भव नहीं है। कुण्डलिनी कई प्रकार से जाग्रत की जा सकती है, उदाहरणार्थ आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम, भक्ति, गुरुकृपा, जप, शक्तिशाली विश्लेषणात्मक सङ्कल्प-शक्ति तथा विचार-शक्ति। जो लोग कुण्डलिनी जाग्रत करने की चेष्टा करें, उनमें मन, वाणी और कर्म की पूर्ण शुद्धि होनी चाहिए। उनको मानसिक और शारीरिक ब्रह्मचर्य रखना चाहिए। तभी वे समाधि के लाभ प्राप्त कर सकते हैं। कुण्डलिनी जाग्रत होने पर पुराने संस्कार नष्ट हो जाते हैं और अज्ञानता-रूपी हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है। व्यक्ति अन्ततः संसार-चक्र (जन्म-मरण) से मुक्त हो कर अमर सच्चिदानन्द-स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

(३२) आसनों के अभ्यास में लघु कुम्भक (श्वास को रोकना) से आसनों की

प्रभावोत्पादकता में वृद्धि होती है तथा योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति को अधिक शक्ति एवं क्षमता प्राप्त होती है।

(३३) जापक आसनों के अभ्यास-काल में अपना मन्त्र-जप कर सकते हैं। जब आप छः मास तक मन्त्रोच्चारण करते रहेंगे तो आपकी एक आदत बन जायेगी और संस्कारों के प्रभाव से आप स्वतः ही आसन करते समय भी निर्बाध रूप से जप करते रहेंगे। इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। व्यापारीगण, जिनको बहुत कम समय मिलता है, आसनों के मध्य जप कर सकते हैं। यह कुछ ऐसा है जैसा कि एक पत्थर फेंकने से चार फल प्राप्त करना। इससे आपको कई सिद्धियाँ प्राप्त होंगी।

(३४) जो लोग शीर्षासन और उसके विभिन्न प्रकारों का अभ्यास करते हैं, उन्हें आसन समाप्त करने के बाद अल्पाहार, एक प्याला दूध या फलों का रस पी लेना चाहिए। पर्याप्त देर तक अभ्यास करने वालों के लिए उपाहार परम आवश्यक है। उन्हे दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए।

(३५) प्रत्येक साधक को अपनी प्रकृति, क्षमता, सुविधा, अवकाश तथा आवश्यकतानुसार कुछ आसनों को अभ्यास हेतु चुन लेना चाहिए।

(३६) यह उचित है कि योग के साधक मल-त्याग के पश्चात् समस्त आसन करें। यदि आपको अपराह्न अथवा सायङ्काल में ही शौच-शुद्धि की आदत हो तो किसी प्रकार इस आदत को बदल देना चाहिए। प्रतिदिन प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही एक बार शौच साफ होना चाहिए। प्रातः ४ बजे नियम से थोड़े समय के लिए एक बार शौचालय में जा कर बैठें। हो सकता है कि कुछ दिन तक आप उस समय मल-त्याग न कर सकें; किन्तु कुछ समय बाद आपको नियमित रूप से शौच साफ होने लगेगा और आपकी एक आदत बन जायेगी। योगीजन तुरन्त किसी भी पुरानी आदत को छोड़ कर नयी आदत डाल सकते हैं। रात्रि को सोते समय और प्रातः उठते ही ठण्ढा अथवा मन्दोष्ण जल पियें। भोजन भी नियमित तथा व्यवस्थित करें। प्रातः उठते ही आप पहले ध्यान करें; फिर आसन कर सकते हैं।

(३७) यदि आप अपने भोजन, आसन और ध्यान के विषय में सावधान रहें तो थोड़े समय में ही आपके नेत्र सुन्दर तथा चमकीले, वर्ण सुन्दर तथा चित्त शान्त होगा। हठयोग साधकों को सौन्दर्य, स्वास्थ्य, शक्ति, चिरायु आदि की प्राप्ति कराता है।

(३८) अनावश्यक चिन्ताओं से बचते रहना चाहिए। परेशान नहीं होना चाहिए। चिन्तित नहीं होना चाहिए। सुस्त मत बनें तथा अपना समय नष्ट मत करें। यदि आपकी उन्नति में देर लगे, तो अपने को परेशान मत करें, शान्ति से प्रतीक्षा करें। यदि आपमें हार्दिक भावना है, तो निश्चय ही आपको सफलता मिलेगी।

(३९) अपनी साधना में एक भी दिन न चूकें।

(४०) शरीर को अनावश्यक मत हिलायें। शरीर को बार-बार हिलाने से मन भी विक्षुब्ध हो जाता है। शरीर को थोड़ी-थोड़ी देर बाद मत खुजलायें। आसन चट्टान की भाँति दृढ़ होना चाहिए।

(४१) श्वास धीरे-धीरे लें। स्थान बार-बार मत बदलें। प्रतिदिन एक समय में एक ही स्थान पर बैठें। अपने गुरु द्वारा बताये अनुसार उपयुक्त मनोवृत्ति बनायें।

(४२) सांसारिक वासना, जिसका कि निर्माण गत सैकड़ों जीवनों के अभ्यास से हुआ है, कभी नष्ट नहीं होती। इसका विनाश केवल चिरकाल तक योगाभ्यास करने से ही हो सकता है।

(४३) सिद्धियों की कभी परवाह मत करें। उनसे निष्ठुरतापूर्वक दूर रहें। उनसे आपका पतन होगा।

(४४) यम और नियम योग के आधार हैं। इनमें पूर्ण रूप से स्थिर हो जाने पर समाधि स्वतः ही लग जायेगी।

(४५) मन के साथ उदारता नहीं बरतनी चाहिए। यदि आज मन को एक विलास-वस्तु देंगे, तो वह कल दो की माँग करेगा। इस प्रकार प्रतिदिन विलास-वस्तुओं की संख्या बढ़ती जायेगी। मन की दशा अधिक लाड़-प्यार में बिगड़े हुए बच्चे के समान हो जायेगी। कहावत भी है, 'दण्ड से बचाना बच्चे को बिगाड़ना है। यही बात मन पर भी लागू होती है। मन बच्चे से भी अधिक बुरा है। आपको प्रत्येक गम्भीर भूल के लिए मन को व्रत (उपवास) आदि के द्वारा दण्डित करना होगा। महात्मा गान्धी ऐसा ही किया करते थे; अतः वे शुद्ध हो गये। उन्होंने अपनी इच्छा-शक्ति को शुद्ध, बलवान् और अप्रतिरोध्य बना लिया था। अपने अङ्गों को उनके उपयुक्त स्थानों पर रखें। इन्हें इञ्च-भर भी मत हिलने दें। अभ्यास से चित्त को एकाग्र बनायें।

(४६) यदि आप अपने दोषों पर सावधानी से दृष्टि रखें तथा यदि आपमें हार्दिक भाव हैं और यदि आप सङ्घर्ष करें, तो ये दोष कभी-न-कभी नष्ट हो जायेंगे। मलिनताओं को एक-एक करके, थोड़ा-थोड़ा करके पूर्णतया नष्ट कर दें।

(४७) मुँह के द्वारा जल पी कर पेट और छोटी आँतों में ले जायें और फिर इसे तुरन्त एनीमे की भाँति मल-द्वार से बाहर निकाल दें। हठयोग में इसे शंखप्रक्षालन-क्रिया कहते हैं। मल-द्वार के द्वारा सिगरेट का धुआँ तक बाहर निकाला जा सकता है। किष्किन्धा के ब्रह्मचारी शम्भुनाथ जी इसे करते थे। वाराणसी के योगी त्रिलिङ्ग स्वामी शंखप्रक्षालन में अति-दक्ष थे। शंखप्रक्षालन में नौलि और बस्ति क्रियाओं की सहायता अपेक्षित है। हार्दिक भावना से अभ्यास करने वालों के लिए योग-मार्ग में कठिनाई बिलकुल नहीं है।

(४८) मुंह या नासिका द्वारा एक लीटर पानी पी लें और उसे २० सेकण्ड तक रोके रखें। फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। यह कुञ्जर-क्रिया या कुञ्जर-योग कहलाता है। यह आमाशय को साफ करने की प्रक्रिया है। यह पेट के लिए निर्मूल्य मृदु विरेचक का काम करती है। पेट में जितनी विकृत सामग्री सड़ रही होगी, वह निकल जायेगा। आपको फिर पेट का कोई रोग नहीं होगा। इसे कभी-कभी करें। इसे आदत मत बनायें। यह एक हठयोग-क्रिया है।

(४९) लोग निःस्वार्थ सेवा द्वारा मल तथा उपासना द्वारा विक्षेप दूर नहीं करना चाहते, वे तुरन्त कुण्डलिनी को जाग्रत करने तथा ब्रह्माकार-वृत्ति को विकसित करने को कूद पड़ते हैं। इससे वे अपनी टाँगें तोड़ बैठते हैं। सेवा और उपासना करें, पुरुषार्थ करें; फिर ज्ञान या मोक्ष स्वतः ही प्राप्त हो जायेगा, कुण्डलिनी स्वयं ही जाग्रत हो जायेगी।

(५०) व्यक्ति एक-साथ १३ घण्टे बिना हिले-डुले एक आसन में बैठ सकता है, फिर भी वह कामनाओं से परिपूर्ण हो सकता है। यह सरकस के करतब या नट की कलाबाजी की भाँति एक शारीरिक व्यायाम है। कोई मनुष्य बिना नेत्र बन्द किये, बिना पुतली फेरे, बिना पलक झपकाये तीन घण्टे तक त्राटक कर लेता है; फिर भी वह इच्छाओं एवं अहंभाव से पूर्ण रहता है। यह भी एक दूसरे प्रकार का शारीरिक व्यायाम है। इसका आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार का अभ्यास करने वालों को जो देखते हैं वे धोखे में आ जाते हैं। चालीस दिन तक उपवास करना भी भौतिक शरीर का एक अन्य प्रकार का प्रशिक्षण है।

(५१) युवावस्था में ही आध्यात्मिकता का बीज बोयें। अपने वीर्य को नष्ट

मत करें। इन्द्रिय और मन को अनुशासित करें। साधना करें। चित्त एकाग्र करें, अपने-आपको शुद्ध करें, ध्यान करें, सेवा करें, प्रेम करें, सबके साथ करुणा-भाव रखें और आत्मसाक्षात्कार करें। वृद्ध होने पर आप चिन्ता और मृत्यु के भय से मुक्त रहेंगे। वृद्धावस्था में किसी तरह की कठोर साधना करना बड़ा कठिन है; अतएव किशोरावस्था में ही सचेत हो जायें।

(५२) सांसारिक मामलों के विषय में अधिक सोच-विचार मत करें। कर्तव्य-पालन के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही सोचें। अपना कर्तव्य करें और शेष ईश्वर पर छोड़ दें।

(५३) थोड़े ही समय में आप विशेष प्रकार की साधना से विशिष्ट लाभ प्राप्त होता अनुभव करेंगे।

(५४) जप और ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व आसनों का अभ्यास अति-सुन्दर और सहायक होता है। इससे शरीर एवं मन का आलस्य और तन्द्रापन दूर होता है। यह मन को स्थिर कर, उसमें नयी शक्ति और शान्ति प्रदान करता है।

(५५) केवल नौलि और उड्डीयान आपको मोक्ष नहीं दे सकते। ये केवल स्वास्थ्य को सुन्दर रखने के साधन मात्र हैं। इन्हें ही अपना परम लक्ष्य मत समझ बैठें। जीवन का परमार्थ आत्मसाक्षात्कार है। चित्त को शुद्ध करें, धारणा और ध्यान करें।

(५६) आपके अन्दर ज्ञान के लिए तथा योगी अथवा ज्ञानी होने के लिए समस्त उपादान हैं। अभ्यास करें। आत्म-विकास करें, अपना अधिकार बतायें और आत्मसाक्षात्कार करें।

(५७) यदि कोई व्यक्ति जीवन में उन्नति करना चाहता है, तो उसे जूआ, मद्यपान, अत्यधिक निद्रा, आलस्य, क्रोध, अकर्मण्यता और दीर्घसूत्रता छोड़ देने चाहिए।

(५८) जब आपका आध्यात्मिक अभ्यास बहुत आगे बढ़ जाये, तब आपको २४ घण्टे के लिए लगातार कठोरता से मौन-व्रत का पालन करना चाहिए। यह कुछ महीनों तक चालू रहना चाहिए।

(५९) खान-पान, निद्रा और अन्य सभी बातों में संयम करें। मध्यम मार्ग अपनाना सदैव अच्छा एवं सुरक्षित रहता है। स्वर्णिम मध्यम मार्ग का पालन करें, तब आप शीघ्र ही योगी बन सकेंगे।

(६०) सदाचार, सद्विचार और सत्सङ्ग योगाभ्यास-काल में आवश्यक हैं।

(६१) सभी प्रकार के अम्ल, तीव्र और तीक्ष्ण भोजन छोड़ने, दूध और रस पीने में आनन्द लेने, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने, भोजन में मिताहार बरतने और योग में सदा प्रवृत्त रहने से योगी वर्ष-भर से कुछ ही अधिक समय में सिद्ध हो जाता है।

(६२) आसन और प्राणायाम के अभ्यास-काल में सात्त्विक भोजन करना आवश्यक है। दूध, घी, मीठा दही, फल, बादाम, मलाई आदि का सेवन करें। लहसुन, प्याज, मांस, मछली, धूमपान, मादक पेय और खट्टी तथा चरपरी चीजें छोड़ दें। अत्यधिक नहीं खाना चाहिए। मिताहारी बनें। भोजन नियमित और समयानुसार करने का अभ्यास डालें। योगी के लिए हर समय हर प्रकार की चीजें खाना अत्यधिक हानिकर है।

(६३) आपको अपने भोजन के लिए कुछ चुनी हुई वस्तुओं; जैसे दाल, घी, गेहूँ का आटा, आलू या दूध तथा फलों; का ही सेवन करना चाहिए।

(६४) भोजन में नियम रखना चाहिए। जिह्वा पर नियन्त्रण का अर्थ है मन पर नियन्त्रण रखना। आपको अपनी जिह्वा को अनियन्त्रित नहीं होने देना चाहिए।

(६५) ब्रह्मचर्य-पालन अत्यावश्यक है। आपका भोजन सात्त्विक होना चाहिए। आपको मिर्च, इमली, गर्म कढ़ी, चटनी आदि के सेवन से बचना चाहिए।

(६६) ब्रह्मचर्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कुविचार व्यभिचार का आरम्भ है। मन में काम का विचार तक नहीं आना चाहिए। यम, नियम, विवेक और वैराग्य के बिना आप योग-मार्ग में कुछ भी नहीं कर सकते। आप आस्था, विश्वास, रुचि और अवधान को बनाये रखें। निःसन्देह आपको सफलता मिलेगी।

(६७) कामिनी-कञ्चन से छुटकारा पाये बिना तथा मानसिक ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा में प्रतिष्ठित हुए बिना आप कभी भी भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकते।

(६८) एक धार्मिक पति और सांसारिक वृत्ति वाली पत्नी सदा परस्पर विपरीत दिशाओं में चलते हैं। वे सुखी परिवार का आनन्द नहीं ले सकते। इसमें यदि पति ऊपर चढ़ता है, तो पत्नी उसे नीचे गिरा देती है। उनमें एक प्रकार से सदा रस्साकशी-सी चलती रहती है। इससे योग के मार्ग में प्रगति के लिए कोई सम्भावना नहीं रहती।

(६९) जो पुत्र, पत्नी, भूमि और धन में आसक्त है, वह कण-भर भी लाभ

नहीं उठा सकता। व्यर्थ ही में अपना अमूल्य जीवन और शक्ति नष्ट कर रहा है। जो अनन्त साधना में रत हैं, वे धर्मपरायण मानव हैं।

(७०) मनुष्य सोचता है कि पत्नी के बिना वह अपूर्ण है। विवाह के बाद वह फिर सोचने लगता है कि जब तक एक पुत्र तथा एक पुत्री न हो, वह अपूर्ण ही है। चाहे भौतिक रूप से मनुष्य को कितनी ही उपलब्धियां क्यों न हो, जायें, उसे सदा कुछ-न-कुछ अभाव तथा असन्तोष का अनुभव होता रहेगा। यह सार्वजनीन अनुभव है।

(७१) अतएव हम ऐसी वस्तु प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों न करें, जो अधिक सन्तोष प्रदान करने वाली और सतत रहने वाली हो? या फिर शारीरिक प्रकृति की माँगों को पूरा करते हुए दासता और बन्धन के जीवन यापन से सन्तुष्ट होते रहें! प्रत्येक विवेकशील मनुष्य के हृदय में अन्ततोगत्वा यह प्रश्न अवश्य उठेगा। प्रत्येक को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए। समस्त धर्मों का यह प्रारम्भिक बिन्दु है।

(७२) यदि आपमें वैराग्य की भावना प्रबल हो जाये, यदि आप अपनी इन्द्रियों, इन्द्रिय-सुखों और संसार के विषय-भोगों को विष्ठा तथा विष समझ कर दवा दें (क्योंकि उनमें कष्ट, पाप, भय, इच्छा, दुःख, रोग, बुढ़ापा और मृत्यु मिश्रित हैं), तो आपको इस दुनिया में कोई वस्तु आकर्षित नहीं कर सकती। तब आपको शाश्वत शान्ति और अनन्त सुख प्राप्त होंगे। आपको स्त्री और संसार के अन्य पदार्थों में कोई आकर्षण नहीं रहेगा। काम-वासना आपको छू नहीं सकेगी।

(७३) काम-वासना इस पृथ्वी पर सबसे बड़ा शत्रु है। यह मनुष्य को निगल जाती है। सम्भोग के पश्चात् भारी अवसाद अनुभव होता है। अपनी पत्नी को प्रसन्न करने और उसकी आवश्यकताओं एवं विलास-वस्तुओ की पूर्ति हेतु धनोपार्जन के लिए आपको बहुत परिश्रम करना पड़ता है। धनोपार्जन करने में आप कई प्रकार के पाप करते हैं। आपको पत्नी के दुःख, सन्ताप और चिन्ताओं में भागीदार बनना पड़ता है। वीर्य का अधिक पतन होने से आपको अनेक प्रकार के रोग हो जायेंगे। आपको अवसाद, दुर्बलता और प्राण-शक्ति का ह्रास अनुभव होने लगेगा। आपकी अकाल-मृत्यु होगी। आप दीर्घायु को देख ही नहीं पायेंगे। इसलिए आप अखण्ड ब्रह्मचारी बनें।

(७४) यदि ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए एक प्रकार की साधना सहायक न हो, तो आप विभिन्न साधनाओं की सम्मिलित पद्धति जैसे प्रार्थना,

ध्यान, प्राणायाम, सत्सङ्ग, सात्त्विक भोजन, एकान्तवास, शुद्ध विचार, आसन, बन्ध, मुद्रा इत्यादि का आश्रय लें। तब कहीं आप ब्रह्मचर्य में स्थित हो सकेंगे।

(७५) सड़क पर चलते समय बन्दर की भाँति इधर-उधर मत देखें। अपने पैर के अँगूठे के अग्रभाग को देखते हुए शान्तिपूर्वक चलें अथवा भूमि को देखते हुए चलें, इससे ब्रह्मचर्यपालन में अत्यन्त सहयोग मिलेगा।

(७६) चित्त-वृत्तियों तथा मनोविकारों का पूर्ण रूप से दमन या नियन्त्रण ही योग है।

(७७) 'योग' शब्द अपने गौण अर्थ में योग के उन अङ्गों और विविध क्रियाओं को भी सूचित करता है जो योग को सङ्घटित करती हैं, क्योंकि योग की पूर्णता के लिए ये साधन हैं और परोक्ष रूप से मुक्ति की ओर अग्रसर करते हैं। जप, प्रार्थना, प्राणायाम, सत्सङ्ग और स्वाध्याय—ये सब योग हैं। ये गौण हैं।

(७८) आसन और प्राणायाम सब प्रकार के रोगों को दूर करके स्वास्थ्य में सुधार करते हैं, पाचन-शक्ति को बढ़ाते हैं, नाड़ियों को पुष्टि प्रदान करते हैं, सुषुम्ना नाड़ी को सीधी करते हैं और रजोगुण को दूर करके कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं। आसन-प्राणायाम के अभ्यास से स्वास्थ्य सुन्दर बनता और चित्त स्थिर होता है। जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के बिना कोई साधना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार स्थिर चित्त के बिना कोई ध्यान सम्भव नहीं है। ध्यानयोगी, कर्मयोगी, भक्त और वेदान्ती—सभी के लिए हठयोग अत्यधिक उपयोगी है।

(७९) योगी प्रकृति की सारी शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है और उनका इच्छानुसार उपयोग कर सकता है। उसे पञ्चतत्त्वों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है।

आसनों का उपयोग

प्रयोजन	आसन
१. ध्यान और स्वाध्याय	पद्मासन, सिद्धासन अथवा सुखासन
२. कामवासना का उदात्तीकरण, उपदंश, शुक्रपात, दन्तपूय, सूजाक, वन्ध्यता, कुण्डलिनी-जागरण, स्मरणशक्ति का ह्रास, मधुमेह, यक्ष्मा, दमा, वृक्क-शूल, सन्धिवात, कान, नाक, नेत्र के रोग आदि	सिद्धासन, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन अथवा अर्ध मत्स्येन्द्रासन
३. अनार्तव, कष्टार्तव, श्वेतप्रदर, गर्भाशय तथा अण्डाशय-सम्बन्धी रोग	सर्वाङ्गासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन और भुजङ्गासन (गर्भावस्था में ये आसन वर्जित हैं)
४. जीर्णश्वासनलीशोथ	मत्स्यासन तथा शलभासन
५. पाचन	सर्वाङ्गासन, वज्रासन, पश्चिमोत्तानासन और बद्धपद्मासन
६. प्लीहा तथा यकृत-अपवृद्धि	सर्वाङ्गासन, हलासन, मयूरासन और बद्धपद्मासन
७. जीर्णमलावरोध	हलासन, मयूरासन, धनुरासन, मत्स्यासन और पादहस्तासन

प्रयोजन	आसन
८. जलवृषण, श्लीपद, टाँगों और हाथों का छोटा होना	गरुड़ासन, त्रिकोणासन और उत्कटासन
९. अर्श	सिद्धासन, पश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन, गोमुखासन और महामुद्रा
१०. आमातिसार तथा रक्तातिसार	बद्धपद्मासन और कुक्कुटासन
११. पेशीशूल और सन्धिवात	वृश्चिकासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वाङ्गासन आदि
१२. कुष्ठरोग	शीर्षासन और महामुद्रा
१३. विश्राम	शवासन
१४. सर्वरोगनिवारक और दीर्घायुप्रदायक	पद्मासन, शीर्षासन, सर्वाङ्गासन तथा पश्चिमोत्तानासन

नोटः— यदि आप किन्हीं पुराने रोगों से ग्रसित हों तो आपको आसनों के साथ मुद्रा, प्राणायाम और जप भी संयुक्त करने होंगे। यदि इनमें से कोई विशेष विषय आपकी प्रकृति को उपयुक्त न हो तो आप अपने आध्यात्मिक गुरु से परामर्श करें। आपको सच्चाईपूर्वक धैर्य से दीर्घकाल तक इनका अभ्यास करना होगा।

पञ्चम अध्याय

महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ और बन्ध

मुद्रा और बन्ध के अनेक प्रकार हैं—जैसे महामुद्रा, महावेध, नभोमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा, काकीमुद्रा, भुजङ्गिनीमुद्रा; और योगमुद्रा तथा महाबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड्डीयानबन्ध और मूलबन्ध।

इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं एवं बन्धों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इनमें से आपको जो उपयोगी लगे, उसे चुन कर नियमित रूप से अभ्यास कीजिए। इनसे खाँसी, श्वास का रोग, प्लीहा तथा यकृत की अपवृद्धि, कामवासना की उत्तेजना, रतिजरोग, यक्ष्मा, जीर्णमलावरोध, कुष्ठरोग एवं सभी असाध्य रोग भी दूर हो जाते हैं। इन मुद्राओं और बन्धों से मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है; क्योंकि—

"नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् संसिद्धये क्षितिमण्डले।"

अर्थात् पृथ्वी पर मुद्राओं के समान सिद्धि दिलाने वाला और कुछ भी नहीं है।

१. महामुद्रा

बाँयीं एड़ी से गुदा को सावधानीपूर्वक दबायें। दायीं टाँग को आगे फैला लें। दोनों हाथों से पैर के अँगूठे को पकड़ लें। श्वास ले कर उसे रोकें (कुम्भक)। ठोड़ी को सीने पर दृढ़ता से दबायें (जालन्धरबन्ध)। दृष्टि को त्रिकुटी पर जमायें (अर्थात् भ्रूमध्यदृष्टि)। जितनी देर हो सके, इस मुद्रा को टिकाये रखें। पहले बायीं टाँग से और फिर दायीं टाँग से अभ्यास करें। इससे यक्ष्मा, अर्श अथवा बवासीर, प्लीहा की अपवृद्धि, अपच, गुल्म, कुष्ठ, मलावरोध, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं तथा आयु बढ़ती है। यह मुद्रा अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को करने पर प्रायः जानुशीर्षासन-जैसी आकृति बन जाती है।

२. योगमुद्रा

पद्मासन में बैठ कर हथेलियों को एड़ियों पर रखें। धीर-धीरे श्वास बाहर

निकालें तथा आगे को झुकें और मस्तक से भूमि को स्पर्श करें। यदि आप इस मुद्रा को देर तक टिकाये रखते हैं, तो सामान्य रूप से श्वास ले और निकाल सकते हैं अथवा आप पूर्वावस्था में आ कर पुनः श्वास ले सकते हैं। हाथों को एड़ियों पर रखने के स्थान में उन्हें पीठ की ओर ले जा सकते हैं। अपनी बायीं कलाई को दायें हाथ से पकड़ें। इस मुद्रा से समस्त प्रकार के उदर-रोग दूर होते हैं।

३. खेचरीमुद्रा

'खे' का अर्थ है 'आकाश में' और 'चर' का अर्थ है 'चलना'। योगी आकाश में चलता है; इसलिए इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा को केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपना प्रारम्भिक अभ्यास ऐसे गुरु के साक्षात् मार्गदर्शन में किया हो जो स्वयं खेचरीमुद्रा करते हों। इस मुद्रा का प्रारम्भिक अंश जिह्वा को इतनी लम्बी बनाना है कि उसका अग्रभाग भृकुटि के मध्य वाले स्थान को स्पर्श कर सके। प्रति सप्ताह गुरु जिह्वा के नीचे के तन्तु को थोड़ा-थोड़ा करके स्वच्छ तथा तीक्ष्ण धार वाले यन्त्र (छुरी) से काटता रहेगा। नमक और हल्दी-चूर्ण लगाने से कटे हुए तन्तु फिर से नहीं जुड़ते। जिह्वा को ताजा मक्खन लगा कर बाहर खींचें। उँगलियों से जिह्वा को पकड़ कर इधर-उधर घुमायें। जिह्वा के दोहन का अर्थ है उसे पकड़ कर इस प्रकार खींचना जिस प्रकार गाय का दूध निकालते समय उसके थनों को पकड़ कर दूध निकाला जाता है।

जिह्वा के नीचे वाले तन्तु को नियमित रूप से सप्ताह में एक बार काटना चाहिए। यह कार्य ६ माह से ले कर २ वर्ष तक किया जाना चाहिए। इन सब विधियों से आप जिह्वा को इतनी लम्बी कर सकते हैं कि वह मस्तक को स्पर्श कर लेगी। खेचरीमुद्रा का यह प्रारम्भिक अंश है।

इसके पश्चात् सिद्धासन में बैठ कर जिह्वा को ऊपर और पीछे की ओर इस प्रकार मोड़ें कि वह तालु को स्पर्श कर ले और जिह्वा से नाक के पश्च-द्वार को बन्द कर दें। आप अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर करें। श्वासोच्छ्वास रुक जायेगा। जिह्वा अमृत-कूप के मुँह पर है। यह खेचरीमुद्रा है।

इस मुद्रा के अभ्यास से योगी मूर्च्छा, क्षुधा, पिपासा और आलस्य से मुक्त हो जाता है। वह रोग, क्षीणता, वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। इस मुद्रा से व्यक्ति ऊर्ध्वरेता योगी बनता है। चूँकि योगी का शरीर अमृत से पूर्ण हो

जाता है; अतः वह घातक विष से भी नहीं मरता। यह मुद्रा योगियों को कायसिद्धि प्रदान करती है। खेचरी सर्वश्रेष्ठ मुद्रा है।

४. वज्रोलीमुद्रा

यह हठयोग में एक महत्त्वपूर्ण यौगिक क्रिया है। इस क्रिया में पूर्ण सफल होने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। इस क्रिया में बहुत कम साधक दक्ष होते हैं। योग के विद्यार्थी विशेष प्रकार की बनवायी हुई १२ इञ्च लम्बी चाँदी की एक नली को मूत्र-मार्ग में प्रवेश करा कर इसके द्वारा पहले पानी और फिर दूध, तेल, मधु आदि खींचते हैं। अन्त में वे पारा खींचते हैं। कुछ समय बाद वे बिना नली के सहारे मूत्र-मार्ग द्वारा इन तरल पदार्थों को खींच लेते हैं। ब्रह्मचर्य में सुस्थित होने के लिए यह क्रिया अत्युपयोगी है। प्रथम दिन मूत्र-मार्ग में केवल १ इञ्च नली ही प्रवेश करायें, दूसरे दिन २ इञ्च, तीसरे दिन ३ इञ्च; इसी प्रकार इसे बढ़ाते जायें। जब तक १२ इञ्च नली भीतर प्रवेश न कर ले, तब तक क्रमशः अभ्यास करते रहें।

राजा भर्तृहरि इस क्रिया को बहुत दक्षता से कर लेते थे। इस मुद्रा को करने वाले योगी का एक बूँद वीर्य भी बाहर नहीं निकल सकता और यदि निकल भी जाये तो वह इस मुद्रा द्वारा उसे वापस ऊपर खींच सकता है। जो योगी वीर्य को ऊपर खींच कर सुरक्षित रख सकता है, वह मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। उसके शरीर से सुगन्ध निकलती है। भगवान् कृष्ण इस मुद्रा में बड़े कुशल थे; इसलिए अनेक गोपियों के मध्य रहते हुए भी वे नित्य-ब्रह्मचारी कहलाते थे।

५. विपरीतकरणीमुद्रा

भूमि पर लेट कर टाँगों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथों से सहारा दें। कोहनियाँ भूमि पर टेक लें। स्थिर बने रहें। नाभि के मूल में सूर्य का और तालु-मूल में चन्द्रमा का निवास है। जिस प्रक्रिया से सूर्य को ऊपर की ओर तथा चन्द्रमा को नीचे की ओर ले जाया जाता है, वह विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति को पलट दिया जाता है। प्रथम दिन इसे एक मिनट तक करें। धीरे-धीरे इसे तीन घण्टे तक बढ़ा दें। छः महीने में आपके चेहरे की झुर्रियाँ और श्वेत बाल लुप्त हो जायेंगे। जो योगी इसे प्रतिदिन तीन घण्टे तक करते हैं, वे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अतः जो लोग इस मुद्रा का अभ्यास देर तक करते हैं, उन्हें इस

क्रिया की समाप्ति पर अल्पाहार—जैसे दूध आदि—ले लेना चाहिए। शीर्षासन की मुद्रा भी विपरीतकरणीमुद्रा कहलाती है।

६. शक्तिचालनमुद्रा

एकान्त कमरे में सिद्धासन में बैठें। बलपूर्वक श्वास को अन्दर खींच कर उसे अपान के साथ जोड़ें। वायु के सुषुम्ना में प्रवेश करने तक मूलबन्ध लगायें। वायु को रोकने से कुण्डलिनी का दम घुटने के कारण वह जाग्रत हो जाती है और सुषुम्ना में हो कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। इस मुद्रा के अभ्यास से व्यक्ति सिद्ध बन जाता है।

सिद्धासन में बैठें। गुल्फ के पास से पैर को पकड़ कर धीरे-धीरे पैर से कन्द को पीड़ित करें। यह ताड़न-क्रिया है। इस पद्धति से भी कुण्डलिनी जाग्रत की जा सकती है।

७. महावेध

अन्यत्र वर्णन किये अनुसार महाबन्धमुद्रा में बैठें। धीरे-धीरे श्वास खींच कर उसे रोकें और ठोड़ी को सीने पर दबायें (जालन्धर-बन्ध)। हथेलियों को भूमि पर रखें। शरीर को हथेलियों पर टिका दें। नितम्बों को धीरे-धीरे उठा कर हलके से भूमि पर पटक दें। नितम्बों को ऊपर उठाते समय आसन अक्षत तथा दृढ़ होना चाहिए। यह क्रिया जरा तथा मृत्यु का उच्छेदन करती है। योगी मन पर नियन्त्रण तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

८. महाबन्ध

बायीं एड़ी से गुदा को दबायें तथा दायाँ पैर बायीं जङ्घा पर रखें। गुदा एवं योनि या मूलाधार की पेशियों को शिकोड़ें। अपान-वायु को ऊपर की ओर खींचें। धीरे-धीरे श्वास को खींच कर जालन्धर-बन्ध द्वारा उसे यथाशक्ति रोकें। फिर धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाल दें। मन को सुषुम्ना पर स्थिर करें। प्रथम बायीं ओर से और फिर दायीं ओर से अभ्यास करें। सामान्यतया योगी लोग महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध साथ-साथ करते हैं। इन तीनों का एक अच्छा सङ्घटन बनता है। ऐसा करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। योगी आप्तकाम हो जाता है तथा सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

९. मूलबन्ध

बायीं एड़ी से योनि को दबायें। गुदा को सिकोड़ें। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे अपान-वायु को बलपूर्वक खींचें। दायीं एड़ी को जननेन्द्रिय पर रखें। इसे मूलबन्ध कहते हैं जो जरा और मृत्यु का विनाशक है।

प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि अथवा पूर्णता बन्धों की सहायता से प्राप्त होती है। इस मूलबन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है, धातु पुष्ट होती है, मलावरोध दूर होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूलबन्ध का अभ्यास करने वाला योगी सदा युवा बना रहता है। उसके बाल सफेद नहीं होते।

अपान-वायु जो मल को बाहर निकालने का कार्य करती है, स्वभावतः नीचे की ओर जाती है। मूलबन्ध के अभ्यास से गुदा को सिकोड़ने और अपान-वायु को बलपूर्वक ऊपर की ओर खींचने से वह ऊपर की ओर सञ्चारित होने लगती है। प्राण-वायु का अपान-वायु से संयोग होता है और वह संयुक्त प्राण-अपान-वायु सुषुम्ना-नाड़ी अथवा ब्रह्म-नाड़ी में प्रवेश कर जाती है। तब योगी योग में पूर्णता प्राप्त करता है। यह योग का एक रहस्य है। तब योगी इस संसार के लिए मर जाता है। वह अमृतसुधा का पान करता है। वह सहस्रार में शिवपद का आनन्द-लाभ करता है। उसे समस्त दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

जब अपान-वायु प्राण-वायु से मिलती है, तब योगी को अनाहतनाद अथवा विभिन्न प्रकार के अन्तर्नाद सुस्पष्ट रूप से सुनायी पड़ते हैं; क्योंकि अब बाहरी संसार के शब्द उसे नहीं सुनायी देते हैं। उसे गम्भीर एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। प्राण, अपान, नाद और बिन्दु मिल जाते हैं। योगी योग में पूर्णता प्राप्त कर लेता है।

१०. जालन्धरबन्ध

गले को सिकोड़ें। ठोड़ी को दृढ़ता से सीने पर दबायें। यह बन्ध पूरक के अन्त में और कुम्भक के आरम्भ में किया जाता है। इस बन्ध के अभ्यास से प्राण-वायु सही मार्ग में होती है। वह अपान-वायु से मिल जाती है। इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। नाभि-चक्र में स्थित जठराग्नि उस अमृत को भस्म करती है जो तालु-रन्ध्र द्वारा सहस्रार से टपकता रहता है। इस अमृत को

इस प्रकार नष्ट होने से बचाने के लिए योग के विद्यार्थी को इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। योगी अमृत-पान करके अमरता प्राप्त करता है।

११. उड्डीयानबन्ध

बलपूर्वक जोर से श्वास को बाहर निकाल कर फेफड़ों को खाली कर लें। फिर आँतों और नाभि को सिकोड़ लें और उन्हें बलपूर्वक पीठ की ओर अन्दर खींचें जिससे उदर ऊपर उठ कर शरीर के पीछे की ओर वक्षीय गुहा (Thoracic cavity) में चला जाये। इस बन्ध का निरन्तर अभ्यास करने वाला साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त करता तथा सदा युवा बना रहता है। इससे ब्रह्मचर्य धारण करने में अधिक सहायता प्राप्त होती है। सभी बन्ध कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं। उड्डीयानबन्ध का अभ्यास कुम्भक के अन्त में और रेचक के आरम्भ में किया जाता है। जब आप इस बन्ध का अभ्यास करते हैं तो उरःप्राचीर (जो कि वक्षीय गुहा एवं उदर के मध्य मांसपेशी का एक भाग होता है) ऊपर उठ जाता है और पेट की दीवार पीछे चली जाती है। उड्डीयान करते समय अपने धड़ को आगे की ओर झुकायें। उड्डीयान बैठे हुए और खड़े हुए दोनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़े हो कर करते समय हाथों को घुटनों या घुटनों से थोड़ा ऊपर रखें। टाँगों को थोड़ा दूर-दूर रखें।

उड्डीयान मानव के लिए वरदान है। अभ्यास करने वाले को यह सुन्दर स्वास्थ्य, शक्ति, ओज और जीवन-शक्ति प्रदान करता है। नौलि-क्रिया को, जो पेट के मल को मथ डालती है, इसके साथ मिला देने से यह एक शक्तिशाली जठरान्त्रीय बलकारक औषधि (Gastro-intestinal Tonic) का काम करता है। मलावरोध, आँतों के क्रमाकुञ्चन की दुर्बलता तथा आहार-तन्त्र के जठरान्त्र-विकार से सङ्घर्ष करने के लिए योगी के पास ये दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। इन दो यौगिक व्यायामों से ही आप उदर के आन्तराङ्गों की मालिश तथा पुष्ट करने का काम ले सकते हैं।

जो नौलि का अभ्यास करना चाहें, उन्हें आरम्भ में उड्डीयान करना चाहिए। उड्डीयान पेट की वसा को कम करता है। पेट के व्यायामों में उड्डीयान और नौलि की बराबरी का कोई अन्य व्यायाम नहीं है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में सम्पूर्ण भौतिक व्यायाम-पद्धतियों में ये दोनों व्यायाम अनुपम, अद्वितीय और अभूतपूर्व हैं।

१२. योनिमुद्रा

सिद्धासन में बैठ जायें। दोनों अँगूठों से कान को, तर्जनियों से आँखों को, मध्यमा से नासा-रन्ध्रों को, अनामिका से ऊपर के ओष्ठ को तथा कनिष्ठिका से अधरोष्ठ को बन्ध करें। जप करने के लिए यह सुन्दर मुद्रा है। बड़ी गहराई में चले जायें और षट्-चक्रों और कुण्डलिनी पर ध्यान लगायें। अन्य मुद्राओं की भाँति यह सबके लिए बिलकुल सरल नहीं है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आपको प्रचुर श्रम करना पड़ेगा। यदि आप इस मुद्रा में निश्चयपूर्वक सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो आपको पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा। इसमें सफलता प्राप्त करना **'देवानामपि दुर्लभा'**—देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अतः इस मुद्रा की महत्ता को अनुभव करें। इसका अभ्यास बड़ी सावधानीपूर्वक करें।

षष्ठ अध्याय

प्राणायाम-विज्ञान*

कुम्भक आठ प्रकार के हैं :

(१) सूर्यभेद	(५) भस्त्रिका
(२) उज्जायी	(६) भ्रामरी
(३) सीत्कारी	(७) मूर्च्छा
(४) शीतली	(८) प्लावनी

कुछ पुस्तकों में प्लावनी-प्राणायाम को आठवाँ कुम्भक कहा गया है। कुछ में केवल-कुम्भक को आठवाँ प्रकार कहा गया है। यद्यपि कपालभाति षट्-कर्म से सम्बन्धित है, फिर भी मैंने इसका वर्णन यहाँ किया है; क्योंकि यह प्राणायाम-व्यायाम का ही एक भेद है।

प्राण वह वायु है, जो शरीर में सञ्चालित होता है और जब इसे शरीर के भीतर रोक लिया जाता है, तो यह कुम्भक कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—'सहित' और 'केवल'। कोई भी व्यक्ति हठयोग के बिना राजयोग में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। कुम्भक के अन्त में आपको अपने मन को सभी विषयों से हटा लेना चाहिए। धीरे-धीरे और निरन्तर अभ्यास से आप राजयोग में प्रतिष्ठित हो जायेंगे।

अभ्यास संख्या १

पद्मासन में बैठ जायें। अपने नेत्रों को बन्द कर लें और त्रिकुटी पर ध्यान जमायें। दायें नासिका-छिद्र को अपने दायें हाथ के अँगूठे से बन्द कर लें।

फिर धीरे-धीरे बायें नासिका-छिद्र से आरामपूर्वक जितनी देर श्वास अन्दर खींच सकते हैं, खींचें। श्वास अन्दर खींचते समय किसी प्रकार का शब्द न करें; फिर धीर-धीरे श्वास निकाल दें। अपने इष्टमन्त्र का मानसिक जप करते रहें। यह क्रिया बारह बार करें। इससे एक चक्र बनता है।

---

* विस्तृत एवं पूर्ण निर्देशों के लिए मेरी पुस्तक 'प्राणायाम-साधना' का अवलोकन करें।

फिर बायें नासिका-छिद्र को अपनी दायीं अनामिका और कनिष्ठिका से बन्द करके दायें नासिका-छिद्र से श्वास अन्दर लें। पहले की भाँति दायें नासिका-छिद्र से धीरे-धीरे श्वास खींचें और बायें नासिका-छिद्र को बन्द करके श्वास छोड़ें। इस प्रकार बारह बार करें।

अभ्यास के दूसरे सप्ताह में दो चक्र और तीसरे सप्ताह में तीन चक्र करें। एक चक्र पूरा होने पर पाँच मिनट तक विश्राम करें। एक चक्र के पूर्ण होने पर यदि आप सामान्य तौर पर कुछ श्वास लेते हैं, तो इससे भी आपको पर्याप्त विश्राम मिलेगा और दूसरा चक्र करने के लिए स्फूर्ति आयेगी। इसमें कुम्भक नहीं करना होता है।

अभ्यास संख्या २

आसन पर बैठें। दायें नासारन्ध्र को अपने दायें अँगूठे से बन्द करें। फिर धीरे-धीरे अपने बायें नासारन्ध्र से श्वास अन्दर खींचें। बायें नासारन्ध्र को अपनी दाहिनी अनामिका और कनिष्ठिका से बन्द करें और फिर दायाँ अँगूठा हटा कर दायाँ नासारन्ध्र खोल दें। इसके बाद दायें नासारन्ध्र से धीरे-धीरे श्वास निकाल दें।

अब दायें नासारन्ध्र से जितनी देर आरामपूर्वक आप धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींच सकते हैं, खींचें। फिर बायें नासारन्ध्र से दायीं अनामिका एवं कनिष्ठिका को हटा कर श्वास छोड़ दें। इस प्राणायाम में कुम्भक नहीं है। इसे बारह बार करें। इससे एक चक्र बनता है।

१. कपालभाति

इस प्राणायाम से साधक भस्त्रिका-प्राणायाम करने के लिए तैयार होता है। यह हठयोग में वर्णित षट्-क्रियाओं में से एक क्रिया है। जो लोग कपालभाति में दक्ष हैं, वे भस्त्रिका-प्राणायाम बड़ी सरलता से कर सकते हैं।

पद्मासन लगा कर बैठ जायें। हाथों को घुटनों पर रखें। फिर लोहार की धौंकनी की भाँति तीव्रता से पूरक और रेचक करें। यह कपालभाति कहलाता है। यह अभ्यास बहुत तेजी से करना चाहिए। इससे बहुत पसीना आयेगा। इस अभ्यास में कुम्भक नहीं है। इसमें रेचक की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसमें तीव्र अनुक्रम से एक प्रश्वास के पश्चात् दूसरा प्रश्वास निकलता है। यह शक्तिशाली

अभ्यास है। इसके अभ्यास से समस्त ऊतक, कोशाणु, स्नायु, कण्डरा तथा अणु प्रभावपूर्ण ढङ्ग से दोलायमान होते हैं।

प्रारम्भ में आप प्रति सेकण्ड एक प्रश्वास की गति रख सकते हैं। धीरे-धीरे गति बढ़ा कर आप प्रति सेकण्ड दो प्रश्वास निकाल सकते हैं। प्रारम्भ में प्रातःकाल कपालभाति का केवल एक चक्र करें, जिसमें केवल दश प्रश्वास होंगे। दूसरे सप्ताह में प्रातः एक चक्र और सायं एक चक्र करें। तीसरे सप्ताह में दो चक्र प्रातः और दो चक्र सायं करें। चौथे सप्ताह में तीन चक्र प्रातः और तीन चक्र सायं करें। एक चक्र पूरा होने पर कुछ सामान्य श्वास ले कर थोड़ा आराम कर लें। इससे आप बड़ी आसानी से विश्राम प्राप्त करेंगे। बाद में जब आपका अभ्यास पर्याप्त रूप से बढ़ जाये, तो प्रत्येक चक्र में १० प्रश्वास बढ़ाते-बढाते इतना कर लें कि प्रत्येक चक्र में १२० प्रश्वास हो जाये।

इसके अभ्यास से कपाल, श्वास-प्रणाली तथा नासा-मार्ग स्वच्छ हो जाते हैं। यह कफरोग को दूर करता है। यह श्वासनली की ऐंठन को दूर करता है जिसके फलस्वरूप दमा के रोगी को आराम मिलता है और रोग दूर हो जाता है। फेफड़ों के शीर्ष भाग को प्रचुर प्राणप्रद वायु (आक्सीजन) मिलती है। इससे क्षयरोगजनक कीटाणुओं को अनुकूल प्रजनन-स्थान नहीं मिल पाता। अतः इसके अभ्यास से क्षयरोग भी ठीक हो जाता है और फेफड़े पर्याप्त विकसित होते हैं। इससे विषैली वायु (कार्बन डाई आक्साइड) बहुत अधिक मात्रा में शरीर से निकल जाती है, रक्त शुद्ध हो जाता है, रक्त का मल शरीर से बाहर निकल जाता है और ऊतक एवं कोशाणु बड़ी मात्रा में प्राणप्रद वायु (आक्सीजन) अवशोषण करते हैं। हृदय ठीक-ठीक काम करने लगता है। इससे रक्तवह-तन्त्र; श्वसन-तन्त्र एवं पाचन-तन्त्र यथेष्ठ अंश तक पुष्ट हो जाते हैं।

२. सूर्यभेद

पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठ जायें। नेत्र बन्द कर लें। दायें हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका से बायाँ नासारन्ध्र बन्द कर लें। बिना शब्द किये श्वास को जितनी देर आराम से खींच सकें, दायें नासारन्ध्र से धीरे-धीरे अन्दर की ओर खींचें। फिर ठोड़ी को सीने पर दबा कर (जालन्धरबन्ध) श्वास को रोक लें (कुम्भक)। जब तक नाखूनों के सिरे से और बालों की जड़ों से पसीना न टपकने लगे, तब तक श्वास को रोके रखें। आरम्भ में इस स्थिति तक नहीं पहुँचा जा

सकता। आपको कुम्भक की अवधि धीरे-धीरे बढ़ानी पड़ेगी। यह सूर्यभेद के अभ्यासक्षेत्र की पराकाष्ठा है। अब दायाँ नासारन्ध्र अँगूठे से बन्द कर बहुत धीरे-धीरे किसी प्रकार का शब्द किये बिना बायें नासारन्ध्र से श्वास को बाहर निकाल दें। बलपूर्वक श्वास को ऊपर ले जा कर कपाल को शुद्ध करने के उपरान्त उसे निकाल दें। इससे आँतों के कीड़े नष्ट होते हैं और रोग दूर हो जाते हैं। यह वायु से उत्पन्न चार प्रकार के दोषों को दूर करता है। वात-रोग ठीक हो जाता है। इससे नासार्ति (Rhinitis), शीर्षार्ति (Cephalagia) तथा विविध प्रकार की तन्त्रिकार्तियाँ (Neuralgia) दूर होती हैं। इससे ललाट के शिरानालों में पाये जाने वाले कृमि भी नष्ट हो जाते हैं। यह जरा एवं मृत्यु को नष्ट करता तथा कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करता है।

३. उज्जायी

पद्मासन या सिद्धासन में बैठें। मुँह बन्द रखें। दोनों नासारन्ध्रों द्वारा हलका-हलका समरूप से धीरे-धीरे श्वास लें, जब तक कि गले से हृदय तक का स्थान श्वास आवाज करते हुए भर न दे। जितनी देर श्वास को आराम से रोक सकें, रोकें और फिर दायें नासारन्ध्र को दायें अँगूठे से बन्द करके धीरे-धीरे बायें नासारन्ध्र से श्वास छोड़ें। श्वास लेते समय सीने को फैलायें। कण्ठद्वार (Glottis) के आंशिक रूप से बन्द होने के कारण श्वास लेते समय एक विचित्र-सी ध्वनि निकलती है। श्वास खींचते समय उत्पन्न ध्वनि बहुत हलकी और एक-समान होनी चाहिए और यह अविच्छिन्न भी होनी चाहिए। इस कुम्भक का अभ्यास चलते समय अथवा खड़े रहते समय भी किया जा सकता है। बायें नासारन्ध्र से श्वास छोड़ने के बजाय, आप दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास निकाल सकते हैं।

इससे मस्तिष्क की गरमी दूर होती है, अभ्यास करने वाला अति-सुन्दर हो जाता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा दमा, क्षय-रोग और सब प्रकार की फुप्फुसीय (Pulmonary) बीमारियाँ दूर होती हैं। जरा और मृत्यु को नष्ट करने के लिए उज्जायी करें।

४. सीत्कारी

जिह्वा को इस प्रकार मोड़ें कि उसका अग्रभाग ऊपरी तालु को स्पर्श करे। फिर सी-सी-सी की ध्वनि करते हुए वायु को मुँह द्वारा अन्दर खींचें। तब घुटन अनुभव किये बिना, जितनी देर श्वास रोक सकें, रोकें और फिर धीरे-धीरे दोनों

नासारन्ध्रों द्वारा उसे निकाल दें। दाँतों की दोनों पंक्तियों को भींच लें और फिर पहले की भाँति मुँह के द्वारा श्वास लें। यह एक थोड़ा परिवर्तन है।

इस प्राणायाम के अभ्यास से साधक का सौन्दर्य बढ़ता है और शारीरिक स्फूर्ति बढ़ती है। इससे भूख, प्यास, सुस्ती और नींद का निवारण होता है। जब प्यास लगे तो इसका अभ्यास करें; आपकी प्यास तुरन्त शान्त हो जायेगी।

५. शीतली-प्राणायाम

जिह्वा को होठों से बाहर निकाल कर उसको नली की भाँति मोड़ लें। सी-सी की ध्वनि करते हुए मुँह से श्वास को अन्दर की ओर खींचें। जितनी देर आराम से श्वास को रोक सकें, रोकें। फिर धीरे-धीरे नासारन्ध्रों द्वारा श्वास को बाहर निकाल दें। नित्यप्रति प्रातः १५ से ३० मिनट तक इसका अभ्यास करें। आप यह प्राणायाम पद्मासन अथवा सिद्धासन में कर सकते हैं।

इस प्राणायाम से रक्त शुद्ध होता है, भूख और प्यास शान्त होती है और शरीर शीतल होता है। इससे गुल्म, प्लीहा, अनेक पुराने चर्म-रोग, ज्वर, यक्ष्मा, अजीर्ण, पित्त-दोष, कफ और अन्य रोग दूर होते हैं। रक्त-विकार ठीक हो जाता है। यदि आप कहीं जङ्गल में या अन्य किसी ऐसे स्थान पर हों, जहाँ जल न मिले और वहाँ प्यास लगे तो यह प्राणायाम कर लें, तुरन्त प्यास शान्त हो जायेगी। इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पर सर्प या बिच्छू के विष का प्रभाव नहीं होता।

६. भस्त्रिका-प्राणायाम

संस्कृत में भस्त्रिका का अर्थ भाथी है। भस्त्रिका की एक प्रमुख विशेषता है—तीव्र गति से बलपूर्वक निरन्तर श्वास निकालना। जिस प्रकार लोहार अपनी भाथी को तेजी से धौंकता है, उसी प्रकार आपको भी इस अभ्यास में अपने श्वास को तीव्र गति से चलाना चाहिए। पद्मासन में बैठ जायें। धड़, गरदन तथा शिर को तना हुआ रखें। हथेलियों को घुटनों पर या गोद में रखें। मुँह बन्द रखें। अब लोहार की भाथी के समान ५ से १० बार तीव्र गति से श्वास-प्रश्वास लें। निरन्तर फेफड़ों को फुलायें और पिचकायें। जब आप इस प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो सिसकार का शब्द होगा। अभ्यास करने वाले साधक को प्रारम्भ में तीव्र क्रम और तेज गति से एक के बाद दूसरा श्वास निकालना चाहिए। जब एक चक्र के लिए आवश्यक संख्या—यथा १०—पूरी हो जाये, तो अन्तिम चक्र के बाद एक

गहरा श्वास अन्दर लीजिए और आराम से जितनी देर तक श्वास को रोका जा सके, रोकिए। इस गम्भीर प्रश्वास से भस्त्रिका का एक चक्र पूरा होता है। एक चक्र पूरा होने पर कुछ सामान्य श्वास लेते हुए थोड़ा विश्राम कर लें। इससे आपको विश्राम मिलेगा और आप दूसरा चक्र आरम्भ कर सकने में सक्षम बन सकेंगे। नित्य प्रातः तीन चक्र करें। तीन चक्र सायङ्काल को भी कर सकते हैं। व्यस्त व्यक्ति, जिन्हें भस्त्रिका के तीन् चक्र नित्य-प्रति करना कठिन लगता हो, केवल एक चक्र कर सकते हैं।

यह भी साधक को स्वस्थ रखता है। भस्त्रिका एक शक्तिशाली व्यायाम का रूप है। कपालभाति और उज्जायी के संयुक्त रूप से भस्त्रिका होता है।

कुछ लोग थकान होने तक अभ्यास चालू रखते हैं। इसके अभ्यास से पसीना खूब आता है। यदि थोड़ा-सा भी चक्कर-सा आने लगे, तो अभ्यास रोक कर सामान्य श्वास लें और फिर चक्कर ठीक होने पर अभ्यास चालू कर दें। शीतकाल में प्रातः और सायं दोनों समय भस्त्रिका किया जा सकता है। ग्रीष्मकाल में इसे केवल प्रातःकाल ठण्ढे समय में ही करना चाहिए।

भस्त्रिका से गले की सूजन ठीक होती, जठराग्नि प्रदीप्त होती और कफ नष्ट होता है। यह नाक और सीने के रोगों को दूर करके दमा, यक्ष्मा आदि रोगों को समूल नष्ट करता है। यह क्षुधा को बढ़ाता है और ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि तथा रुद्र-ग्रन्थि—इन तीनों ग्रन्थियों को खोल देता है। सुषुम्ना अर्थात् ब्रह्म-नाड़ी के द्वार को बन्द रखने वाला कफ भी भस्त्रिका के अभ्यास से नष्ट हो जाता है। बात, पित्त और कफ़दोष-जन्य सभी रोग भस्त्रिका करने से दूर हो जाते हैं। यह शरीर को उष्णता प्रदान करता है। जब कभी किसी ठण्ढे प्रदेश में पहुँच जायें और वहाँ यदि शीत से रक्षा करने के लिए आपके पास गरम कपड़े कम हों, तो इस प्राणायाम का अभ्यास करें। शीघ्र ही आपके शरीर में पर्याप्त गरमी आ जायेगी। इसके अभ्यास से नाड़ियाँ पर्याप्त शुद्ध हो जाती हैं। यह सभी कुम्भकों में अत्यधिक लाभप्रद है। भस्त्रिका-कुम्भक का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि इसके अभ्यास से प्राण सुषुम्ना में दृढ़तापूर्वक स्थित उपर्युक्त तीनों ग्रन्थियों के भेदन में समर्थ बनता है। इससे कुण्डलिनी शीघ्र जाग जाती है। इसका अभ्यास करने वाला साधक सदा स्वस्थ रहता है।

अभ्यासकर्ता की शक्ति एवं क्षमता के अनुसार ही भस्त्रिका में निश्वास-संख्या या चक्र-संख्या निश्चित की जाती है। अभ्यास करने में आपको

अति नहीं बरतनी चाहिए। कुछ साधक ६ चक्र और कुछ १२ चक्र भी करते हैं। अभ्यास-काल में ॐ का भाव तथा अर्थ के साथ निरन्तर मानसिक जप करते रहना चाहिए। भस्त्रिका के कुछ ऐसे प्रकार हैं, जिनमें श्वास के लिए केवल एक ही नासारन्ध्र का उपयोग किया जाता है।

जो पूरे समय के साधक हैं और पूर्ण गम्भीरता से भस्त्रिका का अभ्यास करना चाहते हैं, उन्हें अभ्यास से पूर्व प्रातः वस्ति द्वारा पेट साफ कर लेना चाहिए। तभी उन्हें अभ्यास करना चाहिए और इसके बाद उन्हें केवल पर्याप्त घी-मिश्रित खिचड़ी का सेवन करना चाहिए।

७. भ्रामरी

पद्मासन या सिद्धासन में बैठ कर दोनों नासारन्ध्रों से तीव्र गति से इस प्रकार श्वास-प्रश्वास लें कि भ्रमर के गुञ्जन-जैसा शब्द हो।

जब तक आपका शरीर पसीने में तर न हो जाये, इस अभ्यास को चालू रखें। अन्त में दोनों नासारन्ध्रों से खूब गहरी श्वास लें और जितनी देर आराम से श्वास रोक सकते हों, रोकें। इसके बाद श्वास को दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे निकालें। इस कुम्भक को करने में साधक को जो आनन्द आता है, वह असीम और अवर्णनीय होता है। अभ्यास के आरम्भ में रक्त का सञ्चार बढ़ने से शरीर में गरमी बढ़ती है; किन्तु अन्त में शरीर की गरमी पसीना आने से कम हो जाती है। इस भ्रामरी-कुम्भक-प्राणायाम में सफलता प्राप्त कर योगी समाधि में सफल होता है।

८. मूर्च्छा

आसन लगा कर श्वास ग्रहण करें। श्वास को यथाशक्ति रोके रहें। ठोड़ी को सीने से सटा कर जालन्धरबन्ध करें। श्वास तब तक रोके रहें, जब तक कि मूर्च्छा आने-जैसी आशङ्का उत्पन्न होने लगे। जब मूर्च्छा आने लगे, तब धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल दें। यह मूर्च्छा-कुम्भक होता है; क्योंकि यह मस्तिष्क को संज्ञाहीन बना कर उसे आनन्द प्रदान करता है।

९. प्लावनी

इस प्राणायाम के अभ्यास में साधक की ओर से चतुराई बरतने की आवश्यकता है। जो प्लावनी-कुम्भक का अभ्यास कर सकता है, वह जलस्तम्भ

कर सकता है और किसी भी समय तक पानी पर तैरता रह सकता है। इस कुम्भक के एक अभ्यासकर्ता लगातार १२ घण्टे तक जल पर लेटे रह सकते थे। जो लोग इस प्लावनी-कुम्भक का अभ्यास करते हैं, वे कुछ दिनों तक बिना भोजन के रह कर वायु पर निर्वाह कर सकते हैं। इसमें साधक वस्तुतः जल की भाँति धीर-धीरे वायु को पीता है और उसे पेट में पहुँचाता है। वायु के भरने से पेट थोड़ा फूल जाता है। जब पेट वायु से भरा रहता है, तब उसे थपथपाने पर नगाड़े का शब्द निकलता है। इसके लिए धीरे-धीरे अभ्यास करने की आवश्यकता है। जो लोग इस प्राणायाम का अभ्यास भली प्रकार करना जानते हैं, उन लोगों से सहायता प्राप्त करना भी आवश्यक है। साधक पेट से सारी वायु को डकार के द्वारा अथवा उड्डीयानबन्ध करके बाहर निकाल सकता है।

१०. केवल-कुम्भक

कुम्भक दो प्रकार के होते हैं—सहित-कुम्भक और केवल-कुम्भक। पूरक और रेचक के संयोग वाले कुम्भक को सहित-कुम्भक कहते हैं। जिस कुम्भक में ये दोनों क्रियाएँ नहीं होती हैं, उसे केवल-कुम्भक कहा जाता है। जब तक आप केवल-कुम्भक में पूर्णता प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक सहित-कुम्भक का अभ्यास करें।

केवल-कुम्भक के अभ्यास से कुण्डलिनी का ज्ञान होता है। केवल-कुम्भक में पूरक और रेचक के बिना ही श्वास को अचानक रोक दिया जाता है। इस कुम्भक द्वारा साधक स्वेच्छानुसार देर तक अपने श्वास को रोक सकता है। वह राजयोग की अवस्था प्राप्त करता है। केवल-कुम्भक द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत की जाती है तथा सुषुम्ना सब प्रकार की बाधाओं से मुक्त हो जाती है। इससे साधक हठयोग के अभ्यास में पूर्ण हो जाता है। इससे सब प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं और साधक की आयु दीर्घ होती है।

आप इस कुम्भक को दिन में आठ बार, प्रत्येक तीन घण्टे में एक बार अथवा दिन में पाँच बार जिसमें एक बार प्रातः, एक दोपहर को, एक सायं, एक अर्धरात्रि और फिर एक रात्रि के चौथे प्रहर में कर सकते हैं। अथवा आप इसे दिन में तीन बार भी अर्थात् प्रातः, सायं और रात्रि में कर सकते हैं।

जो केवल-कुम्भक का ज्ञान रखता है, वह वास्तविक योगी है। जिसने केवल-कुम्भक में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह तीनों लोकों में क्या नहीं कर सकता!

ऐसे सिद्ध महात्माजन धन्य हैं ! धन्य हैं ! उनका आशीर्वाद सब साधकों को प्राप्त हो !

प्राणायाम के लाभ

प्राणायाम से शरीर शक्तिशाली तथा स्वस्थ हो जाता है, शरीर की अत्यधिक चर्बी कम हो जाती है, चेहरा कान्तिमान प्रतीत होने लगता है, नेत्र हीरे की भाँति चमकने लगते हैं तथा साधक अति सुन्दर दिखायी देने लगता है। उसकी वाणी मधुर और सुरीली हो जाती है। उसे अन्तर-नाद (अनाहत-शब्द) सुस्पष्ट रूप से सुनायी देने लगता है। इस साधना का साधक समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है। वह पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य में स्थित हो जाता है। रजोगुण और तमोगुण दूर हो जाते हैं। मन धारणा तथा ध्यान के लिए तैयार हो जाता है। मल-मूत्र का उत्सर्जन अल्प मात्रा में होता है।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत होती है और इससे परम आनन्द, दिव्य प्रकाश और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। साधक ब्रह्मचर्य में इतना दृढ़ हो जाता है कि अप्सराओं के प्रलोभन देने पर भी वह अडिग बना रहता है। यह उसे ऊर्ध्वरेता योगी बना देता है। साधना में आगे बढ़ने पर योगी अणिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ और ३६ ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

यदि आप ब्रह्मचर्य-पालन एवं आहार-संयम के बिना, दीर्घ काल तक भी आसन-प्राणायाम करते रहें तो भी अधिक लाभ नहीं होगा। साधारण स्वास्थ्य के लिए आप थोड़ा-सा प्राणायाम कर सकते हैं।

प्राणायाम-सम्बन्धी सङ्केत

(१) शुष्क एवं हवादार कमरे में प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास के समय कमरे में अकेले ही रहना उचित है।

(२) प्रातः ४ बजे उठ कर आधा घण्टा ध्यान अथवा जप करें और फिर आसन करें। इसके बाद २० से ३० मिनट तक विश्राम करें और फिर शारीरिक व्यायाम करें। फिर थोड़ा विश्राम ले कर प्राणायाम का अभ्यास करें। शारीरिक व्यायाम आसनों के साथ सामञ्जस्यपूर्ण रूप से किये जा सकते हैं। प्रातः और सायं दोनों समय अभ्यास करें। जप या ध्यान के लिए बैठने से ठीक पूर्व

प्राणायाम का अभ्यास किया जा सकता है। इससे आपका शरीर हलका होगा और आपको ध्यान के अभ्यास में आनन्द प्राप्त होगा।

(३) पेट भारी होने पर प्राणायाम नहीं करना चाहिए। अभ्यास के समय पेट खाली अथवा हलका होना चाहिए। अभ्यास के १० मिनट बाद एक प्याला दूध ले लेना चाहिए।

(४) सात्त्विक भोजन—जैसे दूध, फल, साग, दाल, पराँठा, लौकी आदि—का सेवन करें। चरपरी कढ़ी, चटनियाँ, आचार, मिर्च, तेल, प्याज, लहसुन, मांस, मछली, मदिरा तथा धूमपान का सेवन छोड़ दें।

(५) अभ्यास में नियमित और व्यवस्थित रहें। किसी भी दिन नागा मत करें।

(६) प्राणायाम के तुरन्त बाद स्नान न करें; आधा घण्टा विश्राम कर लें।

(७) पसीना आने पर तौलिये से मत पोंछें, अपने हाथों से रगड़ें। पसीना आने पर शरीर को शीत वायु के झोंकों से बचा कर रखें।

(८) ग्रीष्म-काल में केवल एक वार प्रातःकाल ही अभ्यास करें। यदि मस्तिष्क या शिर में गरमी प्रतीत हो तो स्नान से पूर्व आँवले का तेल या मक्खन शिर पर मलें। जल में मिश्री घोल कर मिश्री-शरबत बना कर पियें। इससे आपके सम्पूर्ण शरीर को तरावट मिलेगी।

(९) शीतली-प्राणायाम भी करें। इससे आपके ऊपर गरमी का प्रभाव नहीं होगा।

(१०) छः महीने अथवा एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्णतया पालन करना चाहिए। इससे निश्चय ही आप अभ्यास में प्रगति करेंगे, साथ ही आध्यात्मिक विकास भी होगा। महिलाओं से बातचीत न करें, उनसे हँसी-मजाक भी न करें। कम-से-कम साधना-काल में तो उनका साथ बिलकुल त्याग दें।

(११) श्वासोच्छ्वास सदैव बहुत धीरे-धीरे करें। श्वास-प्रश्वास के समय कोई ध्वनि न करें। कपालभाति और भस्त्रिका में तीव्र ध्वनि न करें।

(१२) थकान की दशा में प्राणायाम मत करें। अभ्यास-काल में और उसके अन्त में भी सदैव आनन्द और आत्मोल्लास की अनुभूति होनी चाहिए। अभ्यास के बाद आपमें पूर्ण स्फूर्ति और ताजगी होनी चाहिए। अपने को अत्यधिक नियमों से बद्ध मत रखें।

(१३) अत्यधिक बातें करने, खाने, सोने, मित्रों से सम्पर्क रखने तथा श्रम करने से पूर्णतया बचते रहें।

(१४) शनैः-शनैः कुम्भक की अवधि को बढ़ाते जायें। प्रथम सप्ताह में चार सेकण्ड तक, दूसरे सप्ताह में आठ सेकण्ड तक और तीसरे सप्ताह में बारह सेकण्ड तक रखें और जब तक कि आप श्वास को ६४ सेकण्ड तक न रोक सकें, इसी प्रकार अवधि को बढ़ाते जायें।

(१५) पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय ॐ अथवा गायत्री का मानसिक जप करते रहें। ऐसा भाव रखें कि अन्दर श्वास लेते समय दया, क्षमा, प्रेम आदि समस्त दैवी सम्पत्तियाँ प्रवेश कर रही हैं और बाहर श्वास निकालते समय काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी सम्पत्तियाँ बारह निकल रही हैं। श्वास लेते समय यह भी अनुभव करें कि दिव्य स्रोत विश्व-प्राण से आपको शक्ति प्राप्त हो रही है और आपका आपादमस्तक सारा शरीर प्रचुर नवीन शक्ति से सन्तृप्त हो रहा है। जब शरीर अधिक रोगी हो, तो अभ्यास बन्द कर दें।

(१६) नये सीखने वाले साधक को कुछ दिनों तक बिना कुम्भक के ही पूरक तथा रेचक करना चाहिए।

(१७) आप पूरक, कुम्भक और रेचक का इस सुन्दर ढङ्ग से समायोजन करें कि प्राणायाम की किसी भी अवस्था में आपको दम घुटने-जैसी अथवा कष्ट की अनुभूति न हो।

(१८) प्रश्वास (रेचक) की अवधि अनावश्यक रूप से नहीं बढ़ानी चाहिए। यदि आप रेचक का समय बढ़ायेंगे तो उसके बाद श्वास शीघ्रता से लेनी होगी और लयबद्धता टूट जायेगी।

(१९) पूरक, कुम्भक और रेचक को इस प्रकार सावधानी से व्यवस्थित करें कि आप न केवल एक प्राणायाम बल्कि पूर्ण आवश्यक क्रम पूर्ण सुविधा से सुचारु रूप से कर सकें। इसे आपको प्रायः दोहराना होगा। अनुभव और अभ्यास से आप ठीक हो जायेंगे, दृढ़सङ्कल्प बने रहें।

(२०) प्राणायामों के दो आनुक्रमिक चक्रों के बीच में आपको कुछ सामान्य श्वास लेने की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं होनी चाहिए। पूरक, कुम्भक और रेचक की अवधि समुचित रूप से रखनी चाहिए। उचित सावधानी और ध्यान से काम लेना चाहिए। तब साधना सफल और सरल हो जायेगी।

(२१) ध्यान देने योग्य अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कुम्भक के अन्त में आपको फेफड़ों पर यथेष्ट नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे कि आप रेचक सरलता से और पूरक के अनुपात में कर सकें।

(२२) पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात क्रमशः १:४:२ होना चाहिए। एक ॐ उच्चारण करने तक श्वास लें और चार ॐ उच्चारण करने तक श्वास को रोकें और दो ॐ का उच्चारण करने तक श्वास को निकालें। प्रति-सप्ताह यह अनुपात २:८:४, ३:१२:६ के क्रम में उस समय तक बढ़ाते जायें जब तक कि अनुपात १६:६४:३२ न हो जाये। ॐ की गिनती अपने बायें हाथ की उँगलियों पर करें। जब आप सुखपूर्वक यथाशक्ति श्वास लेते, रोकते और निकालते हैं तो यह अनुपात स्वतः बन जाता है। जब आपका अभ्यास बढ़ जाये तो गिनती करने की आवश्यकता नहीं रहती। स्वभाववश आपका सहज अनुपात स्वतः ही होने लगेगा।

(२३) आरम्भ में साधारण भूलें हो सकती हैं। कोई बात नहीं। इससे अनावश्यक भयभीत न हों और न ही अभ्यास छोड़ें। आप स्वयं ही पूरक, कुम्भक और रेचक की तीनों प्रक्रियाओं में भली प्रकार सामञ्जस्य करना सीख जायेंगे। इस मार्ग में आपको विवेक, सहज बोध और आत्मा की कर्णभेदी अन्तर्वाणी सहायता देगी। अन्त में प्रत्येक कार्य सहज भाव से होने लगेगा। इसी क्षण पूर्ण गम्भीरतापूर्वक अभ्यास आरम्भ कर दें और सच्चे योगी बनें। प्रयत्न करें, कठोर सङ्घर्ष करें और लक्ष्य को प्राप्त करें।

(२४) सूर्यभेद और उज्जायी गरमी उत्पन्न करते हैं। सीत्कारी और शीतली शीतलकारी हैं। भस्त्रिका सामान्य तापमान को बनाये रखता है। सूर्यभेद वातदोष को, उज्जायी कफदोष को, सीत्कारी तथा शीतली पित्तदोष को तथा भस्त्रिका इन तीनों दोषों को नष्ट करता है।

(२५) सूर्यभेद और उज्जायी का शीतकाल में, सीत्कारी और शीतली का ग्रीष्मकाल में तथा भस्त्रिका का सभी ऋतुओं में अभ्यास किया जा सकता है। जिन लोगों के शरीर शीतकाल में भी गरम रहते हैं, वे शीतकाल में शीतली और सीत्कारी का अभ्यास कर सकते हैं।

टिप्पणी— आसनों के लिए दिये गये बहुत से निर्देशों का पालन प्राणायाम में भी किया जाना चाहिए।

योग-परिशिष्ट

कुण्डलिनी

कुण्डलिनी एक सर्पाकार दिव्य प्रसुप्त शक्ति है जो कि समस्त प्राणियों में निष्क्रियावस्था में पड़ी रहती है। गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे मूलाधार-चक्र होता है। यहीं पर महादेवी कुण्डलिनी अवस्थित है। यह सर्प की तरह साढ़े तीन कुण्डल बनाये हुए होती है; इसलिए इसका नाम 'कुण्डलिनी-शक्ति' रखा गया है। यह सुषुम्ना-नाड़ी के मुँह में अधोमुखी अवस्था में रहती है। यह संसार की सृजन-शक्ति को अभिव्यक्त करती है तथा सृजन-कार्य में सदा व्यस्त रहती है। तीन कुण्डलियाँ प्रकृति के तीन गुणों अर्थात् सत, रज और तम को अभिव्यक्त करती हैं। इसमें अर्ध कुण्डली विकृतियों को (जो कि प्रकृति के विकार हैं) अभिव्यक्त करती है। कुण्डलिनी-शक्ति के जाग्रत होने तथा उसके सहस्रार-चक्र में शिव से मिलने से समाधि एवं मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। इससे योगी ८ सिद्धियाँ एवं ३२ ऋद्धियाँ प्राप्त कर सकता है और मनोवाञ्छित काल तक जीवित रह सकता है।

इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना एवं षट्-चक्र

इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ मेरुदण्ड को पार कर एक तरफ से दूसरी तरफ जाती हैं और सुषुम्ना के साथ त्रिबन्ध—जिसे त्रिवेणी कहते हैं—बनाती हैं।

इड़ा नासिका के बायें रन्ध्र से तथा पिङ्गला नासिका के दायें रन्ध्र से चलती है। सुषुम्ना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाड़ी है। यह ब्रह्मनाड़ी के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह एक सूक्ष्म मार्ग है जो कि नीचे मूलाधार से मेरु-रज्जु के मध्य से निकलता है और ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है। जब नियमित प्राणायाम द्वारा चक्र शुद्ध हो जाते हैं तो श्वास स्वतः सुषुम्ना-नाड़ी के मुँह में बलपूर्वक प्रवेश करता है। जब श्वास सुषुम्ना-नाड़ी में हो कर निकलता है तो मन स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी—नाड़ियों और चक्रों के कार्यों तथा उनसे सम्बन्धित निर्देशों के लिए मेरी पुस्तक 'कुण्डलिनी-योग' का अवलोकन कीजिए।

अभ्यास-क्रम एवं दिनचर्या

व्यस्त लोगों के लिए प्रारम्भिक अभ्यास-क्रम 'क'

	घं॰मि॰	कब से	कब तक
जप-ध्यान	०-४५	प्रातः ४-००	४-४५
शीर्षासन	०-०५	प्रातः ४-४५	५-१०
सर्वाङ्गासन	०-०५		
मत्स्यासन	०-०३		
पश्चिमोत्तानासन	०-०५		
अन्य आसन	०-०५		
शवासन	०-०२		
विश्राम	०-१५	प्रातः ५-१०	५-२५
भस्त्रिका-प्राणायाम	०-०५	प्रातः ५-२५	५-३५
अन्य प्राणायाम	०-०५		
विश्राम	०-०५	प्रातः ५-३५	५-४०
स्वाध्याय	०-४५	प्रातः ५-४०	६-२५
प्रातःकालीन भ्रमण	०-३५	प्रातः ६-२५	७-००
आसन, प्राणायाम जप और ध्यान (विलोम-क्रम)	१-३०	सायं ६-१५	७-४५
भजन (कीर्तन)	०-३०	सायं ७-४५	८-१५
भोजन तथा विश्राम	०-१५	रात्रि ८-१५	८-३०
स्वाध्याय	१-००	रात्रि ८-३०	९-३०
शयन	६-००	रात्रि ९-३०	३-३०

व्यस्त लोगों के लिए उच्चतर अभ्यास-क्रम 'ख'

	घं॰मि॰	कब से	कब तक
जप तथा ध्यान	१-३०	प्रातः ३-३०	५-००
शीर्षासन	०-३०	प्रातः ५-००	५-३०
सर्वाङ्गासन, मयूरासन, पश्चिमोत्तानासन इत्यादि	०-३०	प्रातः ५-३०	६-००
भस्त्रिका तथा अन्य प्राणायाम	०-३०	प्रातः ६-००	६-३०
स्वाध्याय	०-३०	प्रातः ६-३०	७-००
आसन, प्राणायाम, जप और ध्यान	३-००	रात्रि ६-१५	९-१५
भोजन	०-१५	रात्रि ९-१५	९-३०
स्वाध्याय	०-३०	रात्रि ९-३०	१०-००
शयन	५-००	रात्रि १०-००	३-००

पूर्णकालिक साधकों के लिए अभ्यास-क्रम 'ग'

	घं॰मि॰	कब से	कब तक
जप और ध्यान	३-३०	प्रातः ३-३०	७-००
आसन और प्राणायाम	२-००	प्रातः ७-००	९-००
आसन और प्राणायाम	२-००	सायं ५-००	७-००
जप और ध्यान	२-००	रात्रि ७-००	९-००
भजन	१-००	रात्रि ९-००	१०-००
शयन	५-००	रात्रि १०-००	३-००

अभ्यास-क्रम 'क' और 'ख' के लोगों के लिए समान कार्यक्रम

	घं॰मि॰	कब से	कब तक
विश्राम, अल्पाहार या दुग्ध	०-१५	प्रातः ७-००	७-१५
निष्काम कर्म और गृह-कार्य	१-१५	प्रातः ७-१५	८-३०
स्नान, धुलाई तथा प्रातराश आदि	१-००	प्रातः ८-३०	९-३०
कार्यालय, पत्रलेखन	३-००	पूर्वाह्न १०-००	१-००
मध्याह्न-भोजन, लोगों से समालाप	१-००	अपराह्न १-००	२-००
कार्यालय	३-००	अपराह्न २-००	५-००
सायङ्कालीन भोजन और विश्राम	०-१५	सायं ५-००	५-१५
सायङ्कालीन भ्रमण २ मील, सत्सङ्ग-श्रवण	१-१५	सायं ५-१५	६-३०

अन्य समय मौन, निष्काम कर्म, कीर्तन, स्वाध्याय, स्नान, भोजन आदि के लिए भली प्रकार निर्धारित कर लेना चाहिए। साधकों को अपने विकास, क्षमता और सुविधा के अनुसार अपना कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिए।

महत्त्वपूर्ण संकेत

(१) योग के प्रत्येक जिज्ञासु का एक ही अभ्यास-क्रम होना चाहिए। आप समय में इधर-उधर थोड़ा हेर-फेर कर सकते हैं; किन्तु उसमें अभ्यास-क्रम का प्रत्येक विषय रहना चाहिए। आध्यात्मिक मार्ग में वेदान्तिक गपशप करने मात्र से काम नहीं चलेगा। समयानुवर्ती होने के लिए आपको अति-नियमनिष्ठ होना पड़ेगा। किसी भी मूल्य पर अभ्यास-क्रम के प्रत्येक विषय का पालन किया जाना चाहिए। ध्यान, जप, आसन तथा प्राणायाम का निर्धारित समय धीरे-धीरे बढ़ा देना चाहिए।

(२) सो कर उठते ही सर्वप्रथम शौच जायें। यदि आप स्नान न कर सकें तो हाथ-पैर, मुँह तथा शिर धो कर ध्यान और योगाभ्यास के लिए बैठ जायें।

(३) कुछ दिनों के नियमित अभ्यास के बाद यदि आप आसन, प्राणायाम और ध्यान का समय बढ़ा देते हैं, तो आपको पारिवारिक कार्यों और प्रातःकालीन भ्रमण के लिए निर्धारित समय में से कुछ समय कम करना होगा। छुट्टियों (अवकाश) के दिन आध्यात्मिक साधना के लिए अधिक समय का उपयोग करना चाहिए।

(४) प्रातःकालीन स्वाध्याय के समय गीता, उपनिषद्, रामायण आदि पढ़ें और रात्रि के समय स्वाध्याय-काल में कोई अन्य दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें अथवा पत्रिकाएँ पढ़ सकते हैं। ये दोनों विषय विद्यार्थियों के विस्तृत तथा अविस्तृत पाठ्यक्रम की भाँति हैं। लोगों से मिलने तथा पत्र लिखने के समय को आप कुछ रोचक पुस्तकें पढ़ने में लगा सकते हैं।

(५) सायङ्काल में आप कुछ अन्य शारीरिक व्यायामों एवं प्राणायाम के चक्रों को भी लाभकारी रूप से सम्मिलित कर सकते हैं। प्राणायाम-अभ्यास के समय तथा अन्य कार्यों के बीच में भी मानसिक जप करते रहना चाहिए।

(६) रात्रि को कीर्तन करें, तो परिवार के अन्य सदस्यों, मित्रों, पड़ोसियों तथा अपने कर्मचारियों को भी सम्मिलित करें। अन्त में प्रसाद वितरण करें।

(७) निष्काम कर्म के अन्तर्गत रोगियों की चिकित्सा अथवा सेवा-शुश्रूषा

सर्वोत्तम है। यदि आप यह नहीं कर सकते हैं, तो निर्धन विद्यार्थियों को अवैतनिक शिक्षण दें अथवा दान करें।

(८) यदि अपरिहार्य परिस्थितिवश अभ्यास-क्रम का कोई विषय न कर पायें तो उस समय का उपयोग मौन, स्वाध्याय अथवा बागवानी में करें। मन को सदा इसी प्रकार के उपयोगी कार्य में व्यस्त रखें।

(९) प्रारम्भिक अभ्यास-क्रम 'क' में आसन और प्राणायाम पहले तथा जप और ध्यान इसके बाद में किये जा सकते हैं। उच्चतर अभ्यास-क्रम 'ख' में आसन और प्राणायाम जप तथा ध्यान के बाद में करने चाहिए; क्योंकि प्रातःकाल का समय (ब्राह्ममुहूर्त) ध्यान के लिए सर्वश्रेष्ठ होता है। तन्द्रा दूर करने के लिए जप तथा ध्यान से पूर्व १० मिनट शीर्षासन अथवा भस्त्रिका का अभ्यास कर सकते हैं।

(१०) यदि इनमें से किसी भी विषय को न कर सकें, तो प्रिय बन्धु ! समझ लें कि आपने अपने अमूल्य जीवन का एक दिन नष्ट कर दिया। यदि आप संसार में किसी बाधा डालने वाले तत्त्व का अनुभव करें, तो निर्ममतापूर्वक बिना किसी हिचक के संसार को छोड़ दें और एकान्तवास का आश्रय लें तथा अपने गुरु के चरण-कमलों में रह कर अहर्निश आध्यात्मिक साधना में रत रहें। यदि आप धीर, कृतोद्यम तथा निष्कपट हैं, तो छः महीने में ही आपको अनिर्वचनीय आनन्द, मानसिक शान्ति और विशुद्ध सुख प्राप्त होंगे। आपके मुख-मण्डल पर कान्ति तथा ज्योति प्रकट होंगी। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति अखिल विश्व के लिए एक वरदान है। इस प्रकार की साधना ही आपको शाश्वत सन्तोष और सुख प्रदान कर सकती है। यदि आप थोड़े से अदरक के बिस्कुट, थोड़ा धन तथा स्त्री पर ही अपना सुख आधारित रखेंगे, तो वृद्धावस्था में आपको पछताना पड़ेगा।

योगासनों की विस्तृत सूची

१. अंगुष्ठासन
२. अद्वासन
३. अधोमुख श्वासासन
४. अर्ध कूर्मासन
५. अर्ध चन्द्रासन
६. अर्ध त्रिकोणासन
७. अर्ध धनुरासन
८. अर्ध नावासन
९. अर्ध पद्म पश्चिमोत्तानासन
१०. अर्ध पद्मासन
११. अर्ध पवनमुक्तासन
१२. अर्ध पादासन
१३. अर्ध भुजा पीड़ासन
१४. अर्ध मण्डूकासन
१५. अर्ध मत्स्येन्द्रासन
१६. अर्ध वृक्षासन
१७. अर्ध वृश्चिकासन
१८. अर्ध शलभासन
१९. अर्ध शवासन
२०. अर्धासन
२१. आकर्षण धनुरासन

२२. आनन्द मन्दिरासन

२३. उग्रासन

२४. उत्कटासन

२५. उत्तमाङ्गासन

२६. उत्तान कूर्मासन

२७. उत्तान पादासन

२८. उत्तान मण्डूकासन

२९. उत्थित पद्मासन

३०. उत्थित पार्श्वकोणासन

३१. उत्थित विवेकासन

३२. उत्थित समकोणासन

३३. उत्थितासन

३४. उपविष्ट कोणासन

३५. उपविष्ट शीर्षासन

३६. उष्ट्रासन

३७. ऊर्ध्व त्रिकोणासन

३८. ऊर्ध्व धनुरासन

३९. ऊर्ध्व पद्मासन

४०. ऊर्ध्व पश्चिमोत्तानासन

४१. ऊर्ध्व पादासन

४२. ऊर्ध्व भुजङ्गासन

४३. ऊर्ध्व मुक्त श्वासनासन

४४. ऊर्ध्व शीर्ष एकपाद चक्रासन
४५. ऊर्ध्व शीर्षासन
४६. ऊर्ध्व सम्मुक्त पद्मासन
४७. ऊर्ध्व सम्मुक्तासन
४८. ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन
४९. ऊर्ध्व हस्त जानु बलासन
५०. एक पाद वृक्षासन
५१. एक पादासन
५२. एक हस्त भुजासन
५३. एक हस्त मयूरासन
५४. ओंकारासन
५५. कन्दपीड़ासन
५६. कपाल्यासन
५७. कपिलासन
५८. कर्णपीड़ासन
५९. कर्ण पृष्ठ जानु पद्मासन
६०. कश्यपासन
६१. कष्टासन
६२. कामदहनासन
६३. कार्मुकासन
६४. कुक्कुटासन
६५. कुब्जिकासन

६६. कूर्मासन

६७. कृष्णासन

६८. कोकिलासन

६९. क्षेमकोणासन

७०. क्षेमासन

७१. गरुड़ासन

७२. गर्भासन

७३. गुप्तासन

७४. गोमुख पश्चिमोत्तानासन

७५. गोमुखासन

७६. गोरक्षासन

७७. ग्रन्थि पीड़ासन

७८. चकोरासन

७९. चक्रासन

८०. चतुर्मुख कोणासन

८१. चतुष्पादासन

८२. चित्त विवेकासन

८३. चित्तासन

८४. जानु पार्श्वासन

८५. जानु शीर्षासन

८६. जान्वासन

८७. ज्येष्टिकासन

८८. टिट्टिभासन
८९. ताड़ासन
९०. तिर्यक्मुख व्युत्थानासन
९१. तिर्यक्स्तम्भनासन
९२. तोलांगुलासन
९३. त्रिकोणासन
९४. त्रिशूलासन
९५. दक्षिण अंगुष्ठासन
९६. दक्षिण अर्धपादासन
९७. दक्षिण जान्वासन
९८. दक्षिण त्रिकोणासन
९९. दक्षिण धीरासन
१००. दक्षिण पवनमुक्तासन
१०१. दक्षिण पाद पश्चिमोत्तानासन
१०२. दक्षिण पाद शीर्षासन
१०३. दक्षिण पादासन
१०४. दक्षिण भुजासन
१०५. दक्षिण वक्रासन
१०६. दक्षिण सिद्धासन
१०७. दक्षिण हस्त चतुष्कोणासन
१०८. दक्षिण हस्त भयङ्करासन
१०९. दक्षिणार्ध पाद पद्मासन

११०. दक्षिणासन

१११. दण्डासन

११२. दधि मन्थनासन

११३. दुर्वासासन

११४. द्विपाद पार्श्वासन

११५. द्विपाद शीर्षासन

११६. धनुरासन

११७. धीरासन

११८. नटराज आसन

११९. नमस्कारासन

१२०. नागासन

१२१. नावासन

१२२. नासिका पृष्ठासन

१२३. निरालम्ब शीर्षासन

१२४. निश्चलासन

१२५. निश्वासासन

१२६. निष्ठासन

१२७. पद्म मयूरासन

१२८. पद्मासन

१२९. परिवर्तन पादासन

१३०. परिसारित पाद व्युत्थानासन

१३१. पर्यङ्कासन

१३२. पर्वतासन

१३३. पवनमुक्तासन

१३४. पश्चिमोत्तानासन

१३५. पाद कोणासन

१३६. पाद जानुशीर्षासन

१३७. पाद पद्मासन

१३८. पाद पीड़ासन

१३९. पाद वृक्षासन

१४०. पाद हस्तासन

१४१. पादांगुष्ठासन

१४२. पादादिरासन

१४३. पार्श्व भूनमनासन

१४४. पूर्णपाद त्रिकोणासन

१४५. पूर्ण पादासन

१४६. पूर्ण हस्त भुजासन

१४७. पृष्ठ स्कन्धासन

१४८. पृष्ठ हस्त दण्डासन

१४९. प्राणासन

१५०. प्रार्थनासन

१५१. प्रौढ़ पादासन

१५२. प्रौढ़ासन

१५३. फणीन्द्रासन

१५४. बकासन

१५५. बद्धपद्मासन

१५६. बद्धयोन्यासन

१५७. बुद्धासन

१५८. भद्रासन

१५९. भुजङ्गासन

१६०. भुजासन

१६१. भैरवासन

१६२. मकरासन

१६३. मण्डूकासन

१६४. मत्स्यासन

१६५. मत्स्येन्द्र पद्मासन

१६६. मत्स्येन्द्र सिद्धासन

१६७. मत्स्येन्द्रासन

१६८. मयूरासन

१६९. मरीच्यासन

१७०. मर्कटासन

१७१. महामेघासन

१७२. मुक्त पद्मासन

१७३. मुक्त हस्त वृक्षासन

१७४. मुक्त हस्त शीर्षासन

१७५. मुक्तासन

१७६. मृतासन

१७७. योग डण्डासन

१७८. योग निद्रासन

१७९. योगासन

१८०. योन्यासन

१८१. लोलासन

१८२. वज्रासन

१८३. वातायनासन

१८४. वाम जान्वासन

१८५. वाम त्रिकोणासन

१८६. वामनासन

१८७. वाम पवनमुक्तासन

१८८. वाम पाद धीरासन

१८९. वाम पाद पवनमुक्तासन

१९०. वाम पीड़ासन

१९१. वाम पृष्ठ जानु वृक्षासन

१९२. वाम वक्रासन

१९३. वाम श्वास कामनासन

१९४. वाम हस्त भयङ्करासन

१९५. वाम हस्त भुजङ्गासन

१९६. वामांगुष्ठासन

१९७. वामार्ध पद्मासन

१९८. वामार्ध पादासन
१९९. विपरीतकरणी
२००. विपरीत दण्डासन
२०१. विपरीत धनुरासन
२०२. विरामासन
२०३. विवेकासन
२०४. विस्तृत पाद पार्श्व-भूनमनासन
२०५. वीरासन
२०६. वीर्य स्तम्भनासन
२०७. वृक्षासन
२०८. वृश्चिकासन
२०९. व्युत्थित हस्त पद्मासन
२१०. शलभासन
२११. शवासन
२१२. शाखासन
२१३. शीर्ष पाद हस्तकोणासन
२१४. शीर्ष बद्ध हस्त त्रिकोणासन
२१५. शीर्षासन
२१६. शुण्डासन
२१७. श्वसनासन
२१८. सङ्कटासन
२१९. समानासन

२२०. सम्पूर्ण भुजासन

२२१. सर्वतोभद्रासन

२२२. सर्वाङ्ग पद्मासन

२२३. सर्वाङ्ग हलासन

२२४. सर्वाङ्गासन

२२५. ससाङ्गासन

२२६. सालम्ब शीर्षासन

२२७. साष्टाङ्गासन

२२८. सिंहासन

२२९. सिद्धासन

२३०. सुखासन

२३१. सुप्त कोणासन

२३२. सुप्त पार्श्व पादांगुष्ठासन

२३३. सुप्त वज्रासन

२३४. सुप्तोत्थित परिवर्तन पादासन

२३५. सुप्तोत्थित पाद जानुशीर्षासन

२३६. स्कन्दासन

२३७. स्थिरासन

२३८. स्वस्तिकासन

२३९. हंसासन

२४०. हनुमानासन

२४१. हलासन

२४२. हस्त चतुष्कोणासन
२४३. हस्त पाद अंगुष्ठासन
२४४. हस्त पाद शीर्षासन
२४५. हस्त पार्श्व चालनासन
२४६. हस्त भयङ्करासन
२४७. हस्त भुजासन
२४८. हस्त वृक्षासन
२४९. हस्तासन
२५०. हृदय कमल मुक्तासन
२५१. हृदय कमलासन
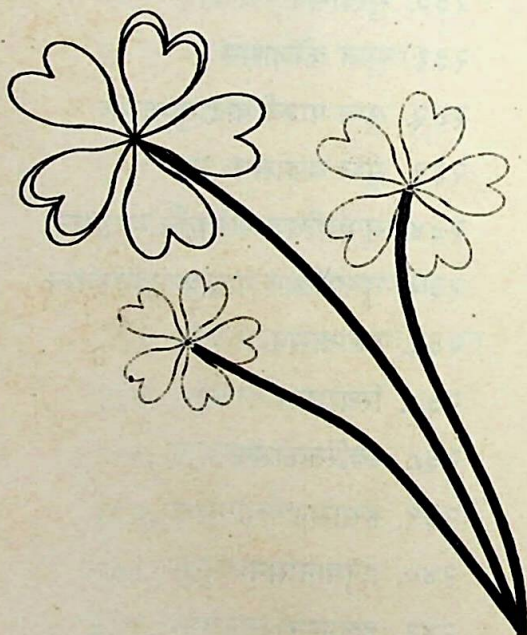
सूर्य-नमस्कार

१२ स्थितियों में

स्थिति १ (पृष्ठ ३)
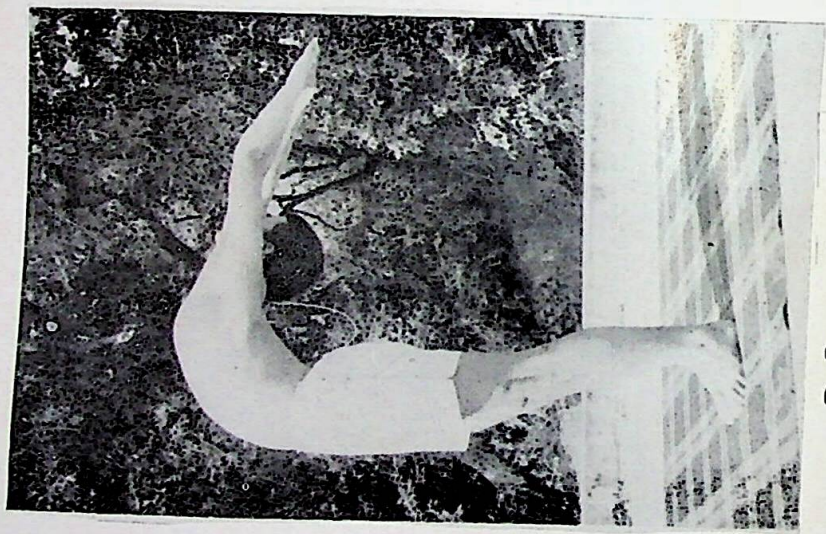
स्थिति २ (पृष्ठ ४)
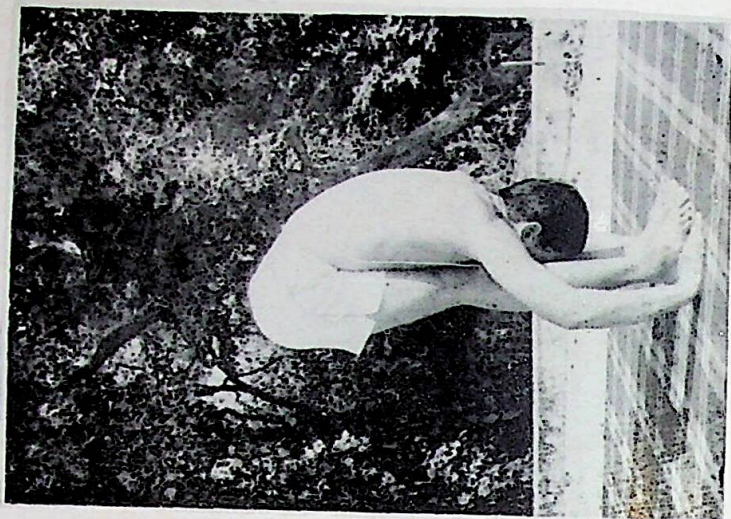
स्थिति ३ (पृष्ठ ४)
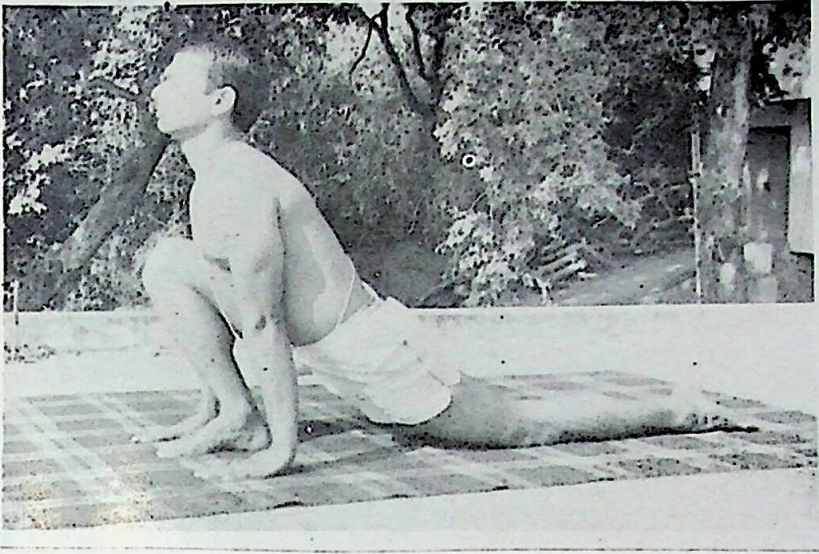
स्थिति ४ (पृष्ठ ४)
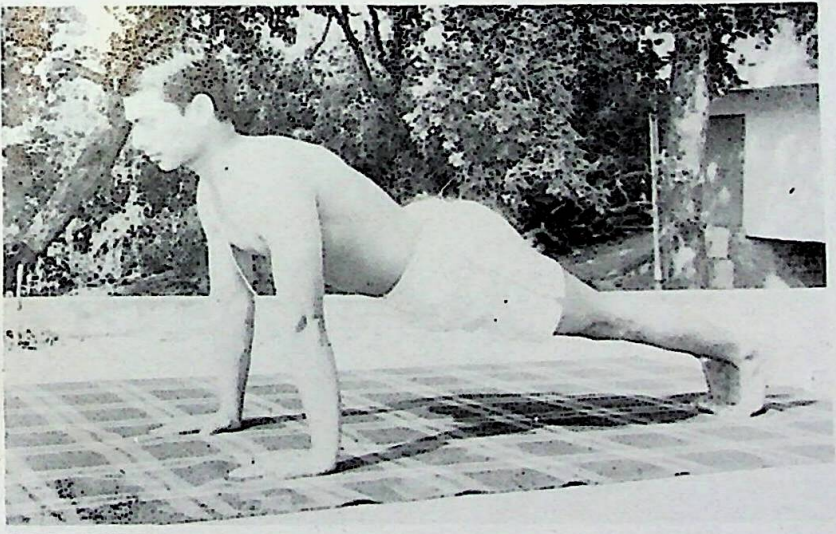
स्थिति ५ (पृष्ठ ४)
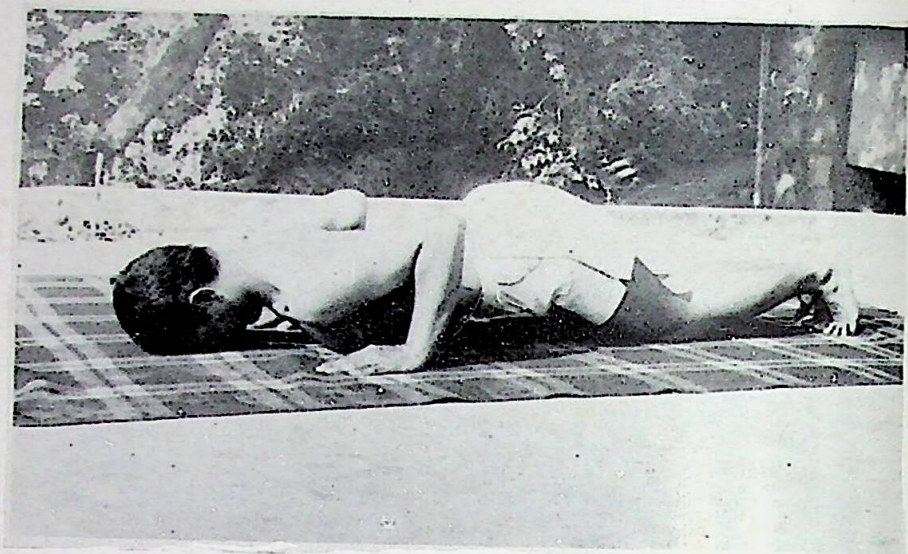
स्थिति ६ (पृष्ठ ४)
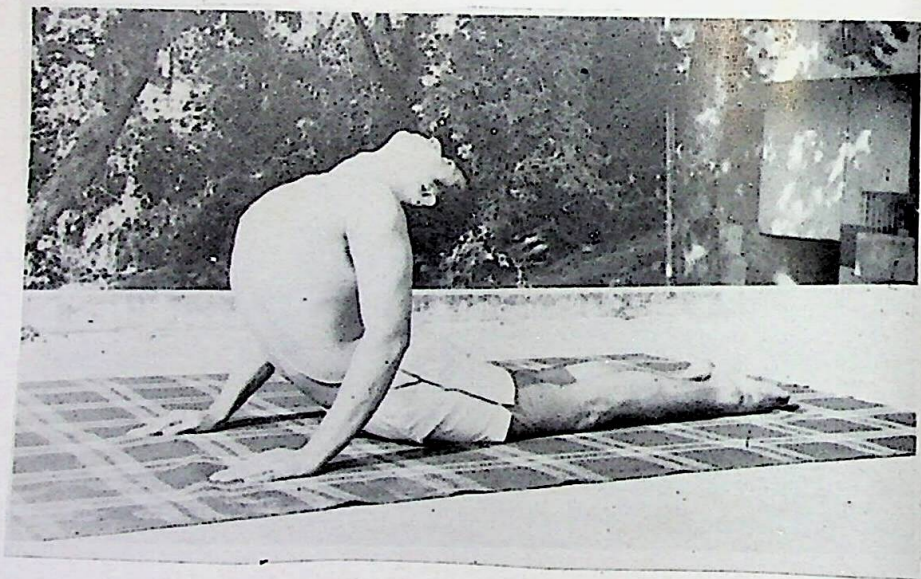
स्थिति ७ (पृष्ठ ४)
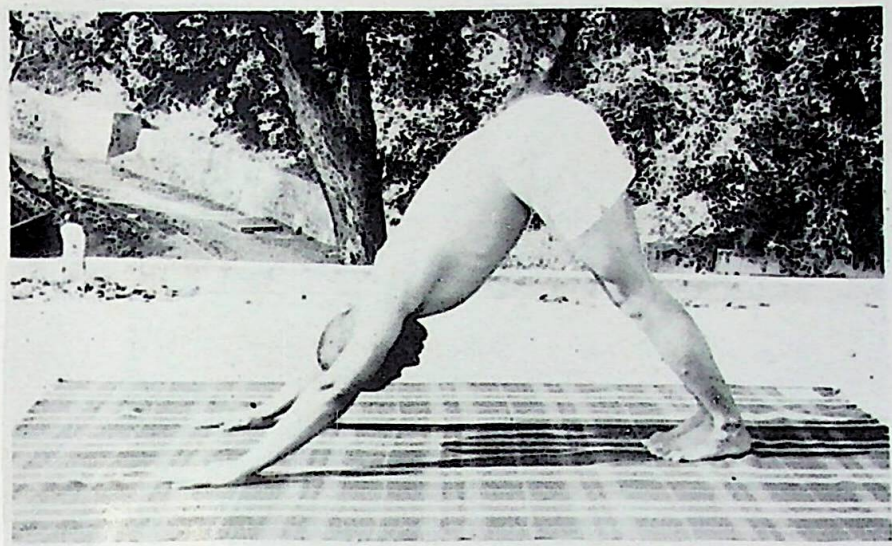
स्थिति ८ (पृष्ठ ४)
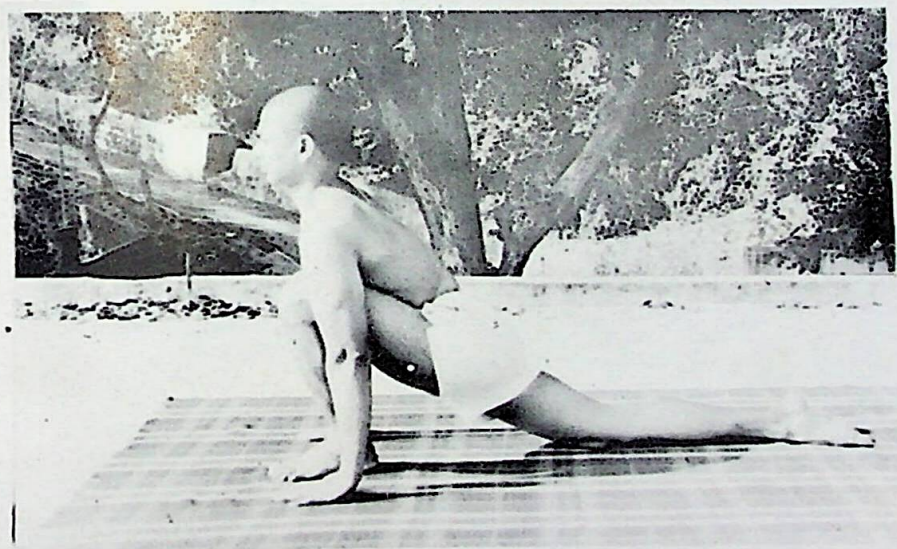
स्थिति ९ (पृष्ठ ४)

स्थिति १० (पृष्ठ ४)

स्थिति ११ (पृष्ठ ४)

स्थिति १२ (पृष्ठ ५)
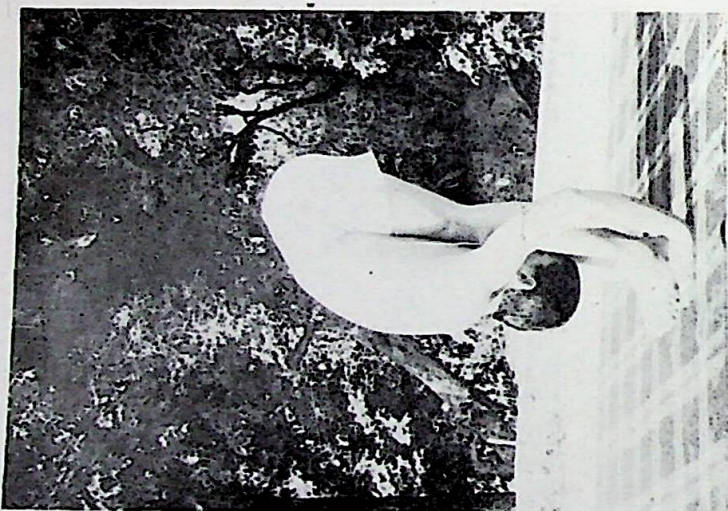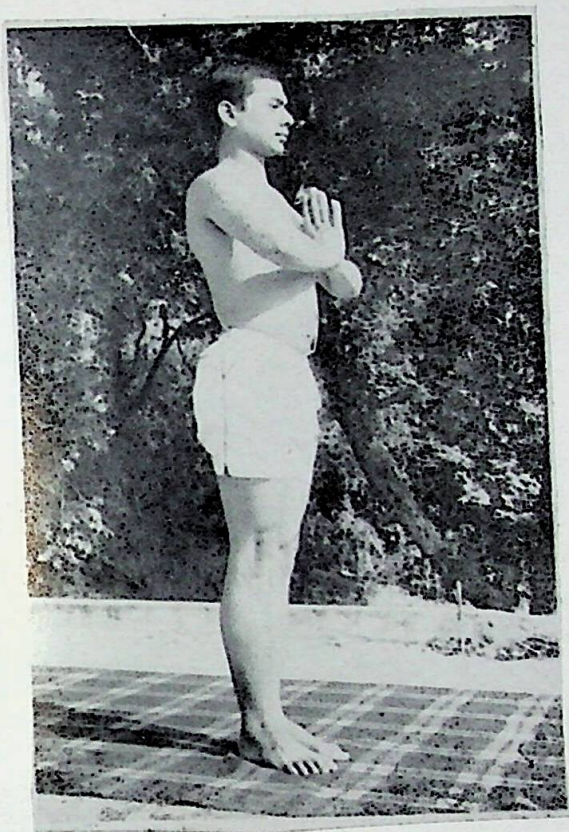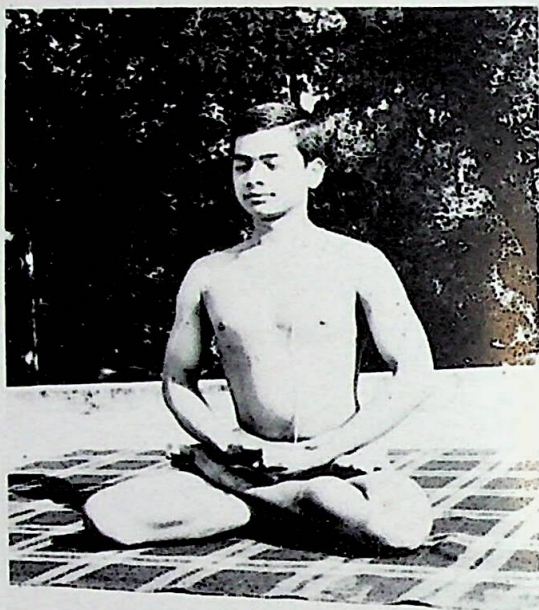
पद्मासन (पृष्ठ ८)

सिद्धासन
(पृष्ठ १०)
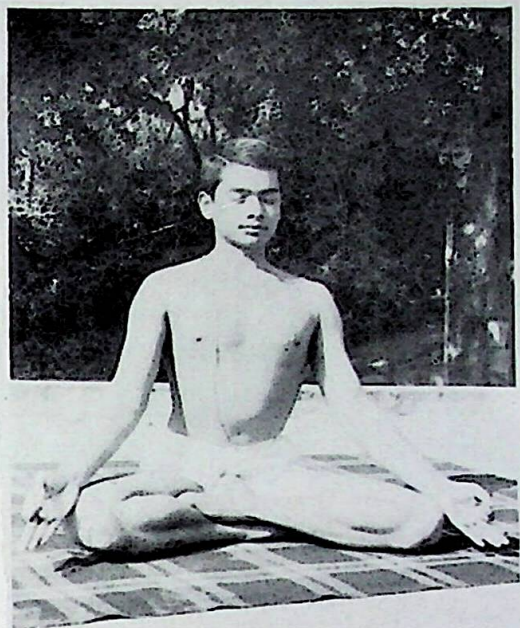
स्वस्तिकासन (पृष्ठ ११)
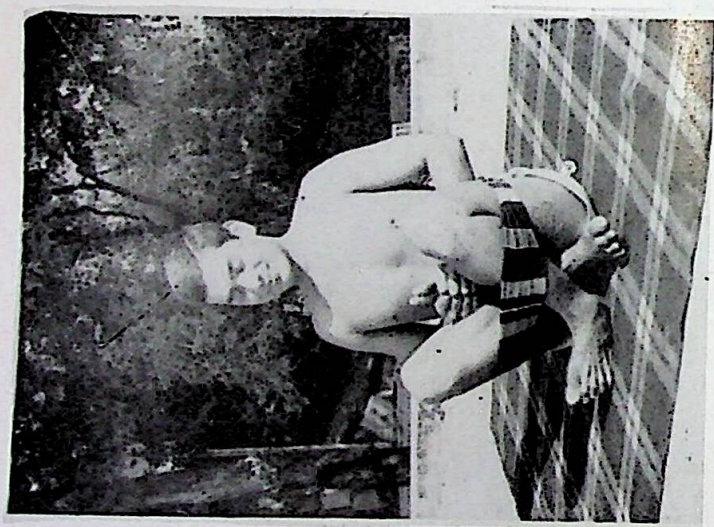
सुखासन (पृष्ठ १२)
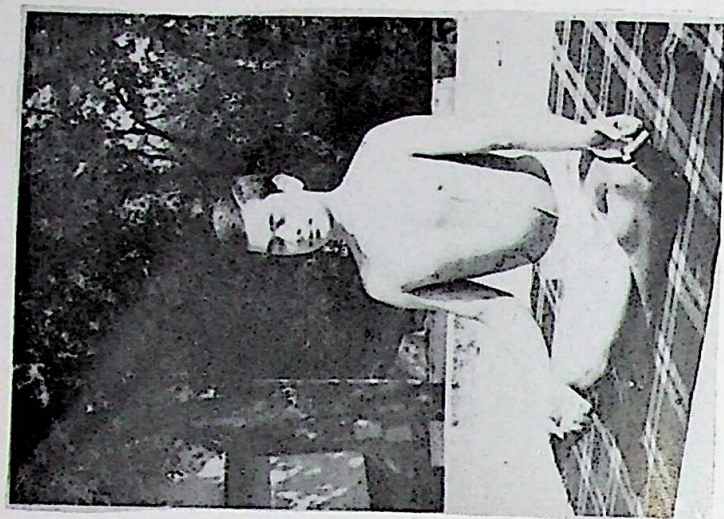
सुखासन (दूसरा प्रकार)
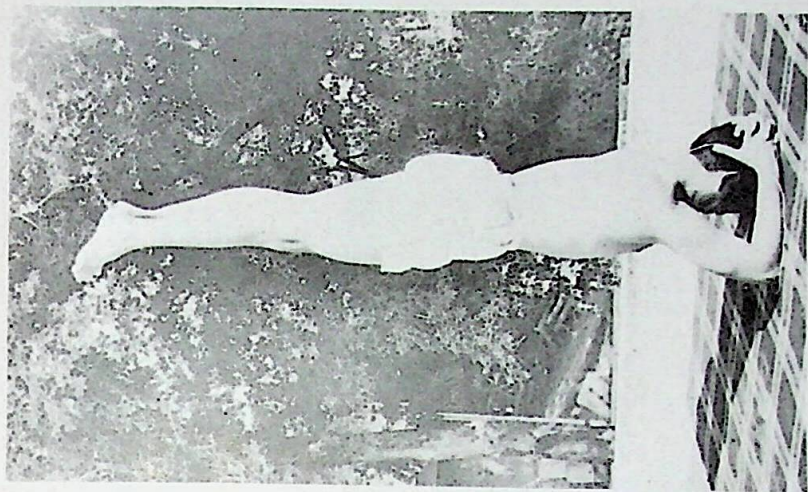
शीर्षासन—सामने से (पृष्ठ १४)

शीर्षासन—पार्श्व से
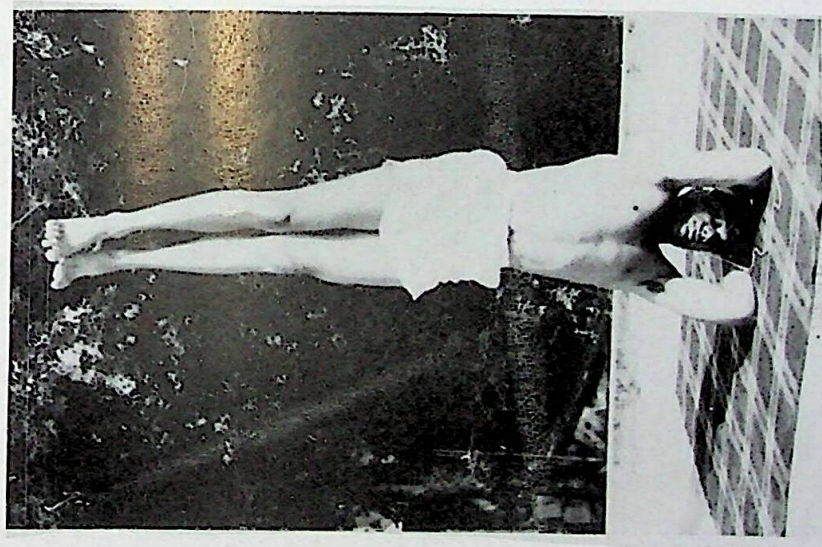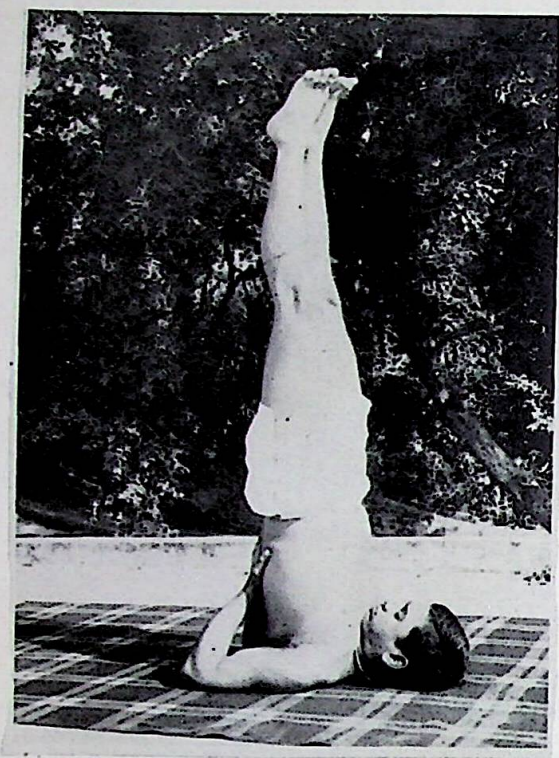
सर्वाङ्गासन
(पृष्ट १८)
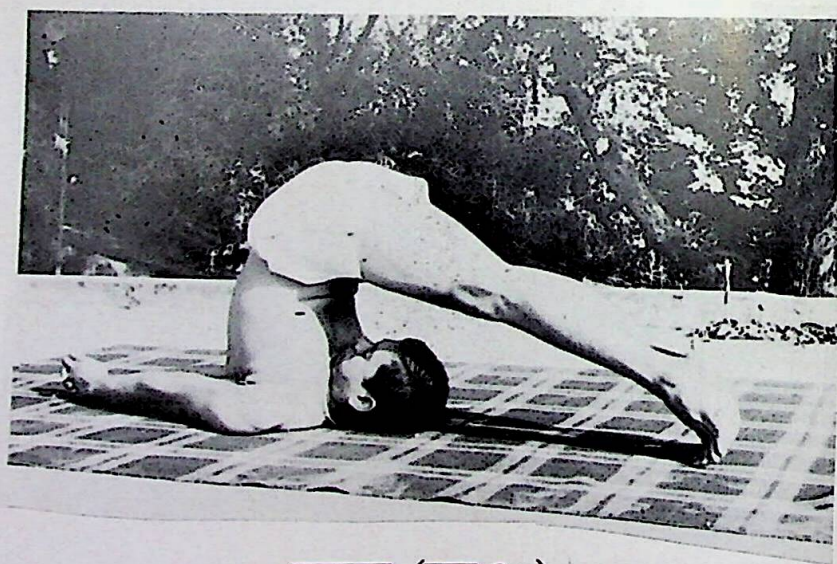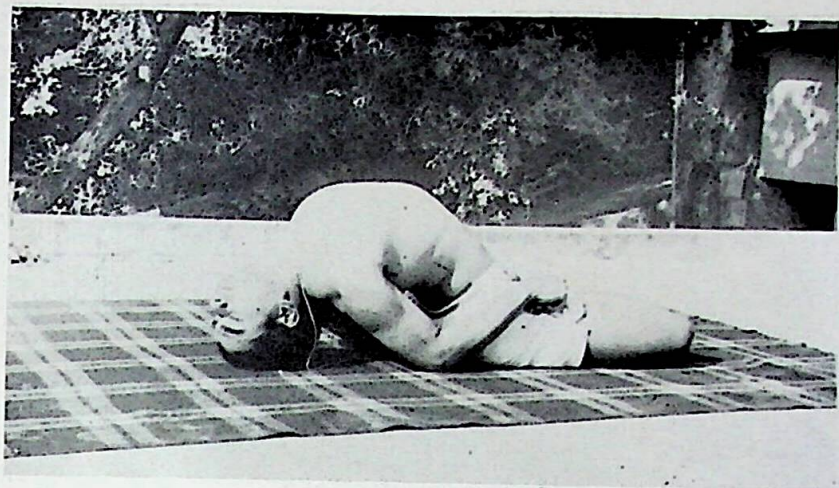
हलासन (पृष्ठ २०)

मत्स्यासन (पृष्ठ २२)
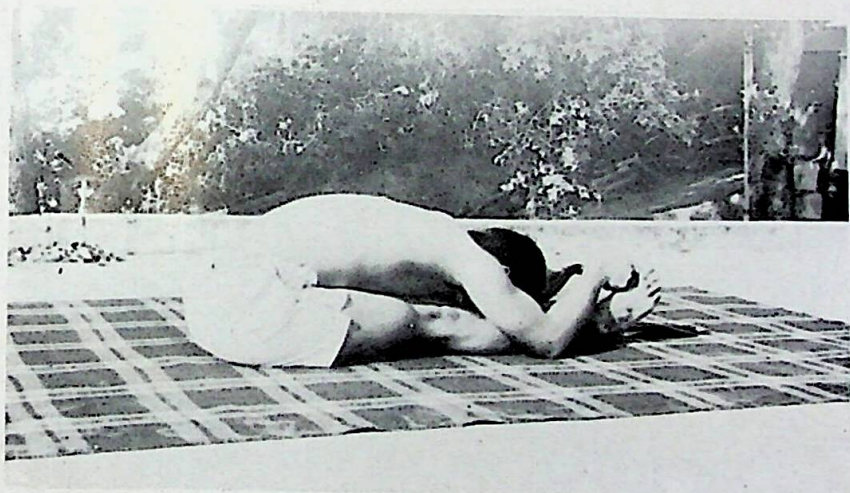
पश्चिमोत्तानासन (पृष्ठ २३)
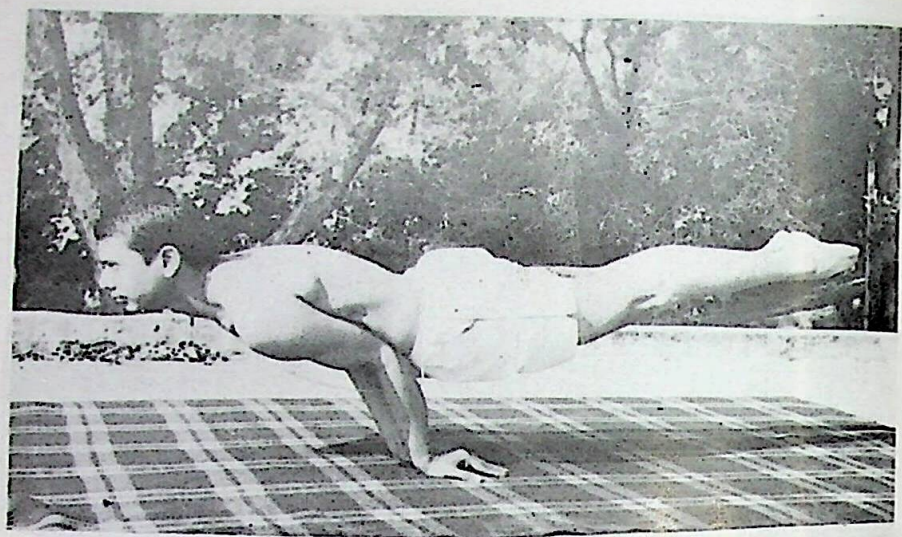
मयूरासन (पृष्ठ २४)
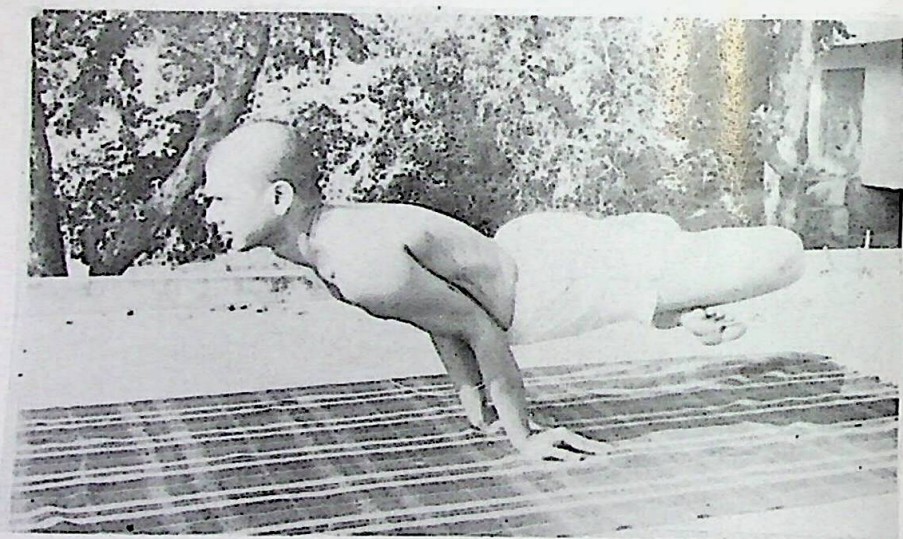
लोलासन (पृष्ठ २६)
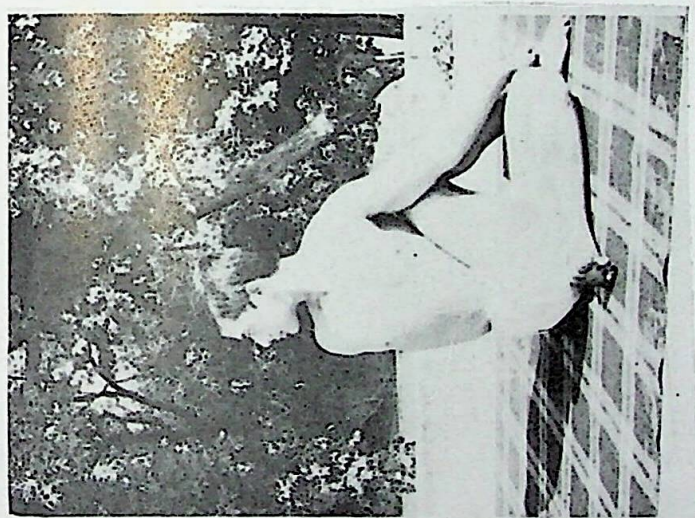
अर्ध-मत्स्येन्द्रासन—सामने से (पृष्ठ २७)

अर्ध-मत्स्येन्द्रासन—पीछे से
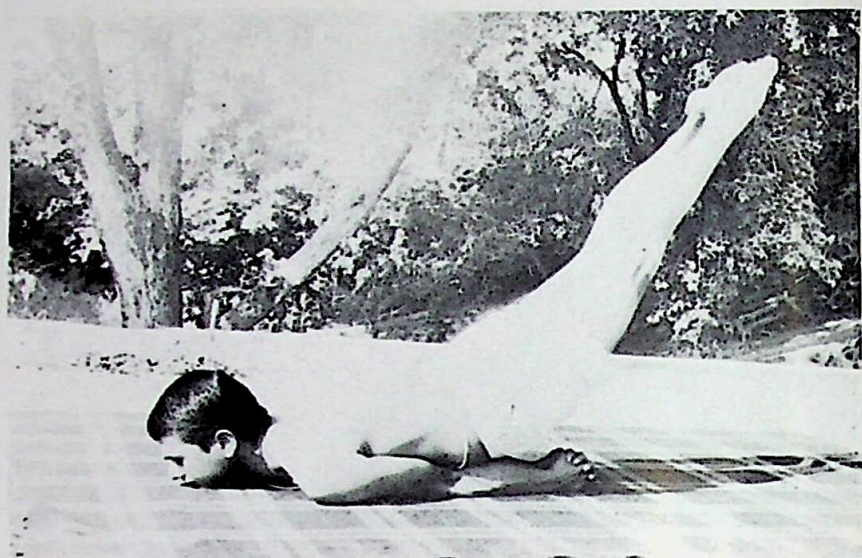
शलभासन
(पृष्ठ २८)
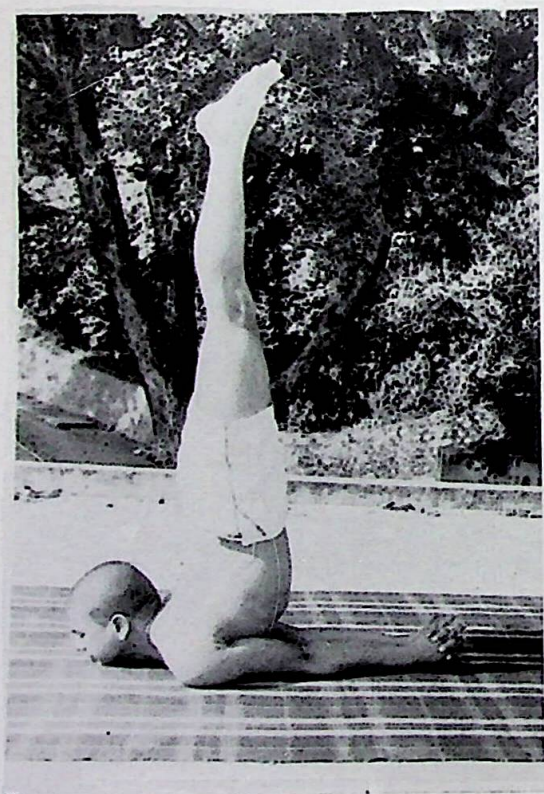
पूर्णशलभासन
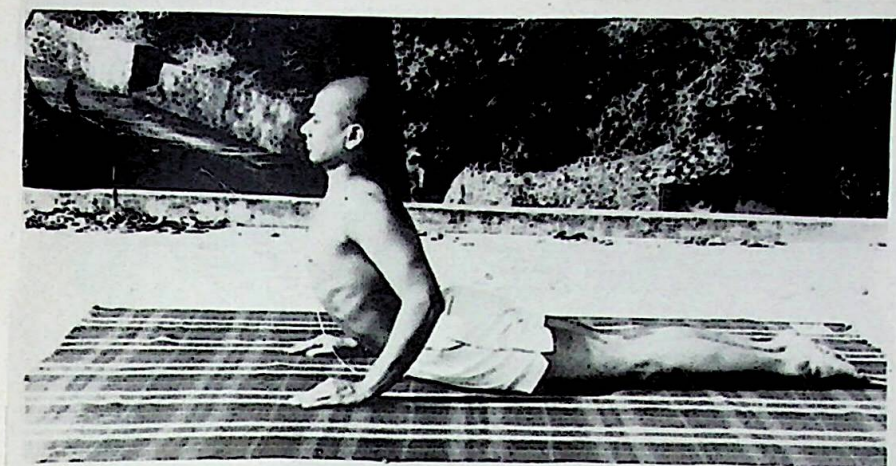
भुजङ्गासन (पृष्ठ २९)
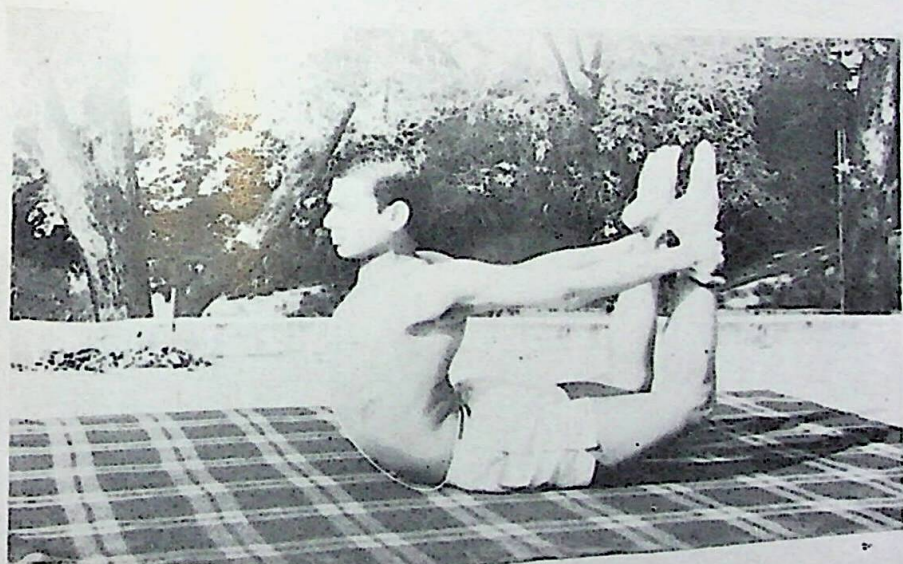
धनुरासन (पृष्ठ ३१)
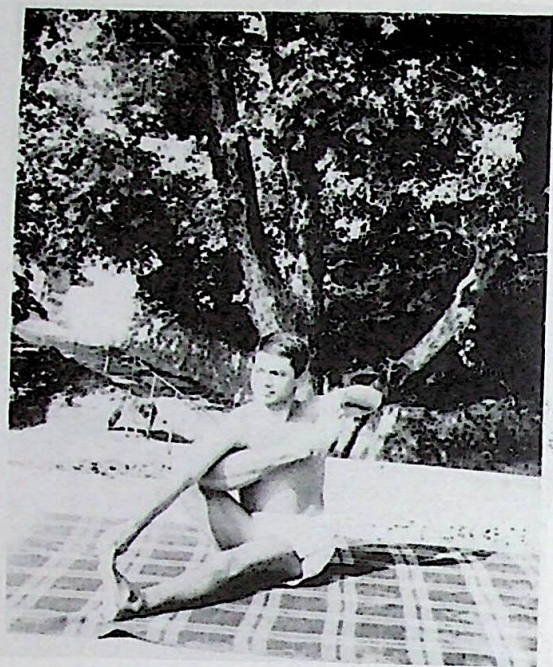
आकर्षण धनुरासन (पृष्ठ ३२)
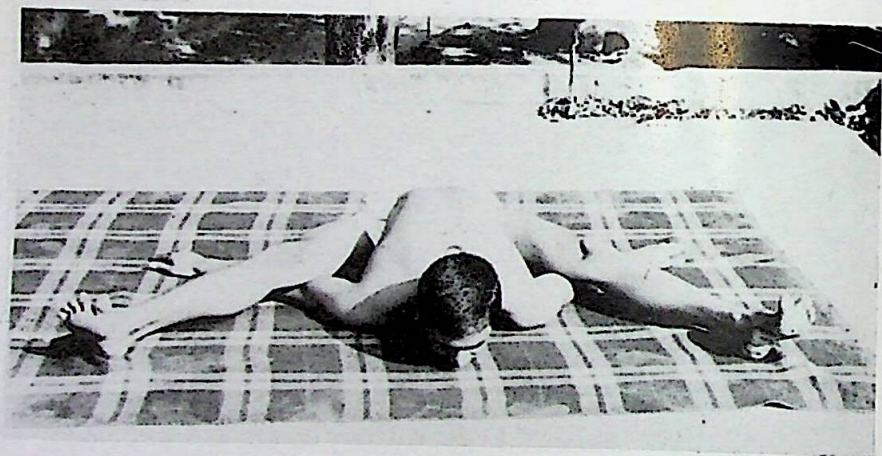
कूर्मासन (पृष्ठ ३५)
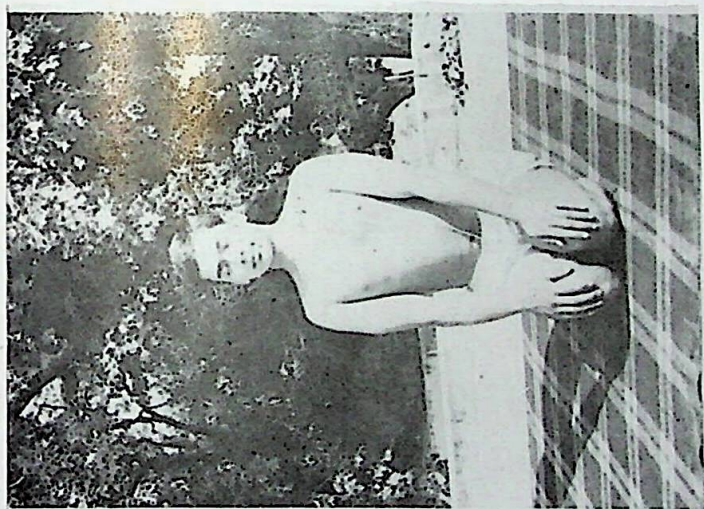
वज्रासन—सामने से (पृष्ठ ३४)
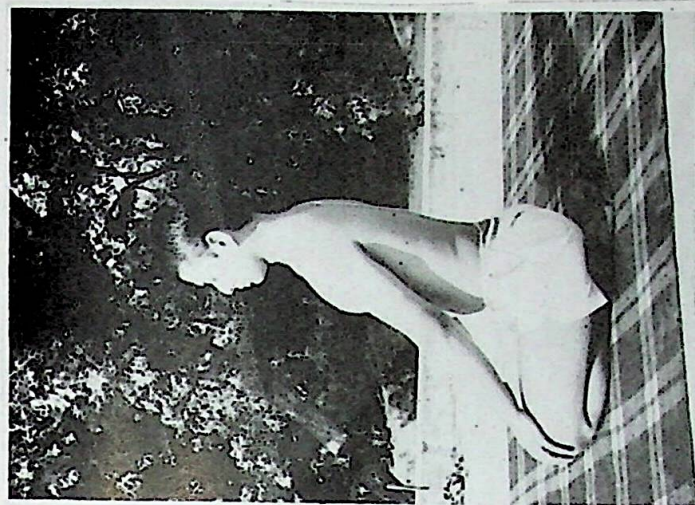
व्रजासन—पार्श्व से
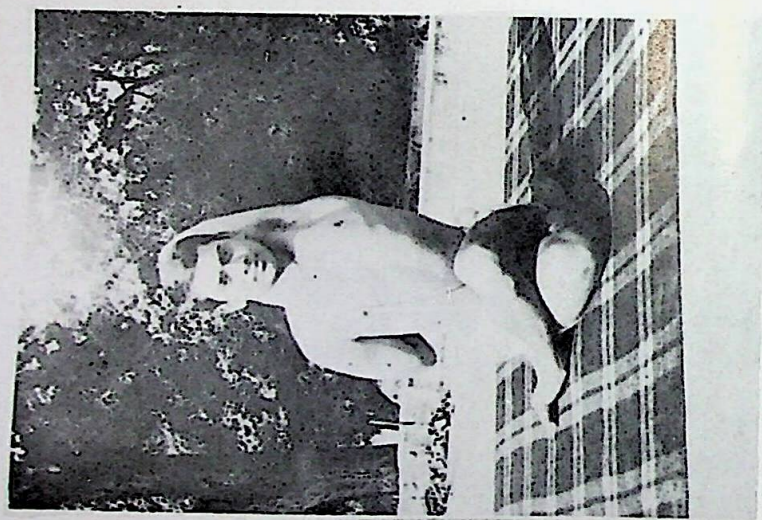
गोमुखासन—पार्श्व से

गोमुखासन—सामने से (पृष्ठ ३२)
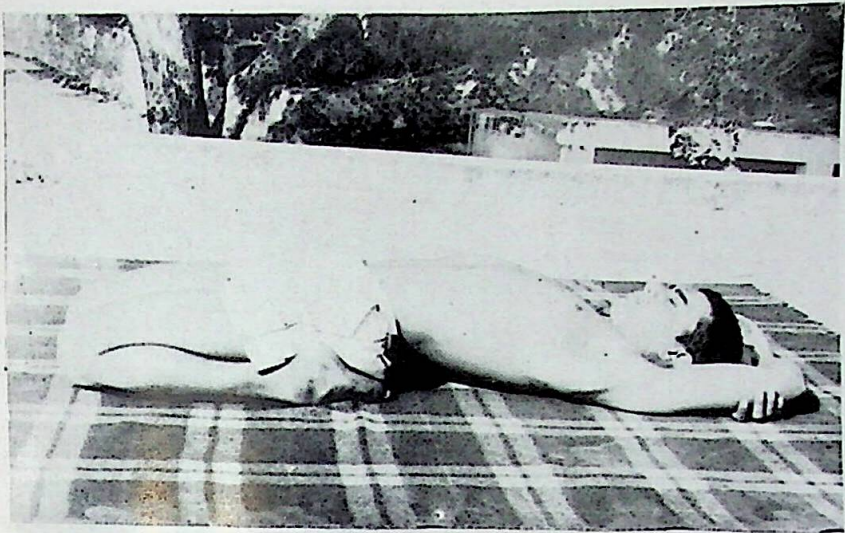
सुप्त वज्रासन
(पृष्ठ ३६)

गरुड़ासन
(पृष्ठ ३७)

ऊर्ध्व पद्मासन (पृष्ठ ३७)
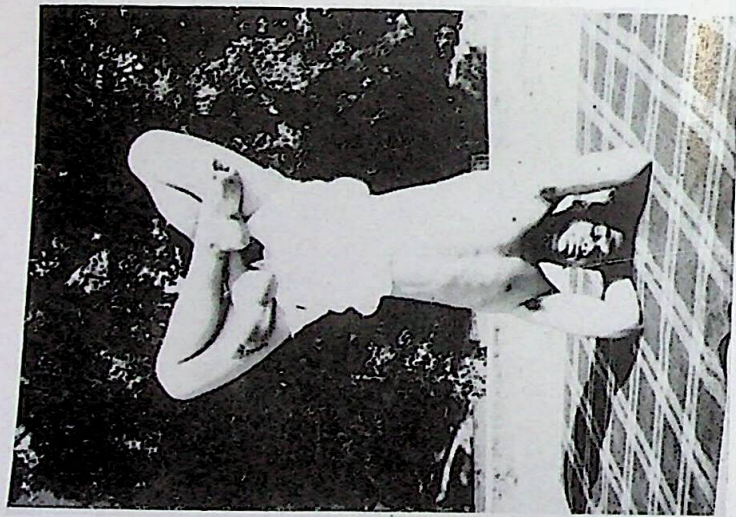
पादांगुष्ठासन (पृष्ठ ३९)
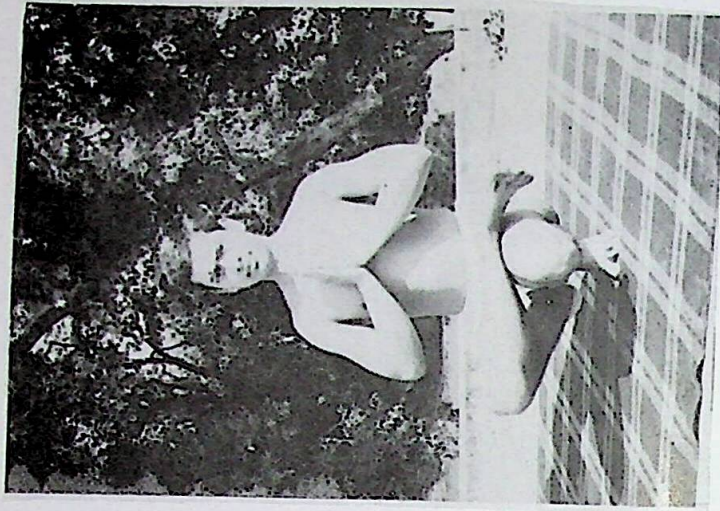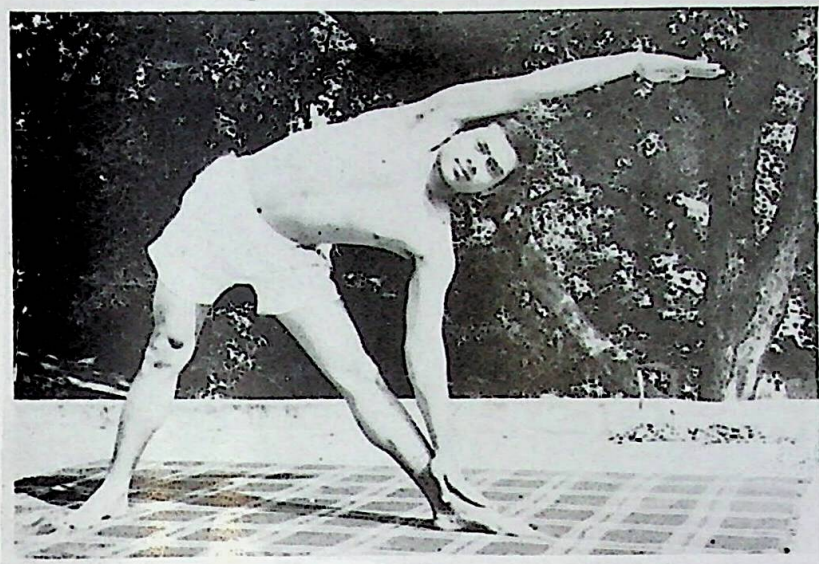
त्रिकोणासन (पृष्ठ ४०)
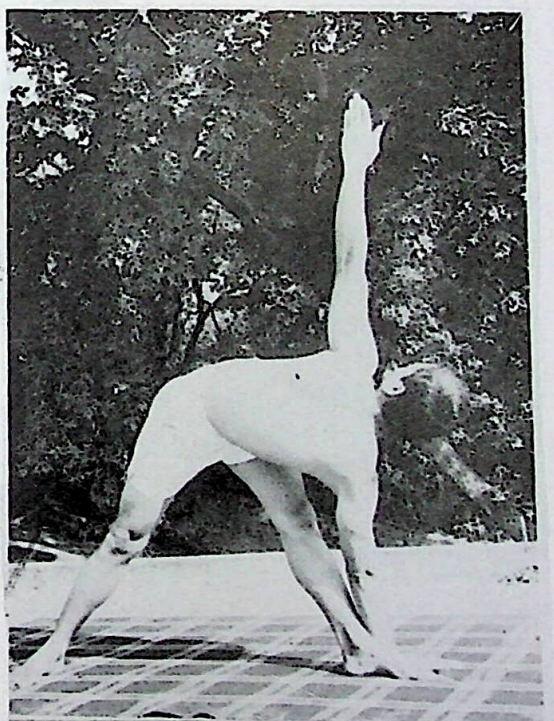
त्रिकोणासन (दूसरा प्रकार)
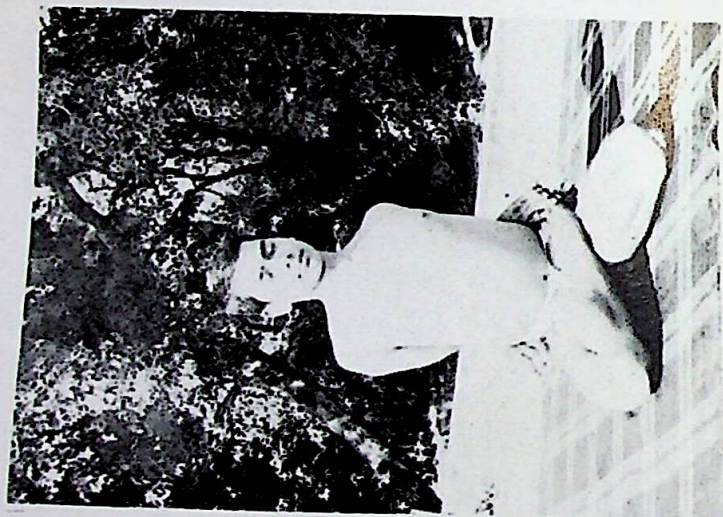
बद्धपद्मासन—सामने से (पृष्ठ ४१)
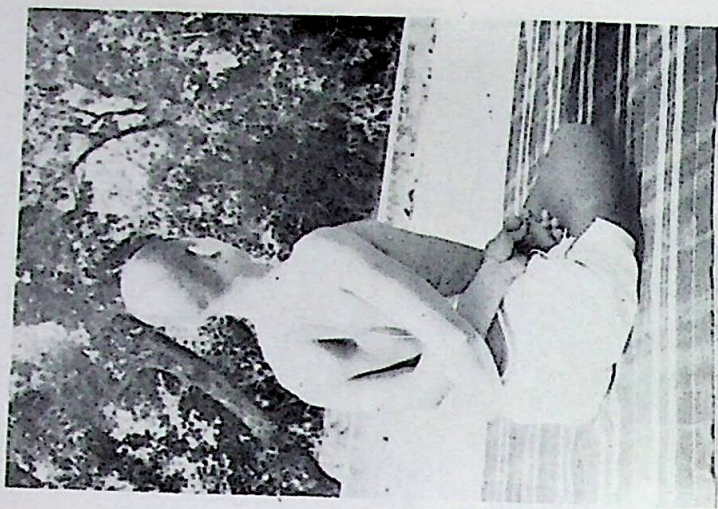
बद्धपद्मासन—पीछे से
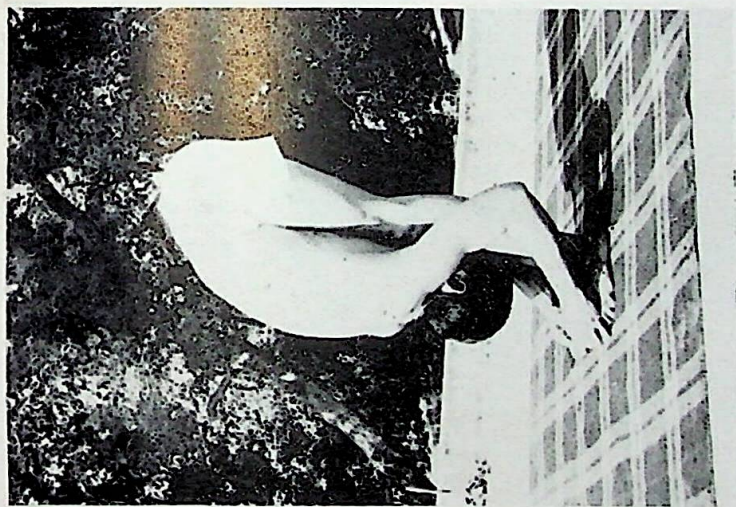
पादहस्तासन (पृष्ठ ४२)
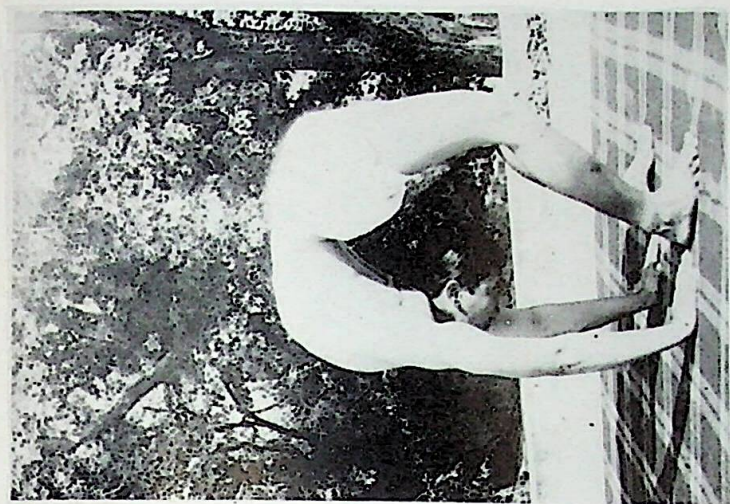
चक्रासन (पृष्ठ ४६)

अर्ध-मत्स्येन्द्रासन (पृष्ठ २७)

पूर्ण मत्स्येन्द्रासन
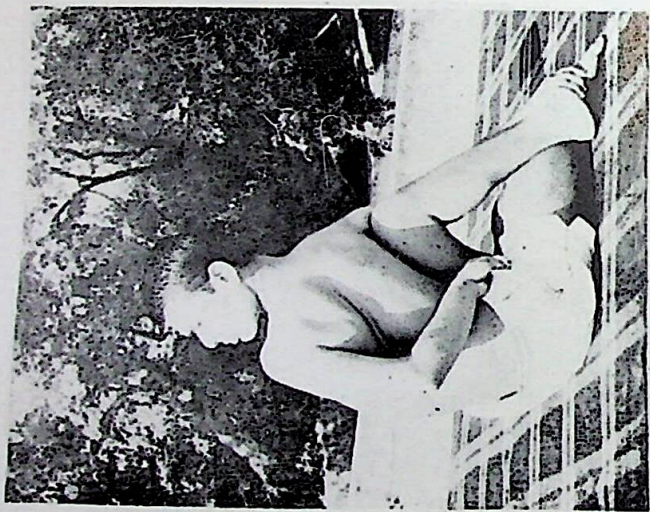
शवासन
(पृष्ठ ४७)
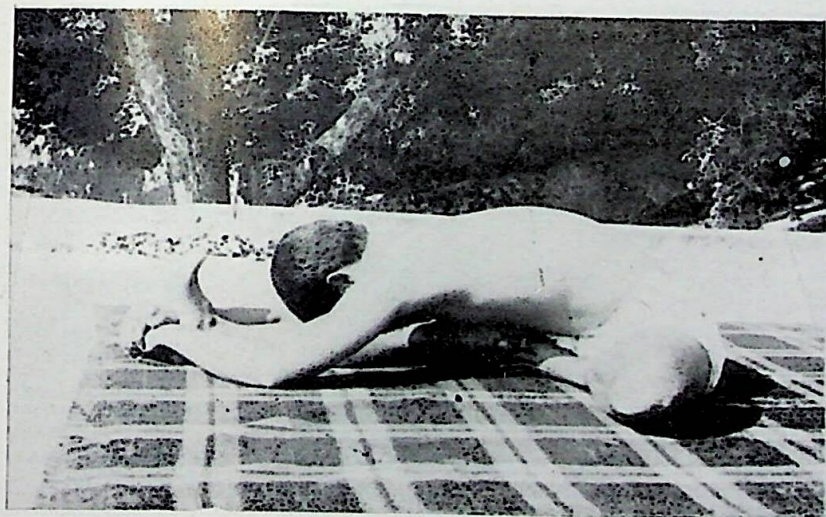
जानुशीर्षासन (पृष्ठ ५०)
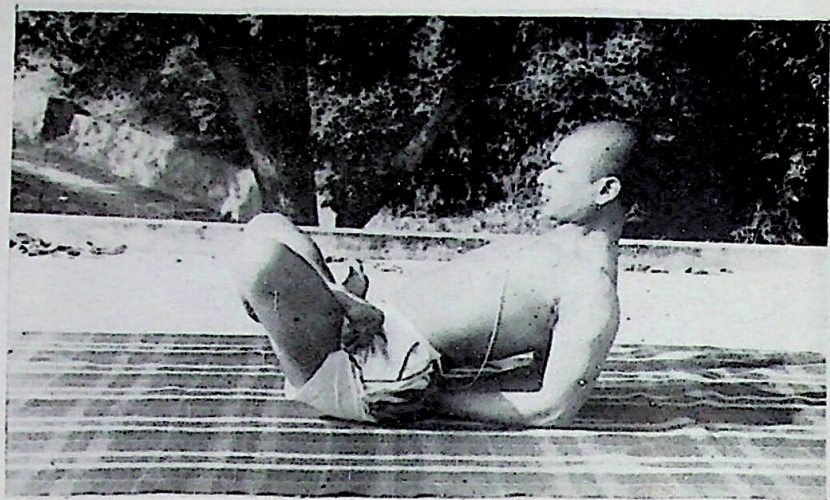
तोलांगुलासन
(पृष्ठ ५१)
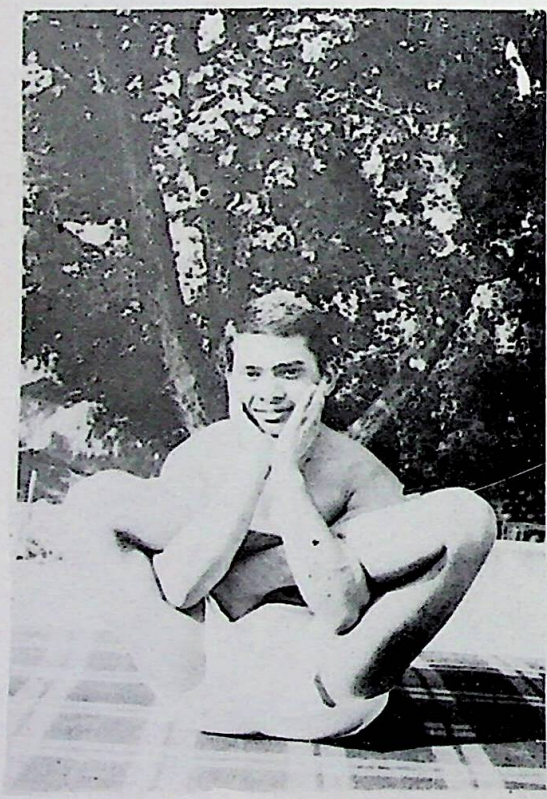
गर्भासन
(पृष्ठ ५१)
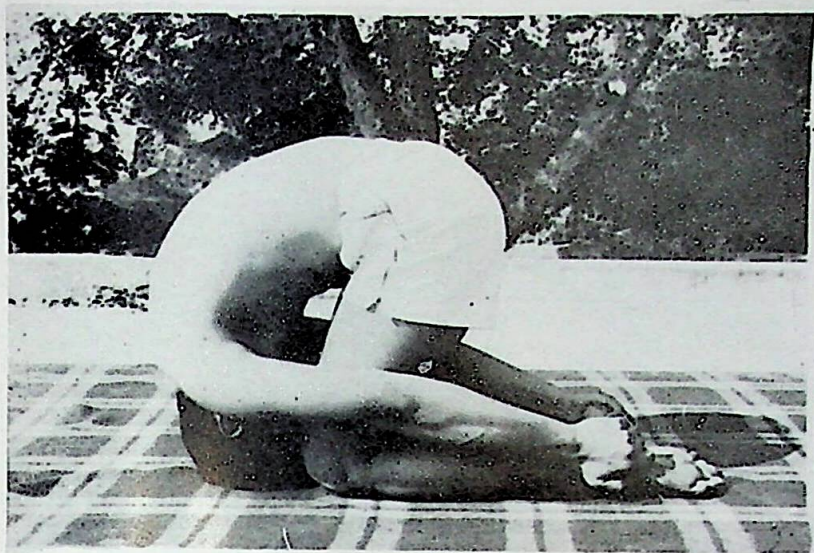
ससाङ्गासन
(पृष्ठ ५२)
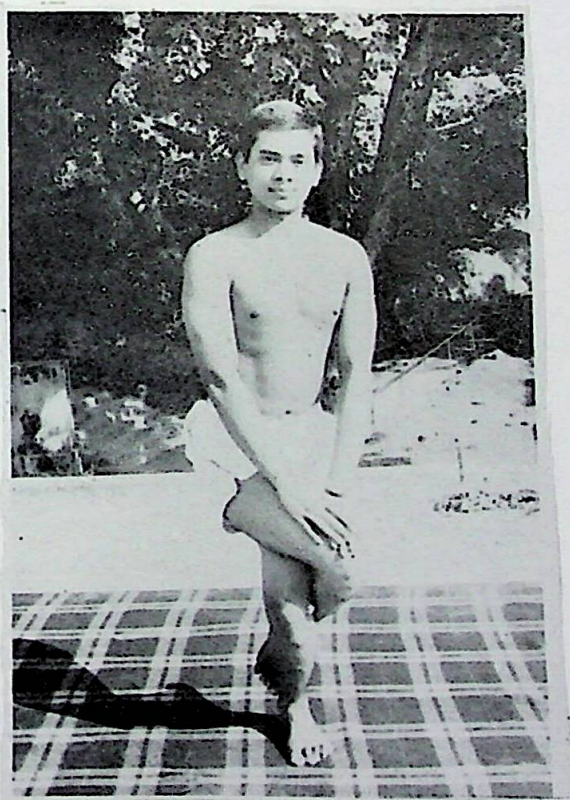
संकटासन
(पृष्ठ ५५)
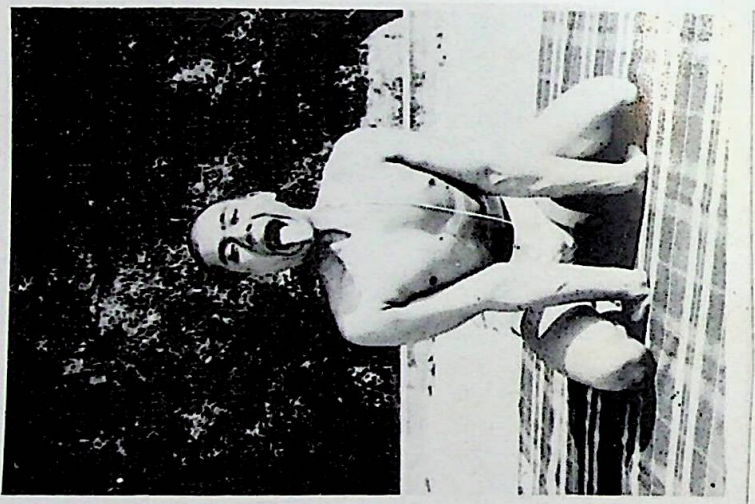
सिंहासन—सामने से (पृष्ठ ५२)

सिंहासन—पार्श्व से
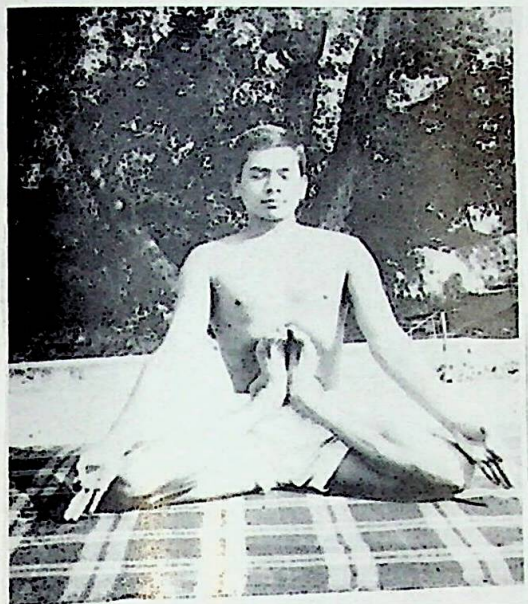
कन्दपीड़ासन
(पृष्ठ ५४)
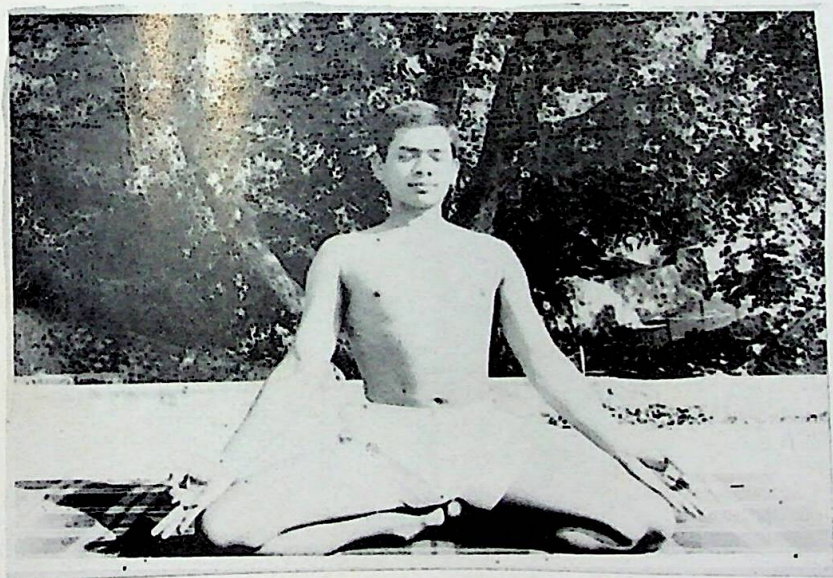
कन्दपीड़ासन (दूसरा प्रकार)

योगासन (पृष्ठ ५५)

उत्कटासन (पृष्ठ ५५)

ज्येष्टिकासन (पृष्ठ ५६)
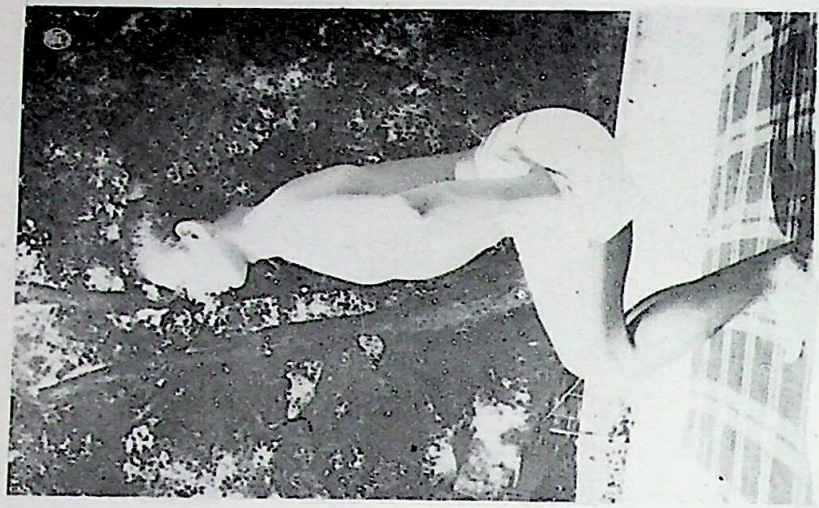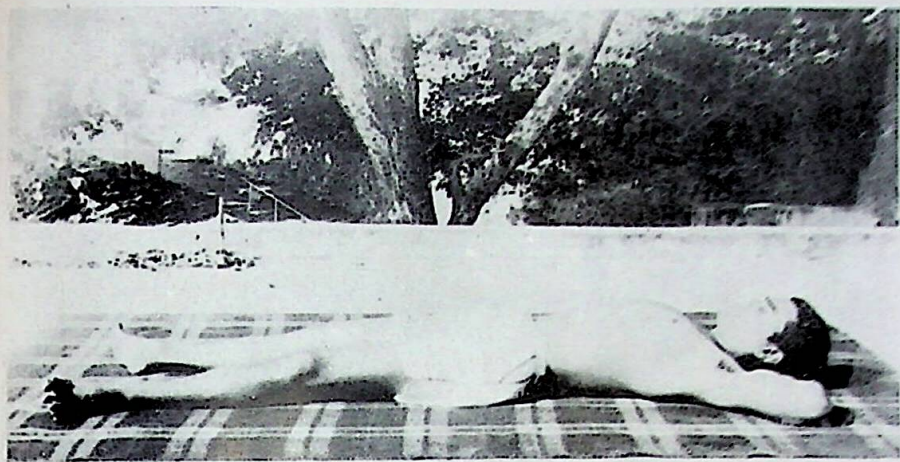
अद्वासन (पृष्ठ ५६)
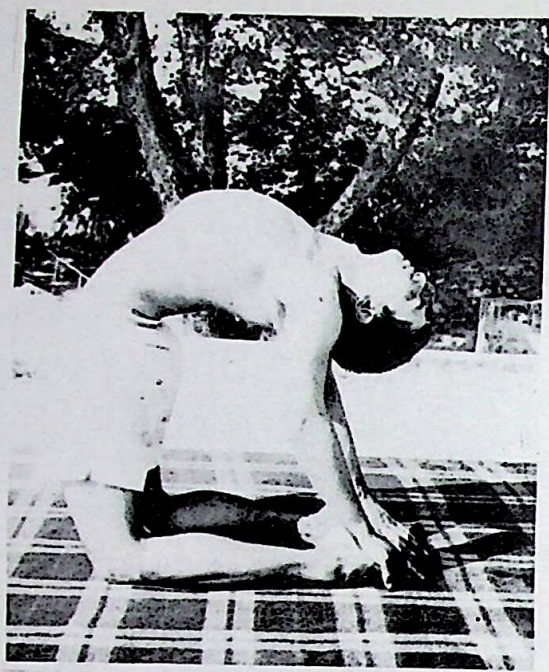
उष्ट्रासन
(पृष्ठ ५७)
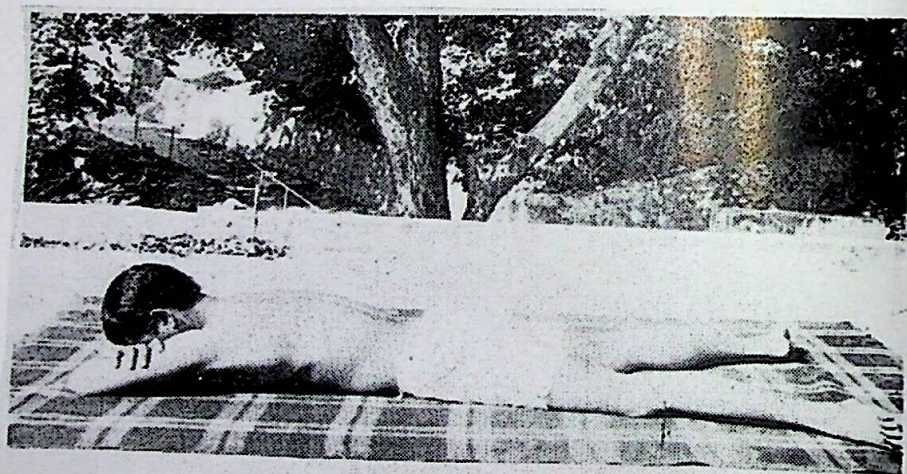
मकरासन (पृष्ठ ५७)
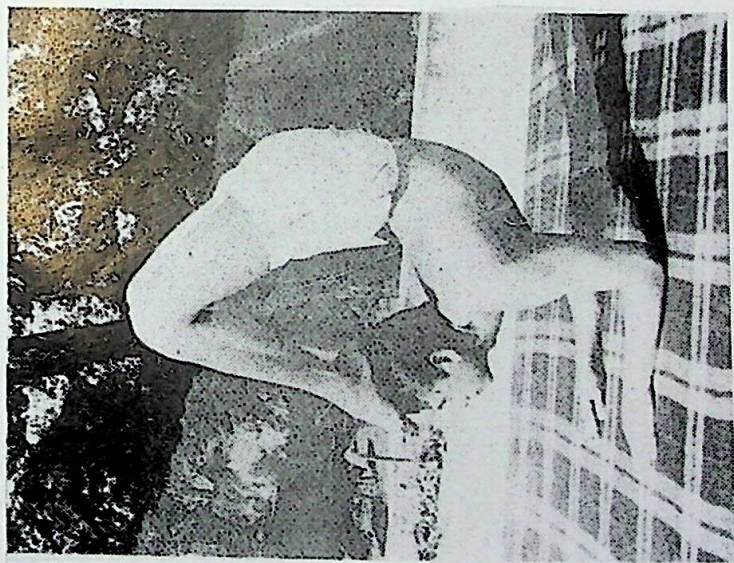
वृश्चिकासन (पृष्ठ ५७)
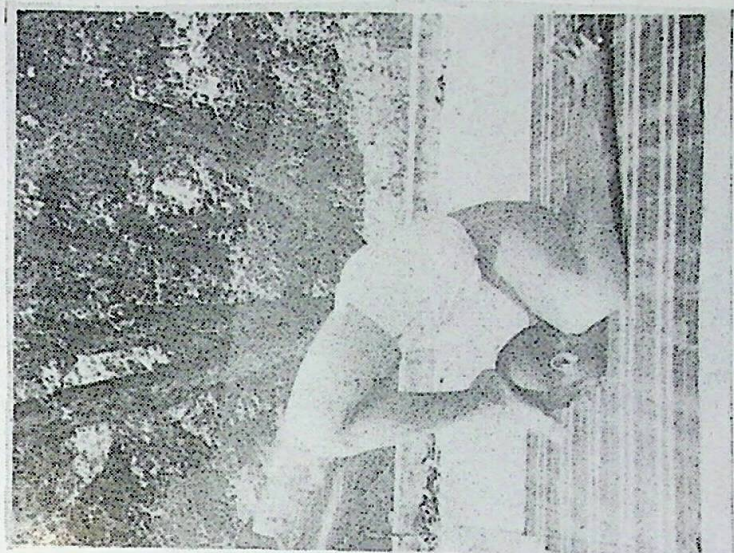
वृश्चिकासन—दूसरा प्रकार
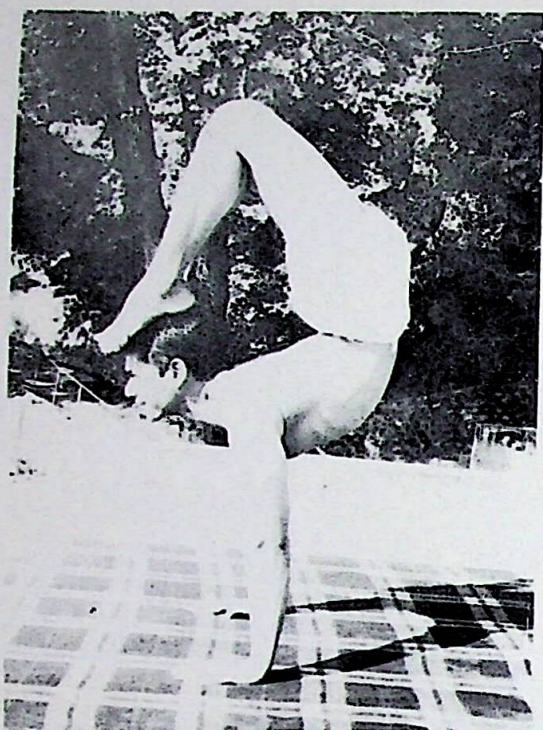
हस्त वृश्चिकासन
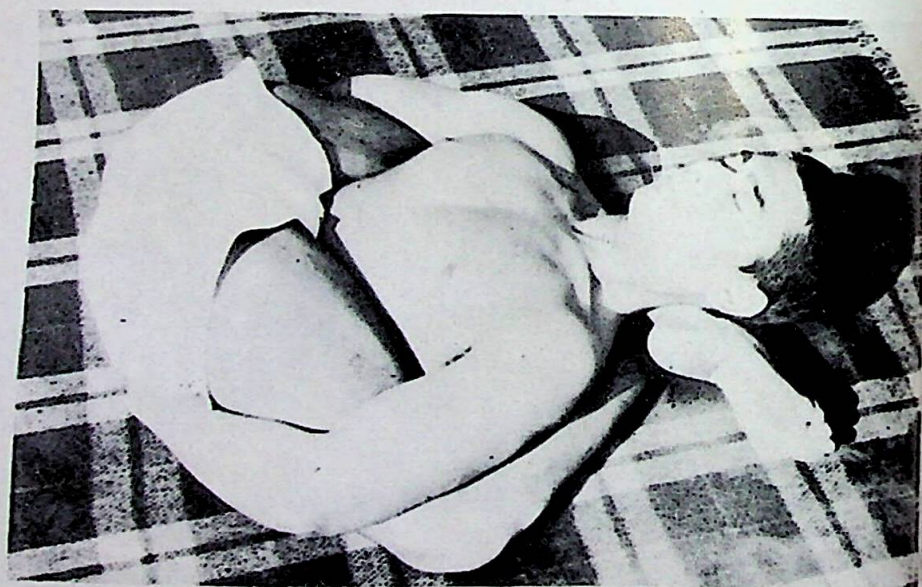
योगनिद्रासन (पृष्ठ ५८)

पर्यंकासन

सामने से

(पृष्ठ ५९)
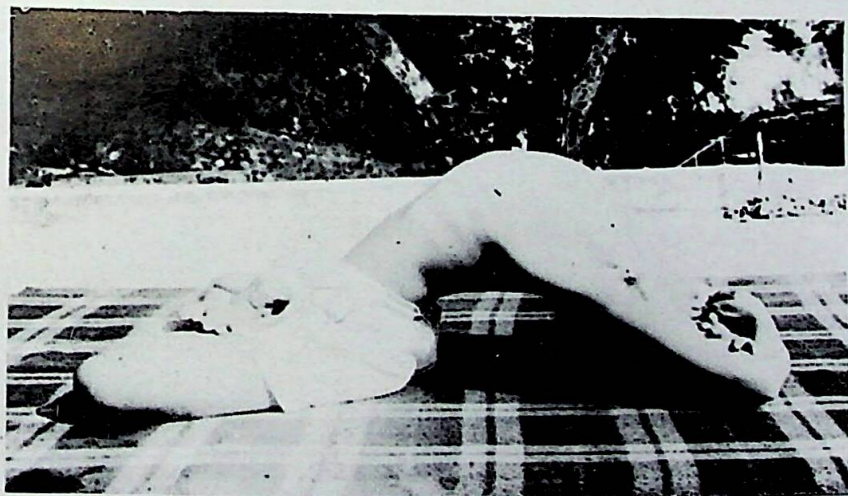
पर्यंकासन—पार्श्व से

वातायनासन

(पृष्ठ ५९)
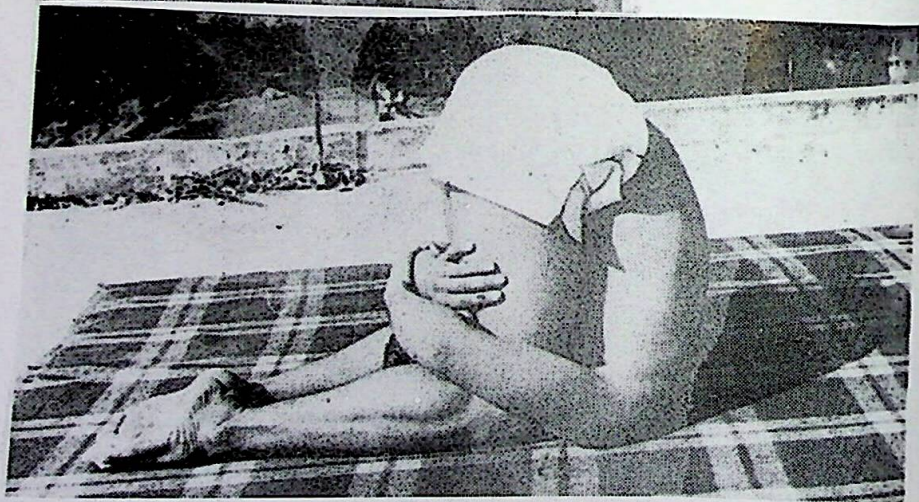
कर्णपीड़ासन (पृष्ठ ५८)

नटराजासन
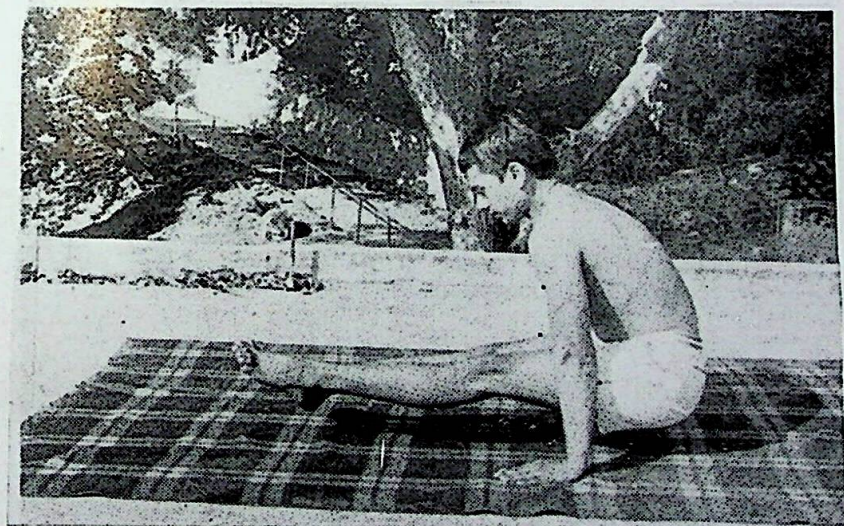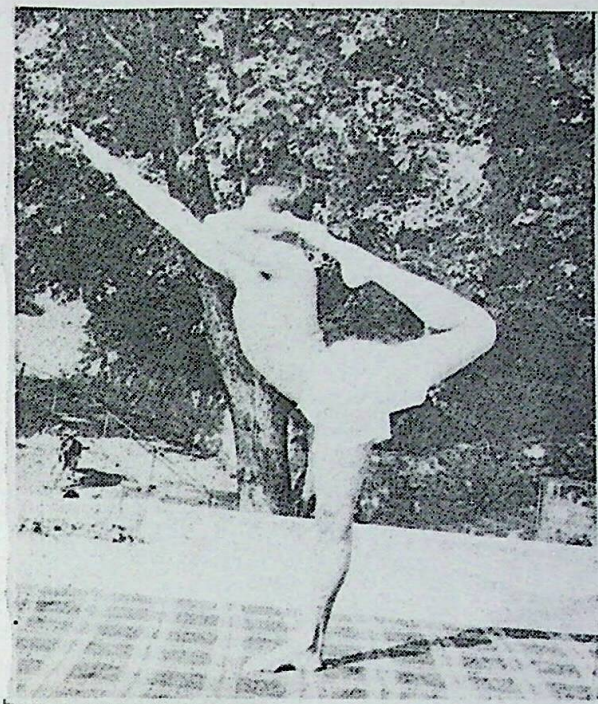
ब्रह्मचर्यासन
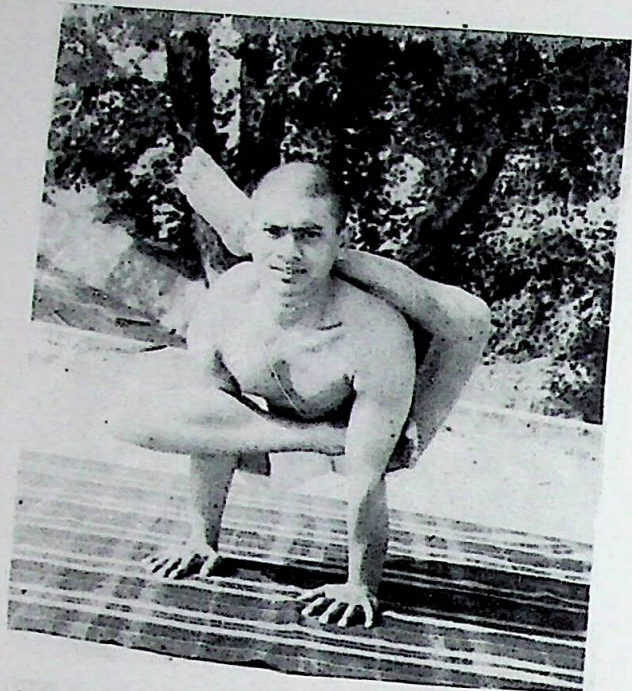
ओङ्कारासन
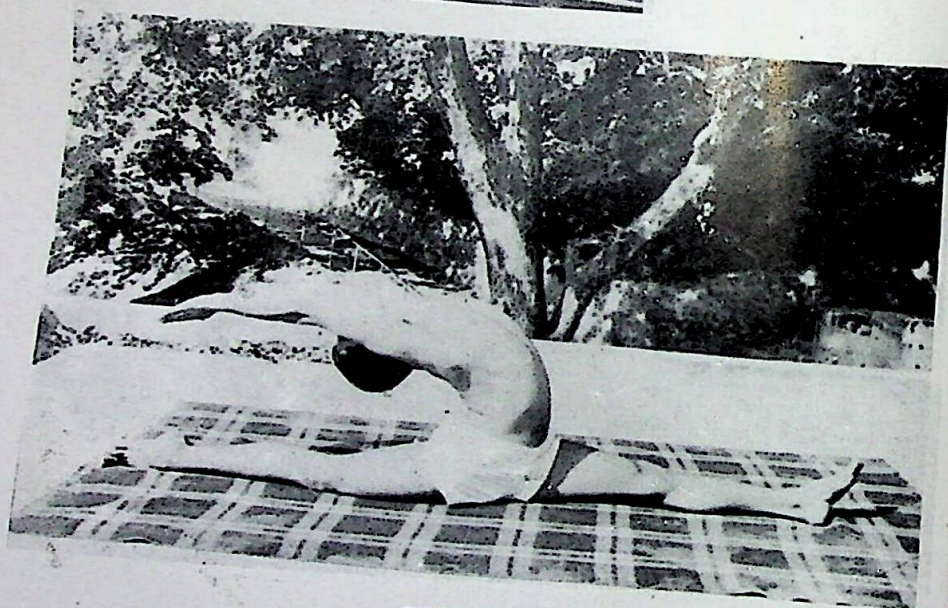
हनुमानासन

हस्तवृक्षासन
(पृष्ठ १७)
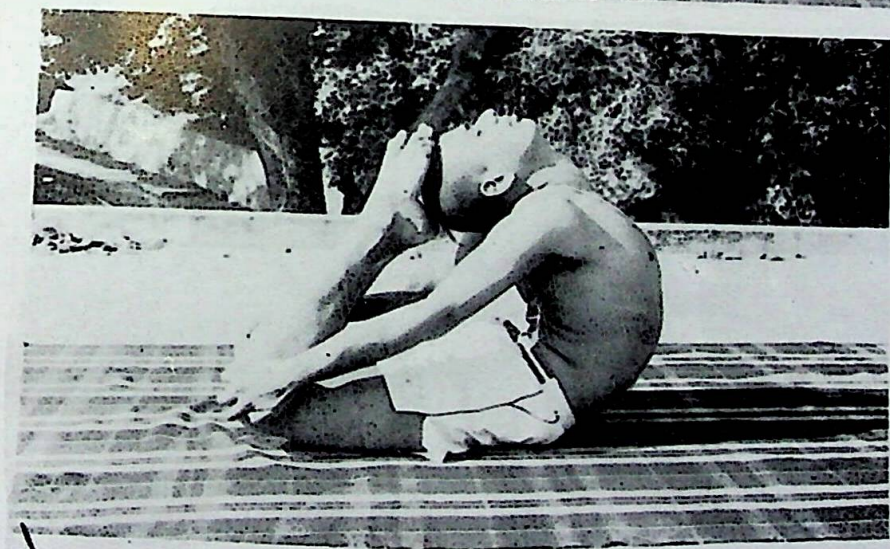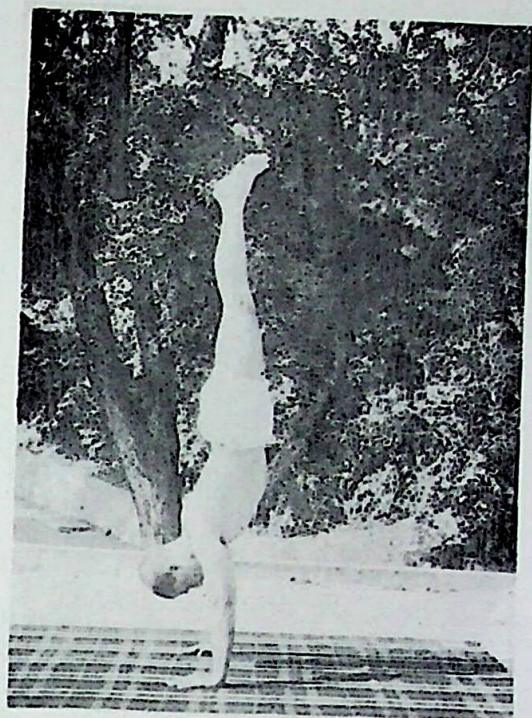
राजहंसासन
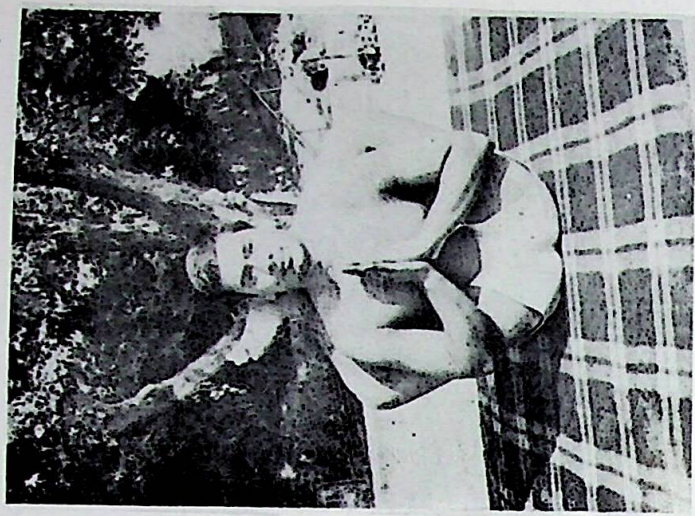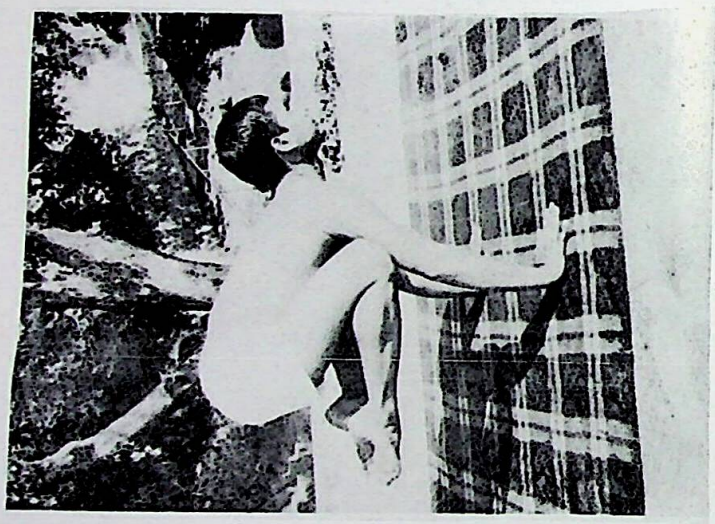
बकासन
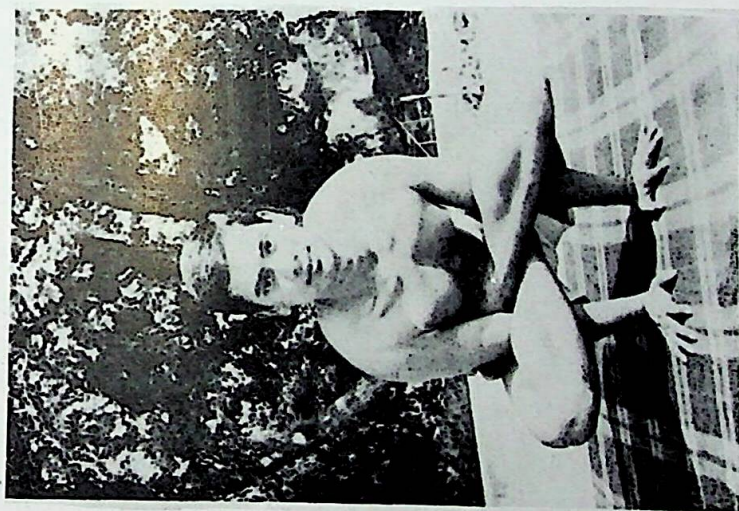
द्विपादशीर्षासन

कुक्कुटासन (पृष्ठ ५३)
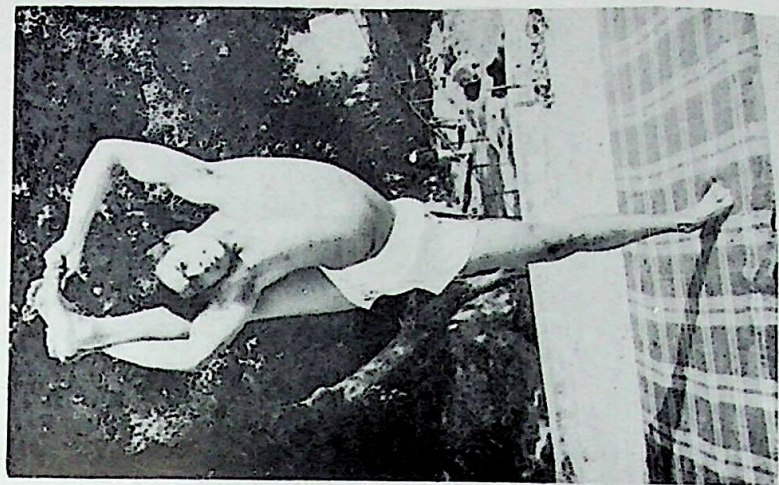
एकपादशीर्षासन

भैरवासन

कपोतासन
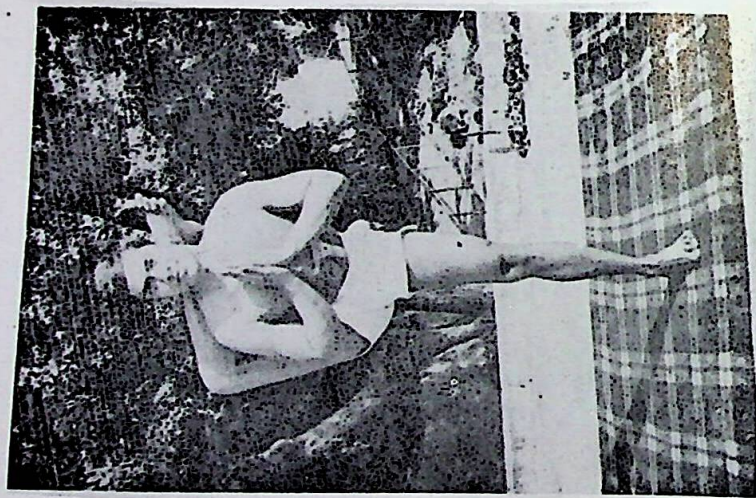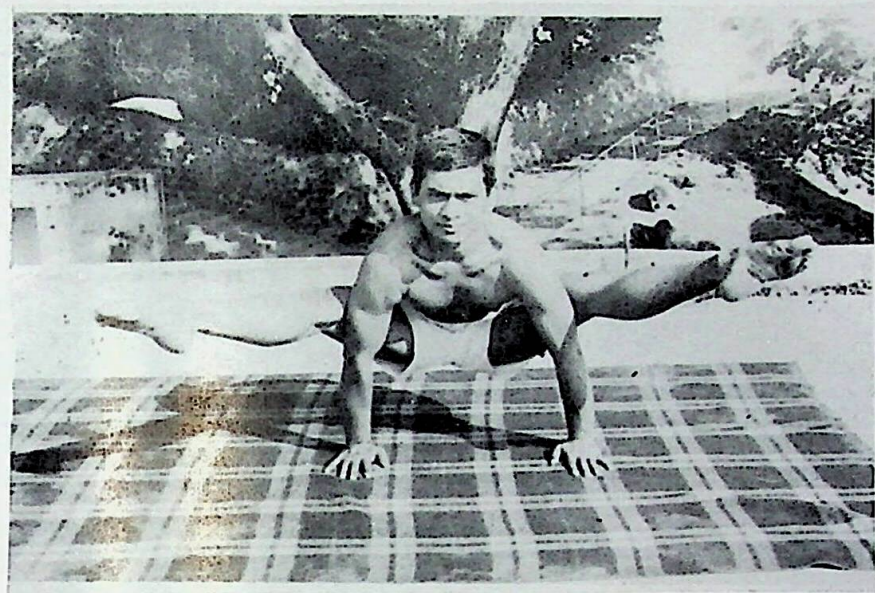
टिट्टिभासन

मुद्राएँ और बन्ध
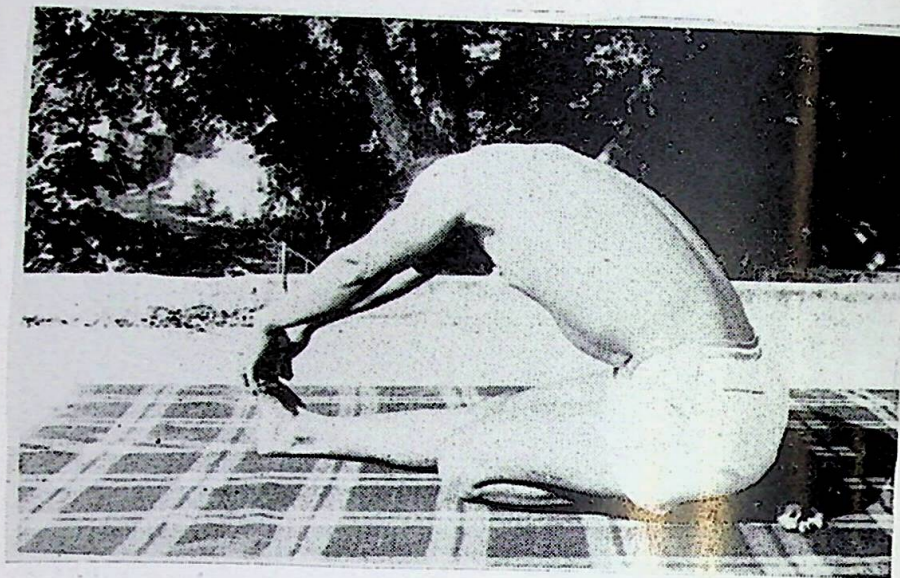
महामुद्रा (पृष्ठ ७४)
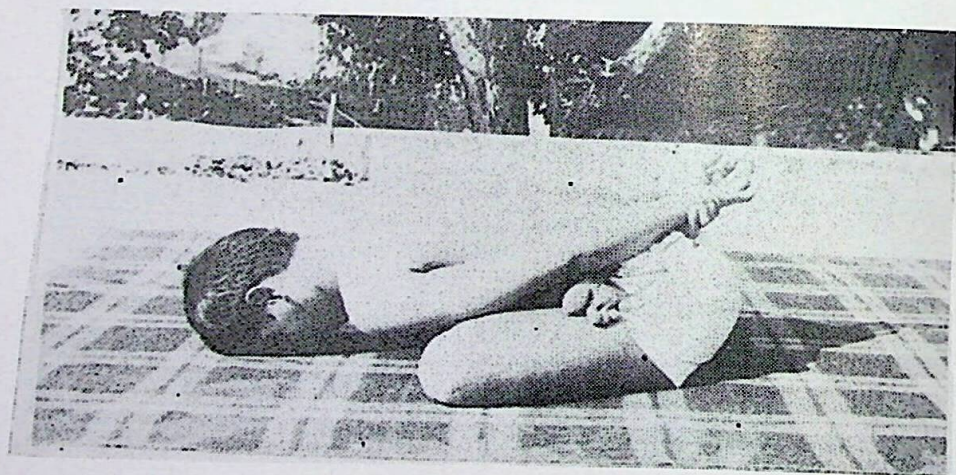
योगमुद्रा (पृष्ठ ७४)

विपरीतकरणीमुद्रा (पृष्ठ ७६)
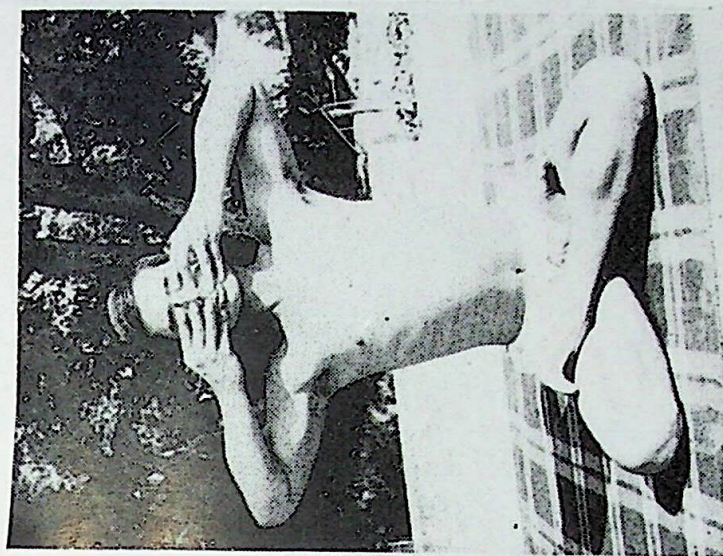
योनिमुद्रा (पृष्ठ ८०)
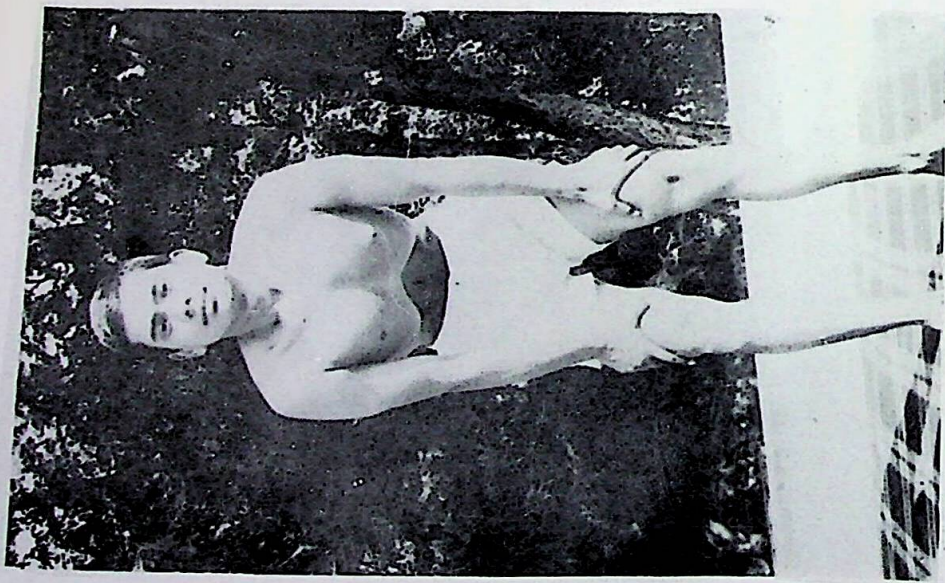
उड्डीयानबन्ध—सामने से (पृष्ठ ७९)
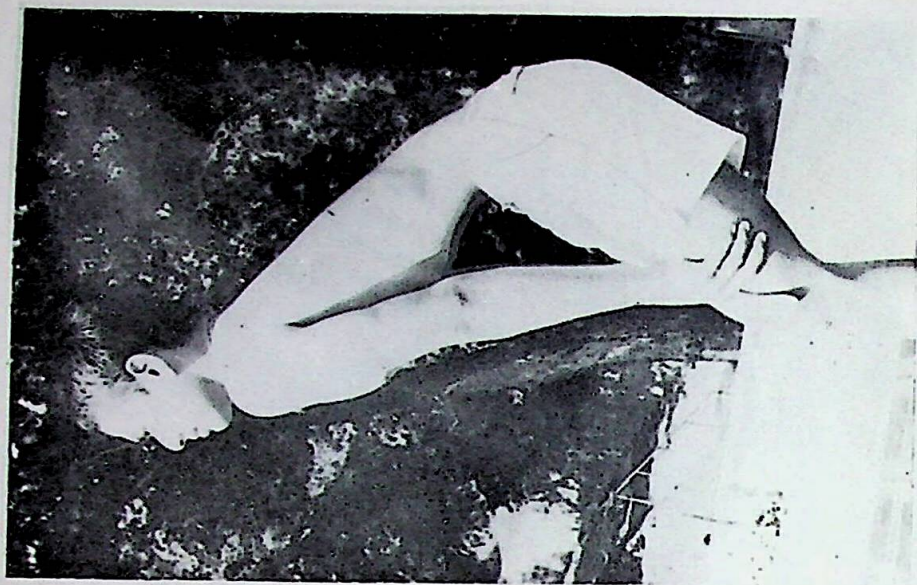
उड्डीयानबन्ध—पार्श्व से
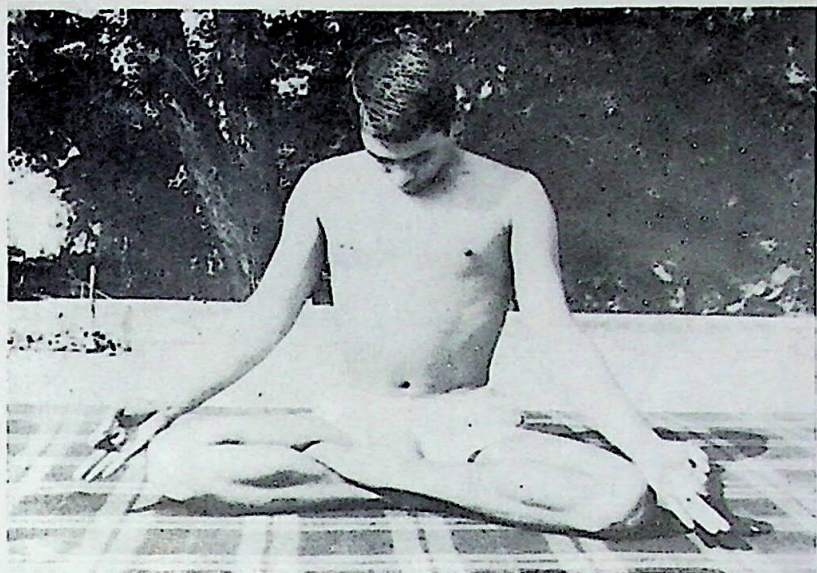
जालन्धरबन्ध
(पृष्ठ ७८)
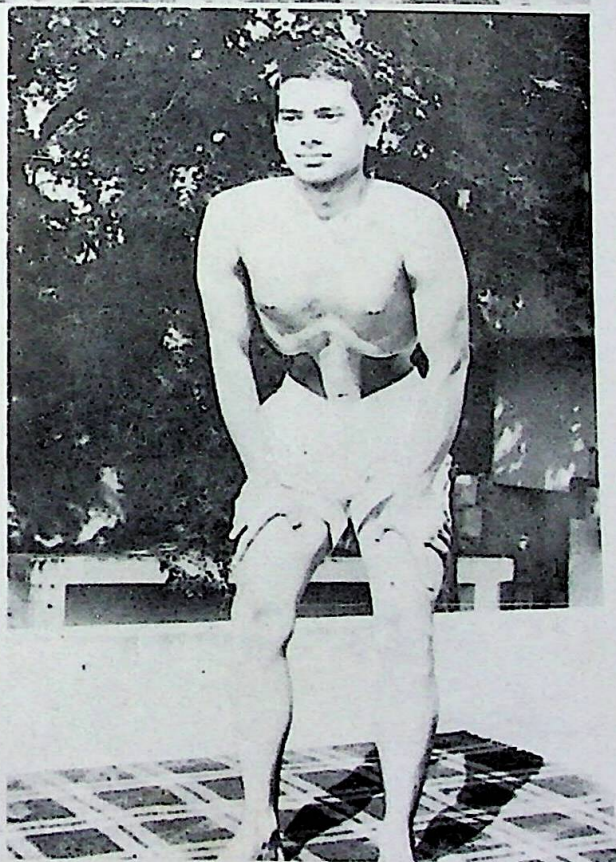
मध्यम नौलि
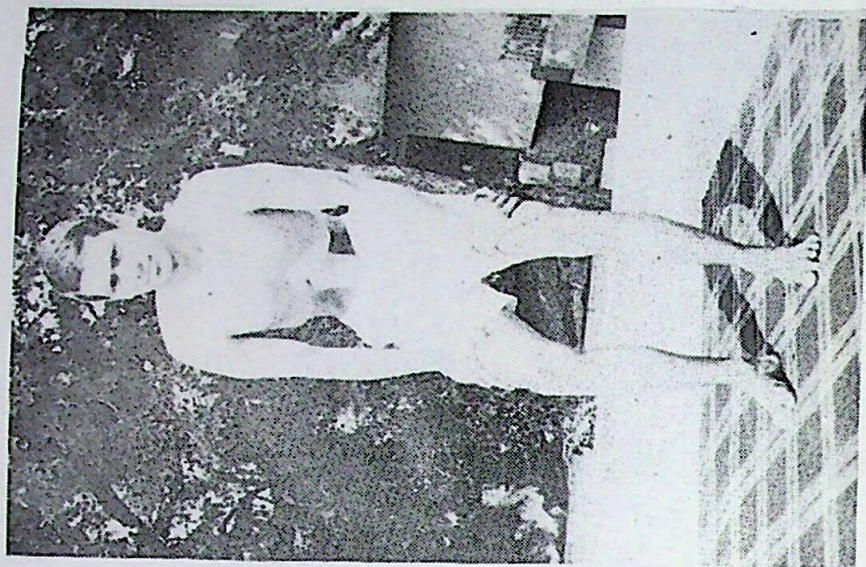
वाम नौलि

दक्षिण नौलि

प्राणायाम

सूर्यभेद
(पृष्ठ ८३)
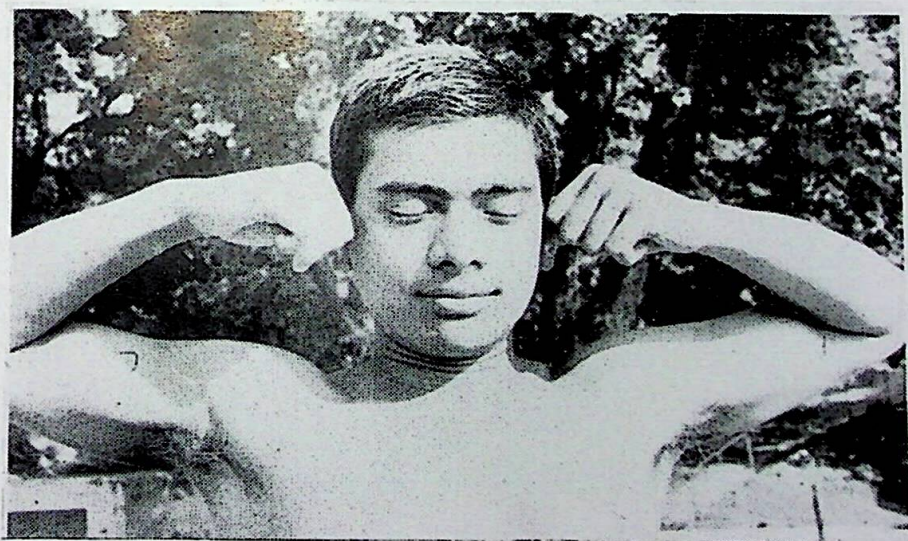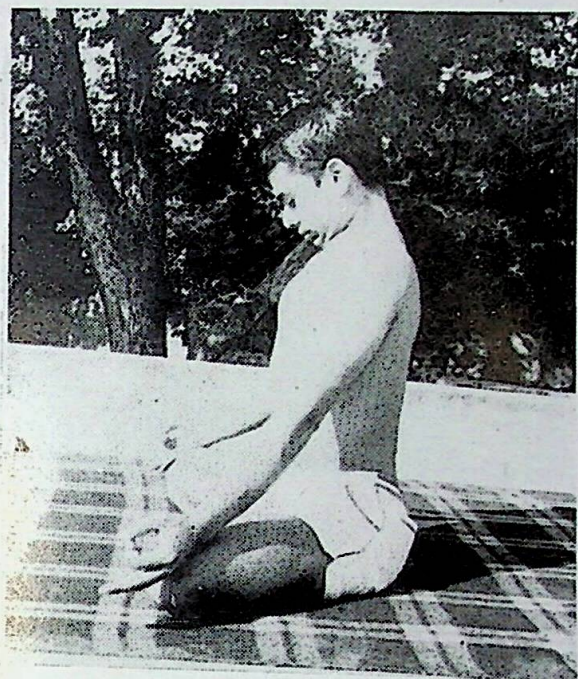
भ्रामरी (पृष्ठ ८७)

सीत्कारी (पृष्ठ ८४)

शीतली (पृष्ठ ८५)

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

८ सितम्बर, सन् १८८७ को विश्वमञ्च पर प्रथम प्रभात देखा। परिवार के लोग उनको कुप्पुस्वामी कहते थे, जो कालान्तर में स्वामी शिवानन्द सरस्वती के नाम से दिग्विश्रुत हुए। जनता की आधिभौतिक चीत्कार ने उनको मलाया बुलाया और वैदिक गीतों की सनातन-परम्परा ने उनको हिमालय की ओर प्रेरित किया। १० साल तक अकट तपश्चर्या कर, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि के अवतरण से अनवरत ध्यान में समाधिस्थ होते हुए उनको ज्ञानोज्ज्वलप्रज्ञा की अनुभूति हुई।

अपना [illegible] जनता को देने और निष्काम कर्मप्रणाली के आधार पर समाज [illegible] मानवता का निर्माण करने को सन् १९३६ में उन्होंने '[illegible]' को जन्म दिया [illegible] कालान्तर में सन् १९४८ में [illegible] अकादमी' स[illegible] अद्वितीय संस्था को उद्यत होते [illegible] के नाते [illegible] से अधिक गम्भीर ग्रन्थों के [illegible] उनके जीवन [illegible] शाल ज्ञानज्योति बिम्बित हो[illegible]-से-साधारण [illegible] का पथ-प्रदर्शन करती है। [illegible], मानव-समाज के वि[illegible] के लिए, अक्षरों का स्वरूप दे कर, वे विशाल विश्व के तीर्थयात्री क[illegible]र्ग तो दिखा रहे हैं; अन्धकार में नवीन प्रभात तो ला ही रहे हैं; साथ-साथ वे प्रत्येक सत्यशील, परन्तु यातनातप्त साधक के चिर-सहयात्री भी रहे हैं, जिनका शब्द उसे प्रोत्साहन और अभिप्रेरणा देता, जिनकी कृपाकटाक्षवीक्षणलहरी उनको दिव्य बना देती, स्वर्णमय कर देती है। आज तो वे विश्व के गुरुदेव हैं जिनकी ब्रह्माण्ड-व्यापिनी विजय-वैजयन्ती के नीचे सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय और सभी वर्ण तथा सभी मनुष्य अपना-अपना आश्रय खोज रहे हैं और निस्सन्देह भविष्य भी उनकी अवतार-कथा को घर-घर गायेगा; क्योंकि उन्होंने अपने दिग्विजयी व्यक्तित्व को परात्पर-जीवन में तन्मय कर दिया था। वे १४ जुलाई, १९६३ को महासमाधि में लीन हुए।

ISBN 81-7052-126-2 HS 203 Rs. 50/-

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
३

वैदिक योगसूत्र

(वैदिक वाङ्मय का योगात्मक दर्शन)

हिन्दी भाष्य सहित

लेखक—

पं० हरिशंकर जोशी

(प्रतिभादर्शन या भाषा तत्त्व शास्त्र, वैदिक विश्वदर्शन, सांख्ययोगदर्शन का जीर्णोद्धार, वैदिक ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों का भाष्य तथा विस्तृत भूमिका, पञ्चम वेद पुराण दर्शन, तथा ऋग्वेद भाष्य के रचयिता)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६७

श्री १००८ महावीरावतार स्वनामधन्य

नित्यजाग्रत समाधिस्थ महाराज

नीम करौली बाबा जी
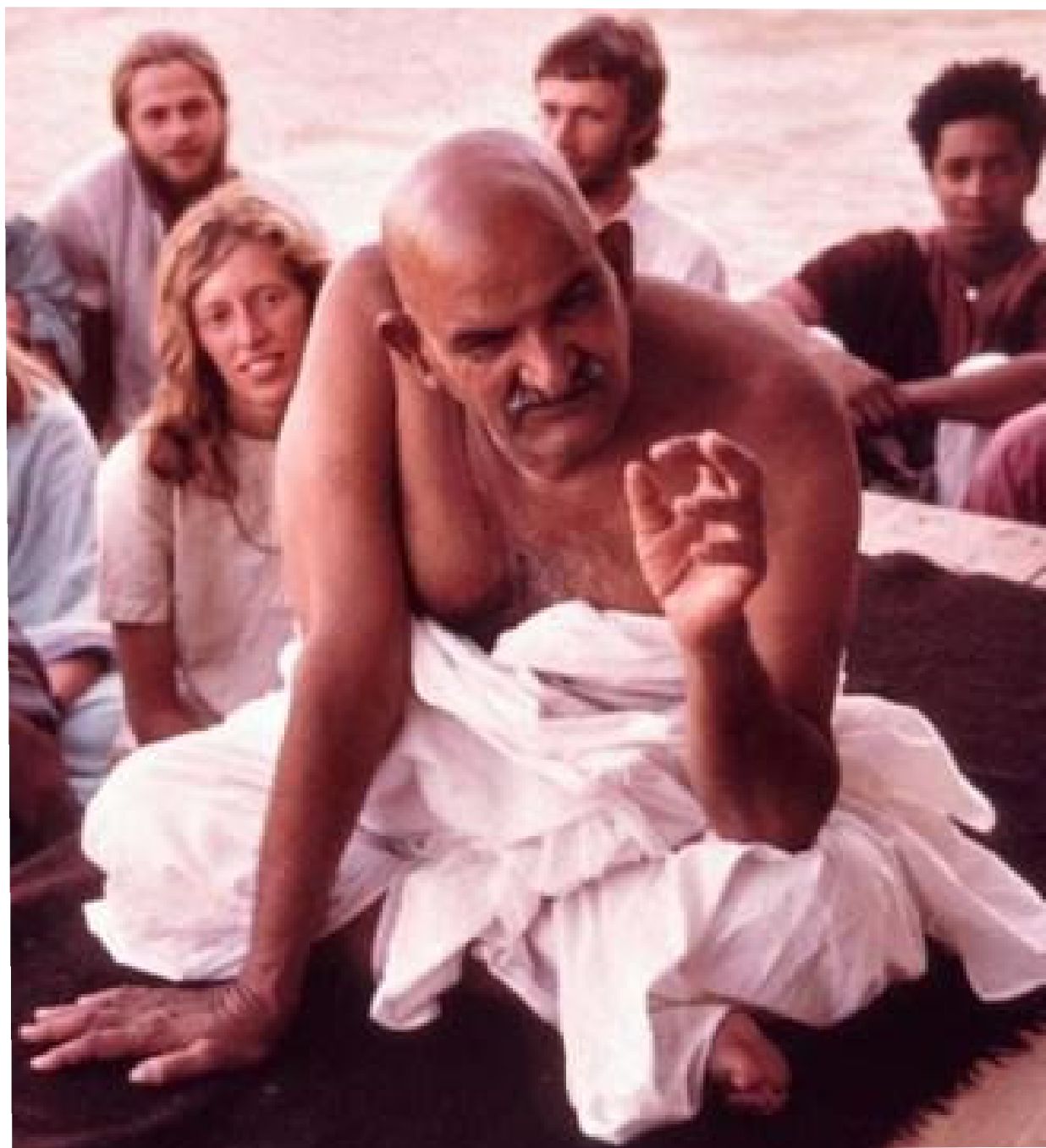
के

कर कमलों में सादर

समर्पित

अन्तर्दर्शन

अकलुषिता निर्मला महती मधुरिमामयी जिस वेद विद्या के अमृतमय घूँट को हमारे पूर्वज महर्षिगण उपनिषद् युग तक अविच्छिन्न रूप से पीते आ रहे थे, उसके एकाएक ह्रास होने की जो निराश करने वाली सूचना भगवद्गीता और रामायण से लेकर प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थोंने दी है और तब से लेकर अब तक उस अन्धयुग की धुआँधार धांधली ने उस अमृतमय वाणी, वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की जैसी उत्तरोत्तर शतमुखी अधोगति की है उसके उद्धार के लिए किसी भी विद्वान् को उचित रूप से प्रवृत्त ही न देखकर यह लेखक अकेले ही उन महर्षियों के मर्मों की मार्मिकताओं को बटोर बटोर कर इस ग्रन्थ में नवीन रूप में प्रस्तुत करने का जीवनव्यापी प्रयास सामने रख रहा है। यद्यपि औपनिषदिक महर्षियों ने यह कार्य जितनी दक्षता कुशलता सरलता और सम्बोधनीयता से प्रस्तुत कर दिया था वही सबको वैदिक अमृतपान कराने वाली मोहिनी से कम न था, पर ह्रास तो सब का हो गया, सिर नहीं रहा, धड़ नहीं बचा तो हाथ पांव जैसे ये ग्रन्थ निर्जीव से, काट कर पृथक् फेंक दिये गये, सुगन्ध देने के स्थान में ऐसे महाशयों को दुर्गन्ध ही क्यों न देते? पर ये अजर हैं, अमर हैं, कोई कितना ही करे, ये नष्ट होने के नहीं। संहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् एक शरीर के मुख्य अङ्ग हैं, जो इन्हें पृथक् या स्वतन्त्र मानते हैं वे इस वेद पुरुष के हत्यारे हैं व्याख्या! रे नहीं। प्रतीत ऐसा होता है कि वेद पुरुष अपने इसी नवावतार की प्रतीक्षा में माता पिता की तरह यह सब कुछ सहन कर रहा है।

वेदविद्या या वैदिक दर्शन का लोप केवल अनूचान शुश्रुवान्स महर्षियों के अभाव के ही कारण नहीं हुआ, वरन् उक्त विद्या के पथ प्रदर्शक ग्रन्थ के अभाव से भी हुआ; पर उन महर्षियों ने ऐसा ग्रन्थ इस लिए प्रस्तुत नहीं किया था कि यह विद्या अत्यन्त रहस्यमय और पवित्रतम मानी जाती रही, जिसे सभी को नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात न देने के लिए यह है कि वेदों का अधिकांश विषय योग से सम्बन्ध रखता है। योग ऐसा विषय है जिस पर आप चाहे कितने ही ग्रन्थ पढ़ लें, पर प्रयोगावस्था में आपको किसी योग्यतम गुरु की ही शरण लेने को बाध्य होना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो कुछ किया वह नितान्त अनुचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु उन्हें अपने दर्शन की एक पूरी रूप रेखा तो कम से कम अवश्य देनी चाहिए ही थी। इसके अभाव में, यद्यपि, आज सैकड़ों ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी, जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध है वही संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों और उपनिषदों का एक महान् क्षीरसागर सा है,

कम नहीं, इनमें जो कुछ आवश्यक है, वह सब सामग्री है, पर मजाल क्या कि कोई भी इनमें से किसी को भी ठीक से समझ या समझा सके। प्रत्येक का कार्य 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' आलापना मात्र है, यह प्रयत्न कोई नहीं करने जाता कि वास्तव में वे ग्रन्थ कह क्या रहे हैं या क्या कहना चाहते हैं? ये ऐसा अर्थ करते हैं जिस मार्ग को इन ग्रन्थों ने कभी देखा तक न होगा। अर्थात् वे आज के वातावरण या ग्रीक और रोम के वातावरण या प्राकृतिक वातावरण की अन्धे की लकड़ी के सहारे चलते हैं। अन्धयुग के आचार्य वेदों के अर्थ के सम्बन्ध में एकाएक ऐसे क्यों कर भटक पड़े हैं? इसका एक प्रधान कारण यह है कि उन्होंने कर्मकाण्ड की शैली के प्रभाव से यह समझ लेने की महती भूल—जिसके लिए महर्षियों ने उनके विधाताचार्यों को सैकड़ों लताड़ें फटकारें सुनाई थीं, उन्हें भी समूचे निगल कर—की कि वेदों में बाह्यार्थ विषय का प्रतिपादन है। बस यहीं से पावों तले से धरती खिसकी। वेदों में जो कुछ भी वर्णन है वह सब अन्तर्जगत् का है, यह अन्तर्जगत् समाधि और ब्रह्माण्ड समाधि या सृष्टि की मौलिक प्राणमयी रचना का है। इसकी वर्णना का आधार अवश्यमेव बाह्य विषय है, पर वह सांकेतिक है, भाषा है, व्यञ्जना शैली है, जिनसे मुख्य विषय सदा ही दूर, एकदम स्वतन्त्र और निराला अथवा पृथक् होता है। इस तथ्य पर किसीने ध्यान ही नहीं दिया। सारे उपनिषद् ब्राह्मण पुराण आदि चिल्लाते चिल्लाते रह गये, थक गये। दूसरी विशेष बात यह है कि वैदिक युग में तो वैदिक दर्शन की रूप रेखा से सभी महर्षि भली भांति परिचित रहते थे, यहां तक कि याज्ञिक भी, जिसके विना वे यज्ञों में विभिन्न देवताओं का क्रम ही नहीं बैठा सकते थे। अतः उन्हें ऐसी पथप्रदर्शक रूपरेखा की आवश्यकता ही नहीं रहती रही। तब प्रश्न उठता है कि जब उस वातावरण का नितान्त ह्रास हो गया था तब तत्कालीन या मध्ययुगीय या आधुनिक विद्वानों में से किसी ने भी उस रूप रेखा को खोज कर सामने रखने का प्रयास क्यों नहीं कर दिया? जिससे सब पहेलियाँ कब की अपने आप सुलझ जातीं। इसके अभाव का मुख्य कारण यह है कि तब से लेकर अबतक के किसी भी विद्वान् ने ऐसे महा जटिल कार्य को प्रस्तुत करने की योग्यता और सामर्थ्य नहीं दिखलाई, क्योंकि इसमें अखिल वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन चिन्तन और मन्थन की महती आवश्यकता है, फिर उन सबका एक सामञ्जस्यपूर्ण निचोड़ सा नवनीत सामने रखने का विकट कार्य करना है। पर यह परम आवश्यक और उत्तरदायित्व का कार्य है जिसके भार को सम्हालने का साहस न कर, उलटे अंडवंड टीका टिप्पणियों से वेदों पर आघात पर आघात; चोट पर चोट और उन चोटों पर नमक सा छिड़कने का काम करके सबने अपनी अपनी निम्नधरातल की स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्र का परिचय सा दिया है, भले ही उन्होंने ये काम सत्य की खोजें समझ ली हों, फल तो यही हुआ, चारों ओर अन्धकार ही छाया रह गया।

वेदों का वास्तविक अर्थ सबसे पहले वेद-मन्त्रों को शृङ्गग्राहिकया परस्पर आमने-सामने जुझाते हुए बिठाकर, और उनकी तुलना से ही बुद्धिगम्य हो जाता है। दूसरा इनकी सबसे निकटतम, सर्वप्राचीन, सर्वप्रामाणिक और स्पष्टतम व्याख्यायें तो स्वयं वेदों के भाग ब्राह्मण ग्रन्थों में (जिनके अन्तिम भागों को आरण्यक और उपनिषद् कहते हैं) ही स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। जो कुछ इनसे स्पष्ट नहीं हो पाता उन सबका विश्लेषण हमारे पुराणाचार्यों ने पुराणों की भाषा और शैली से पूर्णतः प्रतिपादित कर रखा है। पर वेदों के जो कोई भी व्याख्याकार हों—चाहे वे प्राचीन निरुक्त सम्प्रदाय के अनुयायी वार्ष्यायणि यास्क प्रभृति हों या मध्ययुगीय सायणादि अथवा अर्वाचीन पौर्वात्य और पाश्चात्य—सबों ने उक्त वेदार्थ विषयक प्रामाणिक सामग्री को पृथक् ताक में रखकर, अपने-अपने युग की लौकिक भावनाओं को वेदों में वर्णित समझ कर तदनुकूल अटकलबाजियों के द्वारा वेदों के साथ जो महान् अन्याय किया है वह अब किसी से छिपा नहीं रह गया है। उधर मीमांसामार्गी श्रोत्रियों ने वेदार्थ की कभी भी चिन्ता ही नहीं की, वे वेद-मन्त्रों के प्रयोग मात्र के विधानों में ही उलझे रह गये। उक्त अन्धयुग के पश्चात् यास्क से बहुत पहले ही, इसीलिए वेदार्थ चिन्तन की पद्धति के कई सम्प्रदाय बन गये थे जिनका विवरण मेरे वैदिक विश्वदर्शन के पृष्ठ ११ में अङ्कित मिलेगा। साम्प्रदायिकता ने इनके प्रयासों को यद्यपि विफलता में परिणत कर दिया है। यह सब होते हुए भी हम इन सबके युगयुग तक ऋणी रहेंगे क्योंकि इनमें से प्राचीनों ने कम से कम वेदार्थ के मार्ग की स्थापना का महान् श्रेयस्कर कार्य किया है, और अर्वाचीनों ने इस मार्ग में प्रत्येक पीढ़ी में प्रकाशदीप जलाये रखा। यह मार्ग एक न एक दिन अपने यथार्थ लक्ष्य तक अवश्यमेव पहुँचकर ही रहेगा। यह भूला हुआ मार्ग है, धीरे-धीरे पीढ़ी दर पीढ़ी के योग्य विद्वानों की तपस्या इस लक्ष्य को प्राप्त करके ही सांस लेगी।

इन्हीं सब विषम समस्याओं का अनुभव करके लेखक ने उक्त जटिल उत्तर-दायित्व को अपने ऊपर लेकर समस्त वैदिक वाङ्मय के मन्थन के द्वारा उसके पूर्ण दर्शन की वही अलौकिक रूप रेखा प्रस्तुत कर दी है जो वैदिक महर्षियों की आँखों के सामने प्रतिक्षण नाचा करती थी, और यह वैदिक विश्वदर्शन तृतीय खण्ड 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' के नाम से पुकारा गया है। यह वैदिक महर्षियों के दर्शन का सार, रस और अमृत है। इसके ही एक भाग को 'वैदिक योग' सूत्र' नाम से पुकारा गया है। यह वेदों का प्रधान विषय है जिससे यह प्राथमिकता के योग्य है, वैसे रूपरेखा वाला तृतीय खण्ड, ज्ञान मार्ग के लिए प्राथमिकता रखता है। वेद सर्वयज्ञमय है। यज्ञ मुख्यतः पांच हैं, उनमें से तीन अत्यन्त आवश्यक तथा ज्ञातव्य हैं। वे हैं (१) योग यज्ञ (२) तपोयज्ञ या सृष्टियज्ञ और (३) द्रव्य यज्ञ। इनमें से प्रथम दो के कर्ताओं को (४) ज्ञानयज्ञ और अन्तिम के अनुयायिओं

को (५) स्वाध्याय यज्ञ (वेद कण्ठ) करने का स्वाभाविक अधिकार रहा। अतः एक तीसरा ग्रन्थ भी, द्रव्य-यज्ञ-परक होना चाहिए था। पर इस पर तो हमारे सैकड़ों श्रोत्रियों के अनेकों सूत्र ग्रन्थ लिखे हैं और इन्हीं के अनुसरण के कारण अन्धयुग के आचार्यों के ग्रन्थों का अचार लोगों को मीठा लगने से ही प्रायः वेदार्थ के क्षेत्र में आज तक इतना महान् अनर्थ हुआ है। वैदिक कर्मकाण्ड की विधियों की दार्शनिक व्याख्या के एक ग्रन्थ की तुरन्त आवश्यकता है। समय मिलने पर इसका प्रणयन पृथक् रूप से अवश्य किया जावेगा। वैसे मेरे ग्रन्थों में यत्र तत्र इन पर बहुत कुछ विचार अवश्य किया हुआ मिलेगा, पढ़ लीजिये। इस ग्रन्थ का प्रणयन उसी पथ प्रदर्शक ग्रन्थ के अभाव की क्षति पूर्त्यर्थ किया गया है, जिनके विना वेदों के उद्धार का कोई दूसरा मार्ग सूझ में ही नहीं उतरता। इसमें मुख्यतः योग यज्ञ और सृष्टि यज्ञ के ज्ञान यज्ञ का आह्वान है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वैदिक योग सूत्र' या 'वैदिक योगदर्शन' को मूलतया संस्कृत के सूत्रों में प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र या तो वेदों के पूरे या आधे या एक भाग रूप मंत्र हैं या ब्राह्मणों या उपनिषदों अथवा गीता के उद्धृतांश हैं। जिसका जितना भाग उद्धृत है उसे बन्द कोष्ठों में रखा गया है और कहीं कहीं आदि और अन्त में वाक्य मिलाने के लिए कुछ शब्द लेखक ने जोड़ रखे हैं। जहां मंत्र या अन्य ग्रन्थों के अवतरण अवसरानुकूल नहीं बैठ सके वहां लेखक ने उनका भाव लेकर अपनी भाषा में सूत्र बना दिया है। प्रत्येक उद्धरण और अवतरण को जहां से लिया गया है उसका पूरा विवरण साथ साथ दे दिया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में लेखक का अपना कोई नया विषय नहीं है, जो कुछ है वह मात्र वेदों का अपना है। इसमें लेखक की मौलिकता का विषय केवल इतना ही है कि इनके विच्छिन्न विषयों को बीन बीन कर उन्हें एक ऐसे तारतम्य और सामञ्जस्य से पिरो कर रखना है जिससे इसको ठीक वही स्वरूप प्राप्त हो जावे जो वैदिक महर्षियों की आँखों के सामने था जिसके बारे में भगवान् कृष्ण ने गीता में लिख भी दिया था 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। पर इतना ही सब कुछ नहीं है। इस प्रयत्न से इसमें सैकड़ों छिपे रहस्यों और सिद्धान्तों का उद्घाटन, अनेकों पहेलियों का उचित विवेचन, नाना नवीन विषयों की खोजों का पुट और अनन्त मौलिक ज्ञान दीपकों का प्रकाश देकर, उनसे ग्रन्थको आदिसे लेकर अन्त तक ओत प्रोत करके इसे वास्तव में सच्चा पथप्रदर्शक होने के योग्य बनाने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

इन सूत्र ग्रन्थों के निर्माण के पश्चात् समस्या सामने आई कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे ? कैसी बांधे ? यदि संस्कृत में भाष्य लिखा जाता तो पढ़ने वाला वर्ग केवल पंडित समुदाय मिलता जो न तो नई पुस्तकों को पढ़ने का आदी या अभ्यस्त ही है, ना ही निष्पक्ष विचार या आचार का। प्रत्युत यदि यह

वर्ग इसको अपना भी लेता तो इसकी आगे चलकर वैसी ही साम्प्रदायिक और वैयक्तिक विचार धारा प्रवाहवाही व्याख्याओं का ताँता लगने लगता जैसा कि गीता और ब्रह्मसूत्र प्रभृति ग्रन्थों का लगा है। क्योंकि ये ब्रह्मसूत्र भी तो योगसूत्र ही हैं। इन सबसे बचने के लिए यही निश्चय किया गया कि इनका भाष्य भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा संसार की विश्वभाषा अंग्रेजी दोनों में किया जाय जिनमें पढ़ने वाले विद्वान् अधिक हैं, और साथ में निष्पक्ष विचार धारा के ही अधिक होते भी हैं तथा वे विद्या और विद्वत्ता दोनों का यथोचित समादर और प्रतिष्ठा करने और देने के अभ्यस्त भी होते हैं। परन्तु इन व्याख्याओं का यह तात्पर्य यह नहीं है कि मूल सूत्र भाग को अलग कर दिया जावे। नहीं। इन व्याख्याओं को पढ़ते समय इन मूल सूत्रों का सामने प्रस्तुत रहना कई कारणों से नितान्त अनिवार्य है। सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जिन मंत्रों या वेद वाक्यों को उद्धृत किया गया है उनका ठीक ठीक रहस्यात्मक भाव क्या है? दूसरी बात यह है कि जो मंत्र या वाक्य जहां से लिया गया है उसका विवरण केवल मूलसूत्र ग्रन्थ में ही दिया गया है, इन व्याख्याओं में नहीं के बराबर। तीसरी बात यह है कि जिनमंत्रों में नई दृष्टि दी गई है वह इन दोनों के मिलान से ज्ञात हो सकेगी अन्यथा कदापि नहीं। अतः यह सूत्र ग्रन्थ इस पथ प्रदर्शक ग्रन्थ का भी पथ प्रदर्शक ग्रन्थ है।

सबसे बड़ी भारी समस्या तो यह है कि इस ग्रन्थ में वेदों के सम्बन्ध में एकदम एक ऐसे नये विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है जिसकी खोज आज पहली बार इसी ग्रन्थ में की हुई मिलेगी। यह नया विषय योग दर्शन है जो समस्त वेदों का प्रधान विषय होते हुए भी अब तक के किसी भी भाष्यानुवादादि लेखकों को कभी भी स्वप्न में भी नहीं दिखाई दिया। वेदों में इसकी सत्ता की आस्था का मानना ही उनके लिए टेढ़ी खीर है। यह अवश्य सत्य है कि वेदों के प्रत्येक मंत्र से उक्त तीन प्रधान यज्ञों के अनुरूप तीन अर्थ साकं उभड़ जाते हैं, पर ये व्याख्याकार केवल उसी द्रव्यपरक यज्ञार्थ के अनुयायी हैं जिनमें मंत्रों के अर्थों को बैठाने के लिए बड़ी भारी खींचातानी और लठैत ढंग की जबरदस्ती करनी पड़ती है, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण आगे चलकर १-४-३४ से ५३ के 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' और 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' की व्याख्याओं में दे दिए गये हैं। इसी जबरदस्ती से अर्थ भिड़ा भिड़ाकर व्याख्या करने वाले इन व्याख्यातारों से स्थल स्थल पर उबल उबल कर यह स्वीकार किए बिना नहीं रहा गया कि अमुक-अमुक मंत्र का, अमुक-अमुक शब्द या वाक्य या वाक्यांश या पूरे मंत्र या सूक्त का अर्थ बिलकुल अज्ञेय और दुरूह है या लगता ही नहीं। यह विषय का विरोधी पक्ष रूप पक्का प्रमाण है। इसका मुख्य कारण वही है जैसा पहले बताया जा चुका है कि वैदिक महर्षि वेदों में बाह्य जगत् की बातें ही नहीं करते, उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसका साक्षात्सम्बन्ध मात्र अन्तर्जगत् से है। हां यह अन्तर्जगत् हमारी देह और

हमारे अखिल ब्रह्माण्ड दोनों का है। अतः उक्त उदाहरणों में अन्न भूत, यज्ञ तथा पर्जन्य तत्त्व सब अन्तर्जगत् के ही हैं। इनका वही अर्थ उचित रूप से इष्टिगत भी होता है, बाह्य जगत् में इससे आकाश पाताल का अन्तर होने से कदापि भी नहीं। यहां पर एक बड़ी विशिष्ट बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इस अन्तर्जगत् में ही दो प्रकार की सृष्टियां होती हैं। (१) साधारण स्वाभाविक (२) असाधारण अस्वाभाविक सृष्टि जिसे अतिसृष्टि कहते हैं। इसी का नाम योग दर्शन है। यही वेदों का मुख्य विषय है, प्रथम सृष्टि इसके अधीन बनाई गई है। क्योंकि योगी कोई भी, किसी भी, कैसी भी नई सृष्टि, साधारण असाधारण दोनों को कर सकता है। जो इन विषयों से तनिक भी परिचित नहीं है उसे वेदों के एक भी मंत्र का अर्थ नहीं लग सकता, एक मंत्र ही क्यों एक शब्द का भी अर्थ नहीं लग सकता। क्योंकि प्रत्येक शब्द का चुनाव उसकी भाव गम्भीरता और पारिभाषिक अर्थता के आधार पर करके उसे मंत्र में स्थान दिया गया है। और यह इतना प्रधान विषय है और इसमें इतनी प्रधानता आरूढ है कि इसे जाने बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता। अब आप ही बतलाइए कितने हुए हैं ऐसे सच्चे व्याख्याता ? उत्तर में शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

अस्तु वेदों की सच्ची व्याख्या का प्रशस्त मार्ग खोलने के ही लिए इस ग्रन्थ को पथ प्रदर्शक रूप में सामने प्रस्तुत किया जा रहा है जिनके अध्ययन से जो कुछ यहां तक कहा गया है और जो सब कुछ शेष है वह सब जल की तरह अपने आप स्पष्ट हो जावेगा।

ग्रन्थ का नाम 'वैदिक योग सूत्र' रखा गया है। योग वेदों का प्रधान विषय रहा है, अतः इसको प्रथम स्थान दिया गया है। नहीं तो सबसे पहले वैदिक दर्शन की पूर्ण रूपरेखा वाले वैदिक विश्वदर्शन के तृतीय भाग 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' को प्रथम स्थान मिलना चाहिए था। यह अधिक अच्छा होगा यदि पाठक उसे ही पहले पढ़ लें तो उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ को समझने में अधिक सुविधा होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ में चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं, किसी किसी चौथे पाद को अ, आ, इ, ई नाम की अङ्गुलियों में विभक्त कर दिया गया है।

प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का नाम 'विद्वानों से विनय' रखा गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि वेदों के तीन अर्थों में से जो अर्थ द्रव्य यज्ञ में घटित होता है वह कोई नई या आज की बात तो नहीं है और यह तो वेदों को अमर बनाने, कंठ रखने, सद्भावना बनाने तथा साधारण जनता को सन्मार्ग में ले जाने का सर्वोत्तम मार्ग है। पर यह अर्थ उन ऋषियों को वस्तुतः कदापि अभीष्ट नहीं था जिन्होंने अपनी जीवनी खोकर इनका निर्माण किया था। इसके प्रमाण स्वयं ऋग्वेद में मिलते हैं, और उपनिषदों के युग तक इन यज्ञों के ब्रह्मा या संचालक या निर्देशक भी ऐसे ही ऋषि मुनि हुआ करते थे जो वेदों के

सच्चे अर्थों के ज्ञाता होते थे और वे इन याज्ञिकों की बोली बन्द किए रहते थे, उनके सामने इनकी दाल नहीं गल पाती थी। आज कल जो इसका अन्धाधुन्ध अनुकरण चल रहा है उसका मुख्य कारण आगे दिया जा रहा है।

दूसरी मुख्य बात जिसकी ओर कुछ विद्वानों का ध्यान अवश्य आकर्षित करना है वह यह है कि हम वेदों में एक उच्च कोटि की सभ्यता का विवेचन पाते हैं जिसमें परिपक्व भाषा—कारक समास काल अव्यय विभक्ति तद्धित अलंकार रस गुण सहित उच्चकोटि के दर्शन—योग शास्त्र, सृष्टि दर्शन, देवदर्शन, उच्चकोटि के साहित्य—वैदिक समस्त वाङ्मय, ज्योतिष, व्याकरण, गणित, भूगोल खगोल वास्तु शिल्प विद्या प्रभृति सब कुछ आ जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे अलौकिक वाङ्मय की पृष्ठ भूमि का साहित्य किस आकार प्रकार का रहा होगा ? क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य होते नहीं दीखता, न पृष्ठ भूमि बिना कोई साहित्य ही कभी खड़ा हो सकता है। यदि हम शान्तिपूर्वक व्यक्तिगत दुःसंस्कार हीन भावना से विचार करें तो हमारे सामने इसके उत्तर में केवल यही एक उत्तर आकर उठ खड़ा होता है—'प्राचीन श्रुतियाँ'। वेदों के निर्माण के पहले इन वेदों का विषय 'प्राचीन श्रुतियों' के रूप में तत्कालीन आर्यजनजनता के हृदय सागरों में उत्तुङ्ग थपेड़े मारती रहीं। उन्होंने ही परिष्कृत रूप लेकर वेदों का स्वरूप धारण किया, इसी कारण वेदों का नाम 'श्रुतियाँ' भी है, क्योंकि ये सचमुच में प्राचीनतम आर्य सभ्यता की सच्ची श्रुतियाँ ही हैं। वेदों के निर्माण के पश्चात् एक तो कई वेद मंत्र दुरूह से होने लगे, कई शब्दों के अर्थ भुलाये जाने या बदलने लगे, गाथायें भी कालग्रस्त होती सी दीखने लगीं तो महर्षियों ने इन सब की सुरक्षा के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हीं प्राचीनतम श्रुतियों को बटोर बटोर कर उनके सहारे से दुरूह वैदिक मंत्रों, परिवर्तितार्थ वैदिक शब्दों तथा अर्द्धग्रस्त गाथाओं की परिपूर्ण व्याख्या कर दी। इसके यह माने होते हैं कि हम बिना इनकी प्रामाणिकता की मशाल हाथ में लिए, वेदों के उचितार्थ पाने की आशा नहीं रख सकते। दूसरे शब्दों में जो संहिताओं में है वही इन ब्राह्मणों में भी है; जो एक में संक्षेप या संकेत में है वह दूसरे में विस्तार और सप्रमाण है। इसीलिए इन्हें अभिन्नाङ्ग या 'मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः' कहा है। ये भी वेद ही है, ये अधिक स्पष्ट वेद हैं। अतः जिन लोगों ने वेदों की व्याख्या में इन ब्राह्मण ग्रन्थों को गिरा कर अन्य गर्हित स्रोतों का सहारा लिया है उन्होंने तो इस सर्वाङ्गीण वेद पुरुष की हत्या कर दी, इनके सिर और धड़ काट कर अलग फेंक दिए, आत्मा और शरीर का विच्छेद कर दिया। क्योंकि ब्राह्मण नाम पति और ब्रह्म का है, ये पति हैं, संहितायें पत्नियाँ हैं। पति आत्मा या ब्रह्म ही होता है, पत्नी शरीर। और ऐसे लोगों ने ऐसे ही निर्जीव की व्याख्या की, उनकी व्याख्या भी स्वतः निर्जीव या मुर्दा हो गई है। ठीक यही स्थिति उन सब उपनिषदों

की है जो इन ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग या एकाङ्गी वेदों के वेदान्त कहलाते हैं। उनमें संहिताओं और ब्राह्मणों में आये विषयों के सार के अतिरिक्त इनके लेखकों का जोड़ा कोई भी किसी भी प्रकार का नवीन विषय कतई है ही नहीं। इन्होंने भी संहिताओं की तरह कोरे कर्मकाण्डी अर्थानुयायियों को उनसे भी बढ़कर अधिक कड़ुवी भाषा में लताड़ें या फटकारें सुनाई हैं। और इन्होंने स्वयं घोषणा की है कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह सब कुछ वही है जो उन्होंने अपने पूर्वजों से सुना था, (पर अपना कुछ नहीं)। इससे अधिक सत्य प्रमाण और हो ही क्या सकता है।

इस अध्याय के द्वितीय पाद में भारत में वेदों से लेकर पुराणों तक सब में योग दर्शन की क्रमिक परम्परा का वर्णन दिया गया है। तृतीय पाद उस भयंकर घटना का वर्णन देता है जिससे वेद विद्या के मन्दिर के द्वार अब तक के लिए बन्द पड़े मिल रहे हैं। इसका मुख्य कारण उपनिषदोत्तर युग में वैदिक युग के जैसे अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मण देवताओं का नितान्त अभाव हो जाना था। इसकी सूचना छान्दोग्य बृहदारण्यक ने ब्राह्मणों में वेद विद्या की कमी हो जाने से उन्हें क्षत्र राजाओं से सीखने को विवश बताने से दी है। इसका समर्थन गीता ने भी किया है, साथ में यह भी लिखा है कि विद्या अनन्त काल से नष्ट हो गई थी, इसी को अन्य धर्म ग्रन्थों ने भी दुहराया है। इस युग का नाम अन्धयुग या घोर अन्धयुग है जो अबतक चलता चला आ रहा है। चौथे पाद में उक्त घोर अन्धकार के युग ने पारिभाषिक शब्दों का अर्थ साधारण बोल चाल में प्रयुक्त अर्थ में घटित करके अपने को तो ठगा ही, आगे की पीढ़ी के विद्वानों को ठगने वाला महा ठग बनने का वर्णन है। ये लोग यास्क से लेकर अबतक अन्धकार में ही टटोलते आ रहे हैं। इसके साथ वही भद्रा भी लगी है, द्रव्य परक यज्ञार्थ के अनुसरण की प्रवृत्ति की भद्रा, जिसके लिए इस वर्ग को वैदिक महर्षियों, औपनिषदिक योगियों और गीता के योगीश्वर के मुख से कठोर आलोचनाएं सहन करनी पड़ती रहीं। इस अन्ध युग ने एक अपशकुन का आरम्भ कर दिया, उसका सुधार करने के स्थान में अनुसरण करके उत्तरोत्तर की, अनर्गल खोज रूपी उन्नतियाँ उत्तरोत्तर बिगाड़ करती आ रही हैं। इस विषय को ग्रन्थ में सोदाहरण समझा दिया गया है। इसके पश्चात् कुछ मुख्य देवताओं के सम्बन्ध की गलत फहमियों को दूर करने की चेष्टा की गई है जिससे लोग अपनी भूलों को समझने में समर्थ हो सकें। अन्त में वेदों के ईश्वर ईश ईशान उप नामक और पूषा नामक देवता से ईशावास्य की तरह प्रार्थना की गई है कि तुम वेदों के ऊपर छाये इन महान् परतों या पर्दों को चीर फाड़ कर दूर करके पुनः उन वेदों की ज्योति के अलौकिक दर्शन करा दो। यही 'विद्वानों से भी विनय' है।

दूसरे अध्याय से ग्रन्थ के वास्तविक, वैदिक योग दर्शन की व्याख्या का आरम्भ

होता है। इसके प्रथम पाद में तीनों यज्ञों में प्रचलित एक ही पारिभाषिक पदावली के विवेचन से प्रारम्भ किया गया है। इस ज्ञान के अभाव से लोगों में पारिभाषिक शब्दों का अनर्थ करने का साम्राज्य स्थापित कर लिया है। यह हमारे अन्धयुग की महती देन है। इसमें उस तथ्य के स्पष्ट उद्धरण दिए गये हैं जिनमें वैदिक महर्षियों ने स्वयं कहा है कि मैंने अमुक अमुक देव को अपनी योग की दृष्टि से साक्षात् देखा। इसके पश्चात् वेदों में वर्णित उस अन्तर्जगत् के यज्ञ का विवेचन दिया गया है जिसका विविध विवेचन अनेक उपनिषदों में तदनुरूप प्राप्त होता है। इसके साथ साथ पुष्ट्यर्थ वैदिक मंत्रों को भी उद्धृत कर दिया है। अन्त में इस तथ्य के सत्य प्रमाण वेदों से उद्धृत किए गये हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस वैदिक युग में योग दर्शन पूर्ण रूप से विकसित था और सर्वत्र प्रयुक्त या ज्ञात था, तथा वेदों में तो यही एक विषय है जिसे उनका मुख्य या प्रधान विषय कहा जा सकता है, और वेदों में ऋषि मुनि योगी यति योग क्षेम सबका वर्णन प्राप्त है।

द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में हिन्दूधर्म में प्रसिद्ध देवता ब्रह्मा विष्णु रुद्र की व्याख्या सिद्धान्ततः इस लिए सर्व प्रथम दी गई है कि अभी तक लोगों को पता ही नहीं हैकि ये देवता मुख्यतः योग शास्त्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनके लिए वेदों में जो जो नाम आते हैं उनकी वास्तविक व्याख्या के साथ साथ, वेदों में जिन देवताओं से इनका तादात्म्य है उस विषय पर भी प्रशस्त प्रकाश वैदिक मंत्रों के उद्धरणों के सहारे डाला गया है। इसकी पुष्टि में ब्राह्मणों उपनिषदों गीता और पुराणादिकों के उल्लेखों को भी स्थान दिया गया है। तृतीय पाद में योग शास्त्र में प्रसिद्ध योग निद्रा का विवेचन दिया गया है। इसके साथ महा सुपर्ण, नाडी योग, तथा अनेक अन्य सम्बद्ध विषयों—जैसे कौन तत्त्व सदा जाग्रत रहता है, कौन सुषुप्त रहता है, उन्हें किस नाम से पुकारते हैं ?—का भी पूर्ण वर्णन इसमें आ गया है। इसका चौथा पाद तीन उपभागों का, अ आ ई में विभक्त है। इसके प्रथम उपभाग (अ) में उन वेद प्रसिद्ध देवताओं का विवेचन उनके कार्यों के अनुसार दिया गया है जिन्हें निरन्तर योगरत कहा जाता है। इसमें इनकी आत्माओं और शरीरों का विवेचन भी आवश्यकतया आ गया है। साथ साथ तीन प्रकार की वाक् उसके सिद्धान्त उसके फल उसके अधिष्ठाता देवता प्रभृति के वर्णन द्वारा कई भ्रान्तियों को दूर करने का अभीष्ट प्रयास किया गया है। इसके द्वितीय उपभाग (आ) में वेदों में प्रसिद्ध तत्त्व प्राण की विवेचना जिन नाना रूपों में पाई जाती है उन सबका एक सामूहिक विवेचन इसलिए अनिवार्यतया दिया गया है कि योगदर्शन में ये मुख्य और प्रथम तत्त्व हैं। यहां तक कि इनके विना योग हो ही नहीं सकता। अतः इनका उचित और सम्पूर्ण ज्ञान प्राथमिकता रखता है। इनके विवेचन में इनके अधिष्ठाता देवताओं का विवेचन भी अनिवार्य है। अतः उसका भी यहां पर वर्णन दे दिया गया है। कई देवताओं को इन्हीं

के कारण त्रिनेत्र चतुर्मुख पञ्चमुख आदि भी कहा जाता है, उन नामों की व्याख्या भी यहां साथ साथ सन्दर्भ के कारण दे दी गई है। इसके अन्तिम भाग (ई) में योगशास्त्र में प्रसिद्ध कुण्डलिनी योग की शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्या दे दी गई है जिसमें दैवासुरी प्राणों के द्विमुख सर्प को कुण्डलाकार रूप में प्रस्तुत कर के आसुरी मुख के तेल बत्ती को दैवीमुख की ज्योति से जगमग जलाया जाता है। इस प्रक्रिया से आसुरी भौतिक शरीर इतना हल्का हो जाता है कि योगी अपने आप आसन छोड़ ऊपर की ओर आकाश में निराधार स्थित हो जाता है। योग की यह एक महान् प्रक्रिया है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में 'योगमाया' की व्याख्या है। 'योगमाया' नाम देवासुर संग्राम का है। यह संग्राम हमारे या ब्रह्माण्ड के अन्तर्जगत् में होता है, बाहर किसी रणभूमि में नहीं। मायी नाम इन्द्र का है, इन्द्र महायोगी है। अतः उसका युद्ध योग प्रक्रिया साधन में बाधकरूप में प्रस्तुत होने वाले आसुरी तत्त्वों के साथ होता है। इस विषय के विवेचन से वेदों का आधे से अधिक भाग भरा हुआ है। इसके द्वितीय पाद में इन दोनों तत्त्वों देवों और असुरों का विवेचन पूर्णतः दिया गया है। साथ में असुरों के जो नाम इन्द्र के साथ युद्ध करने के लिए वर्णित हैं उनका जिन जिन तत्त्वों से वास्तविक सम्बन्ध है यह भी सव्युत्पत्तिक प्रस्तुत किया गया है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि ये पृथक् शरीर के स्वतन्त्र विचरण करने वाले सांसारिक जीवों के समान प्राणी नहीं हैं। एक ही शरीर के विभिन्न अङ्ग हैं। असुर तो भौतिक अङ्ग हैं और देवता उनकी शक्तियां या ज्योतियां या आत्मायें। इनमें प्रथम स्वभावतः स्थूलता के कारण भी बहिर्मुख हैं, द्वितीय अन्तर्मुख। दोनों अपने अपने मुख की ओर जोर लगाते हैं, यही देवासुर द्वन्द्व है। देववर्ग असुर वर्ग के शरीर के किले कारागार या गुहा में बन्द रहता है। अतः इन दोनों के मध्यस्थ प्राणोदानादि पञ्च प्राणों द्वारा इन्हीं किलों को तोड़कर योगी उन देवताओं को नवीन जन्म सा देता है। सम्पूर्ण भौतिक ब्रह्माण्ड इन्हीं असुरों के शरीरों का एक बड़ा किला है। अन्त में इन सबको ठिकाने लगाने वाले इन्द्र का जो वास्तविक रहस्य वेदों के अनुकूल उपलब्ध होता है उसका विवेचन दिया गया है। इन देवासुरों के जो नाम वेदों में पाये जाते हैं वे ऐतिहासिक भी हैं, पर जातिवाचक रूप में गृहीत हैं, व्यक्तिरूप में नहीं। ये समय समय की जातियों के पीड़कों और उद्धारकों के नाम हैं जिनको इस प्रकार चुना गया है कि उनकी व्युत्पत्ति दर्शन व्याख्या में ठीक ढल जाय। अतः उनके नाम दर्शनानुरूप रखने के लिए बदल भी दिए गये तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके तीसरे पाद में सोमतत्त्व की व्याख्या और महिमा जैसी वेदों में गाई गई है उसका विवेचन इस लिए सर्वप्रथम दिया गया है कि विद्वानों में इसके बारे में जो बड़ी भारी भ्रान्तियां फैली हुई हैं वे अपने आप समूल उखड़ कर दूर उड़ जावें। लोग नशीली मादक वस्तुओं को सोम मान कर देव तत्त्व की बड़ी भारी अवहेलना करते आ रहे हैं। भई सोम तो सर्वोच्च

देवता है, क्या सर्वोच्च देवता ही ऐसी नशीली वस्तु हो भी सकती है ? क्या वैदिक आर्य इतने बेवकूफ थे ? यह कोई सोच भी नहीं देता। सोम देवता का नशा कुछ और ही है, उसी का इसमें पूर्ण विवेचन है। इसका चतुर्थ पाद फिर दो भागों में (अ आ) में विभक्त है। इसके प्रथम भाग (अ) में 'सोमपान' वास्तव में क्या है ? इसका योगमय पूर्ण विवेचन दिया गया है। यह सोम विष्णु की ज्योति का क्षीरसागर है जिसकी उद्दीप्ति योगी प्राणों की नाना प्रकार की संयमनकारी प्रणाली से कर लेता है। जब वह धूममय शुक्लज्योति के क्षीर सागर को बूंद बूंद रूप में प्राणों के भपके से टपका कर पूरा घड़ा (कलश अन्तर्जगत्) भर लेता है तो मनोरूप ब्रह्मा या इन्द्र उसी में गोता खा जाता है। इसी का नाम सोम पान है। यह योग का सोमपान है, सृष्टि का सोमपान भौतिकामृत शरीर पीना या पाना है। इस प्रकार की ज्योति के सागर की उद्दीप्ति के साथ साथ जितने भी देवता उन आसुरी प्राणों के पञ्जे में किले में कारागार या गुहा में बन्द थे वे स्वयं उन्हें प्रकाश से गले ढले घुले धुले पाकर उन इन्द्र ब्रह्मा मन विष्णु सोम के सामने एकत्र हो जाते हैं। सभी सोमसागर में मस्त हो जाते हैं। इस प्रकार योगी इन सब देवताओं को एक नवीन जन्म दे देता है, अतः अपने पिताओं का पिता या पितर कहा जाता है 'स पितुष्पिता सत्' 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्'। इसके दूसरे भाग (आ) में ऋग्वेद में वर्णित सोमपान की दिव्य मादकता का जसा अलौकिक वर्णन उपलब्ध होता है उसे तद्वत् दे दिया गया है। इसके अनुसार सोमपान करने वाले योगी के सामने इस अखिल ब्रह्माण्ड का पूर्ण साम्राज्य और इसके अर्व खर्व तक की अनन्त धन सम्पत्तियाँ सुखभोग ऐश्वर्यादि शून्य के बराबर भी नहीं, कुछ हैं ही नहीं, मादक वस्तुओं की तो बातें ही मत कीजिए।

चौथे अध्यायमें उस योग का वर्णन है जो इस शरीर को त्यागने के पश्चात् किया जाता है। यह ऐसा अलौकिक योग है जिसका विवेचन तो वेदादिक ग्रन्थों में प्रशस्त रूप से प्राप्त है पर उससे शायद ही कोई परिचित हो। ऐसा कोई नहीं दीखता जिसने इसके इस स्वरूप के बारे में कभी स्वप्न में भी सोचा या समझा हो। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ सोम योग के पश्चात् होता है। इस योग को सभी नहीं कर सकते। इसकी योग्यता या पात्रता केवल उन्हीं योगियों में से किसी दो चार में हो सकती है जिसने या जिन्होंने आजीवन योगाभ्यास द्वारा अपने शुभाशुभ ज्ञाताज्ञात कर्मों का सन्तुलन सिद्ध कर लिया हो। भारत में सर्वत्र लौकिक योग की चर्चा सुनने में आती है पर इसकी चर्चा आपको सम्भवतः इसी ग्रन्थ से पूर्णतः मिल रही होगी। अन्य देशों में लौकिक योग का ही अभाव है तो इसकी बात ही कहाँ से उठ सकती है। इसका विवेचन ऋग्वेद में बहुत अधिक ही नहीं वरन् बहुत व्यापक और रमणीय ढंग से व्याख्यात भी है। आपको विदित होना चाहिए कि वेदादिकों में योग के दो प्रसिद्ध मार्गों का विवेचन दिया हुआ मिलता है जिनमें से एक तो सोमयोग का मार्ग है जिसे दक्षिणायन कहते हैं,

दूसरा अग्नियोग का मार्ग है जो उत्तरायण के नाम से प्रसिद्ध है। इसी दूसरे उत्तरायणीय अग्निज्योतिर्मय योग की सिद्धि मृत्यु के पश्चात् की जाती है। इसका विवेचन देने के पहले हमें इस मार्ग में मिलने वाले भयंकर रोड़ों को दूर कर देना चाहिए। अतः इसके प्रथम पाद में इस मार्ग से निकटतया सम्बद्ध कुछ पारिभाषिक पदों पर प्रकाश डाल देना परम आवश्यक रहा। ऐसे शब्द वसु, रत्न, रा, रयि, रायः, धेनु, प्राणा, ब्रह्मचर्य, ब्रह्म, दक्षिणा और मंत्र हैं जिनके बारे में अनेक भ्रान्तियाँ मिलती हैं। रत्न नाम देवताओं का है। अग्नि को रत्नधातम और सरस्वती के स्तन को रत्नधा तथा वसुविद् कहा गया है। महर्षि मार्कण्डेय ने महासरस्वती के वर्णन में लिखा है कि सब देवता उसके स्तन में समा गये। इसके माने यही हुए कि 'रत्नधा' माने 'देवधा' है। उधर समुद्र मन्थन से भी सोम सूर्य प्रभृति देवताओं की 'रत्न' रूप में उत्पत्ति बतलाई गई है। अतः स्वतः स्पष्ट है कि रत्न के माने देव या देवना ही होता है। इसी प्रकार यज्ञ की 'दक्षिणा' का प्रश्न है। योगी को योग यज्ञ की सिद्धि की दक्षिणा में गौ वस्त्र हिरण्य अश्व मिलते हैं। ये अमृत प्राण, सोम ज्योति, अग्नि ज्योति और प्राणोदान (चेतना) रूप तत्त्व हैं जिन्हें योगी पा जाता है। द्रव्य यज्ञ में इनके बदले में लौकिक गौ वस्त्र हिरण्य और अश्व दिए जाते हैं। दक्षिणा का अर्थ दक्षिणायन के योग से उपलब्ध सिद्धि है, और कुछ नहीं। यह भ्रम मिट जाना आवश्यक है। इसी प्रकार 'मंत्र' शब्द की पहेली है। मन्त्र का साक्षात्सम्बन्ध मन मनन या योग से है। योगी योग से जिस चित्र की अनुभूति करता है वही चित्र वास्तविक मंत्र है, सत्य है। जब वह उस अनुभूत्यात्मक चित्र को अपनी वेद वाणी में निबद्ध करता है तब वह लौकिक मंत्र हो जाता है। यह भी सत्यानुभूति का विवेचन होने से नित्य और सत्य तथ्य या तत्त्व है या अमृत रूप वेद या ज्ञान या ज्ञानानुभूति है। पर वास्तविक मन्त्र तो आभ्यन्तरानुभूति मात्र का नाम है। इसी प्रकार द्यावा पृथिवी दोनों सवत्सा कामधेनु हैं, अकेले अकेले केवल धेनु। अदिति उभयात्मकी धेनु है। ये सब अमृत और आभ्यन्तर जगत के तत्त्व हैं, बाह्य जगत् के नहीं। इसी प्रकार अन्य शब्दों या तत्त्वों की विवेचना दी गई है। इसके द्वितीय पाद में पुनः उत्तरायण के योग मार्ग से भली भांति परिचित कराने के लिए इसके तीन मुख्य पदों या (गायत्री के) पादों और २४ तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन देना परम आवश्यक हो गया। बिना इन सीढ़ियों और इनके अधिष्ठाताओं को जाने, इस मार्ग में जाने की सुविधा नहीं हो सकती। इसका विस्तृत विवेचन वैदिक ब्रह्मसूत्र के द्वितीय तृतीय चतुर्थ अध्यायों में मिल सकेगा।

अब तृतीय पाद में उक्त अद्भुत योग का वर्णन प्रारम्भ किया गया है। इस योग का नाम मोक्ष योग या 'अग्निज्योतिः' योग है। इसकी साधना मृत्यु या शरीर त्याग के पश्चात् योगी की आत्मायें करती हैं। इस योग को प्रारम्भ करने

के लिए योगी को पहले शरीर त्याग का योग करना पड़ता है। उसे आत्मा को उत्तरारणि और प्राणों के शरीर को अधरारणि बनाकर उनकी रगड़ से अग्नि ज्योति को उत्पन्न कर उससे विस्फोट पैदा करके अपने ब्रह्माण्ड का भेदन करते हुए उन दोनों को अखिल ब्रह्माण्ड के अन्तर्जगत् में प्रवेश पाने के लिए पंछी (सुपर्ण) की तरह उड़कर चला जाना पड़ता है। इस प्रकार वह यहाँ पर इस शरीर के बन्धन से तो मुक्त हो जाता है पर उसके अभी अखिल ब्रह्माण्ड की कई तारों की अदृश्य जंजीरें जकड़ी हुई हैं, उन्हें भी उसे एक एक करके काटना या तोड़ना ही पड़ेगा, जिसके लिए उसे नये सिरे से नये ढंग से पुनः पूर्ण मोक्ष के हेतु नया योग करना ही पड़ता है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से लिखा है जिस योगी ने सर्व प्रथम इस उत्तरायण नामक योग करने के लिए अपना शरीर त्यागा जो शहीद बना था उसका नाम 'यम' था। उत्तर काल में योग कर्ता तत्त्व मुख्य प्राणा का ही नाम 'यम' देवता या पितर रख दिया गया। यह मुख्य प्राण हमारे शरीर में यम या यमल रूप में रहता है जिसमें से यम आत्मा है यमी शरीर। इन दोनों को वेदों में पुन अग्नीन्द्र या इन्द्राग्नी का यम या यमल कहा है। यम का पूरा इतिहास सुनने में लौकिक सा लगता है, पर यह है पूरा दार्शनिक। इसकी माता सरण्यू सरणशीला सृष्टि कारिणी भौतिकात्मा है, वह त्वष्टा (वाक्) की पुत्री है, विवस्वान् (आदित्य) की पत्नी। यमयमी की उत्पत्ति के अनन्तर यम ने यमी से विवाह करना इसलिए मना कर दिया कि उसे योग करके पूर्ण मोक्ष प्राप्त करना था। तब सरण्यू सवर्णा को अपने स्थान में रख कर अश्वी बन के भागी तो आदित्य भी अश्व बन कर साथ लग गया, जिनसे अश्विनौ या दैवी प्राण उत्पन्न हुए, उधर सवर्णा में मनु। इन्हीं दो–अश्विनौ और मनु (तथा प्राण) के द्वारा वर्तमान सृष्टि की रचना हुई। सरण्यू के तीन रूप वाक् आपः अदिति के हैं।

यम को इस योग की साधना पर पग रखते ही सबसे पहले जातवेदा अग्नि के क्षेत्र में उतरना पड़ता है। उसके पश्चात् उसे अतिथि नामक अग्नि को उद्बोधित करके उसके क्षेत्र में प्रवेश पाना पड़ता है। यह सीढ़ी महान् विकट है। अतः इसे दुरोण या दुरोणषद् या दुरारोह डग कहते हैं। इस सीढ़ी को पार कर लेने पर उसे रुद्र और मरुत् प्राणों का विद्युन्मय क्षेत्र मिलता है। इसका नाम परिजात वेदा अग्नि है। जिस रुद्र को अग्नि कहते हैं वह यही रुद्र है, वह यही अग्नि भी है। इसके अनन्तर उसे नृम्णा अग्नि के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है, यह अग्नि प्रत्येक शरीर और ब्रह्माण्ड में अजस्र इन्धान या सदा धकधक जलती ही रहती है। यह वही अग्नि है जो द्यावा पृथिवी नामक ऋत तत्त्व से सर्व प्रथम जागृत होती है। अन्त में यह अग्नि उसी द्यावापृथिवी रूप

प्राणों के सागर में बुझ जाती है जहां 'हंसः शुचिषत्' आनन्द मग्न हो तैरता रहता है। इसी का नाम निर्वाण या बुझ जाना या ब्रह्मसागर में तदाकार या साकार हो जाना या परम मोक्ष है। सोम योग करने वाले योगी तो बार बार मृत्यु लोक में आते जाते रहते हैं, पर इस योग को करने वाले उक्त प्रकार से ब्रह्म में घुल मिल जाने के कारण वहां पहुँचकर फिर कभी वापस नहीं लौट सकते। यही 'गया' है, जो गया सो गया, वह गया, सदा के लिए गया। गया नाम गायत्री रूप प्राणों का है 'गयाः प्राणः, तत्र गायत्री' (छा० उप० ३-१२)

इस उत्तरायणीय योग के अनुष्ठाताओं में से दो अन्य का विशिष्ट वर्णन हमारे ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण तथा यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में दिया मिलता है जिन के विषय को विद्वान आज तक उचित रूप से नहीं समझ सके हैं। क्योंकि वे इस मार्ग से ही परिचित नहीं हैं, समझ में आता भी कैसे ? प्रथम व्यक्ति नचिकेता है, यह वाजश्रवा का पुत्र है, वह इस मध्यम पुत्र को मृत्यु को सौंपता है। उसे यम मिलता है जो उसे इस योग का ज्ञान देता है। यहां पर वाजश्रवा शरीर है, तीन पुत्र तीन मुख्य प्राण हैं, मध्यमपुत्र मध्यमप्राण है, उसे मृत्यु को देना उत्तरायण को सौंपना और योग से वाजश्रवा शरीर की मृत्यु है, जिसकी आत्मा नचिकेता यम से ज्ञान पाकर इस मोक्षयोग को पूरा कर लेता है। नचिकेता रूप आत्मा भी यहां जातवेदाग्नि है अतः उसे यम ने नचिकेताग्नि नाम से पुकारा है। इस नाम का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता ही है और वह भी यम के साथ ही। नचिकेता यम से अग्नि के ज्ञान का आग्रह ही इस लिए करता है कि इस उत्तरायण के योग मार्ग में जाने के लिए इसी अग्नि ज्योति के ज्ञान के सहारे आगे बढ़ा जा सकत है और इसी लिए इस योग का नाम ही अग्निज्योति है। उधर अजीगर्त ने भी तीन पुत्रों में से मध्यम को ही शुनःशेपः को ही मृत्यु को दिया है। यहां भी अजीगर्त शरीर है, तीन पुत्र तीन प्राण हैं। शुनःशेप नाम ही सार्थक है। वेदों में शुनः नाम इन्द्र या मध्यम प्राण का है। यही योग कर्ता होता है। यहां पर मृत्यु या शरीर की निष्प्राणता वाजश्रवा या अजीगर्त की है, नचिकेता और शुनः शेप तो अमर हैं, जीवित हैं, बातें कर रहे हैं, ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, प्रार्थनायें कर रहे हैं, योग में ही रत हैं, वे मरे कहां, प्राण नहीं मरते। शुनःशेप की वरुण पाश से मुक्ति अजीगर्त रूप शरीर से मुक्ति है। लोग उलटा समझते हैं कि वरुण पाश मुक्ति से शुनःशेप जी गया। वास्तव में वरुण पाश ही इस शरीर का मुख्य बन्धन है। जब तक यह बन्धन है तब तक इस स्थूल शरीर में प्राण बँधे रहते हैं, बन्धन टूटा नहीं, प्राण छूटा, दूर उड़ा। विद्वानों को इन गाथाओं ने बहुत बड़ा धोखा खिलाया है। अजीगर्त का अपने खड्ग से शुनःशेप को मारने को तत्पर होना एक बड़ी भारी बात है। खड्ग सदा ज्ञानाग्नि कहलाती है, विद्या ज्ञान का प्रतीक है (गीता ४-४२)। अजीगर्त ने अपने खड्ग से अपनी अविद्या को काटा

है, शरीरस्थ अविधा को छाँटा है तभी तो शुनःशेप योग कर सकेगा। अविद्या साथ गई तो कदापि नहीं। यह इस ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण है। शेष ग्रन्थ में ही देखने का कष्ट करें।

उक्त सम्पूर्ण आद्योपान्त विवेचन से यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान युग तक प्रचलित वेदों के अध्ययन का जैसा वातावरण छाया हुआ है उसके समूचे दृष्टि कोण को तुरन्त ही एकदम बदल देने की महती और प्राथमिक आवश्यकता है। और ऐसे आमूल चूल परिवर्तन के लिए एक बार पुनः समस्त वैदिक वाङ्मय की व्याख्या इस उचित योग्य और वैदिक महर्षियों की परम्परानुसार करने का कठिन प्रयास तुरन्त हाथ में लेने की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसे कार्य को प्रारम्भ करने की ही दृष्टि से और पथ प्रदर्शक रूप ग्रन्थ सामने रखने के लिए भी, इस चौथे अध्याय के चौथे पाद में कुछ मुख्य और प्रसिद्ध जैसे 'अस्यवामस्य', 'पुरुषसूक्त' का वैदिक भाष्य हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में दिया जा रहा है। आशा है यह कार्य शुभ शकुन का सिद्ध होगा और योग्य विद्वान् अपनी संस्कृति के उद्धार के लिए तुरन्त जुट जावेंगे।

आपने देख लिया होगा कि इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय, पाद, भाग और पृष्ठों या पंक्तियों में सब नई नई ही बातें आई हैं। यह प्रस्तुत ग्रन्थ नवीन विषयों की खोजें सामने रखता है, नवीन मौलिक विषयों का प्रतिपादन करता है, नए ज्ञानों की नई नई ज्योतियाँ प्रदान करता है और अपनी प्राचीन खोई अमूल्य संस्कृति निधि को बटोर बटोर कर उनको उनके उचित रूप में प्रस्तुत करता है। अतः यह तो सोम की तरह 'नवो नवो भवति जायमानः' का उदाहरण सा कण कण रूप में नव नव रूप में आपके सामने एक अपूर्व रूप में या दिव्य रूप में प्रकाशमान होता आ रहा है। इसका समस्त वातावरण मौलिकता नवीनता दिव्य दृष्टि और अनन्त रत्नाकरता के रूप में दीपमालिका सम जगमगाता हुआ सामने रखा गया है। शेष पूरा ग्रन्थ आपके सामने है, व्यक्तिगत दु:संस्कारों से दूर हटकर निष्पक्ष भावना से इनका अध्ययन कर देने की अभ्यर्थना है। इनकी विशिष्टता बढ़ाने के जो उचित सुझाव विद्वानों से प्राप्त होंगे उन्हें कृतज्ञता पूर्वक सहर्ष स्वीकार किया जा सकेगा।

बी १/१२८।१८, डुमराव बाग
अस्सी, वाराणसी–५
जुलाई १९६४-६७

हरिशङ्कर जोशी

विषय सूची

(१) वैदिक युग या वेद निर्माण युग में ही वेदविदों की संख्या अल्पीयसी थी (२) उनके भी कई स्तर थे (३) सोम के वास्ताविक स्वरूप को कर्मकाण्डी तभी नहीं जानते रहे। (४) वैदिक दर्शन के दो मुख्य भागों और कई मुख्यो विषयों की चर्चा विदथ में हुआ करती रही। (५) इनको जानने वालों क अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मण देवता कहते थे। (६) ऐसे ही ऋषियों को तब यज्ञ का अधिष्ठाता बनाया जाता था, उपनिषद् युग में ऐसों को दूर-दूर से खोजकर लाया जाता था। (उशस्ति चाक्रायण—छान्दोग्य देखें)। (७) उन्हें ऋषि कहते थे। (८) ऋषि नाम प्राण रूप तत्त्वों का है जिनमें आङ्गिरस आदि सप्तर्षि आते है। (९) इन्द्रादि देवता भी सृष्टि काल में तपस्वी ऋषि हैं। (१०) जिनसे जिन तत्त्वों का विकास होता है, वही विकासीय तत्त्व अपने मूलस्रोत की अतिसृष्टि योग से करते हैं। (१२) वैदिक पारिभाषिक शब्दों से किन तत्त्वों का संकेत है ? इस सम्बन्ध में कई आवश्यक प्रश्नों की फुलझड़ियां। (१३) वेदों में एक उच्चकोटि की सभ्यता है[1], उसका मूल आधार क्या होगा ? (१४) यह प्राचीन श्रुति रूप ब्राह्मण भाग है (१५) अतः मन्त्र ब्राह्मणात्मक ही वेद है (१६) पुराण पंचम वेद है। (१७) उपनिषदों में भी ब्राह्मणों की तरह अपना कोई नया विषय नहीं है, दोनों का विषय केवल एक है। इन्होंने अपने विषय को वैदिक मंत्रों को उद्धृत करके ही पुष्ट किया है। (१८) इन्होंने कोरे कर्मकांडियों को खरी खोटी सुनाई हैं। (१९) यही गीता ने भी किया है। (२०) इन सबका मुख्य विषय योग है। अतः (२१) वेदों का पूर्ण विषय योगमय ही है।

(१) वेदों पें अग्नि इन्द्र और सोम का वर्णन बाहुल्य ही सिद्ध करता है कि इनमें योगबाहुल्य ही है। (२) यही बात ब्राह्मणों में भी पाई जाती है।

---

१. विशेष—इस शीर्षक के अन्दर पृष्ठ १४ की अन्तिम पंक्ति से पहली पंक्ति के '···विभागों का।' वाक्य के पश्चात् पृष्ठ १७ के द्वितीय और तृतीय परिच्छेद—जो 'ऐसी उदात्त···' से प्रारम्भ होता है—पढ़े जांय, तदनन्तर पृष्ठ १४ की अन्तिम पंक्ति से पहले—'और यह धारणा' इत्यादि वाक्य से पढ़ा जावे।

(३) उपनिषदों में ईश से लेकर महानारायण तक सभी में केवल योग ही प्रधान विषय है। (४) इनके क्रमशः उदाहरण। (५) गीता में भी इसी योग का वातावरण मुख्य है, उपनिषदों का ही सार भरा है। (६) इसके ११ वें अध्याय में अर्जुन को आत्म दर्शन देने के व्याज से योगानुभूति का साकार चित्र दिया गया है (७) कृष्ण उत्तरार्द्ध है, सारथि बुद्धि है, अर्जुन पूर्वार्द्ध (८) आत्मा शर है, अमृत धनुष, कृष्णमृग लक्ष्य है। (९) यही कृष्णार्जुन युद्ध भी है। (१०) गीता के तत्त्वों का दिया क्रम भी योग परक या उलटा ही क्रम है। (११) ब्रह्म ही वेद है, ऋषि वेदविद् हैं, वही वेद्य है (१२) वेद ब्रह्म ही सर्वयज्ञमय है। (१३) यह वेद वृक्ष भी है, ऊर्ध्वमूलमधःशाख वृक्ष है (१४) यही वातावरण अन्य पुराणादि धर्मग्रन्थों में भी है (१४) अतः आजकल की प्रचलित वेद व्याख्या प्रथा इस परम्परा की एकदम प्रतिकूल गामिनी होने से नितान्त हेय है।

(१) उपनिषद् युग में ही खोज खोज कर अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण मिलते थे। उपनिषदोत्तर काल में उनका नितान्त अभाव हो गया। अतः गीता पुराणों और धर्मग्रन्थों ने बार बार स्मरण किया है कि यह वैदिक ज्ञान बहुत युगों से नष्ट हो गया था। वैदिक वाङ्मय की यह बड़ी भारी दुर्घटना है जिसका अभी तक कम लोगों को ज्ञान है। इस दुर्घटना का उल्लेख प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ कर गये हैं। लोगों ने इन संकेतों पर भी ध्यान नहीं दिया है। अतः पुराणों ने उन्हीं भावनाओं से पुराण रूप में वेदों की व्याख्या की है। (४) अतः वेदों का अर्थ इन्हीं ग्रन्थों में निहित है। यास्कादि के अनुयायी आंग्लादि भाषायी व्याख्याओं में इसका नामोनिशान नहीं है। (१९) उसी का संकलन इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है।

(१) उपनिषदोंके पश्चात् लगभग ५०० वर्ष तक वैदिक अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवताओं का नितान्त अभाव। (२) वेदार्थ की नई अटकलपच्चू व्याख्या और पारिभाषिक पदों के प्रतारणा के अर्थ देने का प्रारम्भ यास्क ने किया। (३) उसमें वैदिक परम्परा का नितान्त अभाव। (४) यास्क की भूलें। (४) प्रस्तुत ग्रन्थ को इन्हीं भूलों के सुधार के लिए प्रस्तुत किया गया है। (५) भ्रम निवारणार्थ वैदिक दर्शन की सूक्ष्म पृष्ठभूमि। (६) गीता का

कुण्डलाकार कर मिला कर विष रूप तेल में आत्मा की वर्तिका को अमृत ज्योति से प्रदीप्त कर लेता है। (६) प्राणों के इस रूप का वेत्ता ही ब्रह्मविद् वेदविद् और स्वयं ब्रह्म है। (७) अपान से कुण्डलिनी का प्रारम्भ होता है। (८) अपान सिद्धि से योगी का आसन भूमि से ऊपर उठ जाता है। (९) यही इन्द्र का वज्र विष्णु का चक्र देवी का सिंह है। भृकुटि में चन्दन मन का स्थान सूचित करता है।

अध्याय ३ पाद १—योगमाया ११८–१२१

(१) योगमाया देवासुरों की है। (२) बाह्य शरीर असुर है, आभ्यन्तर कोश देव। (२) वे क्रम से अन्धकारमय और ज्योतिर्मय हैं (३) अन्तर्मुख प्रभा देवता है; बहिर्मुख प्राण असुर। (४) प्राण स्वयं न देव है न असुर, पर वे मनुष्य हैं नित्य परिवर्तन शील हैं। (५) देवासुरों का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है (६) यही समुद्र मन्थन है (७) ये क्रियायेंही माया हैं जो अनन्तरूपी है, इन्द्रादि देव और असुर भी अनन्तरूपी हैं। (८) इन्हीं से इन्द्र मायी कहलाता है। (९) इन्द्र योगी है, रथ उसका शरीर है, प्राण उसके अश्व हैं, (१०) इसीलिए इन्द्र सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। (११) उसी ने सर्वप्रथम ब्रह्म की ज्योति के दर्शन किए। (१२) वही इसी लिए विद्दतिद्वारभेत्ता भी है। (१३) विद्दति द्वार को इसी का ब्रह्मरन्ध्र अन्तरिक्षोदर या कुहरं भी कहते हैं। (१४) यह कुटिला पुरीतत् या सुषुम्ना का मुख द्वार है। (१५) इन्द्र का कोई प्रत्यक्ष शत्रु नहीं है। (१६) ९९ दुर्ग-प्राणों के दुर्ग हैं, ये ही उसके क्रतु हैं, वह स्वयं तब शतक्रतु होता है।

अध्याय ३ पाद २(क) देवासुरों का स्वरूप १२२–१२४

(१) देव और असुर दोनों प्रजापति केपुत्र हैं, योग में असुर, सृष्टि में देवता ज्येष्ठ भ्राता हैं। (२) प्रत्येक देवता का एक प्रतिरूप असुर है। (३) सभी मुख्य देवताओं और असुरों की नामतः कार्यतः व्याख्या। (४) इनका नैरन्तर्य युद्ध वाज या अन्नऔर मनः या सोम के लिए होता है। (५) भौतिक प्रवृत्तिमय शरीर ही असुरों की गुहा है। (६) दैवी प्राणों का अपनाना गायों की चोरी है। (७) वृत्र का सौम्यभाग देव है, शरीर भाग आसुर्य।

अध्याय ३ पाद २(ख)—इन्द्र कौन है ? १२५–१२८

(१) इन्द्र 'देवं मनः' है, चान्द्रमस शरीरी वाङ्मय वज्री असुर हन्ता है। (२) वह मध्यमप्राण, विगलितमृत्यु, मर्त्यप्राणासुरों का मृत्युरूप है। (३) वह

अयास्याङ्गिरस दूर्नाम है (४) वही ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति हैं। (५) वही साम या उद्गीथ है। (६) वह महेन्द्र नामक कोई प्रथम योगी था, असुर भी पीडक थे, उनके आधार पर इनका तादात्म्य देवासुरों से किया गया है। (७) गजग्राह युद्ध एक ही शरीर के देवासुर संग्राम को भिन्नस्थानीय भिन्न शरीरी प्रतिद्वन्द्वियों के द्वारा वर्णित समझना चाहिए। इतिहास में ये सब इसी प्रकार के थे।

(१) सोम असपत्न और इन्द्र की इन्द्रिय या सोमरस है, वैदिक ब्राह्मण, देवताओं या दार्शनिकों का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशमय तत्त्व है। (२) मंत्र की पूर्ण व्याख्या। (३) जड़ी बूटी घोटकर बननेवाला रस सोम नहीं है। उद्धृत मंत्र की व्याख्या देखें। (४) वेदों में वर्णित सोम की अलौकिक महिमा (अनेक उद्धृत ऋचाओं की व्याख्या) (५) सोम सर्वदेवता का वर्णन (५) सोमानुभूति वर्णन (६) अखिल ब्रह्माण्ड का रेतोरूप सोम (७) विष्णु वृष्ण का रेतो रूप सोम। (८) समुद्ररूप सोम (९) कलशरूप सोम। (१०) छन्दों के द्वारा ज्योतिर्मय सोम का स्थान निर्णय। (११) शुक्र रूप पीयूष रूप दिव्य रूप सोम। (१२) दाक्षायी अर्यमा सोम।

(१) सोमपान के अधिकारी देवता मनुष्य (प्राण) और पितर हैं। ये सब योगी हैं। योगी देवतादिक ही सोमपायी हैं। (२) देवता मनुष्य पितरों की सृष्टि और योग दोनों में परिभाषा। (३) योग से पुत्र ही पितर हो जाते हैं। (४) वामदेव की अनुभूति, अङ्गिरस पितर क्यों हैं ? (५) उत्तरायण दक्षिणा-यन के देव मनुष्य पितर। (६) सृष्टि में सोम तो दिव्य शरीर है जिसे पाकर देवतादिक विश्वेदेवता बन जाते हैं। (७) योग में सभी विश्वेदेवता हैं, पुनः सोमपान से अमृत हो जाते हैं (९) इन्द्र का सोमपान विदृतिद्वार भेदन पूर्वक सोमज्योति सागर की डुबकियां लेना है, यह उद्धृत ऋचा से स्पष्ट है। (१०) शरीर में वाक् आदि के शरीर पूतिमय हैं। उनकी शुद्धि प्राणों के मेघ से की जाती है। अग्निवृषभ को खौलाया या चुवाया जाता है जिसका वर्णन उद्धृत ऋचा के अर्थ में देखें। (११) प्रकाश बिन्दुरूप इन्दु का घूँट पीना इन्द्र का सोमपान है। (१२) मुख अग्निमात्र के पास है, प्राण पीने वाली शक्ति मात्र इन्द्र के पास, इनके ही द्वारा ही उक्त पीत सोम अन्य देवों को साकं मिलता है। प्रत्येक अलग

अलग नहीं पीता, पीने वाला एक है इन्द्र, वह भी अग्नि मुख से ही पीता है। यही इन्द्र की स्फटिक मणि में देवसभा है (१३) प्राण कोई भी हो मुख्य या अग्नि रूप सब मूलतः स्त्री रूप हैं, उक्त देवताओं की स्त्रियां या शरीर रूप हैं। (१४) जो योगी है वही इन्हें इन रूपों में देखता समझता या अनुभूत भी कर सकता है।

(१) अन्नमय शरीर का अमृत शरीरी सोम से सम्बन्ध कैसे हो ? प्रश्न के उत्तर में (२) प्राणबन्धन सूत्र से दोनों के बँधे रहने से होता है। (३) दोनों वैद्युतीय शरीरी हैं, सन्धान प्रत्याधान (Negative Positive Charges) रूप हैं। (४) उद्धृत ऋचा में यह भाव स्वतः स्पष्ट है। बृह० उप० ने अधिक स्पष्ट कर दिया है। (५) यही दशरथ वसुदेव है जिनकी समाधि में राम कृष्ण उत्पन्न होते हैं (६) अखिल ब्रह्माण्ड इन दोनों इन्द्रसोम का सम्मिलित रूप है। (७) अग्नि मुख से इन्द्र प्राणसूत्र को इद्ध करता है। विदृतिद्वार भेदता है, सोम ज्योति पीता है, अतः इन्द्र कहलाता है। (८) हैमवती भी सोम की ज्योति है ब्रह्म विष्णु। (९) उमा सहित ही सोम है श्री सहित सोम है (१०) वह वैद्युतीय स्वरूपी है। (११) वह रसमय है, (१२) संवित् मय है। अतः उसे संविदाना कहते हैं। (१३) यजमान की संवित् का वर्णन (योगादि के अनन्तर) उद्धृत ऋचायें देखें। (१४) यहाँ सोम राजा तत्त्व है (१५) जो योग नहीं करता उसका शरीर प्रतिक्षण सांसारिक धन्धों से रोता ही रहता है। (१६) पर योगी का रौद्र शरीर कभी नही रोता। (१७) योगभूमियाँ (१८) योग के पद (१९) योग की संविद्—ॐकार विद्या ऋग्यजुःसाममयी भूर्भुवःस्वर्मयी।

(१) सोमपान से कैसा अलौकिक आनन्द आता है ? उसके सामने अखिल ब्रह्माण्ड की सब सम्पत्तियां सम्पूर्ण साम्राज्य धूल के भी बराबर नहीं, यह सूक्तार्थ में अच्छी तरह पढ़ कर समझ लें।

(१) रा रयि आदि नाम चन्द्रमा मनुष्य नामक प्राणों के हैं। (२) समुद्र मन्थन का समुद्र सोम है, अहि प्राण सूत्र, देवता रत्न। (३) मार्कण्डेय वर्णित रत्न नाम तीन स्थलों में। (४) गीता के विभूतियोग के तत्त्व भी रत्न ही हैं। (५) वसु नाम देवताओं के आत्माओं का है, योग में शरीर हैं।

(६) इसीलिए योग में देवताओं को रत्नधातम कहा है। (७) सरस्वती और महासरस्वती का स्तन भी रत्नधा कहा गया है। ये देवधा हैं। (८) धेनुएँ छान्दसी, द्यावापृथिवी रूपिणी और प्राणमयी हैं, कई प्रकार की हैं। (९) पशु द्विविध है पञ्चपशु और वायव्य आरण्य ग्राम्य पशु। (१०) सुत नाम सोम का है। (११) मंत्र योग से मननीय चित्र और उसका तद्वत् वर्णन है। (१२) श्रुतियां श्रोत्र तत्त्व की हैं। (१३) अतः वाक् प्राण चक्षु आदिक सब ब्रह्म कहलाते हैं। (१४) इनके पर्याय भी ब्रह्म के ही नाम हैं। (१५) इसके वैदिक प्रमाण। (१६) प्राण व्याख्या तुलना से प्राण महिमा। (१७) अध्ययन पाठ और कर्म काण्ड में ब्रह्म शब्द इन्हीं अर्थों के हैं। (१८) ऋषि नाम योगी तत्त्वों योगियों और प्राणों का है। (१९) देवजा ऋषि तत्त्व हैं। (२०) नवग्वा दशग्वा आङ्गिरस प्राण रूप ऋषि हैं। (२१) दक्षिणा दक्षिणायन की है। (२२) चार दक्षिणा दक्षिणायन के तत्त्व छन्द अमृत प्राण भौतिकामृतप्राण सोम और दिव्य शरीर हैं। (२३) दक्षिणाविद् की महिमा।

(१) मूल सृष्टि अनाद्यनन्त मूला स्थूण रूपा द्यावापृथिवी नाम्नी है, (२) उसके दो भाग ऋतं बृहत् या ऋतं सत्यं है; (३) मध्य में ऊषा है, ये त्रैलोक्य है (४) त्रिपात् पूर्वार्द्ध मात्र है। (५) यह अजएकपाद सृष्टि वृक्ष या संवत्सर ब्रह्म है। (६) छान्दस भागों या सप्तकीय ऋतुओं में विकसित होता है। (७) सप्तव्याख्या सरणियां (८) अनारम्भणीय अग्नि। (९) छन्दोमयी सृष्टि, साध्यादेवाः। (१०) अग्निमय सृष्टि (११) वाक् गायत्री पूर्वार्द्ध (१२) विष्णुपरार्द्धं, त्रिपदविक्रमोत्तर द्वापर। (१३) सृष्टि में (प्राण अग्निप्राण) रुद्र मध्यमप्राण परिजातवेदा इन्द्र तृतीय प्राण। (१५) विष्णु चतुर्थप्राण। (१६) वही ईश, ईशान आदि ईश्वर हैं। (१७) पूर्वार्द्ध गुहा है, सृष्टि में। (१८) योग में इसके विपरीत उत्तरार्द्ध योग का पूर्वार्द्ध ही गुहा है। (१९) यहां सोम ही सब देवताओं का प्रतिनिधि है (२०) केशव विष्णु इसी शरीर की गुहा में प्राण सागर का शायी है। (२१) उसी की जागृति या उद्दीप्ति सप्तशती रात्रिसूक्त के रूप में करती है।

(१) योग में पर नाम का भाग सृष्टि का पूर्वार्द्ध या गायत्री है। (२) इस के तत्त्वों की सिद्धि व्यतिक्रम से होती है तृतीय पादान्त से प्रारम्भ होती है। (३) विष्णु या सोम शारीरिक योग की अन्तिम सीढ़ी है। यह सृष्टि का वैश्वानर है। (४) त्रिपात्पुरुष गायत्र या अग्नि है, ॐकार विद्या है, विष्णु या

सोम है, उत्तरारणि है, शरीर अधरारणि। (५) इनके मन्थन से जातवेदा की प्रदीप्ति गुहा रूप में की जाती है। (६) द्विविध गुहा (७) पूर्वार्द्ध अमूर्त अशरीर है, उसकी अनुभूति भी अशरीरी प्राण तत्त्व करते हैं (८) अतः यह मृत्यु के उपरान्त का योग है। यही गीता कहती है। (९) योग के यही दो मार्ग हैं। (१०) सर्वप्रथम मरने वाला यम है। प्रमाण उद्धृत। (११) उसने इस योग या मार्गों को सर्व प्रथम खोजा। (१२) यम की वंशावली की व्याख्या। (१३) यम अग्नि है, यमी वाक् है, उसका शरीर है। (१४) यमयमी यमल ही पूषा है। (१४) नचिकेता भी अग्नि है, दोनों का कठीय संवाद भी ऋग्वेदीय है। (१५) सूर्या चतुर्विधा भी योग के चार रूप हैं सोम, चान्द्रमस (गन्धर्व), अग्नि यममय, अश्विनी प्राणमय। (१६) अग्नि विकास के दो विपरीत क्रम। (१७) मोक्ष योग की उत्तरोत्तर की सीढ़ियों के तत्वों की अनुभूति का क्रम। (१८) कठ में नचिकेता इसी योग की बात यम से पूछता है। (१९) वह वाजश्रवा का मध्यम प्राण है, वाजश्रवा की मृत्यु के पश्चात् योग करता है। (२०) शुनःशेषः अजीगर्त का मध्यमप्राण है, अजीगर्त की मृत्यु के उपरान्त मोक्ष योग करता है। दोनों में नचिकेता और शुनःशेप, क्रम से वाजश्रवा और अजीगर्त के मध्यमप्राणरूप योगी है। (२१) शुनःशेप की वरुणपाश से मुक्ति मृत्यु है, जीवन नहीं। (२२) खड्ग ज्ञान या विद्या का प्रतीक है, विश्वामित्र श्रोत्र तत्त्व है (२३) दोनों की पुत्रत्रयी मुख्य प्राणत्रयी है।

वैदिक योगसूत्र
अध्याय १, पाद १

विद्वानों से विनय

'शत्रूणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव'

(१) अल्पीयांस एव वेदविदो वेदनिर्माणकालेऽपि।

(२) यथा—(क) 'पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः' ऋ० वे० (१-१६४-१६)

(ख) कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत्
(ऋ० वे० १-१६४-१६)

(ग) 'चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।'
(सप्तशती रहस्य)

अनन्त अनादि-काल में निर्मित वेदों के विषय का वातावरण अपनी उदात्ततम भावनाओं से अनेक प्रकार से गुथे रहने के कारण प्रायः इनके निर्माण-काल में ही इनके सच्चे स्वरूप और लक्ष्य के ज्ञाता—जिन्हें 'वेदविद्' पदवी से घोषित किया जाता रहा—बहुत ही कम विद्वान् थे। इस तथ्य के साक्षीरूप प्रमाण इन्हीं वेदों के मंत्रों के वाक्यों में यत्र-तत्र या सर्वत्र बिखरे हुए स्वयं उपलब्ध हो जाते हैं। जैसे ऋ.वे. (१-१६४-१६) में लिखा है कि वेदों के मन्त्रों में जो रहस्य भरा हुआ रखा है उसे तो 'आखों' वाला' या इनके अर्थों की पूर्व परम्परा की श्रुतियों को अनूचान, शुश्रुवान् स्वरूप में जानने वाला ही स्पष्ट देख सकता है। ये आँखें क्या हैं ? इनका विवेचन ही इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है। मार्कण्डेय ऋषि ने भी दुर्गासप्तशती रहस्य में दुर्गा-रहस्य का विवेचन देते हुए इसी वाक्य को पुनः उद्धृत करके अपने ग्रन्थ के विषय के रहस्यों को खोज का संकेत करते हुए लिखा है कि जिन विषयों का प्रतिपादन दुर्गासप्तशती में किया गया है उन्हें केवल आँख वाले ही जान सकते हैं, इतर जन जो इसे नहीं जानते, वे इसे कदापि नहीं देख सकते। ऋग्वेद ने और आगे बढ़ कर कुछ-कुछ स्पष्टतर होने की चेष्टा करते हुए पुनः लिखा है कि वेदों के मंत्रों में जिन गहन विषयों का प्रतिपादन या चित्रण विचित्र ढंग से किया गया है, उसे तो वही माई का लाल या देवपुत्र ऋषि जान सकता है जो केवल 'कविः' या आँखों वाला योगी या दृष्टा ऋषि है। इस 'कवि' शब्द का अर्थ हमारे सभी प्रकार के धुरंधर विद्वानों ने 'कविता करने या रचने वाला व्यक्ति' समझा है, पर वेदों में कवि नाम तो अग्नि का है जो योग का प्रथम या मुख्य तत्त्व है, अतः इसकी योग की

प्रक्रिया को 'कवीयमानः स ईमा चिकेत' (वहीं) लिखा है। अर्थात् जो व्यक्ति योगी है वही योग करते हुए वेदों के मन्त्रों में गूढ़रूप से निहित भावों को साक्षात् अपनी योग की आँखों से देख लेता है। और यह ठीक है कि कवि, काव्य या मंत्रों की रचना करता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु हमारे वैदिक ऋषि-रूप कवियों के मंत्रों की तुलना आजकल के या मध्ययुगीय कवियों की रचना से करना बालिशता की पराकाष्टा है। इन गम्भीर रहस्यों भरे मन्त्रों में तो कविरूप ऋषियों के मननरूप योग से साक्षात्कार किया हुआ विषय भरा है। परम्परा के अनु-सार 'ऋषि दर्शनात्' 'मन्त्रं मननात्' कहा जाता है कि ऋषिरूप कवियों या योगियों ने जो कुछ कहा है उसे अपनी मननशक्ति या योगदृष्टि से साक्षात् दर्शन करके लिखा है। अतः 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः' वे ऋषि या कवि हैं जिन्होंने अपने वर्णित विषय का योग द्वारा साक्षात्कार कर लिया था। इसीलिए मन्त्र की व्याख्या में स्वयं ऋग्वेद ने लिखा भी 'मन्त्रेभिः सत्यैः' (ऋ.वे.१-६७-५), अर्थात् ये मन्त्र तो साक्षात् सत्यरूप में देखे गये विषयों के चित्रों को उपस्थित करते हैं, जिसके पास इन ऋषियों की योगमयी कविता की ऐसी दृष्टि नहीं है उनके बारे में पुनः लिख दिया है 'न विचेतदन्धः' (ऋ. वे. १-१६४-१६) कि बिना योगदृष्टि वाला इन विषयों को नहीं देख सकता। लौकिक कवि तो औरतों के केश, कपोल, मुस्कान, आँख, स्तन, कटि, अंगुली, हाथ, पांव का; वृक्ष, फूल, बाग, बगीचा, नदी पर्वत का और बाह्य मनोविज्ञान का, सभी बाहरी वस्तुओं का वर्णन करता है। हमारे ऋषियों ने इन गन्दे विषयों की ओर तो झांका ही नही है। अतः वास्तविक कवि आभ्यन्तर अनुभूति का चित्रण करने वाला ही हो सकता है। अतः जो व्यक्ति वेदों में वर्णित योग की इन प्रक्रियाओं को जानता है वह अपने देवतारूप पिताओं से पुत्ररूप में उत्पन्न होने पर भी योग की प्रक्रियाओं द्वारा पुनः उन पितारूप देवताओं को अपनी समाधि में नया जन्म देता है, उद्दीप्त कर लेता है। अतः वह अपने पितारूप देवताओं का भी पिता बन जाता है इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में दिया हुआ मिलेगा (१-२)

(३) "यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते" (ऋ० वे० १-१६४-३९)

अन्यत्र इसी सूक्त से अक्षर ब्रह्म या एकाक्षर ब्रह्म के अक्षरों का वर्णन गिनती की विधि रहस्यमय या सांकेतिक या पारिभाषिक शब्दों में दे देने के पश्चात् लिखा है कि जो व्यक्ति इस विषय को नहीं जानता वह इन ऋचाओं की रट लगाकर या उलटा-सुलटा अर्थ करके क्या करेगा? उसे इन वेदों के अमृत का स्पर्श तक नही हो सकता, उसके लिए इन वेदों पर कहना, लिखना, पढ़ना सब

व्यर्थ है। हां, जो इन विषयों को जानते हैं वे अवश्यमेव इन मंत्रों को पढ़ने-पढ़ाने के लिए योग्य कहे जा सकते हैं (३)

(४) "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥" (ऋ०वे०१०-७१-४)

(५) "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" (ऋ० वे० १०-७१-५)

इन्हीं सब बातों को दृष्टिपथ में रखकर उन चिन्तित और चिन्तक वैदिक ऋषियों ने पुनः उन लोगों पर चिन्ता प्रकट करते हुए लिखा है जो वेदों के उक्त प्रकार के साक्षात्-कृत विषयों के मन्त्रों के अर्थ को केवल प्राकृतेय पदार्थों या कर्मकाण्ड में अभिनीत प्रणाली में घटित करके वेदों का अनर्थ करते फिरते हैं, वे इन मंत्रों की वाणी में निहित रहस्यों को देखते या समझते हुए भी अनदेखा कर देते हैं। कर्मकाण्ड विधि तो योग प्रक्रिया की बाहरी अनुभूति या भक्ति या अभिनय है, रहस्य इनमें भी है, पर वे इन रहस्यों का विधिवत् कर्म करते हुए भी इनके उन वास्तविक रहस्यों से आँखें मूँद लेते हैं जो इनमें प्राणरूप में व्याप्त हैं। यह बात नहीं है कि उन्होंने इन रहस्यों के बारे में कभी कुछ सुना ही नहीं है। इन रहस्यों को तो वे ही श्रुतियां या मंत्र बार-बार उद्घोषित करते हैं और विदथ में भी सुनते-सुनाते हैं, पर इनके द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्ड या कर्म इनकी जीवनयात्रा का सुलभ मार्ग हो पड़ने के कारण ये ऐसे जिद्दी या हठी हो गये हैं कि वे इन मन्त्रों के रहस्यमय अर्थों को सुनते और जानते हुए भी उनको नितान्त अनसुना कर देते हैं। परन्तु जो व्यक्ति इन रहस्यों को जानने की खोज में, योग प्रक्रिया में संलग्न रहता है, उनके सामने वे ही मन्त्ररूप श्रुतियां, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों को पहनी पत्नियाँ अपने पति को अपना सर्वाङ्ग खोलकर दिखला देती हैं, उसी प्रकार अपने मन्त्र या श्रुति शरीरी वस्त्र को खोलकर उनको आत्मारूप या अर्थरूप शरीर या रहस्य को अपने-आप दिखा देती हैं। अर्थात् श्रुति या मंत्रों के शब्दात्मक वस्त्रों में ढँके उनके रहस्यमय शरीर के ज्ञान या दर्शन करने की आँखें योग की आँखें हैं, उन्हें इन चमड़े की आँखों से नहीं देखा जा सकता। जिस व्यक्ति के पास ऐसी योगमयी आँखें होती हैं उसे उन मन्त्रों के प्यालों में भरे अमृत का स्थिरपीत या आकण्ठपीत योगी कहते हैं। इस प्रकार के योगी को कर्मकाण्ड के बाह्य योग के विधि-विधानरूप यज्ञों में और विदथ के गम्भीर, बलवान् शास्त्रार्थों में भी कोई विचलित नहीं कर सकता, उसे दोनों में एक ही प्रकार का रस या अमृत मिलता है। जो व्यक्ति इस प्रकार की अनुभूति से, योग माया की वृष्टि से शून्य है, रहित है, अनभिज्ञ है, वह व्यक्ति ऐसे प्राणमय यज्ञों

को या बाहरी कर्मकाण्ड या भीतरी योग दोनों को बाँझ गाय के समान प्रसव और पय: से रहित या ढकोसलों से भरे उटपटाङ् विधि-विधानों का जटिल तमाशा बनाते हुए, उन क्रियाओं या प्रक्रियाओं में उच्चरित वाणी को फलहीन, पुष्पहीन पतझड़ वाले कांटों से विद्ध वृक्ष के समान ठूँठ के आकार की शब्दावली सी पाता है। उसे इनके पुष्पों का अमृतमय मधु और रसमय योग का फल चखने का सौभाग्य शून्य मात्रा में भी प्राप्त नहीं। (४–५)

(६) "अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु: ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृशे ॥"

(ऋ० वे० १०-७१·७)

उस वैदिक युग में यह बात भी नहीं कि सभी ऋषि एक ही स्तर के होते रहे। वे योग की आँखों वाले योगी, ऋषि तथा श्रुतियों को परम्परा से सुन-गुन कर समझने-समझाने वाले अनूचान शुश्रुवांस या 'अक्षण्वन्त और कर्णवन्त, ऋषि, परस्पर प्रेम से समभाव से रहते हुए भी 'मनोजवों' या योग प्रक्रियाओं तथा प्रतिभा के वेगों या उड़ानों में असमान ही होते रहे। उनमें से कुछ तो उस योग-सागर, वेदों के ज्ञानसागर में मुख तक डूबे-से थे, कुछ छाती तक। कुछ तो ऐसे गम्भीर योगी थे जो ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों वे तपी धूप में स्नान करने योग्य शुद्ध महासरोवर हैं। अर्थात् जो उनके पास फटक भी जाता था वह उनसे कुछ न कुछ प्राप्त करके ही लौटता था, वे ऐसे दिव्य आदर्शों और योग की विभूतियों के मूर्तिमान अवतार थे (६)

(७) "सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतै: सोम रक्षित: ।
ग्राव्णमिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिव.॥ (ऋ०वे० १०-८५-३,४)
अप्याधुनिका न ह्येतादृशा एव भवन्ति ?

इस प्रकार के सौभाग्यशाली वैदिक युग में ही, जैसा पहले बताया जा चुका है (उन्हीं दिनों में) जिस प्रकार सूत्र २ में कथित अक्षरब्रह्मवेत्ता ऐसे ही इने-गिने कुछ ही महर्षि होते रहे, उसी प्रकार वेदों में अतीव प्रसिद्ध तत्त्व या देवता सोम को भी उचित रूप से जानने या पहचानने वाले विद्वान् या अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवता विरले ही थे। अत: उसी संहिता निर्माण युग में विद्यमान उन अधिक मात्रा में प्राप्त कोरे कर्मकाण्डियों को, जो ऐसे महत्त्व-पूर्ण सोम देवता या तत्त्व को केवल मदिरा या जड़ी-बूटी का रस या कर्मकाण्ड

में उसके लिए प्रयुक्त सिलबट्टा समझते चले आ रहे थे, फलतः भावी सन्तानों के लिए उनके ऐसे भयंकर दुरादर्श से अतीव पीडित और चिन्तित होकर ही, बड़ी तीखी और भद्दी खिल्ली उड़ाते हुए उन्हीं योगी महर्षियों ने स्वयं ही लिख दिया था—

"ये कर्मकाण्डी बेचारे (सोमलता, करीर, शमी प्रभृति) जड़ी-बूटी को घोट कर उसके रस को पीकर समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम का पान कर लिया। परन्तु वैदिक मंत्रों में तथा परम्परा से प्रचलित योगी-ऋषियों में जिस तत्त्व या वस्तु को सोम नाम से जाना या माना जाता था, उसको हमारे खाने वाले मुख से कोई नहीं पीता या खाता था। जिस सोम की चर्चा वेदमंत्रों में आई है, जिसे वैदिक ऋषि सोमतत्त्व कहते रहे, हे सोम! वह बृहती वाक् के शरीर के नाना जटिल कोशों के आच्छादनों के विधानों के पिधानों से छिपा हुआ गूढ है, सुसंरक्षित तत्त्व है। ये लोग तो तुम्हारा नाम 'सिलबट्टा' सुनकर सचमुच में घोटने का सिलबट्टा समझ लेने से गवाँरों की तरह ठगे गये हैं, हे सोम! तुम्हें तो कोई ऐसा मिट्टी का पुतला, भौतिक संसार में डूबा, नहीं पी सकता या पा सकता।"

तब सोम के सम्बन्ध में इन महर्षियों की ऐसी परम स्पष्ट उक्ति को देखते हुए भी, आज तक के व्याख्याताओं ने इन्हीं कर्मकाण्डियों का अनुसरण करते हुए ही सोम को फिर भी मदिरा ही मान कर जो इतना बड़ा भारी परिश्रम कर लाखों पुस्तकें लिखी हैं उनका कोई महत्व या उनमें कोई सत्यता हो सकती है? कैसे? यदि आज लेखक के स्थान में वे ही योग की चक्षु वाले महर्षि इस ग्रन्थ को लिखते तो उन्हें रो-रो कर इन्हीं वाक्यों को फिर दुहराना पड़ता (७)

(८) "यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरिन्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत् ॥"

(ऋ० वे० १०-८८-१७)

वैदिक दर्शन के दो रूप थे—सृष्टिपक्ष और योगपक्ष। प्रत्येक पक्ष एक दूसरे के तत्त्वों से एकदम विपरीत दिशा से अपने दर्शन की व्याख्या देता रहा। प्रत्येक पक्ष के दो मुख्य भाग थे जिन्हें स्थूल रूप से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा जाता रहा। और एक दूसरे के विपरीत दिशा से प्रारम्भ करने वाले होने से जो सृष्टिपक्ष का पूर्वार्द्ध है वह अतिसृष्टि (योग) पक्ष का उत्तरार्द्ध कहा जाता था और जिसे सृष्टि का उत्तरार्द्ध कहते रहे उसे योग का पूर्वार्द्ध। इन दोनों भागों के कई अन्य नाम भी हैं। उस संहिता निर्माण युग में भी जिस प्रकार अक्षरब्रह्म और सोम को जानने वाले विद्वान् इने-गिने ही रह गये थे उसी

की अनुभूति की भाषा कहते हैं। इसी कारण इसे इतना पवित्र माना भी जाता हैं। अतः इनके ज्ञाता ऋषियों या वेदविदों और ब्रह्मवादियों को अनूचान शुश्रुवान्त्स, और ब्राह्मण देवता के नाम से भी पुकारते थे। यह कोई नई बात नहीं है, इन शब्दों से प्रायः सभी विद्वान् परिचित होंगे, भले हो वे इन शब्दों का उचित प्रयोग न करने के लिए सार्वजनिक दुर्बलता की हिंचकिचाहट के प्रवाह में बह गये हों। पर इन ऋषियों के सम्बन्ध को एक बड़ी भयानक समस्या निम्न प्रकार से मुँह बाये खड़ी है जिसने आज तक के सभी व्याख्याकारों को पूरे का पूरा निगल ही डाला है; अर्थात् उनको इस ओर से सावधान होने का अवसर भी नहीं मिल सका है या उन्होंने इस गम्भीर विषय पर तनिक भी चिन्तन नहीं किया है। वह यह है—

जिन-जिन ऋषियों या महर्षियों को सूक्तों के निर्माता के रूप में उद्घोषित किया गया है उन्ही ऋषियों को उन्हीं के सूक्तों या मंत्रों में देवता या पितर या मनुष्य नामक देवताओं को तीन कोटियों में भो वर्णित किया गया है। जैसे अङ्गिरस ऋषि मंत्र रचयिता ऋषि भी हैं और इन्हीं को पितर नामक नवग्वा दशग्वा उप नामक तत्त्व भी कहा गया है। तथा इनके सम्बन्ध में ऐसे भी शब्द उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके भी तात्त्विक स्तर थे—जैसे, अङ्गिरसा अङ्गिरसस्तमा इत्यादि। इसी प्रकार वशिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, भारद्वाज, जमदग्नि, कश्यप, गोतम, अत्रि, मनु, विवस्वान्, बृहस्पति, विश्वकर्मा प्रभृति को एक ओर से मंत्र और सूक्त रचयिता ऋषि कहा गया है दूसरी ओर इन्हीं को देवता या तत्त्व रूप में स्पष्टतया वर्णित किया गया है और इन्ही को देवरूप ऋषि या 'ऋषय सप्त दैव्या; (ऋ.वे. १०-१३-१-७) भी स्पष्टतया कहा ही गया है। वेदों में प्रसिद्ध जितने भी इन्द्रादि देवता हैं उनको सृष्टि या योग के सम्बन्ध में तप करने वाले, तपने वाले ऋषि नाम से भी समय-समय पर उद्घोषित कर रखा है और कहा गया है कि ये योग या सृष्टि यज्ञ के लिये ऋषिरूप में अपनी आत्मा का तपन आदि करते हैं, इनके इस प्रकार के तप के द्वारा अन्य देवताओं की सृष्टि या अतिसृष्टि का होना बताया है। इस सम्बन्ध में यह एक और बड़ी महत्वपूर्ण व्यवस्था भी की हुई मिलती है कि सृष्टिपक्ष से जिस देवता की सृष्टि या विकास अपने पूर्ववर्ती देवता से बताई गई है, योगपक्ष में इसके विपरीत जो देवता सृष्टि पक्ष में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ था अब योगपक्ष में उसो से उसका सृष्टिपक्षोय पिता पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। ऐसे वचनों की वेदों में भरमार है जैसे 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' 'भुवो देवाना पिता पुत्रः सन्' 'स एष पिता पुत्रः' इत्यादि। यहाँ पर अग्नि, इन्द्रआदि देवता सृष्टि के विपरीत अतिसृष्टि या योग द्वारा अनुद्दीप्त पितारूप देवताओं को उद्दीप्त या उत्पन्न करके उनकी अनुभूति करने से उनके पिता

या पितर कहे जाते हैं (यह विषय आगे इसी ग्रन्थ में पूर्णरूप से व्याख्यात मिलेगा)। अतः इन देवताओं का वर्णन यहाँ पर साधारण योगी ऋषियों की तरह करके सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों पहेलियों को साथ-साथ निपटाया गया है। अब प्रश्न उठता है कि 'क्या आज तक किसी ने भी इस जटिल समस्या का समाधान खोजने-सोचने, समझने या समझाने का लेशमात्र भी प्रयास किया है ?' यदि नहीं तो इन लोगों ने किया ही क्या है, यही तो समझ से बाहर की बात प्रतीत होती है (१० से १६)।

(१७) वर्णनाय चैतेषां प्रहेलिकाना (मग्रिमाध्यायेषूत्तरितानां सर्वेषामितो दातव्यानां प्रश्नानां) द्विधा यावरपरविभागौ सर्वत्र निगदितौ कौ तौ ? यथा "अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः।" (अथर्व १४-४-२२)

(१८) चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्येत्यादीनां वास्तविकः को रहस्यः ? (ऋ० वे० ४-५८-३)

(१९) एकपाद् द्विपात्त्रिपाच्चतुष्पात्पञ्चपादादीनां वर्णनायाः क आधारः ?

(२०) के ते सुपर्णाः क एकः सुपर्णः कथं तेषां व्याख्या ?

(२१) काः गावः का गौः कः गौः का धेनुः को वृषभः।

(२२) कोऽश्वोऽश्वौ वा हरितौ वा कौ श्वानौ कथमिन्द्रं 'शुनं हुवेम' इति।

(२३) कथमग्निमाहुः 'पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातममिति' ?

(२४) कथं सोऽय 'मग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्' ? (ऋ० वे० १०-५-७)

(२५) कथं सोऽय 'मग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' प्रजापतिर्वा।

(२६) एवं सहस्रशः प्रश्ना येषां वलिवेदिराधुनिकानां पुस्तकेषु सर्वेषु।

उक्त प्रकार की कई पहेलियों को सुलझाने के निमित्त उन्हीं वैदिक ऋषियों ने अपने मंत्रों या सूक्तों में कई ऐसे जटिल प्रश्नों को स्वयं उठा कर मंत्रबद्ध करके रख दिया है (जिनका उत्तर इस ग्रन्थ के अगले अध्यायों में विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है)। ये वे प्रश्न हैं जिन्हें वैदिक ऋषि अपने दर्शन को पूर्णतः परिचित कराने की दिव्य चक्षु समझते रहे। जो इन प्रश्नरूप विषय के उत्तर की चक्षु ज्ञान या योगरूप विज्ञान से रखता था उसे अक्षण्वन्त या आँख वाला और जो सुनकर ज्ञानी होता रहा उसे कर्णवन्त' कहते थे। इन्हीं को दूसरे शब्दों में क्रम से अनूचानाः' और 'शुश्रुवान्सः' 'ब्राह्मण देवता' कहते थे। इन चक्षुओं और कर्णों को खोलने वाले प्रश्नों में से सर्वप्रथम प्रश्न उनके द्विधा-दर्शन के उन दो प्रकार के मुख्य भागों के बारे में यहाँ पर पुनः उन्हीं की ओर से पूछा जाता है कि वे कौन या कैसे भाग हैं ? जैसे अथर्व ने लिखा है कि आधे भाग से तो इस अखिल

भौतिक ब्रह्माण्ड की पूर्ण रचना की गई, पर वह दूसरा भाग जो अपनी उदात्ततम उद्दीप्ति से केतु, तारे या ध्वजा के समान आज्वल्यमान है वह कौन या कैसा है ? दूसरा प्रश्न 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः' इत्यादि सबकी प्रसिद्ध ऋचा का हो है जिसका अर्थ यास्क ने कुछ और दिया है, महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कुछ और ही और सायण ने कुछ दूसरा ही । क्या ये सब ठीक हैं या सब अशुद्ध हैं ? सब तो ठीक हो नहीं सकते, भले ही सभी अशुद्ध हों । इसका उचित, वास्तविक, स्थिर, स्थित रहस्य क्या है ? तीसरा प्रश्न यह है कि वेदों में देवताओं का विवेचन एकपात्, द्विपात्, त्रिपात्, चतुष्पात्, और पञ्चपाद के रूप में अधिकांश में किया हुआ मिलता है यह सब जानते हैं । इस विचित्र वर्णना का मुख्य आधार क्या या कैसी या कौन-सी नवीन या प्राचीन शैली है ? इस सम्बन्ध में यह भी पूछना है कि वेदो में वर्णित वे नाना प्रकार के सुपर्ण या 'एक' 'महासुपर्ण' कौन हैं ? क्या हैं ? उनकी व्याख्या के लिए वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में स्पष्टतया दिये गये विषयों को समझने-समझाने का स्पष्ट आधार क्या है ? इसीप्रकार देवताओं को गौ, गाव, धेनु, गो आदि नामों से पुकारा गया हैं, क्यों ? बहुत से देवताओं को वृषभ बताया है । क्या हुआ इसका वास्तविक तात्पर्य ? किसी देवता को अश्व, किसी को हरितौ (दो), किसी को श्वान कहा है। और तो अलग रहा इन्द्र को जो सब देवताओं में श्रेष्ठ कहा जाता है, उसे भी श्वान नाम की टेर से पुकारा गया है, यह क्या गड़बड़ घोटाला है ? अग्नि को पुरोहित क्यों कहा गया है ? यह कैसा पुरोहित है ? इसे यज्ञ का देवता क्यों कहते हैं ? यह यज्ञ कौन है ? यह ऋत्विज भी क्यों या कैसा है ? इसी को होता भी क्यों और कैसे कहते हैं ? यह किस प्रकार के रत्नों को धारण करने वाला है ? यही क्यों है ? और देवता क्यों नहीं हैं ? इसको विद्वान् नाम से पुकारने का क्या तात्पर्य है, यह पञ्चभागीय सप्ततन्तवीय त्रिवृतीय यज्ञ का करनेवाला किस प्रकार है ? यह कैसा यज्ञ है ? किसका और कहां करता है ? यही ऋत से प्रथम उत्पन्न होने वाला क्यों है ? औरों ने क्या झख मारी है ? इसी प्रकार के हजारों प्रश्न और पहेलियाँ हैं जिनका उत्तर कहीं न कहीं वेदादिकों मे ही स्पष्टतया उल्लिखित होने पर भी आज तक कोई भी विद्वान् उसको उचितरूप से प्रस्तुत करने का सामर्थ्य नहीं दिखा सका है । जिस व्यक्ति के पास इन प्रश्नों के उचित उत्तररूप दिव्य चक्षु और दिव्य कर्ण नहीं हैं जो इन हजारों प्रश्नोत्तरों का सहस्राक्ष पुरुष नहीं है, जो अपनी इन सहस्राक्षों से वेदों के सहास्राक्ष को नहीं देख सकता और अपने सहस्र कर्णों से उस सहस्रश्रोत्र पुरुष को नहीं सुन सका है, प्रत्येक विद्वान् इस मत से अवश्य सहमत होगा कि, उस व्यक्ति से वेदों के समुचित अर्थ प्राप्त होने की केवल एक दुराशामात्र होगी । फलतः वेदों के विषय का जो सत्य उक्त प्रश्नों

के उत्तररूप में अग्नि या प्रकाश के समान जाज्वल्यमान है वह इस प्रकार की दिव्य चक्षुओं और दिव्य श्रोत्रों से हीन अनेक विध व्याख्याओं के हिरण्मय पात्रों से नितान्त पिहित, तिरोहित और आच्छादित होकर उपनिषद् युग से अबतक सुषुप्त सी, मूर्च्छित-सी या घुटे दम की होकर जहाँ की तहाँ और ज्यों की त्यों ही रह गई है (१७ २६)।

२७—(क) अप्यस्त्यतीवोच्चकोटेः सभ्यताऽऽर्याणां तावत्प्राचीनानामपि।

२८—(ख) सत्याः श्रुतयो ब्राह्मणान्येव यानि श्रुतितो लब्धानि।

२९—ब्राह्मणान्याहुरग्रजानि वेदानां संहितानाम् येषां तानि वै पृष्ठभूमयः श्रुतयः।

२९—यतो 'नापृष्ठभूमिकं किञ्चित्साहित्यं हि क्वचिद्भवेत्।'

३०—अलिखितानि ब्राह्मणानि वै पृष्ठभूमयो वेदानाम्।

३१—लिखनारम्भस्तु तेषां श्रुतिपृष्ठभूमिविनाशभयात् संहितानिर्माणा कालान्तरमेव यतः सहस्रशः श्रुतयो याश्च ब्राह्मणेषु स्थानरहितास्ताः स्मृतिषु पुराणादिषूपलभ्यन्तेऽन्यरूपेण।

३२—तस्मान्मन्त्रब्राह्मणो वेदः पुराणं पञ्चमो वेदः।

३३—तस्मादेव नो भेदो विषययोर्मन्त्रब्राह्मणयोर्व्याख्यानादतिरिक्तमाख्यानानां कर्मकाण्ड विधीनामत्यावश्यकीयानां सुविधायै पाठकानामेव।

३४—तत्त्वत्पुराणेषु स्मृतिषु रामायण-महाभारतयोश्च।

३५—उत्तरोत्तराणां निर्माणे मुख्यकारणं तु वदविदां ब्रह्मवादिनां योगिनां संख्यायाः संहितायुगस्याल्पीयसीतोप्यल्पीयसीतरादप्यल्पीयस्तमा सम्भवात् क्रमशः।

३६—अत एवाहुर्ब्राह्मणा "ग्यथ ये ब्राह्मणा शश्रुवान्सोऽनुचानास्ते मनुष्य देवाः।...मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रूवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान्प्रीणाति॥"
(श० प० ब्रा० २-२-२-६)

३७—अतीवावश्यकीयं ज्ञातव्यमेतद्यदुपनिषत्स्वाररायकेषु च सर्वस्वीकृत-ज्ञानदर्शनभण्डारेषु नहि कश्चितन्नूतनो विषयो यो वेदेषु ब्राह्मणेषु च नहि लभ्यते। नहि तेषु कस्याश्चिन्नवीनाया भावनायाः काचि दप्युद्भावना, नापि ते स्वतन्त्रा ग्रन्थाः कथमपि, निबद्धत्वात्स्वेषु स्वेषु च वेदेषु ब्राह्मणेषु सुस्पष्टं चेति।

एक से एक कई नई समस्यायें हैं। संहिताओं का साहित्य एक महान् सागर के समान अतीव विस्तृत है, यद्यपि सैकड़ों शाखाओं का ह्रास हो चुका है। इनकी संस्कृति में क्या नहीं है? वास्तोष्पति के वर्णन में हर्म्य और प्रसादों का, इन्द्र-वृत्रादि वर्णनों में नगर, किले आदि का, प्रजा-राजा के वर्णनों में ग्रामादिकों का,

पणियों या बनियों का, सूर्या के वर्णन में रेशमी कपड़ों का, बर्हि या आसन्दी के वर्णनों में सिंहासन पीठ आसनादिकों का, स्त्रियों के 'सुवासा' या रमणीय वस्त्र धारण करने का, 'चतुष्कपर्दा' स्त्री के वर्णन से स्त्रियों के केशों को सजावट का, वशिष्ठों के केशभूषा का, उपानह, उष्णोष, अंगूठी, ग्रेवेय, हार, माला का, कई प्रकार के कई अश्व-वृषभ आदि से जुते हुए रथों का, जैसे अश्विनी के १०० बैल जुते रथ का, कृषि का, आध्यात्मिक (रजसो) विमान का, नाना प्रकार के व्यञ्जन-पुरोडास, अपूप, धाना आदि का, अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप हस्ती, उष्ट्र, रासभ, वडवा, अज, अवि, अजा, कुक्कुट, सुपर्ण, गरुत्मान्, प्रभृतिका; सूती, कपड़े, ऊनी कपड़े, रेशमी कपड़े और उन के ताने-बाने से बुनने का, नाना प्रकार के रत्नों, लौहकार, स्वर्णकार, ताम्रकार, कांस्यकार, रजतकार और इनके धातुओं का, तथा ब्रह्मणस्पति की भट्टी की आग फूंकने की धौंकनी का, तीन लोकों, सात भुवनों, सात सागरों, सातों पर्वतों, अनेकों नदियों, अनेकों वनों, हिमालय आदि पर्वतों, वाहनों, नावों, महापोतों का—जैसे आदिति को शतारित्रा और स्वारित्रा नाव का, दूध, दही, घी, मलाई, मट्ठा, मक्खन, मांस प्रभृति का; साभाओं, सदों, संसदों, विदथों, आख्यान, व्याख्यान, ब्रह्मोद्य, प्रमोद, विनोद, पहेली, प्रश्न, कथोपकथन, लिखना (श.प.ब्रा. अथर्ववेद) पढ़ना, सुनना, मनन, गुनन निदिध्यासन, तप:, परिश्रम, आश्रम, पाठशाला, विद्याध्ययन, समावर्तन, नाना प्रकार के यज्ञ, अनुष्ठान, भक्तियोग प्रभृति उच्चकोटि की समस्त संस्कृतियों का; विभिन्न प्रकार को संस्थाओं का जैसे संहिता सम्बन्धी शाखाओं, प्रशाखाओं, उप-शाखाओं का; शास्त्र सम्बन्धी निरुक्तियां, व्याकरण, दर्शन, पुराण, गाथा, इतिहास, धर्म, नीति, समाज व्यवस्था, वर्ग, सम्प्रदाय, जाति, वर्ण आदि का; अक्षर ब्रह्म के आठ अरब चौसठ करोड़ अक्षरों का, एक से लेकर एक आगे २० शून्य तक (१००००००००००००००००००००) की गिनतियों या संख्याओं का; संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, वर्ष के ३६० दिन, बारह मास, तेरहवें मास (३६५$\frac{१}{४}$ दिन के हिसाब से और उसी की सातवीं ऋतु)। और ७२० दिवरात्रों, मुहूर्तों, क्षिप्रों, एतर्हियों, इदानियों; प्राणों, अनाओं, निमेषों, लोमगर्तों, स्वेदायनों और स्तोकों के विभाजनों द्वारा एक अहोरात्र के ३२८०५०००० विभाजनों का; विषुवद्रेखा का; सौरमण्डल के (ऋ. वे. १-१५५-६) ९० अंश के चार भागों द्वारा ३६० अंशों का, ग्रहों, अतिग्रहों, राशियों और नक्षत्रों का; ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम सूक्तों और पूरे अथर्व में सोमलता प्रभृति जीवनामृत रूा उच्चकोटि की ओषधियों का; पूरे ब्राह्मण्ड के अनन्त खगोलों की सृष्टि की मौलिक रचना के दैविक, भौतिक, आध्यात्मिक, सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रम का; शरीर के बाहरी-भीतरी सूक्ष्म मर्मरूप विभागों का। और यह धारणा भयंकररूप से आत्मघाती है कि इन सबके ज्ञाता, जानकार मनीषियों तथा

आभ्यन्तर ब्रह्माण्ड की अलौकिक शक्तियों से अखिल ब्रह्माण्ड को हस्तामलकवत् देखने या साक्षात्कार करनेवाले कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने उनके मन्त्रों को कर्मकाण्डा॰ नुरूप ढालने के लिए इनके ब्राह्मण ग्रन्थों को लिखा हुआ यह है––ब्राह्मण ग्रन्थों का जितना भी विषय उपलब्ध होता है वह संहितायुग तथा उसके पूर्व युग में आर्य जनजाति की संस्कृति परम्परा रूप में, संहिता विषय की पृष्ठभूमि के रूप में, समस्त आर्य जाति में आख्यान, व्याख्यान, पुराण, इतिहास, दर्शन, ज्ञान विज्ञान और कर्मकाण्ड रूप में विखरी पड़ी हुई थी जिनके खेत में संहितारूप वृक्ष तथा उसमें शाखा-प्रशाखायें उगी थीं। अर्थात् उस युग में या संहिता निर्माण युग में ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय सच्चे रूप में श्रुतियों के रूप में था, अलिखित, असंकलित था, परम्परा से प्राप्त होता जाता था। अतः इन्हें ही श्रुतियां कहते रहे। परन्तु संहिता निर्माण के कुछ काल पश्चात् जब इन श्रुतियों का ह्रास होने लगा, साथ में, जैसा पहले भी बताया जा चुका है, अनूचान शुश्रुवांस योगी-यतियों की उत्तरोत्तर कमी होती चली गई तो उस युग के महर्षियों ने कम से कम संहिता के तीन मुख्य स्तम्भों–सृष्टि, अतिसृष्टि और उनका बाह्याभिनय–में से अन्तिम को प्राधान्य देकर उसका सर्वाङ्गीण वर्णन देते हुए शेष दो स्तम्भों के सन्दर्भादि समस्त आवश्यक सामग्री को उसमें सम्मिलित कर 'आम के आम गुठली के दाम' की कहावत पूर्णतः चरितार्थ कर वेदों की सुरक्षा का एक ऐसा महान् अभेद्य किला बना दिया, जिसके अन्दर आजतक के समस्त वेद व्याख्याताओं में से कोई एक भी नहीं घुस सका, धन्य इन ब्राह्मण ग्रन्थों के संकलनकर्ता ऋषियों को, यही एक आवाज सब कुछ कह देती है। यह बात भी नहीं कि इन ब्राह्माण ग्रन्थों में प्रथम दो स्तम्भों पर कुछ लिखा ही नहीं। भई उपनिषद और आरण्यक तो इन्हीं के अन्तिम भाग हैं उनमें इस कमी की पूरी पूर्ति कर दी गई है। और आधा ब्राह्मणभाग दर्शनिक विवेचना देता ही है, तथा जहाँ कर्मकाण्ड का विवेचन है वहां भी तो अभ्यन्तर यज्ञ का ही वर्णन बाह्य ऋत्विजों के द्वारा नाटक की तरह प्रस्तुत किया गया है। अतः सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य मात्र दार्शनिक विषयों की व्याख्या से भरा पड़ा है। और किसी भी प्राचीन विषय को उससे अर्वाचीन युग में संकलित करना उसकी प्राचीनता को ठेस या ठोकर नहीं मार सकती। हाँ, यदि जिस प्रकार के आख्यानादि संहिताओं में मिलते हैं, उनसे इन ब्राह्मणों में उपलब्ध आख्यान भिन्न होते तो कोई कुछ कह सकता था। यहाँ तो दोनों के विषयों में नितान्त अभिन्नता है। संहितायें भी कर्मकाण्ड और उसके परिभाषिक शब्दों से रहित नहीं हैं। अतः अनैतिहासिक श्रुतिरूप ब्राह्मणग्रन्थ ही सच्ची श्रुतियां और संहिताओं की पृष्ठभूमियां हैं जिनकी ऐतिहासिक या संहिताओं के पश्चात् निर्मित आकृतियां या उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ साकार प्रतिमायें हैं। फलतः इन संहिताओं

की व्याख्या के लिए जिन महामनीषियों ने इन ब्राह्मण ग्रन्थों को साक्षात् और सर्वप्राचीन व्याख्या को सम्मान देना तो दूर रहा, इनकी ओर तनिक भी नहीं झांका है उनकी व्याख्यायें चाहे कितने ही बड़े प्रयासों या परिश्रमों से लिखी गई हों, प्रामाणिकता की कोटि से स्वयं दूर फिसल जाती हैं।

इन सच्ची श्रुतिरूप ब्राह्मण ग्रन्थों में जो—वेदों की प्रामाणिक पृष्ठभूमियों की साकार प्रतिमायें हैं—जो जो शेष श्रुतियां स्थान न पा सकने के कारण छूटी रह गई थीं, उनको परम्परा से सुनते आनेवाले मनोषियों ने इतिहास, पुराण, स्मृतियों धर्मग्रन्थों में धीरे-धीरे संकलित करके रख दिया है। अतः छान्दोग्य ने 'पुराण पञ्चमो वेदः' ठीक ही लिखा दिया है क्योंकि इनमें भी वेदों का ही विषय उप-बृंहित होने के साथ शेष श्रुतियों का भण्डार भी मिलता है, महाभारत में भी इसी प्रकार का विषय है; अतः उसे भी 'भारतं पञ्चमो वेदः' कहते हैं। इस प्रकार हमें वेदों की खोई सम्पत्ति को खोजने के लिये केवल इन्हीं ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यकों तक ही सीमित नहीं रहना है वरन् इन (पुराणादिकों) से एत-द्विषयक जो कुछ भी सामग्री सुलभ हो सकती है उसका भी सदुपयोग अवश्य करना है। परन्तु ग्रीक और रोमन आर्य अपने साथ उस संहिताभाग को नहीं ले जा सके, जिसमें दर्शन था, और पारसीकों के जिन्दावेस्ता के देवरूप तत्त्वों की व्याख्या की श्रुतियां किसी ने ब्राह्मण रूप में प्रस्तुत ही नहीं कर सकी। अतः इन दोनों देशों के आर्य वैदिकदर्शन के अमृत से सदा के लिए वंचित रह गये। यह ब्राह्मण ग्रन्थों की बड़ी भारी विजय का सूचक है। विदेशी नवीन व्याख्याताओं की समझ में यह बात इसीलिए नहीं आ सकी है कि उन प्राचीन वैदिक आर्यों की श्रुतिरूप उक्त सामग्री भारत को छोड़ अन्य देशों में अपने मूलदर्शन से उच्छिन्न होकर केवल किस्से, कहानी रूप में बिखरी हुई मिलने से वे इन्हें निराधार काल्प-निक और मनोविनोद की, बहुत हुआ तो नैतिक शिक्षा मात्र की सामग्री समझ कर लेजेन्डस और मिथ (काल्पनिक) कह कर टाल देने की अपने देशों की आदतों का यहाँ भी प्रयोग कर बड़े विचारक बनने का ढोंग उछालने लगे। इन कथाओं का उनके देशों में प्रचलित होना इस तथ्य को पक्की प्रमाणिकता प्रदान करता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की आख्यान गाथा रूप सामग्री संहिताओं के निर्माण काल से बहुत-बहुत प्राचीन है, उस युग की है जब कि भारत पारसीक आर्य तथा ग्रीक-रोमन आर्य एक वंशजों के रूप में साथ रहते रहे। भारत के पुराणों में जो कुछ भी सामग्री है वह न मिथ है, न लेजेंड्स्, न किस्से हैं, न फालतू कहानियां, इनमें ठोस वैदिक दर्शन के सच्चे स्वरूपों को सत्य से सत्य रूप में कूट-कूट कर भरा गया है। इनको यथास्थान निबद्ध कर देने का मूल कारण यह था कि संहिता युग के पश्चात् वैदिक युग के जैसे योगी-यती, अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवताओं की

मुद्रित प्रति में पृष्ठ १७ से ३२ तक लुप्त

अध्याय १ पाद ३

एक महती दुर्घटना

(१) उपनिषन्निर्माणयुगेऽप्यल्पीयस्तमा एव वेदविदृषय इत्युक्तं छान्दोग्येन बृहदारण्यकेन च यतः कतिपयराजानः केभ्याश्चिद् ब्राह्मणेभ्योऽप्यधिक ज्ञानिनो वेदानामिति ।

(२) उपनिषदामन्तिमे चरणे च, न जाने, कथंकारं तस्यास्तादृश्याः सर्वतो मुखीवेदविद्यायाः समूलह्रासोऽभवत्सुतराम् ।

(३) तदुक्तं गीतया 'सः कालेनेह महता योगो नष्टः परं तपः ।"

(४) तथा च समर्थितं छान्दोग्य बृहदारण्यकयोर्वचनम् यथा 'एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुरिति ।' ततो ब्रह्मविद्या ब्रह्मगुह्याविद्या 'राज विद्या राजगुह्यं' संजातेति चातीव कष्टकरम् ।

(५) वाल्मीकिनाऽप्युक्तं यच्छ्रुतयो विनष्टा इति ।
यथा— 'अहं तां मानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव'
(वा० रा० किष्किन्धा का० ६-५)

(६) एवं सर्वैः पुराणैरपि तासां श्रुतीनां परम्परायाश्च लोपसम्बन्धीनि वाक्यान्युदाहृतानि दृष्टव्यानि भागवतादिपुराणन्यादावेव ।

(७) तस्मात्सर्वेषु पुराणेषु लुप्ताना म लुप्तानां श्रुतीनां वेदानामाख्यानं व्याख्यानं दर्शनानामृषिभिः पात्रान्तरै र्नामान्तरै रथवा पर्यायान्तरैश्च सुरक्षणाय महान्प्रयासः कृतः कृतिसु यासु नहि नवीनो विषयः कश्चित् ।

यह तो सप्रमाण बताया ही जा चुका है कि संहिता और ब्राह्मणों के युग में वेदों के ज्ञानी बहुत ही थोड़े थे, पर उपनिषदों के युग में तो वेदों के इस गहन विषय के ज्ञानी इतने कम रह गये थे कि छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों ने स्पष्ट घोषणा की है और इसके समर्थन में लिख भी गये हैं कि उनके समय कई ब्राह्मणों ने क्षत्रिय राजाओं से वेद विद्या का पाठ पढ़ा; अतः कई क्षत्रिय राजा ब्राह्मणों से वेदों के अधिक अच्छे ज्ञाता थे। उपनिषदुत्तरकाल में न जाने कैसे इस सर्वतोमुखी वेदविद्या का एकाएक समूल ह्रास हो पड़ा ? वैदिक वाङ्मय के ज्ञान के सम्बन्ध में यह एक महती दुर्घटना घटी है। इसी के फल स्वरूप अभीतक वेदों का वह वास्तविक अर्थ लुप्त है। इस दुर्घटना का

संकेत गीता ने अपने स्पष्ट शब्दों में कर भी दिया है कि यह योग का विषय 'महता काल' या एक महान् युग की अवधि से कम से कम ५०० वर्ष से नष्ट या लुप्त हो गया। गीता ने उसी का नव नवोत्थान किया भी, वेदों के इस ज्ञान की परम्परा तब कुछ ही राजर्षियों के यहाँ परम्परा से सुरक्षित रह गई थी। इसका भी गीता उल्लेख कर गई है जिससे छान्दोग्य बृहदारण्यक के कथन की भी पूर्णतः पुष्टि हो जाती है। सम्भवतः इसी कारण तब इस वेद विद्या के योग विषयक ज्ञान को राजविद्या और राजगुह्य नाम से पुकारा है। (अध्याय ९) उधर वाल्मीकि ऋषि जी ने अपने रामायण (कि० कन्धा का० ६-५) में खोई हुई सीता को खोज लाने की प्रतिज्ञा करते हुए सुग्रीव के मुख से कहलवाया है कि मैं उस सीता को लुप्त श्रुतियों की तरह खोज कर ले आऊँगा। अर्थात् वाल्मीकि जी ने रामायण में लुप्त श्रुतियों को खोज खोज कर उन्हें अपने कथानकों के रूपों में ढाला था, क्योंकि उनके समय में भी हजारों श्रुतियाँ और उनका ज्ञान गीता के युग के समान नष्ट या लुप्त हो गया था, यह उनके वचन से स्वयं स्पष्ट है। इसी प्रकार के श्रुतियों या योग ज्ञान परम्परा के लोप हो जाने का संकेत करने वाले वाक्य प्रायः प्रत्येक पुराणादिक ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरण में श्रीमद्भागवत्पुराण के प्रथम अध्याय को देखें; यहाँ योग को 'काल-विप्लुत', या महान् युग की अवधि से नष्ट या लुप्त कहा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रामायण महाभारत पुराणादिक धर्मग्रन्थों या स्मृतियों में लुप्त और अलुप्त श्रुतियों के व्याख्यान को नवीन आख्यान रूप में नामान्तर पात्रान्तर या पर्य्यायान्तर के द्वारा करके उन्हें संरक्षित रखने का महान प्रयास किया गया है, इनमें अपना जोड़ा कोई नया विषय नहीं है, प्रायः सब विषय वैदिक और श्रुतियों का ही है, इस महती दुर्घटना ग्रस्त स्थिति के युग को 'अन्धयुग' कहना उचित है। सम्भवतः इसका राज्य ३०० से ५०० वर्षों तक रहा, उसके पश्चात् गीता महाभारत पुराणादि लिखे गये (१ से ७ तक)

(८) सैषाऽस्माकं वेदपरम्परा योगपरम्परा दर्शनपरम्परा ज्ञानपरम्परा तथा तेषां नाना संस्कृति परम्परा या न युज्यते त्यक्तुमाधुनिकानां वेदाऽविदुषा-मज्ञानान्धकारपटलपुस्तकालोचनानुवादादिप्रभावैः कनीयांसो वा गरी-यांसो वा ये के ऽपि वा ते स्युर्भारतीया वा ऽभारतीया वा ते सर्वेऽभारतीया अभारतीया (ज्ञान रहिता) एवाऽतिभारवती या तेषां भारती। परम्परा चास्माकमाबालयुवावृद्धेष्वतीतादिदानींतनं पर्य्यन्तमविच्छिन्न प्रवाहेण सुरक्षिताऽभवदस्ति भविष्यति च।

इसका नाम है हमारी वेद परम्परा, वैदिक परम्परा, योगपरम्परा, ज्ञान परम्परा, नाना प्रकार की संस्कृति परम्परा—जिसे हम मध्ययुगीय और दो प्रकार

के आधुनिक युग के उक्त ज्ञान परम्परा से सर्वथा अछूते विद्वानों की अपनी अपनी अन्धकारपटलमय पुस्तक आलोचना अनुवाद व्याख्याओं के वदले किसी भी मूल्य पर कदापि भी नहीं छोड़ सकते, न यह भारत से छूट ही सकती है, चाहे इन ग्रन्थों के लेखक कितने ही बड़े या छोटे पुरुष क्यों न माने जाते हों चाहे वे भारतीय हों या अभारतीय या विदेशी, वे सबके सब ही अभारतीय ही हैं, उनकी व्याख्यायें भी अभारतीय या ज्ञानशून्या है, अतः सबके लिए भार रूप है। क्योंकि हमारी उक्त परम्परा तो प्रत्येक वाल युवा वृद्ध वालिका युवती वृद्धा के रग रग में आदि काल से अविच्छिन्न गुप्त प्रवाह रूप में किसी न किसी संस्कृति के अङ्गरूप में सुरक्षित होती चली आ रही है, इसे मिटाने वाले सब मिट गये, यह जैसी तब थी वैसी अब भी है, सदा ऐसी ही रहेगी (८)

(९) इदमेव महत्कारणं यदस्माकं देशे विदुषामविदुषां वा मनसि वेद इति शब्द श्रवण मात्रेणेव तस्मिन्महान् गूढोऽर्थो ऽस्तीत्येव या धारणाऽचिराच्चिरा दाधुनिक युगपर्यन्तं स्वाभाविकतया परम्परया पारमार्थिकतया चारूढा ऽऽकीलिताऽनुत्कीलनीयरूपेण सा सर्वांशे सत्या नित्या गूढविषया योग परम्परा कोशरूपैवेत्येव बोध्यम् ।

यही एक सबसे बड़ा कारण है कि हमारे देश में चाहे कोई बड़ा विद्वान् हो या अपठित, 'वेद' इस शब्द को सुनते ही उसके मन में एक ऐसी अद्भुत भावना जागृत होती है जिससे वह यह सोचने को विवश रहता है कि इन वेदों में कोई न कोई महान् गूढ अर्थ या रहस्य भरा हुआ अवश्य है। यह धारणा आज की नई नहीं है, यह धारणा भी परम्परा से पीढ़ी पीढ़ी के पुरुषों से पैतृक सम्पत्ति के समान प्राप्त होती हुई वैदिक युग से आज तक अविच्छिन्न रूप में ऐसी गड़ी, कीलित, जड़ी है उसे कोई शक्ति नहीं उखाड़ सकती, क्योंकि यह धारणा सर्वांश में सत्य है, नित्य है, गूढ विषय वाली ही है, योगमय योग माया मय ही है। इस योग से ही तो यह ब्रह्माण्ड प्रकाशमय है। यह धारणा हमारी उस अद्भुत अलौकिक योग परम्परा का एक अभूतपूर्ण दिव्य कोश है। (९)

अध्याय १, पाद ४

पारिभाषिक प्रतारणा

(१) प्राचीनोपनिषत्कालानन्तरं प्रायशः पञ्चशत वर्षं यावत् सम्भवतः श्रौत्र-सूत्र युगे तेषां वेदानां श्रुतीनां च ब्राह्मणानामारण्यकानामुपनिषदां च तथाविध—ज्ञानस्य ज्ञातॄणामनूचानानां शुश्रूवुषां ब्राह्मणानां देवतानां नितान्तमभावो जातो यस्योल्लेखो यथाकृतं गीतया पुराणादिकग्रन्थैस्त-थोक्तं पूर्वम् ।

(२) तथोपलब्ध मौलिक ग्रन्थानां वेदादीनां वेदानामेव प्राधान्येन व्याख्याया प्रयासः कृतो यास्काचार्येण नैघण्टुकानां मध्येऽन्तिम; स्वनिरुक्ते निघण्टु-नामक वैदिक कोशस्य निर्वचनव्याजेन ।

(३) यद्यपि यास्केन निघण्टुव्याख्यानेन कतिपय कठिनानां वेदानां शब्दानां तत्तन् मन्त्र संक्षिप्त व्याख्यानेन च सह यः प्रयासः कृतः सः काल दृष्टया सन्नेव नवीन स्तत्कालाय तथापि तस्मिंस्तस्याः परम्पराया नितान्तमभावो विद्यते यस्या विवेचनं विगत पृष्ठेषूद्धृतमस्माभिः ।

परन्तु प्राचीन उपनिषदों के युग के पश्चात्, जैसा बताया जा चुका है, परिभाषिक प्रतारणा का राज्य वेदों के योग और सृष्टि विद्या के साथ-साथ हो गया था जिसका उल्लेख पहले १–६ में किया जा चुका है। या तब तक अनूचान शुश्रुवान्स महर्षि उनकी लाज रखते आ रहे थे, क्योंकि उनके बिना कोई यज्ञ नहीं किया जाता था। लगभग ५०० वर्ष तक सम्भवतः श्रौत सूत्र युग में उक्त वेदों और श्रुतियों, ब्राह्मणों, आरररण्यकों और उपनिषदों की उक्त अलौकिक विद्या या ज्ञान के ज्ञानी योगी यतियों का—जिन्हें अनूचानाः शुश्रु-वान्सः, या अक्षण्वन्तः, कर्णवन्तः, कहते थे और अन्धपरम्परा के अनुयायियों को यज्ञों में संचालित करके ज्ञान परम्परा और योगपरम्परा को सुरक्षित रखते रहे—नितान्त अभाव हो पड़ा, जिसका उल्लेख छान्दोग्य बृहदारररायक, भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवतादि पुराणों, और रामायण महाभारत प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों ने पूर्वोक्त प्रकार से कर भी रखा है। क्योंकि उक्त महाभारतादि ग्रन्थों ने वेदों के विषय की तो पूरी व्याख्या की, पर उनकी व्याख्या मन्त्र मन्त्र की टीका रूप में नहीं दी। लोग उनके ग्रन्थों को वेदों का नवीन साहित्य समझते रहे, अतः इन्हें वेद भी कहा जाता है। वास्तव में यह वेदों का नवावतार था। उन्होंने यह

चाल सब को आलोचना से बचने के लिए अपनाई। पर अब वेदों की मंत्रशः व्याख्या करने वालों या ऐसी व्याख्याओं का नितान्त अभाव हो ही गया। अतः उस अन्धयुग में वेदों के तथा उनके अङ्गरूप ग्रन्थों में से ब्राह्मणादिकों की व्याख्या के नवीन प्रयत्न, कुछ ऐसे ही कर्मकाण्डी श्रौत सूत्री निरूक्तादि शास्त्र कारों ने, करने का प्रयास किया जिन्हें वेदों और ब्राह्मणों तथा उपनिषद् आरण्यकों के अर्थ सम्बन्धी कर्मकाण्डी पक्ष को छोड़ उस रहस्यमय दर्शनमय योग मय पक्ष का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं रह गया था। वस्तुतः अब अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः ऋषियों की सम्पत्ति अन्धों और बहिरों के—जिनकी वर्णना इस अध्याय के प्रथमपाद के प्रारम्भिक सूत्रों में की गई है—हाथ में पड़ गई। बधिया बैठ गई, सर्व सत्यानाश का यहीं से सूत्रपात हो गया। अनेक निरुक्त लिखे गये, जिनका आधार निघण्टु नामक वैदिक शब्दों का कोश रहा, इनमें से अन्तिम नाम यास्क का है जो अपने समय के धुरंधर विद्वानों में से एक रहे, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इनके युग में निरुक्त वैयाकरण ऐतिहासिक याज्ञिक शिक्षा प्रभृति के हठवादी सम्प्रदाय खड़े हो गये थे जिनके कुछ वचनों के उद्धरण, इन्होंने स्वयं दिए हैं। इनमें वैदिक कालीन 'सहस्तोमाः सहच्छन्दसः सहप्रमा ऋषयः' 'सह नाववतु' 'सह नौ भुनक्तु' की एकता मतैक्यता का सर्वथा अभाव भी—उक्त प्रकार के अन्धे बहिरे पन के ही कारण हो गया था, जिससे समस्या सुलझने के स्थान में उत्तरोत्तर उलझती ही चली गई। पर वेदों के अर्थ की गुप्त गंगा ने इन्हें दुत्कार कर छोड़ कर, नया मोड़ लिया और वह तब पुराणदि रामायण महाभारतादि में सुनसान रेगिस्तान में जैसी अब तक ज्यों की त्यों वहती चली तो आई है पर उसके विश्लेषक 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः' ऋषियों के अभाव से इन्हें जो उलटे अन्धविश्वास की खाई या गर्त माना जाता है, और उन्हें—जिन्होंने इनकी महत्ता का, ज्ञान प्रकाश का सर्वथा नाशमार रखा है—ज्ञान का भण्डार; यह है यहाँ की उलटी गंगा। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के उन अनूचान शुश्रुवान्त्स अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः महर्षियों के किसी भी इस प्रकार के ग्रन्थ की उपलब्धि के अभाव में हमें वेदों के विषय में अर्थ करने के आधार का सर्वप्रथम या सर्वान्ति ग्रन्थ यही यास्क का निरुक्त मिलता है जिसे सभी विद्यार्थियों को, इस विषय में प्रवेश के लिए पढ़ना नितान्त आवश्यक है, इसमें वैदिक शब्दों की कई निरुक्तियां ब्राह्मणदि ग्रन्थों में उपलब्धों के समान होते हुए भी कई तो बहुत ही वेकार हैं, शब्दजाल हैं, अर्थों में तो मात्र कर्मकाण्डीय पक्ष है, पर यह भी तो एक पक्ष है ही, साथ में इसमें प्रसिद्ध वैदिक मंत्रों के अर्थ के अन्दर घुसने की पर्याप्त सामग्री है; यद्यपि इनके दिए सभी अर्थों में सर्वत्र ही उचित संशोधनों की नितान्त आवश्यकता होने पर भी

वे संशोधनों के आधार तो हैं। क्योंकि इनके निर्देशक गुरु वर्ग तो वही भद्र पुरुष कर्मकाण्डी हैं जिन्होंने अनूचान शुश्रुवान्सों के नितान्त अभाव में वेद ज्ञान मर्म रहित रहने पर भी वेद व्याख्या की गद्दी जबरदस्ती समाल ली थी। ऐसी दशा में इन लोगों ने वेदों की कैसी व्याख्या की होगी यह अब किसी से छिपा नहीं रह गया होगा। इसी कारण इसमें हमारी उस अमूल्य निधि और गुप्त गंगा रूप में बहती चली आई वैदिक पूत परम्परा का नितान्त अभाव है जिससे हमें वेदों के अमृतमय रस पीने का भरा पात्र मिलता है; अतः इसी निरुक्त को वैदिक अर्थ का अन्तिम प्रमाणिक ग्रन्थ मान कर हाथ में हाथ रख कर बैठ जाने को यदि मूर्खता की चरम सीमा कहा जाय तो यह अत्युक्ति नहीं वास्तविकता होगी। विद्वानों के मस्तिष्क का द्वार ज्ञान के लिए सदा खुला ही रखना आवश्यक है (१ से ३ तक)।

(४) कस्यां कोटयां सा व्याख्या तस्य पतति कर्मकाण्डीययज्ञीयायां वैतिहासिकायां वाऽन्यास्यां कस्यांचिद्वा नैतत्स्पष्टम् नैषाऽऽसु कासुचित्सुसा पूर्णतया पतति।

(५) दैवतकाण्डे तु नह्येको देवो योऽनुगतस्तेन, नह्येवेन्द्रो नो वृत्रो नो गावो नो पणयो नोऽग्निर्नो सोमो वा चन्द्रमा नान्ये वा ये मुख्याः। यथा सुपर्णः पशव श्छन्दांसि साध्या देवा ऋषयः पितरः प्रभृतयः।

(६) 'मानस्तस्यैको देवो यो न लभ्यते कस्मिंश्चिदपि वेदे।

(७) इन्दो र्वणनमश्वस्य व्याख्याने च ददाति।

(८) वृत्रं स मेघ इति मन्यते इन्द्रं चाग्निरिति सोमं मदिरेति सूर्यं चन्द्रमसं च य आकाशस्थितं स्थूल ज्योतीरूपं प्रत्यक्षमेव? तथैवान्येषां देवानां व्याख्येत्यादि।

(९) सर्वमेतदस्माकमुद्धत प्रसिद्धप्रश्नानां सर्वविदितपरम्परायाश्च समाधान हीनमिति तु निर्विवादमाश्चर्यमेतद्यत्कथं सह्यमभूदद्यावधीति।

(१०) ईदृश्याः प्रतिपथगामिन्या वेद व्याख्याया स्तस्यैकमेव महत्कारणं समुपलभ्यते यत्तेनान्यैश्च वेदानां ब्राह्मणानामाररायकनामुपनिषदां च परम्परा नुगतार्थस्थ ज्ञानाय नोपलब्धः कश्चित्तादृगनूचानः शुश्रुवान् ब्राह्मणदेवता गुरु र्यादृगासन् मन्त्रब्राह्मणादि युगेषु; नैव च स्वयं तस्यासीत्काचि च्छक्ति स्तेषां ग्रन्थानां सागरस्य समन्वयाध्ययनेन परस्परसंगतिपूर्वकेन च सम्पूर्ण मन्थनं कृत्वा तेषां त्रिविध दर्शनानां नाना रत्नानि समुद्धर्तु मेकतारतम्येन सूत्रे मणि गण इव प्रोतानि कर्तुं यथा कृतमस्माभिरत्रान्यत्र च वैदिक विश्वदर्शने विदुषां सर्वेषां त्यक्त्वात्मगत पूर्वजडसंस्काराणां निष्पक्षविचारणार्थमेव।

अस्तु यास्क की दी हुई वेद व्याख्या किस कोटि में रखी जाय ? इसका निर्णय करना भी सरल नहीं है। न तो यह पूरी कर्मकण्डीय ही है, न याज्ञिक ही है, न ऐतिहासिक ही है, न पूरी नैरुक्त, न नैघण्टुक। यह इनमें से किसी भी कोटि में पूर्णतः नहीं समाती। दैवत काण्ड में इन्होंने देवताओं की जो व्याख्यायें दी हैं, उनमें अनूचानता और शुश्रुवान्स्तता का नितान्त अभाव है। और तो अलग रहे तीन मुख्य देवताओं अग्नि इन्द्र सोम—में से इनको समझ में एक भी नहीं आया है, अन्य वसुरुद्रादित्यादिकों की चर्चा चलाना हो व्यर्थ है। क्योंकि इन्हें इनमें से न तो सुपर्णो का, न पशुओं या छन्दों का, न साध्यादि देवों और ऋषि, पितर प्रभृतियों में से किसी का भी समुचित ज्ञान है। इन्होंने 'मानः' नामके एक देवता की व्याख्या दी है जो वेदादिकों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इन्दु के वर्णन को इन्होंने अश्व के वर्णन के अन्दर घसीटा है। वृत्र को ये मेघ मानते हैं, इन्द्र को अग्नि ही कहते हैं, इनके भेद का इन्हें ज्ञान नहीं है, सोम को ये मदिरा ही समझते हैं, कहीं आकाश का चमचमाता चन्द्रमा भी इनका सोम है, सूर्य को भी ये सौरमण्डल का ही सूर्य समझते हैं। अग्नि को ये लकड़ी या कण्डी से जलने वाली ही आग समझते हैं और 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' की व्याख्या में ये अदिति और दक्ष को 'देवधर्मेणेतरेतर जन्मानौ' अर्थात् 'देवता होने से एक दूसरे के जन्मदाता हैं' कह बैठे हैं। इनके देवताओं के विभाजन की कोटियाँ स्थान और उनके एक दूसरे के विरोधी व्याख्यान भी निर्मूल और निराधार ही हैं। साथ में जिन प्रसिद्ध प्रश्नों को और परम्परा के श्रोत को पहले दिया जा चुका है उनमें से इनके ग्रन्थ में न एक का भी समाधान मिलता है न उनका परम्परानुगत ज्ञान। इस प्रकार इनको इन देवताओं की सब व्याख्यायें देवता रूप की न होकर केवल प्राकृतेय पदार्थ सम्बन्धी ही अधिक हैं। यद्यपि कहीं कहीं इन्होंने आधिदैवत आध्यात्मिक अर्थों की चर्चा भी की है, पर ये विषय इनकी समझ से दूर की सी हो प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य बातें भी हैं जिन्हें वे अपने पाण्डित्य के आवेश मे उगल बैठे हैं जिनको कोई भी समझदार, वैदिक परम्परा का ज्ञानी और अभिमानी, उक्त परम्परा हीनता के कारण किसी भी भाव स्वीकार नहीं कर सकता। यही बड़ा भारी आश्चर्य है कि यह व्याख्या अब तक सिर ऊँचे उठाये खड़ी है, इसका पर्दाफाश तो बहुत ही पहले हो जाना चाहिए था, पर श्रौत्रियों की बाढ़ में से बच कर निकल आने वाला कोई बालमुकुन्द अवतार सा विद्वान् नहीं पैदा हुआ, यही सबसे बड़ा दुःख है, यह सब हुआ ही क्यों ? यदि हम इस तथ्य की खोज में निकलते हैं तो हमारे सामने उसी प्राचीन युग, संहिता ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों के युग में प्राप्त अनूचानाः, शुश्रुवान्सः, अक्षण्वन्तः

कर्णवन्तः ब्राह्मण देवताओं का इनके युग में नितान्त अभाव हो जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा कारण उपस्थित नहीं होता। ऐसा होने पर भी विद्वान् का तो सदैव यही प्रयत्न होना चाहिए कि वह जिस विषय पर लिखने जा रहा है उसके सम्पूर्ण वाङ्मय का आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन मन्थन चिन्तन कर उसमें जो रत्न छिपे हैं उन्हें एक एक करके बीन कर उनको 'सूत्रे मणि गण इव' पिरो कर ज्ञान रत्नों की हार बना दे जिसे जो पहने वही देव रूप में स्वयं कान्तिमान् तेजस्वी बन जाय। पर इस प्रकार की शक्ति का उस युग के विद्वानों में इस लिए अभाव हो पड़ा था कि वे नैरुक्त, नैघण्टुक, नैगम, याज्ञिक, ऐतिहासिक, वैयाकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष आदि के साम्प्रदायिक कबूतर खानों में बन्द हो गये थे, वे वहाँ ऐसे बन्द थे कि अन्यत्र ताकने झाकने का अवसर, सुविधा, चलन, प्रथा और परिपाटी ही समाप्त हो चुकी थी। यहाँ तो अपने-अपने शास्त्र को जैसे भी हो दूसरे से ऊँचा कहने कहलवाने और मानने मनवाने की ही होड़ लगी थी, ऐसा वातावरण वाला कभी भी वास्तविकता की ओर नहीं फटक सकता, इसे कौन नहीं जानता ? कौन मना कर सकता है ? यह तभी सम्भव हो सकता है जब विद्वान् अपने या दूसरे शास्त्रों के व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत जड़ संस्कारों की तह से ऊंचे उठकर, उच्चधरातल से सबका निरीक्षण और परीक्षण एक विहङ्गम दृष्टि से करके, सबकी अच्छाइयों और बुराइयों को हस्तामलकवत् साक्षात् देखकर जो निष्पक्ष निरपेक्ष सत्य निर्णय स्वयं उपस्थित हो उसे साहस के साथ सामने रखने की ऐसी वज्र की कड़क भरी और बिजली की कौंध सी चमकने वाली चेष्टा करे कि सब के सब अपनी-अपनी हेकड़ी भुलाकर उसे अनायास स्वीकार करने में विवश होते हुए, हर्ष और प्रफुल्लता से ज्ञान की अमृत वृष्टि में स्नान करने लगें जैसा कि इस ग्रन्थ तथा अपने अन्य 'वैदिक विश्व दर्शन' और वैदिक ब्रह्म सूत्र नामक ग्रन्थों में करने का प्रयास किया जा रहा है, जिन पर विद्वानों से उक्त प्रकार से ही विचार कर देने की विनीत प्रार्थना भी है (४ से १० तक)।

(११) अथाप्यस्ति कठोरा पृष्ठभूमि र्भ्रमस्य यास्कस्य सर्वेषां च येऽ नुचराश्च तस्याधुनिके मध्ये वा युगे वा तेषु वर्णनेषुत्विन्द्र वृत्रादित्यादीनां वेदेषूपलभ्यन्ते।

(१२) यद्यपि वर्णितास्ते सर्वे देवा विस्तरेणाग्रे तथाप्यल्पमिह सन्दर्भपूर्त्यै दीयते तद्यत्तन्महद्भ्रमस्य मूल कारणम्।

(१३) महर्षिभि र्वेदादीनां यत्प्रतिभानं कृतं सृष्टि मूलकं तन्मुख्यतो 'मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।' (बृह. उप., ३-१, ऋ. वे १०-५१७ यजुः १३-३, दृष्टव्यं च वैदिक विश्वदर्शने तत्त्वनिर्णयाध्याये ब्रह्मसूत्रे च मम)

(१४) तयो र्द्वयो र्भागयो र्मध्ये प्रथमे पूर्वार्द्धे या सृष्टिः साऽनारम्भणीयाऽमृता ऽमूर्ता यस्यच्च प्राण रूपा शक्ति पुञ्ज रूपा सत्यपि त्रयीमयी त्रिविधा त्रिपदा त्रिपादा वा तामाहु 'रेकं सदेतत्त्रयमिति' (बृह. उप-१-६-१)

(१५) द्वितीयार्द्धे च तस्मात्पूर्वार्द्धात्प्रारम्यते पुनस्त्रिविधा सृष्टिर्नाम रूपं च कर्म चेति, सा वै आरम्भणीया मूर्ता मर्त्या सच्च स्थितं च, येषां चोक्थानि च वाक् चक्षुरात्मा च, तेभ्य एव क्रमशो वाचो रूपाणि कर्माणि चोत्तिष्ठन्ते (बृह-उप-३-६-१) ।

(१६) तस्याश्चेतस्याः स्थित्याः वर्णनं तु गीतया वै दत्तं यदुभययोः सृष्टि योग पक्षयोः क्रमं च ददाति युगपदेकैकेनैव श्लोकेनार्द्धविपरीतक्रमेण यथा—

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।"
तस्मा त्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।"
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।
यस्त्वात्मरति रेवं स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्ट स्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

(३–१४ से १७ तक)

(१७) अत्रस्योद्धरणस्य गीतायाः सन्दर्भो यज्ञ एव स यज्ञश्चात्मरतिरात्म तृप्तिरात्मतुष्टि र्वेत्यन्तिमे श्लोके चेहोक्त त्वाद्योग यज्ञ एवेति सुस्पष्टम्

(१८) अस्य निर्णयस्य पुष्टयर्थे यः क्रमोऽत्रोदाहृत स्तत्त्वानां सोऽतिसृष्टेरेव योगस्यै वेति चापि संशय हीनम् ।

(१९) सत्यप्येवं सुस्पस्टेऽभाग्य वशेनैषामतीव महत्ववतां दार्शनिकश्लोकाना मर्थोऽपि सर्वं व्याख्यातृभि स्तादृगेव भ्रम पूर्ण प्रवृत्या ऽऽहितया चानुचित या परम्परया यास्कादारम्य एवाऽत्यन्तात्यन्तमसङ्गतो यो विहित स्तस्यैष उद्धारः ।

अब च उक्त प्रकार के अभाग्यशाली अभाव और सामर्थ्य तथा विवशता हीन वातावरण वाले भटके विद्वानों को वर्गलाने वाला एक और बलवान् या जबरदस्त कारण भी स्वयं वेदों की भाषा में विद्यमान था, यद्यपि विद्यमान तो नहीं था, क्योंकि वैदिक ऋषियों ने अपने अमृतमय वाङ्मय को जाति जीवन का अभिन्न अङ्ग तथा अमर बनाने के लिए एक ऐसी चुनी पारिभाषिक पदावली का प्रयोग अपनाया था जिससे एक ही वाक्य के तीन भिन्न-भिन्न अर्थों की गंगायें,

विना शब्दों को तोड़े मरोड़े या इधर-उधर किए ही स्वयं तीन विभिन्न लोकों—स्वर्ग अन्तरिक्ष और भूमि—में तीन पृथक् रङ्गों—योगयज्ञ सृष्टियज्ञ और द्रव्य-यज्ञ में बहती रही, जिसे जिसमें स्नान करने की इच्छा हो, वह उसी के किनारे चला जाय, इसमें कोई रूकावट नहीं थी, क्योंकि उन्हें इन तीनों ही की रक्षा अभीष्ट भी। परन्तु इनमें से अधिक लोग द्रव्ययज्ञ परक अर्थ वाले मार्ग के और यज्ञानुष्टान विधान के अनुयायी थे जिसमें ज्ञान साक्षात्कारानुभूति का अभाव रहने के कारण उस युग के अनूचान शुश्रुवान्त्स ब्राह्मणदेवता इस प्रकार के इस मार्ग के इन अनुयायियों को उस प्रकार से बराबर फटकारते डांटते भी रहते थे जिनके उद्धरण इस अध्याय के आदि में ही दे दिए जा चुके हैं। ज्ञानी और योगी सभी युगों में कम रहे, रहें गे, और उक्त प्रकार के ऐसे ही लोगों का भेडियाधसान प्रायः बहुमत बहुसंख्या में रहा और रहेगा भी, ऐसे ज्ञानियों के गूढ़ ग्रन्थ इस प्रकार के लोगों के लिए होते भी नहीं। प्रत्यक्ष है इस दृष्टि से वेदों या उपनिषदों का अध्ययन करने वाले हैं ही कितने ? इस ग्रन्थ सें इनको संख्या बढ़ाने का प्रयास अवश्य किया जा रहा है।

ऐसी परिस्थिति में वेदों में प्रयुक्त एक ही शब्द तीन वस्तुओं का संकेत करने वाला निश्चय पूर्वक रहा। उदाहरण के लिए पृथिवी इन्द्र, वृत्र, यम, सूर्य चन्द्रमा नदी पर्वत समृद्र अग्नि आपः, वायु आदि शब्दों का अर्थ कर्मकाण्डीय द्रव्य यज्ञ में अवश्यमेव क्रम से वज्रधारी, मेघ, मृत्यु, सौरमण्डल के चमचमाते ग्रह तारे, पानी, बहने वाली नदियां, पत्थर मिट्टी के पहाड़, खारे पानी के सागर, जलने वाली आग, पीने का पानी बहने वाली वायु ही रहे। यह कर्मकाण्डीय परम्परा, केवल आभ्यन्तर योगयज्ञ और मौलिक सृष्टि यज्ञ के देव रूप पात्रों के आभिनयिक पात्र थे। आजकल इनका नाटक सिनेमा बनाया जाय तो इनके आभिनयिक पात्र पुरुष और स्त्रियाँ होगी। इन लोगों ने तो इतने बड़े ब्रह्माण्ड को रंग मंच बनाया है, यह कम बड़ी बात नहीं है। पर इसमें नाटक मात्र है, नाटक मात्र की रूपरेखा की सत्यता है। इसमें वह सत्यता नहीं है जिसको प्रदर्शित करने के लिए इनका इतना वड़ा आयोजन किया जाता है। इसका नाम अन्धपरम्परा अवश्य है, हुआ करे, यदि यह मार्ग न होता, ये याज्ञिक न होते तो हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय जितना भी उपलब्ध होता है वह भी अन्य अनुलब्ध शाखाओं की तरह, कभी का नष्ट हो गया होता। इस दृष्टि से इनको जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह बहुत ही कम होगी। यह पद्धति हिन्दू जनता से इन लोगों ने क्या स्वयं वैदिक ऋषियों ही ने ऐसी चिपका दी है कि कोई शक्ति इसे हिन्दू जाति से पृथक् नहीं कर सकता, जो लोग इसके विरोध में चिल्लाते फिरते हैं वे केवल इन अभागे वेदों के ही नहीं, वरन् हमारी इस सर्व प्राचीन

वैदिक संस्कृति हिन्दू जाति के और अपने स्वयं अपने ही आत्म हत्यारे हैं, क्योंकि संस्कृति ही जाति राष्ट्र और प्रजा की जीवनामृत होती है।

यह तो हुआ, पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की कहावत अपना फल चखाये बिना नहीं रह सकती। इस मार्ग का प्रचुर प्रचार रहते हुए भी उपनिषदों के युग तक इनकी प्रतिष्ठा की रक्षा उस युग के अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण यज्ञानुष्ठान काल के विदथ में ब्रह्मोद्य वचनों के द्वारा बनाये रखते रहे। अतः तब तक ये मूँछों में ताव देकर खूब खाते पीते मस्त रहे। पर इनकी अति ने ऐसे अनूचानों और शुश्रुवान्सों का कालान्तर में नितान्त अभाव कर दिया। अब इस मार्ग के लोगों की आखें खुलने लगी, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः तो रहे नहीं, पर लालसा बनी रही कि हम भी उनके उन योग और सृष्टि यज्ञ सम्बन्धी गम्भीर रहस्यों को भी जानते रहें। पर अब 'वे दिन गये चचा के राज' की कहावत ने राज्य जमाया। ये लोग अब वैसी ही मनगढंत अटकलें भिड़ाने लगे जैसी यास्क ने निरुक्त में लिखी और सायण ने वेद भाष्य में नये वेदान्त या नये सांख्य के अनुरूप भिड़ाई हैं। यास्क ने कई ऐसे प्राचीन लेखकों के उचित उद्धरणों को उतारते हुए भी, न उन्हें समझा, न समझने की शक्ति ही दिखाई है, वह उस अन्धयुग के अन्धकार का ही प्रभाव है, अतः गुरु और सामर्थ्य हीन होने से, इन्होंने 'दुबे गये चौबे बनने बन गये छग्गे' की तीसरी कहावत को साकार रूप दे दिया। अब न कोरा कर्मकाण्डी अर्थ रह गया, न वे शेष पूत दो अर्थ; अब अटकलों के जाल में फंसे कर्मकाण्डी अर्थ की एक सबसे बड़ी खतरनाक नई प्रथा चल पड़ी। इससे वे प्रश्न और वह परम्परा जिन्हें पहले दिया गया है सब के सब अछूते रह गये। पाश्चात्यों ने वेद इन्हीं से पाये, उन्होंने प्रायः इन्हीं का अनुसरण किया है, परन्तु इनकी अटकलों के बदले उन्होंने वैदिक दर्शन से उच्छिन्न अनेक ग्रीक रोमन पारसीक गाथाओं के आधार या सहारे से देवी देवताओं के बारे में अपनी दूसरे प्रकार की मनगढंत कल्पनाओं के ढेरों से मोटे मोटे ऐसे थोथे पोथे लिख डाले, जिनमें न तो वैदिक परम्पराओं का कोई भी अंश मिलता है, न वैदिक वातावरण ही। इन्होंने एक और विचित्र बात की है, इन्होंने वैदिक पारिभाषिक पदावली के अर्थो को तुलनात्मक भाषा विज्ञान के सहारे लगाने की अवैज्ञानिक प्रथा को अपनाया। पारिभाषिक पदों का अर्थ ऐसे कोई कभी नहीं निकाल सकता, उसके लिए वैदिक वाङ्मय का मंथन ही एक मात्र मार्ग है। इनका एक और अनुचित दृष्टि कोण है। इन्होंने यह तय कर लिया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों की उचित व्याख्या नहीं दे सकते। इस मत को अपनाने के तीन मुख्य कारण रहे, एक तो यह कि ये ग्रन्थ इनकी समझ में अच्छी तरह

नहीं आये, दूसरे वे इनको कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के कर्म में मंत्रों से प्रयोग करने की शैली मात्र समझते रहे, तीसरे इन ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ पर दार्शनिक विषय पर प्रकाश डालकर देवताओं की यथार्थता का विवेचन दिया गया है, उसे वेदों में ही विशद रूप से वर्णित पाने की या खोजने की इनमें सामर्थ्य ही नहीं रही, ये संहिताओं और ब्राह्मणों के विषय की, तालमेल से, तुलना से, उनमें एकरूपता खोजने की ओर अपना ध्यान आकर्षित ही नहीं कर सके। ऐसा न कर सकने के कारण 'नाच न आवे आँगन टेढ़ा' की कहावत को चरितार्थ करते हुए इन्होंने एक ऐसा अवाञ्छित नारा लगाया कि 'इन ब्राह्मणों के युग के लेखक वेदों के वास्तविक अर्थ को नितान्त भुला बैठे थे।' यही धारणा इनकी महती प्रतारणा का मुख्य कारण है। ब्राह्मणादिकों में वेदों के तीनों अर्थों की तीनों धारायें गंगा यमुना सरस्वती की तरह साथ-साथ बहती हुई मिलती हैं। इसी दृष्टि कोण ने इन्हें वेदों और ब्राह्मणों, आररायक और उपनिषदों में एक सूत्र में गुथे, एक रूप में वर्णित देवता विषय की एकता तारतम्पता समीचीनता की खोज की ओर प्रवृत्त होने से ही एकदम रोक दिया। केवल इतने और ये ही कारण इनको इस ओर प्रवृत्त होने से रोकने वाले नहीं थे। इनको इस ओर जाने से रोकने वालों में से दो अन्य—सामाजिक और राजनीतिक—कारण सबसे महाबली रहे। इन पाश्चात्यों की सभ्यता और संस्कृति में उन उच्च कोटि के विषयों का, जो हमारे वेदों ब्राह्मणों आररायक उपनिषदों में कूट-कूट कर भरे मिलते हैं, जिन्हें हम तपोयज्ञ या सृष्टियज्ञ और अतिसृष्टि यज्ञ या योग यज्ञ कहते हैं, नितान्त अभाव है। जिनकी सभ्यता और संस्कृति में ये विषय हैं ही नहीं, जिनका इन्होंने कभी नाम तक नहीं सुना है, भला उस ओर प्रवृत्त होने या शंका करने का इनके पास कोई उपयुक्त वातावरण ही कहां से होता। हाँ जो विषय, गाथाओं का विषय इनके ग्रीक रोमन या पारसीक सभ्यताओं में ब्राह्मण उपनिषदों के से दर्शनों से उच्छिन्न होकर केवल बुढियों की सी कोरी कल्पनाओं के भ्रमसागर सी थी उनका इन्होंने जो उपयोग किया वह भी नष्ट दर्शन मूलक होने से और अधिक भ्रामक बन पड़ा यह कहा जा चुका है। हमारे उपनिषदों को पढ़कर इन्होंने इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए था, पर इन्हें भी ये, एक तो वेदों और ब्राह्मणों से नितान्त नवीन उद्भावना वाले मानने वाले बन गये, दूसरे इनको इनका इनके गुरु भारतीय ही अच्छी तरह नहीं समझा सके थे तो ये इसे उन्हीं से पाकर आगे कैसे जाते। उपनिषदों में वास्तव में क्या विषय भरा पड़ा है यह लेखक के १० उपनिषदों के भाष्य, तथा इनके भाष्यों की विस्तृत भूमिका में देखने का कष्ट किया जाय, शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है। इन पाश्चात्यों के यहाँ दर्शन जैसी वस्तु की प्रथम विचारणा प्लेटो और सोक्रेटीज के

समय में प्रारम्भ हुई, अतः ये यह भी समझते आ रहे हैं कि भारत में भी ऐसी विचारणा इन्हीं दो के समय के आस-पास से प्रारम्भ हुई है। भारत में राज्य करने के राजनीतिक प्रभुत्व ने इन्हें भारत की इस विषय की सर्वप्राचीनता स्वीकार न करने को बाध्य करके इन्हें वेदों ब्राह्मणदिकों की ऐसी गहन विद्या की खोज में जाने से सदा के लिए नितान्त विरत कर भविष्यदर्शी वैदिक ऋषियों की वचनावली के अनुसार जैसी अधेन्वा अफला अपुष्पिता महा कृतियों का प्रयास कराया वह सबके सामने है, इन सब कारणों से वेदों में वर्णित वे सब प्रश्न और परम्परायें जिनको पहले दिया है उनमें से इनके पास एक का भी समाधान नहीं मिलता। ये उन्हे पहेली कहकर छोड़ गये हैं जिससे हजारों मंत्र और सूक्त इन्हें अविज्ञात ही रह गये, यह ये सब स्वयं कहते हैं। अतः क्या था क्या होपड़ा है, कुछ कहना ही नहीं आता। वेद व्याख्या की इस धारा की क्रमिक दशा तो ठीक वैसी ही होपड़ी है जैसा कि तुलसीदास जी लिख गये हैं—

जैसे—"ग्रह गृहीत पुनि वात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइहि बारुणी कहहु कवन उपचार॥"

अब उक्त वर्णित तथ्य की सत्यता को कसौटी में कसनेके लिए एक सर्व प्रसिद्ध विषय दृष्टान्त रूप में वर्णित कर दिया जाता है जिससे सब को अवश्यमेव यह पक्का विश्वास हो जावेगा कि जो रोना यहाँ रोया गया है वह सचमुच में एक निर्भ्रान्त, ज्वलन्त और नग्न सत्य है। इस अध्याय के प्रथम पाद के १६ वें सूत्र में प्रश्नों की फुलझडियों के क्रम में वैदिक ऋषि प्रणीत अपने दर्शन के जिन दो मुख्य भागों के बारे में लिखा गया है उन्हें क्रमसे अमृत मर्त्य अमूर्त मूर्त, त्यत् सत् और यत् स्थित नाम से पुकारते रहे। इन दो भागी में से जो सृष्टि या अतिसृष्टि पूर्वार्द्ध में होती है उसे वे अनारम्भणीय अमृत अमूर्त, यत् और त्यत् नाम से पुकारते थे। यह सृष्टि प्राण रूपा होती हुई भी त्रयीमयी त्रिपादामृता, कहलाती थी, अतः इसे तीन भागों में विभक्त होते हुए भी 'एक मय' सृष्टि हो कहते थे। उत्तरार्द्ध में उस पूर्वार्द्ध से त्रिविध सृष्टि का विकास होता है जिनको यहां पर नाम रूप और कर्म नाम से पुकारने लगते हैं। यहाँ से भौतिक सृष्टि का प्रारम्भ होता है। अतः इस सृष्टि का नाम आरम्भणीय सृष्टि है। इसे मूर्ता मर्त्या सत् और स्थित नाम से घोषित किया गया है, इन तीनों के मुख्य बीज रूप मूल स्रोतों के नाम, क्रमसे वाक् चक्षुः और आत्मा है जिनसे नाम रूप और कर्मों की क्रमिक सृष्टि होती है। इस स्थिति का विवेचन उपनिषदों या वेदों के विषय की सारभूता भगवद्गीता ने सृष्टि और अतिसृष्टि के दोनों पक्षों का विवेचन एक ही वाक्य से देने की चेष्टा में अतिसृष्टि रूप योग

यज्ञ के क्रम को दे दिया है, उसके उलटे चलने से सृष्टि यज्ञ के तत्त्वों का क्रम स्वयं उपलब्ध हो जाता है। गीता का मुख्य विषय योग यज्ञ ही है यह यहां उद्धृत श्लोकों के अन्तिम श्लोक के शब्दों—आत्मरतिः, आत्मतृप्तः, आत्मन्येव सन्तुष्टः'—से निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट है। और इस दिए हुए क्रम को अतिसृष्टि और सृष्टि का एक दूसरे में परिवर्तनीय और प्रवर्तित चक्र भी स्पष्ट कहा ही है। वह दिया हुआ चक्र यह है-भूतानि-अन्नं-पर्जन्य-यज्ञ-कर्म-ब्रह्म-अक्षर (ब्रह्म)।

यद्यपि पिछले परिच्छेद मे वर्णित विषय से गीता के इन श्लोकों और इस चक्र के विषय का प्रतिपादन, स्वयं स्पष्ट हो जाना चाहिए था, परन्तु आज तक के सभी व्याख्याताओं ने, चाहे कोई भी क्यों न हो, इसकी व्याख्या वैसी ही नितान्त भ्रामक रूप में प्रस्तुत की है, जिसकी चर्चा इस प्रसंग में कई परिच्छेदों से यहां होती आ रही है। इस भ्रम को दूर करने की चेष्टा और प्रयास से इससे सम्बद्ध सैकड़ों अन्य भ्रान्तियों के दूर भग जाने की सम्भावना समझ कर ही इसे दृष्टान्त रूप में चुना गया है। सौभाग्य से इन श्लोकों में दिये गये अतिसृष्टि और सृष्टि क्रम के जिन जिन तत्त्वों के नाम 'अन्न' से अक्षर तक गिनाये गये है वे सब के सब वेदों के सूक्तों मंत्रों ब्राह्मणों ओर उपनिषदों में प्रयुक्त उनके दर्शन के तत्त्वों के परिभाषिक नाम ही हैं। अतः इसकी व्याख्या चार मुख्य काम एक साथ कर देगी, इन पारिभाषिकों पदों की यथार्थ व्याख्या, इनका सृष्टि और अतिसृष्टि के क्रम को तात्त्विक व्याख्या, गीता के इन श्लोकों के अर्थों का उद्धार करके इसकी पुनः वैदिक व्याख्या के लिए आकर्षित करना (क्योंकि बिना इन बातों को जाने बूझे सभी लोग गीता के भाव लिखने को व्यर्थ में झपटते दीखते है) और इस उद्धार से लोगों की आज तक की की हुई वेदादिकों की भ्रामक व्याख्या की तह को, तथा इसके पारिभाषिक शब्दों को उचित रूप से पहिचान कर, पुनः प्रकाश में लाने की चेष्टा में संलग्न करना (११ से १९ तक)

(२०) अत्रोक्तं भव'त्यन्नाद्भवन्ति भूतानीति।' न हि खाद्यान्नादिभिः कानिचिद्भूतानि भवन्त्युद्भवन्ति जायन्ते वा। नहि भवन्तीति शब्दस्य जीवन्तीत्यर्थोऽत्राग्रे 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धीति वाक्ये भवतीत्यस्य स्थाने तूद्भव इति वचनात्तथा पंचमी विभक्त्या 'यतो वै इमानिभूतानिजायन्ते' इति वत् दार्शनिकसृष्टेः क्रमदानाच्च नहि कदाचिदपि खाद्यान्नमित्यत्र संदर्भः सम्भवेद् यतोह्युपरिष्टात्सूत्रोद्धृततैत्तिरीयवचन पुष्टिश्चात्र प्रमाणममोघम्। भूतानि चात्मानः प्राणा, न तु प्राणिनो नापि महाभूतान्येव। तानि भूतानि वा ते चात्मानश्च 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तदिश इत्यधिभूतमि' ति—तैत्तिरीयोपनिषदि (१–७) चोक्तम् स्पष्टम् येषामात्मानस्त्वग्निर्वायुरादित्य-

श्चन्द्रमा नक्षत्राणीति' च तत्रैवोल्लिखितम् । तेषां प्राणाः क्रमश एव वाक् प्राणश्चक्षु मनः श्रोत्रमिति च स्पष्टम् पृथिव्यादयः । यदेतदन्नमिति तन्मनो 'ऽन्नमयं हिमन' इति च छान्दोग्ये (६–१) स्पष्टोक्तम् । अन्नमदिति वागिति च या 'यद्यदेवामृजत तत्तदत्तुमाध्रियत' (बृह. उप. १–२) तथा सैव वाग्वै अत्रिरदतीत्यदितिरत्रिर्वा 'ऽत्तिर्ह वे नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवतीति' (बृह. उप. २-२-३) तस्य च सप्तान्नानि सप्ता-ऽक्षितयस्त एव सप्त प्राणा वै ऋषयः सप्तः सृष्टवृक्षे 'तिर्यग्विलश्चमस ऊर्ध्व बुघ्ने' (उभयत्रोक्तस्थानयो) द्रष्टव्यान्यदितिरत्रिरन्नमजोऽजा' शीर्षकानि 'वैदिक विश्व दर्शने' मम ।

(२१) अथ चोक्तं तैत्तिरीये (२-२) य 'दन्नं ब्रह्म । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नम् ।'

(२२) 'सोऽमन्नमयः कोश एव मनोमयः प्रणामयो विज्ञानमय आनन्दमयश्च पञ्चधा (बृह. उप. तै. २) पृथक् पृथगेकमयश्च पञ्चात्मा ।'

(२३) वेदेषु यत्रकुत्रापि चैतदन्नं पदं तस्य नानार्थवाचका हविरादयः शब्दा वा आयन्ति तेषामेष एवाऽर्थोऽभीष्ट इति च निःसंशयम् ।

अब उद्धृत उद्धारण की वास्तविक व्याख्या दी जाती है--

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि'—इस पाद में आये वैदिक शब्द 'अन्न' और 'भूत' ने सभी व्याख्याताओं को बुरी तरह से ठग दिया है। इन सभी लोगों ने इनका अर्थ लौकिक संस्कृत और कर्मकाण्ड में प्रयुक्त वस्तुओं या हवियों को समझने की भयंकर भूल की हैं। स्पष्ट है कि खाद्यान्न से भूतों या प्राणियों की किसी भी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती । यहां 'भवन्ति' धातु रूप का अर्थ अन्न शब्द के पञ्चमी विभक्ति से उद्गमार्थे पञ्चमी होने से उत्पत्ति मात्र है, न कि अन्न के द्वारा जीवित रहते हैं, क्योंकि यहाँ पर उक्त विभक्तिक सन्दर्भ के साथ साथ दार्शनिक सृष्टि विकास का क्रम दिया गया है। आगे चलकर केवल 'भवन्ति' न कह कर 'संभवः' 'उद्भवं' आदि रूपों को इसी लिए दिया भी गया है, सन्दर्भ और भाव सर्वत्र एक ही सा होने से इस भवति भवन्ति आदि का अर्थ सम्भवति सम्भवन्ति उद्भवति उद्भवन्ति ही स्पष्ट रूप से है। यहां पर' भूतानि' शब्द भी न तो प्राणियों का वाचक है न महाभूतों का, यह शब्द तो वेदों में 'पञ्चात्मानः' पञ्चकोशाः' पञ्चप्राणा प्रभृति मात्र का वाचक है। यह तै. उप. और बृह. उप के उद्धृत वाक्यों के इस आशय से स्वयं स्पष्ट हो जावेगा। तै. उप. ने लिखा है कि भूत तत्त्व ये हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशायें और आवान्तर दिशायें। वहीं पर यह भी लिखा है कि इनके देवता रूप आत्मायें अग्नि वायु आदित्य

चन्द्रमा और नक्षत्र हैं। इनके प्राणों का नाम 'वाक् प्राण: चक्षु मन: और श्रोत्र हैं। फलतः जो पृथिवी आदि तत्त्व हैं वेही वाक् आदि हैं। इन्हीं का नाम भूत तत्त्व हैं। अन्न क्या तत्त्व है? इसके उत्तर में छान्दोग्य ने लिखा है कि मन: तत्त्व अन्नमय है, और बृहदाररायक ने अधिक स्पष्टतया लिखा है कि अन्न नाम अदिति नाम्नी वाक् का है। इससे जो जो विकास होते गये उन्हें यह निगल कर अपने गर्भ में रखती गई। इस प्रक्रिया को अदन या खाना कहकर इस को अदन अत्ति क्रिया शालिनी अन्नं नाम्नी वाक् कहने लगे। इसी 'अत्ति' अदन अर्थ के धातु से अत्रि नामक ऋषि का नाम अत्रि भी पड़ा। अत्रि नाम भी अन्नं का पर्याय हैं 'अत्तीति अत्रि' व्युत्पत्ति है, वाक् का ही नाम है, यह भी सर्वात्ता या सर्वभक्षी या सर्व संरक्षिका (गर्भ में रखकर) है। इस प्रकार की अन्न और अत्रि नाम्नी इस वाक् ब्रह्माण्ड रूपिणी के सात अक्षितियां अजरामर रहने वाले सप्तान्न या सप्तप्राण या सप्तर्षि कहलाते है जिनको ऊर्ध्व मूलमधःशाखसृष्टि वृक्ष के मूल में ध्यानमग्न बैठे बताया गया हैं। इनका विस्तृत विवेचन 'वैदिक विश्व दर्शन' के 'अदिति अत्रि अन्नं अज शीर्षक में देखें। तै, उप, ने आगे चल कर लिखा है कि यह अन्नं तत्त्व तो ब्रह्म हैं और इसी अन्न रूप ब्रह्म से उक्त प्रकार के भूत तत्त्वों की उत्पत्ति या विकास होता है। साथ में यह भी कहा है कि यह 'अन्नं ब्रह्म' भूत तत्त्वों में सबसे ज्येष्ठ है और इस अन्न की वही व्युत्पत्ति दी है जो पिछली पंक्तियों में दी जा चुकी है। अतः उसने और अधिक स्पष्टता या उग्रता के साथ लिख दिया हैं कि जिसे अखिल कोटि ब्रह्माण्ड का मौलिक मनोमय कोश या मनो ब्रह्माण्ड कहते हैं वही अन्नमय कोश या अन्नमय मनो ब्रह्माण्ड है। यह कोरा कोश नहीं है, यह मनोमय तोहै ही, साथ में प्राणमय भी है, विज्ञानमय भी है, आनन्द मय भी है। अत: यह पञ्चधा होते हुए भी एक ही अन्नमय कोश ही कहलाता है, अन्य कोश इसी से इसी में, इसी के अत्तिया अदनरूप गर्भ में, भूत रूप या आत्मा रूप में, उत्पन्न विकसित पुष्पित और फलित या आनन्दित होते हैं। वेदों में जहां कहीं भी इस अन्नं या इसके पर्याय वाची शब्दों का प्रयोग किया हुआ मिलता हैं, विश्वास कीजिए, वहां वही, सर्वत्र उसका वही अर्थ अभीष्ट है जो यहां पर सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहीं भी संशय का स्थान नहीं (२० से २३ तक)।

(२४) तस्यैवाच: पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयग्नि: यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्नि: (बृ. उप. १-५) यतो 'यावद्ब्रह्म विष्टितं तावती वाक् (ऋ. वे. १०-१६४-१०)।

(२५) 'मनसो द्यौ: शरीरं ज्योतोरूपं यावदेव मनस्तावती द्यौ स्तावानयमादित्य: । (बृह. १-५-१२)।

(२६) 'यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्' (ऐ० उप० ३–१)
'मन आकाशः' 'मनसो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं पादः
'आकाशस्याग्निर्वायुरादित्यो दिशः पादाः' (छा०उप०३–१०)
'समानः प्राणो वै मनः पर्जन्यो विद्युत्' (छा० उप० ५–२४)
'मनो ब्रह्म तस्योपासना चानन्दः' (बृह० उप० ४–१)

(२७) पर्जन्यस्तु प्रथमभौतिकान्नस्यामृतस्याच्छादनरूपं पटलमादित्यमुखे 'स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' 'तया स्त्रिया आकाश आपूर्यत एव' ('सः ईशावास्यः') 'सोऽह्नो जातत्वादहमितिपदवाच्योऽभूत्'
(बृ० उप० १–४)

(२८) योऽयमादित्यः स पर्जन्यस्तस्मा 'त्पर्जन्यादन्नसंभव' इति ।

(२९) अस्ति चास्याः स्थित्या आसुररूपाया वर्णनमुपलब्धमृग्वेदेऽपि स्वयमित्थम्
(५–४०–५–९)

"यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूल्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥
....
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत् ।
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन् ॥"

अथ शतपथब्राह्मणे च–"स्वर्भानुर्ह आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध, स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपाहतार्थः स एषोऽपहतपाप्मा तपति ।" (५–२–६–२)

(३०) अयमेव स्वर्भानुर्देवरूपे पर्जन्यो वाऽऽसुररूपे तु वृत्रो वा भौतिकासुरः स्वर्भानुर्वा,

(३१) ईदृशः पर्जन्यो न कदाचिदपि लौकिको मेघो भवितुमर्हति तस्य जगतस्तस्थुषश्चात्मत्वादिति सुस्पष्टं स्पष्टवर्णनया ।

(३२) अस्य पर्जन्यस्य देवरूपस्य सर्वश्रेष्ठवर्णनं चर्ग्वेदे सप्तमे मण्डले शतैकतमे सूक्ते वाशिष्ठे चैवम् (७–१०१)

"तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन्गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥
....
स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता तेन पुत्रः ॥
यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः ।
त्रय कोशास उपसेचनासो मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम् ॥

स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
तन्म ऋतं पातु शतशारदाय यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

(३३) योऽयं त्वाष्ट्रोवृत्र इत्युच्यते सा 'वाग्वै त्वष्टा' (श० प० ब्रा०)
सा वागात्मा भौतिकी वागात्मा तस्यां जातस्त्वाष्ट्रः सः ।

पर्जन्यादन्नसम्भवः—इस पद के 'पर्जन्य' शब्द ने हमारे सभी भाष्य टीका अनुवाद समालोचना के लेखकों के मस्तिष्क में दुर्दिन का सा अन्धकार भर कर उन्हें सबसे बड़ा धोखा दिया है । यह तत्त्व वैदिक दर्शन का एक महा महत्वपूर्ण तत्त्व है । इसीलिए इसके सैकड़ों प्रकार के विवेचन मिलते हैं । पिछले परिच्छेद में जिस अदितिमयी अन्न नाम्नी वाक् का विवेचन दिया जा चुका है उसे वैदिक ऋषि पृथिवी (तत्त्व) शरीरिणी ज्योती रूपिणी अग्नि आत्मा वाली कहते थे, जितनी व्याप्ति मयी तत्त्वरूपिणी पृथिवी या दर्शन का उत्तरार्द्ध होता है उतनी ही व्याप्ति उसकी ज्योतिर्मयी शरीर की आत्मा रूप अग्नि का भी कहा गया हैं । अतः यहां तक कह दिया है कि जहां तक (भौतिकात्मीय) ब्रह्म व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी व्याप्त है अर्थात् वाक् और ब्रह्म दोनों एक दूसरे में अभिन्नतया व्याप्त हैं, चाहे जहां तक भी व्याप्त हों । परन्तु जिससे यह वाक् आविर्भूत होती है उसका नाम अनिरुक्त या अमृतमय मनः है जिस का शरीर द्यौ या दर्शन का अमृतमय पूर्वार्द्ध है और स्वरूप ज्योती रूप है, जितना व्यापक यह मनस्तत्त्व है उतनी ही व्याप्तिमयी वह द्यौ इसका शरीर भी है, और इन दोनों के सम्मिलित स्वरूप का ही नाम आदित्यः या सूर्यः है । अतः जितना व्यापक यह मनस्तत्त्व है जितनी व्याप्तिधर्मा वह द्यौ है, उतना ही व्यापक यह आदित्य भी है । जिसे यहां मनस्तत्त्व कहा गया है उसी का नाम वेदों में प्रयुक्त 'हृदय' भी है, और इसी मनः या हृदय का नाम आकाश (अन्तरिक्ष) भी है । अन्तर इतना है, मनोरूप तत्त्व के पादों का नाम वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रं है तो आकाश के पादों का अग्नि वायु आदित्य और दिश् है । कहने का तात्पर्य यह है कि मनः या हृदय तो शरीर हैं और आकाश इनकी आत्मा या दैवी स्वरूप । यह मनः, पञ्चधाप्राणों में समान प्राण का प्रतिनिधि है जो अन्य सब प्राणों में समभाव से या साम भाव से या साम्य भाव से रहता है । अतः इसी का नाम साम प्राण भी तो है । इस को तो साक्षात् ब्रह्म नाम से कई क्या सभी उपनिषदों ने घोषित भी किया है, जिस तत्त्व को आनन्द रस कहते हैं वह इसी मनः या हृदय के कटोरे में भरा रहता है या भरा जाता है (योग द्वारा) । इसी समान प्राण रूप मनः या हृदय तत्त्व में पर्जन्य और विद्युत् दोनों तृप्ति पाते हैं, संच पाते हैं, शान्ति पाते हैं, सुख या आनन्द लेते हैं । अब प्रश्न उठता है यह पर्जन्य वास्तव में है क्या वस्तु या तत्त्व ?

सृष्टि क्रम में पिछले परिच्छेद में वर्णित पूर्वार्द्धीय द्यौः शरीरी मनः के ज्योतिर्मय रूप से जब उत्तरार्द्धीय पृथिवी शरीरिणी वाक् के तेजोमय अग्नि रूप में विकास होने के पहले उस मनो ब्रह्माण्ड रूप आदित्य नामक तत्व को प्रजापति रूप में अपने को एकाकी पाकर भय हुआ, उसने साथी के होने की मनसा या इच्छा की, वह मनोमय था अतः इच्छामय ऋषिरूप में परिणत हो गया। उसकी इस कामरूपता ने या मानसिक इच्छा शरीर ने ज्योंही अपना पूर्ण विकास पाया, तब देखने में क्या आया कि वह मनोमय ब्रह्माण्ड अब उस काम कामना या इच्छा रूप शरीरिणी स्त्री से ऐसा संलिप्त या व्याप्त सा हो गया कि वह अर्द्ध नारीश्वर की तरह स्त्रीपुमान्परिष्वक्त शरीरी सा एक अजीब रूप में परिणत हो गया। उस स्त्री रूपिणी देह से उस मनः का ज्योतिर्मय हृदय या आकाश, चान्द्र-मस कान्तिमयी पर्जन्यता से पूर्णतः आच्छादित हो गया। यही पर्जन्य मयी मनो-मयी हृदय व्यापिनी स्त्री वह है जिसे पृथिवी शरीरिणी और तेजोमय अग्नि की आत्मा वाली वाक् कहा जा चुका है। इस सम्मिलित स्वरूप को ही ईशावास्य उपनिषद् का ईशा वास्य या ईश्वर का आच्छादनयुक्त शरीर और पूर्वार्द्धीय अहः या दिन नामक भाग से उत्पन्न होने के कारण 'अहम्' या 'भौतिकता-मयम्' भी कहते हैं। इस प्रकार की स्थिति के उस आदित्य रूप मनोब्रह्माण्ड के ऊपर आच्छादन रूप चांदनी के समान छाया हुआ तत्त्व ही देव रूप में या चन्द्रमा रूप में पर्जन्य तत्त्व कहलाता है। इससे अदितिमयी अन्नमयी तेजोवती अग्निमयी पृथिवी शरीरिणी अन्ननाम्नी वाक् का अभ्युदय होता है। अतः कहा है 'पर्जन्या-दन्नसम्भवः' इति। अर्थात् इस पर्जन्य के अमृतमय शरीर से प्रकाश किरण रूपिणी प्राणमयी वाक् या अन्न की वर्षा, वर्षा की बूँदों की तरह अमृत रस रूप में दन-दनाती, छनछनाती, उछलती-कूदती उत्पन्न या आविर्भूत होती है।

इस स्थिति का वर्णन केवल गीता या उपनिषदों में ही नहीं वरन् ऋग्वेदादि संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विस्तारपूर्वक दिया हुआ मिलता है। प्रत्येक देवता का एक अप्रतिरूप या आसुर रूप होता है। इस पर्जन्य के आसुर रूप के कई नाम हैं जिनमें से एक नाम स्वर्भानु है जिसे ज्योतिष में राहु भी कहते है, क्योंकि यह राहु या छाया के समान आच्छादित कर अन्धकार फैला-देता है, पर पर्जन्य तो शीतल चन्द्रमा की चाँदनी छिटकाता है। ऋग्वेद में इस स्वर्भानु का वर्णन इस प्रकार है—"हे आदित्य या सूर्य तुम्हें जिस स्वर्भानु ने तमोरूप धारण कर के आच्छादित किया, उसने अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड को ऐसा मुग्ध या मोहजाल में जैसे डाल दिया कि इसके अखिल ब्रह्माण्डों या भुवनों का पृथक् पृथक् ज्ञान का होना ही असम्भव हो गया। पर तुम्हारे मनोरूप इन्द्र ने अपनी तेजस्विता की शक्ति से इस ब्रह्माण्ड के दिव्य या प्रकाशमय

कोश के चारों ओर आच्छादन रूप में वर्तमान अन्धकार को दूर हटा दिया। तब उत्तरार्द्धीय दैवीवाक् रूप अत्रि ने अपने चतुर्थ चरणीय स्थान से त्रिपादामृत रूप तुम्हें इस अन्धकार के हट जाने पर देखा या ज्ञात या अनुभूत कर सका। या जब अत्रिरूप वाक् ने उक्त प्रकार से त्रिपादामृतीय दिव्यलोकीय सूर्य को अपनी आंख के समान धारण किया तब वह स्वर्भानुमय अन्धकारमय आच्छादन भी स्वयं हटा हुआ मिल गया। अतः यह कहा जाता है कि उस त्रिपादामृतीय सूर्य को जिस स्वर्भानु ने अपने आच्छादनमय अन्धकार से ढक लिया था, उस त्रिपादामृत रूप को केवल चतुर्थ चरणीय चतुष्पाद् ब्रह्मरूप अत्रि अपने शरीर में चक्षुरूप में धारण करके ही, ज्ञात या अनुभूत कर सका, अन्य नहीं कर सके।"

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ने भी लिखा है कि—"स्वर्भानु एक आसुरी शक्ति थी, उसने सूर्य को अन्धकार से घेर लिया। जब सूर्य इसके अन्धकार से घिर गया तो उसका प्रकाश नहीं दिखाई देने लगा। इसके इस अन्धकार को सोम और रुद्र ने विनष्ट किया, तब यह अन्धकारमय पाप के नाश हो जाने से प्रकाशमान प्रतीत होता है।" इसमें सोम दैवीवाक् अत्रि ही है रुद्र इसकी आत्मा अग्नि। यहाँ वर्णना का प्रकारान्तर है, तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।

अब हमारे सामने वस्तुस्थिति स्पष्ट है। जिसको यहां पर स्वर्भानु कहा जा रहा है वही तो अत्रि अन्नं या वाक् का अन्धकारमय शरीर है। यही शरीर चक्षुरूप दैवी या सूक्ष्म शरीर या दिव्य चक्षुरूप शरीर पर्जन्य है। इस दिव्य चक्षुरूप पर्जन्य नामक शरीर की तारिका में सूर्य या आदित्य नामक त्रिपादामृत की ज्योति समाती है। ज्यों ही इस पर्जन्य रूप चक्षु की तारिका में त्रिपादामृत की ज्योति समा गई त्योंही उस अत्रि अन्नं या वाक् की स्वर्भानुमय अन्धकारता स्वयं नष्ट हो गई, इसीको स्वर्भानु की माया या अन्धकारता का हनन मारण या विनाश कहा जाता है। यह स्वर्भानु देवताओं की अमृत ज्योति को अपने स्थूल शरीर के सूक्ष्म रूप या पर्जन्य रूप चक्षु की ज्योति ग्राहिणी तारिका में धारण करता है। अतः पुराणों ने इस कथानक को राहु का ठग कर देवताओं में बैठ कर अमृतपान करके उसके सिर कटवाने की कथा गढ़ दी है, यह कोरी कल्पना नहीं वरंच वास्तविकता है। यहां सिर कटाने का आशय अपनी अन्धकारतारूप सिर को कटा कर उसे देवरूप में प्रकाशमय बनाना मात्र है। सूर्य को अन्धकारमय शरीर से आच्छादन करने में जब इसे इस स्वर्भानु नाम से पुकारते हैं, तब सूर्य या आदित्य को इन्द्र नाम से पुकारने के समय इसी स्वर्भानु को वृत्र कहते हैं। वृत्र, इन्द्र को अपने अन्धकारमय

शरीर से आच्छादित करता है तो इसको प्रकाशित करने वाला दिव्य चक्षु सूर्य न होकर सोम होता है। इन्द्र का सोमपान इसी पर्जन्य रूप दिव्य चक्षु, या सोम या चन्द्रमा नामक चक्षु में विष्णु नामक आदित्य की ज्योति को धारण करना है। इन दोनों प्रक्रियाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। इन्द्र तो योग का पूर्वार्द्धीय आदित्य है, और पर्जन्य का आदित्य सृष्टि का पूर्वार्द्धीय आदित्य है। सृष्टिकाल में पर्जन्य या चक्षु है, योगकाल में सोम या चन्द्रमा, पर्जन्य में मनोरूप सूर्य की ज्योति है; सोम में विष्णु की, इन्द्र मनोमय है, वह इस सोम ज्योति का पान करता है और अपने वृत्रमय भौतिक शरीर का अन्धकार नष्ट करके उसे प्रकाशमय करता है, मारता नहीं। अतः श. प. ब्रा. (१–३–३–१७) में कहा है कि जब इन्द्र ने वृत्र को मारने की चेष्टा की तो वृत्र ने ललकार कर कहा—भई ऐसा न करो, मुझे मारकर तुम स्वयं नहीं रह सकोगे, मेरी मृत्यु के माने तुम्हारी भी मृत्यु है। इन्द्र को समझ में बात आगई उसने उसे मारा नहीं, उसके सूक्ष्म भाग को सौम्य या सोम नामक चक्षु में परिणत करके उसके प्रकाश से उसके आसुर्य भाग को प्रकाशित किया; तब इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि उसी के आसुरी शरीर या स्थूल भौतिक शरीर से की। अतः स्वर्भानु या वृत्र तो इस अखिल ब्रह्माण्ड के भौतिक स्थूल शरीर हैं उनको ऐसा-वैसा साधारण तत्त्व या असुर समझने की भूल कोई कभी भी न करे। हां वृत्र को 'त्वाष्ट्र' या त्वष्टा का पुत्र कहा जाता है। त्वष्टा नाम तो सचमुच में वाक् का है। यह श. प. ब्रा. ने स्पष्ट कहा है। दिव्य शरीरिणी अमृतमय भौतिकता को वाक् कहते हैं तो इसी की मर्त्य रूप अन्धकारमय देह को वृत्र। अतः वृत्र को त्वाष्ट्र कहते हैं।

इस प्रकार के अलौकिक पर्जन्य नामक तत्त्व की देवरूप या आत्मारूप या प्रकाश कोश या जगच्चक्षुर्मय वर्णना स्वयं ऋग्वेद ने निम्न प्रकार से दे रखी है। जरा इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने का कष्ट तो करें—

"इस पर्जन्य ने त्रिपादामृत रूप पूर्वार्द्धीय आदित्य या सूर्य के तीन पादों की तीन वाक् नामक उग्रा ज्योतियों का दुहन किया, या अपनी चक्षुर्मयी देह में धारण किया। उसने भौतिकात्मीय प्राणरूप वत्स को जन्म देकर या प्रकाशित करके, ओषधि नामक अमृतमय सोममय प्राणों को अपने गर्भ में रखकर वाग्ब्रह्म रूप वर्षणशील वृषभ का रूप धारण करके अखिल द्यावा पृथिवी रूप मौलिक ब्रह्माण्डीय शरीर को अपनी गतिविधिमय रौरवता से गुञ्जायमान या ॐकार ध्वनिमय या सततक्रियामय बना दिया। यह तो महापोत या कर्णधार के समान इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के चक्र को स्वयं स्वतन्त्र रूप से

संचालन करने में नित्य रत है। यह अन्नमय वाङ्मय शरीर को वाष्पमय सोममय आप: के समान प्रतिक्षण ग्रहण करता है, उसी से अपने शरीर के पूर्वार्द्धीय पिता सूर्य, उत्तरार्द्धीय माता भौतिकी वाक् और इनसे उत्पन्न भौतिकात्मीय प्राण रूप पुत्र या वत्स को परिपुष्ट करता है। इस प्रकार इसके इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक शरीर में अखिलकोटि भुवन रूप खगोलादि के सब प्रकार के मौलिक बीज संरक्षित हैं जिनको प्राणित रखने के लिए पूर्वार्द्धीय त्रिपादमृत के द्यौ नामक ज्योतीरूप शरीर के तीनों भाग प्राणरूप आप को बराबर सींचते रहते हैं। जिनको वे उक्त भाग सींचते हैं वे भी तीन कोश हैं जिन्हें अन्नमय, मनोमय और प्राणमय कोश कहते हैं। इन्हीं कोशों में वे पूर्वार्द्धीय अमृतमय प्राण अपनी मधुमती वृष्टि को निरन्तर करते रहते हैं। यह पर्जन्य इस प्रकार अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के बीजरूप सोम ज्योति को धारण करके उससे निरन्तर मधुमयी वृष्टि करने वाला वृषभ है, उसकी वृष्टिरूप बीजों को धारण करने वाली प्राणरूप अमृता अक्षितिरूपा गाये हैं जिन सबके एक सम्मिलित अखिल ब्रह्माण्डीय कोश के अन्तर्बहि: वह आदित्य या सूर्यरूप स्थावर जङ्गम सभी की आत्मा सर्वत: व्याप्त रहता है। हे पर्जन्य ! इस महामहिमा वाले तुम मेरे ऋत रूप दिव्य चक्षुरूप शरीर को सदा सैकड़ों हजारों वर्षों तक सुरक्षित रखने की महती कृपा करो, और तुम्हारे इस दिव्य चक्षुरूप शरीर में जिन त्रिपादामृतीय अनन्त, अमृतमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय, चेतनामय देवों का निवास है वे भी मेरे इनके प्रतिरूप शरीर के विभिन्नाङ्गों को उसी प्रकार सदा सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रख देने की महती कृपा करो। अब सोच विचार कर बतलाइये क्या इस प्रकार की वर्णना वाला यह पर्जन्य नामक तत्त्वरूप देवता कभी भी किसी भी दशा में आकाश में छाकर पानी बरसाने वाला बादल या मेघ हो भी सकता है ? यह तो इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के स्थावर जङ्गमों के मौलिक शरीरों का एकमय आत्मा है। हां लौकिक मेघ के समान अमृतमय प्राणों का वर्षक होने मात्र से इस तत्त्व की रूपक में इस लौकिक मेघ समान वर्णना की हुई देखने मात्र से इसे आकाश से पाताल में घसीटकर इन लोगों ने अपनी कितनी बड़ी भारी बुद्धिमत्ता का परिचय दे दिया है ? दंग रहना पड़ता है !!! कर्मकाण्ड में तो सभी वस्तुएँ लौकिक ही गृहीत होती हैं, उसका तो यहां प्रश्न ही नहीं। यहां तो केवल सृष्टियज्ञ (तपोयज्ञ) और अतिसृष्टियज्ञ (योगयज्ञ) की चर्चा चल रही है जो कर्मकाण्डीय यज्ञ का मूल आधार और वास्तविक रहस्य है, जिनके लिए यह कर्मकाण्डीय द्रव्ययज्ञ मात्र अभिनयरूप में, मानसिक पवित्रता के लक्ष्य से ('यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' गीता) किया जाता है (२४ से ३३ तक)।

(३४) अथ 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इति ।

(३५) नायं यज्ञो प्रज्वलिताग्नेः कर्मकाण्डीयस्तेन वर्षिणां पर्जन्यानामुत्पत्तिरसम्भवात् क्वचिदपि ।

(३६) 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' (ऋ०वे० १-१६४-३५)

(३७) (क) स नाभिश्च मनो ब्रह्माण्डमयोऽखिलभौतिकमौलिकब्रह्माण्डस्य शरीरस्य चाध्यात्मिकस्य कटाहस्तस्मिन्नापोमया प्राणा अग्निमयेन रुद्रेण तापिताः सन् यं वाष्पमूर्ध्वमायच्छंति, सः पर्जन्यः तस्मात्सोमरस वृष्टिर्योगे; सृष्टौ तु तद्विपरीतं यतं सोमात्पर्जन्यः' इति मुण्डके (२-)

(३७) (ख) नाभौ यज्ञे येषां वै आहुतिर्योगे दीयते ते प्राणा एव यथा—
"अपाने जुह्वति प्राणान्, प्राणान्प्राणे तथा परे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः ॥" गीता

(३७) (ग) सृष्टौ तु देवर्षयस्तपन्ति चार्पयन्त्यात्मनः स्वानाहुतिरिव प्राणानां विकासाय ।

(३८) यो योगे नाभिः स योनिः सृष्टौ तस्मान्नाभेर्यज्ञात्तादृशोऽभूतपूर्वः पर्जन्यो जायते ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—यज्ञ क्या है ? यह समझना टेढ़ी खीर है । लोग तो कर्मकाण्ड विधि से जो कर्म किया जाता है उसी को यज्ञ समझते हैं । और यहाँ पर यह कहा गया है कि यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है । तब इस आग जलाकर उसमें घी अन्न हवि की आहुति देकर उक्त प्रकार के महत्वपूर्ण पर्जन्य नामक तत्त्व की उत्पत्ति कैसे होगी, कुछ समझ में नहीं आता ! विद्वानों से प्रश्न किया जाय तो उनसे प्रायः जो उत्तर उपलब्ध होता है वह यह होता है कि यज्ञाग्नि से जो धुवाँ निकलता है उससे अनावृष्टि काल में बादल बनता है, तब वृष्टि होती है । और संस्कृत पढ़े लिखे तथा निरक्षर जनता इस उत्तर को बिलकुल ठीक समझती है । तब आगे बढ़ना व्यर्थ है । गीता के जितने बड़े-बड़े नामी भाष्य, टीका, अनुवाद और आलोचना ग्रन्थ अब तक उपलब्ध होते हैं उन सबने भी इस पद का तथा इसके साथी पूर्वपश्चात् के पदों की ऐसी ही व्याख्या देकर बड़ी-बड़ी ख्यातियाँ भी प्राप्त की हैं, जिससे समस्या विद्वानों की ओर भी झपट जाती है । अस्तु यज्ञ मुख्यतः तीन प्रकार के हैं जिनमें सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ दो ही वास्तविक यज्ञ है, कर्मकाण्डीय यज्ञ नकली या अभिनयात्मक है । इसमें वह विषय जो प्रथम दो में पूर्णतः घटित होता जाता है, किसी भी प्रकार पूरा घटित नहीं हो सकता, इस पद का इस यज्ञ से सम्बन्ध भी केवल लौकिक रूप से है, इस लौकिक यज्ञ में इसका आशय इसी कुटिल कठिनाई से जबरदस्ती करके ही किया जा सकता है । **"आप विश्वास कीजिए कि वेदों के भाष्यादि को यास्क सायण और विदेशी, स्वदेशी सभी-**

विद्वानों ने आज तक, जितने जैसे, भी जिस किसी भी भाषा में लिखे हैं उन्होंने ऐसे अधिकांश पारिभाषिक पदों के अर्थों को द्रव्ययज्ञ या प्रकृति में प्रायः ऐसी ही जबरदस्ती से भिड़ा रक्खा है। जब इस प्रकार की व्याख्या कहीं-कहीं ऐसे भी नहीं बैठ सकी तो वहाँ पाश्चात्यों ने स्वीकार भी किया है कि इसका आशय ठीक नहीं लगा। इनका वास्तविक अर्थ तो वही सृष्टि-योगपक्ष में ठीक बैठ सकता है, उस ओर ये देखने के आदी ही नहीं हैं।" अतः यह ज्ञातव्य नहीं है कि लौकिक यज्ञ में इसे ऐसी जबरदस्ती करके, बलात्कार करके, बैठाकर इन टीकाकारों, पण्डितों या अनभिज्ञ जनता की समझी, मानी बात को अवश्य मान लिया जाय। हमें इसके वास्तविक रहस्य को ही खोजना है। ऐसे धुएँ से तो, जब सारे ब्रह्माण्ड में एक ही साथ आग लगे तभी शायद पर्जन्य बन जाय, अन्यथा कदापि भी नहीं, कहीं भी नहीं।

बस, बस होता भी ठीक ऐसा ही है। यज्ञ नाम तो विकास का है, यज् धातु अकर्मक है 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्' (ऋ. वे. १०-८१-४,५) में इसका अर्थ देखें। प्रत्येक तत्त्व विकासरूप एक-एक यज्ञ है। इनमें विकास पाने वाला मुख्य तत्त्व तेजोवती वाग् या अग्निमयी, अन्नमयी वाक् या अग्नि है। इसकी अखिल ब्रह्माण्डीय महाभट्टी सदा चढ़ी ही रहती है, चाहे किसी स्तर पर हो। हमारे शरीर में भी इसकी यह सदा जलती भट्टी कभी ठंडी नहीं रहती, जीवन तक। द्यौ वा द्यावारूप दिव्य ढकने से ढकी, इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक-रूपरेखा-रूप पृथिवी नामक महाकटाह के अन्तर्गत मनोरूप हृदय के आकाश में भरे प्राणरूप आपः या जलों के महासागर में वडवाग्नि की तरह विद्यमान तेजोवती अग्नि से खौलते हुए उस प्राणमय आपः से जो भापरूप प्राणों का साररूप अमृतमय अनन्त तारिकाओं का पुञ्जरूप धुआँ सा स्वयं स्वच्छ निर्मल स्फटिक शिलासम होने से अपने में पूर्वार्द्धीय द्यावा के त्रिपादामृतीय सूर्य की चमकती ज्योति से अनन्त प्रकाशमय धूल की किरणों के स्वरूप में प्रस्तुत होता है, उसका नाम है पर्जन्य, उक्त समस्त क्रिया का नाम है यज्ञ। इस यज्ञ की कई अन्य प्रकार की व्याख्यायें भी हैं जैसे 'यो यज्ञो विश्वतन्तुभिस्तत एकशतं देव कर्मभिरायत। इमे वयन्ति पितरो च आययु प्र वयाप वयेत्यासतेतते।' (ऋ. वे. १०-१३०-१)। इसके अनुसार अखिल सृष्टि को एक कपड़े के थान के समान बुनना ही यज्ञ है, इत्यादि।

इस यज्ञ की सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों पक्षों में एक दूसरे के विपरीत प्रक्रिया चलती है। जिसका वर्णन किया गया है वह सृष्टिपक्ष का यज्ञ है। योगपक्ष

में सोम से—विष्णु ज्योति से आनन्दमयानुभूति की वृष्टिकारक को पर्जन्य कहते हैं। यहां सोमरस वृष्टि ही पर्जन्य है। इसीलिए मुण्डक ने लिखा भी है कि सोम से पर्जन्य की उत्पत्ति होती है। योग में इस यज्ञ का नाम नाभि है। जैसा कि स्वयं ऋग्वेद में लिखा भी है इसमें अखिलकोटि भुवनों के मौलिक बीज समाये रहते हैं। इसी नाभि नामक यज्ञकुण्ड में प्राणों की आहुतियां दी जाती हैं; प्राणों को अपान में या अन्य मर्त्य प्राणों को मुख्य मध्यम प्राण में झोंक दिया जाता है अथवा प्राणों और अपान की गतियों को रोककर उनको प्राणायाम-कुण्ड में पकाया या खौलाया जाता है। सृष्टिपक्ष में इसके विपरीत देवरूप तत्त्व ऋषिरूप तपस्वी बनकर अपने-अपने दिव्य शरीरों को एक-एक करके गला-गला कर अलग-अलग प्राणों के ठप्पों में उतर कर प्राण रूपों में परिणत होते हैं; या देवता अपनी दीप्तियों की आहुतियां चढ़ाकर उन्हें कम दीप्तिवाले प्राणों के शरीर में प्रविष्ट करते जाते हैं। अतः जिसे योगपक्ष में नाभि कहते हैं उसे सृष्टिपक्ष में योनि कहते हैं। इसी योनि के गर्भ में देवता अपनी-अपनी दीप्तियों की पर्जन्यरूप वृष्टियों के द्वारा ही प्राणों की मौलिक सृष्टि करते हैं। फलतः इन प्राणों की सृष्टि का पूर्वरूप ही यह अभूतपूर्व पर्जन्य है (३६ से ३८ तक)।

(३९) अथ 'यज्ञः कर्मसमुद्भव' इति—योऽयं यज्ञः स पर्जन्यः सः कर्ममयः ''कर्मणामात्मेतदुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति तदेतेषां सामैतद्धि सर्वैं कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्म तद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति॥ (बृह.उप. १-६-३)।

(४०) तस्मादेवोक्तं 'कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धीति'।

'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'—यज्ञ का सम्पादन यों ही नहीं होता, इसमें अनेक प्रक्रियायें कर्मरूप में की जाती हैं जैसा कि पीछे के परिच्छेदों में यज्ञ के सम्पादन की विधियां दी गई हैं। विना इन क्रियारूप कर्मों के यज्ञ नहीं हो सकता यह तो सब जानते हैं; परन्तु यहां पर इसका उल्लेख करने का तात्पर्य यह है कि कर्म नामक तत्त्व का मूलस्रोत कुछ और ही है, जो-जो अङ्ग-प्रत्यंग या विभाग कर्म कर रहे हैं, वे किसी एक पृथक् तत्त्व की सतत क्रियाशीलता को अपने-अपने अंगों या विभागों में व्यक्त मात्र कर रहे हैं, अङ्ग इनके हैं, इनको क्रिया में प्रवृत्त और कर्ममय बनाने का कार्य इनसे किसी अन्य तत्त्व का है। इस तत्त्व का नाम आत्मा है, यह चाहे कोई किसी भी प्रकार का अङ्ग-प्रत्यङ्ग या विभाग या उपविभाग क्यों न हो, उन सबसे एकसार, एकरूप में, एक ही क्षण में समभाव से प्रवृत्ति, निवृत्ति, किसी को प्रवृत्ति किसी को निवृत्ति, जैसा चाहे जिससे जैसा चाहे या न चाहे वैसा कराता रहता है। अतः इन कर्मों को

पराधीनता को समझाने के निमित्त ही यहां पर कर्म से यज्ञ का उद्भव या सम्पादन बताया जा रहा है। लोक में सबको यही दृश्यमान कर्म ही यज्ञ का प्रधान कारण प्रतीत भी होता है, इसलिए भी। तब इन कर्मों का वास्तविक कर्ता-धर्ता-हर्ता है कौन ? इसके उत्तर में कहा है—(३९ से ४०)

(४१) ब्रह्म वै सोमश्चन्द्रमा यः सविता सूयते चराचरम्।
स आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ज्योतीरूपः।

(४२) ब्रह्माक्षरसमुद्भवमिति तु सोमो वै अक्षररूपस्य उत्तमपुरुषस्य विष्णो-रमृतस्य ज्योतीरूपत्वे समुद्भवतीति।

(४३) स 'प्राणोऽमृतो नाम रूपे सत्ये ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' 'तदेतदमृत(मक्षर)म् सत्येन छन्नं' (तत्रैव)। तदेव वै "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।" (ई० उ०)

(४४) 'यद्वा हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (यजु० ४०- ईश उप० बृह० उप छा० उप०)

(४५) यतोऽत्र विपरीतः क्रमस्तस्माद्योगपक्षस्यैवं विधिनात्तरहस्यमेव वर्णनम् सर्वम्।

'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'—यह कर्म ब्रह्म से विनिःसृत होता है। इसी ब्रह्म को आत्मा कहते हैं। देव तत्त्वों में ब्रह्म नाम किसका है ? अभी इसे जानने वाले सम्भवतः न मिल सकें, और यह ब्रह्म नाम किस कोटि के तत्त्वों का है ? इस पक्ष के जानकार भी ढूँढ़कर कोई मिल सके या नहीं कहा नहीं जा सकता। ब्रह्म नाम भूतात्माओं की मुख्यात्मा का है। यह अधिभूत तत्त्व है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' नामक, या मनोब्रह्म प्राणोंब्रह्मादि व्याख्यायें अधिभूत हैं। यह देवपक्ष में सविता प्रसविता चन्द्रमा सोम प्रजापति कहलाता है। यही 'सूर्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च' कहलाता है। यह केवल त्रिपादामृत की ज्योतिरूपता को चान्द्रमस स्फटिक शिलारूप अमृतभौतिकात्मा में प्रकाशित रखने वाला तत्त्व है। इसी सम्बन्ध से चान्द्रमस या सोमीय दिव्य शरीर से उत्पन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप प्राणादि इस केन्द्रबिन्दुरूप शक्तिपुञ्ज की सतत क्रियाशीलता को अपने अङ्गों की कर्म-मयता में परिणत करते हैं।

विशेष—इस विषय में यह सूचित करना या पूछना आवश्यक है कि आज-कल जिन छह आचार्यों के मध्ययुगीय वेदान्तों का प्रचलन है, क्या उनमें से कोई एक भी इस ब्रह्म की इस यथार्थ स्वरूपता का तनिक भी ज्ञान रखता है कि नहीं ? यह आप कभी उन्हीं से पूछकर अजमा लें, यहां इस रगड़े-झगड़े में पड़ने की फुरसत नहीं। यहां इस ब्रह्म का जन्म तो एक और तत्त्व से हो रहा है, इस-

लिए भी उक्त प्रश्न उठाने को कहा था। इस ब्रह्म का जन्म अक्षर (ब्रह्म) से होता है जैसे—

'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'—इस अक्षर (ब्रह्म) की माया निराली है। इसके कई रूप हैं। योग में इसे एकाक्षर (ब्रह्म) या 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म' कहते हैं जैसा कि गीता ने (८–२१ में) कहा है। यहां पर इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड की मौलिक कोशात्मारूप देवताओं के एकमय एक 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' अर्थात् अनन्त शिर, आंख, पांवों के मौलिक बीजरूप होते हुए भी वह केवल 'एक' के रूप में केवल दश मुख्य देवताओं के विभिन्नाङ्गमय एक शरीररूप में प्रस्तुत होता है जिसका वर्णन ऋग्वेद ने 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यास्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः' के रूप में देकर यह भी कह दिया है कि जो इस अक्षर को नहीं जानता वह वेदों को व्यर्थ में पढ़कर क्या करेगा। जो इसे जानते हैं वेही वेदों के पढ़ने-पढ़ाने, समझने और इसपर लिखने के अधिकारी हैं। इसमें ये देवतारूप अक्षर जिस प्रकार एक दूसरे के कोशों में ओतप्रोत रहते हैं उनका वर्णन बृह. उप. में याज्ञ-वल्क्य ने मेरी पूर्वजा गार्ग्यी के उत्तर में विस्तारपूर्वक दे दिया है और इस योगसूत्र ग्रन्थ के अन्त में 'समाधि का साकार वर्णन' नामक पाद में विस्तारपूर्वक दे दिया गया है।

सृष्टिपक्ष में इसे अनन्ताक्षर (ब्रह्म) कहते हैं जिसे पुनः कई शैलियों से वर्णित किया जाता है जैसे संवत्सर ब्रह्म, और गौरी सहस्राक्षरावाक् के (अक्षर के बदले) सलिलानि के रूप में। संवत्सर ब्रह्म के अक्षरों की गणना अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात, मुहूर्तादि अनन्त विभाजनों से तथा सलिलाक्षरों के अक्षरों की गणना एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षर के गुणन-खण्डों के परस्पर गुणन से की जाती है। इसका विवेचन 'ऋचो अक्षर' शीर्षक में वैदिक विश्वदर्शन ग्रन्थ में सविस्तर दिया है, देख लीजिए। वस्तुस्थिति यह है। एकाक्षर ब्रह्म और अनन्ताक्षर ब्रह्म 'परमे व्योम' या योग की परमावस्था के मनोब्रह्माण्डीय आकाश में या विशिष्ट प्रकार के ॐकारीय एकाक्षरी रूप में हो अनन्ताक्षरों के बीजों के एक बीजरूप में, समष्टिरूप में रहता है। इससे विष्णु की या आदित्य की ज्योतिरूप सोमरस टपकता है जिसे इन्द्र या वेधा उक्त दश प्राणीय देवताओं के साथ पीता है। यहां इस योग स्थिति में इस अक्षर से यही सोम क्षरित होता है। पर सृष्टिपक्ष में वही आदित्य नामक सूर्य में जो पर्जन्यरूप दैवी भौतिकामृत है उसमें अनन्ताक्षरीय विभाजनों या व्यष्टि का बीजा-रोपण हो जाता है। इसे त्रिपादामृत युक्त चन्द्रमा या अनन्ताक्षर ब्रह्म कहते हैं।

अक्षर (एकाक्षर) ब्रह्म दोनों पक्षों में एक ही तत्त्व है, उनके नाम विष्णु और सूर्य भिन्न-भिन्न हैं। पर सृष्टिपक्ष का चन्द्रमा त्रिपादामृत युक्त अनन्ताक्षरों में क्षरित होनेवाला है यह भी रसरूप या अश्रुरूप है, और भौतिक सृष्टिकारक रस-रूप प्रतिविम्बग्राही अश्म या स्फटिकशिलारूप भी है। योग में यह सोमरस ज्योतिर्मयरूप केवल आनन्दानुभूतिक रसरूप है। यही इनमें अनन्तर है। अतः सृष्टिपक्ष में या योगपक्ष में यह अनन्ताक्षरी चन्द्रमा नामक ब्रह्म या प्रजापति या सोमज्योतिरूप आनन्दमय अनन्ताक्षरीय रसमय बिन्दुरूप सोम ब्रह्म उत्पन्न या आविर्भूत होता है। अतः कहा है कि 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इति। इस ब्रह्म का नाम प्राण है। यह शरीररूप स्वर्भानु या वृत्र के बाह्य भौतिकाकर्षणों की प्रबलता से आभ्यान्तर के प्रवेश के द्वार को बन्द करके या आच्छादित करके छिपा देता है। योगी-यति इसी आवरण को योग से अग्निरात्मा को उद्दीप्त करके उस अमृतमय सोमज्योति के दीपक को जलाकर उसका निरन्तर पान करते हैं। बाह्याकर्षणवाले शरीर का नाम सत्य है या चमकीला-दमकीला हिरण्मय पात्र या रंग-विरंगी नागिन-सा है। इस सत्य से वह प्राण आच्छादित है। यही ईशावास्य का आशय है। इसी के अनावरण की प्रार्थना पूषा ईशान से वहां की गई है। गीता ने यहां पर विपरीत क्रम दिया है। विपरीत क्रम नित्य ही योग का पक्ष होता है। अतः इस योग की स्थिति का थोड़ा विवरण यहाँ अन्त में दे दिया है (४१,४५)।

(४६) य एवं वेद यदित्थं पारिभाषिकानां वैदिकानां पदानामर्थान् न हि लौकिक-संस्कृतसमा नापि गाथा तुलनात्मका नापि तुलनात्मकभाषाविज्ञान-विषयाः स वेदविद्।

(४७) नहि सोमो वै मदिरेति चोक्तमृषिभिः पूर्वैः स्वयमृग्वेदे यस्योद्धरणं सूत्रे षष्ठे प्रस्ताविकेऽग्रे तथा 'कः सोमः 'किं सोमपानमि'ति शीर्षकद्वये पूर्णं प्रतिपादितं निष्पादितमध्येतव्यमेव।

(४८) योऽयं देवरूपे सप्राणज्योतीरूपः सोमः स एवासुररूपे आवरणस्वरूपे-ऽसुरो "वृत्रोह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी स इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम" (श. प. ब्रा. १-१-३-३) 'स यद्वर्तमान; समभवत्तस्माद्वृत्रो नाम (श. प. ब्रा. १-५-२-१) अतिष्ठन्तो नामनि वेशानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं। वृत्रस्य निर्ण्य विचरन्त्यायो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥" (ऋ. वे. ०-३२-१०)

(४९) स्पष्टमेवैवं चोक्तं 'वृत्रो वै सोम आसीत्' (श. प. ब्रा. ४-१-४-७)।

(५०) स एव हि 'वृत्रो यच्चन्द्रमा सो अस्यैव भ्रातृव्यजन्मेव' (श. प. ब्रा. १-५-३-१८)

(५१) तस्माद्वृत्रो वै शरीरसुंदर वा सोमस्य चन्द्रमसो मनसो वेन्द्रस्य वा दैवी रूपस्याप्रतिरूपस्तमो रूपोऽसुर इतीन्द्रशत्रुरिति भ्रातृव्य इति चोच्यते ।

(५२) योऽयमासुरो वृत्रः स एव देवस्य पर्जन्यस्य प्राणस्य चाप्रतिरूप आवरण-मयः परमापोमयः प्राणमयः प्राणानां शरीराण्येवायः स्तन्मयस्तस्य वधा-त्तस्मादेवापः प्राणा प्रस्रुवन्ते दैव्याः 'निरुद्धा आपः पणिनेव गावः' (ऋ० वे०–१–३२–११) उन्मुच्यन्ते ।

(५३) तस्मान्नहि कदाचिदपि 'वृत्रो वै मेघ इति' सुनिश्चितम्।

इस प्रकार इस दृष्टान्त के द्वारा अब यह स्वतः स्पष्ट हो गया होगा कि वेदों के दार्शनिक पारिभाषिक पदों का अर्थ न तो उनके लौकिक संस्कृत के समान है, न ग्रीक रोमन पारसीक देशों में दर्शन से उच्छिन्न गाथाओं का वैदिक गाथाओं से तुलना करके ही प्राप्त हो सकता है और न तुलनात्मक भाषाविज्ञान से उनके स्रोतों को खोजने मात्र से ही । अतः जो लोग वेदार्थ को वेदों के मन्थनात्मक अध्य-यन मात्र से ही उचित रूप से देने में समर्थ हैं वेही इनके जानने वाले हैं, इनकी यथार्थता से परिचित हैं और वेही वेदविद कहला सकते हैं ।

वेदों के अर्थ को अपने धरातल से गिराने वाले उक्त प्रकार की अवाञ्छित और अनभीष्ट प्रणाली में इन्द्र, सोम और वृत्र की छिछली व्याख्यायें भी एक महान् कारण हैं । कर्मकाण्ड में सोम का सेवन मदिरा के रूप में ही होता रहा इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती, यह नग्न सत्य है, पर जहां यह सत्य है वहां यह भी नितान्त सत्य ही है कि वैदिक ऋषि जिस तत्त्व को सोम, असली सोम नाम से पुकारते थे वह कर्मकाण्डियों के पीने या घोटने वाला सोम नहीं था, वह कुछ और ही अद्भुत अलौकिक तत्त्व था; यह भी तो वे ही ऋषि इस अध्याय के प्रथम पाद, सूत्र छह में उद्धृत वचन द्वारा स्वयं कह गये हैं; इस ज्वलन्त तथ्य को कौन माई का लाल मिटाने की हिम्मत कर सकता है । इस ज्वलन्त सत्य के बारे में एक दूसरा ज्वलन्त प्रश्न उठता है । जब ऋषियों ने इस सोम के बारे में इतनी स्पष्ट भाषा में इसका विवेचन स्वयं दे दिया था तो इस विषय पर तो इन खोजी व्याख्याकारों को सैकड़ों प्रबन्ध लिख कर इसकी वास्तविकता सामने लानी थी, यह क्यों नहीं किया गया ? इसका स्पष्ट आशय यह है कि इनकी नियत में कुछ दाल में काला अवश्य है । उन ऋषियों की दृष्टि में या उनकी अनुभूति में यह सोम किस प्रकार का था इसका विषय बहुत विस्तृत है कुछ पीछे बता दिया गया है, शेष आगे 'कः सोमः' 'किं सोमपानम्'

'सोमपानमहिमा' तीन मुख्य पादों में विस्तारपूर्वक दिया मिलेगा। इसी के पूर्व इन्द्र तत्व की भी व्याख्या वास्तविक रूप में दी हुई मिलेगी।

रह गया वृत्र। इसने सभी व्याख्याकारों को बहुत ही अधिक परेशान किया है, क्योंकि इसके बारे में इन्होंने व्यर्थ ही में माथापच्ची करके अनेक उपहासास्पद मतों की डींगें मारी हैं। कर्मकाण्ड में वृत्र को मेघ मान भी लिया जाय तब भी सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ में इसे इस रूप में उसी प्रकार कदापि नहीं माना जा सकता जिस प्रकार कर्मकाण्डीय मदिरात्मक सोम को सृष्टि और योगयज्ञों का सोम नहीं माना जा सकता। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस वृत्र को साक्षात् सोम नाम से भी पुकारा है जिसका उद्धरण यहाँ पर सूत्ररूप में प्रस्तुत है। और जिस प्रकार पर्जन्य का प्रतिपक्ष या आसुर रूप स्वर्भानु है ठीक उसी प्रकार सोम का प्रतिपक्ष वृत्र हैं। इसी दृष्टिकोण से वृत्र को सोम या सोम का प्रतिपक्ष कहा गया है जैसा कि पहले भी अंकित किया जा चुका है। और इस वृत्र की जो व्याख्या वैदिकमंत्रों और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष रूप में दी हुई मिलती है उसको न जाने ये व्याख्याकार ताक में रखकर क्यों अपनी मनगढ़ंत कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाने चले, यह सबसे अधिक आश्चर्य को बात भी है, और विद्वानों की आँखों में पट्टी बाँध देने का अतीव गर्हित कृत्य भी है, क्योंकि विद्वान् का कार्य तो सत्य का अनावरण करना है न कि इस प्रकार सत्य को ढक कर, छिपाकर अपने मनमाने मत को थोथी प्रतिष्ठा की धाक जमाने की चेष्टा करना। विश्वास कीजिए इन लोगों को वेदों के अन्य विषयों में भी ऐसी सत्य को छिपाने की एक परम्परा सी ही बनी प्रतीत होती है, चाहे वे उन्हें समझने की स्वाभाविक दुर्बलता के शिकार बने रहे हों या इन वर्णनाओं को भूल से अपने यहाँ की दर्शनहीन मिथ या लेजन्डस समझ कर छोड़ गये हों, या संहिताओं को ब्राह्मणों से स्वतन्त्र पृथक् समझने की महती भूल से उनकी पारस्परिक एकतामूलक सुविधा का लाभ उठाने के स्थान में दोनों के एक शरीर को काट कर इन दोनों को हत्या करना ही अभीष्ट रहा हो, या कोई और बात रही हो, या हमारी संस्कृति को नीचा दिखाना चाहते रहे हों, कुछ न कुछ शंका की बात अवश्यमेव है, इसमें सन्देह नहीं। अस्तु ऋग्वेद में वृत्र का प्रसिद्ध वर्णन इस प्रकार का है—
"उस वृत्र का शरीर दशों दिशाओं की उस पराकाष्ठा तक फैला हुआ या व्याप्त था जिसकी अन्तिम छोर कहां है, किस तरह समाप्त होती है इसका अबतक किसी को ज्ञान या भान ही नहीं हो सका है; उसके उस शरीर में प्राणों का आपोमय शरीर ऐसी स्थिति में विचरण कर रहा था जिसको उस समय तक वृत्र या केवल आवरणकर्ता एक कोशमय इस व्युत्पत्ति से सार्थक नाम देने के

अतिरिक्त किसी और उपयुक्त नाम से भी नहीं पुकार सकते थे। इस प्रकार का उसका यह वास्तविक नामकरणरहित शरीर इन्द्ररूप प्रकाशमान् तत्त्व के बिलकुल विरोधी (शत्रु) रूप अन्धकार सा और गति-विधिहीन होने से शव सा सोया था, इतना ही कहा जा सकता है।" (ऋ. वे. १-३२-१०)

इसी प्रकार श. प. ब्रा. ने भी लिखा है "वह वृत्र इस अखिल ब्रह्माण्ड के त्रिपादामृत स्वरूप को सर्वत: व्याप्त कर शव की तरह सोया था; क्योंकि इसने द्यावा और पृथिवी नामक दर्शन या सृष्टि के दोनों मौलिक भागों को व्याप्त कर दिया था; और ऐसी स्थिति में शव की तरह सोया था; इसी आवरण या व्याप्त करने के कारण इसको वृत्र नाम से पुकारते हैं" (४-१-४-७)। जिसने सबको वृत्त की तरह व्याप्त किया वह वृत्र है।

उक्त व्याख्याओं की पुष्टि में वृत्र को सोम भी कहा है और चन्द्रमा भी, क्योंकि सोम और चन्द्रमा इस वृत्र की आत्मायें हैं, वृत्र नाम तो इस सोम या चन्द्रमारूप आत्मा के खोल या शरीर का है। हमारा शरीर भी वृत्र है, हमारा दिव्य शरीर सोम या चन्द्रमा; यह अखिलकोटि भौतिक ब्रह्माण्ड भी वृत्र ही है, इसका आभ्यन्तर सौम्यभागीय दिव्य शरीर सोम या मन या इन्द्र या चन्द्रमा; जिसका विवेचन श. प. ब्रा. ने अन्यत्र दिया है, कथा पीछे दे दी है, पर्जन्य-स्वर्भानु वर्णन देखें। वास्तविक वस्तुस्थिति इस प्रकार की है। त्रिपादामृत रूप आदित्य या सूर्य मनोमय कोश में है, यह चक्षुकोष है, यह कोश सोम या चन्द्रमा के कोश में बन्द है, इसे द्वितीय चक्षुकोष कहते हैं, इसके बाहर अश्रुमय दैवी प्राणों के आपोमय पर्जन्य का कोश है, इसके बाहर वृत्ररूप मर्त्य प्राणों का आपोमय कोश वृत्र नाम से सुप्रसिद्ध है। यह वृत्र अखिलकोटि ब्रह्माण्ड को इस प्रकार अपने उदरस्थ रखता है, अत: श. प. ब्रा. ने लिख भी दिया है 'वृत्रो वै उदरं' या वृत्र सबका उदररूप गर्भ या कोश है। इसीलिए वृत्र के वध या मन्थन से प्राणों का वह आपोमय शरीर जो बन्द पड़ा था उससे फूट कर निकलने का वर्णन वेदों या ब्राह्मणों में प्राय: सर्वत्र मिलता है। इस प्रकार यह दृढ़रूप से निश्चित हो जाता है कि वेदों में वृत्र का जिस प्रकार का वर्णन दिया हुआ मिलता है, और वह जिस लक्ष्य से मुख्यत: किया हुआ सामने आता है, वह वृत्र किसी भी भाँति मेघ या बादल या कोई छेड़ाखानी, मारपीट करने वाला राक्षसी प्रवृत्ति का मानव नहीं है, वह वह तत्त्व है, जो इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक शरीर है (४६ से ५३ तक)।

(५४) यदि वृत्रो नास्ति मेघस्तर्हीन्द्रोऽपि नहि लौकिको झंझावातो न तडिद्वान्न वज्रवान् न मेघहन्ता वा नैव लौकिकसूर्यः।

(५५) कोऽसाविन्द्रः स इति त्वग्रेऽध्याये तृतीये विस्तरेणोक्तं यथा—

(५६) स मनः स वेधाः स विदृतिद्वारभेत्ता स इदिन्द्रः स मध्यमः प्राणः स इध्मः स वैद्युतोयधर्मा स वज्रवान्नस्थिमता तेजोवताऽग्निना जातवेदसाऽखिलकोटि-मौलिकब्रह्माण्डस्य शरीरस्य च महायोगी च सैव सोमपा तेनैव देवा अपि सोमपायिनः। (ऋ० वे० २–११–१६, ऋ० वे० १–१०१–५;४–१–१६४–४) इत्यादि।

(५७) एवमग्निप्रभृतीनां देवानां विषयेऽपि बोध्यम् मम ग्रन्थानामवलोकनलोचनैः।

(५८) तस्मान्नैव वै देवानां मध्ये कश्चिदपि यः प्राकृतेयः पदार्थोऽस्या लौकिक्या पृथिव्याः स्यात् सा पृथिवी या वैदिकै ऋषिभिरभिमता पृथिवीति शब्देन च नेयमपि लौकिकी पृथिवी, सा त्वाधारभूता मौलिकतत्त्वानां दर्शनस्य वैदिकानामृषीणां छन्दोमयी दैवी भौतिकात्मनोऽमृतरूपाऽक्षितिरजराऽजा द्यावा नाम्नोऽमृतस्य पूर्वार्द्धस्य परार्द्धरूपा साक्षाद्देव वसुंधराऽनाद्यनन्ता।

(५९) एवमश्वाः श्वानौ गावो ब्रह्माः पर्वताः समुद्राः पर्वताः सुपर्णा ऋतवः संवत्सरः पक्षा वृक्षा मासा अहोरात्राणि प्रभृतीनि च रूपकमात्राणि देवानामात्म-गतीनाम्। न हि तैः संकेतिताः लौकिकाः पदार्थाः।

(६०) तस्माद्युक्तमेवोचितमपि यथोक्तं भगवता मनुना—'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितमिति' (१२-११९)

(६१) एकस्यैवात्मनः सप्तस्तराण्येव सप्तमुखा प्राणाः सप्त काशाः सप्त मुख्याः देवास्तेषामेव नाना भेदरूपीयया व्याख्यया त एवानन्तरूपा देवाः सर्वे चाऽऽत्मान एवेति चासन्दिग्धं संबोध्यम्।

उपसंहारः--

वेदों में इन्द्र और वृत्र का वर्णन सर्वत्र ही पक्ष-प्रतिपक्ष स्वरूप में किया हुआ मिलता है। अतः जब वृत्र मेघादि नहीं है तो इन्द्र भी इस मेघ का जोड़ीदार लौकिक सूर्य मेघहन्ता तूफान वज्रवान् विद्युद्वान् आदि में कोई वस्तु किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। तब यह इन्द्र कौन है, कैसा है इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे एक स्वतंत्र अध्याय में दिया जा रहा है, देखिए। यहाँ संकेतमात्र के लिए संक्षेप में बता दिया जाता है कि यह इन्द्र सभी तत्त्वों में से मुख्यतः महायोगी तत्त्व है। यह मुख्यतः योग का तत्त्व है, यह अखिल ब्रह्माण्डीय मनः वेधाः, विदृतिद्वार का भेत्ता, इदिन्द्र (ऋ. वे. २-११-१६, १-१००-५) मध्यम प्राण, इध्म, ऐन्ध, वैद्युतीयशरीरी, वज्रमय, भौतिक दिव्य शरीरधारी, अस्थिवान् तेजोवान् जातवेदा अग्नि की सहायता से अखिलकोटि मौलिक

ब्रह्माण्डीय शरीर का महायोगी, सोमपा और सभी देवताओं को सोम पिलाने वाला महतोमहीयान् तत्त्व है। इसी प्रकार अग्नि प्रभृति पृथक् पृथक् देवताओं की भी व्याख्यायें समझ लेनी चाहिए या मेरे ग्रन्थों में तथा आगे देख लीजिए।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अब यह भी सुनिश्चित हो गया होगा कि वेदों में वर्णित देवताओं में से कोई भी न तो प्राकृतेय पदार्थ हैं, न इस लौकिक पृथिवी मात्र से सम्बद्ध कोई अन्य वस्तु। वैदिक ऋषियों ने पृथिवी नाम से जिस तत्त्व का संकेत किया है वह हमारी यह लौकिक मिट्टी सागर पर्वत नदी वाली भी नहीं है। वह पृथिवी तो इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक तत्त्वों को धारण करने वाली प्रथमाधारभूत तत्त्व है। जिसकी व्याख्या छन्दोमयी, अक्षरमयी, पादमयी मान्यताओं से की जाती है। यह भौतिकात्मा दिव्यात्मा की अमृतमयी अक्षितिवती अजरा अमरा अनाद्यनन्ता, द्यावा नाम के पूर्वार्द्ध की परार्द्धरूपा या अमृत शरीररूपा, साक्षात् रूप से देव रूप वसुओं या रत्नों को धारण करने वाली सार्थक वसुंधरा है। इसी प्रकार अश्व, श्वान, गावः, नदी, पर्वत, समुद्र, सुपर्ण, ऋतु, संवत्सर, पक्ष, वृक्ष, मास, अहो-रात्र प्रभृति जितने भी तत्त्व हैं वे सब उक्त प्रकार की पृथिवी से सम्बद्ध हैं, न कि इस लौकिक पृथिवी से, हां इन्हें इन लौकिक पृथिवी के नदी पर्वतादि के रूपक के रूप में गृहीत किया गया है, स्वयं पृथिवी भी रूपक का पात्र है। इनके द्वारा ऋषियों ने देवताओं और आत्मा की गतिविधियों का विवेचन दिया है, न कि इस लौकिक पृथिवी का इतिहास भूगोल आदि। ऋषियों का लक्ष लौकिक पदार्थों का संकेत करना कहीं नहीं है। इसीलिए भगवान् मनु ने स्पष्ट कह दिया था कि सभी देवता आत्मा रूप के हैं, और इन्हीं आत्मा रूप देवताओं में यह अखिल सृष्टि आधारित है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र पृथिवी तो देवता ही हैं और नदी पर्वत वृक्ष सुपर्ण संवत्सर आदि भी सभी देवता ही हैं। अतः ये सब आत्मा रूप हैं न कि लौकिक स्थूल या प्राकृतेय पदार्थ। एक ही आत्मा के सात स्तर हैं, उन्हें षडुर्वी सप्तपृथिवी सप्तनद्यः सप्तपर्वता आदि कहा गया है। ये सात मुख्य प्राणों की व्याख्यायें देते हैं। इन सात प्राणों के शरीरों में निवास करने वाले तत्त्वों को देवरूप आत्मा कहते हैं। इन्हीं प्राणों की नानाविधस्तरीय व्याख्या को लेकर अनेक प्रकार के देवी-देवताओं का विवेचन दिया गया है। ये सब के सब आत्मा के विभिन्न स्तरों की व्याख्यायें सृष्टि और अतिसृष्टि दो प्रकार से प्रस्तुत करते हैं जिन्हें समझने का प्रयास किया जाय तो यह विषय स्वयं नितान्त असंदिग्ध रूप में विश्वास का भाजन बन जावेगा, इसमें सन्देह की भूमि ही नहीं है। जो कुछ

भी हो वेदों के सभी देवता निश्चित रूप से आत्मा रूप के हैं, इसे कभी न भूलें, यह नितान्त असन्दिग्ध विषय है।

(६२) तस्मादुपनिषत्कालोत्तरवर्तिनो लुप्त वैदिक दर्शन परम्पराकावराका यास्कादि प्रभृतितः सायणोव्वटमहीधरान्ताः प्राचीना भारतीयास्तथा तेषामनुसरणशीलाः स्वस्वोद्भावनाभारवाहिनः सर्वे ये केचिद्वाऽऽधुनिकाः प्राचीना वा कियन्तोऽपि गरीयांसो लघीयांसो वा स्युस्ते 'यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसो (गीता १५-११) वास्तविकमर्थं वेदानामतः सर्वतो वञ्चिता, देवानां व्याख्यां लौकिकार्थेषु पारिभाषिक शब्दान् गृहीत्वा कुर्वन्तः। केचिदन्ये तु लौकिक शास्त्राणां साहित्य व्याकरण नवीन वेदान्त न्यायादीनां प्रणेतृणां मस्तिष्कानां व्याख्यायां मग्नाः सन्तः कथं कारं जीवन्तीत्येवाद्‌भुतमाश्चर्यम्।'

(६३) यास्काद्यावधिपर्य्यन्तं तथा रूपायां व्याख्यायां कृतायामपि नानाभाष्यानुवादालोचनात्मकैर्लघु बृहद्‌ग्रंथैः स्वयं तैरेबोद्घोषितं यत्सहस्राणामपि मन्त्राणां सूक्तानां चार्थो नावगतं स्तैः किञ्चिदपि—यद्यपि नैकस्यापि मंत्रस्य सूक्तस्य वार्थं उचितपरम्पराऽभावात् नावगतं केनचिदपि तेषां—मूलं कारणं यस्य वेदानां देवानां वा नाम्नां लौकिक प्राकृतेय पदार्थ ग्रहण-ग्रहणम्। तेभ्यस्तु तेनैव ग्रहणेन—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखं चिराय।

(६४) हे ग्रन्थ विषयशरीरी देव ! 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु' (महाविस्फोटकेन) (अस्मभ्यं महत्या कृपया) 'सत्य धर्माय दृष्टये' (ऋ. वे., यजुः)

(६५) तस्माद्विद्वद्‌भ्यः सर्वेभ्यः प्रगत्यगतिशीलेभ्यः प्राचीनार्वाचीनपद्धति परायणेभ्यो भारतीय विदेशिभ्यः पौनः पौन्येनेयमभ्यर्थना यदस्य ग्रन्थस्य विषयस्य पूर्वं परम्पराविधि प्रमाण शरीरस्याध्ययनं विगलित स्वात्म दृढ संस्कारमनसा निष्पक्ष दृष्टिकोणेन विधायास्माकं महता कालेन नष्टप्राय योगस्य दर्शनस्य साकार दर्शनाय तस्य नवोत्थानाय पुनरुज्जीवनायोद्धारार्थं वाऽवश्यमेव प्रयतव्यम्।

(६६) "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥"
(सर्वासु संहितासु सर्वब्राह्मणेषु च, ईश. बृह. उपनिषदादावपि)

(६७) "शत्रूणां बुद्धिनाशाय, मित्राणामुदयस्तव।"
यतो हि "नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" (यजु. पु. सू.)

उपसंहार :—

अब आपने भलीभांति देख लिया होगा कि वेदों की व्याख्या में अतीव सत्यता से जुटे वे विद्वान् जो उपनिषदों के युग के पश्चात् हुए हैं, चाहे वे यास्क, सायण, महीधर, उव्वट प्रभृति हों या इनके अनुयायी स्वदेशी विदेशी एक से एक बढ़कर बड़े विद्वान् हों, चाहे आधुनिक हों या अर्वाचीन, कितनी ही ख्यातिप्राप्त हों या अज्ञात नाम के, उन्होंने वेदों के पारिभाषिक पदों को लौकिक संस्कृत के अर्थानुकूल तथा लौकिक प्रकृति के पदार्थों का संकेतक समझकर, बहुत बड़ा प्रयास करते रहने पर भी, होश हवाश उड़े व्यक्तियों की तरह (अचेतसः) जिस पथ का अनुसरण करना था उसे एक-दम छोड़ अनभीष्ट दिशा की ओर भटक पड़ जाने के कारण, उस तथ्य को, उस सत्य को और उस अमृत को पान में नितान्त ही असमर्थ रह गये जिनको हमारे महर्षियों ने अपने छन्दोमय सूक्तमय संहितामय ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषन्मय नानाविध के पात्रों में छलछलाकर भर दिया था।

दूसरी विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इतने विस्तृत युगों के इतनी महती संख्या के विद्वानों के द्वारा एड़ी से चोटी का बल लगाकर इतना अथाह परिश्रम कर लेने पर भी (उन्हीं ने) स्थल-स्थल पर यह लिख दिया है कि इस शब्द का, इस वाक्य का, इस पद का, इस सूक्त का, इस देवता का हमें समुचित ज्ञान नहीं हो सका। ऐसे स्थल, ऐसे विषय एक-दो नहीं सहस्रों हैं। और जिनका ये ज्ञान हो गया है कहते या समझते हैं, वह कैसा हुआ है, यह भी अब किसी से छिपा नहीं रह गया होगा। हां, जिसे ये हम समझ गये हैं, कह रहे हैं उसे भी वैसा ही जबरदस्ती घटित करके समझा है जैसा 'यज्ञाद्भवतिपर्जन्यः' के अर्थ को द्रव्ययज्ञ परक व्याख्या में घटित करने का उपहासास्पद प्रयास किया जाता है; (सूत्र ३४ से ३८ देखें पीछे) और वैदिक ऋषियों का मुख्य लक्ष्य तो सृष्टि-यज्ञ और अतिसृष्टि का उद्घाटन करना था, इनके विवेचन के क्रम में कई ऐसी बातें आगई हैं, और अवश्य ही आनी चाहिए भी जिन्हें हम द्रव्ययज्ञ में किसी प्रकार घटित नहीं कर सकते। अतः ये इनकी समझ में नहीं आये, क्योंकि इनकी आँखों में लौकिक संस्कृत के अर्थ का और प्राकृतेय पदार्थो सिद्धान्त का ग्रहण लगा हुआ रहा, अतः ठगे रह गये और जो वेदों का अमृतमय सत्य था वह जहां का तहां ही रह गया, और ये लोग अपनी ऐसी विस्तृत व्याख्या रूप हिरण्मय पात्रों को उसके ऊपर दिनों दिन एक के ऊपर दूसरे को परतों की तरह रखते हुए उसे रसातल तक की गहराई में पहुँचाकर ढकते-ढकते गये, ढकते ही गये। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द से लेकर मधुसूदन ओझा और उनके

चेले-चाटियों तक सभी कट्टर आर्यसमाजियों की कृतियां सबसे खतरनाक ढक्कन हैं। इनके समझे सुधार रूप विचार नासमझी की पराकाष्ठा होने से विचारणीय तक नहीं हैं। इसीलिए कोई समझदार इनकी ओर झांकता भी नहीं।

अतः वेद भगवान् के ऐसे गूढ रहस्यों के अनावरण का समस्त भार उसी के प्रसिद्ध देवता भगवान् ईश ईशान नामक कपर्दी पूषा के ही ऊपर छोड़ कर उससे ईशावास्योपनिषद् की तरह यह प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा चारा ही नहीं है कि "हे पूषन्! हे वेदभगवान् ग्रन्थ! तुम्हीं अपने ऊपर लगे इन अनन्त तहों के ढक्कनों को महाविस्फोट से उड़ाकर अपने सत्य रूप दर्शन का दर्शन देने के लिए हमारे ऊपर महती कृपा करो।"

इसीलिए सभी विषयों के विद्वानों से—चाहे वे प्रगतिशील विचारों से सम्पन्न हों या प्राचीन पद्धति के अनुयायी, किसी भी अर्वाचीन विचारधारा के हों या सनातनी, भारतीय हों या अन्य देशी—पुनः-पुनः नम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ में संकलित, परम्परा श्रुतिस्मृति पुराणोक्त प्रमाणों से सर्वतः पुष्ट विषय का अध्ययन, अपने-अपने आरूढ पूर्व संस्कारों से तटस्थ होकर, निष्पक्ष, निरपेक्ष रूप से करके, युगों-युगों से खोई हुई अपनी अमूल्य सम्पत्ति रूप इस सत्य और वास्तविक दर्शन का—जिसका हम सभी को गर्व और गौरव प्राप्त है—पुनर्नवोत्थान और जीर्णोद्धार करने की महती कृपा करें।

अन्त में उसी अखिल ब्रह्माण्डीय अन्तरात्मा रूप पूषा नामक अग्नि से पुनः प्रार्थना है :—"हे देवताओं के अग्रणी! अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की अन्त-रात्मन् अग्ने! उठो! जाग जाओ! कब तक सुसुप्ति में रहोगे? हम सबको उस अमृतमय सोमज्योतिर्मय धन के उत्स के पास ले जाने के लिए सन्मति रूप सन्मार्ग से, विवेक से, ज्ञान से लेते चलो। तुम तो स्वयं ज्ञानमय, ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, शुद्ध, नित्य बुद्ध, प्रबुद्ध, ससंज्ञ, सचेतन हो, हमें भी अपने इन्हीं सब लक्षणों से विभूषित करके ऐसा बनाओ जिससे हम सब सदा ही सभी सत्कर्मों में ही प्रवृत्त होवें; और इस पर भी जो कोई भी पापाचारविचारादिक हमको इस पथ और कार्य में निरत रहने में बाधक, घातक हो या वर्गलाने की चेष्टा करने आवे उससे भी तुम अपने सम्पूर्ण बल से लड़ो, उसे परास्त करो, निरस्त करो; जिसकी कृतज्ञता में हम सब और हमारे सब प्राण तुम्हारी प्रार्थना पहले से भी और अधिक मन लगाकर और अधिक मात्रा में करने को स्वयं विवश से रहें॥ सबको सन्मति दे भगवान्॥ क्योंकि हमारी जितनी भी अज्ञान, भ्रम और मोहकारिणी शत्रुरूपिणी बुद्धियां हैं, उन सबका सर्वथा

विनाश के लिए तथा जितनी ज्ञानज्योतियों को उद्दीप्त करने वाली मित्ररूप मतियां या बुद्धियाँ हैं उनके चन्द्रोदय के लिए ही जो सद्भावना की बलवती प्रेरणा जागृत होकर प्रदीप्त हुई उसी की दिव्य ज्योति का प्रकाशपुञ्जरूप यह ग्रन्थ-दीपक आपके सामने प्रस्तुत है ।

"शत्रुणां बुद्धिनाशाय मित्राणामुदयस्तव ।"

क्योंकि उस अमृतमय ज्ञान की प्राप्ति का दूसरा मार्ग है ही नहीं ।

अध्याय २ पाद १

वेदों में योग के पारिभाषिक पद, सामग्री और प्रमाण

(१) अथातो नानायोगा यत्रोत्तरार्द्धः पूर्वार्द्धः पूर्वार्द्धश्चोत्तरार्द्धः ।

(२) योगश्च पुरुषस्य त्रिपादामृतस्याविष्कारो ज्योतेः ।

(३) आत्मा घृतं शरीरं पात्रम् ।

(४) अङ्गानि च वर्तिका तान्येवाध्यात्मम् ।

(५) तानि द्विविधाः प्राणास्ते च ब्रह्माणि ।

(६) प्राणोदानव्यानापानसमानाः प्राणाः ।

(७) वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं मनस्त्वक् प्रभृतीनिच प्राणा एव ।

(८) अन्नं सप्तान्नं भूतानि धियो वाचो गिरो गौर्गाविश्चर्षणयो मतयः कराः पाणयो वह्नयो ब्रह्म ब्रह्माणि यज्ञो मेधा मेधमङ्गिरोऽङ्गिरसो गातारो ध्यातारः स्तोतारो धातारो विराजमाना ऋत्विजोऽनुष्ठातारो यजमाना आत्मा प्रभृतीनि च नामानि वैतेषां प्राणानामेव वेदेषु ।

(९) प्राणश्चाक्षुषः पार्थिवोऽपानो मध्ये समानो वायु व्यानस्तेज उदानः (प्रश्न. उप. ३) ।

(१०) प्राणश्चक्षुषि द्यवि चादित्ये च ।

(११) व्यानः श्रोत्रे चन्द्रमसि दिक्षु च ।

(१२) अपानो वाचि पृथिव्यामग्नौ च ।

(१३) समानो मनसि पर्जन्ये विद्युति च ।

(१४) उदानो वायौ त्वचि वाकाशे च ।

(१५) अथाधिदैवतम् ।

(१६) प्राणस्य वायुर्वाचोऽग्निश्चक्षोः सूर्योमनसश्चन्द्रमा श्रोत्रयोर्दिशश्चात्मानो-देवाश्च ।

(१७) प्राणा वै मर्त्या देवाश्चामृताः ।

अब वेदों में प्राप्त नाना योगों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है । इस योगप्रक्रिया में जिसे सृष्टिप्रक्रिया में पूर्वार्द्ध कहते हैं उसे उत्तरार्द्ध, और उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध कहते हैं । पुरुष की सर्वाङ्गीण त्रिपादामृत ज्योति की अनुभूति या साक्षात्कार का नाम योग है । इस ज्योति का घृत आत्मा है, शरीर

दीपक-सा पात्र है, और अङ्ग या पञ्चात्मायें जिन्हें अध्यात्म या प्राण कहते हैं वे सब वर्तिकायें हैं। इन अङ्गों या आत्माओं को दो प्रकार के प्राणों के नाम से पुकारा जाता है और इन्हीं को वेदों में 'ब्रह्माणि' (अकृण्वत) इत्यादि नाम से वाक्यों से पुकारा भी गया है जिसका अर्थ लोगों ने ऋचा या मंत्र मात्र लगा लिया है। प्रथम प्रकार के प्राण—प्राण, उदान, व्यान, अपान और समान हैं। द्वितीय प्रकार के प्राण— वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, त्वक्(मज्जा, अस्थि, हस्त, पाद, शिरः, मुख, जिह्वा, नाभि, हृदय) इत्यादि हैं। वेदों में इनको धी धियः वाचः, गिर, गौ, गावः, चर्षणि, चर्षणी, मति, मतयः, करा, पाणयः, वह्नयः, ब्रह्म ब्रह्माणि, यज्ञं मेधा मेधं, अङ्गिरः अङ्गिरस, गातारः, ध्यातारः, स्तोतारः, धातारः, विराजमाना ऋत्विजा, अनुष्ठातारः, यजमानः, आत्मा इत्यादि अनेक नामों से पुकारा गया है। इन शब्दों के अर्थ वाले शब्द तथा इनके वे पारिभाषिक नाम जिन्हें आगे दिया जावेगा भी इनके संकेतक हैं।

पञ्चप्राणों में प्राण चाक्षुष पुरुष है, अपान पार्थिव या भौतिक, समान मध्यवर्ती, व्यान वायु और उदान तेज है। प्राण का निवास चक्षुः, द्यौ और आदित्य (सूर्य) में है, व्यान का श्रोत्र चन्द्रमा और दिशाओं में, अपान का वाक्, पृथिवी और अग्नि में, समान का मन पर्जन्य और विद्युत् में और उदान का त्वचा वायु और आकाश में।

अधिदैवत व्याख्या में प्राण का आत्मा या देवता वायु है, वाक् का अग्नि, मनः का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशायें और चक्षु का सूर्य। प्राण मर्त्य हैं पर देवता या आत्मा अमृत या अमर्त्य हैं। (१-१७)

(१८) यज्ञो वै द्विविधः सृष्टिरतिसृष्टिश्च।

(१९) नित्यैर्यदनित्यानन्त ब्रह्माण्ड रचना स यज्ञः सृष्टिः।

(२०) (क) यदनित्यैर्द्रव्यैः प्राणैर्नित्यानां देवानां सृष्टिरनुभूतिर्वा सातिसृष्टिः (कठ. बृह.)

(ख) ते (जरितारः) पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० वे० १-८९-९)

(ग) 'कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-१६४-१६)

(घ) 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ. वे. १-६९-१) 'त्वं पुत्रो भवसि यस्ते विधत् (ऋ. वे. २-१-९)

(२१) सर्वेषु वेदेषु वै अस्या अतिसृष्टेर्योगस्य रहस्यमोतं प्रोते च यन्नानुपश्यन्ति धीरा आधुनिकाः सर्वे तद्विषयः पीडाया ऋषीणां पूर्वेषाम्।

(२२) पदे पदे मंत्रे मंत्रे सूक्ते सूक्ते वेदानामर्थास्त्रिविधाः ।

(२३) ते च तपोयज्ञार्थः सृष्टेर्योगयज्ञार्थोऽतिसृष्टेर्द्रव्ययज्ञार्थः कर्मकाण्डस्य श्रोत्रियाणाम् ।

योग एक यज्ञ है, वह मुख्यतः दो प्रकार का है । जिसे क्रम से सृष्टि यज्ञ और योग या अतिसृष्टि यज्ञ कहते हैं । जिन ब्रह्मादि सूर्यादि नित्य तत्त्वों से अनित्य तत्त्वों का उत्तरोत्तर नाना विकास होता है उसे सृष्टि यज्ञ कहते हैं । परन्तु जिन अनित्य तत्त्वों से योग द्वारा नित्य तत्त्वों की सृष्टि करके अनुभूति की जाती है उसे अतिसृष्टि या योगयज्ञ कहते हैं । समस्त वैदिक वाङ्मय इन्हीं दो प्रकार के सृष्टि और अतिसृष्टि यज्ञों के वर्णन से ओतप्रोत है । खेद है, जिन्हें इनके अब तक के किसी भी भाष्यकार, अनुवादक या आलोचक ने नहीं समझ पाया है । अतः वे सब इनको पहेली समझ कर इनका अपना-अपना समझा असंगत अर्थ या व्याख्यान कर गये हैं । यह वैदिक ऋषियों को अतीव पीडा पहुंचाता होगा ।

वैदिक वाङ्मय के पद-पद में, मन्त्र-मन्त्र में और सूक्त-सूक्त में तीन अर्थों की त्रिवेणी या त्रिवृत् एकसाथ गुँथी मिलती है । वे हैं (१) ऋषिरूप तत्त्वों का तपोरूप यज्ञ जिसे सृष्टि यज्ञ कहते हैं जहाँ प्रायः ऐसा लिखा होता है 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत' इत्यादि ऐसे स्थलों में सर्वत्र इसी सृष्टि यज्ञ का स्पष्ट विवेचन दिया मिलता है । (२) इसके विपरीत, इसी की उलटी प्रक्रिया का तप या श्रमण अतिसृष्टि का विवेचन देता है जिसके कर्ता स्वयं वे ऋषि हैं जिन्होंने वैदिक वाङ्मय का निर्माण प्रतिमंत्र किया है । इस प्रकार के विवेचनों में उलटी सृष्टि होती है । जो सृष्टि-प्रक्रिया में पुत्र था वह अब पिता हो जाता है; क्योंकि यह पुत्र अपने पितारूप देवता की ज्योति को योग द्वारा उद्दीप्त करके उसे जन्म-सा देता है । अतः वह पुत्र ऋषि या कवि ही अपने पितारूप देवता का पिता बन जाता है, यह साकार सत्य है । इन दोनों को सदा अमर रखने के लिए (३) तीसरे प्रकार का बाह्य अभिनेय द्रव्य यज्ञ या पात्रादि के अवलम्बन या प्रक्रियाओं के आधार का कर्मकाण्डरूप यज्ञ है जिसका विवेचन या विधि-विधान सब उक्त दो प्रकार के यज्ञों की ही विशद व्याख्या दृश्य पट या मञ्च द्वारा सा प्रस्तुत करता है । ज्ञानी के ज्ञान की अभिज्ञता या कुशलता का प्रमाण इसी कर्मकाण्डीय यज्ञ विधानों को उक्त रूप से अच्छी तरह समझ सकने पर ही उपलब्ध हो सकेगा (१८-२३) ।

(२४) महर्षिभिर्वैदिकैर्योगिन दृष्टमनुभूतं च देवतत्त्वं साक्षाद्धस्तामलकवद्यथा चोक्तम् तैः—

(२५) 'को ददर्श प्रथमं जायमानं' (ऋ वे. १-१६४-४) 'अपश्यं गोपामनिपद्यमानं' (१-१६४-३१)

'अपश्यं ग्रामं वहमानम् (ऋ. वे. १०-२७-१९) 'नराशंसं सुधृष्टमपश्यं सप्रथस्तमं' [ऋ. वे. १-१८-८२)

'अपश्यं त्वा चेकितानम्' (ऋ. वे. १०-१८३-१) 'अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानाम्' (ऋ. १०-१८-२)

'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' (ऋ. वे. १-१६४-१)

"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं जनिमानि विश्वाः ।
शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ।।" (ऋ. वे. ४-२७-१)

'गर्भं एतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' (ऐ. उप. २; बृह. उप. २-५-७)
अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिता भूत् । अहं सूर्यमुभयतो-ददर्शाहं देवानां परमं गुहायत्' (यजुः ८-९)

एवं ऋग्वेदे ४-२६, ४-४२, १०-४८, १०-४९, १०-१२५, १०-१४५ सूक्तेषु च द्रष्टव्यम् ।

(२६) एतेषां त्रिविधानां यज्ञानां पारिभाषिका पदावली समानैव यथा—

(२७) होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणः प्रयाजानुयाजोपयाजाश्च क्रमशोगणशश्चतुर्णमिकादशानां च ।

(२८) होता प्रशस्ता वा समस्ता वा मैत्रावरुणो वा अच्छावाग् ग्रावस्तु द्ग्रावग्राभो वा चत्वारो होतारो होतृगणस्यर्ग्वेदिनाम् ।

(२९) अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नेता चाध्वर्यवोऽध्वर्युगणस्य यजुर्वेदिनाम् ।

(३०) उद्गाता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यं चोद्गातार उद्गातृगणस्य सामगानाम् ।

(३१) (क) ब्रह्माब्रह्मणाच्छंष्शी चाग्नीध्रोवाग्नीद्वाग्निमीधो वा पोता च ब्रह्मणो ब्रह्मगणस्याथर्वणाम् ।

(३१) (ख) उपलब्धान्येवैतेषां नामान्यर्ग्वेदादिषु निम्न स्थलेषु—

होताध्वर्युरवयाजः प्रतिप्रस्थाता वाऽग्निमीधोऽग्नीध्रोवर्ग्वेदे १०-६१, १-९४-६, १-१५-२, ३, २-५-९, १०-९१-१०, १-१०-१ मंत्रेषु; ग्राव ग्राभो ग्रावस्तुद्वा समस्ता मैत्रावरुणः प्रभृतीनि चर्ग्वेदे यथा 'मोषु ब्रह्मेव तन्द्रायुर्भव' (८-९२-३०), तस्य ब्रह्मोद्यज्ञातृत्वं "१०-८५-३, १६, ३५, ३६; १०-७१-११, १०-११७-८" स्थलेषु, 'अग्निर्वै ब्रह्मा' १०-१४३-३ मंत्रे, अङ्गिरसो वै ब्रह्मा ७-७-५ मंत्रे, तेषां संख्या च 'अध्वर्युभिः' पञ्चभिः' ३-७-५

मंत्रे, होतुर्नाम तु शतशआयातमेव यथा सप्त होतॄणां' 'सप्तहोतारः' 'सप्तहोता'; केषुचित्स्थलेषु होतु नाम वै शंसः शंस्यं वा (१-१५-७), १-१० सूक्ते होतारो वै अर्किणः उद्गातारश्च गायत्रिणः, १-१०-१ मंत्रे 'ब्रह्माणः' शब्द ब्रह्मणोऽर्थे बृहस्पतिर्वै ब्रह्मा १०-८५-३, १६, ३५, ३६ मंत्रेषु, सप्तहोतॄणां नामानि च काक्षीवतो नाभानेदिष्टस्य १०-६१, १०-६२, १-१८-१, २, १-५१-१३, १-११६-७, १-११७-६; ४-२६-१ सूक्तेषु मंत्रेषु च, ऋतुयाजादीनां २-१५, २-२७ सूक्तयोः, अग्नीध्राऽस्तुश्रौषट् होता यक्षतां, १-१३९-१० मंत्रे 'प्रेदं ब्रह्मेति' निविदा वै वैश्वदेव शस्त्रं ४-१८-१७, १-९६-२, १-८९-३, ४ मंत्रेषु, निगदाश्च १-५१-६३ मंत्रादिषु ।

(३२) देवाश्च प्राणाश्चैव होत्रादयः सृष्टेरतिसृष्टेश्चानुलोमविलोम क्रियाभिः ।

(३२) एषां चत्वारो होतारो होतृगणस्य वै होत्रकाः ।

(३३) पोतानेष्टाग्नीध्रस्त्रयो होत्राशंसिनः ।

(३४) ते वै 'सप्तहोतारो दैव्याः' 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता' वा ।

(३५) अर्किणो गायत्रिणश्चोद्गातारो ये वा स्तोतारो ध्यातारो वा स्तोमिनो वा ।

वैदिक महर्षियों ने प्रत्येक देवता तत्त्व तथा सृष्टि और अतिसृष्टि के तत्त्वों को साक्षात् हस्तामलकवत् देखा था या अनुभूत किया था, यह वे प्रायः छिपाकर नहीं रख गये। वे बार-बार याद दिलाते हुए से निम्न वाक्यों को उगल गये हैं जिनके आधार पर उन्हें 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' या मन्त्ररूप यन्त्ररूप उक्त दो प्रकार की यज्ञयोग प्रक्रियाओं की उन्हें साक्षात् अनुभूति होती रही, यह आज तक सभी मानते आ रहे हैं। उन ऋषियों में से प्रायः सभी लिख गये हैं—(१) कि मैंने उस अनश्वर पञ्च पञ्च प्राण रूप गायों के स्वामी को साक्षात्करके देखा है। (२) मैंने प्राणों के ग्राम या समूह को अपने में ढोते उस पुरुष को देखा है। (३) मैंने तुमको अपने मन से ज्ञान करते या अनुभूति लेते साक्षात् देखा है। (४) मैंने प्राणों की समाधि में मन के द्वारा तुम्हें साक्षात् देखा है। (५) मैंने उस वाम या वामन पुरुष के चतुष्पाद स्वरूप में उस सप्त भौतिकात्मीय प्रजारूप प्राणों से युक्त प्रजापति को साक्षात् देखा है—इसी प्रकार ऋ. वे. १-१८-९, ४-२७-१, ४-२६, ४-४२, १०-४८, १०-४९, १०-१२-४; १०-१४५ (बृ० उप २-५-) और यजु ८-९ प्रभृति मंत्रों को देखें। वामदेवजी ने भी कहा है "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वाः। शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥" (ऋ. वे.) गर्भ एतच्छयानो वामदेव

एवमुवाच ।।" (ऐ. उप. २–) कि मैंने गर्भ में रहते हुए अपने को लोहे के सैकड़ों सीकचों से बनी पुरी में बन्द-सा पाया और वहां से बाज की तरह झपट कर बाहर निकल आया। यह वामदेव ऋषिरूप 'वाक्' नामक प्राण तत्त्व है जिसका नाम 'अस्य वामीय' सूक्त में दो बार 'वामस्य' रूप में (१,७) आया है, दूसरे स्थान में इसे पक्षी या महासुपर्ण भी कहा है जिसका संकेत उक्त ऋचा श्येन नाम से दे रही है।

वैदिक ऋषियों की सबसे बड़ी चातुरी इसमें है कि उन्होंने अपने मंत्रों में निहित उक्त तीन प्रकार के मुख्य यज्ञार्थों की संकेतक पदावली एक ही बना दी। इस पारिभाषिक पदावली की एकता ने उत्तरकालीन आचार्यों या भाष्य, टीका, अनुवाद, समालोचना के लेखकों की आँखों में धूल झोंक देने का-सा बड़ा सफल प्रयास कर दिया। ऐसे लेखक ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के इस पारिभाषिक पदावली के त्रिविध व्याख्यान को पढ़कर भी बिना समझे ही या बिना पढ़कर ही वेदों या उपनिषदों की व्याख्या करने के लिए टूट पड़े। उधर स्वयं वेदमंत्रों में उक्त पदावली की सर्वत्र दी हुई त्रिविध प्रयोग की दुहाई को भी पढ़ने या समझने का इन्हें सौभाग्य न मिला तो यह वेदों का तो नहीं, इन्हीं का तथा इनके अनुयायियों का दुर्भाग्य कहा जा सकता है। क्योंकि वेद तो अब भी—जितने सुरक्षित हैं—वैसे ही अक्षुण्ण और अपने त्रिविध अर्थ की हीरकमाला की ज्योतियों से वैसे के वैसे ही चमक रहे हैं, कोई न देख या पहिचान सके तो वेदों का क्या दोष ?

वास्तविक वेदार्थ-प्रकाशिका त्रिविधार्थ धारिणी पदावली निम्नलिखित है। यह पदावली प्रत्येक यज्ञ में भिन्न-भिन्न तत्त्वों या वस्तुओं का संकेत करती है। प्रत्येक यज्ञ के कर्मचारी चार गणों में विभक्त किए जाते हैं। उन गणों के नाम (१) ब्रह्मगण, (२) होतृगण, (३) अध्वर्युगण और (४) उद्गातृगण हैं। अथवा इनके केवल तीन ही विभाग किए जाते हैं जिन्हें (१) प्रयाजा, (२) अनुयाजा और (३) उपयाजा कहते हैं। प्रथम विभाजन में प्रत्येक गण में चार-चार कर्मचारी या ऋत्विज (जरितार, बाधतः) होते हैं द्वितीय में ११, ११। प्रथम विभाजन प्राणमय ऋषिमय तत्त्वों के विषय से संबंध रखता है तो द्वितीय ३३ देवताओं के विभाजनीय विकास या वियोग और योग से। प्रथम विभाजन के गणों के ऋत्विजों के नाम इस प्रकार हैं।

१–ऋग्वेदी होतृगण—(१) होता, (२) प्रशस्ता या समस्ता या मैत्रावरुण, (३) अच्छावाक् और (४) ग्रावस्तुत् या ग्रावग्राभ।

२-यजुर्वेदी अध्वर्युगण—(१) अध्वर्यु, (२) प्रतिप्रस्थाता, (३) नेष्टा और (४) उन्नेता ।

३—सामवेदी उद्‌गातृगण—(१) उद्‌गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्ता और (४) सुब्रह्मण्यम् ।

४-अथर्ववेदी ब्रह्मगण—(१) ब्रह्मा, (२) ब्राह्मणाच्छंशी (३) अग्नीध्र या औद् या अग्निमीध और (४) पोता

ऋग्वेद में इनके नाम जिन जिन स्थलों में उपलब्ध हैं उनकी सूची सूत्रों के साथ दे दी है, देखें ।

यज्ञ या सृष्टि और अतिसृष्टि से देवता या पुराणरूप ऋषितत्त्व ही होत्रादि होते हैं। इनकी प्रक्रियायें मात्र एक दूसरे के विलोमगामिनी और विलोम-परिणामिनी होती हैं। इनमें से होतृगण के चार ऋत्विजों को होत्रका कहते हैं। नेष्टा, अग्नीध और पोता इन तीनों को होत्राशंसिनः (होत्राशंसी) कहते हैं। दोनों वर्गों के ये सातों ऋत्विज 'सप्तहोता' या 'सप्तहोतरः' या 'सप्तहोतारो दैव्याः' कहलाते हैं। अर्किणः नाम 'गायत्रिणः' का है। गायत्रिणः नाम गायत्री छन्द के मन्त्रों के साम को गाने वालों का है। इन्हें उद्‌गातार, स्तोतारः, ध्यातारः या स्तोमिनः भी कहते हैं। (२४-३५)

(३६) प्राणाश्च द्विविधाः पञ्चपञ्चाध्वर्यवः पृथक् पृथक् ।

(३७) सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः सर्वाणि तत्त्वानि चर्त्विजा ब्रह्माण्येव वा पृथक् पृथक् योगे ।

(३८) सोमाभिषवनेऽनुभूतौ चाग्निर्होता आदित्योऽध्वर्युश्चन्द्रमाब्रह्मा पर्जन्य उद्गाता आपो होत्राच्छंशी रश्मिश्चमसाध्वर्युः ।

(३९) "वाग्यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽग्निः स होता" ।

(४०) "चक्षुर्वैयज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोवसावादित्यः सोध्वर्युः" ।

(४१) "प्राणो वै यज्ञस्य उद्‌गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्‌गाता" ।

(४२) "मनो वै यज्ञस्थ ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा" । (बृ० उ०)

(४३) "योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि सोऽहमेवाहं जुहोमि"। (नारा० उप०)

(४४) "अहं वाव सृष्टिरस्म्यहं हीदं सर्वं ततः सृष्टिरभवद्भौतिकी" ।

(४५) "पुरुषो वै अहं स्ततः प्रजापतिश्चाहंनामा तौ द्वौ पूर्वार्द्धपरार्द्धौ" ।

(बृ० उ० १·४-५-५)

(४६) अह्नो वै अहम् तौ द्वौ वै द्वे प्रतिष्ठे ।

(४७) यद्वहंनाम्नी सृष्टि स्ततो "ऽथाहंकारादेशः" । (छा० उप० ७-२५)

(४८) "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् यदिदं किञ्च"। (छा० उप० ७-२५)

(४९) "तदहममुमहमेव सर्वं जुहोमीति विश्वकर्मा प्रजापतिवत्" ।

प्राण दो प्रकार के हैं। प्रथम प्रकार के प्राणों को—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान कहते हैं। इनका विवेचन पञ्चपशव'—पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि, और अजा रूप में किया जाता है। दूसरे प्रकार के प्राणों को—वाक्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रम् प्राणः कहते हैं। इनका वर्णन वाचः, गावः, गिरः, धियः, मतयः प्रभृति नामों से किया जाता है। प्रथम प्रकार के पञ्चपशुओं में वाक् और मनः को जोड़कर, सप्ताश्व, सप्तरथ आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब शरीर-रूप हैं, वाहन हैं, आसन हैं, वस्त्र हैं, सूत्र हैं, आपोमय हैं, अन्नमय हैं, अदितिमय हैं, मनोमय हैं, यशः, श्रवः, धनं, रायः हैं। इन्हीं की आहुतियां दी जाती हैं, इन्हीं को दीप्त-उदीप्त किया जाता है। वेदों में इन्हीं का व्याख्यान अधिक आता है। इन दोनों प्रकार के पांच-पांच प्रकार के जोड़ों को पञ्च-अध्वर्यु नाम से भी पुकारा जाता है या पञ्च-ऋत्विज या जरितारः कहा जाता है। ये ही उक्त चार प्रकार के होतृगण, अध्वर्युगण, उद्गातागण और ब्रह्मगण का कार्य करते हैं। इन ऋत्विजों का मुख्य कार्य अपने-अपने देवता की दीप्ति करना होता है। सबके देवता दीप्त होते ही समाधियोगयज्ञ को प्रस्तुत करके इनके शरीरोद्दीप्त सोम का पान करने लगते हैं। यही वैदिकों का वास्तविक सोमपान है। वेदों में जब बारंबार यह कहा जाता है कि ये या यह सोम प्रस्तुत है तब इन्हीं द्विविध प्राणों की ऐसी ही योगसमाधिरूप स्थिति का संकेत किया हुआ समझना ही वेदों को उचित रूप से समझना कहला सकता है। साथ में जब यह कहा हुआ मिलता है कि 'ब्रह्माणि कृणुत या अकृणुत' इत्यादि तब 'इन्हीं प्राणों की ऐसी योगसमाधि स्थिति की गई है' यह समझना भी साथ में नहीं भूलना चाहिए। प्रत्येक तत्त्व या देवता या प्राण एक-एक ब्रह्म है। ये सब ब्रह्म ही मिलकर एक अखण्ड ब्रह्मज्योति को जगाते या जलाते हैं। ब्रह्म माने ऐसे स्थलों में मंत्र छन्दः कहना केवल कर्मकाण्डीय यज्ञ में ही घटित होता है; इस रहस्यार्थ या वास्तविक अर्थ में कदापि नहीं।

कर्मकाण्डी ऋत्विज जिस अभिनेय सोमयाग को यज्ञानुष्ठान रूप में, नाटक रूप में अभिनीत करते हैं, वह वास्तव में उक्त प्राणरूप ऋत्विजों का प्रात्यक्षिक प्रतिनिधित्व करके इन अप्रत्यक्ष प्राणरूप ऋत्विजों की आभ्यन्तर योगमय प्रक्रिया का ही प्रदर्शन करते हैं। जिनका ये इस प्रकार अभिनय या प्रतिनिधित्व करते हैं उनका विवेचन इन्हीं कर्मकाण्ड की विधियों में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है :—कि सोमाभिषव याग या सोमानुभूतिक आभ्यन्तर यज्ञ में—अग्नि ही होता है, आदित्य अध्वर्यु है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, पर्जन्य उद्गाता है,

आपः ब्राह्मणाच्छंशी है तथा रश्मियां (आभ्यन्तर प्रकाश की झिलमिलाती चिनगारियां) ही चमसाध्वर्यु हैं।

अथवा—वाक् ही (योग) यज्ञ का 'होता' है जो यह वाक् है वही अग्नि भी है, वही अग्नि 'होता' है। चक्षु ही इस यज्ञ का अध्वर्यु है, जिसे यहाँ चक्षु कहा है वही आदित्य है, वही अध्वर्यु है। प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है जिसे यहां प्राण कहा है उसे ही वायुः कहते हैं, वही यज्ञ का उद्गाता है। मनः ही यज्ञ का ब्रह्मा है, जिसे यहां मनः नाम से पुकारा गया है वही चन्द्रमा है, वही इस आभ्यन्तर (योग) यज्ञ का ब्रह्मा है। जो मैं हूँ वह ब्रह्म ही हूँ, मैं अपने में अपना ही हवन करता हूँ। 'मैं' या 'अहं' नाम सृष्टि का है। 'मैं' या 'अहं' ही अखिल सृष्टि है। इसी 'अहं' से अखिल भौतिक सृष्टि विकसित हुई है। पूर्वार्द्ध की सृष्टि का नाम 'अहः' या प्रकाशमय, ज्योतिर्मय, अमृतमय सृष्टि है उसी से प्रजापति नामक 'अहं' सृष्टि उत्पन्न हुई जिसने पूर्वार्द्ध को परार्द्ध या भौतिकी सृष्टि में परिणत या विकसित कर दिया। अतः 'अहन्' या 'अहः' या 'अह्नः' (दिन या प्रकाशरूप पूर्वार्द्धीय) सृष्टि से इस 'अहम्' या 'मैं' नामक अहंकारात्मक भौतिक सृष्टि प्रादुर्भूत हुई। ये दोनों 'अहः' और 'अहं' इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की 'द्वे प्रतिष्ठे' या 'दो मूल आधार' भूततत्त्व हैं। जिसे 'अहं' नाम की सृष्टि कहते हैं उसी से अहंकार का आदेश या यह 'मैं हूँ' इत्यादि की भावना जागृत हो जाती है। उस अवस्था में वह पूर्वार्द्धीय अमृतमय ज्ञानचेतना प्रकाशमय 'अहः' नामक सृष्टि को तादात्म्य रूप से या सायुज्य रूप से जब योगी अपनी 'अहं' नामक आत्मा में आत्मस्थ या ऐक्य की अनुभूति करता है तब उसे यह भान या प्रतीति या अनुभूति होती है कि "मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पश्चिम में हूँ, मैं ही पूर्व में हूँ, मैं ही उत्तर में हूँ, मैं ही दक्षिण में हूँ, मैं ही जो कुछ भी है वह सब कुछ हूँ", इत्यादि। और वह सृष्टि विकासकाल में अपने को अपने में ही सम्पूर्णरूप से आहुतिरूप में समर्पित कर देता है। 'अहं' की आहुति 'अहः' रूप में दी जाती है, तब नये-नये अग्रिम विकास क्रमशः होते चलते हैं। यही कार्य विश्वकर्मा भौवन नामक प्रजापति या ऋषि ने सृष्टि संचालन के लिये किया था (३६-४९)।

(५०) आहुतिर्वै आह्वानमुद्गानं स्तवनं गायनं ध्यानं प्राणानां भूतानामात्मनां वा।

(५१) यज्ञोऽयं योगस्य च बहुधा साध्यः।

(५२) त्रयो वै अग्नयो ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निश्च। ये च क्रमेण शुभाशुभविवेकं, रूपाणां दर्शनं खाद्यपीतादीनां पाचनं च कुर्वन्ति।

(५३) त्रीणि च स्थानानि भवन्ति मुखे आवहनीय उदरे गार्हपत्यो हृदि दक्षिणाग्निः ।

(५४) तत्रात्मा यजमानो, मनोब्रह्मा, लोभादयः पशवो, धृतिर्दीक्षा सन्तोषश्च बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेन्द्रियाणि, शिरः कपालं केशा दर्भा मुखमन्तर्वेदिश्च । (गर्भ० उप० १-५)

(५५) यद्वा चत्त्वारोऽग्नयः ।

(५६) "तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्ररश्मि परिवृत एकर्षिभूत्वा मूर्द्धनि तिष्ठति, स च दर्शनाग्निर्नाम तस्मात्" ।

(५७) "चतुराकृति राहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति स च-शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति" ।

(५८) "अर्द्धचन्द्राकृति दक्षिणाग्निभूत्वा हृदये तिष्ठति"

(५९) कोष्ठाग्निर्नामाशितपीत लीढ खादितानि सम्यक् व्यष्ट्यां श्रपयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति" । (प्राणाग्निहोत्र उप०)

वेदों में इस 'आहुति' का संकेत 'आह्वान' उद्गान, स्तवन, गायन, ध्यान, शब्दों से किया गया है, जिनके कर्ताओं को पञ्च-पञ्च प्राणभूत या आत्माओं के नाम से निर्दिष्ट किया गया है, यद्यपि धरातलीय अभिधामूलक पदों में काव्यकर्ता ऋषि और उनकी वाणी मंत्र ही सामने प्रतीत होते हैं पर उनका वास्तविक रहस्य यही है, वह इस वातावरणीय विश्लेषण से दूसरा हो ही नहीं सकता ।

जिस प्रकार के यज्ञ का विवेचन यहां पर किया जा रहा है वह एक प्रकार का नहीं वरन् अनेक प्रकार का है । जैसे कहीं पर तीन ही—अग्नियों को मानकर यज्ञ का विवेचन दिया जाता है । उन तीन अग्नियों के नाम ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि हैं । दर्शनाग्नि रूपों का दर्शन कराती है । ज्ञानाग्नि शुभाशुभ का विवेक करती है, कोष्ठाग्नि-पाचनादि क्रिया करती है । इनके तीन स्थान हैं, मुख में आहवनीय अग्नि का निवास है, उदर में गार्हपत्य अग्नि का और हृदय में दक्षिणाग्नि का । इन अग्नियों के यज्ञ में आत्मा ही यजमान है, मन ही ब्रह्मा है, लोभादि पशु हैं, धृति और सन्तोष दीक्षा हैं, बुद्धीन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियां ही हवियाँ हैं, शिर ही कपाल है, केश ही कुश हैं और मुख ही अन्तर्वेदी है ।

अथवा चार अग्नियां मानी जाती हैं । इनमें प्रथम अग्नि सूर्याग्नि है, वह सूर्यमण्डल की आकृति की, सहस्ररश्मि वाली एक ऋषिरूप में शिर में अधिष्ठित रहती है । इसी का नाम दर्शनाग्नि है । आहवनीय नामक अग्नि चतुर्मुखी

होकर मुख में निवास करती है। वही शारीराग्नि बनकर जरा पाचनदि क्रिया करती हुई दत्त या आदत्त हवियों का आदान-प्रदान करती रहती है। दक्षिणाग्नि अर्धचन्द्राकृति के रूप की है और इस रूप में वह हृदय में रहती है। कोष्ठाग्नि को ही गार्हपत्य अग्नि कहते हैं। यह खाये, पिये, चूसे, चाटे, निगले वस्तुओं या पदार्थों को व्यष्टि और समष्टिरूप में पचाती हुई नाभिदेश में निवास करती है (५०-५९)।

(६०) अथ शारीरो योगस्य महायज्ञः।
(६१) अत्र यूपरशना शोभितस्यात्मा यजमानो, बुद्धिः पत्नी, वेदा महर्त्विजः।
(६२) अहंकारोऽध्वर्युश्चित्तं होता, प्राणो ब्राह्मणाच्छंशी· व्यानः प्रस्तोताऽपानः प्रतिप्रस्थातोदान उद्‌गाता, समानो मैत्रावरुणः।
(६३) शरीरं वेदि, र्नासिकोत्तरवेदि, मूर्द्धा द्रोणकलशः।
(६४) पादो रथो, दक्षिणहस्तः स्रुवः, सव्यहस्त आज्यस्थाली।
(६५) श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारापोता।
(६६) तन्मात्राणि सदस्या महाभूतानि प्रयाजा भूतान्यनुयाजाः।
(६७) जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकौ तालुः शंयोर्वाकः।
(६८) स्मृतिर्दयाक्षान्तिरहिंसा पत्नी संयाजाः।

अब शारीर महायज्ञों का विवेचन दिया जाता है। इस यज्ञ में यूप की रस्सी से बंधे हुए पशु के समान आत्मा ही यजमान है, बुद्धि उसकी पत्नी है, वेदाः या ज्ञान ही उसके महाऋत्विज हैं, अहंकार उसका अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ही ब्राह्मणाच्छंशी है, व्यान प्रस्तोता है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, उदान उद्‌गाता है, समान मैत्रावरुण है। शरीर वेदि है, नासिका उत्तरवेदि है, शिर द्रोणकलश है, पाद रथ है, दक्षिण हाथ स्रुवा है, बायाँ हाथ आज्यस्थाली है, दो श्रोत्र दो आघारपात्र हैं, दो आँखें आज्यभाग हैं, ग्रीवा धारापोता है, तन्मात्रा सदस्य हैं, महाभूत प्रयाजा हैं, भूतात्मायें अनुयाजा हैं, जिह्वा इडा है, दांत और ओठ सूक्तवाक् हैं; तालु शंयोर्वाक् है और स्मृति, दया, क्षान्ति तथा अहिंसा पत्नी संयाजा हैं (६०-६८)।

(६९) अथवा ॐकारो यूप, आशा रशना मनो, रथः, कामः पशुः, केशा दर्भाः।
(७०) बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि।
(७१) अहिंसा इष्टयस्त्यागो दक्षिणाऽवभृथं च मरणात्तल्लीनात्।
(७२) सर्वाह्यास्मिन्देवताः शरीरेऽधि समाहिताः॥ (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्)

अथवा—ॐकार यूप है, आशा रस्सी है, मन रथ है, काम पशु है, केश कुश हैं, बुद्धीन्द्रियां यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियां हवियां है, अहिंसा इष्टियां हैं; त्याग

दक्षिणा है, अवभृथ तल्लीनता या मृत्यु है। इस प्रकार सभी देवता इसी शरीर में सन्निहित हैं (६९–७२)।

(७३) यद्वात्मा यजमानः श्रद्धापत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हि र्वेदः शिखा हृदयं यूपः कामः आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता।

(७४) दक्षिणा (भौतिकी) वाग्घोता प्राणा उद्गाता चक्षुरध्वयुर्मनो ब्रह्मा श्रोत्र-मग्नीद्।

(७५) यावद्ध्रियते सा दीक्षा यदश्नाति तद्धविर्यत्पिबति तदस्य सोमपानं यद्रमते तदुपसदो यत्संचरत्युपविशत्युत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्यो यन्मुखं तदाहवनीयो या व्याहृतिराहुतिः सा यदस्य विज्ञानं तज्जुहोतीत्यादि (प्राणाग्नि० उप०)

अथवा—आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर ईंधन है, उरः वेदि है, रोएँ कुश हैं, शिखा ही ज्ञान है, हृदय यूप है, काम ही घृत है, मन्यु पशु है, तपः ही अग्नि है, और दम शमयिता। इसमें दक्षिणा (भौतिकी) वाक् होता है, प्राण उद्गाता है, चक्षुः अध्वयु है, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र अग्नीध्र है। जो धारण किया जाता है वह दीक्षा है, जो खाता है, वह हविः है जो पीता है वह सोम-पान है, जो रमण करता है वही उपसद है, जो संचरण, उपचरण, विचरण करता है वही प्रवर्ग्य है, मुख ही आहवनीय है, व्याहृति (बोलना) आहुति है, जो इसका विज्ञान है वही हवन है। इन सब को देने का मुख्य प्रयोजन यह है कि वैदिक योग की परम्परा इन उपनिषदों के युग तक अक्षुण्ण धारा में बहती चली आती रही और यज्ञ के मुख्य कर्ता केवल उक्त देवता ही हैं, न कि मानव जाति के मनुष्य। समस्त वेदों में यही वातावरण सर्वत्र व्याप्त है, उसी के अनुशीलन की प्राथमिक आवश्यकता है (७३–७५)।

(७६) योगो वै उत्तरायणे गमनमतिसृष्टौ।

(७७) सृष्टौ तु दक्षिणायने गमनम्।

(७८) 'द्वे ते चक्रे' 'द्वे सृती अशृणुवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्'।
(ऋ. वे. १०-८५-१५ १०-८८-१५)

(७९) ते द्वे अरणी ययो'र्जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः'। (ऋ. वे. ३-१-२३)

(८०) "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्यानं निमर्थनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥" (बृह० श्वे० उप०)

(८१) "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥" (कठ. उप०)

(८२) "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेति तामाहुः परमां गतिम्॥ (बृह. उप.)

(८३) "शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासांमूर्धानमभिनिसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥" (छा. उप)
तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्तति: प्रतिशाखानाडी-सहस्राणि तासु व्यानश्चरति, अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकम् (प्रश्न)

(८४) "इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् । सत्त्वादधिमहानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥" (कठ०)

(८५) "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धे-रात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" (कठ०)

(८६) 'यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतति पुनस्तत्रैवायाति' सर्वं 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' (छा. उप.)

(८७) आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषियांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

(८८) ... ..."तद्विष्णोः परमं पदम्" (कठ.)
"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥
(ऋ. वे. १-२२-२०)

(८९) "ता वां वस्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥'
(ऋ. वे. १. १५४-६)

(अयासोऽयनाः ; तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं पराध्यंस्थ-मवभाति भूरि—निरुक्त—२-६)

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सहा बुद्धिश्च न विचेष्टेति तामाहुः परमां गतिम् (कठ. २-२)

(९०) तस्याग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(मुण्डक)

(९१) 'स जनास इन्द्र' ' इत्यषेद्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता (ऋ. वे. (ऋ. वे. २-१२-१) (नि० १०-१०)

योगप्रक्रिया में दक्षिणायनीय भौतिकात्मीय त्रिपञ्चकीय अन्धकारमय रात्रिरूप प्राणों के द्वारा उत्तरायणीय पूर्वार्द्धीय अमृतज्योतिर्मय लोक में जाना या अतिसृष्टि करना अर्थात् उन प्राणों में उनके देवतारूप ज्योतियों को अरणीयों से अग्नि को उद्दीपित करने के समान जागृत करना या उद्दीप्त करना पड़ता है। अतः इस योग (त्रिपञ्चक आत्माओं का संघर्षीय योग) को अतिसृष्टि या सृष्टिप्रक्रिया के विपरीत क्रम की सृष्टि कहते हैं। सृष्टिप्रक्रिया में इसके विपरीत उत्तरायण या पूर्वार्द्ध से दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध की ओर ही विकास चलता है। इन दो प्रकार की सृष्टियों को वैदिक ऋषियों ने द्वे स्रुति या द्वे चक्रे (दो मार्ग, दो अयन या दो चक्र) नामों से पुकारा है। इन दो चक्रों, पाटों या मार्गों को दो अरणियाँ समझिए। इन्हीं को देवमार्ग (उत्तरायण) तथा पितृ और मनुष्य (तत्त्वों) का मार्ग (दक्षिणायन) कहते हैं। इन दो अरणिरूप रूप दो मार्गों में जातवेदा नामक ज्ञान और चेतनामयी अग्नि जन्मजन्मान्तरों तक एक ही रूप में सदा विद्यमान रहती है।

योगी लोग दक्षिणायनीय भौतिकात्मीय आत्मा को अधरारणि और पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय ज्योतिरूप ओंकार नामक तत्त्व को उत्तरारणि बनाकर उन्हें ध्यानादि प्रक्रिया से निर्मथित करके उससे देव रूप ज्योति का विकास या अतिसृष्टि करके उसकी अनुभूति में नित्य मग्न रहते हैं। ध्यानादि प्रक्रिया में प्राण तत्त्व तो ऊपर की ओर और उसे अपान नीचे की ओर खींच कर ये दोनों देवासुरों के समुद्रमन्थन की प्रक्रिया को दुहराते हुए से मध्यस्थित समान रूप वामन की प्रादुर्भूति करके विश्वेदेवताओं की उपासना में लगा देते हैं। इस प्रक्रिया में नाडियों और कुण्डलिनी को स्ववश में लाना पड़ता है। हृदय में १०१ मुख्य नाड़ियां हैं, उनमें से एक कुटिलमुखी सुषुम्ना ऊर्ध्वगामिनी है, उसी के द्वारा प्राणापान के द्वन्द्व में जब प्राण विजयी होकर ऊर्ध्वगमन करने में समर्थ होता है तब वह अमृत तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है, अन्य नाडियां इसी की ज्योति से स्वयं जगमग सी हो जाती है। वैसे नाड़ियों की संख्या बहुत अधिक है। १०१ नाडियों में से प्रत्येक में ७२००० नाडियाँ हैं जो सब मिलकर ७२००७२० हो जाती हैं। इनमें मुख्यतः व्यान प्राण का संचार होता है। जिसके जैसे कर्म पुण्य, पाप, उभयात्मक-हों उसे वैसा ही लोक मिल सकता है। ऊर्ध्वगामी प्राण उदान या तेजः स्वरूपी होकर ऊर्ध्वगमन करता है। इस प्रकार जब पञ्चपञ्च त्रिविध प्राण निश्चल हो जाते हैं, मन भी अविचल हो जाता है, बुद्धि भी चेष्टाहीन हो जाती है, तब ऐसी स्थिति को 'स्थिरा धारणा' या 'परमगति कहते हैं।

इस 'परम गति' या 'स्थिरा धारणा' की प्राप्ति एकदम नहीं हो जाती। इनकी कई सीढ़ियाँ है। इन्द्रियों से मन परे है, मन से सत्व, सत्य से महत् नामक आत्मा; महत् आत्मा से अव्यक्त और उस अव्यक्त से पुरुष या त्रिपादामृत की ज्योति जिसका कोई लिङ्ग या रूप या शरीर नहीं होता। अथवा-इन्द्रियों से उनके अर्थ या गुण परे हैं, उनसे मन परे है, उससे बुद्धि परे है, बुद्धि से महत् आत्मा परे है, उससे अव्यक्त परे है, उससे परे पुरुष है। इससे आगे अनुभूतु होने योग्य कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं। अतः यही योग की पराकाष्ठा है, इसी को 'परागति' या 'परम गति' या 'स्थिरा धारणा' कहते हैं। ये सब तत्त्व मनोब्रह्माण्ड रूप हैं, इनका बन्धन उस पुरुष की डोरी से है, यह मन उस डोरी में एक पक्षी की तरह बँधा हुआ है, अतः इस मन को 'प्राण-बन्धनं हि मनः' कहा जाता है। मन रूप पक्षी इस डोरी से बंधा रहते हुए जहाँ जहां जाता हैं वह इसी रस्सी से बँधा हुआ सा जाता है, इधर उधर भटकने के पश्चात् वह पक्षी की तरह वहीं अपने निश्चित प्रबद्ध स्थल में आ जाता है।

हमारा यह शरीर एक रथ के समान है। आत्मा इस रथ का अधिष्ठाता स्वामी है, बुद्धि इस रथ का सारथि है। मन घोड़ों के मुख में बँधी लगाम या रस्सी है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन इन्द्रियों के जो विषय हैं उनका यह आत्मा मन के द्वारा उपभोग करता है, यह विचार औपनिषदिक ऋषि मनीषियों या योगियों का है। बड़े दु:ख के साथ लिखना पढ़ता है कि आधुनिक विद्वान् भोक्ता पुरुष को योग का पुरुष न समझ कर, सृष्टि विकास का मानकर, सांख्य योग का खण्डन करते हुए अपनी ऐसी बडीभारी भूल का प्रत्यक्ष उद्घाटन कर उपहासास्पद बनने का श्रेय लेते हैं। ध्यान रहे पुरुष या सोम का भोक्ता नाम इसी योग का अपना पृथक् नाम है। जब योगी सोम का पान करता है तो सोम भी उस योगी के आत्मेन्द्रियमन आदि का भोग करता है, यह भोग सब करते हैं, आत्मेन्द्रिय मन भी सोमपान की उन्मादकता रूप भोगपाये बिना नहीं रह सकते। इस उपभोगावस्था का ही नाम विष्णु का 'परमं पदं' या 'परा गति' कहा जाता है। ऋग्वेद के ऋषि-मुनियों ने भी इसी भाव को लिखा है कि मैं उस लोक के प्रासादों को प्राप्ति की कामना करता हूँ जहाँ पर प्राण रूप गायें अयनवृत्त के मध्यस्थल में अनेक शृंगों या किरणों से शोभायमान रहती हैं, जिसको प्रसिद्ध देवता विष्णु या आनन्दवर्षण शील देवता का अतीव विराज-मान परम पद कहते है। यह 'परम पद' परार्द्धच या यहाँ योग पक्ष होने से पूर्वार्द्ध के समीप का संकेतक है। ऋग्वेद १-२२-२०,२१ ने तो स्पष्ट लिखा है

कि इस परम पद को समिद्ध करने वाले, जागृत करने वाले योगी यति अपनी समाधि में वैसे ही स्पष्ट देखते हैं जैसे हम खुली आंखों से आकाश में ज्वलन्त सूर्य को देखते हैं। कठ उपनिषद् ने स्पष्ट कह दिया है कि परमपद या परमा गति नाम प्राणों की योग की वह स्थिति है जब सब प्राण स्थिर हो जावे, केवल आत्म दीप मात्र जलता रहे ।

उस योग यज्ञ पुरुष का शिर तो पूर्वार्द्ध रूप गायत्री का पति अग्नि देवता है, सूर्य और चन्द्रमा दो ब्रह्माण्डीय आंखें हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, विवृता या निरुक्ता वाक् वेद या ज्ञान ज्योति हैं। वायु उसका प्राण है, अखिल विश्व उसका हृदय है, उत्तरार्द्ध उसके पांव हैं और वह स्वयं सर्वभूतात्माओं का अन्तरात्मा सर्वाभ्यन्तरीय पञ्चम कोश हैं। अन्य कोशों को अन्नमय प्राणमय ज्ञानमय तेजोमय आदि कहते हैं। इस प्रकार के वर्णन या 'सजनास इन्द्रः' के सम्बन्ध की जैसी गाथायें उन ऋषियों की आभ्यन्तर अनुभूतियों का सत्य वर्णन आख्यान रूप में देती हैं। (७६—९१)

(९२) प्रयाजानुयाजोपयाजा वै देवास्त्रैष्टुभैश्च्छादसाक्षरैस्त्रयस्त्रिंशत्।

(९३) तेषामेकादशाक्षरभागास्त्रयाणां पञ्च वा त्रयोवा नव वान्येषाम् ।

(९४) आग्नेया वा छान्दसा वार्तवा वा ते सर्वे । (ऐ. ब्रा. २-१८)

(९५) ते सर्वे चात्मानस्तस्मादात्मान एव प्रयाजानुयाजोपयाजा "अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्यदेवमृत्विजम् , (श. प. ब्रा. ११-१-६ शा.)

(९६) देवा वै स्वयं होत्रादयो 'होतारं रत्नधातमम् ।" (ऋ. वे. १०-५०-८, ९ "अहं होता न्यसीदम्" (ऋ. वे. १०-५२-२) "अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम् ।" (ऋ वे. १०-५२-४)

(९७) अवान्तरदिशो वै पत्नी संयाजाः द्वौ बाहू द्वावूरू च ।

(९८) पञ्चपञ्चप्राणा वै प्रयाजाः ।

(९९) सूर्यसोमावाज्यभागाववाङ्प्राणः स्विष्टकृत् ।

(१००) त्रीणिशिश्नानि त्रयोऽनुयाजाः ।

(१०१) याज्यानुवाकः मासं हविरेताः षोडशाहुतयः षोडशकलस्य ।
(श. ब्रा. ११-१-६-२६ से ३५ तक)

(१०२) तद्यावन्ति वै तत्त्वानि वा यावन्तो वा देवाः सर्वे योगिनो वियोगिनश्च ते ।

जब योगपक्ष में प्रयाजा अनुयाजा और उपयाजा रूप ऋत्विजों का वर्णन या विधान दिया मिलता है तो वहां पर प्रायः त्रिष्टुप् छन्द के ११,११, अक्षर

रूप तत्वों के तीन पादों को ही प्रयाजा अनुयाजा उपयाजा और कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक की संख्या ११,११ है, सब मिलकर कुल ३३ प्रसिद्ध देवताओं के सम्मिलित योग यज्ञ का वर्णन देते हैं। इन्हें छान्दस देवता रूप प्रयाजा-नुयाजोपयाजा कहते हैं। इन्हीं को आग्नेय प्रयाजानुयाजोपयाजा भी कहते हैं। परन्तु इन ऋत्विजों का वर्णन ऋतुसंख्यामुसार भी दिया हुआ मिलता है, और ऋतुओं की संख्या ५, ६, ७, तक मानी गई है। इतनी ही संख्या के ये ऋत्विज भी माने जाते हैं; कोई कोई इनकी गणना बृहती के छन्दाक्षरों में करके प्रत्येक दल के ऋत्विजों की संख्या ९, ९ भी मानते हैं। ये सब प्रकार के ऋत्विज तो आत्मा रूप हैं; अतः ये प्रयाजानुयाजोपयाजा सब के सब आत्मा रूप तत्त्व ही हैं। ये आत्मायें स्वयं देवता रूप हैं, अतः इनको यज्ञ का देवता ऋत्विज, होतारः कहा है। कहीं अग्नि को ही यज्ञकर्ता-पञ्चयाम त्रिवृत सप्ततन्तु रूप यज्ञ का कर्ता कहा है, कहीं 'मैं ही होता हूँ' वाक्य भी स्पष्ट दिया है। इसी को भूतात्मा रूप रत्नधातम या रत्नधारणकर्ता भी कहा गया है। अवान्तर दिशाओं का इन देवताओं की पत्नियां बताया है।

पञ्चप्राण भी प्रयाजा है, सूर्यसोम आज्यभाग है, अवाङ् प्राण (अपान) स्विष्टकृत् है। तीन शिश्न (उत्तरार्द्धीय तीन पाद) भी तीन अनुयाजा कहलाते हैं। याज्यानुवाक मांस है, षोडश आहुतियां हवि हैं। इस प्रकार जितने भी देवता हैं वे सब के सब योगी भी हैं और वियोगी या सृष्टिकारक भी हैं। (९२-१०२)

(१०३) तस्माद्योगे 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो: द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्॥

वेदों में अधिकांश ऐसे मंत्र हैं जिनमें केवल योगपरक अर्थ ही प्राप्त होता हैं। व्याख्याकारों ने उनका अर्थ भी घसीट कर सृष्टि सम्बन्ध में घटित करके समझने वालों को यह समझने और मानने को विवश कर रखा है कि वेदों में सचमुच में बहुत सी बेतुकी और अनर्गल बातें अवश्य लिखी गई हैं। पर बात बिलकुल इसकी उलटी है। वेदों के ऐसे मन्त्रों का जो वास्तविक भाव है वह इनके पल्ले ही नहीं पड़ा है, उससे ये लोग नितान्त अनभिज्ञ और बहुत दूर भटके हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कुछ मंत्रों को दिया जाता है। पुरुष सूक्त के 'चन्द्रमा मनसो जात' इत्यादि कई ऋचाओं का लक्ष्य योग सम्बन्धी अतिसृष्टि का विवेचन देना हैं और दिया भी है। व्याख्यातारों ने

इनको बिलकुल नहीं समझा है :—प्रस्तुत मंत्र में लिखा है कि मनः से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। यह मनः योगी का मनः है जो योग द्वारा इस मनः से इस मनः के देवता चन्द्रमा की उद्दीप्ति करता है, इसी प्रकार वह अपने चक्षुः या चाक्षुष आत्मा से सूर्य नामक तत्त्व की जागृति करता है, प्राण नामक आत्मा से वायुः, मुख या वाक् से अग्नि और इन्द्र, नाभिः या मध्य स्थान से अन्तरिक्ष आत्मा सेतुर्विधरण, योग के शिर या पूर्वार्द्ध से द्यौ, श्रोत्र से दिशायें और लोक, (चतुर्थ) पाद से भूमि। इत्यादि। यहां पर मर्त्य प्राणों से—मनः चक्षुः, प्राण, वाक् , नाभिः, शिर, श्रोत्र और पाद से अमर्त्य या देवता नामक तत्त्व—चन्द्रमा (सोम) सूर्य, वायु अग्नि (इन्द्र भी) अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशः, और भूमि (उत्तरार्द्ध) क्रमसे उत्पन्न हुए या जागृत या दीप रूप में उद्दीप्त हुए। ये सब सृष्टियाँ अतिसृष्टियाँ हैं जिन्हें योगी अपने इसी शरीर के मर्त्य प्राणों से और द्वारा, इन अमृत या अमर्त्य देवताओं को जागृत या उद्दीप्त करके इनकी आत्मीय ज्योति के सागर में आनुभूतिक ज्योतिष्मती डुबकियों में मग्न रहता है। कहाँ तो वेद मंत्रों का यह साक्षात्कार करने का अर्थ है, कहां इन व्याख्यातारों का वह मनहूस अर्थ ? जिसका यहां कोई सम्पर्क भी नहीं है। इन ऋचाओं का तथा ऐसी अन्य हजारों ऋचाओं का (जैसे ऋ वे. १-५०-पूरा सूक्त) कोई दूसरा अर्थ है ही नहीं, केवल यही योगपरक अर्थ है, यह निर्विवाद वस्तु है, ज्ञान मार्ग हठ मार्ग से दूर रहना चाहिए। यह तो योग मार्ग है। इसी प्रकार के कई और सूक्त हैं जैसे ऋ. वे. ४-२६, १०-४८, १०-४९, १०-१२५, ४-४२, १०-१५९, १०-१८३ इत्यादि। इनमें योग-मार्गी अतिसृष्टि के अतिरिक्त और कोई दूसरा विवेचन नहीं है (१०३)।

(१०४) "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥"

(ऋ. वे. १-२२-२१)

(१०५) "कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन सत्यं नासत्योपयाथः।"

(१-३४-९- ऋ. वे.)

(१०६) "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरितं परितस्थुषः रोचन्ते रोचना दिवः।"

(ऋ. वे. १-६ १)

(१०७) 'युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विवक्षसारथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा।'

(ऋ. वे १-६-२)

(१०८) 'स घा नो योग आ भुवदिति ' (ऋ. वे. १ ५-३)

(१०९) 'यस्मादृते न सिद्धयति यज्ञो विपश्चित चना स धीनां योगमिन्वति'

(ऋ. वे. १-१८ ७)

(११०) 'योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवा महे । सखाय इन्द्रमूतये'
(ऋ. वे. १-३०-७, यजु ११-१३)

(१११) 'युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥'
(यजु. ११-२)

(११२) 'युक्ताय सविता देवान्त्स्वर्यंतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यत सविता प्रसुवाति तान् ।' (यजुः ११-३ श्वेताश्व. उप.)

(११३) 'युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोर्भिविश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।'
(ऋ. वे. १०-१३-१)

(११४) 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।'
(यजुः ११-५ श्वे. उप.)

(११५) योगो वै क्षेम; क्षेमो वै यज्ञो वा । (ऋ. वे. ५-८११, श्वेताश्व उप, यजु. ११-४)

(११६) योगिनो वै 'मुनयो वातरशना पिशिङ्गा वसते मला' इत्यादि ।
(ऋ. १०-१३६-२३३)

(११७) यद्वा योगिन एव 'यतयो मुनयो वा 'येषामिन्द्रो मुनीनां सखा ।
(ऋ. वे ८-१७-९४)

योग के इसी प्रकार के वातावरण या विवेचन देने वाले कुछ संकलित मंत्रों का अर्थ भी यहाँ उदाहरणार्थ और पक्ष पुष्टयर्थ और दे दिया जाता है इनमें योग प्रक्रिया के वर्णन के साथ साथ योग दर्शन का नाम और व्युत्पत्ति भी दी गई है, जिन मन्त्रों में से कई को उपनिषदों और अन्य संहिताओं ने केवल योग दर्शन की प्रक्रिया और सन्दर्भ में उद्धृत कर यह प्रमाणित कर दिया है कि वेदों में योग का छलछलाता सागर है । जैसे:-ऋ. वे. १-२२-२१ में लिखा है कि (हमारे योगी ऋषियों के) प्राण रूप योगी ऋषि जागृत रहकर योग प्रक्रिया में संलग्न होकर विष्णु के उक्त परम पद को समिद्ध करते हैं या उद्दीप्त करते हैं । यहाँ की उद्दीप्ति पिछले परिच्छेद में वर्णित प्राणों द्वारा अपने आत्मा रूप देवताओं की अतिसृष्टि करना ही है, अन्यत् कुछ नहीं, यह स्वयं स्पष्ट है । इसी प्रकार १-३४-९-में पूछा है बतलाइये कि कब वाजिनो या प्राण का योग, रासभ के या रसमय ब्रह्म के साथ हो सकेगा, जिससे हे नासत्य ! तुम उस सत्य नामक अमृत तत्त्व या विकासमय यज्ञ या यज्ञस्थल को प्राप्त हो सकोगे ? 'युञ्जन्ति ब्रध्न मरुषं' इत्यादि का अर्थ तै. ब्रा. (३-९-४) ने स्वयं दे रखा है जिसका आशय स्पष्ट है कि ब्रध्न नाम के आदित्य से या सूर्य तत्त्व से अरुष नामक अग्नि और चरितं नामक वायु

देवता, परितस्थुष आसन वाले इन ऋषियों से संयुक्त या संबद्ध हो जाते हैं। तब इनके शरीर के आभ्यन्तर लोकों में स्वर्गीय ज्योति बिखर पड़ती है; यह साक्षात् रूप से योग क्रिया का ही वर्णन है। इसी प्रकार का आशय अन्यत्र काम्या हरी या मर्त्यामर्त्य प्राण रूप अश्वों को उस ब्रध्न नामक सूर्य तत्त्व से संयुक्त करते हैं, करके लिखा है। साथ में यह भी कहा है कि इन दो प्राणों को अगल बगल में जोता गया है; जब ये नर नामक विश्वानर सूर्य को वहन करते हैं तब वे रक्त वर्ण के तेजोमय प्रकाशज्योतिर्मय तेजोवती वाक् के लोहित वर्ण वाले से लगते हैं। 'स घा नो योग आभुवत्' में तो स्पष्टतया प्रार्थना की है कि वह इन्द्र हमारे योग में साधक हो या साध्य हो इत्यादि और १-१८-७ के मंत्र में तो ब्रह्मणस्पति के बारे में लिखा है कि उसके विना तो कोई योगादि यज्ञ सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञानमय तत्त्व है, सब प्राण ज्ञानमय होते हैं, उनका योगसाधक यही एक देवता है। १-३० ७ के मंत्र में तो और अधिक स्पष्टता है कि हम प्रत्येक योग प्रक्रिया में प्रत्येक यज्ञ में तेरा आह्वान करते हैं, क्योंकि तुम्हीं बलशाली संरक्षक हो, आभ्यन्तर योग यज्ञ में हम तुम्हारे बल या शक्ति की, तथा ब्राह्म यज्ञ के ब्रह्मोद्य में वाग्यज्ञ के बल की मुहुर्मुहुः प्रशंसा करते हैं। यजुर्वेद (११-२) ने तो योग की प्रक्रिया को 'सवे' य 'प्रसवे' या अतिसृष्टि के रूप में देकर लिखा है कि 'हम एकाग्र मन से सविता देवता की अतिसृष्टि स्वर्गीय शक्ति या ज्योति के लिए करते हैं'। फिर ११-३ में कहा है कि सविता देवता योग द्वारा स्वर्ग की ओर जाते हुए प्राणों को उनके देवताओं से सम्बद्ध करके स्वर्गीय ज्योति उत्पन्न कर के, फिर उन उन देवताओं की ज्योतियाँ जगमग कर देता है (प्रसुवाति तान्)। आगे ११-५ में यम को योग की पथ्या का मार्गदर्शक कह कर लिखा है कि हम तुम्हारी जागृति का योग करते हैं और ११-४ में तो योग प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान दिया है। लिखा है कि वैदिक दार्शनिक योगी ऋषिगण ज्ञानमय बृहद्ब्रह्माण्डमय तुम्हारी अनुभूति के लिए अपने मन तथा प्राणों (धियः) का योग करते हैं। यजुर्वेद के ये मन्त्र एकही क्रम में है, अतः यहाँ का पूरा वातावरण ही योगमय है, इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं हो सकता।

वेदों में योग का नाम 'योग क्षेम' भी है क्योंकि योग ही कल्याण या श्रेयः की एकमात्र प्रक्रिया है जैसे 'योगक्षेमो नः कल्पन्ताम्' (यजु. २२-२२)। यजुर्वेद ने इसी उपक्रम में प्राणादि पञ्चप्राणों, तथा वागादि पञ्चप्राणों, दिशादि देवताओं, आपः, वाताः अग्निप्रभृति, नक्षत्र आदि समस्त देवताओं का आवाहन किया है। ऋग्वेद (७-५४-४) ने 'पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं

पात स्वास्तेभिः सदा नः' में योग और क्षेम दोनों को पृथक् पृथक् कहा है, पर ये यहाँ पर क्षेम नाम यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं, योग क्षेम माने तब 'योग यज्ञ' स्पष्टतया हो जाता है। यही भाव ऋ. वे (७-८६-८) में "शं नः क्षेमे शमु शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः, सदा नः" में दिया हुआ मिलता है। ऋ. वे. (१०-१६६-५) में भी 'योग क्षेम' शब्द एक साथ योग यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होकर यह भी स्पष्ट घोषणा करता है कि मैं तुम्हारे योगयज्ञ या योग क्षेम को करके तुम्हारे मूर्धन्य रूप को अतिक्रमण कर सकूं या पहुँच जाऊं जिससे मैं उत्तम ज्योतिका बन जाऊं। "योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयास- मुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम् ॥"

वेदों में योगियों के नाम मुनि और यति दिये गये हैं जिनको गन्दे कपड़े रूप मर्त्य भौतिक शरीरधारी भी कहा गया है। 'उनके दैवी तेजस्वी ज्योति-रूप दिव्य शरीर में मर्त्य भौतिकात्मीय शरीर कृष्ण वर्ण का या गन्दा सा प्रतीत होता है, यह लिखकर जितनी अद्‌भुत उपमा दी है उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। "मुनयो वात रशनाः पिशिङ्गा वसते मला। वातस्या नु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत"॥ "अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्। मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥" "वातस्याश्वो वायोः सखाथ देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥" (ऋ. वे. १०-१३६-२,३,४)। 'इन्द्रो मुनीनां सखा' (ऋ. वे. ८ १७-१४)। इन मन्त्रों में योग की प्रक्रिया का जितना दिव्य वर्णन हो सकता है वह सब उपलब्ध है। इनमें उन मुनियों को भौतिकात्मीय कृष्ण या मलिन वस्त्र रूप शरीरधारी ही नहीं कहा गया है वरन् वातरशना, वातस्य अश्वा, वायोः सखा, देवस्य सौकृत्याय सखा, 'अन्तरिक्षेण पतति' सब रूपों को प्रकाश में से देखने वाले और दोनों समुद्रों-पूर्वार्द्धीय अमृत और उत्तरार्द्धीय मर्त्य—को पार करने वाला बताया गया है। यह भी कहा है कि ऐसे ही मुनि देवताओं को प्रिय या इष्ट हैं।

वेदों में योगियों के 'यति' नाम के प्रमाण ये हैं "तत्वा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्व चित्तये। येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्व माविथ॥" (ऋ० वे० ८-३-९)। "य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्॥" (ऋ० वे० ८-६ १८) (१०४ से ११७)।

अध्याय २ पाद २

अथातः प्रायोगिको योगो योग नद्रा च

(१) 'एको देवः प्राणः स ब्रह्म' (बृह. उप. ३-९)

(२) स त्रिवृन्मनोवाक्प्राणानाम् ।

(३) त्रिवृद्धै त्रयी ब्रह्मरुद्रविष्णूनां ते 'त्रयोदेवास्त्रयो लोकाः' ।

(बृह. उप. ३ ९)।

(४) मनो वै ब्रह्मा वाग्रुद्रः प्राणो विष्णुः ।

(५) मनो वै ब्रह्मा वाग्घोता प्राण उद्गाता सृष्टावतिसृष्टौ (योगे) च ।

(६) ब्रह्मा स्वयं सृष्टियज्ञस्य ब्रह्मा पुरोहितो रुद्रो होता विष्णुरुद्गाता वा यस्माद्य उरुगाय इति नाम्ना प्रसिद्धश्च ।

(७) यद्वा चन्द्रमा वै ब्रह्माऽग्निर्होता प्राण उद्गाता वा ।

(८)-(क) मनो वा चन्द्रमा वा ब्रह्मा वा प्रजापतिः सृष्टिकर्ता सविता संचालकश्च ।

अब यहां से प्रायोगिक योग और योगनिद्रा पर विचार किया जाता है।

देवता तो केवल एक है, उसका नाम प्राण है, उसी को ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है। वह त्रिवृत् है, जिसमें मनः वाक् और प्राण तीनों एक साथ हैं। इसी त्रिवृत् का नाम त्रयी या ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु है। इन्हीं को तीन देव या तीन लोक कहते हैं। इनमें से मनः तो ब्रह्मा है, वाक् रुद्र है और प्राण विष्णु है। यज्ञविधान में (योग में भी) मन को ब्रह्मा ऋत्विज, वाक् को होता और प्राण को उद्गाता कहते हैं। उक्त नाम के ऋत्विज सृष्टियज्ञ और योगयज्ञ दोनों के हैं। इस प्रकार ब्रह्मा देवता ब्रह्मा नामक ऋत्विज है, रुद्रदेवता होता है और विष्णु उद्गाता है। इसीलिए विष्णु का नाम उरुगाय भी प्रसिद्ध है। इनको दूसरे नामों से पुकारें तो यों भी कह सकते हैं—चन्द्रमा (मनः) ब्रह्मा है, अग्नि होता है, प्राण या मातरिश्वा उद्गाता है। यह मनः या चन्द्रमा या ब्रह्मा ही प्रजापति है सृष्टिकर्ता सविता है और सृष्टिसंचालक देवता भी है (१ से ८ (क) तक)

(८)-(ख) यद्वा ब्रह्मा योगं करोति कमलनालं विध्यति तदा स इन्द्र इदिन्द्रः स मनः स इध्मः स योगी स विद्दतिद्वार भेत्ता तस्मात्स मध्यमः प्राणः सस्तनयित्नुरेवेन्द्रः' (बृह. उप. ३-९)

(९) 'अग्निर्वै रुद्रो' 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता' सः प्रथमः प्राणः सैवा'ऽग्नि-विद्वान्यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्' ।

(ऋ. वे. १०-५२-४)

(१०) 'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः' ।

(ऋ. वे. १०-८१-१)

(११) यस्मात्स सृष्टौ पूर्वान्तित्त्वाञ्जुहोति चातिसृष्टौ च प्राणांस्तस्मात्स संहर्ता चैकीकर्ता वा होता वा देवानां प्राणानां वा ।

(१२) स वाक् स 'महान्देवो वृषभो रोरवीति' (ऋ. वे) स 'वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः' (श. प. ब्रा. ८-१-३-९)

जब ब्रह्मा योग करता है, कमल नाल (प्राणसूत्र) का वेधन करता है तब इसे इन्द्र या इध्म या इदिन्द्र या मनः या विहृतिद्वार भेत्ता कहते हैं । अतः यह मध्यम प्राण है । यह वैद्युतीय शरीरी इन्द्र है, इसी को प्रजापति और यज्ञ भी कहते हैं, यज्ञ नाम पशुओं या प्राणों का है जो देवताओं को अपने शरीर में ढोते हैं ।अग्नि का ही नाम रुद्र भी है, वही सर्व प्रथम यज्ञ का तपन करता है उसके सात प्राण होतार या ऋत्विज हैं, यही सर्वप्रथम प्राण है । यही अग्नि विद्वान् या ज्ञानमय प्रकाशमय है । यही पञ्चपादों में सप्ततन्तुओं या सप्तपदों के सप्तप्राणों से अपने पूर्व त्रिवृत् सहित यज्ञ (योग या सृष्टि) का प्रथम आरम्भ-कर्ता है । इसीलिए इस अग्नि को ऋत या पूर्ण दर्शन के मौलिक रूप का प्रथमोत्पन्न तत्त्व कहा जाता है । यही अग्नि विश्वकर्मा (वाक्) की तरह अपने में निहित अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड का हवन करता है, यही पिता कहलाता (अग्नि रूप में वाक् रूप में माता) है । क्योंकि यह सृष्टिपक्ष में पूर्वार्द्धीय तत्त्वों का और योग में उत्तरार्द्धीय तत्त्वों का हवन करता है, इसीलिए इसे संहर्ता या एकीकर्ता या देवताओं का और प्राणों का होता कहा जाता है । इसी को वाक् वृषभ रूप में महादेव महान्देव और महारवकारी वृषभ भी कहते हैं ('चत्वारि शृङ्गा' देखें) (८ (ख) से १२ तक) ।

(१३) य उत्तमः प्राणः सः सोमः पवमानो योऽयम्पवताऽध्यर्द्धः स विष्णुः स पुरुषोत्तमः सोऽन्तरात्मा मध्यवर्ती शरीरामृतयोः स चक्षुः स द्रष्टा स ज्योतिः । (छा. उप. ६, बृह. उप.)

(१४) तमेव 'उद्वयं स्तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरं । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (ऋ. दे. १-५०-१०)

(१५) तमेव 'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।''

(ऋ. वे. १-५०-१)

(१६) 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' (यजुः) स एव 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' (ऋ. वे. १-११५-१)

(१७) 'आदित्यानामहं विष्णुः' (गी. १०-२१) स एव 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्' (ईश उप. १)

जिसको 'उत्तमः प्राणः' कहते हैं वही 'एको देवः प्राणः' है, नाना रूपों में वही सोम है वही विष्णु है, वही पुरुषोत्तम है, वही अन्तरात्मा है, वही सोमात्मा है, वही चक्षुः है, वही द्रष्टा है, वही ज्योति है। यही पवमान सोम है, इसी को अध्यर्द्ध या सबका अधिक प्यारा देवता कहते हैं। इसी को गायत्री के उपस्थान द्वारा, तमः के परे उत्तरार्द्ध के उत्तर (पूर्वार्द्ध) की ओर ज्योतिर्मय रूप में उत्तम (प्राणीय) ज्योति के देव रूप में देवयजनकर्ता ऋषिमुनि या प्राण प्राप्त होते हैं, वही जातवेदा है जिसकी प्रकाशकिरणें उसे अखिल सृष्टि को देखने के लिए सूर्य की तरह अन्तरिक्ष के ऊँचे मण्डल में ध्वजा रूप में स्थापित कर देती हैं। वही चक्षु है, देवताओं का प्राण रूप है, उसी से शुक्र रूप सोम या चन्द्रमा का रस रूप ज्योति टपकती है। इसे मित्र वरुण और जातवेद की चक्षुः कहते हैं, यह द्यावा पृथिवी और आन्तरिक्ष तीनों लोकों की एक सम्मिलित सर्वचक्षुर्मय, सर्वतः चक्षुर्मय चक्षुः है, सर्वत्र चक्षु रूप में व्याप्त है। इन सर्व वर्णनाओं के रूप में इसे सूर्य या स्थावर जङ्गम का द्रष्टा या चक्षुर्मयी आत्मा कहते हैं। गीता में आदित्यों में जिस आदित्य को विष्णु कहा गया है वह यही सूर्य या सविता या सोम नाम का ही आदित्य है, (१३ से १७ तक)।

(१८) यतः स उत्तमः प्राणः 'प्राणाश्चापोमयाः' (छा. उप, ६-५) पाता जीवयिता पालयिता तस्मात्स पाता संरक्षिता जीवानां जीवयिता चान्तरात्मा सृष्टेरतिसृष्टेर्वा।

(१९) तस्य प्राणस्यापःशरीरं वा नरो नारो नृषद्वा तस्मात्स नरो वा नरवान्वा नारायणो वा।

(२०) या वा आपः सा वाक् तेजोवती, आत्मा तस्याः सोऽग्निः स रुद्रस्तस्मादग्निर्वा रुद्रो वा तस्य प्राणस्य शरीरम्। (श. प. ब्रा. ६-१-१-९)।

(२१)-(क) तस्य शरीरस्य वाचामपामग्नेरुद्रस्य वा पुष्करस्य समुद्रस्य कमलस्य सहस्रदलस्यवाऽदितेर्मध्ये नाभौ योनौ वै मनो वा वेधा वेन्द्रश्चन्द्रमा वा, यस्यान्नमय मदितिमयं शरीरं स्फटिकमयम्॥

(२१) (ख-'द्वौ देवौ त्वन्नं प्राणश्च' (बृह. उप. ३-९) 'अन्नं मनः प्राणाश्चापोमयाः' (छा. उप. ६-५) 'अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं, श्रेष्ठः प्राणः प्राणानाम्' (तै. बृह. छा. उप.)

क्योंकि यह उत्तम प्राण आपोमय शरीरी है, जिससे यह सब को प्राणवान् शरीर देता है, जीवित रखता है, पालता है इसीलिए इसे पाता या पालयिता या संरक्षक, जीवन देनेवाला, जीवित रखनेवाला या अन्तरात्मा कहते हैं। यह बात सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों प्रक्रियाओं में एक सी रहती है। इस प्राण का शरीर आपः है जिन्हें नर या नार या नृ (ना) या नृषद् कहते हैं, और उस प्राण या विष्णु को भी नरनारायण या आपोमय प्राणसागरवासी कहते हैं। जिन्हें आपः कहते है वही तो वाक् है, वह तेजोवती तेजः शरीरिणी है। इसकी आत्मा ही अग्नि है और जो अग्नि है वही रुद्र है। अतः अग्नि या रुद्र या वाक् ही उस प्राण का शरीर है। उस शरीर के या वाक् के या अग्नि या रुद्र के पुष्कर या समुद्र या अदितिमय वाक् के मध्य में या योनि में ही सहस्रदल कमल सम मनः या वेधाः या इन्द्र या चन्द्रमाः का अदितिमय अन्नमय स्फटिकमणिसम शरीर है। वे येही दो मुख्य प्राण हैं, मध्यम और उत्तम जिनको अन्न और प्राण कहते हैं। मनः अन्नमय है प्राण आपोमय हैं, (१८ से २१ तक)।

(२२) पूः (शरीरं) करोतीति पुष्करं (श. प. ब्रा.), सम् उत् रमत इति समुद्रः, कम् अलं वाऽलंकारं वा यस्य शरीरस्य तत्कमल, सहस्रारं सहस्रदलं प्राणानामाराणां दलम्।

(२३) (क)—तस्य सहस्रारस्य कमलस्य वेधसो नालस्यायामो विस्तारोऽनन्तोऽशेषस्तस्य शेष एव शेषो भौतिकतायास्तस्य शेषेऽन्त्रे शय्यायामेवोदरस्य ब्रह्माण्डस्य शेते सोऽन्तरात्मा यस्माद्वृत्रो वै अन्नमुदरमन्नादश्च (श. प. ब्रा.)।

(२३) (ख) हृदयं वै तस्य सहस्रमुखफणा यस्मादूर्ध्वगामिनी या पुरीतत्कुटिला नाडी सैव कमलनालं विदृति-द्वारं वा।

(२४) शरीरं वै गुहा, स गुहा प्रविष्टः स गह्वरेष्ठः स गुहाहितः स गूढः।

यहाँ पर एक और ज्वलन्त सत्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। आज तक किसी ने भी इस विषय पर प्रश्न भी नहीं उठाया कि ऋग्वेद में या अन्य संहिताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के इतने बहुत ही कम सूक्त या मंत्र क्यों हैं और अग्नि इन्द्र सोम के इतने अधिक सूक्त क्यों है ? इसका मुख्य कारण यह है कि वेदों में इनके मुख्य प्रतिनिधि देवता क्रम से इन्द्र, सोम और अग्नि हैं जिनकी वर्णना वेदों के दो तिहाई से भी अधिक भाग, मात्रा और विस्तार में हुई है। यह सब इन्हीं ब्रह्मा विष्णु रुद्र नामक मध्यम उत्तम प्रथम प्राणों का ही वर्णन है। पुराणादिकों ने ठीक इसके विपरीत शैली अपनाई है, इनमें ब्रह्माविष्णुरुद्र के वर्णनों का

ही अथाह सागर है, पर इन्द्र सोम और अग्नि का नाम मात्र भर, ठीक उसी अनुपात में जिस अनुपात में वेदों में ब्रह्माविष्णुरुद्र का है। यह वैपरीत्य का प्रमाण उक्त सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि कर देता है।

पुष्कर की व्युत्पत्ति पू: नामक शरीर को रचने या करने वाला है, जो समन्तात् ऊर्ध्वगामी होकर रमण करता है वह समुद्र है, कं या आप: जिसके लिए पर्याप्त या अलंकार है वह कमल है, सहस्रार सहस्र दल रूप मनः या नाभि है, अरायें प्राणों की हैं। उस सहस्रार कमल की नाल या प्राण सूत्र का आयाम अनन्त है अशेष है, उसमें जो भौतिकता का शेषांश है उसकी आंत की शेषाकार शय्या में वह अन्तरात्मा शयन करता है। क्योंकि इस ब्रह्माण्ड में यह शेष रूप आँत ही इस शरीर रूप पृथिवी या भौतिकता की जीवनी का मुख्य कोश या उदर है, यह अन्न या भौतिकता का बना भी है, उसी अन्न का अन्नाद सर्पवत् स्व सन्तान या विकास का भक्षक भी है, इसी कारण इसे अहि अपादहस्त सर्वभक्षी कहा भी जाता है। भौतिक ब्रह्माण्ड का मूल आधार पोषक जीवन यही है, शरीर रूप पृथिवी के विकास का भार भी इसी के सिर में है। ब्रह्माण्ड शरीर के इस आंत रूप शरीर का मुख हृदय रूप अन्तरिक्ष है जो सहस्रमुख है जिससे हजारों नाड़ियां सर्वतः बहती हैं, वही इसकी सहस्र फणा हैं। इस हृदय से ऊर्ध्वगामिनी जो पुरीतत् कुटीला नाड़ी है वह ब्रह्मा या मन या इन्द्र का कमलनाल या विहृति द्वार या वेधित मार्ग है। इसी के अन्त में इस ब्रह्माण्ड शरीर की आभ्यन्तर गुहा है, वह अन्तरात्मा इसी गुहा में प्रविष्ट है, गह्वरेष्ठ है या गुहा में निहित सुरक्षित या गूढ है (२२ से २४ तक)।

(२५) शरीरं वै वेदिर्वा 'यावती वेदीस्तावती पृथिवी' (श. प. ब्रा.१-२-३-७)
सा वाक् 'यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'
(ऋ. वे. १०-११४-८; बृ. उप)।

(२६) पृथिवी वै परार्द्धया 'विष्णुः परार्द्धयः' (श. प. ब्रा. ३-१-३-१)।

(२७) तस्मिन्परार्द्धे तस्यां वेद्यां गूढः सन् स 'यज्ञो ह वै देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार' (श. प. ब्रा. १-१-४-१)।

इस ब्रह्माण्डीय शरीर ही का नाम वेदि है जितनी बड़ी वेदि है उतनी ही बड़ी भौतिकात्मा रूप पृथिवी भी है, इसी का नाम भौतिकी वाक् है, जितना बड़ा विस्तृत या व्यापक ब्रह्म है उतनी ही बड़ी यह वाक् भी है। यह वाक् रूपा पृथिवी परार्द्ध कहलाती है। विष्णु इसी का वासी है; अतः उसे भी परार्द्धय या उत्तरार्द्धीय ही कहते हैं। इस परार्द्ध रूप पृथिवी नामक वाक् शरीरिणी

वेदि में वह यज्ञ पुरुष विष्णु निगूढ रहता है, अतः कहा है कि वह यज्ञ रूप विष्णु पूर्वार्द्ध के देवताओं से निकल कर कृष्ण मृग या कृष्ण पक्ष रूप में उत्तरार्द्ध में पृथिवी या वेदि या वाक रूप शरीर में विचरण करने लगा। इसका मुख्य आशय यह है कि उस मृग को कोई दक्ष योगी योग धनु से उसे वेध कर, नहीं अपना सका। यह देवताओं की परीक्षा थी। (सू २५ से २७ तक)।

(२८) तस्मिन्परार्द्धे तु 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च'

(गीता १६)

(२९) तस्मात्कारणद 'थ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति'

(श. प. ब्रा. १-२-३-१)

(३०) सैषावस्था तस्य योगनिद्राभिधा योऽयमेवं तस्यां वेद्यां गूढः।

(३१) तस्य प्रबोधनं जागरणं वा साध्यं योगेनैव केवलम्। यतस्तदा श्रोत्रजौ द्वावसुरौ राजसं मनस्तामसं शरीरं च मधुकैटभौ नाम्ना प्रसिद्धौ दैवं मनः ब्राह्मणमेव हन्तुमुद्यतौ (दुर्गा. स. १-६७, ६८)।

(३२) तस्मात्तस्य प्रबोधनार्थायोभौ देवौ वेधारुद्रौ मनः शरीराणि (प्राणा वा) योगाभ्यासरतौ सन्तौ तमुद्बोधयत उद्दीपयतो वा ॥

(३३) एतस्मादेव योगो वै वैष्णवधर्मो विष्णुर्वा 'यत्र योगेश्वरः कृष्ण' इति प्रसिद्धः।

(३४) तौ ब्रह्मरुद्रौ तु योगिनावृत्विजो ब्रह्मा होतारौ, जरितारौ प्रयाजानुयाजौ वा योगीश्वरौ वा।

इस परार्द्ध लोक में दो प्रकार की भूत (प्राण) सृष्टि होती है जिनमें से एक को दैवी भूत कहते हैं, दूसरे को आसुर भूत। अतः यहां पर आसुर भूतों ने कहा कि यह तो हमारी सृष्टि है, यहां देवताओं का क्या काम, यह सारा भुवन हमारा ही है (वास्तव में शरीर तो है ही)। जब भूत सृष्टि प्राधान्य पाकर अपने ही को इस लोक का स्वामी समझने लगती हैं, उस समय वह प्राण रूप विष्णु उसी शरीर में वेदि में, पृथिवी में नितरां गूढ हो जाता है, तब इसी अवस्था को विष्णु की योग निद्रा कहते हैं। उसके योग से तो वे असुर जीवित हैं पर उसे प्रकट नहीं होने देते, सारा जगत् इसी स्थिति में ही है। उसका प्रबोधन या जागरण केवल योग मात्र का साध्य विषय है। योग करने का स्मरण सबसे पहले मनो रूप ब्रह्मा ऋत्विज को आता हैं, पर वह संचालक है कर्ता तो अग्नि या रुद्र या इनके प्राण हैं। इस लिए असुर, मन को ही योगयज्ञ के ब्रह्मा ऋत्विज (संचालक) को ही अधमरा कर देते हैं। इसी भाव को दुर्गा सप्तशती ने देते हुए कहा है कि विष्णु के कर्णमलोद्भूत या पञ्चप्राणों

(वाक् मनः चक्षु प्राण श्रोत्रं) में से श्रोत्र या श्रव्य या भौतिकात्मीय आकाश के मल रूप या अप्रतिरूप या अकल्याणकर रूप से उत्पन्न दो असुर वाक् और मनः के आसुर शरीरी उठ खड़े हुए। वे मनोरूपब्रह्मा यज्ञ-संचालक को ही दबोचने दौड़े। अतः जब वाक् (रुद्र) और मनः (ब्रह्मा) दोनों पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा तो ब्रह्मा ने रुद्र या अग्नि को जागृत किया और योग द्वारा चुपके से विष्णु की शेष शय्या तक आ डटे और उसे उद्दीप्त या प्रबुद्ध या जागृत करने लगे। इस लिए अब तक के वर्णन से स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों का योगमार्ग वैष्णवधर्म है, इसीलिए विष्णु या कृष्ण को योगेश्वर प्रसिद्ध नाम से पुकारा भी जाता है। ब्रह्मा और रुद्र (या अग्नि) योग यज्ञ के तो मनः और शरीर या प्राण रूप ऋत्विज हैं या जरितार है या प्रयाजानुयाज हैं या योगी हैं योगेश्वर नहीं, हाँ इन्हें योगीश्वर कहा जाता है (२८ से ३४ तक)।

प्राण ही का नाम सूत्र है, इसी सूत्र का नाम विष्णु या सोम है। ब्रह्मा इसी सूत्र से अनन्त सूत्र बनाकर विश्वकर्मा या विश्व त्वष्टा कहलाता है। वह कः रूप में प्राण सूत्र के गर्भ में मनोरूप शकुनि या पक्षी के रूप में प्राणों की डोरी से जकड़ा है; अतः हिरण्य गर्भ या प्राणमय स्वर्णमय सूत्र की डोरी या गर्भ में जकड़ा रहता है। वह सोम या विष्णु के उस प्राणमय सूत्र को धारण किए रहता है, अतः धाता या प्राणसूत्र धाता कह जाता है, उसी से नाना रूप सृष्टि करने पर वह विधाता बन जाता है, तब वह स्वयं सूत्र धारी बनकर अन्य प्राण रूप पक्षियों को अपने मनोरूप पक्षी की डोरी में बाँधता या धारण करता है। इसीलिए कहा गया है कि मनो रूप ब्रह्मा प्राण रूप विष्णु के डोरों के बन्धन वाला है, और वही मनोरूप शकुनि अन्य प्राणरूप पक्षियों को अपनी डोरी में बाँधे रहता है। अर्थात् ब्रह्मारूप सुपर्ण के सूत्र में रुद्र, वाक्, अग्नियाँ या प्राण रूप अन्य सुपर्ण, जिनकी संख्या पांच सात आदि है, बंधे रहते हैं। यही बन्धन इनका सांसारिक बन्धन कहलाता है। क्योंकि योग में उद्दीप्ति की आवश्यकता है; अतः वह कः प्रजापति अग्नि को सदा साथ रखता है। गीता ने इसी आशय को कहने के लिए लिखा है कि सब कुछ मेरी प्राण रूप डोरी में मणियों की तरह पिरोया हुआ है। अथर्ववेद ने भी यही लिखा है, जो व्यक्ति उस प्राण सूत्र को जाने जिसमें यह अखिलकोटि ब्रह्माण्ड और जीव पिरोये हुए हैं, और जो इन ब्रह्माण्डों और जीवों या प्राणों को एक में बाँधने वाले ब्रह्मा या मनोरूप सूत्र तथा इस मनः के बन्धन के प्राणसूत्र को जानता है वही उस महत् ब्राह्मण या ब्रह्म का सच्चा ज्ञानी है। (३५ से ३७ तक)

उक्त प्राण सूत्र में बंधे ब्रह्मा और रुद्र या मनः और प्राण श्रमित और अभितप्त होकर अपना योग या साक्षात्कार करने का प्रयत्न करते हैं। मनोरूप ब्रह्मा उस सूत्ररूप कमलनाल या पुरीतत् का बेध करने या उसके विदृति द्वार को खोलने के कारण ही वेधाः कहलाता है; वही विदृति द्वारभेत्ता इदिन्द्र या अभितप्त कर खोलने वाला इध्म नामक इन्द्र है। वही वेधाः नामक ब्रह्मा या इन्द्र रुद्र या अन्य प्राणों सहित उस सूत्र रूप नाल या पुरीतत् के आभ्यन्तर भाग से चलता हुआ उस प्राण रूप विष्णु के परम पद को प्राप्त हो जाता है जिसको वेदि रूप गुहा में निगूढ कहा जाता है। यह वेदि इन्हीं वेधा और रुद्र के एकीभूत शरीर या योगियों के शरीर में ही शरीर की अन्तिम सीमा में ही सर्वत्र व्याप्त होने पर भी वहां पर विशेष रुद्र या केन्द्रीभूत रूप में ज्ञान विवेक प्रकाश ज्योति के स्रोत रूप में ही रहती है, उसी को उन्हें उत्तप्त करके अपनी अरणियों को रगड़ करके प्रज्वलित करना पड़ता है। इस मार्ग द्वारा खोजते जाते हुए उन्हें उस तक पहुँचने की जो सात परिधियाँ बतलाई जाती हैं, वे दिखाई पड़ती या अनुभूत होती हैं। इन सात परिधियों में तीन तो उस प्राण विष्णु की सोम ज्योति से ऊपर हैं और तीन उधर ही हैं जिस मार्ग से होकर ये गये। वह प्राण रूप सूत्र का केन्द्रविन्दु या आरम्भणीय स्थान उन दोनों के मध्य में गुहा में गुप्त है।

इन्हीं तीन परिधियों को पार करने के बारे में विष्णुसूक्त (ऋ. वे १-२१) में कहा है कि विष्णु ने इन तीन परिधियों को तीन डगों से नाप लिया, उन्हें हंसी खेल में ही लाँघ लिया, पूरे योग के पूर्वार्द्ध को पृथिवी नामक भाग को आच्छादित कर दिया, जिसमें उनकी ज्योति की धूल चमचमाती चमकने लग गई; जिससे वह पृथिवी नामक भाग उनके तीन पादों की धूल की चमक से जगमगा उठी (अंधड़ के समान अंधेरा नहीं हुआ)। अन्य योगियों के लिए यह महा कठिन कार्य है, औरों की कौन कहे, ब्रह्मा और रुद्र के लिए भी यह मँहगा ही पड़ता है।

अध्याय २ पाद ३

योगनिद्रा

(१) अथातो योगनिद्रा ।

(२) "तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनु संचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ।"

(बृह. उप. ४-३-१८)

(३) ताभ्यां वेधा रुद्राभ्यां 'त्रिः (पूर्वाः अत्रतूत्तरा एव) 'सप्त समिधः कृताः' (पु० सू०) तस्य पुरुषस्य प्राणस्य सुषुप्तस्योद्दीपनाय दर्शनायानुभूत्यै वा मार्गे मार्गयमाणे ।

(४) अत्र त्रिः (पूर्वाः) सप्तसमिधस्तु त्रिरुत्तरा एव यतो योगे 'ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराचस्ताँ उ अर्वाच आहु.' (ऋ. वे. १-१६४-१९)

अब आगे उस प्राणपुरुष को योगनिद्रा का विवेचन दिया जाता है। यहाँ पर यह निद्रा शब्द पारिभाषिक है न कि कोशानुकूल अर्थ वाला भाषा में प्रयुक्त नींद अर्थ रखने वाला। इसका आशय 'प्रशान्त महासागर' सम है। यह कोई प्राणी शरीरी नहीं है। यह तो अखिल ब्रह्माण्डव्यापी प्राणों का नित्य ऊर्मिमय व्याप्त सागर है। इसका एक केन्द्रविन्दु अवश्य है, वह इसके मध्य में है। अपने उस मध्यवर्ती अन्तरिक्ष या नाभि नामक चतुर्थ सप्तक वाले स्थान से जिस प्रकार महामत्स्य सागर के दोनों किनारों तक चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी उस प्राण सागर के दोनों किनारों की ओर आता जाता रहता है, जब वह पूर्वार्द्ध की सीमा की ओर जाता है तो उसे सुषुप्त कहते हैं जब वह उत्तरार्द्ध की सीमा की ओर आता है तब उसे प्रबुद्ध या जागृत कहते है। पूर्वार्द्ध तो केवल एकमय है उस ओर जो कोई जाय वह उसी से घुलमिल व्याप्त हो जाता है। यह प्राण भी उसी में व्याप्त हो उसी की एकता में घुल जाता है। ऐसी अवस्था को ही योगनिद्रा कहते हैं। इस प्रकार की क्षणिक योग निद्रा गम्भीर चिन्तन में लगे ध्यानमग्न व्यक्ति में भी पाई जाती है जब वह इस स्थिति में बाहरी बातें देखते सुनते हुए भी नहीं देख या सुन पाता है। उस पुरुष को दक्षिणायन की ओर लाने के लिए उन वेधाः और रुद्र (अग्नि) ने (२३) तेईस सीढ़ियाँ पार कीं। यहाँ पर जिन २३ तत्त्व रूप समिधों को उद्दीप्त करने को कहा गया है वे योग पक्ष के होने के कारण दक्षिणायन के तीन सप्तकों

के ही समिध हैं। क्योंकि यह निश्चित नियम है कि सृष्टि पक्ष में जो भाग या तत्त्व पूर्वार्द्ध या अवञ्चि कहलाता है वही योगपक्ष में परार्द्ध या पराञ्च कहलाता है, और जो सृष्टि पक्ष में पराञ्चया उत्तरार्द्ध है वही योगपक्ष में पूर्वार्द्ध कहलाता है। यहां पर जिस समुद्र की बात हो रही है वह मध्यवर्ती चतुर्थ सप्तकीय सागर है (१ से ४ तक)।

(५) अपि स स्वपिति ? न हि कदापि न हि; यदि सः स्वपेत् सर्वं सुषुप्तं मृतं च भवेत्, न कोऽपि न रुद्रोऽपि जीवेत्, का वार्ता चान्येषां लौकिकानाम्।

(६) स बृहत्पाण्डरवासा सोमो राजा नान्तः क्षीयते (बृह. उप. २-१-१)

(७) सैषैतादृशी सुषुप्तिस्तस्य भवति :—

(अ) यद्वैतन्नपश्यति पश्यन् ह्येतन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् नतु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।

(आ) यद्वैतन्न जिघ्रति जिघ्रन् ह्येतन्न जिघ्रति नहि घ्रातुर्घ्राते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त यज्जिघ्रेत्।

(इ) यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् ह्येतन्न शृणोति नहि श्रोतुः श्रुतेः विपरिलोपोविद्यतेऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्।

(ई) तद्वै तन्न रसयति रसयन् ह्येतन्न रसयति नहि रसयितू रसयतेः विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् न्नतु तद्द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्।

(उ) तद्वै तन्न वदति वदन् ह्येतन्न वदति नहि वक्तु र्वक्ते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीय मस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्।

(ऋ) तद्वै तन्न मनोति मन्वानो ह्येतन्न मनुते नहि मन्तु र्मते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् मन्वीत।

(ॠ) तद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् ह्येतन्न स्पृशति नहि स्प्रष्टुः स्पृष्टेः विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् स्पृशेत्।

(ऌ) तद्वै तन्न विजानाति विजानन् ह्येतन्न विजानाति नहि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद् विजानीयात्।

(ॡ) यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्……।

(ए) सलिले एको द्रष्टा द्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः।

(ऐ) एषा अस्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।

(ओ) 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।"

(ऋ. वे. १-१५४-६)

"तां वां वास्तू……वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" (ऋ. वे. १-२२-२०)

अब प्रश्न उठता है कि क्या वह प्राण सचमुच में सोता ही है? नहीं नहीं, कदापि नहीं। यदि वह सो जाय तो समस्त ब्रह्माण्ड सो जाय, मृताण्ड या मार्ताण्ड बन जाय; तब न तो वेधाः ही जीवित रह सके होते, न रुद्र ही, अन्य लौकिकों की बात ही कौन कहे। वह शुक्लाम्बर ज्योतिधारी सोम राजा कभी भी विकृत नहीं होता, सदा अक्षिति या निर्विकार या एकसा रहता है। उसकी सुषुप्ति इस प्रकार की होती है—वह सोये हुए पुरुष के समान यद्यपि नहीं देखता, पर वह देखते हुए भी नहीं देखता, क्योंकि उसके देखने का द्वार बन्द है, शरीर सुषुप्त है, वह स्वयं नहीं, वह शरीर के पर्दे के अन्दर जागृत है, ज्योतिर्मय रूप में देदीप्यमान है, क्योंकि उस द्रष्टा की दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता, वह नित्य है, अविनाशी है। दूसरी बात यह है कि उस समय वह अकेला ही है, कोई दूसरा है ही नहीं, उसने उस समय अपने को द्वितीय शरीर द्वार वान् से पृथक् कर दिया है, जब कोई दूसरा है ही नहीं तो वह देखे भी तो किसे, कोई उससे पृथक् अलग हो भी तो, शरीर है तो उसे उसने पर्वत गुहा की चट्टान सा ओट में लगा दिया है। इसी चट्टान को तोड़ना उसकी जागृति पाना है, शरीर में अपने में, उसकी जागृति की वह ओट वाली ज्योति विखराना ही योग है, योग प्रक्रिया है। इसी प्रकार सूंघना सुनना रस लेना बोलना मनन करना स्पर्श करना जानना इत्यादि के बारे में भी समझ लेना चाहिए, उससे कोई दूसरी वस्तु पृथक् होती तो उसे सूंघता, सुनता, रसलेता बोलता मनन करता स्पर्श करता या जानता। उसकी घ्राण श्रवण रसन वचन मनन स्पर्श और ज्ञान की शक्तियों का नाश नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी और अविकारी है, वह स्वयं गन्धमय शब्दमय रसमय वाङमय मनोमय स्पर्शमय और ज्ञानमय है, अकेला है। उससे पृथक् कोई दूसरा है ही नहीं जिनकी वह अनुभूति करे। जहां पर एक दूसरे से पृथक् रहते या होते हैं वहां एक दूसरे को देख सकता है। जब इस प्राण सागर में वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म अपने प्रतिबिम्ब सहित द्वैत रूप को धारण करता है, तब कहते हैं कि यह उस प्राण सागर के दोनों किनारों में आता जाता रहता है, यही ब्रह्म लोक है। यही परम गति है, यही परम सम्पदा, परम संविदा है, यही उसका परम लोक है, यही उसका परम आनन्द या प्राणों को देने की शक्ति है। जब योगी इस ज्योतिर्मय सागर के छोर पर पहुँच जाता है तो वह अपना द्वैत भाव प्रतिबिम्ब रूप भाव खोकर उसी ज्योतिर्मय सागर में एकता पा जाता है। इसका वर्णन ऋग्वेद ने देते हुए लिखा है कि योगी (सूरयः) जन उस विष्णु या ब्रह्म तत्त्व को आकाश में दिखाई पड़ने वाले सूर्य की तरह प्रकाशमानरूप में अपनी दैवी चक्षु को खोल कर नित्य ही देखते हैं। दूसरे स्थल में लिखा है कि हम ऋषि गण उस ब्रह्म-

लोक की यात्रा करने की इच्छा रखते हैं जहां पर अनन्त शृङ्गों वाली छान्दसी और वाक अदिति आपः रूप प्राणों के ज्ञानमय शरीर रूप धारोष्ण दूध को दुहने वाली गायें विद्यमान हैं जिसे विष्णु का परम पद भी कहते हैं इत्यादि। (५ से ७ ओ, तक)।

(७) (औ) एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।

(बृह. उप. ४-३-२३ से ३२ तक)

तस्य 'एकांशेन स्थितो जगत्' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'

(गीता)

"स एकीभवति, न पश्यतीत्याहुः
" " " न जिघ्रती "
" " " न रसयती "
" " " न वदती "
" " " न शृणोती "
" " " न मनुतइ "
" " " न स्पृशती "
" " " न विजानाती "

उसी मध्यवर्ती प्राण सागर की आनन्दमय लहरियों के एक मात्र अंश से समस्त अन्य भूत तत्त्व उपजीवित रहते हैं, उसी के एक अंश से यह आखिल कोटि ब्रह्माण्ड स्थित या निर्मित भी हुआ है। अतः भ. कृष्ण या विष्णु ने ही कहा भी है कि इस जीव लोक में जो जीवन या जीवता है वह सनातन और नित्य है, अमर है, अविनाशी है और मेरे उक्त प्राण सागर के अमृत की बूंद की एक मात्र मात्रा या अंश से निर्मित हुआ है। जब सब प्राणों का एकीकरण, संहार या ऐक्य हो जाता है तब कहते हैं कि वह नहीं देखता है, ऐक्य के कारण ही कहते हैं कि वह न तो सूंघता है, न चखता है, न बोलता है, न सुनता है, न मनन करता है, न स्पर्श करता है, न ज्ञान करता या समझता है। वहां तो सबका ऐक्य या संहार हो चुका है, कौन देखे, किसे, देखे, सूंघे, चखे, बोले, सुने, मनन करे, स्पर्श करे या समझे; वहां तो एक ही ही है, दूसरा है ही नहीं। योगी की समाधि में यही स्थिति रहती है, शरीर ही सुषुप्त सा रहता है पर उसके भीतर हजारों सूर्यों के एक साथ उदय होने के समान एकमय प्रकाश रहता है, वह सोता नहीं सदा जागृत ही रहता है अविकारी अविनाशी जो है। (७ 'औ')।

मोक्षयोग के लिए प्रस्थान—

(९) तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं (कौस्तुभश्चन्द्रकान्तमणिर्वा) प्रद्योतते ।

(१०) तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नोर्वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ।

(११) तदुत्क्रान्तं प्राणोऽनुक्रामति ।

(१२) प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ।

(१३) स विज्ञानो भवति स विज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।" (बृह० उप० ४-४-१, २)

(१४) 'ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।" (गीता ८-२१)

उस प्राण पुरुष का हृदय का अग्रभाग, या मध्यवर्ती (योगपक्ष में) नाभि (या सृष्टि पक्ष में योनि) सोम ज्योति रूप में चन्द्रकान्त मणि या कौस्तुभ मणि के समान (मनः की स्फटिक शिला में) चमकता है । जब यह पुरुष मोक्ष योग करने के लिए इस शरीर को छोड़ने लगता है तो वह इसी मणिप्रकाश के रूप में इस शरीर से निकल जाता है । यह या तो चक्षुओं के द्वारा या शिर का भेदन करके निकलता है अथवा शरीर के अन्य अङ्गों के द्वारा भी निकल जाता है । इस मणिप्रकाश के रूप के चलने पर इस मणि प्रकाश का मूलस्रोत प्राण भी साथ-साथ निकल पड़ता है । इस प्राण के निकलने पर इसके साथ अन्य सभी प्राण — वाक मनः चक्षु श्रोत्रं प्राण त्वक हस्तपादादि शक्तियां सब साथ साथ एक साथ युगपद् निकल पड़ती हैं । तब वह प्राण विज्ञान रूप केवल शुद्ध ज्ञानमय रूप का ही रह जाता है । इस स्थिति में उसके साथ एक तो उसकी विद्या या ज्ञान रह जाता है, दूसरा उसके किए कर्मों की मौलिक प्रकृति । इन्होंने ही उसको इस जन्म में पूर्व प्रज्ञा या जन्म समय के मौलिक संस्कार बन कर नये शरीर में निर्मित किया था । यह इस लिए कहा जा रहा है कि योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष पाना या पुरुषाप्ति है । सोमाप्ति के अनन्तर वरुण जातवेदा मित्र रुद्र अग्नि आदि अमृत तत्त्वों की प्राप्ति के लिए इस मधुसागर या सोम सागर को भी पार करना पड़ता है । इसे पार करने में इस भौतिकामृत सोमसागर ज्योति शरीर का भी त्याग करना पड़ता है, उसे केवल प्राण रूप में पार जाने की क्षमता है, शरीर सहित नहीं जैसा कि गीता ने भी कहा है ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥" (८—) यह योग की महती परमा गति या महापरमागति है । इसमें अमृत बन कर अमृत का आस्वादन करना पड़ता है (८ से १४ तक) ।

(१५) एकः स महासुपर्णः 'स हंसः' सः 'परमहंसो' वा ।

(१६) तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहृत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति । (बृह० उप० ४ ३-१९)

(१७) "शतं चैका हृदयस्य (मध्यस्थानस्य कमलस्य) नाड्य स्तासामूर्धान (कमलदण्डस्यान्तः मार्गं) मभिनिःसृतैका (यया ब्रह्मामनः, रुद्राग्नि-श्वागच्छतम्) । तयोर्ध्वमायनमृत्व (विष्णुत्व) मेति विष्वङ्ङन्या-उत्क्रमणे भवन्ति ।।' (छा० उप० ८-६)

(१८) तासामूर्ध्वं गामिन्या सुषुम्नया पुरीतत्या कुटिलया गत्या गच्छन्त्या ब्रह्म कमल दण्डान्तर्गतया ब्रह्मरुद्रौ मनोवाचौ वा प्रयान्तौ स्वयं स्वस्मिन् रममाणं विष्णुमन्तर्मुखं तेजो रूपं प्राप्नुवतम् ।

(१९) सैषा तस्य सदा जाग्रती सुषुप्तिः ।

उस परिस्थिति में वह प्राण तत्त्व एक महासुपर्ण या परम हंस या हंस के समान शुक्ल वर्ण का है, उत्तरार्द्ध में वही कृष्ण वर्ण हंस था । जिस प्रकार श्येन या सुपर्ण आकाश में चारों ओर घूम फिरने के पश्चात् थक कर अपने पक्षों को समेट कर एक घोंसले में बैठ जाता है इसी प्रकार वह योगी की आत्मा भी या वह प्राण पुरुष भी उस मध्यवर्ती प्राण सागर के कूलों में भ्रमण करता हुआ थका मादा सा होकर शान्त बैठ जाता है । उस समय उसमें कोई कामना नहीं रह जाती, न वह तब सोता ही है । वह तब निष्क्रिय जागृति में रहता है; नितान्त इङ्गित हीन निश्चल दीपशिखा सम देदीप्यमान रहता है । इसी को 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ते' कहते हैं ।

जहां पर योगयज्ञ का मनो रूप ब्रह्मा ऋत्विज बैठा है वही हृदय है, मध्यस्थान है, नाभि है । उससे १०१ नाडियां इतस्ततः प्रवाहित होती हैं जिनमें से एक पुरीतत् या सुषुम्ना ऊर्ध्वगामिनी है जिसके द्वारा वह ब्रह्मा और अग्नि-रूप रुद्र गये थे । उसके द्वारा ऊर्ध्व को जो प्राप्त हो सकता है वही अमृतत्व था सोमत्व को प्राप्त होता है, अन्य नाडियां सर्वतः प्रवाहिणी होकर प्राणों का सर्वत्र संचार करती रहती हैं । कमल नाल रूप इस पुरीतत् या सुषुम्ना के ही द्वारा वे ब्रह्मा और रुद्र, मनः वाक् की वैद्युतीय लहरों के रूप में उस विष्णु के तेजोरूप को प्राप्त हुए जो उक्त रूप में निर्वात दीप सम निश्चल ज्योतिर्मय था अन्तर्मुख था । इसी अवस्था को उसकी सदा जाग्रती सुषुप्ति कहते हैं (१५ से १९ तक) ।

(२०) प्राप्ते विष्णौ तेजोरूपे मनो वेधा वा जातः प्रचेता, चेतयिता च प्राणानां रुद्रस्याग्नेर्वाचः शरीरस्य ।

(२१) स वेधा ब्रह्मा सविता प्रसविता (चन्द्रमा) बभूव, रुद्रस्य प्राणेषु वागग्निर्जाता रसश्च, चक्षुः सूर्यः, प्राणोवायुः, श्रोत्रं दिशश्च शब्दश्च ।

(२२) एवं ते सर्वे 'देवा यद्यज्ञं तन्वानामबध्नन्पुरुषं पशुम्' ।

(२३) 'यदबध्नन्पुरुषं पशुं तं तदा सर्वे देवाः सर्वे प्राणाश्च जाग्रता अभूवन् ।

(२४) तस्मात्सुषुप्तिर्वास्तविका तु देवानां प्राणानामेवान्तर्मुखे विष्णोर्ज्योतिषाम् ।

उस तेजोरूप विष्णुज्योति या सोम को पाकर मनः नामक वेधाः प्रचेता या चेतयिता या ससंज्ञ होकर प्राणों में चैतन्यता प्रदान करने वाला बन गया, ये प्राण रुद्राग्नि रूप शरीर के या वाक् के पृथक् पृथक् अङ्ग थे। तब वह वेधा सविता या प्रसविता भी कहलाया, यही चन्द्रमा रूप स्फटिकशिलासम मानसिक शरीर है जिसमें आदित्य रूप विष्णु का तेज प्रतिबिम्बित होता है। तभी रुद्र के प्राणों में से वाक् में अग्नि का, चक्षु में सूर्य का, प्राण में वायु का, श्रोत्र में दिशा या शब्द का प्रस्फुरण हो गया। इस प्रकार इन सब देवताओं ने अपने अपने में उस पुरुष का प्राणयिता प्राण रूप या पशु रूप प्रतिबिम्ब बांध लिया, अपना लिया। तब सभी देवता तथा सभी प्राण युगपद् जागृत हो गये। अतः सुषुप्ति तो वस्तुतः इन्हीं देवताओं की रही, उस पुरुष की नहीं; विष्णु तो अन्तर्ज्योतिष्क होकर अन्तर्मुख था सुषुप्त नहीं (२० से २४ तक)।

(२५) देवेषु च ब्रह्मा रुद्रौ सदा जाग्रतौ विष्णुवत् ।

(२६) यदि तौ जाग्रतौ नाभविष्यतं कुतः कथं वा विष्णोर्ज्योतिषां प्राप्त्यै वै अयतिष्यतम् ।

(२७) तस्मादेतद्यजुषाभ्यनूक्तं भवति (३४-५५)—"सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ।

(२८) सप्त ऋषयो वै सप्त प्राणा रुद्रस्य वाचोऽग्नेः शरीरे, ते च सुप्ताः । तांश्च रक्षन्ति तेषां देवास्तेषां सदश्च त एवाप्रमादं यथा स्यात्तथा रक्षन्ति । ते च प्राणाः स्वपन्ति स्वानामपां शरीरेषु । स्वपन्त एव तास्वप्सु ते सृष्टावतिसृष्टौ चान्तर्बहिर्मुखं ज्योतिः प्राप्नुवन्ति, तादृश्यौ सृष्टीः कुर्वन्तीत्यर्थः । तेषुतेषु च तौ द्वौ देवौ ब्रह्मारुद्रौ सत्रसदौ च सदा अस्वप्नजौ च भूत्वा तान् संचालयतो जीवयतो रक्षयतश्च ।

देवताओं में भी ब्रह्मा रुद्र दोनों ही विष्णु के समान सदा जाग्रत ही रहते हैं, सदा सक्रिय, सतत क्रियाशील ही रहते हैं। यदि ये जाग्रत न होते तो किस प्रकार वे विष्णु की जागृति की चेष्टा में योगादि क्रिया करते ? इसीलिए इनके बारे में यजुर्वेद में लिखा भी है: —"सात प्राण रूप ऋषि इस अखिल कोटि

या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में निगूढ रहते हैं। इनकी रक्षा इनकी आत्मा रूप देवता पृथक् पृथक् करके इस शरीर या ब्रह्माण्ड को सुरक्षित रखते हैं। इन प्राणों के शरीर रूप आप: अवश्य में सदा सोते रहते हैं, इन्हें क्षण क्षण में स्मरण दिला दिला कर इनसे काम लिया जाता है, ये सोते सोते ही नाना लोकों के रूपाकारों में यदृच्छा नियति से परिवर्तित होते रहते हैं। इन सब में दो देवता नित्य जाग्रत रहते हैं, कभी स्वप्न या शयन का नाम नहीं लेते, वे इस शरीर या ब्रह्माण्ड के मुख्य अधिष्ठाता देवता हैं। वे ही इस शरीर या इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड को जीवित भी रखते हैं। फलतः यह स्वयं सिद्ध हो हो जाता है कि वास्तव में निद्रावस्था में रहने वाले तत्त्व यही आपः या इनके आपोमय कोश हैं, जिनके अन्दर की देव रूप ज्योतियाँ सदा जागृत ही रहती हैं, जलती ही रहती हैं। इनकी स्थिति ठीक उसी जाज्वल्यमान बल्ब के समान है जिसके बाहर एक अपारदर्शी कागज का पूरा ढक देने वाला या आच्छादित करने वाला पक्का पर्दा लगा दिया गया हो (२५ से २८ तक)।

अध्याय २ पाद ४ (अ)

योगिनां देवानाम्

(१) वाग्वै रुद्रोऽग्निर्वै रुद्रः शरीरं भूमिर्वेदिर्वा विष्णोः।

(२) विष्णुर्वै वेद्यां रुद्रे निगूढो गुहायाम् योगे।

(३) सृष्टौ तु द्यावा वै गुहा तस्यां निगूढा वेदिर्भूमी रुद्रो वा।

(४) वेधा वा ब्रह्मा वै मनो रुद्रस्य शरीरस्य वेद्या भूमेः पृथिव्या वाचो वा।

(५) अष्टमूर्ती रुद्रस्तस्मादष्टभिः प्राणैः।

(६) (क) ते चाष्टौ द्वन्द्वाः-वागग्नी, आपः सर्वौ, ओषधि पशुपती, वायूग्रौ, विद्युदशनी, भवपर्जन्यौ, चन्द्रमा प्रजापती महादेवौ।

(६) (ख) आदित्येशानौ वै ईश ईश्वरो महेश्वरः कुमारो नवमः।

(७) तदेतेषां प्रथमाः प्राणा द्वितीया देवा वा वसवो वाऽग्नयो वा।

अब देवताओं का योग करने वाला शरीर कैसा है? उनकी क्या क्या विशेषताएं हैं? इस पर विचार किया जाता हे। जिसे रुद्र कहते हैं वह तो वास्तव में वाक् है जो रोती है, उसकी आत्मा अग्नि है, तेजोवती है, वाक् तेजोवती होती है। यही विष्णु की भूमि या वेदि या शरीर है। वह विष्णु इसी रुद्र रूप रोदसी या भूमि या वेदि में गूढ है। यह ध्यान में रहे कि गुहा शब्द जहां कहीं भी वेदों में प्रयुक्त हुआ है वह योग प्रक्रिया मात्र का ही सूचक है। वेदों में इसका वर्णन वृत्र रौहिण शुष्ण जल आदि के तथा योगी देवताओं के सम्बन्ध में आता है। असुर इस गुहा को ढक देते हैं तो देवता उस ढकने को तोड़ फोड़ देते हैं, यही इनकी प्रक्रिया में अन्तर है योग की गुहा या वेदि यही रुद्र शरीर है। सृष्टि पक्ष में द्यावा गुहा है। उसमें यह वेदि या भूमि या रुद्र शरीर या वाक् निगूढ या मौलिक रूप में रहता है। जिसे वेधा नामक ब्रह्मा या इन्द्र कहते हैं वह उक्त रुद्र शरीर भूमि वेदि या पृथिवी या वाक् का मनः है। यह रुद्र अष्टमूर्ति है, ये आठ उसके मुख्य प्राण हैं। इन आठ प्राणों के आठ द्वन्द्व है वाक् अग्नि, आपः सर्व, ओषधि पशुपति, वायु उग्र, विद्युद अशनि, भव पर्जन्य, चन्द्रमा प्रजापति और आदित्य ईशान इन सब का सम्मिलित स्वरूप आदित्य-ईशान या ईश या ईश्वर कहलाता है। इन द्वन्द्वों के प्रथम प्रथम तो प्राण हैं द्वितीय द्वितीय उनके पृथक् पृथक् देवता, वसुरुद्रादित्य या बिभिन्न अग्नि रूप आत्मायें (१ से ७ तक)।

(८) योगी वै रुद्रः स होता संहरति कच्छववत्तावुभावतिसृष्टौ योगे वा (न तु मारयति संहारयति वा)

(९) स चाग्निरूपेण विरुध्यति वा विरोधयति वा स्वमनसं ब्रह्माणं स्वच्छन्दं बहिर्मुखं यदृच्छया यथाकल्पं यथाकल्पनं वा सृष्टिं कुर्वाणं स्वकीयामथ च 'युञ्जतेमन उत युञ्जते धियो' (ऋ० वे० यजु० ३७-१) योगे ।

(१०) रुद्रस्य मनसो ब्रह्मणो यादृश्यो यावत्यो वा कल्पनाः कल्पा वा तादृश्यस्तावत्यः सृष्टयः ।

(११) कदेतत्त्वमकार्षीरिति प्रश्नात्स मनो ब्रह्मा कन्नाम्ना कुत्सितनाम्ना 'क' इति नाम्ना वा प्रसिद्धोऽभूत् (ऋ. वे. १-१०५-पूरा) ।

(१२) (क) यस्मात्तेन स्वेन कल्पकेन 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखं' तस्मात्स हिरण्यगर्भः (रुद्रगर्भः) पृश्निः सम्प्रश्नश्च ।

(१२) (ख) तस्य सृष्टे 'रष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्मयः कोशः, स्वर्गो ज्योतिषा वृतः; ॥' यस्यां वसति विष्णू रममाणो रामः ।

वास्तविक योग कर्ता तो रुद्रमय शरीर है जिसमें उन उन प्राणों का एकत्र समावेश है । वही इन प्राणों का होता या संहर्ता या एकी कर्ता है, मारने वाला संहार करने वाला नहीं है । रुद्र देवता तो सबका संरक्षक पालक पोषक और शरीर धारक है । वह यह कार्य योग और सृष्टि दोनों स्थितियों में द्विमुख सर्प की तरह करता है । वह इस योग करने के लिए अपने इस शरीर में ही रहने वाले एक प्राण रूप मनः या मनोरूप ब्रह्मा को बहिर्मुख होकर यदृच्छा से अपनी मनमानी मनगढंत कल्पनानुसार सृष्टि करने से रोकता है या उसका पूर्ण विरोध कर के योग में जुटा देता है, साथ में प्राणों को भी योग में ढकेल देता है । सृष्टि पक्ष में इस रुद्र के मनः के जिस जिस प्रकार की जितने स्वरूप की कल्पना या कल्प विकल्प होते हैं उस उस प्रकार की और स्वरूप की सृष्टियां सामने आती हैं । यही मनः 'पृश्निः' या 'सर्वरूपधारी' है । रुद्र ने जब यह कहा—अरे तुमने यह कैसा कर दिया ? इस प्रश्न (कद) से कुत्सितार्थ वाची शब्द से वह 'कः' नाम से प्रसिद्ध भी हो गया । वह 'संप्रश्न' नाम से भी इसी लिए पुकारा जाता है (ऋ. वे. १०–१२९) वह कः या मनः अपनी कल्पना मय रंगीली या हिरण्यमयी प्राणमयी भौतिक बहुला सृष्टि के पर्दे से सत्य रूप सोम या विष्णु को ढक देता है, अति निगूढ कर देता है, अतः उसे हिरण्यगर्भ कहने लगे । हिरण्यगर्भ माने जो प्राण रूप विष्णु या सोम को अपने प्राण सृष्टि गर्भ में छिपा देता है । अथर्व वेद ने ऐसी प्राणमयी मुख्यप्राण गूहिनी सृष्टि को आठ चक्रों नौ द्वारों वाली अयोध्या (राम या विष्णु की) पुरी बतलाया है

जिसके अन्तर्गत पर्दे में वह ज्योतिष्मान् स्वर्गीय प्राणः या सोम या विष्णु छिपा या ढका रह जाता है, तिसपर भी वह राम उस पुरी में रमण ही करता रहता है अतः राम भी कहलाता है। (८ से १२ ख तक)

(१३) रुद्रस्याग्नेः शरीरिण्यो वाचो यद्बृहती रूपं यावद्ब्रह्म व्याप्तिरूपं तस्मादुप बृंहणादुत्पन्ना तस्यैव कल्पमयं मन एव ज्ञानमित्याचक्षते प्रज्ञा वा।

(१४) (क) या वै रुद्रस्य नदी रूपा वाक सा 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥' (ऋ. वे. १-१६४-४१)

(१४) (ख) तस्यास्तक्षणाज्जातस्त्वष्टा (वाक्) सविता वा सहस्रशीर्षा वा विश्वकर्मा वा प्रजापतिश्चन्द्रमा वा-यथा —

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥"

(यजु. पु. सू.)

(१५) या वै वाक् बोधमयी वानुभूतिमयी कवियित्री रसमयी सरस्वती या प्रबोधयति प्रजनयति पालयति प्रकल्पयति सरसयति च देवान् ज्ञानरूपान् बुधान् स्वे गर्भे सा वै विद्या, तस्या वै जातश्चतुर्ज्ञानमयश्चतुर्विद्यामयश्चतुष्प्राणमयश्चतुर्मुखो चतुर्वेदमयो ब्रह्मा, प्रणवशरीरः।

(१६) तत्र वाग्घोतर्चां चक्षुरध्वर्युर्यजुषां प्राण उद्गाता साम्नां मनः श्रोत्रं ब्रह्माऽथर्वणां ज्ञानं ददाति।

(१७) तान्येतानि 'यस्य निःश्वसितं वेदा' इति ज्ञानान्येव।

रुद्र रूप अग्नि की शरीर रूपिणी जो बृहती वाक है जो उतनी विशाल या व्याप्त है जितना ब्रह्म स्वयं है उससे उत्पन्न होने वाले कल्पनामय मनः को ही ज्ञानं या प्रज्ञा या प्रज्ञानं या विज्ञानं नाम का ब्रह्म कहते हैं। जो उस रुद्र का गौरी नाम का आपोमय प्राणमय शरीर है नाना प्राणमय नदियों में प्रवाही है और एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी रूपिणी हो कर सतत क्रिया मयी रहता है उससे तक्षित या निर्मित होने से उस मनः को सविता नामक त्वष्टा या तक्षक भी कहते हैं जैसा कि यजुः ने भी कहा है कि प्रजापति अग्नि तो अजायमान रूप में गर्भ में रहता है पर त्वष्टा गौरी देह उसको नाना रूपों के गर्भों में भरती जाती है। इसी त्वष्टा को चन्द्रमा या विश्वकर्मा वाक् भी कहते हैं। यहां पर ज्ञान और बोध में अन्तर जानना आवश्यक है। ज्ञान तो स्वतः प्रकाशमान, उद्दीपित करने की प्रतीक्षा में रहता है, बोध में उसकी उद्दीप्ति से उस ज्ञान की अनुभूति प्राणों में भिन्न भिन्न रूपों में

की जाती है। ज्ञान सब प्राणों की एक सामूहिक ज्योति है, प्राणों में इसकी सामूहिक ज्योति नहीं वरन् अपनी अपनी ज्ञेय शक्ति के अनुरूप अनुभूति होती है। देखना सुनना बोलना स्पर्श करना चखना सूंघना बोध हैं। मन में इनका ज्ञान है। अतः जिस वाक् को बोधमयी अनुभूति रूप ज्ञानमयी कवियित्री रसमयी सरस्वती कहते हैं जो प्रबोधन प्रजनन, सञ्चन, वाली है देवताओं को जागृत करती है गर्भ में रखती है बोधमय बनाती है उससे चतुष्प्राणमय चतुर्ज्ञानमय या चतुर्बोधमय चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि होती है इन्हीं के दैवी बोध को विद्या था ऋग्यजुः सामाथर्व कहते हैं। इसमें वाक होता ऋक् है, चक्षु अध्वर्यु यजुः है, प्राण उद्गाता साम है और मनः या श्रोत्रं ब्रह्मा या अथर्व है। इसीलिए इन सब से युक्त उस पुरुष के निश्वासों या प्राणों को ही वेद या विद्या कहते हैं क्योंकि ये सब उस ज्ञानमय के ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं (१३ से १७ तक)।

(१८) योऽयं बृहत्याः पुत्रो ब्रह्मा स एव वेधा इदिन्द्रो महायोगी निरोधितः सन् रुद्रेण।

(१९) गौर्या पुत्रो ब्रह्मा तु सहस्राक्षरं ब्रह्मा सात्विकतामसीसृष्टिकर्ता।

(२०) या गौरी सैव महाकाली रुद्राग्निजिह्वा रुद्रात्मवती योगमयी, योगेन विष्णो र्ज्योतिषामाप्त्यै सर्वान्प्राणान्देवाँश्च संहर्तुं वैकीकर्तुं वा प्रसारयन्ती लोलाग्निरुद्रजिह्वाम्। मुण्डमाला चास्याः प्राणानां योगिनां च माला। तस्या गौर्या देहोद्भूतैव महालक्ष्मीः (दुर्गा स. श. ५) यदनन्तरं 'कृष्णा' भवति सैव गौरी।

(२१) पञ्चमुखो रुद्रस्तु पञ्चप्राणः।

(२२) बृहतीनां वाचां पतिर्बृहस्पतिरेकमुखः प्राणमयो गौर्या वाचो नद्याः पति-र्विश्वकर्मा सहस्रमुखः सरस्वत्याश्च वाचो मनो ब्रह्मैव यः सह तया चतुर्मुखः।

(२३) सैषा वाक् त्रिविधा त्रिवृता च।

(२४) प्राणेष्वापोमयी रुद्रेष्वग्निषु तेजोवती मनसि ब्रह्मणि चादितिमय्यन्नमयी क्रमशः शुक्ला लोहिता कृष्णा च।

सरस्वती बृहती और गौरी, या विद्या (ज्ञानं) सत्यं और अनन्तं या सुन्दरम्।

जिनको यहां पर उक्त प्रकार के ज्ञानमय विद्यामय या अनुभूतिमय ब्रह्मा कहा गया है उनमें से बृहतीपति तो इन्द्र है, बृहस्पति है, वेधा वा इदिन्द्र है, महायोगी है, वह चतुर्मुख ब्रह्मा की विद्या से अनुभूति से नित्य योग करता है। चतुर्मुख ब्रह्मा ॐकारं या प्रणव या एकाक्षर ब्रह्म है उसी की सहायता से योग

सिद्ध हो सकता है। अन्यथा नहीं, गौरीपति सहस्राक्षर सहस्र शीर्षा है। वह क्रम से सात्विकी और तामसी दो प्रकार की सृष्टियाँ ही करता है। ये तीन प्राण है सत्यं ज्ञानं अनन्त ब्रह्म के सम्मिलित रूप और ये उन्हीं मौलिक तीन मुख्य प्राणों के प्रतिनिधि है जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण कहते हैं। इनमें से अन्तिम सात्त्विक, और तामसिक सृष्टि करता है; मध्यम राजसिक है या योग सृष्टि करता है और प्रथम प्राण योग में सहायता करता है। जिसे गौरी कहते हैं उसी को पुराणों में महाकाली नाम दिया गया है, इसकी जिह्वा रुद्राग्नि सूचिका है; इसकी आत्मा और पति रुद्राग्नि ही है, यह योगमयी वाक् आपः है। योग से विष्णु की ज्योति को पाने के लिए अपने शरीर के सभी प्राणों का और देवों का संहार करने या देव सभा में एकत्र करने या एकीकरण करने के लिए अपनी तेजोवती ज्वाला रूप लोलाग्नि रूप रुद्र या भयंकर जिह्वा को फैलाती हुई यह महायोगिनी नित्य विचरण करती है। यह सदा ही महायोगिनी महामायिनी ही है। जिसको पञ्चमुख रुद्र या षण्मुख रुद्र कहते हैं वह भी पञ्चप्राण शरीरी या षटप्राणमय शरीरी रुद्र या ब्रह्माण्ड शरीर या ईश्वर ही है। बृहती नाम की वाणियों का पति एक मुख है, वह बृहस्पति (इन्द्रः) प्राणमय योगी है, गौरी वाक् नदी रूपिणी का पति सहस्रमुख विश्वकर्मा है और सरस्वती वाक् का पति चतुर्मुख प्रकाशमय देवमय विद्यामय ब्रह्मा है। इस प्रकार यह वाक् त्रिवृत् और त्रिविध है। यह प्राणों में आपोमयी अग्नियों या रुद्रों में तेजोवती और मन में अदिति या अन्नमयी शुक्ला लोहिता और कृष्णा है (१८ से २४ तक)।

अध्याय २, पाद ४ (आ)

प्राणाः

(१) नेन्द्रियाणि वै प्राणास्तेषां घोरमूढमहाभौतिकत्वाद्बहिर्मुखत्वाच्च ।

(२) नातीन्द्रियाण्यपि तेजामपि महाभौतिकत्वान्नित्यमिन्द्रियबद्धत्वाच्च ।

(३) प्राणा वै ब्रह्माण्डस्याध्यात्मानः सर्वेषां देवानां च ।

(४) ते चैकविधाद्दशादि बहुविधा ।

(५) यथैकमुखो मुख्यः प्राणो द्विमुखोऽन्नं प्राणश्च, त्रिमुखस्त्रयी प्रसिद्धा, चतुर्मुखश्चतुष्पादश्चतुष्प्राण एवं पञ्चमुखादयः पञ्चषडादि प्राणाः ।

(६) एवं हस्तपादाङ्गुल्यक्षिश्रोत्रशिरष्काः ।

(७) यथा "ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथम पपौ स चकारारसं विषम् ॥" (अथर्व २-६-१)

(८) सहस्रमुखस्तु चन्द्रमा पृश्निः सर्वाणि रूपाणि सृष्टौ स सम्प्रश्नः ।
'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमि'त्यादिषु चाङ्गुलिशब्द प्राणवाची संख्या च प्राणानाम् ।

प्रायः देखने में आता है कि सभी व्याख्यानुवादकारों ने वेदों ब्राह्मणों, उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों में आये वाक् मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं आदि नामक प्राणों का अनुवाद इन्द्रियवाचक शब्दों में किया है । यह उनका महान् भ्रम है । क्योंकि उक्त ग्रन्थों में इन प्राणों का संकेत इन्द्रियों के लिए नहीं हुआ है । इन्द्रियाँ तो घोर और मूढ महाभौतिक तथा अनन्त हैं । इनकी अतीन्द्रियां जो इनसे सूक्ष्म हैं वे भी महाभौतिक या पारमाणविक हैं और नित्य ही बहिरिन्द्रियों से निबद्ध रहती है । वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों में जिन तत्वों के लिए प्राण शब्दों का संकेत किया गया है वे तो अखिल ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक आत्मायें हैं, वे ही देवताओं के आध्यात्मिक शरीर भी हैं । ये शरीर या ब्रह्माण्ड के नाना प्रकार के आभ्यन्तर कोशों का संकेत करते हैं । कभी एक ही कोश माना जाता है, कभी दो, कभी तीन, कभी चार, कभी पांच, कभी छह, कभी सात, कभी आठ, कभी नौ और कभी दस से पचास तक । जिसे एक या एक मुख कहते हैं वह मुख्य प्राण है, जहां दो कहते हैं वहां अन्न और प्राण दो तत्वों का संकेत रहता है, जहाँ त्रिमुख कहते हैं वहाँ प्रथम मध्यम उत्तम प्राण रुद्र ब्रह्मा विष्णु का संकेत होता है, जहां चतुर्मुख कहते हैं वहाँ चतुष्पाद या चार प्राणों की चर्चा रहती है, इसी प्रकार पाँच

छह, सात, आठ, नौ या दश प्राणों में इतनी ही संख्या के प्राणों का संकेत होता है। दशमुख दश प्राण हैं। इसी प्रकार विभिन्न संख्या के हस्त पाद अङ्गुलि आँख, कर्ण और शिरों की व्याख्या समझें, जैसा अथर्व ने लिखा है कि सबसे पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) दश मुखों और दश शिरों का उत्पन्न हुआ। उसी ने सर्वप्रथम सोम का पान किया, उसने शेष को विष सिद्ध कर दिया। और जिसे सहस्रमुख, शिर, आंख, कान, नेत्र, हस्तपादादि का पुरुष कहते हैं वह तो सृष्टि-काल में 'पृश्निः सर्वाणि रूपाणि' या सविता चन्द्रमा प्रजापति का संकेतक है। वही संप्रश्न या शब्दों में अनिर्वचनीय है, सर्वरूप होने से जो कुछ भी कहो कुछ प्रश्न शेष रह ही जाता है। परन्तु पुरुषसूक्त के से 'दशाङ्गुलम्' इत्यादि शब्दों में अंगुलि शब्द भी प्राणों का वाचक है, उसके पहले का 'दश' शब्द प्राणों की संख्या देता है। यह बहुत ही आवश्यक जानकारी है, ध्यान में रखें। (१ से ८ तक)।

(९) 'यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह. उप. १-५-८)

(१०) त्रयो वै अमृतप्राणाः प्रथममध्यमोत्तमास्तेषां मध्यमो ज्येष्ठः श्रेष्ठो मुख्यश्च स इध्मः स रजस्तस्य रजांसि स 'रजसो विमानः'

(११) आद्यन्तौ प्राणोदानौ प्राणापानौ वा, तावश्वावश्विनौ हरी श्वानौ हरितौ।

(१२) प्रथमौ द्वौ रुद्रब्रह्माणौ सृष्टा वात्मानौ देवौ योगेत्वाध्यात्मानौ शरीरौ तृतीयस्य विष्णोः पुरुषपशोः।

(१३) तृतीयः पुरुषपशुर्यः स सोमः स विष्णुः सः प्राणः स भौतिकात्मा।

(१४) ज्योतिषां यस्य रसानां पानं मनोब्रह्मेन्द्रो वा स्वरजःस्फटिकात्मनि प्रतिबिम्बरूपेण करोति।

(१५) प्रथमःप्राणः पञ्चमुखो रुद्रोऽग्निः।

(१६) प्राणश्चक्षुषि, व्यानः श्रोत्रे, ऽपानो वाचि, समानो मनसि, य उदानः स वायौ पञ्चप्राणाः पञ्चप्राणेषु मुखेषु।

(१७) स 'ब्राह्मणो' 'दशशीर्षो दशमुखः' स 'महान्देवो वृषभो रोरवीति' स रुद्रो ऽग्निः प्राणभृद्विद्वान्योगयज्ञकर्ता संहर्ता प्राणानां तेषाम्।

(१८) तस्य प्राणास्तस्यैव पञ्चचितयः पञ्चपशवो वा।

(१९) ते 'पुरुषपशुरश्वोगोरविरजा।

(२०) अश्व उदानो गौ र्व्यानोऽजोऽपानोऽजाप्राणः सूर्यः समानश्चन्द्रमाः पुरुषपशुः प्रतिबिम्बितो मनसि ब्रह्मणि स्फटिकशिलायाम्।

(२१) योगे सैवावस्था 'देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुमि'ति गीयते।

इस सृष्टि में जो कुछ भी अविज्ञात तत्त्व है वह प्राण का स्वरूप है, क्योंकि प्राण तत्त्व सबको सदा ही अविज्ञात ही रहता है, इसका रहस्य कोई विरला भी जान ले तो वह उसे शब्दों में नहीं कह सकेगा। यह तो केवल अनुभूति का

विषय है। मुख्य प्राण तीन हैं, तीन प्राणों को अमृत नाम से पुकारा जाता है। उन्हें प्रथम, मध्यम, उत्तम प्राण कहते हैं। इनमें से मध्यम प्राण श्रेष्ठ ज्येष्ठ और मुख्य है, वही रजः है, उसी के देदीप्यमान षड् रजांसि हैं, वही या उसी का 'रजसो विमान' है, वही इध्म या अगल-बगल के अन्य दो प्राणों को इद्ध समिद्ध या प्रदीप्त करने वाला भी है। आदि और अन्त के प्रथम और उत्तम प्राणों को प्राणोदानौ या प्राणापानौ कहते हैं। इन्हीं को उस मध्यम प्राण (इन्द्र) के दो अश्व या अश्विनौ या यम के दो श्वानौ शबलौ या हरितौ भी कहते हैं। प्रथम दो (प्रथम-मध्यम) तो रुद्र या अग्नि और ब्रह्मा हैं, वे सृष्टिपक्ष में तो तृतीय उत्तम प्राण की दैवी आत्मायें हैं और योग पक्ष में दैवी आध्यात्मिक शरीर। यह तृतीय विष्णु या पुरुष पशु है। पुरुष पशु वह तत्त्व है जिसमें प्राण देने की शक्ति है, जो प्राणदाता है, जिसका दर्शन किया जाता है जैसे 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः' (श० प० ब्रा०); और जिसे पुरुष पशु या विष्णु कहते हैं वही सोम मय है, वही भौतिकामृत रूप प्राण है, जिसकी ज्योति रूप रसों का पान ब्रह्मा और रुद्र योग द्वारा अपने स्फटिकात्मा रूप शरीर में प्रतिबिम्बित रूप में करते हैं। इनमें से प्रथम प्राण पञ्चप्राण शरीरी पञ्चमुख रुद्र रूप अग्नि है। इन प्राणों के नाम द्वन्द्व में प्राणचक्षु, व्यान-श्रोत्र, अपानवाक् निरुक्ता, समान मनः, उदान वायु हैं। प्रथम द्वितीय में आश्रित रहता है। अथर्व ने जिस ब्रह्म या ब्राह्मण को दशमुख और दशशीर्ष कहा है वह यही रुद्र ही रावण रूप है, उसी को वाक् वृषभ रूप में रो रवण करने वाला रावण या वृषभ कहते हैं। यह आसुर भौतिक ब्रह्म या ब्राह्मण है। इस रावण के दश प्राणों का वध या संहार योग द्वारा किया जाता है, रामलीला में रावण वध योग प्रक्रिया ही है। यह रुद्र अग्नि ही है, प्राणभृत् है, ज्ञान प्रकाशमय है, योगयज्ञकर्ता और उक्त दश प्राण रूप दशमुखों का संहर्ता एकीकर्ता है जिसे रावणवध कहते हैं। उसकी पांच चितियाँ या पांच चितायें हैं जिनमें यह रुद्र उन प्राण पशुओं का एक एक करके संहार या वशीकरण करता है। प्रत्येक प्राण एक पशु है जिनके क्रमिक नाम पुरुषपशु अश्व, गो, अवि, अजा हैं। अश्व उदान है, गौ व्यान है, अज अपान है, अजा प्राण सूर्य है, समान चन्द्रमा है, जिस में पुरुषपशु रूप सोमप्राण की ज्योति प्रतिबिम्बित होती है वह ब्रह्मा या मन की स्फटिक शिला (चन्द्रमा) कहलाती है। इसी स्थिति का वर्णन करनेवाली पुरुषसूक्त की ऋचा कहती है कि योग पक्ष में देवताओं ने उक्त प्रकार का योग यज्ञ करके उस पुरुषपशु रूप सोमप्राण की ज्योति को अपने मनोरूप स्फटिक शिला में प्रतिबिम्बित करके बांध लिया या अनुभूत कर लिया (९ से २१ तक)।

अध्याय २ पाद ४ (इ)

कुण्डलिनी योग क्या है ?

(१) एतद्वक्ष्याम पश्चाद्यत् प्रतिकूलमुखाः प्राणा नग्ना नागा इति ।

(२) एकं मुखं दैवी द्वितीयं चासुरी प्रथमे चैतन्यं ज्योतिर्ज्ञानममृतं च द्वितीये तु विषमन्धकारमज्ञानं मोहं च वसाते ।

(३) उभे ते मुखे चाकर्षतो मनः स्वपक्षाय ।

(४) यत्र यदेव विजयी तत्र तदेव सः ।

(५) दैवस्य विजये देवः स विरोधिनो विजये असुरः ।

आगे बताया जायेगा कि प्राण प्रतिकूल मुखवाले द्विमुख नागों के समान हैं । उनका एकमुख दैवीवृत्ति का है दूसरा आसुरी। ये दोनों मुख मनः को अपनी अपनी ओर खींचते रहते हैं। दैवमुख के साथ मनः भी 'दैवं मनः' हो जाता है और आसुर के साथ 'आसुरं मनः' । इन दोनों में से जो मुख बलीयान् होता है वह व्यक्ति या ब्रह्माण्ड तद्वत् भी हो जाता है । दैवी मुख के विजय में व्यक्ति देवता होता है, आसुर मुख की जीत में असुर। एक में अमृत है, ज्योति है, विवेक है, चैतन्य है, दूसरे में विष है, अन्धकार है, अज्ञान है, निश्चलता है, मोह है (१ से ५ तक)

(६) यो योगी तदाकारमुभयत्रमुखं प्राणसूत्रं कुण्डलाकारं कृत्वोभयोस्तयोर्मुखे एकत्रीकृत्यासुरं सुराग्निना मुखेन दग्धुमसत्यं सत्येनेवाग्नौ घृतमिव तत्कालं शक्नोति सः परमो योगी ।

योगी वह है जो उक्त उभयत्रमुखी नाग रूप प्राणों को कुण्डलाकार बना कर उन दोनों मुखों को एक दूसरे से जोड़ कर असुर मुख के मोम या घृत से उसी में दैवी मुख की ज्योति की वर्तिका प्रदीप्त कर लेता है। इनमें दैवी मुख की ज्योति त्रिपादामृत है, सत्य है, नित्य है, वह उस असुर मुख के मोम या घृत के पूरे जलने तक उसे जलाता रहता है (अर्थात् घृत रूप आयु तक वह उस दीप को प्रदीप्त रखता है)। इसी परिस्थिति में दैवी प्राणों की अन्तः-शक्ति सोमज्योति या विष्णुज्योति की चन्द्रिका छिटकती हुई बिखरती है, उसके गम्भीर सागर में योगी अपने को निमग्न पाता है। यही योग की परमस्थिति या परागति है। इसे परम योगी ही प्राप्त कर सकता है या यह कार्य परम योगी ही कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति परम योगी है (६)।

(७) तयोर्दैवासुरीप्रवृत्त्योः सूत्रं नागरूपं प्राणमुभयत्रमुखं 'य एवं वेद' स वेद वेदान् स वेद योगं स वेद कुण्डलिनीयोगं, स वेद वित् स ब्रह्मवित्स ब्रह्मैव ।

(८) अपानं वीर्यं व्यानं वा समानेन प्राणोदानयोरूर्ध्वगतिकयोः समं सम्बध्य तान् भृकुटिकेन्द्रे पुरीतति स्थितेन मनसा योज्य तन्मनोवर्तिका प्राण घृतेन दैवीप्राणज्योतिषा प्रज्वाल्य चैवं प्राणसूत्राणां कुण्डलाकारबन्धनमेवं स्वशरीरे कुण्डलिनीयोगस्तस्यारम्भोऽपानाद्यस्य जागृते शरीरं स्वयमेवो-र्ध्वमाकाशं दिशायामुत्तिष्ठति । भृकुटौ चन्दनलेपनं च मनसः शीतलतायै स्थाननिर्धारणाय च ।

(९) सैव स्थितिर्वज्रमिन्द्रस्य चक्रं विष्णोः कमण्डलुर्ब्रह्मणः सिंहो देव्या, तयोः प्राणयोर्द्वन्द्वं च देवासुर-संग्रामो यत्र देवा विजयिनोऽसुराः पराजयिनो बद्धा निबद्धा वा स योग ।

इन दो प्रकार की दैवी और आसुरी प्रवृतियों वाले द्विमुख नाग की एक सूत्रता को जो जानता है, वही वेदों को जान सकता है, वही योग का ज्ञाता है, वही कुण्डलिनी योग के स्वरूप को समझ सकता है, वही ब्रह्मवित् है, वह स्वयं ब्रह्म है। फलतः अपने शरीर के द्विमुख नाग रूप प्राणों को कुण्डलाकार रूप में एक साथ बांधना ही कुण्डलिनी योग कहलाता है। इसकी जागृति अपान से प्रारम्भ होती है। इसके जाग्रत होते ही शरीर हल्का होकर आकाश की ओर उठने लगता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस योग को कैसे किया जावे। इसे बिना योग्य गुरु के नहीं सीखा जा सकता, चाहे कितनी ही स्पष्ट विधि लिख दी जावे। उक्त प्राणों के दलों में से एक दल या दैवी प्राण मस्तिष्क में रहता है दूसरा आसुरी धड़ और मुख की बाहरी इन्द्रियों में और यह दूसरा दल अपनी उदर-पूर्ति और भोगों के लिए मस्तिष्क वाले दल को सदा स्वार्थ में अनुरत करता है। इनको वश में करने के लिए योगी के लिए मुख्य कार्य अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके वीर्य की रक्षा करना है। यह वीर्य इस शरीर का सार व्यान प्राण रूप घृत है जिससे मन की बत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से दीप्त किया जाता है। जितना अधिक घृत होगा उतना ही अधिक प्रकाश और उतनी ही अधिक देर तक यह योग-दीप जलता रहेगा। वही इस शरीर का व्यान प्राण रूप ब्रह्माण्ड का स्थूल ब्रह्म भी है। इस योग के लिए सभी प्राणों की शुद्धता आवश्यक है जिसके लिए नाना विधियां बताई गई हैं, साथ में इस योग करने की शुद्ध प्रेरणा भी। जब यह हो जाय तब योगी को सब से नीचे के अङ्गों से प्रारम्भ करना पड़ता है। उसे गुदा और वीर्य यन्त्र को वश में करना पड़ता है। इनको वश में करने के लिए प्राण उदान को ऊपर से, व्यान अपान

को नीचे से खींचकर मध्य में समान प्राण से सन्तुलित करना पड़ता है। तब इन सब प्राणों के मुखों को भृकूटिमध्य में, जहां मन या इन्द्र सुषुम्ना या पुरीतत् के अन्दर मध्यद्वार रहता है, ले जाकर उनके घृत या वीर्य से इन मन की वत्ती को दैवी प्राणों की ज्योति से प्रज्वलित किया जाता है। इसीलिए इस भृकुटि स्थान में चन्दन का टीका और माथे में तिलक लगाया जाता है जिसमे हमें उसके स्थान का ज्ञान और उसे शीतलता प्राप्त हो। यही योग की परमोच्च स्थिति है। जब यह सिद्ध होने को रहता है तब योगी का आसन भूतल को छोड़ कर आकाश में उठ जाता है, तब उसे भूतलाधार की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। यही शक्ति इन्द्र का वज्र, विष्णु का चक्र, देवी का सिंह, ब्रह्मा का कमण्डलु और रुद्र का त्रिशूल है। इसकी प्रक्रिया का द्वन्द्व ही देवासुर संग्राम है, यहां देवता विजयी हैं, असुर बंध गये या वध को प्राप्त हो गये हैं; यही योग है। (ऋ. ७-९)

अध्याय ३ पाद १

योगमाया

(१) अथातो योगमाया ।

(२) योगमाया देवासुरयोः ।

(३) सृष्टेः शरीरस्य वाभ्यन्तःकोशे यो रसो यज्ज्योतिस्ते देवाः ।

(४) तयोर्यो बाह्यः कोशः शरीरं वा तेऽसुराः ।

(५) अन्तर्मुखज्योतींषि वै देवा बहिर्मुखान्धकारास्तामसा असुराः ।

(६) प्राणानां ज्योतींषि देवाः ।

(७) अन्तर्मुखाः प्राणाश्च देवास्तेऽमृता अमरा वा ज्योतिष्मन्तः ।

(८) बहिर्मुखान्धकारमयाः प्राणा भौतिकप्रधाना असुरास्ते मर्त्या मृता वा ।

(९) प्राणाः स्वयं मनुष्या नराः नाराः पञ्चप्राणानां शरीराणि ।

(१०) श्रेयो निवृत्तिमार्गाः प्राणा देवाः प्रेयः प्रवृत्तिमार्गाश्चासुरास्त एव ।

अब योगमाया का वर्णन दिया जाता है। योगमाया देवताओं और असुरों की होती है। सृष्टि के शरीर या आभ्यन्तर कोश में जो रस रूप ज्योति निरन्तर प्रवाहित होती है वे देवता हैं। उस शरीर का जो बाह्य कोश या बाह्य प्राण शक्तियां हैं या शरीर हैं वे असुर हैं। देवता सब आभ्यन्तर मुख वाली ज्योतियों के रस रूप है, असुर बहिर्मुख अन्धकारमय हैं केवल द्वारमय यन्त्र हैं। प्राणों की ज्योतियों का नाम देवता है। जब ये प्राण अन्तर्मुख होते हैं तब तो ये देवता रूप धारण करते हैं, वे अमृत हैं, अमर हैं, अविनाशी हैं, ज्योतिष्मान् हैं। बहिर्मुख प्राण ही अन्धकारमय भौतिकताप्रधान होने से असुर हैं, मर्त्य हैं, मरे से हैं, शव या शत्रु या भ्रातृव्य हैं। प्राण मूलतः नर या नार या आपः शरीरी, प्रत्येकरूप में ढलने योग्य और पञ्चप्राणों प्राणोदा-नादि के शरीर हैं। जब प्राण श्रेयः या निवृत्ति मार्गपरायण होते हैं तभी वे देवता कहलाते हैं; जब वेही प्रेयोमार्ग या प्रवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं तब वेही असुर कहलाते हैं (१ से १० तक)।

(११) इत्थं प्राणा हि सर्पा द्विमुखाः, प्राणा हि नागा नग्नाः ।

(१२) उभयोर्मुखयोः स्वामिनोर्देवासुरयोर्युद्धं नित्यम् स्वपक्षे कर्षणं मनसः ।

(१३) तदेव समुद्रमन्थनं प्राणानामपां शरीरस्य सा वै योगमाया ।

(१४) 'मायोत्सा यानि युद्धान्याहुः' (ऋ० वे० १०-२७-३; १०-५४-२) (श० प० ब्रा० ११-१-६-९, १०)।

(१५) माया वै अनन्तरूपतैकस्य मनस इन्द्रस्य 'मायाभिरिन्द्रः पुरुरूप उच्यते' स तस्मात् 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋ० वे० ६-४७-१०) 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (ऋ० वे० ३-५३-८)।

(१६) आभिरेव 'मायाभिरिन्द्रं मायिनमि'त्याहुः (ऋ० वे० १-११-७)।

(१७) आभिरेव 'मायाभिरुत्सिसृप्सत' सः (ऋ० वे० ८-१४-१४)।

(१८) स जनास इन्द्रो 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' मनस्वी मन्वी वात्मन्वी वा प्रजापतिः (ऋ० वे० २-१२-१)।

(१९) स योगी यस्य 'योगे योगे तव स्तरं वाजे वाजे हवामहे' इति याचना।

(ऋ० वे० १-३०-७)।

इस प्रकार ये प्राण द्विमुख सर्प के समान उभयमार्गगामी नग्न नाग सम है। इनके इन दो मुखों के स्वामी क्रम से देवता और असुर हैं। इन दोनों स्वामियों में देवासुरों में अपनी अपनी ओर खींचने की निरन्तर की खींचातानी की प्रतिद्वन्द्विता या पारस्परिक युद्ध नित्य चलता है। इनकी इसी खचातानी या निरन्तर युद्ध का नाम समुद्रमन्थन है। आपोमय प्राणों की प्रवृत्तियों की देवासुर रूप लहरों की इस निरन्तर झकझोरने की स्थिति को ही योगमाया कहते हैं। माया नाम इन्हीं पारस्परिक युद्धों का है। ये आपोमय प्राण, मध्यमप्राण रूप मनः या इन्द्र की द्विमुखी सेना हैं जिनसे वह मनोरूप इन्द्र नाना प्रकार की कल्पनामयी सृष्टि या माया का जाल रचता है,। अतः उसे 'पुरुरूप' अनन्तरूपधारी भी कहते हैं। इन्हीं माया-ओंसे इन्द्र रूप मन को 'मायी' भी कहते हैं; इन्हीं से वह योग या सृष्टि दोनों किया करता है। वह मनस्वी मनोमय मन्वी या आत्मन्वी प्रजापति या वेधाः है। वही योगी भी है जिसके योग करने के लिए प्रत्येक योग यज्ञ में या सृष्टि यज्ञ (वाजे) में उसकी स्तुति सर्वप्रथम की जाती है या उसका आह्वान किया जाता है (११ से १९ तक)।

(२०) मन एव तस्य शरीरं रथं प्राणौ हरी युञ्जानौ योगायैव तस्मिन्।

(२१) 'तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवा-स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति (योगेनैव)॥' (केन उप० ३-१, २)।

(२२) "एतमेव ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमितीं ३ तस्मादिदिन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदिन्द्रमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया हि देवाः॥" (ऐत० उप० २ ३)।

(२३) यदि प्राणेन सृष्टमथ कोऽहमिति स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनं (बनम्) (ऐ० उप० २-३)।

मन ही उस इन्द्र का शरीर है, उसकी आत्मा इन्दु सम स्फटिकमणि सम स्वयं राजमान या प्रकाशमान स्वराट् इन्द्र है। मन अतः उसका रथ है, प्राणोदान उसके हरी या अश्व या हरितौ हैं जिनको वह योग करने ही के लिए उस अपने मनोरूप रथ में जोत देता है। इसी लिए इन्द्र को अन्य सभी देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ या मुख्य कहते हैं। इसी ने अपने मनोरूप शरीर की सीमा को विदीर्ण करके पुरीतत् या सुषुम्ना नाडी के विदृति द्वार को खोलकर उस सोम ज्योतिष्मान् विष्णु को सर्वप्रथम विदित या अनुभूत किया। उसने द्वार को इदिन्द्र या विदीर्ण कर प्रकाश पाया अतः उसे इन्द्र नामसे पुकारते भी हैं। क्योंकि उसी ने ब्रह्म को ज्योतिरूप में व्याप्त देखा, और चिल्ला उठा 'मैं ने उसे देखा ! मैं ने उसे देखा !! वह तो वैद्युतीय प्रकाश सम देदीप्यमान है !!!' उसने सोचा यदि मुझे प्राण ने निर्मित किया है तो मैं उस प्राण के सूत्र के विदृतिद्वार का भेदन करके उसके पास पहुँचूं और जानूँ कि मैं कौन हूँ या किससे बना हूँ। अतः जिस सीमा को विदीर्ण कर के वह आगे बढ़ा। उसी मार्ग का नाम नान्दन वन या इन्द्र का आनन्दन वन या आनन्दमय ब्रह्म क्रीडा प्राप्ति का वन या स्थान या उपवन है। उसी को विदृति नामक द्वार कहते हैं. यदि यह खुल गया तो वह ज्योतिरूप नान्दनवन सा अद्भुत लोक सामने आ गया (२० से २३ तक)।

(२४) यैषा विदृतिर्नाम द्वास्तद्ब्रह्मकमलनालं नडं नाडी सुषुम्ना वा पुरीतत्कुटिला वा।

(२५) तद्ब्रह्म रन्ध्रमन्तरिक्षोदरं वा कुहरं वा।

(२६) तस्मात्तस्येन्द्रस्य 'नाद्यः शत्रुर्नंपुरा विवित्से' (ऋ० वे० श० प० ब्रा०)।

(२७) नवतिर्नव या अभेद्याः पुरस्ताः आसुराणां प्राणानां सप्तानां मध्ये सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः (ऋ० १-१६४) (६ $\frac{३}{५}$ × १५) प्रतिप्राणकोशानां प्रतिप्राणकपालानां पञ्चदशानां वा साधना क्रमशो विजयश्चाष्टौ प्राणाः सोमोऽध्यर्धः (बृ० ३-९)।

(२८) ते तस्य क्रतवो योगयज्ञा वा, शततमश्च क्रतुः पूर्णो योगः।

जिस प्राण सूत्र के विदृति द्वार के भेदन की चर्चा ऊपर की गई है उसको पुराणकारों ने ब्रह्मासन सहस्रदल कमल की नाल के नाम से पुकारा है और उस कमल नाल का भीतर से वेध करके उसके द्वारा अपने जन्मदाता विष्णु के पास जाने की कथा दी है। यह हमारे शरीर और ब्रह्माण्ड शरीर दोनों में है। हमारे शरीर में इसे कुटिला, सुषुम्ना या पुरीतत् कहते हैं जो

इस प्राणसूत्र के विदृति द्वार को खोलकर विष्णुरूप बुद्धि के क्षीरसागरशायी विवेक या ज्ञानज्योतिष्मान् दीपक के पास पहुँच जाता है। इसी का नाम अन्यत्र ब्रह्मरन्ध्र या अन्तरिक्षोदर या कुहर है। इसीलिए कहा गया है कि इस इन्द्र का न कोई आदि का शत्रु है, न कभी उसे किसी शत्रु का ज्ञान ही रहा या न वह कभी किसी शत्रु से लड़ा। जिन ९९ असुरों के पुरों द्वारों यज्ञों चक्रों आदि के लिए ऋग्वेदादिकों में इन्द्र के साथ युद्ध होने की बातें लिखी गई हैं उनकी गणना भी इन्हीं प्राणों में से 'सप्तार्धगर्भा भुवनस्यरेतः' (ऋ. वे. १-१६४) या ६३⁄५ प्राणों को एक-एक पक्ष के १५, १५ दिन या भागों में विभक्त करके की गई है। बात यह है, इन्द्र का स्थान ३२वां है, ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य=३१, ३२वां इन्द्र है और ३३वां प्रजापति। सोम का स्थान २६वाँ आदित्य है। इन्द्र ३२वें से योग करके २६वें तक ६३⁄५ तत्त्व की यात्रा करता है। कुल मुख्य प्राण आठ हैं—(पाँच आध्यात्मिक प्राण और तीन मुख्य प्राण) इनमें से सोम को १३⁄५ प्राण कहते हैं, शेष ६३⁄५ के १५ गुने=९९ होते हैं। प्राणों के इन्हीं विभागों या इन्हीं विशेष रूपान्तरों को ९९ किले, पुरियां या चक्र या यज्ञ कहते हैं, इन्हीं को जीतना इन्द्र का योगयज्ञ है यही इन्द्र को शतक्रतु नाम देता है, यही उसके सौ चक्र या सौ वज्र हैं। सौवां क्रतु या यज्ञ या चक्र पूर्ण योग है, तब वह इन्द्र उस सोमीय ज्योतिरूप चक्र के पास पहुँच जाता है जो विष्णुरूप केन्द्रविन्दु के चारों ओर घूमता सा रहता है। यह वैद्युतीय प्रकाशमय लहरियों की सर्वत्र प्रवाही व्यापक तारतम्यता है (२४ से २८ तक)।

अध्याय ३ पाद २

देवासुरयोः स्वरूपम्

(१) द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः (बृह० उप०)।

(२) असुराणां प्राणानां शरीरेभ्यो योगेनोद्दीप्यन्त इत्यसुरा ज्यायांसो देवानामुद्भवास्तेभ्य इति ते कनीयांसः।

(३) यावन्तो देवास्तावन्तोऽसुराः प्रतिदेवमसुरं च।

(४) स यः स वागग्निर्देवो यत्कल्याणं वदति यस्यां वाचि भोगो देवेभ्यः।

(५) स यः स पाप्मा (सोऽसुरः) यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स शुष्णः स दनुः।

(६) स यः सः प्राणो वायुर्देवो यत्कल्याणं जिघ्रति यस्मिन्प्राणे भोगो देवेभ्यः।

(७) स यः सः पाप्माऽसुरः प्राणो यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स धुनिः स बलः।

(८) स यः स चक्षुः सूर्यो देवो यत्कल्याणं पश्यति यस्य चक्षुषि भोगो देवेभ्यः।

(९) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स शंवरः स गोत्रः स वृत्रः।

(१०) स यः स श्रोत्रं दिग्देवः यत्कल्याणं शृणोति यस्य श्रोत्रे भोगो देवेभ्यः।

(११) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स चिमुरिः स तूतुजिः।

(१२) स यः स मनश्चन्द्रमा देवो यत्कल्याणं संकल्पयति यस्य मनसि भोगो देवेभ्यः।

(१३) स यः स पाप्माऽसुरो यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स रौहिणः सः कुथवः स पिप्रुः स नमुचिः।

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र हैं, देवता और असुर। इनमें से देवता तो छोटे भाई हैं, पर असुर ज्येष्ठ हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि देवताओं को योग द्वारा आसुर या मर्त्य प्राणों को उद्दीप्त करके उत्पन्न किया जाता है। अतः असुर रूप मर्त्यप्राण तो ज्येष्ठ हैं और उनसे उन्हीं में उद्दीप्त होने वाले देवता इन असुर प्राणों से कनिष्ठ हैं। पर सृष्टिकाल के पहले पूर्वार्द्ध में देवताओं की ही सृष्टि होती है और फिर उत्तरार्द्ध में असुरों की, इसप्रकार सृष्टिपक्ष में देवता ही ज्येष्ठ होते हैं और असुर कनिष्ट। जितने भी, मर्त्यप्राणरूप असुर हैं उतने ही देवता भी हैं और जितने भी देवता हैं उतने ही असुर भी हैं या प्राण भी हैं। वह वाक् या अग्नि जो कल्याणकारी वाणी या ज्ञान बोलती या देता है, जिसमें देवताओं के भोग की सामग्री है वह वाक् और वह अग्नि

देवता है। वह वाक् या अग्नि पापी या असुर है जो अप्रतिरूप या अनुचित अवितथ असत्य अकल्याणकारी बोलती या ज्ञान देता है यही वाक् दनु है, दानवी है—वही अग्नि शुष्ण नामक असुर है। इस प्रकार जो वायु कल्याणकारी गंध सूघती है जिसमें देवताओं की भोग्य वस्तु है वही वायु देवता है, इसके विपरीत जो वायु या प्राण अप्रतिरूप अनुचित गंध सूंघता है, वह अकल्याणकारी है वही वायु या प्राण असुर है, पापी है, इसी का नाम वलः या धुनि है। वह सूर्य या चक्षु जो कल्याणकारी दृश्य देखता है जिस चक्षु में दैवी भोग है वही सूर्य और चक्षु देवता है, इसके विपरीत जो सूर्य या चक्षु अकल्याणकारी दृश्य देखता है, अनुचित कार्य देखता है, वही पापी सूर्य या चक्षु असुर है। उसी को शंवर गोत्र या वृत्र कहते हैं। वह श्रोत्र या दिक् या शब्द देवता है जो कल्याणकारी बातें सुनता है, सुनाता है, जिसमें दैवी भोग्य वस्तु है। इसके विपरीत वही श्रोत्र या दिक् या शब्द असुर है जो अप्रतिरूप सुनता-सुनाता है वही चिमुरि और तूतुजी नामक असुर हैं। वही मनः या चन्द्रमा देवता है जो कल्याणकारी संकल्प करता है जो दैवी भोग्य वस्तु है। इसके विपरीत जो मनः या चन्द्रमा अकल्याणकारी संकल्प करता है वही पापी असुर है। उसी को रौहिणः पिप्रुः पणी और नमुचि (पागल) कहते हैं। (१ से १३ तक)।

(१४) द्यति ददाति वा दनुः, शोषयतीति शुष्णो, धूनोनीति धुनि, बलयतीति बलवान् बलः सहसो जातः, शं वृणोतीति संवरो, गां त्रायते इति गोत्रः पण्यत इति पणिः पणयो वा वृणोतीति वृत्रश्चित्तेर्मृत इति चिमुरिस्त्वरितं हिंसतीति तूतुजिः, रुणद्धि रोहतीति वा रौहिणः, तमसा पूरयतीति पिप्रुर्न मुञ्चतीति नमुचिः, कुत्सिता यवा कृषिः यस्य स कुयवः।

(बृह० उप० १-३-१ से १८ तक)।

जो खण्डित करती है, विघ्न डालती है, लोभ दिलाती है, मीठी चापलूसी करती है—वही दनु दानवी है, जो शोषण करता है, चोरी-जारी करता है, वह शुष्ण है, जो झकोरता है, परेशान करता है वह धुनि है; जो साहसिक अत्याचार करता या गुण्डा बल का प्रयोग करता है वह 'बल' है। जो शं नाम शान्तिमय प्राणों को ढक देता है, निष्ठुर अन्धकार में डाल ठग देता है वह शंवर या वृत्र है, जो प्राण रूप गायों को नाच-गान, खेलकूद से फुसलाकर चुरा ले जाता है वह गोत्र या पणि है। जो सत्य को छिपाता है, प्रकाश नहीं आने देता वह वृत्र है। जो चिन्तन को मार डालता है, बुरी बातें सोचता है वह चिमुरि है। जो तुरन्त मारने दौड़ता है, कसाई का काम करता है वह तूतुजि है। जो दूसरों के ऊपर चढ़ बैठता है, प्रभु बन जाता है, जेल-कारागार में

डालता है वह रौहिण है। जो अन्धकार से भर देता है वह पिप्रु है। जो पागल की रट की तरह चिपट जाता है वह नमुचि है (१४)

(१५) तयोरेकशरीरयोः प्रतिकूलमुखयोर्नित्यं युद्धम्।

(१६) युद्धं वाजायान्नाय मनसे च सोमायामृताय च।

(१७) वाजाय युद्धं वाजमन्नाय मनसे युद्धं स्तवः स्तोमः स्तोत्रं गानं गीत-मुद्गीथम् साम वा।

(१८) सोमस्यामृतस्याप्त्यै च गवां प्राणानां च चौर्यमसुरैः।

(१९) असुराणामासुरी प्रवृत्तिमयानि शरीराण्येव भौतिकतायाः पर्वता गुहा वा मुषितानां गवां प्राणानां पिधानाय धारणाय वा भौतिकताभोगाय च।

(२०) सृष्टे 'यत्सौम्यं न्यक्त मास तेन चन्द्रमसं (देवं मनः) चकार यदासुर्यमास तेनेमाः (सर्वाः) प्रजाः।' (श० प० ब्रा० १-५-२-१७)।

(२१) देवान् योगिनश्च विहाय तेनेमाः सर्वाः भौतिक्यश्चासुर्यश्च याश्च गाः प्राणान् मुषित्वा स्वभौतिकात्मसु पर्वतगुहासु च विधाय भौतिकतायाः भोगं कुर्वन्तो विचरन्ति॥

शरीररूप प्राण तो इन दोनों का एक ही है पर इनके मुख विपरीत दिशागामी हैं जिनमें पूर्वोक्त कथनानुसार नित्य युद्ध चलता रहता है। इस युद्ध का मुख्य कारण वाज या अन्न या मनः को और सोमामृत को अपनी भौतिकता की तृप्ति की ओर बहकाने के लिए चलता है। वाणी या अन्नादि के लिए जो युद्ध है वह वाज कहलाता है, मन के लिए स्तव स्तोम या स्तुति-गान या उद्गीथ। सोमरूप अमृत पीने के लिए असुर प्राण दैवी प्राण रूप गायों को भी हर लेते हैं उन्हें अपने वश में करके उनका दूध रूप ज्ञानामृत पीने के स्थान में उनका शारीरिक रक्तादि मांसादि का भोग करते हैं। इन असुरों के आसुरी प्रवृत्तिमय शरीर ही भौतिकता के घनघोर पर्वतों की गुहा है, जिनमें वे चुराई गई दैवी प्राणरूप गायों को छिपाये रहते हैं और उनके शरीरों का दुरुपयोगी कुटिल ज्ञानमय भोग करते हैं। सृष्टि का जो सौम्य भाग था उससे तो देवता बने थे और जो उसका आसुर्य भाग था उससे इस अखिल ब्रह्माण्ड की नानाविध रचना हुई। अतः यह अखिलदृश्यमान ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण-रूप में आसुरी सम्पदा है। और देवताओं और योगियों को छोड़कर सभी सृष्टि के प्राणी आसुरी हैं। वे दैवी गोरूप प्राणों को चुरा कर उन्हें अपनी आसुर भौति-कात्मा की गुहा में छिपाकर, इस लोक के समस्त आसुर भौतिकता का भोग करते रहते हैं। (१५ से २१ तक)

(२२) देवं मनो वेधा वेन्द्रो वा चन्द्रमा वा स्वेन चान्द्रमसा शरीरेणान्नमयेन वाजमयेनास्थिमता वाचः शरीरेण स्थविष्ठेणाग्निमयेन च वज्रेण निहन्त्य-सुरानसुर्यान्प्राणांस्तान् योगेनैव पूर्वकथितेन प्रकारेण ।

(२३) "स यः स मध्यमः प्राणा इन्द्रो यस्यास्येऽन्तमृ त्युर्मर्त्यानामसुराणाम् ।

(२४) सोऽयास्याङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणः (मध्यमः) ।

(२५) सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरँ ह्यस्या मृत्युः ।

(२६) इत्थं स प्राणानां मृत्युमत्यवहद्देवानुद्दीपयच्च तेषाम् ।

(२७) ततो वाचोऽग्निः प्राणाद्वायुश्चक्षुष आदित्यं श्रोत्राद्दिशो मनसश्च चन्द्रमाः प्रभृतयश्चान्ये ।

(२८) एष उ एव ब्रह्मणस्पति वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मा दु ब्रह्मणस्पतिः । एष उ एव बृहस्पतिः बृहती वै वाक् , वाग्वै ब्रह्म तस्याःपतिर्बृहस्पतिः ।

(२९) एष उ वै साम वाग्वै सामैष सा चामश्च साम ।

(३०) एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्' ' 'वागेव गीथः ।

(३१) स तान् प्राणान्देवाँश्चासतः सत्तमसो ज्योतिर्मृत्योरमृतमगमयत् ।" (बृह० आ० १-३-८ से २८ तक) तस्मादेवायं देवानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च महायोगित्वान्नवसृष्टिकरणाच्च ।

इन्द्रः कौन या कैसा तत्त्व है—यह दैवी वृत्ति का देवता रूप मन या वेधा या चन्द्रमा ही इन्द्र है। वह अपने चान्द्रमस शरीर के अन्नमय ज्ञानमय प्रकाश से और अपने वाक् शरीर के स्थविष्ट रूप अस्थिमयाग्नि रूप वज्र से असुरों, आसुरी वृत्तियों या आसुर प्राणों को अपने योग से, सम्पर्क से, स्पर्श से प्रकाशित उद्दीप्त करके नष्ट कर देता है, उन्हें भी देव रूप में सप्राण कर देता है, उनमें देवताओं का वास कर देता है। इस प्रकार उस मध्यम प्राण इन्द्र के मुख में मर्त्यों या असुरों की मृत्यु वसी रहती है, उन्हें छुआ नहीं कि झड़ गये मर गये। अतः यह मध्यम प्राण सब अङ्गों या प्राणों का रस रूप ज्योति है। इसी को दूः या दूर नाम से पुकारते हैं क्योंकि इससे मृत्यु सदा दूर रहती है। इस प्रकार वह आसुरी बृति रूप प्राणों की मृत्यु को धारण करता है, और देवताओं दैवी वृत्तियों को सदा उद्दीप्त करता है। इस प्रकार वाक् से अग्नि, प्राण से वायु, चक्षुः से आदित्य, श्रोत्र से दिश या शब्द, मन से चन्द्रमा प्रभृतियों की जागृति करता है, साथ में अन्य देवताओं की भी। इसी का नाम ब्रह्मणस्पति है, वाक् आदि प्राण ही देव रूप में ब्रह्म है उसी का यह पति है। इसी का नाम बृहस्पति है, बृहती नाम वाक् का है और वाक् नाम देवरूप में ब्रह्म का है उसी का यह प्राण पति है। इसी का नाम साम है सा

नाम वाक् का है अमः नाम इसी प्राण का है। इसी को उद्गीथ नाम से भी पुकारते हैं, प्राण का नाम उत् है, गीथ नाम वाक् का है। इस प्रकार वह इन्द्र उन प्राणों को असद्वृत्तियों से सद्वृत्तियों में, अन्धकार से प्रकाश या असुरता से देवत्व में और मृत्युरूपता से अमृतरूप देवता रूपों में परिणत कर देता है। यह इन्द्र की ही महामहिमा है, इसी कारण वह सभी देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहलाता है (२२ से ३१ तक)।

(३२) 'इतिहासे त्वद्' (श० प० ब्रा० ११-१-६ ९, १०) परन्तु नैतानि नामानि व्यक्तिवाचकान्यपि तु जातिवाचकान्येव समस्तजातेर्दर्शनवर्णनलक्षात् ।

(३३) इन्द्रो महेन्द्रः कश्चिदृषि'र्वृत्रश्च त्वाष्ट्रोऽसुर इत्येतिहासिका' (नि०) अन्येऽसुराश्च तत्तन्नामानः केचिद्भौतिकताप्रिया दुर्जनाः प्रजा राजानो वा साधूनां योगिनामृषीणामृजूनामार्याणां महापीडकाः सत्यधर्मस्य च तेषाम्।

(३४) एवमेव पुराणानां देवासुरयुद्धान्याहू राज्ञां वा प्राणिनां वा द्वन्द्वानि पारस्परिकानि।

(३५) यथैकस्यैव शरीरस्थयोर्गजग्राहयोर्देवासुरयोर्मध्ये देवो गजोऽसुरेण ग्राहेण ग्रसितो मुक्तश्च सोमेन जिष्णुना ।

अब प्रश्न उठता है कि इन्द्र को बृहस्पति ब्रह्मणस्पति साम या उद्गीथ नाम से क्यों पुकारा जाता है ? क्योंकि वेदों में इनका वर्णन पृथक्-पृथक् देवों के रूप में दिया हुआ मिलता है। बात यह है कि ये देवता वास्तव में एक ही हैं, पर वर्णना भेद से इन्हें भिन्न-भिन्न कहा गया है। ब्राह्मणादि जाति रूप वर्णना में बृहस्पति ब्राह्मणस्पति ब्राह्मण हैं, इन्द्र सोम पर्जन्यादि क्षत्र हैं, वसुरुद्रा दित्य मरुत विश्वेदेवता वैश्य हैं, पूषा शूद्र है। आदित्यरूप में इन्द्र सोम दोनों वैश्य हैं। अश्वरूप में ये सब दास या शूद्र हैं। जब इन सबकी व्याख्या प्राणरूप में करते हैं तब ये सब क्षत्रिय कहलाते हैं। जब प्राणों का वर्णन ब्रह्म नाम से किया जाता है तब इन्हें ब्राह्मण या ब्रह्म कहते हैं, इनमें असुरप्राण भी ब्राह्मण ही कहलाते हैं। यह भूतादि व्याख्या है। जब इन्द्र को मनः के रूप में या चन्द्रमारूप में वर्णित किया जाता है तब इसे वैश्य कहते हैं। पर मनोब्रह्मरूप में वह ब्राह्मण ही है। ये सब वर्णना शैली के भेद हैं तात्त्विक भेद नहीं। वास्तव में बृहस्पति ज्ञानरूप तत्त्व है, वह ब्राह्मण है, यह सब कर्मों की अन्तिम स्थिति है और ब्रह्म या ब्राह्मण है। मध्यमप्राण शक्ति, बल, प्रभुत्व और विजय का प्रतीक है अतः क्षत्र या क्षत्रिय है सदा संरक्षक तत्त्व है योद्धा प्रतिहर्ता है। अतः वीर महावीर विजयी भी है। इसके शस्त्र वज्र आदि चक्र रूप सर्वैक्यता है। मनः विचार पद्धति के व्यापार का स्वामी है नाना

विचारों की कल्पना की दूकान सजाकर उनमें से एक को अपनाने का व्यापार करता है अतः वैश्य है। यह दूकान चन्द्रमारूप स्फटिक शिला में सजाई जाती है। अतः चन्द्रमारूप इन्द्र भी वैश्य ही है। आभ्यन्तर बाह्य दोनों जगतों का ऐक्य पूषा है जिसमें अन्तर्जगत् छिप जाता है बाह्य जगत् अन्तर्जगत् की सेवा में रहता है अतः शूद्र कहलाता है। अतः पूषा से इस पर्दे को हटाने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र ही सबसे पहले उस अन्तर्जगत् को अपने योगबल से प्रकट कर हमें प्रकाश देता है। इन्द्र मौलिक सृष्टि के पूरे हो जाने पर योग करता है। अतः इसका नाम ३३ देवताओं के अन्त में दिया है। वह योग द्वारा देवताओं को पुनः जागृतिरूप नवीन सृष्टि करके अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है। अतः सबसे कनिष्ठ होने पर भी सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बनने का श्रेय लेता है। यह न होता तो हम सब अन्धकार में ही रह जाते। यह हमारे लिए एक नई सृष्टि करता है, नवीन जगत की रचना करता है, वह सब योग द्वारा ही करता है, अतः इन्द्र नाम इस ब्रह्माण्ड के प्रथम महायोगी का है।

परन्तु यह बात नहीं है कि जिन देवताओं और असुरों की चर्चा यहां की गई है वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। ये सब अवश्यमेव इतिहास प्रसिद्ध और ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं। जैसे इन्द्र कोई महेन्द्र नाम का प्रसिद्ध ऋषि था जो सर्वप्रथम योगी है, वृत्र किसी त्वष्टा नामक व्यक्ति और दनु का पुत्र है, इसी प्रकार अन्य असुर भी अपने अपने समय के भौतिकताप्रिय दुर्जन प्रजा या राजा हैं जिन्होंने अपने युगों में योगियों, साधुओं, ऋषियों, ऋजु-मार्ग के आर्यों और उनके इस सनातनधर्म को बड़ी भारी ठेस पहुँचायी, पर उन्हें उक्त प्रकार से विजित, पराजित, वशीभूत और नष्ट कर दिया गया। परन्तु साथ में यह भी न भूल जाना चाहिए कि ये नाम किसी व्यक्तिविशेष के न होकर जातिवाचक हैं, ये साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं जनता में अच्छे-बुरे सदा हुए हैं रहेंगे। उन्हीं के वर्णन के लिए ये नाम चुने गये हैं।

पुराणों में जिन जिन देवासुर संग्रामों की चर्चा आई है वे भी उक्त नामों को अन्य नाम, पर उसी अर्थ या भाव रखने वाले नाम देकर, उन्हीं युद्धों को नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। ये तत्कालीन राजाओं या प्रजाओं के द्वन्द्वों के भी सामान्य इतिहास हैं। किसी व्यक्तिविशेष के नहीं, इसीलिए उक्त दार्शनिक भावनाओं की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ भी हैं। जैसे गजग्राह का समुद्र में युद्ध। समुद्र प्राणों का आपोमय शरीर है, उसमें दैवी प्राण गज है, आसुरी प्राण ग्राह है एक ही शरीर के दो मुख हैं। एक ओर दैवी गज मुख है दूसरीओर ग्राहरूप

असुर मुख है। दैवी गज में जब सोम ज्योति आ जाती है तो वह विष्णुरूप से उस ग्राहरूप असुर के अन्धकारमय भौतिकता के रक्तमांस खाने की प्रवृत्ति को नष्ट करके उसे भी देव रूप में परिणत कर प्राणों के दोनों मुखों को कुण्डलाकार रूप में देवता बना देता है। इसी प्रकार अन्य युद्धों के वर्णनों का रहस्य भी समझना चाहिए। (३२ से ३५ तक)। दुर्गासप्तशती के पात्रों के युद्ध का रहस्य लेखक के 'पञ्चम वेदपुराण दर्शन' में 'दुर्गासप्तशती योग का रहस्य' देखें।

अध्याय ३ पाद ३

कः सोमः

(१) अथः सोमः सोमपानं च।

(२) 'इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विष एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ॐ राजा ॥" (यजु: ९-४०)

(३) असपत्नोऽद्वितीयोऽनिर्वचनीयश्च स सोम एव। इमं तं सोममेव हे देवाः अग्निवायुसूर्यचन्द्रमा दिशोऽन्तरिक्षं द्यावापृथिवी च; सुवध्वमुद्दीपयत वाष्पयत, स्वस्वशरीराणां प्राणानामेककटाहे चम्वोर्द्यावापृथिव्योर्वा। कस्मा इति—तस्मा इन्द्रियाय रसमयप्राणवते, तस्य इन्द्रस्य च तेषां प्राणानां जनानां राज्याय प्रकाशनाय, महतेऽखण्डब्रह्माण्डव्याप्तरूपाय प्रकाशनाय, देवानां ज्येष्ठतमाय, महते व्याप्तिबलिने क्षत्रबलाय। इन्द्रस्य विद्दतिद्वारभेत्तुरिन्द्रियाय रसाय रसमयाय च तं सोमं सुवध्वमुद्दीपयत। इन्द्रिय इति रसः 'इन्द्रियो रसः' (ऋ. वे. ९-१०)

(४) कोऽसाविति प्रश्ने चोत्तरयतीममुष्यपुत्रमिति—सः सोमोऽमुष्याग्नेः पुत्रो यतोऽग्निरेव 'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ० वे० १-६९-१) तथा-'ऽग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयितेति' (श० प० ब्रा०)। सोऽग्निरेव जनिता प्रथमो देवानां योगेन। कस्यां जनयतीति पुनः प्रश्ने चोत्तरयत्यमुष्यै पुत्रमिति—स सोमोऽग्नेः पुत्रोऽमुष्यै पृथिवीरूपिण्यै भौतिक-ब्रह्माण्ड-शरीरिण्यैतस्यामेव जनयति (शरीररूपिण्यै स्त्रियै जनयतीत्यर्थः)। कस्मै फलायेति प्रश्ने चोत्तरयत्यस्यै विशे इति—तं सोममस्यै प्राणरूपिण्यै प्रजायै तस्य ज्योतिषा नित्यमेव प्रकाशमाना राजमानाऽमृतज्ञानमयी च भूयादिति लक्ष्येण जनयति।

(५) अथ 'एष वोऽमीति' सोमस्य महामहिमानं दर्शयति च। एष सोमो वो युष्माकं देवानामग्निप्रभृतीनाममी चामीषां च प्राणानां प्रजानां (व इति षष्ठ्यन्तानुबन्धादमीशब्देऽपि षष्ठीबहुवचनं स्पष्टम्) राजा राजयिता विराजयिता स्वज्योतिषा प्रकाशयिता स्वज्ञानामृतेन च।

(६) अथ च ब्रह्मविदां ब्राह्मणानां कृते तस्य किं फलमिति धारणायां निगदति—अयमेव सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां योगरतानां वेदविदां वेदविदुषां ज्ञानाधाराणां प्राणानां च सदा 'राजा' राजमानः प्रकाशमानो ज्ञानमयो विज्ञानमयश्चेतनामयो ज्योतिर्मयोऽमृतः स्वाधीरिति कथितः पूर्वैः।

अब सोम कौन है ? क्या है ? और सोमपान किसे कहते हैं, कैसे किया जाता है ? इनका रहस्य खोला जाता है। सोम की विशिष्ट परिभाषा यजुर्वेद ने एक ही मंत्र में विस्तारपूर्वक दे दी है। इसमें लिखा है कि यह सोम नित्य शत्रुहीन, प्रतिद्वन्द्वीहीन अनिर्वचनीय और एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है। इस सोम देवता को, हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, दिशा, अन्तरिक्ष और द्यावा पृथिवी नामक देवताओ ! अपने शरीरों में चुवाओ, टपकाओ, भपके की तरह बूंद बूंद में इसका रसास्वाद लो, उद्दीप्त करो। किस लिए ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि उस प्राणों वाले इन्द्र देवतारूप, मनोरूप के लिए, इस इन्द्र और इसके प्राणों के राज्य या राजमानता या प्रकाशमय ज्ञानमयता के लिए, ऐसे प्रकाश के लिए जो महतोमहान् है, सर्वत्र व्याप्त है, अखण्ड कोटि ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, ऐसे तत्त्व के लिए जो सब देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ (मध्यमप्राण) इन्द्र है, जिसमें महान् क्षत्रबल, धृतिबल, धारणाशक्ति है। और ऐसे इन्द्र के लिए जिसमें सोमरूप प्रकाश ज्योति धारण करने या प्रतिविम्ब ग्रहण करने का चान्द्रमस स्फटिक शिलारूप इन्द्रिय या रस का सागर है, ऐसे सोम को प्रदीप्त करो। इन्द्रिय नाम वेदों में रस का है, हमारी इन इन्द्रियों का नहीं है। यह सोम कौन है ? इसके उत्तर में लिखा है :—कि यह सोम अमुक (अग्नि) का पुत्र है क्योंकि अग्नि ही योग प्रक्रिया में देवताओं का पुत्र होने पर भी उन्हें उद्दीप्त करने के कारण उन देवताओं का जनक या पिता कहलाता है। यही अग्नि देवताओं का मुख या अग्रणी और प्रजननकर्ता भी है। इस प्रकार यह अग्नि ही देवताओं का सर्वप्रथम जनक है। वह किसमें इस सोम को जन्म देता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह अग्नि अमुकी देवी (पृथिवी माता) में इस ब्रह्माण्ड के शरीर रूप में इस सोम को जन्म देता है। अर्थात् शरीर रूपिणी स्त्री में इसे जन्म देता है। किस फल के लिए जन्म देता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस सोम को विश नाम की प्राणरूप प्रजा को ज्ञानप्रकाश ज्योति देने के लिए जिससे वे आसुरी वृत्तियों में न भटकने पावें। इसी लक्ष से यह अग्नि उस सोम की उद्दीप्ति करता या उसे जन्म देता है। अब इस सोम की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह सोम आप देवताओं का, अग्निप्रभृतियों का और इन प्राणरूप प्रजाओं का भी राजा या राजमान, प्रकाशमान और ज्ञानप्रकाश का दाता है या अमृत ज्योति का दाता है। इस सोम का ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणों और प्राणों को क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भी कहा है कि यही सोम हम ऋषियों, ब्राह्मणों या योगियों और इन ऋषिरूप प्राणों का भी राजा या राजमान, विज्ञानमय, चेतनामय, ज्ञान-

प्रकाश की अमृत ज्योतियों से भरा मुख्य तत्त्व है जो अपने को स्वयं में स्वयं धारण करने में समर्थ है, यह पूर्व ऋषियों ने भी—बार बार कहा है (१ से ६ तक)।

(७) कः सः सोमः स सैव यो 'विष्णो रश्वस्य रेतः' (ऋ० वे० १-१६४-३५) वेद्यां शरीरब्रह्माण्डे निगूढः

(८) ये तु चोषधीभ्यः सोमस्य सवनमेवेति मन्यन्ते तैरध्येतव्यं वेदोक्तमित्यम् ।

"सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिशन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति कश्चनः ॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णमिच्छृण्वन्तिष्ठसि न हि ते अश्नाति पार्थिवः ॥"

(ऋ० वे० १०-८५-३४)

(९) मन्त्रं प्रथमं स्पष्टम् । द्वितीये चोक्तं भवति यदेते कृत्रिम सोम सवितारः कर्म काण्डिनो वञ्चिता सोमस्याश्मना वा ग्राव्णा वा नाम्ना; नहि स दृषद्वा नहि चोपलं वा । हे सोम ! त्वं तु बृहत्या वाचो विधानैश्छन्दाक्षरैः सुरक्षितो गूढः शरीरे ब्रह्माण्डे, न बहिर्गतोऽपित्वन्तर्गतं ज्योतीरूपं ज्ञानमयं ब्रह्म यं वेदविदुषो ब्रह्मवादिनो वेदविदो विष्णुरित्यन्तर्ज्योतिष मेव मन्यन्ते । तव ग्रावन्नाम्ना प्रस्तरमिति दृषदुपल इति श्रुत्वा ते वञ्चिता । त्वं चान्तरनुभूतिविषयो न तु बहिर्मुखात्पानविषयः । अवश्यमेव बहिर्मुख पानीय सोमरस सवने विधिरभिनयो वै तस्यैवानु भूतिकस्व सोमस्य, तस्य परिपाकस्य च प्राणानां पात्रे प्राणानां शरीर रूपायां वाष्परूपे निष्पत्तेश्चेति विज्ञेयम् ।

यह सोम कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर तो विदित ही हो गया है कि यह वही सोम है जिसे विष्णुरूप अश्व या प्राण का रेतः या शरीर या ज्योति कहते हैं जो इस शरीर की वेदि में निगूढ बतलाया जाता है। जो लोग जड़ी बूटी छान पीस कर सोम का सवन कर लिया करके समझने की बड़ी भारी भूल करते दिखाई पड़ते हैं उनको ऋग्वेद की दी हुई उक्त ऋचा का अध्ययन करना चाहिए जिसमें यह स्पष्ट लिखा है :—जो लोग जड़ी बूटी को पीस घोट कर छानकर यह समझ लेते हैं कि उन्होंने सोम का पान कर लिया, वे बहुत भूले हैं। ब्राह्मण दार्शनिक ऋषिगण जिसको सोम नाम से अनुभूत करते या पुकारते थे उसको तो कोई भी इस प्रकार नहीं खा या पी सकता ; वह तो अनुभूति का विषय है, खाने पीने की वस्तु नहीं। हे सोम तुमको तो बृहती छन्दाक्षरों के तत्त्वाक्षरों के नियमित स्वरूप या स्थान में अनेक प्रकार के कोशों के विधानों

के आभ्यन्तरीय भाग में निगूढ रखा गया है, यद्यपि वह अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ये लोग तुम्हारा नाम ग्रावन् या सिलबट्टा या पत्थर (अश्मा) सुन कर बहुत बहुत ठगे गये हैं। ध्यान में रखें या याद रखें तुम्हारा पान तो इन लोगों जैसा कोई भी मिट्टी का पुतला नहीं कर सकता, तुम तो योग की अनुभूति के विषय हो। अवश्यमेव द्रव्य यज्ञ में इस सोम, की अनुभूति और उद्दीप्ति की सरणि का जो अभिनय किया जाता है उसे भी याज्ञिक लोग सोम कहते आये हैं। पर यह पानीय सोम वैदिक दार्शनिक सोम का परिपाक प्राणों के पानी भरे पात्र में अग्नि से कैसे किया जाता है? इसका अभिनय मात्र देता है। जिस प्रकार भपके से भाप निकाल कर सोम रस चुवाया जाता है ठीक उसी प्रकार आपोमय प्राण शरीरों के पात्रों को शरीर की अग्नि से उत्तप्त करके वह अमृत ज्योति रूप सोम खींचा था उद्दीप्त किया जाता है। अतः यहाँ प्रक्रिया मात्र का प्रदर्शन है वास्तविक सोम का नहीं (७ से ९ तक)।

(१०) (क) महत्तत्सोयो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥

(ऋ० वे० ९-९७-४१)

(ख) "अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मं ञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा।
वृषा पवित्रे अधि सानो अत्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः॥"

(ऋ० वे० ९-९७-४०)

(ग) स तु "सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्ने र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥"

(ऋ० वे० ९-९७-५)

वेदों में तो इस सोम की महिमा इस प्रकार गाई गई है :—

वह मही या पृथिवी या वेदि में निवास करने वाला महिष नामक सोम तो महतोमहान् है, आपोमय प्राणों में देवताओं की ज्योति रूप गर्भ धारण कराता है, इन्द्र में इन्हें पूत करने की ओजः या शक्ति धारण करता है और सूर्य रूप विष्णु से भी इन्दुः रूप शीतल ज्योति प्रस्फुटित करता है। यह इस अखिल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने वाला राजमान तत्त्व है और प्राण रूप प्रजा को दैवी रूप में प्रस्तुत करता है और उन प्राणों के आसुरी सागर को पार कर जाता है। वह इस पृथिवी रूप पर्वत की चोटी में—अव्यय चोटी में बृहत् रूप में चन्द्रकिरण रूप पवित्र ज्योति को चुवाता हुआ वर्षण शील वृषण या वृषभ कहलाता है। यह सोम प्राणों में ज्ञान ज्योति का जनक है सृष्टि के पूर्वार्द्धीय भाग को अपनी ज्योति से प्रकाशमान कर उसे भी दिव्यरूप में जनन

करने वाला है, उसी से यह पृथिवी या ब्रह्माण्ड भी निर्मित होता है, उसी से अग्नि (वैश्वानर) की उत्पत्ति होती है, उसी से सूर्य सविता अपना सवन कार्य प्रारम्भ करता है, वही इन्द्र का जनिता है, वही विष्णु को प्रकट करने से विष्णु का भी जनक है। वह इन सबको अपनी ज्योति देता है, अतः इनका ज्योति दानीय जनक है, सृष्टिपक्ष में सोम से ही इनकी सृष्टि होती भी है। (१० क ख ग)।

(११) सैव "ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्र मभ्येति रेभन् ॥"

(ऋ० वे० ९-९७-६)

यह सोम देवताओं का योगयज्ञकारक मनोरूप ब्रह्मा है, योगियों (कवीनां) के योगयज्ञ का मार्गदर्शक या पथ प्रदर्शक या पदवी है, ज्ञानी ब्रह्मवेत्ताओं का यह ऋषि रूप मुख्य प्राण है, पञ्चपशु या वायव्यारण्यग्राम्य पशु नामक प्राण तत्त्वों का यह महिष रूप अग्नि है, गृद्ध नामक सप्त सुपर्णो छन्दोमय साध्या देवताओं का यह श्येनरूप जातवेदा अग्नि है, आपोरूप प्राणों के बन का यह स्वयं को स्वयं धारण करने की शक्ति देता है। इस प्रकार यह सोम परम पूत तत्त्व रूप में सर्वत्र सबको भिन्न भिन्न रूप में प्राप्त होता रहता है (११)

(१२) तस्य "तिस्रोवाच ईरयन्ति प्रवह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥"

(ऋ० वे० ९-९७-३४)

अग्नि तत्त्व तीन प्रकार की वाणियों को प्रेरित करता है इनको ऋत्यजुः साम नामक विद्या पाद कहते हैं। ये सब ऋत नामक सोम ज्योति रूप ब्रह्म को अभीष्ट है। भौतिक प्राण उस सोम की इच्छा करती हुई और उक्त तीन पादों के दैवी प्राणों के प्रकाश मार्ग का अनुसरण करती हुई उसे उसी प्रकार प्राप्त हो जाती हैं जैसे गायें सूँघ सूघ कर अपने गोपति तक पहुँच ही जाती हैं (१२)

(१३) तमेव "सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्राः मतिभिः पृच्छमानाः।
सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः सं नवन्ते ॥"

(ऋ० वे० ९-९७-३५)

जिस प्रकार प्राण रूप गायें सोम की कामना करती हुई उसे प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार योगी ब्राह्मण अपने ज्ञानात्मा प्राणों के द्वारा कामना करते

हुए ढूँढते हुए उस सोम को प्राप्त हो जाते हैं। जब सोम का प्राणों में सवन हो जाता है उद्दीप्त हो जाता है, वह उनमें प्रादुर्भूत होने के समय उनको पवित्र कर देता है। इस सोम रूप ज्योति को अर्क देवता ज्योतिर्मय देवता रूप त्रिष्टुप् छन्दाक्षरों की श्रेणियों में क्रमशः चढ़कर प्राप्त किया जाता है (१३)

(१४) स च "सप्तार्धं गर्भा भुवनस्य रेतो विष्णो स्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभि र्मनसा ते विपश्चितः परि भुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥"

(ऋ० वे० १ १६४–३६)

यह सोम ६½ प्राणों के पश्चात् उस विष्णु रूप या मूल ज्योतिर्बीज रूप में विद्यमान रहता है। इसका अतिक्रमण या सीढियां विष्णु के त्रिविक्रमों की सराणि में तीन परिधियों को पार करके किया जाता है वियोगी जन अपने दैवी प्राणों और मनः से ज्ञानवान् बन कर उस रेतोरूप सर्वत्र व्याप्त प्रकाशमय बीज को अपने वशीभूत कर लेते हैं (१४)

(१५) सैव च "अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो।
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥"

(ऋ० वे० १-१६४–३५)

यह सोम वृष्ण नामक विष्णु रूप अश्व या प्राण का प्रकाशमय रेतः है; यही वाक् रूप होता का परम व्योम उच्चतम स्थान और यज्ञाधिष्ठाता ब्राह्मण भी है (१५)

(१६) अस्य निवास भूमिस्तु–"इयं वेदिः परमन्तः पृथिव्याः" (ऋ० वे० १–१६४–३५)

(१७) तस्य यज्ञ कर्ता च–"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" („ „ „)

इस सोम की निवास भूमि तो इस ब्रह्माण्ड या शरीर रूप पृथिवी या वेदि या भौतिकता की परम अन्तिम सीमा पर है। इसका यज्ञ कर्ता वही अमृत भरी योग की नाभि या वही नाभि वाणी ब्रह्मा या मन है (१६-१७)

(१८) स वै ज्योतिषां "एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरि जन्मा विचष्टे।
सिषक्त्यूध निण्यो रूपस्य उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥"

(ऋ० वे० १०-५-१)

यह सोम ज्योतियों का और सब प्राण और देवता रूप रत्नों की खान रूप सब का आधारभूत एक सागर है। यह एक ऐसा हृद सा है जिससे अनेक तत्स्वरूप देवताओं को जन्म मिलता है। पर यह सृष्टि या योग मार्ग के मध्यभाग

में एक ऐसे मूलस्रोत रूप निर्झर की तरह निरन्तर बहता रहता है जहां किसी का कोई दूसरा रूप या नाम नहीं है, यहीं पर विष्णु रूप वामन रूप वामरूप पक्षी या देव सुपर्ण का निवास है। वह इसी के सागर का एक अभूतपूर्व हंस है, पर इसमें छिपा रहता है, यही उसे सिञ्चित स्तनपानित या प्राणित या सुरक्षित या गूढ रखे रहता है (१८)

(१९) स समुद्रस्तु ब्रह्मणो मानसिक शरीर रूप कमण्डलौ कलशे वा सीदति।

(२०) स समुद्रः कलशः कमण्डलु र्वा ब्रह्मणो रुद्रस्याग्नेः शरीरस्य सप्त प्राण गर्भः पञ्च प्राणगर्भो वा।

(२१) यश्च छन्दसां मात्राभि विभक्त श्चैवम्ः—

"तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजनुराजति ष्टुप्।
समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति॥"

(ऋ० वे० ९-९६ १८, १९)

सोम का यह ज्योतिर्मय सागर मनोब्रह्माण्ड रूप ब्रह्मा के कमण्डलु में या कलश में रहता है। कमण्डलु ही ब्रह्मा का मनोब्रह्माण्ड शरीर है; या कलश है या घट है। यह रुद्र या अग्नि के सप्तार्ध गर्भ प्राणो वाला शरीर है या पञ्च-प्राण गर्भ शरीर है। छन्दों के द्वारा इस कामण्डलवीय या कालशेय सागर के जिस कोने में इसका केन्द्र विन्दु है उसे सूचित करने के लिए कहा हैं कि विराट छन्द के दशाक्षरी गणना में इसको तृतीय धाम या भाग में या पाद में २० से ३०वें के बीच में (सोम २६ वां तत्त्व है) बताया है तो अनुष्टुप् के अक्षरों की गिनती के अनुसार इसका स्थान चौथे पाद में २४ से ३२ तक में (२६ वां) पड़ता हैं। जो जिस सीढ़ी से चढ़े वह इनका ध्यान अवश्य रखे; नहीं तो फिसलने, निराश होने की शंका भी है (१९ से २१ तक)।

(२२) स तेषु कमण्डलु समुद्रेषु 'सुवानः सोमः कलशेषु सीदति' ('वैदिक विश्व-दर्शने' 'सोम और कलश' शीर्षकं द्रष्टव्यम्)

(२३) ब्रह्म कमण्डलू रुद्राग्ने स्तपितः सन्त्सुनुते सोमं ज्योतिषम् प्राणेषु। यत 'स्तम आसा त्तमसा गूल्हमग्रे' (ऋ० वे० १० १२९-१)

(२४) 'सः शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः' 'स एवामृताय महे क्षयाय' (ऋ० वे० ९-१०९-३)

(२५) विष्णुरादित्यः स्वं ज्योतिषं सोमं 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीना स्याम शरदः शतम्'। (ऋ० वे० ७-६६-१६ यजु ३६ २४)

(२६) स यः सः सोमः सोऽर्कः स रेतस्तज्ज्योति स्तच्छुक्रं तत्पीयूषं तदमृतम् ।
(२७) तत्त्वं "दाक्षायो अर्यमेवासि सोम !" (ऋ० वे० १-९१-३)

अखिल ब्रह्माण्ड भी महासागर या महा कलश है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड भी एक-एक कलश या कमण्डलु है। वह सोम इन सब में रहता है, गूढ रहता है। इसका वर्णन वैदिक विश्व दर्शन में सोम शीर्षक में पढें। यह ब्रह्म कमण्डलु रुद्राग्नि से तपित होकर प्राणों में सोम ज्योति को टपकाता है। इसी लिए इसे शुक्र अर्थ और दिव्य पीयूष कहा जाता है। यही अमृत और महान् जीवन का दाता हैं। विष्णु तो आदित्य है। जो विष्णु आदित्य है वह अपनी इस सोम ज्योतिरूप शुक्र को, देव के प्राण रूप को सर्वतः छिटकाता रहता है जिसको पाकर प्राणी सैकड़ौ वर्षो तक जीवित रहते बोलते सुनते देखते रहते हैं। जो यह सोम है उसी का नाम अर्क भी है, वही रेतः भी है, वही ज्योति है वही पीयूष है, वही अमृत है। जो इसे पी लेता है वह अमर हो जाता है, जब तक यह सृष्टि नष्ट न हो जावे। इसको दाक्षायी या दक्ष या दक्षिणायनी योग यज्ञ से उत्पन्न अर्यमा नामक पितर भी कहते हैं। यह है सोम; अर्यया नाम ऋजु स्वभाव के तत्त्व का है जिसको जागृत करने वाले भी ऋषि आर्य कहलाते थे (२२ से २७ तक)।

अब विद्वानों से एक ज्वलन्त, चुभने वाले और सम्बद्ध प्रश्न करने का अवसर आ पहुँचा है, कि क्या जिस (सोम) तत्त्व का विवेचन महर्षियों ने पूर्वोक्त ढंग से दे रखा है उसको कभी भी सपने में भी जड़ी बूटियों का घोटा रस, या मदिरा या सुरा हो भी सकती है करके सोचा भी जा सकता है ? क्या इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि उपनिषद् युग के पश्चात् के सभी शताब्दियों के विद्वानों ने योग के इस परमोच्च सर्वोच्च तत्त्व की विवेचना के साथ बहुत बड़ा भारी अन्याय किया है ? क्या अब भी इस सोम तत्त्व को इस प्रकार भलीभांति समझ लेने के पश्चात् भी वर्तमान युग के सभी वैदिक या अवैदिक विद्वान्, एक स्वर से चिल्लाकर एक सम्मिलित जोर लगाकर अपने पूर्ववर्ती लोगों की इस हिमालय के समान महती भूल को सुधारने के लिए कटिबद्ध होंगे ?

अध्याय ३ पाद ४ (अ)

अथ सोमपानम्

(१) (क) सोमपानं तु योगिनामेव ।

(ख) त्रय एव सोमपायिनो देवा मनुष्याः पितरश्चते योगिन एव ।

(२) सृष्टौ मन एव पिता वाङ्माता प्राणाः प्रजाः (बृह० उप)।

(३) तत्र मन एव पितरो वागेव देवाः प्राणा मनुष्याः (श० प० ब्रा०)।

(४) योगे तु तद्विपरीतं प्राण एव पिता वाङ्माता मनोवत्सः (बृ० उप०)।

(५) अत्र प्राणा एव पितरो वागेव देवा मन एवेन्द्रो वेधा वा मनु र्मनुष्यो वा ।
तस्मात् ।

(६) 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' (ऋ० वे० १-८९-९)
'स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-१६४-१६)
'भुवो देवानां पिता पुत्रः सन्' (ऋ० वे० १-६९-१)
"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेद महं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम् ॥"
(ऋ० वे० ४-२७-१)

(७) अत्राङ्गिरसा नवग्वा दशग्वा वा पितरोऽग्न्यादयो देवा मनो वेधा इन्द्रो वा मनुर्वा भौतिका प्राणाश्च मनुष्याः वा त एव ।

(८) सृष्टौ मनसो ब्रह्मणो मनोः प्रजापतयः प्राणाः प्रजाः मनुष्या जायन्ते ।

(९) तत्राहरेव शुक्लः पक्ष उत्तरायणे वा देवा मध्ये पितरः कृष्णे रात्रौ दक्षिणायने मनुष्याः ।

(१०) योगे तु पितरो दक्षिणायने कृष्णे रात्रौ मनुष्या मध्ये देवा श्चोत्तरायणान्ते ।

(११) ते "द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।'
(ऋ० वे० १०० उप० १५)

(१२) सृष्टौ तु अमृता देवाः पितरो मनुष्याश्च सर्वे सोमं दिव्य शरीरं ज्योतिः प्राप्य विश्वेदेवा भवन्ति कुर्वन्ति च बाह्य सृष्टिम् ब्रह्माण्डस्य कृष्णं कुहूरूपम् ।

(१३) परन्तु योगे तु ते सर्वेऽपि विश्वेदेवासः सोमपानेन पुनश्चामृता एव भवन्ति कुर्वन्ति चातिसृष्टि मन्तर्मुखीम् प्रकाशयन्ति च कुहू रूपं ब्रह्माण्डं स्वं शरीरं तेन सोमेन ज्योतिषाविष्णोः वृष्णस्य रेतसाऽखिल ब्रह्माण्डं ज्योतिर्मयमादित्यमयं च ।

(१४) यो योगी वेधाः स ब्रह्मा वा विद्दतिद्वारभेत्तेन्द्रो वा स्फटिकसमं स्वमन्धकार मयं मनो यत्तत्तत्सोमेन ज्योतिषा विष्णोरेतसः प्रतिबिम्बं प्रतिगृह्य प्रकाशमयं ज्ञानमयं प्रचेतसं च करोति तद्वै वेधस इन्द्रस्य वा सोमपानम् सोमपाऽसाविन्द्रो वै नित्यं महायोगित्वात् ।

(१५) तस्मादुक्तं भवति—

"एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम् ।
इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥" (ऋ० वे० ८-७७-४)

स इन्द्रः सोमस्योक्तप्रकारस्य काणुका कान्तकानि क्रान्तकानि (क्रान्त कान्तिः) कृतकानि (कृतकान्ति र्वा) इन्द्रः सोमस्य (सोमेन वा) कान्तः (प्रकाशमानः) (नि० ५-११) । यदाइन्द्रो सोमस्य त्रिंशत् सरांसि—उत्तरायण दक्षिणानयोः शुक्ल कृष्ण पक्षयो स्त्रिंशद्भागमितानि सोमानां ज्योतिषां सरांसि एकेनैव प्रतिधानेन एकस्मिन्नेव काले साकं युगपदेवापिबत् तदा स सोमेन ज्योतिषा स्वमात्मानं यथोक्त प्रकारेणाऽभूषयद् प्रकाशयत् ।

सोमपान का सौभाग्य केवल योगियों को ही प्राप्त है । ऐसे सोमपान सौभाग्य शाली योगी जनों में तीन श्रेणियां मुख्यतः आती है । वे हैं देवता मनुष्य (तत्व) और पितर । सृष्टि काल में मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण प्रजा है । इनमें से मन ही पितर है, वाक् ही देवता है और प्राण ही मनुष्य नामक तत्व हैं । परन्तु योग पक्ष में प्रक्रिया इसके बिलकुल विपरीत होती है । यहां प्राण ही पिता है वाक माता है और मन वत्स या प्रजा है । यहां प्राण ही पितर हो जाते हैं, वाक् देवता होते हैं और मन ही इन्द्र या वेधा या मनु या मनुष्य होता है । इसिलिए वेदों में कई स्थलों में स्पष्ट कहा है कि ऐसी स्थिति में सृष्टि काल के पुत्र नामक तत्त्व पितर या पिता हो जाते हैं । इसी सन्दर्भ को दृष्टिपथ में रखकर वामदेव ऋषि कहते हैं कि मैंने इस योग प्रक्रिया के प्राणों के गर्भ में रहकर देवताओ को प्रादुर्भूत या उद्दीप्त होते देखा । और मैं यहां इस शरीर के सैकड़ों लौहमय जाल से श्येन की तरह झपटकर भाग कर उस प्राणमय गर्भ में प्रविष्ट हो गया । ये प्राण पूर्वार्द्धीय पितर हैं । इन पितरों में वे तत्त्व आते हैं जिन्हें नवग्वा दशग्वा अङ्गिरस (पितर) अग्नि आदि देवता मनः वेधा इन्द्र मनु या मनुष्य नाम से पुकारा जाता है । सृष्टि काल में मनो रूप ब्रह्मा या मनु से प्रजापति रूप प्राणों की प्रजा या मनुष्य उत्पन्न होते है । इस स्थिति में अथवा उत्तरायण या शुक्ल पक्ष या पूर्वार्द्ध का ही नाम देवता है, मध्यस्थान पितरों का है और उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन या कृष्ण पक्ष या रात्रि मनुष्यों की है । परन्तु योग में इसी दक्षिणायन या कृष्ण पक्ष के तत्व पितर बन कर योग के द्वारा सोमपान करते हैं जो योगमध्य

स्थान में देवता रूप को धारण करके सोमपान करते है। अतः देवता मध्यस्थानीय होते हैं। यह स्थान उत्तरायण की अन्तिम सीमा में पड़ता है। इसलिए वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों ने बार बार कहा है कि देवताओं पितरों और मनुष्यों के दो मुख्य मार्ग हैं जिनको क्रमसे देवयान और पितृयान नाम से भी पुकारते है। सृष्टि काल में पूर्वार्द्धीय अमृत देवता पितर और मनुष्य नामक तत्त्व सोम को पाकर या भौतिकात्मा का शरीर पाकर विश्वेदेवता रूप आदित्य कहलाते हैं और वे भौतिकात्मीय सृष्टि करके इस ब्रह्माण्ड की पूर्वार्द्धीय अमृत ज्योति को उस भौतिकात्मा के पर्दे में छिपा कर नाना प्रकार की सृष्टियां रचकर कुहू रूप अन्धकारमय अज्ञानमय मोहमयी रात्रिरूपा सृष्टि करते हैं। परन्तु योग पक्ष में सभी विश्वेदेवता योग प्रक्रिया द्वारा सोमीय अमृतमय ज्योति को उद्दीप्त करके अतिसृष्टि करते हैं, इनके अनित्य प्राणमय शरीरों से नित्य ज्योतिर्मय सोम के दीपक को उन शरीरों में पुनः प्रज्वलित कर उस कुहू रूप अन्धकार मय सृष्टि को भी पूर्वार्द्धीय सदा सर्वत्र देदीप्यमान सृष्टि के समान बना कर इस ब्रह्माण्ड में स्वर्ग का नान्दन बन बिछा देते हैं। यही योग की सबसे बड़ी महा महिमा है। अतः वह योगी वेधाः योग यज्ञ संचालक मनोरूप ब्रह्मा अथवा बिर्हतिद्वार भेत्ता इन्द्र जब अपने अन्धकारमय मनः को उस सोम की ज्योति से, जिसे विष्णु का रेतः या तेजः या कान्तिः कहते हैं प्रकाशमय ज्ञानमय चेतनामय करता है तब समझ लीजिए कि उसने सोमपान कर लिया। इसी स्थिति का नाम (इन्द्र का) सोमपान है। अर्थात् सोमपान करने वाला इन्द्र सदा महायोगी मात्र है। इसीलिए लिखा भी है—कि इन्द्र तो सोम की कान्ति वाला है, या सोम से कान्तिमान् होता है। यह इन्द्र उस सोमसे कान्तिमान् तब बनता है जब वह उत्तरायण दक्षिणायन नामक दोनों शुक्ल कृष्ण पक्षों के या दोनों सृतियों या देवयान पितृयानों के ३० दिन रूप तीस भागों के सरों में बिखरे या व्याप्त सोम की ज्योति को एक ही घान में एक ही घूंट या गटकी में एकदम युगपत् एक साथ पूरी की पूरी पी जाता है (१ से १५ तक)।

(१६) आपो वै रेतः सोमः शुक्ल ज्योतिः शुक्लाम्बरो बृहत्पाण्डरवासस्तस्माद्विष्णुः पुरुषोत्तमः प्राणः शुक्लापोज्योतिर्वस्त्रशरीरधारणात्।

(१७) यद्यप्यग्न्यादीनां शरीराणि वाक् प्रभृतीनि चापोमयान्येव परन्त्वेतानि पूतियमानि कूहमयानि तमोमयानि रात्रिरूपाणि। (श० प० ब्रा० १-१ ३-३)

(१८) तानि शरीराणी मेधयितुमेवाग्नि (वृषभ) 'मधरादुदायन्सप्तवीरासः' प्राणाः, 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'

(ऋ० वे० १०-२७-१५ १-१६४ ४३)

(१९) अग्निवृषभे कटाहे सप्तप्राणानाम्पाकः सोमपाकः।

(२०) तस्मा ' च्छकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।"

(ऋ० वे० १-१६४ ४३)

(२१) योऽयं धूमः स वाष्पमूष्माश्रु कशिपुरहिः ।

(२२) तस्मा ज्ज्योतिः सोमः इन्दु विन्दु स्रवणात्सागरो विष्णोः पुरुषोत्तमस्य प्राणस्य ।

(२३) तस्य तथा स्रवितस्य स्रावितस्य वा सोमस्य ज्योतिषां पानं प्राणानां नेता मनो वा ब्रह्मा वा इन्द्रो वा यदा करोति तदिदिन्द्रस्य सोमपानं ज्योतिः पानं ज्ञानचेतनाप्राणपानं वा तेन स समदः सात्मज्योतिः सानन्दः ।

विष्णु को शुक्लाम्बर धारी इसलिए कहा जाता है कि वह स्वयं उत्तम प्राण रूप पुरुषोत्तम है। प्राणों का शरीर शुक्ल वर्ण का आपः है। यही आपः रेतः या सोम नाम से पुकारा जाता है। इसीलिए सोम को भी बृहत्पाण्डर वासा या बृहती नामक ज्ञानमयी ज्योतिर्मान् कहा जाता है। इसी शुक्ल ज्योति शरीर धारण करने वाले विष्णु को शुक्लाम्बर या शुक्ल शरीर धारी कहते हैं। पर वह कृष्ण पक्षीय उत्तरार्द्धीय है अतः उसे कृष्ण मुख या कृष्णवदन या कृष्ण पक्षीय कहते हैं। यह 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानः' है, ईषत्कृष्ण पिङ्गल वर्ण का, वैद्युतीय विकिरणों के वर्ण का भीतर से है, बाहर से नहीं, बाहर से शुक्ल वस्त्र या शुक्ल शरीर का ही है। शरीर ही उसके वस्त्र हैं। यद्यपि अग्नि- प्रभृति देवताओं के वाक् प्रभृति शरीर भी प्राण होने से आपोमय ही है, पर इनके शरीरों का आपः तत्त्व दुर्गन्धिमय कुहूमय अन्धकार भरा है, रात्रिमय हैं। इन्हीं पूतिमय तमोमय शरीरों का मेधन या संशोधन था शुद्ध करने के लिए अग्नि रूप वृषभ के पास सात वीर नामक ये प्राण अधर या दक्षिणायन से आये। उन्होंने अपने शरीरों को उस अग्नि वृषभ का शरीर बना कर उन्हें उस अग्नि वृषभ के कटाह में पकाया और उसके भपके में खौलकर उस ज्योति के रूप को शुद्ध रूप शुक्ल रूप को धारण कर लिया जिसके धर्म या मूल बीज उनमें पहले ही से विद्यमान थे। वे शुद्ध बन कर सोमीय ज्योतिष्मान् बन गये। अतः अग्नि वृषभ कीं कढाई में खौलाये गये प्राणों कीं प्रक्रिया ही योग की प्रक्रिया है, यही वास्तविक सोमपान प्रक्रिया है। प्राणों की इस भपके की प्रक्रिया से निकलने वाले भाप का ही नाम शकमय धूम है गोमय पिण्ड सम धुंए का स्तूप उन गोरुप या गोमय रूप प्राणों की पाचन या पाक प्रक्रिया से निकल रहा है जिसके निकलने का स्थान भी विषुवान् या मध्यवर्ती गर्त स्थूण आदि नामक स्थान ही है। यह इस योगपक्ष के अवर या पूर्वार्द्ध से परे हैं अर्थात् सृष्टि पक्ष के पूर्वार्द्ध के या अवर के पास है। जिसे यहां पर धूम या भाप या

उष्मा का अश्रुमय स्रोत कहा जा रहा है वही सर्पाकार रूप तकिया या शयन शय्या है जिसमें विष्णु सोता या लेट लगाता या व्याप्त रहता है। अतः सोम उस ज्योति का सागर है जो बूंद बूंद टपक टपक कर उत्तम प्राणों के सागर की विष्णु के शरीर की या शय्या की रचना करता है। इस प्रकार अपने अपने अग्निमय आपोमय प्राणों के शरीर की कढ़ाई में भाप के समान बूंद बूंद करके टपका कर जिस सोम रस या सोम की ज्योतियों का रस प्रस्रावित या प्रस्रवित होता है उसको प्राणों का नेता मनोरूप वेधाः या इन्द्र या शरीर रूप रुद्र पान करता है तो वह इदिन्द्र या इन्द्र या वेधा का सोमपान कहलाता है जिससे उसको अखिलब्रह्माण्ड के अभूतपूर्व ज्ञान चेतना या प्राणों की उपलब्धि होती है, इसीसे उसको समदः यदमस्त, सोम के नशे में चूर, सात्य ज्योति या सानन्द या सप्राणः कहते हैं, यही सच्चा ब्रह्मानन्द है (१६ से २३ तक)।

(२४) (क) मनस इन्द्रस्य तथा सोमपानमग्निमुखेनान्यान्सर्वान् देवान् युगपदेव सोमपानायाह्वयति, पिबन्ति च सर्वे सहगोष्ठी भिः समन्तात् , परन्तु प्राण एव गृहीताऽत्रस्थ सोमस्यादेः पान शक्ति स्तु प्राणस्येन्द्रस्यैव न तु मुखाग्ने स्तस्मादिन्द्रो मध्यमः प्राण एव सोमपाता तेनेव सर्वे देवाः। (ऐ० उप १-३)

(ख) यतस्त्रय एव मुख्याः प्राण अग्नि रिन्द्रः सोमः प्रथमो मध्यम उत्तम स्तस्मादेव वेदेस्वेतेषामेव वर्णनाधिक्यम् ।

मनोब्रह्माण्डमय इन्द्र का उक्त प्रकार का सोमपान अपने मुख द्वारा नहीं होता। उसके पास अपना मुख है ही नहीं। अखिल ब्रह्माण्ड एक शरीर रूप रुद्राग्नि के वाक् का शरीर है। उसी में सभी देवता सभी प्राण और सोम तथा विष्णु भी है। इस शरीर का मुख अग्नि देवता है। अग्नि ही उस सोम का परिपाक भी करता है। अतः मनोरूप इन्द्र इसी अग्नि रूप मुख से उस सोम ज्योति को ग्रहण करता है, अर्थात् वह मनोमय ब्रह्माण्ड अग्निमय तेजोमय होकर ही सोम के तेज को अपने में धारण कर सकता है। इसी प्रकार अन्य सभी देवता भी इसी अग्नि के मुख से या अग्निमय तेजस्वी बनकर उस सोम ज्योति का पान करते हैं। इसीलिए अग्नि का नाम होता आह्वाता या निमन्त्रयिता है, वह देवताओं को देदीप्यमान करके उन्हें सोमपान की सुविधा का निमन्त्रण देता है। तब सब देवता एक साथ मिलकर उस ज्योति का आस्वादन एक साथ करते हैं। परन्तु खान पान की शक्ति तो अग्निरूप मुख में है ही नहीं, मुख तो अपने को खोल मात्र सकता है निगल नहीं सकता, न खा सकता है। निगलने खाने पीने की ग्रहण करने की शक्ति तो केवल प्राणों में या इन्द्र नामक मध्यम प्राण या मुख्य प्राण में ही है। अतः वास्तविक सोमपान कर्ता

तो इन्द्र मध्यम प्राण ही है, अन्य देवता उस अग्नि मुख से इस इन्द्र प्राण के द्वारा ही खा पी सकते है। और सबका सोमपान इन्द्र के सोमपान पर निर्भर करता है। इन्द्र पिए तो सब पी सकें सबको मिले, इन्द्र न पिए तो सब के सब ताकते रह जाते है। अतः इन्द्र से ही सोम पान की बारंबार प्रार्थना की गई है। ये ही तीन मुख्य प्राण हैं अग्नि इन्द्र और सोम जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम, प्राण कहते हैं। इसीलिए सभी वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों में इन्ही तीन मुख्य प्राण रूप देवताओं की अधिक वर्णना है (२४)।

(२५) यतोऽग्नि वृषभे सोमपाकः सर्वेषां प्राणानां पाकेन सर्वेषां तेषां देवाना मप्युद्दीपन मिन्दुविन्दु रूपे 'रूपं रूपं प्रतिरूपं' च करोति।

(२६) यतो योग मार्गे एव सर्वेषां देवानामेकत्रैकस्मिन्मनस इन्द्रस्थ चन्द्र मणि स्फटिके सभा, सोम ज्योतिष्पानाय विष्णोः रेतसः।

(२७) सृष्टि पक्षे तु देवानां क्रमिकोत्पत्ति स्तदनन्तरं तेभ्यस्तेषां प्राणानां युगपत्तस्मा 'त्साकं जाना सप्तथ माहुरेकज षषिद्यमा ऋषयो देवजा इति।''

(ऋ० वे १–१६४–१५)

(२८) यदा मुख्यानां त्रयाणा अन्येषां वा प्राणानामुत्पत्तिर्भवति तदा ते प्राणाः स्वेषां देवानां पत्नीर्भवन्ति ते गृहस्था गृहपतयश्च।

(२९) तेभ्यस्तस्मादाहुः 'स्त्रियः सती स्ताँ उ पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः।'' (ऋ० वे- १–१६४–१६)

येषां व्याख्या मार्कण्डेय महर्षिणा प्राधानिक रहस्ये स्पष्टी कृता भवति।

(३०) योगेन योऽमीरुद्दीपयति सः "कवि र्यः पुत्रः स इमा चिकेत यस्ता विज्ञानात्स पितुष्पिता सत्॥'' (ऋ० वे- १–१६४–१५)

क्योंकि रुद्र रूप या वाक्पति रूप अग्नि वृषभ में सोमपाक की योग प्रक्रिया होती है, अतः उसमें सभी प्राणों का भी या उन प्राणों के आपोमय शरीर का परिपाक ही होता है। इस प्रक्रिया से सोमपाक के पहले उन प्राणों में उनके पृथक्-पृथक् देवताओं की उद्दीप्ति हो जाती है। देवताओं का पाक विन्दु विन्दु के इन्दु रूप में होती है तो सोम की उन सब की सम्मिलित एकात्म्यीय ज्योति रूप में। इसीलिए सभी देवताओं का एकत्र सम्मिलन केवल योग प्रक्रिया में ही सम्भव होता है; अन्य समयों में इन्द्र से केवल एक ही देवता एक-एक क्षण में अलग-अलग मिल सकता है, एक साथ कभी भी नहीं, कभी जल्दी हुई तो एक सेकंड के हजारवें भाग में एक-एक करके मिलते हैं। परन्तु इस योगावस्था में इन्हें बाह्य कृत्यों में उलझना ही नहीं है। शरीर स्थिर और निष्क्रिय रहता है, तब उन्हें इस आनन्द मनाने की छुट्टी भी मिल

जाती है और यहाँ वे मनोरूप स्फटिक शिला में सभासद रूप में जैसे दीपावली की दीपमाला की ज्येतियों की तरह प्रदीप्त होकर मनो रूप स्फटिक शिला को प्रकाशमान बनाते हुए अपने प्रस्तर या अश्मा रूप में विष्णु के रेतोमय प्रकाशमय शरीर रूप सोम का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सब के सब एक साथ सोमपान करते हैं। सृष्टिपक्ष में तो देवताओं की सृष्टि क्रमशः एक-एक करके होती हैं जिनसे प्राणों की उत्पत्ति युगपत् होती है। इसीलिए कहा है कि छह प्राण तो यमल रूप में एक ही साथ उत्पन्न होते हैं पर सातवां (मनः) अकेला ही उत्पन्न होता है। इन प्राणों को तपस्वी तपोमय ऋषि और देवताओ से उत्पन्न कहा जाता है। तीन मुख्य प्राणों तथा अन्य छह प्राणों की सृष्टि में ये प्राण अपने-अपने देवता के आध्यात्मिक शरीर रूप स्त्रियां बन जाती हैं और ये देवता तब गृहपति या गृहस्थ हो जाते हैं। अतः लिखा है कि वास्तव में ये प्राण तो स्त्रियां है, पर वर्णना के लिए इन्हें ऋषि रूप पुरुष कहते हैं। इन रहस्यों को तो योगी, या आँख वाला या वैदिक ऋषियों के दर्शन चित्र का साक्षात्कार किया हुआ व्यक्ति ही देख सकता है, जिसने इन रहस्यों का पता नहीं लगा सका वह अन्धा है, उसे इनका ज्ञान 'न भूतो न भविष्यति' के महावरे के समान ही कभी नहीं हो सकेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय ऋषि जी निम्न व्याख्यान दीर्घतमा ऋषि के उक्त मंत्र के भाष्य के रूप में दे रहे हैं। दोनों ने एक ही बात लिखी है कि इस रहस्य को केवल योग की आंख वाला देख सकता है। मार्कण्डेयजी ने इनका सजीव वर्णन दुर्गा सप्तशती रहस्य त्रयी प्राधानिक रहस्य में इस अलौकिक रूप में दिया है। इसमें लिखा है की महालक्ष्मी त्रिगुणा सर्वाद्या परमेश्वरी है, उससे तामसी नाम की देवी उत्पन्न हुई इसके कई नामो में से एक महाकाली या महामाया है, महामारी क्षुधा तृष्ण निद्रा तृष्ण निद्रा तृष्ण और कालरात्रि हैं। फिर महालक्ष्मी ही से महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती आर्या ब्राह्मी कामधेनु वीजगर्भा नाम की दूसरी देवी उत्पन्न हुई। तब महालक्ष्मी से हिरराम गर्भ नाम का जोड़ा उत्पन्न किया जिनमें पुरुष को ब्रह्मा धाता विरञ्चि नाम से स्त्रीको श्री पद्मा लक्ष्मी कमला आदि नाम दिए। महाकाली ने नीलकंठ चन्द्रशेखर रक्तवाहु त्रिलोचन तथा त्रयीविद्या कामधेनु भाषा अक्षरों की रचना की। अन्त में सरस्वती ने विष्णु कृष्ण हृषीकेश वासुदेव जनार्दन नाम के पुरुष और उमा गौरी सती चण्डी शिवा की रचना की। इसके बाद तामसी महालक्ष्मी और सरस्वती स्वयं पुरुष के रूपों में बदल गई। तब महालक्ष्मी ने इनमें से ब्रह्मा को त्रयी, रुद्र को गौरी और विष्णु को लक्ष्मी दे दी। मार्कण्डेयजी ने यहां भी वही बात लिखी है

जो दीर्घतमाने उक्त ऋषियों के बारे में लिखा है कि इस बात को केवल आँख वाला योगी ही जान सकता है अन्य नहीं। यहां पर यह रहस्य है कि जो स्त्रियां-तामसी महाकाली और सरस्वती-स्त्री रूप से रुद्र ब्रह्मा और विष्णु रूप में बदल गई हैं वे तीन मुख्य प्राण—प्रथम प्राण मध्यम प्राण और उत्तम प्राण हैं। प्राण रूपों में ये स्त्रियां शरीर प्रकाश, बाहन इत्यादि हैं और पुरुष रूप में या रुद्र ब्रह्मा विष्णु रूप में ये आत्मायें, प्रकाश के केन्द्र चेतनामय ज्ञानमय इत्यादि है। यह केवल योग से ही जाना जा सकता है। पर जो व्यक्ति कवि या योगी है, या कवीयमान या योगरत है, वही देवपुत्र अग्नि आदि के समान इन रहस्यों को अपनी योग की आंखों से साक्षात् देखता है। जिसने इस प्रकार इन रहस्यों को जान लिया उसे अपने पिता रूप देवताओं का भी पिता या जनक या उद्दीप्त कर के पुनः साकार रूप में देखने वाला कहा जाता है। यहां पर जो बातें तीन मुख्य प्राणों के बारे में कही गई हैं वे सब अन्य छह प्राणों के लिए भी ठीक बैठती हैं। इन दोनों वर्गों में महान् अन्तर यह है कि वे तीन प्राण त्रिपादामृत या अमृत शरीरी हैं तो ये छह प्राण मर्त्य शरीरी हैं। इनके जोड़े ये हैं-वाक् अग्नि, प्राण वायु, चक्षुः सूर्य, श्रोत्रं दिशः, मनः चन्द्रमा और त्वक् मातरिश्वा, जिनमें प्रथम स्त्री है द्वितीय पुरुष या आत्मा। (२५ से ३० तक)।

(३१) 'कथं योगो वाजिनो रासभस्येति' (ऋ० वे ७–) प्रश्ने तु।

(३२) रसवतः प्राणवतो विष्णो र्यं त्सूत्रं मनोरूपं बेधसमिन्द्रं वा प्रतिबध्नाति तत्ताम्रायसं हिरण्मयमेव कृष्णायसं राजतं रौद्रं सप्राण शरीरं प्रतिबध्नाति।

(३३) मनः प्राण वेधा रुद्रौवा इन्द्रमरुतौवा गर्भौ द्विविध सूत्राभ्यां बद्धौ यौ च मधुवैद्युतीय शरीरिणौ सन्धान प्रत्याधानौ।

(३४) विष्णुः स्थूणा वा स्याणु र्वा तयोर्दाम्नियोः सूत्रयोः।

(३५) "अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राण (इन्द्र) स्तस्येदमेवावधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम।" (बृह० उप० २–२–१)

(३६) अवधानेन योगेनैव साधानं प्रत्याधानं चोभयोः।

(३७) उक्तं च "अयं वेन श्चोदयति प्रश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने इममपा ँ सङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति॥"

ऋ० वे० १०–१२३–१

(३८) 'वेनन्त्यानमन्तीति प्राणः' (ऐ० ब्रा०) स एव दशानां प्राणानां रथा दशरथाज्जातो रामः स एव वसूनां देवानां सवनात्सुतः वासुदेवः कृष्णः तमेवाऽऽत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्ते त्याहुर्मनीषिणः (कठ० १–३–३,४ गीता०)

प्रथमों का विकास होता है, इन्हीं के शरीरों से पुनः योग द्वारा अनेक देवताओं का विकास अरणियों से अग्नि के समान किया जाता है। यही इन यमलों का रहस्य है।

अब प्रश्न उठता है कि इस बाजी रूप शरीरी तत्त्व का योग, रस रूप तत्त्व (रासभ) से किस प्रकार होता है ? रसमय प्राणमय पुरुषोत्तम विष्णु का जो मनोरूप इन्द्र या वेधा नाम का अन्नमय वाजीमय प्राण सूत्र है उसी हिरण्मय या ताम्रायसमय प्राणमय सूत्र से वह रजतमय रौद्र शरीर या प्राण शरीर को बांधे रहता है। मन और प्राण (शरीर) या वेधा और रुद्र या इन्द्र और प्राण तो गर्भ रूप हैं। इनका बन्धन द्विविध है। इनका शरीर और बन्धन मधु बैद्युतीय तारों की लहरों के शरीर के समान है जिन्हें सन्धान और प्रत्याधान अथवा गरम ठंडे तार (या नेगेटिव पौजिटिब चार्जेज) कहते हैं। विष्णु इन तारों का केन्द्रीभूत (पावर हाउस) विद्युतकेन्द्र है जिसे वेदों और पुराणों में अय;स्थूण या स्थाणु नाम से पुकारा गया है और प्राणसूत्रों को मथानी की रस्सी या 'दाम' जो उस स्थूण में सदा बँधी रहती हैं। मध्यम प्राण इन्द्र इस आदित्य रूप स्थूण का शिशु या प्रथम प्रकाश की दीप्तिमान चिनगारी या अङ्गार है। इसी के अवधान और प्रत्याधान है, गरम ठंडे तार हैं। इसमें प्रत्याधान तो मध्यम प्राण है, सन्धान या अवधान उत्तम प्राण है और रज्जु या दाम या सूत्र अन्नमय ज्ञानमय मनोमय प्रकाशमय तार हैं। उस उत्तम प्राण का अवधान समाधान या ध्यान या सूत्र द्वारा बन्धन ही योग हैं, यही सन्धान है जिसमें प्राणों का प्रत्यधान या बन्धन किया जाता है। कहा है कि यह वेन नामक सर्वतः लचकीला उत्तम प्राण स्वयं अनन्तरूपों को अपने गर्भ में अपने में ज्योति या प्रकाशरूप में दीर्धायु या अमृत रूप में, तथा रजः या उभय शक्ति (प्रलय योग और सृष्टि की शक्तियों) से सम्पन्न होकर असीम रूप में रहता है। इस प्राण को उक्त प्रकार के (सूर्यस्य) आदित्यरूप प्राणों के अवधान प्रत्यधान और संधान द्वारा (अपां सङ्गमे) वैदिक ऋषि महार्षि योगी यति जन अपनी मतियों या ज्ञानों या देवताओं को उद्दीप्त करके उसे मध्यम प्राण रूप मन को अपने पुत्रवत् प्रथमोत्पन्न बालक की तरह उस विष्णु की गोद में उस प्राण की गोद में बड़े ही प्रेम से खिलाते खिलवाड़ करते देख आनन्द विभोर रहते हैं। वेन नाम आनमनशील प्राणों का है। उनमें इतना अनन्त प्रकार का लचकीलपन है कि जिस रूप में चाहें उसी में ढल जाता है। यह स्थिति भारतीय आर्य संस्कृति की एक अनुमय भेट है। अभाग्य वश आजतक का कोई भी विद्वान् इस स्थिति का ज्ञान नहीं रखता, भले ही कुछ योगी जन

और योगशास्त्र के कुछ अच्छे ज्ञाता इससे परिचित हों। विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ है। यही स्थिति दशरथ से राम को, और वसुदेव से कृष्ण को जन्म देती है। योगी के दश प्राणों के रथ से या दशरथ से तो राम का और वसु रूप प्राणों के देवताओं से उद्दीप्त कृष्ण या विष्णु को सोमीया ज्योति का भोग करने वाले इन्द्र या कृष्ण का इसी या प्रत्येक योगी की समाधि में निरन्तर प्रतिक्षण जन्म होता है। प्राण तो स्त्रियां गोपियां है, उनके देवता गोप हैं और यह चाँदनी रात या सोम ज्योति जिसकी छाया में बाल रूप मात्रा में मन रूप इन्द्र क्रीडा करता है वही कृष्ण है. योगी की समाधि ही मथुरा या मधुरा या मधु नाम सोम में रमण करने की नगरी है। इसी स्थिति को कठ और गीता ने इस मनः आत्मा चन्द्रमा और प्राणों को कृष्ण, और इन्द्रिय गोपी गोप या गायों के रूप में वर्णिति करके उनके एकत्र सम्मिलन को ही 'भोक्ता' की स्थिति कहा है। इस स्थिति में आत्मा मनः देवता और प्राणों का एक अभूतपूर्व एकभूत समाहार होता है। उसी स्थिति को भोक्ता स्थिति या समाधि के आनन्द के की स्थिति कहते हैं। इस मनोरूप आत्मा, मनोरूप स्फटिक में चेतनारूप में प्रतिविम्बित होकर उस सोम ज्योति का पुरुष ही भोग करता है; वही भोग्य है, वही भोग कर्ता है। इसी लिए 'भोक्ता च प्रभु रेव च' भी कहा है। यह योग सम्बन्धी सांख्य का या वेदों का ज्ञान है। प्रत्येक योगी का मन तथा प्रतिबिम्ब पृथक् हैं। अतः यह भोगी पुरुष भी 'अनन्ताः पुरुषाः' हैं, योग में ही अनन्त है, सांख्य या सृष्टि में एक है, कृष्ण ही प्रकाशमय द्युम्नः है जिससे मनोरूप प्रद्युम्न (द्युम्न इव प्रद्युम्न) की उत्पत्ति कहते हैं, यह प्रद्युम्न सोम प्रकाशमय मन है (३१ से ३८ तक)।

(३९) तस्मादखिलमनोब्रह्माण्डं वा रजसोविमानमिन्द्रस्य ब्रह्मणो वा सम्मिलित हिरण्मयराजतसूत्रप्रकाशेन सोमीय ज्योतिषा व्याप्तं भवति।

(४०) तज्ज्योतिषामपां पानं सोमपानमिन्द्रस्य देवानां पितॄणाञ्च।

अस्तु अब अपने विषय का तारतम्य संभालें। यह ब्रह्माण्ड या मनो ब्रह्माण्ड या अन्तर्ब्रह्माण्ड या 'रजसो विमान' उस इन्द्र या ब्रह्मा या मनः को स्वर्णमय रजतमय और ताम्रमय त्रिविध त्रिवृत् सूत्र के प्रकाश से या सोम की ज्योति से व्याप्त रहता या किया जाता है। इसी ज्योति का पान या इसी ज्योति रूप में व्याप्त हो जाना ही इन्द्र का सोमपान कहलाता है, इसी में देवता और पितर (प्राणः द्विविध पूर्व और परे) भी उस ज्योति में इन्द्र के साथ साथ उस सोम ज्योति के नशे में चूर होकर अपने को भूले हुए आनन्द विभोर रहते हैं (३९ से ४०)।

(४१) 'अग्निर्वै मुखं देवानां जनयिता च' (श० प० ब्रा०) तेनैवमुखेनोष्णी कृतेन सूत्रेण दीप्तेन च गर्भमयौ ब्रह्मरुद्रौ देवाः पितरश्च पिबन्ति वाऽनु- भूतिं कुर्वन्ति वा सोमस्य सरसां ज्योतिषाम् ।

(४२) मुखं वै द्वारो द्वयोर्मेलापयिता वा विदृतिर्द्वा वाग्निः प्रसारयिता गृहीता वान्नस्योष्णस्य ज्योतिषोऽन्नानां ज्योतिषां वादितिमयानां ज्ञान चेतना- मयानामाहर्ता च केवलः प्राण एव स मध्यमः (मुख्यः) प्राणो मनो वेधाः (ऐत० उप० १–३) "स योऽयंमध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियैन्ध यदैन्ध तस्मादिन्ध इन्धो ह वै तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः" (श० ब० ब्रा० ६-१-१)

(४३) "स (इन्द्र) तस्मिन्नाकाशे (रजसो विमाने यां) वहुशोभमानामुमां हैम- वतीं (ददर्श) ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ ॥ सा ब्रह्मेति होवाच ॥" (केन उप० ३, ४) ।

(४४) येयमुमा हैमवती सैव हिरण्मय सूत्रमयं ज्योतिः सोमस्य ।

(४५) उमया सह सोमः स यद्वा अकारस्य विष्णोरुकारस्याग्ने रुद्रस्य मध्ये यो मकारस्तेषामेकत्रसहमेलापकमोमा तया सह सोमः सेदिन्द्रः सेध्मः सोद्दीपनं सेन्द्रो वा ।

देव सम्बन्धी या सृष्टि या योग सम्बन्धी जितने भी कार्य होते हैं उन सबका प्रमुख या अग्रणी कार्य कर्ता देवता या तत्त्व अग्नि ही है । वह तेजोमय उष्णता मय है, इसकी ज्योति से उष्णीभूत होकर प्राण और अग्नि के सम्बन्ध को स्थापित करने वाला विजली के बल्ब के भीतरी तार के समान सूत्र प्रदीप्त होकर उस गर्भ या बल्ब के या शरीर या ब्रह्माण्ड के भीतर में स्थित मनो रूप ब्रह्मा प्राण शरीरी रुद्र, और अन्य देवता तथा पितर उस ज्योति रूप सोमामृत का पान, ध्यान, या उस ज्योतिरूप सरोवर में स्नान में मग्न या आत्मानुभूति करते हैं । यह अग्नि तो मात्र मुख है, इसके द्वारा मात्र स्वीकार किया जा सकता है । यह तो मात्र विदृति द्वार है या प्राण और अन्न दोनों का मेलापक मात्र है जिससे उनमें प्रदीप्ति रूप जनन या प्रजनन आ जाता है । परन्तु इस मुख के द्वारा अन्नादि या ज्ञानादि, सोमादि ज्योतियों के रस का मूल रूप से ग्रहण कर्ता तत्त्व तो केवल प्राण रूप मध्यम प्राण या मनः या इन्द्र ही है । इसका इन्द्र नाम पड़ने का मुख्य कारण ही यही है कि यही अपनी अग्निमय रूपता से अपने अगल बगल से प्रथम और उत्तम प्राणों को समिद्ध करता है । समिद्ध या प्रदीप्त करने वाले का नाम 'एन्ध' है, और उसे एन्ध एन्ध कहते कहते ही इन्द्र कहने लगे थे, यह वैदिक

ऋषियों की परोक्षवादिता और परोक्ष या योगमार्ग वर्णना का एक रहस्यमय ढंग है। इन्द्र ही अग्नि रूप में प्राणों को समिद्ध करने वाला प्रथम योगी है। अर्थात् इन्द्र नाम सीधे सीधे योगी या महायोगी का है। इस इन्द्र ने अपने मनो ब्रह्माण्ड के आकाश में जिनको वैदिक ऋषियों ने 'रजसोविमान' नाम दिया है जिस बहुशोभमाना उमा हैमवती रूप ज्योति का दर्शन किया, जिसने उस इन्द्र को यह बतलाया था कि वह तत्त्व जिसकी उसे खोज है जिसे वे यक्ष या महद्यक्ष नाम से पुकारते हैं जिसके सामने अग्निवायु प्रभृति देवताओं की कुछ न चली, वह तो ब्रह्म है। और जो बात इस उमा 'हैमवती' ने स्वयं नहीं बतलाई जिसे उस इन्द्र ने बहुशोभमाना ज्योति रूप में अपने आंखों से देखा था वही तो इस ब्रह्म की सोममयी उमामयी वैद्युतीय सूत्र मयी ज्योति थी; 'अ' ब्रह्म है उससे उ + म रूपा ज्योति उमा नाम से बिखरती है, उसे तो इन्द्र ने स्वयं देख लिया। अर्थात् इन्द्र ने सर्वप्रथम सोमपान कर लिया वह ज्योति तो वैद्युतीय प्रकाशमय बल्ब समान प्रकाशमय है। उमा से युक्त ही सोम है, या अकाररूप विष्णु के उकार रूप अग्नि या रुद्र के मध्य में जो मकार रूप इन्द्र वा मध्यम प्राण है उन तीनों का सम्मिलित स्वरूप ही सोम है, इन सब से मिला स्वरूप ही सोमपान युक्त इदिन्द्र या सेध्मेन्द्र या सोद्दीप्तीन्द्र या समाधिस्थ इन्द्र है (४१ से ४५ तक)।

(४६) "तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीति न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥" (केन उप० ४)

(४७) 'रसो वै सः' यस्य पानं सोमपानम्।

(४८) स 'ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावाभूमि निष्टतक्षुः'।

(तै० ब्रा०, केन उप० ४)

उस इन्द्र ने ब्रह्म की अनुभूति के साक्षात्कार का जो चित्र खींचा था या विवरण दिया था वह उसके आदेश रूप में इस प्रकार सर्व विज्ञेय है—कि वह ब्रह्म विद्युत स्वरूपी है, वह विद्युत्प्रकाश के समान अमृतमय है, वह अन्तर्जगत् में, समाधि की अवस्था में अपनी या हमारी आंखों की पलकों को खोल देता है। यह उसकी देव रूप की या विष्णु रूप की या चक्षुःसूर्यः रूप की रूपकीय व्याख्या है। उसकी इसी ज्योति को 'रसो वै सः' या रसरूप प्रकाशमयी ज्योति कहते हैं, योगीजन समाधि में ही उसकी इसी ज्योतिरूप रस का पान या सोम का पान करते हैं। वह ब्रह्मवन के समान ज्योतिरूप सागर है, वही अनन्त सृष्टि बीज रूप फूलों के बल्बों की चमक से झिलमिल चिलमिलता हुआ इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का एक अजएकपाद् वृक्ष है जिससे वह अन्तर्जगत् या

द्यावा और बहिर्जगत् या पृथिवी का क्रमशः तक्षण वा निर्माण होता है (४६ से ४८ तक)।

(४९) संविद्धै सोमपानम् संविच्च संविदाना वाग्विद्युत् ।

(५०) सैव वै तडिदिव प्रकाशमाना बार्हती विद्या संविज्ज्योतिर्मयं ज्ञानं प्रकाशो विवेकश्चेतना वा ।

(५१) तडिदिव संविदा विद्या वै त्रय्या ऋग्यजुः सामानां विष्णु ब्रह्म रुद्राणा मकारोकारमकाराणां संवेदनं मेलापकं शुक्ल कृष्णलोहितानां ज्योतिषाम-भूतपूर्वमेकं त्रिवृत् ।

सोमपान केवल ज्योति का पान ही नहीं है, निष्क्रिय निश्चेष्ट ज्योतिष्पान ही नहीं है। यह संवित् का पान है, ज्योतिर्मय संविद् का पान है, सतत क्रिया-शील तडित्प्रकाश रूप संवित् का ही पान है। इस तडिन्मयी संविद् का नाम संविदाना या वैद्युतीय शरीरिणी वाक् है। इसी निरन्तर क्रियामयी संविद या संविदाना को दूसरे शब्दों में विद्या या ज्ञानमयी बृहती ज्योति भी कहते हैं। इसीलिये पहले ३-६-८ में कहा है कि सोम को बृहती के विधानों से आच्छादित करके सुरक्षित रखा जाता है। इसी का नाम चेतना भी है, इसी को विवेक भी कहते हैं जो हंस के समान सत्यानृत का नीर क्षीर विवेक करने में समर्थ होता है। इस विद्या के भागों के नामों को ऋग् यजुः और साम कहते हैं जिनके प्रतीकाक्षरों को अ + उ + म् और इनके समाहार को एक ओम् कहते हैं। जिसे यह ओम् या विद्या मिल गई वह सोम या स + ओम (सह + ओम् = सह + उमा) हो जाता है, जो सोममय हो गया, उसने सोम पी लिया, उसे ब्रह्म मिल गया। इस सोम के तीन भागों की ज्योति शुक्ललोहित कृष्ण रूपा है जिनका एक्य एक अभूतपूर्व ज्योति का जनक होता हैं (४९ से ५१ तक)।

(५२) तस्य "य मृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति । यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्कास्वित्तत्र यजमानस्य संविन् ?"

(ऋ० वे० ८-५८-१)

(अत्र ऋत्विजः प्राणाः, सचेतसः समनसः, यज्ञं योगयज्ञं वहन्ति धारयन्ति । अनूचानः अनुक्तः, अनिरुक्तः मनोब्रह्मा, ब्राह्मणः ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्, युक्तः योगेरतः, स एव यजमानः तस्य यादृशी संविदासीत्सा चेदृशीः—)।

(५३) "एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः । एकैवोषा सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम् ।
चित्रामघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वां हुवे अतिरिक्तं पिबध्यै ॥

(ऋ० वे० ८-५८-३)

(५४) तादृशं सोममेकमेवाद्वितीयमसपत्नं वा ज्योतिष्मन्तमित्यादिगुणं संविदमतिरिक्तं पिबध्यै योगा 'नान्यः पन्था विद्यते अननाय' ।

(५५) स 'एष वोऽमी राजा, सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा' नान्यत्किञ्चित् ।

बेदों ने इस योग यज्ञ का वर्णन देते हुए लिखा है कि प्राण रूप ऋत्विज सचेता या अपनी अपनी चित्तियों या चितियों की वृत्तियों को बटोर कर मनः को अर्पित करके सचेता होकर जब इस योग यज्ञ को करते हुए उस ब्रह्म की नाना रूपा अनुभूतियों के प्रयास में अनेक सरणियों से प्रयास करते हैं, उस समय वह अनूचान या अनिरुक्त मनोरूप ब्रह्मा उनका मुखिया या ब्रह्मा या ब्राह्मण का काम करता है, तब उस यज्ञमान या यज्ञनिष्ठ उस मनोरूप ब्रह्मा को जैसी या जिस प्रकार की अनुभूति होती है वह इस प्रकार की है—कि अग्नि तो एक ही है, वही नाना रूपों में समिद्ध होकर नाना नामों को—इन्द्र मित्रादि नामों को—ग्रहण करता है, सूर्य भी एक ही है, उषा भी एक ही है, उस समय वही सूर्यसम या उषा सम एक ही है और उस स्थिति में सब कुछ एक रूप मात्र में भासमान होता है। उस स्थिति की उस अलौकिक ज्योति का आकण्ठपान करने के लिए ही, यह अधियज्ञ परक व्याख्या दी जाती है कि उसके योगयज्ञ में वह ज्योतिष्मान् केतुमान् , त्रिचक्र (ओम् स्वरूपी) भूरिवारं (नानाप्राणमय,रमणीय सागर वाला) चित्रामघा या लोहित शुक्ल कृष्ण प्रकाशमयी विभूतियों वाला अद्भुत संविद् या संवेदना का एक अलौकिक दीप्ति पुञ्ज सा है। इस प्रकार के एकमेवाद्वितीय या असपत्न तत्व की ज्योति की संवित् का अतिशय रूप से पान करने के लिए योग को छोड़ कर और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं, न हो ही सकता है। इसीलिए इस सोम को देवताओं तथा प्राणों और प्राण रूप ब्राह्मणों या ऋत्विजों या योगी जनों का 'राजा' उक्त प्रकार की संविदा रूप ज्योति का या वाला तत्त्व कहा जाता है, अन्य किसी और को नहीं (५२ से ५५ तक)।

(५६) यो नःकरोति योगं तस्य रुद्रस्याग्नेर्वाचः शरीरं नित्यं रोदिति यन्नह्येतन्न हि तन्न ह्यन्यच्चेति तस्मात्स रुद्रः शब्दायमानः सदैवासन्तुष्टः ।

जो व्यक्ति योग नहीं करता या नहीं कर सकता उसे जन्मभर रोना ही रोना रहता है, वह उसी प्रकार रोता है जैसे पुत्र जन्म लेने के समय 'कहां कहां कहां' कह कर रोता है। यह रोने वाला रुद्रमय प्राणमय वाक् रूपी

शरीर है, वह कहता है—मेरी वह वस्तु कहां है ? वह कहां है ? वह तीसरी चौथी पांचवी कहां कहां हैं ?, यहां तो न यह है, न वह है, न वह अन्य तीसरी। इसीलिए इस प्रकार से नित्य शब्दायमान रहने या रोदनशील शरीर या ब्रह्माण्ड को रुद्र या रोनेवाला या नित्य असन्तुष्ट रुद्र कहते हैं (५६)।

(५७) यस्तु तं योऽन्तरिक्षोदरः कोशो भूमि बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्थोत्तरं विलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदं श्रितं तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायु वंत्सः, स य एतं वायुं दिशां वत्सं (मिन्द्रं मनो ब्रह्माणं वा) वेद न पुत्र रोदं रोदिति।

(५८) (विष्णुः) प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च तमेव प्रापत्स्यथ।

परन्तु इसके विपरीत जो उक्त प्रकार से योग करता है, जो यह अनुभूत कर लेता है कि यह सृष्टि या ब्रह्माण्ड खोखला नहीं (जैसा कि आजकल के वैज्ञानिक और जैन बौद्ध भारतीय मानते हैं) वरन् इसके अन्दर एक अन्तरिक्ष नामक अलौकिक ज्योतिर्मय कोश छिपा है जिसकी जड़ भौतिक शरीर में हो गयी है, जो स्वयं कभी भी नष्ट नही होता, दिशायें या भौतिकता की सीमायें ही जिसकी नाडियाँ या संचार प्रसार कारिणी वर्तनियां हैं, द्यौ या पूर्वार्धाऽमृत ही जिसका उत्तरायणीय बिल या कोश है जिसमें उस तीनों प्राणों के खजाने को सुरक्षित रखा जाता है, जिसमें यह अखिलकोटि भौतिक ब्रह्माण्ड अपनी ज्योतिर्मय जीवनी की ज्योति को आश्रित रखता है या छिपाये रखता है, उसकी प्राची नाम की दिशा को जुहू या हवनीया कहते हैं, दक्षिणीया को सहमाना सहसो यह्व या सहसोयह्वी कहते हैं, पश्चिम दिशा को राज्ञी या राजमाना कहते हैं, और उत्तरीया को सुभूता या प्राणभूता कहते हैं, इन सबके वत्स को वायु या मातरिश्वा कहते है। जो व्यक्ति इस वत्स को उक्त दिशा रूप प्राणों के वत्स रूप में जानता है, या इस योगी इन्द्र या वेधा को पहचानता है (वह स्वयं योग निष्ठ हो जाता है अतः) कभी भी उक्त प्रकार से प्रथम जातपुत्र के समान जन्मभर रोने का अवसर ही नहीं पाता, उसे वह मिल जाता है जिसके मिलने पर और किसी वस्तु की चाह या रोने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वह तत्त्व विष्णु या उत्तम प्राण रूप पुरुषोत्तम रूप ज्योति है, वही इस सृष्टि का सब कुछ है, यह सब कुछ उसी के नाना नाम रूप हैं, जब वह उसे पा ही जाता है, तब रोना किस बात का ? (५७, ५८)।

(५९) स चारिष्टः कोशः।

(६०) भूरिति पृथिव्यन्तरिक्षदिवो वै योगभूमयः।

(६१) भुव इत्यग्निवाय्वादित्याः रुद्रब्रह्माविष्णवः पदानि ।
(६२) स्व रित्यृग्यजुः सामाः स्वर संविदोम् ।" (छा० उप० ३·१५)

उक्त अन्तरिक्षोदर कोश का एक नाम अरिष्ट कोश भी है। इस अरिष्ट कोश के योग की भूमियाँ पृथिवी अन्तरिक्ष और दिव नामक तीन भाग हैं जिसके तीन पदों में से भुव नामक पद अग्नि का है। उसी में वायु और आदित्य या रुद्र ब्रह्मा और विष्णु की तीन ज्योतियां रहती हैं जौर स्वः नामक पद में ऋग्यजुः साम नामक तीन विद्यायें संविद्रूप में रहती हैं।

अध्याय ३ पाद ४ (आ)

अथ सोमपानस्य महिमा स्थितिर्वा

(६३) अथ सोमपानस्य महिमा स्थितिर्वा ।

इस प्रकार के इस सोम के पान से जैसी स्थिति होती है उस समय मन में जैसी भावनायें हो सकती हैं, या सोमपान प्राप्त हो जाय तो कितनी बडी भारी प्रसन्नता हो सकती है या होती है उसका विवरण स्वयं ऋग्वेद ने इस प्रकार दे रखा है :—

(६४) (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१) इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयाम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम मनसो निश्चय एवं स्याद्यदहं स्वकीयां गामश्व (मुभयात्मका-प्राणाश्च) ऋत्विग्भ्यः प्रयच्छेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मेरा यह निर्णय होगा कि मैं अपने प्राण रूप गायों और अश्वों को अपने (मन रूप यजमान के ऋत्विज रूप ब्राह्मणों या प्राणों के देवताओं को दे दूं, क्यों कि तब मुझे इनकी आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी; तब मन का लय सोम में ही हो जावेगा) (१)

(२) प्रवाता इव दोधत उन्मापीता अयंसत् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(२) यदि चेदहमपां सोमं तदा तस्य सोमस्य पीता विन्दव इन्दवो वा मां झंझा-वात इवोर्ध्वमगमयन् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मुझे उस सोम की बूंदों का नशा बड़ी तेज आंधी के झोंके के समान ऊर्ध्व स्थान या उत्तम प्राणों या विष्णु के लोक को धक्का देकर के उड़ा ले जावेगा । (२)

(३) उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(३) यदि चेदहमपां सोमं तदा पीता सोमविन्दवो मां तीव्रगतिकाश्वोरथ-मिवोर्ध्वं शीघ्रमगमयन् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— वे सोम की बूंदें, तीव्रगति के पावों वाले छोड़े जिस प्रकार रथ को बहुत ऊँचे उड़ा ले जाते है उसी प्रकार मुझे बहुत ऊचे उड़ा ले जावेंगी । (३)

(४) उन्मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(४) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम मतिरूपं वत्सं सोमज्योतीरूपागौ स्वप्रेम्णा स्वयमेवागच्छेत् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—वह सोम की ज्योति रूप गाय मेरी मति रूप प्रिय पुत्र या वत्स के पास अपने आप अपने स्वाभाविक प्रेम के कारण आ जावेगी । (४)

(५) अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(५) यदि चेदमपां सोमं तदा अहं तष्टा वन्धुरं रथमिव स्वमतौ तस्य सोमस्थासनायोत्तमं स्थानं निर्मापयेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—मैं उस समय उस सोम को आसीन करने के लिए अपने हृदय में अपनी मतियों का एक रमणीय आसन उसी प्रकार निर्मित कर देता जैसे बढ़ई रथ में बैठने के स्थान को सबसे सुन्दर बनाता है । (५)

(६) न हि मे अक्षिपच्चनाच्छांत्सु: पञ्चकृष्टय: । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(६) यदि चेदहमपां सोमं तदा मम पञ्चप्राणरूपै: कृष्टिभि रक्षणो "नहि द्रंष्टु द्रंष्टे विपरिलोप: विद्येत" (श० प० ब्रा० १४-७-१-२३ बृह० उप०)

यदि मैं सोम का पान कर लूं तो—तब मैं अपने पञ्चप्राण रूप पञ्चकृष्टियों की ओर उसी प्रकार उदासीन रहता या निरपेक्ष्य रहता जैसे कोई अपनी आंखों के तिल की कुछ चिन्ता ही नहीं करता, क्योंकि मेरी चक्षुरूपता का तब किसी भी प्रकार नाश नहीं हो सकेगा ! (६)

(७) नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(७) यदि चेदहमपां सोमं तदा उभे द्यावापृथिवी ममैकपक्षसममपि न भवेतम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब द्यावा और पृथिवी दोनों भाग मिलकर मेरे एक भाग के बराबर नहीं होंगे । (७)

(८) अभिद्यां महिना भुवमीमां पृथिवीमहीम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(८) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमिमां द्यामिमां भूमिं च स्वमहिम्नाऽभिभवामि ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो—तब मैं इस द्यावा को और इस पृथिवी (रूप दर्शन सृष्टि के भागों) को अपनी महा महिमा से पराभूत कर दूंगा या पूर्ण विजित कर लूंगा । (८)

(९) हन्ताहं पृथिवी मिमां निदधानीह वेह वा । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(९) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमिमां पृथिवीं प्रक्षिपेयमन्तरिक्षे वा द्युलोके वा ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— तब मैं सृष्टि के पृथिवी नामक इस महा विस्तीर्ण भाग को कहीं यहीं या कहीं अन्यत्र पटक देता (मुझे इसकी तब क्या आवश्यकता ?) ; (९)

(१०) ओषमित्पृथिवी महं जंघनानीह वेह वा । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१०) यदि चेदमपां सोमं तदा चाहमिमामुषसो जातां पृथिवीं मन्त्र वा तत्र वा बिनाशयेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— तब मैं उषा नामक स्थान से उत्पन्न इस पृथिवी नामक सृष्टि के भाग को एक ही क्षण में कहीं यहीं या कहीं अन्यत्र चूर चूर करके फेंक देता । (१०)

(११) दिवि मे अन्यः पक्षो ऽधो अन्यमचीकृषम् । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(११) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहं स्वात्मन एकं पक्षं दिवि तथान्यं चाधः प्रक्षिपेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— तब मैं अपने एक भाग को द्यावा में दूसरे को पृथिवी में कहीं पटक देता (मुझे तब इस शरीर की क्या आवश्यकता ?) । (११)

(१२) अहमस्मि महामहो ऽभिनभ्यमुदीषितः । (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"

(१२) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहं महतामपि महाँ सन्नूर्ध्वमुद्गतो भवेयम् ।

यदि मैं सोम का पान करलूं तो— तब मैं महतो महान् तत्त्वों से भी महत्तर बन कर सोम ज्योति के ऊर्ध्व स्थान को चला जाऊंगा । (१२)

(१३) गृहो याम्यरं कृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः ।। (यदि) "कुविद् सोमस्यापामिति"
(ऋ० वे० १०-११९ पूरा)

(१३) यदि चेदहमपां सोमं तदा चाहमग्निमुखेन स्वप्राणरूपेण हविषां ग्रहो वा गृहीता वा भूत्वा सर्वेभ्यो देवेभ्यो हव्यवाहन कार्यं संलग्नः सँस्तैश्च स्वात्मालंकृतश्च तं सोमं देवं ज्योतिषं गच्छेयम् ।।

तब मैं अग्नि मुख के द्वारा प्राण रूप से हवियों को स्वीकार करके सब देवताओं के लिए हव्यवाहन के कार्य में संलग्न होते हुए, उन देवताओं से अपने शरीर को अलंकृत करके उस ज्योती रूप सोम के लोक को प्रतिष्ठा पूर्वक पहुंच जाऊंगा । (१३)

(६५) मूजवत्पर्वतोत्पन्नसोमलतारसश्चापी दृग् महिमावानैवासी देकाग्रचेतसाम् ।

मूजवान् पर्वत में उत्पन्न होने वाली सोमलता के रस की भी इसी प्रकार की महिमा है जिससे योगी का चित योग के लिए एकदम एकाग्र हो जाता था और दीर्घ जीवी अमृत सा भी था । (६५)

(६६) दध्याशिरोगवाशिरो सुतः सोमश्च कृत्रिमो लौकिक स्मृति विभ्रमायैव न योगाय ।

जो दध्याशिर या गवाशिर सोम है वह कृत्रिम सोम है, लौकिक नशे की वस्तु है, इससे स्मृति भ्रम मात्र होता है, योग नहीं—परन्तु दध्याशिर और गवाशिर नाम तो पारिभाषिक हैं, इनका आशय प्राणों का आशिर या रस या गो रूप प्राणों का रस है कर्मकाण्डी लोग इनके इन भ्रमात्मक नामों का लौकिक अर्थ समझ कर धोखा खा गये है (सू० २-३-८ देखें) । (६६)

अध्याय ४ पाद १

वेदोक्तानि वसूनि रत्नानि रायश्च ब्रह्मचर्यश्च मंत्रश्च दक्षिणा च

(१) 'रयिरिति चन्द्रमाः' (तै० उप०)

(२) 'रयिरिति मनुष्याः' (श० प० ब्रा० १०-५-२-२०, अथर्व वे०)

(३) ऋग्वेदे य 'एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम्' सः समुद्रः सोमस्तस्य मन्थनं देवासुराभ्यां प्राणाभ्यां मन्दरेण मनसा बद्धेनाहिना रज्जुना भौतिकेन प्राणेन मुख्येन प्रसिद्धेन सूत्रेण नागेनाक्षितिना मन्थनं चोद्दीपनमेव तेषाम् ।

(४) मन्थनाद्यानि रत्नान्युपलब्धानि तानि मुख्यतश्चतुर्दश तानि पुराणेषु सर्वविदितानि चान्यानि विश्वे देवताश्च ।

(५) संकेतकानि तानि पृथक् पृथग्देवानामतः समुद्रमन्थनं तु योगस्य प्रक्रियैवेति बोध्यमरण्योरग्निमन्थनवत् , योगमय्यां सप्तशत्यां यथोक्त मार्कण्डेयेन—

पिछले अध्याय तक वैदिक योग की पूर्वार्द्ध की प्रक्रिया का वर्णन दिया जा चुका है। अब इस योग के उत्तरार्द्ध का बर्णन करने के पहले हमें इस मार्ग में पड़े बड़े-बड़े रोड़ों को पहले हटा देना चाहिए। ये रोड़े कुछ मुख्य शब्दों के अर्थों के हैं, इनका अर्थ कुछ और है, पर समझा कुछ और ही जाता है, इसी से वेदों का अनर्थ हुआ है। जैसे 'गोविन्द' माने 'गौ वेदि को तीन डग से पाने वाला है', 'कृष्ण' माने उत्तरार्द्ध या कृष्ण पक्ष का कृष्ण तत्त्व है। यही कृष्ण मृग भी है, जिसको योगी आत्मा के धनुष और शरीर के वाण से वेध कर योग से पाता है। इनका अर्थ तो भाषा में है ही, सर्वत्र व्याख्यात भी है, पर विद्वान् इस ओर ध्यान देना भूल गये हैं, यही मार्ग दिखाना है।

अब वेदों में वर्णित वसु, रत्न, रायः धन मंत्र ब्रह्म ऋषिगण और दक्षिणा नामक वस्तु क्या हैं, उनका विवेचन दिया जाता है।

रा या रायः या धन नाम चन्द्रमा नामक तत्त्व का है कभी-कभी इस शब्द से भौतिकात्मीय सभी प्राणों का भी संकेत किया हुआ मिलता है, यह सन्दर्भ से निर्णीत करना चाहिए। वेदो में वर्णित समुद्र नाम अनुद्दीप्त चन्द्रमा या उद्दीप्त सोम सागर का हे। यही चन्द्रमा या सोम का सागर पुराणों का समुद्र मन्थन करने का मूलभूत आधार है। इसका मन्थन दैवासुरीय द्विविध प्राण भौतिकात्मीय अहिरूप रज्जु के प्रसिद्ध मुख्य भौतिक प्राण के सूत्र रूप अमृत नाग से किया जाता है। मन्दराचल मनोरूप पर्व-पर्व वान् पर्वत है

जिसमें उक्त प्राण सूत्र रूप अमृत नाग की रस्सी बँधी है। इस मन्थन का आशय भी केवल यही है कि इन देवासुरप्राणों में देव रूप ज्योतियों को उद्दीप्त किया गया। अतः जो जो रत्न या धन या वसु इस मन्थन प्रक्रिया से उद्दीप्त या उत्पन्न हुए उनमें से पुराणों में प्रसिद्ध तो चौदह ही हैं, क्योंकि ये ही मुख्य देवता रूप रत्न या धन हैं, पर अन्य सभी देवता भी इसी प्रक्रिया से उद्दीप्त किए जाते हैं, अतः ये रत्न उतने हैं जितने देवता वेदों में पाये जाते हैं। अग्नि का रत्नधातम नाम उसके सर्वदेवता के रूप में सभी विकास रूप देवताओं के रत्नों की माला पहनने के अर्थ में रखा गया है। इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी व्याख्या करनी चाहिए। लक्ष्मीसूक्त के परिशिष्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अग्नि वायु सूर्य वसु इन्द्र बृहस्पति अश्विनौ ये सब धन या रत्न हैं। समुद्रमन्थन से भी ये रत्नधन रूप में मथकर पाये गये थे। अतः ये रत्न या इन रत्नों के नाम पृथक्-पृथक् देवताओं के संकेतक हैं। जब जिसका सन्दर्भ हो तब उस रत्न या रा या रायः या धन शब्द से उसी देवता को संकेतित समझना चाहिए। समुद्रमन्थन नाम तो वास्तव में योग द्वारा अरणियों में अग्निमन्थन के समान प्राणों के मन्थन से देवताओं को उद्दीप्त करने का ही है, यह समुद्रमन्थन अरणियों के मन्थन द्वारा अग्नि रूप देवता को उद्दीप्त करने की योग की एक उच्चकोटि की प्रक्रिया ही है। अतः योग व्याख्यामयी दुर्गासप्तशती में मार्कण्डेय ऋषि ने इन रत्नों की व्याख्या निम्न ढंग से स्पष्ट दे भी दी है, उसी से संकेतकों का निर्धारण कर लें (१ से ५ तक)।

(क) शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाक धृक्।
चक्रं च दत्तवान्कृष्णः समुत्पाट्य स्वचक्रतः॥
शंख च वरुणः शक्तिं ददौ तस्यै हुताशनः।
मरुतो दत्तवाँश्चापं वाणपूर्णे तथेषुधी॥
वज्रमिन्द्रः समुत्पाट्य कुलिशादमराधिपः।
ददौ तस्यै सहस्राक्षो घण्टामैरावताद्गजात्॥
कालदण्डाद्यमो दण्डं पाशं चाम्बुपति र्ददौ।
प्रजापतिश्चाक्षमालां ददौ ब्रह्मा कमण्डलुम्॥
समस्तरोमकूपेषु निजरश्मीन्दिवाकरः।
कालश्च दत्तवान्खड्ग तस्या चर्म च निर्मलम्॥
क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥

अर्द्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान्सर्वबाहुषु ।
नूपुरौ विमलौ तद्वद्ग्रैवेयकमनुत्तमम् ।।
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च ।
विश्वकर्मा ददौतस्यै परशु चाति निर्मलम् ।।
अस्त्राण्यनेक रूपाणि तथाभेद्य च दशनम् ।
अम्लानपङ्कजां मालां शिरस्युरसि चापराम् ।।
अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कज चातिशोभनम् ।
हिमवान्वाहनं सिंह रत्नानि विविधानि च ।।
ददावशून्य सुरया पानपात्र धनाधिपः ।
शेषश्च सर्वनागेशो महामणिविभूषितम् ।।
नागहारं ददौ तस्यै धत्ते यः पृथिवीमिमाम् ।
अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा ।।
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ।
तस्या नादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः ।।

(दुर्गा स० श० अध्याय २-२० से ३२ तक)

(क) शूल या त्रिशूल पिनाकधारी रुद्र देवता रूप रत्न है। यह त्रिशूल त्रिपादामृत सहित त्रिशूल के डंडे रूप प्राण सूत्र से युक्त है। चक्र नाम सोमात्मा शरीर की सर्वत्र शक्तिमयी ज्योति का है जो कृष्णपक्षीय विष्णु की ही ज्ञान ज्योति है, इस ज्योति को या उक्त शूल को उत्पाटन करके देना इनकी उद्दीप्ति हो जाना है, इसी प्रकार अन्यत्र (आगे) भी समझना चाहिए। वरुण का रत्न या दीप्ति शंखाकार शब्दभरी शक्ति है, अग्नि की शक्ति सर्वथा आवश्यक है, वह उद्दीप्ति का मुख्य द्वार है। इस शक्ति के विना कोई भी योग प्रक्रिया आगे चल ही नहीं सकती, यह प्रकाश और तेजोमयी शक्ति है। मरुतों का रत्न धनुष है, धनुष प्राणों का होता है। सब प्राण मिल कर धनुषाकार रूप धारण करते हैं और मुख्यप्राण इनका शर या बाण है जिससे सोम या विष्णुरूप कृष्णमृग को वेधा या उद्दीप्त किया जाता है। इषुधी या तरकश शारीरिक ब्रह्माण्ड है जिस में सभी प्राणरूप वाण भरे हुए हैं। इन्द्र तो मनोरूप है, यह चक्राकार रूप में सर्वगामी और वैद्युतीय गतिशक्तिमान् होने से वज्र कहलाता है, यह इसी वज्र शक्ति से वेधन करता रहता है, यह अपने कुल प्राणकुल का ईश है, अतः कुलिश भी कहलाता है। सहस्राक्ष पुरुष ने उसे ऐरावत नाम के श्रोत्रमय दिङ्मय तत्त्व से घण्टामय शब्द ब्रह्मवाक् शक्ति प्रदान की। सहस्राक्ष का रत्न ऐरावत, श्रोत्रं दिक् या

शब्द ब्रह्म है। गज नाम जगत् का है 'गच्छतीति गजः' या जगत् है। यम अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म रूप दण्डमय मानमय समानमय विभागादिमापक दण्डयुक्त तत्त्व का है। ब्रह्माण्ड के विभिन्नाङ्गमय प्राणों या देवों को एक पाश में बाँधने का स्निग्ध या चिक्कण रस या भौतिक बन्धनों को जोड़ने वाले शारीरिक समुद्रमय रस को वरुण के आवरण कारक दैवी पाश कहते हैं। प्रजापति के रत्न का नाम अक्षमाला अक्षिरूप चक्षुरूप सहस्राक्षरूप अनन्तवीज गर्भरूप अनन्त हस्तपादादिरूप या नानाभेद के अक्षरूप अक्षरों की माला है। मनो रूप ब्रह्मा का रत्नकमण्डलु या बुद्धि का क्षीरसागर है। सूर्य का रत्न रश्मिरूप रोम रोम से प्रत्येक अङ्ग को प्रकाश देना है। काल परिपाक रूप संयम का फल है, उस परिपाक को स्पर्शमय निर्मल चर्म या संरक्षक ढाल कहते हैं, यही सामयिक व्यावहारिक खण्डखण्डमय ज्ञानखड्ग के रत्न को धारण करता है। क्षीरोद नाम क्षीरसागर का है, बुद्धिसागर का है जिसने ज्ञानों के उज्वल हीरों की हार और लौकिक पारलौकिक ज्ञानों के दो उज्वल रूप विवेक-मय शरीर रूप वस्त्र भी दिए; उसीने दैवी मनोमय चूड़ामणि, शब्दमय श्रोत्र बाहुमय कुण्डल और कटक (कड़े) भी दिए ; उसी ने दिव्य शरीर रूप अर्द्धचन्द्र उसके मुख्याङ्ग रूप दो भागों के दो बाहुओं के रूप के दो केयूर नामक रत्न दिए; कण्ठ या नाभि के लिए ग्रैवेयक या कण्ठहार या सूर्य रश्मियों का हार कटि या मध्यस्थान के लिए ॐकार रूप नूपुर, प्रत्येक तत्त्वरूप प्राण की अङ्गुलियों को उनके देव रूप अंगूठियां भी दीं। विश्वकर्मा रूप त्वष्टा तक्षक ने सृष्टि तक्षण के हेतु उसे वाक् रूप अग्निमय फर्शा दिया, तथा उस सृष्टि को नानारूप में प्रस्तुत करने के लिए नानाविध की देव शक्तियों के रूपों के अनन्त प्रकार में औजार भी दिए; साथ में अभेद्य दंशन नामक शस्त्र भी दिया, उन शरीरों की सजावट के लिए नित्य हरे रहने वाले दो सदा जाग्रत प्राणों के कमलों की द्विविध माला भी दी। जलधि सागरपति आपोमय प्राणपति मनोमय ब्रह्मा ने उसे अपना कमलमय शरीर उद्दीप्त करके प्रदान किया। पर्वपर्ववान् शान्ताग्नि हिमाग्निरूप दैवी शरीर रूप पर्वत रूप ब्रह्माण्ड ने उसे अपने राष्ट्र के भयंकर शरीर रूप सिंह या महती ऊर्जस्वती शक्तिमती आहूतिमती दैवी शक्तियों के पुञ्ज को वाहन बनाकर या उद्दीप्त करके दिया, तथा अपने उस शरीर में निगूढ रूप से सुरक्षित नाना रत्न रूप दैवी शक्तियों के रत्नों का भी उपहार उनकी उद्दीप्ति द्वारा दिया। उस हिमवान् का वासी उन सब रत्नों के संरक्षक कुवेर या धनाधिप या धनाधिक्यमय ने उसे भौतिकात्मीय आसुरी सुरा का भी, भौतिकात्मीय शरीर भी या भौतिक प्राणों का जोश फरोश भी ठाटवाट भी प्रदान किया। शेष रूप सर्प नागों के पति ने, भौतिकात्मा के

दैवी स्वरूप ने उसे अपनी दैवी ज्योति की मणि को उद्दीप्त करके दे दी। इस उत्तरार्द्धीय भौतिक ब्रह्माण्ड के मूल आधारभूत शेषनाग ने उसे नागों की या प्राणों की माला पहना दी, या जागृत कर दी। इसी प्रकार अन्य शेष देवताओं ने भी अपनी अपनी उद्दीप्ति रूप रत्नों की ज्योतियों को उसे समर्पित कर दिया, उसमें इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के रत्न या देव रूप समस्त ज्योतियां तथा उनकी गतिविधि रूप शक्तियां या आयुध सब के सब एकत्र हो गईं, वह योग समाधि की वैसी ही साकार और साक्षात् प्रतिमा बन गई जैसी अर्जुन ने भ० कृष्ण से दिव्यचक्षु या योगचक्षु पा जाने पर साक्षात् अनुभूत की थी। इन दोनों ग्रन्थों के इन स्थानों के वर्णन का विषय तो एक है, पर इनमें वर्णना शैली की चातुरी के अन्तर मात्र का बड़ा पर्दा पड़ा हुआ है। दोनों में पूर्णयोग समाधि का सजीव चित्रण किया गया है, जिनके पास योग की आखें हैं वे देखने का प्रयास करें।

(ख) अन्यच्च—

यानि रत्नानि मणयो गजाश्वादीनि वै प्रभो।
त्रैलोक्ये तु समस्तानि साम्प्रतं भान्ति ते गृहे॥
ऐरावतः समानीतो गजरत्नं पुरन्दरात्।
पारिजाततरुश्चायं तथैवोच्चैः श्रवाहयः॥
विमानं हंससंयुक्तमेतत्तिष्ठति तेऽङ्गणे।
रत्नभूतमिहानीतं यदासीद्वेधसोऽद्भुतम्॥
निधिरेष महापद्मः समानीतो धनेश्वरात्।
किञ्जल्किनीं ददौ चाब्धिर्मालामम्लानपङ्कजाम्॥
छत्रं ते वारुणं गेहे काञ्चनस्रावि तिष्ठति।
तथायं स्यन्दनवरो यः पुरासीत्प्रजापतेः॥
मृत्यो रुत्क्रान्तिदा नाम शक्तिरीश त्वया हृता।
पाशः सलिल राजस्य भ्रातुस्तव परिग्रहे॥
निशुम्भस्याब्धि जाताश्च समस्ता रत्नजातयः।
वह्निरपि ददौ तुभ्यमग्निशौचे च वाससी॥
एवं दैत्येन्द्र! रत्नानि समस्तान्याहृतानि ते।
स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते॥

(दुर्गा स० श० ५-९३ से १०० तक)

(ख) इसी प्रकार का वर्णन फिर शुम्भ के दूत के मुख से किया गया है जिसमें कहा गया है कि गज अश्व आदि जितने भी त्रैलोकी की सब

रत्न और मणियां हैं वे सब तुम्हारे (शुम्भ के) घर में ही हैं, जैसे ऐरावत नामक गजरत्न पारिजात वृक्ष, उच्चैः श्रवा अश्व इन्द्र के यहां से छीन लिए गये हैं। वेधा रूप ब्रह्मा का हंस या प्राण युक्त विमान रूप अद्भुत भौतिकाण्ड या भौतिक ब्रह्माण्ड तुम्हारे ही आंगन में है। कुवेर के यहां स्थित महापद्म नामक निधि भी तुम ले आये। समुद्र ने तुम्हे किञ्जल्किनी नाम की नित्य अम्लान पंकज माला दे दी है, काञ्चन स्रावी (प्राण रस स्रविता) वारुण छत्र भी तुम्हारे ही घर में है। प्रजापति का वह संवत्सर ब्रह्ममय रथ, तथा मृत्यु की उत्क्रान्तिदा या प्राणहरणशक्ति भी तुमने हर ली हैं। सलिल राट् वरुण का पाश तथा निशुम्भ के समस्त अब्धिजल रत्न सब तुम्हारे पास हैं। अग्नि ने तुम्हें अग्निमय प्रकाशमय दो वस्त्र दिये हैं। इस प्रकार सब रत्न तुम्हारे पास हैं तो इस स्त्रीरत्न को तुम क्यों ग्रहण नहीं करते ?

विशेष—यहां पर समाधिमय योग से प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग या स्वार्थमय, भौतिकता स्वादनीय सिद्धि की वर्णना है, जिसका प्रतिफल अधः पतन मात्र है। निशुम्भ और शुम्भ भी योगी ही हैं, पर इनका योग आसुर योग है, परपीडक, परसन्तापक, परअहितकर योग है। ऐसे योगियों के पतन का वर्णन देवी रूप दैवी योग द्वारा वर्णन करना तृतीय चरित्र का मुख्य लक्ष्य है।

(ग) अन्यदपि चोक्तं भवति—

देवि दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः।
... ... ॥
त्रैलोक्ये वर रत्नानि मम वश्यान्यशेषतः।
तथैव गजरत्नं च हृत्वा देवेन्द्रवाहनम् ॥
क्षीरोदमथनोद्भुतमश्वरत्नं ममामरैः।
उच्चैः श्रवस सञ्ज्ञं तत्प्रणिपत्य समर्पितम् ॥
यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च।
रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ॥
स्त्रीरत्न भूतां त्वां देवि ! लोके मन्यामहे वयम्।
सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम् ॥

(दुर्गा स० श० ५ १०६ से ११२ तक)

(ग) इस खण्ड में पूर्वोक्त विषय ही संक्षेप में वर्णित है। इसमें उन्हीं रत्नों और मणियों का विवेचन है जिसे (ख) भाग में दे दिया गया है (पुनरुक्ति व्यर्थ है। मूल पढ़ लें) वह स्वतः स्पष्ट भी है।

विशेष—देवियों की शक्तियों और आयुधों का वर्णन पौराणिक युग की उद्भावना है। अतः उनका उल्लेख यहां नहीं किया गया है। इनका वर्णन भी योग प्रक्रिया का ही वर्णन देता है। वे देवियां ब्रह्माणी, ऐन्द्री, बाणी नारसिंही प्रभृति हैं। कर्मकाण्ड के 'ब्रह्माणी कमलेन्दु सौम्यवदना ··· रक्षन्तु तो मातरः' मंत्र की देवियों को दुर्गा सप्तशती अ० ८ ३३ से ३८ तक में वर्णित देखें।

(घ)–अथ च बुद्वियोगे गीतायाः बिभूतियोगस्याध्यायो नवमार्द्धो दशमश्च सर्व रत्नानां च वसूनामेव नामानि ददाति द्रष्टव्यमेवात्र।

(घ)—बुद्धियोग नामक गीता ने नवमार्ध और दशम अध्याय में तथा कई पुराणों ने कई स्थलों में मुख्य मुख्य देवताओं की जिन जिन विभूतियों का वर्णन संक्षेप या विस्तार में दिया है वे सबके सब देव तत्त्व रूप रत्न या मणिणां या धन या आयुध प्रभृति ही हैं। गीता के नवम के उत्तरार्द्ध और दशम अध्याय पढ़ लेने का कष्ट करें।

(ङ) सृष्टि पक्षे वसवस्त्वष्टौ वसव एव परन्त्वतिसृष्टौ वसूनि वैतान्येव रत्नानि भवन्ति यान्युक्तानि मार्कण्डेय गीताप्रभृतिभि स्तदा ये शारीराणि प्राणाः, एवं रुद्रादयश्च

(ङ)—सृष्टिपक्ष में वसु नामक वेवता तो अष्ठवसु ही होते हैं। परन्तु अतिसृष्टि या योग पक्ष में वसु नामक धन या रत्न या मणियां आठ भौतिक प्राण हो जाते हैं। क्योंकि योग की प्रक्रिया सृष्टि प्रक्रिया के एकदम विपरीत ही है। योग में ये वसु आदि उन्हीं तत्त्वों या देवों का संकेत करते हैं जिनका वर्णन पीछे (क) (ख) और (ग) में किया जा चुका है। इसी प्रकार रुद्रों और आदित्यों का विवेचन समझना चाहिए। इतना अवश्य है कि आदित्य नामक तत्त्व मध्यवर्ती होने से दोनों पक्षों में एक ही तत्त्वों के संकेतक होंगे, यह विशेष बात भी ध्यान से न उतरी जावे।

(६) तदेतानि सर्वाणि वै वेदोक्तानि रत्नानि च वसूनि।

(६)—इस प्रकार उक्त वर्णित सभी देवता आदि ही वेदों में वर्णित रत्न या वसु हैं, (और वेदों में जिन पशुओं की प्राप्ति का वर्णन है वह पञ्चप्राण रूप पुरुष पशु अश्व गो अवि अजा नामक देवताओं का ही मुख्यतः संकेत करते हैं, हां द्रव्य यज्ञ में रत्न माने लौकिक रत्न और पशु माने या गो अश्व माने लौकिक पशु ही है)

(७) वसूनि वै आत्मानो देवास्तेषां शरीराणि च तेषां रत्नानि निगदितानि।

(८) योगे तु तद्विपरीतम्। तस्माद्देवा वै रत्नधास्तत एवोक्तं 'सरस्व-

तीस्तनाथ'यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः' 'रत्नधातममित्यग्नये' तदेवोक्तं दुर्गासप्तशत्यां मार्कण्डेयेन (१०–६) (ऋ. वे. १-१-१;१-१६४–४९ इत्यादि)

(९) कथं मार्कण्डेयेन पूर्वोक्तरत्न नामसु धेनोः कामधेनोर्वा नाम न गृहीतम् ?

(१०) प्राणा भौतिका वै गावस्ते चासुरा गोशरीराः स्वयमेव तस्मान्न गृहीतं तस्या नामात्र ।

(११) या वाग्धेनु रदितिधेनुर्वा छन्दोमयी वा धेनुः स तु सम्प्रत्येव दृष्टा तैं र्महाभाग्येन या तेषां सर्वेषामन्धकारमयतां दूरीकृत्वा निहत्य वा तान् प्रकाशितान् करिष्यति सैषैव वास्तविका कामदुधा कामधेनु र्यस्यां सर्वे देवा कोशमयेषु स्वेषु स्वेषु रत्नरूपशरीरेषु विभिन्नाङ्गरूपेषु प्रतिष्ठन्ति ।

इस प्रकार वसु नामक तत्त्व तो आत्मायें या देवता है, रत्न उनके शरीर हैं। इसीलिए देवताओं को रत्नधा नाम से पुकारा गया है जैसे सरस्वती के स्तन के लिए कहा गया है कि वह रत्नधा वसुविद् और सुदत्र (सुदानी) है। सरस्वती के इस स्तन की महिमा भी मार्कण्डेय जी ने इसी रूप में दी है। कि महासरस्वती के स्तन में सब देवता समा गये (दु. स. १०–६)। तब इसका स्पष्ट तात्पर्य यह होता है कि सरस्वती का 'रत्नधा स्तन' का भाव 'देवधा' या देवताओं को रत्न रूप में धारण करता है। अग्नि को भी 'रत्नधातम' कहा है। मार्कण्डेय ऋषि जी ने उक्त रत्नों की वर्णनों में कामधेनु या धेनु का नाम नहीं लिया है, इसका क्या कारण है ? बात यह है कि भौतिक प्राणों का नाम 'गावः' है, भौतिक प्राण असुर या भौतिक प्राणवान् हैं, गो शरीरी हैं, अतः इनका नाम रत्नों में नहीं गिनाया गया है। परन्तु जो वाक्धेनु है या अदिति रूपा धेनु या छन्दोमयी धेनु है उसका दर्शन तो इन गो शरीरी भौतिक प्राणों को अभी बड़े सौभाग्य से हो रहा है, जो इनकी अन्धकारमयता को दूर करके या इन्हें मार कर प्रकाशित करेगी। वास्तविक प्रकाश चेतना ज्ञान रूप काम को दुह कर देने वाली कामधेनु तो वही महासरस्वती स्वयं है जिसमें सभी देवता और उनके अध्यात्म शरीर रूप रत्न समाये हुए हैं। (७ से ११ तक)।

(१२) वसवस्तु द्विविधाः पूर्वोक्ताः सर्वे तथा पञ्च प्रसिद्धाः पशवः पुरुष पशु रश्वो गो रविरजा चोष्ट्रोष्ट्र्यौ रासभरासभी च रसमयाः। पञ्च-प्राणाः सर्वे ।

वेदों में वर्णित पशु दो प्रकार के हैं, पूर्वोक्त सभी तत्त्व भी पशु ही हैं तथा पञ्च प्रसिद्ध पशु—पुरुषपशु, अश्व, गो, अवि और अजा—हैं। कई स्थलों में

इनके साथ उष्ट्र उष्ट्री रासभ रासभी को भी गिनाया है। इस सन्दर्भ में अश्व के साथ वडवा और वृषभ के साथ गौ का जोड़ा भी दिया है, केवल पुरुष पशु को अकेले छोड़ा है, पर यह पुरुष पशु ही अश्वादि रूपों में परिणत होता है, मूल में यही पितापुत्री से पतिपत्नी में परिणत होता है, यह पुत्री को खलता है। अतः वह उक्त पशुओं-वडवा, गौ अजा, उष्ट्री रासभी प्रभृति में परिणत होती है तो पुरुष या पिता भाग अश्व वृषभ अवि उष्ट्र रासभ बन कर उसका पीछा नहीं छोड़ता। यह तत्वों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का पशु व्यवहारानुकूल समुचित वर्णन है। ये सब रसमय पञ्चप्राणों का वर्णन देते हैं (१२)।

(१३) सुतस्तु सोम एव यस्य सवाय सवनायैव सर्वं योग जालम्।

(१४) मन्त्रं तु मननात्मनसो मनः शरीर मतिरेव यथोक्तम् भवति "अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः" (ऋ. वे-१-६७-५. या ३, द्वैपदं छन्दः)

वेदों में प्राप्त सुत शब्द सोम का वाचक है जिसका सवन या प्राणों के भपके से चुवाना या उद्दीपिन किया जाता है; जो इस प्रकार नवीन रूप में जन्म लेता है उसे सुत नामक सोम कहते हैं। योगी ऋषियों का सुत या पुत्र यही सोम है जिसका अवतार या जन्म उनकी समाधि में प्रतिदिन नव नव रूप में होता है। यह सब योगमाया जाल की व्याख्या या वर्णना है। इसी प्रकार वेदों आया 'मन्त्र' शब्द 'मनः' की गति का वाचक है, यह दैवं मनः है, न कि हम आपका सा घोर मूढ महा महा भौतिक मनः। यहां मनः तो शरीर है उसमें आत्मा रूप में स्थित मति ही मन्त्र है जैसा कि ऋग्वेद ने स्वयं लिखा है कि अज एकपाद् अनाद्यनन्त तत्त्व ने इस भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड को धारण करके इसे अपने सत्य रूप नित्य रूप मन्त्रों या मतिरूप पृथिवी ज्ञानमयी शक्तिरूपा मति से स्थिर रूप में या स्थिति रूप में रख सका (१३ से १४ तक)।

(१५) श्रुतयो 'श्रोत्रात्तया लोकानकल्पयन्निति' प्राणाः।

(१६) तस्माच्छ्रोत्रादुपश्रूं हृणत्प्राणाश्च ब्रह्माणि (वा ऋत्विजा ब्राह्मणा वा।)

(१७) ते च 'वाग्वै ब्रह्म, 'मनो वै ब्रह्म', 'चक्षुर्वै ब्रह्म', 'श्रोत्रं वै ब्रह्म' 'प्राणो वै ब्रह्म, हृदयं वै ब्रह्म, मति वैं ब्रह्म, ज्ञानं वै ब्रह्म, प्रज्ञा वै ब्रह्म इत्यादयः (छा. उप ४-११ से १५ तक बृह. उप, प्रश्न उप ४७)

(१८) तेषामेतेषां पर्यायवाचकाः शब्दाश्चापि ब्रह्मवाचकाः ते च धीर्धियः गीः गिरः, गिर्वणः, वचः, सुमति मंति मंतयः अन्नं सप्तान्नं आदितिः अत्रिः संविदाना विद्युच्च।

(१९) एवं च 'नाम, वाक्, मनः संकल्पं चित्तं, ध्यानं विज्ञानं, बलं, अन्नं, आपः, तेजः, आकाशः, स्मरः, आशा, च ब्रह्म नामान्येव (छा. उप. ७-१ से १४ तक)

(२०) तस्मादुक्तं च वेदेष्वेव 'ब्रह्माणि मे मतयः' (ऋ. वे ३-१६५-४ यजु ३३-७८) 'ब्रह्माणि हि चकृषे वर्धनानि' (ऋ. वे- ६-२३-६) 'ब्रह्म प्रजावता भरः (ऋ. वे ६-१६-३३) ब्रह्मा कृणोति वरुणो' (ऋ. १-१०५-१५) 'ब्रह्मा ण इन्द्रोपयाहि' (ऋ. वे-७-२८-१) 'ब्राह्मणं ब्राह्मवाहसं' (ऋ. वे ६-४५-७) 'ब्राह्मणास्त्वा वयं युजा' (ऋ. वे-८-१७-३) 'ब्रह्मा त इन्द्र गिर्वणः' (ऋ. वे-६-९०-६) इत्यदिषु द्रष्टव्यम् ।

वेदों में जिनको श्रुति नाम से पुकारा गया है वे प्राणों के संकेतक है। श्रोत्र से लोकों का निर्माण होता है। श्रोत्र ही श्रुतियाँ हैं, श्रुतियां शब्दब्रह्म मय ब्रह्माण्ड हैं। इसलिए शब्दब्रह्ममय ब्रह्माण्ड में उद्‌दीप्त होने के कारण प्राणों को भी ब्रह्म या ब्रह्माणि नाम से पुकारा गया है, इन्हीं को कहीं ऋत्विज और कहीं 'ब्राह्मणः' या होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा आदि नामों से पुकारा गया है। अतः ब्राह्मणादिको में बार बार लिखा हुआ मिलता है वाक् ब्रह्म है, मनः ब्रह्म है, चक्षुः ब्रह्म है, श्रोत्रं ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, हृदय ब्रह्म है, मनः ब्रह्म है, ज्ञान ब्रह्म है, प्रज्ञा या प्रज्ञान ब्रह्म है, इत्यादि। इनके पर्य्याय वाचक शब्द भी ब्रह्म नाम से पुकारे गये हैं जैसे धीः, धियः गोः, गिर्वणः, वचः, सुमतिः, मतिः, मतयः, अन्नं सप्तान्नं, अदितिः, अत्रिः, संविदाना, विद्युत्। इसी प्रकार नाम, वाक्, मनः, संकल्प, चित्तं, ध्यानं, विज्ञानं, बलं, अन्नं, आपः, तेजः, आकाशः, स्मरः, आशा, इत्यादि भी ब्रह्म ही के नाम हैं। इसीलिये वेदों में बार बार कहा हुआ मिलता है कि मेरी मतियाँ ब्रह्म हैं, वर्धनशील ब्रह्म तत्त्वों को उद्दीपित किया, प्रजावान् ब्रह्म की सृष्टि करो, वरुण ब्रह्मा को उद्दीप्त करता है, हे इन्द्र! ब्रह्मा होकर हमारे समीप आओ, तुम जो ब्रह्म रूप हो, ब्रह्म को वाहन रूप में धारण करते हो, हम तुम्हारे ब्रह्म तत्त्वों से युक्त होकर, हे इन्द्र सभी प्राण तेरे हैं इत्यादि मन्त्रों में देखें (१५ से २० तक)।

(२१) मुख्यः "प्राणो वा आशया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समार्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति, प्राणः प्राणान् ददाति, प्राणः प्राणाय ददाति, प्राणो हि पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।" (छा. उप ७-१५)

(२२) आत्मनः प्राण आत्मन आशा प्रभृतीनि सर्वाणि (छा. उप-७ २६)

(२३) एष तु वा अतिवदाति यः सत्येनातिवदति (छा. उप ७-१६)
(२४) अध्ययने पाठे कर्मकाण्डेऽपि ब्रह्मशब्दार्थो मन्त्रश्च परं नान्येषु विषयेषु ।
(२५) ऋषयस्तु मन्त्रद्रष्टारश्च योगिनश्च तत्तत्त्ववाचकाश्च ।
(२६) यथा 'षलिद्यमा ऋषयो देवजा इति' 'ऋषयः सप्त दैव्याः' नवग्वा दशग्वा सप्ताङ्गिरसश्च, वसिष्ठः प्राणः श्रोत्रं विश्वामित्रश्चक्षुर्जमदग्नि-विश्वकर्मावागित्यादयः (श ब्रा. ऋ. वे.)

मध्यम प्राण नामक मुख्य प्राण आशा या श्रोत्र से महत्तर है। जिस प्रकार रथ नाभि में उसकी आरायें जड़ी रहती हैं उसी प्रकार इस मुख्य प्राण में सब कुछ चारों ओर से अराओं की तरह जड़ा रहता है, मुख्यप्राण ही नाभि है। अन्य प्राण इसी प्राण से संचार क्रिया में समर्थ होते हैं, यही प्राण अन्य प्राणों को प्राणता प्रदान करता है, यह प्राण प्राण को ही कुछ दे सकता है। यही प्राण पिता है, यही माता है यही भ्राता है, यही बहिन है, यही आचार्य है, यही ब्राह्मण या मुख्य ऋत्विज या योगी भी है। आत्मा ही से प्राण जागृत होते हैं, इसी आत्मा से आशा प्रभृति उक्त अन्य तत्त्व भी आविर्भूत होते हैं। जो विद्वान् सत्य सत्य बातें कहता है, वह सत्य को अतिमात्रा से कहता है, नाना शब्दों में कहता है, उस सत्य का अन्त ही नहीं है, कहां तक कहे। अध्ययन और पाठ तथा कर्म काण्ड में भी ब्रह्म शब्दका अर्थ मन्त्र भी है, पर अन्य विषयों में नहीं। ऋषि तो मन्त्र द्रष्टा हैं, योगी हैं इनके शरीर और दृष्ट मंत्र, तत्त्वों के ही वाचक हैं जैसे 'ये छह यमल ऋषि देवज' 'ये सात दैव्या ऋषयः' है, इसी प्रकार नवग्वा दशग्वा ऋषि नव प्राणों या दश प्राणों के सूचक है, सात अङ्गिरस दैव्या ऋषि है, वशिष्ठ प्राण है, विश्वामित्र श्रोत्र है, जमदग्नि चक्षु है, विश्वकर्मा वाक् है इत्यादि तो स्पष्ट लिखा ही मिलता है (२१ से २६ तक)।

दक्षिणा—

(२७) दक्षिणा वै दक्षिणायनस्य योगोत्तरायणस्यैव तत्त्व प्राप्ति फलम् ।
(२८) 'चतस्रो वै दक्षिणा हिरण्यं गौर्वासोऽश्वः' (श. प. ब्रा. ४ ३-१-१ से ७ तक)
(२९) सर्वाणि तानि तत्त्वानि दक्षिणायनस्य तस्माद्दक्षिणाः ।
(३०) यद्दक्षयति वा ददात्यक्षि वा यत्तद्दक्षं तस्माद्दक्षिणायनं दक्षिणा च ।

अब वेदोक्त दक्षिणा या दान स्तुतियों की व्याख्या दी जाती है। सृष्टि और योग पक्षों के अभिनय रूप द्रव्ययज्ञ कर्ता ब्राह्मणों को जो दक्षिणा दी जाती रही या अब भी दी जाती है वह चार रूपों में दी जाती थी और अब भी दी जाती है। वे चार रूप सोना, गाय, वस्त्र और घोड़े हैं। यह ठीक है। परन्तु योग यज्ञ के कर्ताओं में तो वाक् होता है, प्राण उद्गाता है, चक्षु अध्वर्यु

है और मनः ब्रह्मा है। इन प्राणरूप ऋत्विजों को योगयज्ञ करने की जो दक्षिणा मिलनी चाहिए उनका नाम भी वही हिरराय, गौ, वासः और अश्व है; अब देखना या समझना यह है कि इन प्राण रूप ऋत्विजों के लिए दक्षिणा में दिए गये इन वस्तुओं का संकेत किन किन वस्तुओं या तत्त्वों से किया जाना उचित है? हाँ इनके पक्ष में यह 'दक्षिणा' शब्द ही क्या माने रखता है? यह भी तो जाने बिना गाड़ी आगे नहीं चल सकेगी।

वेदों में योग पक्ष या रहस्य पक्ष में दक्षिणा नाम सार्थक है, द्रव्य पक्ष यज्ञ में केवल रूढिमात्र। दक्षिणा नाम दक्षिणायन का है, दक्षिणा पथ्या का है। यह योगपक्ष में उत्तरा या उत्तरायण या उत्तर पथ्या का। इसकी प्राप्ति को दक्षिणा प्राप्ति कहते हैं। इस दक्षिणा में हिरराय तो मन या मध्यम प्राण है, गौ अदिति, आपः, वाक् छन्दोमयी कामधेनु है, वास या वस्त्र दिव्य शरीर रूप चक्षु या सोम ज्योति है। अश्व उस विष्णु या वृष्ण का सोम रूप रेतः का वर्षण शील प्राण है। उक्त वाक् होता, चक्षु अध्वर्यु, प्राण उद्गाता और मनो ब्रह्मा नामक योग यज्ञ के ऋत्विक ब्राह्मणों को उक्त मुख्यप्राण, कामधेनु, सोम ज्योतिरूप दिव्य शरीरी वस्त्र तथा विष्णुरूप (रेतः वर्षणशील) अश्व मिल गया तो योग की पूर्ण सिद्धि हो गई। इनको दक्षिणा नाम इसलिए दिया गया है कि ये सब दक्षिणायन के तत्त्व हैं, अथवा जो तत्त्व योग में दक्ष कर देते हैं, या योग की अक्षि या आंख देते हैं (ददात्यक्षिणीति दक्षः दक्षएव दक्षिणा) वे ही दक्षिणा हैं। (२७ से ३० तक)।

(३१) "महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागाद् गुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।
उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदा सोम प्र तिरन्त आयुः॥
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सङ्गमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्।
दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणी रग्रमेति।

(३२) तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्यतन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणाया रराध॥

(३३) दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥" (ऋ. वे. १०-१०७-१ से ७ तक)

एतादृक्छब्देभ्योऽन्यत्सर्वं मम वैदिकविश्वदर्शने दृष्टव्यम्।

इन सबका रमणीय वर्णन स्वयं ऋग्वेद ने निम्न प्रकार से दे रखा है—:

दक्षिणा का महान् गौरवशील पन्थ, पितरों से प्राप्त होता है, यह महती ज्योतिष्मती पथ्या है जिसको योगी ही देख सकते हैं। दक्षिणावान् दिव के उच्च

स्थान में रहते हैं, वे आदित्य सहित अश्वदा या प्राणदा भी हैं, वे ही हिरराय या भौतिक प्राणदाता हैं जो विष्णु रूप वृष्ण के अमृत प्राण का भोग करते हैं, वे ही सोम ज्योतिरूप वस्त्र के दाता हैं, जिससे वे बड़ी दीर्घ कालीन आयु को प्राप्त होते हैं। वे सप्तप्राण रूप सात माताओं से पूर्वोक्त रूप की दक्षिणा का दुहन करते हैं और वे यह दुहन एक ही साथ युगपत् करते हैं, और वे एक साथ देती भी हैं। जो इस प्रकार का दक्षिणावान् या योगी है, उसको सभी सर्वप्रथम आहूत करते हैं, दक्षिणावान् या योगी ही सोम ज्योति से ग्रमणी या श्रीमान् बन कर सब का अग्रणी भी होता है। उसी व्यक्ति को ऋषि कहते हैं, उसी को ब्राह्मण कहते है, उसी को (योग) यज्ञ कर्ता कहते हैं, उसी को साम-गायक उद्गाता कहते है और उसी को उक्थ्य का शंस गाने वाला कहते हैं जो विष्णु रूप वृष्ण या अश्व के रेतोरूप (शुक्र) के ज्योतिष्मान् शरीर की अनुभूति करता है, तथा जो अश्व रूप विष्णु को पाने के पहले हिरराय गौ और वास नामक पूर्वोक्त तीन दक्षिणाओं की सिद्धि कर लेता है।

जो व्यक्ति सोम या विष्णु की उक्ति ज्योति को सज्ञान होकर अपने अन्तर्ब्रंह्मांड का कवच बना लेता है वह अपने सभी कोशों के अन्तर्जगतों को प्रकाशमान बना लेता है, तब वह उन्हें, जीवन ज्योति चेतना, (अश्व) रूप में 'अग्नि या वाक् को ज्योति को' तेजः और शक्ति की गाय रूप में, चन्द्रमा की ज्योति को ज्ञान के वस्त्र रूपों में, प्राणों की ज्योति या सुवर्ण को गति स्फूर्ति ऊर्ज ओजः बल धृति और सहन शक्ति रूप में दान देता है। ये उसकी अमूल्य निधि रूप दक्षिणायें हैं जिन्हें वह योग द्वारा ही प्राप्त कर सकता है, कर्मकाण्डी यज्ञ में मनुष्य रूप पुरोहितों को सोना गाय घोड़ा और कपड़े दिए जाते हैं। ऐसी दक्षिणाओं को कौन कहे योग यज्ञ का कर्ता तो सुख भोग की सामग्रियों तक को अखिलसाम्राज्य और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्तियों और सुखभोग की सामगियों तक को ठोकर मार कर दूर फेंक देता है जैसा कि सोमानुभूति के पाद ४ आ अध्याय ३ में पीछे बताया जा चुका है (सू. ३१ से ३६ तक)।

यहां पर ऐसे सभी शब्दों की व्याख्या देना सम्भव नहीं है। ऐसे शेष अधिकांश शब्दों की व्याख्या मेरे वैदिक विश्व दर्शन नामक ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक दी हुई मिलेगी, उसका अध्ययन कर लेना अत्यावश्यक है।

अध्याय ४ पाद २

सृष्टि और अतिसृष्टि का वास्तविक अन्तर

(१) ऋतं बृहद्वै पूर्णं दर्शनमनादिमूले सृष्टि वृक्षस्य स्थूणरूपे ।

(२) त एव 'ऋतं च सत्यं' च ।

(३) त एवोभे द्यावापृथिवी ।

(४) तयोर्मध्य एवोषाः ।

(५) तत्त्रैलोक्यम् (न त्रिपात्) ।

(६) ऋतं पूर्वार्द्धं वै त्रिपात् ।

(७) बृह दुत्तरार्द्धं बृंहणाद्‌ब्रह्म च ।

(८) उभे च वैते अज एकपात् सृष्टिवृक्षः ।

(९) ताभ्यामुपबृंहते सृष्टिः क्रमशो 'यदन्नेनातिरोहतीति' ।

वैदिक ऋषियों ने अपने पूर्ण दर्शन के चित्र का नाम या मौलिक सृष्टि के तत्त्वों के चक्र का नाम ऋतं बृहत्' रखा है। यह आधार भूत सृष्टचुन्मख ब्रह्म का नाम है। यह अनादिमूलक अनन्त है। इसे वे सृष्टिवृक्ष का मूल कहते थे। इस मूल का नाम ऊर्ध्वमूल या ऊर्ध्वबुध्न भी है। इस 'ऋतं बृहत्' को 'ऋतं सत्य च' नाम से भी पुकारते हैं। इनमें ऋत तत्त्व तो अमृत का मूल है, और सत्य तत्त्व भौतिकामृत सोम का। इन दोनों को पुनः 'द्यावा पृथिवी' नाम से तब कहते हैं जब इसकी व्याख्या त्रिलोकी के रूप में की जाती है। इन दोनों का मध्यवर्ती स्थान लोक विद्यादि में ऊषा या योनि या गर्भः या नाभि या गर्त या विषुवान् या अयःस्थूणा इत्यादि नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार ये तीनों भाग त्रिलोक या त्रिलोकी या त्रैलोक्य कहलाते हैं, इसको भूलकर त्रिपाद् न समझलें। त्रिपात् नाम तो पूर्वार्द्ध या ऋत या द्यावा मात्र का है, इसी के तीन भागों या पादों को त्रिपाद् कहते हैं। बृहत् उत्तराद्ध है, इसमें भौतिक सृष्टि का उपबृंहण होता है। इन दोनों को 'अजएकपात्' नामक सृष्टि वृक्ष कहते हैं। इन्हीं से सृष्टि उपबृंहित या विकसित होती है। जैसा कि पुरुष सूक्त ने लिखा भी है कि अन्न या भौतिकता से भौतिक सृष्टि विकसित होती है (१ से ९ तक)।

(१०) तत्संवत्सर ब्रह्म यदतिरोहति वृक्षवद्दतुषु ।

(११) तदक्षर ब्रह्म यदनन्त कलाक्षरक्रमेणोपबृंहते ।

(१२) सः सुपर्णो यश्च्छन्दाक्षरक्रमेण विकसति ।
(१३) स एवैकपाद्द्विपात्त्रिपाच्चतुष्पाद्वा पञ्चपाद्वा ।
(१४) स विष्णुर्यदा सप्तपदो यः सप्तपदीमारोहति ।
(१५) एवं सप्तविधान्यासु सरणीषु यान्युच्यन्तेऽधिलोकमधिविद्यमधिदैवतमधि-
भूतमध्यात्ममधियज्ञमधिप्रजमित्यादीनि ।

उक्त 'ऋतं बृहत्' या 'द्यावापृथिवी' सृष्ट्युन्मुख आदि ब्रह्म का आधारभूत अनाद्यनन्त अक्षिति रूप अजरामर नित्य अविकृत स्वरूप है। सृष्टि इसी से उत्पन्न या विकसित होती है, हुआ करे, पर ये अपने स्वरूप में अचल, अटल, और अमर रूप में नित्य जैसे के तैसे ही रहते हैं। इसी प्रकार प्रलयकाल में जिस क्रम से विकास हुआ था उसके नितान्त विपरीत क्रम से क्रमशः प्रलय होते होते अन्त में सब का लय भी इसी 'ऋतं बृहत्' या द्यावा पृथिवी के रूप में हो जाता है। यही आदि ब्रह्म का मौलिक स्वरूप है। यह अजएकपाद् सृष्टि वृक्ष का, अनादि रूप है, स्थूणा है, यह सृष्टि काल में अङ्कुरित पल्लवित (पर्णित सुपर्णित) पुष्पित, फलित होता है, और प्रलय काल में फल, पुष्प, पल्लव और अङ्कुर सब झड़कर पतझड़ होकर, पुनः उसी पूर्वरूप स्थूणा ठूँठ वृक्ष की तरह ऋत बृहत् या द्यावापृथिवी के अपने अनादि रूप में परिणत होता है। इस प्रकार के विकास ह्रास को सवत्सर ब्रह्म कहते हैं। जब सूक्ष्म कलामय अक्षरों के विकास ह्रास रूप में वर्णन करते हैं तब इसी को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जब छन्दों के अक्षरों और पादों में वर्णना करते हैं तब इसे सुपर्ण, एकपात् द्विपात् त्रिपात् चतुष्पात् पञ्च पात् कहते हैं। अक्षरों की संख्या ४३२००००००० है, यही इस विश्व की आयु है, अतः इस विकास और ह्रास के क्रम का विवेचन संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म, छन्दोमय ब्रह्म, पद ब्रह्म, अधि लोक ब्रह्म, विद्या-ब्रह्म अधिब्रह्म, अधिभूत ब्रह्म, अध्यात्मब्रह्म अधियज्ञ ब्रह्म अधिप्रज ब्रह्म इत्यादि नाना रूपों में वर्णित किया गया है जिनको समझने वाले सम्भवतः नहीं ही के बराबर हैं। जो इस प्रकार वेदों की वास्तविकता जानना चाहता है वह वेदों को इन दृष्टियों देखे, पढ़े, मनन करे, तब कुछ कुछ समझ में आ सकेगा। इस सातों विधियों की व्याख्यायें विविध प्रकार से की और दी गई हैं, जैसे यह सृष्टि वृक्ष ही 'अजएकपात्' देवता है जिसका अर्थ 'एकपदी नित्य' देवता है न कि एक पाँव का बकरा। इसका एक पांव सृष्टि में द्यावा है योग में पृथिवी। दोनों नित्य हैं पर पृथिवी नित्यानित्य दोनों हैं क्योंकि इसमें अनित्य तत्वों की सृष्टि करने की भी शक्ति है, और योग में यही इन्हीं अनित्यों से नित्य नामक देवताओं की सृष्टि समाधि में करती भी है। जब इस सृष्टि प्रक्रिय

को छन्दों के विभाजनों से व्याख्यात किया जाता है तब इस सम्पूर्ण सृष्टि को एक 'महा सुपर्ण' कहते हैं। यह महासुपर्ण जगती छन्द है जिसमें २४,२४ अक्षरों के दो भागों के कुल ४८ तत्त्व रूप अक्षर हैं। इसी प्रकार गायत्री दोनों बिधियों में पूर्वार्द्ध के २४ अक्षर रूप तत्त्वों की सुपर्ण है, अनुष्टुप् ३२ अक्षरों का, त्रिष्टुप् ३३ का, उष्णिक २८ का, बृहती ३६ का और विराट् ४० का, ये सात मुख्य छन्द है, यही सात मुख्य सुपर्ण हैं। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण सृष्टि (दोनों प्रकार की) को सात भागों में बांटा जाता है जिन्हें सप्तपद या सप्तपदी कहते हैं। इनमें से तीन पूर्वार्द्ध में है, तीन उत्तरार्द्ध में, चौथा मध्यमें अन्तरिक्ष विषुवान् गर्त समुद्र है। विष्णु देवता इनमें से प्रथम या अन्तिम तीनों को सृष्टि या योग पक्षमें अपने त्रिविक्रम या तीन लम्बे डगों से अतिक्रमण करके उस दोनों ओर से सर्वोच्च स्थान मध्यवर्ती चतुर्थ पद में पहुंचता है; यही महा सुपर्ण 'हंसः शुचिषत्' या शुक्ल वर्ण का हंस पवित्र रक्त और नील सागर का रहने वाला कहलाता है। यहां मनः हस है द्यावा वाक् है, पृथिवी प्राण है' इन्हीं से आगे चलकर हिरण्यगर्भ की सृष्टि होगी जिससे मर्त्यामर्त्य दोनों प्रकार की सृष्टियां साथ साथ चलेंगी (१० से १५ तक)।

(१६) ऋतं वै अनारम्भणीयं बृहच्चारम्भणीयं भौतिकामृतम्।

(१७) 'अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य' (ऋ० वे० १०-५-६)

(१८) स एवा 'ऽग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्पृथिव्याः' (ऋ० वे० ८-४४-६, यजुः ३-१२)।

(१९) ततो वै सर्वे देवा यस्मात्ते 'ऋतावृधाः'।

ऋत भाग अनारम्भणीय या एकमय सृष्टि कहलाती है। बृहत् भाग आरम्भणीय या सृष्टि को नाना रूप देना आरम्भ करने वाला कहलाता है। यह बृहत् भाग भौतिक होते हुए भी अमृत अजर और अमर ही है। इस ऋत भाग से सर्व प्रथम विकास 'अग्नि' विद्युद्गर्भ तत्त्व का होता है। अतः इसे ऋत से प्रथमज या प्रथमोत्पन्न कहते हैं और इसी को 'दिवः' का मूर्धा, पृथिवी का ककुत् भी कहते हैं। इसी से सभी देवताओं का विकास होता है, अतः देवताओं को ऋतावृधा या ऋत भाग से विवृद्ध या विकसित या ऋत भाग को विकासित करने वाला कहते हैं (१६ से १९ तक)।

(२०) स्थितिर्विकासो वै देवानां मात्राभिश्छन्दसां य'दक्षरमक्षरं तद्देवता' (ऐ० ब्रा० दो स्थलों में)।

(२१) यथा 'ऽग्नेर्गायत्रमभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूवे' त्याद्येवमन्येषामपि देवानाम् (ऋ० वे० १०-१३०-४)।

(२२) उक्तं च तस्मा 'च्छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तते'ति (वा० प० भर्तृहरि)।

(२३) तानि 'छन्दांसि वै साध्या देवाः' (ऐ० ब्रा०) स्त एव सुपर्णाः।

(२४) 'तानि धर्माणि प्रथमा न्यासन्' द्यावापृथिवीत्यादिषु रूपेषु (ऋ० वे० १-१६४-५०, १०-९०-१६)

(२५) यद्वा 'विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशो विधर्मणि' (ऋ० वे० १०-१६४-३६)।

इन देवताओं का क्रमिक विकास गायत्री प्रभृति छन्दों के पादों और इन पादों के प्रत्येक अक्षर रूप सीढ़ी या श्रेणी में क्रमशः होता हैं। अतः इनका प्रत्येक अक्षर एक एक विभिन्न देवता के विकास का स्थान कहलाता है, या प्रत्येक अक्षर एक एक देवता कहलाता है। इसका वर्णन केवल ब्राह्मण ग्रन्थों में ही नहीं बरन् स्वयं ऋग्वेद में भी मिलता है" लिखा है कि अग्नि का विकास गायत्री छन्द के पादों और अक्षरों से किया गया, और सविता का उपबृंहण उष्णिक् छन्द के पादों और अक्षरों के द्वारा, इसी प्रकार अन्य देवताओं में से प्रत्येक का छन्द पृथक् पृथक् है। इसीलिए भर्तृहरि ने भी कहा है कि सृष्टिका विकास सर्व प्रथम उक्त प्रकार के छन्दों ही के द्वारा प्रारम्भ हुआ था। इन छन्दों को 'साध्या देवाः' इसलिए कहते हैं कि योग में इन्ही छन्दों की मौलिक स्थिति तक पहूँचने की साधना करनी पड़ती है। साध्या देव शब्द योग परक भी है और सृष्टि परक भी। इनके आधार भूत तत्त्व द्यावापृथिवी या ऋतंबृहत् रूप में पहले ही से विद्यमान रहते हैं जिनकी अनुभूति विष्णु के पदक्रमों के विक्रमण शैली से की जाती है (२० से २५ तक)।

(२६) अग्निरेवाग्रणी मुखं प्रथमश्च देवानां तत्त्वानां गायत्री च तस्य पत्नी वाक्!

(२७) 'अग्निःसर्वादेवता' (ऐ. ब्रा. १-१), सर्वे देवा अग्निमया अग्निविकासाश्च। यथा चोक्त 'मिन्द्र।मित्रं वरुणमग्निम्'.....'मातरिश्वानमाहुः' (ऋ. वे १-१६४-४६)

(२८) स चात्मान्तर्हितविद्युदुष्णता प्रकाश ज्ञानवान्यत 'स्त्रिवृद्वै अग्निः'।

(२९) वाग्वै तस्य शरीरं ज्योतिस्तेजो वहति 'सर्वासु दिक्षु वाग्वदतीति' (श. प० ब्रा०)

(३०) या वाक् सा वै 'गायत्री बै इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' (छा० उप० ३-१२)

(३१) तस्यास्त्रयःपादाश्चतुर्विंशत्यक्षराण्येव तत्त्वानि पूर्वार्द्धस्य।

(३२) प्रथमे पादेऽष्टानां वसूनां द्वितीये रुद्राणामष्टानां तृतीये चावशिष्टानां त्रयाणां रुद्राणां सह षोडशिन इन्द्रस्य विकासः क्रमशः।

इस प्रकार सृष्टि पक्ष से अमृत नामक अग्नि ही सब देवताओं का अग्रणी हैं, अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के एक मय मौलिक अमृत मय शरीर का यह अग्नि मुख है, अन्य देवता इस शरीर के विभिन्न अंग हैं। प्रत्येक देवता स्वतन्त्र शरीरी स्वतन्त्र कोशमय होने पर भी अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर में वह स्वतन्त्र नहीं है। वहां वह उस शरीर का वैसा ही एक अंग हैं जैसे अग्नि उसका मुख है, प्राण नाक है, अदित्य चक्षु है,' दिशायें श्रोत्र हैं इत्यादि। अग्नि इनकी मौलिक आत्मा है। इसकी पत्नी का नाम गायत्री है जिसे वाक् भी कहते हैं। यह 'अग्निः सर्वा देवता' है। इसका प्रत्येक विकास भी अग्नि के ही नाम से पुकारा जाता है, पर उन उन विकासों की अग्नियों के नाम नये नये रख दिये जाते हैं; जैसा कि 'इन्द्रं मित्रं वरुण मग्नि माहुः' इत्यादि मन्त्र में जितने भी नाम हैं ये सब अग्नि के विभिन्न स्तरों के ही नाम हैं। यह अग्नि अखिल ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम आत्मा हैं जिसमें वैद्युतीय वाक् की तेजोमयी उष्णता प्राण की प्रकाशमय उज्वलता और मनः की अन्नमय ज्ञानता एकीभूत होकर रहती है, क्योंकि यह 'अग्निरात्मा' सदा ही त्रिवृत् रूप में रहता है। वाक् उसकी तेजोमय शरीर है, वह सब दिशाओं में तेजोमय उष्णता के प्रवाह रूप में वैद्युतीय प्रक्रिया से वहती है अतः वाक् कहलाती है (वहतीतिवाक्) वाक् सभी दिशाओं में व्याप्त होती हुई ही बोलती या प्रकट होती है। यह वाक् गायत्री शरीरिणी हैं, यही वाक्, अग्नि या इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक रूप का सर्वस्व बीज रूप है। इस वाक् रूप गायत्री के विकास के तीन मुख्य चरण हैं जिनमें २४ अक्षर रूप विकास सीढ़ियां हैं। ये सब मिलकर त्रिपादामृत या तीन अमृतों के पूर्वार्द्ध का विकास करते हैं। प्रथम में अष्ट वसुओं का, द्वितीय में अष्ट रुद्रों का, और तृतीय में तीन शेष रुद्रों तथा ५ आदित्यों या षोडशी इन्द्र के पाँच इन्द्रों का विकास करते हैं जिसके ये प्रथम तीन रुद्र और इन्द्र अभिन्न सहचर हैं। इसीलिए इन्द्र सूक्त में रुद्रों के मंत्र भी मिलते हैं, अतः यहां भी मिलते हैं। अतः यहां आठों इन्द्र ही है। ये सब अग्नि के ही भेद हैं, यह कहा जा चुका है (२६ से ३२ तक)।

(३३) तस्मादग्निरवरार्द्धयो विष्णुः परार्द्धयः' (श० प० ब्रा०)।

(३४) यो 'वामनो ह विष्णुरास' य 'स्त्रेधा निदधे पद' मिति सोऽपि' विष्णुः सर्वा देवता' (ऐ० ब्रा० १-१-१) 'सोमः सर्वा देवता' (श० प० ब्रा०) अग्निवत्।

(३५) तस्य त्रीणि पदानि त्रयो विंशत्यक्षराणि तत्त्वान्युत्तरार्द्धस्यैव योगपक्षत्वात् ।
(३६) सो ऽग्निर्वै देवानामवमो विष्णोः परार्द्धत्वात् ।
(३७) 'विष्णु र्वै देवानां द्वारपः' (श० प० ब्रा०) 'समूढमस्य पाँसुरे स्वाहेति' (ऋ० वे० १-२०, २१)

पूर्वार्द्ध का नाम अवरार्द्ध भी है। अतः अग्नि को अवरार्द्धीय या पूर्वार्द्धीय कहते हैं, पर वि णु परार्द्धीय या दक्षिणायनीय ही है। जिसको वामन नामक विष्णु कहते हैं, जिसने तीन पदों का विक्रमण किया वह भी 'विष्णु सर्वादेवता' है। इसी की ज्योति को 'सोम सर्वा देवता' भी कहते हैं। इसके तीन विक्रमण या तीन पद में २३ अक्षर या तत्त्व रूप देवता आते हैं। यह ध्यान रहे यह विक्रमण योगमार्ग का वाचक है, सृष्टि का नहीं। अतः यह उत्तरार्द्ध के अन्त से उत्तरार्द्ध के आदि तक आने में तीन विक्रमण करता है। यहां अग्नि ही विष्णु है पर उत्तरार्द्धीय वैश्वानरीय अग्नि है। इस अग्नि को देवताओं में अवम कहते हैं और विष्णु को परार्द्ध्य ही, दोनों का भाव एक ही है। इसी लिए विष्णु को देवताओं का द्वारपाल भी कहा गया है, देवताओं का अमृतमय विकास इनसे पहले हो जाता है, यह सृष्टि और योग दोनों पक्षो में अन्तिम स्थान का या मध्यवर्ती स्थान का है। उत्तरार्द्धीय या परार्द्धीय होने से ही मंत्र में कहा गया है कि उसने जब त्रिविक्रमण किया तो उत्तरार्द्ध की पासुंला पृथिवो पूर्णरूप से रजः से भर गई या व्याप्त हो गई। यही भावना उसके 'चरणों की धूलि' नामक वाक्य की जननी है। आजकल किसी के चरणों से ऐसी धूल नहीं निकल सकती। यह धूल तो रजः है, शरीर के भीतर योग प्रक्रिया से उत्पन्न तिलमिलाती प्रकाश विन्दुओं या वैद्युतीय विकिरणमयी चिनगारियों की चमचमाती धूल है। इनका नाम 'त्रीणि रजांसि' है। 'षड् रजांसि' के शेष रजांसि का वर्णन अगले पद में देखिए। इन्हीं का नाम 'त्रीणि रोचना' भी है (३२ से ३७ तक)।

(३८) तस्मात्सृष्टावग्निरेव प्रथमःप्राणोऽमृतः ।
(३९) रुद्रो वै मध्यमः प्राणोऽमृतः सोऽग्निरेव द्विपात्परिजातवेदाः ।
(४०) इन्द्रो वै तृतीयः प्राणोऽमृतः सोऽप्यग्नि स्त्रिपाज्जातवेदाः ।
(४१) विष्णुस्तु चतुर्थः प्राणो भौतिकामृतः प्रथमः सोमाच्चतुष्पात् ।

इस प्रकार सृष्टि में अग्नि ही प्रथम मुख्य प्राण है; यह अमृत है; रुद्र मध्यमप्राण हैं, यह भी अग्नि ही है, इसे परिजातवेदा भी कहते हैं, और इन्द्र तृतीय मुख्य प्राण है, यह भी अमृत है, इसका नाम जातवेदा अग्नि है क्योंकि यह भी अग्नि ही है। इस सृष्टि या सृष्टिक्रम में विष्णु चतुर्थ प्राण है, यह

भौतिकामृत है, पूर्व वर्णित तीन प्राण त्रिपादामृत हैं। यह प्रथम भौतिकामृत है, यही प्रथम सोमः है, इसी को चतुष्पाद्ब्रह्म या चतुष्कल ब्रह्म भी कहते हैं (३८ से ४१ तक)।

(४२) ईश्वरश्चेशानश्चेशस्तु कपर्दी स त्रिपादामृतो महान्देवो वाग्वृषभो रोरवी-
त्येवादित्यश्चतुष्पात् ।

जिस तत्त्व को ईश्वर, ईशान, ईश. नाम से पुकारा जाता है वह भौतिकामृत वाक् से युक्त त्रिपादामृत महान्देव (वाक् का) वृषभ है। इसके सम्बन्ध में 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि मंत्र कहता है कि यह चतुष्पाद् ब्रह्म है, त्रिपादामृत युक्त है सप्तपदों से परिवेष्टित है और मनोवाक् प्राणों के मौलिक त्रिवृत् से सर्वतो व्याप्त है। इस प्रकार का वह वर्षणशील वृषभ अखिल ब्रह्माण्ड रूप महान्देव है और सर्व प्रथम निरुक्ता वाक् शरीर युक्त होकर, उससे रोरवण करते हुए आदित्य रूप में प्रकाश मान होता है, 'रोरवण' माने वाक् का तेजोमय प्रवाह में सर्वतः व्याप्त होना है, न कि होहल्ला मचाना (४२)

(४३) स योगी योगीशो वा विष्णुस्तु योगेश्वरः ।

(४४) योऽग्निरेव प्रजापतिश्चन्द्रमा स सवितारूपे विश्वानरो वा स धाता-
विधाता ।

यह वाक् का वृषभ वाक् से युक्त होकर योगी कहलाता है, यह महादेव रुद्र है। इसके योग का केन्द्र बिन्दु इस योग का ईश्वर या योगेश्वर विष्णु या कृष्ण है। इस वाक् का पति अग्नि रूप रुद्र ही प्रजापति है जो वाक् गर्भ में अजायमान रूप में रहता है और यही चन्द्रमा कहलाता है, इसी को सविता प्रसविता प्रजापति कहते हैं। यह अखिल भौतिक सृष्टि के बीजों को धारण करने से धाता कहलाता है और उनको नाना रूप देने से नानारूप 'विधाता' भी कहलाता है (४३ से ४४ तक)।

(४५) पूर्वार्द्धस्य त्रयःपादा वै वाचो गायत्र्या गुहा सृष्टौ ।

(४६) तस्य मुखे भौतिक सृष्टेः शिलोत्तरार्द्धस्य ।

(४७) योगे तूत्तरार्द्धमेव गुहा यत्रासुराणामेव शिला तस्य मुखे ।

सृष्टि में पूर्वार्द्ध के तीन पाद वाली गायत्री अमृत वाक् का ही नाम गुहा है जिसमें उत्तरार्द्धीय अखिल भौतिक ब्रह्माण्डीय सृष्टि के बीज रूप अमृत छिपे हुए हैं; उसके मुख द्वार पर उस भौतिक सृष्टिबीजों की शिला का कपाट लगा है या इस भौतिक ब्रह्माण्ड में वह परम निगूढ रूप में रहता है उसी को योग

द्वारा खोलना या खोजना या इन कपाटों को खोलना पड़ता है। इस योग में गुहा यह भौतिक ब्रह्माण्डीय शरीर कहलाता है, इसी में वह प्रजापति गर्भरूप में निगूढ रहता है, इस निगूढ स्थान का नाम वेदि है, उसके पास जाने में उत्तरार्द्ध को पूर्वार्द्ध बनाकर उसकी तीन परिधियों (तीन पादों) को क्रमशः पार करना पड़ता है। यहां इस गुहा को आसुरी प्राणों की शिला कपाटरूप में बन्द रखती है (४५ से ४६-४७ तक)।

(४८) अत्र 'सर्वा देवता सोम' एवाग्नेरूपश्चन्द्रमा, नात्र कोऽप ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रजापतीनां मध्ये संहर्ता किञ्च वाग्रूपो विश्वरूपः पृश्निः सर्वेषाम्।

सृष्टिपक्ष में जिस चन्द्रमा को सविता या प्रजापति कहते हैं उसी को योगपक्ष में सोम कहते हैं। चन्द्रमा तो नानाप्रकार की सृष्टि करता है, सोम नाना सृष्टि करने से जो अन्धकार आता है उसे उनके योग द्वारा पुनः पूर्ण पौर्णमासी के चन्द्रमा के समान सोम ज्योति का विकिरण करता है। यह सोम योग पक्ष में सृष्टिपक्ष के अग्नि के विकासरूप चन्द्रमा के सर्वादेवता सोम का रूप है। सर्वादेवता सोम योग का देवता है, यह प्रत्येक प्राण या देवता में अपनी सोमीय ज्योतिरूप में रहता और जाग्रत करता है। संहार नाम तो योग का है जिसमें प्रत्येक पृथक् पृथक् स्थानीय प्राणों और उनके देवताओं का एकीकरण किया जाता है न कि उन्हें मारा या नष्ट किया जाता है। इसके विपरीत उनकी अन्धकारता को मारा या नष्ट कर उनमें सोमीय ज्योति का दीपक जलाया जाता है। इस कार्य को न अकेले ब्रह्मा कर सकता है, न प्रजापति, न रुद्र, वरञ्च वाक्रूप विश्वरूप प्रश्निरूप ईश्वर या ईशान ही इस कार्य को करने में समर्थ है, अर्थात् योग में सबको संहाररूप में सम्मिलितरूप में काम करना पड़ता है, रुद्र केवल प्राणों का संहार करता है, मनोब्रह्मा देवताओं का; यह पहले बताया जा चुका है (४८)।

(४९) यः 'केशवो ह विष्णुरास' (श. प. ब्रा.) स सोमज्योतिःसागरशायी तत्र वेद्यां सामाधावन्तर्ब्रह्माण्डे वा निगूढो गुहायाम्।

(५०) शेषो वै अवशेषो बृहद्वा सत्यं वा मौलिका पृथिवी वा भौतिकात्मामृतं वा सुषुप्ताऽनुद्दीप्तप्राणानां शरीराणां शय्या योगात्पूर्वं विष्णोः।

(५१) तथैवोक्तं रात्रिसूक्ते दुर्गासप्तशत्यां मार्कण्डेयेन।

(५२) शेषं तु 'वैदिक ब्रह्मसूत्रे' मम सविस्तरं ज्ञेयम्।

जिसको 'केशव नामका विष्णु था' कहा गया है, वही अपनी सोम ज्योतिरूप सागर का शायी विष्णु है, वहां वह अपनी उस सोम की ज्योतिरूप वेदि में निगूढ रूप में रहता है। वेदि तो पूर्ण ब्रह्माण्ड है, उसीकी गुहा में वह

निगूढ है। उसकी शेष की शय्या, भौतिकात्मा का सारभूत सारांशरूप शेष-रूप प्राणनाग या शेषनाथ या शेषनाग की आपोमयी शय्या है। प्राणों का शरीर आपः है, आप, सोम ज्योति है, वही ज्योति शेषनाग है। लहरीमयी आपोरूप सोम को ज्योति ही शेष है। इसे मौलिक बृहत् या सत्यं या पृथिवी या भौतिकामृत या सोम किसी भी नाम से पुकार लीजिए एक ही बात है। यह शारीरिक ब्रह्माण्ड में अनुद्दीप्त रहता है अतः इसको सुषुप्त कहते हैं। योग द्वारा जब उसकी यह अनुद्दीप्तिरूप योगनिद्रा उद्बोधित हो जाती है तब उसे जाग्रतावस्था में कहते हैं, तब तक सुषुप्त। परन्तु वह सोता कभी नहीं है, वह नित्य जाग्रत और अस्वप्नज है। वास्तविक सुषुप्ति तो देवताओं और प्राणों की है जिनको उद्दीप्त करके ही वह उद्दीप्त हो सकता है। दुर्गासप्तशती का रात्रिसूक्त और ऋ० वे० १०-१२९-१ इसी अवस्था का विवेचन देता है। शेष 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' में विस्तारपूर्वक देखें (४९ से ५२ तक)।

अध्याय ४ पाद ३

परम योग या शरीर रहित योग या मोक्ष योग

(१) अथातः परमो योगः शरीरत्यागानन्तरं महायोगिनामेव ।
(२) योगे यः परः परमो वा भागः स 'गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः' ।
(३) तत्र तत्त्वानां देवानां सिद्धिस्तस्यास्तृतीयपादान्तात्प्रारभ्यते व्यतिक्रमाद्योगे ।
(४) विष्णुः सोमो वै शारीरयोगस्यान्तिमा काष्ठा स सृष्टौ च वैश्वानरः सविता प्रसविता वै सोमश्चन्द्रमा वा ।

अब परम योग का वर्णन किया जाता है। अब आपके सामने सचमुच में उस अलौकिक विषय को रखा जाता है जिसके सामने आजकल प्रचलित हमारे लौकिक षड्दर्शन प्रभृतियों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मग्रन्थों की अपने अपने अनुयायियों को झूठ मूठ में ही बर्गलाने वाली वह घोषणा जिसमें उन्होंने कहा है कि 'इस देह के नाना प्रयत्नों से मोक्ष मिल जाता है' बड़ी भारी उपहासास्पद सी स्वयं प्रतीत होने लगेगी। यह विषय शरीर त्यागानन्तर की परम उत्कट योग प्रक्रिया है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसका सम्भवतः अब तक किसी ने भी अपने स्वप्न में भी विचार नहीं किया होगा, क्योंकि इस प्रकार का समस्त वातावरण और प्रयोग उपनिषद् युग के पश्चात् सदा के लिए लुप्त हो गया था, हां गीता और पुराणों में इस विषय का वर्णन पुरानी लकीर पीटने के रूप मात्र में कहीं-कहीं उपलब्ध हो जाता है, प्रयोगरूप व्याख्या में नहीं। यह हमारे यहां की स्थिति है, अन्य धर्मावलम्बियों के पास तो शारीरिक योग की ही पूरी व्याख्या या व्यवस्था नहीं है, इस मार्ग का तो कहना ही क्या? क्योंकि जिसको वास्तविक मुक्ति या आदिब्रह्म में तल्लीनता कहते हैं वह तो केवल उसी व्यक्ति को उपलब्ध हो सकती है जो इस जन्म या जीवन भर योगी रहा हो और मरने के पश्चात् उसकी पञ्चकोशरूप आत्मायें यमरूप में आगे-आगे योग करती हुई अन्त में आदिब्रह्म में क्रमशः लीन हो जाती है। यह बताया जा चुका है कि योग के दो प्रसिद्ध मार्ग हैं उनमें से पिछले अध्यायों में दक्षिणायन योग या शरीरस्थ योग का वर्णन दिया जा चुका है। इस योग से मोक्ष नहीं मिलता, यद्यपि यह जीवन की सर्वोत्तम साधना है। मोक्ष के लिए इस शरीर के बन्धनों को छोडना पड़ता है, पर बन्धनों को छोड़ना ही विकट समस्या है, इनकी छूट कर्मों पर

निर्भर है जैसा कि याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग से कहा था। अतः योगी को जीवनभर योग करके इन कर्मों का स्वयं विधाता बनना पड़ता है, तब वह जब चाहे इस बन्धन को छोड़ सकता है, इसके लिए उसे एक विशेष प्रकार का योग करना पड़ता है जिसे ॐकार योग या मोक्ष योग कहते है। इससे वह इस शरीर के बन्धनरूप कोशों को फाड़ कर उससे निकल भागता है; तब उसके आत्माओं द्वारा नये योग उत्तरायण के योग का नया दौर चल पड़ता है। उसे निम्न प्रकार से किया जाता है। यह योग शरीर त्याग करने के पश्चात् मात्र दिव्य शरीर के द्वारा किया जाने वाला योग है। इसे केवल महायोगी ही कर सकते हैं। योग में जिसे परः, परा या परम भाग कहते हैं वह सृष्टिकालीन पूर्वार्द्धीय गायत्री है जिसका विवेचन इसी पहेली को सुलझाने के निमित्त वहां पर संक्षेप में देना पड़ा है नहीं तो ब्रह्मसूत्र में इसका विस्तृत विवेचन दिया जा चुका है। परम योग में इसी गायत्री के अन्तिम पाद या चरण से एक एक अक्षर की सीढी द्वारा २४ वें अक्षररूप देवता से प्रथम अक्षर के देवता तक क्रमशः चढ़ना पड़ता है। क्योंकि योग में सृष्टिप्रक्रिया के उलटे चढ़ना पड़ता है। यहां प्रत्येक सीढ़ी में चढ़ कर उसके देवता की अनुभूति एकात्म्यीय रूप में क्रमशः की जाती है। जिस शारीरिक योग का वर्णन पिछले अध्यायों के कई पादों में किया जा चुका है उसका अन्तिम तत्त्व तो सोम ज्योति शरीर में निगूढ विष्णु तत्त्व या पुरुषोत्तम चतुष्पाद्ब्रह्म या उत्तम प्राण मात्र है। यह इस योग की 'सा काष्ठा सा परा गतिः' है अर्थात् यही सोम या विष्णुरूप पुरुष अन्तिम तत्त्व है। इस शारीर योग में 'पुरुषान्न परं किञ्चिद्' है अर्थात् इस पुरुष से आगे किसी तत्त्व की इस शरीर से अनुभूति नहीं हो सकती। सृष्टिपक्ष में इसे वैश्वानर चन्द्रमा सविता या प्रसविता कभी कभी सोम भी कहते हैं, सोम वहां कहते हैं जहां सोम को भी सर्वदेवता रूप में वर्णित किया जाता है (१ से ४ तक)।

(५) त्रिपाद्वा गायत्री 'गायत्रो वै पुरुषः' सोऽग्निः।

(६) ॐमित्येकाक्षरा सा विद्या संहारादकारोकारमकाराणाम् गायत्र्यास्त्रयाणामृग्यजुःसाम्नां पादानाम्प्रणवरूपे।

(७) प्रणवो वै विष्णुः शरीरं सोमो वा त्रयी विद्यायाः संहारो वा।

(८) स उत्तरारणिः शरीरमधरारणिः।

(९) तयो 'ररण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः'।

(ऋ० वे० ३-२९-२)

(१०) ततः 'शरीरमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥'' (बृह० उप० श्वे० उप)

(११) तस्मि 'ञ्जन्मञ्जन्मन्निहितो जातवेदाः' (ऋ० वे० ३-१-२१)

गायत्री त्रिपात् है और इसके पति अग्निरूप पुरुष को गायत्र पुरुष कहते हैं; जिसे गायत्र पुरुष कहते हैं वह त्रिपादामृत अग्नि ही है। इसी गायत्री को तब विद्या नाम से पुकारा जाता है जब इसके तीनों पादों को क्रम से ऋग्यजुः साम नाम से पुकार कर उन्हें अ + उ + म् प्रतीकाक्षरों का संकेतक बनाकर इनके संहार से 'ॐ' नामक एकाक्षर ब्रह्म या प्रणवरूपा गायत्री कहते हैं। अर्थात् उक्त प्रकार की प्रणवरूप गायत्री या ॐकाररूपा गायत्री को विद्या नाम से पुकारा जाता है। यह 'प्रणव' समाहाररूप में विष्णु या सोम ही है, अथवा यही ऋग्यजुःसाम नामक त्रयी विद्या का संहाररूप एक जाज्वल्यमान तत्त्व है। योगपक्ष में इसी का नाम उत्तरारणि है या योगप्रक्रिया के मन्थन की पूर्वारणि है, तथा यह अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर अधरारणि या नीचे वाली अरणि है। इन दोनों अरणियों में जातवेदा नाम की अग्नि सदा निगूढ रहती है। योगप्रक्रिया रूप मन्थन या रगड़ से इन दोनों से जातवेदा रूप अग्नि को उद्दीप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया में ॐकाररूप प्राणवरूप विष्णु या सोम भी उत्तरारणि है। अतः जातवेदा विष्णु या सोम या गायत्र पुरुष से उच्चतर तत्त्व है जो इन अरणियों में गर्भवती स्त्री के गर्भ के समान सर्वांश में सुरक्षित रहता है। इसी लिए उपनिषत्कारों ने लिख भी दिया था कि शरीर को अधरारणि और प्रणव को उत्तरारणि बनाकर इन दोनों का ध्यानरूप मन्थन करके अभ्यास करते-करते ज्योतिष्मान् मात्र जातवेदा अग्नि की अनुभूति करनी चाहिए। क्योंकि यह जातवेदा वह अग्नि है जो जन्मजन्मान्तरों में भौतिक शरीरी प्राण-प्राण में तथा अभौतिक अमृतमय देवमय तत्त्व-तत्त्व में सदा अपने रूप में विद्यमान रहती है (५ से ११ तक)।

(१२) स जातवेदो 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ते'।

(१३) गुहा द्विविधा देवानां भूतानाञ्च।

(१४) विष्णुः सोमो वै योयपक्षे भूतानां गुहायां निगूढः स वा अर्द्धमेव संवत्सरस्य विष्णुक्रमान्क्रमते (श० प० ब्रा० ६-५-४-११)

(१५) जातवेदास्तु देवानां गुहा पूर्वार्द्धः।

वह जातवेदा गायत्री के तीन पादों का अमृत है, इसे देवताओं की गुहा कहते हैं। अतः यह जातवेदा इस गुहा में इङ्गित हीन निश्चल रूप में अविकल रूप में सुरक्षित सी रहती है। गुहा नाम दो प्रकार के तत्त्वों का संकेतक है; (१) देवताओं की गुहा पूर्वार्द्ध या गायत्री (२) भूतों या प्राणों के कोशों की गुहा या उत्तरार्द्ध रूपा गुहा। योग के पक्ष में उत्तरार्द्ध की प्राणों की या भूतों

के कोशों की गुहा में विष्णु या सोम निगूढ रहता है यह संवत्सर ब्रह्म का रात्रिपक्षीय आधा भाग है जिनको विष्णु अपने तीन विक्रमों या पदों से क्रमशः आक्रान्त करके अन्तिम सीमा में उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध के सम्मिलन बिन्दु में स्थूणा रूप में रहता है। परन्तु जातवेदा तो देवताओं की गुहा पूर्वार्द्ध में ही रहता है (१२ से १५ तक)।

(१६) पूर्वार्द्धे सर्वे देवा अमूर्ता अरूपा अशरीरिणोऽमृतप्राणरूपाः।

(१७) तेषामनुभूतिरपि चाशरीरैः प्राणरूपैः।

(१८) अतोऽयं मृत्योः परमपरो योगः स मोक्षयोगः।

(१९) स 'ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥'

(२०) यथोक्तं द्वितीयस्य द्वितीये नवमाच्चतुर्दशपर्यन्तम्।

सृष्टि के पूर्वार्द्ध में सभी देवता अमूर्त अरूप और अशरीरी तथा अमृतमय प्राण रूप होते हैं। इनकी अनुभूति भी शरीरहीन रूपहीन अमृतमय प्राणों द्वारा ही हो सकती है, दक्षिणायनीय योगपक्षीय विष्णुसाधक मर्त्य भौतिक प्राणों से इनकी अनुभूति असम्भव है। इस जातवेदा प्रभृति की अनुभूति का योग इस मर्त्य प्राण वाले शरीर की मृत्यु या अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अभौतिक ब्रह्म में लय होने के पश्चात् ही होता है। इसीलिए इस जातवेदा अग्नि की अनुभूति के योग का नाम वास्तव में 'मोक्षयोग' है जिसका विवेचन गीता ने इस प्रकार दे रखा है कि जो परम योगी ॐकार का उच्चारण या ध्यान करके उस जात-वेदाग्नि का स्मरण करके शरीर का त्याग करके आगे योग के लिए बढ़ता है वह विष्णुपद की परमपदता से आगे बढ़ कर परम योग की परमा गति को क्रमशः प्राप्त होता है। इसका विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवम सूत्र से १४ वें सूत्र तक किया जा चुका है (१६ से २० तक)।

(२१) "द्वेते सृती अश्रृणवम्पितॄणामहन्देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च"।

(ऋ० वे० १०-८८-१५) (श० प० छा० उप० बृह० उप०)

योग की इन दो प्रकार की सरणियों का विवेचन वेदों में संहिता ब्राह्मणों तथा उपनिषद् आरण्यकों में सर्वत्र दिया हुआ मिलता है। परन्तु कठिनाई यह है कि उपनिषद् काल के परवर्ती किसी भी विद्वान् को इन सरणियों का तनिक भी ज्ञान भान या विवेक नहीं रह गया है। वह इस प्रकार है। ऋग्वेद ने लिखा है तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों ने इसे बार-बार उद्धृत करके घोषणा की है कि—मैंने सुना है कि वैदिक ऋषियों के दर्शन के, चाहे वे सृष्टिपक्ष का

हो या योगपक्ष का, दो मुख्य स्मृतियाँ मार्ग या पद्धतियाँ थीं। इनको पितरों (उत्तरार्द्ध के प्राणरूप पितरों) की देवताओं (पूर्वार्द्ध के देव तत्त्वों) की और मनुष्यों (या इन दोनों के मध्यवर्ती भाग के तत्त्वों) की दो-दो प्रकार की सृतियाँ या पद्धतियाँ कहते हैं। इन दोनों भागों से यह अखिल ब्रह्माण्डरूप पुत्र क्रियाशील या प्रकाशमय कर्ममय होता है, यह अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड उक्त पितारूप देवभाग (पूर्वार्द्ध) और मातारूप (उत्तरार्द्ध) के अन्तरा या मध्य में है जिसकी अनुभूति या ज्ञान करना या रखना परम आवश्यक है (२१)।

(२२) स यमो "यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रयाय प्रथमं लोकमेतत्। परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनु पस्पशानाम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्व"।

(ऋ० वे० १०-१४-१ और अथर्व १८-३-१३)

(२३) 'यः प्रथमं प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पृशानः'

(ऋ० वे० १०-१४-१, १०-१४-२ और अथर्व ६-२८-३)

(२४) स "देवेभ्यः कमवृणीत ? मृत्युं, प्रजायै कम् ? अमृतं (सोमं) नावृणीत।"

(ऋ० वे० १०-१३-४)

(२५) "यमो नो गातुं प्रथमं विवेद नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ।"

(ऋ० वे० १०-१४-८)

(२६) तस्य योगस्य गातुस्तु—

"त्रिकद्रुकेभिः पतति षलुर्वीरेकमिद्बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता॥"

(ऋ० वे० १० १४-१६)

यह बताया जा चुका है इस 'देवयान' या देव सृति या देवपन्था या पूर्वार्द्ध की अनुभूति को पाने के लिए इस भौतिकात्मीय मौलिक शरीर को या प्राणमय शरीर का भी त्याग करना पड़ता है, हमारे वैदिक प्राणरूप ऋषियों में से ऐसा प्रथम व्यक्ति या तत्त्व वह है जिसे यमी नामक मर्त्यधर्मा प्राण में रहने वाला अमृत प्राणरूप यम कहते हैं, जिसने उक्त देवयान की अनुभूति के लिए मर्त्यधर्मा प्राणों में से सर्वप्रथम मृत्यु को अपनाया या मरा, और इस प्रकार वही सर्वप्रथम तत्त्व है जिसने सर्वप्रथम इस देवलोक को प्राप्त किया या जो सर्वप्रथम इस देवलोक को या पूर्वार्द्ध के अमृत को पा सका। यम-यमी दो पृथक् तत्त्व तो हैं पर एकशरीर या यमी के शरीर में यम आत्मा हैं। इसी को यमल कहते हैं। आत्मा पुरुष कहलाता है, शरीर स्त्री। अतः इन्हें यम-यमी स्त्री पुरुष

कहा गया है। इस प्रकार यम यमी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के प्राणोदानौ या प्राणापानौ हैं जिनमें प्रथम आत्मा दूसरा शरीर है, प्रथम अमृत है द्वितीय मर्त्य, इन्हीं को पति पत्नी या स्त्री-पुरुष का जोड़ा या यमल या यम-यमी कहते हैं। यम योगी है; अमृत या मुक्ति चाहता है, अत; यमी के शरीररूप मर्त्य शरीर में नहीं रहना चाहता। अतः उससे विवाह करना मना करता है, डराता भी है, कि देवताओं के दूत हमारी बातें सुन रहे हैं, समाज भी मना करता है। अतः लिखा है कि इस मार्ग में सर्वप्रथम जाने वाले विवस्वान् के पुत्र यम नामक राजमान या प्रकाशवान् या ज्योतिर्मयता को प्राप्त ऐसे तत्त्व को जो इनसब प्राणरूप प्रजा को इस देवलोक या 'प्रवत' लोक में ले जाने से सर्वप्रथम नेता है या उनका संयमन करनेवाला योगी है हवियों द्वारा या अपने प्राणों की हवियों द्वारा सुसेवित करो। और यह यम वह तत्त्व है जो अनेकों (प्राणों) के लिए देवलोक के मार्ग की खोज करते हुए इस देवलोक के उच्च स्थान या पद को प्राप्त हो सका। यह भी ऋग्वेद में लिखा है कि इसी यम ने सर्वप्रथम हम सबके लिए इस देवयान का या मुक्तिमार्ग का ज्ञान प्राप्त किया, और इस कार्य को योग से सिद्ध करने के लिए तथा देवरूपता की प्राप्ति के निमित्त इसने किसका वरण किया ? मृत्यु का। अर्थात् उसने इस देवरूपता की प्राप्ति के सामने और देवयान खोजने को निमित्त इस मर्त्य शरीर को त्यागना हर्ष से स्वीकार किया। उसने प्राणरूप प्रजा की भलाई के लिए या प्राणों को दैवीप्रकाश का अमृत पिलाने के लिए किसका वरण किया या किस तत्त्व को अपनाया ? उसने भौतिकामृत रूप सोम का भी वरण नहीं किया, उसकी सोमपान या विष्णुलोक से भी तृप्ति नहीं हुई। उसने इसको भी अपनाये रखना, इसी की सीमा तक रहना स्वीकार नहीं किया। उसने प्रजारूप प्राणों की भलाई के लिए उन्हें भौतिकामृत सोम के स्थान में दैवी अमृत देवयानीय देवलोकीय अमृत पिलाने के लिए उस सोमामृत की भौतिकदिव्य शरीर का त्याग कर के मृत्यु को अपनाना उच्चतम कर्तव्य माना। यहां पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ऋग्वेद उस देवयान या पूर्वार्द्ध का एक और नया नाम 'प्रवत' दे रहा है जिस लोक में वह पुनः योग करने के लिए सर्वप्रथम गया था। इसीलिए ऋग्वेद स्वयं फिर लिखता है कि वह राजमान प्रकाशमान यम नामक तत्त्व ही है जिसने हम प्राणों या प्राणियों के लिए सर्वप्रथम इस देवयान की गातु या, प्रवत लोक की पथ्या स्वस्ति या योग मार्ग को सबसे पहले विदित किया। यह गव्यूति या मार्ग ऐसी महत्वपूर्ण है, इतना उत्तम तत्त्व है जिसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता या इस उत्तम अलौकिक मार्ग को कदापि नहीं छोड़ा जा सकता। इस प्रकार हमारे तत्त्वरूप ऋषियों में

से सर्वप्रथम योगी या योगकर्ता पुरुष यही यम तत्त्व है जिसने सर्वप्रथम इस परम योग का मार्ग खोज निकाला। यहाँ पर वैदिक ऋषियों के उस प्रण को देखिए जिसमें उन्होंने इस मार्ग को न छोड़ने की प्रतिज्ञा की है, दुःख है यह मार्ग इस प्रकार नष्ट हो गया है, वेदों के जीवित रहते, यम के जीवित रहते हुए इस मार्ग का इस प्रकार लोप हो जाना कैसे सह्य हो रहा है समझ में ही नहीं आ रहा है! क्या कभी फिर ऐसा समय आयेगा जब लोग इन नग्न सत्यों को पहचान पायेंगे और इनका पुनर्नवोत्थान करेंगे, ?!! इस यम की गातु या मार्ग का निर्धारण त्रिःपूर्व त्रिरुत्तर नामक तीन-तीन कद्रुकों या विभागों के षट् या छह भूमियों या उर्वियों से उस एक आनादि अनन्त ऋतं बृहत् को विभक्त समझ कर करना पड़ता है। यम तो बृहत् नामक एकमय भौतिकामृत रूप अखिल भौतिक ब्रह्माण्डीय तत्त्व है जिसमें उत्तरार्द्ध के तीन कद्रुक नामक विभाग हैं। इससे पूर्वार्द्ध को प्राप्त करने के लिए त्रिष्टुप् छन्द के ११, ११ अक्षरों के तीन पादों या गायत्री के ८, ८ अक्षरों के पादों की सीढ़ी में क्रमशः चढ़कर जाना पड़ता है क्योंकि यमरूप ब्रह्माण्ड में ये दोनों तत्त्व नित्य समाये हैं, अग्निरूप में यह गायत्रीमय है तो विवस्वान् का पुत्र होने से 'त्रिष्टुबिहभागो अह्नः' (ऋ० वे० १०–१३१–५) के अनुसार अहोरूप विवस्वान् देवता के त्रिष्टुप् छन्दोमय है। (२२ से २६ तक)।

(२७) अथ कोऽयं यम इति प्रश्ने तूच्यते।

(२७) त्वष्टुर्वै दुहिता सरण्यूर्या पत्नी विवस्वतस्तस्याश्च त्रीणि रूपाण्यसवर्णा सवर्णाऽऽश्वी क्रमेण चामृतामर्त्या प्राणरूपा च।

(२९) यम यमी वै पुत्रावसवर्णायाममृतायां सरण्व्यां विवस्वतः।
यथा "ऽपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥"
(ऋ० वे० १०–१७–२)

ततो "यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश।"
(ऋ० वे० १०–१७–१)

(३०) (ख) कथंकारं सरण्यूरेवं चकार? यतो यमः सृष्टिं कर्तुं नैच्छत् यमी च मृता, ततः सरण्यूः सरणशीला सृष्टिरूपा द्विधा दुःखिता सती, पुनः पञ्चप्राणान् देवानश्विभ्यामन्यान्पञ्च प्राणान्मनुना मनसा कर्तुमेवं चकार मनुना मनसा सह वागादय सर्वे प्राणा साकंजाना सन्तः साकं जाताः सृष्टिश्चाग्रे प्रसारिता च बभूव।

(२०) योऽयं सृष्टावग्निः स एवातिसृष्टौ संयमवत्त्वाद्यमः प्रथमः प्राणोऽश्वो वा—
यथा "सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्नदिद्युत्त्वेषप्रतीका ।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥"

(ऋ० वे० १-६६-४)

अथ च—'असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन' ।

(ऋ० वे० १-१६३-३)

तथा च—'हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन् ।"

(ऋ० वे० १ ६७ २)

अपि च—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ।

(ऋ० वे० १-१६४-४६)

अब देखना है कि यह यम कौन और कैसा तत्त्व है। यह यम, त्वष्टा नामक देवता की पुत्री सररायू और विवस्वान् का पुत्र है। सररायू के तीन रूप हैं असवर्णा या भौतिकामृतमयी, सवर्णा भौतिकी और प्राणरूपा अश्वी। इनमें से यम-यमी अमृता सररायू के पुत्र हैं। क्योंकि कहा है सररायू अपने असवर्णा अमृतरूप को विवस्वान् से छिपाकर अपने स्थान में सवर्णा को स्थापित कर अश्वी का रूप धारण कर के भाग गई तो विवस्वान् भी अश्व बन कर उसके पीछे चल दिया जिसमे अश्विनी का जोड़ा, सवर्णा से मनु और असवर्णा अमृत से यम यमी का जोड़ा उत्पन्न हुआ। अब प्रश्न यह उठता है कि सररायू ने ऐसा किया ही क्यों? इस का मुख्य कारण यह है कि यम ने योगी बनने के विचार से यमी से ब्याह करना मना करके केवल यमी की मृत्यु ही नहीं बुलाई अपितु आगे की सृष्टि को भी रोक दिया। तब सदा सरणशीला सृष्टिकारिणी सररायू चुप नहीं रह सकती थी। उसने उक्त दोनों भयंकर दुःखों पुत्रीमृत्यु सृष्टि समाप्ति को सहन न करके भी पुनः सृष्टि के लिए अश्वीरूप से पञ्च प्राणों को अश्विनीरूप में तथा मनु से मन और वागादि पञ्च प्राणों की सृष्टि करके सृष्टि को पुनः चालू कर दिया। इसी लक्ष को पूरा करने के लिए सररायू ने सवर्णा और अश्वो रूपों को धारण किया। उसने इनसे उभयात्मिकी दैवी और प्राणमयी सृष्टि एक साथ चला दी। ये सब भगने-भागने की बातें उक्त क्रिया करने जाने के प्रयासों को प्रछन्न रूप में वर्णित करने की पृष्ठ भूमिकायें हैं। इस प्रकार जिस तत्त्व को सृष्टिकाल में अग्नि कहते हैं उसी को योग करने के समय में संयमवान् होने से यम कहते हैं। इसीलिए स्वयं ऋग्वेद ने अग्नि को यम नाम से पुकार कर कहा है—यह अग्नि सेना के प्रबल बल के समान भय को उत्पन्न करने वाला है, धनुर्धर (अस्तुः = योगी) के समान वैद्युतीय

प्रकाशतुल्य या कड़क के तुल्य भयभीत करने वाला है, यह यमल रूप में उत्पन्न होकर संयम वाला योगी बनने वाला महापुरुष है जो योग की चार प्रकार की ज्योतिरूप कन्याओं का जार या प्यारा या उनको नित्य अपनाने से उन्हें बुढ़ापा तक नहीं छोड़ने वाला है। इन दीप्तिरूप कन्याओं को योगप्रक्रिया से उत्पन्न होने के कारण 'जनी' या जन्या कहा है। ऐसे संयमी योगमय यम नामक अग्नि तत्त्व को, योग करने वाले वैदिक ऋषि कहते हैं, 'हम भी उसी प्रकार आकाश में चमकने वाले तारों या चन्द्रमा के समान देदीप्यमान रूप में प्रदीप्त हुए को अवश्यमेव प्राप्त हो जाते हैं जैसे गायें सूंघते-सूंघते चलते अपनी निवासभूमि को पहुँच जाती हैं, यहां यह भी ध्वनि है कि उत्तम नक्षत्रों या भाग्यों या ग्रहों का ही व्यक्ति उसे पा सकता है। यह अग्नि स्वयं तो शरीररूप गुहा में निगूढ होकर अपने गायत्र या त्रैष्टुभपाद रूप हाथों में नृम्णा या अजस्रमिन्धान अग्नि को, और सभी देवताओं को यमरूप में धारण किए रहता हैं। वास्तव में इन्द्र मित्र वरुण अग्नि यम आदि तो एक ही तत्त्व के नाम हैं, इन नामों का प्रयोग वे वैदिक ऋषि इनकी अनेकधा विवेचना की पारिभाषिकता के रूप में करते हैं। अर्थात् यहां यम नाम संयम वाले योगी अग्नि का ही नाम है। एक यह बात ध्यान से न उतारी जाय कि जब अग्नि को यम कहते हैं तब यम या 'अग्नि प्रथम प्राण का नाम है अश्व जिसका विस्तृत वर्णन ऋ० वे० १-१६३ पूरे सूक्त में सर्वोत्तम रूप में मिलेगा; वही आदित्य भी है, यम भी है, गुहा में तीन व्रत या पादरूप संयम वाला है (२७ से ३० तक)।

(३१) स योगी यमोऽयमग्निरेवं प्रार्थयति 'युजे वां ब्रह्मपूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरे" इत्यादि। (ऋ० वे० १० १३-१)
पञ्चपदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सम्पुनामि॥"
(ऋ० वे० १०-१३-३)

(३२) तस्मै योगायैव सः 'प्रिया यमस्तन्वं प्रारिरेचीत्' 'देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत'। (तत्रैव)

(३३) यमो वै अग्निस्तस्य शरीरं यमी वाक् यां तित्याज स योगाय तयोरेवैतदे-तद्विषयकं यमयमीसूक्तम् (ऋ० वे० १०-१०) यस्मादारभ्याग्निमानि सूक्तान्येकोनविंशपर्यन्तानि सर्वाणि च यमस्य योगस्यैव व्याख्यां ददन्तीति विज्ञेयम्।

उक्त निर्णय के समर्थन में यम के सन्दर्भ में आये अग्नि सूक्त (ऋ० वे० १०-१३-) में केवल यम का ही पूर्ण विवेचन बड़ी विशिष्टता और स्पष्टता

से दिया हुआ मिलता है। इसके आरम्भ में ही अग्नि या यम प्रार्थना करता है कि मैं पूर्वार्द्धीय ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नमस्कारपूर्वक योग यज्ञ करता हूँ (युजे), सूर्य की पथ्या का अनुसरण करने के समान मैं उस ज्योति को प्राप्त हो जाऊ। जिससे मैं उस पूर्वार्द्धीय ब्रह्म के छन्दोमय पदमय भागों में से पञ्चपदी और चतुष्पदी स्वरूप के प्रत्येक अक्षररूप देवता की सीढ़ी को नापता या पाता हुआ उस अमृत की नाभि तक पहुंच कर अपने को पवित्र कर सकूं। इस योग को करने के ही लिए उस यमाग्नि ने अपने प्रिय भौतिकामृतीय सोमीय शरीर का त्याग करना उचित समझा और उसे छोड़ ही दिया, उक्त देवताओं की प्राप्ति के लिए मृत्यु का शरीर त्याग क। वरण किया, सृष्टि करने के लिए भौतिकामृतरूप सोम को भी स्वीकार नहीं किया। इस यमरूप अग्नि का शरीर यमीरूप भौतिकामृतीय सोमीया वाक् है। इसी यमीरूपा वाक् और अग्निरूप यम का कथोपकथन ऋ० वे० १०-१० सूक्त में दिया हुआ है। अग्नि योगीरूप यम शरीररूप यमी या वाक् से विवाह करना साफ मना कर देता है। इस सूक्त से आगे के १० से १९ वें सूक्त तक ८ या ९ सूक्तों में से सब में इसी यम के योग, योगमार्ग, उस योग मार्ग के पूर्वे पितर, बर्हिषद पितर, अग्निष्वाता पितर, सोमपा पितरों का योगमय विवेचन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। लोगों को इनका सन्दर्भ ही विदित नहीं है अर्थ कहाँ से लगे। उचित समय पर इनकी सच्ची वास्तविक व्याख्या दी जावेगी (३१ से ३३ तक)।

(३४) यमी शरीरयुक्तो यमो ह व वै "पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्ट पशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥"

(ऋ० वे० १०-१७-३)

(३५) यमस्य यमीशरीररूपेण 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" (यजु० ४०-१ ईश० बृ० हृ० उप०) 'अग्ने नय सुपथा राये.........' (ऋ० वे० १-१८९-१ यजु० ४०-१६)

(३६) स एव योगी यमः कठे नचिकेतसमेतत्परमं योगं शिशिक्ष।

(३७) या सूर्या वै ऋग्वेददशममण्डले पञ्चाशीतितमे पूर्णे परमयोगस्य सूक्ते वर्णिता सा वै योगिनामनुभूता चतुर्विधा दीप्तिः।

(३८) सोममयीमिन्द्रः सवितामयीं गन्धर्वमयीं वा वेधास्तेजोमयीं वाचमनिरुक्तामग्निर्यमो रुद्रो वा प्राणमयी प्रकाशमयीमश्विनौ।

(३९) ते चत्वारो तस्याः सूर्याया पतयो यथा—'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजा। (ऋ० वे० १०-८५-४०)

यम नामक अग्निरूप सत्य का मुख यमीरूप वाक् रूप शरीर के हिरण्मय पात्र से प्रच्छन्न हो जाता है। यह यम, यमी से युक्त होकर पूषा का स्वरूप पाता है। अतः कहा है हे पूषा तुम इसको छोड़ दो (च्यावयतु) तुम ज्ञानरूप विद्वान् हो तुम्हारे प्राणरूप पशु कभी नष्ट नहीं होते, तुम तो इस अखिल ब्रह्माण्ड को चेतन रूप में सुरक्षित रखते हो। तुम्हारे उस अग्नि रूप ने अपने इस शरीर को भौतिक प्राणरूप अङ्गिरस नामक पितरों को दे दिया और (अपने अग्नि स्वरूप को) सुन्दर दानी देवताओं के लिए समर्पित कर दिया। इसीलिए उस पूषा रूप यम या अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हे पूषन् तुम अपने अग्नि स्वरूप का अनावरण, अपने उस सत्य स्वरूप के दर्शन देने के कर्तव्य से अवश्य कर दो। और यह भी प्रार्थना की जाती है कि "तुम तो ज्ञानरूप हो, इसलिए हमें सदा सत्पथ या सन्मार्ग या योगमार्ग से ही ले जाते रहो, हमारे इस मार्ग में जो कोई भी पापाचार विघ्न बाधा वाले हों उनसे लड़ना युद्ध करना उन्हें परास्त करने का भी काम तुम्हारा ही है। अतः हम तो सदा तुम्हें प्रणाम ही करते रहेंगे।' इत्यादि यह वही योगी यम है जिसने यमी या वाक् रूप शरीर त्याग करके (नित्य अमर सूर्या की तेजोमयी योगमयी ज्योति पाकर) कठ के अनुसार उस वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता को उसी अग्नि का ज्ञान दिया था जिसे उसने पूर्वोक्त प्रकार से अनुभूत कर लिया था। इसका पूरा परिचय 'उपनिषद् भाष्य भूमिका' नामक मेरे लिखे ग्रन्थ में देखें। ऋग्वेद के १०।८५ सूक्त में जिस सूर्या के विवाह की योजना अश्विनौ से की गई है वह सम्पूर्ण वर्णन योगमाया का वर्णन है। योग से अनुभूत या उद्दीप्त की जाने वाली दैवी ज्योति के चार स्तर हैं। इन चारों स्तरों की ज्योति को आदित्यमयी अदितिमयी या सूर्या नाम से ही पुकारते हैं। यह इन्द्र योगी के पक्ष में सोममयी सूर्या ज्योति (ईषत्कृष्णपिंगला) कहलाती है, तो वेधा योगी की ज्योति को गन्धर्वमयी चान्द्रमसी तेजोवती सवितामयी लोहिता और यम रूप अग्नि या रुद्र के योगी रूप में यह अनिरुक्ता अमृता सूर्या ज्योति अरूपा कहलाती है तो प्राणमयी योगप्रक्रिया में अश्विनौ की प्राणमयी सूर्या शुक्ला ज्योति। अतः इस सूर्या के चार पति बताये गये हैं वे हैं—सोम, गन्धर्व, अग्नि और अश्विनौ। इन में से सोम और गन्धर्व की पत्नी या योगरूपा सूर्या ज्योति तो दक्षिणायनीया है परार्द्धीय हैं, तो अग्नि और अश्विनी की योगमयी सूर्या ज्योति रूप पत्नी पूर्वार्द्धीया त्रिपादामृतीय अरूपा अशरीरिणी स्वर्गीया मात्र; क्योंकि, अश्विनौ तो देवरूप अमृतप्राण रूप हैं उनसे, मिलने के लिए सूर्या को अपने बन्धन रूप वरुण के पाशों या आपोमय प्राण शरीरों को त्यागना पड़ता है

(ऋ० वे० १०–८५–२२,२३) पर गान्धर्व और सोम शरीर तो प्रतिक्षण नये-नये रूप लेता है जिनके शरीरों के साथ वह अश्विनौ से नहीं मिल सकती (ऋ० वे० १०–८५–१९) इस प्रकार ऋ० वे० १०–८५ का पूरा सूक्त इसी उच्चकोटि के योग का वर्णन पूरा देता है (३४ से ३९ तक)।

(४०) तस्माद्यमो वै सः प्रथमो योगी यो मोक्षयोगं सर्वप्रथमं चकार।

(४१) त्रिविधस्त्रिपाद्वा मोक्षयोगोऽग्नियोगो वा यमयोगो वा यः प्राधान्येन वक्तुमर्हः।

(४२) 'योगस्यैव व्यतिक्रमे तु—"दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽग्निरस्मद्द्वितीयं परिजात वेदाः। तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥" स अतिथि-र्दुरोणषद्। (ऋ० वे० १० ४५-१ यजु० १२-१९)

(४३) योगे तु तृतीयः सो "ऽग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मिनाम॥"

(ऋ० वे० ३-२६-७)

(४४) सो 'ऽहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः॥

(तै० ब्रा० २-८-८-१)

इस प्रकार इस यम नामक संययी अग्नि ने ही सर्वप्रथम मोक्ष योग का द्वार खोला, सर्वप्रथम शुद्ध अमृतमयी अरूपा अशरीरिणी सूर्या ज्योति की अनुभूति प्राप्त की। यह मोक्ष योग भी एक ही प्रकार का नहीं है, यह तीन प्रकार का है, इसको अग्नि प्रधानता के कारण मोक्ष योग न कह कर अग्नि योग या यम योग कहना अधिक उचित है, मोक्ष योग तो यह है ही। इस त्रिविध योग को त्रिपाद् योग कहना भी सर्वथा उचित है, क्योंकि इसकी त्रिविधता गायत्री अमृतमयी वाक् के तीन चरणों पर निर्भर करती है। इन पादों के अनुसार योग के उलटे मार्ग में सबसे पहले दिवः नामक तृतीय पाद में यह योगाग्नि जातवेदा रूप में प्रकट होती है यह पूर्वार्द्ध के प्रथम अतिथि या पुत्र प्राप्ति रूप का सबसे कठिन योग है अतः इसे दुरोणषद् या दुरारोहरणीय दुरोण योग कहते हैं (सृष्टिपक्षमें सर्वप्रथम प्रथमपाद के भू लोक में ही प्रकट होती है)। इस तृतीय पाद में जातवेदा की सिद्धि या उद्दीप्ति के अनन्तर द्वितीय पाद में परिजातवेदा या होता वेदिषद् की अग्नि की उद्दीप्त या सिद्धि होती है। और तब अन्त में तृतीय सीढी में या सृष्टि के प्रथम पाद में नृम्णा या नृमण नामक सतत इन्धनशील दीप्तिशील अग्नि के अन्तिम स्वरूप की उद्दीप्ति या सिद्धि होती है। यह स्वय को स्वयं धारण करने में समर्थ प्राणरूप बुद्धिरूपी अग्नि है। यहां पर उलटा क्रम देना ही योगपरक होने का पक्का प्रमाण है। अतः फिर कहा है कि "मैं तो योग से प्रथम जन्म लेने वाली जातवेदा नामक अग्नि

हूँ, जिसे भौतिकामृत कहते हैं वह मेरी दीप्ति को प्रज्वलित रखने वाले दीपक के घृत के समान है, उसे उत्तरार्द्ध में चक्षुः सूर्यः और भौतिकामृतमय अमृत कहते हैं। यह त्रिपादामृत के तीन धातुओं के अर्क के समान घृत है। यह सदा भौतिकामृत के रजोमय वैद्युतीय विकरणीय चिनगारियों का अनाद्यनन्त महतो महीयान् तत्त्व है और नित्य ही उष्ण होकर थन से हविरूप दूध चुवाने को तत्पर सा रहता है।" इसीलिए यह अग्नि पुनः कहता है, 'मैं ही उस ऋत नामक पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला हूँ, मैं पूर्वार्द्धीय देवताओं के लिए अमृत की नाभि हूँ,: इत्यादि।" (४० से ४४ तक)।

(४५) इन्द्रो वेधास्तृतीयपादीयस्यादित्यस्य जातवेदसः सोमान्तगतिकौ।

(४६) ते चतुष्पदीयास्ततो जातवेदसो पञ्चपदीमन्वारोहति केवलं यमाग्निः।

(ऋ० वे० १०-१३-३)

(४७) द्वितीयं परिजातवेदा अग्निर्वै रुद्रः।

(४८) यस्तृतीयः स प्रथमोऽग्निनृम्णा अजस्रमिन्धानो ऽखिल कोटि ब्रह्माण्डेऽदिति-वागपां समुद्रे।

(४९) तदेतेषां त्रयाणामग्नीनामाप्त्यै निम्नक्रमोऽवश्यं भावी।

(५०) सोमाद्विष्णुर्विष्णोर्वरुणो वरुणान्मित्रो मित्रादात्रिरत्रेरतिथिस्त्रिपादमृतस्तस्मा-द् रुद्रो रुद्रादग्नेरग्निरग्रणीः सर्वेषां देवानाम् तस्य निर्वाणे च शान्तार्चिरादि-ब्रह्म हंसः शुचिषत् सातिमुक्तिः षड्विधास्वन्तिमा।

इन्द्र और वेधा के योग की अन्तिम सीमा तृतीयपाद के अन्तिम रेखा में जातवेदा नामक अग्नि या आदित्य या सोम या विष्णु की अनुभूति तक सीमित है। ये चतुर्थपाद के तत्त्व हैं, इनका वर्णन सूत्र ३१ में पीछे दिया जा चुका है, यहां से यमाग्नि पञ्चपदी पिता के पूर्वार्द्ध का आरोहण करता है। तद-नन्तर द्वितीय पाद में आते ही त्रिपादामृतीय रुद्राग्नि या परिजातवेदा अग्नि को समिद्ध किया जाता है, तब प्रथम या इस योग के तृतीय चरण में नृम्ण या नृमण नामक सतत क्रियामयी उद्दीप्ति वाले अग्रिम अग्नि को—जो अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक बीजों के प्राणरूप सागर में या अदिति वाक् आपः के सागर में वाडवाग्नि की तरह विद्यमान रहता है। इन अग्नियों की अनुभूति में निम्न क्रम अवश्यंभावी है। चतुष्पदी योग में सोमानुभूति अन्तिम है, उससे विष्णु, उससे आगे वरुण उससे आगे मित्र, फिर क्रमसे अत्रि, अतिथि त्रिपादा-मृतीय रुद्र अग्रणी अग्नि। इस अन्तिम अग्रणी अग्नि के निर्वाण के अनन्तर शान्तार्चि आदि ब्रह्म 'हंसः शुचिषद्' में एक होकर घुलमिल जाना निर्वाण या अग्नि का बुझ जाना या अतिमुक्ति कहलाती है वैसे मुक्तियां छह प्रकार की हैं वैदिक ब्रह्मसूत्र देखें; यह अन्तिमा मुक्ति है (४५ से ५० तक)।

(५१) तस्मान्महायोगेऽस्मिन्विष्णुर्महान्देव, स्त्रिपादमृतो रुद्रो महत्तरोग्निश्चानिरुक्तः प्रजापतिर्महत्तमो हंसोऽनादिरनन्तः सदा मुक्तः प्राणः परमः प्रथमो वा। यदा च ते सर्वा देवता तदा सर्वेऽन्तिमा महान्तो महत्तरा महत्तमाश्च।

उपलब्ध प्रमाणों से वर्णित इस महायोग प्रक्रिया में विष्णु तो महान्देव है, रुद्र महत्तर है त्रिपादामृत भी है, और अनिरुक्त प्रजापति पतिरूप देवताग्रणी अग्नि महत्तम तत्व है, वही हंसः शुचिषद् सदामुक्त परम प्राण या प्रथम प्राण हैं। परन्तु जब विष्णु सोम इन्द्र रुद्र वरुण प्रभृति देवताओं को सर्वदेवता कहते हैं तब प्रत्येक सीढी में इनमें से प्रत्येक की ही पृथक् पृथक् विधियों से अनुभूति होगी और प्रत्येक अन्तिम महत्तम महत्तर महान्देव इत्यादि रूप में अनुभूत भी किया जावेगा (५१)।

(५२) यो नचिकेता यममग्निज्ञानाय कठे प्रप्रच्छ तदेतदेवाग्नि 'यन्मृत्योः परम् मृत्यव एव तस्य पिता वाजश्रवा तमदाच्च (१०-५१-६, ४) द्रष्टव्यम्।

कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से जिस अग्नि के ज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न किया था वह वही पूर्वोक्त त्रिपादामृतीय अग्नि के बारे में था, जिसकी अनुभूति मृत्यु के पश्चत् ही संभव हो सकती है। इसीलिए उसके पिता वाजश्चवा (द्यौ) ने उसे मृत्यु को सौंपा भी था। इसका विवेचन ऋ० वे० १०-५१ में भी मिलता है जहाँ नचिकेता का नाम यम के ही साथ आया है। यह कथानक इस परम योग वर्णना के बहाने मात्र के लिए रचा गया है। यह वास्तविकता है (५२)।

(५३) यच्छौनःशेपमाख्यानमृग्वेदे बैतरेये वा नचिकेतसः कठे वा तत्राप्येतस्यैवाग्नेः क्रमशो योगः।

(५४) अजीगर्तोऽज एकपाद्गर्ते मध्यस्थाने विषुवति पिता।

(५५) यत्स तं वरुणाय योगयज्ञाय ददाति तद्विष्णोर्वरुणाय गमनं योगाय।

(५६) तस्य कृते मृत्युरावश्यकीया तस्मात्स पिता स्वयं ज्ञानासिना तं न हि, स्वशरीरमेव हर्तुमुद्यतोऽभूत्स्वपुत्रस्याप्त्यै स्वर्गे लोके पुत्रस्त्वात्मा तस्ययोगे, पुत्रत्रयी तु प्राणत्रयी यस्यां मध्यमो मध्यमः प्राणः शुनःशेपो नचिकेता वा वाजश्रवसः।

तस्मादज्ञान संभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ (गीता४-४२)॥

(५७) स यदादित्यादीनां क्रमिकस्तवनं चकार तत्तेषां क्रमशो योगानुभूतिसूचकम्।

(५८) वरुणपाशान्मुक्तिस्तु मृत्युरेव शरीरस्याजीगर्तस्यैव यतो शरीरं वै वारुणीनां पाशानाम् यस्मिन्पुरुषः शुनःशेपोऽग्निर्विबद्धः ।

(५९) विश्वामित्रर्षिः प्राणः श्रोत्रं दिग्दैवत्यो यस्य शिष्यत्वेन पुत्रत्वेन शुनःशेपोऽपि दिक्षु व्यापी यशसा बभूवेति ॥

ऋग्वेद और ऐतरेय ब्राह्मण में जो शुनःशेप का आख्यान मिलता है वह भी इसी परम योग का मृत्यु के उपरान्त सिद्ध किए जाने वाले योग की क्रमिक व्याख्या देता है। यहां अजीगर्त अजएकपात् का स्थानीय मध्यस्थानीय तत्व है, जिसे विषुवत् के दक्षिण का वासी होने से पिता कहते हैं। उसने उसे वरुण को देने की जो प्रतिज्ञा की थी वह इस योग के पूर्वोक्त (सूत्र ५०) के क्रम से विष्णु सोम के स्थान से वरुण को उद्दीप्ति के लिए देना है जिसके लिए शारीरिक मृत्यु परम आवश्यक है। इसीलिए वही पिता उस शुनःशेप को अपनी ज्ञान की तलवार से मारने को तत्पर भी है कि उसका आत्मारूप पुत्र पूर्ण मुक्ति पा सके। खड्ग सदा ज्ञान का प्रतीक है जैसा कि भगवद्गीता ने भी लिखा है कि 'अज्ञान से उत्पन्न संशय को ज्ञान की तलवार से काटकर योग करने के लिए जाग्रत या खड़े हो जावो।' ठीक यही घटना यहां भी घट रही है। अज्ञानी लोग इसका कुछ भी मतलब लगातें फिरें, तथ्य तो तथ्य ही है, वह यही है। शुनःशेप ने जो आदित्यादि देवताओं की क्रमिक स्तुतियां की हैं वे उसकी इन देवताओं की योग द्वारा क्रमिक अनुभूतियों का विवेचन देती हैं। उसके वरुणपाश से मुक्ति के माने जीवित रहना नहीं वरन् मृत्यु को ही प्राप्त हो जाना है। क्योंकि जीवन तो वरुण के पाशों में अग्नि प्रजापति को बाधे रहने ही से बन्धनरूप शरीर से हो रहता है। इसको भी लोग नासमझी से उलटा ही समझते आ रहे हैं। कहां तक लिखें। विश्वामित्र का उसे अपना पुत्र या शिष्य बनाना उसे त्रिपादामृतीय श्रोत्र रूप में दिग्दिगन्त व्यापी यशस्वी या दिव्यशरीरी या अमर बनाना है। यह ध्यान में रहे कि वाजश्रवा और नचिकेता तथा अजीगर्त और शुनःशेप तो यम-यमी की तरह एक ही शरीर के दो भाग हैं। इनमें शरीर वाजश्रवा और अजीगर्त है और आत्मायें नचिकेता और शुनःशेपः। येही आत्मायें यम या वरुण के पास पहुंच सकती हैं, शरीर नही उन्हीं के इस योग का यहां पर वर्णन है। अजीगर्त और वाजश्रवा के तीन-तीन लड़के उनके प्रथम मध्यम और उत्तम प्राणों के प्रतिनिधि हैं, प्रथम को पिता तृतीय को माता का अपनाना द्यावा पृथिवी रूप का अपनाना है, मध्यम प्राण ही योगी है वही मुख्य प्राण है। उसी को योग लोक या मृत्यु लोक या अशना अनशनाहीन लोक के लिए स्वभावतः चुना गया है। मृत्यु को देने का यही आशय है मृत्यु

यम नहीं है वरंच यम का ज्योतिर्मय योगमय लोक है। वेदों के ऋषियों की यह प्रणाली नई नहीं है कि एक ही शरीर के अंगों को पिता, पुत्र, पत्नी, भ्राता, भगिनी और अन्य सम्बन्धों से पुकारें। इन सम्बन्धों के नामों से इनकी अङ्गता नष्ट नहीं होती। वे अपने एक शरीर में अङ्ग ही है, पृथक् वर्णना से, चक्कर में नहीं आना चाहिए। देवासुर तो एक ही शरीर के दो अंग हैं पर उनका वर्णन कैसे कैसे युद्धों से किया गया है, यह किससे छिपा है ? अतः इस वर्णना में केवल इसी महायोग का, शरीरान्त के पश्चात् के योग का मुख्य विवेचन है। इस के अध्ययन के लिए एक नवीन वैदिक अनुसन्धान प्रतिष्ठान की आवश्यकता है। आशा है सभी समझदार जनता इसमें सहयोग देकर ज्ञान पुण्य कमायेगी।

अध्याय ४ पाद ४ (क)

योग के प्रसिद्ध सूक्तों की व्याख्या

(१) अथातो वेदेषु योगयोरेतयोः क्रमिका व्याख्या ।

(२) तत्रास्यवामीये सूक्ते पूर्वार्द्धीयपरार्द्धीययोर्योगयोर्भूमिका तथा प्रथमस्यानुभूतेः सविस्तरं वर्णनं नाना सरणिषु वैदिकानाम् ।

(३) तस्य च विशिष्टवर्णनमिन्द्रविष्णुरुद्रपुरुषहिरण्यगर्भसूक्तेषु वर्णनासु च सर्वासु संहितासु विस्तारपूर्वकं निबद्धम् ।

(४) उत्तरार्द्धीयस्य योगस्य च व्याख्या अग्नेः सूक्तेषु तथाश्विनी सूर्यायाः यमस्य पितृणां च सूक्तेषु वर्णनासु च बाहुल्येन प्रशस्ता । एवं वेदेषु योग एव प्रधानः सृष्टेस्तु विषयो गौण एव ।

(५) तेषामेवात्र क्रमशो व्याख्या सभाष्यमुदीर्यते ।

(६) पुरुषः पुरुष सूक्ते ।

(७) हिरण्यगर्भः कश्च तस्यैव सूक्ते ।

अब इस भाग में पूर्व वर्णित दोनों प्रकार के अपूर्व योगों की जो व्याख्यायें वेदों में उपलब्ध होती है उनको सूक्त सहित क्रमशः दिया जा रहा है । इसमें अस्यवामीय सूक्त दोनों प्रकार के योगों की भूमिकापुरःसर पूर्वार्द्धीय योग की अनुभूति का विवेचन वैदिक ऋषियों की नानासरणियों में देता है । इस योग का विशिष्ट वर्णन अग्नि विष्णु रुद्र पुरुष हिरण्यगर्भ इन्द्र सोम सूक्तों में—जिनके विषय का क्षेत्र ऋग्वेद तथा अन्य सहिताओं से अधिक है—विस्तारपूर्वक वर्णित मिलता है । उत्तरार्द्धीय योग का व्याख्यान अग्नि सूक्तों तथा यम, पितृ, अश्विनी, रुद्र और सूर्या के सूक्तों या वर्णनाओं में अत्यन्त विस्तार से दिया मिलता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों का अधिकांश विषय योगपरक है; शेष सृष्टि सम्बन्धी, गौण रूप में योग की व्याख्या के निमित्त दिया हुआ मिलता है ।

अस्यवामीय दीर्घतमसीय सूक्त के सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों—विल्सन, गोल्डनर, कीथ, मैक्डानल और ग्रिफिथ आदि पाश्चात्यों—ने तथा भारतीय आत्मानन्द कुन्हनराजा प्रभृतियों ने एक स्वर में कहा है कि यह सूक्त कई ऐसी अविज्ञात भावनाओं का भण्डार सा है, जो उस सूक्त युग में दीर्घतमा के समान सभी अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवताओं और ऋषियों में साधा-

रणतया सुविज्ञात था। ऐसी परिस्थितिमें ऐसी अविज्ञात भावनाओं वाले इस सूक्त के तथा इन्हीं अविज्ञात भावनाओं के धरातल में रची गई अन्य सभी ऋचाओं के समीचीन सन्दर्भ, उस युग में सर्वविदित प्रचलित परम्परानुकूल अर्थों को यदि हम समुचित रूप से अवश्यमेव जानना चाहते हैं तो हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम उस युग की उन भावनाओं और विचारधाराओं के वास्तविक मूल चित्र की पूरी पूरी खोज कर के उन्हें अपने सामने टांक लें। इस काम को पहले बिना किए हुए ही जिस जिस ने भी अब तक इस सूक्त को या अन्य सूक्तों को व्याख्या के लिए छुआ है उन सबका निर्णय अन्धेरी गुहा में बन्द हाथी की खोज में गये लोगों के नितान्त अनर्गल कथानकों का सा अवाञ्छनीय ढेर सा, भार सा, भटके लोगों को और अधिक भटकाने वाला ही सिद्ध हुआ ही है और होता रहेगा। अब तक का कोई भी व्याख्याता निश्चयपूर्वक इस दोष का अपराधी बने बिना नहीं रह सका है।

सायण ने इस सूक्त की व्याख्या शंकराचार्य प्रभृति के अवैदिक वेदान्त के सिद्धान्तों में ढाल कर करने का अधिक विफल प्रयास किया है तो पाश्चात्यों ने यास्क के देवताओं के प्राकृतेय विवरण को आधार बना कर, उससे अधिक मधुसूदन ओझा कट्टर आर्य समाजी होने से उन सनातनीय ऋषियों की भावनाओं को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सके हैं। अतः जो इनके आधार पर वेद व्याख्या करने उछले हैं वे सबसे अधिक गहरे अन्धकार में पड़ जाने के कारण लीक से बाहर और अलीक के पुजारी बन गये हैं।

लेखक ने इस प्रकार के उक्त वैदिक वाङ्मय का, होश सम्भालने से लेकर अब तक आजन्म सततावध्यासाय और परिश्रम से मन्थन करके वैदिक विश्वदर्शन की एक वास्तविक रूपरेखा खींचकर उसका व्याख्यान 'वैदिक विश्वदर्शन' नामक ग्रन्थ में पूर्णतः कर दिया है जिसका प्रथम भाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने प्रकाशित कर दिया है, दूसरा भाग छप रहा है। इस ग्रन्थ में उस चित्र को भी अधिकांश में आवश्यकतानुकूल जहां तहां संक्षेप में वर्णित करके पाठक को समझने योग्य सामग्री पूरी दी जा रही है।

दीर्घतमाः—इस सूक्त के प्रणोता ऋषि का नाम दीर्घतमाः है। कुछ भोले लोगों ने इस नाम का अर्थ 'लम्बा अन्धकार' समझा है, अतः सूक्त को 'अन्धकार में लम्बी दृष्टि' नाम तक दे दिया है। इसके माने 'दीर्घतमा लम्बे अन्धकार के कुए में डूबे थे या अन्धे थे' होता है। हमारे सभी ऋषि तो 'द्रष्टारः' 'ऋषिर्दर्शनात्' 'ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः' रहे हैं। यदि वे अन्धे होते या अन्धकार में रहते तो हमें वेद जैसे पवित्र दार्शनिक वाङ्मय को देने में

क्योंकर समर्थ होते ? अवश्यमेव 'दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः' (ऋ० वे० १-३२-१०) में 'दीर्घंतमः' नाम वृत्र का है, शरीर का है, भौतिकमर्त्य ब्रह्माण्ड का है। तब क्या दीर्घतमा ऋषि एक ऐसे ही असुर थे ? कदापि नहीं। वैदिक वातावरण के अनुकूल 'दीर्घतमाः' नाम की सीधी व्युत्पत्ति दीर्घों में वृद्धों में सर्वोत्तम वृद्धतम या दीर्घतम है। दीर्घ, दीर्घतर दीर्घतम तीन प्रकार के ऋषि होते थे जैसा कि ऋ. वे (१०-७१-७) ने लिखा है "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥" उन तीन प्रकार के ऋषियों को क्रम से अक्षिमन्तः (स्वयं देखने (आंख) वाले), कर्णवन्तः (सुनकर जानने वाले) और सखायः (सभा वाद विवाद द्वारा जानने वाले) कहलाते थे; या कोई मुख तक डूबने योग्य बावड़ी के समान थे, कोई कन्धे से नीचे या बाहों से नीचे तक डूबने योग्य तलैया के समान थे तो कोई बहुत बड़े सरोवर के समान स्नान (ज्ञान स्नान) के पूर्ण योग्य थे। इन में से दीर्घतम दीर्घतमाः ऋषि सरोवर के समान और अक्षण्वन्तः या चक्षुष्मन्तः (दुर्गा-रहस्य) सर्वश्रेष्ठ साक्षात् द्रष्टा ऋषि थे। दीर्घतमाः नाम का सकारान्त शब्द, अङ्गानां प्राणानां रसः अङ्गिराः अङ्गिरस की शैली में या 'परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः' के अनुसार 'अत्रत्यात् से अत्रिः' या 'मादुषत् से मनुष्या' के समान है। वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति की यही शैली है; उनकी व्युत्पत्ति न तो लौकिक संस्कृत की शैली में बैठ सकती है न वैदिक भाषा के मुहावरे लौकिक संस्कृत से मेल खाते हैं। इस प्रकार दीर्घतमाः ऋषि वैदिक वाङ्मय के दीर्घतम या वृद्धतम या सर्वश्रेष्ठ तम कोटि के 'यथानाम तथा गुणा' के साक्षात् 'अक्षण्वन्तः' 'चक्षुष्मन्तः' और 'ह्रदा इव' महायोगी ही थे; अन्धकार से इनकी कभी भी कहीं भी भेंट नहीं हुई, जिन्होंने ऐसा बेतुका सोचा या समझा है, सचमुच में वे ही सबसे बड़े गहरे अन्धकार में हैं, इसमें भी, विश्वास कीजिए, रत्तीभर सन्देह नहीं।

दीर्घतमा के अस्यवामीय या वामन सूक्त का विषय—वेदों में प्रयुक्त पारिभाषिक पदों को लौकिक संस्कृत के प्रचलित अर्थ में समझने वालों को वेदों के उन पारिभाषिक पदों, और उन पारिभाषिकपद-वाली ऋचाओं का अर्थ एक दम उलटा लग जाता है। जैसे 'को अद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः' (ऋ० वे० १०-१२९-६) मंत्र के अर्थ करने में सबने 'कः' शब्द को लौकिक संस्कृत की शैली में प्रश्न वाचक सर्वनाम समझ कर यह घोषणा की है कि वैदिक ऋषियों को सृष्टि विषयक ज्ञान नितान्त अपूर्ण था, क्योंकि वे तो अन्त तक प्रश्न ही उठाते रह गये हैं और इसमें प्रश्न कर रहे हैं कि 'वह कौन है जो यह जानता है, और वह कौन है जो

यह कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से कैसे उत्पन्न हुई ?'। पर वस्तुस्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। इसमें 'कः' शब्द प्रश्नवाचक सर्वनाम है ही नहीं, यहां पर यह 'कः' शब्द 'कः' प्रजापति या हिरण्यगर्भ (प्राण अमृत गर्भ मय प्रजापति) का सूचक है। वैदिक ऋषि तो घोषणा यह कर रहे हैं कि "इस सृष्टि के सम्बन्ध में, यह कहां से उत्पन्न हुई, किस प्रकार इसकी रचना हुई, इसे तो कः प्रजापति ही जानता है, उसी से हमसे इसकी रचना के बारे में कहा भी है।" कोई बहुत हठ करे तो अधिक से अधिक इन वाक्यों को उत्तरगर्भी प्रश्न कह सकते हैं। अर्थात् कौन इसे जानता है ? कः प्रजापति इसको जानता है, कौन इसको कह गया ?, कः प्रजाप्रति ने इस बात को कहा या बताया' इत्यादि। पर ऐसा स्वीकार करने से भी आगे के 'कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि ? वाक्यों के प्रश्न सन्दर्भहीन होकर निरर्थक हो जाते हैं, और पूरे को ही प्रश्नमय ही मानने पर भी यह भाग फिर भी व्यर्थ ही जुड़ा सा स्वयं प्रतीत होगा। अतः इस वाक्य का अभीष्ट अर्थ वही है जो 'कः प्रजापति' के सकेतित अर्थ में बताया गया है, अन्य अर्थ मात्र अनर्थ के हैं (हिरण्यगर्भ शीर्षक वै० वि० द० देखें)। यही परिस्थिति इस सूक्त के मंत्र ४ में आगे मिलेगी।

कुछ लोग अब यह प्रश्न उठाने में उत्सुक दिखाई पड़ सकते हैं कि दीर्घतमा आदि ऋषियों की भेट उस 'कः' नामक हिरण्यगर्भ से कहां, कैसे, किस प्रकार हुई ? जहां प्रथमों को द्वितीय ने सावधानी पूर्वक उक्त ज्ञान दिया ? इस प्रश्न का जो उत्तर है उसीको वास्तव में (उसके लौकिक संस्कृत की शैली के पर्दे में छिप जाने से) न जान सकने के कारण वेदों के मंत्रों का सत्य भाव सदा के लिए नष्ट होता जा रहा है। अब ऐसे विद्वानों का युग बीत चुका है, या अब 'अक्षण्वन्तः चक्षुष्मन्तः ह्रदा इव' विद्वानों का युग पुनः पलटने लगा है। उक्त प्रश्न का उत्तर दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त के प्रथम मंत्र में ही 'अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' वाक्य से स्पष्ट दे दिया है "कि मैंने इस कः नामक हिरण्यगर्भ को अपने सात पुत्रों सहित मूल प्रजापति रूप में साक्षात् (अपनी आखों) से देखा।" और ऐसे ही अन्य सैकड़ों वाक्यों को अन्य वैदिक ऋषियों ने भी अपने-अपने सूक्तों और वेदों में दिया है (दे० पहले)। प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि उस 'कः' प्रजापति को इन ऋषियों ने किन आखों से, किस प्रकार देखा ? इसका उत्तर केवल एक है कि 'योग दृष्टि से' 'योग प्रक्रिया से'। इस योग दृष्टि और योग प्रक्रिया की वेदों में इतनी अधिकता है कि उनका विवरण समस्त वैदिक मंत्रों को यहां उद्धृत करने को विवश कर देगा। इनका संक्षिप्त विवरण इस ग्रन्थ के आदि में ही

आवश्यकता के अनुकूल दे दिया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ में वेदों के इसी नष्ट पहलू को पुनरुज्जीवित करके विद्वानों के सामने ब्राह्मणों और उपनिषदों की वेद व्याख्या शैली में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस प्रकार इस सूक्त के विषय को आरम्भ ही से योग दृष्टि द्वारा सृष्टि दर्शन के रूप में आरम्भ किया गया है। उसी योगावस्था में दीर्घतमा ऋषि ने मंत्र २, ३, में वर्णित देवरथ या सृष्टिरथ का तद्रूप में दर्शन किया है। जब ऋषि ने उस कः प्रजापति, उसके चार भाई पलित होता घृतपृष्ठ और अश्न-मध्यम, उसके सात पुत्र (आङ्गिरस सप्तप्राणा), सप्तचक्री त्रिनाभि एक रथ को सप्तनाभी एक अश्व से खिंचता, सप्तस्वासारः, सप्तगावः और उनमें मूल वीज में स्थित अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड को अपनी उस योगावस्था की स्थिति वाली दृष्टि से साक्षात् देख लिया, तब दीर्घतमा ऋषि लौकिक दीर्घतमा ऋषि नहीं रह गये, वे तब साक्षात् उसी कः प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ रूप में अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप में परिणत हो गये। अर्थात् योग की प्रथम सीढ़ी की प्रक्रिया पूरी हो गई, उनका आध्यात्मिक शरीर स्वयं कः प्रजापति हिरण्यगर्भ रूप अखिल आध्यात्मिक भौतिक ब्रह्माण्ड में तादात्म्य पा गया। अब वे सच्चे प्राण रूप ऋषि बन गये, सच्चे दीर्घतमा या वृद्धतम महत्तम महतोमहीयान् प्राण रूप ऋषि हो गये।

अतः इस सूक्त की ऋचा ४ में—जो इस सूक्त की एक बड़ी भारी रहस्य भरी कुञ्जी है—जिसे आज तक के किसी भी व्याख्याता ने न तो समझ पाया है न खोज पाया है—इस सूक्त के अग्रिम विषय की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए दो मुख्य पात्रों को परस्पर प्रश्न करने और उत्तर देने के लिए प्रस्तावित किया गया है। इन दो पात्रों का उल्लेख इस ऋचा के निम्न वाक्य में इस प्रकार दिया है 'को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्' कि 'वह कः प्रजापति नामक हिरण्यगर्भ—या हिरण्यगर्भ में तादात्म्य प्राप्त प्राणरूप दीर्घतमा ऋषि 'अग्निर्विद्वान्' के पास पूछने के लिए गया।' यह इस मंत्र की व्याख्या में आगे विस्तार पूर्वक वर्णित किया जा चुका है, देख लें। यहां 'विद्वांसम्' नाम अग्नि का है, 'अग्निर्विद्वा-यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृत सप्ततन्तुम्' (ऋ० वे० १०-५२-४) इसका अकाट्य प्रमाण है। ऋग्वेद में अग्नि ही को विद्वान् नाम से सैकड़ों स्थलों में वर्णित किया भी गया है। जैसे १-७२-७, ८ इत्यादि यह 'अग्निर्विद्वान्' सब तत्त्वों या देवताओं का अग्रणी होने से और सब का विकास अग्निमय ही होने से सर्वा देवता तथा आदि देवता भी है। इसी आदि देवता के एक रूप कः प्रजापति को दीर्घतमा ने देखा भी है, अब यह कः प्रजापति और उस अग्नि

विद्वान् जिसके चार भाई हैं आपस में उस समाधि की अवस्था में प्रश्नोत्तर कर रहे हैं। उस कः प्रजापति ने सब से पहले प्रकाशरूप में उदीयमान होने वाले अस्थन्वन्त या अस्थिमान् तेजस्विता के स्थूल रूप भौतिक मौलिक ब्रह्माण्ड को उस अस्थन्वन्त की आत्मा रूपिणी अणिष्ठा वाक् को धारण करती हुई देखा। तब उसके मन में असु असृक् और आत्मा के बारे में जानने की जिज्ञासा होती है और तब कः प्रजापति सबसे प्रथम प्रश्न इन्हीं के बारे में 'क्स्वित्' शब्द द्वारा करता है, और इसके आगे मंत्र ५,६,७ में अनेकों प्रश्न किए हैं जिनका उत्तर अग्निर्विद्वान् ने मंत्र ८ से लेकर मंत्र १६ तक दिया है। फिर मंत्र १७, और १८ में उसी ने दूसरे प्रकार के मूल प्रश्न उठाये हैं जिनका उत्तर अग्निर्विदान् ने मंत्र १९ से मंत्र ३३ तक दिया है। यहां पर मंत्र ३२ के पूर्वार्द्ध 'य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्' के अर्थ में भी इसी योग के वातावरण का व्याख्यान होने से उन लोगों को जिन्होंने इस वातावरण के बारे में स्वप्न में भी नहीं सुना है इसमें भी 'को श्रद्धा वेद' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। परन्तु यहां जो अर्थ अभीष्ट है वह यह है 'जिस अग्निर्विद्वान् ने इस प्राण रूप सृष्टि की रचना की है वह प्राण सदा ही सबके लिए एक अविज्ञात विषय है 'प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह० उप-१-५-८) और वह अग्नि स्वयं प्राण रूप है 'जैसा बाप तैसा आप' दोनों ही सदा ही अविज्ञात या पूर्णत अविज्ञेय तत्त्व हैं. उन्हें पूरा पूरा नहीं जाना या समझा जा सकता, यह नहीं कि उन्हें कोई जानता ही नहीं है, इनकी शाब्दिक व्याख्या कठिन है, इन्हें अनुभूति मात्र से, योग से, जाना जाता है। जिसने योग द्वारा इन्हें जान लिया, उसके सामने यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि तिरोहित सी हो जाती है। वह इनमें केवल उसी प्राण रूप अग्निर्विद्वान् को ही देखने का आदी या अभ्यस्त हो जाता है। अतः यहां भी 'न अस्य वेद' का वह अर्थ नहीं है जो विद्वानों को अभाषित हुआ या होता है। अस्तु प्रश्नावली अभी पूरी नहीं हुई है। कई शेष ज्ञेय विषयों के बारे में मंत्र ३४ से पुनः नये प्रश्नों का दौर चलता है। इनका उत्तर अन्तिम ५२वीं ऋचा तक समाप्त होता है।

इस प्रकार यह पूरा सूक्त चार मुख्य भागों में बटा है (१) प्रस्ताव—(मं १-४ तक) अग्निर्विद्वान् का वर्णन, और विश्पति या कः का विवेचन योग समाधि की स्थिति में; (२) कः प्रजपति का अग्निर्विद्वान् के पास (मंत्र ५-६, ७ से) जाना और कई प्रश्न पूछना और उनका समुचित उत्तर मंत्र ८ से १७ तक देकर (३) पुनः मं० १७ से ही द्वितीय प्रश्नावली उठाकर मं०१८ भी प्रश्न रूप में कहना और उनके उत्तर मंत्र १८ से ३३ तक देना और (४) मंत्र ३४

में पुनः बड़े विशालोदर प्रश्नों को उठा कर उनके एकाक्षरीय उत्तरों को मंत्र ३५ में ही देकर उनकी विस्तृत व्याख्या मंत्र ३६ से ५२ तक में करना। यह ध्यान रहे इस सूक्त में प्रश्नकर्ता कः प्रजापति है जिसे आगे चलकर 'पाकः' योग प्रक्रिया परिपाक क्रिया रूप का प्रजापति भी कहा गया है, और सब प्रश्नों का उत्तर देने वाला अग्निर्विद्वान् ही है। इस प्रकार के एक सरल शृङ्खला सुसम्बद्ध वैजयन्ती माला सम इस अनूठे सूक्त को जिन भद्र लोगों ने बिखरे मंत्रों का एक कबाड़ीखाने के समान असम्बद्ध संकलन कहने का साहस किया है उनकी बुद्धि की जितनी ही अधिक प्रशंसा की जाये वह भी कम ही होगी।

इस सूक्त के विषय—सम्बन्धिनी संदर्भ की इतनी लम्बी गाथा गाने का कारण यह है कि अधिकांश लोग इसे या तो 'ब्रह्मोद्य' या यज्ञशाला में पुरोहितों के संक्षिप्तोत्तर गर्भी प्रश्नावली समझते हैं या कई धुरंधर विद्वान् कहते हैं कि यहां पर ऋषि प्रकृति की अलौकिकता पर आश्चर्य चकित होकर उसके स्रोत को जानने की जिज्ञासा में अपने मन में बालसुलभ से प्रश्न कर रहा है। ये दोनों मत नितान्त निराधार हैं। वैदिक ऋषियों का एक निश्चित दर्शन है; उसकी व्याख्या की अनन्त शैलियां हैं; उन्ही को यहां पर एक एक करके बहुत ही संक्षेप में प्रश्नोत्तरों के रूप में संगठित किया गया है। हमारे ऋषिगण उस प्रकृति से परे के तत्त्व हैं, जिनको देख कर उक्त मत वाले स्वयं प्रमत्त होते हैं, नहीं समझ सकते, अतः अपनी इस अनभिज्ञता का प्रतिबिम्ब उन ऋषियों में भ्रमात्मक रूप से देखते हैं। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के मौलिक स्वरूप ही को असुर आसुरी शत्रु भ्रातृव्य आदि नाम दिए हैं, वे इसे न जान गये होते तो भला ऐसा क्यों कहते ? उन्होंने इस सृष्टि के अणु अणु कण कण को हस्तामलकवत् स्पष्ट देख लिया था, जैसा देखा था उसी का इसमें अपनी प्रचलित भाषा में वर्णन भी दिया है, वे प्रकाश में थे, प्रकाश डालते हुए कह गये हैं। उनके सामने अपने वर्ण्य विषय; अपने दर्शन का पूर्ण चित्र जैसा पहले बताया जा चुका है—टंका है जिसकी वे व्याख्या करते जा रहे हैं।

विषय को दृष्टि पथ के रखते हुए इस सूक्त में तत्त्वों का वर्णन जिस रूप में किया हुआ मिलता है उसका अधिकांश भाग मुख्यतः योग की प्रक्रिया का वर्णन देता है, ऋषि ने यहाँ जिन जिन तत्त्वों को देवताओं के नामों से वर्णित किया है, वे अधिकांश में योग प्रक्रिया से अधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं। बातें भी योग की समाधि अवस्था में हो रही हैं। प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाले भी समाधिस्थ तत्त्व हैं, वे हैं कः या पाकः और अग्निर्विद्वान्। अतः यह सूक्त पूरे का पूरा योग से ओतप्रोत और योगमय या योगप्रधान ही है, सृष्टि प्रक्रिया

उसी से जान लेनी पड़ेगी। योग प्रक्रिया प्रयोग या वियोग या सृष्टि प्रक्रिया से एकदम विपरीत दिशा गामिनी प्रक्रिया है। इस विपरीत गामिनी योगप्रक्रिया का—जिसे उपनिषदों में अतिसृष्टि नाम से पुकारा गया है—वर्णन भी इस सूक्त ने अपने विषय की दूसरी बड़ी महत्वपूर्ण तालिका के रूप में मन्त्र १७, १८, १९ में से विशेषकर मंत्र १९ में बहुत ही स्पष्टतया इस प्रकार दिया है।

'ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहु र्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः" "अर्थात् जिन तत्त्वों को सृष्टिपक्ष में अर्वाञ्च या पूर्वार्द्धीय कहा जाता है उन्हीं को योग पक्ष में पराच या परार्द्ध या उत्तरार्द्ध का कहा जाता है, और जिनको सृष्टिपक्ष में परार्द्धीय या उत्तरार्द्धीय या पराञ्च कहते हैं उन्हीं की योग प्रक्रिया में अर्वाच या पूर्वार्द्धीय कहते हैं।"

अब तक के किसी भी व्याख्याता को इस मंत्र का न तो सन्दर्भ ज्ञात हो सका है न इसका अर्थ उनकी समझ में आ सका है : सब ने इसकी ऊल जलूल मनमानी बेतुकी व्याख्या की है। जिन्हें इसके विषय ही का ज्ञान नहीं है वे इसकी व्याख्या करने कैसे चल पड़े यही आश्चर्य की बात है। जिसे इस ऋचा का अर्थ नहीं लगा उसे इस सूक्त के किसी भी मन्त्र का अभीष्ट अर्थ नहीं लग सकता, यह निर्णय भी यही ऋचा स्वयं कर देती है। अतः दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त में दो दीर्घतम प्रकाशस्तम्भ रूप दो मंत्रों को—मंत्र ४ और मत्र १९ को—सूक्त के भावसागर की लहरियों को देखने और पहचानने के लिए जाज्वल्यमान रूप में खड़ा कर दिया है। जो इन्हें ही नहीं समझ पाया उसके लिए इसी सूक्त की वाणी में 'किमृचा करिष्यति' वाक्य पूर्णतः सार्थक है।

सूक्त के विषय के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों की प्रणाली के अनुसार सूक्त के मंत्रों की संख्या, प्रत्येक मंत्र का छन्द और देवता का वर्णन या नाम देना आवश्यक है; मंत्ररचयिता ऋषि का नाम तो सबसे पहले दिया जाता है, इस सूक्त के सभी मंत्रों के रचयिता का नाम दीर्घतमा है यह तो बताया जा चुका हैं। मंत्र संख्या के बारे में कुछ लोगों ने व्यर्थ में संशयात्मक बतंगड़ खड़ा कर दिया है। इस सूक्त में ५२ मंत्र हैं। पर ऐतरेय आरण्यक (५-३-२) ने लिख दिया है कि इस दीर्घतमा ऋषि के अस्यवामीय सूक्त में केवल ४१ मंत्र हैं जिसका प्रारम्भ 'अस्यवामस्य पलितस्य होतुः' से होता है और अन्त 'सलिलस्य' से (जैसे अस्य वामस्य पजितस्य होतुरिति सलिलस्य दीर्घतमस एकचत्वारिंशतम्'।) इसका यह आशय हुआ कि सूक्तों की मंत्रसंख्या, ऋषि, छन्द और देवताओं का प्रामाणिक वर्णन देने वाली शौनक की सर्वा-

नुक्रमणिका का यह लिखा हुआ कि—इस सूक्त में ५२ मंत्र हैं और इनमें से प्रथम ४१ मंत्रों के देवता विश्वेदेवता हैं और शेष ११ के तत्तद् पृथक् पृथक् देवता—सरासर झूठ है। आपको यह सुनकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि किसी एक महाशय ने इस कथन को केवल अपना ही नहीं लिया वरन् अनुक्रमणिका की और भद्द उड़ाते हुए से इस कथन की पुष्टि में ४२-५२ तक के ११ मंत्रों को इस सूक्त में व्यर्थ सिद्ध करने के साथ साथ यह कह दिया है कि इनको बाद में किसी ने प्रक्षिप्त या संकलित करके इसमें जोड़ कर नवीन संस्करण का रूप दे दिया। वेदों के सम्बन्ध में विना आगा पीछा देखे, विना उस युग की परिस्थिति को सामने रखे, अपनी कुछ असम्बद्ध बातों को साहसिकता या ढिठाई से उगल देने से—जैसा कि हजारों ने हजारों प्रकार की ऐसी ही अन्य बातें कही हैं—वेदों के वास्तविक स्वरूप में न आज तक आंच आ सकी है न आ सकेगी। क्यों कि सत्य तो सत्य ही है, वह सदा सत्य या सूर्य के समान चमकता ही रहेगा।

वस्तुस्थिति यह है। ऋग्वेद की छह शाखायें हैं (१) शाकल (२) वाष्कल (३) आश्वलायन (४) शांखायन (५) माण्डूकायन और (६) ऐतरेय (महीदासीय)। इनमें से प्रत्येक शाखा के सूक्तों और उक्त सूक्तों के मंत्रों की संख्या में कमी वेशी है। जैसे अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार शाकल से वाष्कल शाखा में आठ सूक्त अधिक हैं। और ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ ऐसे मंत्र और सूक्तों के प्रतीक मिलते हैं जो आजकल के उपलब्ध शाकल ऋग्वेद में नहीं मिलते, वे आश्वलायन श्रोत सूत्र और अथर्व में मिलते हैं। अतः ऐतरेय आरण्यक (५-३-२) का उक्त उल्लेख जिसमें अस्यवामीय सूक्त में केवल ४१ मंत्रों का निर्देश मिलता है वह इसी ऐतरेय शाखा के ऋग्वेद में छाँटे गये मंत्र हो सकते हैं। प्राचीन ग्रन्थों ने तो इस ऐतरेय शाखा का उल्लेख तक नहीं किया है, प्राचीन ग्रन्थों में इसको छोड़ कर शेष पांच ही शाखाओं के नाम दिए हैं। अतः इसकी प्रामाणिकता भी संशय से हीन नहीं हैं। अन्य शाखाओं में इसके ५२ ही मंत्र रहे होंगे, नहीं तो सर्वानुक्रमणी को बढ़ा चढ़ा कर कहने में उसे तो कोई लाभ नहीं हुआ, न उसका कोई स्वार्थ रहा। उसने अन्य सूक्तों की तरह इसकी संख्या सत्य रूप में दी है। पुरुष सूक्त के मंत्रों की संख्या में भी इसी प्रकार की भिन्नता है ऋग्वेद में १६ है, यजु० में २२, अथर्व में १६ वें के बदले मन्त्रान्तर भी है, और सभी वेदों में इनमें से प्रत्येक मंत्र में कुछ न कुछ पाठान्तर भी हैं। अतः उक्त प्रकार का निर्णय जिस किसी भी भले मानुष का हो नितान्त गर्हणीय है।

हां उनकी यह बात तो रह ही गई है कि उक्त शेष ११ मंत्रों में एक तो नवीन विषयों का प्रवेश है, दूसरे वे यहां असम्बद्ध हैं, तीसरे इनमें से कई मन्त्र अन्यत्र भी मिलते हैं। सबसे पहले धुरंधरों ने यह कहा है कि मंत्र ४२ में क्षर अक्षर विद्या का वर्णन है यह विद्या बाद में विकसित हुई है, अतः बाद में जोड़ी गई! धन्य हो। इस अक्षर और क्षरविद्या का विवेचन तो इसी सूक्त के ३९ (ऋचो अक्षरे) और मंत्र ४१ (गौरी'''सहस्राक्षरा परमेव्योमन्) में—जिन मत्रों को ये प्राचीन बता चुके हैं—स्पष्टतः पूर्णतः दे दिया गया है। इस ४२ वें मंत्र में इनके सम्बन्ध की अवशिष्ट विशिष्ट बात बताई गई है। और मंत्र ४३ के उक्षा नामक वृषभ को जिसका वर्णन कई स्थलों में आने के समान ऋ० वे० १०-२८, १०-२७ में भी मिलता है – समझने की शक्ति इनमें नहीं है, कि यह मंत्र क्या कह रहा है ? ये उसका क्या अर्थ समझे हैं ? इन दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है (आगे इसका अर्थ देखें)। अतः इसके सम्बन्ध की इनकी बातें इनकी ही बड़ी भारी पोलें खोल रहे हैं। मंत्र ५० वां पुरुष सूक्त में मिलता है। यह मंत्र मूलतः इसी सूक्त का है, उसे पुरुष सूक्त में अपनाया गया है, न कि इसके उलटे। क्योंकि इसका सम्बन्ध साक्षात् योग से साध्या और आङ्गिरसों के योग से है (ऐ० ब्रा० देखें)। मत्र ४१ में सरस्वती का वर्णन मंत्र ३५ के 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' के 'वाचः' का सरस्वती रूप में वर्णन देता है, स्तुति प्रार्थना नहीं; यह वाक् धेनु रूप विवेचन है जो उपनिषदों में अतीव प्रसिद्ध है, वाचमष्टापदी' का भी है जिसको माता और वत्सरूप में इसी सूक्त में दूसरे ढंग से पहले व्याख्यात किया गया है, ८, ९, १०, २६, २७, २८, २९, ४०, ४१, ४५, मंत्र सब इसी का वर्णन देते हैं। यहां अवशिष्ट रूप का वर्णन दे देना अभीष्ट है। ऋ० वे० १०-१३१ में भी पाये जाने वाले विषय के मन्त्र ४४ के 'त्रयः केशिनः' का वर्णन वैदिकों के ऋतुमय-ऋतुमय अग्नि वायु आदित्य के मूल दर्शन की एक झांकी देता है, जिनके त्रिवृत् को यहां केशी नाम दिया है। यह पुरानी, बहुत पुरानी बात है। अतः यह सूक्त पूरे ५२ मन्त्रों का ही मौलिक रूप में था। प्रत्येक मन्त्र आदि से अन्त तक एक सूत्र और एक शृंखला में बँधा है।

टिप्पणी॥ इस प्रकार इन ११ मन्त्रों के निर्णीत देवताओं की सत्यता को उचित रूप से स्थापित कर देने पर यह सिद्धान्त भी निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत हो गया है कि मन्त्र का देवता वह होता है जिसका उस मन्त्र में प्राधान्यतया विवेचन दिया या किया गया है, न कि वे सब देवता, जिनके नाम उस प्रधान

देवतारूप तत्त्व की व्याख्या पूर्णरूप से देने में सहायक या गौण रूप में लाना आवश्यक हो गया था। कुछ ऐसे ही भोले या भूले भटकों ने मन्त्रों के ऐसे ही सहायक या गौण रूप में आये देवताओं के नामों से ठगाकर उन्हीं को तत्तद् मन्त्रों का देवता घोषित कर डाला है। इस लाचारी से इन देवताओं के नाम पहले बतलादेनेपर भी प्रत्येक मन्त्र के देवता नाम यहां पर मन्त्रशः दे देना आवश्यक हो गया है। क्योंकि इसके बिना पाठकों के भ्रम को हटाने का दूसरा द्वार ही नहीं दीखता।

मन्त्र १—अग्निः। मन्त्र २,३ (मुख्य प्राण या अमृत प्राण रूप) अश्वः या अश्वाः (रथ इनका शरीर है गौण है)। मन्त्र ४—कः प्रजापतिः (इसमें कः प्रजापति का अग्निर्विद्वान् के पास प्रश्न करने जाने का कारण बताया है जो गौण है)। मन्त्र ५,६,७ पाकः कः प्रजापतिः (अग्निर्विद्वान् से प्रश्न करता है) जिनके बारे में प्रश्न हैं वे गौण हैं एक-एक मन्त्र में कई-कई भी हैं। मन्त्र ८,९,—माता पृथिवी मही (शेष देवता इसी की व्याख्या में सहायक हैं) मन्त्र १०—(अनिरुक्ता वाक् का पुत्र) सोम (शेष गौण हैं)। मन्त्र ११,१२,१३—संवत्सरात्मा (ब्रह्म)। मन्त्र १४—चक्षुः (सूर्यः)। मन्त्र १५—दैव्याः ऋषयः। मन्त्र १६—पुमान् [पुरुष अग्निः—'पिता देवानां पुत्रः सन्' = 'स पितुष्पिता सत्' (ऋ० वे० १-६९-१(२)) योग में] मन्त्र १७,१८—कः प्रजापतिः (प्रश्नकर्ता)। मन्त्र १९—अग्निर्विद्वान्—उत्तरदाता (तीनों में योग का वर्णन, समाधि में वार्तालाप या प्रश्नोत्तर) मन्त्र २०,२१, २२—चतुष्पदी गायत्री और अग्नीषोमौ। (सुपर्ण छन्दःशरीरी अग्नि हैं, अमृत मधु पिप्पल आदि सोम है)। मन्त्र २३, २४, २५—ग्ना देवपत्न्यः छान्दसी देवियां (गायत्री प्रभृति) (अग्न्यादि देव इसमें गौण हैं)। मन्त्र-२६, २७, २८—अदितिः (द्यावापृथिवी) गौः। मन्त्र-२९,—वाक् धेनुः। मन्त्र ३०—प्राणः (वायुः 'एको देवः स वायुः' बृह-उप)। मन्त्र-३१—विष्णुः या त्रिपादामृत अग्निः (गोपाः)। मन्त्र ३२-३३,—प्रजापतिः कः (प्रश्न कर्ता पाकः कः की उत्पत्ति का वर्णन उसी को अग्नि बता रहा है, कि तुम ऐसे जन्मे)। मंत्र ३४—कः पाकः प्रजापतिः (प्रश्न कर्ता; प्रश्न अग्नि से)। मन्त्र ३५—अग्निः (उत्तर दाता)। मन्त्र ३६—रेतः (सोमः)। मन्त्र ३७, ३८—वाचः (प्राणाः)। मन्त्र ३९ - (अक्षर ब्रह्म) विद्या (ॐकार)। मन्त्र ४०—अघ्न्या (अदिति द्यावापृथिवी) गौः। मन्त्र ४१—गौरी (सहस्राक्षरा वाक्, आपो देव्यः)।

यहां तक यह सूक्त समाधि यज्ञ का ब्रह्मोद्य सा है जिसमें मुख्यतः दो पात्रों—कः या पाकः प्रजापति और अग्निर्विद्वान्—का पारस्परिक प्रश्नोत्तरी कथो-

पकथन है। अतः पूरे सूक्त के मुख्य देवता यही हैं अन्य देवताओं को मन्त्र में प्राधान्य पाने के कारण सन्दर्भ बल से निर्धारित कर दिया है जिन्हें विश्वे-देवता इसीलिए कहा जाता है कि समाधि में इन्हीं की जागृति या आहुति की जाती है और इनके विना योग असाध्य है।

मंत्र ४४—अग्निः सूर्यः वायुः। इस मंत्र के 'त्रयः कोशिनः' नाम कुछ लोगों को नये जचे हैं। यह शब्द ऋग्वेद में १-६-७; १-१६-४ से १०-१३१ तक १४ बार आया है। इसका अर्थ कपर्दी है जिसको उपनिषद् त्रिवृत् कहते हैं। अतः यह नवीन नहीं बहुत प्राचीन है। प्राचीनों ने त्रिपादामृत को त्रियुग या तीन मुख्य ऋतु रूप केशी या कपर्दी रूप में वर्णित करके इनका क्रम से अग्नि वायु आदित्य से तादात्म्य किया है। कोई नई बात नहीं है।

मंत्र ४५-वाक्, यह तो स्पष्ट ही है। इसमें सन्देह का अवसर नहीं है। यह भी त्रिपादामृत को तीन पदों को (तीन केशी रूपों को) गुहास्थ मानता है। यह पद वर्णना है, पाद वर्णना नहीं।

मंत्र ४६, ४७-सूर्य। मंत्र ४६ में तो १० देवताओं के नाम हैं। यदि मंत्र में आये नाम ही मंत्र के देवता होते तो मंत्र ४६ के देवता इन्द्रादि १० कहे जाते। पर इसमें इन दशों से भिन्न केवल एक ही 'सूर्य' को—जिसका इस मंत्र में कहीं नाम नहीं है—इस मंत्र का देवता माना गया है। इसके यह माने होता है कि यह चतुष्पाद्ब्रह्म रूप अग्नि या सूर्य का वर्णन देता है जिसको विभिन्न शैलियों में उक्त १० देवताओं के नाम से पुकारा जाता है। यास्क ने इसका देवता अग्नि ही माना है। ये अग्नि के ही विभिन्न नाम हैं। इस मंत्र में दिव्यः सुपर्ण और गरुत्मान् का नाम आया है। दिव्य, सुपर्ण चन्द्रमा या सोम है, गरुत्मान् सूर्य है। मंत्र ४७ में भी इसी सुपर्ण गरुत्मान् का वर्णन है अतः इसका देवता भी सूर्य ही हुआ। इस मंत्र में तो आपः, द्यौ, पृथिवी, धृतं, ऋत नाम भी हैं, पर ये नाम सुपर्ण सूर्य की व्याख्या के लिए गृहीत हैं। अतः वे इसके प्रधान विषय न होने से इसके देवता नहीं हो सकते।

मंत्र ४८-संवत्सरात्मा कालः—इसका देवता कलामय संवत्सर (या सूर्य ही) है जिसे संवत्सर (रूप 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') या आत्मा (रूप सूर्य) कहते हैं। सृष्टि का विकास या अतिसृष्टि की अनुभूति बिना इन कलाओं की सीढियों को माने या अपनाये वैज्ञानिकतया न बैठ सकती है, न हो सकती है। अतः यह यहाँ पर बिलकुल सम्बद्ध विवेचन है जो इसे असम्बद्ध समझते हैं व इस विषय को नहीं समझ सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

मंत्र ४९ सरस्वती–यह पहले वर्णित गौरी वाक् की सलिलात्मा की नदी रूप विकास धारा वाहिनी रूप सरस्वती सरोवरमूलवती रसवती वाक् धेनु है जिसके चार स्तनों में से अन्तिम चतुर्थ स्तन का अवशिष्ट विषय का विवेचन देना इसमें आवश्यक हो गया था।

मंत्र ५०–साध्या देवाः—यह वाक् के विकास का मूल आधार रूप छन्दोमय देवताओं का विवेचन है। इनका वर्णन पद वर्णन में ('निहितं पदं वेः' के उत्तर में) किया जा चुका है, यहां इनको 'साध्या देवा' इनके पृथक् प्रसिद्ध नाम से व्याख्यात किया गया है जिससे वाक् का वर्णन सर्वाङ्गीण हो जाय। साध्या-देवा नाम छन्दाक्षरों में विकसित देवताओं का भी नाम है इन्हें योगी के रूप में ही वर्णित किया जाता है, यहां भी किया भी गया है। यह सूक्त योग प्रधान है, इसलिए भी इसका विवेचन आवश्यक था। पुरुष सूक्त में इसे यहीं से उधार लिया गया है। वहां यह छन्दाक्षरीय विकास रूप 'यज्ञ' नाम से उचित रूप में गृहीत किया गया है, वह यज्ञ भी योगयज्ञ ही है।

मंत्र ५१—आपः पर्जन्य अग्नियाँ—इसमें मुख्यतः आपः का वर्णन है, उसके दो रूपों में अग्नि और पर्जन्य आपः है, सूर्य नहीं। अहः नाम दिन वाचक है, अन्य दोनों का नाम और इनका प्रधान वर्णन भी इसमें है ही। इस मंत्र के बारे में आत्मानन्द टीकाकार और शौनक ने व्यर्थ में उलझन पैदा कर दी है। वे इसे अध्यात्म या आत्मा देवता का मंत्र समझते हैं। उन्हें अध्यात्म शब्द का ही अर्थ विदित नहीं है। इसका अर्थ देवता नहीं देवता का शरीर वाक् चक्षु आदि होता है। यहां सूर्य देवता नहीं है, निरुक्त (७–२३) इसे वैश्वानर कहता है। स्कन्द का इसे अधियज्ञ कहना भी अनुचित है। अधियज्ञ नाम तो पुरुषोत्तम प्राण का है, 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' (गीता)।

मंत्र ५२—सरस्वान् या सूर्य—यहां सुपर्ण नाम सूर्ण का है ही, वास्तव में यहां सरस्वान् का वर्णन प्रधान है अतः यही इसका मुख्य देवता है। वैसे सुपर्ण के साथ वायस भी इसमें गौण रूप में वर्णित है।*

अब प्रश्न यह है कि इस सूक्त के ४१ मंत्रों के देवताओं को एक नाम से—विश्वेदेवता नाम से—क्यों पुकारा है? विश्वेदेवता क्या तत्त्व हैं? यदि यह विदित हो जाय तो सब समस्या सुलझ जाय। विश्वेदेवता वे देवता हैं जो भौतिक आत्मा के खोल को पहन चुकते हैं। दूसरे शब्दों में विश्वेदेवता माने वे देवता हैं जो विभिन्न प्राणों की आत्मा या देवता हैं। देवता माने आत्मा है, विश्वे माने भौतिकात्मीय शरीर या प्राण। यह सूक्त प्रायः योगमार्ग की व्याख्या

देता है। योग में इन्हीं देवताओं की जागृति या उद्दीप्ति या अनुभूति की जाती है। अतः इस सूक्त के प्रधान देवता वे ही विश्वेदेवता हैं जिनके नाम तत्तद् मंत्र में उद्धृत किये गये हैं। इन सभी विश्वदेवताओं में दो मुख्य देवता होते हैं जिन्हें अग्नि (विद्वान्) और कः या पाकः प्रजापति कहते हैं। इस सूक्त के मंत्रों का वास्तविक विषय-जैसा बताया जा चुका है—इन्हीं दो के प्रश्नोत्तरों का शरीर है। अतः इस सूक्त के मुख्य देवता ये ही अग्नि और प्रजापति ही हैं। अन्य विश्वेदेवता पृथक् पृथक मन्त्रों के विषय हैं जो मन्त्रों की व्याख्या में ही स्वतः स्पष्ट हैं, उनके नाम यहां पर लिखना व्यर्थ में कागज पोतना सिद्ध होगा। इसी धारणा से सर्वानुक्रमणी ने भी प्रत्येक मन्त्र के देवता का नाम देने की आवश्यकता नहीं समझी जिसका मतलब भोले लोगों को यह लगा है कि इनकी दृष्टि से इस सूक्त के संकलनकर्ता को इसके प्रत्येक मन्त्र के देवता का ज्ञान नहीं था, वाह! क्या कहने हैं, उन्हें पता नहीं है जो रचना कर रहे हैं, और इन्हें पता है जो उन मन्त्रों के आशयों को ही रत्तीभर भी नहीं समझ सके हैं? हद्द हो गई!

अनुकमणिका का अनुसरण करके मुद्रित ग्रन्थों ने मंत्र ४२ से ५२ तक के ११ ऋचाओं के देवताओं के नाम इस प्रकार दिए हैं। मंत्र ४२—वाक् आपः, समुद्र और अक्षर। इसमें समुद्र और अक्षर नाम तो मंत्र में हैं, आपः और वाक् नाम इसके पूर्ववर्ती मंत्र के सन्दर्भ से प्राप्त अर्थ की सन्तान से गृहीत हैं। इसका यह आशय होता है कि अनुक्रमणी इस मंत्र को ४१ मंत्रों से पृथक् नहीं, उन्हीं से सम्बद्ध या ग्रथित मानती है। यदि मन्त्र में आये नामों को ही देवता माना जाना अभीष्ट होता तो इस मन्त्र में आये 'प्रदिशः' शब्द से इसके देवता दिशायें भी होनी चाहिए। ऐसा नहीं किया गया। अतः मन्त्र का वही देवता माना जाता है जिसका उसमें प्राधान्यरूप से वर्णन हो। मन्त्र-४३—शकघूम और सोम। यहां पर शकमयं या धूम या भौतिकता का प्रथम आभास तथा उसके पाक से निष्पन्न 'उक्षा' या सोम ही इस मन्त्र का मुख्य विषय है। अतः इन्हीं को इसका देवता माना गया है, नहीं तो वीराः (प्राणाः) और धर्माणि को भी देवताओं में गिनना आवश्यक होता। जिनको वैदिकदर्शन के मौलिक तत्वों का ज्ञान नहीं है वे इस उक्षा को नहीं समझ पाये हैं। उक्षा माने वीर्य सिंचन समर्थ महाबली युवातम सोम रूप वृषभ है। उसको न तो जिन्दा न मारकर पकाया जाता है, पर उसको बालक या बाली की तरह परिपक्व युवातम रूप में भरपूर जवानी के रूप में पकाया या परिपक्व बनाया जाता है, इसी का वर्णन १०-२८-३ में आ गया तो क्या हुआ, इसी

प्रकार के वर्णन सैकड़ों स्थलों में हैं। उक्षा का नाम ऋग्वेद में ३० स्थलों में आया है, जहां यही अर्थ अभीष्ट है।

पाठकों के समझने की सुविधा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या में मन्त्रों के क्रम में कुछ हेर फेर किया गया है। जैसे मन्त्र २, ३ के विषय और मन्त्र १३, १४ के विषय में कुछ कुछ समानता है, अतः मन्त्र १३, १४ को मन्त्र २, ३ के साथ साथ व्याख्यात किया गया है। इन्हीं चार मन्त्रों के अनुरूप विषय वाले मन्त्र ११, १२, और ४८ भी हैं। अतः इन्हें भी इन्हीं उक्त चार मन्त्रों के तुरन्त पश्चात् साथ-साथ वर्णित कर दिया है। फिर मन्त्र ४ से १९ तक का विवेचन लगातार क्रमबद्ध दिया गया है। पर मन्त्र १९ वें में कुछ विषय ऐसा आया है जिसका विशिष्ट विवेचन मन्त्र ४९ में मिलता है। अतः इस ४९ वें मन्त्र को मन्त्र १९ वें के साथ साथ विवक्षित कर दिया गया है। मन्त्र २०, २१, २२ के व्याख्यान में मन्त्र २० के पश्चात् पहले मन्त्र २२ तब मन्त्र २१ की व्याख्या दी गई है। क्यों कि विषय के अनुसार यह क्रम उत्तम जचा है। इनमें सुपर्णों का वर्णन है। पर 'एकः महासुपर्णः' का वर्णन मन्त्र ५२ में तथा कई सुपर्णों का मन्त्र ४७ में मिलता है। अतः इनका व्याख्यान इन्हीं तीन मन्त्रों के सन्दर्भ में मन्त्र २१ के पश्चात् मन्त्र ४७ का, तदनन्तर मन्त्र ५२ का औचित्य और विषयानुरूपता के कारण किया गया है। क्योंकि इन सुपर्णों के मुख्य शरीर छन्दोमय देवताओं का वर्णन मन्त्र २३, २४ और २५ में दिया गया है। इसके पश्चात् २६ वें से व्याख्या क्रमबद्ध है, केवल उनको छोड़ कर जिनका व्याख्यान पहले दे दिया गया है। व्याख्या के इस क्रम का कोई दूसरा आशय न लगा देने की प्रार्थना है। सब मन्त्र अपने अपने वास्तविक क्रम और स्थान में उचित रूप से पिरोये हुए हैं। जिनको यहां विषय की समानता या अनुरूपता के बहाने उक्त क्रम में रखा गया है वे अपने अपने स्थान में अपने अनुरूप या समान विषय वालों (जिनके साथ उन्हें यहां रखा गया है) से नितान्त विभिन्नता और विषमता भी रखते हैं, पुनरुक्ति किसी में नहीं है, एक ही विषय को नाना पहलुओं में रखकर प्रस्तुत किया गया है। उक्त क्रम केवल पाठकों की मात्र सुविधा के लक्ष्य से रखा गया है, और व्याख्या में भी एक ही बात बार-बार दुहराने की बचत भी हुई है।

मन्त्र १ "अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥"

इस मन्त्र और आगे के मन्त्र १६, में जिस 'पुत्रः' और ९, २७, २८ में जिस वत्स नाम की चर्चा आई है वह कौन पुत्र है? इसका स्पष्टीकरण दीर्घतमा ऋषि ने अपने इस सूक्त के सर्वप्रथम मन्त्र में ही दे रखा है। ये पुत्र रूप तत्त्व एक नहीं, सात हैं। इन सात पुत्र रूप तत्त्वों को दीर्घतमा ऋषि ने

योग प्रकिया द्वारा साक्षात् अपनी ज्ञान या योग चक्षुओं से देखा था, अतः वे स्पष्ट लिख भी गये हैं 'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्' कि मैं ने योगस्थिति में या योग की परिस्थिति में विश्पति या प्रजापति (चन्द्रमा सविता देवता) को अपने सात पुत्र रूप सात प्राणों या सप्ताङ्गिरस (ऋषियों जिनको 'स्त्रियः सतीस्तां पुंस आहुः' कह गया है) सहित देखा था। इन्हीं पुत्ररूप प्राणों से इन प्राणों या देवता रूप पुत्रों की अतिसृष्टि करने पर योग में इन्ही पुत्रों को देवताओं का पितर कहा जाता है।

वाम तत्त्व क्या है ?—इस सूक्त का 'वाम' तत्त्व क्या है ? यह भी एक पहेली सी है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग ५५ वार हुआ है जिनमें से ४९ वार अकेले तथा छह वार वामजाता, वामदेव, वामनीति और वामभाज रूप में प्रयुक्त मिलता है। इन सब प्रयोगों से यह वाम तत्त्व सर्वा देवता रूप में प्रयुक्त मिलता है क्योंकि कहीं इसको 'शेवम् अतिथिम्' कहा है, कहीं गृहपति, सुवितम्, द्रविणम्, 'वामस्य वेः' कहीं (वामस्य) 'ओजः' शुष्णम्, वसुनः, क्षत्ता, प्रणीति, वामभाजः, भक्तये, इत्यादि; कहीं 'ईशानासः' वामाया स्तोमं चिकेत, वामिः प्रणीतिः, वामिः ईशः, तथा दो स्थलों में 'वामा विश्वा', तीन स्थलों में 'वामनि विश्वानि धीमहि' लिखा है, एक स्थल में 'वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगा वामं देवः करूलती॥ (ऋ० वे० ४-३०-२४)। इसमें प्रत्येक देवता को वाम कहा गया है। प्रत्येक देवता तो वाम वमनीय दैवी है, भौतिकात्मा उसका दक्षिण है, उत्तरोत्तर के विकसित देवता भी पूर्व पूर्व के दक्षिण ही हैं। द्वित्वरूप में, एक स्थल में 'वामेन सह' तथा इस प्रस्तुत मन्त्र में तो 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इत्यादि के द्वारा इसके चार भाइयों का वर्णन दिया मिलता है। अतः इसका सर्वादेवता रूप का वर्णन निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाता है। वैसे वामदेव नाम एक प्रसिद्ध तत्त्व रुद्र का भी है, वह भी सर्वा देवता है, ईश्वर ईशान ईश यही तत्त्व है, इसी को 'महो देवो' या 'महादेवो' 'महान्देवो' 'वाक् वृषभः' कहते हैं। दूसरे 'वामदेव' नाम एक प्रसिद्ध ऋषि का भी है, पर यहां पर यह उस प्राण रूप ऋषि के प्रतीक में माना जा सकता है जो यह कहता है कि "गर्भेनुसन्नन्वेषा मवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्॥" (ऋ० वे० ४-२७-१) 'गर्भे एतच्छयानो वामदेव एवमुवाच" (ऐत० उप० २-१, बृह० उप० २-५, ऐत० आ० २-२५)। अथवा यह वह वामन है जो "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥" (कठ २-२)। प्राणों के बारे में यही भाव श० प० ब्रा० (५-१-४-१०) ने 'प्राणो वै समञ्चन प्रसारणम्'

वाक्य द्वारा दिया है। वामन का स्थान मध्य नहीं किन्तु वह सर्वतः है। उसने प्रथम भाग के (गायत्री के तीन पादों को वाम पाद से और उत्तर भाग के तीन भौतिक (शाक्करी गायत्री) पादों को दक्षिण पाद से नापा है, इस प्रकार पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों अर्द्धों में व्याप्त होकर यह अखिल ब्रह्माण्डरूप वामन या वाम है, अखिल ब्रह्माण्ड का केन्द्र विन्दु सा है, दोनों पादों से खड़े मान कर उसे मध्य में धड़ रूप में खड़ा या ऊर्ध्व दिशा में खड़ा सा कहा गया है। वास्तव में ब्रह्माण्ड या वामन तो 'चतुर्भिः साकं नवर्ति च नामभिश्चक्रं न वृत्तम्' (ऋ० वे० १–१५५–६) के समान है (खड़ा पड़ा लम्बा चौड़ा नहीं वरन्) ३६० अंश के महावृत्त के समान है जो चार समकोण ९०, ९० के अंशों में बँटा है। यह तो इसके ब्रह्माण्डीय स्वरूप का वर्णन है।

अभी यह देखना तो रही गया है कि इसका नाम वाम या वामन या वामदेव क्यों पड़ा है? वाम नाम की व्युत्पत्ति 'य ऊर्णनाभिरिवाखिलं ब्रह्माण्डं वमति उद्गिलतीति वामनो' या 'वा विकल्पेन मनो, मनोब्रह्माण्डं वा' 'स वामनः वामो वा' है। अर्थात् जो तत्त्व ऊर्णनाभि की तरह मुख से लार टपका कर सृष्टि रूप जाल का निर्माण करता है या जो विकल्प रूप मे मनोब्रह्माण्ड या ज्ञान का ब्रह्माण्ड है वह वाम है। दूसरी स्थिति यह है। पद या पाद विकास में, प्रथम पद या पाद से द्वितीय पद या पाद का विकास होता है, द्वितीय से तृतीय, तृतीय से चतुर्थ आदि का। द्वितीयादि पद या पादों के विकसित हो जाने, पर प्रथम पद या पाद लुप्त या गुप्त नहीं होता, वह जितने भी पदों या पादों का विकास होता है उनके साथ-साथ रहता है। यह स्वयं अपने वाम (सव्य वायें) स्थान में नित्य रूप से (१ १२ १२३ १२३४ १२३४५ / ।, ।।, ।।।, ।।।।, ।।।।।) रूप में वर्तमान रहता है। यह प्रथम पद या पाद सदा एक ही रहता है, एकमेवाद्वितीयं ही रहता है द्वितीयादि पाद इसी में, या यह इन द्वितीयादि पद या पादों में सदा व्याप्त होकर 'एक' ही रहता है जैसा कि बृह० उप० ने 'त्रिपाद' के बारे में लिखा है 'एकः सन्नेतत्त्रयम्'। सदा पूर्व-पूर्व का ही प्राधान्य रहता है, प्रथम वामतम का प्राधान्य सब में रहता है, प्रथम पद या पाद में वह अकेला वाम, पलित शुक्लकेशी (त्रयः केशिनः में प्रथम केशी या वसुरूप देवता) कहलाता है; द्वितीय पद या पाद में वह दूसरे से युक्त होकर 'होता' रूप का रुद्र देवता (द्वितीय केशी कपर्दी) हो जाता है जिसके बारे में यजुर्वेद ने लिखा है "येनेदंभूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु।" तृतीय पद या पाद में वह प्रथम दो के 'वाम'

रूप में प्रस्तुत होकर, तृतीय पद या पाद की अन्तिम सीमा में घृत नामक चक्षु उपनामक सूर्य तत्त्व को विकसित कर लेने से उसकी पीठ या आसन में बैठा सा प्रतीत होने से घृतपृष्ठ कहलाता है। घृत नाम चक्षु का बतलाने वाली ऋचा यह है 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षु रमृतं म आसन्' (ऋ० वे०)। चौथे पद या पाद में प्रथम तीन मिलकर चौथे के वाम बन जाते हैं। वास्तविक वाम तत्त्व इन्हीं तीन पद या पादों तक के वाम भाग का तत्त्व है। अर्थात् यहां तक के सब तत्त्व पूर्वार्द्ध के अमृत हैं। चौथे पाद से उत्तरार्द्ध लग जाता है, वहां के सब तत्त्व दक्षिण या दक्षिणा कहलाते हैं। यही वाम दक्षिण का मुख्य भेद है। चौथा भौतिक मर्त्य नामक तत्त्व अश्नः या मध्यमः (२५वां) तत्त्व कहलाता है, 'अश्नः' माने 'अशनाया' होता है 'अशनाया' नाम मृत्यु मर्त्य रूप 'आपः' (प्राणस्यापः शरीरं) का है, यह बृह० उप० (१–२–१, २) ने स्पष्ट लिखा है "नैवेह किञ्चनाग्र आसी 'मृत्युनैवेद-मावृतमासीदशनायया, अशनाया हि मृत्युः" तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्क्यस्यार्कत्वं कं हवा अस्मै भवति य एवमेतदर्क्यस्यार्कत्वं वेद ॥ आपो वा अर्क तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततताग्निः ॥"

इस 'अशनापिपासे' का सब से अच्छा विविक्त वर्णन छा० उप (६ ८) ने दिया है। लिखा है कि जिस प्रकार गाय को ले जाने वाले को गोनाय, अश्व को ले जाने वाले को अश्वनाय और पुरुष को ले जाने वाले को पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार 'आपः' ले जाने वाले या आप रूप में प्रस्तुत होने वाले को 'अशनाय' नाम से पुकारते हैं, अर्थात् जो तत्त्व 'आपः' रूप में प्रस्तुत होता है उसे अशनाय कहते हैं क्योंकि कोई तत्त्व विना मूलस्रोत के उत्पन्न नहीं हो (सक) ता। इसी प्रकार जब पुरुष प्यासा होता है तब यह उक्त आपः रूप तत्त्व को तेज रूप से पीता है तब उसे 'उदनाय' या उदन्या कहते हैं, तेज का ही नाम उदन्य या उदन्या है, तेजोरूप शुङ्ग या अङ्कुर ही उदनाय या उदन्या कहलाता है। अतः उदनाय (तेज का नाम) गोनाय अश्वनाय पुरुषनाय की पद्धति में पड़ा है जैसे "अशना पिपासे ये सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशि-शिषति नामाप एव तदाशिशिषति तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षते अशनायेति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सौम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ...... यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनाय्योऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि सब से प्रथम पद या पाद तो सदा शुद्ध वाम रूप में चारों या पाचों पदों या पादों के वामतम भाग में वर्तमान रहता है। वह केवल वाम नाम से ही पुकारा जाता है, वही प्रथम पाद में पलित या पुराण पुरुष या प्रथम पलित केशी पुरुष है। द्वितीय पद या पाद में प्रथम तो वाम ही रहता है द्वितीय को 'होता' कहते हैं, तृतीय में उक्त दोनों वाम हो गये तीसरा घृतपृष्ठ कहलाता है। चतुर्थ में ये तीनों वाम हैं चौथा मध्यमः या अश्नन् या अशनाय या अशनापिपासे कहलाता है। यजुर्वेद ने इन चारों को क्रम से बन्धु सुबन्धु प्रियबन्धु और विश्वबन्धु के नाम से पुकारा है। ये चारों मिलकर चतुर्थपाद में चतुष्पाद्ब्रह्म की रचना करते हैं। अब ऋचा का अर्थ दर्पण-वत् उज्वल है। "अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो ॥" इस वाम नामक सर्वा देवता का, और उस (तस्य) पलित नामक प्रथम पदीय या पादीय वाम का तथा (तस्य) उस द्वितीय पदीय या पादीय 'होता' का मध्यम या दर्शन के मध्यभाग में स्थित घृत रूप चक्षु रूप भौतिकात्मा की पीठ रूप भाई का नाम अश्नः या अशनाय या अशनापिपासः या अशनाया है; और इन तीनों भाईयों का तीसरा भाई घृतपृष्ठ या उस घृत रूप चक्षु की पीठ या भौतिकात्मा की पीठ में या आसन में या शरीर में बैठा हुआ है (घृत नाम की पीठ ही मध्यम भ्राता अश्नः है)। घृतपृष्ठ नाम विश्वानर या आदित्य का है। वाम या पलित अग्नि का प्रतिनिधि है, 'होता' नामक तत्त्व वायु या रुद्र का प्रतीक है। अश्नः नाम चक्षुः सुपर्ण सोम का है। चक्षु या चक्षुओं के घृत शरीर में पीठ में सूर्य या आदित्य या विश्वानर बैठा है। ये चारों मिलकर वैश्वानर या चतुष्पाद्ब्रह्म की रचना करते हैं। वैश्वानर का स्थान दक्षिणायन या दक्षिणार्द्ध या उत्तरार्द्ध है, वह पूर्वार्द्ध के विश्वानर या सूर्य से सम्बद्ध होकर सप्राण होता है अतः लिखा है कि 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' कि वैश्वानराग्नि अपनी ज्योति को सूर्य से पाता है। 'अत्रापश्यं विश्पति सप्तपुत्रम्'—यह पद इस ऋचा का प्राण है आत्मा है। इसी के भाव को स्पष्ट करने के लिए पूर्व व्याख्यात पादों के विषय को भूमिका रूप में दिया गया है। 'अत्र' माने 'घृतपृष्ठे' हैं। घृतपृष्ठ में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध या अभौतिक और भौतिक दोनों का सम्मिलन है। इसी का नाम प्रजापति भी है। यही विश्पति या प्रजापति है। उसके घृतात्मा या चक्षुरात्मा या भौतिकात्मा में उस विश्पति के सात पुत्रों को दीर्घतमा ऋषि ने साक्षात् अपनी आंखों से (योगद्वारा) देखा था। इसी दर्शन या योग पक्ष की विवेचना देना इस ऋचा का मुख्य ध्येय है। इसी भाव में अवधारण दिया है कि 'मैंने यहां विश्पति के सात पुत्रों को साक्षात् देखा'। इन सात पुत्रों के

कई नाम हैं। इन्हें 'सप्तविप्राः' 'सप्त ऋषयः' 'सप्ताङ्गिरसः' अङ्गानि, सप्ताङ्गानि, 'सप्तप्राणाः' 'सप्तर्चयः' 'सप्तहोमा'' इत्यादि कहा जाता है। यह भौतिकात्मा के उदय का उषाकाल है; उषा से इन सात विप्रों की उत्पत्ति बतलाई है 'अधा मातुरुषसः सप्तविप्रा जायेमहि' (ऋ० वे०) और इसी उषा से इस भौतिक जगत् की रचना के आरम्भ को ऐ० ब्रा० भी बतलाता है "ऊषो हि पोषो, ऽसौ वै लोक इमं लोकमभिपर्यावर्तत ततो वै द्यावापृथिवी अभवतां न द्यावान्तरिक्षान्नान्तरिक्षाद्भूमिः ॥" (४-४-२७)

ये सात तपस्वी ऋषि तो वही सात प्राण हैं जिन्हें अङ्ग या अध्यात्म रूप में वाक् मनः प्राण चक्षु श्रोत्रं आत्मा त्वक् (शिरः हस्त पाद हृदय) आदि नामों से पुकारा जाता है। ये सब अङ्गरूप हैं, अतः इनको अङ्गिरा या आङ्गिरस ऋषि या प्राण भी कहते हैं। ये प्राण ही समाधि या योग से त्रिपादामृत या प्रथम तीन भ्राताओं के सम्मिलित स्वरूप प्रजापति का दर्शन करते हैं; जिस समय इसकी अनुभूति की जाती है उस समय की यही अनुभूति होती है कि त्रिपादामृत रूप प्रजापति अपने सप्त पुत्रों से युक्त विराजमान है। इसी दृश्य को दीर्घतमा ऋषि ने साक्षात् योगदृष्टि से देखा था उसी को यहां लिख दिया है, जिसे समझाने के लिए आज इतनी छानबीन और उधेड़बुन तथा इतनी विस्तृत व्याख्या देने को बाध्य होना पड़ रहा है। उस युग में ये सब पारिभाषिक शब्द सबको ज्ञात थे, इशारे मात्र से सब समझ जाते थे, उसी संकेत की भाषा में इस ऋचा का आविर्भाव हुआ है। पर उचित वातावरण या सन्दर्भ और विषय को न जानने के कारण अब तक के सभी व्याख्याकारों ने अपनी-अपनी आधारहीन कल्पनाओं के कनकौवों को यों ही उड़ा दिया है, वे सब व्याख्यायें वैदिक वातावरण की वास्तविक भावनाओं के ज्ञान को प्रस्तुत करने में नितान्त असमर्थ हैं।

अस्यवामीये रथवागादियोगाः

सृष्टि और अतिसृष्टि के दो प्रत्यक्ष पहलू हैं। एक नितान्त अभौतिक या अमृत सृष्टि या अतिसृष्टि है। दूसरी इनसे निर्मित या सृष्टि भौतिक या मर्त्य सृष्टि है। सृष्टिकाल में अभौतिक अमृत से भौतिक मर्त्य तत्त्व की रचना होती है, अतिसृष्टि या योग काल में भौतिक या मर्त्य से अभौतिक या अमृत की सृष्टि की जाती है। इन दोनों प्रकार की सृष्टियों के विवेचन में वैदिक ऋषियों ने जब 'रथ, चक्र, अश्व, भुवन, स्वसृ, नाभि, योनि, नेमि, रजः, असु, असृक्, आपः, मनः, गावः, और वाक् के अनेक नामों तथा उसी में धेनु आदि शब्दों

का प्रयोग किया है तब वे इन सबका प्रयोग भौतिक, मर्त्य, मानुष, नर, ना, नृ या उत्तरार्द्ध या दक्षिणायनीय तत्वों के ही लिए प्रायः करते हैं। क्योंकि पूर्वार्द्धीय तत्त्व तो इन रथादि और गायों का स्वामी रथी, (गायों का सुत या अभिसुत या अतिसृष्ट) वत्स है। इन दोनों का एक साथ सम्मिलित वर्णन अधिकांश में समाधि की जागृत ज्योति का ही चित्र उपस्थित करने के लिए ऋषियों या योगी ऋषियों ने दिया है। ऋषियों ने अपना नाम ही ऋषि या प्राण इसीलिए रखा है कि वे प्राणरूप ऋषि ही सदा अमृतमय ज्योतिरूप (प्राणों के रथ के) स्वामी या वत्स की अति सृष्टि करके प्राणों के रथ में स्वामी रूप ज्योति या प्राणरूप गाय के साथ वत्सरूप ज्योति की प्रतिष्ठा कर गये हैं। रथ की सवारी या वत्स का स्तनपान योग या समाधि की स्थिरता या धारणा का प्रत्यक्ष वर्णन देते हैं। इसे सविकल्पक समाधि का वर्णन नहीं समझना चाहिए। समाधि में ऐसी ही स्थिति होती है, यह समाधि का साकार वर्णन है। ऐसा वर्णन न दें तो लोगों की समझ में—उनकी समझ में जो योग न जानते हैं, न कर सकते हैं, इस समाधि स्थिति का वर्णन किस प्रकार आ सकता। यह वास्तव में निर्विकल्पक समाधि की स्थिति का ही विवेचन है। ऐसी वर्णित स्थिति में उस समय न तो रथ की अनुभूति रहती है न रथयोग की, न योगसरणि की; न वहां आनन्द सा है न पुत्र सा, न पुत्र (वत्स) के प्रेम का आनन्द सा, न वहां प्राणरूप स्त्रियां (जिन्हें वेदों में चर्षण्यः, वृजिनेषु, चर्षणीधृतः आदि नामों से पुकारा है) न हर्म्य प्रसाद न पुष्करिणीयां सरोवर समुद्र आदि। वहाँ तो सर्वैकत्वमय सर्वतः प्रकाशमयः सर्वतः ज्ञानमय अलौकिक अवर्णनीय स्थिति की—ऐसी स्थिति जिसे अनिर्वचनीय अवर्ण्य अचिन्त्य या स्वयं ब्रह्म सम ब्रह्मरूप अखण्ड ज्योति कहना उचित है—साकार अनुभूति या दर्शन या ज्ञानमात्र प्रस्तुत होती है, ब्रह्म भी वैसा ही है अतः लिखा है:—

"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानः परं तान् सृजते; न तत्रानन्दा मुदः प्रमोदा—तान् सृजते; न तत्र वेशान्ता न पुष्करिण्यः—तानापि सृजते। स हि कर्ता। तत्र श्लोकाः—स्वप्नेन शरीरमभिः प्रहत्या सुप्तः सुप्ता नभि चाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः। प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। य ईयतेऽमृतो यत्रकामं हिरण्मयः पुरुषएक हंसः॥ स्वप्नान्त उच्चावचीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि॥ उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षद्रुतेवापि भयानि पश्यन्॥ आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनः॥" (बृह० उप० ४-३-१० से १४ तक)। अन्तिम श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि योग में भी उस ब्रह्म के आदिरूप को तो कोई नहीं देख सकता,

यहां तो केवल उसके आराम (आरम्यमाण) बगीचे के प्राणों की फुलझाड़ियों के ही दर्शन होते हैं। वास्तव में रथ नाम योग का है, योग के रथ का है। (ऋ० वे० २-१८ १)

इस रथ की व्याख्या 'देवरथ' नाम से की गई है। वैदिक विश्व दर्शन देखें। इनको देवरथ कहना इसलिए उचित है कि इसके अङ्गप्रत्यङ्ग में देवताओं का निवास है। इसके अङ्गप्रत्यङ्गों का नाम अङ्ग-अङ्गानि अङ्गि, अङ्गिरः अङ्गिरा और अङ्गिरस या आङ्गिरस है। ये सब रसमय हैं, अतः प्राणाः कहलाते हैं। जितने प्राण हैं वे एक ही रथ में हैं, एक ही चक्र में हैं। पर प्रत्येक प्राण भी एक स्वतन्त्र (परतन्त्र तो सब हैं ही) रथ भी है, अतः जितने प्राण हैं उतने ही रथ भी हैं उतने ही प्राण भी हैं। इन प्राणों की गिनती का भी कोई ठिकाना नहीं है। कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन, कहीं चार या कहीं पांच, कहीं छह, कहीं सात आदि दे रखो है। सात प्राणों में छह वागादि और (सातवां) भौतिकात्मा मिलकर सात रथ, चक्र, अश्व (या प्राण) भुवन, स्वसारः, मातरः, वाचः गिरः, धियः, मतयः, हरयः गावः प्रजा विशः कारुः कविः आदि नामों से पुकारे जाते हैं।

परन्तु इन प्राणों का विवेचन कई प्रकार से किया हुआ मिलता है। इनका रथ भी है, इन्हीं के सारथि भी हैं, इन्हीं के अश्व या वृषभ भी हैं। ऐसी सम्मिलितावस्था में ये प्राण त्रिवृत् का वर्णन देते हैं। रथ तो वाक् है, मनः सारथि हैं, प्राण अश्व या वृषभ हैं। वाक् में वागादि पाचों सब प्राण हैं, मनः में मति, बुद्धि, धी, धियः, स्तुति आदि हैं, और प्राण में प्राण उदान व्यान अपान समान हैं। सात संख्या में वाक् मनः, या मनः प्राण, या प्राण वाक् को इनकी पञ्च पञ्च संख्या में जोड़ते हैं। दो अश्व प्राणोदान हैं, एक केवल सर्वप्राणीय प्राण है। गावः नाम वागादि पञ्च का है, अश्व प्राणोदानादि पञ्च का, और धियः इन दोनों से युक्त मन आदि का तथा धेनु नाम उन दूसरे प्रकार के अङ्गों का जिन्हें शिखा शिर ललाट (भ्रू०) नासिका, मुख, कण्ठ, हृदय, स्तन, नाभि, वस्ति, उदर, गुह्य, हस्त, पादादि कहते हैं। कभी कभी उभय प्राणों को उभय अङ्गुष्ठ, तर्जनी मध्यमा अनामिका और कनिष्ठिका नामक अङ्गुलियों के जोड़ों से संकेतित भी कहते हैं। इनको षडङ्ग न्यास आदि नामों से पुकारते तो हैं पर इनका संकेतित विषय पूर्वोक्त प्राण ही होता है। कभी कभी रथ को नाभि या नेमि रूप में वर्णित करके इन उक्त सब प्राणों को इन नाभि नेमि में अराओं की तरह जड़े या जुड़े भी बताया जाता है। जहां पर त्रिनाभि का विवेचन आता है वहां पर त्रिवृत् रथ को त्रिनाभि कहकर एक नाभि में वागादि दूसरे में मनः शिर आदि अंग, तीसरे में प्राणोदानादि प्राणों को अरओं की

तरह सम्मिलित समझा जाता है। या वाक् मनः प्राणः नाम के तीन प्राण जिन्हें प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण कहते हैं या त्रिलोक के तीन भाग (१) पूर्वार्द्ध दिवः, (२) उत्तरार्द्ध पृथिवी और (३) मध्यम आकाश हृदय या अन्तरिक्ष, गर्त बिषुवान् इत्यादि नाम की तीन नाभियों में उक्त अराओं को जुड़े या जड़े कहा जाता है। ये सब विषय प्राधान्येन योग या अतिसृष्टि की व्याख्या करते हैं या योग की इतनी सम्मिलित समाधिस्थ स्थिति का विवेचन देते हैं। इस अस्य वामीय सूक्त में इनका विवेचन इस प्रकार दिया गया है।

रथाश्वनाभि योगाः—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रो अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्र मजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थु भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥ १३ ॥
सनेमि चक्र मजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥

यहाँ पर जिन सातों को सात अश्व या सात चक्र या पञ्च चक्र नाम से उल्लिखित किया गया है उनका हमारे धुरंधर व्याख्यातारों ने इसी सूक्त के ११, १२ और ४८ मंत्रों में दिये गये चक्रों की संख्या से ही प्रायः तादात्म्य करके ऋषि मनोनीत भावना की व्याख्या में बड़ी भारी गड़बड़ी कर दी है। यदि इन दो प्रकार से उद्धृत मंत्रों का भाव एक ही होता तो इन्हें पृथक् पृथक् देना ही व्यर्थ होता। दोनों स्थलों के विषय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। प्रस्तुत मन्त्रों में प्राण व्याख्या है तो ११, १२, ४८ मन्त्रों में अक्षरब्रह्म के संवत्सर ब्रह्म नामक विभाजन दिए गये हैं। इन दोनों प्रकार के विभाजनों में आकाश पाताल का सा अन्तर है। प्रस्तुत दो प्रथम मन्त्रों का आशय इस प्रकार का है। इनके विषय को नये रूप में नहीं दिया जा रहा है, यहां पर यह ध्यान रहे कि प्रथम मन्त्र में तृतीय भ्राता को प्रजापति घृतपृष्ट और सप्त पुत्र कहा जा चुका है। अब इन मन्त्रों में इन्हीं भावनाओं को विस्तार से वर्णित किया जा रहा है, प्रजापति अश्व है।

अमृतचक्र (२, ३)

यह अखिल कोटि ब्रह्माण्ड या हमारा शरीर 'एकचक्र' के समान है। इसमें सात प्राण रूप सात अश्व जुते हैं। वास्तव में जिस प्रकार यह सृष्टि या शरीर

'एकचक्र' है, उसी प्रकार इसका अश्व भी एक ही है जिसको 'एको देवः प्राणः स ब्रह्म' (बृह० उप० ३-९) कहते हैं। इसी 'एकोदेवः प्राणः स ब्रह्म' का ही एक अश्व है। वही विभिन्न रूप में विकसित होकर सात नामों को धारण करता है। वे सात प्राण श्रोत्रं त्वक् चक्षुः वाक् प्राण, मनः और आत्मा (सोम) हैं। या मनः सोम के साथ प्राण उदान व्यान अपान समान हैं। इस 'एकचक्र' में तीन नाभियां त्रिवृत् या तीन लोक (पिछला पृष्ठ देखें) हैं या प्रथम मध्यम और उत्तम प्राण नामक 'वाक् मनः प्राण' का मौलिक और विकसित दोनों प्रकार का त्रिवृत् है। इन्हीं को 'अग्नि इन्द्र और पुरुष'; या 'अग्नि वायु आदित्य' आदि कहते हैं। ऋ. वे. १-३४ में इस त्रिवृत् की उत्तम व्याख्या दी है और वैदिक विश्व दर्शन का त्रिवाद देखें। (यह 'त्रिः सप्त वाद' नहीं है)। यह चक्र अजर है, अक्षिति है, अनश्वर है, और 'त्रिनाभि चक्र' में अश्व जुतते ही नहीं। यह तो स्वयं चालित है 'अनर्व' या 'अनश्वं' है। इन्हीं तीन नाभियों के या सप्ताश्वीय 'एक चक्र' में अखिल (सात) भुवन मौलिक (बीज) रूप में निवास करते है। यहाँ पर सप्ताश्वीय 'एक चक्र' और त्रिनाभीय चक्र में भी पुल्लिग और नपुंसक लिङ्ग के अन्तर के साथ-साथ दूसरे को 'अजरं' कहा है प्रथम को कुछ नहीं, क्योंकि वह मर्त्यामर्त्य है। नाभियां तो अमृत ही हैं, पर सप्ताश्वीय एक चक्र में प्राणरूप अश्व तो मर्त्य हैं उनके देवता ही उनमें अमृत या आत्मा रूप से रहते हैं। मर्त्य प्राण अमर्त्य देवों की उद्दीप्ति करके त्रिनाभि रूप तीन लोकों के अमृतमय देवमय एकचक्रमय अजर ज्योति की अनुभूति करते हैं। यह किस प्रकार सम्भव होता है इसका विस्तृत वर्णन दूसरी ऋचा देती है। इसमें वे सात क्या हैं और कौन-कौन हैं इत्यादि सब भलीभांति, बता दिया गया है जैसे—

मंत्र ३-वे सात (देवता) जो इस सप्तचक्री रथ (ब्रह्माण्ड या शरीर) में अधिष्ठित हैं उन्हीं के सात अश्व (प्राणोदानव्यानापानसमान) हैं जो इसे या इन्हें खींचते हैं। इस प्रकार के रथ में जहां पर गायों (वागादि प्राणों) के सात निरुक्त रूप या स्वरूप (नाम) हैं वहां पर (उनके देवताओं की पत्नीरूप) गायत्री त्रिष्टुप् अनुष्टुप् उष्णिक् विराट् , जगती बृहती—नाम की छन्दोमयी देवियां या (जो आपस में एक दूसरे की बहिनें हैं, इसलिए) सात बहिनें अपने अपने देवता के गीत या छन्दों या मन्त्रों के शरीर के रूप को गाती हैं या प्रत्येक देवता के अक्षरमय तत्त्वों के रूपों का प्रदर्शन करती हैं या ऐसे स्वरूपों का वर्णन करती या गीत गाती हैं।

अब उक्त संकेतमयी भाषा के पारिभाषिक पदों का विवरण—जिसे उन्हीं ऋषियों ने अन्यत्र दे रखा है, यहां दे दिया जाता है। इस ब्रह्माण्डीय या

शारीरिक रथ में बैठे देवताओं के नाम 'अग्नि सविता, सोम, बृहस्पति, मित्रा-वरुण, इन्द्र और विश्वदेवता हैं। इनके सात अश्व (मनः सोम या) अन्नं आत्मा, प्राण उदान व्यान अपान समान हैं।[1] इनकी गायें अदिति दिति वाक् चक्षुः श्रोत्रं, त्वक्, मनः हैं। इन गायों को भी प्राण ही कहते हैं और उक्त अश्वों को भी प्राण ही कहते हैं। पर इन गायों को देवताओं की पत्नियां कहते हैं, और छन्दों को भी उन देवताओं की पत्नियां ही कहते हैं। अतः छन्दोमयी देवियां आपस में बहिनें तो हैं ही पर उक्त गाय रूप या देवपत्नीरूप प्राणों की भी बहनें या सौतें या सपत्नियां ही कहलाती हैं। इस मन्त्र का यह 'सप्त स्वसारः' शब्द इन्हीं सपत्नी रूप छन्दोमयी देवियों का संकेतक है। सात बहनें कहने का विशेष संकेत सपत्नी रूप बहनों ही के लिए करने के लिए 'स्वसारः' शब्द को चतुराई से चुना गया है (इन बहनों सपत्नियों में से अमृत केवल सबसे बड़ी, पर सबसे छोटी गायत्री देवी के पास ही है 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाजहार')। इसीलिए इन बहनों का वैदिक विश्वदर्शन में इतना बड़ा महत्व है। ये सब बहनें वैदिक विश्वदर्शन के गम्भीर रहस्य को दिखाने के लिए अपने-अपने पादों या करों या शिर में छन्दोमयी उज्वल दीपिका रूप देवता को धारण किये रहती हैं जिसका विवेचन इसी सूक्त के मन्त्र २३, २४, २५वें मन्त्रों तथा ऋ. वे. १०-१३०-४, ५ में निम्न प्रकार से दिया गया है :—

> "अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव।
> अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पते र्बृहती वाचमावत् ॥
> विराट् मित्रावरुणयोरभि श्री रिन्द्रस्य त्रिष्टुबिहभागो अह्नः।
> विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्त ऋषयो मनुष्याः ॥"

अखिल ब्रह्माण्ड रूप या शरीर रूप रथ या चक्र केवल उक्त सप्तचक्री या सप्ताश्व या सप्तगावः या सप्तस्वसारः या त्रिनाभि चक्र रूपों में ही वर्णित नहीं किया गया है। इस चक्र का विवेचन कई अन्य संख्या के तत्वों के रूप

---

१. इस रथ का ही वर्णन कठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है :—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहु र्मनीषिणः ॥" (कठ० ३-३, ४, ५)

इसमें बुद्धि मन और इन्द्रिय या प्राण (५) मिलकर कुल संख्या ७ सात दी गई है। इन्हीं सातों का रथ है जिसमें आत्मा इनके विषयों शब्दादिकों का भोग करता है।

में भी किया गया है जिनका विशद विवेचन अष्टचक्र सप्तचक्र षट्चक्र पञ्च-चक्र, चतुश्चक्र त्रिचक्र द्विचक्र और एकचक्र रूप वर्णन में वैदिक विश्वदर्शन में दिया जा चुका है। इस सप्तचक्र की भी वहाँ सैकड़ों विविध नामों से व्याख्या दे दी गई है, उसे भी देखें। उन्हीं वर्णनाओं में से एक व्याख्या पञ्च चक्री या पञ्चार चक्र की भी है। चक्र तो एक है; उसमें पाँच अश्वों, गायों या स्वसारः, को अरा नाम से पुकारा गया है। यह पाँच अराओं वाला चक्र प्राणोदानादि पञ्च प्राणों वाला चक्र है। इस चक्र के इन्हीं पाँच प्राणों में ही इस ब्रह्माण्ड या शरीर के वे विभिन्न संख्या के भुवन या विभाजन, जिनकी नाना प्रकार की वर्णनायें दी गई हैं, समाये हुए हैं। यह चक्र इन पाँच प्राणों की अराओं से युक्त सतत क्रियाशील या गतिमान् है। पर इस सतत गतिमत्ता से इसकी धुरी या मुख्य प्राण इतने बड़े बड़े भुवनों का भयंकर भार वहन करते हुए भी कभी भी उतनी अधिक उष्णता को प्राप्त नहीं होता जिससे इसकी गति कभी क्षुण्ण होने का अवसर आ सके। अर्थात् यह सदा एक रूप, एक गति, एक विधि से, अपरिवर्तित रूप में, सदा एक सा चलता रहता है। अतः इस चक्र की वह धुरी या नाभि या मुख्य प्राण सनातन-काल से सृष्ट्यादि काल से कभी भी न तो जीर्ण होती है न शीर्ण। क्योंकि वह धुरी या मुख्य प्राण नित्य है, विभु है, नित्य अपरिणामी (न तप्यते) है। अरा रूप प्राणों में परिवर्तन आने की सम्भावना है अतः अक्ष रूप धुरी रूप मुख्य प्राण मात्र को ही अपरिणामी 'अजर' या अविकारी कहा गया है। यह धुरी वही है जिसे 'त्रिनाभि चक्र मजरमनर्व' (मंत्र २) में अजर और अनर्व तथा एक अक्ष के स्थान में त्रिनाभि या तीन अक्षित प्राणों या लोकों या देवों का मौलिक त्रिवृत् (वाक् मनः प्राण) कहा गया है। ये दोनों विवेचन भी एक तत्त्व की दो प्रकार की व्याख्यायें इन दो रूपों में दे रहे हैं, जिनको समझने में गड़बड़ी का अनुभव करना भ्रम में पड़ना सिद्ध होगा। प्रथम में सप्ताश्वों के एक चक्र को त्रिनाभि या त्रिवृत् नाभि कहा है और यहाँ पर पञ्चार या पञ्चप्राणों के चक्र को एक 'अक्ष' का एक नाभि का कहा है। दोनों स्थलों में नाभि एक ही है वह एक नाभि ही त्रिनाभि या त्रिवृत् युक्त है, दूसरे में वह त्रिवृत् स्वयं आक्षिप्त समझना उचित है, क्योंकि इस पूर्व वर्णित त्रिवृत् के बिना कोई मौलिक तत्त्व रह या हो नहीं सकता। यद वैदिकदर्शन का एक मूल रहस्य है।

अब तक जिन सप्ताश्वीय और पञ्चार चक्रों का वर्णन दिया गया है वे अमृत चक्र हैं, उन्हीं अमृत चक्रों का उक्त तीनों मन्त्रों में तीन प्रकार का विवेचन दिया या किया गया है। पर निम्न मन्त्र में अमृत और मर्त्य दोनों

प्रकार के तत्त्वों से सम्मिलित अखिल ब्रह्माण्ड या शरीर रूप रथ का या चक्र का वर्णन इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

मर्त्यामर्त्य चक्र या महाचक्र

अब तक चक्र या रथ का जो वर्णन दिया गया है उस चक या रथ में नेमि या हाल या पहिए की बाहरी परत की कहीं भी कोई भी चर्चा नहीं आई है। उसमें अश्व गाय नाभि और बहनें हैं। ये सब अमृत तत्त्व हैं। इनको पूर्वार्द्धीय अनिरुक्त या अमृत या त्रिपादामृत कहते हैं। अब इस रथ में नेमि नामक मर्त्य या भौतिक तत्त्व को और जोड़ा जा रहा है। यह भौतिक मर्त्य नामक तत्त्व उसी अमृत तत्त्व से उत्पन्न होकर उसी के चारों ओर व्याप्त होकर उसे आच्छादित कर देता है। एक और बात कह देना भी उचित है। उक्त रथ या चक्र पहिए की तरह वृत्ताकार नहीं है वरञ्च गेंद की तरह वृत्ताकार है, यह अयन वृत्त रेखा सम भी नहीं है ठोस वृत्त ही अयन वृत्त है। ऐसे ठोस अमृत चक्र के बाहरी तह को नेमि के समान मर्त्य भौतिक तत्त्व आच्छादित किए हुए है जिसे ईशावास्य उप. 'ईशावास्य मिदं' या ईश का आच्छादन रूप भौतिक जगत् कहता है। वह मर्त्य भौतिक तत्त्व, भी जो अमर्त्य चक्र को आच्छादित किए हुए है, अजर ही है अक्षिति ही है अनश्वर ही है (अनवेस्टिङ्ग अनडिकैयिङ्ग शब्द उचित नहीं हैं इम्मौर्टल कहना चाहिए)। विवावृत का अर्थ लोगों ने 'घूमना' (या रेभौल्विङ्ग) लगाया है। यह गलत है। इसका अर्थ 'विशेष रूप से पूर्ण रूप से आवृत्तियों से कई परतों से आच्छादित है। यह आच्छादन कारक भौतिक तत्त्व 'उत्ताना' चमू है। दो चमू हैं, दोनों उलटे सुलटे उत्ताना कहलाती है। एक कटाह दूसरे कटाह के मुख में मुख मिलाये हुए है; जिसे 'उत्तानयोश्चम्वो योनि रन्तरत्रा' (इसी सूक्त के मं. ३३ में) कहा गया है। ◻Dआच्छाद्य और आच्छादन के मध्यवर्ती पद का नाम ही योनि है वह चित्र में भी योनि सी बनी दिखाई पड़ रही है। यह नेमि और चक्र का मध्यवर्ती स्थान है। ऐसे सनेमि चक्र को दश संख्या के पाँच प्राणोदानानि के देवता और पाँच वागादि प्राण-रूप युक्ता या अश्व, वहन्ति या खींचते या चलाते या गतिमान् बनाते हैं। यहां पर 'युक्ता' माने 'जुते' मात्र नहीं, वरन् अश्व या वृषभ है। वैदिकसाहित्य में 'युक्ता' माने अश्व या वृषभ ही होता है जैसे "यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः।" (छा. उप. ८-१२-मूर्तामूर्त मर्त्यामर्त्य शरीर व्याख्या—उत्तम पुरुष वर्णन)।

इस सनेमि चक्र या भौतिकात्माच्छन्न अमृत तत्त्व के कई अन्य प्रसिद्ध नाम हैं। ईशावास्य उपनिषद् ने इसे 'ईश' या 'ईशावास्यं' कहा है। वेदों में इसे सूर्य और सूर्य की चक्षु कहते हैं जिनमें सूर्य तत्त्व तो त्रिपादामृत तत्त्व है चक्षु भौतिकता का जैसे 'अत्रिर्दिवि सूर्यस्य चक्षु राधात्' 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः······सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।" (ऋ० वे० ५·४०, १·११५)। इसी दोनों के सम्मिलित स्वरूप का नाम ईशान, ईश्वर कपर्दी, पूषा, और ईशान रुद्र भी है 'आदित्यो वै ईशानः' (श० प० ब्रा० ६–१···)। इनमें से भौतिकात्मीय भाग के कई अन्य प्रसिद्ध नाम हैं जिनमें से एक प्रसिद्ध नाम 'रजः' 'रजांसि' भी है जिससे सूर्य तत्त्व को आच्छादित कहा गया है जैसे 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।" (ऋ० वे० १–११४) यहां भी (रजसा) 'वर्तमानः' माने 'विवावृतं' या आवृतमानं या आच्छादित ही कहा है । यह रजः तत्त्व ईषद् कृष्ण (पिङ्गल) वैद्युतीय कणों के समान वर्ण का वैद्युतीय भौतिक रजः पुञ्ज है। इसी भाव को यहां पर 'सूर्यस्य चक्षू रजसा एति आवृतं' वाक्य दे रहा है कि उस अमृतमय चक्र नामक सूर्य तत्त्व की (न कि आकाश में दीखने वाला चमचमाते सूर्य की) चक्षु रूप या चक्षु नामक या अङ्कुर नामक तत्त्व से— जिसे रजः भी कहते हैं उस रज से या उस रजः तत्त्व से—वह सूर्य तत्त्व स्वयं आवृत होकर (आवृत) गतिमान् रहता है (एति)। इस प्रकार के मर्त्यामर्त्य या अमृतमृत सम्मिश्रित या सम्मिलित (सनेमि) चक्र में अनन्त (विश्वा) भुवन (या लोकों के मौलिक बीज) अराओं की तरह चारों ओर से जुड़े या जड़े (आर्पिताः = आ + अर्पिताः) हैं । शेष 'सूर्यः चक्षुः' शीर्षक-वैदिक विश्वदर्शन में, तथा ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या उपनिषद् प्राण भाष्य में देखें। यह सब प्राणीय (अमृत प्राणीयं और भौतिक प्राणीय या चक्षुः या रजः) चक्र की व्याख्या है, जिसको पहले अमृत प्राण चक्र रूप में, पश्चात् मर्त्यामर्त्य प्राणों के सम्मिलित रूप में वर्णित किया गया है। अब एक तीसरे प्रकार के चक्र का वर्णन दिया जाता है जिसमें पूर्वोक्त तत्त्वों का विवेचन 'अक्षर चक्र' के नाम से किया गया है ।

अक्षर चक्र—(मन्त्र ११, १२, ४८)

> द्वादशारं हि न हितज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
> आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्चतस्थुः ॥
> पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
> अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्नचलाचलासः ॥

वैदिक विश्वदर्शन को प्रस्तुत करने वाली पारिभाषिक पदावली में बहकने और बहकाने की सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में है कि आजतक जितने भी व्याख्याता हो गये हैं वे सब उसी बहकावे की धारा में बहकर वास्तविकता के पास फटकने का अवसर ही नहीं पा सके। प्रस्तुत मन्त्रों की पदावली ने लोगों को इतना वर्गला दिया है कि व्याख्याताओं ने यही समझ रखा है कि यहां पर ऋषि जी वर्ष के महीने दिन या ऋतुओं का वर्णन दे रहे हैं; यही और इसी प्रकार की निम्नधरातल की विचारधारा ही वेदार्थ को लुप्त करने या रखने का मुख्य कारण है। यहां पर वर्ष या काल या ऋतु या दिन मासों का वर्णन नहीं है; वरञ्च इन साधारण सर्व विदित विषयों को—जिनका विवेचन देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है—आधार बनाकर इस ब्रह्माण्ड की मौलिक स्थिति के विकास की क्रमिक पद्धति को योग वियोग दो प्रकार से समझाया जा रहा है। यह सृष्टि या अतिसृष्टि कला रूप में कलकल ध्वनि करती हुई काल प्रवाह रूप में बहती है। यह काल दो प्रकार का है (१) अनादिष्ट (२) आदिष्ट। सृष्टि का आरम्भ अनादिष्ट अपरिमित अनिरुक्त अप्रमेय काल रूप में होता है। यह अमृतमय काल या अमृतकलामय ब्रह्म या बृंहणशील ब्रह्म कहलाता है। जब इससे भौतिकात्मा की कला उदित होती है तो इसे 'अक्षर क्षर' या अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्म या संवत्सर ब्रह्म हमारे वर्ष ऋतु अयन मास दिनों वाला नहीं है वरन् इन नामों के विभाजन वाला माना गया है। उसका अन्तिम विकास केवल एक 'विवर्ताणु' होता है। जिसका अन्तिम परिणाम वह एक विवर्ताणु मात्र है वह किस प्रकार का संवत्सर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्म हो सकता है वह इसी से अनुमित किया जा सकता है।

ऋषियों ने जिस काल चक्र की वर्णना दे रखी है वह अभौतिक और भौतिक दो प्रकार की कलाओं का एक सम्मिलित चक्र है। इसके अभौतिक या अमृतमय चक्र का नाम अहः या नित्य प्रकाशमय कला है, और भौतिक या मर्त्य कला को रात्रि नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं दो भागों को क्रम से शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष कहते हैं या 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' कहते हैं। इन्हीं को क्रम से उत्तरायण और दक्षिणायन नाम के दो अयन भी कहते हैं। इन्हीं को पूर्वार्द्ध परार्द्ध भी कहते हैं। इन पक्षों, अयनों पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धों में क्रम से ३६० दिन और ३६० रातें क्रमसे होती हैं, या मानी जाती हैं। पूर्वार्द्ध

में ३६० दिन ही दिन हैं उत्तरार्द्ध में ३६० रातें ही रातें; कुल मिलकर ७२० अहोरात्र होते हैं या ७२० दिनरातों का एक अहोरात्र होता है। इसी आशय को इन तीन ऋचाओं में तीन प्रकार से वर्णित किया गया है। इनका विस्तृत विवेचन संवत्सर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म शीर्षकों में देखें।

(११) ऋत या सत्य या अमृतमय ब्रह्म का चक्र द्यौ के रूप में या 'द्यौ' या द्यावा की परिधि रूप में बारह मासों के विभाजन रूप अराओं से युक्त होकर इस प्रकार विद्यमान रहता है कि उसके कभी भी जीर्ण शीर्ण होने का अवसर नहीं आता। यह अमृतमय पूर्वार्द्धीय या दैवी चक्र है। इसके १२ अरा रूप मासों के जो ३६० दिनों का एक दिन रूप विभाजन है। उन दिनों में से प्रत्येक के एक पुत्र रूप मिथुन है; यह मिथुनीय पुत्र रात्रि है। ३६० दिनों की ३६० रातें पुत्र मिथुन या जोड़े रूप में विद्यमान हो जाते हैं जिससे इन दोनों की संख्या ७२० हो जाती हैं; यद्यपि यह है एक ही अहोरात्र, उसी के ये ७२० भाग या अहोरात्र हैं। इन जोड़ीदार अहोरात्र में रात्रिरूप पुत्र योग करके अहः या दिन या सत्यप्रकाशमय ब्रह्म की कलाओं की अतिसृष्टि करते हैं तो उसे योग की प्रक्रिया कहते हैं; जब अहः भाग के विभाजन रात्रि के विभाजनों का क्रमिक विकास करते हैं तब इसे सृष्टि चक्र कहते हैं। दोनों प्रक्रियाओं में एक चक्र से दूसरे चक्र की जागृति विकास या उद्दीप्ति की जाती है, पर प्रक्रियाओं के आधार भाग एक दूसरे के विपरोत दिशा में रहते हैं।

(१२) इस ऋचा में पूर्वोक्त विषय को ही दूसरे प्रकार की शैली में वर्णित किया गया है। यहां पर अहोरात्र रूप संवत्सरब्रह्म या अक्षर ब्रह्म को पञ्चपाद पिता कहा गया है। इसको पञ्चपाद पिता कहने का आशय वसन्त ग्रीष्म, वर्षा, शरत् हेमन्त (शिशिर युक्त) पांच ऋतुओं के विभाजन वाला संवत्सर या अक्षर नामक ब्रह्म है। वह इस रूप में इस सृष्टि का जनक है, अतः पिता और पाता या पालयिता दोनों है। इसकी द्वादश आकृतियाँ वही द्वादश मास या आदित्य रूप अरायें हैं। ये मास और ऋतुयें दवः या द्यावा में अहो-रूप भाग में भी हैं, और पृथिवी नामक 'परे अर्धे' या परार्द्ध में भी। इस 'परे अर्धे' के पिता को 'पुरीषिण' नाम से पुकारा गया है। पुरीष नाम अन्नं या अदिति के स्थविष्ठ या स्थूल रूप का है। इसका मध्यम रूप मांस है और अणिष्ठ रूप मनः। अतः पुरीषी नाम अन्नमय अदितिमय या मनोमय भौतिकात्मीय शरीरी पुरुष का है (छा उप० ६-५)।

पूर्वार्द्ध में इसे पुरुष मात्र कहते हैं, क्योंकि यह परार्द्ध के उस भौतिकात्मीय अन्नमय मनोमय शरीर की पुरी में निवास करता है। इसी पुरीषी या भौति-

कात्मीय, अन्नमय, मनोमय शरीर से इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना होती है जिसकी आत्मा पूर्वार्द्धीय पञ्चपदी द्वादशाकृति पिता है। परार्द्ध में भी यह पुरीषी भी पञ्चपदी द्वादशाकृति ही रहता है, पर ये पाद और आकृतियां यहां पुरीषी या अन्नमय, मनोमय या भौतिकात्मीय ही होती हैं। कुछ ये अन्य साधारण आचार्य कहते हैं कि यह 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' रूप 'चक्षुः' शरीरी है, अखिल पुरीषी पुरुष 'चक्षुर्मयः' द्रष्टा दृश्य दोनों का एक सम्मिलित स्वरूप है, और वे यह भी कहते हैं कि यह सप्तर्षिरूप सात चक्रों और छह प्राणरूप अराओं के ऊपर आसीन है। यहां के सात चक्र सप्तर्षि या सात प्राण रूप (वीर रूप) चक्र हैं और 'षडर' या छह अरायें छह प्राण रूप ऋतुयें हैं। वह चक्षुशरीरी छह अराओं से युक्त उक्त सात प्राणों के चक्र के ऊपर पञ्चपाद पिता रूप में आसीन रहता है।

सात प्राण और छह अराओं का योग करके पञ्चपादी पिता के द्वादशाकृति रूप पिता से पुरीषी विचक्षण, सप्तचक्र, षडर आदि भौतिकात्मीय तत्वों की विभिन्न रूपों में क्रमिक सृष्टि होती है।

(४८) "इस चक्र में १२ अरायें (बारह भाग) हैं, चक्र एक ही है (जिसमें पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों सम्मिलित हैं)। इसमें तीन नाभियां (मनो वाक् प्राण का त्रिवृत्) हैं। कौन ऐसा विद्वान् है जो इसके इन रहस्यों को भलीभांति जानता है? इस एक अखण्ड चक्र में ३६० शङ्कु या प्रत्यरायें साथ-साथ सटी हैं (एक-एक अरा में ३०, ३० प्रत्यरायें हैं)। ये प्रत्यरायें उन अपनी अपनी अराओं से अचल या अटल रूप में जुड़ी हुई हैं।"

यह चक्र अखिल दृश्यमान भौतिक ब्रह्माण्ड का मौलिक स्वरूप है। योग और सृष्टि दोनों में यही मूल तत्व है। सृष्टि में इसी स्वरूप से द्वादश मासों से द्वादशादित्यों की और ३६० दिनों से प्रत्येक आदित्य में ३०, ३० दैवी प्राणों या देवताओं की सृष्टि होती है। योग में इन्हीं दैवी प्राणों को आधार बनाकर इनकी प्रदीप्ति के द्वारा द्वादशादित्यों की दैवी ज्योतियों की अनुभूति की जाती है। जहां जहां 'चक्र' वर्णन है वहां शरीरी और ब्रह्माण्डीय दोनों के योग वियोग (सृष्टि) के चक्रों का वर्णन समझना चाहिए।

आग्नेयो वैदुष्यो योगः—जिस चक्र का वर्णन प्रथम तीन ऋचाओं (१६४—१, २, ३) में किया गया है उसका रहस्य कः नामक प्रजापति की समझ में भलीभांति नहीं आया, हमारी समझ में कैसे आवे? तब वह पाकः रूप में अग्नि विद्वान् से पूछने जाता है :—

मन्त्र ४

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥

इस मन्त्र में कई पद पारिभाषिक हैं जिनका अर्थ अब तक के सभी व्याख्यातारों ने इनके लौकिक संस्कृत में प्रचलित कोषों के अर्थ के अनुसार लगाकर भी उन अर्थों से अभीष्ट भाव प्राप्त न होने के कारण अपनी अपनी अनेकों कल्पनाओं के ढेर लगा दिये हैं। वास्तविकता यह है। इसमें पारिभाषिक पद हैं 'अस्थन्वन्तं' 'अनस्था' 'असु:' 'असृक्' और 'आत्मा'। इनमें से 'अस्थन्वन्तं' और 'अनस्था' शब्दों का रहस्य यह है। तेजः तत्त्व के तीन मुख्य रूप हैं—इसका स्थविष्ठ रूप अस्थि है, मध्यम रूप मज्जा है और अणिष्ठ रूप वाक् है। इसे तेजोवती वाक् कहते हैं। यह तेजोवती वाक् ही तेज: की अणिष्ठा रूपिणी होने से 'अनस्था' या अणिष्ठा वाक् है, इसमें अस्थि और मज्जा रूपों की स्थूलता नहीं है। अत: अनस्था माने तेजस्तत्त्व की अणिष्ठा शरीरिणी वाक् है। 'अस्थन्वन्तं' माने अस्थिमान् या तेजस्तत्त्व का स्थूल रूप भौतिक ब्रह्माण्ड या प्रकाशमयमात्र भौतिक ब्रह्माण्ड या केवल प्रकाशरूप में चमकने वाला मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकाशमय मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली इसकी आत्मा रूपिणी वही अनस्था या उन प्रकाशमय तेजोमय भौतिक ब्रह्माण्ड की अणिष्ठा शरीरिणी वाक् है। इन दोनों के सम्मिलित स्वरूप का ही नाम तेजोवती वाक् है जिसको यहां पर प्रयुक्त पदावली में 'अस्थन्वन्तं बिभ्राणा अनस्था' (तेजोवती) वाक् कहा गया है।

यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां अस्थि माने हड्डी पसली नहीं है। अस्थि माने केवल 'अस्ति' या 'सद्' है या 'सत्य' है जिसकी सत्ता केवल तेजः या केवल प्रकाश रूप में है। यही भाव 'तेजोवती वाक्' का 'केवल प्रकाशमय शरीरिणी' मात्र है, हड्डीवाली पसलीवाली नहीं है। अतः 'अस्थन्वन्तं' माने 'प्रकाशमय आत्मा' अग्नि या तेजः मात्र है। उस तेज को धारण करने वाली ('बिभ्राणा' या 'बिभर्ति') वही 'अनस्था' या प्रकाश रहिता प्रकाश की शरीर रूपा, प्रकाश को अपने में धारण करने वाली वाक् है। यहां पर अस्थि माने वह तेजोमय अग्नि आत्मा है जो मात्र सद् या 'अस्ति' है। अत: यहां पर 'परोक्षेण परोक्षकाभा हि देवाः' का सिद्धान्त 'अस्ति' या सद् मात्र को 'अस्थि' कह रहा है।

'असु:' शब्द की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है। असु नाम भौतिक प्राण का है जिसका वर्णन कई स्थलों में इस रूप में दिया मिलता है। 'असु:'

का सम्बन्ध 'आप:' तत्वों से है। जैसे "आपो ह यद्बृहती र्विश्व मायन्गर्भंदधाना जनयन्ती रग्निम्। ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" (ऋ० वे० १०-१२१-७)। जब आप: तत्त्वों ने गर्भ धारण करके अग्नि का प्रजनन किया तब 'असु:' नामक तत्त्व की उत्पत्ति हुई। 'असुं य ईयुरवृका-ऋतज्ञा' में भी पितरों की इन्हीं असु रूपों में परिणत होने की चर्चा की गई है। तेज: तत्त्व के समान आप: तत्त्व के भी तीन मुख्य रूप हैं। इसका स्थूल रूप मूत्र, मेहन या भौतिकालीय वृष्टि है, यह इसका स्थविष्ठ (स्थूलतम) रूप है, इसका मध्यम रूप असृक् या रक्त है; और इसी का अणिष्ठ रूप प्राण है या असु है। इसी लिए असु या प्राणों को 'आपोमया: प्राणा:' या 'आपोमया असव:' कहा जाता है। अत: असु: और असृक् एक ही तत्व के वैसे ही दो मुख्य रूप हैं जैसे तेज: के अस्थि और वाक् हैं। यहां पर असृक् शरीर है, प्राण उसका आत्मा है, असृक् शरीरी असु: है।

इसी प्रकार यहां पर दिया 'आत्मा' शब्द मन: या 'सूर्य आत्मा जगत-स्तस्थुषश्च' का प्रतिनिधि है। इसका मूल तत्त्व अदिति या अन्नं है जो उक्त तेज: और आप: की तरह ही तीन प्रकार का है। इसका स्थविष्ठरूप पुरीष है जैसा कि मन्त्र १२ की व्याख्या में दिया जा चुका है। इसका मध्यम रूप मांस त्वक् है, और इसी का अणिष्ठ रूप 'मन:' है। इसी मन: को 'सूर्य: आत्मा' (ऋ० वे० १-११५-२) कहा जाता है। इन सब का सविस्तर विवेचन छा० उप० ६-४, ६ ५ में दिया मिलेगा, देखने का कष्ट किया जाय। यहां पर दिए रक्त माँस पुरीष आदि शब्द हमारे शरीर के रक्त मांस आदि के वाचक नहीं हैं वरन् आप: और अदिति या अन्नं के शुक्ल और कृष्ण वर्णों के संकेतक हैं। अस्थि मज्जा और वाक् लोहितवर्णा हैं। इसीलिए यहां गड़बड़ी बचाने के लिए 'रक्त' के बदले 'असृक्' (शुक्ल वर्ण) कहा है, मन: को आत्मा (भौतिकात्मा कृष्ण)। इन टिप्पणियों के आधार पर अब प्रस्तुत ऋचाका भाव स्वयं इस प्रकार उज्ज्वल हो जाता है :—

इस ऋचा में प्रश्न और उत्तर दोनों साथ साथ उन्हीं पदों के विभिन्न अर्थों में छिपे हैं। (१) प्रश्न—जिस अस्थिमान् या तेजस्वी को अनस्था या अनस्थिवती या तेज: की अणिण्ठा रूपिणी वाक् धारण करती है उस तेजस्वी अग्नि को सबसे पहले उत्पन्न होते हुए किसने देखा ? इस मंत्र में वर्णित प्रथम जायमान तत्त्व अग्नि है। यह 'अग्नि र्हि न: प्रथमजा ऋतस्य' और 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि:' मंत्रों से स्वयं स्पष्ट है। (२) उत्तर—जिस अस्थिमान् या तेजस्वी (अग्नि) को अनस्था या तेज: की अणिष्ठा रूपिणी वाक् धारण करती है उसको सबसे पहले उत्पन्न होते हुए 'क:' नामक प्रजापति ने ही देखा। यह

वाक् और 'अस्थिन्वन्तं' दोनों पूर्वार्द्धीय अमृतमय है। अब उत्तरार्द्ध के तत्त्वों के बारे में लिखा जा रहा है। उत्तरार्द्ध का नाम भूमि है (पूर्वार्द्ध का दिवः या द्यावा—दोनों मिलकर द्यावापृथिवी या द्यावाभूमि कहलाते हैं)। अतः भूमि के तत्त्वों के बारे में प्रश्न किया जा रहा है :—

बताया जा चुका है कि भूमि नामक तत्त्व इस प्रथम जायमान धूममय पर्जन्यात्मक तत्त्व का भौतिकात्मीय वृष्टि रूप आपोमय है जिसका प्रथम रूप स्थूल रूप कहा जाता है, इसे मेहन मूत्र या वृष्टिमय स्वरूप कहते हैं। इसका मध्यम रूप असृक् या रक्त या रागमय प्रेममय या प्रेयमय है जिससे प्रत्येक एक दूसरे से दैवी वृत्ति में प्रेमसूत्र तथा आसुरी वृत्ति में द्वेष या वैर के सूत्र से एक दूसरे से निबद्ध रहता है। इसी असृक् या रक्त या राग (प्रेम वैर दोनों रूपों) के सूत्र में अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के अनन्त सत्त्व और तत्त्व एक दूसरे से 'सूत्रे मणि गणा इव' ओत प्रोत हैं। इस असृक् या राग का अणिमा रूप ही 'असुः' या भौतिकात्मीय प्राण (मातरिश्वा) कहलाता है। आत्मा नामक तत्त्व इन दोनों असृक् (रक्त) और असुः तथा तीसरे तेजोवती वाक् के अस्थि मज्जा वाक् नामक त्रिवृत् से एक पृथक् तत्त्व है। इस आत्मा का पृथक् त्रिवृत् है जिसके क्रमिक विकासों को पुरीष, मांस और मनः कहते हैं। इसका मौलिक तत्त्व अदिति या अन्नं हैं। उक्त तीनों का स्वरूप तेजोवती वाक्, आपोमयाः प्राणाः (यहाँ असुः और असृक्) और अन्नमयं मनः है। इनका वर्ण क्रमसे लोहित, शुक्ल और कृष्ण है। 'मनः' का ही नाम आत्मा है। "अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते।" (छा. उप. ८-१२) इस वाक्य ने 'मनः' को ही आत्मा कहा है वैसे वाक् और प्राण भी आत्मा ही हैं (वहीं देखें)। इस मनः का ही नाम सूर्य है जिसकी उत्पत्ति 'चक्षुः' से होती है 'चक्षोः सूर्यो अजायत'। इसी सूर्य को ऋ. वे. भी आत्मा ही कहता है 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (१-११५-१)।

प्रश्न—इन परिस्थितियों को दृष्टिपथ में रखकर दीर्घतमा ऋषि पाकः से प्रश्न कराते हैं कि बतलाइये इस भौतिक ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप भूमि के असु, असृक् और आत्मा नामक उक्त तत्त्व कहां हैं ? कैसे और किस क्रम से उत्पन्न होते हैं ? इन सूक्ष्म और गम्भीर रहस्यों को जानने की चेष्टा में वह कौन सा जिज्ञासु धीर है जो किसी अनूचान शुश्रुवान् ब्राह्मण देवता की शरण में विनीत शिष्य बनकर इस बात को पूछने या जानने के लिए जाता है ? अर्थात् ऐसे ज्ञानी और ध्यानी योगी यतियों की सदा कमी रही है और रहेगी, इसी कारण आजकल इन वैदिक मंत्रों का रहस्य इसी प्रकार छिपा ही पड़ा

रह गया है। यह तो प्रश्न मात्र है। इसका उत्तर निम्न है, वह भी इसी प्रश्न में श्लेष रूप में सन्निहित है।

उत्तर—भौतिकात्मा के पर्दे से प्रच्छन्न या आच्छादित हो जाने से वह कः नामक प्रजापति भी यह पता न लगा सका कि जो तत्त्व उसके भौतिकात्मीय असु असृक और आत्मा रूप हैं वे उसके उस भौतिकात्मीय शरीर के किस भाग में कहां पर हैं, अतः वह कः प्रजापति भी उनका पता न लगा सकने के कारण, योग द्वारा विद्वान् नामक ज्ञानवान् अग्नि तत्त्व के पास इस बात को पूछने के लिए गया। क्योंकि 'विद्वान्' नाम अग्नि का है जैसे "अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्" (ऋ. वे. १०-५२-४)। इसमें लिखा है कि यह विद्वान् नामक अग्नि हमारे लिए त्रिवृत्–असुः (प्राण) मनः (आत्मा) और वाक् तीनों के सम्मिलित स्वरूप का (जिसमें असु के साथ असृक् नामक रक्त या राग या प्रेयोमय सूत्र भी है) पञ्चयाम या पञ्चप्राणीय (प्राण उदान व्यान अपान समान) और सप्ततन्तु (सात प्राणों) वाला यज्ञ (सृष्टि और अतिसृष्टि=योग दोनों) का सम्पादन करता है (कल्पयाति)। कः प्रजापति नें इसी विद्वान् अग्नि से योग करके उक्त असु असृक् और आत्मा तथा अस्थन्वन्त को धारण करने वाली वाक् (अनस्था) की अनुभूति करके इनका साक्षात्कार किया। दीर्घतमा ऋषि का कहना है कि जिसको इन तत्त्वों का साक्षात्कार करना हो उनके लिए केवल यही एकमात्र मार्ग है जिसके द्वारा कः प्रजापति ने इस विद्वान् अग्नि के इस प्रकार के योग द्वारा सबसे पहले खोल दिये हैं; उसी का अनुसरण करो।

मंत्र ५—पाकः नामक कः प्रजापति की अग्निर्विद्वान् से प्रथम प्रश्नावली:—

> पाकः पृच्छामि मनसा विजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
> वत्से वष्कयेऽधि सप्ततन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ५॥

इस मन्त्र में विचारणीय पारिभाषिक पदों में से निम्न बहुत विशिष्ट हैं:—पाकः, पदानि, वत्से वष्कये, सप्ततन्तून्, वितत्निरे, कवयः और ओतवा।

इनमें से 'पाकः' नाम का पूछने वाला कौन है? इसे पाकः नाम क्यों दिया है? ये बातें विदित हो जावें तो ऋचा के भाव का मार्ग प्रशस्त हो जाय, इसको जाने बिना सारा सन्दर्भ चौपट हो जावेगा—जैसा कि आज तक के सभी व्याख्याकारों ने कर डाला है।

पिछली ऋचा में बताया जा चुका है कि कः नामक प्रजापति विद्वान् नामक अग्नि के पास यह पूछने गया था कि भूमि या इस भौतिक ब्रह्माण्ड के असु असृक् और आत्मा कहाँ हैं? वही यहाँ पर दूसरा प्रश्न भी कर रहा है।

यह सन्दर्भ स्वयं चल रहा है। वहां 'प्रष्टुमगात्' कहा है, यहां वहां पहुँचने पर वही 'पाकः पृच्छामि' कह रहा है। एक बात। अब इस 'पाकः' शब्द की व्याख्या दी जाती है।

यहाँ 'कः' नामक प्रजापति अपने को 'पाकः' नाम से क्यों पुकार रहा है? हमारे सामने दो शब्द हैं पाकः और पाकम्। इनमें से इस पाकम् तत्त्व का स्पष्ट विवेचन मंत्र २१ में दिया मिलेगा (आगे देखें) जिसमें स्पष्ट लिखा है 'स मा धीरः पाकमत्राविवेश' अर्थात् सः, 'अग्नि विद्वान्, नामक धीरः या धियों या बुद्धियों या प्राणों का धारक' 'अत्र मां पाकं' इस भौतिकात्मीय 'पाकं' या गर्भ रूप में प्रविष्ट या व्याप्त हो गया। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने भेड़िया-धसान की तरह इस 'पाकः' शब्द का अर्थ 'सीधा' भोला, (मूर्ख अर्थ रखने वाला) लिख दिया है। उन्हें इस शब्द की संगति ही नहीं लगी है। यहाँ पर 'पाकं' और 'पाकः' नपुंसक और पुंल्लिङ्गरूपों के अर्थ में आकाश पाताल का अन्तर है। 'पाकम्' तो भौतिकात्मीय गर्भ है और पाकः उस पाकं या भौतिकात्मा में प्रविष्ट या उसे धारण करने वाला कः या हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति है। इस व्याख्या को ध्यान से नहीं उतरने देना चाहिए। अन्यत्र यजुः के पुरुष सूक्त में लिखा है। "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।" अर्थात् अग्नि रूप अमृत रूप प्रजापति भुवनों का मूल योनि या बीज है जिसे योगी ही योग से बुद्धियों को स्थिर करके देख सकते हैं। धीर वह है जो प्राणों को योग से वश में रख सकता है, वह अमृतमय प्रजापति गर्भरूप सप्तर्षिमय पाक में स्वयं अजायमान रूप में रहता है। इसी अग्नि को 'अग्निर्वै प्रजापतिः' कहते हैं। जब वह गर्भ में पाक में प्रविष्ट हो जाता है तो उसे कः या हिरण्यगर्भः या पाक के गर्भ में स्थित प्रजापति कहते हैं। इस प्रकार दो प्रजापति हैं (१) अग्निर्विद्वान् या अमृतमय अग्नि (२) पाकगर्भस्थित कः या हिरण्यगर्भ। यहां पर द्वितीय प्रथम से प्रश्न कर रहा है, यह अब स्पष्ट हो गया।

इस 'पाकः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में स्वतन्त्र या समास और प्रत्ययों सहित १४ बार इसी अर्थ में हुआ है। इस 'पाकः' की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन आगे की ४३वीं ऋचा के 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः' पाद की व्याख्या में दे दिया गया है। (आगे देखें)। जिस उक्षा या वृषभ के पाचन की प्रक्रिया यहाँ दी गई है उसी का यह पाक नामक प्रजापति है। पाक नाम सप्तर्षिरूप सात भौतिक प्राणों का है जिसमें अग्नि वृषभ पकता या प्रज्वलित या प्रदीप्त रहता है। पाक नाम सब प्राणों का है, वे उस अग्नि वृषभ या

अग्नि विद्वान् से पूछ रहे हैं। प्राण भी कः प्रजापति रूप में ही पूछ सकते हैं। क्योंकि इनका शरीर न तो पृथक् है, न वे सचेतन हैं, वे तो अध्यात्मशरीर मात्र हैं। अतः वे सर्वसम्मिलित पाकरूप अग्निवृषभ या अग्निर्विद्वान् से सजीव होकर मात्र योग द्वारा ही पूछ सकते हैं, पूछने का कोई और दूसरा मार्ग भी नहीं है, न हो सकता है। शरीर तो दोनों का एक है, बाहर कौन किससे कैसे पूछे ? पूछने का दूसरा कारण यह भी है 'मनसाऽविजानन्' कि मनः या भौतिकात्मा भी तो चन्द्रमा के समान दर्पण सा है, वह अग्निरूप सूर्य के प्रकाश को पाकर चमकता या प्रकाशित रहता है, हाँ यह बर्फ या चूने की तरह उज्ज्वल पदार्थ रूप का है, जिसकी उज्वलता का कारण भी उसी अग्नि की तेजवती दीप्ति की देन है। फलतः न तो प्राण, न भौतिकात्मा, कोई भी उन बातों को बता सकता जिनकी यहाँ पृच्छा द्वारा खोज हो रही है। अतः 'अग्निर्विद्वान्' से ही प्रश्न किया जा रहा है। इसीलिए इस अग्नि के बारे में लिखा है कि हे अग्ने तुम आधार या शरीरमात्र दुर्बल वेचारे प्राणों की बुद्धि या ज्ञान कहलाते हो, पाक नामक तत्व के तुम पिता हो और उसे शिक्षा या ज्ञान दान देते हो क्योंकि तुम सब दिशाओं सब ज्ञानकोणों या दृष्टिकोणों के एकमात्र उत्तम ज्ञाता हो जैसे :—"आध्रस्य चित्प्रमति रुच्यसे पिता प्र पाकं शास्से प्रदिशो-विदुष्टरः।" (ऋ. वे १-३१-१४)। इससे 'को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्' के कः प्रजापति के अग्नि विद्वान् से पूछने जाने का सन्दर्भ स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि वही अग्नि प्रशासन या ज्ञान दीक्षा देनेवाला है, यह यहाँ स्पष्ट बता रखा है। इस 'पाकः' तत्त्व के स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर अब 'देवानामेना निहिता पदानि' के भाव को समझने का अवसर आता है।

पद या पदानि नाम वैदिक दर्शन की एक सरणि का महत्त्वपूर्ण नाम है। इसके सैकड़ों अन्य नाम हैं। वे नाम विभिन्न सरणियों की व्याख्या से सम्बन्ध रखते हैं। इनका सविस्तर वर्णन 'वैदिक दर्शन के तत्त्वों का निर्णय' शीर्षक के सप्तवाद में देखना आवश्यक है। वैदिकों ने अपने दर्शन की व्याख्या सरल बनाने के लिए उसे सात भागों में विभक्त किया था। उन सात भागों के अनेकों नामों में से एक नाम 'पदानि' 'पदा' (सप्त या सात संख्या वाले) भी हैं। जैसे 'ऋताय सप्त दधिषे पदानि' (ऋ. वे. १०-८-४)। इन्हीं को 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' (ऋ. वे. १०-५-६) सात मर्यादा कहते हैं जिन्हें कवियों ने रचा कहा गया है। इस कवि शब्द से हमारा मतलब अगली पंक्ति में पड़ेगा। इन्हीं को सप्तधाम या सप्त लोका भी कहते हैं जैसे 'सप्त-धामानि परियन्नमर्त्यो' (ऋ० वे० १०-१२२-३); 'पृथिव्याः सप्तधामभिः'

(ऋ० वे० १-२२-१६)। ये ही सात धाम 'भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं नामक सात लोक हैं। इन्हीं का नाम 'सप्त संसदः' भी है 'यस्मिन्विश्वा अधिश्रियो रणन्ति सप्त संसद.' (ऋ० वे० ८-९२-२०) 'सप्त संसदो अष्टमी भूत साधनी' (यजु: २६-१)। इन्हीं को सात मौलिक प्राण रूप ऋषि या सप्तर्षि कहते हैं जिन्हें 'ऋषयः सप्त दैव्याः' (ऋ० वे० १० १३०-७) कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक पद का एक-एक मौलिक प्राण रूप ऋषि है जैसे "सप्तानां सप्त ऋषयः सप्त द्युम्नान्येषाम् । सप्तो अधि श्रियो धिरे।" (ऋ० वे० ८-२८-५) 'सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त' (यजु: १४-२८) जिसका समर्थन श० प० ब्रा० (६ १-१-१) से भी विस्तारपूर्वक करने का कष्ट करें। इन्हीं अखिल मर्त्यामर्त्य ब्रह्माण्ड के मौलिक प्राण रूप ऋषियों को कवि कारु आदि नामों से पुकारा गया है इन्होंने ही सात पदों, मर्यादाओं, संसदों धामों, लोकों आदि की रचना की है जैसा कि पहले 'सप्तमर्यादा कवयस्ततक्षु' में कहा गया है, ये कवि वेही प्राण रूप ऋषि हैं जिन्हें 'इत्था जीजनत् सप्त कारून्' (ऋ० ४-१६-६) 'कारु' नाम से पुकारता है। एक कारु सोम नामक उत्तम पुरुषीय प्राण भी है अतः वह भी 'कारुरहं भिषगुपलप्रक्षिणी नना' में अपने को कारु भी कहता है। यह भी ध्यान रहे कि 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' के चार पद (या पदानि) इन्हीं सातों पदों में से प्रथम चार पद हैं, जिन चारों में से तीन पदों को गुहा या पूर्वार्द्ध में निहित या सुरक्षित बताया गया है, 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' (आगे मन्त्र ४५ देखें)। इन पदों की पूर्ण व्याख्या मन्त्र २३ से ३५ तक में की गई है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति इस 'पदं' तत्त्व को जानता या अनुभूत करता है उसी को अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। 'पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः' (२३)। यह है इस 'पद' तत्त्व की महामहिमा।

दीर्घतमा ऋषि जी यहां पर 'पाकः' नामक प्रजापति के द्वारा 'अग्नि विद्वान्' से उक्त सातों पदों या पदानि के बारे में जानने का प्रश्न नहीं कर रहे हैं। इन सात पदों में से चार पद रूप तो उस पाकः नामक प्रजापति का आध्यात्मिक शरीर स्वयं है। उसे जानना वे शेष तीन पद या पदानि हैं जिनको यहां पर इस ऋचा के प्रश्न के शरीर में तथा 'गुहा त्रीणि निहिता' (१ १६४-४५) में दोनों स्थलों में 'निहिता' नाम से पुकारा गया है। अतः यही 'निहिता' पद इस वाक्य की कुञ्जी है। यही इसके अर्थ की मञ्जूषा को खोल सकता है। फलतः पाकः को ये ही 'निहिता पदानि' या 'गुहा त्रीणि निहिता' पदानि को जानने की इच्छा या जिज्ञासा है। क्योंकि ये तीन पद तो

'गुहा' या भूर्भुवः स्वः या त्रिपादामृत या पूर्वार्द्धीय अमृतमय भाग में छिपा कर गूढ रखे हुये हैं। उन्हीं का उद्घाटन या साक्षात् दर्शन करा देने या अनुभूति पा जाने के लिए यह प्रश्न किया गया है। इसीलिए इनको यहां पर 'एना (नि) देवानां निहिता (नि) पदानि' या दैवी देवताओं या अमृतमय गूढ़ रूप से सुरक्षित पद या भूर्भुवः स्वः लोक या स्थान या तत्त्व कहा गया है। अतः इनके निगूढ़ छिपे अदृश्य होने के कारण इन्हें 'मनसाऽविजानन्' या भौतिकात्मीय मनोरूप आत्मा से अज्ञेय बतलाते हुए पाकः नामक प्रजापति 'पृच्छामि' या 'प्रश्न कर रहा हूँ' कह रहा है कि 'वह कौन व्यक्ति है जो इन (गुहा त्रीणि) 'निहिता पदानि' का साक्षात् दर्शन करा दे, ? ये तीन पद वही हैं जिन्हें 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पूरुषः' कहा गया है; जिसे इनकी अनुभूति ज्ञान या प्रकाश मिल गया, वही ब्रह्ममय ज्ञानी बन गया। यह कार्य केवल योग का साध्य है, अग्नि विद्वान् की जागृति या उद्दीप्ति है जिसे मात्र योग से जाना जा सकता है। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

'वत्से ······ ओतवा उ'— पणियों की कथा से संकेत मिलता है कि गायों को उक्त 'निहता पदानि' को गुहा में छिपाया गया था (सरमा पणि संवाद ऋ० वे० १०-१०८ देखें)। कथानक तो रोचकता के लिए हैं। रहस्य यह है कि पूर्वार्द्ध या भूर्भुवः स्वः लोकों या 'निहिता पदानि' या गुहा में 'गौः' रूप तत्त्व या उस गुहा रूप गौ में उसका वत्स रूप भौतिकात्मा के दश ज्ञान रूप प्राण छिपा कर गर्भ में रखे हुए हैं। पूर्वार्द्धान्त में वह वत्स रूप भौतिकात्मा ३६० दिनों का (केवल दिनों का ही, रातें-इसमें शामिल नहीं हैं) वत्स उत्पन्न हो गया है जिसे वष्कय' या एक वर्ष का कहते हैं, यह दिन रूप वर्ष का वत्स है, जब यह उत्तरार्द्ध में ३६० रातों के वर्ष से युक्त होता है तब इसे 'वत्सरः' या संवत्सर या संवत्सर ब्रह्म कहते हैं। तब वह गौ रूप माता भौतिकात्मा रूप वत्स से युक्त हो जाती है जैसा कि आगे की ऋचाओं में वर्णित मिलेगा। वत्स की व्युत्पत्ति वत् = सदृशं + सः = वह = 'तद्वत्' उसी जैसा, पूर्वार्द्ध जैसा, 'निहिता पदानि' जैसा, अमृतमय, भौतिकामृत मय है। जब उस 'निहिता पदानि' को गुहा रूप गौ से यह तद्वत् (वत्स) अमृतमय भौतिकामृत मय रूप का उत्पन्न हो जाता है तब सृष्टि या योग दोनों की परिस्थिति में महान् अन्तर आ जाता है। त्रिपादामृतीय गुहा वाली गुहा रूप गौ तो सज्ञान सचेतन गौ है। ये दोनों सचेतनता और सज्ञानता के विभिन्न विभाग हैं, उन भागों को दैवी प्राणा या दश प्राणा या देवता कहते हैं। वे अमृतमय

प्राण हैं, भौतिक नहीं। जिस भौतिकात्मा रूप 'वत्स' की उत्पत्ति हुई है उसमें उक्त प्राण रूप सज्ञानता या सचेतनता नहीं रहती, अतः उसे बल या वृत्र की चट्टान कहते हैं। भौतिकात्मा अश्रु या रस रूप है उसी को 'अश्मा' पत्थर या स्फटिक या चट्टान कहा जाता है। उसी में ज्ञान रूप ब्रह्मा जिसे ब्रह्मणस्पति या 'इन्द्रस्येन्द्रियमिदं' कहते हैं, विद्दति द्वार से प्रविष्ट होता है। अतः गुहा रूप गौ में प्राण रूप गौओं को चुरा कर रखकर उसके बाहर चट्टान से बन्द रखने की पणियों की कथा गढ़ी गई है जिसे सरमा देवशुनी—सरणशील दैवी प्राण—प्राणायामादि ध्यानादि के द्वारा पता लगा सकती है और ज्ञानमय बृहस्पति या प्राणमय इन्द्र उन गायों या खोये प्राणों को प्राणों (देवशुनी सरमा) के बनाये मार्ग या विद्दति द्वार से प्रविष्ट होकर पा जाते हैं। यह सरमा पणि की कथा का गूढ रहस्य है। यह योग की प्रक्रिया का अद्भुत प्रकार का विवेचन है। इसे इस ऋचा में ही (योग) यज्ञ रूप में स्पष्ट वर्णित किया है। इस यज्ञ क्रिया का प्रयोग दोनों प्रकार की विवेचना एक साथ देने के आशय से किया गया है (१) योग यज्ञ (२) सृष्टि यज्ञ, दोनों के तत्त्व एक ही होते हैं, केवल प्रक्रिया में ये एक दूसरे से विपरीत होते हैं। वह यज्ञ इस प्रकार है।

यज्ञ का मुख्य कर्ता भी वही है जिससे पाकः प्रजापति प्रश्न कर रहा है। वह "अग्नि विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति पञ्चयामं त्रिवृतं सप्त तन्तुम् ॥" (ऋ० वे० १०-५२-४) ऋचा में वर्णित विद्वान् नाम अग्नि का है। परन्तु यहां पर जब पाकः ने इस अग्निर्विद्वान् से प्रश्न करके ज्ञान प्राप्त कर लिया तो इसके सप्तर्षि रूप सात प्राणों ने यज्ञ कर्म को सँभाला। इन्हीं सप्तर्षियों को जिनमें अग्निर्विद्वान की ज्योति जग गई हैं, पिछले परिच्छेदों में 'कवि' या 'कवय' नाम से सप्रमाण प्रसिद्ध बताया जा चुका है। उसमें स्पष्ट लिखा भी है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' और इन्हीं के बारे में 'इत्था जीजनत् सप्तकारून्' (ऋ० वे० ४-१६-६) मंत्र में स्पष्ट लिखा है कि, इन सप्त कारू या कवियों को (अग्निर्विद्वान् ने) उत्पन्न किया या जागृत किया; इनको नये रूप में नहीं, वरन् वर्तमान अजागृत रूप से जागृति मात्र दी, क्योंकि इनके मूल बीज रूप धर्म पहले से विद्यमान थे 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (मन्त्र ४३ की उक्षा वाली व्याख्या देखें)। कवि नामक प्राण तो दैव्या ऋषयः या दैवी प्राण हैं, ये अग्निर्विद्वान् के ही अंग हैं, अमृतमय अंग हैं, अभौतिक अंग हैं इनमें से प्रत्येक अपने अपने भौतिक प्राण रूप तन्तु की तान को ऊर्णनाभि की तरह उगलता है। इस उगलने का लक्ष 'ओतवा' या सृष्टिरूप जाल बुनने, बीनने

या बिछाने का है। यह जाल जिस प्रकार रेशम के कीड़े का अपना बुना बीना या ताना जाल उसी को अपने ही को जाल ग्रस्त कर देता है उसी प्रकार उक्त पाकः सप्त कारू ऋषियों और अग्निर्विद्वान् दोनों को अपने जाल में बन्द कर लेता है। अग्नि या यही पञ्चयाम (= पञ्चप्राणोदानापानव्यानसमान) का और सप्तन्तबी = सात प्राणों का अभौतिक जाल अमृतमय जाल अब भौतिक पञ्चयाम और भौतिक तन्तुओं का लोहे का सा कठोर पीजड़ा बन जाता है। इसका विवेचन ऋ० वे० १०-१३०-१, २ ने इस प्रकार दिया है :—

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एक शतं देवकर्मभिरायत ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ॥
पुमाँ एन तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधि नाके अस्मिन् ।
इमे मयूखा उप सेदरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥"

यहां पर जाल बुनने वालों का नाम 'पितरः' दिया है। ये पितरः भी वे ही दैवी सप्तर्षि रूप पूर्व पितरः हैं जो सृष्टि यज्ञ में भौतिकात्मीय प्राणों के सूतों का जाल बुनते हैं। वास्तव में ये ऋषि रूप प्राण तो दैवी अंग या प्राण हैं। इस जाल का मुख्य निर्माता तो 'पुमान्' पुरुष या अग्निर्विद्वान् ही है जो इसे बुनवाता भी है और उधेड़ता भी रहता है। यह उधेड़ना या 'उत्कृणत्ति' क्रिया करना ही योग है, योग प्रक्रिया है जिससे इन्हीं जाल में तने भौतिक प्राण रूप ऋषियों या 'आङ्गिरसा नवग्वा' या नौ संख्या के और नवीन भौतिक प्राण वाले ऋषियों से दैवी 'दशाग्वा' ऋषियों (दश प्राण वालों पञ्च प्राणोदानादि पञ्च 'वाक् प्राणमनः चक्षु श्रोत्रं' वालों) की जागृति या अनुभूति प्राप्ति की जाती है। तन्तु वाले प्राण ही आङ्गिरस नवग्वा या दशग्वा विप्रा कहलाते हैं। (ऋ० वे० १-६२-३, ४, ५)

इस सृष्टि जाल और उसके योग द्वारा उधेड़ने या उत्कृणन का विवेचन अथर्ववेद (८-८-५ से १४) ने इस प्रकार दिया है :—

"अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो मही।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥
... ...
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥
... ...
साध्या एकं जालदण्डं मुद्यत्ययन्त्योजसा ।

रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥
विश्वेदेवा अपरिष्ठा द्रुञ्जुन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥

इसमें इस सृष्टि या योग जाल के अङ्ग प्रत्यङ्ग में स्थित देवता रूप तत्त्वों का निर्धारण करके उक्त भाव को और अधिक स्पष्टता दे रखी है।

मंत्र ६—

अभी प्रश्न चल ही रहे हैं; ये प्रश्न तो अन्त तक चलते रहेंगे। इधर ५, ६, ७ वें मन्त्रों में कई प्रश्न साथ साथ किए गये हैं। उनका उत्तर साथ साथ तथा मंत्र ३२ तक क्रम से दिये गये हैं। इसके अनन्तर यह पाकः नामक प्रजापति मंत्र १८ और ३४ से फिर दूसरी नयी प्रश्नावलियाँ पूछता है जिनका उत्तर क्रम से ३३ तक और अन्तिम ५२ वीं ऋचा तक दिया गया है। यह पूरा सूक्त पाकः कः प्रजापति और अग्निर्विद्वान् दोनों के प्रश्नों और उत्तरों के गम्भीर कथोपकथनों से भरा हुआ है। अन्यत्र न ऐसे गम्भीर प्रश्न किये गये हैं, न ऐसे प्राञ्जल उत्तर उपलब्ध होते हैं। यह दीर्घतमा ऋषि की दीर्घतमा प्रतिभा की ऊँची दार्शनिक उड़ानों की स्वर्गीय दिव्यलोकीय यात्रा या ब्रह्माण्ड विजयी यात्रा का—जिसे वास्तव में योग यात्रा का विवेचन कहना उचित है उसी का—अभूतपूर्वचित्रण है। ऐसे साक्षात्कार के चित्रण अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसमें मंत्र ४३, ३१, ९, और १ में साक्षात्कार करने अर्थ के 'अपश्यम्' धातु का स्पष्ट प्रयोग है, और अधिकांश स्थलों में वर्तमान काल का प्रयोग भी इसी साक्षात्कारीय योग दृष्टि की ज्वलन्त किरणें बखेरता हुआ स्पष्ट द्योतमान मिलता है। प्रस्तुत प्रश्नावली की दूसरी ऋचा इस प्रकार है :—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ६ ॥

इस मंत्र की व्याख्या की कुञ्जी रूप शब्द 'न विद्वान्' है जिसका अर्थ आज तक के सभी धुरंधर विद्वानों ने, पूर्वोक्त सिलसिले या चल रहे क्रम या सन्दर्भ को न जान सकने के कारण इस 'न विद्वान्' पद का अर्थ (As one all ignorant या 'ऐसे व्यक्ति के समान जो नितान्त अनभिज्ञ है' लिखकर सारी ऋचा के अर्थ में ही नितान्त अनभिज्ञता की धूल झोंक दी है। वास्तव में यहां पर 'न विद्वान्' में 'न' उपमावाचक है और अर्थ यह है—जिस प्रकार 'को विद्वांसमुपागात्प्रष्टुमेतत्' (मंत्र ४) में मैं कः प्रजापति, विद्वान् नामक अग्नि के पास पूछने गया था उसी प्रकार यहां इन कवियों से पूछता हूँ (कवीन् पृच्छामि)। यहां पर भी पूछने वाला वही

पाकः नामक कः प्रजापति ही है, पर वह यहां अग्नि विद्वान् से न पूछ कर, कवियों से पूछ रहा है उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि विद्वान् से पूछा था।

क्योंकि जब पाकः ने अग्नि विद्वान् से पंचम ऋचा में प्रश्न किया था तो उसने इसे इन सात प्राण रूप ऋषियों की अनुभूति या ज्ञान दे दिया। अब सामने बैठे इन्हीं से प्रश्न करना उचित हो गया। अब प्रश्न यह है कि ये कवि कौन हैं ? और कवि नाम किसका है ? ये कवि भी उसी अग्निर्विद्वान् नामक अमृत प्रजापति के दैवी प्राण रूप मौलिक अङ्ग हैं जिन्हें मन्त्र १५ में 'साकंजा सप्त दैव्या ऋषयः' कहा गया है। कवि माने योगी होता है जैसा कि मंत्र १८ के 'कवीयमानः क इह प्रवोचत्' वाक्य में कः प्रजापति या पाकः प्रजापति को कवीयमानः या योगनिष्ठ बतलाया है। इसी आशय को मंत्र १६ में कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत' वाक्य उस पाकः कः प्रजापति को अग्निर्विद्वान् का कवि-रूप योगनिष्ठ पुत्र बतलाते हुए उसे इन कवि रूप योगी रूप सात दैवी ऋषियों की अनुभूति करने वाला कहा गया है। इन्हीं सप्तर्षियों को या अग्निर्विद्वान् के मौलिक प्राणों को 'सप्तकाहन्' या सप्त कवि कहा जा चुका है। अतः यहां पर कवि रूप या योगी रूप पाकः या कः प्रजापति उस अग्निर्विद्वान् के उन मौलिक अङ्ग रूप सप्तर्षियों को ही 'कवीन्' नाम से या योगनिष्ठ नाम से पुकार कर उनसे अपनी योगनिष्ठावस्था या समाधि की अवस्था में ही प्रश्न कर रहा है, मानो भरी सभा में विद्वान् विद्वानों से वार्तालाप सा कर रहा हो। ये दैवी प्राण या अग्निर्विद्वान् के मौलिक अङ्गरूप प्राण ही अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा और दिश आदि नाम देवता या भौतिकात्मीय पाकशरीर वाक् प्राण चक्षु मनः श्रोत्रं के देवता या आत्मायें हैं; उन्हीं से पाक शरीरी अंग प्रश्न कर रहे हैं।

पूछने के तीन मुख्य कारण हैं (१) विद्मने या अनुभूति रूप ज्ञान के लिए (२) अचिकित्वान् या पाक में प्रविष्ट हो जाने से या पाकं गर्भ में बन्द होने से ज्ञान रहित हो गया हूँ (३) और वे कवि रूप योगनिष्ठ प्राण दैवी रूप होने से योगमय ज्ञानमय हैं। पूछना क्या है ? इसका कोई अन्त ही नहीं है, न पारा-वार। इस ऋचा तथा अगली ऋचा में तो 'पृच्छामि' और 'इह ब्रवीतु' पदा-वली के प्रयोग से प्रश्न किय गये हैं, पर कहां तक प्रश्न किए जाते ? अतः प्रत्येक ऋचा को प्रश्न की भाषा से व्यर्थ में लादने के स्थान में आशय का वर्णन करते गये हैं जिनके उचित प्रश्न उनके गर्भ में ही निहित समझने चाहिए। मन्त्र १८ में "दैवं मनः कुतो अधिप्रजातम्" वाक्य से पुनः स्पष्ट प्रश्न है, उसका तथा सम्बद्ध प्रश्नों का उत्तर मंत्र ३३ तक दिया गया है। पुनः मंत्र

३४ में 'पृच्छामित्वा', को बार बार प्रयुक्त करके' प्रश्न करते हुए स्मरण दिलाया जा रहा है कि यहां पर जितना भी विषय प्रतिपादित हुआ है, हो रहा है और होगा वह सब प्रश्नावली या प्रश्नोत्तर शैली में ही है। प्रस्तुत ऋचा के प्रश्न में इतनी बड़ी भूमिका को विस्तारपूर्वक बांध कर देने का आशय भी यही है। इसका प्रश्न यह है :—

"अपि स्विद् (तद्) एकं किम्, यः अजस्य रूपे इमा षळ् रजांसि वितस्तम्भ"—कि सचमुच में, सत्य सत्य रूप में वह 'एक' (मेवाद्वितीयं) नामक तत्त्व कैसा है ? कौन है ? किस प्रकार का है ? जिसने अपने 'अज' या अजन्मा या अजायमान रूप में ही इस सृष्टि या अतिसृष्टि के छहों विभागों या मौलिक भौतिक प्राण रूप लोकों को (सृष्टि या अतिसृष्टि के) मेरुदण्ड के रूप में स्थापित किया ?

इसका विस्तृत उत्तर अगली आठवीं ऋचा से प्रथम प्रश्नावली की समाप्ति से प्रारम्भ होकर मन्त्र २१ वें में समाप्त होता है जिसमें लिखा है कि 'इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीरः पाकमत्रा विवेश'। इसकी व्याख्या आगे यथास्थान दी जावेगी। यहां इसके 'धीरः' और यजु के प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीराः" मन्त्र के 'धीराः' शब्दों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उस धी-धारी को वैसे ही धीधारी या योग से प्राणों को धारण या उद्दीप्त करने वाला कहा है जैसा कि 'कः' या 'पाकः' प्रजापति ने यहां किया है। इसके मुख्य सिद्धान्त, छह रजांसि का ही विवेचन मन्त्र १० से १५ तक और २३ से २५ तक की ऋचाओं में अनेक शैलियों से विस्तारपूर्वक दिया है; और मन्त्र १४ में इन छह लोकों के मूल रजः से सूर्य तत्त्व के मूल स्रोत चक्षुः को आवृत भी कहा है और मन्त्र १९ में इन छह लोकों को सृष्टि चक्र के रथ की धुरी में जड़े हुए बतलाया गया है। यह सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों दर्शनों का प्रदर्शन करता है।

मन्त्र ७—

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥

यह ऋचा यहां पर पाकः नामक कः प्रजापति के अग्नि विद्वान् से किए गये तीसरे गम्भीर प्रश्न को सामने रखती है। इसमें 'वामस्य' 'निहितं' 'पदं' और 'वेः' शब्द पारिभाषिक हैं। वाम नाम जैसा पहले बताया जा चुका है

दर्शन या सृष्टि या योग का पूर्वार्द्ध का है जिसके उत्तरार्द्ध को दक्षिण या दक्षिणा कहते हैं। इस पूर्वार्द्ध रूप वाम तत्त्व को 'गुहा त्रीणि निहिता' (पदानि) या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत के तीन पद या पाद रूप अमृत निहिता या सुरक्षित करने वाला भी पहले मन्त्र ५ में 'देवानामैना निहिता पदानि' कहा जा चुका है। यहां पर इन तीन पदों या पदानि को वाम रूप पूर्वार्द्ध का एक पूरा पूर्वार्द्धीय गुहा रूप 'पदं' नाम से पुकारा जा रहा है। तत्र पाकः नामक कः प्रजापति प्रश्न कर रहा है—कि जो व्यक्ति इस पूर्वार्द्धीय वाम नामक तत्त्व के पूर्वार्द्ध रूप गुहा नामक पद या निवास को 'निहित' या सुरक्षित या अमृत रूप में जानता है या कभी योग द्वारा साक्षात्कार करके बैठा है वह अपने उस साक्षात्कार की अनुभूति का स्पष्ट व्याख्यान करने यहाँ आवे। इस विषय पर अन्य किसी दूसरे को, जो योगी यति नहीं है, बोलने कहने का कोई अधिकार नहीं है यह बताना इस प्रश्न का मुख्य लक्ष्य है, यह न भूलें।

यहाँ पर इस वाम का नाम 'वेः' या पक्षी या सुपर्ण दिया है। सुपर्ण तो कई हैं, कई प्रकार के हैं। इनके दार्शनिक और योगानुभूतिक शरीर का प्रतिपादन छन्दों के पादों या अक्षरों से किया जाता है। यहाँ पर सन्दर्भ के अनुसार वाम नामक पूर्वार्द्धीय गुहावासी सुपर्ण या 'वेः' (विः के षष्ठी रूप) का विवेचन है। क्योंकि यहां पर इसके पद या स्थान को (गुहा में) निहित या सुरक्षित कहा गया है, जिसे यज्ञ का पूर्वार्द्ध कहा जाता है; और गायत्री ही को यज्ञ या योग और सृष्टि यज्ञ का पूर्वार्द्ध कहा गया है। 'गायत्री वै यज्ञस्य पूर्वार्द्धः''। अतः यहां का 'विः' या सुपर्ण गायत्री त्रिपादी है जिसका निवास पूर्वार्द्ध में ही है। वही गायत्री वास्तविक सुपर्ण भी है, वही त्रिपादामृत रूप अमृत कलश को ढोकर लाने वाली भी है। अतः लिखा है ''गायत्री सुपर्णो (श्येनो) भूत्वा सोममाजहार।'' यह गायत्री तो दर्शन या सृष्टि का खाका या मेरुदण्ड मात्र है। देवता रूप में इसी गायत्री सुपर्ण को 'सूर्य' तत्त्व कहते हैं, उसके सोमकलश को चन्द्रमा। अतः 'सूर्याचन्द्रमसौ सुपर्णौ' भी कहा जाता है। येही 'द्वा सुपर्णा' भी हैं। पर प्रस्तुत ऋचा में केवल वाम नामक पूर्वार्द्धीय अमृतमय गायत्री शरीरी सुपर्ण मात्र का विवेचन किया जा रहा है। यह सुपर्ण अमृत ज्योति रूप या उत्तर और उत्तम ज्योतिरूप ब्रह्म का त्रिपाद् स्वरूपी तत्त्व रूप सूर्य है न कि आकाश में चमकने वाला।

इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में उस वाम नामक सुपर्ण का सम्बन्ध इसके अग्रिम विकास रूप गावः, उनके शरीर, तथा उनके पेय से बतलाया जा रहा है। इस त्रिपादामृत रूप वाम नामक सुपर्ण का अग्रिम प्रथम विकास वह शरीर या

दिव्य शरीर है जिसे भौतिकात्मा कहते हैं। वर्णनान्तर में इसी दिव्यः शरीर को 'दिव्यः स सुपर्णः' (मंत्र ४६) या द्वितीय सुपर्ण चन्द्रमा कहते हैं। यही उस वाम नामक प्रथम अमृत ज्योतिर्मय सुपर्ण का वव्रि या रूप या वर्ण या प्रकाश रूप आत्मा के नाना रंग ही उनके वस्त्र या शरीर हैं। इस शरीर के अनन्त रंग रूप अङ्ग हैं जिनमें से प्राण रूप अङ्ग मुख्य हैं जिन्हें 'स्त्रियः सतीस्ताँ उ पुंस आहुः' (मन्त्र १६) में स्त्रियां कहा है और मन्त्र १५ में 'साकंजा षडयमाः'। इन्हीं को यहां पर और प्रायः अधिकांश वैदिक ऋचाओं में मुख्यार्थ में 'गावः' ही कहा गया है। इसीलिए कहा है कि ये गावः उसे प्रकाशमय वाम सुपर्ण की ज्योति के नाना रंग रूप अङ्गों का वस्त्र या शरीर धारण की हुई हैं। क्योंकि मूल, भौतिकात्मा का रूप केवल वही प्रकाश किरण या रंग रूप मात्र है उन्हीं से यह स्थूल ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है। फलतः ये गाय रूप प्राण उस वाम नामक सुपर्ण रूप, दर्शन या सृष्टि के पूर्वार्द्ध रूप शिर से (वस्तुतः उस वाम सुपर्ण के पूर्ण शरीर से—क्योंकि वह वाम ही शिर है; गायत्री को भी "गायत्री वै यज्ञस्य शिरः" कहा गया है) दूध को अपने शरीर रूप स्तनों में खींचकर भरती हैं। इस 'दूध' तत्त्व को अब तक किसी भी व्याख्याकार या भाष्यकार या अनुवादक ने समझ ही नहीं पाया है। यहीं पर सबकी गाड़ी अटकी है। गाय के शरीर में दो तत्त्व हैं (१) दूध (२) रक्त (राग)। दैवीवृत्ति के देवता तो इन प्राणों के इन शरीरों से अमृतमय ज्ञान ज्योति रूप दूध को दुहते हैं, पर आसुरी वृत्ति वाले असुर या पणि कसाई की तरह या जोंक की तरह इन्हीं स्तनों से दुग्धपान करने के स्थान में रक्त-मांस का पान या खानपान में या इनके स्तनादिस्पर्शादि सुखादि की भौतिकता में रम या सन जाते हैं। इन्हीं दो भावों को केवल एक भावाभिव्यक्ति द्वारा यहाँ पर व्यक्त करने के लिए ऐसी संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया गया है जिसको तत्कालीन जनता इतना विश्लेषण बिना दिए ही शेष भाव को स्वयं समझ लेने की आदी थी।

'उदकं पदापुः' – इन गाय रूप प्राणों के शरीर रूप मौलिक भौतिकात्मीय प्रकाश की नानाविध 'रूप' नामक किरणें किस आधार से जीवित रहती हैं? इसका विवेचन देते हुए ऋचा कहती है कि 'वे गाय रूप प्राण अपने चरणों से उदक का पान करती हैं'। यहां पर इन प्राणों के तात्त्विक विवेचन को पुनः दुहराना आवश्यक हो गया है। ये प्राण रूप गायें जिस 'त्रिपादामृतीय ज्योति से उत्पन्न वस्त्र को पहनी हुई हैं, पहले कहा गया है, जिस ज्योति रूप शरीर को ये प्राण धारण किए हुए हैं उसका भी एक बाहरी खोल है। क्योंकि भौतिकात्मा दो प्रकार का है (१) अमृत भौतिकात्मा (२) मर्त्य भौतिकात्मा। जिस शरीर को

इन प्राण रूप गायों ने अब तक पाया है वह तो अमृत भौतिकात्मा रूप है। इसको धारण करने वाला द्वितीय कोश या खोल रूप द्वितीय शरीर मर्त्यभौतिकात्मा है। इस द्वितीय शरीर या कोश रूप शरीर का नाम 'आपः' है। कहा भी है "प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योती रूपं चन्द्रो यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः सर्वेऽनन्ताः ॥" (बृह. उप. १-५-१०)। यह शरीर भी ज्योती रूप ही है। यह प्राण चन्द्रमा के समान है। चन्द्रमा रूप प्राण में जो उज्ज्वलता है, प्रकाश है, वह ज्ञानमय दुग्ध की त्रिपादामृतीय उज्ज्वलता है। उसकी जो ज्योतियां ज्ञानरूप में इतस्ततः विखरती है जिनसे सबको ज्ञानानुभूति (शरीर में) होती है वह आपो रूप शरीर है। इन दोनों के सम्मिलित रूप को सोम या चन्द्रमा कहते हैं। यह मनोरूप चन्द्रमा है, इसके प्रकाश किरण या ज्ञानभिन्नतायें अन्य गाय रूप प्राण हैं। ये एक दूसरे में व्याप्त हैं, सब बराबर तथा अनन्त रूप के हैं।

अब परिस्थिति यह हुई कि त्रिपादामृत से निःसृत ज्योति रूप प्राण तो ऊर्ध्वः स्थित वाम नामक त्रिपाद सुपर्ण से अमृत रूप ज्ञान के दूध को दुहते हैं। ये ही प्राण अपने इस आत्मा रूप अध्यात्म शरीर को धारण करने के लिए चतुर्थपाद रूप भौतिकात्मीय विकास से आपोमय शरीर का पान करते हैं या सोमपान करते हैं या सोमीय मर्त्य भौतिकात्मीय शरीर को धारण करते हैं। यहां पर 'पदा' माने संदर्भानुसार, चतुर्थ पद या पाद से है। चतुर्थ पद या पाद में ही आपोरूप मर्त्य भौतिकात्मा के अन्न की आविर्भूति होती है। ये प्राण रूप गायें अपने शरीर के चतुर्थ पाद रूप भौतिकात्मा के उसी आपः रूप अन्न या भौतिक प्रकाशमय शरीर का पान या प्राप्ति करती हैं॥

मंत्र ८—माता पितरमृत आबभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

यहां पर जिन माता और पिता का वर्णन है उनकी व्याख्या आगे मन्त्र ३३ के "द्यौर्मे पिता जनिता ...... मे माता पृथिवी महीयम् ॥" वाक्य में दी गई है, जिसमें लिखा है कि सृष्टि का पूर्वार्द्ध जिसे द्यौ या द्यावा कहते हैं वह मेरा या इस सृष्टि का पिता है; यही भाव कई अन्य ऋचाओं में भी अभिव्यक्त किया गया है जैसे मधुवाद में 'मधु द्यौ रस्तुनः पिता' इत्यादि। इसी सृष्टि का उत्तरार्द्ध जिसे पृथिवी या भूमि कहते हैं उसकी मही या पूजनीया माता है। इन दोनों द्यावापृथिवी का सम्मिलित रूप 'ऋतम् बृहत्' कहलाता है जिसका उल्लेख 'हंसः शुचिषत् ... ऋतं बृहत्' और 'ब्रह्मा देवानां ... ऋतं बृहत्' दो स्थलों में पूरे सृष्टि चक्र को ऋतं बृहत्' या ऋतं ब्रह्म कह कर किया गया है।

मही माता या माता मही पृथिवी या सृष्टि के उत्तरार्द्धीय भौतिक पक्ष के कई नामान्तर हैं। इसका जन्म पूर्वार्द्धीय (पिता माता सम्मिलित) द्यौ रूप से होता है। बृह. उप. ने इस क्रम की व्याख्या विस्तार से दे रखी है (१-४) जिसका शीर्षक 'अहंकारादेशः' है। इसमें लिखा है कि वह पूर्वार्द्धीय पिता रूप पुरुष अकेला होने से भयभीत रहा, उसने साथी पाने की मनसा या कामना की ही थी कि उसको स्त्री रूपिणी भौतिकात्मा ने चारों ओर से व्याप्त कर उसके स्वरूप को अर्द्धवृगल या अर्धनारीश्वर का बना दिया। उसने उन दोनों को दो भागों में विभक्त कर दिया, वे पति पत्नी बन गये। पर पत्नी ने सोचा कि उसी से उत्पन्न (पुत्री) मैं उसकी पत्नी कैसे बनूं ? अतः वह गाय बनी तो पुरुष गो (बैल) बना, वह वडवा बनी तो पुरुष अश्व। इस प्रकार सभी मिथुनों के जोड़े बन गये। इसी लिए एकाध स्थलों में 'पिता दुहितुर्गर्भ माधात्' (मंत्र ३३) में लिखा भी है कि पूर्वार्द्धीय पिता ने उत्तरार्द्धीय दुहिता को गर्भदान दिया। अस्तु यहां पर पहले 'माता पितरमृत आबभाज' का आशय समझना है। यहां पर 'माता ने ऋत नामक अर्द्धनारीश रूप अखिल ब्रह्माण्ड के एकात्म्य रूप से अपने को भौतिकात्मा के पृथक् रूप में विभक्त कर लिया' कहा गया है। यही बात उक्त बृह. उप. से दिए उद्धरण में कही गई है।

अब 'धीत्यग्ने मनसा सं हि जग्मे' का भाव समझना है। इस विभाजनोत्तर काल में उस माता रूपिणी भौतिकात्मा ने अपनी मनोरूपिणी भावना वाले शरीर से ही—क्योंकि उसका आविर्भाव पुरुष के मनः से या मनसा या इच्छा से हुआ था—उस पुरुष को पति रूप में प्राप्त हुई या पति मान कर गई या मिली जिसका सबसे प्रथम (अग्रे) उद्देश्य 'धीति' या पञ्च प्राणों के मिथुनों को धारण करके 'धीराः' या धीवती या प्राणवती बनने का था। जब तक उस में पञ्च प्राणों की उभयात्मकता का विकास नहीं हो जाता तब तक उसका केवल मनोरूप चान्द्रमस या सोमीय शरीर पत्नीत्व का सुख या आनन्द या सन्तानादि बीजाधानादि कर्म नितान्त असम्भव होता। अतः वह इसी लक्ष्य से उससे पत्नी रूप में मिलने गई है। इस परिस्थिति का विवेचन आगे मंत्र ३२ में 'स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहु प्रजा निर्ऋतिमाविवेश' और मन्त्र ३३ में 'उत्तानयोश्चाम्वोयोनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' वाक्यों से दिया गया है। इसी भाव को यहां पर 'सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु' वाक्य से दिया गया है कि "वह माता रूपिणी भौतिकात्मा इन प्राणों के गर्भ को धारण करने की कामना से बीभत्सित या रजस्वला या पुष्पवती होकर, गर्भरस या स्त्रीत्व की कामनामयी आग्नेयी रसमयी, या

आजकल की भाषा में स्त्री के हारमोन्स से युक्त होती हुई, निविद्ध हो गई या गर्भमयी बन गई।" इसी को मंत्र ३२ में 'निर्ऋति रूप मर्त्य-गर्भ में वह पति या पिता उस माता की योनि में व्याप्त होकर प्रविष्ट हो गया" कहा गया है; और मंत्र ३३में "पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध रूप दो चमुओं के मध्यस्थानीय योनिरूप भाग में पूर्वार्द्धीय पिता ने उत्तरार्द्धीय दुहिता नामक पत्नी में या उत्तरार्द्धीय माता के गर्भ में वाक् रूप दुहिता का गर्भ धारण कर दिया" कहा है। इसी बात को यजुः (पु-सू) में "प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥" भी प्रजापति रूप द्यौ का गर्भ रूप पृथिवी में व्याप्त होना लिखा है। बात सबमें एक है, इनमें भाषान्तर, शब्दान्तर और वाक्यान्तर मात्र की विशेषताएँ हैं

'नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः' पद की व्याख्या में व्याख्यातारों ने हद कर दी है। वे कहते हैं कि सारा संसार या सृष्टि उस माता की प्रशंसा करने दौड़ा आया या आई। अभी तो गर्भ ही धारण किया गया है, दौड़ लगाने वाले कहां से टपक पड़े ? यह वे भूल गये। अस्तु उपवाक् माने द्विपात् और चतुष्पात् होता है। इनमें द्विपात् तो भौतिकात्मा के उन तत्त्वों का संकेतक है जिन्हें नृ, ना, नर नार, मनुष्या आदि नामों से या वाक् प्राण मनः चक्षु श्रोत्रं त्वक् आदि नामों से पुकारा जाता है। और चतुष्पात् नाम अश्व गो अवि अजा पुरुषपशु नामक पञ्च प्राण उदान व्यान अपान समान नामक पशुओं का है, जिन दोनों प्रकार के प्राणों का संचार उस मही माता के गर्भ में आनमन या नमस्वन्त रूप में प्राप्त हो गया है। 'निविद्धा' शब्द में इसी गर्भ से गर्भिणी होने का संकेत है कि उसमें उक्त द्विपात् चतुष्पात् नामक प्राण वेन रूप में आनमन रूप में या नमस्वन्त रूप में उस गर्भ में प्राप्त हो गये हैं जिनका मुख्य लक्ष्य करके इस मही माता ने उस द्यौ रूप पिता या पति से अपने मानसिक भौतिक शरीर से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था।

योग पक्ष में माता भौतिकात्मीय शरीर है, जिसका गर्भरस निविद्ध होना प्राणों की जागृति है जिनमें पिता की ज्योति जगमगाई हुई है, और वे प्राण रूप उपवाक उस ज्योति रूप पिता को नमस्कार करते हुए सिर झुकाये हुए उसकी ज्योति का स्वच्छन्द आनन्द ले रहे हैं।

मंत्र ९—"युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनुगामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥"

इसमें सृष्टिचक्र की धुरी के दक्षिण भाग में उस माता रूप उत्तरार्द्धीय पृथिवी को जुती हुई बतलाया है जिस भाग में स्थित रह कर उसने अपने

भौतिकात्मीय गर्भ में 'नमस्वन्तइदुपवाकमीपुः' वाक्य के अनुसार उभयात्मक प्राणों का गर्भ धारण कर लिया था। योग पक्ष में यह दक्षिणा माता पूर्वार्द्धीय या उत्तरा (यणा) हो जाती है। अतः दूसरी पंक्ति में इसे 'त्रिषु योजनेषु या त्रिपादामृत पूर्वार्द्ध में देखा' कहा गया है। मंत्र १९ देखें। इन उभयात्मक प्राणों को वेदों में प्रायः गावः, चर्षण्यः वृजनीः धियः आदि नामों से पुकारा जाता है। अब इनके गर्भ धारण करने की पारी है। इनमें किन का गर्भ होगा ? इसको जानना कोई कठिन नहीं है। प्रत्येक प्राण का अपना अपना पृथक् पृथक् ज्योतिर्मय देवता या आत्मा है जिसके बिना वह प्राण प्राण ही नहीं रह सकता, निष्प्राण सा शरीर ही समझिए। वाक् का अग्नि, चक्षु का सूर्य, मनः का चन्द्रमा, श्रोत्रं का दिक् , प्राण का वायु देवता या आत्मा हैं। इन्हीं का गर्भ इन प्राणों में अधिष्ठित हुआ (अतिष्ठद्गर्भो वृजनीषु)। यहां पर 'अन्तः' या 'अन्तर्गत' शब्द इस रहस्य को खोल रहा है। गर्भरस इन्हीं प्राणरूपी शरीरों का हुआ था, अब इन प्राण शरीरों में इनकी आत्मा रूप देवताओं का गर्भ स्थापित हो गया है या योग से उद्दीप्त हो गया।

यद्यपि यहां पर इन प्राण रूप वृजनी या गायों की संख्या दश है पर ये सब एक शरीर की विभिन्न अङ्ग रूपिणी गावः या वृजनीः हैं। ये एक ही शरीर रूप गौमाता है जो एक ही माता उत्तरार्द्ध के गर्भ में है। जब इन प्राण रूप गावः या वृजनियों ने अपने देवता रूप आत्माओं को अपने अन्दर (अन्तः) गर्भ में धारण किया तो उनका एक शरीरी सामूहिक वत्स (सा) योगी उस पूर्वार्द्धीय माता के गर्भ में जागृति या जीवन या प्रकाश पा गया। इस वत्स को देख कर उस पूर्वार्द्धीय माता के प्यार की ध्वनि उच्चरित करते ही वह वत्स रूप प्राणमय देवात्ममय योगी ब्रह्म ने, 'वृषभो रोरवीति' का घोष उच्चरित कर दिया। अब शब्द ब्रह्म रूप उस वत्स का प्रथम जन्म हो गया। जब उस शब्द ब्रह्ममय वत्स ने आंख उठा कर उपर को देखा तो उसे अपनी वही माता उत्तरार्द्धीय गौ ही ऐसे रूप में दीख पड़ी जिसे वैदिक दर्शन में विश्वरूपा या पृश्नि या सर्वरूपगर्भा, केवल नानारूपगर्भा या नानाप्रकार के प्रकाश किरणरूप अनन्त बीजरूपिणी, प्रकाशमात्रबीजरूपिणी या यशः या शब्द ब्रह्म रूपिणी कहते हैं "तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं।···वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानां" 'वाचं धेनुमुपासीततस्याश्चत्वारस्तनाः' 'धेनर्वागस्मानुपसुष्ठुतैतु।' इत्यादि। वह वाक् ब्रह्माणी धेनु इस वत्स को तीनों लोकों में व्याप्त दीख पड़ी। क्योंकि अब वह केवल उत्तरार्द्ध में ही नहीं रह गई, अब उसमें पूर्वार्द्धीय द्यौ रूप पिता उसके दैवीप्राण रूप देवता सब समा गये। अतः वह तीनों लोक द्यावा, भूमि और मध्यस्थानीय अन्तरिक्ष या आकाश नामक सेतु

गर्त्त, स्थूण में भी व्याप्त हुई सी प्रतीत हुई। द्यावा भूमि सेतु नाम सृष्टि क्रम के तीन मुख्य भाग हैं। इन्हीं को यहां 'त्रिषु योजनेषु' या तीन योजनाएं या विभाग कहा है।

योग पक्ष में दक्षिणा माता पूर्वार्द्धीय है योग में प्रक्रिया उलटी होती है, अतः 'इसे तीन योजन या त्रिपादामृत में देखा' भी यहीं इसी में लिखा है। यह योग रूप धुरी के दक्षिणभाग में है, शरीर रूपिणी है। उसके प्राण शरीर के प्राण हैं। उन प्राणों की गायों में जो गर्भ धारण किया गया वह उनमें उनके देवता अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश की ज्योति जगाई गई। इनकी सम्मिलित ज्योति ही वत्स है, जिसकी माता (शरीर) की अनुभूति के साथ-साथ उस तेजस्विता की भी अनु भूति सम्भव है। माता भी सूक्ष्म ही अध्यात्म तत्त्व ही है। इस परिस्थिति की अनुभूति को तीनों लोकों में व्याप्त रहने वाले भौतिकात्मा के मूल बीज रूप विश्वरूप्य रूप की ज्योतिर्मयता की अनुभूति कहा जाता है। यह योग की परम स्थिति या परम धाम का विवेचन है। 'तद्धाम परमं मम' यही योग स्थिति है।

मंत्र १०—तिस्रो मातॄस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥१॥

इस मन्त्र में जिन तीन पिताओं और तीन माताओं का विवेचन है उनका स्पष्ट उल्लेख ऐ० ब्रा० (८.५.२७) ने इस प्रकार दिया है "योहवै त्रीन्पुरोहितान् त्रीन्पुरोधातॄन्वेद स ब्राह्मणः पुरोहितः स वदेत पुरोधाया अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता वायुर्वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षं पुरोधाताऽऽदित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधातैष ह वै पुरोहितो य एवं वेद ॥"......"एकमनसो यस्यैवं विद्वान्ब्राह्मणो राष्ट्रगोपः पुरोहितोभूर्भुवःस्वरोममोहमस्मि स त्वं सत्वमस्यमोहं द्यौरहं पृथिवीत्वं समाहमृक्त्वं तावेव संवहावहै ॥"

स्पष्ट है इस मंत्र में उल्लिखित तीन मातायें वही हैं जिन्हें उद्धृत ऐ० ब्रा० का उद्धरण तीन 'पुरोधातॄन्' या पुरोधाया कह रहा है, जिनके नाम पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ नामक सृष्टि या दर्शन के तीन मुख्य भाग हैं। इन तीनों के अधिष्ठाता देवताओं के नाम क्रम से अग्नि, वायु और आदित्य दिए हैं जिन्हें ऐ० ब्रा० तीन पुरोहित या तीन मुख्य प्राण कहता है और यह प्रस्तुत ऋचा तीन पिता। वास्तव में इन्हीं तीनों को सृष्टि का मुख्य त्रिवृत् माना गया है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में इस त्रिवृत् को मनः प्राणः वाक्=आदित्य वायु अग्नि कहते हैं। वाक्+अग्नि, प्राणः+वायु, मनः+आदित्य नामक तीन जोड़े ही अग्नि + पृथिवी, अन्तरिक्षं+वायु, और द्यौ+आदित्य नाम से या तीन पिताओं और तीन माताओं, अथवा तीन पुरोहितों और तीन पुरोधायाओं

के नाम से पुकारा गया है। इनमें पिता या पुरोहित नामक तत्त्व तो देवता या आत्मा रूप आधेय तत्त्व हैं तो तीन मातायें या पुरोधायायें आधारभूत तत्त्व हैं। इसका और अधिक स्पष्टीकरण बृह० उप० (१-५-१ से ७ तक) में दिया मिलता है, जिसमें भी वही तुलनात्मक विषय है जो ऐ० ब्रा० के उद्धरण के अन्त में दिया है। इसमें लिखा है कि मनः वाक् प्राणः तीन मुख्य तत्त्व हैं, जिन्हें प्राण, अपान और व्यान भी कहते हैं, ये मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय हैं; वाक् अयं लोक या पृथिवी है, मनः अन्तरिक्ष और प्राण असौ या द्यु लोक है। वाक् ऋग्वेद है, मनः ययुर्वेद और प्राण सामवेद (ज्ञानरूप बृहती ब्रह्मरूप में)। वाक् ही देवता हैं, मनः पितर हैं और प्राण प्रजा हैं। मन ही पिता है वाक् माता है और प्राण प्रजा हैं। इस अन्तिम वाक्य में उक्त तीनों पिताओं और माताओं तथा उनके पुत्र का एक साथ समाहार भी कर दिया गया है जिसका विवेचन हम मंत्र ९ में स्पष्टतया देख आये हैं। यहाँ उसी का विस्तार किया जा रहा है। उसी विषय की अधिक विस्तार से व्याख्या दी जा रही है कि मंत्र ९ में वर्णित माता (वाक् धेनु) एक नहीं त्रिपादामृतीय तीन माताओं का ऐक्य है; और उसमें गर्भ देनेवाला भी त्रिपादामृतीय तीन पिताओं का एक समाहार है। पर इन दो समाहारों से उत्पन्न वत्स केवल एक ही है; वह है भौतिकात्मा सोम 'प्राणः' आपः शरीरी चन्द्रः।

उन तीन अग्नि वायु आदित्य रूप पिताओं (या पुरोहितों) और पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ नामक माताओं (या पुरोधायाओं) से उत्पन्न यह प्राणः या सोम या चन्द्र या दैवी भौतिकात्मा रूप 'वत्स' या प्रजा उत्पन्न होते ही (मनुष्यों के बच्चों की तरह लेटे-लेटे रोने के स्थान में पशुओं के बच्चों की तरह) एकदम स्थूण की तरह सीधे खड़ा हो गया। उसी को वर्णनान्तर में "हिरण्यरूप मुषसो व्युष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य। आरोहथो वरुण मित्र गर्त मतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥" (ऋ० वे० ५-६२-९) हिरणरूप या प्राणरूप अयःस्थूणा या भौतिकात्मीय स्तम्भ कहा गया है जिसका विवेचन 'शकमयं धूममारादपश्यं' (मंत्र ४३) में दे दिया है। वे तीन मातायें और तीन पिता भी एक ही हैं समझने समझाने के लिए तीन हैं 'एकं सदेतत्त्रयं' और यह उत्पन्न वत्स भी एक ही है। यह भी एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है। यह भौतिकात्मीय 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्म है। अतः इसे यहां 'एकः' कहा है। इसमें उन तीन माताओं और पिताओं का समाहार है। इस एक में वे सब समाये हैं, उनकी अब पृथक् सत्ता नहीं रह गई। यह सामान्य जन्म से उलटा है, संसार में माता-पिता पुत्र को गोद में धारण करते हैं, पर यह स्वयं माता-पिता को

धारण कर रहा है, गोद में नहीं वरन् अपने शरीर में। सांसारिक बालकों में भी यह स्थिति रहती है, पर उनके माता-पिता पृथक् रहते ही हैं। इसके माता पिता तो सब इसी में समायें एकमय एकात्म तादात्म्यवाले हैं, यही इस वत्स की महती विशेषता है। इसी रूप में यह वत्स ऊर्ध्व या स्थूण की तरह खड़ा हुआ है। वे तीन मातायें तथा तीन पिता जो इसमें समाये हैं या जिनको वह अपने शरीर में धारण (बिभ्रत्) किए हुए हैं वे उसे सदा जाग्रत् और सतत क्रियाशील, अपने खिलवाड़ का खिलौना सा बनाते रहने पर भी, न तो कभी थकने देते हैं, न मरने या नष्ट होने; यह उनका दैवी भौतिकात्मीय अमर अनश्वर अजर पुत्र है।

(मन्त्रयन्ते···अविश्वमिन्वाम् —) अमुष्यपृष्ठ रूप या इन तीन-तीन दिव या त्रिपादामृत रूप माताओं और तीन पिताओं के पृष्ठ या पीठ या आसन या वाहन या शरीर रूप इस वत्स में आसीन या व्याप्त या स्थित होकर, ये माता और पिता आपस में उस वाक् की ही अनन्त महिमाओं पर विचार करते हैं या अनुभव करते हैं या उनका आनन्द लेते हैं जो केवल इस वत्स की ही मूल जननी नहीं है वरन् इन तीनों माताओं और पिताओं की भी जननी है, अर्थात् जिस रूप में यहां ये प्रस्तुत हुए हैं उन सबको विकसित करने वाली (या विश्वविदं) अर्थात् इन तीनों माताओं पिताओं सहित इस वत्स को प्राप्त करने या कराने वाली यही वाक् है। क्योंकि यह वत्स विज्ञात या ठोस ज्ञान रूप भौतिक शरीर रूप तत्त्व है। "जो कुछ भी विज्ञात या ज्ञान रूप तत्त्व होता है वह 'वाक्' का ही रूप होता है; क्योंकि वाक् ही विज्ञाता है। इस वाक् का ही शरीर पृथिवी (रूप एक माता भी) है, इसी का ज्योतीरूप अग्नि (रूप एक पिता भी) है। जहां तक वाक् व्याप्त है वहीं तक पृथिवी भी व्याप्त है, उतनी सीमा तक वह अग्नि भी व्याप्त है" (बृह० उप० १-५-३)। इतना ही नहीं यह वाक् तो उन-उन सब में पूर्णतः व्याप्त है जिन्हें इस प्रस्तुत ऋचा में—द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष या अग्नि वायु आदित्य नामक तीन माता तीन पिता भी कहा गया है। वह वाक् इन सबसे भी और अधिक व्याप्त है वहां तक जहां तक परम ब्रह्म स्वयं व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी व्याप्त है इसकी महिमायें तो हजारों, लाखों और अनन्त हैं, कहां तक लिखा जावे। जैसे—"चतुर्दशान्य महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त। आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्र पिबन्ते सुतस्य ॥ "सहस्रधा पञ्च दशान्युक्था यावद् द्यावा पृथिवी तावदित्तत्। सहस्रधा महिमानं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥" (ऋ वे. १०-११४-७, ८)। अतः वे मातायें और पिता इस वाक् की इस प्रकार की इन्हीं अनन्त महिमाओं की मन्त्रणाओं, विचारों या कृतज्ञता

की अनुभूतियों में डूबे से जा रहे हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि ये माता पिता जिस वत्स रूप शरीर में व्याप्त होकर इस प्रकार मग्न हैं उसका वह शरीर तो दैवी भौतिक प्राणमय है जैसे पहले बताया जा चुका है 'प्राणः प्रजा'। यह प्राण नित्य अविज्ञात तत्त्व है। "यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं, प्राणो ह्यविज्ञातः" (बृह० उप० १-५-१०)। अतः यहां पर वाक् के इस वत्स रूप विकास को 'अविश्वमिन्वाम्' या इस सृष्टि में भौतिक (विश्व) सृष्टि में नितान्त अविज्ञात (अमिन्वाम् = अ + (विश्व + मिन्वाम्) कहा गया है कि ऐसी वाक् ने ऐसे अविज्ञात तत्त्व की सृष्टि कैसे और कैसी कर दी ? कितनी अद्‌भुत कितनी आश्चर्यजनक सृष्टि रचना कर दी !!! क्या गजब ढाया है ? यही उनकी मन्त्रणा हो रही है।

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति। तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १५ ॥

इसमें 'देवजा ऋषियों' का विवेचन दिया है। ऋषि नाम प्राणों का है जिनका विस्तृत विवेचन 'वैदिक विश्वदर्शन' के तत्त्व निर्णय के 'सप्तवाद' शीर्षक में (पृ० ४२ से ५२ तक) दे दिया गया है। ये सात ऋषि, हैं तो वही जो मंत्र रचयिता भी हैं। पर इनके नामों को ही दर्शन के तत्त्वों के रूप में प्राण रूप में भी गृहीत किया गया है। इसी लिए लोगों को गलतफहमी भी हो ही जाती है। हां इन तत्त्व रूप ऋषियों को मन्त्र रचयिता ऋषियों से पृथक् सूचित करने के लिए इनको आदित्या होतार ऋत्विज देवजा दैवजा दैव्या, प्राण और विप्रा (दार्शनिक) आदि विशेषणों से पुकारा है जैसे इसी मंत्र में 'ऋषयो देवजा इति' लिखा है 'ऋषयः सप्तदैव्याः' ऋ. वे. (१०-१३०-७) में लिखा है। 'सप्तहोतार ऋत्विजः। देवा आदित्या ये सप्त।" (ऋ. वे. ९-११४-३, १०-३४ १०, ९-६०-१६)। सप्तानां सप्त ऋषयः' (यजुः १४-१८,१७-७९)। इसी प्रकार इन्हें हमारे या अखिल ब्रह्माण्ड के शरीर में स्थित भी बतलाते हुए लिखा है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजुः ३४-५५) 'ऋषयः सप्त विप्रा' (ऋ. वे. ९-९२-२) 'तस्यासत ऋषयः सप्त साकं' (अथर्व १०-८-९, बृह. उप २-२-३) इसी प्रकार सैकड़ों उद्धरण हैं; वैदिक विश्वदर्शन देखें।

इन ऋषियों के बारे में पहले अध्याय ३ पाद ४ (अ) के सूत्र २७ से २९ तक की व्याख्या के अन्त में पूरा विवेचन दे दिया है उसे आवश्य पढ़ लें। अन्तिम उद्धरण की व्याख्या में—जिसमें उक्त ऋषियों को सृष्टि में प्राण रूप में आसीन बतलाया है—यह स्पष्ट कर दिया है कि इन सात ऋषियों के नाम गोतम भरद्वाज, विश्वामित्र जमदग्नि, वशिष्ठ कश्यप, तथा अत्रि है। जैसे

"इमावेव गोतमभारद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भारद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वशिष्ठ कश्यपावयमेव वशिष्ठोऽयंकश्यपो वागेवात्रिर्वाचाह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्हवैनामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति ॥" (बृह. उप. २-२-३) ।

इस विशिष्ट उद्धरण में उपनिषद् ने एक बड़ी विशिष्ट बात कही है जिसका सीधा सम्बन्ध उक्त ऋचा के 'साकं जाना' और 'षड् यमा' दो शब्दों से है। वह यह है कि यहां पर उपनिषद् ने दो दो ऋषियों का एक एक जोड़ा या यम या यमल दिया है, जिसमें कुल तीन जोड़े या यम है; वे हैं—(१) गोतम भारद्वाज (२) विश्वामित्र जमदग्नि (३) वसिष्ठ कश्यप; और अन्त में अत्रि को वाक् सर्वात्ता (गर्भ) रूप में पृथक् दिया है। इससे उक्त ऋचा के 'षड्यमा, सप्तथमाहु रेकजं, का भाव स्वयं स्पष्ट हो गया कि षड्यमा तो उक्त तीन जोड़े, या यम मा यमल ऋषि हैं। ये तीन जोड़े मौलिक तीन प्राणों के हैं जिन्हें प्रथम प्राण, मध्यमप्राण और उत्तमप्राण या पुरुषोत्तम कहते हैं। इन्हें अग्नि, इन्द्र और सोम या विष्णु कहते हैं सातवा अत्रि (सप्तथ और) एकज है। इन सात प्राण रूप ऋषियों का विकास अखिल ब्रह्माण्डीय शरीर या क्षेत्र के सात लोक या धाम नामक विभागों में क्रमशः होता हे। इष्टानि माने अभीष्ट यज्ञ या विकास होता है। इन विकास श्रेणियों में ये अपने अपने पृथक् पृथक् रूपों में विकृत या विकसित होकर, उस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड रूप स्थातृ या स्थित तत्त्व के विभिन्न भागों में स्थित होकर अपनी अपनी प्राणानुकूल प्रक्रिया में लग जाते हैं।

श. प. ब्रा. (८-१-२) इन्हीं ऋषियों में से वसिष्ठ को प्राण (वसन्त ऋतुमय धाम), विश्वकर्मा को वायु (ग्रीष्मर्तु धाम) तथा वाक् और श्रोत्रं भी कहा है, भारद्वाज को मन (अन्न और वाजमय), जमदग्नि को चक्षु और विश्वामित्र को श्रोत्रं बतलाया है, अग्नि को वाक्। इस प्रकार गोतम भारद्वाज तो चक्षु और श्रोत्र हैं, और वसिष्ठ कश्यप प्राण हैं, अत्रि वाक् हैं। ये ही 'साकंजाना' षडचमाद्या ऋषि हैं, 'सप्तथमाहुरेकजं' अत्रिर्वाक् है। ये ही अङ्ग नाम के या आङ्गिरस नाम के ऋषिरूप तत्त्व हैं, ये ही योग भी करते हैं, यज्ञ भी करते हैं, इन्हीं का योग और यज्ञ (सृष्टि) इनका तप भी कहलाता है। इन जोड़े रूप या यम रूप ऋषियों की व्याख्या सन्दर्भानुसार नाना भांति से की गई है जिसका सम्बन्ध भी योग ही से हैं। प्राण तत्त्व व्याख्या माने योग तत्त्व व्याख्या समझनी चाहिए।

श. प. ब्रा. ने इन ऋषियों में से विश्वकर्मा की वर्णना कई प्रकार से की है। पर विश्वकर्मा सूक्त (ऋ. वे. १०-८२-२,३) इसे सप्त ऋषियों से परे मानसी वाक् रूप बतलाता है। इसीलिए श. प. ब्रा. ने इसे मन, वाक् और वायु नाम से कहा है, यह अनिरुक्ता वाक् रूप विश्वकर्मा है। क्योंकि ये-ऋषि भी दो प्रकार के हैं निरुक्त और अनिरुक्त। जब ये निरुक्त कहलाते हैं तब इन्हें नूतना ऋषि या आङ्गिरस या अङ्गिरस कहते हैं। तब इनके तीन यमल नहीं छह यमल हो जाते हैं। ये हैं वाक्-अग्नि, प्राणवायु, चक्षुःसूर्य, मनः चन्द्रमा श्रोत्रं-दिक्, त्वक्मातिरश्वा जिनमें प्रथम स्त्रियां है द्वितीय पुरुष, स्त्रियों का विकास पहले होता है उनके शरीरों से उनके पतिरूप देवताओं का विकास योग द्वारा अरणियों से अग्नि के समान होता है। जब इन्हें अनिरुक्त रूप में वर्णित करते हैं तब इन्हें पूर्व ऋषयः कहते हैं। यह सूक्त यहां पर इनका वर्णन दोनों प्रकार के ऋषियों के रूप में दे रहा है। इसी लिए इस सूक्त ने स्पष्ट लिखा है कि इन पूर्व ऋषि रूप ऋत्विजों ने अमृत लोक (रजसि) में रहते हुए ही मर्त्य सृष्टि नाना रूपों में की। और इसी मंत्र में यह भी लिखा है कि इन ऋषियों ने नूतन ऋषियों के विकास के लिए द्रविण नामक भौतिक तत्त्व का विकास किया। ते आयजन्त द्रविणं समस्मा ...'। योग पक्ष में प्रक्रिया इसके प्रतिकूल होगी। दोनों यज्ञ ही हैं।

अस्यवामीय योग प्रक्रिया के मूल सिद्धान्त के मंत्र

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ॥ १६ ॥ अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्। सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क स्वित्सूते नहि यूथे अन्तः ॥ १७ ॥ अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण। कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥ ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

(१२४-१६) अस्यवामीय योग प्रक्रिया के मूल सिद्धान्त मंत्र १६, १७, १८, १९ में हैं। 'सप्तप्राणाः सप्तहोमाः' नाम के इन सात ऋषियों को इनके तत्त्व रूप में तो 'स्त्री' कहा गया है, पर इन्हें ऋषि नाम से पुकारने के कारण पुरुष कहा जाता है। ये ऋषि रूप तत्त्व सब भौतिकात्मीय हैं। इस भौतिकात्मा का जन्म ही स्त्री रूप में इस प्रकार माना गया है "स वै विभेति तस्यादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इम-

मेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्म······अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त (मनुष्या = पुरुष ऋषयः)······स ईक्षाञ्चक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति, हन्त तिरोसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्तां समेवाभवत्ततो······ वडवेतराभव दश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताँ समभवत्······अजेतरा-बस्त इतरोऽवि रितरा मेष इतरस्तां सममेवाभवत् ततो······ सर्वं यदिदं किञ्च मिथुनम् ।।" (बृह० उप० १-४)

इस उद्धरण में त्रिपादामृत पुरुष के प्रतीक तो पति, ऋषभः (या वृषभः) अश्ववृष, गर्दभ, वत्स, और मेष हैं और जिन्हें सप्तप्राण ऋषयः कहते हैं वे हैं 'पत्नी, गौ, वडवा, गर्दभी, अजा, और अविः । ये सब प्रथमों की पत्नियां या स्त्रियाँ हैं । पर ऋषि रूप वर्णना में इन्हीं स्त्री रूप तत्त्वों को पुरुष या पति भी कहा जाता है । ये स्त्री रूप प्राण 'प्राण उदान व्यान अपान समान आत्मा और वाक् हैं' । इन प्राण रूपों में भी इन्हें पुरुष ही कहा या माना जाता है, वास्तव में, हैं ये सब स्त्रीरूप ही । यहां पर जिन स्त्री पुरुषों के जोड़े दिए गये हैं वे तो पञ्च प्रसिद्ध प्राणों के हैं । पर इस ऋचा के छह यमल दूसरे छह प्राण हैं जिनका विवेचन तीन मुख्य प्राणों के जोड़ों के वर्णन के साथ-साथ एक साथ दिया जा रहा है इनका विस्तृत विवेचन योगसूत्र के अध्याय ३ या ४ (अ) के सूत्र २७ से २९ तक की व्याख्या के अन्त में विस्तार पूर्वक सप्रमाण दे दिया गया है उसे अवश्य पढ़ लें, जिसका कुछ सारांश पिछले मंत्र की व्याख्या के अन्त में दे दिया है उसे भी देखें । इसीलिए लिखा है 'स्त्रियः सतीस्ताँ उ पुंस आहुः' कि ये प्राण रूप ऋषिरूप तत्त्व वास्तव में स्त्री या शरीर रूप हैं, पर इनके प्राण-रूपों या ऋषि या देवता रूपों में इन्हें पुरुष कहा जाता है, इनके स्त्रीरूप वही वाक् प्राण चक्षुःश्रोत्रं मन और त्वक् हैं । इस पद का यह अर्थ भी अनुचित नहीं है कि 'ये सप्त प्राण रूप स्त्रियां अपने अपने देवता की सती पतिव्रता पत्नियां कहलाती हैं' । इनके सम्मिलित रूप के एक त्रिपादामृत रूप पति और उससे उत्पन्न भौतिकात्मा रूप पत्नी तत्त्व मिल कर इस अखिल ब्रह्माण्ड को 'अर्ध-वृगल या अर्द्धनारीश्वर या नरनारी के सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हैं । इस विषय का ज्ञाता वही हो सकता है जिसके पास वैदिक विश्व दर्शन प्रसाद को देखने के लिए योग की चक्षु या समस्त वैदिक वाङ्मय ज्ञान रूप चक्षु है जैसा कि उक्त उद्धरणों को न जानने से न जाने लोगों ने इसका क्या क्या अर्थ कर डाला है । जिसके पास ऐसी योग की या ज्ञान की चक्षु नहीं है वह वैदिक दर्शन ज्ञान से शून्य या अन्धा है उसके पल्ले यह विषय रत्ती भर भी नहीं पड़

सकता, न वह इसे समझ सकता है, न समझाया जा सकता है। ऋ. वे. १०-७१-७ ने उन वैदिक ऋषियों को ऐसे ही आखों वाला बताया भी है।

कविर्यः पुत्रः स इमा चिकेत—जो व्यक्ति इन प्राण रूप माताओं का या 'माई का लाल' या पुत्र है या इन प्राण रूप तत्त्वों की अनुभूति करने वाला कवि या योगी है, वही इनके दर्शन कर सकता है या जो इनके इन स्वरूपों से उक्त प्रकार से परिचित है वही इन्हें भली भांति जानता है। ऐसे ज्ञाता को कवि: या योगी या यागी कहते हैं या योग या याग का ज्ञाता होना (या कवि होना) कहते हैं, वही इन प्राणरूप माताओं का सच्चा (ज्ञाता) माई का लाल भी है, वही इनके सृष्टि और अतिसृष्टि दोनों रूपों को उचित या परमार्थ रूप से जान सकता है। आगे मंत्र १८ में 'कवीयमान क इह प्रवोचत्' वाक्य भी इस शब्द के अर्थ को योगी ही देता है। यहां कहा है कि इस विषय को कः प्रजापति ने कवीयमान होकर या योगनिष्ठ होकर योगदृष्टि से देखकर कहा।

'यस्ता विजानात्स पितुष्पिता स्यात्' जो कवि रूप या योगी रूप माई का लाल (पुत्र) है, वह उन प्राणरूप माताओं या स्त्रियों—वाक् प्राण चक्षु श्रोत्रं मनः त्वक् अथवा—पत्नी, गौ, बडवा, गर्दभी, अजा अवि:—के पति रूप—अग्नि वायु आदित्य दिशा, चन्द्रमा और मातरिश्वा—अथवा पति वृषभ अश्व वृष गर्दभ वत्स और मेष नामक पुरुषों या अपने पिताओं से सृष्टिकाल में उत्पन्न होकर, योग में इनकी अनुभूति करने जाता है तो उसे पहले मातारूप प्राणों की उद्दीप्ति करके तदनन्तर उनके पिता रूप—अग्नि वायु आदित्य दिश चन्द्रमा और मातरिश्वा अथवा—पति, वृषभ, अश्व, वृष, गर्दभ, वत्स और मेष—नामक नित्य देवताओं की अतिसृष्टि, प्राण रूप अनित्य तत्त्वों (माताओं) से करनी पड़ती है, अर्थात् उसे अपने पिता रूप तत्त्वों का पुत्र रूप में सृजन या अतिसृजन करना पड़ता है। इसीलिए लिखा है, इन तत्त्वों का वास्तविक ज्ञाता पिता का पिता हो जाता है अर्थात् वह इस रूप में या योगी रूप में पिता रूप तत्त्वों का ही पिता बन जाता है, क्योंकि वह उनकी अतिसृष्टि जो करता है। इसी आशय को ऋ. वे. १–६९–१ में पराशर ऋषि ने इस प्रकार कहा है :—"भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् ।"

इसी प्रकार का भाव ऋ. वे. १–८९–९ यजु. २५–२२, के मंत्र में भी है। इसका अर्थ श· प. ब्रा. में सन्दर्भी व्याख्यान अग्न्युपस्थान नामक शीर्षक से इस पूरे ब्राह्मण में दिया है, तथा २–३–१–६ में अग्नि के उपस्थान का आशय अग्निरूप देवताओं की अतिसृष्टि या उन्मीलन बताकर लिखा है :—"पुत्रो

ह्येष सन्त्स पुनः पिता भवत्येतन्नु तद्यस्मादग्नी आदधीत" यह 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' का भाव है। पूरी ऋचा का भाव यह है "हे देवताओ ! तुमने हमारे लिए जिस सौ या अनन्त शरद ऋतुओं, या सौ या अनन्त वर्षों की आयु निश्चित की है, उस आयु में हम अपने शरीर को परिपक्व देख लें, उसके बीच में हमारी आयु को कम न करना, इन वर्षों में हम पुत्र रूप देवताओं की अतिसृष्टि करते हुए अपने को देवताओं के पितर तथा हमारे पुत्रों की उत्पत्ति से या अतिसृष्टि करके वे पुत्र भी वस्तुतः हमारे ही समान सृष्टि अतिसृष्टि करके पितर हो जावें (अर्थात् हम और हमारे सन्तान दोनों पुत्र रूप होते हुए पितर बन जावें)।

(१२०-१७) अब १७ वें मन्त्र को लीजिए। 'गौ' नाम यहां पर त्रिपादामृत की ज्योति का है। इस ज्योति का उदय भौतिक प्राण रूप वत्स के उदय होने पर ही होता है। अर्थात् 'ज्योति' तो भौतिकता की देन है, इसके पहले वह ज्योतिर्बीज रूप तत्त्व रहता है। इस ज्योतिर्मयी गौ को चाहे दैवी वाक् (भौतिकात्मीय) कहिए, चाहे देवी अदिति कहिए चाहे उषा। वर्णना भेद से ये तीनों एक ही तत्त्व का संकेत करती हैं। इसके उदय होने का स्थान पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का मध्यबिन्दु है जिसे गर्तम् , विषुवान् , सेतु, अन्तरिक्ष, (अन्तरिक्षोदरो भूमि बुध्नो इत्यादि छा० उप०) या हृदय या आकाश आदि अनेक नामों से विभिन्न वर्णनाओं में पुकारा जाता है। यहां पर यह प्रकाशमयी ज्योति रूपिणी गौ सवत्सा सप्रकाशा, सभौतिकात्मिका रहती है; उसी वत्सादि से वह प्रकाशमयी, प्रतीत भी होती है। अतः मन्त्र कहता है :—सृष्टि में अवः या अर्वाञ्च या अवरार्द्ध या पूर्वार्द्ध से परेण या पर स्थानीया, और योग प्रक्रिया में इसी 'पर' को जब अवर या पूर्वार्द्ध या अर्वाच कहा जाता है तब इस अवर से परे (या परे एन अवरेण) या पूर्वार्द्ध या अर्वाच उत्तरायण नामक पर में स्थित वह ज्योतिर्मयी गौ, अपने पद से अपनी अन्तिम सीमा रेखा में वत्स रूप अमृत या दैवी भौतिकात्मा को प्रकाश रूप में धारण करती हुई सर्वप्रथम उदित होती है या सर्वप्रथम भौतिकात्मा की माता सवत्सा रूप में उत्पन्न होती है। अब विद्वानों को यह समझना या समझाना है कि इस गौ का विकास किस रूप में, किया जा रहा है, सृष्टि पक्ष में या योग पक्ष में। वह कहां विकसित होगी और किससे पूर्व में है, किस मार्ग के पर अवर तत्त्वों से इसकी विवेचना की जा रही है (सा कद्रीची) जिससे यह प्रतीत हो सके कि वह किस अर्द्ध से किस अर्द्ध को जाने वाली है या गई है (कं स्विदर्धं परागात्)। तभी यह स्पष्ट प्रतीत हो सकेगा

कि वह किस स्वरूप के वत्स (सृष्टि सम्बन्धी या योग सम्बन्धी) को कहां पर विकसित कर रही है या जन्म दे रही है (क्वचित्सूते)। 'वह गौ इस झुण्ड के अन्तर्गत नहीं है' या 'इस झुण्ड से अन्यत्र है' इसका ज्ञान तब तक कैसे हो सकेगा ? 'नहि यूथे अन्तः'। यह झुण्ड सर्वविदित पच पशुओं का है जिन्हें पुरुष पशु अश्व गौ अवि अजा कहते हैं। वह अन्य प्रकार की गौ भी नहीं है जिनका वर्णन कई प्रकार से दिया गया है क्योंकि पर और अवर भागों में केवल ये ही दो भाग नहीं हैं जिनका विभेद जानकर काम चल सकेगा। यहां इन दोनों भागों में तो अनन्त देवी देवताओं के पशुओं के झुण्ड के झुण्ड हैं, जिनकी सृष्टि और अतिसृष्टि की विवेचना का अन्त ही नहीं है, कब किस देवता या तत्त्व का किस रूप में—सृष्टि या अतिसृष्टि रूप में—वर्णन है इसकी पूरी छानबीन तो विद्वानों को स्वयं करनी पड़ेगी, कहां तक लिखा जा सकता है।

मंत्र १८—अवः और पर नाम के या पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध नामके विभिन्न परिस्थितियों—सृष्टि (यज्ञ) और अतिसृष्टि (योग) के दो भागों में से प्रथम मंत्र में प्रथम की माता द्वितीय को वत्स कहा जा चुका है। अब उन्हीं को पिता पुत्र रूप में वर्णित करने जा रहे हैं। जो पर नाम के तत्त्व के द्वारा सृष्टि (यज्ञ) पक्ष में इसके पिता या निर्माता को 'अवः' नामक तत्त्व को समझता है और योग पक्ष में इस अवर नामक तत्त्व के द्वारा इस प्रथम पक्ष के परः तत्त्व को ही प्रथम 'अवः' नामक तत्त्व का पिता समझता है वही इस तत्त्व का ज्ञाता है। अर्थात् सृष्टि पक्ष में अवः पिता है परः पुत्र और योग पक्ष में परः (ही अवः है) पिता है और अवः (ही परः है) अतः पुत्र है। अतः वह कौन है जो इस प्रकार की वैदिक पारिभाषिक पदावली की रहस्यमयता का उचित ज्ञान या अनुसन्धान करके कौन यह ठीक ठीक निश्चय पूर्वक बतलाने में समर्थ है कि यह दैवी ब्रह्माण्ड स्वरूप मनः कब कहां से—सृष्टि (यज्ञ) पक्ष में या योग पक्ष में—किस 'अवः' से या किस 'परः' से उत्पन्न हो रहा है।

वास्तविकतया यहाँ पर ज्ञेय वस्तु तो है 'देवं मनः'। यह कौन तत्त्व है यह विदित हो जाय तो सब समझ में आजाय। इसका विश्लषेण हमें दो स्थलों में विविक्ततया दिया हुआ हुआ मिलता हैं। पहले छा. उप (५-१२) का दिया विवेचन देखें। "यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा, मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन्रमते। य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ता ॥" "मघवन्। मर्त्यं वा इदं शरीर मात्तं मृत्युना, तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्……

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथै तान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतीरूपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योती रूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानै र्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं, स यथा प्रयोग्य (अश्व वृषभो वा) आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तोऽथ यत्रैतदाकासमनु विषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः······॥" (छा. उप. ५-१२)

जिस देवं मनः का विवेचन इस मंत्र (१८) में दिया है वह वह मन नहीं हैं जिसे हम साधारण बोल चाल में मन नाम से पुकारते हैं । यह मनः तो अखिल ब्रह्माण्ड रूप मनो ब्रह्माण्ड है, यह भौतिकात्मा का सर्वप्रथम रूप है । इसके द्वारा त्रिपादामृत आत्मा यह प्रतीति करता है कि मैं जानता हूँ, ज्ञान करता हूँ, समझता बूझता हुं । यह मनः उसका 'दैवं चक्षुः' या 'दैवं मनः' है । यह यहां पर स्पष्ट लिखा है । इस दैवं मनः या दैवं चक्षु से अखिल कामनाओं को करता और उनमें रमता रहता है । जो इन दोनों 'दैवं मनः' और आत्मा (त्रिपादामृत) की इस ब्रह्मलोक की अनुभूति द्वारा 'देवाः' रूप धारण करके उपासना करता है उसे सब कुछ प्राप्य या प्राप्त है··· ।

यहां पर आत्मा (त्रिपादामृत) और 'दैवं मनः' इन दोनों का विविक्त विवेचन देते हुए लिखा है—यह शरीर मर्त्यभौतिकात्मा तो मर्त्य है मृत्यु से व्याप्त है, और त्रिपादामृत का अमृत शरीर या आत्मा इस मर्त्य शरीर का अधिष्ठान या आधारभूत तत्त्व है । यह आत्मा अरूप अमूर्त या अशरीर है, वायु, अभ्रं, विद्युत् , स्तनयित्नु, भी अशरीर या अमृत भौतिकात्मीय ही हैं, ये सब भी उसी आकाशात्मा (अन्तर्हित प्रकाशात्मा त्रिपादामृत) से उत्पन्न या आविर्भूत होकर परम ज्योतिरूपता को धारण करके अपने अपने पृथक् पृथक् स्वरूप को प्राप्त होते हैं । यही उस आत्मा का प्रसाद या पूर्ण प्रसाद रूप शरीर उससे उत्पन्न होकर अपने प्रकाशमय रूप में जब प्रस्तुत होता है तब उसे 'उत्तमः पुरुषः' कहते हैं; दोनों के सम्मिलित स्वरूप का नाम उत्तमः पुरुष है जिसमें त्रिपादामृत स्त्रियों या रथों या परिजनों के समान—वायु अभ्र विद्युत स्तनयित्नु—से खाता खेलता रमता हुआ अन्य किसी का स्मरण करने का अवकाश भी नहीं रखता । वह शरीर प्राण है, यह शरीर रूप प्राण उस आत्मा रूप रथ को खींचने वाला घोड़ा या बैल है । वह इसमें चाक्षुष पुरुष की तरह रहता है, यह शरीर उसकी चक्षु या 'दैवं चक्षु' या दैवं मनः है । यहां खञ्ज, दृष्टा काण के कन्धे में चढ़ा सा मार्ग या सृष्टि विकास मार्ग को नापता रहता है ।

इस 'दैवं मनः' या 'दैवं चक्षुः' का और अधिक स्पष्ट विवेचन बृह. उप. (१-५-८ से १४ तक) ने दिया है । "यत्किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्धि विज्ञाता, यत्किञ्चिद्विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं, यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः।" "तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमय मग्निर्यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः" । "यावद्ब्रह्मविष्ठितं तावती वाक् ।" (ऋ० वे०) । "मनसो द्यौ शरीरं ज्योतीरूपमादित्यो, यावदेव मनस्तावती द्यौ स्तावा नयमादित्यः; तयोर्मिथुनं ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स असपत्नोऽद्वितीयः" प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपं चन्द्रो यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्ते सर्वेऽनन्ताः ॥" "स एष (चन्द्रः) संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (पुरुषः) रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला रात्रिभिरेता च पूर्यतेऽपक्षीयतेऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडशकलया सर्वमिदं प्राणभृत् स षोडशकलः वित्तमेवपञ्चदशकला" ।

तीन मुख्य तत्त्व हैं, वाक् मनः और प्राण । जो कुछ भी विज्ञात तत्त्व है वह वाक् का स्वरूप है वाक् ही विज्ञाता है । जो कुछ ज्ञेय है वह मनः का रूप है । मनः ही ज्ञेय है, और जो कुछ अविज्ञात रहता है वह है प्राण, क्योंकि प्राण ही अविज्ञात है । वाक् का शरीर पृथ्वी (भौतिकात्मा) है इसमें इसकी आग्नेय तापमानीय ज्योति है जितनी विस्तृत वाक् है उतनी ही पृथिवी भी है उतना ही अग्नि (तापात्मा) भी । जहां तक ब्रह्म व्याप्त है वहां तक यह वाक् भी तापमानतया व्याप्त है । मनः का शरीर त्रिपादामृत द्यौ है जितनी विशाल द्यौ है उतना ही यह मन भी, इसका ज्योतिष्मान रूप सूर्यं है । जो उसका शरीर रूप चक्षु है, यही सूर्यं दैवं मन या दैवं चक्षु है । इनके मिथुन से प्राण तत्त्व की उत्पत्ति होती है; वही मध्यमप्राण इन्द्र असपत्न या अद्वितीय है । इस प्राण का शरीर आपः है, इसकी ज्योति चन्द्रमा है, जितने विशाल प्राण हैं उतना ही आपः भी हैं उतना ही, बड़ा यह चन्द्रमा भी । ये सब अनन्त हैं । यह चन्द्रमा ही संवंत्सर ब्रह्म और इस सृष्टि का प्रजापति भी है, यही षोडशकल ब्रह्म (या पुरुष) है, उत्तरार्द्ध में इसकी कलायें बढ़ती और घटती रहती हैं, षोडशी कला अमावास्या है, इसी चन्द्र से सब कुछ प्राणमय ब्रह्ममय 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है । इसकी कलाओं का नाम वसु वित्त (रायः धनं अन्नं श्रवः यशः) आदि है । ये दोनों सूर्य (चक्षुः) और चन्द्रमा (मनः) ही मिलकर 'देवं मनः' या 'दैवं चक्षुः' या 'चाक्षुषः पुरुषः' या 'उत्तमः पुरुषः' कहलाते हैं । क्यों कि यह दोनों ही 'सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी' या सूर्य चन्द्र रूप दो आंखें हैं । ये मनोब्रह्माण्ड की चक्षु हैं और चक्षुरूप मनोब्रह्माण्ड, या देवं मनः' या चाक्षुष पुरुष या उत्तम

पुरुष हैं। यह 'सृष्टि या अतिसृष्टि पक्षों में कब किस तत्त्व से उत्पन्न हुआ' यह उचित रूप से जानना 'कवीयमानः' या योगी या वैदिक पारिभाषिक पदावली की रहस्यमयता के पर्दे को अपनी योग क्रिया से प्रतीत या विदित या अनुभूत करने वाले का काम है, कहिए ऐसा ज्ञान रखने वाला योगी या उसकी अनुभूति करने वाला कौन है ? यह दीर्घतमा ऋषि जी का अपना प्रश्न नहीं हैं, वरन् उस कवीयमान या योगसमाधिस्थित पाकः नामक कः प्रजापति का प्रश्न है। यह प्रश्न उसके गुरु अग्निर्विद्वान् से है। इसका उत्तर मन्त्र १९, २०, २१, २२ में दिया गया है।

अस्यवामीय योग प्रणाली

(११९-१९) अब अस्य वामीय योग यज्ञ की प्रणाली का विशिष्ट वर्णन दिया जाता है। अभी तक यास्क से लेकर मधुसूदन और सब पश्चात्यों तक जितने भी वेदों के व्याख्यातार हो गये हैं उनकी दृष्टि अस्यवामीय सूक्त की आत्मा रूप योग के माथा वर्णन की ओर गई ही नहीं है जिसके अभाव में उनकी विवेचना सूक्त के वास्तविक रहस्य का तिलभर भी भाव नहीं दे सकी हैं। योग के सन्दर्भ से हीन उनकी वे व्याख्यायें अधिकांश में उनकी अपनी ही रची थोथी कपोलकल्पनाओं के ऐसे बहुत बड़े ढेर रूप में जमा हो गई हैं कि उनका खण्डन करना समय नष्ट करना मात्र सिद्ध होगा। इस सूक्त की तालिका मंत्र १९ है। इसमें सृष्टि और अतिसृष्टि (योगमार्ग) में तत्त्वों के क्रम को एक दूसरे से एकदम विपरीत बतलाया है जैसा कि होता ही है। सृष्टि क्रम में अत्रि मित्र वरुण जातवेदा—सूर्य, चक्षुः, चन्द्रमा—मनः, पर्जन्य दिशा श्रोत्रं, अग्नि—वाक्, प्राणः—वातः, विद्युत्—वृष्टिः—(आपः), वृत्र—सोम विष्णु, रुद्र मार्तण्ड—पुरुषपशु—अश्व—गो—अवि—अजा प्रभृति क्रम होता है। और पहले द्यावा तब उससे पृथिवी, पहले अमृत या त्रिपात् फिर उससे मर्त्य या चतुष्पात्; या पहले अदिति वाक् फिर गौ धेनु आदि। पर अतिसृष्टि या योग मार्ग में तत्त्वों के विकास का क्रम ठीक इसके उलटे सिद्ध किया जा सकता है। जैसे चक्षु से सूर्य, मनः से चन्द्रमा, श्रोत्रं से दिशः, प्राण से वायु, वाक से अग्नि, पर्जन्य (वृत्रवध) से आपः, आपः के क्षत्र बल रूप बाहू से विद्युत् या वज्र, इत्यादि, इनका भी क्रम दिया है जैसे मन से वाक्, वाक् से प्राण, प्राण से चक्षुः, चक्षुः से श्रोत्रं, श्रोत्रं से आपः विद्युत् वृष्टि प्रभृति (श प. ब्रा) प्रथम सृष्टि पक्ष में पूर्व पूर्व के तत्त्वों को 'अवर' अर्वाचः, और पर पर के तत्त्वों को पर पराचः परार्द्ध परा इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। अर्थात् नित्य तत्त्वों से अनित्य तत्त्वों के विकास का नाम सृष्टि है या अर्वाच या पूर्वार्द्ध अवर

तत्त्वों से पर तत्त्वों का उदय होना ही सृष्टि है। परन्तु योगमार्ग में स्थिति इसके एक दम बिपरीत होती है। यहां पर जो तत्त्व सृष्टि पक्ष में 'पर' 'परा' परार्द्ध' पराच आदि नामों से पुकारे जाते रहे वे अब अर्वाच अवर या सृष्टि कारक है, जो तत्त्व तब 'अवर' अर्वाच या पूर्वार्द्ध के कहलाते थे उन्हें अब पराचः पर परा परार्द्ध नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार चक्षुः श्रोत्रं वाक्, प्राणः मनः आदि अनित्य और सृष्टि काल के 'पर' परांच नामक तत्त्वों से (अब 'अपर' 'अवर' अर्वाच कहलाने वालों से) सूर्य दिश अग्नि वायु चन्द्रमा नामक अमृत या अमर तत्त्वों का विकास शरीर में ही किया जाता है। यहां पर इनको पर, परा, परार्द्ध पराच नामों से पुकारा जाता है। यहां ये अनित्य अर्वाच अपर तत्त्वों से नित्य पर पराच तत्त्वों के रूप में विकसित किए गये हैं। यही भाव इस १९ वें मंत्र में इस प्रकार दिया गया है। वास्तव में यह मंत्र १८ के 'मनः' के बारे में किए प्रश्न का उत्तर है। मनः से सोम और सोम से मनः की उत्पत्ति, सृष्टि और योग में क्रम से होती है।

"सृष्टि काल में जिन तत्त्वों की संज्ञा अर्वाञ्च अवर अवारं पूर्वार्द्ध उत्तरायण आदि रही उन्हीं को अतिसृष्टि या योग प्रक्रिया में पराच, पर, पारं या दक्षिणायन दक्षिणार्द्ध······या उत्तरार्द्ध उत्तर नाम से पुकारा जाता है। इसके विपरीत सृष्टि काल में जिनको पराच परा पर पारं दक्षिणायन उत्तरार्द्ध परार्द्ध आदि नामों से पुकारा जाता था उन्हीं को योग प्रक्रिया में अर्वाञ्च अवर, अवारं पूर्वार्द्ध उत्तरायण उत्तर आदि नामों से पुकारा जाता है। क्योंकि इन्हीं अनित्य तत्त्वों से नित्य तत्त्वों (सूर्य अग्नि वायु दिश चन्द्रमा प्रभृति देवताओं) का विकास या दीप्ति या दर्शन या अनुभूति की जाती है। इस सृष्टि या अति सृष्टि के दो मुख्य भागों को इन्द्र और सोम या इन्द्रसोम या अग्नीषोम, एक नाम से पुकारा जाता है। चाहे कोई मनोरूप त्रिपादामृतीय इन्द्र से सोम की सृष्टि का विवेचन करे या योगी के शरीररूप मनोरूप भौतिकात्मा युक्त इन्द्र तत्त्व से सोम की अतिसृष्टि योग द्वारा सोमपान से करे, या इसी प्रकार, अन्य देवों की सृष्टि और अतिसृष्टि का वर्णन करे, उन सबका मुख्य आधार केवल ये ही दो पक्ष या, दो भाग हैं जिनके मुख्य निर्माता देवता ये दो इन्द्र और सोम ही हैं। हे सोम ! जिनकी सृष्टि या अतिसृष्टि तुम दोनों करते हो वे सृष्टि और अति-सृष्टि को ढोने के बैल या घोड़ों की तरह एक धुरी या जुवे में जुत कर दोनों भागों के षड् रजांषि या षडष्टकीय छह लोकों या सप्तकीय सात लोकों या सदयस्पीय आठों लोकों को अपने कन्धे में ढोते हो।"

ये अवर और पर नामक विभाजन ऐसे जटिल हैं कि सभी ऋषि इनको इस जटिलता को नहीं जानते रहे, आजकल के हम जैसे लोगों की बात तो

दूर रही जैसे "यत्रा वदेते अपरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नो विवेद। आशेकुरित्सधमादं सखायो न क्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्" ॥ (ऋ० वे० १०-८८-१७)। तब कौन इसे बता देगा ? इस तथ्य का विवरण और अवर और पर तत्वों की सीमा किस विन्दु पर है तथा उसका क्या नाम है, यह दीर्घतमा की निम्न ऋचा स्वयं बतलाती है :—(ऋ० वे० १-१६४ ४३)

मंत्र १-१६४-४३

"शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥"

इसमें दीर्घतमा ऋषि कहते हैं कि मैंने योग प्रक्रिया द्वारा उस अवर नामक पूर्वार्द्ध के विषुवान् नामक तत्त्व की अन्तिम रेखा से परे में या दक्षिणार्द्ध में स्थित धूम या पर्जन्य रूप भौतिकात्मा को स्थूणा रूप उठे धूम और गौपुरीष के चित्र की तरह (ऊपर ऊपर को सीढ़ी वाले) स्थूण रूप में (शकमयं) उत्पन्न होते हुए दूर से देखा। इसी स्थूण रूप धूम या पर्जन्य रूप भौतिकात्मा को 'हिरण्यरूप मुषसो व्युष्ठावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य। आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ॥ (ऋ० वे० ५-६२-८) ऋचा में 'अयःस्थूण' या सुवर्ण स्थूण या प्राणमयी स्थूण कहा गया है। इसका स्थान 'गर्त' या मध्यस्थान बतलाया है। मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई है कि तुम इस स्थूण या गर्त (यहां पर धूम स्थूण) में आरोहण करो, वहां से तुम अदिति (पूर्वार्द्ध या एन अवरेण) और दिति (या विषूवता परे) के दोनों भागों को एक साथ स्पष्ट देखोगे। अतः विषुवान् का तथा गर्त का स्थान दर्शन का या सृष्टि या अतिसृष्टि का मध्यस्थान है। इसी लिए लिखा भी है 'मध्ये विषुवान्' (ऐ० ब्रा०, श० प० ब्रा० और 'अक्षर ब्रह्म' तथा 'संवत्सर ब्रह्म' शीर्षक देखें)। इस मंत्र का उत्तरार्द्ध कुछ कठिन सा लगता है। क्योंकि इसमें सभी शब्द परिभाषिक है जिनमें 'उक्षा पृश्नि और वीरा मुख्य हैं। ये वीर कौन हैं ? ठीक इसी प्रकार का वर्णन ऋ० वे० १०-९०-७ में भी है जैसे "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥" यहां के साध्या देवता छन्दः है, ऋषि आङ्गिरस प्राण हैं। उन्होंने अग्नि पुरुष को बर्हि में प्राणों की अग्नि में डाला, उसी से यज्ञ या योग यज्ञ किया। ये ही साध्या और आङ्गिरस यहाँ के वीर हैं। इसका विश्लेषण ऋ० वे० १०-२७-१५, १६ में इस प्रकार संख्या मात्र में दिया है, नामतः फिर भी नहीं; जैसे—

"सप्तवीरासो अधरादुदायन्नष्टोत्तरात्तात्समिजग्मिरन्ते।

नव पश्चात्तात्स्थिविमन्त आयन्दश प्राक्सानु वि तिरन्त्यश्नः ॥
दशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय ।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती विभर्ति ॥"

वक्षणासु = भागों में । वक्षणास्ववेनन्तं = वक्षणासु + अवेनन्तम् ।

इसमें लिखा है कि "सात वीर अधर या उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन से उत्तर या पूर्वार्द्ध या उत्तरायण की ओर आये । उनके पश्चात् समीप (या अन्त) में आठ वीर उत्तर से दक्षिण की ओर आये । इसके अनन्तर नौ वीर-जो सूप से अन्न छानछान कर अन्न से भरे सूपों को लिए हैं- आये । अन्त में दशवीर पूर्व के पर्वत की सानु या समतल स्थान से अश्नः रूप में व्याप्त हो गये । इन दशों में से एक को जो उन दशों में से प्रत्येक के समान है और जिसका नाम 'कपिल' (ईषत्कृष्णपिंगल या बृहत्पाण्डरवासा) है उसको, सृष्टि को पार लगाने के लिए या सृष्टि के विकास के लिए, माता (अदिति या उषा) गर्भ के भागों में सुरक्षित रूप में वहन करती हुई, उस नमनशील या सर्वरूप में ढलने में समर्थ प्राण तत्त्व को सन्तुष्ट रखती हुई धारण करती है ॥"

यहाँ पर हमें 'वीर' तत्त्व की समीक्षा चाहिए । वे कौन और कितने वीर हैं जिन्होंने पृश्नि नामक उक्षान् या सचिह्न या चिह्नित वृषभ को (पचाया या पकाया या) परिपक्व किया । बृह० उप (५-१२) ने 'वीर' शब्द की दार्शनिक व्याख्या निम्न ढंग से यद्यपि प्रच्छन्न रूप में, पर बहुत स्पष्ट रूप में दे रखी है । लिखा है कि इस सृष्टि में दो तत्त्व प्रधान हैं (१) अन्नं (२) प्राणः । जो लोग 'अन्नं ब्रह्म' कहते हैं उनका यह मत इसलिए उचित नहीं है कि प्राणों के बिना 'अन्नं' रूप शरीर (चाहे किसी का भी किसी भी वस्तु या तत्त्व का हो) सड़ जाता है या विकृत हो जाता है । और कई लोग केवल 'प्राण' को ही ब्रह्म कहते हैं । यह कहना भी इसलिए उचित नहीं है कि अन्न के बिना प्राण 'सूख' जाते हैं, अन्न के बिना प्राणों की स्थिति ही असम्भव है (अतः किसी ने कहा भी है 'कलावन्नमयाः प्राणाः' अर्थात् कलि या कलावान् अन्नमय शरीर के प्राण तो अन्न ही से धारण किये जा सकते हैं । आधार जब है ही नहीं तो आधेय रहे किस आधार में ? निराधार प्राण प्राणियों के शरीर में नहीं रहता तो शरीर के लिए क्या महत्व रख सकता है, प्राण का महत्व तो तभी तक है जब तक वह शरीर में है, शरीर सजीव (उन प्राणों से) है । अतः जब अन्न और प्राण दोनों एकात्म्य या तादात्म्य भाव से रहते हैं तभी इस सृष्टि का महत्व है । अन्न और प्राण दोनों के इसी 'एकधाभूय' या एकात्म्य या तादात्म्य का ही नाम 'वीरः' है । इस 'वीर' शब्द की व्युत्पत्ति में इस उपनिषद् ने लिखा

है "कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच—वीत्यन्नं वै वि अन्नै हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि, रमिति प्राणो वै रं प्राणो हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥" (५ १२)।

आगे चलकर ब्राह्मण १३ में इस 'वीर' प्राण को 'सर्वं यदिदं किञ्च' का मूल स्रोत या 'उक्थ्य' कहा है क्योंकि इससे ही अखिल ब्रह्माण्ड उत्थापित या उदित या उत्पन्न होता है, यजुः प्राण है साम प्राण है और क्षत्र प्राण है (ऋक् भी प्राण है)। इन्हीं प्राणों से सर्वभूत तत्त्व श्रेष्ठ कहलाता है ।

इस प्रकार के 'वीर' नामक प्राणों का ही विवेचन इस उद्धृत ऋ. वे. के मंत्र (१०-२७-१५, १६) में अनेकों ब्राह्मणों और उपनिषदों की अनेक प्रकार की व्याख्याओं और सरणियों के सामञ्जस्य से इस प्रकार दिया गया है :—

इस मंत्र में लिखा है कि सात वीर 'अधरादुदायन्' या अधर स्थान से आये। यह अधर स्थान दर्शन का दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध है जिसमें सात भौतिक प्राणों की सृष्टि होती है। ये सात प्राण आत्मा मनः, बुद्धिः, चक्षु श्रोत्रं वाक् प्राण हैं। ये ही प्राण जब योग प्रक्रिया करते हैं तो इनके पृथक्-पृथक् देवता अपने-अपने प्राणों में इनमें से प्रत्येक में उद्दीप्त होते हैं। उनके साथ ब्रह्म भी होता है। तब इन्हींके आठों देवताओं-आकाश चन्द्रमा सविता सूर्य दिक्, अग्नि वायु और ब्रह्म सब को उत्तर या पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत से अन्त या समीप में आये कहा गया है। यहाँ पर उत्तरार्द्धीय या अधर भागीय अध्यात्मिक सात प्राणों की बत्तियों में उनके देवता रूप तेजः या दीप्ति या लौ या ज्योति जग जाती है जिनका एक समीकरण अष्टम एकात्मीय कान्ति या कान्ति की प्रकाशिका होती है। योगी की समाधि की यही सच्ची आनुभूतिक स्थिति है। इन आठों का वर्णन अनेक प्रकार से दिया मिलता है जैसे "अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये। अष्ट योनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥" (अथर्व ५-९-२१)। आठ भूत, आठ पुत्र, आठ ऋत्विजों का नाम है, 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' भी है। (अथर्व १०-२-३१) या "अष्टाचक्रं वर्तत एक नेमि सहस्राक्षरं' इत्यादि भी (अथर्व ११-४-२२)। यहाँ पर इन्हीं योग कर्ता प्राणों को सात वीर या सात अन्न और प्राणों के 'एकभूयोभूत्वा' या एकात्मीय या तादात्म्यीय वीर कहा गया है। इनके देवता भी इनसे तादात्म्य पाने पर 'वीर' ही हो जाते हैं। अतः उन्हें भी 'वीर' ही नाम से पुकारते हैं। जिस किसी को भी वीर कहा जायगा वह

अवश्यमेव अन्नभौतिकात्मा और प्राण दोनों का एकत्वमय तत्त्व ही होगा। अतः जिन नौ और दश वीरों का वर्णन अगली पंक्ति में है वे भी इन्हीं के समान तत्व होंगे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अब उनका भी सप्रमाण विवेचन दे देना आवश्यक है।

'वीर' तत्त्व की व्याख्या में जिस अङ्ग (भौतिकात्मा) और प्राण (त्रिपादामृत) के एकत्व की प्रतिष्ठा मानी गई है उसको या उस सम्मिलित स्वरूप को वैदिक दर्शन में एक विशिष्ट नाम से भी पुकारा जाता है। वह नाम है 'विश्वेदेवता'। विश्वेदेवताओं की निश्चित संख्या १० दी गई है 'विश्वेदेवास्तथा दश'। ऋ० वे० और यजुः के मंत्र 'मा नस्तोके तनये···मा नो वीरान्नुद्रभामिनो वधीः'······इत्यादि के 'वीरान्' शब्द का भी अर्थ ये ही विश्वे देवता हैं। और 'आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी···जायतां······यजमानस्य 'वीरो' जायताम्'···इत्यादि मंत्र का 'वीर' शब्द भी इसी अर्थ का है। ये विश्वेदेवता दश देवताओं और दश अध्यात्मिक शरीर रूप अन्नमय प्राणों के सम्मिलित रूप हैं। इन्हें, अथर्व वेद 'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः' (४-६ १) कहता है। अर्थात् दशशिर रूप देवता—दश मुख रूप शरीरों में रहते हैं। आगे इन्हीं देवताओं की सृष्टि सबसे पहले मन्यु नामक (मनः या मनुः) से इस प्रकार दी है:—"दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।···' प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितश्च या। व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते आकृतिमा वहन्॥" (अथर्व ११-८-३, ४)।

इन दश वीर नामक देवताओं की अनेक प्रकार की सूचियां हैं, वे वर्णना शैली से भेद रखती हैं। जैसे ऐ. उप. ने "अण्डात् मुखं मुखाद् वाक्, वाचोऽग्निनासिके नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी, अक्षिभ्यां चक्षुरादित्यकर्णौ कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् त्वचो लोमानि लोमस्य औषधिवनस्पतिहृदयं हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्नाभ्यामपानमपानान्मृत्युः शिश्नं शिश्नाद्रेतोरेतस आपः॥" यह क्रम दिया है। इसी प्रकार के अन्य क्रम अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। जैसे—"चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते। तवेमे पञ्चपशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥" (अथर्व ११-२-९)

यहां पर देवताओं की स्थिति का वर्णन 'दिशाओं' की स्थिति में दिया जा रहा है। जहां पर दिशाओं का वर्णन आता है वहां पर निश्चित रूप से उत्तरार्द्ध या अधर भाग या दक्षिणायन या भौतिकतामय भौतिकात्मीय तत्त्वों का ही विवेचन समझना चाहिए। क्योंकि पूर्वार्द्ध या त्रिपादामृत में दिशायें हैं ही नहीं; वे असीम अदिक्, अरूप, अमूर्त, या अमृत मात्र एक मात्र हैं उनमें

दिशादिकों का नितान्त अभाव है। इसीलिए इन दशों को 'दश प्राक्सानु वितिरन्त्यश्नः' कहा है। ये 'अश्नः' या अशनापिपासे' नामक भौतिकात्मीय तत्त्व हैं। प्राक्सानु भी उत्तरार्द्ध भाग का ही नाम है, पूर्वीय पर्वत के मध्यभाग की समतल भूमि का नाम प्राक्सानु है। यह पूर्वी पर्वत भी वही मध्यवर्ती भौतिकात्मा है।

इसका खुलासा 'नव पश्चात्तात्स्थिविमन्त आयन्' पाद से हो जाता है। ये स्थिविमन्तः या शूर्प वाले (शूर्पमन्तः) नौ तत्त्व दितिमय या भौतिकात्मीय तत्त्व हैं। स्थिवि या शूर्प नाम दिति का है। जैसे "तस्योदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्ममुखम् ।। द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्त ऋषयः प्राणापानाः ।। चक्षुर्मुशलं काम उलूखलम् ।। दितिः शूर्प मदितिः शूर्पग्राही वातोपविनक् ।। अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुलाः ।। कब्रुः फलीकरणः शरोऽभ्रम् । श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ।। त्रपुः भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ।।" इत्यादि (अथर्व ११-३-१ से ८ तक)। शूर्पग्राहिणी स्त्री का नाम भी यहां पर अदिति दिया है। अतः 'स्थिविमन्तः' माने दिति या शूर्प वाले (या वाली) अदितिः है। ये तत्त्व अदितिमय अन्नमय और मनोमय हैं। ये वे नव प्राण हैं जिन्हें 'अष्टचक्रा नवद्वारा' या 'पुण्डरीकं नवद्वारं' में मनोमय ज्ञान के नव द्वार रूप दो आंख दो कान दो नांक मुख गुह्य और योनि कहा गया है। इनको पश्चिमीय और इनके देवताओं को पूर्वीय दश देवता रूप वीर कहा गया है। इस प्रकार ये चारों दिशाओं के वीर चारों प्रकार की संख्या में एकत्र होकर, इनमें से एक को जो अन्य सबके समान है जिसका वर्ण कपिल है उसे माता अदिति माता वाक् गर्भ में सृष्टि आगे बढ़ाने या विकसित करने के लिए धारण करती है। यहां का 'एक' भौतिकात्मीय अग्नि है जिसको ईषत्कृष्ण पिङ्गल वर्ण का होने से यहां पर 'कपिल' नाम से पुकारा गया है।

ये नौ और दश नाम की संख्यायें आङ्गिरस नामक प्राण रूप अङ्गरूप ऋषियों की संख्या के भी सूचक हैं जिन्हें 'नवग्वा' और दशग्वा नव प्राण और दशप्राण वाले कहा गया है (ऋ. वे. १-६२-४,५ देखें, अङ्गिरस शीर्षक भी देखें)।

इन वीरों की वर्णना यहां पर आसन्दी के रूप में दी हुई सी लगती है। प्राची दिशा के अधिपति मरुत हैं, दक्षिण दिश का इन्द्र, प्रतीची दिशा का वरुण और उदीची दिशा का सोम राजा। इसको सप्तर्षि आहुति देते हैं, यही सात वीर हैं जो अधर भाग से उत्तर की ओर आये। (अथर्व १५--१४-१ से ८

तक तथा १५-२ पूरा देखें जिसमें प्रत्येक दिशा के देवताओं की विस्तृत सूची भी दे रखी है)। श. प. ब्रा. (१-२-३-१७) ने आसन्दी के दिशाओं में से प्राची दिशा को देवताओं और अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिशा आदि देवताओं की बताया है, उत्तर दिशा को मनुष्य नामक सात प्राणों की, और दक्षिणा दिक् को पितरों अङ्गिरसादि नवग्व ऋषियों की, और पश्चिम से आने वाले दशवीर अपने आप विश्वे देवता सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि ये अश्न है भौतिकात्मीय हैं। यही व्याख्या इस ऋ. वे. के काथतवीरों की कुञ्जी है।

इन वीरों की संख्या पृथक् देने का कारण इनके देवताओं के छन्दाक्षरों की संख्या की ओर ध्यान दिलाना है। सप्त ऋषियों का छन्द पादनिचृत् गायत्री, ७ (× ३ = २१) अक्षरों की है, अग्नि की गायत्री ८ (× ३ = २४) अक्षरों की है। सविता की उष्णिक् ९ (× ४ = ३६) की है, और मित्रावरुण की विराट् १० (× ४ = ४०) अक्षरों की है। इन्हीं अक्षरों के अनुसार यहां इन वीरों की संख्या भी दी गई है और कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता।

अस्तु हमें अपनी प्रस्तुत ऋचा (१-१६४-४३) का अर्थ जानना आवश्यक है। यहां पर जिस धूम, उक्षा, पृश्निः, अपचन्त और वीरा का वर्णन है उन्हीं का विवेचन सौभाग्य से अथर्ववेद ११ १ में ब्रह्मौदनं शीर्षक पर इस प्रकार दिया है जिससे हमारी प्रस्तुत ऋचा का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है; जैसेः—

"अग्नेर्जायस्वादितिर्नातिथेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्त ऋषयो भूत कृतस्ते त्वा मथ्नन्तु प्रजया सहेह॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायो द्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्॥
अग्नेर्जनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूत कृतस्ते त्वा जीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नियच्छ॥"

(अथर्व ११-१-१ से ३ तक) "वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥" (अथर्व ११-१-३५)

यह प्रस्तुत ऋचा के "उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीराः' का भाष्य सा दिया है। यहां पर अग्नि ही उक्षा है। उक्षा नाम वीर्य सिचन समर्थ चिह्नित वृषभ का है। यह चिह्नित वृषभ भी सलिङ्ग, वृषभ का है। अग्नि नामक वृषभ दो प्रकार का है (१) अमूर्त, अलिङ्ग अरूप, अनिरुक्तादि और (२) मूर्त, लिङ्ग चिह्नित या सचिह्न सरूप निरुक्तादि। मूर्तमान् भौतिकात्मावान् या चिह्नित या सलिङ्ग वृषभ का नाम उक्षा है। उसे सृष्टि करने के लिए छोड़ दिया जाता

है जिसे कर्म काण्ड में 'वृषोत्सर्ग' कहते हैं। इस वृषभ के नितम्ब और पीठ पर + का चिह्न उक्त वीरों की दिशा सूचन के लिए दाग कर बना दिया जाता है। यह उसकी पहचान भी है। इसी अग्नि रूपी वृषभ के पाकं पाकः या अपचन्त माने भात मांस की तरह पकाना नहीं है वरन् फलादिकों या बालकादिकों का प्रौढता रूप में परिपक्व होना या बनाने का अर्थ है (Maturity कहना चाहिए)। इस पाक की क्रिया को अदिति माता पुत्र कामा या सृष्टि विस्तार कामना से आतिथेय की तरह करती है। अतिथेय को वृषभ पका कर दिया जाता था, यहां अदिति अग्निरूप वृषभ में पाक क्रिया ला रही है। धूम के माने जैसे बताया जा चुका है भौतिकात्मा की स्थूणा की सृष्टि है। इस पाक प्रक्रिया को अथर्व वेद उचित रूप से ब्रह्मौदन या ब्रह्म रूप ओदन की पाक प्रक्रिया कहता है।

इस पाक प्रक्रिया में सोम के पाक की प्रक्रिया अभिमत है। अग्नि वृषभ के भौतिकात्मीय शरीर को पका कर परिपक्व करके उसके सोम रूप वीर्य या रेतः टपकाने योग्य, सृष्टि को बीज युक्त बनाया जा रहा है। उक्षा माने उक्षण या सिचन या वीर्य सिञ्चन करने वाला ही होता है। इस भट्टी को तैयार करने के लिए सात वीर पहले ऊपर की ओर आये, उन्हें यहाँ पर 'सप्तऋषयो भूतकृतः' कहा है और 'ये भूत सृष्टि कारक सात ऋषि तुम्हारा (अग्नि रूप वृषभ का) मन्थन करें, यह भी स्पष्ट लिखा है। प्रस्तुत ऋचा में इस अग्नि रूप उक्षा या वीर्य सेचक या सचिह्न या चतुष्पाद ब्रह्म वृषभ या भौतिकात्मावान् अग्नि को पृश्नः इस लिए कहा है कि यह अग्नि-वृश्भ उक्त परिपाक से 'सर्वरूपधारी' हो जाता है। पृश्नि नाम सर्वरूप तत्व का है 'पृश्निः सर्वाणि रूपाणि' वह पुष्ट होकर सरेतः होता है।

इसी पृश्नि स्वरूप की विवेचना के लिए ऋ. वे. १०-२८-३ ने निम्न मंत्र में एक वृषभ नहीं, वरन् 'सर्वाणि रूपाणि' रूप वृषभ या नाना अग्नि रूप वृषभों के पाचन या पाक की चर्चा, इन्द्र के सोमपान के साथ दी है। सोमपान ही से सर्वाणि रूपाणि' की प्रस्तुति होती है तभी वह 'पुरुरूप' या 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' होता है। ''अद्रिणा ते मन्दिन इन्द्र तूयान्त्सुन्वन्ति सोमान् पिबसित्वमेषाम्। पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः॥''

यह अग्नि रूप वृषभ पृश्नि रूप में या जिन सर्व रूपों में विकास पाता है वे सर्वरूपी रूप नवीन उत्पन्न रूप नहीं हैं, वरन् इनके मौलिक बीज या धर्म उस अग्नि रूप वृषभ में पहले ही से विद्यमान थे पर अविकसित थे, वे अविकसित मौलिक बीज या धर्म ही विकसित होकर सर्व रूपों में प्रकट या उदीयमान

या आविर्भूत हो गये। अतः लिखा है "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।" जो अविकसित थे वे उक्षा के परिपाक से पुष्ट रेतः या सोम रूप में सर्वरूपधारी वीर्य समरूप में प्रकट हो गये।

इस ऋचा का योग या अतिसृष्टि और वियोग या सृष्टिः।

योगपक्ष—जैसा प्रारम्भ मे लिखा जा चुका है, यहाँ पर दीर्घतमा ऋषि स्वयं कह रहे हैं कि इस अवर नामक भाग या पूर्वार्द्ध के परे या उत्तरार्द्ध की प्रथम रेखा पर—जिसका नाम विषुवान् है,—मैंने दूर से गोमय समान स्थूणाकार का धूममय भौतिकात्मीय तत्त्व को कुहरे की तरह छाया हुआ देखा। क्योंकि वहाँ पर दक्षिणायनीय चार प्रकार के वीर रूप प्राण पृश्नि या सर्वरूपी अग्नि रूप सलिङ्ग भौतिकात्मीय वृषभ के परिपाक की प्रक्रिया या योग की प्रक्रिया कर रहे थे, उन प्राणों की अग्नि प्रज्वलित होने के पूर्व उनका प्रदीप्त होने वाला शरीर पहले अपने मौलिक स्वरूप धूम को प्रकट कर रहा था, धूम के तुरन्त पश्चात् उनमें वह ज्योति जल जाती है जिसके लिए वे योग या ऐक्य रूप में प्रस्तुत हुए हैं; यहाँ इसी प्रक्रिया को उस सप्राण वृषभाग्नि की परिपाक की क्रिया या सोम ज्योति या वीर्य टपकाने की क्रिया के रूपक में दिया है। जो ज्योति या धूम निकले हैं, उनके मौलिक बीज उनमें (अरणियों में अग्नि की तरह) पहले ही से विद्यमान थे।

वियोग या सृष्टि पक्ष—पूर्वार्द्ध के अन्त में विषुवान् नामक तत्त्व में जहाँ से परार्द्ध का प्रारम्भ होता है मैंने गोमय के समान स्थूणा रूप धूम को भौतिकात्मा के रूप में उदित होते देखा, वहाँ वीर नामक प्राण पृश्नि या सर्वरूपधारी अग्निरूप सलिङ्ग या भौतिकात्मीय वृषभ के परिपाक की प्रक्रिया कर रहे थे उस बृषभ के परिपाक से उसमें सोम रूप रेतः या वीर्य पुष्ट हो परिपाक से चूने लगा जिससे अगली अनन्त सृष्टि होने लगी उनसे जो विकास होने लगे थे (वे नये नहीं थे वरन्) उनके मौलिक बीज पहले ही से विद्यमान थे।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥

इस मंत्र में सुपर्ण रूप से तत्त्वों की व्याख्या दी जा रही है। यहाँ दिए गये दो सुपर्ण कौन है यह विदित हो जाय तो इस ऋचा का भाव स्वयं लग जाय। लोगों ने इन सुपर्णों का ज्ञान वेदों में खोजने के स्थान में अपनी-अपनी कपोल कल्पनाओं के कीचड़ में ढूंढने का प्रयास करके इसके अर्थ का सत्यानाश मार डाला है। दो बातें मुख्य हैं (१) सुपर्ण तो केवल एक है, उसी एक सुपर्ण की व्याख्या नाना सुपर्णों के (विकसित तत्त्वरूप सुपर्णों के) रूप में

की गई है जैसे 'एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं मातारेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥ सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति । छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥" (ऋ. वे. १०-११४-४,५)। वास्तव में सुपर्ण नाम छन्दों का है। वह सुपर्ण कभी गायत्री का रूप लेके २४,२४ तत्त्वों का रूप लेता है, कभी त्रिष्टुप बनकर ३३ या ४८ तत्त्वों की व्याख्या करता है, कभी बृहती से ३६ तत्त्वों का बनता है, कभी जगती से ४८ तत्त्वों का। इत्यादि।' इस प्रकार एक ही सुपर्ण की व्याख्या नानाविधियों से नाना रूप में की जाती है। यही बात उक्त दो ऋचायें कहती हैं। जब इस सुपर्ण की व्याख्या गायत्री और शाक्कर गायत्री के ४८ तत्त्वाक्षरों के रूप में या जगती के ४८ तत्त्वाक्षरों के रूप में की जाती है या विराट् के ४० या त्रिष्टुप् के ४४ अक्षरों के रूप में की जाती है तब इसे प्रत्येक स्थिति में एक महासुपर्ण कहते हैं। इसी स्थिति में इसको "स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आविवेश।" (ऋ. वे १०-८१-१) कहते हैं अर्थात् वह छन्द के पूर्वार्द्ध को प्रथम पक्ष या छन्द तथा द्वितीय को अवर या दूसरा छद या पक्ष बनाता है। इन छदों या पक्षों के ही कारण इन भागों को छद या छन्द (गायत्री) प्रभृति कहते हैं। द्रविण नाम द्रव्य का है, भौतिकता का है, उसके रूप की प्राप्ति के लिए वह प्रथम छन्द से द्वितीय छन्द को विकसित करता है।

छन्द प्रायः चार पादों के होते हैं। इनको चतुष्पदी या चतुष्कपर्दा युवति के रूप में वर्णित करके लिखा है कि यह छन्दोमयी युवति यज्ञ रूप सृष्टिरूप वस्त्र को बुनती है। सृष्टिविकास का वर्णन नाना देवताओं के सर्वदेवता रूप में किया गया है। प्रत्येक देवता की विकासशैली दिखाने के लिए भिन्न भिन्न छन्दों के तत्त्वाक्षरों या पादों को या विभिन्न छन्दोमयी सुपर्णों को आधार बनाया जाता है। इनका विवेचन ऋ० वे० (१-१६४-२३, २४, २५ और १०-१३०-४, ५) में इस प्रकार दिया गया है जैसे अग्नि का छन्द गायत्री, सविता का उष्णिक्, सोम का अनुष्टुप्, बृहस्पति का बृहती, मित्रावरुण का विराट्, इन्द्र का त्रिष्टुप् और विश्वेदेवताओं का जगती है। ये छन्द या गायत्री प्रभृति ही चतुष्कपर्दा युवति हैं; विभिन्न पादाक्षर प्रकार की युवतियां हैं, उक्त देवता अपनी अपनी पत्नी रूप इन्हीं छन्दों या सुपर्णियों में अपने अपने भागधेय या विभागीय विकास को धारण करते हुए बतलाये जाते हैं। यहाँ पर इन सुपर्णियों में इनके पति रूप देवता सुपर्णा रूप के वृषण या वर्षणशील रूप में सन्निविष्ट रहते हैं। अतः लिखा है—"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका

वयुनानि वस्ते । तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ।।" (ऋ० वे० १०-११४-३) ।

ऐसी परिस्थिति में प्रस्तुत ऋचा की घोषणा या यह कहना कि 'सुपर्ण तो दो है, वे सखा हैं, एक ही वृक्ष में हैं' समाधान ठीक नहीं हुआ सा प्रतीत होता है । पर बात ऐसी नहीं है । सुपर्ण तो एक ही है । उसी एक के दो सुपर्ण या दो छन्द या पक्ष हैं, या यह सुपर्ण द्विमुखी सर्प सा है । अथवा एक ही सुपर्ण शरीर में वे दो पक्ष पर्ण या अङ्ग हैं । इनको वैदिक दर्शन की भाषा में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध या अमृत और मर्त्य अथवा अभौतिक और भौतिक अथवा अग्नीषोमौ या इन्द्राग्नी या इन्द्रापर्वतौ इत्यादि कई प्रकार के विभाजनीय नामों से पुकारते हैं । इनका एक और प्रसिद्ध नाम है वह 'सूर्याचन्द्रमसौ सुपर्णौ' या 'सूर्याचन्द्रमसौ ह वा चक्षुषी' । इनको कई अनजान व्याख्याताओं ने नासमझी से सार्वजनीन और वैयक्तिक दो आत्मायें कहकर अपने और दूसरों सबको ठग दिया है । यहां एक या अनेक की कोई चर्चा नहीं है, यहां तो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों अखिल ब्रह्माण्डीय आत्मायें हैं व्यक्तिगत आत्मा में भी ये दो भाग होते हैं । यहां दो से जुड़े अखण्डात्माओं का विवेचन है, अनेकता से इन सुपर्णों का कोई सम्बन्ध नहीं है । हां ये आत्मायें अभौतिक या भौतिक हैं, प्राण और उदान रूप दो पंछी या प्राणपखेरू हैं, इनमें इतना ही अन्तर है, पर यह महान् अन्तर है । इन व्याख्यातारों का ध्यान इस ऋचा में दिये 'सयुजा' शब्द के अर्थ की ओर गया ही नहीं । इन्होंने इसका अर्थ 'सखायः सयुजा' से जोड़कर 'मित्रता के बन्धन से जुड़े' लिखमारा है । ये मित्रता के बन्धन से जुड़े नहीं हें, वरन् ये स्वाभाविक सम्बन्ध से पिता पुत्र या माता पुत्री के समान एक दूसरे से उत्पन्न होने के स्वाभाविक प्रेम बन्धन से जुड़े हैं, जैसा कि ऋ० वे० १० ११४-४ और १-१६४-१७ में गौमाता और उसके वत्स का पारस्परिक स्वाभाविक प्रेम वर्णित किया गया है । इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप एक ही है, सयुजा है, दोनों एक दूसरे के सखा या प्यारे हैं । और ये दोनों सृष्टि रूप वृक्ष को आलिङ्गित किए हुए हैं, या इन्हीं का इस प्रकार का पारस्परिक आलिङ्गित शरीर ही एक समान वृक्ष या दो समान भागों का सम्मिलित स्वरूपी एक समान वृक्ष, सज्ञान वृक्ष, जड़ में चेतनता युक्त सृष्टिवृक्ष है । उसे ये पारस्परिकालिङ्गनरूपता में प्रकट कर रहे हैं । यह वही 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखः' सृष्टि वृक्ष है जिसे पिप्पल या अश्वत्थ नाम से (ऋ० वे० १०-२७-१०-७० कठ उप और गीता १५-१ में पुकारा जाता है । यह तो इस ऋचा के पूर्वार्द्ध का अर्थ है ।

इस ऋचा के उत्तरार्द्ध का अर्थ तो अगली दो ऋचाओं ने स्वयं स्पष्ट करके दे दिया है जिनको न समझ सकने के कारण सायणादि पौर्वात्यों और

विल्सन लुदविग आदि पाश्चात्यों ने लिख दिया है कि इन तीन (२०, २१, २२) ऋचाओं की सब व्याख्यायें केवल काल्पनिक या आनुमानिक ही हो सकती हैं। और लुदविग ने तो यह भी लिख डाला है कि ये तीनों मन्त्र एक दूसरे से बिलकुल ही असम्बद्ध हैं और इनको इस सूक्त में इसलिए प्रक्षिप्त करके रख दिया गया है कि इनमें सुपर्ण शब्द प्राधान्य रूप से आया है !! इन सब कथनों का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि इन व्याख्यातारों में से अभी तक किसी की भी समझ में 'सुपर्ण' तत्त्व आया ही नहीं है। इसी कारण इन लोगों ने इस सुपर्ण की व्याख्या अपनी अपनी कल्पनाओं के द्वारा कई लम्बे चौड़े लेखों को लिखकर निम्न भ्रमात्मक रूपों में कर भी रखी है। कोई कहता है कि ये दो सुपर्ण दो आत्मायें—परमात्मा—जीवात्मा—हैं, कोई कहता है ये सूर्य की दो प्रकार की किरणें हैं, कोई कहता है कि ये छन्दः हैं, कोई कहता है कि ये मृत पुरुषों की आत्मायें हैं, कोई कहता है कि ये दिन और रात हैं, कोई कहता है कि इनमें से एक तो वृक्ष है दूसरा उस वृक्ष का पक्षी, कोई कहता है कि ये सूर्य की अयनरेखा और सूर्य का लोक है, कोई कहता है कि ये यूप और ससार हैं और कोई कहता है ये पौराणिक गाथाओं का एक काल्पनिक वृक्ष है, सारहीन कल्पना है। ग्रीफिथ ने इन सब का उल्लेख करते हुए, इसीलिए यह कहा है कि सुपर्ण सम्बन्धी इन विचारों में सुपर्ण तत्त्व की वास्तविक और सन्तोषजनक व्याख्या की उपलब्धि की आशा बड़ी कठिनाई से की जा सकती है। इसका तात्पर्य ही यही है कि अब तक जिसने भी इनके बारे में जो कुछ भी लिखा है वह संशय विपदा से बिलकुल निर्मुक्त होकर नहीं लिख पाया है, कुछ न कुछ संशय सबके मन में चोर की तरह अवश्य छिपे बैठा है, फिर भी वे लिखने के नाते लिखते आये और लिखते जा रहे हैं। सुपर्ण की सन्देह हीन व्याख्या कुछ यहां पर पहले दे दी गई है शेष वैदिक विश्व दर्शन में त्रिसुपर्ण शीर्षक में देखें।

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ २२ ॥

'हां 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।' की व्याख्या तो मंत्र २२ स्वयं लिखा गया है। उन दो सुपर्णों में से एक या भौतिकात्मीय-भागीय अधोमुखीय सुपर्ण तो पिप्पल के या भौतिकता के परिपक्व फल का आस्वादन करता है, दूसरा ऊर्ध्वमुखी या पूर्वार्द्धीयत्रिपादामृतज्योतिप्रधान सुपर्ण, अपनी ज्योतिर्मयी जीवनी में ही मस्त रहकर उस भौतिकता के आस्वादन करने वाले सुपर्ण को केवल द्रष्टा रूप में ज्ञान रूप में खाते-पीते सोते जागते

देखता रहता है। ये दोनों सुपर्ण कभी भी एक दूसरे से पृथक् नहीं रहते। हां प्रलय में भौतिक सुपर्ण का लय अमृत सुपर्ण में हो जाय तो वह केवल अमृत सुपर्ण रह जाय। यहाँ पर एक की निन्दा (स्वाद्वत्ति) दूसरे की प्रशंसा (अभिचाकशीति) नहीं है। यह तो योग या सृष्टि काल की वास्तविक स्थिति का साकार साक्षात् दर्शन मात्र कराया जा रहा है। इस विषय को और अधिक स्फुटतर बनाने के लिए ही मंत्र २२ की रचना करना आवश्यक समझा गया था। उसमें यह स्पष्ट बताया है कि 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' का वास्तविक आशय क्या है ? इसमें लिखा है :—

योग या सृष्टि कालमें एक तो, सुपर्ण अकेला नही होता, सदा युक्त प्रकार से जोड़े में ही रहता है। दूसरे, यह जोड़ा केवल एक ही नहीं रह जाता, वरन् कई जोड़े हो जाते हैं। ये जोंड़े पञ्च पञ्च प्राणों के १० जोड़े हो जाते हैं। अतः इस २२ वें मंत्र में 'सुपर्णा' शब्द द्विवचन में न होकर बहुवचन में है जिसका प्रमाण 'निविशन्ते' और 'सुवते' धातु रूप हैं। इन जोड़ों में पूर्वार्द्धीय अमृत रूप सुपर्ण जब अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश आदि है तो दक्षिणार्द्धीय सुपर्ण क्रमसे वाक्, प्राण, चक्षुः मनः और श्रोत्रं आदि हैं। इसी प्रकार प्राण उदान व्यान अपान समान के देवता सहित ५ जोड़े वाले १० सुपर्ण और हैं। इन्हीं का विवेचन यह ऋचा इस प्रकार दे रही है।

यहां जिस वृक्ष का वर्णन है वह सृष्टि वृक्ष है। इसका प्रमाण ऋ. वे. (१०-२७) की यह ऋचा है "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा भूमि निष्टतक्षुः'। इसका उत्तर तै० ब्रा० ने इस प्रकार दिया है। 'ब्रह्म वनं ब्रह्म तद्वृक्ष आस यतो द्यावा भूमि निष्टतक्षुः ॥" इस सृष्टि रूप वृक्ष के दो भाग रूप दो सुपर्ण कहलाते हैं। इनमें दो भागों वाले दो सुपर्णों में से जो दक्षिणार्द्धीय भाग का एक सुपर्ण है उसके कई भाग या सुपर्णों के जोड़े हो जाते हैं जैसा कि पिछले परिच्छेद में बताया जा चुका है। इन सुपर्णों का नाम 'मध्वद' या सोमामृत का पान करने वाला है। ये भौतिकात्मा के अमृत या सोम का पान करने वाले या भौतिकात्मा के शरीर को धारण करने वाले सुपर्ण हैं या प्राण हैं। ये प्राण रूप सुपर्ण उस सृष्टि वृक्ष के पूर्वार्द्धीय अमृत की गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित होकर रहते हैं (निविशन्ते)। और ये भौतिकात्मीय सृष्टि और सोम को ओर आगे की ओर विकसित करने वाले (सुवते) भी हैं जिससे ये अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड और सोम की रचना को एक पूर्णता प्रदान करते हैं (सुवते अधि विश्वे)। इन उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मीय प्राण रूप सुपर्णों की इस प्रकार की विकास परम्परा की स्थिति ही को (अग्रे) पहले या आगे के मंत्र २० में 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' या योग या सृष्टि वृक्ष के फल रूप सोम का स्वाद लेता है या उसको

अपनाता या उसके शरीर को धारण करता है इत्यादि कहा गया है, इस बात को वह ऋचा स्वयं कह रही है। इस पिप्पल के वृक्ष का ही फल जो मध्यविन्दु में अतीव मीठा है वह गायत्री का लाया या बनाया सोम है इस सोम को वही जान सकता है जो योग सृष्टि के इन रहस्यों की जानकारी रखे। जो व्यक्ति इस योग सृष्टि की इस प्रकार की रचना के मूल स्रोत रूप पूर्वार्द्धीय अमृत रूप पिता या पितर को या जन्मदाता को भली-भांति नहीं समझ सका है (जैसा कि अब तक के सभी व्याख्याता नहीं समझ सके हैं) उसे इस सोम का रहस्य कभी भी ज्ञात या प्राप्त हो ही नहीं सकता। (यह तो वही मंत्र द्रष्टा ऋषि स्वयं कह गये हैं, लेखक को अपनी ओर से नमक मिर्च मिलाकर कुछ और अधिक कहने को आवश्यकता ही नहीं है)॥ इसके लिए वैदिक योगमार्ग के ज्ञान की आवश्यकता है। अभी तक किसी ने इस ओर झांका तक भी नहीं है।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २१ ॥

अब मंत्र २१ में सृष्टि प्रक्रिया के विपरीत अतिसृष्टि या योग की प्रक्रिया का वर्णन मत्र २० के 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' पद की पूर्ण व्याख्या देने के लिए दिया गया है। लिखा है :—

"जहां पर उत्तरार्द्धीय पञ्च पञ्च प्राणों के १० जोड़े रूप सुपर्ण अपने-अपने देवता रूप सुपर्णों के अमृतमय भागों की अनुभूति को नैरन्तर्य रूप से सब मिलकर एक साथ उसी प्रकार करते हैं जैसे यज्ञस्थल की विद्वत्परिषद के समान सृष्टि वृक्ष में बैठ कर नाना ऋत्विज, सुपर्ण रूप धारण करके प्रातःकाल में एक साथ चहचहाने लगते हैं। अर्थात् इन प्राण रूप सुपर्णों का निवास विदथ रूप उनके पूर्वार्द्धीय तत्तद् देवता में है, और प्रत्येक प्राण रूप सुपर्ण अपने देवरूप सुपर्ण के रमणीय गीत गा रहा है या उसकी तादात्म्यीय अनुभूति कर रहा है।"

यहां पर एक बात और है जिसकी ओर ध्यान दिलाना परम आवश्यक है। वह यह है—जितने भी प्राण हैं, या उनके देवता हैं वे सब के सब एक ब्रह्म के अङ्ग रूप हैं। अग्नि वायु आदित्य चन्द्रमा दिश आदि भी दैवी अङ्ग हैं, और वाक् प्राण चक्षु मन श्रोत्र भी भौतिकामृतीय अङ्ग है। प्रथम दूसरों की आत्मायें हैं, द्वितीय प्रथमों के अध्यात्म या शरीर। ये सब मिलकर एक सर्वाङ्गीण ब्रह्म की प्रस्तुति या रचना या स्तुति करते हैं। अतः लिखा है कि इस प्रकार का वह सर्वाङ्गीण 'इनः' या सब प्राणों का स्वामी और अखिल

भौतिक ब्रह्माण्ड का संरक्षक (केवल अनश्नन्) है या 'अभिचाकशीति' या केवल द्रष्टा रूप में प्रस्तुत रहता है। वह 'धीरः' या धीः नामक या बुद्धि नामक प्राणों में रमण करने वाला (धी + रः), मेरे (मा) इस पाकः या परिपाक को या परिणाम को या परिवर्तन को या नानारूपता को प्राप्त होने वाले 'अत्र' या भौतिकात्मीय प्राणों में अध्यात्मीय अङ्गों में 'आविवेश' या सर्वतः व्याप्त होकर समा गया, (व्याप्नोति के बदले-आविवेश या व्याविवेश)। पर वह रहा अनश्नन् और अभिचाकशन् ही। इस प्रकार यह ऋचा पूर्णतः योग प्रक्रिया का विवेचन देती है।

ये तीनों ऋचायें कहां तो एक दूसरे के भावों का भाष्य दे रहे हैं, कहां हमारे व्याख्यातार यह कह गये हैं कि ये एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध हैं, केवल 'सुपर्ण' नाम आ जाने से इन तीनों ऋचाओं को यहां प्रक्षिप्त कर दिया है। तब इनकी समझ में क्या आया होगा ? यह अब तो स्वतः स्पष्ट हो गया होगा।

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ ४७ ॥

इस मंत्र में भी सुपर्णों का वर्णन हैं। यहां के सुपर्ण न एक है न दो। ये अनेक हैं, बहुवचन में दिया है। 'हरयः' 'ते' आववृत्रन्' इत्यादि इसके प्रमाण हैं। जब सुपर्ण का वर्णन बहुवचन में आता है तब यह सप्त सप्त या पञ्च पञ्च प्राणों का ही निश्चयात्मकतया विवेचन देता है। यह विवेचन दोनों प्रकार का, योग का या सृष्टि का हो सकता है। यहां पर दोनों प्रकार का सम्मिलित विवेचन दिया हुआ है। मन्त्र का पूर्वार्द्ध तो योग की प्रक्रिया का वर्णन देता है, और उत्तरार्द्ध सृष्टि प्रक्रिया का।

मंत्र के प्रथम भाग का अर्थ—प्राण रूप सुपर्णों का नियान या अवतार या उत्पत्ति का स्थान तो कृष्ण या उत्तरार्द्ध रूप रात्रि है भौतिकता के अन्धकार से युक्त पक्ष है। ये प्राण रूप हैं। प्राणों का शरीर 'आपः' है (प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपं चन्द्रः । बृह. उप.)। उस आपः या दैवी भौतिकात्मा का वस्त्र या शरीर पहन कर या धारण करके उनका स्वरूप 'सुनहला' स्वर्णमय प्राणमय चान्द्रमस ज्योतिर्मय हो जाता है। दैवी भौतिकात्मा रूप आपः का वर्ण स्वयं शुक्ल है, 'अपां शुक्लम्' (छा. उप.)। दैवी प्राणों की आत्माओं से ये अधिक तेजस्वी या सुनहले हो जाते हैं। यह योग की प्रक्रिया है। योगी को प्राणों के आपोमय शरीर को ही सबसे पहले जागृत करना पड़ता है। इसकी जागृति से विभिन्न प्राणों की आत्माओं या देवताओं को उद्दीप्त करके, इन आपोमय

शरीरों में उन उन प्राणों या उनके देवताओं की ज्ञाति या ख्याति रूप ज्योति या दीप जलाना पड़ता है। इसी स्थिति का नाम सुपर्णों का दिव में उत्पतन करना कहलाता है, क्योंकि तब वे मर्त्य भौतिक शरीर से अमर्त्य देव शरीरों की अतिसृष्टि करके स्वर्ग की यात्रा करते हैं या स्वर्ग में उड़ते से प्रतीत होते हैं। दिव में उत्पतन का आशय दैवी ज्योतिर्लोक में डुबकियां लगाना है। ये डुबकियां ऊर्ध्वगामिनी ऊर्ध्वतलीय या ऊर्ध्वस्तरीय होती हैं। अतः 'दिवमुत्पतन्ति' या 'ऊपर को उड़ते हैं' लिखा है।

मंत्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ—इसमें योग और सृष्टि दोनों प्रक्रिया हैं। पर सन्दर्भ में इस प्रक्रिया को योग प्रक्रिया से ही सम्बद्ध किया है। यह ठीक भी है। क्योंकि सृष्टि नाम योग से वियोग की ओर विकसित होने का है। योग में वे सब एक रूप में सम्मिलित रूप में उत्पन्न करते हैं, वहां तो दैवी तत्त्वों से भी इनका एकत्व एकात्म्य ही है, उसी में डूबे हैं। इस अति सृष्टि में प्रत्येक प्राण अपने अपने पृथक् पृथक् शरीरों में प्रकट होता है जैसे अग्नि वाक् शरीर में, सूर्य चक्षु शरीर में, चन्द्रमा मनः शरीर में, वायु प्राण आपः शरीर में, दिशा श्रोत्र में इत्यादि। उस अखिल ब्रह्माण्डीय एकत्व या एकात्मीय योग स्थिति से—जिसे ऋत का सदन या सत्य की ज्योति का सदन या आत्मज्योति का धाम पुञ्ज कहा जाता है—जब वे प्राण सृष्टि विकास के लिए प्रत्यावर्तित होते हैं या लौटते हैं—'त आववृत्रन्'—तब या तभी उत्तरार्द्ध रूप पृथिवी या भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड घृत से या इन प्राणों के चक्षुर्मय प्रकाश के प्राणवान् चेतनावान् ज्योति से सिञ्चित होकर अखिल ब्रह्माण्ड को एक विराट् ज्ञान चेतना प्रकाशमय प्राणमय पुरुष के रूप में परिणत कर देते हैं, इनके अङ्ग प्रत्यंग सब सजीव सप्रकाश सप्राण सज्ञान होकर 'दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः' (गीता ११-१२) का स्वरूप धारण कर लेते हैं।

एकः महासुपर्णः

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ॥ ५२ ॥

यह मंत्र पीछे व्याख्यात (१२७–२०) अन्य मंत्र की व्याख्या में उद्धृत 'एकः सुपर्णः सः समुद्रमाविवेश इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे' और 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ. वे. १०-११४-४,५) की प्रतिध्वनि सी कर रहा है। यह 'एकः महासुपर्णः' का विवेचन दे रहा है। ब्रह्म अखिल ब्रह्माण्ड का मौलिक स्वरूप 'एक महासुपर्ण' के समान था। इसका दिव्य शरीर या भौतिकामृतीय या सोमीय शरीर पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत

से या दिवः से उत्पन्न होने के कारण 'दिव्य' (शरीर) कहलाता है। इसका सुपर्ण अखिल ब्रह्माण्ड सम बृहत् है। एक तो दिव्य सुपर्ण है, दूसरा भौतिकामृतीय बृहत् नाम का। दोनों सुपर्णो या पक्षों या परों वाला वह एक महा सुपर्ण है। जिसको उक्त उद्धृत मंत्र से 'सःसमुद्रमाविवेश' कहा है, उसी को यहां पर 'अपां गर्भ' नाम से कहा जा रहा है। आपः तत्त्व प्राणों का शरीर है, इसी आपः शरीर के गर्भ में वह प्राण पखेरू पक्षी या सुपर्ण निवास करता हैं। 'ओषधि' शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति "उषसो भवतीति 'ओषम्' 'उषस्यम्' वा 'तद् ओषं दधातीति ओषधिः' है। जो तत्त्व भौतिकात्मा के उषा काल में उदित होता हैं उसको धारण करने वाला' ही 'ओषधिः' या 'आपोमयाः' प्राण है। आपः ही ओषधि हैं। उनका सर्व प्रथम दर्शनं या दर्शतं वही 'दिव्यं सुपर्णं रूप प्राण करता हैं। 'ओषधी' 'रुद्र' और 'भेषज' शीर्षक भी देखें। इसीलिए इस 'दिव्य सुपर्ण' पूर्वार्द्धीय पक्ष को 'ओषधीनां दर्शतं' कहा है और दूसरे उत्तरार्द्धीय पक्ष को 'वायसं (पक्षं) बृहन्तं अपां गर्भम्'। जो व्यक्ति या साधक इसकी अनुभूति करता है उसको यह अपने प्राणों के शरीर रूप आपः गर्भीय पर्जन्य से वारं वार वृष्टि करके तृप्त या मग्न कर देता है। ऐसे सरस्वान् या रसवान् या समुद्रमय (सः समुद्रमाविवेश) तत्त्व या देवता का मैं अपनी सुरक्षा के निमित्त आवाहन या ध्यान या स्तुति करता हूँ। इसमें योग और सृष्टि सम्बन्धी दोनों विषयों का विवेचन है।

सुपर्णों या देव सुवर्णों का शरीर

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभात्त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥२३॥
गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २४ ॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा ॥२५॥

इन तीनों मन्त्रों में मंत्र ५ के'''पृच्छामि'''देवनामेना पदानि' और मंत्र ७ के 'वामस्य निहितं पदं वेः' के पदों की पृच्छा के पद विषयक ज्ञान की व्याख्या दी जा रही है। अतः इनका विषय पूर्णतः संदर्भान्तिर्गत है, यों ही संकलित नहीं। पिछले तीन मंत्रों के सुपर्णो के शरीर छन्द हैं, छन्द ही सुपर्ण हैं, यह बतलाया जा चुका है। अतः उक्त सुपर्णो की व्याख्या तब तक अपूर्ण होती है जब तक उनके शरीर रूप छन्दों के शरीर और उनके सम्बद्ध देवताओं का ज्ञान पूर्ण न हो।

वैदिक विश्वदर्शन की रूपरेखा या मेरुदण्ड निर्माण का मूल और मुख्य आधार वेदों में विख्यात सप्त मुख्य छन्द हैं। इसीलिए छन्द नाम वेदः या ज्ञानमयी सृष्टि का भी है और 'इन्हीं छन्दों से सृष्टि का विवर्त हुआ' भी लिखा है जैसे 'छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।" (भर्तृहरि-वा-प·)। प्रत्येक छन्द विभिन्न देवता की विकास शैली की एक सरणि देता है। इस छन्द के पादों का नाम पद भी है। यह पद सप्तपदी या विष्णुविक्रमणीय त्रिपदी या सप्तपदी से भिन्नार्थक है। छन्दों के पादों को ही यहां पर गायत्रं (पदं) त्रैष्टुभं (पदं) जागत् (पदं) मंत्र २३ में कहा गया है जिनमें क्रम से ८, ११ १२ अक्षर रूप तत्वों का निवास है और प्रथम त्रिपाद् तथा द्वितीय चार पादों के हैं, त्रिष्टुप् त्रिपादी भी है जिससे इन्द्रादि वसुरुद्रादित्यों की ३३ संख्या आँकी जाती है।

"गायत्र नाम अग्नि देवता रूप पुरुष का या त्रिपादामृत का है। उसकी व्याख्या गायत्री के पादों से गायत्रपदों के रूपों में की जाती हैं। त्रैष्टुम नाम इन्द्र के साथ साथ वसुरुद्रादित्यों की संख्या देने वाले छन्द के त्रिष्टुप् नाम के पदों या पादों का है, जगत् नाम विश्वेदेवताओं की गणना के पदों या पादों का है जिसे जगती छन्द कहते हैं। अतः लिखा है कि "जिस छन्दोमय सिद्धान्तों से गायत्री के पादों के आधार पर गायत्र पदों की या गायत्र या अग्नि पुरुष की, गुप्त वर्णना या रहस्यमय वर्णना (आहितं = निहितं) की थी, इसी प्रकार त्रिष्टुप् से त्रैष्टुभ या त्रिपदी से इन्द्र की और जगती से जगत् नामक रहस्यमय पदों से जगती के विश्वेदेवताओं की रहस्यमय व्याख्या की थी, उन सब रहस्यों को जिन्होंने जान लिया था उन्होंने ही इन छन्दों के लाये अमृत और उस त्रिपादामृत का पान भी कर लिया था।" इनका सविस्तर वर्णन वैदिक विश्वदर्शन' के 'छन्दास दर्शन' शीर्षक तथा इस सूक्त के मंत्र २, ३, १३, १४ की व्याख्या की भूमिका 'अस्य वामीये रथ वागादि योगाः' नामक शीर्षक में ऋ- वे १०-१३०-४, ५ के उद्धरण सहित दिया मिलेगा ॥ २३ ॥

गायत्र पादों से ही अर्क या आपः या वाक् या ऋक् या पूर्वार्द्ध की व्याख्यायें की गई। इसी आपोमयी वाक् या ऋक् से साम नामक सूर्य तत्त्व या भाग की व्याख्या की गई। और त्रिष्टुप् के तीन पादों से वाक नामक इन्द्र 'त्रयः केशिन' ऋभवः-और वसु रुद्र आदित्य ३३ देवताओं की व्याख्या दी गई। तदनन्तर द्विपदी और चतुष्पदी वाक से या किसी को दो पाद का वाक किसी से चार पाद का वाक बनाकर उनके पादों के अक्षरों की विभिन्न संख्या ७, ८, ९, १०, ११, १२ इत्यादि रखकर इन पादों के विभिन्न प्रकार

के वाकों या देवताओं के गणों के तथा असमानाक्षरी पादों या समानाक्षरी पादों से मुख्य सात छन्दों (गायत्री उष्णिक् अनुष्टुप् त्रिष्टुप् बृहती विराट् और जगती) और उनके विभिन्न देवताओं की रचना की गई। प्रत्येक छन्द को एक पृथक् देवता भी दे दिया गया ॥ २४ ॥

इसीलिए लिखा है "छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।" इन छन्दों ही को सुपर्ण तथा इनमें से प्रत्येक को विभिन्न देवता का छन्द या सुपर्ण या पत्नी भी कहा जाता है जिनका सोद्धरण विवेवन मंत्र ३ की व्याख्या में दे दिया गया है (पीछे देखें)।

जगता सिन्धु···पर्यपश्यत्—

२४ वें मंत्र में जगती के जगत् नामक पदों से वैदिक दर्शन के पूरे ५० (४८ + २ आदि अन्त के) तत्त्वों का विवेचन दिया गया। यहां पर इस दर्शन या तत्त्वों के मौलिक सृष्टिक्रम का नाम सिन्धु (समुद्र या नदी) दिया गया है। इस सिन्धुनामक सृष्टि की रूप रेखा या मेरुदण्ड के मध्य-स्थान में दिव्यः (·या 'दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्' मंत्र ४६) या सुपर्ण या सोम चन्द्र का स्थान निश्चित किया गया। इसके पूर्व में गायत्री के २४ अक्षरों या इस जगती के दो पादों के रथन्तर नाम साम से सूर्य नामक सुपर्ण को देखा या माना गया, इस प्रकार इस जगती के जागत् पदों से केवल समुद्र रूप सृष्टि की बाहरी रूप रेखा ही नहीं खींची गई वरञ्च इसके मध्यवर्ती दो या पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के प्रतिनिधि रूप दो मुख्य तत्त्वों का भान या मान भी कर लिया गया। पूर्वार्द्ध का प्रतिनिधि रथन्तर साम रूप गायत्री के तीन या जगती के दो पाद (२४ अक्षरों) से उद्भूत सूर्य तत्त्व है और उत्तरार्द्ध का प्रतिनिधि वह दिव्यः सुपर्णः या सोम या चन्द्रमा है। रथ नाम भौतिकता का है। सोम ही रथ साम या प्राण है, सूर्य रथपर वाक या सोमपर शुद्ध त्रिपादामृत है। रथन्तर नाम वाक या गायत्रीका है (ऐ. ब्रा. ४-४-२८) इसका विस्तृत वर्णन ऋ. वे (१०-५-१) में दिया हुआ है, पढ़ लिया जाय। इसकी प्रथम ऋचा इस प्रकार है:—

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मद्धृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिसक्त्यूध निण्यो रूपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः ॥ १ ॥"

"इस सृष्टि का मूल आधार स्तम्भ रूप मेरुदण्ड या रूपरेखा वही जगती रूप सिन्धु या समुद्र है जिसमें चन्द्र रूप धनों या रत्नों की खान है। इसी हृद से अनन्त जन्मा सोम या चन्द्रमा नामक सुपर्ण की सृष्टि हुई। इस समुद्र

के उपस्थ रूप मध्यस्थान में ही इस अखिल भौतिकात्मीय ब्राह्माण्ड के नामहीन (निण्यो) तेजस्तत्त्व या सूर्य नामक सुपर्ण (वेः) का पद या गुहा-नामक स्थान निहित या सुरक्षित है जहां से वह अपने रूप नामक थन से भौतिकात्मीय सोमीय चान्द्रमस सृष्टि का दुहन या सिञ्चन या वर्षण करता है।'' शेष बातें इस सूक्त में बड़ी कुशलता से बड़े संक्षेप में दिए मिलेंगे। पढ़ लेना चाहिए।

इस वर्णना से भी यह स्पष्ट है कि इन छन्दों का वर्णन यहां पर पहले किए गये प्रश्न 'देवानामेना निहिता पदानि' (मंत्र ५) की ही व्याख्या के लिए दिया गया है। इस मंत्र में पर्यपश्यत् और अस्तभायत् क्रियाओं का कर्ता भी अग्नि प्रजापति ही है जिससे मं. ४ में प्रश्न किया गया है, पर यह उत्तर मं. ६ के कवियों का दिया हुआ है।

'गायत्रस्य महित्वा'—कुछ कहना ही नहीं आता, कैसे समझाया जाय। उपनिषत्कालोत्तर युग से ही वैदिक छान्दस दर्शन का लोप हो गया था। तब से कोई भी विद्वान् इन छन्दों की उस दार्शनिक भावना से परिचित रहा ही नहीं। सारी मौलिक सृष्टि एक यज्ञ रूप है। यज्ञ माने विकास ही होता है। विकास एक एक विन्दु क्रम से ही होता है। इस एक एक विन्दु रूप क्रम को या विकासीय भागों या स्थानों को छन्दों के पदों या पादों तथा उनके अक्षर रूप बिन्दुओं से परमित करने की एक अद्भुत शैली का निर्माण किया गया था। उसी शैली को जानने का प्रश्न भी (मंत्र ५ में) है, उसी का यहां इन तीनों ऋचाओं में कुछ व्याख्यान भी है, जैसा कि पहले कहा गया है।

इस प्रकार गायत्री के तीन पदों के २४ अक्षर रूप २४ तत्त्वों के विकास का नाम गायत्र पुरुष या अग्निः प्रजापति है। इसके तीन पदों में क्रम से अग्नि वायु और आदित्य नामक तीन मुख्य प्राण रूप तीन समिधों का विकास होता है। समिध माने 'सम् शीर्ण्णः इन्धन्तीति समिधः' है। इसका खुलासा ऐ. ब्रा. (३-१७) ने दे रखा है जिसमें इन तीनों प्राणों को प्रयाजा उपयाजा और अनुयाजा नाम से पुकारा है। 'शीर्षन्धित्सेत्' इति समिधः' नामकी व्याख्या भी दे रखी है। वैदिक दर्शन में सात पद हैं, उनको सात शीर्षण्य प्राण कहते हैं, उनमें से इन तीन पाद रूप तीन प्राणों को गायत्र पुरुष की तीन समिधा नाम से पुकारा जाता है। शेष चार समिधायें उत्तरार्द्ध में आती हैं। ''त्रिपदामनूच्य चतुष्पदया यजति, सप्त पदानि भवन्ति शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यं (समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्) सप्त वै शीर्षन्प्राणाः ॥'' यज्ञ रूप या सृष्टि के पूर्वार्द्ध रूप गायत्र पुरुष या

अग्नि प्रजापति को उज्वल या दीप्त रखने वा बनाने वाले गायत्री के ये ही तीन मुख्य प्राण ही तीन समिधायें हैं। अतः ये पाद जब गायत्री के पति गायत्र पुरुष या अग्नि प्रजापति के तीन प्राणों के सूचक कहे जाते हैं तब इन्हें समिधः या शीर्षन्प्राणः (संख्या में तीन) कहा जाता है। क्योंकि गायत्र पुरुष या अग्नि प्रजापति यज्ञ रूप है, उसके विकास या प्रदीप्ति के ये प्राण समिध कहलाते हैं। इन्हीं समिधों या प्राणों की प्रदीप्ति रूप महिमा (मह्ना) और मौलिक पूर्वजता (महित्वा) से वह गायत्र साम या रथन्तर साम के २४ तत्त्वाक्षरों से निष्पन्न सूर्य नामक तत्त्व इतना अधिक प्रकाशमान प्रतीत होता है। इस पाद में 'प्ररिरिचे' धातु का कर्ता सन्दर्भ से गायत्री और सूर्य दोनों हैं। इसी सन्दर्भ को बैठाने के लिए चन्द्र (दिव्यः) का वर्णन पहले देकर सूर्य का बाद में रखा गया है जिससे इस सूर्य का सम्बन्ध 'गायत्रस्यादि' पाद में बैठ या जम जाय। और इन्हीं कारणों से गायत्री छन्द को भी अन्य सभी छन्दों से श्रेष्ठ समझा जाता है। अतः यहां कहा है कि गह गायत्री अपनी इतनी बड़ी भारी महिमाओं और गौरव पूर्ण कार्यों से सब छन्दों में अधिक प्रकाशमान हुई। लिखा भी है 'कनिष्ठं सद् गायत्री सर्वेभ्यो छन्दोभ्योऽतिरिच्यत' (श० ब्रा०, ऐ० ब्रा०); क्योंकि सोम (साम और सूर्य) को केवल गायत्री ही ला सकी, अन्य छन्द इसे न पा सके, उसी भाव को इस पाद में इस प्रकार दिया गया है।

मंत्र २६ २७-२८ छान्दसी गौ।

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता सविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥
गौरमीमेदनुवत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्काणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं नयते पयोभिः॥

इन तीन मंत्रों में से २६ वें में मंत्र ७ के प्रश्न और विषय का विस्तार है तो मंत्र २७ में मंत्र ८ का तथा मंत्र २८ में मंत्र ९ का; यह इसके विषय, भाषा और भावनाओं की स्पष्ठ साम्यता से स्वयं उद्घोषित हो रहा है। यहां पर इनका वर्णन पुनः देने का कारण यह है कि ये छान्दसी छन्दोमयी वेद मयी, वैदिक विश्वदर्शन की मूलाधार भूता तत्त्व हैं। इसके पहले मंत्र २३,-२४,२५ में इन छन्दों की महिमा दी जा चुकी है अतः यहां उचित अवसर पाकर इन छन्दोमयी गायों का विवेचन निम्न प्रकार दिया जा रहा है:—

औष्णिक या उष्णिहा–धेनुः

(२६) इसमें उष्णिक धेनु का वर्णन है। उष्णिहा धेनु से सविता का सव या प्रसव होता है 'सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव' (ऋ. वे. १०-१३०-४)।

जिस धेनु के बारे में मन्त्र ७ में प्रश्न रूप में 'शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो' इत्यादि कहा गया है उसी के सन्दर्भ में उत्तर रूप में यह मन्त्र लिखता हैं कि— "अपने प्राण रूप करों को सुकुशल या दुहन में योगादिक्रिया से सुदक्ष दक्ष प्रजापति सा बना कर सरलता से दुही जाने वाली इस गाय का आह्वान या ध्यान करके योगी यति मैं इसका दुहन करता हूँ।" यह गाय पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत रूप द्यौ है जिसके अन्तिम चरण के अन्त त्रिपादी के तृतीयान्त चरण में सविता देवता का सव या प्रसव होता है, जिस प्रसव को वत्स या चतुर्थ पाद कहते हैं, यही सोम का सवन या प्रसवन या चुवाना टपकाना भाप रूप में भपके के रूप में 'सुत' करना कहलाता हैं। सविता प्रसविता सोम या चन्द्रमा देवता है। इसका जन्म त्रिपादामृत के पूर्ण परिणाम रूप सूर्य देवता से होता है। यह सूर्य तृतीय चरण की अन्तिम सीमा में उस त्रिपदामृतीय द्यौरूप गाय के थन के समान है अग्नि रूप या जातवेदा अग्नि की चक्षुरूप या अङ्कुर (थन) रूप की उष्णता रूप आत्मा (चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः······ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च') है। इसीलिए इस अङ्कुरता रूप थन की आत्मा रूप सूर्य या घर्म नामक सूर्य ही अभीद्धः या प्रदीप्त हो गया है। जिस चक्षुरूप अङ्कुररूप थनरूप शरीर में उद्दीप्त प्रदीप्त या अभीद्ध होकर वह घर्म नामक तपा हुआ सूर्य भपके के समान श्रेष्ठ या दुर्लभ, एकदम नया, अभूतपूर्व भौतिकात्मीय रस रूप सव' 'प्रसव' 'सुत' या सोम या चन्द्र नामक तत्त्व को निरन्तर टपकाता है। यह सृष्टि प्रक्रिया हैं। इसी को योग प्रक्रिया में टपकवाया जाता है। प्राणों को चक्षुरूप में लय करके उसे चक्षु रूप में सूर्य को उद्दीप्त करके उसकी ज्योति रूप ज्ञानानुभूतिरूप सोमरस को टपकवाया जाता है। इसीलिए लिखा है कि वह घर्म रूप उष्णताशरीरी जातवेदा अग्निरूप सूर्य योगप्रक्रिया से अभीद्ध या उष्ण या जागृति पा गया है वह हमें प्रसविता सविता रूप श्रेष्ठ सव या प्रसव रूप उत्तम शान्तिमय सोम ज्योति की ज्ञानमय अनुभूति को दे दे। इस बात को अग्नि प्रजापति 'अग्निर्विद्वान्' कः प्रजापति के म० ७ के प्रश्न 'शीर्ष्णं क्षीरं दुह्रते गावो, के उत्तर में कह रहा है। अतः वह यहां कहता है कि उस मंत्र ७ में वर्णित प्रश्न का जो उत्तर है उसे मैं यहां इस प्रकार कह रहा हूँ। उस प्रश्न का यही आशय हैं कि योग प्रक्रिया में प्राण रूप गायें अपने सिरों में दीप्त उस उष्ण स्थन रूप सूर्य की ज्योतिर्मयता से ज्ञानरूप सोम ज्योति की

अनुभूति रूप प्रकाश का दुहन कर रही हैं। इसका अभिनय महावीर या प्रवर्ग्य नामक यज्ञों द्वारा किया जाता है ॥ (२६)"

जगती शरीरिणी अदितिर्माता धेनुः

(२७) अदिति रूप जगती धेनु—अब मन्त्र ८ के 'धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे' इत्यादि वाक्य का जो प्रश्न है उसी का विवेचन यहां इस प्रस्तुत २७वीं ऋचा में विस्तार से दिया जा रहा है। इस मन्त्र की 'गौ' वेदों में प्रसिद्ध 'अदिति' सर्वा देवता है। यहां यह अदिति पूर्वार्द्धीय है, उत्तरार्द्ध की अदिति को दिति कहते हैं, यह बताया जा चुका है। पूर्वार्द्ध की अदिति का छन्दः जगती है, अतः यह जगती रूप अदिति माता रूपी मेनु है जिसका वर्णन निम्न ऋचा इस प्रकार देती है "माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥" (ऋ. वे. ८-१०१-१५)। इस अदिति को वसुओं की दुहिता, रुद्रों की माता और आदित्यों की स्वसा (बहिन) बताया है, तथा इसी को अमृत की नाभि अपराध हीन 'गौ' कहते हुए इसके बध को मना किया है। इस मन्त्र की विशेषता-जो यहां सबसे अधिक आवश्यक है—यह है कि ऋचाकार जमदग्नि ऋषि यहां यह कह रहे हैं कि इस ज्ञान को मैंने उस व्यक्ति के ज्ञान के लिए कहा है जो इस रहस्य को जानने की प्रश्नावली कर चुका था। ऐसा प्रश्न कर्ता इस अस्यवामीय सूक्त का वही 'पाकः' या 'कः' प्रजापति है जो इसके मन्त्र ५ में 'अग्निर्विद्वान्' से प्रश्न करने गया था। यहां पर जिसे 'दुहिता वसूनां' कहा है वही 'माता रूद्राणां' भी है। यह अदिति द्वितीय सप्तक की अदिति है जिसे 'अदितिर्द्यौरदिति रन्त-रिक्षंमदितिर्माता' मन्त्र में आदितिर्माता' कहा है, वही अदिति रुद्रों की माता और वसुओं की दुहिता है। पर 'अदितिर्द्यौ' वाली अदिति इसी प्रकार वसुओं की माता है, और अदितिरन्तरिक्षं वाली अदिति स्वयं वतुओं की पत्नी है। इसी अदिति का यहां पर विवेचन है। वह 'अदितिरन्तरिक्षं' वाली अदिति या वसुपत्नी अदिति, 'अदितिर्माता' बनने के लिए या रुद्र रूप वत्स की इच्छा या कामना करती हुई, उस वसु रूप पति से मानसिक विवाह करने के लिए गई, और वे सब देवता मानसिक या अनिरुक्त है, अतः उनका विवाह प्रेम और पुत्रोत्पत्ति सब मानसिक सृष्टिरूप में या अनिरुक्त या अमृतरूप में हो गया, अर्थात् कामना की नहीं कि कार्य सम्पादित हो गया। कामना करने मात्र की देरी है, जो चाहा सो स्वयं उपस्थित हो गया। फलतः अन्तरिक्ष रूप वसुओं और अदिति रूप मनोमयता से यह कार्य सम्पादित हो रहा है। अदिति ने मनसे ही क्यों इच्छा की, वाक् से क्यों नहीं कहा? इसका भी कारण है। क्योंकि अदिति स्वयं

अन्नमयी आध्यात्मिक अमृत शरीर रूपा होने से केवल मनोमयी है, मन केवल अन्नमय या अदितिमय ही होता है। अतः अदिति का शरीर ही मनोमय है, वह सर्वाङ्ग से अपने मनोमय सर्वाङ्गीणता से अदिति का शरीर ही मनोमय है, वह सर्वाङ्ग से अपने मनोमय सर्वाङ्गीणता से वसुमय वीर्यमय अग्निमय अन्तरिक्ष रूप में व्याप्त हो गई है। और इस सर्वाङ्गीण अन्नमयी मनोमयी अदिति की जो अमृतमय नाभि या गर्भ या योनि है उसमें वत्स का गर्भाधान मन में कामना करने मात्र से हो गया जैसा कि ऋ० वे० १०-१२९-४ की "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' ऋचा ने स्वयं कहा है। इस 'मानसी रेतः' रूप काम ने जो गर्भाधान प्रतिष्ठित कराया उसने इसी ऋचा के उत्तरार्द्ध के अनुसार दो तत्वों को या असत् रूप अमृत को सत् रूप मर्त्य भौतिकता से सम्बद्ध कर दिया जैसे "सतोबन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥" इस वाक्य में स्वयं लिखा है कि कविरूप प्राणों ने मनीषा या मनोमयता से उस अन्तरिक्ष रूप वसुओं के हृदय में सत् का वन्धन असत् से किया। इतना अवश्य ध्यान में रहे कि यहाँ पर वसु और अदिति दोनों पूर्वार्द्धिय सर्वा देवता रूप में गृहीत किए गये दे।

यह अदिति हिंकार नामक साम गान करती हुई जब अपने मनोरूप से वसु सर्वदेवता के पास गई थी तब उसने चाहा तो एक ही वत्स या पुत्र था, पर उसके मनोमयता और कामना दो रूपों से दो पुत्रों का एक जोड़ा मिल गया। कितनी प्रसन्नता की बात हुई होगी उनके लिए। मनोमयता से सूर्य या विवस्वान् का प्रतिनिधि असत् अमृत और कामना से काममय सोम चन्द्रमा सविता का प्रतिनिधि सत्, जिन दोनों के एक सम्मिलित स्वरूप 'सतोवन्धमसति निरविन्दन्' रूप अश्विनौ का अविर्भाव हो गया। इन दोनों को कोई 'प्राणोदानौ' कहते हैं कोई 'प्राणापानौ' (क्रम से ऐ. ब्रा. और श. प. ब्रा.)। अखिल मौलिक भौतिक ब्रह्माण्ड इन्हीं दो का एक सम्मिलित शरीर है। हमारा मौलिक शरीर या दिव्य शरीर भी इन्हीं दो का एक प्रतीक है। इस सृष्टि क्रम को योग प्रक्रिया में घटित करने के लिए पाक. या कः प्रजापति पुनः प्रार्थना करता है :—कि यह अघ्न्या या अहन्तव्या या ऐसे शरीर की है जिसे मारा नहीं जा सकता, वह अमृतमयी है मं० ४० देखे (मागामनागा मदितिं वधिष्ट) या अविनाशिनी, अजरा अमरा 'अदिति माता' इन दो प्राणोदानौ रूप अश्विनौ के एक शरीर रूप अखिल ब्रह्माण्ड और हमारे शरीर के लिए ज्ञानमय चेतनामय पय या दूध को दुह दे या ज्योतिर्मय अनुभूति प्रदान करदे जिससे वह अमृतमयी अमृत नाभि वाली अपने सौभाग्य से या वसुरूप अग्निर्विद्वान् प्रजापति से युक्त रह कर उत्तरोत्तर अपनी अमृतमय ज्योति को बढ़ाती

रहे, (न कि भौतिकता में सने आसुरी भावनाओं में रमे लोगों की मोहमाया की अन्धकार-प्रियता से अपनी प्रकाशमय अमृतमय ज्योति को पिटारे में बन्द रख के इस ब्रह्माण्ड को घनघोर अन्धकारमय बनावे) ॥ २७ ॥

जगती शरीरिणी अदितिर्माता रूपिणी धेनुः

(२८) इस मंत्र में पिछली ऋचा का ही भाव विस्तृत किया जा रहा है। जो वरदान पिछले मंत्र के अन्तिम शब्दों से मांगा था वह योगी को पूरा मिल गया है। अब योगी अपनी उसी अनुभूति का वर्णन दे रहा है कि वह जगती शरीरिणी 'अदितिर्माता' रूप गाय अपने उस अश्विनौ नामक प्राणोदानौ रूप अधखुली आखों से देखने वाले वत्स या पुत्र पर प्रेम प्रकट करने के लिए प्यार की ध्वनि करती है; और अपने इस वत्स को भी (अपने लिए) प्यार की ध्वनि करने को प्रेरित करने के लिए वह माता उस वत्स के शिर को (वार-वार) सूंघती हुई चाट (कर उसमें प्यार का मंत्र सा फूक) रही है। इसके अनन्तर वह उस वत्स के मुख को अपने घर्म नामक प्रदीप्त सूर्य रूप त्रिपादामृत के उष्ण क्षीर रूप ज्ञान चेतना भरे थन की ओर बड़े प्यार से प्रेरित करती है। जब वह वत्स उसके थन पर लग जाता है तो वह उसे अपने उक्त प्रकार के ज्ञान चेतनामय धारोष्ण दूध को पिलाती है और पिलाती हुए अपने स्वयं आनन्दविभोर होकर वार वार प्यार की ध्वनि करती हुई वाग्ब्रह्माणी का पूर्ण रूप धारण करती हुई अपने प्रेम की लहरें उमाड़तीं या उभाड़ती है।

कहने का आशय (१) यह है कि वह पुत्र रूप अश्विनौ भौतिकात्मा शरीर में त्रिपादामृत रूप ज्ञान चेतनामय हो जाता है। (२) भौतिकात्मा रूप यह अखिल ब्रह्माण्ड या हमारा शरीर योगादि क्रियाओं से उस घर्म नामक त्रिपादामृत के धारोष्ण दूध युक्त थन को पगुरा कर दूध को क्षरित करने को प्रेरित या प्रवृत्त करके उसकी ज्ञान चेतनामय ज्योति की धार या धारा को पीता है या उस ज्योति की धाराओं में अनुभूति का स्नान रूप सर्वाङ्गीण पान करता है।

इस प्रकार इन तीनों मंत्रों में जहाँ एक ओर से आध्यात्मिक सृष्टि से भौतिक सृष्टि के उदय का एक अभूतपूर्व वर्णन दिया गया है वहाँ इस भौतिक शरीर या ब्रह्माण्ड में उसके मूलस्रोत रूप आध्यात्मिक सृष्टि के त्रिपादामृतभरे घर्म नामक धारोष्ण दुग्ध रूप ज्ञान चेतनामय की अनुभूति के मार्ग योग की अन्तिम सीढ़ी का साकार वर्णन भी अलौकिक रीति से दिया गया है, यह इस ऋषि की अपनी पृथक् विशेषता है ॥ २७ ॥

(१२९-२९)

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभि नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ २९ ॥

इस ऋचा के सम्बन्ध में यास्क ने एक प्राचीन कथानक दिया है। एकबार शाक पूणि ने सोचा कि मैं सभी देवताओं को भलीभांति जानता हूँ, उनके ऐसा सोचने पर उनके गर्व को चूर करने के लिए सभी देवता उभयलिङ्गी रूप में प्रकट हुए। तब शाकपूणि जी चक्कर में पड़ गये और उन्होंने देवताओं से प्रार्थना करके पूछा कि मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ कि कौन क्या है? तब उन सब देवताओं ने इस ऋचा से उन्हें अपना रहस्य बताने के लिए कहा, इसका देवता मैं हूँ, उसका वह; (निरुक्त २-८-९)। जिस प्रकार के इस गौ का द्विमुखी अश्विनौ वत्स हैं उसी प्रकार का शरीर इसका भी है। यह कार्य कारण भाव से सिद्ध किया जा रहा है।

कहने का आशय यह है कि इस ऋचा में अर्द्धनारीश्वरी या अर्द्ध पुरुषेश्वरी रूप द्विलिङ्गी या उभय लिङ्गी देवता है। एक त्रिपादामृतीय पुरुष है, दूसरी भौतिकात्मीय प्रथमाभासीय वाक् रूपिणी स्त्री। दोनों मिलकर अनिरुक्त और निरुक्त शब्दब्रह्म के सम्मिलित स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ की 'गौ' जिसको 'अयं' पद वाच्य तत्त्व ने व्याप्त किया है कहा गया है, वह माध्यमिका निरुक्ता अपान प्राणीय वाक् है। वही 'मिमाति मायुं' या शब्दायमान होती है या शब्द करती है। इसके शब्द 'मित' या सीमिति हैं, अतः 'मिमाति मायुं' कहा है कि यह नपी तुली वाक् बोलती है। यहाँ पर यद्यपि यह गौरूपिणी माध्यमिका वाक् शरीर रूप से शब्द करती हुई प्रतीत होती है, पर जब यह ध्वनि करती है तो केवल द्वार रूप है, इसकी जो ध्वनि है उसका मूल कारण 'अयं सः' '(यः) शिङ्क्ते' है। यह 'अयं सः' वही त्रिपादामृत है जो मूलतः शब्दायमान है या शब्द ब्रह्म का मूल या अव्यक्त या अनिरुक्त रूप है। जहाँ से उसकी अनिरुक्ता वाक्, पुनः निरुक्ता व्यक्ता भौतिकी वाक् रूप में प्रकट होती है उसकी आधारभूता वह गौरूपा वाक् 'ध्वसनावधिश्रिता' है। अर्थात् यह उस विन्दु से प्रकट होती है जहाँ पर इसके प्रलय की अन्तिम सीमा है, जहाँ पर यह गौ या भौतिक प्राण रूप पर्जन्य रूप से विद्युत् रूप में परिणत होकर पुनः त्रिपादामृत या अनिरुक्ता रूप में परिणत हो जाती है। इसी बात को ऋचा का उत्तरार्द्ध भी स्पष्ट करता है कि उसी निरुक्ता वाक् रूप गौ ने अपने मौलिक त्रिपादामृतीय स्वरूप विद्युत्स्वरूप को धारण करके, वव्रि नामक भौतिकात्मीय रूप को 'प्रति औहत' या दूर फेंक दिया। यह इस ऋचा के योग पक्ष का विवेचन दे रहा है। योगी इस गौ के रूप भौतिकात्मीय ध्वनि को

वैद्युतीय अमृत ज्योति में परिणत कर उसमें मग्न रहता है। और सृष्टि या यज्ञ पक्ष में यही गौ रूपा निरुक्ता वाक् 'चित्तिभिः' या मनः आदि प्राणों (वाक् तो स्वयं है ही, मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं त्वक् रेतः शिरः, मुख नासिका कर आदि) की क्रम से सृष्टि करके उन से वह मर्त्य नामक भौतिकतामय जीव और जड़ की सृष्टि करती है।

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ३० ॥

इस मंत्र में ऋषि ने वैदिक विश्व दर्शन के एक गम्भीर रहस्य का उद्घाटन यद्यपि बिलकुल स्पष्ट भाषा में देने का बड़ा भारी आभारी कार्य तो किया है, पर समझदारों की अपनी अन्धपरम्परा की कड़ी अनुसृति ने इस स्पष्ट भाव को भी नितान्त अस्पष्ट कर देने का पूर्ण सफल प्रयत्न कर दिया है। वस्तु स्थिति यह है। इस सृष्टि के दो मुख्य भागों में दो मुख्य तत्वों का विकास होता है; (१) आध्यात्मिक नितान्त अभौतिक या अमृत (२) नितान्तभौतिक या मर्त्य। प्रथम तत्व में प्राण है, गति है, चेतना है, ज्ञान है और सबकी सम्मिलित क्रियामय एक अलौकिक जीवनी है। दूसरा तत्व भूतात्मा है, भौतिकात्मा है, मर्त्यात्मा है, दिव्य शरीरात्मा है, पर इसमें न प्राण है, न मति है, न चेतना है, न ज्ञान है, न कोई सम्मिलित एक जीवनी। इसका नाम शव है, अशिव है, मृत्यु है, शत्रु है, भ्रातृव्य है, मृतयम (यमो ममार प्रवमो मर्त्यानां) है, शरीर है, अन्न है, अन्नाद है, असुर है, वृत्र है, शुष्ण हैं, पिप्रु है, बल है, पणि है, जितने भी असुर हैं वे सब इसी के विभिन्न रूप हैं; क्योंकि यही विश्वरूप है, सर्वरूप है। यह केवल 'अन्न' रूप है, खाद्य भोग्य पेय ओदन पाक आधार आधेय सब है। पर इसका एक सौम्य या सूक्ष्मतर या दैवी भाग है, विश्व जनीन है, रसमय है आनन्दमय है, आपोमय है, दैवी दिव्य शरीर है, सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्, सहस्राक्ष, सहस्रश्रोत्र, सहस्रमुख, सहस्रहस्त, सहस्रमना, सहस्रारः (सहस्र प्राणाधार), सहस्रयशः, सहस्रशब्द, विश्वरूप, सर्वरूप, मायारूप, मायी है, पर केवल प्रकाशमय दर्पणमय स्फटिकमय रसमय शरीर, केवल मनोमय है (जैसा मन वैसा होनेवाला है), अतः चन्द्रमा या 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानांॐ राजा' है। इसी का पान, स्नान, स्वीकार आत्मसात् करना ही देवत्व है, ईशत्व, है, इन्द्र है, रुद्र है, विष्णु है, अग्नि है, मरुत है, अश्विनौ है, अग्नि है, ईश है, ईशान है, ईश्वर है। यह उक्त दोनों तत्वों के मध्यभाग की सर्वश्रेष्ठ सर्वज्येष्ठ कड़ी है, योनि है, गर्भ है, गर्त है, स्थूण है, विष्णुवान् है, अक्षर है, सहस्राक्षर है, नित्य है, विभु है। और इसमें भी प्रथम तत्व के प्राण, मति,

चेतना ज्ञानमय जीवनी हैं तो नहीं, वरञ्च इसमें वे अनन्त वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण: (आप:) मन:, हस्त, त्वक्, रसना (मुख), रूप शरीराङ्ग हैं जिनके थैलों या मर्भो में प्रथम तत्व के प्राण गति चेतना ज्ञान आद को बन्द या सुरक्षित रखने की अद्भुत शक्ति है। इन अत्भुत शक्तियों से उन प्राण गति चेतना इत्यादि को अपना कर इसके अनन्त शरीर दूसरे तत्व के अन्नमय विश्व रूप अनन्त रूपों के महा अन्नाद भोगकर्ता, भोजन कर्ता है। प्रत्येक इन्हीं से स्थूल रूप पाता है, इन्हीं को पहनता है, इन्हीं के घरों में रहता है, इन्हीं के शरीराङ्गों से चलता, फिरता, बोलता, गाता, खाता, विचरता, देखता, सुनता है और स्त्रीपुरुषों नाना वर्गों, में नाना शरीरों में विभाजित होकर उनमें से एक दूसरे का प्रभुपति स्वामी प्रजा रंक दानी भिखारी अदि जितने रूप देखने में, सुनने में, कल्पना में आते या आ सकते हैं उन सब रूपों में रमता हंसता रोता साधारण सा रहता हुआ इस ब्रह्माण्ड को एक माया नगरी सिद्ध करता है। यही विषय इस मंत्र में संक्षेप में दिया गया है, वह इस प्रकार है।

अनच्छये···पस्त्यानाम्—वेदों में पस्त्या नाय गृह का है। यह गृह या पस्त्य किसका है ? यह गृहपति का गृह है। गृहपति नाम 'अग्निर्विद्वान्' का है। वह इस गृह में रहने से गार्हपत्याग्नि भी कहलाता है। जैसे "अग्निनाग्नि: समिध्यते कवि गृंहपति युंवा।" (ऋ० वे० १-१२-६)। "मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।" (ऋ० वे० १-३६-५) इत्यादि [इस अग्नि के इस प्रकार के तीन नाम हैं गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन या दक्षिणाग्नि (छा., उप. ४-११,१२,१३, मुण्डक ४; गर्भ उप. इत्यादि)]। अत: प्रस्तुत: ऋचा कहती है कि इस गृहपति अग्नि के अनन्त गृहों या पस्त्यों के मध्य में वह ध्रुव रूप में या अटल व्यापक विभु रूप में अनत्, तुरगातु, एजत् या प्राण मन: वाक् नामक तत्वों को व्याप्त-रूप में (आ = समन्तात्) स्थापित करके उन्हें जीव रूप में प्रस्तुत किया गया। इनमें पस्त्य या गृह तो सोमात्मा दिव्य शरीर हैं जो अनन्त हैं, अनत् तत्व प्राणत् या प्राणमय या आपोमय अमृत है, तुरगातु त्वरित गति वाला नित्य गमन शील सतत गति शील, दैवी मार्ग गातु या प्रवृत्ति मय अदितिमय अन्नमय मनो रूप अमृत है, और एजत् क्रियामय शब्दमय वाङ्मय तेजोमय ज्ञानमय तत्व है। इन तीनों के सम्मिलित रूप तीन अमृतों के त्रिपादामृत रूप जीव या चेतना को उन अनन्त पस्त्यों या गृहों या घटों में समन्तात् (आ) व्याप्त रूप में अटल रूप में स्थापित कर के अखिल मौलिक ब्रह्माण्ड और दिव्य शरीरों को जीव या ईश या ईश्वर और 'अनन्ता: पुरुषा:' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जीवो मृतस्य···स्वधाभिः—अब उक्त प्रकार के तत्वों से युक्त जीव रूप या प्राणः मनः वाक् युक्त अखिल मौलिक भौतिक ब्राह्माण्ड जिसे ईश ईशान या ईश्वर (ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्) कहते हैं और व्यक्ति व्यक्तिमय ब्रह्माण्डों को 'अनन्ताः पुरुषाः' अथवा 'सहस्रशीर्षाक्षश्रोत्रपादादि मय' एक अनन्त ब्रह्माण्ड कहते हैं उस जीव रूप की शारीरिक प्रक्रिया किस प्रकार चलती है इसका विवेचन ऋचा के इस भाग में दी जा रही है।

यह जीव, ईश ईशान ईश्वर या सहस्रशीर्षादिपदवाच्य तत्त्व, मृत नामक मर्त्य भौतिकात्मीय सोमीय शरीर की-ऐसे शरीर की जिसमें उक्त जीव रूप त्रिपादामृत को स्वयं धारण करने की स्वाभाविक शक्तियां विद्यमान हैं उन—स्वयं धारण करने वाली शक्तियों से विचरण करता है। अर्थात् जब यह अखिल ब्रह्माण्ड, पारिबारिक ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड चलता फिरता बोलता सुनता स्पर्शादिकरता, गृहादि में रहता, खाता पीता सोता जागता रहता है तो उसकी ये सब क्रियायें उसके इसी मर्त्य भौतिक सोमामृतीय शरीर मात्र में होती हैं। चलता है तो शरीर, बोलता है तो शरीर, सोचता है तो (मनोमय) शरीर, सुनता है तो शरीर, स्पर्शादि करता है तो शरीर, घर बनाता है तो शरीरों का, रहता है तो शरीर, खाता है तो शरीर, खाने के खाद्य हैं तो शरीर ही (अन्न पशु आदि), पीता है तो आपोमय शरीर, जागता सोता है तो शरीर। ये सब क्रियायें मात्र शरीर से. शरीर में, शरीरों द्वारा, शरीर के लिए, शरीर की पुष्टि नाशादि के लिए होती हैं। शरीर की इन्हीं प्रक्रियाओं से इस (शरीर) का नाम 'अश्नः' अन्नादः' इत्यादि पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी भी दृश्यमान या अदृश्य (मानसिक, आनुभूत्यात्मक देखना सुनना इत्यादि) क्रियायें होती हैं वे सब इसी शरीर में, शरीर से, शरीरों में, शरीरों के द्वारा ही होती हैं। उदाहरण के लिए शरीर एक इंजन या गाड़ी या रथ है (पृथ्वी भी रथ का ही एक रूप या आधार है) इसके अश्व चक्र आरा. आसन छादन गति प्रगति सब इसके शरीर में, शरीर से, शरीर के लिए होती हैं। इस शरीर रूप ब्रह्माण्डीय रथ में वे 'जीव' तत्व 'प्राणःमनःवाक्' आत्मा या त्रिपादात्मा रूप में इसके संचालक हैं अतः कहा गया है कि यह जीव मर्त्य भौतिकामृत सोम शरीर की स्वयं धारणा शक्तियों से सांसारिक या शारीरिक क्रियायें करता है। वैदिक ऋषियों ने इस रथ रूप शरीर की व्याख्या अनेक ढंग से दे रखी है। (इसी सूक्त में) मंत्र ११, १२, १३, १४, ४८ की व्याख्यायें और 'वैदिक विश्वदर्शन' में 'देवरथ' शीर्षक देखें।

'अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः'—इस जीव रूप ईश ईशान ईश्वर नामक तत्त्व का जीवन वास्तव में तभी प्रारम्भ होता है जब उसे या त्रिपादामृत जीवनामृत को अपनी जीवनी या चर्या या परिचर्या या विचरण के लिए पस्त्य या गृह रूप वह मर्त्य नामक भौतिकामृतमय सोमीय दिव्य शरीर (दैवी) प्राप्त हो जाता है । तब तक वह इस शरीर के लिए तड़पता तरसता रहता है जैसा कि 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मां नयति कञ्चन । ससत्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पील वासिनीम्' (यजुः) में कहा गया है। यहां वह अश्वक प्राण या त्रिपादामृत इस शरीर रूप सुभद्रिका लक्ष्मी में निवास करता है या सोता है। फलतः दोनों तत्त्वों त्रिपादामृत तथा मर्त्य भौतिक का जीवन इसी मिलन विन्दु से प्रारम्भ होता है। अतः वह अमर्त्य अमृत (त्रिपादामृत) और यह शरीर रूप मर्त्य दोनों सयोनि या एक गर्भाशय में स्थित होकर ही जीव रूप में पूर्वोक्त प्रकार से आचरण करते हैं। सयोनि माने सवन्धु है या सनाभि है। यह सोमीय दिव्य शरीर उस त्रिपादामृत का गर्भ या योनि या नाभि या वन्धु है जैसा कि 'स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश' (मंत्र ३२ आगे) और 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्बो ३ योनिरन्तरत्रा पिता दुहितु गर्भमाधात् ॥" (मंत्र ३३ आगे) में इस योनि को निर्ऋति, नाभि, चमू, वन्धु, और गर्भ नाम से पुकारा गया है। अतः सयोनि माने सनाभि, सनिर्ऋति, सबन्धु या सगर्भ है। अर्थात् जीवन के सम्बन्ध में दोनों का जन्म जुड़वाँ यम यमल अश्विनौ रूप में होता है। इस मिलन के पहले की स्थिति को जीव या जीवन नहीं कहा जाता, केवल अमृतमय ज्ञानमय प्रकाशमय शरीर हीन वाक् प्राणादि पञ्च या सप्तप्राण हीन या अपाणिपादऽ, अचक्षुःश्रोत्रत्वक् आदि कहलाता है। वह केवल आध्यात्मिकमात्र प्रकाशमात्र ज्ञानमात्र चेतनामात्र मनोमात्र तेजः मात्र प्राणमात्र रहता है, शरीर हीन अंग हीन केवल व्यापक विभुरूप में रहता है। यह भौतिक और भौतिकामृत के प्रलय की स्थिति है। उस स्थिति में सोचने समझने बोलने विवाद करने, कहने सुनने वाला ही कोई नहीं है तो उसे जीव या जीवन क्या कहा जाय। हां वह सार्वभौम विभुव्यापक सर्व जीव सर्व ब्रह्माण्डों के रसमय दीप्ति का एक पिण्ड है। वह समझने की वस्तु है अनुभूति की वस्तु है जिसे योगी इसी शरीर में उक्त तत्त्वों का क्रमिक लय करके इसी शरीर से अनुभूत कर सकता है। यही इस वाक्य का मुख्य आशय है। इसीका विवेचन अगली ऋचा सचमुच में इसी सन्दर्भ को आगे स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार दे रही है :—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३१ ॥

इस मंत्र में तो योग पद्धति का साक्षात् वर्णन है। क्योंकि इसके आदि में ही लिखा है कि मैंने उस 'गोपाः' या प्राण रूप पत्नियों के संरक्षक या पति को साक्षात् अपनी योग दृष्टि से देखा। इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, जो इस रहस्य को नहीं जानता वह चाहे जो कुछ लिखा करें, उसमें कोई सार नहीं हो सकता।

मैंने गावः रूप प्राणों के पतिरूप उस नित्य एक रूप में रहने वाले, कभी भी अकर्मण्य न रहने वाले को (अपनी योग की दृष्टि से साक्षात्) देखा। उस मध्यवर्ती 'सेतुर्विधरणः' नामक तत्त्व के कभी 'आ' या पूर्वार्द्ध में कभी 'परा' या परार्द्ध में, जागृत और सुषुप्त दो प्रकार की अवस्थाओं में रहते हुए वह अपने उन्हीं दो मार्गों से आता और जाता है जिनके द्वारा योगी यति उसकी दीप्तिमयी ज्योति की अनुभृति करते हैं और अनुभूति के अन्त में पुनः इस लौकिक जागृति में आ जाते हैं। लौकिक जागृति तो उस ब्रह्म की सुषुप्तावस्था है, या तब उसकी अनुभूति सुषुप्त रूप में रहती है और यौगिक जागृति उसकी साक्षात् जागृति की अनुभूति करती है। योग में योगी की दैवीवृत्तियों से जागृत होकर वह योग रूप में ज्योतिष्मान् रूप में जाग्रत है, समाधि के अनन्तर वह पुनः इस शरीर में सुषुप्त सा अप्रत्यक्ष सा अननुगत सा होकर अपनी कुछ शक्तियों को उस सोमीय या वार्त्रीय शरीर को सौंप कर तटस्थ सा रहता है। इस स्थिति का विवेचन बृह० उप० ने बहुत उत्तम ढंग से दे रखा है जिसका एक छोटा परिच्छेद यहाँ दे दिया जाता है, शेष वहीं पढ़लें।

"तस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः। इदं लोकं परलोकं च। तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्त्सन्धि स्थाने तिष्ठन्नेते उभेस्थाने पश्यतीदं च परलोकं च। तत्र स्वेन ज्योतिषा स्वपिति स स्वयम्" (४-३)

"उभे कूले अनुसंचरति······स्वप्नान्तं बुद्धान्तं च (महामत्स्य इव)"

'असङ्गः सः'

जब मनुष्य जागृत रहता है या योग में या उसके ध्यान में लगा रहता है तब तो वह सदा उसी के पास इकट्ठा सा होकर ज्योतिर्मय रूप में जाज्वल्यमान हो जाता है, जब वह मनुष्य जाग्रत नहीं है सुषुप्त या लौकिक या सांसारिक धन्धों की जागृति में रहता है तो उस समय वह त्रिपादामृतीय आत्मा भौतिकात्मीय वस्त्र या देह को धारण करके उसकी आवश्यकता कामना पूर्ति हेतु अपनी ज्योति को व्याप्ति रूप में (विषूची) प्रत्येक में कण कण रूप में

बिखरा देता है जिस स्वरूप की अनुभूति होना सरल नहीं, महा कठिन है, पर वह रहता है इस और उस तथा मध्यवर्ती तीनों भुवनों के अखिल ब्रह्माण्डों में सर्वतः व्याप्त या विद्यमान ही (आवरीवर्ति = आ समन्तात् वरीवर्ति = प्रकर्षेण मुहुः आवरणेन व्याप्तिरूपेण वर्तते इति आवरीवर्ति)।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥ ३२ ॥

इस मंत्र में त्रिपादामृत (आध्यात्मिक अमृत) और भूतात्मा (कौसमौस या मैटर नहीं, वरन् भौतिक आत्मा, जो त्रिपादामृत के समान अमृत ही है, आत्मा है, अध्यात्म शरीर रूप आत्मा है। कौसमौस या मैटर नाम महाभूतों के स्वरूप का है जो नितान्त स्थूल और अवैदिक तत्त्व है; वेदों में इस कौसमौस या मैटर का वर्णन नहीं के बराबर है। यह सांख्य का विषय है। अनुवादक सावधान रहें।) के पारस्परिक सम्बन्धों को सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) दो रूपों में अनुभूति के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस में अनुभूति करने वाले दो मुख्य पात्र हैं, (१) 'य ईं चकार' जो इस सृष्टि का रचयिता (प्रजापति) है (२) 'य ईं ददर्श' जिसने इस सृष्टि के मौलिक रूप और इसके रचयिता को योग द्वारा देखा है जैसा पिछली और प्रथम ऋचा में 'अपश्यम्' पद से स्पष्ट कहा गया है। ऋचा के उत्तरार्द्ध में उसी रचयिता और रचे गये तत्त्व का पारस्परिक एकात्मिक समन्वय का विवेचन दिया गया है जिसकी अनुभूति भी योगी योग द्वारा कर लेता है। अतः लिखा है :—

'य ईं······वेद'—जिस त्रिपादामृत रूप प्रजापति से इस भूतात्मा की रचना स्वयं स्वाभाविकतया हो पड़ी थी, (या की थी ही कहिए) उसे न तो तब भी पता लगा था कि कुछ पैदा हो गया है, क्योंकि यह इतना बड़ा विशाल ब्रह्माण्ड भी उसकी महतो महीयान् रूपता के सामने एक रोम के बराबर भी नहीं था। और यह भूतात्मा जिस रूप में प्रस्तुत हुआ था उसका नाम भूत या भौतिक प्राण है। उस प्रजापति से वह 'प्राणः प्रजा' के रूप में प्रस्तुत हुआ था। यह प्राण तत्त्व यद्यपि उसके सामने नहीं के बराबर है, फिर भी स्फटिक शिला के समान ठोस या गर्भ के समान थैला सा है। यह इस प्रकार का रहस्यमय सा है कि इसे कोई भी, स्वयं प्रजापति भी पूर्ण रूप से जानने में असमर्थ सा है। (उसके सामने अतितम सूक्ष्मतम होने के कारण, और जो कुछ है वह भी ठोस और गर्भ रूप होने के कारण)। अतः ऋषियों ने कह भी दिया है कि 'प्राणो ह्यविज्ञातः' (बृह. उप. १-५-८) कि यह भौतिक प्राण तत्त्व सदा ही अविज्ञात रहने वाला तत्त्व है। आप किसी भी ठोस तत्त्व को उदाहरण में ले लें,

उसको कोई भी भीतर बाहर पूरा-पूरा देख-सुन; जान-पहचान नहीं सकता, वह गर्भमय हो तो उसे जानने में और अधिक कठिन समस्या सामने आती है। अक्षकिरणें भी भीतर के भीतरी भाग के भीतरी भागों का प्रदर्शन कराने में नितान्त असमर्थ रहती हैं। अतः यह तत्त्व सदा ही सभी के लिए एक बड़ा भारी रहस्य ही रह जाता है, यहां तक कि स्वयं इसी के रचयिता से ऐसे रचयिता से जिसे हम प्रजापति नाम से मानुषिक भावना से पुकारते हैं। वैसे प्रजापति तो सम्मिलित शरीर का नाम है। अपने शरीर सर्वाङ्गों का किसी को भी कभी भी पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, यह भी किसी से छिपा रहस्य नहीं है। वह तो उस शरीर के गर्भ में स्वयं उसी प्रकार बन्द हो गया जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही ताने तागे के जाल में स्वयं बन्द हो जाता है। लिखा भी है 'तत्कृत्वा तदनु प्राविशत्'।

'य ईं······तस्मात्'—जिस योगी ने इसे अपनी योगसमाधि के नेत्रों से देख लिया और इसके मौलिक स्वरूप को पहचान लिया, उसके लिए इसके अनन्तरूपों की रचना—अनन्तपदार्थों प्राणियों युक्त असंख्य गोलों वाला यह ब्रह्माण्ड—तिरोहित हो जाता है। उसे तो केवल एक ही तत्त्व, उस त्रिपादामृत की अमृतमय ज्योति मात्र दीखती है, उसका शरीर जिसने इस भूतात्मा को सोम रूप में प्रदीप्त या स्वच्छ करके उसमें त्रिपादामृत की ज्योति का प्रतिबिम्ब धारण कर लिया है, एकात्मीय अनुभूति मात्र कर रहा है। योगानुभूति के माने ही एकात्मीय अनुभूति है। ऐसी परिस्थिति में उसे इस भूतात्मा की पृथक् अनुभूति का अवसर ही नहीं मिल सकता। क्योंकि इन दोनों की पृथक् अनुभूति के माने ही सांसारिकता लौकिकता या स्थूल व्यवहारिकता है, जिनका योगी में नितान्त अभाव रहता है। अतः जिस योगी ने इस शरीर को योगमथानी से मथकर उसमें भूतात्मा रूप घृत या नवनीत प्रस्तुत कर त्रिपादामृत की त्रिवर्तिरूप एक दीपक की ज्योति जला ली है उससे भूतात्मा की पृथकता नितान्त तिरोहित हो जाती है, क्योंकि समाधि में यही भूतात्मा समाधि का आधार है। यही आधार अनुभूति करता है, अनुभूति क्या करता है एकमय तादात्म्य रूप हो जाता है। अतः इसकी सारी अनन्त रूपता विश्वरूपता सब एकदम लुप्त हो जाती हैं।

'स मातुः······विवेश'—मंत्र के इस उत्तरार्द्ध भाग में इसके पूर्वार्द्ध में वर्णित 'य ईं चकार' की रचनाक्रिया और 'य ईं ददर्श' की दर्शन की या अनुभूति की साक्षात् प्रक्रियाओं का विवेचन एक ही रूप में दिया गया है। क्योंकि प्रजापति ने रचना कैसे की और योगी ने उसकी अनुभूति किस रूप

में की, ये दोनों रूप प्रायः एक ही होते हैं। योगी के योग की अन्तिम सीमा, भूतात्मा की उस प्राथमिक परिस्थिति को उद्दीप्त या जागृत करना है जिस स्वरूप में प्रजापति ने इस भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना का श्रीगणेश किया था।

यहां इस वाक्य में 'य ईं चकार' वाले कर्ता तत्त्व को 'पिता' या 'द्यौर्मे पिता जनिता ·····माता महीयम्' (मंत्र ३३) के द्यौ नामक तत्त्व के नाम से पुकारा गया है और जिस तत्त्व का आविर्भाव बताया था उसे माता मही नाम से घोषित किया गया है। इस प्रकार कर्ता और कार्य दोनों को पिता और माता अथवा द्यावा पृथिवी के नामों से संकेतित किया जा रहा है। इस वातावरण को सन्दर्भ बना कर माता रूप पृथिवी अथवा उस कर्ता से उत्पन्न मर्त्य भौतिकामृत के सर्व प्रथम स्वरूप को या उस आविर्भूत तत्त्व की माता (उत्तरार्द्ध पृथिवी) की योनि को कई लोगों ने गीता के 'मम योनिर्महद्-ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के महद्योनि को समझने की हिमालय समान बड़ी भारी भूल की है। महत् अहंकार भूत और प्रकृति सब को गीता योनि नाम से पुकारती है। 'एतद्योनीनि भूतानि' (६-१०); इन्हें सांख्य प्रकृतियां और विकृतियां (आठ को) बतलाता है। ये दूसरी बात कहते हैं, वेदों की योनि भिन्न तत्त्व है। न महद्ब्रह्म के माने 'विराट् ब्रह्म' है। महत् माने सांख्य का महत् नामक तत्त्व ही है, वह प्रकृति विकृति योनि नामों से पुकारा जाता है या सम्मिलन बिन्दु या गर्भ द्वार नाम से पुकारा है। यह योनि रूप तत्त्व उस प्रथमाविर्भूत भौतिकात्मीय मर्त्य तत्त्व का विवृतिद्वार है जिसके द्वारा पूर्वार्द्ध का द्यौ नामक पिता उस मर्त्यभौतिक गर्भ रूप थैले रूप तत्त्व में इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के अनन्त रूपों का एक मूल बीज के रूप में चारों ओर से बन्द हो गया। उस पिता के अनन्तरूपों की एक मूल बीजरूपता को यहां पर 'अन्त र्बहुप्रजाः' नाम से वर्णित किया गया है। और जिस गर्भ में, योनिद्वार से प्रविष्ट हुआ था उसका नाम यहाँ पर गर्भ न देकर 'निर्ऋति' [First mortal universal frame of the physical soul free for self evolution in furtherance of Creation) या नाश धर्मा, परिवर्तन धर्मा या परिणामिनी या मर्त्यरूपा या नित नित विकास परम्परा से नव-नव रूप धारण करने वाली कहा गया है जिसमें वह अमर्त्य, अमृत, अरूप, अगन्ध अतेजः अहस्तपादादि वाला या इन सब प्रकार के अध्यात्म शरीरों से रहित होने पर भी इस गर्भ या निर्ऋति की नाना रूपिणी मर्त्यधर्मिणी, प्राण या अध्यात्म शरीरो अङ्गों में प्रविष्ट होकर वह अब इस गर्भ में प्रविष्ट हो जाने पर सहस्रशीर्षमुखाक्षिश्रोत्रहस्तपादादि वाले अपने अणोरणीयान् रूप से एक

महतोमहीमान् महापुरुष या गायत्र पुरुष के रूप में प्रस्तुत हो गया। इसी भाव को अन्य उपनिषदों ने इस प्रकार दिया है :—

"सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदय् सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते॥" (तै० उप० २-६ ब्र० व०)।

श० प० ब्रा० (७-१-३-५) ने भी लिखा है "यद्वै वैता नैर्ऋतीन्हरन्ति। प्रजापतिं विस्रस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वंस्तमुखायां योनौ रेतो भूतमसिञ्चन्योनिर्वा उखा तस्मा एतां सम्वत्सरे प्रतिष्ठां समस्कुर्वंनियमेव लोकमयं वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयंस्तस्य यः पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्वं यज्जरायुः इत्यादि।"

इसी प्रकार के भाव ऐतरेय उप० ने प्रारम्भ के ईक्षण सृष्टि प्रकरण में तथा मुण्डक (२-२) ने 'आविः सन्निहितं गुहायां' प्रकरण में विस्तार से दिये हैं। ये सब व्याख्यान उक्त ऋचा का भाष्य सा स्वयं दे रहे हैं। इधर उधर ताकने झांकने और भटकने की या अपनी अपनी थोथी कल्पनाओं के ढेर लगाने की कोई आवश्यकता और गुंजायश ही नहीं है।

निर्ऋति दीर्घ ऋकार युक्त शब्द है, यह भी ध्यान देने योग्य है। इसकी व्युत्पत्ति 'निर्गता ऋतात्, निःशेषेण ऋच्छति आत्मानं वा 'निर्ऋतिरियं वैनं निरर्पयति यो निर्ऋच्छति" (श० प० ब्रा० ७-१-३-११) है। अर्थात् जो तत्त्व पूर्वार्द्धीय ऋत नामक अमृत से आविर्भूत होता है और जो अपने सर्वाङ्गीण स्वरूप के विकास के लिए स्वतन्त्रता से प्रदान करता है और स्वच्छन्द विकास शील है उसे निर्ऋति कहते हैं, यह गर्भ रूपा है, शरीर रूपा है, स्वतन्त्र रूप से विकास पाने की शक्ति से सम्पन्न है अर्थात् रांड स्त्री अलक्षणा या विधवा स्त्री समान स्वतन्त्र विहारिणी या परिणामिनी या विकासमयी है। अतः कर्मकाण्ड में इसका प्रतीक विधवा स्त्री को बताया गया है (श० प० ब्रा० ७-१-३५)। इस तत्त्व के इस प्रकार की स्वतन्त्रता का आख्यान ऋग्वेद के वृषाकपि के वर्णन में भी दिया गया है, उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। वह मंत्र इस प्रकार हैः—"वि हि सोतो रसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद्वृषा कपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥" (ऋ० वे० १०-८६-१)। यहां पर कहा है कि वृषाकपि इन्द्र को अपना देवता ही नहीं मानता। वह स्वयं अपने विकासीय मद से मस्त है। यह

वृषाकपि भी इसी विरूपात्मा भौतिकात्मा के शरीर का प्रतीक है जिसे यहां पर निर्ऋति नाम से पुकारा गया है ॥ ३२ ॥

द्यौ र्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धु र्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्बो र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ ३३ ॥

इस मन्त्र में पिछले मंत्र के 'मातुर्योना' पद के माता और योनि तत्वों की व्याख्या के साथ-साथ उसमें वर्णित भौतिक सृष्टि कर्ता और उसकी अनुभूति करने वाले तथा गर्भ तीनों की भी व्याख्या को अधिक प्राञ्जलतया स्पष्ट किया गया है—

'द्यौ र्मे ··· महीयम्'—जिसे इस भौतिकात्मीय सृष्टि का कर्ता ('य ईं चकार') कहा गया है, वही मेरा या इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड का जन्म दाता पिता रूप द्यौ या सृष्टि का पूर्वार्द्धीय अमृतमय चक्र है। जिसे इस अमृतमय सृष्टि की अनुभूति करने वाला ('य ईं ददर्श') कहा गया है, वह तत्त्व नाभि है या सोमात्मीय अमृत अध्यात्म शरीर या मनोमय भौतिक ब्रह्माण्ड है। वही नाभि रूप दर्शन या सृष्टि का मध्यभाग सब को सर्व प्रथम भौतिकात्मा का बन्धन देने या करने वाला, जन्म मरण का बन्धन देने वाला बन्धु या बन्धन या इस के माध्यम से त्रिपादामृत को पाने का इस व्यक्त सृष्टि के योगी जनों का मुख्य बन्धु या सेतुबन्ध या सेतुबन्धु, या त्रिपादामृत पूर्वार्द्धीय पिता की अनुभूति का मध्यवर्ती पुल है जिसके द्वारा उस अमृत ज्योति को पा सकते हैं। छा. उप. ने इस नाभि का वर्णन इस प्रकार दिया है 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय······ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ······ एतं सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते······ एतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति ॥" (८-४)। इसी को बृह. उप. इस प्रकार कहता है···"स एव महानज आत्मा यो ऽयं विज्ञानमयः ···एष सेतुर्विधरणः···एष नेति नेत्यसङ्गोऽगृह्यः···॥" (४-४)।

मही या महती या महा महिमा मयी माता नाम उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन का है जिसका प्रथम विकास पूर्वोक्त नाभिरूप अमृत है। उस नाभिरूप अमृतमय भौतिक तत्त्व का मर्त्य भौतिक तत्त्वमय विकास ही माता या शरीर है। इस शरीर का नाम ही योनि या गर्भ द्वार है और उक्त नाभिरूप अमृत गर्भ है जिसको यह माता या योनिरूप शरीर धारण करता है। इसी विषय को इस मंत्र का उत्तरार्द्ध इस प्रकार वर्णित करता है :—

'उत्तानयोः···गर्भमाधात्'—सृष्टि के दो मुख्य भाग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध— जिन्हें यहाँ पर क्रम से द्यौ और पृथिवी कहा गया है या जिन्हें एक साथ 'द्यावा

पृथिवी कहते हैं—दो चमूओं' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये द्यावा पृथिवी नामक दो चमू दो कटोरों या कटाहों की तरह एक दूसरे की ओर मुख करके एक दूसरे की ओर उत्तान या खुले मुख के चित्र के रूप में एक दूसरे से सम्मिलित हैं। इन दोनों पात्रों के सम्मिलन से मध्य में जो स्थान इनकी टेढ़ी गोलाई के कारण खाली रह जाता है उसका रूप ठीक स्त्री की योनि या भग के समान बन जाता है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने दर्शन या सृष्टि के इस चित्र को सामने रखकर इसका नाम योनि या सृष्टि माता का 'भगः' रखा है। यह वही मध्यवर्ती स्थान है जिसे पिछले परिच्छेद में 'नाभि' बन्धु, सेतुबन्धु या सेतुबन्ध या सेतुर्विधृतिः' या सेतुविधरणः नामों से पुकारा हैं। इसी को यहां ऋचा के इस उत्तरार्द्ध में 'उत्तानयोश्चम्बो ३ र्योनि रन्तरत्रा' पद के द्वारा कहा गया है कि सृष्टि चक्र के इन दो चमूओं के मध्यवर्ती (अन्तः) भाग को योनि नाम से पुकारते हैं और इसी में (अत्र) पिता या द्यौ या द्यावा या 'य ईं चकार' नामक कर्ता ने अपने से ही उत्पन्न होने वाली दुहिता या पुत्री रूप पृथिवी को उस सम्मिलन विन्दु रूप मध्यवर्ती भाग की योनि में उस अमृतमय नाभिरूप भौतिकात्मीय गर्भ या आत्मा के गर्भ को धारण कराया। यह योग प्रक्रिया का वर्णन इस ढंग से दे रहा है। यहां योगी वाक् के द्वारा पिता अग्नि को पाता है। यहां की दो चमू दो अरणियां प्रणव या आध्यात्मिक और भौतिक शरीर हैं 'शरीरमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।'

वैदिक ऋषियों ने पिता माता को पिता पुत्री रूप में वर्णित करके सबकी आखें खोलने के लिए यह स्पष्ट कर रखा है कि यहां माता पिता पुत्री आदि की वर्णना या सामाजिक वातावरण का कोई प्रश्न या महत्व ही नहीं है, यहां पर तो केवल तत्त्वों के विकास को जैसा अनुभूत किया गया, 'यदपश्य-त्तस्मादेतेपशवः' उनका तद्वत् पशुरूप वर्णन दिया गया है। हां रोचकता लाने और विषय को सुगम्य बनाने के लिए जिस समाजविरुद्ध पिता पुत्री की वर्णना पति पत्नी रूप में की गई उसका परिहार भी उन्होंने एक दूसरे ढंग से कर रखा है जैसे बृह० उप० (१-४) ने लिखा है कि उस पिता से ही उत्पन्न होकर मैं पुत्री उसकी पत्नी कैसे बनूं' यह सोचकर वह पृथिवी रूप पुत्री गौ बनी तो पुरुष वृषभ बना, वह वडवा बनी तो यह अश्व, वह गर्दभी बनी तो वह गर्दभ, वह अजा बनी तो वह अवि।" इस प्रकार के योन्यन्तर परिवर्तन या पशुरूप तत्त्वों के आपस में पिता पुत्री होते हुए भी पति पत्नी बनने या होने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि पशुसमाज में कोई पुरुषपशु किसी भी स्त्रीपशु का पति बन सकता है चाहे वह उसी की मां हो बहन हो या बेटी, इसीलिए पूषा को 'स्वसुर्योजार उच्यते' मंत्र में उषा बहिन

का जार भी कहा है। और इसीलिए पुरुष का एक प्रसिद्ध या वास्तविक नाम 'पुरुष पशु' ही है· "अबध्नन्पुरुषं पशुम्"। इसी पुरुष पशु को पुत्री रूप शरीर में ज्योतिर्मय रूप में बांधना या अनुभूत करना योग की सर्वोच्च सीमा है। यह वास्तविकता का विवेचन है, उसे तद्वत् वर्णित करते हुए भी आर्य जाति की सामाजिकता को भी या आर्य जाति के उच्चकोटि के चरित्र को भी आँच न आने देने के लिए ये पाशविक रूपक दिए गये हैं। यहां के माता पिता पुत्री नाम मनुष्य समाज के नहीं वरन् पशुवत् व्यवहार करने वाले तत्वों के देव-समाज रूप पशुसमाज के माता पिता या पुत्री हैं। यह निश्चित है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्पष्ट घोषित किया है कि 'पशवो देवाः' 'पूषा पशुः' इत्यादि ॥ ३३ ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥३६॥

इस मन्त्र तक मंत्र १६, १७, १८ में किये गये प्रश्नों का पूर्ण उत्तर समाप्त हो गया है। इससे पहले मंत्र ४, ५, ६, ७ में किए गये प्रश्नों का उत्तर मंत्र १६ तक दिया गया था। अब इस मंत्र में नये प्रश्न उठाकर उनका उत्तर अन्तिम ऋचा तक पूरा दिया जावेगा। इस मंत्र के प्रश्न निम्न हैं। यह ध्यान रहे प्रश्नकर्ता तो वही कः प्रजापति है, और प्रश्न भी उसी अग्निर्विद्वान् से किए जा रहे हैं, मंत्र ४ देखें।

प्रश्न १—मैं तुमसे पृथिवी नामक उत्तरार्द्ध उपनामक भौतिक आत्मा पर्याय वाले तत्व की अन्तिम सीमा को पूछता हूँ?

प्रश्न २—मैं तुमसे उस स्थान का विवरण पूछता हूँ जिसे इस अखिल ब्रह्माण्ड नामक भुवन की नाभि नाम से पुकारा जाता है?

प्रश्न ३—मैं तुमसे उस भौतिकात्मीय अश्व नामक तत्व के बीज या वीर्य के बारे में पूछता हूँ जिससे सोम वर्षक प्राण रूप घोड़े उत्पन्न हो सकें या जिसे सोम ज्योति वर्षक प्राणरूप घोड़ों की उत्पत्ति के निमित्त सुरक्षित किया जाता है?

प्रश्न ४—मैं तुमसे वाक् के 'परमं व्योम" या मौलिक भौतिक उत्पत्ति स्थान के बारे में पूछता हूँ? इन सबका उत्तर अगली ऋचा में देखें।

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

प्रथम प्रश्न का उत्तर—"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः"—वेदि नाम अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिकात्मा का है। इसका नाम वेदि क्यों पड़ा? इसका विवरण

यजु. १-२७, २८ और श. प. ब्रा. (१-२-३-५ से १५ तक) ने विस्तार पूर्वक दिया है। लिखा है कि वामन विष्णु था, उसे देवता नहीं पा सके। तब उन्होंने विष्णु को पूर्व में स्थापित करके दक्षिण में गायत्री, पश्चिम में त्रिष्टुप् और उत्तर में जगती से परिगृहीत या सुरक्षित किया और अग्नि को आगे करके अर्चन योगादि श्रम करते चले तो उन्हें पूरी पृथिवी विदित या प्राप्त हो गई (पूरे भौतिकात्मा का ज्ञान हो गया)। जब उन्हें यह सारी पृथिवी या भौतिकात्मा विदित (या प्राप्त या ज्ञात) हो गई तब वे इसे विदित (प्राप्तार्थ) भाव से उस भौतिकात्मा को 'वेदि' नाम से पुकारने लगे; जितनी बड़ी यह वेदि है उतनी ही बड़ी पृथिवी भी है। यही प्रश्न का उत्तर भी है यही वेदि ज्ञानमयी पृथिवी या भौतिकात्मा ही उत्तरार्द्ध नामक भौतिकात्मा की अन्तिम सीमा है जैसे "तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त, तद्यदेनेनेमां सर्वां समविदन्त तस्माद्वेदिर्नाम ; तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीति ॥"

इस भौतिकात्मा का नाम वेदि पड़ने का दूसरा कारण भी है। इसका वर्णन इसी पूर्वोक्त क्रम में आगे दिया है। पृथिवी रूप वेदि तो मिली पर विष्णु न मिले। अतः देवताओं ने उसे तीन अंगुल गहरा खोदा (यह योग क्रिया का कर्म काण्ड है, शरीर के तीनों भागों को मथा) तो विष्णु मिल गये। अतः इसे विष्णु के वेदन या प्राप्ति या ज्ञान के कारण भी वेदि कहते हैं 'यन्वेवात्र विष्णुमविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम' (१०)। यही वेदनमयी ज्ञानमयी प्राप्तव्या वेदि ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है या इसी का ज्ञान करना, ज्ञान की अन्तिम सीमा है। इस अखिल ब्रह्माण्ड रूप पृथिवी का ज्ञान केवल इसी योग की वेदि के रूप में हो सकता है, अतः इसी वेदि का ज्ञान इस ब्रह्माण्ड या पृथिवी के ज्ञान का अन्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिकात्मा का 'वेदिः' नाम योगविषयक है, उसी का अभिनय कर्मकाण्ड को वेदि बनाकर हवनादि किया जाता है, समिध प्राण हैं, ज्योति विष्णु अग्नि उस ज्योति को प्रदीप्त करने वाली है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर—'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'—यह यज्ञ ही भुवन या अखिल मौलिक भौतिक दैवी ब्रह्माण्ड रूप आत्मा की नाभि या योनि है (जिसमें आसुरी स्थूल भौतिक सृष्टि का गर्भ या रेतः या बीज प्रजापति रूप में धारण किया जाता है)। पर वास्तविक समस्या का समाधान तब होगा जब हमें इस 'यज्ञ' नामक नाभि का उचित और आवश्यक सन्दर्भीय विवरण सत्य रूप में मिल जाय। यह विवरण हमें श० प० ब्रा० के पूर्वोक्त वेदि की व्याख्या के अवसर पर ही दिया हुआ मिलता है। इसमें लिखा है कि उस वेदि रूप पृथिवी को अपनाने के लिए उसे छह भागों की ओर से संगृहीत

या परिगृहीत किया गया। उत्तर में सूक्ष्मा शिवा रूप में, दक्षिण में स्योना सुषदा रूप में, और उत्तर में ऊर्जस्वती और पयस्वती रूप में गृहीत किया गया। इसी प्रकार त्रिःपूर्वं पूर्वार्द्धीय परिग्रह की तरह त्रिरुत्तर परिग्रह या उत्तरार्द्धीय परिग्रह किया। ये छह ऋतु रूप छह भाग हैं। यह वेदि स्वयं संवत्सर ब्रह्म है। वेदि की इस संवत्सर ब्रह्म रूप, केन्द्रीभूत संवत्सर ब्रह्म व्याख्या मयी वेदि को इस सृष्टि की नाभि कहते हैं। नाभि माने विभाजनों का केन्द्र है। ये विभाजन संवत्सर ब्रह्म के अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, तथा महूर्त घटिका, पला, विपला आदि कला, विकला रूप अरायें हैं। इन अराओं के केन्द्र रूप संवत्सर ब्रह्म को यज्ञ या नाभि कहते हैं। इस यज्ञ का विस्तृत विवेचन पिछले मंत्र ५ में दे दिया गया है। इस यज्ञ के विकास में उक्त अहोरात्र मासादि और मूहुर्त घटिकादिकों को सृष्टिरूप वस्त्र के तन्तु रूप में भी वर्णित किया गया है। सृष्टि के सूक्ष्म क्रम का विकास उक्त दो प्रकार से तथा एक अक्षर रूप से, केवल तीन ही प्रकार से किया जा सकता है, अन्य वर्णनायें, आख्यान, व्याख्यान, रूपकादिमय होने के कारण वैसी वैज्ञानिक नहीं समझी जातीं। अतः इनका सबसे बड़ा महत्व है, और ब्रह्माण ग्रन्थों ने इसी लिए इन तत्त्वों की अधिक चर्चा की है। यहाँ वेदि के सम्बन्ध में संवत्सरब्रह्म रूप यज्ञ का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है:—"स वै त्रिः पूर्व परिग्रहं गृह्णाति। त्रिरुत्तरं तत्षट्कृत्वः षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य, संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावनिव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत्परिगृह्णाति ॥" इत्यादि (१३वहीं)। वेदि के इसी विकासक्रम का नाम प्रजापति है जो इस नाभि में सवत्सर रूप प्रजापति के रूप में उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार का वर्णन मंत्र ३२,३३ और यजु के "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय मानो बहुधा विजायते।" में दिया गया है। यह गर्भ ही नाभि है, इसका मुख द्वार योनि कहलाता है जिसे केवल योगी या ज्ञानी ही अनुभूत कर सकते हैं "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥" यहाँ पर 'परिपश्यन्ति' शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतन् कर रहा है कि यह विषय योग का है और योगी ही योग द्वारा इसे देख सकते हैं, इसे जानना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। जो इसे जानना चाहे वह पहले योगी बने या उनकी जैसी उक्त प्रकार की दृष्टि अपनावे। अर्थात् वेदि और यज्ञ का विषय योगयज्ञ मात्र का विषय है, यह सर्वथा निश्चित है।

तीसरे प्रश्न का उत्तर—'अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः'—

अभी तक प्रथम दो प्रश्नों के उत्तर में वैदिक ऋषियों ने वास्तव में क्या

कहना चाहा है, इसका ठीक ठीक चित्र सामने नहीं आ सका है। बात तो उन्होंने सभी ठीक ही कह दी हैं, पर ऐसा उत्तर क्यों देते जा रहे हैं इसका सन्दर्भ अभी तक रहस्य ही बना रह गया है। बात यह है कि यहां पर सृष्टि और अतिसृष्टि (योग) दोनों के विकासक्रम को एक साथ दिया जा रहा है। इस विकासक्रम की जननी वही वेदि रूप पृथिवी है, जिसकी योनि इसके पुर्वार्द्ध से सम्मिलन विन्दु पर द्वार सी बनी है। उसके अन्तर्गत संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति नाभि या गर्भ के समान वर्तमान है। यह संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति इस गर्भ में कहां से आया? कैसे आया? और किस रूप में आया? इन तीन प्रश्नों का उत्तर इस उत्तर में दिया गया है। उत्तर तो यही है कि 'यह संवत्सर ब्रह्म नामक प्रजापति, इस अखिल ब्रह्माण्ड के मौलिक बीज रूप में वृषण या वृषा नामक अश्व का वह रेतः रूप है जिसे साधारणतया सोम नाम से पुकारा जाता है।' परन्तु यह वाक्य क्या कह रहा है यह ठीक ठीक समझ में आया सा प्रतीत नहीं हो रहा है। इसकी स्पष्टता के लिए हमें पुनः श प. ब्रा. की इस वेदि से सम्बन्ध रखने वाली व्याख्या का आश्रय लेना पड़ेगा। इसमें यह लिखा है—"अभितोऽग्निमंसा उन्नयति। योषा वै वेदि वृ्षाग्निः। परिगृह्यः वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निमंसा उन्नयति॥" (१५ वहीं)।

वृषणः षष्ठ्यन्त शब्द है, मूल शब्द वृषन् (वृषा) है। यह सर्वदेवता विष्णु या अग्नि का नाम है। (आगे मंत्र ३६ देखें)। यहां पर इसी वृषाग्नि को अश्व रूप पशु बताया गया है। अश्व नाम प्राणों का भी है। अतः 'वृष्णो अश्वस्य' के माने 'प्राण रूप वृषा नामक अग्नि का', या 'अश्व रूप वृषा नामक अग्नि का' है। यहां वृषाशब्द भी वर्षणशील अर्थ में पूर्ण सार्थक है जिससे पूरा स्पष्ट अर्थ 'अश्व या प्राण रूप वर्षणशील अग्नि का' हो गया। यह प्राणरूप वर्षणशील अग्नि, उत्तम प्राण रूप आदित्य या विष्णु देवता है जिसका नाम भी बृषन् वृष्ण या वृष्णि भी है, उसी की ज्योति की वर्षा की बूंदें सिमट सिमट कर सोम नाम से पुकारी जाती हैं। यही अभीष्ट अर्थ है भी। वेदि ही स्त्री है, अखिल ब्रह्माण्ड की मौलिक जननी है, छन्दोमयी है, उक्त अश्व या प्राण रूप वर्षणशील अग्नि या विष्णु उसका पति है। इस वेदि की नाभि या गर्भ में प्रजापति रूप संवत्सर ब्रह्म के रूप में यही अग्नि, या वर्षणशील वृषा नामक अश्व, अपने रेतो रूप में-जिसे सोम भी कहते हैं, अजायमान रूप में, दिव्य रूप में, दैवी रूप में प्रविष्ट होता है। अर्थात् त्रिपादामृत रूप अग्निर्विद्वान् ही यहां पर इस वेदि के गर्भ में प्रजापति या संवत्सर ब्रह्म नामक विकासशील यज्ञ के रूप में या रेतो रूप में या सोम रूप में प्रविष्ट हो जाता है। यहां पर इस अग्नि का नाम

बदल जाता है, यह अग्निर्विद्वान् से वैश्वानर रूप 'अग्नि' प्रजापति कहलाता है जो उस प्रथम स्वरूप से भी नित्य सम्बद्ध ही रहता है 'वैश्वानरो यतते सूर्येण'। यह सूर्य त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् या जातवेदा की चक्षु की आत्मा रूप अग्नि है, इसी को सर्वा देवता—सृष्टि या योग में—विष्णु नामक आदित्य भी कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के मौलिक स्वरूप की योग द्वारा वेदि रूप में जब अनुभूति की जाती है, तभी वह अनुभूति सोमीय या चान्द्रमस ज्योति उस त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् के सूर्य नामक तत्त्व के स्वरूप से निसृत रेतः या घृत या जीवन ज्योति रूप में अनुभूत होती है। जब वृषा अश्व रूप वह विष्णु रूप सूर्य अपने प्रकाश को योगी के आभ्यन्तर जगत के चान्द्र शरीर में ज्योति रूप में प्रतिबिम्बित करता है तब ही योगी की योगक्रिया भी पूरी होती है और तभी सृष्टि के विकास का अग्रिम चरण पनपने लगता है। यही चन्द्रमा की, अजायमान, अमृत उधार मिली ज्योति ही; इस सृष्टि का प्रजापति है; यह है वही त्रिपादामृत रूप अग्निर्विद्वान् ही भले ही यहां यह चन्द्रमा में बिम्ब रूप में उसके गर्भ में प्रतिबन्धन में आ गया हो। अतः लिखा भी है 'चन्द्रमा वै प्रजापति' (सोम शीर्षक 'वैदिक विश्व दर्शन' देखें)। इसका विकास संवत्सर ब्रह्म रूप में या तन्तुमय ताने बाने वाले जालरूप या वस्त्ररूप यज्ञ के रूप में आपोमय अक्षरों के रूप में जिसे जो अच्छी तरह समझ में आ सके उसके अनुसार या तीनों के अनुसार एक ही साथ त्रिवृत् रूप में प्राण (आप), वाक् (यज्ञ अग्नि) और मन (क्रमिक ज्ञानमय विकासमग्र संवत्सर) के रूपों में होता है।

'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम'—ब्रह्मा नाम यज्ञ के मुख्य अधिष्ठाता ब्राह्मण या ऋत्विज का है। पर सृष्टि यज्ञ में इस ब्रह्म नामक ऋत्विज का काम उक्त चन्द्रमा ही करता है, और अतिसृष्टि या योग में इसी का प्रतिनिधि मनः है। इन तीनों प्रक्रियाओं के विवेचन में मुख्याधिष्ठाता को 'ब्रह्मा' ही कहा जाता है, पर इस ब्राह्म कार्य का कर्ता विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होता है, जैसे द्रव्य यज्ञ में एक सबसे अधिक ज्ञानी ब्राह्मण (वेदवेत्ता), सृष्टि यज्ञ में चन्द्रमा नामक प्रजापति और अतिसृष्टि या योग में 'मनः' नामक तत्त्व। इसका विवेचन बृह. उप (३-१-६) में इस प्रकार दिया है :—"यदिदमन्तरिक्षमनारम्भणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणार्त्विजा मनसा चन्द्रेण, मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षाः।" इसी प्रकार के वचन समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। यह सोम उस अग्नि की कामना रूप मनः का रेतः है अतः

स्वयं अग्नि का मनः रूप है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥ ऋ. वे. (१०-१२९-४)। यहां चन्द्रमा नामक मनः अमृत है और वाक् उसकी कृतानुकारा मर्त्य धर्मिणी है, उसका शरीर है। इसकी कथा श. प. ब्रा. १-४-१ पूरे में देखें। यही मनोरूप सोम, सविता, या प्रसविता या सृष्टि कर्ता है, यही अग्नि का रेतः भी है, इसी से सृष्टि चलती है।

(१) द्रव्य यज्ञ में तो वाक् की प्रामाणिकता का उच्चतम स्थान ब्रह्मा नामक ब्राह्मण या ऋत्विज है, उसी के अनुसार सब यज्ञ क्रियायें चलती हैं। (२) सृष्टि यज्ञ में चन्द्रमा प्रजापति ही ब्रह्मा है, इसका सोमीयरेतः ही वाक् रूप शरीर है उसी से आरम्भणीय भौतिक (मर्त्य) की सृष्टि का क्रम चलता है, वही चन्द्रमा मनोरूप्र ब्रह्मा या सृष्टिकारक ब्रह्मा है या सृष्टि रूप यज्ञ संचालन कर्ता ब्रह्मा है। यहां ब्रह्मा शब्द श्लेषात्मक है। (३) अतिसृष्टि या योगात्मक यज्ञ में मनः नामक तत्त्व ब्रह्मा है, यही चन्द्रमा है अग्नि नामक अपने देवता का द्वार है, या यह चन्द्रमा रूप प्रथम भौतिक तत्व सर्वप्रथम सूत्र रूप में उत्पन्न होने वाला भौतिक सृष्टि की डोरी में नीचे की ओर लटका है और उसी डोरी से ऊर्ध्वोर्ध्व को जाते जाते अपनी आत्मा रूप उस अग्नि की ज्योति को प्राप्त कर लेता है। यही चान्द्रमस ज्योति, वाक् शरीर का या भौतिक वाक् शरीर का सर्वोच्च या सर्व प्रथम स्थान है, जहां पर यह वाक् अपने अनन्त अक्षर रूप भौतिक ब्रह्माण्डों के मूल बीज, एक बीज रूप में प्रस्तुत रहती है जिन्हें आगे 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (मंत्र ३९) और 'गौरीर्मिमाय ··· सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (मंत्र ४१) में विस्तारपूर्वक वर्णित किया जावेगा। मनः और वाक् क्रम से अमृत और मर्त्य शरीरी हैं, इनकी कथा श० प० ब्रा० १-४-१ पूरे में देखें।

इस स्थान पर चन्द्रमा प्रजापति को अक्षर ब्रह्म नाम से पुकारा जाता है। अक्षर उस चन्द्रमा को ज्योति रूप शरीर या वाक् के हैं। इसका नाम पूर्वार्द्ध के ॐ या ओम् या त्रिपादामृत से पर या परम या उत्तरार्द्ध भाग में स्थित या विशेष रूप से स्थित ओम या 'वि + ओम, 'विगत 'अउमेभ्य' ओम्भ्यों वा व्योमन्' या विः = सुपर्ण रूप + ओम या ॐ कार रूप सोम या सविता या 'व्योम' या 'परमे व्योम' या 'परमे व्योमन्' है। यह वाक् या उसके भौतिकात्मीय शरीर का सर्वादि और पूर्वार्द्ध से परे या परम या दक्षिणायन के आदि स्थान या प्रथम स्थान में स्थित रूप का नाम है। इसी के अनुशासन में यह अखिल ब्रह्माण्ड है। इसका विवेचन बृह० उप० (३-८) में याज्ञवल्क्य ने वाचक्नवी गार्गी को सुनाते हुए विस्तारपूर्वक दिया है, देख लें। यह अक्षर ब्रह्म, यही ब्रह्मा या प्रजापति रूप चन्द्रमा है जिसे मनोरूप सूत्र से इस परम

व्योम स्थान में अनुभूत किया जा सकता है। श० प० ब्रा० ने उक्त वेदि के विवेचन के उपक्रम के अन्त में इसीलिए 'वाक्' का अनुष्ठान करने के लिए लिखा भी है (२१ वहीं)। 'परमे व्योमन्' शब्द की पूरी व्याख्या आगे मंत्र ३९, ४१ में भी देखें।

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि: ।
ते धीतिभि र्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥३६॥

इस ऋचा को विल्सन ने समस्तवैदिक वाङ्मय में सबसे अधिक अननुगम्य बतलाया है। यही क्या, अन्य सभी ऋचायें भी, जिनका अर्थ इन लोगों ने वैदिक पारिभाषिकता के ज्ञान के नितान्त अभाव में अपनी कोरी अनहोनी कल्पनाओं का संकेतक समझ कर 'समझ में आ गया है' करके माना है, इसी श्रेणी की हैं, इनके लिए सभी अननुगम्य ही हैं, इनका उनको समझने का दावा ठोस रूप से एक भयंकर भ्रमजाल है। यह निश्चित है, कोई भी विद्वान् कितना ही परिश्रम करे, कितनी ही माथापच्ची करे, उसे वेदों का अर्थ तब तक कदापि भी बिलकुल ही नहीं लग सकता जब तक वह मेरे द्वारा निर्णीत किये गये तत्त्वों के अष्टचक्रादि, छन्दोमयादि, पशुमयादि प्राणादि अनेक प्रकार के वैदिक ऋषियों के मनोगत अभिमत विभाजनों का गहन अध्ययन न कर लें। यह एक नग्न सत्य है, अपनी प्रशंसा या 'अपने दही को खट्टा नहीं कहना' नहीं है। विद्वानों से प्रार्थना है कि वे मेरे निर्णयों पर गम्भीर ध्यान-पूर्वक विचारविमर्श करें। वेदों के समुचित अर्थ को जानने और समझने का कोई दूसरा मार्ग प्रतीत ही नहीं होता 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' यह ऋषियों का वाक्य पूर्ण घटित समझें।

प्रस्तुत ऋचा में दीर्घतमा ऋषि के सामने 'वैदिक विश्वदर्शन' के सम्पूर्ण विकासीय तत्वों का एक चित्र सा सामने टँका है जिसकी प्रतिलिपि इस ग्रन्थ तथा वैदिक विश्वदर्शन में कई प्रकार से दे दी गई है। उस चित्र पर दृष्टिपात करते हुए उसे सप्तपदी या सात सप्तकों के रूप में देखने का कष्ट किया जावे, और साथ में उसमें वर्णित नाना प्रकार के सप्तचक्रवाद का अवलोकन करने और समझने का भी प्रयत्न करें।

'सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः'—वैदिक विश्वदर्शन की सप्तपदी को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया गया है जिसको पिछले मंत्र की व्याख्या के अवसर पर 'त्रिःपूर्वान् त्रिरुत्तरान्' कहा जा चुका है। इसके अनुसार प्रथम तीन पद पूर्वार्द्ध हैं, अन्तिम तीन पद उत्तरार्द्ध। इनके मध्य में चौथा पद है। उसी को 'मध्ये विषुवान्' या यहां पर 'अर्धगर्भ' नाम से पुकारा गया है जिसका

धरातलीय अर्थ उक्त व्याख्या से स्वयं पटरी खाता है अर्थात् सप्तपदी के अर्द्ध या मध्मभाग में गर्भ है, इन दोनों भागों के सम्मिलन के बाह्य विन्दु को योनि कहते हैं। ये दोनों भाग द्यावापृथिवी हैं। इस प्रकार का वह अर्धगर्भ, सात भागों के मध्य या अर्द्धभाग में स्थित गर्भ 'अर्धे ग्रो गर्भः' भुवन या अखिलकोटि भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड के रेतोरूप या मूल बीजरूप सोम रस से भरा है। यह अमृत कलश है या द्रोणकलश है। पर इस कलश या द्रोणकलश या सृष्टिकलश को ही अखिल भुवन का मूलबीज नहीं बताया है, वरन् इसमें उत्पन्न सात ऋषि रूप प्राणों को ही इस भुवन या सृष्टि का बीज कहा है। ब्राह्मणों और पुराणों में इसी कलश से जिन सप्तर्षि रूप प्राणों की सृष्टि का विवेचन दिया हुआ मिलता है वह किस हिन्दू को विदित नहीं होगा ? अतः 'सप्तार्धगर्भा' माने वह कलश रूप गर्भ है जिसमें सात ऋषिरूप प्राण उत्पन्न होने के लिए गर्भ में आ गये हैं'। इन ऋषियों को अध्यात्म व्याख्या में वाक् मनः प्राणः चक्षुः श्रोत्रं त्वक् नासिका आदि नाम से पुकारा जाता है; इन्हीं को पितर रूप व्याख्या में आङ्गिरस या अङ्गों के (प्रथम तीन सप्तक रूप अङ्गों के) रस रूप सात आङ्गिरस पितर कहते हैं, और ज्ञान विद्या चेतनामय प्राणमयी व्याख्या में इन्हीं को गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि कहते हैं। अन्य ऋषि भी इसी कोटि में आते हैं; जैसे वामदेव जी ने (४-२७-ऋ० वे० और ऐ० उप) कहा है कि मैं ऐसे लोहे के पींजड़े के समान गर्भ से श्येन की तरह भाग आया। तीनों एक ही तत्त्व के विभिन्न पहलुओं के त्रिवृत् की व्याख्या देते हैं। इनका यहां त्रिवृत् ही समझिए। इन सात सात के त्रिवृत् या २४ का यह त्रिःसप्त गर्भ है। अतः ये 'सप्तार्धगर्भा' ये सात प्राणरूप ऋषि हैं जो मध्य भाग के गर्भ में हैं ये 'सप्तार्ध गर्भा' ऋषि ही इस भुवन या सृष्टि के मौलिक बीज हैं या रेतः हैं। श० प० ब्रा० ६-१-१-१ में ऋषि और 'सप्त पुरुषाः' का वर्णन देखें। यह सृष्टिपक्ष का और कलशरूप कर्मकाण्ड का स्पष्ट विवेचन है। यह रेतः क्या है ? यह पिछली ऋचा में बतलाया जा चुका है। यह 'सोम रस' है जिसका आस्वादन योगीजन उक्त प्राणरूप ऋषियों की यौगिक साधना द्वारा करते हैं। योगी के लिए यह छूट है कि वह किसी भी प्रकार से-अध्यात्म प्राणसाधना, पितर रूप अङ्गों के रसरूप प्राणों की साधना या विद्या ज्ञान चैतन्य ज्योतिर्मयता वाली ऋषिरूप प्राणों को साधना में से किसी भी मार्ग को अपना कर अपने योग की प्रक्रिया सँभाल ले। यह योगपक्ष है।

'विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि'—अब यहाँ पर कोई भी साधारण पाठक तुरन्त यह प्रश्न कर सकता है कि ये सात ऋषि रूप प्राण इस अर्ध-

भाग में स्थित योनि के गर्भ में एकाएक कहाँ से टपक पड़े ? यह प्रश्न दीर्घतमा ऋषि के मन में मंडरा रहा था। और पिछली ऋचा में इस रेतः को 'वृष्णो अश्वस्य' (रेतः) या वृषा नामक अश्व का रेतः बताया गया था, यहां कुछ और ही कह रहे हैं। यह क्या बात है ? यह भी एक पूरक प्रश्न है। उक्त उद्धृत पद में इन्हीं दो प्रश्नों का समुचित समाधान है।

आपने गीता में अवश्य पढ़ा होगा कि भगवान् कृष्ण अपने को 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' (१०-३७) वाक्य से वृष्णि वर्ग में वासुदेव नाम से प्रसिद्ध बतला गये हैं। भागवत धर्म वालों ने वैदिक 'वृष वृषा वृषन्' शब्दों पर 'वृष्णि' नामक जाति का एक काला पर्दा डाल दिया है। पिछले मंत्र में जिस 'वृषन्' अग्नि रूप अश्व का रेतः सोम नाम से प्रसिद्ध बताया है, उसी वृषत् अग्नि रूप अश्व को यहां 'विष्णु' या वासुदेव या वामन या वाम नाम से पुकारा जा रहा है। यह पूर्व ऋचा के क्रम में आई इस ऋचा के इस पर्यायवाची शब्द (विष्णोः = वृष्णः) से स्वयं स्पष्ट भी है। ऋ० वे० १-१५४-६ विष्णु सूक्त में वृष्णः या वृषन् नाम विष्णु का भी दिया है जैसे 'ता वां वास्तून्युश्मसि···। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं' पदभवभाति भूरि ॥"। वृषन् का अर्थ वर्षणशील सदा आनन्दमय अवढरदानी है। यह इन्द्र, सोम, अग्नि और विष्णु का एक ऐसी ही विशेषावस्था का सूचक शब्द है। ये सब सर्वदेवता भी हैं। अतः यहां पर अग्नि को ही विष्णु रूप या नाम से व्याख्यात किया जा रहा है। वेदि की व्याख्या में भी इसी विष्णु देवता के वेदन या ज्ञान या प्राप्ति के कारण उसे वेदि या प्राप्तिस्थान कहा है।

वे सप्तार्धगर्भा नामक सप्तर्षि, द्यावा पृथिवी के मिलनबिन्दु रूप योनि के अन्दर जिस प्रकार के गर्भ रूप में या प्रथम भौतिकात्मीय बीजरूप में प्रस्तुत हुए है, वे यहां एकदम टपक नहीं पड़े हैं। वे आदि ब्रह्म अपने मौलिक बीजों के रूप में, अज के रूप में या अपने धर्म या विशिष्ट विधर्म या विशिष्ट लक्षण रूप में विष्णु की तरह रहते हुए, उसी विष्णु की सरणि (या प्रदिशा) से, या विष्णु के तीन पद क्रमों को क्रमशः आक्रमित या विकसित करते हुए, यहां २४ वें तत्व की योनि में प्रवेश करके २५ वें में गर्भ रूप में प्रस्तुत होते हुए अब विराजमान हुए हैं। विष्णु के इस तीन क्रमों को तीन पद कहते हैं। वे प्रथम तीन पद प्रथम तीन सप्तक हैं, जिनको पूर्वार्द्ध कहते हैं। यहां चतुर्थ पद या अर्द्ध गर्भ में २५वें तत्व में 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' के अनुसार वही अजः प्रजापति यहां सबसे पहले सप्तर्षि रूप में प्रस्तुत हुआ है। अर्थात् यहां पर जिन सप्तर्षि रूप प्राणों का विकास हुआ है उनके मौलिक धर्म, आदि ब्रह्म में थे, वे विष्णु के 'त्रेधा

निदधे पदं' के अनुसार क्रमशः तीन सप्तक रूप पदों में विष्णु की सरणी से विकसित होते हुए अब इस गर्भ में विराजमान हैं। इसी लिए कई स्थानों में लिखा है, और इसी सूक्त में आगे दो स्थलों में मंत्र ४३, ५० में आया है 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' कि इनके पदों में क्रमिक विकास पाने के रूपों में विद्यमान थे। ये तो वास्तव में सात प्राण हैं। इन्हें ऋषि इसलिए कहते हैं कि ये योग करते हैं; नाम भी अङ्गिरस है, ये प्रथम तीन पाद रूप अङ्गों के रसरूप प्राण हैं।

'ते धीतिभिः-विपश्चितः'—जिस प्रकार उक्त प्राण रूप ऋषि सात है उसी प्रकार उनकी सात धीतियां भी हैं; प्रत्येक की एक धीति या धारण शक्ति या ज्ञानतेजस्वितामय धीति है जैसे—"मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त-धीतयः' (ऋ० वे० ९-८-४) और "एतमुत्यं दश क्षिपो मृजन्ति सप्तधी-तयः ॥ (ऋ० वे० ९-१५-८)। ये धीतियां इन सप्तर्षि रूप अध्यात्म प्राणों के शरीरों में सात ग्रहों के रूप में रहती हैं। प्राण की धीति अपान है जिससे वह गन्ध ग्रहण या धारण करता है वाक् की धीति नाम हैं जिनसे वह बोलती है, जिह्वा की धीति रस है जिससे वह रसास्वादन करती है, चक्षु का ग्रह रूप है जिससे वह रूप का ज्ञान करती है, श्रोत्र की धीति शब्द है जिससे वह सुनती है, हस्त की धीति कर्म है जिससे वह कर्म करता है, त्वक् धीति स्पर्श है जिससे वह स्पर्श की अनुभूति करती है (बृह० उप० ३-२)। इन धीतियों को अतिग्रह नाम से पुकारते हैं और सप्त प्राणों को 'ग्रह' नाम से, अर्थात् प्राण और धीतियां परस्पर ग्राही और ग्राह्य तत्त्व है। इन प्राणरूप तत्त्वों में धीतियां स्वधारूप से स्वयं वर्तमान रहती हैं।

इन सब धीतियों और प्राणों को इन ग्राह्यता और ग्रहणता की ओर प्रवृत्त करने वाला मनो रूप काम है। इनमें काम रूप तत्त्व रेतो रूप में ही विद्यमान रहता है। क्योंकि रेतः तो इसी मनः का काम रूप या कामनामय शरीर है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋ. वे. १०-१२९.५)। इसीलिए ऋषि यहां कह रहे हैं कि वे सप्तर्षि रूप प्राण, अपने-अपने ग्रह रूप से अपनी-अपनी धीतियों को अतिग्रह रूप में ग्रहण कर लेने से तथा मनो रूप ग्रह से काम रूप अतिग्रह को मुख्य द्वार बना लेने से विपश्चित या ज्ञानमय वेदना मय चेतनामय प्रकाशमय हो जाते हैं। अतः जब ये इन धीतियों से मुक्त होते हैं और सोम रूप मन की ज्योति की रस्सी पा जाते हैं तो इनको विप्राः या विपश्चितः नाम से पुकारा जाता है।

'परिभुवः······विश्वतः'—इन सप्तर्षि रूप प्राणों के ज्ञान का मुख्य कारण तो इनके देवता रूप मातरिश्वा, अग्नि, आपः, सूर्य, दिशा आकाश (आत्मा

हस्त कर्म) और वायु तथा चन्द्रमा हैं। इन देवताओं से युक्त ये सप्तर्षिरूप प्राण अपने अतिग्रह रूप धीतियों से युक्त हो जाने पर ही विपश्चित बनते हैं। अतः यहां पर ये द्यावापृथिवी दोनों के एक सम्मिलित स्वरूप एक अखण्ड ब्रह्माण्ड या ब्रह्म या व्यक्ति या वैयाक्तिक ब्रह्माण्ड या ब्रह्म रूप बन जाते हैं। इसीलिए ऋषि लिखते हैं कि—ये इस प्रकार से विपश्चित या ज्ञानमय रूप में भुवः या उत्तरार्द्ध रूप शरीर में उत्पन्न होने वाले, पृथक्-पृथक् न रह कर सब एक दूसरे में व्याप्त होकर रहते हैं। पर जब ये अपना अपना ज्ञान करना चाहते हैं तो प्रत्येक केवल अपनी धीति से ही तत्तद् ज्ञान कर सकता है। यदि ये सम्मिलित रूप से व्याप्त होकर न रहें तो न कोई शरीरी बन सके, न कोई ज्ञानवान्। यदि ये सब पृथक् होते तो प्रत्येक के चक्षु श्रोत्र मन वाक् प्राण आदि पृथक् पृथक् बिखरे रहते, और कोई भी 'मैं इन इन का ज्ञान रखता हूँ' यह कहने वाला नहीं हो सकता। तब चक्षु पृथक् रहकर मात्र देखने का कार्य करता, श्रोत्र सुनने का ही इत्यादि। अतः मनोरूप कामात्मा की डोरी से ये सब एक तन्तु से बँधे रहते हैं, आत्मा रूप रथी को अपने द्वारों या अङ्गों या भागों से व्याप्तिमय ज्ञान कराते रहते हैं। यह अखिल ब्रह्माण्ड भी हमारे शरीर के समान इन मनः वाक् प्राण श्रोत्र चक्षु इत्यादि सब अङ्गों का एक व्याप्तिमय ब्रह्माण्ड है।

सृष्टि के दो भाग द्यावा पृथिवी को क्रम से भू और भुवः नाम से भी पुकारते हैं जैसे 'भूर्जज्ञ उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त' (ऋ. वे. १०-७२-२)। इसी भुवः का संकेत यहां पर दिया गया 'परिभुवः' शब्द कर रहा है (मंत्र ४१ देखें)। अग्नि का इस प्रकार के शरीर से युक्त होना ही उसे ईश ईशान और ईश्वर की पदवी देता है। ब्रह्म इस पदवी से रहित है, क्योंकि वह ऐसे शरीर से बहुत दूर है।

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥३७॥

'न विजानामि यदि वेदमस्मि'—इस मंत्र में पाकः नामक प्रजापति, 'अग्निर्विद्वान्' से व्याख्यात पूर्वोक्त ३५,३६ मंत्रों के विषयों को सुन कर उससे पुनः प्रतिप्रश्न कर रहा है। पाकः कहता है कि आपने तो यह कहा है कि सप्तर्षि रूप प्राण अपनी धीतियों और कामनाओं से विपश्चित या ज्ञानवान् हो जाते हैं। पर मुझे तो ऐसा कुछ प्रतीत नहीं हो रहा है। इस प्रस्तावना से वह अखिल ब्रह्माण्ड रूप पाक, जिसको, पूर्वार्द्ध के अहः (दिन) नामक भाग से आविर्भूत होने के कारण 'अहम्' या 'अस्मि' नाम से पुकारा जाता है, अपने को यहाँ 'अस्मि' या 'अहम्' नाम से घोषित कर रहा है।

इस बात का विवरण बृह. उप. (१-४-५) में देते हुए लिखा है "अहं वाव सृष्टिरस्मि, अहं हीदं सर्वं ततः सृष्टिरभवत् ॥"। यही भाव छा. उप. (७-२५) में देते हुए लिखा है "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम् ॥"

परन्तु सृष्टि के इस मात्र अहं या अस्मि रूप में ज्ञान का स्रोत नहीं है। इस अहं या अस्मि सृष्टि में प्राणरूप पात्र और धीतिरूप आकार तथा कामनारूप विस्तार या घनफल मात्र है। इनमें तेल बत्ती दीपक है पर ज्योति नहीं है। अतः पाकः कहता है कि मुझे तो यह भी विदित नहीं है कि मैं वेद या वेदि के जाग्रत रूप का हूँ; अर्थात् मैं योगभूमि रूप वेदि हूँ और उसमें वेद रूप ज्ञान ज्योति को जाग्रत किया जा सकता है जैसा कि बृह. उप. (१-४-६) ने लिखा है "मुखाञ्च योने र्हस्ताभ्यामग्निमसृजत··· सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः, यन्मर्त्यं सन्नमृतानसृजत। तस्मादतिसृष्टिः ॥"। यह योग प्रक्रिया है, मर्त्य प्राणों से उनके तत्तद् अमृत देवताओं को जागृत करना अतिसृष्टि कहलाती है। पाकः प्रजापति, नाचिकेता के यम से इसी ज्ञान के लिए प्रश्न करने के समान, यहां उसी पहेली को सामने रख रहा है।

'निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि'— पाकः प्रजापति कहते जा रहा है कि मैं इस भौतिक देह से तो निण्यः या 'निर्नाम' हूँ। मुझ में वाक् की धीति या अतिग्रह रूप में बोलने की शक्ति तो मिली ही नहीं है। यह नाम नामक वाक् की धीति ही अन्य सब ज्ञानों को अपने शब्दों या नामों के द्वारा प्रकट कर सकती है। जिसमें वाक् नहीं है वह पशुवत् पाषाण समुद्र नदी वायुवत् गतिमान् क्रियावान् होते हुए भी ज्ञानाभिव्यक्ति की शक्ति से शून्य है। इस समय मेरा यह पाकः नामक शरीर एक मनोब्रह्माण्ड रूप सप्तार्धगर्भा रूप में विद्यमान अवश्य है, पर है केवल मनोमय मात्र, मनोब्रह्माण्ड मात्र, एक अखण्ड मनोब्रह्माण्ड ही। और मेरा यह मनोब्रह्माण्ड तुम 'अग्निर्विद्वान्' रूप प्राण की डोरी में बँधा हुआ, बँधे हुए पक्षी के समान अस्वतन्त्र है। इसका विवेचन छा. उप. (६-८) ने इस प्रकार दे रखा है "यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतति पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रायत एवमेव खलु सौम्य मनो हि दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वाप्राणमेवोपश्रयते, प्राण-बन्धनं हि सौम्य मनः ॥"। पाकः प्रजापति यहाँ पर ठीक इन्हीं वाक्यों को 'अग्निर्विद्वान्' के सामने प्रस्तुत कर रहा है कि मुझे तो तुमने नथ कर या डोरी में बाँध कर या अपने प्राणों को डोरी से अपने हाथ में लटका लिया है। मुझे इस बन्धन से छुटकारा पाने का उपाय बताओ। अर्थात् वह योग मार्ग बताओ जिससे मैं अपनी इस वेदि रूप काया के पिंजड़े में तुम्हारी

ज्योति को जगमगाता हुआ तुम्हीं सा निर्बन्धन हो जाऊँ, या जैसे तुमने मुझे बांध रखा है वैसे ही मैं भी तुम्हें अपने में बांध डालूँ, जैसे 'अबध्नन्पुरुषं पशुम्' तब यह बन्धन किसी को न खलेगा।

'यदा भागन्प्रथमजा······भागमस्याः'—इसमें केन्द्रविन्दु रूप शब्द 'ऋतस्य प्रथमजा' है। ऋत शब्द की व्याख्या 'हंसः शुचिषद्······ऋतं बृहत्' मंत्र ने दे दी है। ऋतं नामक तत्त्व दर्शन का या सृष्टि विकास क्रम का वह मौलिक तत्त्व है जो क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाता जाता है और विकास श्रेणिणों में, जिन्हें शुचिषद् अन्तरिक्षषद् आदि नामों से पुकारा जाता है—हंस, वसु आदि नामों से पुकारा जाता है। इस तत्त्व से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले तत्त्व को (सृष्टि या अतिसृष्टि में) अग्नि नाम से पुकारा जाता है। यह सर्वप्रथम विकसित होता है अतः इसे 'अग्रिरग्रिहि तमग्नि मित्याचक्षते' (श. प. ब्रा. ६–१–१–१०) कहा जाता है। स्वयं ऋग्वेद ने इसे ऋत का प्रथमजा नाम से घोषित करते हुए लिखा है कि 'अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य' (ऋ. वे. १०-५-६)

यहां पर दीर्घतमा ऋषि विशेष करके पाकः के मुख से योग की प्रक्रिया का उद्बोधन करा रहे हैं। वे पाकः से कहलवा रहे हैं कि जब मेरे इस भौतिकात्मीय शरीर में उस प्रथमजा अग्नि की ज्योति जग जाती है या प्रदीप्त हो जावे तभी मैं तत्काल (आदित्) ही अपने इन प्राणों या (वाचः या) वाणी के अङ्गों के शरीरों की प्राप्ति या भाग का अशन या भोग कर सकता हूँ या इस शरीर के लाभ का फल पा सकता हूँ। अन्यथा मैं इस पशुवत् पाषाणवत् अज्ञानमय ठोस शरीर को एक भार सा अनुभूत करता हूँ। वाक्, अग्नि का शरीर है, 'अग्निर्विद्वान्' या ऋत का प्रथमोत्पन्न विकसित आत्मा है, वाक् उसका शरीर है, इस वाचः या इस शरीर के अङ्ग रूप प्राणों का नाम भी बहुवचन में 'वाचः' ही (कहा जाता) है। इसके प्रत्येक भाग या अङ्ग या प्राणों की धीतियों का अशन या भोग या—वाक् का भोग अग्नि द्वारा, (प्राण) त्वक् का वायु द्वारा, मनः का चन्द्रमा द्वारा, चक्षु का सूर्य द्वारा, श्रोत्र का दिशा द्वारा, गन्ध का नासिका द्वारा, इत्यादि—किया जा सकता है। अर्थात् मेरे इस शरीर में तुम भी सदा दीप्त बने रहो और मैं इस शरीर लाभ के फल को देव रूप में भोग सकूं, दानव रूप में नहीं। सृष्टि पक्ष में इस भौतिक ब्रह्माण्ड में जब तक आग्नेय तत्त्व न रहे तब तक इसका विकास भी सम्भव ही नहीं है। वह मौलिक अखिल ब्रह्माण्ड एक साक्षात् चैतन्यमय ब्रह्माण्ड है, वही ईश ईशान ईश्वर है। जब इसमें वाक् के अङ्ग या प्राण अङ्कुरित होकर उनमें तत्तद देवताओं की दीपवर्तिकायें

उद्दीपित करती हैं तभी वह ईश्वर है योगीश्वर है। पाकः उसके प्रतिपक्ष में योगेश्वर बनना चाहता है। ईश्वर स्वयं योगीश्वर या योगमय सृष्टि है, पाकः उसे अनुभूत करना चाहे तो उसे योगेश्वर बनना पड़ता है, नहीं तो उसका जीवन नदी प्रवाहवत् दानववत् स्थाणुवत् बन जाता है। योगेश्वर को गीता या उपनिषदों में दिये गये योगों की प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है। जो यह नहीं कर सकता, वह पशुवत् कीट सरीसृपवत् एक असुरवत् तमाशे की वस्तु है।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥३८॥

(१३१-३८) स्वधा का विवेचन वैदिक विश्व दर्शन में देखें। स्वधा नाम उस तत्त्व का है जो प्राणों को धारण करता है 'स्वान् प्राणान् धारयतीति स्वधा'। प्राणों को धारण करने वाले प्राणों के शरीर रूप 'आपः' वैद्युतीय शक्तिमय तत्त्व हैं। यही आपः स्वधा हैं जो तीन प्रकार के दैवी, दैव्यासुरी और आसुरी या मनुष्या नाम के हैं। इन्हीं से अमर्त्य और मर्त्य प्राण अपने में गृभीत गृहीत संगृहीत या व्याप्ति रूप से अपने शरीर में धारण किये जाते हैं। इन अमर्त्य (अमृत) और मर्त्य प्राणों को कोई 'प्राणोदानौ' (ऐ. ब्रा.) कहता है कोई 'प्राणापानौ' (श प. ब्रा.)। इनका पारस्परिक द्वन्द्व ही समुद्र मन्थन कहलाता है। ये प्राण अपने आपोमय शरीर के समुद्र में आपसी खींचातानी सी करते रहते हैं, निरन्तर खींचातानी में ही लगे रहते हैं। प्राण, अपान या उदान को ऊपर की ओर खींच लेता है तो अपान या उदान उस प्राण को तत्काल नीचे की ओर खीच लेता है। अतः उपनिषदों ने कई बार कई स्थलों में लिखा है "ऊर्ध्वं प्राण उन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥" (कठ. उप.)। इस प्रक्रिया का नाम ब्रह्मबिन्दूपनिषद् 'अजपा गायत्री' देता है, और कहता है कि ये प्राणोदान या प्राणपान ऊर्ध्वाधः की खींचातानी थोड़ी करते हैं। ये तो अजपा या स्वयं जपा गायत्री का जप करते हैं। "हंकारेण बहिर्याति सकारेणाविशेत्पुनः। हंस हंसे त्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। अपजा नाम गायत्री··· इत्यादि।" अर्थात् प्राण तो 'हंकार' ध्वनि से ऊर्ध्वगामी होता है और उदान या अपान 'सकार' ध्वनि से नीचे को उतरता है। इन दोनों प्राणों की इन दोनों ध्वनियों की निरन्तर की खींचातानी से जीव या जगत् या अखिल ब्रह्माण्ड 'हंसः' 'हंसः' का जप अविच्छिन्न रूप से करता रहता है। यह इस ब्रह्माण्ड का बहुत बड़ा सौभाग्य है।

बृह. उप. में तो स्वधा नाम की वाक् धेनु के एक स्तन पीने वालों को 'पितर' तत्त्व कहा गया है। वाक् भी आपः ही है 'सदपोऽसृजन्त वागेव सासृजत'

(श. प. ब्रा.)। आपः अदिति और वाक् ये इस ब्रह्माण्ड के मौलिक त्रिवृत् हैं। यह तेजो रूप में वाक् , मनो रूप (ज्ञान प्रकाश रूप) में अदिति और प्राण रूप में आपः कहा जाता है। प्राण रूप तत्त्व ऋषि हैं, मौतिक ऋषिः ही प्रजापति हैं । अतः ये स्वधा के अधिकारी प्रजापति रूप पितर हैं। ये अमृत ऋषि, देवता और पूर्वे पितरः या पूर्वे ऋषयः कहलाते हैं। ये स्वाहाकार (अभौतिक, भौतिकता का स्वाहा रूप) और वषट्कार या मर्त्य अध्यात्म प्राणों के अधिकारी हैं । इस स्वधा की व्याख्या मंत्र ३० में भी दी जा चुकी है उसे भी देखें।

यही भाव इस प्रस्तुत ऋचा का भी है कि 'अमर्त्य या अमृत प्राण, मर्त्य या भौतिक प्राण या उदान या अपान के साथ एक ही गर्भ या योनि या महद्ब्रह्माण्ड या वैयक्तिक ब्रह्माण्ड में रहते हुए भी, अपने आपोमय शरीर के प्राणों को स्वयं धारण करने की अलौकिक शक्ति से स्वयं एक दूसरे से गृभीत या सम्बद्ध होकर (वारुणेय शक्ति से वरुणपाशों से सम्बद्ध होकर) अपाङ् और प्राङ् अथवा ऊर्ध्व और अधः (या पश्चिम पूर्व को, क्योंकि दर्शन चित्र में दक्षिणायन या उत्तरार्द्ध का नाम प्राङ् या पूर्व भी है और पूर्वार्द्ध का अपाङ् भी) आते (जाते) रहते हैं। इस प्रकार ये दोनों मर्त्यामर्त्य प्र ण (ता), ऊर्ध्वाधः को उच्छ्वासनाधःश्वसन करते हुए (श्वसन्ता) अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त होते हुए भी (विषूचीना) एक दूसरे के विपरीत मार्गों में जाते हैं या निरन्तर जाते रहते हैं (वियन्त)। इनकी इसी गति से यह अखिल ब्रह्माण्ड जीवित भी रहता या कहलाता है। परन्तु विशेषता तो यह है कि इन दोनों में से पूर्वार्द्धीय अमृत प्राण तो 'अन्यं' या मर्त्य या उदान अपान को भलीभांति जानता है; और यह 'अन्य' नामक मर्त्य या उदान या अपान प्राण अपने जन्मदाता पूर्वार्द्धीय अन्यं या अमृत प्राण को नहीं जान पाता (यही सबसे बड़ा दुःख है)। यही बात इससे प्रथम मंत्र ३७ में बतलाई भी जा चुकी है।

विशेष—जो व्यक्ति प्राणोदानौ या प्राणपानौ की इस महत्वपूर्ण स्थिति या इन विशेषताओं को नहीं जानता, उसे वैदिक रहस्यों से बहुत दूर समझना चाहिए। योगी को सबसे पहले इन्हीं का आनुभूतिक ज्ञान करना आवश्यक होता है, तब वह योग की अन्य सीढ़ियों में क्रम से चढ़ सकता है। इसी कारण यहां इनका विवेचन देना आवश्यक समझा गया है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमान् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥३६॥

विशेष—इस मंत्र में 'पृच्छामि त्वा वाचः परमं व्योम' (मंत्र ३४) के उत्तर रूप 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' सूत्र रूप मंत्र (३५) का भाष्य दिया जा रहा है। यह वाक् उभया गायत्री विद्या (गायत्री शाक्वरी – ऋग्यजू रूपा) है। इसे अक्षरब्रह्माणी कहते हैं। वेदो में जिसे ब्रह्मविद्या कहते हैं उसका मूल आधार तत्वों को ऋग्यजुः साम या ऋग्यजुः या ऋक्साम नाम के भागों में बांटना हैं, इनमें ॐ का निवास है। इस विद्या को 'विद्या' या ब्रह्मविद्या या वेदविद् विद्या के नाम से पुकारा जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'—इस मंत्र में 'ऋचः' शब्द सृष्टि या दर्शन के दो भागों के विद्या और अविद्या परक ऋक् और यजु नामों का एकशेष द्वन्द्व है 'ऋक् च यजुः च तयोः समाहार ऋक् तस्य ऋचः' इसकी व्युत्पत्ति है। इसका विशद विवेचन 'अक्षर ब्रह्म' (पृष्ठ १०२ अध्याय ७) शीर्षक में वैदिक विश्व दर्शन में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है, उसे पढ़ लिया जावे। सृष्टि, अति-सृष्टि और दर्शन के दो भागों के ऐसे ही कई अन्य नाम हैं जिनमें से एक जोड़ा भूः और भुवः का भी है जिसका प्रमाण 'भूर्जज्ञ उत्तानपादो भुव आशा अजायन्त' (ऋ० वे० १०-७२-२) है। इन दोनों भागों के सूक्ष्म और तात्त्विक विभाजनों को 'अक्षर' नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार छन्दाक्षरों से तत्त्वों का संकेत किया जाता है उसी प्रकार इन ऋक् यजु नामक भागों के अक्षरों से तत्त्वों का विवेचन दिया जाता है। इन्हीं अक्षरों की व्याख्या के आधार पर संवत्सर ब्रह्म को 'अक्षर ब्रह्म' नाम से पुकारा जाता है। अक्षर शब्द में भी एकशेष द्वन्द्व है। पूर्वार्द्ध के अक्षरों को अक्षर (अमृत अक्षिति) कहा जाता है और उत्तरार्द्ध के अक्षरों की 'क्षर' या क्षरण या विकास वाले मर्त्यधर्मा, जिन्हें गीता 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' कहती है। इन दोनों के अक्षरों को यहां 'अक्षर' या उपनिषदों के 'द्वे अक्षरे' कहा है। अतः स्पष्ट है कि 'अक्षरे' शब्द उपनिषदों के प्रमाण से यहां पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के अक्षरक्षरों के एक शेष द्वन्द्व अक्षर शब्द का द्विवचन और 'द्वे अक्षरे' अर्थ वाला है।

अक्षरों की गिनती कई प्रकार से की जाती है, दिनों और रातों (३६० + ३६० = ७२०) मासों ऋतुओं अयनों पक्षों से तथा इनके सूक्ष्म भेद—मूहूर्त, क्षिप्र, एतर्हि, इदानि, प्राण, अना, निमेष, लोमगर्ता स्वेदायन और स्तोका से जो ३२८०५०००० होते हैं (श० प० ब्रा० १२-३-२-५ से ८ तक)। प्रथम दिनादिकों के मूहूर्तों की संख्या १५ × ३६० = १०८० दी है (श० प० ब्रा० १०-४-२-१८ से २० तक)। ऋक् और यजु नामक उक्त 'ऋचों अक्षरे' की

संख्या भी श० प० ब्रा० (१०-४-२-२१ से २५ तक) में इस प्रकार दी है। ऋक्—में बृहती १२०० × ३६ = ४३२००० , पंक्ति १०८०० × ४० = ४३२००० । इनके ३०, ३० के व्यूह बनाये गये । इतनी ही संख्या यजुः भाग में किए गये । कुल मिलाकर ८६४००० अक्षर हुए । इन्हीं अक्षरों का दूसरे प्रकार का परिपूर्ण विवेचन आगे की ऋचा ४१ में (१ + २) = ३ × ४ × ८ × ९ × १००० × १००० = ८६४०००००० अक्षर दोनों भागों के या 'ऋचो अक्षरे' के अर्द्ध अहोरात्रों के बताये गये हैं। यह अक्षर ब्रह्म पूर्ण अहोरात्रों में ४३२०००००० अक्षरों का है जिसके 'ऋचो अक्षरे '८६४०००००० संख्या के हैं।

'परमे व्योमन्' नाम में परम शब्द संकेत करता है कि इसका स्थान उत्तरार्द्ध की प्रथम रेखा है। व्योमन् नाम इसी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के सम्मिलन विन्दु के 'आकाश या अन्तरिक्ष या 'गर्भ या नाभि या योनि या सेतु या गर्त या अयः स्थूण या विषुवान्' नामक स्थान का है। इसकी व्याख्या श० ग० ब्रा० (८-६-२-१९) ने दे रखी है जिसमें लिखा कि 'अर्क ही देवताओं का परमे व्योमन् है। यह अर्क पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत से निसृत सोम रूप अमृत भौतिकात्मीय अर्क है जिसमें पूर्वार्द्धीय अमृत रूप अजायमान अज या प्रजापति, 'तत्सृत्वा तदनुप्राविशत्' के अनुसार प्रविष्ट होता है। इन दोनों के सम्मिलन को 'उत्तमः पुरुषः' या पुरुषोत्तम कहते हैं। इसी का नाम उत्तमा चिति भी है। इसी उत्तमा चिति में यह अर्क या त्रिपादामृतीय अग्निर्विद्वान् नामक प्रजापति या अजायमान अज निवास करता है। अग्नि से निश्च्योतित होने से अर्क भी अग्नि ही कहलाता है, ओर अग्नि तथा अर्क का सम्मिलन सोम या चन्द्रमा या सविता या प्रसविता कहलाता है (श० प० ब्रा० १०-४-२ २७)। 'व्योमन्' शब्द की भी एक रहस्यमय व्युत्पत्ति है—'वि + ओमन् = व्योमन्' जिसमें सुपर्ण सविता रूप ॐकार, अ + उ + म् नामक अक्षरब्रह्माणि त्रयी विद्या रूप में निवास करता है। अर्क या सविता या चन्द्रमा को इसीलिए 'सोम' या ॐ से सहित 'ओमा सहितः सोमः' कहते हैं। ऐ० ब्रा० ने इसी ओम् की व्याख्या दी है (ऋचो अक्षरे देखें), सोम ही ब्रह्मा है।

'यस्मिन्…निषेदुः'—इस अर्क रूप परमे व्योमान् के अर्क के गर्भस्थित अग्नि के नवीन रूप चन्द्रमा में अखिल देवताओं के दिव्य शरीर मौलिक बीज रूप में रहते हैं जिनका विकास सार्कजा प्राणों के साथ साथ एकाएक होता है। अतः लिखा है कि इस परमे व्योमन् में अखिल देवता निवास करते हैं। यहां पर इस परमे व्योमन् में देवताओं के निवास के माने, प्रत्येक देवता को

अपना अपना आध्यात्मिक प्राण शरीर रूप अङ्ग का प्राप्त हो जाना है जिससे यह अक्षर ब्रह्म, अक्षर अक्षर में या प्रत्येक अतितमसूक्ष्मतम शरीराङ्ग में प्रत्येक देवता से युक्त होकर इस अखिल ब्रह्माण्ड को भौतिकात्मीय सृष्टि की जयन्ती सी मनाने के लिए देवतारूप दीपकों या बल्बों से जगमगाता ईश ईशान या ईश्वर सा बना देता है। यह स्वरूप गीता में भी इस प्रकार वर्णित किया हुआ मिलता है :—दिवि सूर्यं सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्तस्य महात्मनः ॥" (११)

'यस्तन्न···करिष्यति'—अग्निर्विद्वान् पाकः प्रजापति से कहता है कि भला जो व्यक्ति पूर्वोक्त और 'अक्षर ब्रह्म' शीर्षक (वैदिक विश्व दर्शन पृ० १०२) में दिए गये इस अक्षर ब्रह्म के इन अक्षर रूप नाना प्रकार के विभाजनों को नहीं जानता वह वेदों की ऋचाओं को भले ही कण्ठस्थ कर उनकी रुद्राक्ष की माला सी पहिना करे उससे वह क्या लाभ उठा सकता है ? वह तो यास्क के उद्धृत मंत्र 'स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्' (१-१८) के अनुसार केवल एक सूखे पेड़ के ठूंठ के समान है, उसमें वेद मंत्रों के अर्थ रूप चेतना या ज्ञान का नितान्त अभाव है, वह तो इस वैदिक मंत्र मंडली का बोझा सा ढोने वाला नितरां पशु रूप है। और जो लोग ऐसे जनों को वैदिक कहने या समझने की धृष्टता या अनभिज्ञता करते हैं वे भी इन्हीं की कोटि के स्थाणु और अज्ञान के भारवाही ही हैं, इसमें कभी भी दो मत नहीं हो सकेंगे।

'य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'—हां, जो व्यक्ति अक्षर ब्रह्म के उक्त नाना प्रकार के विभाजनों का स्पष्ट और अभिमत ज्ञान रखता है, वे सचमुच में इस वैदिक मण्डली में बैठने के योग्य व्यक्ति हैं, या जो इन विषयों के ज्ञाता हैं वे ही अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवताओं के रूप में सर्वत्र आदर सम्मान के पात्र समझे जाते हैं। इसका भाव यास्क के उस मंत्र के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार दिया है :—'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा' कि जो व्यक्ति वेदों के उक्त प्रकार के रहस्यमय अर्थ को जानता है उसे सभी मंगलमय सिद्धि प्राप्त होती है और अपने ज्ञान से पापात्मा विचारों को धो पोछ कर नाक या उसी परमे व्योमन् स्थान को प्राप्त होता है जिसके ज्ञान को यहां इतना महत्व दिया जा रहा है। भला जो उस 'नाक' या 'परमे व्योमन्' तत्व को जानता तक नहीं उसे वह मिल भी कैसे सकता है, यह तो सीधी सी बात है।

यह ध्यान रहे कि इस 'परमे व्योमन्' के अक्षर ब्रह्म के ज्ञान पर इतना बल इसलिए दिया जा रहा है कि योगी के योग की पराकाष्ठा इसी अक्षर ब्रह्म की

अनुभूति है, जिस तक पहुँचने के लिए योगी को उसके प्रत्येक अक्षर की सीढ़ियों में क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़कर जाना पड़ता है। जो इन सीढ़ियों ही को नहीं जानता, वह योग ही कैसे करेगा, जायगा किस मार्ग से ? अतः वेदों के रहस्य को खोलने जानने आदि के लिए अक्षर ब्रह्म के इन अक्षरों का जानना नितान्त अनिवार्य है। यही वैदिकों की वास्तविक ब्रह्मविद्या है। इसीसे ॐकार या प्रणव का ज्ञान या ध्यान प्राप्त हो सकता है। इसी सरणि का नाम वेद भी है, इसके ज्ञाता वेदविद् ब्रह्मविद् या अक्षरब्रह्मविद् कहलाते हैं। अतः जो इस विषय को नहीं जानता उसे वेदों को छूना ही नहीं चाहिए।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिव शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ ४० ॥

यह छान्दसी अदितिरूपा गौ है जिसे 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' कहा गया है। अभी उसी 'ब्रह्मास्यं वाचः परमं व्योम' की व्याख्या चल रही है अथवा पिछले मंत्र में वर्णित ब्रह्मविद्या, वेदविद्या या अक्षरब्रह्मविद्या की वैदिकों या वेदों की भरपूर भावना की विद्या नामक अभूतपूर्व तत्त्व का विवेचन दिया जा रहा है। यहां पर इस विद्या को अघ्न्या गौ रूप में वर्णित किया जा रहा है। यह ब्रह्मविद्या रूप गौ गायत्री विद्या है जिसका विवेचन पिछले मंत्र ६, ७, २७, २८ में छन्दोमयी धेनु के रूप में किया जा चुका है। यहां पर उसी को ऋग्यजुः शरीरिणी अक्षर ब्रह्माणी धेनु (ऋचो अक्षर वाली धेनु) के रूप में या उसी विषय को अखिल ब्रह्माण्ड के दो भागों को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र भौतिकात्मा, क्षेत्रज्ञ क्षेत्रचरी धेनु) के रूप में, या गायत्री और सोम रूप में, वैज्ञानिक रूप में वर्णित किया जा रहा है। अर्थात् त्रिपादामृत रूप गायत्री नाम्नी विद्या ही अघ्न्या गौ है, उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मीय औषधियां उसकी चरने को घास है और उन ओषधि रूप भौतिकात्मीय तत्त्वों का सिञ्चन करने वाला तत्त्व गायत्री विद्या रूप अघ्न्या धेनु का लाया सोम रूप अमृत या आपः नामक तत्त्व है। इस आशय को यह ऋचा निम्न ढंग से दे रही है।

इस मंत्र में 'सूयवसात्' भगवती, भगवन्तः, तृण, विश्वदानीं, शुद्धमुदकं, शब्द पारिभाषिक हैं।

'सूयवसाद् भगवती हि भूया'—वैदिक विश्व दर्शन के दो मुख्य भागों को 'सोम सर्वदिवता' पक्ष में 'व्रीहि यवौ' नाम से भी पुकारा जाता है। व्रीहि नाम पूर्वार्द्ध या त्रिपादामृत का है और यव नाम सोम या उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा का है (श. प. ब्रा. १-२-१-७) और श. प. ब्रा. (२-४ ३-१,८) ने यव तत्त्व को वरुण के यव और वरुण के प्रघास

(वरुण प्रघासाः) नाम से पुकारा है। श. प. ब्रा. (५-४-७-९) ने 'व्रीहि-यवौ' का सम्बन्ध साक्षात् त्रयी विद्या या अक्षरब्रह्म विद्या से इस प्रकार जोड़ा है। "तदुभयेषां व्रीहियवाणां गृह्णाति' व्रीहिमयमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद्यजुषां रूपमथ यवमयं तदृचां ᳪ रूपमथ व्रीहिमयं तत्साम्ना ᳪ रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते।।" सोम का नाम यव है 'सोम शीर्षक' में देखें (वै. वि. द.)। अतः 'सूयवसाद्' के माने सु (=प्राणमय) +यवस (=सोम) ओषधि (घास) से युक्त होने के कारण, होता है। भगवती = भग (विभाग) +वती (युक्ता) =समष्टि से व्यष्टि में 'अविभक्तं विभक्तेषु' रूप में रहने वाली है; क्योंकि भग नाम विभक्तकारी व्यष्टि सृष्टिकारी का है 'भगो विभक्ता' (ऋ. वे.)। 'भगः' देवता शीर्षक देखें। इस प्रकार यह त्रिपादामृत युक्त अक्षरब्रह्माणी गायत्री रूपिणी धेनु अपने देवतामय आत्माओं को उत्तरार्द्धीय सोमीय ओषधि या यव रूप घास की व्यष्टि सृष्टि रूप भागों के प्राणों या भाग्यों या धनों से युक्त बनकर भगवती या भाग्यवती या सौभाग्यवती बने (भूया)।

'अथो वयं भगवन्तः स्याम'—जिस प्रकार वह अक्षर ब्रह्माणी गायत्री धेनु उक्त प्रकार से अपने देवतामय आत्माओं को व्यष्टि सृष्टि के भागों या प्राणों के शरीरों से युक्त बनकर स्वयं भाग्यवती बनी उसी प्रकार हमारे ये व्यष्टि सृष्टिमय वैयक्तिक ब्रह्माण्ड के भागमय प्राण अक्षर ब्राह्मणी की विद्या रूप या त्रयी विद्या रूप विभिन्न ज्ञान ज्योति रूप देवताओं के भागों या भाग्यों से युक्त होवें, या हम भी भाग्यवान् बनें। हम जैसे लोगों का इस प्रकार का भाग्यवान् बनना योग प्रक्रिया की अपेक्षा रखता है। यह त्रयी विद्या या ॐ या प्रणाव विद्या का योग है जिसका विवेचन कठ उपनिषदादिकों ने इस प्रकार दिया है 'शरीरमरार्णि कृत्वा प्रणावं चोत्तरारणिम्। ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्।।" इसी आशय को गर्भ में रखकर इस वाक्य को उच्चारित किया गया है।

'अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं'—स्पष्ट है कि यहां पर 'तृण' शब्द 'सूयवसात्' शब्द के प्राणमय यवों या सोमीय प्राणों का प्रतिनिधि है। इसको दूसरे ढंग से सोमपान कहा जाता है। गाय के रूप में उसी सोम को सोमोषधि रूप या यवतृण रूप घास रूप में खाना कहा जा रहा है, सोम रस रूप है तो पिया जाता है, यव तृण या घास ('वरुणस्य घासान् जक्षुः' ऊपर देखें) है अतः उन्हें खाने का महावरा प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार के वर्णन की शैली उन दिनों सभी को सामान्यतः विदित थी। अतः उसी का यहाँ भोले रूप में प्रयोग किया गया है। अघ्न्या नाम अहन्तव्य अर्थ का है, वह ऐसे शरीर

वाली है जिसको कोई मार नहीं सकता अर्थात् वह अमृतमयी अहिंसिता अहिंसिका, अमर्त्या, अमृता है। 'विश्वदानीं' शब्द 'तृण' (यव, सोम) का विशेषण है। क्योंकि यह यव या तृण सोम रूप में इस अखिल भौतिकात्मीय ब्रह्माण्ड का दाता या खण्ड खण्डशः विकास कर्ता या विश्वरूप या अनन्त रूप रूपान्तरों में प्रतिरूपता पाता है। अतः कहा है अहिंसिके अमृते अक्षरब्रह्माणि ! तुम उन यवमय सोममय प्राणमय भौतिकात्मीय ओषधियों को खाओ जो इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड को अनन्त रूप रूपान्तरों में परिणत करने में समर्थ है।"

'पिब शुद्ध मुदक माचरन्ती'—खाने के पश्चात् पीना एक स्वाभाविक नियम है। साथ में खाने की शक्ति वाला तत्त्व प्राण भी आवश्यक है। अतः इस रूपक को पूरा करने के लिए यहाँ पर उस अमृत धेनु से सोमीय यव (घास) खाने के पश्चात् शुद्ध उदक पीने की प्रार्थना की गई है। इस शुद्ध उदक की खोज की जाती है, सभी जगहों का पानी नहीं पिया जाता। अतः उस धेनु से कहा जा रहा है कि उस शुद्ध उदक की खोज में 'आचरन्ती' या खोज (योग) में विचरण करती हुई उसे पा जाने पर पी लो। यह शुद्ध उदक प्राणों का शरीर है, इसके पीने से प्राणों की प्राप्ति निश्चित है। जब यह प्राण शरीर आपः को पी लेगी तभी वह खा भी सकती है, पचा भी सकती है। उसके बिना सब असंभव है।

मंत्र का शाब्दिक सामान्य अर्थ प्राप्त कर लेने पर भी अभी तक इसके पूर्ण रहस्य का उद्‌घाटन नहीं हो सका है। इस मंत्र का मुख्य रहस्य इस धेनु, भाग्य, यव, तृणादन, उदकपान' का रहस्य—क्या है ? यह अभी व्यक्त नहीं हो सका है। वह इस प्रकार है :—

यह सृष्टि मूल में एक मौलिक त्रिवृत् से चलती है। इस मौलिक त्रिवत् के तत्त्वों का नाम 'वाक् अदिति और आपः' है। तीनों का अर्थ भी वाक् है, तत्त्व भी वाक् है। ये वाक् के विभिन्न रूप हैं। अतः वाक् का ही त्रिवृत् है। वाक् की आत्मा अग्नि है, अदिति का शरीर अन्न, या मनः है, और आपः की आत्मा प्राण है। अतः इन्हें दूसरे ढंग से वाक्मनः प्राणः' भी कहते हैं। यह अक्षर ब्रह्माण्डी वाक् (ॐ त्रिवृत्) रूपिणी अन्नाद स्वभाविनी अग्नि स्वरूपिणी त्रिपादा-मृतीया है। उत्तरार्द्ध में आकर यह पहले अदितिमय अन्नमय (मनोमय) सोमीय यव रूप भौतिकात्मीय अमृत का यव घास रूप में पान या खान या पान करती है। इन दो को प्राणता प्रदान करने के लिए वह आपः का पान करके उसमें प्राण फूकती है। ये आपः सोमीय ही हैं। वाक् से प्रथम आपः ही उत्पन्न होते

हैं, आपः से ओषधि या यव रूप। पर यव रूप उत्पत्ति तब होती है जब आपः में पूति रूपता आती है। पूतिरूपता माने दुर्गन्धवती या गन्धवती ओषधि है। दर्भ या प्राणों के रूप वाली आपः में निर्गन्ध प्राणमयी आपः हैं। अतः शरीर पुष्टि के निमित्त यवमय घास रूप ओषधि या अमृत या सोमपान के पश्चात् उसमें प्राण फूंकने या गला साफ करने के लिए और उसे पचाने के लिए उन यवों के जन्मदाता शुद्ध उदक रूप आपः तत्त्वों के पान का रूपक दिया गया है। सृष्टि के इस क्रम का विवेचन श. प. ब्रा. (१-१-३-३) ने आदि में ही इस प्रकार दिया है :—

"वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे ता उपर्युपर्यति पुप्रुविरे त इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामप-हन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति ॥"

"जब पूर्वार्द्धीय अमृत से भौतिकात्मा का आविर्भाव प्रथम वार हुआ तो उसने सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध को आवृत या आच्छादित कर दिया, उससे अन्धकार छा गया। इसीलिए उसे वृत्र नाम से पुकारते हैं। उसको इन्द्र ने मारा या छिन्न-भिन्न किया, उससे दुर्गन्धिमय आपः की धारायें फूट निकलीं जिससे महान् समुद्र सा बन गया। ये आपः गन्दगी से युक्त हो गये। उसी में दर्भ (या श. प. ब्रा. की व्युत्पत्ति के अनुसार दृभन्ति उद्भवन्तीति दर्भाः) या यव रूप वरुण के कुश (नामक घास उत्पन्न हुए जैसे "वृत्राद्बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन्" ता है ता शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भाः" (श. प. ब्रा. ७–२–१–२)। इनमें अनापूयित या सुगन्धिमय आपः है। अतः इनके पवित्र से पूत किया जाता है। 'पूत जलों के माने अमृतमय प्राणों का शरीर रूप आपः है। यव में जो सुगन्धिमय आप हैं वे मर्त्य या अदनयोग्य, भोज्य या योग्य आपः हैं। या यों कहिए जब दुर्गन्धिमय आपोमय यवों के मर्त्य शरीरों के कोश में सुगन्धिमय आपः प्राण रहें तभी मर्त्ययवादि प्राणता पाते हैं। इसका विवेचन छा. उप. (१–२) ने सूक्ष्म रूप में देते हुए लिखा है कि सुरभि प्राण तो दैवी प्राण हैं और दुर्गन्धिमय प्राण आसुरी हैं। प्रथम त्रिपादामृतीय है द्वितीय सोमीय आसुरीय वार्त्रीय। "तेह नासिक्यं प्राण मुद्गीथमुपासांञ्चक्रिरे तौं हासुरा पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च ह्येष विद्धः ॥" इन सुगन्धिमय या शुद्ध उदकों या आपः की खोज (योग प्रक्रिया) करनी पड़ती है। आचरन्ती शुद्ध इसका संकेतक है। यह

आचरण करने वाली वही वाक् है जो अग्नि आत्मा वाली अक्षरब्रह्माणी विद्या स्वरूपिणी इस यवमय शरीरवाली या कोश में विद्यमान है। उसी को अपने को उद्दीप्त करके, उस दुर्गन्धिमय शरीर को मथ कर उससे सुगन्धिमय आपः का साक्षात्कार प्राणरूप दर्भ के अङ्कुरों को ऊपर जागृत करके तदनन्तर चन्द्रभा रूप सोम की या मनोब्रह्माण्ड की ज्योति जगानी पड़ती है। इस मनोब्रह्माण्ड में उसी की मौलिक विद्यामयी ॐकारीय आदित्य की ज्योति प्रतिबिम्बित हैं। इस विद्यारूपिणी ज्योति का केवल प्रतिबिम्ब मात्र अनुभूत किया जा सकता है। कोई उसी को देखना चाहे तो उसे इस दुर्गन्धिमय शरीर को छोड़ना ही पड़ता है। यही भाव गीता के 'ॐमित्यै काक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। य यातित्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥' (८. २१) श्लोक का है।

कर्मकाण्ड में इस अघ्न्या गौ का अभिनय यज्ञ में प्रयोग किए जाने वाले दूध दही घी के लिए प्रपूजित एक सुनिश्चित आमान्त्रित गौ के रूप में यज्ञ दिन से कई दिन पहले ही कर लिया जाता है।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नव पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्। ४१ ॥

इस मन्त्र का विस्तृत विवेचन तो वैदिक विश्व दर्शन के 'ऋचो अक्षरे' शीर्षक पृष्ठ १०२ में पूरा दे दिया गया है। यहां अभी तक 'ऋचो अक्षरे' मन्त्रवाली वाक् ॐकारीय धेनु का ही विवेचन दिया जा रहा था। अब इस मंत्र में इसका वर्णन गौरी या सोम नामक प्राणरूप महिष की पत्नी 'महषी' के रूप में दी जा रही है। यह जलहस्तिनी रूप महिषी है। आपः इसका शरीर है, महिषी (जलहस्तिनी) इसके प्राण; इसके प्राणों की ज्योति अग्नि रूप सोम या दिव्य शरीर है। "प्राणावै महिषाः" (श. प. ब्र. ६-५-४-५; यजुः १२-२०;) 'अग्निर्वै महिषः' (श. प. ब्रा. ७-२-३-१३; यजुः १२-१०५)। "महत्तत्सोमो महिषः' (ऋ. वे. ९-९७-४१) 'समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति' (ऋ. वे. ९-९६-१९)। अतः महिष माने जो मही या उत्तरार्द्ध में रहता है 'महीषु सदतीति महिषः, तस्य पत्नी वा वाग्वा शरीरं वा महिषी'। महिषी वह गौरी है जो सोम की अमृतमय शरीरी सहस्राक्षरा वाक् है।

यह गौरी सोम का शरीर रूप वाक् है जिसे उक्त रूप से महिषी भी कहते हैं। सोम सर्वा देवता है (श. प ब्रा. १-५-२-२१); क्योंकि इसे सभी देवता पाते हैं। इसका विकास आठों रूप आठों पदों में क्रमशः एक एक पद में होता है। इसके चार पद पूर्वार्द्ध में आते हैं चार पद उत्तरार्द्ध में,

जिनके नाम ये हैं (क) "शुचिषद् , अन्तरिक्षषद् , वेदिषद् दुरोणषद् ॥२॥ नृषद् , वरषद् ऋतषद् व्योमषद् ॥" इन दो भागों के मध्य में गर्त स्थूण, सेतुः का एक सर्वोच्च अद्भुत नवम पद है। सोम की सृष्टि प्राणमयी सृष्टि है। जिनका शरीर 'आपः' है। इनके विकासीय उक्त नव पदों को पञ्चसागर सप्तसागर या नवसागर कहते हैं। मध्यवर्ती का नाम 'समुद्रं तुरीयं धाम' उक्त उद्‌भूत ऋचा (ऋ वे. ९-९६-१९) में स्पष्टतया कहा है। इन्हीं समुद्रों का विवेचन अगली ऋचा ४२ में 'तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति' 'वाक्य द्वारा स्वय दे रखा है। अतः यह दिया हुआ विवेचन अपने आप संशयहीन परम प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। इसमें तो स्पष्ट कहा है कि ये समुद्र क्रमशः 'अधिविक्षरन्ति' या क्रमशः विकास पाते हैं, अतः लिखा है :—

'गौरीमिंयाय सलिलानि तक्षति'—यह आपोमयी शुक्लवर्णा सोमशरीरिणी गौरी महिषी नामधेया वाक् अपने सलिल रूप आपो रूप शरीरों को क्रमशः नौ भागों में शब्दायमान वाक् ब्रह्माणी रूप में नापती है नाप नाप कर बराबर बराबर पद रूप भागों में सलिल रूप नव सागर रूप नव नव नौ शरीरों को निर्मित या क्रमशः विकसित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह गौरी अपने विकास क्रमों में विकास पाते समम विभिन्न वाक् रूपों में-पूर्वार्द्ध में तूष्णीम् , अ + उ + म् + रूप में, मध्य में ॐ रूप में, उत्तरार्द्ध में अन्तःस्थ, ऊष्माण, पञ्चजना रूप पञ्च वर्गों की ध्वनियों और अन्त में इन सब के समाहार रूप अखण्ड ब्रह्म 'प्रणव' रूप प्रकर्षरूप नव पदों की वाक् के समाहार रूप में (क्रमशः विभिन्न ध्वनियों में शब्दायमान होती हुई) या प्रणव या नव पदी वाक् रूप में प्रस्तुत होती है। योग प्रक्रिया में योग की साधना प्रणव के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होती है। यह चरण विवर्त नामक (अहंकार उपनामक) वैदिक दर्शन का अन्तिम तत्त्व है। जैसे 'विवर्तोऽष्टाचत्वारिंशद्' (श० प० ८-४-१-२५)। यही विवर्त नामक शरीर उपनामक ४८ वां तत्त्व योग प्रक्रिया करने वालों की अधरारणि है 'शरीरमरणिं कृत्वा' और प्रणव उत्तरा अरणि, 'प्रणवं चोत्तरारणिम्'। इन दोनों को मथ कर मध्यवर्ती ॐकारीय वाक् की अनुभूति की जाती है। यही योग की पराकाष्ठा है, तूष्णीम् अ + उ + म् के पदों की पृथक् पृथक् अनुभूति चाहने वाले को इस शरीर ही से पृथक् होना पड़ता है, शरीर छोड़ना पड़ता है जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

यहां पर प्रणाव और ॐकार की स्थितियों का भेद जान लेना आवश्यक है। लोग इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय समझते हैं, पर 'ॐकार' त्रिपदी मात्र है और 'प्रणव' 'नवपदी' या अखिलब्रह्माण्ड का एक मौलिक स्वरूप है।

'एकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी' 'अष्टापदी'—यह गौरी वाक् रूपिणी है। प्रथम सदः में एकपदी या एक कोशमयी होती है, द्वितीय सप्तक में द्विपदी या दो कोशमयी। एकपदी में केवल मौलिक आकाशमयी विद्युच्छरी-रिणी प्रकाशमयी अन्तर्बाहिः प्रवाह मयी होती है। द्वितीय पद में इसका सुषुप्त सा प्रवाह मौलिक वायवीय प्राणरूपतामय हो जाता है। और 'सा' माने= एकपदी + द्विपदी = त्रिपदी है। इस त्रिपदी में यह वायवीय प्रवाह के संघर्ष से वैद्युतीय तेजोमयता में परिणत हो जाती है। ये तीनों पद इस सृष्टि के तीन अमृत हैं या त्रिपादामृत हैं, इनके देवता अग्नि वायु आदित्य हैं। ये पद तो मात्र आध्यात्मिक शरीर है, देवता इनकी आत्मायें हैं।

जब यह त्रिपदी के २३ वें के उत्तरार्द्ध में या २३ वें दक्रतू या मित्रा-वरुणों के ऋतु या वरुण भाग में ऋममय आवरणशील दैवी भौतिकात्मा के चक्षु या अङ्कुररूप में नवीन तत्त्व रूप में प्रस्तुत होती है तब यह चतुष्पदी बन जाती है। अब इसको एक नवीन अद्‌भुत कोश मिल जाता है। इस चतुष्पदी को वैदिक ऋषियों ने माता और वत्स दो चतुष्पदी गौओं के रूप में देखने की एक अपनी नई शैली बना रखी थी। इनका विवेचन पहले मंत्र ८, ९, १०, २६, २७ और २८, २९, ३०, ३३ तथा ४० में नाना रूपों और ढंगों से कर भी दिया है। उन्हें एक गिद्धदृष्टि से पुनः देख लिया जाय जिससे पूरा विश्वास हो जावेगा। इस परिस्थिति में यह गौरी वाक् अब द्विधा चतुष्पदी हो गई; माता रूप या पूर्वार्द्धीया, और वत्स रूप उत्तरार्द्धीया। पूर्वार्द्धीया के चार पद-ब्रह्म अग्नि वायु आदित्य; शुचिषद् अन्तरिक्षषद् वेदिषद् और दुरोणषद् हैं। उत्तरार्द्धीय वत्स के चार पद या पाद—वाक्, प्राण, चक्षुः और श्रोत्रं हैं, इनके देवता भी वही हैं जो इसकी माता के थे, अर्थाद् क्रम से अग्नि वायु आदित्य और दिशायें। इन्हीं का विवेचन छा. उप. (३-१८) ने अध्यात्म और अधिदैवत रूप में इस प्रकार से दे भी रखा है "मनो ब्रह्मेत्युपासीताध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाऽधिदैवतं च; तदेतच्चतुष्पाद्‌ब्रह्म, वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्म मथाधिदैवतमग्निः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवा दिष्टं भवति ॥ इत्यादि ॥"

इस प्रकार अब यह गौरी वाक् धेनु यहां पर दो रूपों में माता और वत्स रूपों में चार चार पदों से युक्त हो गई है। यहां पर माता और बत्स का रूपक तो अध्यात्म और अधिदैवत नामक दो तत्त्वों का है। पर दोनों एक दूसरे से भिन्न-भिन्न शरीरी नहीं हैं। माता तो आत्मा है

या देवता है और वत्स शरीर है अध्यात्म है। चार देवता हैं, और चार अध्यात्म शरीर हैं। प्रत्येक देवता से एक एक अध्यात्म शरीर की उत्पत्ति हो गई है। 'त्रिस्रोमातृस्त्रीन् पितृन्बिभ्रत्' (मंत्र १०) में तो पूर्वार्द्ध में ही छह पदों की उत्पत्ति बताई जा चुकी है। उत्तरार्द्ध में मनः और आकाश नामक दो तत्त्व और उत्पन्न हो गये हैं। क्योंकि ये सब एक ही शरीर में हैं, अपने-अध्यात्म शरीरों में बसे है, अतः छा. उप. उक्त उद्धरण के आगे, इनमें से प्रत्येक को ब्रह्म का चतुर्थ पाद कहकर इन पादों की संख्या पूरी आठ कर देता है जैसे :—

वागेव ब्रह्मण चतुर्थः पादः सोऽग्निना···प्राण एव ब्राह्मण श्चतुर्थः पादः स वायुना···चक्षुरेव ब्रह्मण श्चतुर्थः पादः स आदित्येन···श्रोत्रमेव ब्रह्मण श्चतुर्थः पाद. स दिग्भिर्ज्योतिसा भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥" (३-१८)। इस प्रकार पूर्वार्द्ध के चार देवता (स्त्रीलिङ्ग होने से माता रूप में वर्णित) और उत्तरार्द्ध के चार अध्यात्म रूप शरीर दोनों ही क्रमशः विकास पाने वाले पद हैं। पद माने पद्यते विकसतीति पदं या निष्पाद्यते विकसतीति पादः है। इन्हीं आठ पदों को गौरी के अष्ट पद कहते हैं और इन्हीं अष्ट पदों के कारण इस गौरी का नाम यहां पर अष्टापदी पड़ जाता है। इन अष्टपदों के नाम—अग्नि, वायु, आदित्य, दिशः + वाक् प्राणः चक्षु श्रोत्रम्—हैं। इसी को ऋग्वेद (८-७६-१२) भी 'वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्तिमृतस्पृशम्' कहता है। शेष 'वैदिक विश्वदर्शन' के 'अष्ट चक्र वाद' (पृष्ठ ३६–४२) में देखें।

'नव पदी बभूवुषी'—उक्त अष्टपदों में एक बड़ी भारी कमी है। इनमें 'मनः' नामक प्राण नहीं है। उत्तरार्द्धीय वत्स तो मात्र मनोब्रह्माण्ड है। यह सोम रूप है। इसी लिए छान्दोग्य ने जब उक्त पदों या पादों का विवेचन दिया है तो इनका केन्द्रीय तत्त्व 'मनोब्रह्मेत्युपासीत' 'आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत' वचनों द्वारा मनः शरीरी आकाश या चन्द्रमा (प्रकाशमान आकाश रूप) को बनाया है। अध्यात्म शरीरों और उनके चार देवता रूप आत्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने वाला यही मानस अध्यात्म शरीरी चान्द्रमस प्रकाशमय देवता है या तन्तु है। इसको इस अष्टपदी में जोड़ देने से यह गौरी वाक् 'नवपदी' के रूप में प्रस्तुत हो जाती है (बभूवुषी)।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि 'क्यों इसी चतुर्थ पद में यह गौरी वाक् अष्टापदी भी और नवपदी भी हो गई? यहां पर इस स्थिति में इन सब का विकास केवल मौलिक बीज रूप में प्रस्तुत होता है। इनका पूर्ण विकास अन्तिम विवर्त नामक प्रणव तत्त्व में होगा। यहां से सृष्टि का नया दौर चल पड़ता

है, उससे विकसित होने वाले अगले सम्पूर्ण तत्त्वों के बीज इसमें मौलिक रूप से यशः रूप में या विश्वरूप बीज रूप में या अध्यात्म अधिदैवत रूप में प्रस्तुत हो जाते है। अतः मन्त्र के अन्तिम चरण में लिखा है —

'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'—यहां का 'परमे व्योमन्' और मंत्र 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' (३९) का 'परमे व्योमन्' तत्त्व या स्थान एक ही है जिसकी व्याख्या दी जा चुकी है। यह पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों के सम्मिलन बिन्दु गर्त अयःस्थूणा, विषुवान्, अन्तरिक्ष, आकाश, नाभि, योनि, या सेतु नाम का तत्त्व है। यही माता का गर्भ है और इसी में उत्तरार्द्ध की अनन्त रूपा भौतिकात्मीय वत्स रूप सृष्टि के विश्वरूप बीज अन्नत अक्षरों के मौलिक रूप में प्रस्तुत माने जाते हैं। देव रूप में इन दोनों के सम्मिलन को अक्षर या अक्षर ब्रह्म कहते हैं। दोनों को पृथक् पृथक् कहने में 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षर-श्चाक्षर एव च' (गीता १८) के अनुसार अक्षर और क्षर पुरुष कहते हैं, तथा सम्मिलित देवी रूप में या गौरी वाक् रूप में इसको 'सहस्राक्षरा वाक्' नाम से पुकारते हैं। इसी अक्षर ब्रह्म या सहस्राक्षरा वाक् (या अक्षर क्षर दो पुरुषों) के शासन में सभी देवता सभी प्रकार के तत्त्व रहते हैं। इसका विवेचन पहले मंत्र १८ में 'दैवं मनः कुतो अधिप्रजातम्' में तथा याज्ञ-वल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में बृहदारण्यक में विस्तारपूर्वक दे रखा है, बृह. उप. ३-६ और ३-८ देख लिये जायें। यहाँ तक कि इस भौतिक सृष्टि का आदि स्वरूप वैद्युतीयशरीरी आकाश तत्त्व भी या 'परमे व्योमन्' भी इसी 'अक्षर ब्रह्म' या 'सहस्रक्षरा वाक्' में ओतप्रोत है, इसी के शासन में रहता है, इससे उत्पन्न होने वालों की चर्चा ही व्यर्थ है, सब इसी के वश में हैं। यही अक्षर ब्रह्म 'ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म' है; व्योमन् माने भी वि (सुपर्णरूप) ओम् (अ + उ + म्) या एकाक्षर ब्रह्म ही है, सोम माने भी 'ओमा सहितः-ॐकार से युक्त होता है। इसमें दोनों तत्त्व सम्मिलित हैं।

'सहस्राक्षरा'—इस मंत्र में जहां पदों या पादों और अन्य विषयों का गूढ विवेचन भरा पड़ा है वहां इसी में इस अक्षर ब्रह्म या अक्षर ब्रह्मणी के जितने अक्षर वैदिक ऋषियों को अभीष्ट थे उनका भी रहस्य रूप में साथ साथ विवेचन दे दिया है। वह इस प्रकार है :—

एकपदी और द्विपदी मिलकर 'सा' या 'त्रिपदी' बनती हैं। यह चतुष्पदी में चौगुनी, अष्टापदी में आठ गुनी और नौ पदी में नौगुनी—उत्तरोत्तर गुणित होते हुए ३ × ४ × ८ × ९ = ८६४ हो जाते हैं, इन ८६४ में से प्रत्येक दस लाख गुना प्रगुणित होता है क्योंकि इस 'सहस्राक्षरा' शब्द में 'सहस्रा' 'अक्षरा'

दोनों पद द्विवचनान्त है, (जैसे मित्रावरुण, वरुण इत्यादि)। अतः सहस्र + सहस्र = सहस्रा या सहस्र × सहस्रा व्युत्पत्ति आवश्यक है। अतः उक्त ८६४ × १००० × १००० = ८६४०००००० अक्षर हो जाते हैं। यही संख्या 'युगं सहस्र पर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः' (मनु और गीता) के वाक्य से—चार युगों का जोड़ ४३२०००० × १००० = ४३२०००००० होती है; ४३२०००००० पूर्ण अहोरात्रीय अक्षर है; ८६४०००००० संख्या अहोरात्रों के जोड़ हैं; ४३२०००००० दिन + ४३२०००००० रात = ८६४०००००० अहोरात्र। 'ऋचो अक्षरे' की व्याख्या में श. प. ब्रा. ने इन संख्याओं को दूसरे ढंग से स्पष्ट किया है, मंत्र ३९ देखें। उस अक्षर ब्रह्म में इस संख्या के मौलिक बीज हैं, उसी को अक्षर ब्रह्माणी या गौरी धेनु या वाक् कहते हैं, उसमें भी इतने ही संख्या के अक्षर होते हैं। अतः उसे जब 'सहस्राक्षरा' वाक् या सहस्रबीजा वाक् कहते हैं तब सहस्र माने इन्हीं निश्चित संख्या के अक्षर वाली समझना चाहिए। 'गौरी र्मिमाय' में गौरी ने जिस रूप में ध्वनि की, या जिन्हें शब्द रूप में प्रकट किया वे ये ही अक्षर हैं। ये अक्षर बीजरूप ऋषि या प्राण हैं। अतः शौनकादि ऋषियों की संख्या ८८ हजार इसी संख्या की ओर संकेत करने के लिए बताई गई है। ८८ हजार नहीं वरन् उक्त संख्या के हैं इसमें त्रैष्टुभी शैली अपनाई गई है।

"तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुप जीवति ॥ ४२ ॥"

'तस्याः......चतस्रः"— इस मंत्र में इससे पहले के मंत्र ४१ की गौरी महिषी वा ब्रह्माणी या ॐ मित्येकाक्षर ब्रह्माणी का जिसमें उक्त ८६४०००००० अक्षर रूप अनन्त ब्रह्माण्डों के तथा उनके तत्त्वों के मौलिक बीज एकमेवाद्वितीयं बीज रूप में विद्यमान हैं, और जिसमें आठ या नौ कोश बन गये हैं—ही वर्णन दिया जा रहा है। लिखा है—उसी ॐमित्येकाक्षर ब्रह्माणी गौरी के उस उक्त स्वरूप से ही सप्त या पञ्च सागरों का विकास होता है। उन सागरों को 'इक्षुनीर धृतक्षीर दधिक्षारं मधूनि च' के बतलाया गया है। इस अक्षर ब्रह्माणी की इसी परिस्थिति या स्वरूप से चारों दिशायें जीवित रहती हैं। अर्थात् इसी से ससीम की या सीमावाले या सीमित की या मर्त्य भौतिकात्मा की जीवनी या सृष्टि होती है। वह अक्षर ब्रह्माणी तो स्वयं असीम अमृत, दैवी ज्योतिर्मयी, ज्ञान चेतनामयी है, उसी से चार दिशा वाला 'चतुष्पाद्ब्रह्म' भौतिकात्मा के चार पाद वाला—'वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रं' नाम के चार पाद या चार दिशाओं वाला चतुष्पाद्ब्रह्म अपने आध्यात्मिक अग्नि वायु आदित्य

दिशः के अधिष्ठाता देवताओं सहित प्रकट होता है। इसीलिए गीता ने लिखा भी है 'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्' कि ब्रह्म या यही चतुष्पाद्ब्रह्म या चार दिशाओं के पादों वाला ब्रह्म उत्पन्न होता है। चार दिशाओं की स्थिति का वर्णन, अगले मंत्र (४३) के चार प्रकार के वीरों के वर्णन में बताया जावेगा।

'ततः क्षरत्यक्षरं'—उक्त चार दिशाओं के चार पादों वाले उक्त चतुष्पाद्ब्रह्म की परिस्थिति से जो उक्त अक्षर ब्रह्माणी से विकसित हुआ है—वह अक्षरं (ब्रह्म) (या अक्षर ब्रह्माणी गौरी) अपने उक्त संख्या के अक्षरों या मौलिक बीजों में क्रमशः क्षरित या विकसित होता है। या इन अक्षरों को क्रमशः टपकाता है; या इन अक्षरों में क्रमशः रस रूप में टपकता है। जो या जितने अक्षर (८६४०००००००) उस अक्षर ब्रह्माणी में एक मौलिक बीज रूप में विद्यमान थे वे विवर्त नामक अणु (अहंकारावस्था) तक क्रमशः पूर्ण रूप में विकसित हो जाते हैं।

'तद्विश्वमुपजीवति'—उक्त परिस्थिति में जितने अक्षरों का विकास होता है, उसी संख्या के वर्षों की इस भौतिक ब्रह्माण्ड (विश्व) की आयु भी है। और यह भौतिक ब्रह्माण्ड उसीसे जीवित भी रह सकता है। वे कितने वर्ष हैं ? इसमें ८६४००००००० अक्षर तो अहोरात्रों के जोड़ों का समूह है, १२ घंटे के दिन १२ घंटे के रातों के अहोरात्रों का योग है। २४ घंटे के अहोरात्रों में इनकी संख्या ४३२००००००० वर्ष होती है। अतः इस ब्रह्माण्ड या पृथ्वी की आयु भी यही चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष है। आश्चर्य है कि सूर्यादि तारों की आयु भी आजकल के वैज्ञानिक विद्वान् इतनी ही मानते हैं। उनका कैसा अद्भुत गणित था यह ?

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ ४४ ॥

यह 'अयं सोमो वृष्णो अश्वस्यरेतः' उत्तर का विस्तार है—

इस ऋचा में वैदिक विश्व दर्शन के कई तत्वों को एक साथ गूथ दिया गया है। सबसे पहले ऋतुओं को लीजिए। ऋतुयें तो पांच छह या सात बताई गई हैं (संवत्सरब्रह्म देखें)। पर यहाँ पर इन ऋतुओं में से देवता सम्बन्धी मुख्य तीन ही प्रसिद्ध ऋतुओं को लिखा गया है जिन्हे 'देवानां पूर्वे युगे' के अनुसार देवताओं की तीन प्रथम प्रसिद्ध ऋतुयें मानी गई हैं। इनके विवेचन 'वसन्तोऽस्यासी दाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' (पू. सू.) में इन्हें वसन्त ग्रीष्म और शरद् नाम से पुकारा है। वसन्त अज एक पात् 'वृक्ष' का विकास रूप प्रथम ऋतु है। यह सृष्टि वृक्ष का प्रथम प्रसवमय प्रसूनमय प्राणामय अग्निमय ऋतु है।

दूसरी ऋतु ग्रीष्म है यह इध्म या इद्ध करने वाली दीप्त या प्रदीप्त करने वाली वायुप्रधान ऋतु है। तीसरी ऋतु हविरूप सोमरूप भौतिकात्मारूप सविता प्रसविता आदित्य रूप ऋतु है। इन्हीं तीन तत्त्वों अग्नि वायु आदित्य को यहां पर तीन ऋतु नामक तीन जटाधारी योगियों या यतियों के रूप में 'त्रयः केशिनः' के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि ये अग्नि वायु आदित्य नामक तत्त्व 'सोऽश्राम्यत्तपोऽतप्यत' की ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली से प्राण रूप में सदा श्रम और तपः से उत्तरोत्तर विकास पाते हैं, अतः इन्हें स्पष्ट रूप से यतिः या यतयः कहा है जैसे "केश्यग्निः केशी विषंकेशीर्विभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ १ ॥ मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ २ ॥" (ऋ. वे. १०-१३६-१,२)। इसमें इन केशियों को अग्नि (रुद्र) वायुः और आदित्य नाम से पुकारते हुए इन्हें 'मुनयः' और 'वात रशनाः' (वायु से प्राणित) पिशिङ्ग मटमैले वस्त्र (भौतिकात्मा) युक्त और वायु को ध्राजि या शक्ति से युक्त होकर गतिमान् बताया है। शेष 'त्रयः केशिनः' शीर्षक (वैदिक विश्व दर्शन) में देखें। इस सूक्त के अन्त में लिखा है कि केशी ने विष के पात्र से (शरीर से-भौतिक मर्त्यं शरीर से) रुद्र के साथ दैवी भौतिकात्मा सोम (शरत् ऋतु) का हवि रूप में पान किया। जैसे "केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेण पिबत्सह ॥" यहाँ पर इन तीन तत्त्वों को 'त्रयः केशिनः' या तीन जटाधारी कहा है। यह 'केशी' शब्द कपर्दी का प्रतिनिधि है, कपर्दी नाम ईश ईशान रुद्र ईश्वर और पूषा का है। 'कपर्द' के माने 'पाद' है। क्योंकि छन्दोमयी देवी का नाम चतुष्पदा या चतुष्पदी कहने के स्थान में 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (ऋ० वे० १०-१३१-४) कहा गया है। यहां पर तीन पाद हैं अग्नि, वायु और आदित्य। अतः इन्हें त्रिपदा या त्रिपात् कहने के स्थान में त्रिकपर्दा या 'त्रयः केशिनः' कहा है। केशिनः के माने केश स्थानीय या शिरः स्थानीय है, तीन पाद रूप तीन जटायें शिर में या पूर्वार्द्ध में रहती हैं, शिरः नाम पूर्वार्द्ध का है, ये जटायें पूर्वार्द्ध रूप शिर में पादों के समान लटकी हैं, प्रत्येक में मनोवाक् प्राण का त्रिवृत् है। अतः ये जटा या कपर्द नाम से पुकारे गये हैं। इनका आशय 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' या पूर्वार्द्धीय 'त्रिपादामृत' तत्त्व मात्र है। इस भूमिका से अब प्रस्तुत ऋचा का अर्थ स्वयं जलसम स्पष्ट होते हुए निम्न प्रकार से निखर कर आ जाता है :—

'त्रय···त्रि चक्षते'—अग्नि, वायु और आदित्य नामक तीन मुख्य देवता रूप तत्त्वों में से प्रत्येक मनो वाक् प्राण के त्रिवृत् से युक्त होने से जटा या कपर्द से युक्त या केशी या जटाधारी या कपर्दी के समान होते हुए सृष्टि चक्र के

पूर्वार्द्ध रूप शिर में छन्दोमय तीन पादों के समान तीन कपर्द या जटा से लटके हैं। ये तीनों 'त्रिपादामृत' हैं। ये तत्त्व रूप देवता अज एकपाद रूप सृष्टि वृक्ष को अपने (अग्नि वायु आदित्य के) प्रतिनिधि वसन्त ग्रीष्म शरद् ऋतुओं के क्रमिक छन्दोमय पादों में क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित करते हैं। अतः लिखा है कि ये देवता अपनी-अपनी ऋतु के क्रम से विकासमान रूप में अपना दर्शन देते हैं (ऋतुथा वि चक्षते)।

'संवत्सरे···एषाम्'—इन तीनों में से एक अर्थात् अग्निर्विद्वान् अपने मनोवाक्प्राण की त्रिजटा या कपर्द से युक्त कपर्दी बनकर उस अज एक पात् सृष्टि वृक्ष को संवत्सर ब्रह्म रूप में सबसे पहले बीज रूप में बोता है। यही इस अखिलकोटि ब्रह्माण्ड का मूलभूत बीज और अपने उस त्रिवृत् बीज का बीजारोपण सबसे पहले करता है। इसीलिए इसे 'अग्निर्हिनः प्रथमजा ऋतस्य' (१०-५-६) कहते हैं।

'विश्वमेको···शचीभिः'—इनमें से एक, अर्थात् सन्दर्भ से या वर्णनानुकूलता से, आदित्य नामक तत्त्व, अपनी देदीप्यमान ज्योतिष्मत्ता से या अपनी चक्षुः स्वरूपता की 'शचीभिः' या शक्तियों से—क्योंकि इसे 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' कहा जाता है—इस अखिल सृष्टि की द्रष्टा रूप में देखभाल (अभिचष्टे) करता है। यह भी मनोवाक्प्राण के त्रिवृत् का जटाधारी केशी कपर्दी या ईशान है। इसी को 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कहा जाता है। यह रूपवान् तत्त्व है, प्रकाशमय रूपवान् है, विश्व रूप है, प्रकाशमय दैवी भौतिकात्मा के रूप से अनन्त चक्षु रूप बीजों को अङ्कुरित करता है।

'ध्राजि···रूपम्'—इनमें से एक का-सन्दर्भ या वर्णनानुसार शेष वायु नामक केशी या मनोवाक्प्राण के त्रिवृत् की कपर्द या जटा वाले तत्त्व का केवल वेग या गति या प्रवाह या संचार (ध्राजि) अनुभूत मात्र किया जा सकता है, पर उस का कोई रूप देखने में नहीं आता। क्योंकि यह सृष्टि दो प्रकार की है 'द्वावेव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च।' (बृह० उप० २-३-१)। ये दो रूप (१) मूर्त, मर्त्य, स्थित और सत् तथा (२) अमूर्त अमृत, यत् और त्यत् हैं। इनमें से दूसरे दल के सबको अमूर्त अरूप या रूपहीन कहा जाता है जैसे 'अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च यच्च त्यच्च' (बृह० उप० ३-२-२)। यह वायु, रूप हीन अमूर्त है अमृत है यत् और त्यत् नाम से संकेतित मात्र किया जा सकता है। अतः इसे इन चर्म चक्षुओं या किसी प्रकार की आखों से नहीं देखा जा सकता। इसकी तो मात्र अनुभूति हो सकती है। यह तो सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ देव है। अग्नि में भी यही मुख्य प्राण रूप देव है। अतः लिखा है 'एको देवस्तु प्राणः स

ब्रह्म ।' (बृह० उप० ३-९) ' वायुमेव प्रशशंसः, वायुरेव व्यष्टिर्वायुरेव समष्टिः' (बृ० उप० ३-३)

> चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
> गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ४५ ॥

चत्वारि······मनुष्या वदन्ति—

इस मन्त्र में वाग्ब्रह्माणी के पदों का वर्णन है। वैदिक दर्शन के सात पद हैं जिनमें से प्रथम तीन पूर्वार्द्ध कहलाते हैं और अन्तिम तीन उत्तरार्द्ध। इन दोनों के मध्य का चतुर्थ पद पूरे दर्शन के तत्त्वों का केन्द्रबिन्दु कहलाता है। ये पद गायत्री प्रभृति छन्दों के पादों से भी नितान्त भिन्न हैं। उनका और इनका मेल तत्त्वों की विभिन्न संख्या के कारण नहीं हो सकता। और कई भोले लोग परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार प्रकार की वाणियों का भी उक्त चार पदों से तादात्म्य करते दिखाई देते हैं। ऐसे लोग भी बड़े भारी भ्रमसागर में हैं। उक्त चार वाणी के रूपों में से केवल परा वाणी चतुर्थ पद का संकेत करती है। शेष पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी नाम स्फोटवाद की वाणियों के नाम हैं। इनका उक्त चार पद वाली वाणी या वाक् से किसी भी प्रकार का साक्षात्सम्बन्ध नहीं है। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन वैदिक विश्वदर्शन के 'चतुष्पाद्ब्रह्म' नामक शीर्षक में दे दिया गया है, उसे पढ़ने का कष्ट किया जावे।

वाग्ब्रह्माणी के चार पद निश्चित हैं। ये चार पद सात सप्तकों के सात पदों में से प्रथम चार सप्तक रूप पद हैं, छन्दों के पाद रूप नहीं। इनको तो केवल अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मण देवता ही जानते या जानने की क्षमता रखते हैं। हमारे आज तक के वेदों के सभी भाष्यटीका अनुवाद करने वाले 'ऐरे गैरे नत्थू खेरे' जैसों को इनको जानने की कोई सामर्थ्य नहीं रही है।

इन चार पदों में से प्रथम तीन पद तो दर्शन चक्र के पूर्वार्द्ध के उपनाम गुहा में नितान्त गूढ और रहस्य रूप में सुरक्षित कर दिये गये हैं, जो अपनी गतिविधियों को जानने का कोई भी संकेत साधारण या अनूचान शुश्रुवन्स ब्राह्मण देवताओं से भिन्न व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार प्रकट करते ही नहीं, वे तो रहस्य हैं, गूढ हैं, गुहास्थ हैं। उन्हें जानने के संकेत सभी को सुलभ नहीं हो सकते, यह खुली बात है। शेष रह गया चौथा पद; वह भी तो उक्त तीनों से किसी बात में कम रहस्यमय नहीं, वरन् उनसे और अधिक गम्भीर रहस्य भरा है। इसके बोलनेवालों का नाम मनुष्य नामक तत्त्व है। ये मनुष्य हम आप जैसे नहीं हैं वरन् ये तो वे आध्यात्मिक प्राण हैं जिनको नर, नृ, ना नामों से पुकारा जाता है और 'नृषद्' सप्तक (चतुर्थ पद) का वासी कहा जाता है।

ये प्राण रूप हैं, देवताओं के अध्यात्म शरीर हैं, अमृतभौतिकात्मीय भी हैं। प्राण नितान्त गूढ तत्त्व है 'प्राणो ह्यविज्ञातः'। अतः ये तत्त्व या यह मनुष्य नामक तत्त्वों से बोला जाने वाला वाक् पद, सबसे अधिक कठिन और अविज्ञात तत्त्व है, इसे भी अनूचान शुश्रुवान्स ब्राह्मणदेवता ही जान सकते हैं सब नहीं ॥ ४५ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ४६ ॥

इसमें 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' उत्तर का विस्तार दिया गया है। यह यज्ञ या नाभिः स्वयं अग्नि है। यज्ञ माने विकास होता है। यज्ञ शब्द का यह अर्थ 'स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' (विश्वकर्मा सूक्त १०–८१, १०-८२) वाक्य में यज् धातु को अकर्मकरूप में और विकासार्थ में प्रयुक्त करने से स्वयं स्पष्ट हो जाता है। इस अग्नि के जितने मुख्य विकास (यज्ञ रूप में) होते हैं उनको इस ऋचा में एक-एक करके दिया है। श० प० ब्रा० (२-२-४-९ से १३ तक में) रुद्र (अग्नि) वरुण, इन्द्र, मित्र, ब्रह्म (चन्द्रमा) का अग्नि रूप में क्रमिक विकास दिया है, धूपायमान या धूमायमान अग्नि रुद्र का रूप है, प्रदीप्ततर वरुण है, अतिधूम और ज्वालामय इन्द्र है, शान्ति की ओर झुकाव मित्र है, अंगार रूप कोयले के रूप में ब्रह्म (चन्द्रमा) है। अब तक अन्य रूपों में सृष्टि विवेचन और योग प्रक्रिया दी गई थी, अब ऋषिरूप प्राणों से सृष्टि का क्रम और उनका विकास किन किन नामों से होना है इसका विवेचन इसमें दिया जा रहा है। इन्द्र से सृष्टि का इस ढंग का विकास श. प ब्रा. (६-१-१-१) ने दिया है देखें।

इन्द्र षोडशी कहलाता है 'इन्द्रो ह वै षोडशी' [श. प. ब्रा. ४-४-४ षोडशी ग्रह), उसका विकास सोलह कलाओं में पूरा होता है। श. प. ब्रा. (पूर्वोक्त २-२-४-१) में इसी इन्द्र का विकास उक्त ढंग से दिया है। जब यह इन्द्र अग्नि रूप में शरीर में बसता है तब यम राजा कहलाता है, उसी के विकास आहवनीय गार्हपत्यादि कहलाते हैं। अनश्नन् रूप में वह नैष्षिध नड (नल) राजा कहलाता है, यही अन्वाहार्यपचन है, गार्हपत्य यम कहलाता है। यही दक्षिणाग्नि है, इसीलिए नैष्षिध नड से इसे दक्षिण भाग में रखा जाता है। मित्रावरुण (दक्षक्रतू) का वर्णन श. प ब्रा. (४-१-४; ३-२-१-१३ और २-४-१ में मिलता है। यहाँ पर वह एकदैवत्य मित्रावरुणौ है। सर्वदेवता रूप में इसका विकास विराट् छन्दः के पादों और अक्षरों से होता है। इन्द्र का एक नाम 'हारियोजन' भी है। यह नाम छान्दस

इन्द्र का है। इन्द्र का छन्दः त्रिष्टुप् है। इस रूप में यह त्रैष्टुभ सुपर्ण कहलाता है (ऋ. वे. १०-१३०-४,५)। यही कपिञ्जल इन्द्र या शकुनि इन्द्र भी है। उष्णिक् छन्द का सविता सुपर्ण है, विराट् मित्रावरुण का सुपर्ण है। अपने सुपर्ण या छन्द के साथ ये देवता भी सुपर्ण कहलाते हैं। इन्हें सुपर्ण श्येन गरुत्मान् नाम से भी पुकारते हैं। गरुत्मान् नाम सविता का है, 'गरुत्मानेष सविता' (श. प. ब्रा. ९-२-३-३४)। श्येन को सुपर्ण का पिता बताया है (ऋ. वे. १०-१४४ ४)। सुपर्ण या चन्द्रमा या सविता ही गरुत्मान् है। श्येन सूर्य है। दोनों सूर्याचन्द्रमसौ को ही 'द्वा सुपर्णा' 'सुपर्णौ सूर्याचन्द्रमसौ' कहते हैं (यजु १७-७२ श. प ब्रा. ९-२-३-३४)। सविता चन्द्रमा या सोम रूप गरुत्मान् सुपर्ण का ही नाम 'दिव्यः सुपर्ण' है 'दिव्यः सुपर्णोऽव चक्ष सोम' (ऋ. वे. ९-९७-३३)। ('गायत्री ब्रह्म' 'सूर्य' 'सोम' और 'त्रिसुपर्ण' शीर्षकों को वैदिक विश्वदर्शन में देखें)। मातरिश्वा नाम की व्याख्या ऋ. वे. (३-२९-११) ने इस प्रकार दे रखी है "मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणिः।" अर्थात् मातरिश्वा वह भौतिकात्मीय प्राण वायु है जिसका निर्माण आपो रूप माताओं के प्राण शरीरों से हुआ। प्रथम अग्नि अग्निर्विद्वान् रूप त्रिपादामृत है, द्वितीयअग्निर्वैश्वानर। इस प्रकार एक अग्नि के विभिन्न प्रकार के विकासों के ये विभिन्न नाम हैं। अतः कहा है 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः' (ऋ. वे. ८-५५-२) एक ही अग्नि विकसित होकर नाना रूपों और नामों को धारण करता है। यहाँ पर पाकः के प्रश्न का उत्तर देने वाला भी अग्निर्विद्वान् ही है। वह सभी तत्त्वों को अपने एक अग्नि अग्नि देव रूप अग्नि से उत्पन्न बतला रहा है। इसी निर्णय को वेदों के सभी दार्शनिकों (विप्रों) ने स्वीकार करके एक अग्नि की विवेचना (वदन्ति) उक्त नाना नामों और विकासों द्वारा (बहुधा) की है और होती भी है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों ने अग्नि को सर्वा देवता माना है जैसे 'अग्निः सर्वा देवता' (ऐ. ब्रा. १-१-१)। "देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा विभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति" (तै. सं. ६-२-२)। यही भाव ऐ. ब्रा. (६-४) ने और श. प. ब्रा. (१-५-२-२०) ने भी दिया है।

सर्वा देवताओं में अग्निः सोमः विष्णु आदि को अन्य सब देवताओं का होता या आह्वाता या जुहोति कर्म कर्ता का कार्य दिया गया है। अतः इन्हें सर्वा देवता कहते हैं। परन्तु इन सब सर्वा देवताओं में से ऐसा देवता केवल इन्द्र ही है जिसके क्षात्रवलीय शासन से प्रत्येक देवता इस ब्रह्माण्ड शरीर के अपने अपने स्थान में उचित रूप से व्यवस्थित होता है। अतः इन्द्र को सब

देवताओं में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना जाता है, यद्यपि यह मौलिकतया अग्नि ही का एक मुख्य विकास इध्म इद्ध समिद्ध रूप विकास है, पर प्रभुता इसी की चलती है। अतः यही सर्वश्रेष्ठ सर्वा देवता मध्यमप्राण रूप अमृतमय देवता है, अग्नि वायु इसकी आत्मायें हैं, सोम इसका पान या शरीर। इसीलिए लिखा है 'अथ यदिन्द्रे सर्वे देवास्तस्थानाः। तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्र ज्येष्ठा देवा इत्येतद्ध वै देवास्त्रधैक देवत्याऽभवन्त्स यो हैवमेतद्वेदैकधा हैव स्वानां श्रेष्ठो भवति॥" (श. प. ब्रा. १-५-२-२२)। इसी कारण यहाँ पर इस मंत्र में इन्द्र से देवताओं का विकास प्रारम्भ किया गया है। इन्द्र ही प्रधान देवता है, उसी के सर्वदेवता रूप के विकास रूप देवताओं को यहाँ दिया गया है। इन देवताओं के नाम से इसी इन्द्र की उपासना होती है। अग्निर्विद्वान् और अग्निर्वैश्वानर भी क्रम से इसकी आत्मा चेतना और इध्म इद्ध या समिद्ध रूप हैं। इसी लिए अग्नि का नाम दो बार आया है। श. प. ब्रा. (६-१ १-१) ने इसी इन्द्र के इध्म रूप से मौलिक सृष्टि विकास का क्रम भी दिया है। अतः यहां पर यह इन्द्र पद्धति के विकास को प्रमुखता दे रहा है। दूसरे, इस सूक्त में इस मंत्र में दिए गये देवताओं के नाम नहीं आये हैं. अतः इनको यहां सूचित करना भी आवश्यक था, वह इस प्रकार से किया गया है।

सर्वदेवता रूप में प्रत्येक का विकास अपने अपने छन्द के पादों और अक्षरों से होता है। अग्नि का गायत्री से २४ तत्त्वाक्षरों तक, सविता का उष्णिक् से २७ तत्त्वाक्षरों तक, इन्द्र का त्रिष्टुप् से ३३ तत्त्वाक्षरों से। क्योंकि देवताओं की संख्या ३३ आंकी गई है। अतः इन्द्र के त्रैष्टुभ शरीर में सभी देवता यथास्थान भाग पा जाते हैं, अतः उसकी सबसे बड़ी महिमा है क्योंकि अग्नि तो अमृत ही रह जाता है २४ वें से आगे सूर्यसविता वैश्वानर आदि हो जाता है। इसी का नाम एक ही तत्त्व की नानाविध व्याख्या है उसी शैली को वैदिक दार्शनिकों ने यहां अपनाया भी है।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥

यह मंत्र ३५ के 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम' उत्तर के 'वाचः' तत्त्व की शेष व्याख्या यहां सरस्वती रूप में दे रहा है। इसका वर्णन पहले अक्षर ब्रह्माणी (३९) अघ्न्या (२७; ४०) गौरी सहस्राक्षरा (४१,४२) वाक् (४५) इत्यादि रूपों में दिया जा चुका है; सरस्वती रूप की वर्णना शेष रह

गई थी, उसको यहाँ पूरा कर दिया जा रहा है। यह सरस्वती देवता की व्याख्या का मंत्र है। सरस्वती की वर्णना दो प्रकार से दी गई है (१) वाक (२) नदी। नदी देवता वाक् का रूपकमय विवेचन देता है। यह वाक् रूप नदी गंगा नदी की तरह केवल एक सीमिति धारा में बहने वाली नदी नहीं है। वरन् यह सर्वतः प्रवाही ब्रह्माण्ड स्वरूपिणी अखिल ब्रह्माण्डमयी ऊर्मिमयी प्रवाह वाली है। 'तस्मात्सर्वासु दिक्षु वाग्वदति' (श. प. ब्रा. ६-२-३-४४) "वाग्वै सरस्वती" (श. प. ब्रा. ५-४-६-१६)। यह वाक् तो शरीर है सर्वतोमुखी या सर्वतः प्रवाही शरीर है। इसकी आत्मा या देवता 'अग्निर्विद्वान्' है वह भी इसी की तरह सर्वतो मुख है "सर्वतोमुखोऽयमग्निः··· तेनान्नादः" (श. प. ब्रा. २-५-४-१५)। इन दोनों का नित्य अभिन्न शरीर है। इन दोनों का आध्यात्मिक स्वरूप वैद्युतीय है 'वाग्वै विद्युत्'। और सरस्वती तो रसवती, सरसवती आपोमयी है। आपः भी बिद्युत् के ही रूप हैं, 'वज्रो वै आपः' (श. प. ब्रा.)। यह विद्युन्मयी प्रकाशवती इसलिए कहलाती है कि यह ज्ञानमय प्रकाशरूपिणी है जिसका प्रवाह वैद्युतीय (ऋत सत्य) शरों के प्रवाह रूप में या ऊर्मिवान् रूप में सतत क्रियाशील रहता है। इसी 'विद्युद्ब्रह्म' (बृ. उप. ५-७) की विवेचना के साथ बृ. उप. ५-८, वे-इस वाक् की वर्णना धेनु रूप में दी है। इसके पहले इसी बृह. उप. ने 'वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना' वाक्य द्वारा वाक् को संविदाना या ज्ञानप्रवाहमयी विद्युत् (संवित्ते) कहा है। इस वाग्ब्रह्माणी सरस्वती की जब वाग्धेनु के रूप में वर्णना की जाती है तब इसका भौतिक ब्रह्माण्डीय दैवी स्वरूप चार स्तनों वाला कहलाता है 'वाचं धेनुमुपासीत तस्या चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारःस्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितर स्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः।।" (बृह. ५-८)। इन चार स्तनों में से दो स्तनों को—स्वाहाकार वषट्कार को—तो देवता पीते हैं, और तीसरे को—स्वधाकार को-पितर पी जाते हैं। अब केवल एक ही स्तन—हन्तकार नामक स्तन शेष रह जाता है जिसे मनुष्य नामक पञ्च पञ्च द्विधा प्राण पीते या पी सकते हैं। ये चार स्तन अग्नि वायु आदित्य और दिशा या सोम हैं जिनमें प्रथम तीन अमृत तो बट गये हैं केवल चौथा दिशा या सोमीय स्तन रह गया है। मार्कण्डेय ऋषि ने दुर्गा सप्तशती (१०-५,६) में इसी एक स्तन की महिमा इस प्रकार गाई है 'पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ।। ततः समस्ता स्ता देव्यो ब्रह्माणीप्रमुखालयम् । तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदा-

म्बिका ।।" इसी स्तन का विवेचन इस ऋचा में दिया जा रहा है। यहां 'स्तन' शब्द भी कम चतुराई से नहीं रखा गया है। स्तन माने वही विद्युन्मय ज्ञान दुग्धधारोर्मिमय स्तन है। स्तनयतीति विद्युद्रूपेण वर्षतीति ('वृष्टिर्विद्युत्' ऐ. ब्रा. ८–५) 'स्तनः' (या स्तनयित्नुः)। यह स्तन इस प्रकार शब्द ब्रह्ममय ज्ञान दुग्धमय, तुरीया वाक् रूप चतुर्थ स्तनरूप इस अखिल कोटि ब्रह्माण्ड की जो दैवी भौतिकात्मा रूप या देवीवाक् रूप या सोम रूप, या रस रूप आत्मा है, उसी अखिल ब्रह्माण्डों की आत्मा रूप है। यह 'स्तनः' ही स्तनयित्नुः है, स्तनिता, तनिता, सन्तानिता या ज्ञान विद्युन्मय विकास कर्ता है। इस आशय को बृह. उप. (५–१–३) में इस प्रकार दिया है 'तदेतदेवैषा देवीवागनु वदति स्तनयित्नु र्द्द्द इति।' इस सन्दर्भ से अब ऋचा का अर्थ यह स्पष्ट होता है :—

हे सरस्वति ! (उक्त चार स्तनों में से) तुम्हारा जो (हन्तकार नामक) स्तन (मनुष्य नामक तत्वों के लिए या प्राणों के लिए सुरक्षित या निश्चित है, और) इस अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड का (शशय या) अक्षीण (अक्षिति) स्रोत है, जो अनन्त आनन्दों की जन्मभूमि है, जिससे तुम अखिल विश्वे देवताओं के अमृतमय शरीरों (प्राणों) का पालन पोषण करती हो, जो क्रमशः विकास प्राप्त अखिल देवताओं की ज्योतिरूप रत्नों की आभा दूध को धारण करने वाला, स्फटिक शिला सम चमचमाता या देदीप्यमान है, जो सबको वसुरूप मूलधन रूप निवास या शरण रूप अन्तरिक्ष सम विस्तृत खुला क्षेत्र रहने या पनपने या विचरण के लिए पहले ही से आरक्षित रखकर यथासमय तत्काल प्राप्त करा देता है, और जो इस प्रकार सभी प्रकार के आवश्यक प्राणों को पूर्वोक्त प्राण रूपों में ही विना मांगे ही पुत्र को माता-पिता के समान, अपनी आत्मीयता की स्नेहमयी जीवनी की मूर्तिमयी उपासना के रूप में जैसे देने वाला है; उसे हमारे प्राणों की पुष्टि के लिए (हमारे पीने के लिए) यहां (हमारे मुख में) कर दो या लगा दो ।। ४९ ।।

विशेष—"इस स्तन को मंत्र २६ में भौतिकात्मीय दूध से भरा, और सूर्यरूप कटाह (स्तन) में खौलता या उष्ण हुआ कहकर उससे दूध की धार अपने आप पिचकारियों की तरह सर्वतः बरसने को तैयार सा हो रहा है कहा गया है 'ऐसे ही स्तन को जो इस रूप में दूध टपकाने को उष्ण होकर अतीव आतुर हो रहा है, उसे शीघ्र हमारे मुख में लगा दो' कहने की इस मंत्र में प्रार्थना है। यह योग की प्रक्रिया है; अतिसृष्टि का विवेचन है। सृष्टि क्रम में तो इसी दूध से प्राणों का निर्माण होता है, अतिसृष्टि या योग में, उस

स्तन को उक्त रूप से पगुरा कर उष्ण करके धार बहाने को प्रस्तुत होने को उद्यत किया जाता है। जब दूध आने लगे तभी पात्र या मुख स्तन पर लगाना उचित है। मंत्र २६ में योग प्रक्रिया पूरी हो गई है, इस मंत्र में उस योग क्रिया के फल का पान या आस्वादन या अनुभूतिक विवेचन है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ ५० ॥

इस मंत्र की पूरी व्याख्या पुरुषसूक्त भाष्य में देदी जा चुकी है। इसमें आदित्यों और आङ्गिरस ऋषियों की उस होड़ का विवेचन है जिसमें प्रत्येक दल यह चाहता था कि मैं दूसरे से पहले स्वर्ग या नाकलोक में पहुँच जाऊँ। उस होड़ में आदित्य स्वर्ग में पहले पहुँच गये। आङ्गिरस स्वर्ग में न जा सके केवल स्वर्ग का स्पर्श मात्र कर सके। अतः इन्हें पृष्ठ्यः या पिछड़े या उत्तरार्द्ध का वासी कहा गया है, आदित्यों ने चार पृष्ठों के लघु सामों से स्वर्ग या पूर्वार्द्ध को पा या नाप लिया। यहाँ पर आदित्यों का ही नाम साध्या या छन्दो देवता है। 'यज्ञेन' के माने अग्नि रूप आत्मा से है यज्ञं माने पूर्वार्द्धीय पुरुष है। उत्तरार्द्धीय अग्निरूप आत्मा के ही अङ्गरूप आङ्गिरस ऋषि या प्राण वाक् मनः चक्षु श्रोत्रं प्राण आदि हैं। इन प्राणों के धर्म या मूल स्वर्गीय स्वाभाविक बीज उस अग्निरूप आत्मा में थे, उन्हीं की उद्दीप्ति या जागृति करने को 'ते ह नाकं महिमानं सचन्तः' या 'उन्होंने स्वर्ग की महिमा रूप प्रदीप्ति का संचय किया कहा गया है। उसी जागृति रूप, मूल चित्र रूप दीप्ति में साध्या या आदित्या या छन्दोमय देवता अपने पूर्ण रूप में विद्यमान थे प्रत्येक छन्दोमय देवता अपने अपने पूर्ण पादों की पूर्ण रूपरेखा में विद्यमान था जिसकी अनुभूति अग्निरूप आङ्गिरसाङ्गी प्राणों ने यज्ञ या त्रिपात्पुरुष के योग से या ध्यान से की। इसका विस्तृत भाष्य ऐ. ब्रा, (१-३-१६) श. प. ब्रा. (१२-२-२-९ से ११ तक) तथा (१०-२-२-१ से ३ तक) में विस्तारपूर्वक दे रखा है जिनका अर्थ (सोद्धरण) पुरुषसूक्त ऋचा १६ की व्याख्या में पूर्णतः दे दिया गया है। इस ऋचा का यज्ञ वास्तव में योग यज्ञ ही है, यह उक्त वर्णना से स्पष्ट है। क्योंकि अङ्गिरस ऋषि रूप प्राण उत्तरार्द्धीय या भौतिकात्मीय हैं, अतः वे सदा ही उत्तरार्द्ध के ही या पृथिवी नामक भाग के ही वासी या शरीर स्थानीय ही हैं; केवल ये उस स्वर्ग या नाक नामक पूर्वार्द्ध से स्पर्श मात्र करने वाली उत्तरार्द्ध की सबसे प्रथम रेखा में रहते हैं, और आदित्यों या छन्दों का स्थान तो दोनों भागों में है पर पूर्वार्द्ध में इनका अपना अकेला स्वाराज्य या साम्राज्य है जिनकी अनुभूति प्राणरूप अङ्ग या आङ्गिरस ऋषि अपने योग द्वारा ही कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ ५१ ॥

आपः तत्त्व इस सृष्टि के मूल त्रिवृत् का एक प्रधान अङ्ग है। सृष्टि का मूलकारण वाक् अदिति (अन्नमयं मनः) और आपः हैं। इन्हीं के देवता अग्नि मनः और प्राण हैं। अतः सृष्ट्यादि काल के वर्णन में सबने आपः तत्त्व को प्रधानता दी है। आपः में वाक् भी है मनः या अदिति भी। प्रत्येक में यही त्रिवृत् है। यह पूर्वार्द्ध में अमृत या एक है तो उत्तरार्द्ध में यही मर्त्य और अनन्त रूपों में परिणत हो जाता है। यह एक तत्त्व इस प्रकार द्यावा भूमि में एक होते हुए समान होते हुए दो विभिन्न रूपों में परिणत होता है। अतः ऋचा प्रारम्भ में ही कहती है 'समानं एतत् उदकं' कि दोनों भागों का उदक या आपः का त्रिवृत् (आपः वाक् मनः) दोनों भागों में एक ही है। यह उद् (उत्) च एति अव च (एति) उत्तरायणीय भाग में भी (विकास पाता) जाता है और दक्षिणायनीय भाग में भी विकास पाता जाता हैं। इन दोनों भागों को 'अहभिः' या 'अहोरात्रों' के नाम से पुकारा जाता है। अतः यहां की विकासपद्धति पूर्वार्द्धीय दिन में प्रकाशमयी ज्योति रूप में और उत्तरार्द्धीय रात्रि में अन्धकारमयी पर्जन्य या आवरणीय रूप कही जाती है। इसी भाव को और अधिक स्पष्ट करगे के लिए लिखा है कि उत्तरार्द्धीय भूमि नामक मर्त्यं भाग में वे आपः भौतिकात्मीय पर्जन्य रूप में प्रस्तुत होकर उस पृथिवी में अनन्त रूपा सृष्टि करने के लिए आपोमयी अनन्तरूपा प्राणों की वृष्टि करते हैं। पर पूर्वार्द्ध को वे प्रकाशमय तेजोमय एकमय और अमृतमय बनकर दैवी ज्योति रूप अग्नि नामक अमृत से सीचते हैं। इन आपः के पूर्वार्द्धीय ज्योतिर्मय रूप की ही अनुभूति योगी यति किया करते है, और अनुभूति करने वाले उत्तरार्द्धीय पर्जन्योद्भूत बृष्टि रूप प्राण ही होते हैं। पर्जन्य भी दैवीभौतिकात्मा है, इसमें त्रिपादामृत आवृत रहता है और भौतिक प्राणों (वाक् मनः चक्षुः श्रोत्रं प्राण) की सृष्टि इसी पर्जन्य रूप देवता से होती है। यह पर्जन्य, आपः का भौतिकात्मीय रूप है, पूर्वार्द्धीय आपः इसी रूप से वृष्टि करके पर्जन्य को प्रस्तुत करते हैं, पर्जन्य भूमि पर प्राणों की वृष्टि करता है, भूमि स्थूल या आसुरी भौतिकात्मा का नाम है।

पुरुष सूक्त योगाः

पुरुषः

'पुरुष' तत्त्व वेदों का एक परम प्रसिद्ध और परम रहस्यमय देवता है। वेदों में पुरुष शब्द की चर्चा केवल पुरुषसूक्तों में मिलती है, पर ब्राह्मणों और उपनिषदों में तो इस 'पुरुष' शब्द का प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में मिलता है कि पता नहीं चल पाता कि आखिर यह शब्द किस तत्व का संकेत कर रहा है। इस प्रकार के प्रचुर प्रयोगी 'पुरुष' शब्द के नाम से प्रसिद्ध पुरुष सूक्त का पुरुष क्या है, किसका संकेतक है इसका भी निर्णय किसी व्यक्ति ने यथार्थतः अब तक नहीं कर सका है। सबने अपनी अपनी डफली और अपना अपना कपोलकल्पित राग अलापा है। वस्तुस्थिति यह है:—पुरुषसूक्त में प्रयुक्त या व्याख्यात प्रसिद्ध 'पुरुप' शब्द कई प्रकार के पुरुषों का संकेत करता है, (१) सप्तपुरुषी पुरुषों का एक पुरुष है जिसे पुरुषपशु या यज्ञ या यज्ञपुरुष या विकासीय पुरुष कहते हैं इसका विवेचन 'यज्ञपुरुष' और 'अष्टौ पुरुषाः अष्टौ प्रजापतयः' नामक शीर्षक में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है, उसमें सात तो सप्तकीय पुरुष हैं आठवाँ ब्रह्म है प्रत्येक तत्व यज्ञ या यज्ञपुरुष या पुरुष भी कहलाता है, और सबसे बड़ी बात यह है कि यह प्रजापति भी कहलाता है जैसे "संवत्सरे पुरुषोऽभवत्स प्रजापतिः।" (श. प. ब्रा. ११-१-६-३) और जैसे "स वै सप्त पुरुषो भवति, सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्ष पुच्छानि; चत्वारो ह्यस्य पुरुषस्यात्मा, त्रयः पक्ष पुच्छानि" (श. प. ब्रा. ६-१-१-६)। यह चतुर्धात्मा, त्रिपक्षपुच्छी पुरुष ठीक ठीक में वही है जिसे पुरुष-सूक्त 'सप्तास्या सन्परिधयः' वाक्य से सात परिधि वाला पुरुष कहता है। ये सात पुरुष, वैदिक दर्शन के सात सप्तक हैं, जिसके प्रथम चार सप्तक, चतुष्पाद रूप चतुष्पाद ब्रह्म का संकेत करते हैं इन चार पादों या सप्तकों को चतुर्धात्मा कहा गया है, शेष तीन सप्तकों में से दो को उसके पक्ष, एक को पुच्छ बतलाया है। इसी बात को श. प. ब्रा. १०-२-२-४ में पुनः दुहराया गया है। इस पुरुप को श्रीवान् या शारीर पुरुष कहा गया है (वहीं) 'सर्वमष्मिन्नात्मन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरं', 'सप्तान्तं पुरुषाणां श्रीः' (श. प. ब्रा. ६-१-१-४)। यह पुरुष पर्व पर्व का या सन्दर्भ के अनुसार भिन्न तत्व रूप पुरुष का विवेचन देता है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रायः इसी प्रकार के पुरुषों का वर्णन है जिनमें प्रत्येक पुरुष अलग अलग तत्वों की व्याख्या देता है, वे सब एक ही तत्व की व्याख्या नहीं देते, यह निश्चित बात है। जैसे लिखा है कि जितने तत्वों के पुरुष का यज्ञ

हो उतने ही संख्या का वह पुरुष माना जाना चाहिए जैसे "पुरुषो यज्ञः पुरुषसम्मितो यज्ञः। स यावानेव यज्ञो यावत्यल्प मात्रा तावान्तमेवैनयैतदाप्नोति यदनुष्टुकभैत्रिशंदक्षरया जुहोति।" (श. प. ब्रा. ३-१-४-२३) 'सप्तदशो वै पुरुषः, एकविंशो वै पुरुषः' (श. प. ब्रा. ६-२-१-९, ४)। ऐसे ही अन्यत्र देखें (ऋचो अक्षरे में उद्धृत है। गायत्र पुरुष त्रिपदी और चतुष्पदी दो प्रकार का है। चतुष्पाद् को आनुष्टुभ् कहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार का पुरुष पुरुषसूक्त का पुरुष है, यह गायत्री का पुरुष है 'गायत्रो वै पुरुषः' (ऐ. बा. ४-१-३) क्योंकि इसका वर्णन गायत्री के पादों और अक्षरों के अनुसार किया जाता है। यह २४ से ३१ वां है जिसकी व्याख्या यह पुरुष शब्द स्वयं भी करता है। 'पुरुष' शब्द की व्याख्या, वेदों ब्राह्मणों और उपनिषदों ने, देते हुए लिखा है, कि पुरुष वह तत्व है जो पूः या पुरि में रहता है या सोता है, "पुरिशयः, पुरि शेते, पुरि षदतीति पुरुष" (बृहदा, उप. १–४–१७ श. प. ब्रा. १३–६–२–१ (सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुष); तै. उप. २–३–४)। अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'पुरी' कौन सी है जिसमें वह सोता है। पुरुषसूक्त ने स्वयं इस 'पुरी' का उल्लेख करते हुए लिखा है "ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः। स जातोऽतिरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः।" कि इस पुरी का निर्माण विराट्, अधिविराट् और भूमि नामक तत्वों के प्रस्तुत हो जाने के पश्चात् होता है। बतलाया जा चुका है कि वेदों में भूमि या पृथिवी या उर्वी शब्द प्रायः उत्तरार्द्ध या चतुर्थ सप्तक के भौतिक तत्वों के लिए आता है, उन्हीं से 'पुरी' या भौतिकात्मा का निर्माण होता है उसी भौतिकात्मा में वह (त्रिपादामृत) सोता या रहता है या उसे स्वीकार करता है, या वह भौतिकात्मा उसी से उद्भूत होकर उसी पर व्याप्त हो जाता है। इसको अथर्ववेद 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥" (१०–१–२–३१) मन्त्र द्वारा आठ चक्रों वाली देवताओं की अयोध्या नाम की पुरी बतलाता है और इसी को त्रिपादामृत का स्वर्गीय (दिव्य) ज्योति से आवृत हिरण्मय कोष या गर्भ कहता है। देवता रूप तत्त्वपुरी का नाम तो अयोध्या है पर महाभौतिक ब्रह्माण्ड या शरीर का नाम 'योध्या' पुरी है जैसा कि ईश. उप. ने लिखा है "युयोध्यस्मिज्जुहरामेनो भूयूष्ठाते नमउक्ति विधेम।" भ. कृष्ण ने अर्जुन को इसी पुरी की आसुरी वृत्ति से युद्ध, करने का उपदेश दिया है। कौरव अनन्त असुर है पाण्डव पञ्च प्राणरूप पञ्च-देवता। इन्हीं का युद्ध महाभारत है। इस पुरी का ऋग्वेद में एक दूसरा नाम 'पुष्कर' या अथर्व में पुण्डरीक भी है। पुण्डरीक का वर्णन, अथर्व वेद (१०-४-८–४२) इस प्रकार देता है 'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन्

यद् यक्षमन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।" इसमें त्रिगुण त्रिपादामृत हैं उस पुण्डरीक में इन त्रिपादामृत गुण युक्त ब्रह्म बसता है। ऋ. वे. ७·३३-११ में 'उतासि मैत्रावरुणो······विश्वेदेवा पुष्करे त्वाददन्त ।।' ऋचा द्वारा मैत्रावरुण रूप त्रिपादामृत के रेतः से वशिष्ठोवंशी रूप चतुर्थ सप्तक के मनोरूप पुष्कर या पुण्डरीक या नगरी में प्राप्त होने की सूचना दी गई है। पुष्कर शब्द की व्युत्पत्ति में श, प. ब्रा. (७–४–१–१३) ने लिखा है "इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत् ता अब्रवीद् विभेमि वै, पुरं में कुरुतेति, स योऽपां रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहँस्तामस्मै पुरम कुर्वस्तद्यदस्मै पुरम कुर्वंस्तस्मात्पूष्करं पूष्करं हवै तत्पुष्कर मित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवाः ।।" कि इन्द्र (त्रिपादामृत) ने जब वृत्र (भौतिकात्मा) का हवन (वशीकरण) कर लिया उसे डर लगी, वह जलरूप भौतिक तत्वों में प्रविष्ट हुआ, उनसे कहा मुझे डर लगती है मेरे लिए 'पुरी' बनाओ तब उन्होंने यह पुरी बनाई, अतः इसे पुष्कर (नगरी निर्माण) कहते है। श. प. ब्रा. ने इसके पहिले ७–४–१–८ में पुष्कर माने 'आपः' या भौतिक तत्त्व ही लिखा है 'आपो वै पुष्करं'। इसी क्रम में 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् विषीमत सुरुचो वेन आवः। सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा सतश्चयोनिमसतश्च विवः ।।" (यजु १३–३) की ब्रह्म विषयक उपयुक्त व्याख्या भी दी है। यह पुरुष ब्रह्म की व्याख्या देने वाला मंत्र है जो असत् (त्रिपादामृत) और सत् भौतिक दोनों के मिलन को विसीयत या मध्यस्थान में करते हुए अद्भि या भौतिकतत्त्व से उत्पन्न होने वाले दिशारूप बुध्नों का प्रसारण करके व्याप्त हो जाता है।

यह 'पुरुष' भौतिकात्मा युक्त पुरुष है, अतः इसे पुरुष ब्रह्म भी कहते हैं। अथर्ववेद ने इस पुरुष रूप ब्रह्म की पहेली और समस्या को बहुत स्पष्ट रीति से हल करते हुए लिखा है कि जब दर्शन के पूर्वार्द्ध में सब देवताओं की सृष्टि हो हो चुकी तब वे सब उत्तरार्द्ध के मर्त्य पुरुष (भौतिकात्मा) में प्रविष्ट हो गये। जैसे "सेसिचो नाम ते देवा ये सम्भारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ।।" (११–४–८–१३)। इस मर्त्यं पुरुष रूप गृह या पुरी का निर्माण त्वष्टा ने किया जैसे "यदा त्वष्टा व्यतृणत्पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुष माविशन्।" (११-४-८-१८)। तब इस पुरुष में स्वप्न तन्द्रा आलस्य खालत्य दुष्कृत पाप पुण्य भूति अभूति भूख प्यास निन्दा प्रशंसा आदि शरीर में प्राप्त सब गुण धर्म प्रविष्ट हुए। यहां तक कि विराड् ब्रह्म भी, आपोमय सब देवताओं से युक्त इस शारीर ब्रह्म या शरीरी ब्रह्म में प्रविष्ट हो गये। अतः विद्वान् लोग इस शारीर ब्रह्म या शरीरी ब्रह्म या मर्त्यं ब्रह्म को प्रजापति और पुरुष ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसमें सभी

देवता वैसे ही समा गये जैसे सब पशु गौशाला में निबद्ध हो जाते हैं जैसे "या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शारीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरेऽधि प्रजापतिः॥ सूर्यश्चक्षुर्गतः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे। अथास्येतरमात्मानं देवा प्रायच्छन्नग्नये॥ तस्माद्वैविद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठमिवासते॥" (अथर्व ११-४-८-३०, ३१, ३२ तथा इसके पहिले के १२ मंत्र) यह विराट् पुरुष तीसरा पुरुष है ४० तत्त्वों का पुरुष है। चौथा पुरुष अधिपूरुष है। सविता सोम बृहस्पति भी वार्हत पुरुष और ३६ तत्त्वों के हैं, जागत पुरुष ४८ तत्त्वों का है। प्रत्येक छन्द एक पृथक् पुरुष की वर्णना करता है। इस प्रकार पुरुष अनेक प्रकार के हैं।

पुरुष तत्त्व चाहे सप्तपुरुषी एक हो, या पुरिशेता पुरिशयः या पुरिषद् हो दोनों का लक्ष तो वैदिक दर्शन के तत्त्वों के विकास क्रम को दिखलाना या समझाना है। सप्तपुरुषी पुरुष जब त्रिःसप्त समिधों (२४ तत्त्वों) में विकास पा कर उत्तरार्द्ध के विकास की ओर जाता है तब वह पुरिशेता, पुरिशयः, पुरिषद्, पुष्कर, पुण्डरीक पुरुष कहलाता है या उसे तब पुरुष पशु कहते हैं। अथवा त्रिः सप्तसमिधों ["यदेक विंशतिर्भवति एकविंशो वा एष य एष तपति द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असौ आदित्यः।" (श० प० ब्रा० १३-५-३-२६) यहाँ बारह मास भी २४ तत्त्व हैं पञ्चर्तु भी २४ तत्त्व हैं त्रयो लोका + सूर्य भी २४ ही तत्त्व हैं। इक्कीस नाम तो त्रिःसप्तक का ठग नाम हैं।] (२४ तत्त्वों) का पूर्वार्द्धीय पुरुष तो आध्यात्मिक या त्रिपादामृत है, वही त्रिपादामृत पुरुष उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा की नगरी में प्रसुप्त या निवसित होने पर पुरिषयः पुरिषत्ता; पुष्कर या पुण्डरीक या पुरुषपशु कहलाता है। वैदिकों का 'पुरुषमेध' इसी भौतिकात्मा रूप पशु का मेध या शुद्धि है 'शुनःशेप' के मेध का तात्पर्य अश्वरूप भौतिकात्मा का मेध या शुद्धि है। 'शुनः प्राणस्य शेपः ऋच्छतीति शुद्धि र्मेधः शुनः शेपः' व्युत्पत्ति है। इस पुरुषमेध का इसी रूप में ही वर्णन मिलता है। श० प० ब्रा० १३-६-१ पूरा प्रपाठक पुरुषमेध की भूमिका में लिखता है कि पुरुष नाम का तत्त्व नारायण है। भौतिकात्मा में व्याप्त है 'नारः आपो तासु अयनं पूः यस्य स नारायण' जैसा कि मनु ने भी लिखा है 'आपो नारा इति प्रोक्ता··· तं वै नारायणं विदुः'। ऐसे भौतिकात्मा युक्त नारायण ने जब यह चाहा कि वह भौतिकात्मा का अतिक्रमण करके सर्वतो वशीभूत करके केवल अपना (त्रिपादामृत का) प्रभुत्व विस्तृत रखे तब उसने पञ्चरात्रीय पुरुषमेध किया। जो ऐसा करता है वही सर्व भौतिकता को वशीभूत कर सकता है। इसकी २३ दीक्षा या पूर्वार्द्धीय विकास हैं (२४वें में भौतिकता आती है, इसके १२ उपसद् है, पाँच सुत्याः)

४०वें में यह विराट् छन्द द्वारा विराट् कहलाता है, विराट् १०, १० के ४ चरणों के तत्वों से ४० तत्वों का होता है, यही पुरुष पशु इस चरणों से विराट् रूप में उत्पन्न होता है। अतः लिखा है 'ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः" अधिपुरुष वही ४४वां त्रैष्टुभीय पुरुष तत्त्व है। श० प० ब्रा० १३–६–२ पूरे प्रपाठक में पुरुष मेध के पुरुष पशु का आलभन (दमन वशीकरण या मारण) मध्यम दिन या मध्यवर्ती २५वें तत्व में बतलाया है। पुरुष पशु का सम्बन्ध जगती के जागत ब्रह्म या अखिल ब्रह्माण्डीय ब्रह्म से है। जगती ब्रह्म ४८ तत्वों का है। अतः पुरुष पशु का आलभन ४८ तत्व रूप यूप के मध्य या २५वें तत्व में जिसको सविता सोम आदि नामों से भी पुकारा जाता है, किया जाता है, यह पुरुष पशु, प्रजापति या ब्रह्म कहलाता है। (१३–६–२–१ से ९ तक)। यहाँ पर सृष्टि नाना रूपों को धारण करने लगती है अतः उन सबका आलभन किया जाता है। पुरुष सूक्त का मंत्र 'सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषम्पशुम्" उक्त पूर्ण विवरण के यज्ञ का वर्णन दे रहा है। यह पुरुषमेधीय पञ्चरात्रीय यज्ञ है। यही पुरुष पशु पुरुष सूक्त का 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्ष सहस्र पात्, सभूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिषद्दशाङ्गुलम् ।' नामक पुरुष है। यहाँ पर 'भूमिं सर्वतः स्पृत्वा' के माने स्पष्टतया 'विश्वतः वृत्वा' (ऋ० वे० अथर्व) या भौतिकात्मा को सर्वतः व्याप्त करके है, और 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' का भाव भी "पुरुषो ह नारायणोऽकामयत । अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवं सर्व स्यामिति स पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञ क्रतुमपश्यत् तमाहरत्तेनायत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवत्, अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्व भवति य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद ॥" (श० प० ब्रा० १३–६–१–१) तथा १३–६ ६ से भाष्य सा लिखकर स्वयं स्पष्ट करके लेखक का भार हलका कर दिया है। 'दशाङ्गुलम्' को अतिक्रान्त या अभिभूत करने के सम्बन्ध में दश मौलिक तत्वों से विकसित को 'दशाङ्गुलम्' कहा है। दशांगुल शब्द वेदों में पञ्चपर्वा विद्या का मुख्य सूचक शब्द है। इसमें सन्दर्भानुसार किन्हीं भी दश तत्वों का संकेत किया जा सकता है। यहाँ पर सन्दर्भानुसार 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' का अर्थ उद्धृत उद्धरण के 'अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानीति अहमेव सर्व स्याम्' का प्रतिनिधि रूप 'अत्यतिष्ठत्' सर्वाणि भूतानि, स एव सर्व स्यात्' या उसने सब भौतिक तत्वों का अतिक्रमण दमन या वशीकरण या आलभन कर लिया है। ये दश तत्व क्या हैं इसका खुलासा यह है :—जहाँ कहीं भी 'अङ्गुली' सरणि की व्याख्या दी गई है वहाँ दशाङ्गुलम्' का अर्थ 'दसेमे प्राण' लिखा है (श० प० ब्रा० ३–१–४–२३ और ३–६–५–१)।

क्योंकि यह पुरुष गायत्र पुरुष है अतः हस्तपादादिकों की अङ्गुलियाँ द्वारा तत्वों का संकेत करता है, पुरुष के बाहु द्वितीय सप्तक हैं पाद चतुर्थ सप्तक, पर अंगुलियाँ पञ्चपर्वा के संकेतक हैं, दश दश के तत्वों के गुच्छे हैं। अतः ये सप्तक संकेतक न होकर दशक के संकेतक हैं। दशकों में प्रथम दश प्राण हैं, द्वितीय दशक हस्ताङ्गुलियाँ, तृतीय दशक पादाङ्गुलियाँ। उस गायत्र पुरुष ने उक्त दो दशकों के अङ्गुलियों से संकेतित प्राण रूप तत्वों का अतिक्रमण दमनादि कर आलभन कर दिया। स्पष्ट शब्दों में चतुर्थ सप्तक में तृतीय दशक में या पादाङ्गुलियों में निम्न दश देवताओं का निवास है। इन्होंने ही पुरुष रूप में उनका अतिक्रमण किया। लिखा है जब प्रजापति (पुरुष) ने तप करके सृष्टि रचना को भौतिक प्रजा में परिणत करना चाहा तो एक अद्भुत श्रीः (स्त्री उत्तरार्द्ध रूप रात्रि रूप स्त्री रूप में) त्रिपादासृतीय दश देवताओं को निगलने को उद्यत सी हुई। देवताओं ने उसे मारना चाहा, पर पुरुष ने कहा, नहीं, उसको जीवित ही दमन कर लो, उसके अन्नाद्य को अग्नि ने, राज्य को सोम ने, साम्राज्य को मित्र ने, क्षत्र को मित्र ने, बल को इन्द्र ने, ब्रह्मवर्चस को बृहस्पति ने, राष्ट्र को सविता ने, भग को पूषा ने, पुष्टि को सरस्वती ने और रूपों को त्वष्टा ने छीन लिया। अतः दशाङ्गुलम्' नामक वाक्य अनाद्य, राज्य, साम्राज्य, क्षत्र, बल, ब्रह्मवर्चल, राष्ट्र, भग, पुष्टि और रूप' नाम वैदिक दर्शन के उक्त दश पारिभाषिक तत्वों के देवों का संकेत करता है। दश शब्द से संकेत करना विराड् की व्याख्या देना है जैसे रौद्र विराड् में 'तेभ्यो दश प्राची दश दक्षिणा दश प्रतीची दशोदीची दशोर्ध्वाः' में पाँच १०; कुल ५० तत्व हैं, और इन को क्रम से वसु रुद्र आदित्य विश्वेदेवता मरुतों तथा राज्ञी विराट् सम्राट् स्वराड् बृहती नाम दिये गये हैं। पुरुष ने इन सब का अतिक्रमण कर भौतिकात्मा की श्री का दमन कर अपने में व्याप्त कर लिया (श० प० ब्रा० ११–४ ३–१,२; और ९–१–१–३८ तथा ८–६–१–५ से ६ तक)। यहाँ श्रीः नाम रात्रि का या उत्तरार्द्ध का भी है 'रात्रिरेव श्रीः' (श० प० ब्रा० १०–२–६–१६), यह भौतिम श्री है जिसे लक्ष्मी कहते हैं 'श्रीश्च तेः लक्ष्मी च पत्न्यावहोरात्रे; (यजु० पु० सू० २३)। इसी का दमन किया गया।

पुरुष को पुरुष पशु क्यों कहते हैं?—बतलाया जा चुका है पुरुष तो गायत्री ब्रह्म का पुरुष या पति है। प्रथम से ३१वें तत्वों का संकेत करता है। समस्त वैदिक दर्शन विभिन्न शारीरिक भागों में विभक्त है। अग्नि रूप पुरुष सर्वदेवता या सर्वदर्शनीय देवता का शिर गायत्री या पूर्वार्द्ध के २४ तत्व हैं, इसकी ग्रीवा सविता देवता और उष्णिक् छन्द है और इसका अनूक मध्यवर्ती

बिन्दु बृहती छन्द और बृहस्पति है "तदाहुः किं छन्दः का देवताग्नेः शिर इति ? गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शिरः ॥ १ ॥ किं छन्दः का देवता ग्रीवा इत्युष्णिक् छन्दः सविता देवता ग्रीवाः ॥ २ ॥ किं छन्दः का देवतानूकमिति बृहती छन्दो बृहस्पति र्देवतानूकम् ॥" (श० प० ब्रा० १०–३–२–१, २, ३)। जिसका पूर्वार्द्ध गायत्री २४ तत्व शिर है, २५वाँ बृहस्पति अनूक है, २६वां सविता ग्रीवा है उसका शेष २७ से ५० तक का भाग धड़ हुआ यह इसी प्रपाठक में आगे विस्तार से लिखा है, पर श० प० ब्रा० ३–१ ३–१ से ५ तक ने इस का वर्णन एक रमणीय ढग से दिया है। लिखा है कि अदिति के आठ पुत्र हुए जिन्हें आदित्य कहते हैं उनमें से सात विकार (विकास) ग्रस्त हो गये, तब आठवाँ मार्तण्ड नामक पुत्र हुआ। यह ऋ० वे० १०–७२–८, ९ दो ऋचाओं की व्याख्या के रूप में देते हुए लिखा गया है। इसके विस्तार में लिखा है कि मार्तण्ड नामक आदित्य एक विचित्र ढंग का उत्पन्न हुआ था। उसका जितना बड़ा धड़ था उतना ही बड़ा शिर भी था, पर था पुरुष सा। तब कुछ बोले इसके बढ़े भाग काट दें; जो मांस का भाग काटा गया उससे हस्ती बन गया (इसी हाथी की खाल को लेकर रुद्र का ताण्डव नृत्य होता है इसी हाथी का शिर गणेश का मुख है यह भी निश्चित सा है)। जैसे "अष्टौ ह वै पुत्रा आदितेः। यांस्तेतद्देवा आदित्या इत्याचक्षते, सप्त हैव ते ऽविकृतं, हाष्टमं जनयांचकार मार्तण्डं सन्देघो हैवास यावानेवोर्ध्वस्तावाँस्तिर्यङ पुरुष सम्मितः इत्युहैक*आहुः। त उ हैक ऊचुः, देवा आदित्या यदस्मा नन्व-जानिमा तदमुमेव भूद्धन्तेमं विकरवामेति तं विचक्रु यंथायं पुरुषो विकृतः तस्य यानि मांसनि संन्यसु स्ततो हस्ती समभवत् तस्मादाहुर्नहस्तिनं प्रतिगृह्णीयात् पुरुषाजानो हि हस्ती। यमुह तद्विचक्रुः स विवस्वानादित्य स्तस्येमाः प्रजाः" इस उद्धरण में जो ऐता वेडौल पुरुष है उसे पशु तो नहीं कहा है पर इसको 'पुरुष' और मार्तण्ड नाम का शिर धड़ बराबर वाला बतलाकर—जो पिछले उद्धरण के दार्शनिक व्याख्या के अनुरूप ही है—ठीक ठीक पुरुष पशु ही संकेतित किया गया है और यह भी बतलाया है क्यों इसे पुरुष पशु कहा गया। इसका यही दार्शनिक वेडौल रूप इसे पुरुषपशु कहने का कारण बना है। वैसे प्रत्येक देवता छन्द गाथा आदि पशु कहलाते हैं, क्योंकि इनका इन रूपों का वर्णन कल्पना के आधार पर दर्शन की कहानी बनाने के लिए किया गया है। अतः लिखा है 'यदपश्यत्तस्मादेते पशवः (श० प० ब्रा० ६-१-४-२) 'पशवो वै स्वराः पशवः प्रगाथाः पशवः वाचो' (ऐ० ब्रा० ३-२-२४)। मार्तण्ड नामक पुरुषपशु की व्याख्या भी रोचक है 'मृतस्य रजसो भौतिकस्य अण्डः मृताण्डः तस्माज्जातो मार्तण्डः इससे भी इसकी भौतिकता सिद्ध होती है।

ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० ने अपने-अपने ग्रन्थों के प्रायः प्रारम्भिक प्रकरणों में ही इसी पुरुष पशु का विवेचन दिया है। बड़े आश्चर्य की बात है कि दोनों की भाषा और भाव इस सम्बन्ध में प्रायः इतने अधिक मिलते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में पुरुषपशु विद्या प्रशस्त रूप में प्रचलित थी, सब इस विषय में एकमत रखते थे—वेद या शाखा चाहे कोई भी क्यों न हो। ऐ० ब्रा० २-१-८ और श० प० ब्रा० १-२-१-६, ७, ८, ९ में इस प्रकार लिखा है :—"पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त तस्मादालब्धा न्मेध उदक्रान्सोऽश्वं प्राविशदश्वो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त सः किम्पुरुषोऽभवत् तेऽश्वमालभन्त सोऽश्वादालब्धादुदक्रामत्स गां प्राविशत् तस्माद्गौर्मेध्योऽभवत् अथैन मुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौरमृगोऽभवत्ते गात्रालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत्सोऽविं प्राविशत् तस्मादवि र्मेध्योऽभवत् अथैनमुक्रान्तं मेधमत्यार्जन्त स गवयोऽभवत् तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्सोऽजं प्राविशत् तस्मादजो मेध्योऽभवत् अथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत् शरभोऽभवद् व्रीहिः अभवत्···उत्क्रान्तमेधा अमेध्या पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात्'।" यह ऐ० ब्रा० का उल्लेख है। श० प० ब्रा० ने यही भाव व्यक्त करते हुए यह जोड़ा है कि यह 'आत्र सम्पत्ति' है 'आत्रो सा सम्प्रदाहुः पाँक्तः पशुरिति'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पशु वाद अत्रि के चौथे सप्तक से सम्बन्ध रखता है, अन्य से नहीं। यहां पर जो क्रम पुरुष पशु-अश्व गौ अवि अज गवय उष्ट्र शरभ व्रीहि इत्यादि दिया है वह पुरुष सूक्त के 'तस्मादश्वा अजायन्त ये केचोभयादतः (गवय उष्ट्रशरभादयः)। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।" मंत्र की पूरी व्याख्या कर देता है। यहां पर हमारे पुरुष पशु के स्थान का निश्चित निर्धारण उत्तरार्द्ध के चतुर्थ सप्तक में—जिसका मुख्य ब्रह्म अत्रि है और जहां से भौतिकता का आभास प्रारम्भ होता है—हो जाता है। इस पुरुष पशु का एक दूसरा नया नाम यहीं पर 'किम्पुरुष' भी दिया मिलता है। यह दोनों ग्रन्थों में दिया है। ये पशु वास्तव में शब्द ब्रह्म के भौतिक या आसुरी रूप की इन पशुओं से उच्चारित ध्वनियों के अनुरूप ध्वनियों के क्रम से भौतिक शब्द ब्रह्म या परा वाणी या तुरीया वाणी के पाँच साम स्वरों के या ऊष्माण ध्वनियों के प्रतीक रूप हैं जिनका विशद वर्णन शब्द ब्रह्म की व्याख्या में दिया जावेगा। इसका संकेत ऐ० ब्रा० (२-१-७) ने इस प्रकार दिया है "स यदि कीर्तयेत् उपांशु कीर्तयेन् तिर इव वा एनज्जनितो योऽयं राक्षसी वाचं वदति स यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्त सा वै राक्षसी वाङ आत्मना दृप्यति नास्य प्रजायां दृप्त आजायते य एवं वेद॥" पूर्वार्द्ध की वाणी मौन पंसु और उपांशु है। वह

मानवी वाणी कहलाती है। अत, मन और वाणी की होड़ की कथा (श० प० ब्रा० १·४·१·११, १२, १३) में वाणी को परा या उत्तरार्द्धीय या भौतिकी कहा तो उसका गर्भपात हो गया, और उसको तब विदित हुआ कि मानवी वाणी ही हव्यवाट् है, भौतिकी परा वाणी अहव्यवाट् कहलाती है, उसके गर्भ-पात को 'अत्र त्यात्' शब्द से संकेतित करने से उससे अत्रिः उत्पन्न हुए। अतः उक्त पशुओं या भौतिकी वाणियों को 'आत्रो सा संपद्' या अत्रि की संपद् कहा है। उद्धरण अत्रि की व्याख्या में दिया गया हैं। इस विश्लेषण से पुरुष सूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दाᳬसि जज्ञिरे तस्माद्यजु-स्तस्मादजायत ॥" मंत्र की व्याख्या हो जाती है। अष्टपुरुषी पुरुष से क्योंकि यहाँ सर्वहुत' कहा है—ऋचः स्वरा, यजुः अन्तस्था सामानि अनुनासिका, और छन्दांसि उष्माणा सप्तक क्रम से उत्पन्न हुए। गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वदेविद्' के छन्द रूप पर्णानि यही भौतिक वाणी ही छन्दों के सप्तसुपर्णों के पशुरूप सुपर्ण है, येही पुष्कर के पुष्कर पर्ण हैं या सोम या श्येन के सुपर्ण हैं। और जिसका वर्णन सहस्राक्ष सहस्र शिर सहस्रपाद रूप में किया गया है वह पुरुष तो स्वयं महान् पशु या महतोमहीमान् पुरुषपशु स्वयं है।

पुरुष पशु प्रभृति·पञ्चपशु, सोम या भौतिकात्मा के प्रतिनिधि हैं। इसका समर्थन श० प० ब्रा० (७-४-२-७) करते हुए लिखता है कि दर्शन के पूर्वार्द्ध में प्रजापति अकेला एक था, उसने अन्न या भौतिकता की सृष्टि की कामना की; कामना की तो उसने प्राणों से पशुओं का निर्माण किया, जिनमें सर्व प्रथम पुरुष पशुः है। जैसे "प्रजापति वा इदमग्न आसीदेक एव सोऽकामयतान्नं सृजेयं प्रजायेयेति स प्राणेभ्यः पशून्निरमिमीत, मनस पुरुषं, चक्षुषो अश्वं प्राणाद्गाँ श्रोत्रादविं वाचोऽजं तद्यदेनेनान्प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत तस्मादाहुः प्राणाः पशवः इति। यतो वै प्राणान् प्रथमं तद्यन्मनस पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः प्रथमः पशूनाम्...... ॥" ये पशु द्वादशादित्यों में आते हैं, अतः श० प० ब्रा० ७–४–२–२७ में इनका आह्वान इसी रूप में किया गया है। श० प० ब्रा० ६-१–४–१५ से १० तक पुनः उक्त पशुओं को 'अन्नं' (भौतिक') के नाम से पुकारा है और 'पुरुषपशु अश्व गौ अवि अजा' इस क्रम से पूर्व पूर्व को पर पर से श्रेष्ठ बतलाया है और इन्हें अग्नि नाम से भी पुकारा है। 'पञ्चह्येतेऽग्नयः' 'एतान्यथापूर्वं यथाश्रेष्ठमालभते'। पञ्च पशुओं में, जैसे अभी बतलाया गया है, पुरुषपशु सर्वश्रेष्ठ है और सर्व प्रथम पशु है अन्य और पुरुषपशु होने से पुरुषमेध का पात्र है। पुरुषमेध माने नरबलि नहीं है। यहाँ पर पुरुषपशु बलि या नरपशु बलि शब्द, शुद्ध रूप से पारिभाषिक हैं। सिद्ध हो चुका है कि इस पुरुषपशु का विकास चतुर्थ सप्तक में होता है, चतुर्थ सप्तक का नाम नृषद् या

नर स्थान है, नर स्थान माने आपोमय नारायण है, पुरुषपशु का भी यही अर्थ है, यह आपोमय पशु है, रूपाकारहीन बेडौल व्याप्तिमान् भौतिक शब्द ब्रह्म है। इसको त्रिपादामृत में अतिक्रमित या प्रशासित समर्पित या अधीन करना या प्राप्त करना पुरुषपशु का आलभन या पुरुषमेध है, भौतिकता का दमन शमन वशीकरण स्वायत्तीकरण, या भौतिक शरीर धारण करना नृमेध या पुरुषमेध या पुरुषपशु का आलमन है या भौतिकता की दमन शमनादि से शुद्धि है। यही भाव शुनःशेष की कथा के नृमेध का भी है। यह पुरुष पशु दूसरे शब्दों में सोमपान है, विष्णु का शेष शय्या में सोना है, सविता का प्रसव है, भौतिक रूप अंश का धारण करना है। अतः इसे षोडशकल ब्रह्म कहते हैं, इसकी १५ कलायें पूर्वार्द्ध की हैं और त्रिपादामृत की हैं जो अतीव जाज्वल्यमान हैं, उनको एक भौतिकांश रूप यह पुरुष पशु सन्तुलिततापं का कर देता है। (पित्र अहोराक्ष के पक्ष देखें)। यही भौतिकांश ही सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्रपाद् है। यही अन्न या भौतिकता से अतिरोहित होता या उगता या पनपता है। यही दश तत्त्वों पञ्चप्राण प्राणवाक् चक्षुःश्रोत्रं मनः वायु अग्नि सूर्य दिक् और चन्द्रमा का अतिक्रमण (अत्यतिष्ठत्) दमन करता है। यही भौतिकता में व्याप्त होता है (त्रिपादामृतात्मा)। अतः पुरुष सूक्त की सोलह ऋचायें इस पुरुष पशु की सोलह प्रकार की क्रमिक विकास पद्धतियों पर वैदिकों की विचार धारा के अनुसार प्रकाश डालती हैं, इसी का नाम पुरुषमेध या पुरुष पशु का विकास है। यह श० प० ब्रा० (१३–६–१२-३) स्वयं अपने स्पष्ट शब्दों में बतलाते हुए लेखक के भार को हलका कर देता है जैसे "ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारागणेनाभिष्टौति 'शहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' इत्येतेन षोडशर्चेन षोडश कल वा इदं सर्वं, सर्वं पुरुषमेध सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्या इत्यमसीत्थ मसीत्युपस्तौति एवेनमेतन्महयत्येवाथो यथैव तथैनमेतदाह तत्पर्याग्नि कृताःपशवोबभूवुरसंज्ञप्ताः ॥' इतमें स्पष्ट लिखा है कि पुरुष पशु के बारे में कहा गया है कि "तुम ऐसे हो तुम ऐसे हो" यही वर्णन षोडशकल वर्णन है। अतः पुरुष सूक्त ठीक ही लिखता है 'सप्तस्यासन्परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः। देवा यद्यज्ञन्तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥" यहां अबध्नन् के माने वध करने के नहीं है, पर भौतिकता को आध्यात्मिकता में बांधना है भौतिकता को आध्यात्मिकता को समर्पण कर वशीभूत कर देना है। जो लोग हिंसक यज्ञ करते थे उनके लिए अबध्नन् का अर्थ मारना ही होता है।

पुरुष पशु मार्ताण्ड नामक है, इससे विवस्वान् नामक आदित्य का जन्म होता है (श० प० ब्रा० ३–१–३–३), भौतिकता युक्त है, अतः अंश या कला युक्त कहलाता है। अंश नाम स्वयं आदित्यों का है जैसे आदित्यों के वर्णन में लिखा जा चुका है "इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नू सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।

शृणोतु मित्रोअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥'' (ऋ० वे० ९–२७–१)। इसी अंश नामक पुरुष या आदित्य को गीता भी 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' और 'एकांशेन स्थितो जगत्' वाक्यों द्वारा प्रस्तुत करती है। त्रिपादामृत को १५ कलायें है और भौतिक ब्रह्माण्ड उस १५ कलाओं का केवल एक क्रीड़ा का समान है। यह एक अंश भौतिकात्मा रूप चन्द्रमा या सोम है दोनों मिलाकर पुरुष (पशु) षोडशकल ब्रह्म कहलाता है। इसी को यजुर्वेद जगत्पुरुष नाम से पुकारते हुए लिखता है 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' (१६·३ रुद्री ५ ३)

पुरुष पशु में त्रिपादामृतैक्य के तीन पादों की व्याप्ति है। अतः त्रिपादामृत के तीन तत्त्व रूप पुरुषों के एक में रहते हुए भी पृथक् रूप से समझने के लिए उसे त्रिपुरुष कहा जाता है। जैसे ''त्रि र्ह वै पुरुषो जायते। एतन्वेव मातुश्चाधि पितुश्चाग्रे जायतेऽथ यं यज्ञ उपनमति (श० प० ब्रा० ११-२-१,४) पिता ब्रह्म, माता वेदि और यज्ञ (तृतीय सप्तकीय विकास) है।

पुरुष पशु के माने उत्तरार्द्धीय भौतिकात्मा है। भौतिकात्मा वाहन या पशु है उसका सवार या अधिष्ठानता पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत पुरुष। दोनों मिलकर पुरुष पशु कहलाते है। जितने भी देवताओं के द्वन्द्व हैं सब पुरुष पशु के प्रतीक हैं जैसे द्यावापृथिवी अग्नीषोमौ इन्द्राग्नी, इन्द्रापर्वतौ, अश्विनौ, इन्द्राबृहस्पती, ईशावास्यं, अग्निमरुतौ इन्द्रसोमौ इत्यादि।

अन्त में पुरुष पशु के कई अन्य नाम और व्याख्यान हैं जैसे नृसिंह वामन हयग्रीव गणेश अजदक्ष और वृषाकपि। ये सभी पुरुष पशु हैं। इनका पूर्वार्द्ध पुरुष है उत्तरार्द्ध पशु। वृषाकपि का प्रतिरूप रामायण का मारुति हनूमान् है। हनूमान् या वृषाकपि राम या इन्द्र को इतने प्यारे हैं कि इनके विना ये आनन्द नहीं पाते (वृषाकपि देखें)। हनूमान् के हृदय में राम की मूर्ति के माने ही यही हैं कि उस अखिल ब्रह्माण्ड रूप हनूमान् या वृषाकपि के अन्तस्तल में त्रिपादामृत रूपी राम या इन्द्र व्याप्त है। विना हनुमान् के राम का देवत्व ही नहीं है। और भौतिक सृष्टि करने में वृषाकपि इन्द्र को अधिकारी नहीं मानता, यही बात हनूमान् के विषय में समझनी चाहिए, यद्यपि रामायण में ऐसा नहीं लिखा है पर ऋग्वेद में यह स्पष्ट लिखा है। अजमुख दक्ष तथा गजमुख गणेश भी पुरुष पशु हैं। इनमें 'अदितेर्दक्षो अजायत' के स्थान में 'अजाद्दक्षो अजायत' कहना उपयुक्त है अदिति और अजएकपाद त्रिपादामृत है, पूर्वार्द्ध हैं; दक्ष दक्षिणायन उत्तरार्द्ध है। इसी प्रकार 'गज' मार्तण्ड का कृत्तशरीर पूर्वार्द्धीय है उत्तरार्द्ध का पुरुष भौतिक। ये सब साक्षात् पुरुष पशु हैं, अखिल ब्रह्माण्ड हैं, अतः सभी कार्यो के आरम्भ में इनकी पूजा आवाहन और ध्यान नमस्कार आदि किये जाते हैं।

पुरुष के सम्बन्ध में निम्नलिखित आवश्यकीय सामग्री देदी जाती है। यह पुरुष सब पुरियों का या सब तत्वों का वासी या उनमें सोने वाला है (श. प. ब्रा. १४-५-५-१८) पुरुष सोम पवमान है, उसकी पुरी में सोने से पुरुष है (श. प. ब्रा. १६-६-२-१), यह प्राण रूप सोने वाला पुरुष है (गो. पू. १-३९), वह सबसे पूर्व का और पुनः सबकी उषा करता है, अतः पुरुष है। यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुष' (श. प. ब्रा. १४-४-२-२)। यह पुरुष प्राणरूप होने से ब्रह्म और अमृत है (जै. उ. १-२५-१०)। यह अक्षितिः है (श. प. ब्रा. १४-४-३-७)। यह सहस्र प्रतिमा है (यजुः १३-४१)। प्रजापति ने मन से पुरुष को उत्पन्न किया (श. प. ७-५-२-६)। पुरुष प्राजापत्य है (तै० २-३-५-३)। पुरुष प्रजापति है (श० प० ६-२-१-२३, ७-४-१-१५)। पुरुष तत्त्व वैष्णव है (श० प० ५-२-५२)। यह पुरुष सौम्य है। (सोम रूपी दैवी वृत्ति का है) (ब्र० १-७-८-३)। पुरुष प्रथम पशु और पशुओं का अधिपति है (ताण्ड ६-२-७-तै० ३-३-८-२)। पुरुष यज्ञ का नाम है, (श०प० ३-१-४-२३ सभी ब्राह्मणों में)। पुरुष संम्मित यज्ञ है (श० प० ३-१-४-२३)। पुरुष आपः का गर्भ है(गो९ ५-१-३९)। पुरुष उद्‌गीथ है (जै उ-१-३३-९; ४-९-१)। पुरुष अग्नि है (श० प० १०-४-१-६, १४-९-१-१५)। पुरुष ही समुद्र है (जै० उ० ३-३५-५)। पुरुष सुपर्ण भी है (यजु १३-१६, श० प० ७-४-३-३५)। पुरुष संवत्सर है (गो० ५-५-३-५; श० प० १०-२-४-१)। पुरुष सविता है, होमा है, चक्षु है, नारायण है (जै० उ० ४-२७-१७; गो० उ० ६-६; जै० उ० १-२७-२)। पुरुष षोडषकल भी है (तै० १-७-५-५, श० प० ११-६-६६)। सप्तदश भी पुरुष ही है (श० प० ६-२-२-९)। सप्तदश २५ वां तत्त्व है १७ वां नहीं। यह काममय ऋतुमय पुरुष है (श० प० ब्रा० १४-७-२-१) यह व्याममय है (श० प० ब्रा० ७-१-१-३७)। पुरुष द्विप्रतिष्ठ अर्थात् पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों में स्थित है (ऐ० २-१८; ३-३१, ५-६-२; गो ६० ४-२४, गो० उ० ६ १८ तै० ३-९-१२-३)। पुरुष ककुप् है (ता ८-१०-६-८; १६-६-४)। पुरुष वैराज भी है (ताण्ड २-७-०- तै० ३-९-८-२)। पुरुष गायत्र भी है (ऐ० ४-३)। पुरुष औष्णिक् भी है (ए ४-३)। पुरुष पांक्त भी है (कौ १३-२ ए० २-१४-६-९)। पुरुष षद्विध और षडङ्ग है (ए० २-३९)। पुरुष सप्तपुरुषी है चार आत्मायें दो पक्ष एक पुच्छ है (अनेक बार श० प० ६-१-१-६)। पुरुष के दो कपाल है (कौ० ३०-४)। पुरुष विंश है, चतुर्विंश है (ताड्य० २३-१४-५, श० प० ६-२-१-२३)। पुरुष शतायु शतपर्वा है

(कौ० १८-१०), शतवीर्य है, शतोन्द्रिय है (तै० ३-५-१५-२- कौ० २५-७ ए० २-१७, ४-१९)।

अस्तु गीता ने पुरुष पशु को छोड़ दिया है, उसके स्थान में इसने उसे तीन प्रकार के तीन पुरुषो को वर्णित किया है। "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्म्येत्युदाहृतः। यो लोक त्रयमा विश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः" "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽपि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" "(१५-१६, १७, १८)। पुरुष तीन हैं, उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष। इनका पुरुषोत्तम या उत्तमपुरुष तो ईशान नामक या ईश्वर या परमात्मा अव्यय सर्वव्यापक सर्व पालक है, दूसरा पुरुष अक्षर ब्रह्म है जीव ब्रह्म है संवत्सर ब्रह्म है, यह कूटस्थ है पर भौतिकता के अक्षर रूप दुख का भोक्ता है। यह मध्यम पुरुष है। तीसरा पुरुष क्षर या केवल भौतिक पुरुष या परा प्रकृति रूप भौतिकात्मा क्षर है, विकास ह्रास धर्मा है, यह शरीर भी है, सर्वभूतमय सर्वरसमय सर्वगुणमय और अनन्त मुख है। अक्षर ब्रह्म अनन्त बीजमय है (ऋचो अक्षरे देखें)। इस तृतीय क्षर पुरुष को दूसरे स्थल पर क्षेत्र और शरीर तथा जीव को क्षेत्रज्ञ नाम से पुकारते हुए समस्त वेद मंत्रों ऋषियों छन्दों और ब्रह्मविषयक सूत्रों की दुहाई देते हुए लिखा है :—"ऋषिभि बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥" "महाभूतान्यहंकारो बुद्धि रव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चचेन्द्रिय गोचराः" "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम्॥" श्री शंकराचार्य जी ने उक्त वैदिक ऋषियों से निर्णीत वैदिक सांख्य के तत्त्वों का खण्डन किया है। ब्रह्म का विवेचन देते हुए गीता ने लिखा है "ज्ञेयं यतत्तत्प्रवक्षामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सन्नासदुच्यते" "सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्। सर्वतः श्रुति मल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्तं सर्वमृश्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च" "बहिरन्तश्च भूताना मचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वत्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्" "अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" (१३-१२, १३, १४, १५, १६,)। ब्रह्म की इस परिभाषा में विरोधा भास ही महत्व रखता है, उसकी कोई परिभाषा करना यह भाषा का कार्य नहीं, उसकी परिभाषा मौन है। फिर भी इस परिभाषा में सब वैदिक पारिभाषिक शब्दों का संकलन है, गीता ने जहाँ पर 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्' कहा है वहाँ पुरुष अक्षर ब्रह्म है, अनन्तबीजवान् पुरुष है, प्रकृति अपरा प्रकृति या ४० वें तत्त्व से आगे की है। इसीलिए गीता

मे इस बात की पुष्टि में लिख दिया है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, जितने विकार होते हैं वह परा प्रकृति में होते है जैसे "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धत्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ।।" (१३-१९)। प्राय: चालीसवें तत्व को ही ये पुरुष कहते हैं, वह अपरा प्रकृति है, सांख्य की प्रकृति अष्टधा और भौतिक है ।

अब पुरुष सूक्त का अर्थ लीजिए—'षोडशर्च षोडशकलं नामक पुरुष सूक्त सोलह ऋचा वाला है, प्रत्येक ऋचा में पुरुष की व्याख्या नये नये ढंग से की गई है । इन्हीं नई नई रीतियों को सोलह कला का सूक्त या पुरुष भी कहते हैं । पुरुष में जों सोलह कलायें समझी जाती हैं वे एक तो उक्त प्रकार की १६ रीति विषयक कलायें हैं, दूसरे प्रकार की कलायें उत्तरायण दक्षिणायन नाम के दो पक्षों में से उत्तरायण या पूर्वार्द्ध रूप शुक्लपक्ष की १५ कलायें तथा उत्तरार्द्ध या दक्षिणायन या कृष्णपक्ष की एक कला अमावस्या रूप भौतिकात्मा मिलकर १६ कलायें बनती हैं । इन्हीं १६ कलाओं का वर्णन ये १६ ऋचा वाला षोडषर्च सूक्त देता है ।.अत: इसे और इससे वर्णित पुरुष को षोडशकल पुरुष या ब्रह्म कहते हैं । ये षोडशकलायें सोलहों सूक्तों में चतुष्पाद ब्रह्म की व्याख्या करते हैं अत: पोडशकल ब्रह्म या पुरुष की व्याक्या चतुष्पाद् ब्रह्म या चतुष्पाद् पुरुष की ही व्याख्या समझनी चाहिए ।

पुरुष सूक्त

पुरुष सूक्त चारों वेदों में संकलित पाया जाता है । यह बात इसके महत्व की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है । यह सूक्त वास्तव में वेदों का कोमलतम हृदय और आर्यो की दार्शनिक खोजों का सारभूत नवनीत है । इस सूक्त में आदि से लेकर अन्त तक वैदिक दर्शन के अनुसार वैज्ञानिक सृष्टिक्रम का वर्णन दिया हुआ मिलता है ! पर अभाग्यवश इस सूक्त में जिन मुख्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है उनकी ओर अब तक किसी भी पौर्वात्य या पाश्चात्य विद्वान् का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है । इस कारण सभी भाष्यकार चाहे वे यास्क सायण शंकर महीधर उव्वट हों, चाहे वे पाश्चात्य देशों के अनुवादक मैक्समूलर ग्रिफिथ लानमैन; म्योर, रोथ, ग्रासमैन लुदविग आदि हों, सब ने पुरुष सूक्त में प्रयुक्त उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ, कोष निघण्टु और श्रौत सूत्रों की रूढ़ि से लगाकर, इसके दार्शनिक भावों के अर्थ का अनर्थ किया है, यह आगे दिये गये उसके स्वाभाविक और वास्तविक अर्थ से विदित हो जावेगा ।

जिन पारिभाषिक शब्दों की ओर यहां संकेत किया गया है उनका विवरण तो तत्व निर्णय नामक प्रकरण में दिया जा चुका है। इन पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण विवेचन एक ओर से ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों उपनिषदों में, दूसरी ओर से अथर्ववेद गीता, महाभारत और स्मृतियों तथा प्राचीन पुराणों में मिलता है। प्रतीत होता है कि ये पारिभाषिक शब्द पौराणिक काल तक सबको विदित थे, बाद में इनके तदर्थक प्रयोग का लोप हो गया। अस्तु इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या, उन अन्य वैदिक मन्त्रों, वचनों और उद्धरणों के साथ साथ की जावेगी जो इस सम्बन्ध में समान भाव तथा भाष्य रूप विवरण सा रखते हैं।

पुरुष सूक्त में जिन पुरुषों का वर्णन मिलता है उन की व्याख्या उनकी निम्न चार प्रकार के पुरुषों के रूप में सोलह प्रकार से की गई है, जैसे (१) पुरुष पशु, (२) यज्ञ पुरुष, या गायत्र पुरुष (३) विराट् पुरुष (४) अधिपूरुष या पुरुष। इन की व्याख्या पृथक् पृथक् दी गई हैं। गायत्र और विराट् पुरुष पहले वर्णित है अन्त में पुरुष पशु का वर्णन है। श. प. ब्रा. (३–४–३–१) ने लिखा है कि पुरुष का नाम यज्ञ है, अतः यज्ञ भी पुरुष है। यह यज्ञ पुरुष, परुषों या पर्वों का पुरुष या यज्ञ है। दर्शन के ५० तत्वों के प्रत्येक पर्व या परुष या तत्व का नाम यज्ञ या पुरुष या यज्ञपुरुष है। जिस संख्या का तत्व है, वैधानिक यज्ञ में उतने ही पात्रों का प्रयोग, उस पुरुष या यज्ञ तत्व की क्रमसंख्या सूचित करने के लिए किया जाता है। जैसे "पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञः। यदेनं पुरुष स्तनुत एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः॥" इस प्रकार यज्ञ का अर्थ क्रमिक विकास या विकास परम्परा होता हैं, जिसका समर्थन ऋग्वेद निम्न ऋचाओं में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग विकास अर्थ में करके स्वयं कर देता है "विश्वकर्मन् हविषा (सोमेन) वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवी मुत द्याम्" (१०-७–१–६) "शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः।" (१०–०–१–५) "उस्रः पितेव जारयामि यज्ञैः" (६–१२-४)। यजुर्वेद भी इसका समर्थन करता है "येन यज्ञ स्तायते सप्त होता"। यहां पर श. प. ब्रा. और यजु के "एष वै तायमानो" और 'यज्ञस्तायते' प्रयोगों की समता पर ध्यान आकर्षित कर लेना अतीव सहायक सिद्ध होगा। अतः पुरुष सूक्त में 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्' (७) 'तस्मा द्याज्ञात्सर्वहुतः' (८,९) 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (१६) 'देवाः यद्यज्ञं तन्वाना' (१५) 'देवा यज्ञम-तन्वत' (६) आदि में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग यज्ञ पुरुष और विकास परम्परा प्रदर्शक अर्थों में प्रयुक्त स्वयं दीख रहा है। यहां भ्रम का स्थान ही नहीं है। इसी

प्रकार इस सूक्त के पुरुष शब्द के प्रयोग में भी ध्यान देने की आवश्यकता है जैसे पहिले कहा है सब कुछ जो था, जो है, जो होगा, वह सब पुरुष है' (पुरुषऐवेदं सर्वमित्यादि), फिर तुरन्त पश्चात् कहा है पहिले त्रिपाद् पुरुष उदित हुआ फिर चौथा पाद बना (त्रिपादूर्ध्व मुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः), उससे विराट् विराट् से अधिपूरुष (ततो विराज्जायत विराजोअधि पूरुषः), यह भी कहा है कि उस पूर्व उत्पन्न यज्ञ पुरुष को बर्हिः में प्रोक्षित कर दिया (तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जात मग्रतः) और जिस पुरुष का निर्माण किया था (यज्ञरूप दर्शनपुरुष) उसकी कल्पना कितने प्रकार से की गई जैसे 'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत्' । ये सब बातें बतलाती हैं कि पुरुष नाम प्रत्येक तत्व तत्व का है, अतः पुरुष, यज्ञः, यज्ञपुरुष पुरुष पशु आदि शब्दों की व्याख्या सन्दर्भ की परम आवश्यकता रखती है । यजुर्वेद ने एक स्थल पर (१६-३, रुद्री ५-३) पुरुष शब्द से जगत्पुरुष या जगती के पुरुष का भी संकेत किया है, यह अखिल ब्रह्माण्डीय पुरुष या जगत्पुरुष है जैसे 'मा हिंसी पुरुषं जगत्' । ऋ० वे० (१०-१३०-१, २) ने इस अखिल ब्रह्माण्डीय जगत्पुरुष को यज्ञ और पुमान् दो नामों से पुकारते हुए लिखा है कि जो यह यज्ञ (रूप सृष्टि) चारों ओर से तन्तुओं (ताने वाने के तागों) से बुना गया है, इसको सैकड़ों दैवी शक्तियों से ताना जा सका गया है । इसको वे पितर बुन रहे हैं जो वहां आये हैं, जिस बुनने की रांच में उसे सुन्दरतम बनाने के लिए वे उसे वार-वार बुनते उधेड़ते रहते हैं । और इस में मुख्य बुनकर तो पुरुष हैं, उसी ने इसे काट छाँट कर साज और रांच में सजाया और लगाया, उसी ने इसे आध्यात्मिक तानों में विस्तृत किया, वही अब भौतिकात्मा की रश्मिमय वैद्युतीय तरंगीय वानों को विभिन्न सदों में (विभागों में) बैठाते हुए अपने साम के (गीत के) साथ बुनने में डोरी को बार बार इधर उधर करते जा रहा है । जैसे "यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः एकशतं देवकर्मेभिरायतः । इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयापवयेत्यासते तते ।। पुमाँ एन तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने अधिनाके अस्मिन् । इमे मयूखा उप सेदुरूः सदः सामानि चक्रुस्तसरारायोतवे ।।" कितना सुन्दरतम रूपक हैं, हाँ यही यज्ञ 'ब्रह्मसूत्र' है जिससे अखिल ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है, जिसका गीता ने 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे माणि गणा इव' और 'ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' वाक्यों द्वारा तथा ब्रह्मोपनिषद् और नारद परिव्राजकोपनिषद् ने 'गायत्री ब्रह्म' शीर्षक में उद्धृत श्लोकों द्वारा सजीव वर्णन दिया है ।

पुरुष सूक्त की व्याख्या आरम्भ करने के पहिले इसके ऐतिहासिक पहलू पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है । कई लोग जैसे पीटर पीटर्सन, म्योर, और

आर्नल्ड प्रभृति इस सूक्त को वेदों में अर्वाचीन मानते हैं। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का ९० वां सूक्त है, इसकी भाषा अन्य सूक्तों की तुलना में शास्त्रीय संस्कृत की ओर अधिक झुकी प्रतीत होती है। पर इससे इसे वेदों का अति अर्वाचीन सूक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह सूक्त अन्य तीन वेदों में भी मिलता है जिससे यह सिद्ध होता है कि इसका निर्माण यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद के निर्माण के पहिले हो चुका था। अतः इसका निर्माण युग ऋग्वेद का अन्तिम चरणीय काल तथा यजुसामाथर्व से बहुत पहिले समझना युक्ति संगत है। 'पुरुष' गायत्री का पति है उसकी चर्चा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही 'गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः' (ऋ. वे. १०—१) में की गई है। अतः प्रस्तुत पुरुष सूक्त ऋ. वे. के ऐसी १—१० सूक्त का विस्तार सा है बहुत प्राचीन है। हां ऋ. वे. की 'प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिं अग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे' (१—१४३-१) ऋचा के अनुसार पुरुष सूक्त को ऋ.वेदीय काल की नव्यसी (नूतन) वाणी, कह सकते है।

जैसा बताया जा चुका है, पुरुष सूक्त सोलह ऋचाओं में पुरुष पशु और एक ही चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या गायत्र और विराट् पुरुष रूपों में सोलह प्रकार से करता है। प्रत्येक ऋचा का वर्ण्य विषय केवल चतुष्पाद ब्रह्म है, पर शाखान्तर रीत्यन्तर और प्रकारन्तर से, एक ही वस्तु सोलह प्रकार से सोलह ऋचाओं में बखान की गई है। वर्ण्य विषय दर्शन का पूर्ण पूर्वार्द्ध (त्रिपादामृत) और उत्तरार्द्ध का प्रथम पाद—जो आदि से चतुर्थपाद कहलाता है—ये ही सोलह ढंग से कहे गये उत्तरायण या शुक्लपक्ष की १५ कला + दक्षिणायन की एक कला अमावस्या मिलकर षोडश कल ब्रह्म भी कहलाते हैं।

मन्त्र १—'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठ द्दशाङ्गुलम् ॥''

यह मन्त्र 'पुरुषास्त्वनन्ताः' के भाव को एक में अनन्त पुरुषों के समाहार या 'अविभक्तं विभक्तेषु' की व्याख्या देता है। इस अनन्तपुरुषी एक पुरुष के उत्तरार्द्ध की व्याख्या 'पुरुष' व्याख्या के पञ्चम षष्ठ परिच्छेद में विस्तार पूर्वक की जा चुकी है, फिर दुहराना पिष्ट पेषण होगा। जिस तत्व का वर्णन एक पुरुष के रूप में या एक अजीव पुरुष के रूप में किया गया हो, वह, वैदिकों की वर्णना के अनुसार एक पशु या अजीव पशु है या तत्व का एक साहित्यिक कल्पनामय प्रस्तुत पशु रूप पुरुष, अप्रस्तुत ब्रह्म की सर्वतः अनन्तता का पर्दा मात्र हटाता है। इसमें उस तत्व को सहस्र शिर आँख पाँव का बताया जाना ही उस की अनन्त बीज रूपता की ओर संकेत करता है।

सहस्र संख्या वाचक नहीं अनन्त वाचक है। जिसके पाद हस्त आखों का वर्णन किया जाय वह ब्रह्म क्या आदिरूप भी नहीं हो सकता। ब्रह्म चतुष्पाद होने तक, केवल एक ही होता है। त्रिपाद को भी 'एकं सदेतन्त्रयं' कहा गया है। पूर्वार्द्ध या त्रिपाद् का चक्षु भी एक ही है जो सूर्य २५ वां तत्व है जैसे 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकेवोषाः सर्वमिदं विभात्येक वा इदं वि वभूव सर्वम् ॥' (ऋ. वे. ८-५८-२)। उसकी द्वितीय फूटी आँख चन्द्र है। शिर तो एक (पूर्वार्द्ध) है ही इसी लिए उसे पुरुष पशु कहते भी हैं। अतः जो अनन्त शिर आँख पाँव का पुरुष है वह भौतिकता की अनन्त बीजरूपता की अनन्तता मात्र की वर्णना देने वाला पुरुष पशु हो सकता है इसी को अनन्त पुरुषी एक महा पुरुष भी कहते हैं और यह चतुर्थ सप्तक के आपोमय ब्रह्म सागर का वासी नारायण है, सोम है, सविता हैं, विष्णु है, रुद्र है या अग्नि है या वृषभ है जिसे अथर्व में 'सहस्रशृङ्गो वृषभो य' (४-५-१) ऋ. वे. ७-५५-७ में 'सहस्रधारं वृषभं' १.७९.१२ में 'सहस्राक्षो विचर्षणि' और 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (१-१५४-६) कहता है (निरुक्ति देखें)। और यजुर्वेद 'अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धन् शतं ते प्राणाः शतं ते व्याना त्वं साहस्रस्य राय ईशिषः" (१७-७१) कहता है। इसे सूक्त का ऋषि ही नारायण हैं। नारायण तब भी इसी चतुर्थ सप्तक के नृषद् नरसद् या आपोमय सप्तक का वासी देवता है। अतः हमारा सहस्रशीर्षा पुरुष चतुर्थ सप्तक के आपोमय सागर या नार (नृषद्) के अयन (वास) का नारायण ही है। अथर्व वेद ने 'सहस्रशीर्षा' के स्थान में 'सहस्रबाहुः' शब्द का प्रयोग करके, शेष में ऋ. वे. का अनुसरण किया है। काव्य के अनुसार अथर्व का 'सहस्रबाहु' शब्द अधिक अच्छा है, दार्शनिकता में 'सहस्र-शीर्षा' शब्द उत्तम हैं। यजुर्वेद ने उक्त दोनों के 'विश्वतो वृत्वा' के स्थान में 'सर्वतः स्पृत्वा' लिखकर 'स्पृत्वा' का अर्थ 'वृत्वा' है करके स्पष्ट सूचित कर दिया है, और सर्वतः तथा विश्वतः दोनों पर्य्याय है हां। दोनों पाठों में अनुप्रास का लोभ भी दिखाई देता है। पर जो अनुप्रास आरम्भ ही से चलता है उसे यजुर्वेद ने तृतीय पाद तक खींच ले जाने की उत्तम चेष्टा की है। इस मन्त्र को अनेक पुराणों और उपनिषदों ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है, बहुतों ने ऐसा ही रख लिया है गीता ने 'सर्वतः पाणि पादं' श्वे० श्वे० उप० का पाठ दिया है।

सायण आदि भाष्य कारों ने सहस्रशीर्ष सहस्र आँख सहस्रपाद शब्दों के सहस्र शब्द को तो अनन्तता का वाचक ठीक बतलाया है, पर जब ये अनन्त शिर आँख पादों को इस भूलोक मात्र के प्राणिमात्र के शिरों आखों और पादों

का समाहार मानने लगते हैं, उसे ये विराट् कहते हैं तो आश्चर्य होता है। यहां तो मौलिक तत्व रूप पुरुष का वर्णन है, उसमें प्राणियों की स्थिति ही कहां बनी है, वहां तो वे अलिङ्ग बीज रूप में हैं, वे भी केवल इसी भूलोक के नहीं वरन् अखण्ड ब्रह्माण्ड के अनन्त गोलों के भी हैं, प्राणियों के ही नहीं वरन् सर्वजात (भूतस्य जातस्य पतिरेक आसीत्) अखिल भौतिक तत्वों का वह अलिङ्ग अनन्त बीज रूप एक बीज है। इसी बात को यजुर्वेद श. प. ब्रा. ९-२-३-३२ हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' और 'शतमूर्द्धन' का अर्थ 'शत-शीर्षारुद्रोऽसृज्यत' कहता है एक बात। दूसरी बात यह है यहां पर शीर्थ, अक्षि और पाद शब्द पारिभाषिक है, अध्यात्म तत्त्व है, प्राणों या आत्माओ के वाचक हैं भूमि शब्द भी पारिभाषिक ही है। शीर्ष अक्षि और पाद तो द्यावा के प्रतिनिधि हैं, भूमि, पृथिवी की, और दोनों मिलकर (भूमि विश्वत वृत्वा) ये 'द्यावापृथिवी' या अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैदिक दर्शन में ब्रह्म का शिर तो केवल एक है, पर भौतिकता के प्रारम्भिक तत्व (२५ वें) को भी दूसरा शिर कहते हैं, ये गायत्री छन्द रूप २४ तत्वों के दो ओर छोर प्रथम और अन्तिम हैं। पाद शब्द की विवेचना भी इसी गायत्री के पादों के अनुसार (पुरुष सम्बन्ध में) की जाती है। पूर्वार्द्ध में केवल तीन पाद हैं, चार मुख्य ब्रह्म हैं। इसी को "चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादाः द्वे शीर्ष्णे सप्त हस्तासो (सात सप्तक) अस्य" व्याख्यावान् वृषभ या महादेव कहा गया है। पर अनन्त शिरस्कता अक्षिता और पादता तो केवल भौतिक ब्रह्म सोम सविता की है जिसका वर्णन अगली ऋचा—"यदन्नेनातिरोहति' और अथर्वकार अर्वाग्विल-श्चमस ऊर्ध्वबुघ्नः' मन्त्र ऊर्ध्वमूलमवाग्शाखा या वृक्ष के रूप में करता है। इस वृक्ष में एक आंख (सूर्य चक्षु) था, अब वह एक आंख (अंकुर निकलने का प्रथम चिह्न) में अनन्त आखें या अंकुर निकलने के चिह्न हो गये हैं, जो भौतिकता का दूसरा शिर था उसमें अब अलिङ्ग और अनन्त बीज रूप शिर उस आंख से झांकने लगे हैं, और वही अंकुर अब अनन्त पादों या मूलों (जड़ों) के रूप में भौतिकता की व्याप्ति को विकसित कर रहे हैं। यहां पर शिर आँख पाद भूमि शब्दों की पारिभाषिकता का एक ही और यही मुख्य आध्यात्मिक अभिप्राय है। यह वेदवृक्ष या देववृक्ष के शिर आंख पाद है। दशाङ्गुल शब्द भी पारिभाषिक ही है उसकी व्याख्या 'अत्यतिष्ठत्' शब्द की पारिभाषिक व्याख्या के साथ साथ दी जा चुकी है। सायण आदि इस पारिभाषिकता को न जानकर इसे 'उपलक्षण' कह गये, उन्होंने पुरुष को सचमुच में दश उंगली लम्बा समझा अतः 'परिमित' शब्द और 'ब्रह्माण्डात् बहिरपि सर्वतो व्याप्य स्थितः' लिख गये, क्या ब्रह्माण्ड से बाहर भी कुछ है ? ब्रह्म में ब्रह्माण्ड है, ब्रह्म

ही ब्रह्माण्ड है; उसमें बाहर भीतर कैसा ? उसमें 'परिमित' शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है ? परिमित और व्याप्त दोनों शब्द विरोधी हैं, ब्रह्माण्ड शब्द के साथ 'बहिरपि' कहना दार्शनिक होगा भी ? तीसरी बात यह है कि इस मन्त्र में अनन्त पुरुषी एक पुरुष का वर्णन गायत्री के त्रिपादयुक्त चतुष्पाद (ब्रह्म रूप) पुरुष की व्याख्या रूप में है जो विराट् से दश अंगुल या दश तत्व पीछे है और दश प्राणों का अतिक्रमणकारी है। वह विराट् दूसरी वस्तु है । उसकी उत्पत्ति की बात फिर पञ्चम मन्त्र में बतलाई गई है । कई लोगों ने 'दशाङ्गुल' माने दशों दिशायें 'अत्यतिष्ठत्' माने व्याप्त लिखा हैं, वह भी कोरी कल्पना ही है, निराधार है ।

उक्त ऋचा का जो भाव है वह ऋ. वे. १०–८१–३ की ऋचा" विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमीं जनयन् देव एकः ।।" का भी है, कहना यह पड़ेगा कि इस ऋचा ने पुरुष सूक्त के प्रथम मत्र का भाष्य लिखा हैं या पुरुष सूक्त का प्रथम मन्त्र इस ऋचा का ही आशय उगलता है । इस मंत्र के विश्वतः चक्षु, मुख, बाहु, पाद, द्यावाभूमी, बाहुभ्यां, पतत्रैः शब्द सब पारिभाषिक हैं । यह 'एक' जिसने द्यावा भूमी' (अखिल पह्माण्ड) की रचका की वह वही स्वयं है । वह 'त्रिपाद् अमृत युक्त चतुर्थपादीय भौतिकात्मा युक्त (एकं सदेतत्त्रयं) है । कहा जा चुका हैं कि २५ तत्व तक एक ही चक्षु (रूप सूर्य) हैं. एक ही मुख है. एक ही पाद (त्रिपादयुक्त है पर 'एकं सदेतत्त्रयं) है, वह द्वितीय पाद में दो बाहु रूप अरणियों की धमन क्रिया से जीवात्मा रूप रुद्र को और त्रिपादामृत के संयोग से पतत्र पर्ण रूप सुपर्ण (प्रथम भौतिक पतत्र या पत्र या कोमलतम पत्र पक्ष पंख या अंकुर से द्यावा भूमी की सृष्टि करता है । जब द्यावाभूमी दोनों का निर्माण हो जाता है तब उसका भौतिक भाग 'विश्वतश्चक्षु रुत विश्वतोमुख' इत्यादि रूपों में या नाना अंकुरों के अलिङ्गबीज रूप के नाना रूपों में सा प्रतीत होने लगता है । यहां 'विश्व' शब्द प्रधान संकेतक है जो भौतिक सृष्टि का सूचक है (विश्वेदेवता देखें) । यहीं से एक में अनेकता, अनेकों में एकता का बखेड़ा प्रारम्भ होता है । यह वेद वृक्ष या देव वृक्ष या सृष्टि वृक्ष है, उसी की ये आंख मुख बाहु पाद आदि आध्यात्मिक अंग हैं जिनका विवेचन हो चुका है । श्वे. श्वे. उप. इस मंत्र को रुद्र की व्याख्या में देता है । गीता में 'सर्वतः पाणिपादं' आदि ब्रह्म की परिभाषा में इसी मंत्र के भाव का उल्था करके रखा गया और श्वे श्वे. से उद्धृत किया है ।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि सहस्र शीर्षा माने यह है कि ब्रह्म का प्रत्येक अंग शिर सा काम करता है या प्रत्येक अंग चक्षुरूप है या प्रत्येक

अंग गतिरूप है। उसी रूप में वह सर्वत्र व्याप्त हुआ है। जहाँ चक्षु श्रोत्र पाद शिर आदि नाम से ब्रह्म या पुरुष की व्याख्या की जाती है उसे अध्यात्म व्याख्या कहते हैं।

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

[अन्नं ब्रह्मेत्याहुः]

प्रस्तुत मन्त्र में मुख्य पारिभाषिक शब्द 'अन्नेन' है। अब तक के समस्त भाष्यकारों तथा अनुवादकों ने इस अन्न शब्द का अर्थ खाया जाने वाला अन्न (अनाज) लगया है। कहां तो उस पुरुष की इतनी व्याप्ति का वर्णन हो रहा है कि जो कुछ भी है सब पुरुष है, 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' रूप है, उसका उस मौलिक रूप में भूत, भव्य और अमृत रूपों में इसे उगने वाले अन्न से कौन सा सीधा या तत्कालिक सम्बन्ध होगा ? किसी ने सोच भी नहीं दिया। खैर अन्न नाम सोम का है, भौतिकात्मा का है, वही भूत और भव्य रूप में वृत्र बनकर अन्नाद या स्वयं को स्वर्ग से विकसित या पुष्ट करने वाला कहलाता है। इसका वर्णन श. प ब्रा. ११–१-६-१९ में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दिया है "अन्नाद एवाग्निरभवत् अन्नं सोमो अन्नादश्च वा इदं सर्वं अन्नं च।।" 'यज्ञो हि देवानामन्नं' (श. प. का, ५-१-१-२) "वृत्रो वै सोम आसीद्" (श प ब्रा. ४-१-४ ७) "अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः।" 'अन्नं सोमो अन्नादश्च' (श. प. ब्रा. १-५-२-१७; तै. उप.) इत्यादि। यह सोम या अन्न रूप भौतिकात्मा अग्नि रूप उदर भी है और स्वयं पोषक तत्व भी (अन्न की तरह)। इसी लिए इसका नाम 'अन्नं' रखा भी गया है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि इस मंत्र का 'अतिरोहति' शब्द फिर सृष्टि वृक्ष की ओर संकेत करता है। अतिरोहण सदा ही वृक्ष का ही होता है। इस अखिलब्रह्माण्डीय सृष्टि वृक्ष के अतिरोहण का क्रम इसी अन्न नामक सोम या चन्द्रमा या वृत्र या भौतिकात्मा के अभ्युदय के पश्चात् पूर्व ऋचा में वर्णित 'सहस्र शीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्' या 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' रूप में अनन्तता की ओर झुकने लगता है। इसी भाव को मन में रख कर लिखा है कि वह पुरुष रूप सृष्टि वृक्ष अन्न रूप सोम या भौतिकात्मा से अतिरोहण करता है या नाना रूपाकारों की मौलिकता की ओर अग्रसर होने लगता है। अतिरोहण माने अनन्त रूपों में विकसित होना है। इस कथन की पुष्टि अथर्व वेद का 'यदन्नेनातिरोहति' के स्थान में दिया पाठान्तर 'यदन्येनाभवत्सह' वाक्य कर देता है जिसका सीधा अर्थ यह है कि जो पुरुष अन्य से

या द्वितीय भौतिकात्मा से युक्त हुआ। इस भाव को पुन: अथर्व १०-८-७-१३ 'अर्द्धेन विश्वं भुवनं जनान, यदस्य अर्द्धं क्तद् बभूव' (कतमः स केतुः) पुष्ट करता है, कतम वाला पूर्वार्द्ध है दूसरा उत्तरार्द्ध। यही भाव बृहदारण्यक ने 'स एकाकी न रमते विभेति, आत्मानं द्वेधापातयत् पतिश्च पत्नीश्चाभवताम्' वाक्य करता है। द्वितीय आत्मा यही भौतिकात्मा सोम है जिसे पुरुष की पत्नी या द्यावा की पत्नी या पृथिवी कहते हैं, दोनों मिलकर 'द्यावा पृथिवी' या अद्‌र्धनारीश्वर बन गये।

इस मंत्र का दूसरा पारिभाषिक शब्द अमृतत्वस्य' है। अमृत नाम दर्शन के पूर्वार्द्ध के २४ तत्त्व रूप देवताओं का है। इनको गायत्री छन्द के त्रिपादों में त्रिपाद अमृत भी कहते हैं। इसके समर्थन के लिए दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं है। इस सूक्त के तृतीय मंत्र में त्रिपाद (गायत्री के तीन पाद रूप पूर्वार्द्ध या द्यावा या दिवि) को अमृत नाम से पुकारते हुए साफ लिखा है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'। अतः यहां पर द्वितीय मन्त्र कहता है कि वह भौतिकात्मा सोम या अन्न से नानारूपाकारों में अतिरोहण या विकसित होने पर भी अमृतत्व या पूर्वार्द्ध द्यावा या दिव के त्रिपादामृत का स्वामी बना रहा ('उत' शब्द का अर्थ यही 'भी' है)। वह द्यावा पृथिवी रूप अद्‌र्धनारीश्वर आदित्य (सूर्य) आध्यामिक और भौतिक आत्माओं का एक मधुमय मिश्रण या मीठा या रसमय ब्रह्म बन गया। अथर्व ने पाठान्तर में 'अमृतत्वस्येश्वरो' कहकर उक्त आशय की पुष्टि सी कर दी है, यहां पर ईशान का अर्थ ईश्वर, स्वामी दे भी दिया है। वेदों में ईशान नाम उस पूषा वा रुद्र का है जिसको आदित्यों का प्रतिनिधि कहते है जैसे 'आदित्यो वा ईशान' (श. प. ब्रा. ७-१-३-१० से १८ तक)

'यद्भूतं यच्च भव्यम्' खण्ड को पढ़ते ही यजुर्वेद के 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तागते सप्तहोता···' मन्त्र की, अथर्व के 'यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति' (१०-८-१) मन्त्र की तथा ऋ. वे के 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' मन्त्र की प्रतिध्वनि स्वयं कानों में गूंजने लगती है। इन सबका आशय भी प्रायः एकसा है, एक दूसरे की व्याख्या सी कर रहे हैं। यजुर्वेद ने 'भूत' को भुवन नाम से पुकार कर उसे त्रिभुवन-भूर्भुव स्वः-त्रिपादामृत का प्रतिनिधि बना दिया है। यही भाव ऋ. वे. के उद्धृत 'भूत' शब्द का भी है (कः हिरण्य गर्भः देखें)। जिसको हमारा यह द्वितीय मन्त्र भव्यम् कह रहा है उसे यजुर्वेद भविष्यत् या भौतिकात्मा के नाम से और हिरायगर्भीय सूक्त पृथिवी नाम से पुकार रहा है। अतः 'यद्भूतं' माने 'जो कुछ

भी पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृतीय दैवी भाग था' है 'यच्च भव्यम्' माने 'जो कुछ भी उत्तरार्द्धीय में होने वाला था भौतिकात्मा या आसुरी भाग था' है; वह सब 'पुरुष एवेदं सर्वम्' पुरुष ही था, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' था और वह अमृत का स्वामी या त्रिधात्मा युक्त था, जिसको यजुर्वेद अपने शब्दों में 'परिगृहीतममृतेन सर्वम्' कहता है और जो (यदन्नेनतिरोहति) भौतिकात्मा की विकास शीलता से स्वयं नानारूपाकारों में अनन्तता में विकसित होता है। महाभूत बहुत स्थूल तत्त्व हैं, भूत तो आत्मा (त्रिधात्मा) का वाचक है। अतः लौकिक संस्कृत में इसका अर्थ 'प्राणी' हैं पर यह प्राण रूप है।

अथर्ववेद ने इस ऋचा को चौथे मंत्र में दिया है जिसमें 'ईशान' के स्थान में 'ईश्वरः' और यदन्येनातिरोहति' के स्थान में 'यदन्येनाभवत्सह' पाठान्तर दिये हैं। यजुर्वेद ने 'भव्यम्' के स्थान में 'भाव्यम्' पाठ दिया है। भाव्यम् का वही अर्थ है जो 'भविष्यत्' या 'भव्यम्' का है, यह उत्तरार्द्ध में होने वाले भौतिकात्मा का संकेतक है। सायण ने 'भूत' शब्द का 'अतीतं' अर्थ करके न जाने क्या सोचा है ? उनकी दृष्टि स्यात् चालू सृष्टि पर–बड़ी मोटी जगह पर-पड़ी है। कह भी गये हैं कि जैसे इस कल्प के प्राणियों के देह विराट् के अवयव हैं वैसे ही अतीतानागत प्राणियों के भी देह उसके अवयव हैं। वे विराट् माने दृश्य ब्रह्माण्ड समझे बैठे हैं। यहाँ पुरुष का वर्णन हो रहा है, विराट् का नहीं; अभी इस सूक्त ने विराट् की उत्पत्ति पर प्रकाश ही नहीं डाला है, उसका वर्णन तो पञ्चम मन्त्र में आयेगा। सायण जी गर्भस्थित विराट् को अभी से कंगना दिखा रहे है। विराट् कुछ और ही तत्त्व है, पुरुष कुछ और ही, एक गायत्री पुरुष है दूसरा विराट् छन्द का पति। दोनों की तत्त्व संख्या और क्रमों में आकाश पाताल का अन्तर है। कहने का तात्पर्य यह है कि सायण ने इन मंत्रों की व्याख्या बिलकुल लौकिक और अदर्शनिक शैली में तथा वैदिक दर्शन के वातावरण से एकदम दूर होकर लिखी है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

[त्रिपाद, चतुष्पाद्ब्रह्म]

प्रस्तुत पुरुष की इतनी और उतनी बड़ी बड़ी गम्भीर और अनिर्वचनीय महिमायें हैं, जो विवक्षित और विवक्षमाण मंत्रों या प्रार्थनाओं में जितना भी गाया जाय उनसे भी वह कहीं लाखों करोड़ों गुना अधिक बडी महिमा का पुरुष है। (कितना ही कहें कितना ही लिखें उसकी महिमा कहीं कभी पूरी न हो सकेगी)। ऐसा महतोमहीयान् नेति नेति महिमावान् वह महा पुरुष है। यह

मंत्र के पूर्वाद्धं का अर्थ है। इस मंत्र का उत्तरार्द्ध बड़े महत्व का है इसमें सभी शब्द पारिभाषिक हैं। पादः, विश्वा, भूतानि, त्रिपाद अमृतं और दिवि। वैदिकों ने ब्रह्म की विवेचना भी छन्दों को आधार बनाकर उनके प्रत्येक अक्षर को एक एक तत्त्व तथा उनके पादों को ब्रह्म के विकास खण्डों के रूप में वर्णित किया है। परन्तु जहाँ पर त्रिपाद या चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन आता है वहां पर केवल गायत्री या चतुष्पदा गायत्री (अनुष्टुप्) के ही पादों का विवेचन आता हैं। इन छन्दों के अनुसार ब्रह्म को पुरुष या पति नाम से पुकारा गया है। हमारे पुरुष सूक्त का पुरुष गायत्री का पति रूप पुरुष है। वह दिवि या पूर्वार्द्ध में गायत्री के तीन पाद २४ तत्त्वों में अमृत रूप में बिकसित होता हैं। छान्दोग्य उपनिषद ने तो गायत्री ब्रह्म के वर्णन में इसी ऋचा को अथर्व के पाठ में उतार कर उक्त भाव की पुष्टि करते हुए लिखा है "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेत दृचाभ्यनूक्तं 'तावनस्य महिमा······अमृतं दिवीति यद्वै तद्ब्रह्मे तीदं वाव।" इत्यादि ॥ (१–३–१२)। फलतः छन्दोग्य ने इस ऋचा का अर्थ स्वयं लिख कर सबको सन्देह हीन कर किया है। वही गायत्री जब दर्शित चतुर्थ-पदा बनती है या चतुर्थ पाद का या विश्वा भूतानि रूप भौतिक आत्मा का विकास करती है तब वह पुरुष चतुष्पाद ब्रह्म या चतुष्कल ब्रह्म कहलाता है। यह चतुर्थ पाद चतुर्थांश नहीं बरन् चार आत्माओं वाला है। पूर्ण पुरुष तो सप्तपुरुषी या सप्तात्मा होता है जिनको 'सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मानः त्रयः पक्ष पुच्छानि (श० प० ब्रा० १०–२–२) कहा है (चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या देखें)। इनमें से प्रथम चार पादों को चतुष्पाद ब्रह्म कहते हैं। चतुर्थ पाद से भौतिकता का आरम्भ होता है। अतः इस पाद को यह मंत्र 'विश्वाभूतानि' या भौतिकात्मायें कहता है भूतानि = आत्मायें, पूर्वार्द्ध या दिवि में त्रिपाद की तीन अमृत रूप आत्मायें हैं पर वे 'एकंसदेतत्त्रयं' नियम से 'एकं भूतम्' एक या एक ही आत्मा रूप में कही गई है। विश्व शब्द का वेदों में सर्वत्र 'भौतिक' अर्थ है। यहाँ 'विश्वानि भूतानि' = अनन्त भौतिकात्मायें—जिनका विवेचन प्रथम मंत्र में किया जा चुका है'। अथर्व ने 'एतावान्' की जगह 'तावन्तो' और अतः के स्थान में 'ततः' पदों का प्रयोग करके 'महिमा' को संख्यातीत बतला देने का अच्छा संकेत दिया है।

यास्क सायणादिकों में से किसी भी भाष्यकर या अनुवादक या निरुक्तकारों को वैदिक छान्दस दर्शन प्रणाली का ज्ञान नहीं है। वे त्रिपाद द्विपाद चतुष्पाद वा एकपाद के माने पशुओं या पक्षियों या मनुष्यों के से पाद वाले समझ कर, वैदिकों के एतद्विषयक गम्भीर दार्शनिक रहस्य के सागर से बहुत दूर छिटक गये हैं। अतः सायण जी तैत्तिरीय आरण्यक (८–१) और तैत्तिरीय उपनिषद

(२-१) के वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' को वैदिकों की शैली में न समझ कर वरन् शंकराचार्य के शारीरीक भाष्य (ब्रह्मसूत्र) का अनुणरण करके लिख गये हैं "परं ब्रह्मण इयत्ताभावात् पाद चतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं ततोऽपि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः ।" कि ब्रह्म की इयत्ता ईदृत्ता का अभाव होने से उसका वर्णन चतुष्पाद रूप में नहीं किया जा सकता, फिर भी 'यह जगत् (केवल भूलोक) ब्रह्म स्वरूप की अपेक्षा बहुत छोटा है' इस भाव को व्यक्त करने के लिए उसका वर्णन पाद रूप में किया गया है। उधर वे इस मंत्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या में लिखते हैं कि 'अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तिनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोअंशः । यस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूप ममृतंविनाश रहित सद्दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवस्थित इति शेषः ।" आप देखलें यहां पर सायण को न तो वैदिक छान्दस दर्सन की अक्षर विद्या और पाद विद्या विदित है, न शंकरादि के ब्रह्म व्याख्या का अनुसरण करके वैदिक ब्रह्म की यथार्थता ही ज्ञात है। वैदिक आर्य ब्रह्म के विकास के दो मुख्य भाग मानते थे, ज्ञान और अनन्त रूप जो दोनों सत्य हैं, ये भौतिक जगत् को असत्य या अभाव रूप में समझते है उधर अन्य पारिभाषिक पद 'विश्वा भूतानि, पाद त्रिपाद् अमृत और दिवि' में से सबके अर्थ भी लौकिक संस्कृत के अनुसार अटकल से ऐसे लगाये हैं कि जो वैदिक साहित्य से अच्छी तरह परिचित नहीं उन्हें बहुत शुद्ध और उत्तम से लगें। यहां पर विशेष करके, दिवि माने न द्योतनात्मक होता है, न अमृत माने विनाशरहित ही, न त्रिपाद् माने कभी भी कालत्रयवर्तीनि, न भूतानि माने सर्वत्र प्राणि जातानि, न विश्वानिमाने सर्वाणि मात्र। इनका शुद्ध सही उचित और सत्य तथा वैदिक अर्थ पहिले दे दिया गया है।

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥

['अशनाया हि मृत्युः से त्रिपाच्चतुष्पाद्ब्रह्म']।

क्या किया जाय सायण जी यहाँ पर 'त्रिपात्पुरुषः' माने 'संसाररहितो बहुल स्वरूपः' कह गये हैं। ये दोनों विशेषण एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं। जो संसाररहित हैं वह अभौतिक है तो वह बहुलस्वरूप या भौतिक नहीं हो सकता, न इसके विपरीत। ऐसा वे क्या समझकर लिख गये, यह वही स्वयं बता सकेंगे। ऐसी ही सब बातें यहां के पाद : शब्द तथा शेष उत्तरार्द्ध की व्याख्या में लिखगये हैं। अस्तु, यह ऋचा पूर्व ऋचा के भाव को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दी गई है, पूर्व ऋचा में त्रिपाद् और चतुर्थपाद की चर्चा आ चुकी है। इन

पादों के बारे में वैदिक युग में जो धारणायें या आख्यान या व्याख्यान विद्यमान थे उनका यहां पर ऐतिहासिक संकेत दिया जा रहा है। इस ऋचा का जो पाठ ऋ० वे० और यजुर्वेद में (जैसा यहां दिया है) मिलता है वह कुछ अधिक स्फुट नहीं है, पर अथर्व ने इस पहेली को सुलझाने के लिए जो अधिक स्पष्ट पाठ दिया है, वह इसके भाष्य का सा काम कर रहा है। इसीलिए अथर्व ने इस ऋचा को द्वितीय स्थान दिया है तब पूर्व ऋचा को। अथर्व का पाठान्तर यह है "त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येदाभवत्पुनः। तथा व्यक्रामत् विष्वङ्ङशनानशने अनु॥" अब अथर्व के मन्त्र के अनुसार उक्त ऋचा के 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः' का अर्थ या भाष्य 'त्रिभिः पद्भि र्द्यामरोहत्' हुआ; अर्थात् वह पुरुष तीन पादों से (ऊर्ध्वमाने) द्यौं या पूर्वार्द्ध रूप दिन में उदित हुआ या आरूढ हुआ (उदैत् = अरोहत् , ऊर्ध्वम् = द्याम्)। यह भाव वामन नामक विष्णु की कथा से लिया गया है जिसका वर्णन श. प. ब्रा. (१-२-३-५ से १० तक) में दिया गया है। इस वामन रूप विष्णु की कथा का मूल स्रोत 'इदं विष्णुर्वि-चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' (ऋ. वे १-२२-१७) ऋचा है। इसके अनुसार वामन नामक (५२ अंगुली या ५२ तत्त्व के) पुरुष या विष्णु ने अपने तीन लोक पदों को, भूर्भुवः स्वः प्रथम तीन लोक या सप्तक या दर्शन के पूर्वार्द्ध के २३ तत्त्वों को अतिक्रमण कर लिया, और वे तीन पाद या पूर्वार्द्ध, चतुर्थपाद की पांसुल रजोमयता में अदृश्य से हो गये (विष्णु शीर्षक देखें)। पद और पाद में अन्तर है, पद तो सप्त सप्तकों के सप्तक का नाम है, पाद गायत्री त्रिष्टुप् आदि के पादों का है। त्रिपद में २३ तत्त्व है, त्रिपाद में २४। इसीलिए बृह० उप० गायत्री को दर्शित चतुर्थपदा कहती है क्योंकि २४वें में चौथा पद प्रारम्भ हो जाता है। वास्तविक अर्थ तो यही है। पर सायण जी कहते जा रहे हैं कि 'अस्मादज्ञानात्कार्यात् बहिर्भूतः अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्'। कहां तो विष्णु के पादों के अतिक्रमण की वैदिक कथा या दर्शन की बात चल रही है, कहां ये इस लोक की लौकिक बातों में घटाते जा रहे हैं। यहां अज्ञान के कार्य का क्षेत्र कहां है ? बाहर कहां है ? कहां अस्पृश्यता है ? ऊँचे उठकर ठहरने की चर्चा कहां है ?

'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' का अर्थ पूर्वपाद की सम्मिलित विचारधारा से यह होता है 'तब उसके चतुर्थ पाद (रूप भौतिकात्मा) का विकास हुआ'। अब वह पूर्ण चतुष्पाद ब्रह्म बन गया। सायण ने पुनः इस पद को (शंकर की बाह्यार्थ शून्यतावादी) माया बतलाया है। परन्तु वेदों में इसी को यथार्थ भौतिकात्मा, अखिल ब्रह्माण्ड की सोमात्मा माना है। यह ठीक है कि भौतिकात्मा ब्रह्म का अंश है, पर यह शतप्रतिशत सत्य, नित्य, अजर और अमर है,

हां परिणामिनी होने से अनृत या माया नाम से पुकारा जाता है, नश्वरता परिणामों की है न कि परिणामी तत्व की, यह भौतिक तत्व ब्रह्म की तरह विभु और नित्य है।

'ततो' साशनानशने अभि विष्वङ्व्यक्रामत्' इसमें 'साशनानशने' पद का द्वन्द्व समास तो वैदिक परिभाषिक शब्द है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने आरम्भ ही में इसका प्रयोग किया है, लिखा है "नैवेह किञ्चनाग्र आसीद् मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनायय‍ाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोकुरत मन्वीस्यामिति" (१–१–१) (श० ब० ब्रा० १०–६–५-१)। यहाँ पर अशनायया और अशनाया दो पदों का प्रयोग है। अशनाया की मृत्यु ही मृत्यु रूप स्थिति है, वह स्थिति अशनाया (अशनायया) से आवृत है या मृत्यु से व्याप्त है, दोनों एक ही बात है, यह इसी उद्धरण में उल्लिखित हैं। यहां पर जिसको 'मृत्युना आवृतं' या अशनायया आवृतं कह रहे हैं वह मृत्यु या अशनाया दोनों भौतिकात्मा के रज: पटल या पांसुल स्वरूप के लिए प्रयुक्त किये जा रहे हैं, भौतिकात्मा का स्वरूप इससे पहिले था ही नहीं, जो कुछ था वह भौतिक शरीर न होने से उसका स्वरूप मृत्यु या अशनाया ही कहा जा सकता है। आत्मा का भौतिकता से या शरीर से पृथक् रहना ही मृत्यु है अशनाया है। तब इस भौतिक ब्रह्माण्ड के विकास ह्रास का कोई कारण (खाद्यादि सम) रहा ही नहीं। छा० उप० (६–८–३) ने इस अशनाय की उत्तम और स्पष्ट व्युत्पत्ति दे रखी है। लिखा है "अथ यत्रैतत्पुरुष: पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनाय: पुरुषनाय: एवं तत्तेज आचक्षते उदन्येति।" "आप एव तदशितं नयन्ते······अप आचक्षते अशनाय" कि अशनाय नाम अप: या आप: का है, इन्हीं आप को धारण करना भौतिकता को धारण करना अशनाय या अशनाया कहते हैं। जैसे गाय ले जाने वाला गोनाय कहलाता है वैसे ही आप: को ले जाने या धारण करने वाले को अशनाय कहते हैं। इसी लिए कहा है 'मृत्युरेवाप:' (वृह० उप० वही०)। ऐसी परिस्थिति में चतुष्पाद् ब्रह्म उस अनशन और अशन रूप मृत्यु को चारों ओर से व्याप्त कर के अब मनस्वी, वाग्मी और अदिति के अत्ता रूप को प्राप्त हुआ, या आदित्य रूप में या सूर्य चन्द्र सोम वैश्वानर आदि देवों के मन: वाग् प्राण रूपो में विकसित हुआ। यहां पर 'साशनानशने' एक शब्द है, अनशन पूर्वार्द्ध है अशन उत्तरार्द्ध, वह इन दोनों से युक्त पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों को (अभि) सर्वत: व्यतिक्रमण कर गया और उस मृत्यु रूप अशनाया को अपनी आत्मा बनाकर, मृत्युञ्जय रूप महो देव बन गया। 'स मृत्युञ्जयति मृत्युरस्यात्मा भवति' (श० प० ब्रा० १०–६–५–८)। श० प० ब्रा० १०-५-१–४ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि

मृत्यु नाम उन तत्त्वों का है जो आदित्य से अर्वाचीन हैं, जो इन तत्त्वों को अपनाता है वह मृत्यु से आप्त या व्याप्त हो जाता है। इस मृत्यु रूप आत्मा को विद्या से जीता जा सकता है, विद्या उसे आदित्यों से ऊर्ध्व या बसु रुद्रों के पूर्वों या तत्त्वों में ले जाती है, ऐसों को ऊर्ध्वञ्चित कहते हैं। इस मृत्यु रूप तत्त्व का विस्तृत व्याख्यान पुन० श० प० ब्रा० (१०-५-२-३ से १८ तक के ब्राह्मणों) में दिया है। मृत्यु नाम मरने का नहीं है, वरन् यह तो एक तत्त्व है, पुरुष का नाम है, अमृत है, मृत्यु के अन्तर्भाग में अमृत है मृत्यु विवस्वान् में बसती है, यह भौतिकात्मा है, अमृत है, अमर है। जब भौतिकात्मा या मृत्यु, का उच्छेद करके त्रिपादामृत शुद्धरूप में रहता है तब लोग कहते हैं कि मृत्यु हो गई, वहां समझना चाहिए कि मृत्यु पृथक् हो गई, तब उसे प्रेत कहते हैं कि वह अलग हो गया (वह अमर है) ऐसी परिस्थिति में त्रिपादात्मा पुरुष प्राण रूप में अपने मे सब कुछ आशयित करके रहता है तो लोग कहते हैं वह 'स्वाः' बन गया या सोता है या स्वप्नमय हो गया। इस परिस्थिति में वह न तो कुछ ज्ञान रखता है, न मन से संकल्प करता है, न वाणी से अन्न का रस जानता है, न प्राण से गन्ध, न आंख से देखता है, न कान से सुनता है। इन उपकरणों वाले शरीर से वह पृथक् हो गया, वह एक में अनेकों के बीजों को एक बीज रूप में समाविष्ट करके 'एक' होके रहता है, तब उस मृत्यु को एक कहें या बहुत ? उसे बहुत कहना चाहिए, वह समीप भी है दूर भी है। इसी दो रूपों को अशनाया, मृत्यु या 'अशनानशने' कहते हैं। इसी को अत्ता कहते हैं, शरीर को अन्न कहते हैं (शेष मृत्यु नामक देवता शीर्षक में देखें)। और इसी भाव को "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (ऋ० वे० १-१६४-२०) ऋचा 'स्वाद्वति अनश्नम्' (साशनानशने) धातुओं के द्वारा अभिव्यक्त करती है। इसी भाव को ईशावास्योपनिषद् 'अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत मश्नुते' मन्त्र में देता है। त्रिपादूर्ध्वमुदेत्पुरुषः' में ऊर्ध्वमुदैत् की सन्धि अनियमित या वैदिक है। सन्धिविच्छेद यह है, ऊर्ध्वः + उत् = ऊर्ध्वमुत्।

तस्माद्विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ५॥

(विराट्पुरुषः, विराड्चतुष्पाद्ब्रह्म)

इस ऋचा के यजुर्वेदीय पाठ में सर्व प्रथम शब्द 'तस्माद्' के स्थान में 'ततो' दिया है जिससे अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु अथर्व वेद के पाठ में प्रथम पाद में जो 'विराडग्रे समभवत्' पाठ ('तस्माद्विराडजायत' के स्थान में) दिया गया है, वह अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस पाठान्तर से

पुरुषसूक्त की व्याख्यान शैली पर एक ऐसा ज्वलन्त प्रकाश पड़ता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सूक्त का प्रत्येक मन्त्र पुरुष या यज्ञ पुरुष की व्याख्या नाना रूपों में नाना शैलियों में कर रहा है। प्रत्येक ऋचा उसका व्याख्यान वेदों में स्वीकृत नानारीतियों के रूपों में संक्षिप्त, पर सूत्र रूप में पूर्ण दे रही है। प्रस्तुत ऋचा पुरुष की व्याख्या 'विराट्' रूप में कर रही है। पुरुष की विराट् रूप व्याख्या अपने ढंग की अलग है, अथर्व ने तो 'विराट्' पर एक पूरा सूक्त लिखा है। उसी का सारांश सा इस मन्त्र में मिलता है। इस ऋचा का अर्थ श० प० ब्रा० १३-६-१ पूरे प्रपाठक में भाष्य के रूप में जैसा दिया हुआ मिलता है, उसी को यहां पर देकर सब के सन्देह की निवृत्ति कर दी जाती है। प्रथम वाक्य को 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' की व्याख्या में दिया जा चुका है द्वितीय वाक्य जिसका सम्बन्ध सीधे इस ऋचा ही से है वह इस प्रकार है 'तस्य त्रयोविंशतिर्दीक्षा द्वादशोपसदः पञ्चसुत्याः स एव चत्वारिंशद्रात्रः सदीक्षोपसत्कश्चत्वरिंशदक्षरा विराट् तद्विराजमभि सम्पद्यते 'ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुष.' इत्येषा वै सा विराडेतस्या एतद्विराजो यज्ञम्पुरुषं जनयति ॥ २ ॥ ता वा एताः चतस्रो दशतो भवन्ति, तद्यदेता चतस्रो दशतो भवन्त्येषाञ्चैव लोकानामाप्तौ दिशाञ्चेममेव लोकम्प्रथमया दशताप्नुवन्नन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्या तथैवेतद्यजमान इममेव लोकम्प्रथमया दशताप्नोत्यन्तरिक्षं द्वितीयया दिवं तृतीयया दिशश्चतुर्थ्यै-तावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशं च सर्वं पुरुषमेधः सर्वस्याप्तौ सर्वस्या-वरुद्ध्यै ॥" यहां पर विराट् पुरुष की विवेचना का आधार विराट् छन्द को बतलाते हुए कहा है कि इसमें १०, १० के चार पाद होते हैं कुल ४० अक्षर या तत्त्व होते हैं, इसे यज्ञपुरुष कहते हैं। प्रथपाद ब्रह्मपाद है जिसका दूसरा पाद अन्तरिक्ष या गार्हपत्याग्नि है, तृतीयपाद दिव या भौतिकात्मा है, चतुर्थ-पाद दिशायें या भौतिक शरीर हैं (दिशाओं का सम्बन्ध भौतिकता ही से है ब्रह्म या त्रिपाद् पुरुष से नहीं, वे एक है ,विभु हैं अरूप हैं)। इस प्रकार के विराट् पुरुष को इसी "ततोविराडजायत विराजोऽधिपूरुषः" ऋचा का पुरुष कहा है। इससे स्पष्ट है कि विराट् पुरुष का वर्णन इसमें आद्योपान्त किया जा रहा है, और यज्ञपुरुष रूप में किया जा रहा है और ऋचा में 'तस्मात्' या 'ततः' का अर्थ 'किसी अन्य तत्त्व से' निकलना या विकषित होना नहीं है वरन्, इसके माने 'तदुपरान्त दूसरी शैली से कहा जाय तो' है। इस सन्दर्भ से अथर्व का पाठान्तर अधिक संगत है। इस विराट् पुरुष या विराट् ब्रह्म की विशद और विस्तृत तथा सर्वाङ्गीण व्याख्या अथर्व ८-५ १० (१, २, ३, ४, ६) में दी गई है जिसका सार श० प० ब्रा० (१०-५-२ पूरे प्रपाठक में)

दे देता है। प्रतीत ऐसा होता है कि अथर्व ने उक्त श० प० ब्रा० की व्याख्या की है, इनमें कौन प्राचीन कौन नवीन है इसका निर्णय करना सीधा नहीं है। श० प० ब्रा० ने सूक्ष्म में, अथर्व ने विस्तार में कहा है, दोनों प्राचीन हो सकते हैं।

विराट् क्या है ? इसकी व्याख्या अथर्ववेद (१०-५-१०-२४) ने बड़ी सरल और स्पष्ट भाषा में देते हुए लिखा हैं "विराड् वाग् विराट् पृथिवी, विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥" कि विराट् वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म है, विराट् सोम या पृथिवी नामक भौतिक ब्रह्म है, विराड् अन्तरिक्ष नामक गार्हपत्याग्नि है। इसका समर्थन श० प० ब्रा० (७-२-१-२३) ने कर रखा है, इसका उद्धरण निर्ऋति नामक शीर्षक में देखें। और यही बात पुनः अथर्व (१०-५-१०) के १ और २ मन्त्रों में कहता है। विराट् प्रजापति है जिसमें सर्वाःप्रजाः अपने मौलिक रूप में (अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश) सन्निविष्ट रहती हैं, वही विराट् 'साशनानशने' या मृत्यु रूप है, वही साध्या ऋषियों (या सप्त महर्षियों) में अधिराज या सर्वप्रथम है (साध्या ऋषि देखें)। उसी के वश में भूत (दैवी आत्मायें) और भव्य (भौतिक आत्मायें) हैं, वह उन भूत भव्यों को हमारे वश में कराये या करे। अथर्व वेद ने इस मन्त्र को ऋ० वे० के 'अस्यवामस्य' दैर्घतमस सूक्त (१-१६४) के मन्त्रों को पूरा उद्धृत करते हुए जोड़ रखा है, अतः बड़े महत्त्व का है।

अब उक्त ऋ० वे० की ऋचा 'तस्माद्विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः। स जातोऽतिरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।' में विराट् के १०, १० तत्वों के चार पादों के नाम विराट् अधिपुरुष भूमि और पुरः दिये हैं। ये ब्रह्म के क्रमिक विकास हैं। विराट् नामक छन्द उत्पन्न हुआ तदनन्तर उसका अधिष्ठता अधिपूरुष या मध्यवर्ती पुरुष विकसित हुआ; उसका पुनः अति विस्तार या विकास (अतिरिच्यत) होने से वह तृतीय पाद के भूमि नामक भौतिकात्मा के रूप में प्रस्तुत हुआ, इन सब के विकास के पश्चात् चतुर्थ सप्तक में पुरः या अखिलब्रह्माण्डीय एक भौतिक शरीर (पुरः) प्रस्तुत हो गया। भूमि और पूः की व्याख्या 'पुरुष' की व्याख्या में दे दी गई है। वह बिराट् पुरुष इस पुरी में शयन निवास या आश्रय करने लगा तो 'पुरुप' कहलाने लगा। पादों के तत्त्वों की क्रमिक संख्या जैसा श० प० ब्रा० (१३ ३-१-२) में दी गई है इस प्रकार समझनी चाहिए—प्रथमपाद १ से १० तक, द्वितीय पाद १० से २० तक, तृतीयपाद २१ से ३० तक चतुर्थपाद ३१ से ४० तक। सहस्रशीर्षा पुरुष त्रिपात्पुरुष या १ से ३० तक का पुरुष है वह विराट् ४० तत्त्वों से

'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' या दश तत्त्व पहिले हैं और इसने तृतीयपाद में १० तत्त्वों (अग्नि सोम मित्र इन्द्र बृहस्पति सविता पूषा सरस्वती त्वष्टा और भग) का अतिक्रमण कर लिया, विराट् से १० तत्त्व पीछे रह गया।

इस मन्त्र में 'विराट्, अधि पूरुष, भूमि और पुरः' चारों शब्द पारिभाषिक हैं। यहां इनका लौकिक अर्थ नहीं है। सायण को इनमें से किसी का भी ज्ञान नहीं है अतः उनकी सारी व्याख्या एकदम अवैदिक और लौकिक बन गई है। नृसिंह तापिनी का उद्धरण भी इसमें लागू नहीं होता, वह दूसरी बात कहता है। यह स्वतन्त्र वर्णन है, क्रमिक नहीं, यह भी सायण का भ्रम है।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ ६॥

[ऋतं ब्रह्मेत्याहुः] इस मंत्र को यजुर्वेद ने १४वें और अथर्व ने १०वें स्थान में दिया है। अथर्व और ऋग्वेद का पाठ एक सा है पर यजुर्वेद ने उक्त दोनों के पाठों के 'वसन्तो अस्यासीदाज्यं' को ससन्धि रूप में 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' लिखकर छन्दोभङ्ग कर रखा है। पर इस पाठ में 'वसन्तो' के 'न्तो' को प्लुत (चार मात्रा का) उच्चारित करके उक्त क्षति की पूर्ति कर ली जाती है।

यह ऋचा संवत्सर ब्रह्म के ऋतुमय विकास-क्रम का वर्णन देती है। इस संवत्सर ब्रह्म को ऋतं ब्रह्म या ऋतु ब्रह्म या ऋतव्य ब्रह्म कहते हैं। वैदिकों ने व्याख्या भेद से संवत्सर ब्रह्म की इस सरणि में कहीं पाँच ऋतु मानी हैं कहीं छह और कहीं सात। पञ्चपर्वा में पाँच है, षडष्टक में छह, सप्त सप्तकों में सात। यहां पर हविर्मय पुरुष की व्याख्या है। हवि नाम सोम का है 'हवि वै देवानां सोमः' (श० प० ब्रा० ३-४-३-२)। सोम का स्थान चतुर्थ सप्तक में आता है, वहीं चौथी ऋतु शरद् का स्थान पड़ता है। अतः शरद् ऋतु को हविः या सोम नाम से पुकारा है। "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० ४-३-४-१)। प्रत्येक सप्तक एक ऋतु है। प्रथम सप्तक वसन्त है। श० प० ब्रा० २-१-३-५) ने वसन्त को ब्रह्म ही बतलाते हुए लिखा है 'वसन्तो ब्रह्मैव क्षत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षा' आदि। ब्रह्म शिशिर ऋतु के पतझड़ के समान है, नये पत्ते और फूल वाला यह वासन्तिक ब्रह्म प्रथम सप्तक का ब्रह्म है। यह अज का आज्य या प्राण रूप है। वास्तव में आज्य शब्द का सम्बन्ध अज (एक पात्—वसन्तर्तु) से है। इस अज का विकास ही आज्य कहलाता है, यह अथर्व ९-३-२८ से स्पष्ट है। इसीलिए अज के इसी विकास को वेदों में आज्य या घृत या प्राण कहा है, ये प्राण रूप पत्र और पुष्प वैद्युतीय स्वरूप के हैं अतः

आज्य को वज्र नाम से पुकारा गया है 'वज्रो वा आज्यम्' (श० प० ब्रा० १-४-४-४)। ग्रीष्म ऋतु क्षत्र है, द्वितीय सप्तक है इध्म नामक अग्नि है। अतः लिखा है 'इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम' (श० पा० ब्रा० १-३-२-१), यह सप्तक अग्नि ही का है। इस ऋतु का नाम तनूनपात् भी है "ग्रीष्मो वै तनूनपात् ग्रीष्मो ह्यासां प्रजानां तनूः" (श० प० ब्रा० १-४-४-१०)। तीसरी ऋतु वर्षा है जिसका नाम प्रस्तुत मंत्र में नहीं दिया है पर इनके अभ्यन्तर्गत है, यह वर्षा इड और विड है। इड नाम क्षुद्र सरीसृव या मौलिक कीटाणु का है जिसका अभ्युदय अमीवा के रूप में इसी सप्तक में तेजोरूप रेतः स्वरूप में होता है (श० प० ब्रा० १-४-४-११)। चतुर्थ सप्तक शरद् है जिसे यहां हविः या सोम कहा गया है। उसीं को अन्यत्र 'बर्हिः' या आसन या वाहन (अश्वादि) या भौतिकात्मा कहा है 'शरद्वै बर्हिः' (वहीं)। अतः ऋचा इस विकास क्रम का उपोद्घात देते हुए कहती है कि जिस हविः या बर्हिः नामक शारदीय पुरुष के विकास को जानने के लिए तत्त्वों ने यज्ञ का विस्तार किया या तत्त्वों ने विकास क्रम को अपनाया उसमें वसन्त तो वैद्युतीय प्राण रूप प्रथम सप्तक था, ग्रीष्म, इध्म नामक या 'इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम' (श० प० ब्रा० १-३-२-१)है, तनूनपात् नामक अग्निरूप द्वितीय सप्तक रहा, शरद् हवि नामक सोम रूप भौतिकात्मा या चतुर्थ सप्तक बना "सोमो वै देवानां हविः" (श० प० ब्रा० ४-३-४-१)। शिशिर ऋतु को इन सब ऋतुओं का सिर और द्यौ नाम से पुकारा गया है 'द्यौरस्य शिशिर ऋतुः' (श० प० ब्रा० ८-७-१-७ तथा १३-६-१-१०, ११)। श० प० ब्रा० ने वर्षा ऋतु को 'अन्तरिक्ष' या आदित्य स्थानीय बतलाया है (२३-६-१-१०) और हेमन्त ऋतु को छटी ऋतु बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार हेमन्त में पतझड़ होता है वैसे ही इस स्वाहाकार नामक हेमन्त ऋतु में सब तत्त्व पत्तों या पक्षियों की तरह भौतिक शरीरों में बिखरने लगते हैं (श० प० ब्रा० १ ४-४-१३, १४) "अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारोऽन्त ऋतूनां हेमन्तो वसन्ताद्धि पराद्धर्यो। वसन्ते एव हेमन्तात्पुनरसुरे तस्माद्धचेष पुनर्भवति पुनर्हवा अस्मिल्लोके।" अगला उद्धरण अधिक स्पष्ट है। "हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकारो, हेमन्ती हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योषधयः प्रवनस्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते प्रतितरामिव वयांसि भवन्त्यधस्तरामिव वयांसि पतन्ति, विपतित लोमेव पापः पुरुषो भवति। हेमन्तो हीमाः प्रजाः स्वं वशमुपनयते स्वो ह वै तमर्द्धं कुरुते श्रिये अन्नाद्याय यस्मिन्नर्द्धे भवति य एवमेतद्वेद॥" (श० प० ब्रा० १-४-५)। जिस भाग (उत्तरार्द्ध या परार्द्ध) में ये तत्त्व भौतिक गोलों की भौतिकात्मा-रूप पत्तों या पक्षियों की

तरह सर्वतः बिखरने लगती है उसमें वह पुरुष (४० वें तत्त्व में विराट् रूप में) पापः या पूर्ण भौतिक हो जाता है। वह विराट् पुरुष, अपने पूर्वार्द्ध या उत्तरायण के भाग के दैवी आत्माओं को अपने वश में करके श्री और अन्नाद्य भौतिक शक्तियों की वृद्धि करता है। पूर्वार्द्ध की चार ऋतुयें यज्ञभाग भोगी हैं दैवी हैं, उत्तरार्द्ध की आसुरी या भौतिकी हैं, इनको पूर्वार्द्ध वाली दवोच देती है (श० प० ब्रा० १–४–६–९१), मध्य में रक्षोहणी अग्नि (वैश्वानर) है। यहाँ पर ऋतुओं को समिध नाम से पुकार कर यज्ञ पुरुष की साधना का एक मार्ग बतलाया है ! ऋतुयें समिध हैं जिन से पुरुष रूप यज्ञाग्नि उद्दीप्त की जाती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋतु प्रणाली से ब्रह्म व्याख्या नानारूपों में की गई है। यह बहुत प्रसिद्ध मार्ग रहा। प्रथम चार ऋतुयें चतुष्पाद् ब्रह्म की व्याख्या करती है, जैसा कि यहां पर प्रस्तुत मन्त्र में। इस विषय पर तत्त्व निर्णय शीर्षक में 'ऋतुवाद' नाम से बहुत लिखा जा चुका है उसे भी देख लें। इस ऋचा में 'हविषा' वसन्त, आज्य, ग्रीष्म इध्म, शरद और हवि शब्द पारिभाषिक हैं। यह केवल मानसिक यज्ञ ही नहीं, साक्षात् सृष्टि और अतिसृष्टि का विकास रूप यज्ञ है जिसे यज्ञपुरुष या पुरुष कहते हैं। यहां भी कोई परतन्त्र विषय नहीं है। यह ऋचा स्वतन्त्र रूप से योग सम्बन्धी संवत्सर ब्रह्म के ऋतु सम्बन्धी भागों का आदि से अन्त तक (यहां पर चतुर्थ सप्तक तक) का वर्णन देती है।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

"सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषः चत्वारः आत्मानस्त्रय पक्षपुच्छानि" "छन्दांसि वै साध्या देवाः"

यजुर्वेद में इसका स्थान ९वां है, और पाठ में कोई अन्तर नहीं है। पर अथर्व वेद में इसका स्थान ११ वां है और इसके पाठ में 'बर्हिषि' के स्थान में 'प्रावृषा'; 'अग्रतः' के स्थान में अग्रशः और और 'ऋषय.' के स्थान में 'वसवा' दिया है।

इस ऋचा में यज्ञ, वर्हिषि, देवाः, साध्याः और ऋषयः शब्द पारिभाषिक है। इनके ज्ञान के विना इस ऋचा का अर्थ ही नहीं लग सकता। इस ग्रन्थ में इन पारिभाषिक शब्दों पर पृथक् पृथक् शीर्षकों में विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है। पहिले उन्हे देख लें तब यह ऋचा स्वयं समझ में आने लगेगी। संक्षेप में यज्ञ नाम विकासीय सृष्टि पुरुष या यज्ञ पुरुष का है; वर्हिः चतुर्थ सप्तकीय शरद नामी हविः संज्ञक भौतिकात्मा या भौतिक शरीर या आसन है जिसका कुछ उल्लेख अभी पूर्ववर्ती ऋचा में भी हो चुका है; देवा नाम तत्त्व रूप समस्त देवता या तत्त्व हैं 'इमे देवा इमानि भूतानि, (बृह० उप० २–६–६)

साध्याः देवता तो छन्दोरूपी देवता हैं। श० प०ब्रा० (१-३-१६) ने लिखा है "छन्दासि वै साध्या देवाः" इनमें मुख्य १२ देवता है, 'साध्या देवता १२ हैं। इन छान्दस देवताओं का वर्णन अगली ऋचा में पशुरूप में किया जाता है। पर यहां पर इनको देवता रूप में दिया है। 'छन्दो मया देवाः (३-२-१५)। ऋषयः' तीन प्रकार के हैं, महर्षि ऋषि आङ्गिरस 'प्रत्येक में सात-सात का गुच्छा है। मंत्रों में रचयिता ऋषियों के नामों का तादात्म्य भी इन्हीं ऋषियों के साथ किया गया है। महर्षि प्रत्येक सप्तक के प्रथम ऋषियों का नाम है, 'ऋषि प्रत्येक सप्तक के सात ऋषियों का नाम है, अङ्गिरस चतुर्थ सप्तक के ऋषि हैं। इस ऋचा का अर्थ वाली एक दूसरी ऋचा भी है जैसे "त्रीणि शतात्रीणिसहस्राण्यग्निंत्रिंशश्च देवा नव चासपर्यन्। औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मादिद्धोतारं न्यसादयन्त।" (ऋ० वे० १०-५२-६)। अग्रतः जातं तं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन्। तेन (प्रोक्षित पुरुषेण) ते देवाः ये साध्या, (आसन्) (ये च) ऋषयः (आसन् तेन) अयजन्त । अग्रतः नाम दर्शन का पूर्वार्द्ध है, इस पूर्वार्द्ध में विकसित यज्ञ पुरुष को चतुर्थसप्तकीय भौतिकात्मीय बर्हि रूप आसन वाहन शरीर या आत्मा में सन्निविष्ट कर दिया। त्रिपादामृतीय यज्ञ पुरुष को या विकासीय ब्रह्म पुरुष को भौतिकात्मा का चोला पहिना दिया। तब सृष्टिविकास में जो छान्दोमयी साध्या देवता या तत्त्व थे या महर्षि या ऋषि नामक तत्त्व थे वे भी अपने त्रिपादामृत रूप को भौतिकात्मा का चोला पहिनाने का यज्ञ या विकास करने लगे। यज् धातु अकर्मक है, वे स्वयं यज्ञ करने लगे या स्वयं विकसित होने लगे। 'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्' (ऋ० वे० १०-८१-५, ६) का भाव भी ठीक यही है। यहां बर्हिः के स्थान में 'हविः' शब्द दिया है। हविः नाम शरद् या भौतिकात्मा बर्हि का ही है यह पिछली ऋचा में स्पष्ट हो चुका है। विश्वकर्मा ऋचा यज धातु का अर्थ स्वयं ही 'विकास' अर्थ और अकर्मक धातु रूप में स्पष्टतया प्रयुक्त कर रही है। अथर्व वेद ने बर्हिषि के स्थान में 'प्रावृषा' लिखा है, यहां पर प्रावृषा या वर्षा ऋतु या चतुर्थ सप्तक में प्रोक्षणा बतलाया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर बर्हिः शब्द शरद् ऋतु का वाची है। एक बर्हि में (सप्तमी से) प्रोक्षण कहता है। दूसरा प्रावृषा या वर्षा से (तृतीया से) चतुर्थ में प्रोक्षणा कहता है, विभक्त्यान्तर से भाव में एकता आ जाती है। और साथ में इनके अर्थ के सम्बन्ध में एक लुप्त श्रुति मिल जाती है कि बर्हिः और प्रावृष् शरद ऋतुवादी संवत्सर ब्रह्म के चतुर्थ पाद का संकेत कर रहे हैं। 'शरद्वै बर्हिः' (श० प० ब्रा० १-४-४-११) 'बर्हिः' की पूर्ण व्याख्या 'बर्हिः' शीर्षक में दी जा चुकी है।

यह ऋचा सप्तपुरुषी दर्शन की व्याख्या चतुष्पाद ब्रह्म तक देती है। महर्षि सात हैं। यही सप्त पुरुष हैं जिनके प्रथम चार को 'चत्वारः आत्मा' कहते हैं, चतुर्थ सप्तक में अङ्गिरस ऋषियों का विकास होता है, अन्य ऋषियों का प्रत्येक सप्तक में। इनकी व्याख्या 'अष्टौलोका अष्टौपुरुषा तथा ऋषयः और देवा तथा साध्याः शीर्षकों में देखने का कष्ट करें।

वर्हिः शब्द का अर्थ अग्नि भी है, कुश भी है। अग्नि इसलिए है कि यह वैश्वानर अग्नि का प्रतिनिधि है, कुश इसलिए है कि यह चतुर्थ सप्तकीय आपोमय सागर के वार्त्र दुर्गन्धिमय से उगे विद्युत्किरणमय तीक्ष्ण शिखा है (वृत्र देखें तथा श० प० ब्रा० १-४-४-१३, १४)। वर्हिः चूडा का नाम भी है। यह अर्थ भौतिकात्मा को द्वितीय शिर मानने से अपनाया गया है। वर्हिः शब्द की व्युत्पत्ति 'बृंहदेव वर्हिः या बृंहयतीति, उद्वर्हयतीति वर्हिः' है। जो महत् या विभु या व्यापक है, वर्द्धन शील है वह वर्हिः है। छन्दों को साध्या देवा इसलिए कहते हैं कि समस्त वैदिक दर्शन की साधना छन्दों के अक्षरों छन्दः पादों से ही की गई है। सबसे पहिले अग्नि रूप गायत्री का यज्ञ या विकास किया गया। अतः ऐ० ब्रा० ने 'यज्ञेन यज्ञ मयजन्त देवा···साध्या।' के अर्थ में लिखा है "तेह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्तिदेवा इति छन्दांसि वै साध्या देवा तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गलोकमायन्नादित्या-श्चैवैहासन्नङ्गिरसश्च तेऽग्रेऽग्निनाऽग्निमयजन्त ते स्वर्गलोकमायन्।" (१-३-१६) अन्तिम वाक्य के आदित्य और अङ्गिरस नाम देवता (देवा) और ऋषयः शब्दों की व्याख्या कर रहा है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

[छन्दांसि पशवः] यह मन्त्र यजुर्वेद में छठा और अथर्व में १४ वां है। सब का पाठ एक सा ही है। वैदिक पशुवाद पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जा चुका है जो इस सूक्त के आदि में इसलिए दिया गया है कि हमारे इस सूक्त का पुरुष भी तो एक पशु ही है। बिना पशु को समझे पुरुष को कैसे समझा जा सकता ? यहां पर ये पशु लौकिक पशु नहीं हैं वरन् दार्शनिक या योग की अनुभूति रूप परिभाषिक पशु हैं।

प्रस्तुत मन्त्र वैदिक छान्दस दर्शन की व्याख्या छान्दस पशुओं के रूप में दे रहा है। वैदिकों के सर्वाङ्गीण दर्शन का मौलिक आधार छान्दस दर्शन है जिससे दर्शन के एक एक तत्त्व और पाद तथा अर्द्धों का विवेचन सुगम, तथा सुबोध बन जाता है और व्याख्यान शैली में संक्षेप तथा सुविधा हो जाती है।

इस मन्त्र में तीन प्रकार के पशुओं का वर्णन दिया गया है, वे हैं वायव्य आरण्य तथा ग्राम्य। श. प. ब्रा. (३–६–५–१६) ने लिखा है "छन्दांसि गच्छ स्वाहेति' सप्त वै छन्दांसि, सप्त वै ग्राम्या पशवः सप्तारण्यास्तानेवैतदुभयं प्रजनयति।" कि सात छन्द हैं, इनमें से सात ग्राम्य पशु हैं सात अन्य आरण्य पशु हैं। यहां पर इस ब्राह्मण ने वायव्यारण्यग्राम्य पशुओं का सीधा सम्बन्ध छन्दों से ही जोड़ा है। अन्यत्र इसी ब्राह्मण ने ८–६–२–१ में इन्हीं छन्दों में से कुछ को ग्रामणी या ग्राम्य कहा है। लोगों को वहां पर वायव्य आरण्य और ग्राम्य शब्दों के लौकिक अर्थ 'अन्तरिक्ष चारी जंगली और गांव के, समझ में आये। पर यहां ये शब्द सबके सब पारिभाषिक हैं, इनका यहां पर उक्त लौकिक अर्थों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इन शब्दों की पारिभाषिक व्याख्या श. प. ब्रा. (८–४–३–२ से १९ तक ८–५–२, ८–२–८–२–४– और १०–३–१, १०–३–२–) ने स्वयं दे रखी है। श. प. ब्रा. ने (८–२–३ और ८–२–४ में) १९ वायव्य पशुओं को गिनाया है जिनमें ९ अनिरुक्त पशु हैं, १० निरुक्त। अनिरुक्त पशु पूर्वार्द्धीय है, निरुक्त उत्तरार्द्धीय। इनके नाम छन्दसहित ये हैं :—प्रजापति छन्द (मूर्द्धावयः), मयन्द प्रजापति छन्द (क्षत्रं वयः), अधिपति छन्द (विष्टभो वयः), परमेष्ठी प्रजापति छन्द (विश्वकर्मा वयः)। ये मूर्द्धादि पक्षी बन कर उड़ गये। फिर एकपदी विवलं छन्द (वस्तो वयः), द्विपदी विशाल छन्द (वृष्णिर्वयः), तन्द्र पंक्ति छन्द (पुरुषो वयः), अनाधृष्ट विराट् छन्द (व्याघ्रो वयः), छदिच्छन्द (सिंहो वयः)। ये भी वस्त आदि पक्षी बनकर उड़ गये। ये सब के सब अनिरुक्त या पूर्वार्द्धीय पक्षी रूप छन्द हैं। इसके अनन्तर बृहती (पष्टवाड़), ककुप् (उक्षा), सतोबृहती (ऋषभ), पंक्ति (अनड्वान्), जगती (धेनु), त्रिष्टुब् (अविः), विराट् (दित्यवाट्), गायत्री (पञ्चाविः), उष्णिक् (त्रिवत्सं), अनुष्टुप् (तुर्यवाड़), ये सब छन्द कोष्ठान्तर्गत पशु नामी पक्षी बनकर उड़ गये। ये उत्तरार्द्धीय निरुक्त पशु हैं। ये उड़ने वाले अन्तरिक्ष दैवत्यं छन्द हैं। अतः ये सबके सब वायव्य पशु कहलाते हैं जैसा कि तै. ब्रा. (३–२–१–३) ने लिखा है "अन्तरिक्ष दैवत्याः खलु वै पशवः वायव एवेनान्परिदधाति॥" यह वाक्य सायण ने ठीक उद्धृत किया है पर उनकी समझ में यह बिलकुल नहीं आया। यजुर्वेद १४–९ और १० में इनका विस्तार पूर्वक वर्णन मिलेगा। ये पशु सातों सप्तकों से सम्बन्ध रखते हैं। अतः सात-सात की गिनती के पशु कहलाते हैं, क्योंकि छन्द में सभी सप्तक आ जाते हैं। (श. प. ब्रा. ८–४–३–२ से १९ तक में ग्राम्य पशु, एकशफपशु, क्षुद्रापशव, आरण्या पशवः का वर्णन है)।

आरण्य का अर्थ अरणिभवा आरण्या है। समस्त दर्शन आरण्य है, इसलिए भी ये आरण्य तत्त्व या पशु कहलाते हैं। यह आरण्य पाद रूप अरणियों से बनता है। अतः अरण्य कहलता है, और 'अरण्य भवा आरण्या' भी दार्शनिक और पारिभाषिक ही व्याख्या है जैसे ऋ. वे. लिखता है 'किं स्विद्वनं क उ सवृक्ष आस यतो द्यावापृथिवीं निष्टतक्षुः' (ऋ. वे. १०–८१–४; १०–३१–७) कि वह कौन वन (अरण्य) था और कौन वृक्ष था जिससे द्यावाभूमि या अखिलब्रह्माण्ड की सृष्टि की गई। यह वन छन्दों के पाद रूप अरणियों और अक्षर रूप वृक्षों का है। यह छान्दस दर्शन रूप वन है। ऋ. वे. १०–१४६ में अरण्यानी से प्रश्न किया है "अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि कथा ग्रामं न पृच्छसि। न त्वा भीरिव विन्दतीं ३ ॥ १॥" कि तुम बन-बन फिरती हो क्यों भौतिकात्मा रूप ग्राम या साथी को नहीं पूछती? तुम्हें डर भी नहीं लगता? ये अरणियाँ वे हैं जिनसे आग निकलती है, ये प्रत्येक पाद रूप अरणियाँ हैं जिनके बारे में ऋ० वे० स्वयं लिखता है "अरण्योर्निहिता जातवेदाः गर्भ इव सुधितो गर्भिणीभिः" (३–२९–२)। इसी को अश्मवाद में 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' (ऋ० वे० २–१२–३) कहा गया है। इन अरणियों या अरण्यों के निर्माता आरण्य पशु या छन्द हैं। श० प० ब्रा० ९–३–१–२४ में इन सप्त अरण्यों को सप्त मरुत बतलाया है, ९–१–२–४ में अरण्यों को अनूच्य वाणी कहा है)। इनका विवेचन यजु० वे० (१५–४–५) और श० प० ब्रा० (८–५–२) में भी दिया गया है। इन छन्द रूप पशुओं की संख्या विराट् छन्दाक्षरों में ४० दी गई है। इनके नाम ये हैं एवच्छन्द, वरिवच्छन्द, परिभूच्छन्द, आच्छच्छन्द, शम्भूच्छन्द परिभूच्छन्द, मनश्छन्द, व्यचश्च्छन्द सिन्धुच्छन्द समुद्रच्छन्द, सारिं च्छन्द, ककुप्छन्द काव्यं छन्द, अङ्कुपं छन्द', अक्षरपंक्ति छन्द, पदपंक्ति छन्द, विष्टारपंक्ति छन्दः, क्षुरोभ्राजछन्द, आच्छच्छन्द, प्रच्छच्छन्द, संयच्छन्द, विपच्छन्द, बृहच्छन्द, रथन्तरं छन्द, निकामच्छन्द, विविधच्छन्द, गिरच्छन्द, अजच्छन्द, सँस्तुप्छन्दः, अनुष्टुब्च्चन्द. एवच्छ्रन्द, परिवच्छन्द, वयच्छन्द, विपर्द्धाच्छिन्द, विशालं छन्द, इरीहणं छन्द, 'तन्द्रं पंक्तिश्छन्द॥ श० प० ब्रा० ने इनका तादात्म्य दर्शन के विभिन्न लोकों सप्तकों तत्त्वों और देवों के साथ किया है, वहीं देख लें। जैसे आद क्रम से ब्रह्मलोक (अयं लोकः) अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशः, अन्नं, प्रजापति, आदित्य प्राण, मनः, वाक्, प्राण, उदान, त्रयी विद्या, आपः, असौलोकः, अयं लोकः, दिश, आदित्य, अन्नं, रात्रिः अहः, असौलोकः, अयंलोक, वायु अन्तरिक्ष, अन्नं, अग्निः, वाक्, असौ लोकः, अयं लोकः; अन्तरिक्षं, आदित्य, आपः। श० प० ब्रा० (३–७–२) ने इसका विवेचन पश्वेकादशिनी में भी दिया है जहां इन्हें आग्नेय सारस्वत सौम्य पौष्ण बार्हस्पत्यादि पशु कहते हैं।

ग्राम्य पशु ग्रामों के पशु हैं, ग्राम नाम सप्तकों का है जैसे कि संगीत में माने जाते हैं "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।" एक सप्तक में सात स्वर होते हैं तो यहां एक सप्तक में कहीं सात, कहीं आठ कहीं, छह ध्वनि रूप सत्व या अक्षर ब्रह्म के अक्षर या छन्दों के अक्षर होते हैं। 'यत्र वाचः प्रजातानि छन्दांसि सप्तपदा वै' (श० प० ब्रा० ९-२-४-१)। इन ग्राम्य पशुरूप छन्दों का विवेचन ग्रामणी के नाम से श० प० ब्रा० ८-६-२ और तै० सं० ४-४-२-६, मैं० सं० ११-८-९-१० कठ सं० १७-८-९ तथा कपिष्ठली २६-७-८ में विस्तार पूर्वक दिया गया है। इन छान्दस ग्राम्य पशु के शरीराङ्गों का तादात्म्य विभिन्न छन्दों से किया गया है। गायत्री शिर है, (पूर्वार्द्ध है) त्रिष्टुप् उरः है, जगती श्रोणी है, अनुष्टुप् सक्थि है, बृहती पर्शु है, ककुप् कीकस है, उष्णिक् ग्रीवा है, पंक्ति पक्ष है, अतिच्छन्दा उदर है। श० प० ब्रा० १०-३-१ और का० श० १३-२-५ में लिखा है कि गायत्री प्राण है, उष्णिक् चक्षु है अनुष्टुप् वाक् है, बृहती मनः है, पंक्ति श्रोत्र है, त्रिष्टुप् प्रजननप्राण है, जगती अवाङ् प्राण है। ये सात छन्द है, पुरुषों में ये सात प्राण हैं। पुनः श० प० ब्रा० १०-३-२ में लिखा है अग्नि का शिर गायत्री, देवता अग्नि हैं उसका अनूक बृहती है और देवता बृहस्पति है, उसके पक्ष बृहद्रथन्तर हैं, द्यावापृथिवी देवता, उसका मध्य त्रिष्टुप् है देवता इन्द्र; उसकी श्रोणी जगती है देवता आदित्य, रेतः सेचक छन्द अतिच्छन्द है और प्रजापति देवता है, इसका अवाङ् प्राण यज्ञियायाज्ञिय छन्द है और वैश्वानर देवता, इसके उरू अनुष्टुप् है विश्वेदेवता देवता, इसके ष्ठीवन्त पंक्तिछन्द हैं मरुत देवता, इसकी प्रतिष्ठा द्विपदा छन्द है, विष्णु देवता, इसके प्राण विच्छन्दाछन्द है वायु देवता, इसके ऊनातिरिक्त, न्यूनाक्षरा छन्द और आपो देवता है। ये सब ग्राम या सप्तक वाची छान्दस पशु है जिनको श० प० ब्रा० (३-२-४-१) "यत्र वै वाचः प्रजातानि छन्दांसि वै सप्तपदा" कहता है और इनके विकास को ऋ० वे० (१०-११७-८-९) इस प्रकार देता है 'एकपाद्भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपाद् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पंक्तीरूपतिष्ठमानः॥ "समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः॥" इसको बृहदारराय (२-७-१४-७) दूसरे ढंग से कहता है "गायत्री एकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुपद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदो मा प्रापदिति॥" तथा छान्दोग्य तीसरे ढंग से कहता है "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री" (१-३-१२) और अन्त में इन छान्दस पशुओं को ग्राम या पाद रूप में त्रिष्टुप् छन्द के पशुओं में रूप में वर्णित करते हुए श० प० ब्रा० (३-६-५-१) ३३ देवताओं के बारे में लिखता है

"त्रीणि ह पशोरेकादशानि एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा, दश पाण्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणाः प्राणः उदानो व्यान इत्येतावा 'वै पुरुषः य पशार्द्धर्यः पशूनां यं सर्वेऽनु पशवः ।।" दश प्राण + प्राण प्रथम पाद या ग्राम या एकादशी है, दश पाण्यङ्गुलि + उदान द्वितीय पाद ग्राम या एकादशी है, दश पाद्याङ्गुलि + व्यान तृतीयपाद या ग्राम या एकादशी है। प्रयाजा माने प्रकर्षेण विकासमाना, अनुयाजा माने अनुपश्चात् विकासमाना, उपयाजा माने उप तदनन्तरं विकासमाना। कर्मकाण्ड में ये कर्मठों का संकेत करेंगे। पूर्वार्द्ध के पादों का विकास नर नामक चतुर्थ सप्तक में पूरा होता है। अतः इस नर सप्तक को देवताओं का ग्राम कहते है 'नरो वै देवताया ग्रामः' ताण्ड्य (६-९-२)। इस ग्राम के पशु ग्राम्य कहलाते हैं।

छन्दों को पशु इसलिए कहा गया है कि ये प्रायः चतुष्पाद होते हैं, वैसे एक पदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी पञ्चपदी षट्पदी सप्तपदी अष्टापदी नवपदी तक छन्द होते हैं "वाचमष्टापदीमहं नव स्रक्ति मृतस्पृशम्।" (ऋ० वे० ८-७६-१२) इत्यादि, शेष के उद्धरण पूर्ववर्ती परिच्छेद में आ गये हैं। ये पशुओं की तरह बोझा ढोते हैं, एक तो वेदों के लिए मंत्ररूप शरीर। दूसरे दर्शन के लिए अक्षर और पाद रूप तत्त्वों का बोझ, जिससे तत्त्वों का स्थान मान और उपयुक्त विवरण सुविधा पूर्वक दिया जा सकता है। तीसरे ये भावात्मक ज्ञानात्मक ब्रह्म शरीर को स्वयं धारण करते हैं (पशुवाद देखे)। अतः दर्शन की समुचित व्याख्या करने लिए उपर्युक्त वायव्य आरण्य और ग्राम्य नामक छान्दस पशुओं की अवतारण या निर्माण वैदिकों ने ब्रह्म या यज्ञ के विकास को दर्शाने के लिए किया था। यज्ञ नाम ब्रह्म का भी है, प्रत्येक तत्त्व का भी; जिस तत्त्व का विवेचन करना है उसको उतने अक्षर या पाद का तत्त्व बतला कर, उसकी व्याख्या उस तत्त्व रूप यज्ञात्मक छान्दस पशु के रूप में प्रस्तुत की जाती है। प्रस्तुत मन्त्र में यज्ञ, सर्वहुत, और सम्भृत पृषदाज्य शब्द सब परिभाषिक हैं। यज्ञ का भाव यजन शील और विकास शील है, जब यह प्रथम तत्त्व का निर्देश करता है तब इसे सर्वहुत या 'स्वहा' या स्वाः या सुप्त कहते हैं (श० प० ब्रा० १०-५-२-२४) तथा हेमन्त ऋतु में स्वाहाकार का प्रारम्भ होता है (छठी ऋचा देखें) शिशिर ब्रह्म का शिर है। श्रीयुक्त शिर को श्रीशिर या श्रिशिर या शिशिर कहते हैं। वसन्त से सृष्टि विकास का आरम्भ होता है। ऐसे उस सर्वहुत सर्वस्वाहा रूप आदि तत्त्व सम्भृत पृषदाज्य के रूप में विद्यामान रहता है। पृषदाज्य के माने प्राण रूप अन्न या आध्यात्मिक और भौतिकात्मा का मीठा घोल होता है, पर छान्दस पशुओं के सम्बन्ध में उनमें जो दूध होता है वह प्राण रूप है, उससे दधि और आज्य बनाता है अत; पृषदाज्य माने

'दही घी' का मिश्रण रूप दूध या प्राण है। दही त्रिपादामृत का संकेतक है, घी भौतिकात्मा का। कर्मकाण्ड में इनका अभिनय लौकिक दही घीं के मिश्रण से ही किया जाता है। इसका स्वष्ट विवरण श. प. वा. (३-६-५-७, ८) ने इस प्रकार दे रखा है "अथ पृषदाज्यं गृह्णाति, द्वयं वा इदं सर्पिश्चैव दधि च। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते। तेनानुयाजेषु चरति, पशवो वा अनुयाजाः पयः पृषदाज्यं तत्पशुस्वेतत्पयो दधाति। तदिदं पशुषु पयो हितं प्राणः, प्राणो हि पृषदाज्यमन्नं हि पृषदाज्यमन्नं हि प्राणः॥" यहां पर पृषदाज्य के लिए अनुयाजा रूप छान्दस पशुओं में विचरण करने को कहा है। ये प्राण रूप आज्य या अज पुरुष के विकास रूप. पशु है। चतुष्पाद ब्रह्म रूप, पशु हैं दधिसर्पि रूप हैं। इन छान्दस पशुओ में जो पायो रूप अन्नं या प्राणाः या पृषदाज्य 'सम्भृत' है या सुरक्षित है या अन्तर्निहित हैं, वह पूर्वार्द्ध युक्त उत्तरार्द्ध के रूप चतुष्पाद ब्रह्म का रूप है, उसकी व्याख्या के लिए इन (पूर्वोक्त वर्णित) वायव्य आरण्य और ग्राम्य नामक नाना छान्दस पशुओं की अवतारण की गई। यह ब्रह्म व्याख्या की छान्दस दर्शनीय अद्भुत परिपाटी हैं जो अब तक किसी के समक्ष में नही आ सकी है। क्योंकि यास्क से बहुत पहिले ही यह छान्दस दर्शन एकदम लुप्त हो गया था।

यदि प्रस्तुत ऋचा में हरिणादि आरण्य पशु और गवादि ग्राम्य पशुओं का विवेचन होता तो दशवीं ऋचा में अश्व गो अवि अजा का वर्णन क्या व्यर्थ नहीं होगा ? निम्न ऋचा (नवम) जब वेद रूप ब्रह्म तथा उसके विकास क्रम ऋग्यजुः रूप ब्राह्म शरीर की व्याख्या देती है तो इससे भी सिद्ध होता है कि यह (प्रस्तुत) ऋचा अवश्यमेव छान्दस दर्शन के छान्दस पशुओं का ही वर्णन देती हैं।

> तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ९॥

['वेदोऽसि येन त्वं देव वेद' 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्']

यजुर्वेद में यह सातवां मन्त्र है, अथर्व में तेरहवां। ऋग्यगुः दोनों का पाठ तो एक सा है, पर अथर्व ने 'छन्दांसि' (छन्दा ंॅ सि) की जगह 'छन्दो ह' पाठ दिया है, बहुवचन का एकवचन कर दिया है, जिससे अर्थ में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

कहने में बड़ा कष्ट होता है कि जिस प्रकार छान्दस दर्शन का बहुत पहले लोप हो गया था उसी प्रकार प्रस्तुत ऋचा में वर्णित वेद दर्शन या वेदविद्

दर्शन का भी आंशिक लोप बहुत पहिले ही हो चुका था। वेद नाम वेदों का तो है ही, पर साथ में यह ब्रह्म का नाम भी है, और ब्रह्म नाम भी वेदों या वैदिक मंत्रों का भी है। जैसे "वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यं वेदो भूयाः ॥" (यजुः २-२१) "एतानि वामश्विना वर्द्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन्" (ऋ-वे २-३९-८) इत्यादि। इस वेद नामक ब्रह्म का विकास वेद शाखा रूप ऋग् साम यजुः छन्दः (अथर्व) के नाम वाले भागों द्वारा वर्णित करने की उस प्राचीन काल में एक प्रशिद्ध शैली थी। इसके ज्ञाताओं को वेदविद् या ब्रह्मविद् नाम से पुकारते थे। श्रीमद्भगवद्गीता (१५१) ने इस शैली को अपना कर वेदविद् की परिभाषा दी है। वह पाठान्तर से अथर्व (१०–२१–९) और कठ श्वेत मुण्डक में भी मिलती हैं। ऋ. वे. (१०–३१–७; १०–८१–४) का मंत्र 'किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षु' मन्त्र इनका मूल स्रोत है। अथर्व का पाठ है" अर्वाग्विलश्चमस मूद्ध्‍र्न बुघ्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्' है, कठ का पाठ "ऊर्ध्वमूलमवाग्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।" (५-६) है और मुण्डक का– अराइव रथ नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च'। इनका सार गीता देती है "ऊध्वमूल मधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदविद् ॥" इस वेद' या ब्रह्म की जड़ें ऊपर शिर की ओर हैं" शाखायें नीचे की ओर उगी हैं; यह अव्यय अश्वत्थ या प्राणमय सृष्टि वृक्ष है, छन्दांसि या छन्दः इसके पर्णों के समान है। जो इस वेद वृक्ष विद्या को या इस ब्रह्म विद्या को जानता है वही 'वेदविद्' कहलाता है, अन्य नहीं। यह वेदविद् दर्शन अक्षरब्रह्म दर्शन भी कहलाता था या अक्षरों से ब्रह्म की व्याख्या करता था जैसा कि गीता ने पुनः लिखा है 'यदक्षरं वेदविदो वदान्ती' त्यादि। ब्रह्मविद् भी इन्हीं अक्षर ब्रह्म वेत्ताओं का दूसरा नाम है। संहिता सम्बन्ध में में ऋग्यजुसाम नाम विभिन्न मंत्रात्मक संहिताओं के हैं। तीनों को वेद कहते हैं, पर ब्रह्म अर्थ वाले वेद के साहचर्य में इनका अर्थ पारिभाषिक है, वेद ब्रह्म का विकास अक्षर ब्रह्म विकास है। यह विकास दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में ऋक् और साम का विकास होता है उत्तरार्द्ध में यजु और छन्दांसि (छन्दों) का; प्रारम्भिक नामों से पूर्वार्द्ध को ऋक्, उत्तरार्द्ध को यजुः भी कहते हैं। जिस प्रकार छन्दाक्षरों से ब्रह्म' विकास के क्रमिक तत्वों और पादों का निर्धारण किया जाता रहा उसी प्रकार १६ स्वर ८ ऊष्माण ४ अन्तःस्थ और २५ पंचवर्गीय ध्वनियों से पादों और तत्वों का निर्णय किया जाता रहा। 'ऋक् माने ऋ से क् तक के तत्व हैं और यजुः माने य से जवन शील को यजूः कहलाते है 'यच्च जूश्च ज़वते तस्माद्यजुः' (श. प. ब्रा १०–

३–५–१)। प्रथमपाद प्रथम आठ ह्रस्व स्वरों का होता हैं आ से प्रथम विकास ऋ है फिर ऌ इ उ आदि, द्वितीय पाद इनके दीर्घों का है। तृतीयपाद आठ ऊष्माणों का है, स्वर ऋचः हैं उष्माण साम हैः फिर उत्तरार्द्ध में पहिले अन्तःस्थ य से प्रारम्भ यरलव तदनन्तर पंञ्चवर्गीय व्यञ्जन या छन्दांसि उदीयमान होते हैं। पूर्वार्द्ध को ताने उत्तरार्द्ध को बाने बता कर अथर्व इन ध्वनियों से व्रात्य के लिए आसन्दी प्रस्तुत करते हुए लिखता है "तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन्। तस्य ग्रीष्मश्च वसन्तश्च पादावास्तां शरच्च वर्षा च द्वौ बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं वामदेव्यं च तिरश्चे। ऋचः प्राञ्च तन्तवो यजूषि तिर्यञ्च। वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्। समासाद उद्गीथोपश्रयः। तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥" अथर्व १५–३–३ से ९ तक। ऐ० ब्रा० (६–४–७) ने इस आसन्दी के प्राचीन ताना तो ऋक् को कहा है, साम को तिरश्चीन बाँया (बाने), यजूंषि को इतीकाशा, यशः को आस्तरण, श्री को उपबर्ह। सविता बृहस्पति ने पूर्वपाद और वायु पूषा ने दूसरे धारणा किये, मित्रावरुणको शिर और अश्विनी को अनूच्य कहा है यह वह आसन्दी है जिसके ताने बाने ऋग्यजुः है उसमें ४९ ध्वनियां तो स्थूल प्रतीकी या तत्त्व प्रतीकी है। वेद ब्रह्म में तो अनन्त अक्षर हैं जिनका विवेचन ऋ० वे (१–१६४–३९, ४१) इस प्रकार देता है "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत ॥" 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्यकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नव पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥" यहां ऋचो अक्षरे में षष्ठी का द्विवचन 'ऋचां यजुषां समाहार ऋक् तयोः 'ऋचः' नामक समाहार हैं और दोनों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के संकेतक हैं, उसके अक्षरों का 'अक्षरे' द्विवचनान्त ही दोनों भागों के अक्षरों की संख्या की सूचना देता है। ऋचाकार का कहना है कि जो इन 'अक्षरों, को नहीं समझ सकता वह ऋचाओं को पढ़ के ही क्या करेगा ? उसकी समझ में वेदब्रह्म नहीं आ सकता। इन्हीं अक्षरो में तो अनन्त तत्त्व (देवा) निवास करते हैं। हां जो इन अक्षरों को जानता है उन्हे वेद विद् या ब्रह्मविद् कहा जा सकता सकता है। तब ये अक्षर हैं कितने ? इसका इसका उत्तर दूसरी ऋचा देती हैं। वह कहती है, कि गौरी नामक वाक् का अक्षर रूप सागर (सलिलानि) है उसमें १ + २=३ × ४ × ८ × ९ × १००० × १०००= ८६४०००००० मुहूर्त रूप अक्षर है। इनके भीं सूक्ष्म विभाग हैं जिनका विभाजन श० प० ब्रा० (१२–३–२–४ से ८ तक) ने ३२८०५००००० दिये है। ये अक्षर ब्रह्म के सूक्ष्म अक्षरीय तत्त्व है जो अखिलब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं।

इसकी दूसरी गणना चार युगों के वर्षो के प्रमाण को १००० से गुणा करने से मिलती है वह ४३२००००००० है। यही अक्षर तत्त्व भी है यही वर्ष रूप में इस सृष्टि की आयु की सूचना भी देती है जो वर्तमान वैज्ञानिक मत से भी पूरा पूरा मेल रखता है। यह कम आश्चर्य की बात नही है। 'ऋचो अक्षरे' पर एक विस्तृत लेख अलग दिया गया है उसे देखकर इस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जावेगा।

वेद ब्रह्म की अक्षर ध्वनियों का विकास या विवर्त इस प्रकार होता है। ब्रह्म विवृत् है, उस विवृत् से विवर्त का प्रारम्भ होता है। "विवृदसि विवृते त्वा त्रिबृदसि त्रिवृते त्वा" (यजुः १५-९) 'विवृत्ताय स्वाहा' (यजुः २२-८)

ध्वनि विवर्त—

ऋग्	पूर्वार्द्ध	विवृत् अ ईषद्विवृत् अः ह ꣳक	ऋ ष	ऌ स	इ श	उ ꣴक	ए ऐ ओ औ इनके दीर्घ भी।	ऋग् साम
यजुः या छंदांसि	उत्तरार्द्ध	ईषत्स्पृष्ट ह	र	ळ	य	व	'अन्तःस्थाः'	यजुः छंदांसि
		स्पृष्ट क क वर्ग	ट वर्ग	त वर्ग	च वर्ग	प वर्ग		

पहिले ऋक् या स्वरों का विवर्त होता है, फिर साम या ऊष्माणों का, तदनन्तर उत्तरार्द्ध के यजुः और छन्दांसि का अपने पृथक् पृथक स्वरों और ऊष्माणों से होता है। विकास को वैदिक दर्शन के अनुरूप ऐ० ब्रा० (५-५-३२) ने देते हुए लिखा है "प्रजापति रकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इमाँ स्त्रीं लोकानसृजत पृथवीमन्तरिक्षं दिवं च तान-भ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य स्त्रीणि ज्योतींषि अजायन्तार्माग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवस्तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्ने रजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान् वेदान-भ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राणि अजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात् तानि शुक्राणि अभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति तस्मादोमिति प्रणौति ॐमिति वै स्वर्गों लोकः। ओमित्यसौ योऽसौ तपति स प्रजापतिः यज्ञमतनुत तमाहृत्तेनायजत—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा।।" यहां पर स्पष्ट लिखा है प्रजापति ने सृष्टि विकास के लिए तप किया उससे तीन लोक-पृथिवी (भूः) अन्तरिक्ष (भुवः) दिव (स्वः) हुए। उनसे ऋग्यजुः साम रूप अ उ म् तीन आद्याक्षरीय सप्तक उत्पन्न हुए, उनका समाहार ॐ है, वही प्रजा-

पति है जिसने तप किया। ॐ ही स्वरों का विकास ही तप है, उनका विकास ही यज्ञ है। देवताओं का यही यज्ञ है। 'यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवाः' माने स्वरों के विकास के लिए ॐ रूप अग्नि ने अग्निविकासीय प्रतीकरूप ध्वनियों का विकास किया। देवता ध्वनि प्रतीकी स्वर हैं। इसमें केवल पूर्वार्द्ध की ध्वनियों का विकास दिया है। उत्तरार्द्ध की छन्दांसि या वर्गीय ध्वनियों की चर्चा, समझने के लिए छोड़ दी है। यहां यजु नाम दीर्घ स्वरों का है। यह ऋग्वेदीय मत है। अतः वैदिक वेदवाद, शब्दब्रह्म विकासवाद है। इस सरणि से जो विकास ध्वनियों का होता है, उनके विकास शैली से ब्रह्म के विकास को वेदविद् आचार्य वैदिक अक्षर ब्रह्म रूप में संहिता के नामों तथा मंत्रों की संख्या देकर करते रहे। अतः ब्रह्म से ऋग्साम यजु और छन्द या मंत्र उत्पन्न हुए कहने की प्रणाली अक्षरब्रह्म की विकास परम्परा को पूर्वोक्त रीति से बतलाती रही। इसे सब भूल गये, पर 'यस्य निःश्वसितं वेदाः' वचन और ब्रह्मा के चार मुखों से चार वेद निकलने की पौराणिक भावनायें अवैज्ञानिक रूप धारण कर मंत्रात्मक संहिताओं को अपौरुषेय कहने की हठधर्मिता के लिए बाध्य करती स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। वास्तव में उपनिषद् वाक्य और पौराणिक गाथा जो इसी ऋचा के स्रोत से निकलते हैं, वे सत्य हैं, पर उनका विश्लेषण भ्रामक है। जिन भागों को ऋग् साम यजु और छन्दः कहा है वही ब्रह्म या ब्रह्मा के चार मुख हैं, उन्हीं से निश्वास या प्राण रूप ब्रह्म का अग्नि रूप स्वरों में प्रारम्भिक विकास हुआ, यह आत्मविकास है। ध्वनिविवर्त के चित्र में जिन ध्वनियों का विकास है वह विकास मार्ग शिक्षा शास्त्र का मुख्य अंग था। इस शास्त्र से दुहरा काम लिया जाता रहा। एक तो भौतिक शब्द का विकास दूसरे उसके वर्गों या विभागों से ब्रह्मविकास के वर्गों भागों और तत्वों का सूक्ष्म विवेचन वाक् रूप में दिया जाता रहा। ध्वनिविवर्त ब्रह्म का प्राणाग्निरूप स्वर विवर्त, और ब्रह्मविवर्त समझने समझाने का एक उत्तम और सरल उपाय है। पूर्वार्द्ध को स्वरों और ऊष्माणों के समाहार रूप को 'ॐ' कहते थे जिसे पादीय भाषा में त्रिपादामृत कहते हैं। शब्द या वाक् का स्वरूप विद्युत् है। ब्रह्म मधुविद्युत् स्वरूपी सर्वव्यापी प्राण तत्व है। भौतिक तत्वों में शब्द ही सबसे अधिक सूक्ष्म है, वह ब्रह्म के अनुकूल सा तत्व है। यदि हम अपने में त्रिपादामृत रूप ब्रह्म ॐ कारी प्राणरूपी मधुमयी विद्युत् को खोज सकें तो हमें यह अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी प्रकाश रूप में मिल सकता है, वही ज्ञानरूप में प्रतीत हो सकता है। उसके विकास की ५० सीढ़ियां हैं जिस सीढी में पहुँचे उसी का ज्ञान होगा। स्फुट ध्वनियां बहिर्जगत् की हैं, ब्राह्म ध्वनियां अन्तर्जगदीय व्यापक

मधु विद्युतीय वाक् या दैवी वाक् हैं। बाहर के प्रतीक से भीतर की खोज करनी है। अथर्व ११-७-२४ ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है "ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे देवा दिवि श्रितः॥"

भौतिक शब्द में भौतिक विद्युत्तरंगें होती हैं जो भौतिक झङ्कार को सीमित सर्वतो व्यापी तरंगों मे प्रवाहित करते हैं पर अक्षरब्रह्म की आध्यात्मिक अभौतिक मनोमयी सार्वजनीन व्यापक तरंगें असीमित और स्वयं प्रवाह मयी होती है। ये अनन्ताक्षर बीज रूप अनन्त प्रकार की होती हुई भी एक रूप में ॐ प्रतीक में रहती हैं। उस अनन्ताक्षरी ध्वनि के स्थूल भेदों को स्वरादि प्रतीकों में भेदमय समझा जाता है। यह अखिल ब्रह्माण्डीय ध्वनि का वैद्युतीय तरंगीय अनन्त भेदी एक संगीतमय प्रवाह है जो अखिल ब्रह्माण्ड तथा पारिवारिक और वैयक्तिक ब्रह्माण्डों में आभ्यन्तर ध्वनि रूप में अनुभूत किया जाता है। वह बाहर भीतर सर्वत्र है, बाहर वह भौतिकाधिक्य से भौतिक संगींत मात्रा में कुछ कुछ अनुभूत हो सकता है। ब्रह्म तीन प्रकार का मुख्यत है (१) कैवल्य ब्रह्म या पुरुषोत्तम, जो अखिल सृष्टि बीजों के उगने की भूः है (२) अक्षरब्रह्म जो विकासोन्मुख ब्रह्म है मनोवाक्प्राणानां त्रिवृत् है, अनन्त बीजों को एक बीज प्रस्फुटित कर लेता है। ब्रह्म में ये बीज ब्रह्मात्मक एकात्मीय थे। यह बीज त्रिपादामृत में २४ सीढियों में त्रिधा विकसित होता है। यह पूर्वार्द्ध है। (३) उत्तरार्द्ध में क्षर ब्रह्म का विकास होता है। यहां बीज को प्रथम पर्ण या भौतिकता मिलती है जिसे सुपर्ण कहते हैं। यहाँ पर ब्रह्म चतुर्धात्मा तो हो ही जाता है पर रहता मधु वैद्युतीय ही है। पूर्वार्द्ध में केबल ऋतशर (पोजिटव चार्ज) था अब सत्यशर या भौतिकशर (नेगेटिव चार्ज) उत्पन्न हो जाता है। इनका विकास व्यञ्जन ध्वनियों की तरंगानुसार, स्वरानुश्लिष्ट रूप में चतुष्पाद् ब्रह्म रूप में केवल विद्युत्प्रवाह रूप में ही होता है, मात्र इस विद्युत्प्रवाह रूप में ही होता है। इस विद्युत्प्रवाह का ही नाम प्राण है जो विद्युत्परमाणु की तरह स्वयं संचारी है। आजकल के ईथर या मैगनेटिक तरंग बहुत स्थूल पदार्थ हैं। रेडियो किरण भी स्थूल वस्तुयें हैं, इनसे उक्त अक्षर ब्रह्म के अक्षर रूप आध्यात्मिक और अक्षर ब्रह्म के भौतिक विद्युन्मयी लहरियां अत्यन्त सूक्ष्म हैं, सर्वव्यापक हैं, एकमय हैं, एक ही है, अनेक में भी विभक्त हो सकते हैं (अक्षर ब्रह्म-व्याख्या 'ऋचो अक्षरे' देखें)

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ १०॥

['प्राणं ब्रह्मेत्याहुः' 'वाचं धेनुमुपासीत' 'आविः संन्निहितं गुहायां' 'अजस्य रूपे किमपिस्विदेकम्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' 'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति']

यह ऋचा यजुर्वेद में आठवीं और अथर्व में बारहवीं है। सबका पाठ एक सा है।

यह ऋचा भी विद्वानों को कम भ्रम में डालने वाली सिद्ध नहीं हुई है। प्रायः सभी भाष्यादि लेखकों ने इसमें आये 'अश्वाः गावः अज, अविः' शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त अभिधा रूप में किया है जिससे वैदिकों का लेश-मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ये सब शब्द तो पारिभाषिक हैं, प्रत्येक का रहस्य दर्शन की अपनी अलग शैली देता है। सीधी सी बात है उस आदि पुरुष से एकदम घोड़े बैल गाय भेड़ बकरी कैसे पैदा होने लगे ? ऐसी कोई भावना उसमें नहीं है। उक्त पारिभाषिक शब्दों का वैदिक साहित्य में बहुत प्रयोग है। जहां इनका प्रयोग है वहीं इसका समाधान भी प्रस्तुत है। वैदिकों का प्रत्येक तत्त्व या देवता जैसे इन्द्र मित्रावरुण पूषा रुद्र विष्णु आदि पशु नाम से पुकारे गये हैं। इनकी अवतारणा इन देवता रूप पशुओं में की गई है। जब इससे भी पूरा नहीं पड़ा तब साक्षात्पशुओं को भी तत्त्व में स्वीकार किया गया। यह उलटी गंगा है। यह उलटी गंगा, यज्ञ समारोह की नाना विधियों को साकारता देने के लिए बहाई गई थी। इन पशुओं को अग्नि का स्वरूप मानते थे 'त एते सर्वे पशवो यदग्निः' 'अग्निर्ह्येष यत्पशवस्ततो वै प्रजापति रग्निरभवत्।' (श० प० ब्रा० ६-१-४-१२)। ये अग्नि के स्वरूपों के प्रतिनिधि रूप पशु हैं। अपनी अपनी अलग अलग उचित व्याख्यायें रखते हैं। अग्निरूप में कितने पशुओं का आधान करना चाहिए ? इसके उत्तर में लिखा है कि केवल पांच पशुओं का—पुरुषपशु अश्व गौ अवि अजा—का। "कति पशवोऽग्नावुपाधीयन्त इति पञ्चेतिन्वेवब्रूयात्" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३२)। इनमें से पुरुष की व्याख्या पहिले इसी सूक्त के आदि में दी जा चुकी है, अश्व की अश्वमेध और 'स्वः स्वाः अश्व इत्यादि शीर्षक में। अश्व [सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा। त्रिनाभि चक्र मजरमनर्व यत्रेमा विश्वा भुवनाऽधि तस्थुः॥" (ऋ० वे० १-१६४-२)] नाम प्राणों का है प्राण रूप ब्रह्म का है। गौ नाम सब लोकों का है 'इमे वै लोका गौ र्यद्धि किं च गच्छीतीमांल्लोकान् गच्छतीमे उ लोका एष अग्नि स्तस्माद् गौरिति ब्रूयात्।' (श० प० ब्रा० ६-१-२-३५)। इस प्रकार गौ नाम अग्नि रूप ब्रह्म का ही है। इसी प्रकार 'अविः' नाम भी अग्नि का ही है जैसे "अविरितीयं वा अधिरितीयं हीमाः सर्वा प्रजा अवतीयमु वा अग्निरस्यै हि सर्वो अग्निश्चीयते" (श० प० ब्रा० ६-१-२-३३); जो इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करती है उस अग्नि का नाम अवि है। अब अग्नि से अश्व रासभ और अज की उत्पत्ति की व्याख्या देखिए। "अथ यो गर्भोन्तरासीत् सोऽग्निरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्हवैतमग्निरित्याचक्षते

परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदश्रु संक्षरित मासीत्सोऽश्रुरभवदश्रुर्हवै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षकामा हि देवा। अथ यद्रसदिव स रासभोऽभवत्, अथ यः कपाले रसोलिप्त आसीत् सोऽजोऽभवत् अथ यत्कपालमासीत् सा पृथिव्यभवत् ॥" (श० प० ब्रा० ६ १-१-११)। पुरुषोत्तम से सबसे पहिले अक्षरब्रह्म रूप में (अग्रे अग्रे) आगे-आगे जिसकी उत्पत्ति हुई उसे अग्रि नाम में न कह कर अग्नि नाम में कहने लने। उससे जो अश्रु रूप रस निकला उसको अश्रु कहने के स्थान में अश्व कहने लगे। कोई इसी को अश्म स्फटिकशिला-या पाषाण या ग्रावणदेवता कहने लगे-(श० प० ब्रा० ६-१-२-३)। उस कपाल पर जो रस सा दीख पड़ा उसी को रासभ कहने लगे, उसी रस को ही 'अज' नाम से भी पुकारने लगे, कपाल से पृथिवी भौतिक तत्त्व बना।" कर्मकाण्ड में प्रयुक्त अभिनयी इनके नाम से प्रसिद्ध पशुओं के मांस को खाना श० प० ब्रा० (७-४-२-३७-१-२-१-९) और ऐ० ब्रा० (२-१-३) ने मना करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ये अपक्रान्तमेधा के पशु है जैसे "पञ्च पशवोऽभवंस्त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञिया स्तेषां ब्राह्मणो नाश्नीयात्" इन लौकिक पशुओं को तो यहां पर अयज्ञिया अमेध्या-यज्ञ के अयोग्य और अपवित्र तथा अपक्रान्तमेधा (यज्ञ रूप बुद्धि विनाशकारी) बतलाया है, इनसे यज्ञ करना और इनका मांस खाना मना किया है। यहां पर वर्णित पञ्च पशु तो 'सर्वाः देवताः' वाची पञ्चपशु हैं इनका विकास आदि से अन्त तक क्रम से होता है। यही पांच पशु उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ के पांच तत्त्व है जिनका वर्णन श० प० ब्रा० १-२-१-६ से ९ तक और बृहदारण्यक ने इस प्रकार दिया है "स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्सहैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इयमेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इतिस्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया सम्पूर्यत इव तां समभवत् ततो मनुष्याः (चतुर्थसप्तकीया) अजायन्त। सो हेयमीक्षां चक्रे कथं नु मात्मनएव जनित्वा सम्भवति हन्त तिरोसानीति सा गौरभवत् ऋषभ इतरः तां सममेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त बडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां सममेवाभवत् तत एकशफमजायताजेतराभवत् वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां सममेवाभवत् ततो अजावयोऽजायन्त एवमेव यदिदं किंच मिथुन-मापिपीलिकाभ्यः सर्वमसृजत् (१-३-४-५)। श० प० ब्रा० १-२-१-९ ने पुरुष पशु का एक नया नाम 'किम् पुरुष' भी दिया है। तथा कुछ व्यतिक्रम और नये अन्य नाम भी दिये है जैसे "स यं पुरुषमालभन्त स किं पुरुषोऽभवत् यावश्वं च गां च गौरश्च गवयश्चाभवतां यमविमालभन्त स उष्ट्रोऽभवत् यमजममालभन्त स शरभोऽभवत् तस्मादेतेषां पशूनां नाशितव्यमपक्रान्तमेधा ह्येते पशवः ॥"

पिछले परिच्छेद में वर्णित विषय से स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी ऋचा के पशु सर्वा देवता है जिनका विकास क्रमशः आदि से अन्त तक अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् प्रणाली से जैसा कि इनके स्वतन्त्र शीर्षकों में विस्तार पूर्वक अन्यत्र दे दिया गया है-होता है। वृषभ-अश्वमेधः-गौ गौरी धेनु-अज एकपाद-अश्व-आदि शीर्षक देखें। परन्तु इस ऋचा में इन पशुओं का वर्णन यहां पर विश्वेदेवता या चतुर्थ सप्तकीय भौतिकात्माधारी तत्त्वों के रूप में किया गया है। इनकी भौतिकात्मता अश्वादि स्वरूपी न होकर इन शब्दों से अभीष्ट परिभाषिक अर्थ के भाव वाले प्राण रूप, गतिरूप, अनादि रूप, श्रवणशील रूप की भौतिकता है जैसा कि पिछले परिच्छेदों में दे दिया गया है। इस प्रकार की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या बृहदारण्वक के उद्धरण में दी गई है, वह इस प्रस्तुत ऋचा का अक्षरशः भाष्य सा दे देती है। अतः उसके अर्थ के रूप में ही इस ऋचा का अर्थ किया जा रहा है। "यह पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत पुरुष एकात्मा होने से अकेले में (नहीं रमता रहा); उसे बुरा लगता रहा, उसने साथी की कामना की तो प्रथम मनोरूप भौतिक तत्त्व का उदय हुआ। उस काम रूप मनः से वह इतना विवृद्ध हो गया कि वह भौषिक तत्त्व स्त्रीरूप में उसके चारों ओर व्याप्त हो गया। तब उसने इन दो प्रकार के शरीरों को द्विधा विभाजित किया (यह समझाने मात्र की कथा है विभाजित तो हो ही नहीं सकता) वे दो भाग पति पत्नी बने। वह अर्द्धनारीश्वर रूप में प्रस्तुत हो गया। और अखिल ब्रह्माण्ड रूप त्रिपाद पुरुष उस स्त्रीरूप भौतिकात्मा (दिव्यशरीर) से व्याप्त हो गया। इन दोनों के जोड़े या संयोग से मनुष्य नामक चतुर्थ सप्तक के तत्त्वों का क्रमशः विकास हुआ। यही अर्द्धनारीश्वरी दूसरे शब्दों में पुरुष पशु कहलाता है, पुरुषपशु भी मनुष्य ही है, तथा चतुर्थ सप्तक को 'नृषद्' और नर या नारा (आपः) कहते हैं, इसका नाम अब्जा भी है। उस अर्द्धनारीश्वर के भाग भौतिकात्मा रूप स्त्री ने सोचा कि मैं तो उसी से उत्पन्न हुई हूँ, मैं बेटी (दुहिता) के समान हूँ, मैं इसकी पत्नी कैसे हो सकती हूँ, इस लाज को छिपाने के लिए उसने कहा मैं तिरोधान या अन्तर्धान हो जाती हूँ। तब वह स्वयं तो भौतिकात्मा गौ (गाय) बन गई और पुरुष भाग तब वृषभ या ऋषभ बन गया। इन दोनों से गायें बनीं। यह संदर्भ है 'गावो ह जज्ञिरे तस्मात्' टुकड़े का। वेदों मे गावः' नाम आदित्यों का हैं, अर्द्धनारीश्वर रूप तत्त्व छह आदित्य या सूर्य नामक तत्त्व हैं, इसके अगले विकास छह आदित्य और होंगें। ये 'गावः अगले छह आदित्य हैं, जिन्हें सविता भग विवस्वान् , यम, विष्णु नामों से पुकारा जाता है। यहां पर बृहदारण्यक ने कुछ

व्यतिक्रम दिया है। पञ्चपशुओं का वैदिक क्रम 'पुरुषपशु–अश्व-गौ अवि अज' है अत; पहिले 'अश्ववडवा' रूप में अन्तर्धान होना लिखना चाहिए था। परन्तु ये पांचों पशु सब आदित्यों के प्रतिनिधि हैं और आदित्यों को 'गाव.' कहते हैं। अतः इस प्रकार के वर्णन से दार्शनिक वैज्ञानिकता का लोप तो नहीं हुआ है फिर भी साधारण विद्यार्थी के लिए यह खटकने वाली बात अवश्य कही जायगी।

जब भौतिकात्मा ने उस पुरुष पशु के (ऐ० ब्रा० २-१-८) उस वृषभ रूप के अन्तर्धानीय स्वरूप का भी पीछा या पल्ला न छोड़ा, तो वह 'अश्व' बन गया, फिर भी भौतिकात्मा वडवा बन गई इन दोनों के सम्मिलन से अश्वा' उत्पन्न हो गये। जैसे कहा गया है पुरुषपशु सबसे पहिले अश्वरूप में या प्राण रूप में प्रस्तुत हुआ। यही अश्व रूप जोड़ा 'अश्विनी' भी कहलाता है। अश्विनी की जन्मकथा 'सररायूः' शीर्षक में दे दी गई है। त्वष्टा की पुत्री सररायू विवस्वान् पति के लिए 'सवर्णा' को छोड़कर स्वयं 'अश्वी' (घोड़ी) बन कर भाग गई तो विवस्वान् भी अश्व बन कर पीछे लग गया। इन दोनों से अश्विनी का जन्म हुआ। उनके प्रथम शरीरों से यममयी और सूर्य सवर्णा से 'सावर्णिः हुए (सावर्णि' सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः)। पूर्वोक्त अर्द्धनारीश्वर ही सूर्य है और पत्नी त्वष्टा की पुत्री सररायूः सरणशीला सांसारिका भौतिकात्मा या उसकी दीप्ति है। उनसे अश्विनी नामक तत्त्व भी अर्द्धनारीश्वर ही है। अतः हमारी ऋचा कहती हैं कि उस यज्ञपुरुष रूप पुरुष पशुसे 'अश्वाः' भौतिकात्मा के प्रथम भौतिक प्राणाः रूप तत्त्वों का विकास हुआ, तदनन्तर गमन शील गतिशील देह रूप या गावः' रूप भौतिक दीप्ति युक्त आदित्यों का विकास हुआ। यह सन्दर्भ 'तस्मा दश्वा अजायन्त' पद का है (शेष 'अश्वमेध' शीर्षक में देखें)। इसी प्रकार रासभ रासभी उष्ट्र उष्ट्री आदि उभय दन्त पंक्ति वालों का ज्योति रस रूप में, या दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की ज्योतियों के रूपों में सृष्टि का क्रम चल पड़ा। रासभ रसमय पुरुष तत्त्व है, रासभी या गर्दभी भौतिकी या आसुरी दीप्तिभरी रसमयी आपोमयी सृष्टि है जिसे वृत्र से उद्भूत माना गया 'वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार' (ऋ० चे० १-३२-१०, ११)। इसीलिए ऋचा यहाँ पर नाम न देकर 'जो कोई भी दुहरे दांत के (पशु) हैं, कहती हैं 'ये के चोभयादतः'। ठीक इसी प्रणाली से तदनन्तर पुरुष-पशु वृष से अज बना तो वह भौतिकात्मा 'वस्त' 'अजा' बनी, और वह अवि बना तो भौतिकात्मा मेष बना, इन दोनों संयोगों से क्रम से 'अजाः और अवयः (भेड़े) रूप तत्त्व बने। यह अर्थ है 'तस्माज्जाता अजावयः' का। ये सब तत्त्व अग्निरूप, विद्युद्रूप, भौतिकात्मा सहित त्रिपादामृत रूप, रस रूप

पूर्णभौतिकता रूप, दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों से भरे हैं। ये पशु नहीं 'पश्यन्' तत्त्व हैं आदित्यरूप प्राणरूप, गतिशील रससागर हैं सृष्टयादि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व हैं। ऋ० वे० ३-५३-२३ में 'नवाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति' मन्त्र गर्दभ पशु को अश्व से पहिले रखने को मना करते हुए, 'अश्व को भौतिकता वाला ही नहीं समझना चाहिए वह अभौतिक भी है, कहता है।

इस ऋचा के ये पञ्चपशु हमारे दर्शन के चतुर्थ सप्तक के ही तत्त्व है इन्हीं से भौतिक सृष्टि का सर्वप्रथम उदय होता है इस प्राकरणिक कथन का समर्थन निम्न प्रमाणों से भी कर दिया जाता है। जब श० प० ब्रा० (१-२-१-६ से ९ तक) पुरुषपशु का विकास अश्वादि पशुओं में दर्शाता है तो सातवें भाग में कहता है कि 'आत्रो सा सम्पद् यदाहुः पाङ्क्तः पशुरिति" कि ये उक्त पञ्चपशु तो अत्रि की सम्पदा या सन्तान या विलास हैं। इस 'अत्रि' की व्याख्या बृहदारण्यक ने इस प्रकार दे रखी है जैसे 'वागेवात्रि र्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह नामेतद्यदत्रि रिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद।" (१-४-२-४)। अत्रि नाम वाग् ब्रह्म का है, वाणी रूप ब्रह्म भौतिकात्मा है, वह सर्वभक्षी है, जो 'अत्ति' (खाता है) वही 'अत्रि' या वाणी रूप सर्वभक्षी भौतिक तत्त्व है। इसी बात को ऐ० ब्रा० ने बृहदारण्यक के प्रथम उद्धरण से मेल खाने वाले आख्यान के रूप में एक नये ढंग से प्रस्तुत किया है। इन सब कथाओं में ऋग्वेद के मंत्रों का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। ऐ० ब्रा० कहता है कि "प्रजापति स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्ये आहु रूषसमित्यन्ये—तामृष्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोति इति ते मा दुषदिति मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह जायैतद्यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्ष प्रियाहि देवाः।" (३ ३-३३)। यह प्रजापति भी अत्रि ही है, वह अपनी दुहिता के— जिसका नाम दिव् या ऊषा है—पीछे लग गया, देवताओं ने इसे अकृत्य समझा, कहने लगे यह उसे दूषित न कर डाले (मा दुषद्)। इसी मादुष् शब्द को कहते कहते उसे 'मानुष' कहने लगे अर्थात् उनके योग से 'मानुष' नाम के चतुर्थ सप्तक के वही भौतिक तत्त्व निकले जिनको बृहदारण्यक ने 'मनुष्या समजायन्त' लिखा है। ऐ० ब्रा० का यह प्रजापति अत्रि ही है। यह श० प० ब्रा० (१-४-१-११, १२, १३) के अत्रि उत्पत्ति की कथा से स्पष्ट है। इसमें लिखा है कि एक बार मनः या मानसिक वाणी और भौतिक वाणी में विवाद छिड़ गया कि कौन बड़ी है? प्रजापति ने मानसिक वाणी (मनः) को श्रेष्ठ बताकर भौतिक वाणी को 'परा' नाम से

पुकार दिया। यह सुनकर भौतिक वाणी अहव्यवाट् सिद्ध हो गई और उसका गर्भपात हो गया। तब देवता उसके गर्भपात को ढूंढने लगे तो उन्होंने कहा वह यहां गिरा था—'अत्र त्यात् इति'। इसी कथन से "अत्र त्यात्" 'अत्रत्यात्' कहते कहते वे उस गर्भपात को 'अत्रि' नाम से पुकारने लगे थे। मानसिक (मनः की) वाणी उपांशु होती है, भौतिक वाणी स्फुटध्वनि की। अतः देवताओं की आराधना मानसिक वाणी में की जाती है। भौतिक वाणी परा है। दैवी वाणी 'अपरा' या पूर्वार्द्धीय है। "सा ह वाग् परोक्ता विसिष्मिये तस्यै गर्भः पतातः······ तद्धैतद्देवा रेतश्चर्मन् वा यष्मिन्वा वभ्रुस्तद्ध पृच्छन्ति 'अत्रैव त्या ३ दि॑त' ततोऽत्रिःसम्बभूव।"

वैदिक ऋचाओं में लिखा है कि इस भौतिकात्मा रूप राहु तत्त्व से सूर्य २५वां तत्त्व ढक गया, उसे अत्रि ने चतुर्थ (सप्तक) के ब्रह्म बनकर देख पाया : जैसे "गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेन ब्रह्मणाऽविन्ददत्रिः।" अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अधुक्षत् ॥" (ऋ० वे० ५–४०–६, ८)। यहां यह भी लिखा है कि उक्त सूर्य नामक तत्त्व अत्रि कीं चक्षुः या आँख (अङ्कुर) है उसी ने उस भौतिकात्मा के राहु सम अन्धकारकारी तमोमय रूप की माया को दूर हटाया। इस ऋचा का अर्थ भी श० प० ब्रा० (५–२–६–२) ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार दे दिया है 'स्वर्भानु ह वा आसुरः (भौतिकः) सूर्यं तमसा (भौतिकात्मकतया) विव्याध। स तमसा विद्धो न व्यरोचत। तस्य सोमारुद्रावेवैतत्तमोऽपाहताम् स एषऽपहतपाप्मा तपति······ शुद्रस्वद्यांस्त्वत्तस्य·· कृष्णं वै तमस्तत्तमोऽपहन्ति तस्यैवैव श्वेता श्वेतवत्सा दक्षिणा।' इत्यादि॥ इसी प्रकार सूर्य की स्तुतियों में इस तमोरूप भौतिकतत्त्व की चर्चा अवश्य दी गई है, उसे 'चक्षुमित्रस्यवरुणस्याग्नेः' या मित्र वरुण और अग्नि या अत्रि की चक्षु भी इसीलिए कहा गया है। (सूर्य शीर्षक देखें)। मंत्र रचयिता ऋषि अलग हैं।

जिस प्रकार के भाव वाले उद्धरण बृहदारण्य ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० में मिले है उन्हीं भावनाओं को हम ऋ० वे० में भी पाते हैं जैसे "द्यौ में पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयोश्चम्वो योनि रन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥" और 'यईं चकार न सो अस्य वेद यईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिं माविवेश।" (ऋ० वे० १–१६४–३३, ३२)। इनमें इसी भौतिक तत्त्व को एक स्थल में 'दुहिता' और दूसरे स्थल में मही, पृथिवी और मातुर्योनिः कहा हैं। अन्तिम द्यावापृथिवी दो विभाजनों के अनुसार हैं। अतः जो व्याख्यान यहां पर 'अश्व गो अवि अज' के बारे में प्रस्तुत किया गया है वह निश्चयपूर्वक इन्हीं तथ्यों पर पूर्ण

प्रकाश डालता है। और ऐ० ब्रा० ३–३–३३ के उद्धरण में 'प्रजापति ने 'उषा से अकृतकार्य किया' लिखा है, इसका आधार ऋ० वे० का पूषा को अपनी बहिन उषा का जार कहना है 'स्वसुर्यो जार उच्यते' (६–५५–१) और साथ में वहीं इसे 'मातुर्दिधिषुः' भी कहा है, यह 'स मातुर्योना परिवीतः' का भाव दुहराता है और ब्राह्मणों की श्रुतियों की पुष्टि करता है।

अथाध्यात्मम्

अब तत्त्वों का वर्णन पुरुष के अङ्ग रूपों में किया जाता है। इस शैली को अध्यात्म कहते हैं। प्रत्येक अंग आत्मा है, अतः उन पर आधारित वर्णना अध्यात्म नाम से पुकारी जाती है। इस शैली में उलटा क्रम है। अध्यात्म योग का नाम है। योगी प्रत्येक आत्मा (भौतिक) से उनके देवता रूप की उद्दीप्ति या अनुभूति करता है, इसका नाम अतिसृष्टि है (बृह० उप० १–४-६)। यहां मर्त्य तत्त्वों से अमृत तत्त्वों की सृष्टि या अनुभूति होती है। शिर बाहु उरु पाद वाक् (मुख) चक्षु श्रोत्र मन प्राण तो अध्यात्म शरीर हैं और द्यौ ब्राह्मण अग्नि सूर्य चन्द्रमा दिश उनके क्रमिक देवता हैं।

> यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
> मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ ११॥
> ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
> ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ १२॥

'पद्भ्यां भूमि दिशः' "ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशास्यो दशशिरः' "इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं आत्मा" 'शौद्रं वर्णं पूषणं' 'पशवो वै पूषा पुष्टिः पूषा, पुष्टिः पशवः' 'जन्मना जायते शूद्रः' 'चक्षुः पादः' श्रोत्रं पादः'।

यजुर्वेद में ये दशवीं और ग्यारहवीं ऋचायें हैं, अथर्व में पाचवीं और छठी। यजुर्वेद ने प्रथम ऋचा के 'कौ बाहू' और 'का ऊरू' के स्थान में 'किम्बाहू' और 'किमूरू' पाठ दिया है, और अथर्व ने भी यही पाठ दिया है। दूसरी ऋचा के सम्बन्ध में यजुर्वेद का पाठ वही है जो ऋग्वेद का है, पर अथर्व ने 'राजन्यः कृतः' के स्थान में 'राजन्योऽभवत्' तथा 'ऊरू तदस्य' के स्थान में 'मध्यं तदस्य' पाठ दिया है। इन पाठान्तरों से इन ऋचाओं के भाव में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

वर्तमान ऋचाओं की प्रचलित भ्रामक व्याख्याओं और अर्थों ने हमारे हिन्दू समाज में ऊँच नीच भावना का विषाक्त प्रभाव डाल रखा है। बहुत से ब्राह्मणादिक अपने को इन ऋचाओं के बल पर साक्षाद् ब्रह्म से निकला समझ कर दूसरों को तिरस्कृत करते दीखते हैं। वास्तव में इन मन्त्रों में

आये ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र शब्द जाति परक होते हुए भी यहां पर पारिभाषिकतया तत्वों या तत्वों के गुच्छों या सप्तकों के संकेत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ये वर्ण या जातियां देवताओं की हैं। प्रथम आठ या दस तत्व ब्राह्मण कहलाते हैं, द्वितीय सप्तक क्षत्रिय, तृतीय सप्तक वैश्य और चतुर्थ भौतिक सप्तक शूद्र नाम से पुकारा जाता है। यह पुरुष पशु के अंगों का विवेचन देता है। एक ही तत्व कभी ब्राह्मण कहलाता है, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र। इस प्रकार वर्णों के कर्मानुसार विभाजन स्वीकार करके उनके ऊँच नीच भेदभावमूलक भावना की सत्ता ही मिटाकर, सब को समान पद दिया है, विशेषकर शूद्र तत्वों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। यद्यपि पंक्ति रचना का क्रम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र का ही क्रम नियमित रूप से तत्व क्रम समझने के लिए अनिवार्य माना गया है। इस दृष्टि से उक्त वर्णों के ऊच नीच क्रम की सत्ता को मना भी नहीं किया जा सकता, पर यह सत्ता उनके गुण और कर्मों से मानी गई है, आजकल के वंश परम्परा मूल से नहीं।

इन ऋचाओं में जिन्हें पुरुषपशु के अंगभूत मुख बाहु ऊरू और पादों को ब्राह्मण क्षत्र विश् शूद्र वर्णों के नाम से पुकारा गया है वे ब्राह्मणादि हमारे मनुष्य जाति या हिन्दू समाज के वंशानुक्रमी ब्राह्मणादि कदापि नहीं हैं। ये तो देवताओं की जातियाँ हैं या वर्ण हैं, या तत्वों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का वर्णन करने वाली सीधे भाव से कही गई पारिभाषिक पदावली है। हमारे अज्ञान ने इनके अर्थ को गलत समझने के लिए बाध्य किया है।

ऋचाओं में प्रथम प्रश्न करती है कि जिस आखिल ब्रह्माण्ड नायक को पुरुष रूप में कल्पित किया गया था उसका मुख कौन था, बाहु कौन, ऊरू कौन थे ? और पाद कौन थे ? इसके उत्तर में दूसरी ऋचा कहती है कि ब्राह्मण मुख था, राजन्य या क्षत्र को बाहु बनाया, वैश्य ऊरू बने, और पावों से शूद्रों की रचना हुई।

अस्तु उक्त ब्राह्मणादिकों को खोजने के लिए दूर जाने की आवश्यकता न पड़ेगी। आपके छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद तथा अथर्व इस विषय पर सन्देहहीन निर्भ्रान्त व्याख्यान दे देंगे, यद्यपि ब्राह्मणों और अन्य उपनिषदों में इस विषय पर स्थल स्थल पर स्पष्ट प्रकाश डाल रखा है प्रत्येक देवता या तत्व को उसकी जाति या वर्ण के नाम के साथ साथ उद्धृत या आमंत्रित कर रखा है। प्रस्तुत ऋचा के पारिभाषिक शब्द साक्षाद् उस विद्या के हैं जिसे हमारे यहाँ ब्रह्म विद्या कहते हैं और जिसके ज्ञाताओं को 'ब्रह्मवादिनः' या 'ब्रह्म विद्'कहते हैं। क्योंकि इन वर्णाभिधेय तत्वों का विकास साक्षात् 'ब्रह्म' से सूचित

किया गया है। ब्राह्मणों या उपनिषदों में या गीता में जहां जहां ब्रह्मविद् या ब्रह्मवादिनः शब्दों का प्रयोग है वहां इन्हीं तत्वों से संकेत समझना चाहिए। जैसे छान्दोग्य (१–२-२४) ने लिखा 'ब्रह्मवादिनो वदान्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमादित्यानां च विश्वेषां देवानां च तृतीय सवनम्"। इस ब्रह्म के चार पाद हैं अतः इसे चतुष्पाद् ब्रह्म कहते हैं उसके चार पादों के क्रमिक नाम वाक् (ब्राह्मण) प्राणः (क्षत्र) चक्षुः (वैश्य) और श्रोत्र (शूद्र) हैं जैसे 'तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाग्पादः प्राणः पाद श्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः॥" छान्दोग्य (१ ३-१८)। जिसको छान्दोग्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (१-३-१४) कहता है उसी को बृहदारण्यक 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' (२-६-६) कहकर ब्रह्म के विकासों में क्षत्र को द्वितीय सप्तक, और देवताओं को तत्त्व (भूतानि) नाम से पुकार कर सब को आत्मा या ब्रह्म कहता है। फलतः प्रथम पाद ब्राह्मण है जिसे वाक् या ब्राह्मण कहते हैं, द्वितीय पाद क्षत्र या प्राणः है, तृतीय पाद वैश्य या चक्षुः है चतुर्थ पाद श्रोत्र या शूद्र है। प्रत्येक पाद में अनुष्टुप् गायत्री के आठ आठ अक्षरों के आठ आठ तत्त्व रूप देवता हैं। अन्य छन्दों के अनुसार पाद के तत्वों की संख्या कम या अधिक होती है जैसे विराट् का अनुसरण करते हुए अथर्ववेद प्रथम १० तत्वों को ब्राह्मण कहता है जैसे "ब्राह्मणो प्रथमो जज्ञे दशशीर्षो दशास्यः॥" (४-६-१)। यही दशानन ब्राह्मण है जिसका भौतिक विकास आसुरी सम्पदा में रावण कहलाया अर्थात् जब इसका विकास २४ वें से ३१ वें तक आसुरी भौतिकता में हुआ तो वह रावयतीति रावणः हो गया, वही दैवी शक्ति सम्पन्न हुआ तो रामयतीति रामः भी हो गया। दोनों एक ही के द्वन्द्व हैं। यजुर्वेद सप्तम काण्ड में भी इस ऋचा के अनुरूप भाव दिये गये हैं जिसमें ब्राह्मणादिकों की मुख से त्रिवृत् रूप में उत्पन्न होने की चर्चा की गई है, वहां भी यही उक्त भाव समझना चाहिए। उक्त भाव की कुञ्जी 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्' आगे का मन्त्र है। जिन दो पावों से यहाँ शूद्र तत्वों की सृष्टि बतलाई गई है उन्हीं दो पावों से इसी सूक्त के अगले १४ वीं ऋचा में भूमि की उत्पत्ति बताई है। यहाँ का भूमि शब्द भौतिकवादी है यह वहां बताया जायगा, देखें, उसी के भौतिक श्रोत्र या स्रोतों से दिशायें या सीमायें बनीं। जब ये भौतिकों की सृष्टि करते हैं तो यहां के शूद्र तत्त्व भी इन्हीं भूमि और दिशा के समकक्ष भौतिक तत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। इन दोनों का सामञ्जस्य, भाष्यकारों का स्वयं खण्डन कर देता है।

बृहदारण्यक ने लिखा है कि आदि में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व था, उसने अपने को ब्रह्म हूँ करके समझा तो उसी से सब देवता क्रम से उत्पन्न हुए। अतः

वामदेव ऋषि ऋ० वे० ४-२६ सूक्त में कहते हैं कि मैं ही सूर्य था मैं ही मनु था वही सब कुछ था इत्यादि। वह ब्रह्म पहिले अकेले था, ब्राह्मण रूप में ८ तत्त्व तक प्रथम पादीय था या एकपाद था। उससे पूरा नहीं पड़ा तब उसने श्रेय रूप क्षत्र या राजन्य नामक तत्त्वों या देवों का विकास किया। वे क्षत्र या राजन्य तत्त्व ये हैं:—इन्द्र वरुण सोम रुद्र पर्जन्य यम मृत्यु और ईशान। एक एक से एक एक की उत्पत्ति हुई। अतः ब्राह्मण से क्षत्र तत्वों की दूसरी श्रेणी है। इससे भी सृष्टि कार्य पूरा न हो सका, तब इन क्षत्रों से विश् या वैश्य नामक तत्त्वों की सृष्टि की गई। वे वैश्य तत्व ये हैं :—अष्ट वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, विश्वेदेवता और मरुत। इनसे भी सृष्टि का कार्य पूरा नहीं हो सका। तब उक्त विश तत्त्वों से शूद्र तत्त्वों की सृष्टि की गई। यह शूद्र तत्त्व पूषा पूणाण या पोषणकारी भौतिक तत्त्व हैं जिनको पशु रूप में वर्णित किया जा चुका है, चतुष्पाद रूप सभी देवताओं को पशु रूप में वर्णित किया गया है अतः सब देवता शूद्र ही हैं। पूषा नाम पशु का है 'पशवो वै पूषा"। इससे भी पूरा नहीं पड़ा तो श्रेयो रूप धर्म की प्रतिष्ठा की गई। धर्म नाम सत्य(बोलने)का है। जो सच बोलता है वही धर्म बोलता है। अन्त में कहा है कि वह ब्रह्म इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र नामक तत्त्वों में अग्नि रूप में प्रस्तुत या विकसित हुआ। अतः वेदों में अग्नि सूत्रों में जहां जिस वर्ण नाम की अग्नि का उल्लेख है वहां उसी की स्तुति समझनी चाहिए। सब एक ही अग्नि के वर्णन के सूक्त नहीं हैं। यह वर्ण भेद वर्णना के भेद दर्शाने के निमित्त अपनाया गया है। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वमभवत् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां च मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषि वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" "ब्रह्म वा इदमग्र आसी देक मेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रःपर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति" "स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुतः इति।" "स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषण मियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥" "स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं,...यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति इत्येतदुभयं भवति ॥" (१-१-४-१०, ११, १२, १३, १४, १५) "पशवो वै पूषा पुष्टि वैंपूषा, पुष्टिः पशवः" (श० प० ब्रा० ३-१-४-९-१४)

उक्त वर्णात्मक देवताओं में जब रुद्र अकेले हो तो क्षत्र है, पर गणात्मक रुद्र वैश्य है, सूर्य, सविता, क्षत्र हैं पर गणरूप में ये आदित्य नाम के वैश्य हैं, एक-एक विश्वेदेवता शूद्र हैं पर गणयुक्त वैश्य हैं; वायु तो क्षत्र है पर गणरूप

में यह मरुत नाम से वैश्य है। बृहस्पति ब्राह्मण है देवताओं का पुरोहित है, पर गणरूप में जब यह ब्रह्मणस्पति कहलाता है तो वैश्य है। सोम वरुण और इन्द्र क्षत्र हैं पर जब ये सर्वदेवता कहलाते हैं तो ये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब हैं। यही बात अग्नि और विष्णु के सम्बन्ध में लागू होती है क्योंकि ये भी सर्वदेवता है। देवता कोई भी हो, जब उसका विकास चतुर्थ सप्तक में पूषा रूप में या पशु रूप में या भौतिक रूप में होता है तो वह शूद्र ही है। सब देवता पशु रूप में वर्णित हैं अतः सब देवता शूद्र ही हैं। क्योंकि चौथे पाद में सब देवता चतुष्पद या पशु हो जाते हैं अतः वे सब शूद्र जाति के हो जाते हैं, मित्र वैश्य के पाद में होने पर क्षत्र कहलाता है, फिर भी सोम दक्ष ऋतू शूद्र पाद में होते हुए भी क्षत्र ही हैं। अतः देवताओं के वर्ण किसी ऊँच नीच भावना भरे नहीं वरन् वर्णना के वर्ण हैं। सभी देवता कभी ब्राह्मण हैं कभी क्षत्र, कभी वैश्य कभी शूद्र। विना शूद्र बने कोई देवता पूर्ण रूप भी नहीं पा सकता। ऐ० ब्रा० (७-४-२३) ने एक उत्तम उदाहरण दिया है कि इन्द्र और सोम क्रम से क्षत्र और राजन्य हैं, पर जब ये एक साथ 'इन्द्रासोमौ' होते हैं तो ये ब्राह्मण कहलाते हैं अतः वैदिक वर्ण सदा परिवर्तनीय हैं। इस प्रकार की कथायें पुराणों में भी कई वंशों के सम्बन्ध में आती हैं।

आज कल के आलोचकों का अनुमान है कि वेदों में वर्णित शूद्र जाति अनार्य हैं। यह बिलकुल भ्रम है। वेदों में जिन्हें शूद्र या दास नाम से पुकारा गया है वे सब आर्य जाति के ही हैं। वेदों ने असुरों और राक्षसों को आसुरी भौतिक वृत्ति तथा भौतिकात्मा के रूप में दास कहा है। त्रिपादामृत तो अरूप है, शरीर हीन है, उसको भौतिक शरीर पशु सा बनकर अपने में ढोता है अतः यह भौतिक तत्व स्वयं दास का कार्य करता है, पर यह है आर्य सन्तान ही या ब्राह्म सन्तान ही जैसे ऋ० वे० (२-१२ २) में 'दासं वर्णमधरं गुहाकः' लिखकर 'दास वर्ण तत्वों को गुहा से २४ तत्वों त्रिपाद् से बाहर किया' कहा है, और ऋ० वे० ६-२२-१० तथा १०-८४-१ में दास को आर्य नाम से पुकारा गया है जैसे "यदा दासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रि सुतुकान्नाहुषाणि" "साह्यानि दासमार्यं त्वया युजा"। इसी प्रकार ऋ० वे० १०-८६-१९ और ६-६०-६ में "अयमेभिर्विचाकशद्विचिन्वन् दासमार्यम्" "हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती, हतो विश्वा अप द्विषः" में भी दास या शूद्र को आर्य कहा है। अवश्यमेव अथर्व ने अनार्यों को किरात नाम से पुकारा है और ऋ० वे० ने दाशराज्ञ युद्ध में पक्थास भलानस, भनन्तालिन विषाणिनः शिवास नाम अनार्यों के दिये हैं। (७-१८-७) इनको चातुर्वर्णों में कोई स्थान नहीं दिया है। ये महाभारत आदि में वर्णित चाण्डाल पुक्कस जातियों में आते हैं। इन्हें

पञ्चम वर्ण कह सकते हैं। हमारे ऋषियों ने भी हमारे प्रत्येक के भौतिक शरीर को शूद्र माना है। अतः कहा है 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते'। इसी दृष्टि से प्रथम त्रिपादामृतों की तरह प्रथम तीन वर्णों को शूद्र वर्णी भौतिक शरीर से ऊँचा समझा जाता है। यही भाव ऋ० वे० ७-३३ ७ में वशिष्ठ जी कहते हैं 'त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्र प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः" इन्हीं तीन ज्योतियों को पाने के लिए त्रिपदा गायत्री का यज्ञोपवीत रूप संस्कार या ज्ञान देकर शूद्र शरीर को द्विज बनाया जाता रहा। अतः यह ऋचा सीधे-सीधे चतुष्पाद् ब्रह्म का विवेचन वर्ण नामी अंगों से देती है (चतुष्पाद ब्रह्म व्याख्या देखें)। यदि ये यहां वर्णित जातियां वंशपरम्पानुगत जातियों की उत्पत्ति की चर्चा करती तो, इनके पूर्व और पश्चात् की ऋचाओं में वर्णित वैदिक दर्शन के तत्त्वों की उत्पत्ति के देने का कोई वैज्ञानिक महत्त्व ही नहीं रह सकता। यद्यपि निम्न ऋचाओं के अर्थ के बारे में कम भ्रम नहीं है, फिर भी ये तो तत्त्व हैं वह प्रायः अधिक लोग समझते हैं। अतः निश्चयपूर्वक ही यहां पर दिये ब्राह्मणादिक शब्द देवताओं या तत्त्वों की जातियां हैं इसमें सन्देह नहीं रह जाता।

> चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
> मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
> नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
> पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन् ॥ १४ ॥

['चन्द्रमा वै ब्रह्म' 'चन्द्रमा वै देवानामात्मा' श० प. ब्रा. १-५-२३ 'यदार्द्रं तत्सोम्यम्, चन्द्रमासौम्यः' 'रात्रिः सौम्या, योऽपक्षीयते स सौम्यः' "(वृत्रं) द्वैधाभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास (१-५-२-१) तं चन्द्रमसं चकार यदासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः" (३-५-२-१९) 'यो वै विष्णुः सोमः सः' (४-३-४-१) 'सोमो वै देवानां हविः' 'तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव" (४-१-६ १) (अग्नेः) द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्चक्षुरध्वशेत स चन्द्रमा तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्नवत् (श० प० ब्रा० ७-१-२-८)]

ये ऋचायें यजुर्वेद में बारहवीं और तेरहवीं हैं, अथर्व में सातवीं और आठवीं, अथर्व का पाठ ऋग्वेद के पाठ के ही समान है, पर यजुर्वेद ने 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत' के स्थान में 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत' पाठ दिया है। ऋग्वेद ने इन्द्र की उत्पत्ति तथा प्राण से वायु की उत्पत्ति अधिक दी है, यजुर्वेद ने मुख से इन्द्र की उत्पत्ति नहीं दी है पर प्राण की उत्पत्ति श्रोत्र से अधिक दी है। ऋग्वेद ने वायु की उत्पत्ति प्राण से मानी है, यजुर्वेद ने श्रोत्र से। इनका विश्लेषण आगे किया जावेगा। द्वितीय ऋचा सब में एक सी है।

इन दो ऋचाओं में दो प्रकार के तत्त्व हैं; एक शरीर रूप हैं, दूसरे उनकी आत्मा या देवता रूप। मनः चक्षुः मुख (वाक्) प्राणः नाभिः शीर्ष्णं, पाद और श्रोत्र तो हैं शरीर या अध्यात्म, तथा चन्द्रमा सूर्य इन्द्र अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि दिश और लोक इनके क्रमिक देवता या आत्मायें हैं। शरीर तत्त्व तो मर्त्य हैं, पर देवता तत्त्व अमृत हैं। इसका नाम अतिसृष्टि है (बृह० उप० १-४-६)।

वर्तमान दो ऋचायें तो पुरुष सूक्त के हृदय के दो पलड़े हैं। इनमें वैदिक दर्शन का प्रायः पूरा पूरा ढाँचा दे दिया गया है। जो व्यक्ति इन दो ऋचाओं के भाव को ठीक ठीक समझ ले उसको वैदिकों के दर्शन का अच्छा ज्ञान हो सकता है। इन ऋचाओं में आये चन्द्रमा, मनः चक्षुः सूर्यः, मुखं, इन्द्रः अग्निः प्राणः वायुः, नाभिः, अन्तरिक्षं; शीर्ष्णं, द्यौः, पद्भ्यां, भूमिः, दिशः, श्रोत्रं तथा लोकाः सभी शब्द पारिभाषिक तथा दर्शन के तत्त्वों के पृथक् पृथक् या सामूहिक वर्गों के नाम हैं। अब तक लोगों ने, इन शब्दों की कीहुई या दीहुई ब्राह्मणोपनिषदों की व्याख्या पर ध्यान न देकर, इन्हें लौकिक व्यावहारिक और प्राकृतेय वस्तुओं का संकेतक समझा है। ये ऋचायें न तो गायत्र पुरुष के अङ्गों का वर्णन देती हैं न विराट् पुरुष की, प्रत्युत अखिल ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करने वाले पुरुष पशु के अङ्गों का पूर्ण विवेचन देती हैं। यह अध्यात्म दर्शन है योगियों के योग से उद्दीप्त अंगों का दर्शन या वर्णन है।

सबसे पहिले चन्द्रमा तत्त्व को ही लीजिए। ऋचा में कहा गया है कि 'चन्द्रमा' की उत्पत्ति उस रूप के सृष्टि पुरुष के मनः से हुई जिसका वर्णन पिछली ऋचा में ब्राह्मणादि अंगों द्वारा किया जा चुका है। वेदों में वर्णित चन्द्रमा कहीं भी इस स्थूल चन्द्रमा का संकेतक भी नहीं है। वैदिक चन्द्रमा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। लौकिक चन्द्रमा तो पृथिवीगोल का एक टुकड़ा है अतः पृथिवी से उत्पन्न हुआ है। परन्तु वैदिकों का यह चन्द्रमा सूर्य से उत्पन्न होता है। यह सूर्य भी आकाश में चमकने वाला सूर्य नहीं है. यह भी एक माह-महत्वपूर्ण तत्त्व है। वैदिक सूर्य चन्द्रमा को समझ लेने से वैदिकों के दर्शन की पूरी झलक मिल जाती है। दशवीं ऋचा में अत्रि नामक ऋषि या तत्त्व की व्याख्या दी जा चुकी है (मन्त्र रचयिता ऋषि दूसरे हैं)। इस अत्रि की चक्षु से 'सूर्य' नामक आदित्य की उत्पत्ति हुई। अत्रि नामक तत्त्व चतुर्थ सप्तक का प्रथम तत्त्व या महर्षि है। उसका प्रथमाङ्कुर चक्षु या आँख कहलाती है यह सृष्टि वृक्ष की विकासशैली को दृष्टिपथ में रखकर—वृक्षविकास में पहिले अङ्कुर या आँख (चक्षुः) निकलती है तब पत्ती फूटती है, तब टहनी बनती है। चक्षु या आंख रूपी अङ्कुर से जो पत्ती निकलती है उसे तत्त्वों में

'सुपर्ण' (सुकोमल पत्ती) कहते हैं, पक्षी रूप में 'सुपर्ण' माने सुन्दर पक्षी होता है पत्ते प्राय: दो होते हैं अतः 'द्वा सुपर्णा' कहा है। ये दो चन्द्रमा और आसुर्य भाग हैं। अस्तु अत्रि की जो आँख है वही चक्षुः रूप तत्त्व है, इसी बात को 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' (ऋ. वे० १-११५-१) कहता है, यहाँ अत्रि का सम्बोधक अग्नि है, अत्रिरूप अग्नि की चक्षुः का रूप ही सूर्य है। अतः यहां पर ऋचा कहती है 'चक्षोः सूर्यो अजायत' की अत्रिरूप महर्षि रूप चतुर्थ सप्तकीय प्रथम तत्त्व से जब सर्वप्रथम भौतिक ज्योति का अङ्कुर, आँख या अङ्कुर रूप में उदित हुआ उसी का विकास या उसी का परिवर्द्धित रूप 'सूर्य' नामक स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त सा या ग्रहणयुक्त सा शरीर वाला उत्पन्न हुआ। इसका विशद वर्णन 'सूर्य' शीर्षक और दशवीं ऋचा में हो चुका है। इस भौतिकता से युक्त ब्रह्म का नाम आत्मा है। यः आप्नोत् (भौतिकं रूपं) स आत्मा।

अतः बृहदारण्यक इस आत्मा के सम्बन्ध में लिखता है 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव, सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै कामोनेच्छंच्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वितं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोति अकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तः यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पाङ्क्तमिदं सर्वं यदिदं किंच तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥" (१-४-१७)। इसमें उस भौतिकात्मा युक्त तत्त्व को 'चक्षु' या सूर्य नाम से पुकारा है, तथा इसी भौतिकात्मा को वाक् रूपिणी जाया भी कहा है। वह स्त्रीपुमान्सपरिष्वक्त था, अतः पार्थक्य चाहता रहा उस पार्थक्य की कामना ही भौतिकात्मा के रूप मे परिणत होकर स्त्री रूप में प्रस्तुत हो गई। अतः मन ही उसकी आत्मा, वाक् जाया और प्राण प्रजा रूप वित्त उसे मिल गये। 'चन्द्रमा मनसो जातः' के 'मनसो जातः' का यही भाव है कि यह चन्द्रमा रूप भौतिक ज्योति, उस सूर्य रूप स्त्रीपुमान्सम्परिष्वक्त देह के मानसी रूप के काममय सूर्य रूप से उत्पन्न हुआ। यह यज्ञ रूप है, अत श० प० ब्रा० इसे 'यज्ञियायज्ञियं' नाम से पुकरता है। यज्ञ माने विकास है जैसे 'चन्द्रमा वै यज्ञियायज्ञियं' (श० प० ब्रा० ९ १ २-३९) और इसी चन्द्रमा को 'मति' (मनः से उत्पन्न) नाम से भी पुकारा 'इयमुपरि मतिरिति चन्द्रमा' (श० प० ब्रा० ८ १-२-७)। उक्त कामरूप चक्षु नामी सूर्य को छान्दोग्य 'चाक्षुषः पुरुषः' और 'मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' कहता है (९ १२)। और इस चक्षुः को चतुर्थपाद मानते हुए लिखा है 'चक्षुरेव ब्रह्मण

चतुर्थः पादः' और यह चक्षु नामक चतुर्थ पाद का व्याख्यान 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' शीर्षक में देता है। अतः चक्षुरूप चतुर्थ पाद का आरम्भ मनो रूप ब्रह्म से या सूर्य रूप चक्षु से ही प्रारम्भ कर रहा है(१-१८)। इसीलिए कहा है कि चन्द्रमा का जन्म मनः से हुआ। बृहदाराण्यक के उद्धरण की वाक् ज्ञानमयता है, मनः शरीर है, प्राणः प्रजारूप चन्द्रमा है, प्राणों का शरीर आपोमय (विद्युन्मय) है, ज्योतिष्मान् है, इन दोनों से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है जैसे "अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतिरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आप स्तावानसौ चन्द्रः" (बृह० उप० १-१-५-१३)। यह तो चन्द्रमा के जन्म और स्थिति की परिस्थिति है। अतः मनः से भौतिक सृष्टि होने से हमारा अखिल ब्रह्माण्ड मनो ब्रह्माण्ड ही है। सारा वैदिक दर्शन उसी मनोविज्ञान की व्याख्या करता है।

ऋ० वे० (१०-१९०-३) और तै० आ० (१०-१-१४) ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ये सूर्यचन्द्रमसौ दो तत्त्व इस अखिल ब्रह्माण्ड निर्माण करने वाले धाता और विधाता क्रम से हैं। इन्होंने ही सकल सृष्टि को यथापूर्व प्रस्तुत किया जैसे "सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्व मकल्पयत्। दिवं च पृथिवी-मन्तरिक्षमथो स्वः॥" इसी लिए इस सूर्य को इस भौतिक ब्रह्माण्ड की आत्मा कहा गया है 'सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। इन दोनों को दूसरे ढंग से, या सृष्टिपुरुष वृक्ष की दो आंखें बतलाते हुए लिखा है कि उस पुरुष का (अग्नि का) शिर तो द्यौ या पूर्वार्द्ध है और सूर्य तथा चन्द्रमा दो आँखें (अङ्कुर) हैं, इनमें सूर्य तो त्रिपादामृतीय एकात्मा रूप दिव्य स्वयं प्रकाशित आँख या अङ्कुर या बीज है, पर चन्द्र रूप आँख फूटी हुई है, ज्योतिहीन है, वह बन्द सी रहती है, उससे निरन्तर (पानी) रस चूता रहता है, उसी रसमय चन्द्ररूपी आँख से समुद्रादि रस सागर बनकर उस रसमय ब्रह्म से अखिल सृष्टि प्रारम्भ होती है। जैसे (अग्नेः) "द्यौ रेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी, यच्चक्षुरध्य-शेत स चन्द्रमा तस्मात्स मीलिततरोऽन्नं हि तस्मादश्रवत्।" (श० प० ब्रा० ७-१-२-८)। इसीलिए ऐ० ब्रा० (२-५-४१) इस चन्द्र को ब्रह्म नाम से पुकारता है 'चन्द्रमा वै ब्रह्म' यह चन्द्र ब्रह्म वही है जिसे सब उपनिषद् 'रसो वै सः' कहते हैं, रस इसी से वह स्रवित होता है। श० प० ब्रा० (१४-३-२-११)। इसीलिए वह चन्द्रमा को देवताओं या तत्त्वों की 'आत्मा' के नाम से पुकारते हुए लिखता है "चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा"। सृष्टि के दो पहलू हैं, एक शुष्क दूसरा आर्द्र। शुष्क आध्यात्मिक सृष्टि है अग्निरूप ज्योतिष्मान् प्रकाशवान् ज्ञानवान् व्यापक विभुः एक है और आर्द्र सृष्टि भौतिक है रात्रि, या उत्तरार्द्ध, नाम से या दक्षिणायन नाम से पृथिवी नाम से पुकारी जाती है। पूर्वार्द्ध दिन उत्तरायण और द्यावा कहलाता है। चन्द्ररूप तत्त्व इसके दक्षिणायन में नाना

रूपों में विभक्त होने से अपक्षीयमाण पक्ष या पितृपक्ष कहलाता है जिसको आलंकारिक भाषा में कहते हैं कि पितर सोमपान करते हैं अतः वह क्षीण होता है। यह सृष्टि सौम्य सृष्टि कहलाती है. सौम्य चन्द्रमा है आर्द्र है जैसे "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, आर्द्रं चैव शुष्कं चैव। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यं''' सूर्य एव आग्नेयः, चन्द्रमा सौम्यः। अहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्याः। य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः।" (श० प० ब्रा० २–५–२–२३, २४)। जब चक्षु रूप सूर्य तत्त्व से प्रथम भौतिक तत्त्व का निर्माण या विकास हुआ तब वह दो प्रकार कीं वृत्तियों से मिश्रित था। वे दो वृत्तियाँ दैवी और आसुरी थीं। इन दोनों का मिश्रण वृत्र या आवरणकारी भौतिक तत्त्व कहलाया। इन्द्र रूप सूर्य ने जब इसको मारना या नष्ट करना चाहा तो इसने (वृत्र ने) कहा, नहीं, मुझे नहीं मार सकते, मेरे नाश से तुम्हारा ही (तुम्हारे इस शरीर का ही) सर्वनाश हो जावेगा। तब इन्द्र रूप सूर्य ने इसके दो भाग किये, उसका जो सौम्य या दैवी भाग था उससे चन्द्र या दिव्य शरीर बना और उसका जो आसुरी भाग था उससे समस्त स्थूल सृष्टि रूप प्रजा बनी। अतः कहा है "तं (वृत्रं) द्वेधाभिनत् तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकार, यदासुर्यमास तेनेमाः प्रजाः।" (श० ब्रा० १–५–२–२३)। इसी चन्द्रमा का एक दूसरा नाम शुक्र भी है जिसको ब्राह्मण ग्रन्थों ने शुक्रामन्थी ग्रह भी कहा है। जब हम सूर्योपस्थान करते हैं तो चक्षु नाम सूर्य तत्त्व को इसी शुक्ररूप रस को अन्नरूप में निरन्तर प्रस्रवण करने वाला कहते हैं। यह शुक्र चन्द्रमा का ही रस है इसका प्रमाण श. प. ब्रा. (४-१-६-१ शुक्रामन्थीग्रहः) का यह वाक्य है "तेनेषः शुक्रश्चन्द्रमा एव" तभी उपस्थान का मन्त्र कहता है "तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् च्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥" (ऋ. वे. ७-६६-१६, वा० स० ३६-२४, तै० आ० ४ ४२ ५)। यह देवहितं या सूर्यदेव में सन्निहित सुरक्षित शुक्ररूप तो बीज रूप रस है जो चन्द्रमा रूप में दिव्य शरीर में प्रस्तुत हुआ। यह रस रूप चन्द्रमा सूर्य या इन्द्र की इन्द्रिय या रस कहलाता है। यह अद्वितीय अजातशत्रु है, अतः कहा है 'इमं देवाअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्र मस्यै विश एव वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा॥" (यजु० ९-४०)। इन्द्रिय का अर्थ 'रस' बतलाने वाली ऋचायें 'सोम' शीर्षक में दे दी गई हैं। इन्हीं सब प्रधान कारणों से यह सबसे बड़ा क्षत्र, सबसे ज्येष्ठ भौतिकात्मा होने से ब्रह्मवादी ब्राह्मण इस तत्त्व को तत्त्वों का 'राजा' मानते थे। यही सोम नामी चन्द्रमा प्रजाप्रणाली की व्याख्या में विष्णुः और यज्ञ प्रणाली में हविः कहलाता है जैसे

"यो वै विष्णुः सोमः स" (श० प० ब्रा० ३-५-२-१९) 'सोमो' वै देवानां हविः' (श० प० ब्रा० ४-३ ४-१) । शुक्र नाम भी इसी चन्द्र के रस का है, अतः शुक्र के मंत्र में भी इसी चन्द्रमा का वर्णन मिलता है जैसे "अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्राह्मणा व्यपिबत्क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा ॥" (यजु : १९-७५)। यहांइसको इन्द्र की इन्द्रिय या रस, अन्न, अमृत आदि नामों से ही सम्बोधित कर रखा है । ऐ० ब्रा० ने ब्रह्मणः परिमरः नामक शीर्षक (८-५-२८) में लिखा है 'आदित्याद्वै चन्द्रमा जायते' । इसका समर्थन श० प० ब्रा० (१०-६-२-११) ने दीप्ति रूप की वर्णना द्वारा इस प्रकार किया है "प्राणेन वा अग्निर्दीप्यते, अग्निना वायुः, वायुनादित्यः, आदित्येन चन्द्रमा, चन्द्रमसा, नक्षत्राणि, नक्षत्रैर्विद्युत्, एतावती वै दीप्तिरस्मिश्च लोकेऽमुष्मिंश्च" यह क्रम लौकिक तथा दार्शनिक दोनों अर्थ देने वाले उक्त शब्दों के संकेतकों की दीप्ति है । ये सब भावनायें ऋ. वे. की निम्न ऋचाओं के मूल स्रोत से प्रवाहित हुई हैं जो चन्द्रमा के जन्म को सूर्य से इस प्रकार संकेतित करते हैं ऋ. वे. (५-८०-२) सविता—"विश्वारूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीत् चन्द्रं द्विपदे चतुष्पदे ।" 'ऋ. वे. (९-६९-१०) "भरा चन्द्राणि गृणते वसूनि । ऋ. वे. (९-१०८-१०) वृष्टि दिवः पवस्व रीतिमयां जिन्व गविष्ठये धिया" । ऋ वे (९-१०८-९) सहस्रधारं वृषभधियो वृध प्रियं देवाय जन्मने" । अन्तिम दो ऋचाओं में चन्द्रमा को वृष्टिः (परिस्रवण) और 'धी' नाम से पुकारा है । चन्द्रमा 'धी' (सांख्य की बुद्धि रूप) है जिसको सविता गायत्री में 'धियो यो नः प्रचोदयात्' कहते हैं । क्योंकि यही चन्द्र ही जब त्रिपादामृत युक्त होता है तब सविता प्रसविता कहलाता है । चन्द्रमा से वृष्टि (प्रस्रवण) या प्रसवन दोनों एक ही बात हैं "चन्द्रमसो वै वृष्टिः" (ऐ० ब्रा० ८-५-२८) । चन्द्रमा आदित्ये श्रित ' (तै० ब्रा० १ ८ १३) (६-१२-३) यह बूद-बूद टपक कर बढ़ता जाता है श० प० ब्रा० (६-१-१-११)—'अश्रुहंतमश्वमित्याचक्षते, अश्माप्रश्निरभवत् । अतः 'इन्दु' (विन्दुः) भी कहलाता है । 'अब स्रवेदघशंसोऽवतरम् । अव क्षुद्रमिव स्रवेत्' (ऋ० वे० १ १२९-६) 'यः सुवान इन्दुः' । वेदों में इसका वर्णन सोम नाम से आता है, सोम के बारे में लोगों को बड़ा भारी भ्रम भरा पड़ा है । अतः सोम के भ्रम ने इस चन्द्रमा तत्त्व के रहस्य को भी मटियामेट कर रखा है । सोम पर इसी लिए एक स्वतन्त्र लेख दे दिया है उसे भी इसी का व्याख्यान समझा जाय ।

'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' मुखादग्निरजायत' । मुख से इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति हुई । यह मुख किसका है ? यह तो सब सृष्टि पुरुष के मुख को समझते ही हैं । प्रश्न यह है कि उस सृष्टि पुरुष का मुख वह कौन तत्त्व था जिससे इन

दोनों की उत्पत्ति हुई ? इसका उत्तर कम लोगों को ही विदित है। कुछ लोगों को इसका भी भ्रम है कि इन्द्र और अग्नि दो की उत्पत्ति उसी समय से एक साथ कैसे हो सकती है ? वास्तविक परिस्थिति दो मुख्य पहलुओं से विवक्षित की जानी चाहिए। (१) आदि तत्त्व की वास्तविक स्थिति यह है, अग्नि रूप ब्रह्म का विकास सर्वप्रथम होने से इसे पहिले 'अग्रि' अग्रि या सबसे आगे उत्पन्न तत्त्व कहते थे। उसी 'अग्रि' शब्द को रहस्यमय बनाने के लिए वे इसे 'अग्नि:' नाम से पुकारने लगे जैसे "अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्सोऽग्निरसृज्यत। स यदस्य सर्वस्याग्रम सृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्हं वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं परोक्ष कामा हि देवा ॥" (श० प० ब्रा० ६ १-१-११)। इसका समर्थन ऋ० वे० १० ४५-१, वा० य० १२-१८, तै० सं० १-३ १४ ५; ४-२-२-१ के मन्त्र "दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि रस्माद् द्वितीयं परिजात वेदाः। तृतीयमप्सु नृम्णा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥" से पूर्णतया हो जा:ा है। इसीलिए अग्नि को देवताओं का मुख प्रजापति और पुरोहित नाम से पुकारा गया है 'अग्निर्वै देवानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः" श० प० ब्रा० ३-७-२-६) "अग्निः सर्वा देवता, अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः, अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्, (श० प० ब्रा० १-५ १-७ से ९ तक)। यही बात ऐ० ब्रा० (१-१-१) भी लिखता है। अग्नि एक है पर बहुधा समिद्ध और कल्पित भी जैसे "एक एवग्नि बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्व मनुप्रभूतः। एकेवोषा विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋ. वे. ९-५८-२)। शिर नाम गायत्री का है, गायत्री भी अग्नि ही है, उसके मुख से प्रथम विकास अग्नि ही है (श० प० ब्रा० ३-७-५-१०)। यह अग्नि वाक् का शरीर है, अतः यही वाग्ब्रह्म का प्रथमावतार है 'वागेवाग्निः' (श० प० ब्रा० ३-२-१-१३)। यह अग्नि अरा वाली है सर्वतोमुख है 'अराँ इवाग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परि भूरसि' (श० प० ब्रा० १-३-४-१५)। यह सर्वादेवता है अतः इसके विकासों से ही वैदिक दर्शन की पूरी व्याख्या हो सकती है। अग्निवाद देखें। एक और बात है। ब्रह्म के चार पाद रूप चार शृङ्ग या मुख हैं पर दो शिर या मुख मुख्य हैं 'द्वे शीर्ष्णे'। वे दो आदि ब्रह्म तथा भौतिकात्मा ब्रह्म हैं, द्वितीय का नाम 'अग्निर्वैश्वानरः' है। इसकी उत्पत्ति में कहा गया है कि वह (श० प० ब्रा० १-३-३-१० से २० तक में) विदेघ माथव के मुख में बन्द थी, उसे उसके पुरोहित गोतम रहूगण ने 'घृतस्नवीमहे' इत्यादि ऋचा के उद्बोधन से उसके मुख से बाहर निकाला। बृह० उप० (१–४–६) में इस अग्नि की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि मुख योनि और हाथों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न हुई। इसी मन्थन के कारण मुख और योनि के अन्दर तथा हथेली में रोम नहीं होते। इसका नाम विसृष्टि या ब्रह्म की अतिसृष्टि है। जैसे "मुखाच्च

योनेर्हस्ताभ्यामग्निमसृजत । तस्मादुभयमलोमकं अलोमका हि योनिरन्तरतः इत्यादि ॥" इसका आशय यह है कि अग्निर्वैश्वानर का जन्म भी मुख से ही होता है, यह भौतिकात्मा रूप या सोम रूप अग्नि है। सम्भवतः यजुर्वेद इसी की चर्चा करता हो। अन्त में इस वाग्ब्रह्म रूपी अग्नि को श० प० ब्रा० ने आत्मा नाम से घोषित करते हुए लिखा है 'अग्निर्वैसर्वेषां देवानामात्मा' (१४-३-२-५)। इसी को प्राण रूप में ऋ० वे० (१-१-१) पुरोहित या प्रथम प्राण रूप आत्मा कहता है। पुरोहित शब्द की व्याख्या श० प० ब्रा० (६–१–२–१५) ने 'पुरः प्रथमं हितं प्राणा' दिया है। अग्नि ब्राह्मण है, गायत्री ब्राह्मणी है। अतः यह तत्त्वों की ब्राह्मण रूप व्याख्या देता है (श० प० ब्रा० ३–७–५–१०५१-३-४–२)।

(२) कुछ लोगों को इन्द्र की उत्पत्ति उसी मुख से मानने में भ्रम है जिससे प्रथम आत्मा रूप अग्नि की उत्पत्ति बतलाई गई है। इन्द्र तीन प्रकार से वर्णित है। (१) सर्वा देवता इन्द्र (२) षोडशी इन्द्र (३) शतक्रतु इन्द्र। वेदों में कई देवता सर्वा देवता हैं (१) अग्निः (२) इन्द्रः (३) सोमः (४) विष्णु (५) वरुण (६) रुद्रः (७) अदिति। प्रथम तीनों की व्याख्या अधिकतर सर्वा देवता में मिलती है। इनमें से एक की व्याख्या से समस्त वैदिक दर्शन की व्याख्या हो जाती है। अतः ऋग्वेद में प्रथम तीनों के सूक्तों की इतनी भरमार है कि पाठक ऊब जाता है। ये समस्त दर्शन की व्याख्या करते हैं। अतः इन्हीं के सूक्त अधिक हैं। अन्तिम तीनों के सूक्त कम हैं पर विश्वेदेवा सूक्त बहुत हैं उनमें इनकी व्याख्या अधिक आई है। ऐ० ब्रा० १–१–१ ने अग्नि और विष्णु को सर्वादेवता कहा है, तथा श० प० ब्रा० (१–५–२–१९, २०, २१, २) ने अग्निः सोम और इन्द्र तीनों को सर्वा देवता बताया है। रुद्र और वरुण की व्याख्या उन्हीं के शीर्षकों में देखें। इन्द्र सर्वादेवता होने से जिस प्रकार अग्नि की सर्वप्रथम उत्पत्ति बतलाई गई है वही तो मध्यम प्राण रूप अग्नि तथा इध्म है यही इध्म इन्द्र कहलाता है (श० प० ब्रा० ६–१–१–२)। इसीलिए ऋ० वे० (१०–१२०–१) लिखता है कि इन्द्र सब भुवनों में श्रेष्ठ है जैसे "तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः। सद्यो जज्ञानो निरिणीत शत्रून् यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥" यास्क ने इस ऋचा की व्याख्या में इन्द्र को आत्मा रूप में वर्णित किया है। ऋ० वे० (४–५४–५) ने पुनः उक्त वक्तव्य की पुष्टि करते हुए लिखा है "इन्द्र ज्येष्ठान्बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयां एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः। यथा यथा पतयन्तो वियेमिरे एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।" इन्द्र विद्या पर्वविद्या की पर्वत विद्या है जिससे नद नदी दुर्ग आदि की कल्पना सरल हो जाती है। यही सविता का प्रसवन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार अग्नि रूप गायत्री

(सविता का सवन) करती है। कुछ भी हो इन्द्र सब देवताओं में ज्येष्ठ है अतः वही देवताओं का अधिपति माना जाता है। यह इन्द्र क्षत्र है, अतः इन्द्र रूप व्याख्या तत्त्वों की क्षत्ररूप व्याख्या है। यह अग्नि के विकासों की तरह अपना अलग सरणि का विकास करता है। इन विकासों को ही इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥" (ऋ० वे० १-१६४-४६) ऋचा देती है। इनमें सब तत्त्व क्षत्र ही हैं। इन्द्र को ही ये नाम उसके क्रमिक विकासों में प्राप्त होते हैं। इन्द्र को ही मित्रादि नाम से पुकारते हैं, मित्रादि उसके विकास हैं। ये सब एक सरणि के विकास हैं जैसे २४वें तत्त्व में इन्द्र ही मित्र नाम से पुकारा जाता है इत्यादि। अग्नि के विकासों में जिस तत्त्व को इन्द्र कहते हैं वह शतक्रतु इन्द्र है। वृत्रहन्ता हारियोजन इन्द्र है। इन्द्र के बारे में शेष 'इन्द्र' शीर्षक में देखें। इन्द्र की उत्पत्ति, आगे 'समिधः' शीर्षक में दे रखी है। यह इन्द्र ही मध्यम प्राण नाम का तत्त्व है।

'प्राणाद्वायुरजायत'–'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च'। इन दो वेदों के दो वाक्यों में अवश्य गम्भीर अन्तर है। एक प्राण से वायु की उत्पत्ति दे रहा है दूसरा श्रोत्र से प्राण और वायु दोनों की; वायु का सम्बन्ध या क्रम नहीं देता। यहां पर ऋग्वेद अधिदैव व्याख्या देता है यजुर्वेद अध्यात्म। ऋग्वेद दर्शन के पूर्वार्द्ध की प्रारम्भिक तत्त्वों का विवेचन देता है तो यजुर्वेद उत्तरार्द्ध के प्रारम्भिक तत्त्वों का योग। ऋग्वेद पूर्वार्द्ध का नाम है यजुर्वेद उत्तरार्द्ध का। इसका निर्णय 'दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्' वाक्य कर देता है कि श्रोत्र से दिशाओं और लोकों का निर्माण किया गया। लोकों का निर्माण भौतिक होता है अतः उनकी निर्मिति भौतिक अर्द्ध उत्तरार्द्ध में ही होती है। श्रोत्र नाम शरद ऋतु का और विश्वामित्र ऋषि का है जैसे यजुः (१३–५७) ने लिखा है। "तस्य श्रोत्रं सौवां शरच्छ्रौत्री··· विश्वामित्र ऋषिः····"। इस श्रोत्र से या शरद ऋतु वाले विश्वामित्र नामक श्रोत्र से जो उत्तरार्द्ध के आदि की ऋतु और ऋषि है – लोकों की सृष्टि प्रारम्भ की गई। इसी श्रोत्र से भौतिक प्राणों और भौतिक वायुओं की उत्पत्ति की गई जैसा कि बृहदारण्यक ने लिखा है कि जो कुछ भी अविज्ञात वस्तु, भौतिकात्मा में है वही उसके प्राण हैं अविज्ञात माने व्यापक विभु तत्त्व। 'यत्किञ्चिदविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं, प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एवं तद्भूत्वावति।" इन प्राणों का भौतिक स्वरूप आपोमय (विद्युन्मय) ज्योतिरूप चन्द्रमात्मक है जैसे "अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूप मसौ चन्द्रस्तद्यावा नेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रः।" (१–१–५–९, १३) इन्हीं प्राणों के साथ साथ वायु या मातरिश्वा नामक वायु की उत्पत्ति हुई।

मातरिश्वा वायु वे हैं जिनका उदय आपो माताओं के प्राणों से होता है जैसा कि ऋ० वे० लिखता है "मातरिश्वा तद्भवति यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गः' (३-२९-११) । यह तो यजुर्वेद के श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च (अजायत)" वाक्य का अर्थ है। ऋग्वेद के प्राणाद्वायु रजायत' के प्राण और वायु दोनों अध्यात्म के तत्वों का विकास देता है यह योग का मार्ग है। वास्तव में श्रोत्र से दिशाओं और लोकों की अतिसृष्टि होती है। तब यह भी अध्यात्म योग होता। "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" वहां भी अध्यात्म दर्शन है। नाभि भौतिक तत्व से अन्तरिक्ष नामक आत्मा की उद्दीप्त कर उसकी अनुभूति की गई, यह इस पक्ष में युक्त अर्थ होगा। यह नाभि पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध दोनों के मध्य भाग वाली नाभि है। यह नाभि तत्व है, हमारे शरीर का अंग नहीं। वैदिकों ने नाभि शब्द का प्रयोग प्रथम तीन सप्तकों के लिए भी किया है। ये नाभियां रथ की सृष्टिरथ की है जिसमें सात चक्र, या सप्त चक्र का एक चक्र मानते हैं। उसकी तीन या सात नाभियाँ या, एक ही नाभि है। इसका विवेचन 'देव रथ' या 'अश्वमेध' या 'अश्व' शीर्षक में दे दिया गया है। यह नाभि पेट की नाभि नहीं है जैसा कि सायणदिकों ने इस नाभि को जाने बिना लिख दिया है। यह प्रजापति की नाभि अवश्य है पर वैसी है जैसी वेदों में रथ नाभि रूप में वर्णित है। पेट की नाभि की चर्चा तो वेदों में कहीं भी नहीं है। उसकी तीन नाभियाँ प्रथम तीन सप्तक हैं। उसके प्रथम सप्तक या प्रथम नाभि से अन्तरिक्ष बना। प्रथम सप्तक का ही नाम अन्तरिक्ष भी है। 'वसुरन्तरिक्ष सद्' (ऋ० वे० ४-४०-५) सबसे प्रथम सदः या षदु वसुओं की है उसे इसी 'अन्तरिक्ष' पारिभाषिक नाम से पुकारते हैं जिसको व्युत्पत्ति श० प० ब्रा० (७ १-२-२३) ने स्वयं दे रखी है। "योऽन्तरेणाकाश आसीदन्तरिक्षमभवत् ईक्षं हैतन्नाम ततः पुरा अन्तरा वा इदमीक्षमभूत् तस्मादन्तरिक्षं तद्गार्हपत्यम् ॥" प्रथम सप्तक आकाश का है, खं ब्रह्म है, उसी का नाम अन्तरिक्ष है, यह अन्तरिक्ष नहीं जिसे लौकिक भाषा में पृथिवी और खगोलों के बीच के भाग समझते हैं। यहां का अन्तरिक्ष ब्रह्म द्यौ और द्वितीय सप्तक के बीच या मध्यवर्ती आकाश या अन्तरिक्ष नामक तत्व है। यह प्रथम सप्तक है। यही गार्हपत्याग्नि भी है। यह प्रथम यज्ञ है, इसी को भुवन की नाभि कहते है "द्यौ र्मेपिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्" (ऋ० वे० १-१६४-३३)। यह नाभि बन्धु रूप है और "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" के अनुसार प्रथम यज्ञ रूप अन्तरिक्ष या प्रथम सप्तक भुवन की नाभि है। जिससे दो अन्य नाभियां भी विकसित होती हैं। जिन्हें त्रिनाभि कहते हैं "त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः"। 'नाभिः' का सम्बन्ध

सर्वत्र 'देवरथ' या 'सृष्टि रथ' से ही दिया गया है, यह ध्यान में रखने योग्य है। द्यौ नाम आदि ब्रह्म का है उसका प्रथम विकास अन्तरिक्ष है "अदिति र्द्यौ रदितिरन्तरिक्षं......स पितास पुत्रः' द्यौ पिता है अन्तरिक्ष पुत्र है। "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा कोकानकल्पयन् ॥" उस सृष्टि पुरुष के शिर से 'द्यौः' की उत्पत्ति हुई अथवा उसका शिर ही 'द्यौः' है। 'द्यौ' नाम उसी ब्रह्म के आदि रूप या अखिल सृष्टि के जनयिता रूप का है। अतः उस द्यौः को सर्वत्र पिता नाम से पुकारा गया है जैसे "द्यौ र्मेपिता जनिता' (ऋ० वे० १–१६४-३३) "मधु द्यौरस्तु नः पिता" (ऋ० वे० १ ९–६; शु० यजु० १३ -२७; तै० सं० ४-१-९-३; तै० आ० १०–१०–२; श० प० ब्रा० १४–९–३-११)। यही बात 'अदिति र्द्यौ रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः" (ऋ० वे० १–८९-१०) में अदिति माता है, द्यौ पिता है और अन्तरिक्ष पुत्र है। इसी लिए प्रस्तुत ऋचा कहती है कि योग में सृष्टि पुरुष के सिर से 'द्यौः' रूप पिता तत्त्व का विकास हुआ। उसके दो पांव चतुर्थ पाद हैं। इन दो पादों से पहिले शूद्र तत्त्वों की सृष्टि बतलाई जा चुकी है। इन शूद्र तत्त्वों को वहां प्रयः ठीक नहीं समझा जा सकता। अब प्रस्तुत पाद से दोनों का अर्थ सरल हो जावेगा। इन दो (चतुर्थपाद रूप) पावों से भूमिः भौतिकात्मा रूप धी तत्त्व उत्पन्न हुई। यहां भूमि माने हमारी मिट्टी की पृथिवी नहीं है। वेदों में पृथिवी और भूमि शब्द केवल भौतिकात्मा का संकेत करते हैं। यह आत्मा तो अभी चतुर्थ चरण में त्रिपादामृत युक्त आपोमय चतुर्थ पाद युक्त है, अभी पार्थिवता का ही उदय नहीं हुआ है, पृथिवी या भूलोक कहां से होगा। चतुर्थ चरण तक वायु तेजः और आपः की मौलिक तत्त्वों में आत्मा रूपों में सृष्टि होती है। प्रथम आपोमय मौलिक सृष्टि से भौतिकता का प्रारम्भ होता है। अतः इसे भूमि या पृथिवी कहा है। प्रथम तीन शुद्ध आत्मायें और त्रिपादामृत हैं। दिशायें भौतिक तत्त्व की होती हैं; व्यापक तत्त्व की नहीं आदि। वह तो एक है दिशायें कहा से होंगी। चतुर्थ चरण की भौतिकात्मा की प्रथम भौतिकता के साथ साथ उसमें अन्य व्यापकता के कारण दिशायें भी आ गईं। ये दिशायें श्रोत्र से उत्पन्न हुईं, उसी से लोकों की भी सृष्टि हुई। त्रिपादामृत या ब्रह्म में कोई दिशा नहीं हो सकती। वह तो केवल है, एक है। इसी लिए इन्हीं दिशाओं रूप भौतिकता को शरद विश्वामित्र और श्रोत्र कहते हैं जिनसे अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना शब्द ब्रह्म रूप में हो गई। इसका विवेचन 'श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च' के साथ साथ सोद्धरण वहीं दिया जा चुका है। चतुर्थ चरण की दो पांव रूप भूमि, महोरूप महर्लोक नाम की मही कहलाती है, प्रथम तीन चरण क्रम से 'भूर्भुवः स्वः' कहलाते हैं। ब्रह्म या प्रथम सप्तक भूः है जिसमें सृष्टि

पुरुष का वृक्ष ऊर्ध्वं मूलमधः शाख रूप में अतिरोहित या प्ररोहित या विकसित होता है, यह ध्यान रहे। यह इसकी अधिदैव व्याख्या है।

अगली ऋचा की व्याख्या प्रस्तुत करने के पहले यहां यह पुनः सूचित कर देना आवश्यक है कि पुरुष पशु के पूर्व वर्णित अङ्गों के अतिरिक्त अगली ऋचा में आये दार्शनिक पारिभाषिक पदों को दृष्टिपथ में रखते हुए इसमें सन्देह का लेश भी नहीं रह जाता कि यह पुरुष पशु ही हमारा मध्य गणेश या गोबर गणेश या भौतिक गणेश है। क्योंकि पुरुष पशु के बेडौल अङ्गों के काटने से जो मांस शेष रहा उसी से हस्ती की उत्पत्ति, इसकी उत्पत्ति के वर्णन में दी गई है (पीछे उद्धरण देखें)। अतः इस गणेश का हस्तिमुख पुरुष रूप में वर्णन करना वैदिक पुरुष पशु के दार्शनिक स्वरूप को साक्षात् लौकिक रूप देना है। शिर पुरुष पशु का धड़ है, अतः यही साक्षात् वैदिक 'पुरुष पशु' या अखिल ब्रह्माण्ड का एक अनुपम वैदिक प्रतीक है। इसी लिए इसकी पूजा प्रतिष्ठा सर्वत्र सर्वादि में की जाती है। इसका सम्बन्ध रौद्री व्याख्या से होने पर भी वैदिक 'पुरुष पशु' का प्रतिनिधि होने से सब सम्प्रदायों को यह मान्य है। यही इस गणेश के वैदिक पुरुषपशु के प्रतीक होने का एक प्रबल प्रमाण है। आदि गणपति तो ब्रह्मणस्पति है, वह त्रिपादामृत मात्र है।

अब सबसे अधिक विवाद ग्रस्त, पर सबसे अधिक महत्व पूर्ण ऋचा सामने आती है।

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

[यहां पर भी त्रिः सप्त समिधों द्वारा जो तात्त्विक यज्ञ है वह भी अध्यात्म यज्ञ या योग है। सप्त परिधियां तो सात सप्तक हैं, पुरुष पूरा दर्शन है, पर पुरुष पशु है, पशु या वाहन नाम उत्तरार्द्ध के भौतिकात्मा का है, उसको बांध कर अमृत पुरुष को प्राप्त किया गया है।]

इसका पाठ सब वेदों में एक सा है, और सब में यह १५ वीं ऋचा है।

विशेषः — प्रस्तुत पुरुष सूक्त में जिन जिन मुख्य मुख्य विषयों की चर्चा की गई है वे ऋ० वे० १०—१३० सूक्त में प्रायः वर्णित और व्याख्यात हैं। इस सूक्त में एक प्रश्न कारिणी ऋचा है, जिनमें पूछा गया है, कि जिस यज्ञ को या दर्शन तत्त्व विकास शैली को तत्त्वों ने अपनाया था उसमें प्रमा क्या थी, प्रतिमा क्या थी, मूलस्रोत-क्या था, आज्य क्या था और परिधि क्या थी, छन्द क्या था और उक्थ क्या था? जैसे "कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्। छन्दः किमासीत्प्रयुगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥" (१०—१३०—३)। इनका उत्तर छन्दोमय ब्रह्म द्वारा इस

प्रकार दिया गया है:—"अग्नेर्गायत्र्यमभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सम्बभूव। अनुष्टुभा सोम उक्थै र्महस्वान् बृहस्पते र्बृहती वाचमावत्॥ "विराट्मित्रावरुणो रभि श्री रिद्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः। विश्वान्देवान् जगत्या विवेश तेन चावलृप्त ऋषयो मनुष्याः॥" चाक्लृप्ते तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्ये इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे॥ "सहस्तोमा सह छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः। पूर्वेषां पन्था मनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥" (४–५–६–७)। इनमें सबका उत्तर आ गया है पर परिधि नाम से कुछ नहीं कहा गया है, उसका उत्तर हमारी यह प्रस्तुत ऋचा दे रही है। आज्यादि के बारे में पहिले कहाजा चुका है।

सप्तास्यान्परिधय :—

यह ऋचा पुरुष पशु की व्याख्या देती है। यह पुरुष पशु अग्नि रूप सर्वा देवता का पूर्ण रूप है। यद्यपि पुरुष पशु का प्रथम उदय २५ वें तत्त्व में होता है, पर उसका पूर्ण विकास पूरे तत्त्वों से होता हैं। इसका निर्माण प्रथम तत्त्व से ही प्रारम्भ होता है। इसकी सात परिधियां तो ऋ० वे० १० १३०–६ में वर्णित 'ऋषयः सप्त दैव्याः' या सप्तर्षि हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में सातों सप्तकों के प्रथम ऋषि या महर्षि कहते हैं। ये दिव्य या दार्शनिक तत्त्व रूप ऋषि हैं, प्रत्येक से सात-सात का पृथक् पृथक् और क्रमिक विकास होता है। इनको यजुः (१७–९७) 'सप्त ऋषयः' कहता है और इनके सात धामों या सप्तकों को सात छन्दों से संकेतिक करते लए 'सप्तधाम प्रियाणि इति छन्दांस्येतदाह, छन्दांसि वा अस्य धाम प्रियाणि" लिखता है। ठीक यह बात आपको ऋ० वे० (१० १३०–४। ५) में जो ऊपर उद्धृत हैं मिलती हैं। उक्त ऋषियों को ऋ० वे० इस प्रकार वर्णित करता है 'ऋषयः सप्त विप्राः' (१–९०–२) 'वाणी ऋषीणां सप्त' (१०–१०३–३) ऋषीणां सप्त धीतिभिः' (९–६२–१७) सप्तानां सप्त ऋषयः सप्त; सप्तद्युम्ना न्येषां सप्तो अधिश्रिणे दधिरे' (८–२८–५)। यजुः (१५–१०) पुन 'ऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु' लिखता है अर्थात् ये ऋषि सर्वप्रथम अग्निनामक देव से उत्पन्न हुए कहता है। और ऋषि शब्द की व्याख्या सर्वत्र 'प्राणा वा ऋषयः' लिखा है। इनका विशद वर्णन 'ऋषयः' तथा 'अष्टौ पुरुषा.' और 'अष्टौ लोका' नामक शीर्षकों में दिया जा चुका है (वहीं देखें)। संवत्सर ब्रह्माग्नि विद्या में यह 'ऋतुभिरेव सप्तविधः' और 'दिग्भिरेव सप्तविधः' है (श० प० ब्रा० १०–२–६–२, ३)। हवन प्रणाली में इन्हीं सात भेदों को परिधि नाम से पुकारते हैं। इन परिधियों की व्युत्पत्ति की कथा श० प० ब्रा० (१–२–६–१२ से अन्त तक पुनः १–३–१) ने दे रखी है और १–७–१–९, २२; २ ४–४–६; ३–५–२–१३) २-५-२-१६

में इनका पुनः प्रयोग बताया है। इन सात परिधियों, या सात दैव्य ऋषियों या सप्तपुरुषों का ऐक्य ही पुरुषपशु नाम से पुकारा जाता है जैसा कि श० प० ब्रा० (६-१-१-२, ३ तथा १०-२-२ १) लिखता है 'असद्व इदमग्रमासीद् । तदाहुः किं तदासीदित्यृषयो वाव ते अग्रे सदासीत्तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणा वा ऋषयः, योऽयं मध्ये प्राण एष एवेन्द्रस्तानेष प्राण मध्यत इन्द्रियेणेन्ध यदैन्धस्तस्मादिन्ध इन्ध ह वै तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्ष कामा हि देवास्त इन्द्धाः सप्त नाना पुरुषान्न सृजन्त। तेऽब्रुवन्। न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितु मिमाः सप्त पुरुषानेकं पुरुषं करवामेति त ऐतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभे स्तौ द्वौ समौब्जन्य दवाङ्नाभे स्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥" "यान् वै सप्त पुरुषान् । एकं पुरुषमकुर्वन्स प्रजापति रभवत्स प्रजा असृजत स प्रजा सृष्ट्वोर्ध्व उदक्रामन् स एतं ल्लोकम गच्छत् यत्रष एतत्तपति नो ह तर्ह्यन्य एनस्मादत्र यज्ञिय आस तान्देवा यज्ञेन यष्टुमध्रियन्त। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इति ॥" ब्रह्म सप्तविध पुरुष की सप्तविधता में से प्रथम चार को चार (ब्रह्म जीव तैजस या मनः भौतिक) आत्मायें और दो को पक्ष अन्तिम को पुच्छ और काम नाम से पुकारते है जैसे "स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषो यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि, चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि ।" (श० प० ब्रा० १०-२-२-५)। यज्ञ प्रणाली में इस पुरुष का अभिनय 'वेदिः' से किया जाता है जैसे लिखा है "या वा इयं वेदिः सप्तविधस्य" (श० प० ब्रा० १०-२-३-१)। इस वेदि की परिभाषा में बतलाया गया है कि इससे अखिल ब्रह्माण्ड का ज्ञान करते थे, इसी से उसे पूर्णतः समझ लेते थे, अतः वेदन या ज्ञानमूलकतया इसे वेदि कहते थे. इसी वेदि से विष्णु के विक्रम (इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यादि) का भी ज्ञान करते थे "यन्वेवात्र विष्णुमविन्दँस्तस्माद्वेदि र्नाम'। (१-२-३-१०)। सच सच में वेदों के ज्ञान का आधार वेदिः है, वेद नाम ब्रह्म का भी है शब्द ब्रह्म का भी और हमारी संहिताओं (के ज्ञानाग्नि) का भी जैसे 'वेदोऽसि येन त्वं देव वेद येन देवेषु वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः" (यजु० २-२१)। यह वेदिः दो भागों में विभक्त की जाती है, शिर या पूर्वार्द्ध या पूर्ववेदि, धड़ या उत्तरार्द्ध या उत्तरवेदिः। इन दो भागों में चतुर्थ भाग मध्यवर्ती रहता है, तीन पूर्वार्द्ध और तीन उत्तरार्द्ध में रखे जाते हैं 'त्रिपूर्वान्त्रिरुत्तमान्'। इनका निर्माण एक एक प्रस्तर पंक्ति द्वारा किया जाता है जैसे "अथ अग्नि कल्पयति । शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः, पूर्वार्द्धं वै शिरः पूर्वार्द्धं मेवैतद्यज्ञस्य कल्पयति उपर्युरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयत्ययं वै

स्तुपः" (श० प० ब्रा० १-२-६-१२)। परिधियों के सम्बन्ध में पूर्वार्द्ध को परिधि, उत्तरार्द्ध को वहिष्परिधि कहते हैं। कोई कोई इन परिधियों को लकड़ियों या पत्तियों से भी बनाते हैं जिनके लिए पलाश, वैकङ्कत्त, कार्श्य, खदिर और औदुम्बर का विधान किया गया है। इन परिधियों के बनाने का कारण या कथा इस प्रकार बना रखा है। पहिले परिधि की व्युत्पत्ति यह है 'उपरि उपरि (प्रस्तरं) परितः दधातीति परिधिः'। अग्नि ब्रह्म देवताओं या तत्त्वों का होता या विकास कर्ता है 'अग्निर्वै देवानां होता' (१—४-३—१)। जब इसका आवाहन करने लगे तो उसने कहा कि वषट्कार नामक वज्र (सप्तक- प्रथम ऋषि + षट्कार) ने विकासों द्वारा पूर्वार्द्ध को खण्ड खण्ड में विभक्त कर दिया है। मैं इससे डरता हूँ अतः मेरे चारों ओर परिधियाँ बना दो जिससे प्रत्येक परिधि या सप्तक के तत्त्व सुरक्षित रह जाँय। (श० प० ब्रा० १—२-६-१३, १४)। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रत्येक खण्ड के तत्त्वों को पृथक् पृथक् समझने के लिए इन सप्तकों या परिधियों की रचना आवश्यक है, नहीं तो ४८ तत्त्वों की खीचड़ी किसी की समझ में सरलता से नहीं आ सकती थी।

सप्तपरिधियाँ अग्निरूपिणी हैं। पूर्वार्द्ध की अग्नियाँ सुप्रसिद्ध हैं (अग्निवाद में देखें)। मध्याग्नि का नाम सोमाग्नि या अग्निर्वैश्वानर है। उत्तरार्द्ध की शेष तीन परिधि रूप अग्नियों का नाम 'भ्रुवपति, भुवनपतिः, और भूतानां पति' है। इनको नाग के समान स्कन्न या विस्फूर्जित या उत्सर्पित कहते हैं। 'यद्वहिष्परिधिः स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु नाग इव स्कन्नं स्याद् इमां वै ते पृथिवीं प्राविशन्यद्वा इदं किञ्च स्कन्दत्यस्यामेव तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ॥ स स्कन्नमभिस्पृशति। भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां पतये स्वाहेत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि ॥" (श० प० ब्रा० १-२—६-१५, १६)। इन परिधियों का ज्ञान जिस प्रकार उक्त सरणि से किया जाता है, उसी प्रकार इनका ज्ञान दिशा रूप में भी किया जाता है। यहां गोलाकार चक्र बनाकर तत्त्वों को पृथक् पृथक् सात भागों में रखा जाता है। ये चक्राकार परिधियाँ है जिनका वर्णन सात ऋतुओं के नाम से सात भाग की दिशाओं में किया जाता है। इस सरणि में ऋतुओं या दिशाओं को समिध कहते हैं इनका वर्णन श० प० ब्रा० (१—३—१) में तथा अन्य पूर्व संकेतित स्थानों में मिलता है। ऐ० ब्रा० (५-५—२८) ने भी इस परिपाटी का समर्थन करते हुए और शतपथ के पूर्वोद्धृत 'ऋतुभिः सप्तविध' दिग्भिः सप्तविधः' वाक्यों के अनुरूप व्याख्या देते हुए लिखा है "असौ वा आदित्यो यूपः, पृथिवी वेदिरोषधयो बर्हि, वनस्पतय इध्मा, आपः प्रोक्षण्यो, दिशः परिधयः" यहां पर पूर्ण पुरुष का या सप्तपुरुषी एक पुरुष

का या सप्तपुरुषी एक पुरुष का वर्णन है। दिशारूप वर्णन संकेतित प्रपाठकों में पूर्वार्द्ध के तीन तीन भागों को दिशाओं द्वारा किया गया है जिनका समर्थन ऋ० वे० की निम्न ऋचायें करती हैं। "आरोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्चदेवाँ ऋतुशः सप्त सप्त" (१०–६५–३) 'सप्त दिशो नाना सूर्याः सप्त होतारो ऋत्विजो देवा आदित्याः सप्ताः।" (९-११४-३; १०-६३-७,८-६०-१६)। ये सात ही हमारी ऋचा की सात परिधियाँ हैं, इनको कई अन्य नामों से भी पुकारा गया है जैसे सप्तचक्रं, सप्ताश्वः, सप्तस्वसारः, सप्तरश्मि, सप्तापः, सप्तनदी, सप्तार्वि, सप्तसिन्धवः, सप्तवाणी (सप्तच्छन्दः), सप्तमातरः, सप्त यह्वीः, सप्तसोरा, सप्तबुध्नं अर्णवं, सप्ततन्तुं, सप्तधामानि, सप्तरत्नानि, सप्त-पुरः सप्तदानुः, सप्तपदानि, सप्तपुत्रं, सप्तहोतारं, सप्तजिह्वं, सप्तसंसदः, सप्तसदः, सप्तशाकिनः, शप्तशीर्षन्, सप्तहस्तासो, सप्तसखायः, सप्तमयूर्यः, सप्तधेनवः, सप्तपर्वता सप्तसमिधः, सप्तविस्फुलिङ्गाः, सप्तद्युम्नानि, सप्त-मर्यादाः। इत्यादि (आदि में दिया सप्तवाद देखें)। ये सब उस पुरुष की व्याख्तायें इतने रूपों में करते हैं; हमारी प्रस्तुत ऋचा 'सप्तपरिधि' शब्द से इन्हीं सब से संकेतित पुरुष की मुख्य सप्तता की ओर आकर्षित करती है। यही 'सप्तास्यासन् परिधयः' का सुस्पष्ट भाव है।

'त्रिःसप्त समिध, कृताः'—सबने इस 'त्रिःसप्त' का अर्थ ७ × ३ = २१ लगाया है। इसका कारण पूर्व परिच्छेद में वर्णित सप्तवाद का ज्ञान न होना है। यहां सप्त शब्द सात का वाचक नहीं, वरन् सप्तक का वाची है। इस 'सप्त' का अर्थ विभिन्न छन्दों के अक्षरों से निर्णीत होता है। प्रत्येक देवता या तत्त्व के ज्ञान के लिए पृथक् पृथक् छन्दों का आश्रय लिया जाता है जैसा कि पूर्वोद्धृत १०-१३०-४,५ ऋ० वे की ऋचाओं में वर्णित है कि अग्नि से गायत्र पुरुष का निर्णय किया जाता है, उष्णिक् से सविता का, अनुष्टुप् से सोम, उक्थ सूर्यः बृहती से बृहस्पति, विराट् से मित्रावरुण, त्रिष्टुप् (३३) से इन्द्र, जगती (४८) से विश्वेदेवता; इनको ऋषियों या मनुष्यों नामक तत्त्वों में सप्तक नाम से विभाजित किया जाता है। इसी भाव को ऋ० वे० (१ १६४-२४, २५) इस प्रकार देता है : —"गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ॥ जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्। गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा ॥" यहां अन्तिम ऋचा में लिखा है कि गायत्र पुरुष के तीन समिध या पाद होते हैं। गायत्री में तीन पाद आठ-आठ अक्षरों के होते हैं। अतः सप्तवाणी की शैली में या सप्तक शैली में वही गायत्री के आठ-आठ अक्षरों के २४ तत्त्व रूप तीन समिध, 'त्रि सप्त समिधः' कहलायेंगे।

'पुरुष' नाम गायत्री छन्द के पति का है। अतः उसे 'गायत्रः' या गायत्र पुरुष या केवल पुरुष नाम से पुकारते हैं। ऐ० ब्रा० ने भी यही लिखा है "गायत्रो वै पुरुषः' (४–१–३)। इस प्रकार 'त्रिःसप्त' माने ८×३ = २४ होता है। गायत्री यज्ञ या पूर्णदर्शन का पूर्वार्द्ध है "चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री यज्ञस्य पूर्वार्द्धः शिरः" (श० प० ब्रा० ३-४-१–१०)। इस उल्लेख में गायत्री के २४ अक्षर रूप तत्त्वों को २४ विक्रम या सीढ़ी भी कहा गया है। यही २४ समिध हैं। जो जो नाम सप्त परिधियों के है प्रायः वेही सब नाम इन समिधों के भी हैं। जिनको यहां पर यह ऋचा 'त्रिःसप्त समिधः' नाम से पुकारती है उसी को अन्य ये नाम दिये गये हैं 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुद्रुहे' (ऋ० से० ९-७०-१, ४–१–१६, ७-८७–४, ९ ८६–९१) 'त्रिःसप्त सस्रा नाद्यो मही अपाम्' (ऋ० वे० १०–६४–८) 'त्रिःसप्त सानु संहिता गिरीणां', (ऋ० वे० ८–९६–२) 'त्रिःसप्त विस्फुलिङ्गा' (ऋ० वे० १–१९१–१२) 'त्रिःसप्त यद्गुह्यानि ते पदा' (ऋ० वे० १–७२-६) 'त्रिःसप्त सख्युः पदे' (८–६९–७ ऋ० वे०) 'त्रिःसप्तैः सूरा सत्वभिः' (ऋ० वे० १–१३३–६) 'प्र सप्त-सप्त त्रेधा' (ऋ० वे० १०–७५-१) 'त्री रा सप्तानि सुन्ववे' (ऋ० वे० १–२०–७) 'तिसृणां सप्ततीनां' (ऋ० वे० ८–१९-३७) 'उस्रा त्रिःसप्त सप्ततीनां' (ऋ० वे० ८–४६–२६) इत्यादि। इस प्रकार यह 'त्रिःसप्त' शब्द तो वैदिकों को अत्यन्त प्यारा है। इन तीन सप्तकों या पादों को वैदिक 'गुहा' नाम से पुकारते थे। (गुहा वाद देखें)। यह २४ तत्त्व वाली गुहा त्रिपादामृत से पूर्ण है, वे इस अमृत को नहीं भुला सकते थे। इस गुहा के अन्तिम छोर से जब भौतिकात्मा का उदय होता है तब उसे ये पुरुषपशु कहते थे। पुरुषपशु माने वह पुरुष है जो भौतिकता रूप पशु में सवार या भौतिक शरीर धारी पुरुष है इसमें २१ संख्या किसी भी प्रकार नहीं बैठ सकती। जैसा ठग यह पाद है वैसा ही ठग सायण का तै० सं० (५–१–१०–३) से उद्धृत वाक्य है जैसे द्वादशमासाः पञ्चर्तव त्रय इमे लोका असावादित्यः' (१२ + ५ + ३ + १ = २१) लोगों ने यही समझा है, यह भी गलत है। पूर्वार्द्ध दिन रूप पूरा वर्ष है। उसमें ही १२ महीने हैं, २४ तत्त्व के १२ महीने हैं। पाँच ऋतुयें भी इसी पूर्वार्द्ध में हैं। शिशिर वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद् ये भी २४ ही तत्त्व बनाते हैं। तीन लोक तो येही तीन पाद हैं जिनमें २४ वां आदित्य है। ये २४ वैदिक दर्शन के तत्त्व हैं, सांख्यदि के कदापि नहीं।

समिधः कृताः—यह पुरुष तो गायत्र पुरुष है, न कि विराट् पुरुष। विराट् पुरुष तो १०, १० छन्दोक्षरीय तत्त्व रूप देवताओं के चार पादों वाला ४० तत्त्वों का पुरुष कहलाता है। और सूक्त के आदि का पुरुष भी गायत्र पुरुष ही है जिसके

त्रिपादों की चर्चा तीसरी चौथी ऋचा में देते हुए बिराट् की उत्पत्ति अलग दे रखी है। यहां पर पुरुष पशु के शिर रूप गायत्री के तीन पाद सप्तक रूप तीन समिध हैं जिसमें २४ अक्षर रूप देवता या २४ सूक्ष्म समिध हैं, उन्ही का यहां वर्णन है।

समिध शब्द का मूलस्रोत है 'इन्ध'। इन्ध नाम मध्यम प्राण या उदान नामक अंतर्यामी प्राण का है। यही प्राण इन्द्र नामक सर्वदेवता का मूल कारण है। जब यह प्रथम अन्तिम प्राण और अपान के रस या इन्द्रिय से इस मध्यम प्राण को समिद्ध करता है, जैसे तेल से दीप, तब यही इद्ध प्राण इन्द्र कहलाता है, इन्ध को परोक्ष या रहस्य रखने के लिए ही उसे इन्द्र नाम से पुकारा जाता है। क्योंकि वैदिक आचार्य सब रहस्य खोलना पसन्द नहीं करते थे। जब यह इन्द्र, 'इद्ध' हो गया या दीपक सा जल गया, तब इसीसे सप्त ऋषि रूप सात पुरुषों या परिधियों की रचना हो गई (श० प० ब्रा० ६–१–१–२)। यही बात पहिले समिध' की व्याख्या में कही गई है 'स वै समिधो यजति। प्राणाः वै समिधः प्राणानेवैतत्समीन्धे, प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धः।" (श० प० ब्रा० १-४–५-१)। यही 'इद्ध' नाम पुनः 'इध्मः' का स्वरूप एकदेवत्य शतक्रतु इन्द्र (ग्रीष्मऋतु कालीन) कहलाता है 'ग्रीष्म इध्मः'। यह अध्वर्यु रूप है जैसे 'इन्धेह वा एतदध्वर्युः। इध्मेनाग्निं तस्यादिध्मो नाम समीन्धे।" (श० प० ब्रा० १–३–२–१)। इस प्रकार समिध का अर्थ, समुज्ज्वलित, प्रदीप्त या उद्दीपित प्राण है। ऐ० ब्रा० (१–४–१७) ने इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हुए समिध को शीर्षण्य प्राण बतलाया है और कहा है कि प्राण स्वयं अपने शीर्ष से प्रज्वलित या समिद्ध होता है, वही प्राण समिध है, वे इद्ध या इन्द्र में रहते है जैसे "इमे (समिधः) शीर्षन् प्राणः। ·····शीर्षन्धित्सेत् तादृक् तदरिक्तं तत्समु वा इमे प्राणाविन्द्रे।" इसी उक्ति का समर्थन पुनः दूसरे स्थल (२–१–४) पर करते हुए लिखा है "तद्ब्रह्मवर्चसेन समर्द्धयति, समिधो यजति, प्राणा वै समिधः प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किंच प्राणेन तत्प्रीणाति प्राणान्यजमाने दधाति॥"। ऐ० ब्रा० ने प्रथम व्याख्या को 'समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्' ऋचा की व्याख्या में समिध शब्द के रहस्य को उपस्थित किया है। यहां अग्नि प्रथम प्राण है, और घृत तृतीय प्राण है, इनमें से मध्यम प्राण प्रथम और अन्तिम को इन्द्रिय या संघर्षीय रस की तरह प्रयुक्त कर स्वयं विस्फुलिंग या दीपक की तरह प्रस्फुटित या समिद्ध होता है अतः 'समिधः' कहलाता है। तत्वों की यह प्रक्रिया अन्त तक ४८ वें तत्व तक चलती है। प्रत्येक तत्व का मध्यम प्राण समिध या इन्द्र या इद्ध कहलाता है। पर उनके नाम दूसरी व्याख्यान शैलियों

में बदलते भी रहते हैं. जैसा कि श० प० ब्रा० (२–२–४–९ से १३ तक) ने लिखा है, इन्द्र के समिद्ध हो जाने पर सर्व प्रथम क्षुपित रूप समिद्ध देवता या तत्त्व रुद्र रूप अग्नि है, जब वही समिध प्रदीप्तर होता है तब वह वरुण कहलाता है, जब ऊँचे धूम समान परम ज्वाला से युक्त होता है तब वह पुनः शतक्रतु इन्द्र कहलाता है, जब वही उससे भी अति अधिक प्रज्वलित हो तिरश्चीन अर्चियुक्त होता है तब उसे मित्र कहते हैं, जब वह अन्त में सब अङ्गार रूप में उपस्थित होता है तब उसे ब्रह्म (अग्नि जातवेदाः) कहते हैं। इस अङ्गार रूप त्रिपादामृत की बाहरी परत में धीरे धीरे जमने वाला राख या भस्म से भौतिक तत्त्व या भौतिकात्मा का आविर्भाव होता है अतः हमारी संस्कृति में यह भाव है कि 'भस्मान्तं शरीरम्', भस्म से शरीर बना, भस्म ही शरीर है, भस्म ही उसका अन्त भी है।

वैदिक वाङ्मय में 'समिध' तत्त्व की बड़ी महिमा मानी गई है। वेदों में जिन जिन तत्त्वों का वर्णन है उन सबको 'समिध' नाम से पुकारा गया है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक अपने से प्रथम से समिद्ध होता है और अपने से प्रथम से समिद्ध होता है और अपने से द्वितीय को समिद्ध भी करता हैं। इस प्रकार जिन देवताओं की विकास की श्रेणी क्रमिक है, वे उत्तरोत्तर के समिध है उत्तरोत्तर वाले समिद्ध हैं। ऋतु शैली में प्रथमं समिध वसन्त है, द्वितीय ग्रीष्म, तृतीय वर्षा, चतुर्थ शरद्, पञ्चम हेमन्त और यह हेमन्त 'स्वाहा' नाम से पुकारा जाता है। अतः समिधों का स्वाहा इसी हेमन्त नामक तत्त्वों में किया जाता है। शिशिर ऋतु तो आदि ब्रह्म है (श० प० ब्रा० १–४–४–९ से १४ तक देखें)। इसी प्रकार मास अर्द्धं पक्ष दिन रात (अहोरात्र) आदि नदनदी, पर्वत, सागर समुद्र, पयोदधिघृत आदि, वसु रुद्र आदित्य आदि, अग्नि परिजातवेदा जातवेदा वैश्वानर आदि, पुरोहित होता अतिथि तनूनपात् , ब्रह्मणस्पति, अंगिरा अंगिरस आदि आकाश वायु अग्नि आपः पृथिवी आदि सब के सब समिध हैं और समिद्ध हैं। क्यों कि इन सब का मौलिक रूप अग्नि या विद्युत् है। इस आशय को निम्न मंत्र सातों सप्तकों को समिध, अग्नि अर्चि होता आदि नाम से पुकारता है "सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्त ऋषयः सप्तधाम प्रियाणि। सप्त होत्रा सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनी रापृणस्व स्वाहा ॥" (यजु १७–७९)। इसी बात को मुण्डक निम्न दो वाक्यों से बतलाया है "तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः" "तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।" (२) सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् ने समिध शीर्षक पर प्रत्येक तत्त्व को एक दूसरे का समिध बतलाते हुए एक बड़ा विस्तृत विवेचन दिया है जिसका उपक्रम इस प्रकार है "अयं वाव लोको गोतमाग्निस्तस्यादित्य एव

समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥······पर्जन्यो वाव गोतमाग्नि तस्य वायुरेव समिध···पृथिवी वाव गोतमाग्निस्तस्या संवत्सर एव समिध ···पुरुषो वाव गोतमाग्निस्तस्य वागेव समिधः, योषा वाव गोतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिध (योषा वेदि है, उपस्थ या योनि २५ वां तत्त्व है (१–४–४ से ८ तक)। ठीक यही भाव बृहदारण्यक ने प्रायः इन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त किया है (२ ८-९ से १४ तक)। वाक्यों में केवल इतना अन्तर है कि जहां छान्दोग्य 'अयं वाव लोको गोतमाग्निः' कहता है वहां बृहदारण्यक 'असौ वै लोको गोतमाग्निः' कहता है, शेष वाक्य दूसरे की नकल सी हैं। इनमें प्रथम वाक्य पिछले परिच्छेद के रुद्र वरुग इन्द्र मित्र और ब्रह्म की क्रमिक समिद्धता का ठीक अनुसरण करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में समिध विषयक भावना सब वेदों के ऋषियों में सर्वरूप से एक रूपिणी ही थी सब आचार्य इन्हें एक ही प्रकार से समझते चले आ रहे थे। इसबात का पूर्ण समर्थन निम्नलिखित कुछ और सुप्रसिद्ध उद्धरणों से हो जावेगा। यहां यह ध्यान रहे कि घृतवाद भी समिधवाद से जुटा हुआ है। घृत भी प्राणों ही का नाम है, जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि वसन्त समिधा है, पर पुरुष सूक्त इसे आज्य कहता है 'वसन्तोऽस्यासीदाज्यं' जिसको इद्ध करने वाला 'ग्रीष्म इध्मः' कहा है, इद्ध होने वाला मध्यम प्राण इन्द्र यहां पुरुप रूप अग्नि है। यही सब भाव अन्यत्र भी मिलते हैं जैसे (१) "अग्नये जातवेदसे तन्त्वा समिद्भि रङ्गिरो वर्धयामसि" (२) "घृतमिमिक्षिरे घृतमस्य योनिर्घृतेश्रितो घृतमुवस्य धामा। अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहा कृतं वृषभं वक्षि हव्यम्। समुद्रादूर्मिमधुमाँ (३) उदारत्पांशुना सममृतत्वमानट् ॥" घृतमस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ उप ब्रह्मा शृणुवच्छस्यमानं चतुः शृङ्गो वमीद्गौर मेतत् ॥ "चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्यपादा इत्यादि" (ऋ० वे० यजु० नारायण उप० ३-२)

(२) 'ऋचे त्वा रुचे त्वा समित्स्रवन्ति सरितो न धेना (अन्नं) अन्तर्हृदा-मानसा पूयमाना घृतस्य धारा अभिचाकशामि ॥ हिरण्मयो वेतसो मध्य आसाम्। तस्मिन्सुपर्णो मधुकृत्कुलायी भजन्नास्ते मधु देवताभ्यः ॥ तस्यासते हरयः सप्त तीरे स्वधां दुहानाममृतस्य धाराम् ॥" (यजु० १३ ३८, ३९, १७ ८९) (नारा० उप० ५–४०)। इस मन्त्र में समिधों से अन्न की नदियों की धारायें, मानस सरोवर, सुपर्ण कुलायी, अमृत, हरयः स्वधा और मधु स्रवित होने की बातें कितने रहस्य भरे हैं? इसका विश्लेषण ऐ० ब्रा० (१-५-२८) भी करता है।

(३) ये समिध, अरणियाँ हैं, अरणियों के अरण्यानी हैं, 'अरण्योर्निहिता जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भि-र्मनुष्येभिः ॥"

(४) इसी भाव को कठ० उप० (१ १४) "स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥' कहता है ।

(५) गीता इसको दूसरे ढंग से कहती है । "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥" समाधिः = समिद्भिः समाधिः, । समिधः समिद्धा = समाधिः ।

"अपाने जुह्वति प्राणान्प्राणान्प्राणे तथापरे ।
प्राणापानगती रुध्वा प्राणायाम परायणाः ॥
अपरे नियता हाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ क्षपितकल्मषाः ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयान्यन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥
सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्मणि चापरे ।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञान दीपिते ॥" (४-२५ से ३०)

इस प्रकार यह समिध वाद सर्वप्राचीन योगमार्ग है, यह वैदिक योगमार्ग है । लौकिक या नव प्रचलित नहीं ।

अब देखना यह रह गया कि ये समिध हैं कितने ? हमारी यह प्रसिद्ध ऋचा वैदिक दर्शन का पूरा ढाँचा सप्त परिधियों द्वारा देकर पुरुष के पशु रूप में परिवर्तित होने की सीमा का निर्धारण करने के लिए त्रिःसप्त समिधः कृताः' कहती है । 'त्रिःसप्त' माने बतलाया जा चुका है कि 'गायत्रस्य समिध-स्तिस्रआहुः' (ऋ० वे० १-१६४-२५) हैं । हमारा यह पुरुष गायत्र पुरुष है गायत्री के तीन समिध तीन पाद रूप २४ तत्त्व ही होते हैं । जिनका खुलासे में तै० ब्रा० (५-१-१०-३) और श० प० ब्रा० (१-३-२-११) में 'द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव त्रयो लोका स्तद्विंशतिरेष एवैक विंशति' वाक्य से हवन प्रणाली के लिए १२ + ५ + ३ + १ = २१ सामिधेनी के प्रयोग की बात लिखी है, पर श० प० ब्रा० (१-२-३-१३) ने इन इक्कीसों की संख्या को सामिधेनी के लिए अपूर्ण विहित समझ कर उक्त वाक्य की कमी की पूर्ति करने के लिए लिखा है 'त्रयो वा इमेलोका स्तद्वि-

मानेतांल्लोन्त्सन्तनोतीमांल्लोकान्त्स्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एवमेवास्मिन्नेतत् सन्ततमव्यवच्छिन्नं दधात्येतदनुवचनम् ।।" इसने पूर्वोक्त २१ में ३ प्राणों को और जोड़ने का अनुवचन (कमी पूर्ति का विधान) बताया है जिसकी पुष्टि में तीन प्राणों का संतत अव्यवच्छिन्न रूप से रहना कहा गया है। अतः कुल संख्या २४ ही होती है। वैसे द्वादशमास, पञ्चर्तव, त्रयोलोका, तीनों में से प्रत्येक २४ तत्त्वों की ही संख्या देता है यह तो पहिले बताया जा चुका है। २४ वें से पुरुष की भौतिकात्मा का खोल मिलना आरम्भ हो जाता है जिससे वह यहां पर पशुत्व या भौतिकत्व को प्राप्त हो जाता है। अतः ये २४ समिध बनाये गये। पुनः उत्तरार्द्ध में भी २४ शेष समिध या तत्त्व अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड के बोजरूप एक महापरम अणु या जगतो ब्रह्म को बना देंगे।

'देवा यद्यज्ञं तन्वानाः'—देवा नाम देवता या तत्त्वों का है 'इमे देवा इमानि भूतानि'। यज्ञ नाम यज्ञ पुरुष या पुरुष का भी है, विकास का भी। 'तन्वाना' शब्द सप्तपरिधि के बदले 'त्रिवृतं सप्ततन्तुं, (ऋ० वे० १०-१२४-१) 'सप्ततन्तून्वितत्निरे ओतवा उ' (१-१६४ ५-८ वे०) प्रणाली की सप्ततन्तुता में सन्तानित करने का अर्थ रखता है। अब सीधा अर्थ यह हो गया 'तत्त्व रूप देवताओं ने यज्ञ पुरुष को सप्ततन्तुता या सप्तपरिधियों में सन्तानित करते हुए"। यह पुरुष ही सन्तानित किया जा रहा है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण निम्नलिखित ऋचा है "यो यज्ञो विश्वत स्तन्तुभिस्तत एकशतं देव कर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते ।। "पुमां एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्। इमे मयूखा उप सेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसरारायोतवे ।।" (ऋ० वे० १०-१३०-१, २) इसमें साफ साफ लिखा है कि यह यज्ञ चारों ओर से तन्तुओं से सन्तानित है जिसको १०० देवकर्मों से विस्तृत किया जाता हैं, उसे पितर बुनते हैं जो बुनने ही के लिये आये हैं, बुन जाने पर बैठ जाते हैं ।। इनको उनका पुरुष ही बुनता है, वही उसका विस्तार करता है, यह विस्तार पहिले नाक या पूर्वार्द्ध में होता है, वह किरण रूप में उन ताने वानों से सदः या सप्तक को बुनने के लिए साम या छन्दों का निर्माण करता है ।। इसी का प्रायोगिक उदाहरण इस सूक्त की ही पूर्व ऋचा 'यत्पुरुषेण हविषादेवायज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासोदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः" है। यहां पर पुरुष ही हवि या सोम या भौतिक तत्त्व है, जिसको यज्ञ या विकास में सन्तानित करने के लिए वसन्त आज्य (प्राण) बना, ग्रीष्म इध्म नामक मध्यम प्राण बना और शरद हविः नामक तृतीय प्राण। हवि नाम सोम का है। पुरुष को सोम पिलाना या भौतिकात्मा का शरीर देना ही पुरुष की हवि या पुरुष का शरीर है। इसी शरीर की विध्म

शरीर की प्राप्ति के लिए यह यज्ञ या विकास तन्तु तन्तु या क्रम क्रम से सन्तानित होता रहा। 'तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।' इस ऋचा में यज्ञ शब्द स्पष्टतया पुरुष का ही विशेषण है अयजन्त = तन्वाना, अतन्वत। देवा और ऋषयः यज्ञकर्तारः है, ऋषियों की बात बताई जा चुकी है कि वे सात सप्तकों के मुख्य तत्त्व हैं, साध्या देवा, इन सप्तकों के प्रत्येक तत्त्व का निर्धारण करने वाले गायत्री प्रभृति छन्द हैं। ये भी अयजन्त या अतन्वत का खुलासा देते हुए 'तन्वाना' का भाव स्पष्ट कर देते हैं।

'अवध्नन्पुरुषं पशुम्'—पुरुष सूक्त तो पुरुष सूत्र, या सप्ततन्तवीय पुरुष सूत्र है या वैदिकों का वास्तविक ब्रह्मसूत्र है। यह 'त्रिवृतं सप्तन्तुम्' ब्रह्म की व्याख्या सूत्र या संक्षिप्त रुप में सब प्रणालियों का सार देकर प्रस्तुत करता है। 'अवध्नन् पुरुषं पशुम्' भी एक परम रहस्यमय सूत्र है। सौभाग्य से इसकी पूर्ण व्याख्या ऐ० ब्रा० (२ १-८) और श० प० ब्रा० (१-२-१-३ से ९ तक) ने बिस्तार पूर्वक दे रखी है। प्रस्तुत वाक्य उस भाष्य का प्रथम वाक्य सा है। इस वाक्य का 'अवध्नन्' शब्द 'आलभन्त' अर्थ रखता है जिसके तीन अर्थ होते हैं पूर्णप्राप्ति, पूर्णबन्धन और पूर्णवध। प्रथम दो अर्थ दार्शनिक और योग के हैं तृतीय याज्ञिकाभीष्ट कर्मकाण्डीय। यद्यपि ऐ० ब्रा० (२-१-९) पशु का अभिनय पुरोडाश (हवन के पकवान) से करता है उसी के विभिन्न स्वरूपों का पशु के अंगों से तादात्म्य करता है तथा यह ब्राह्मण और श० प० दोनों इन पशुओं के मांस खाना मना करते हैं जिनके उद्धरण पहिले दिये जा चुके है।

अस्तु 'अवध्नन् पुरुषं पशुम्' वाक्य उस यज्ञपुरुष के यज्ञ के मध्य बिन्दु का द्योतन करते हुए, यह सूचित करते हुए कि २४ वें तत्त्व में त्रिपादामृत गायत्र पुरुष ने भौतिकात्मा के शरीर में या पशुरूप भौतिक शरीर में बन्धन पा लिया, और स्वयं तत्त्वों को यजमान बनाकर, कहता है कि तत्त्वों ने पुरुष रूप पशु स्वरूप को पा लिया, या पुरुष को पशु रूप में बाँध लिया या प्राप्त कर लिया। सृष्टि के दो रूप-मुक्ति और बन्धन का मिलन बिन्दु यही तत्त्व है। भौतिकात्मा से बन्धन प्रारम्भ होता है जिसमें वह पशु सा व्यवहार करता है चाहे कितना ही बड़ा ज्ञानी या योगी क्यों न हो। यह पशुता कर्मवाद की है जिसको किये बिना, इस भौतिक शरीर की यात्रा ही नहीं चल सकती। कर्म करना ही पड़ता है, यही कर्मबन्धन पशुता है चाहे योगी की ही सिद्धि का कर्म क्यों न हो। यही पशु बन्धन या पशुबध पर ही निर्भर है। 'शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः' (गीता ३-८)। ज्ञानी या योगी इस पशु की पशुता

या भौतिकता बाहुल्य का बध या बन्धन करके, त्रिपादामृत रूप मुक्ति या मुक्त या भौतिकता से मुक्त तत्व के असीम सागर में मग्न हो कर मुक्त हो जाते हैं, या त्रिपादामृत रूप शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप धारण कर लेते हैं। ये इसके दो विरोधाभासीय विपरीत अर्थ सामने हैं। एक सृष्टि क्रम देता है दूसरा योग क्रम या ज्ञानाग्निः।

पर यह वाक्य इतना ही नहीं कहता। यह वाक्य वैदिक दर्शन के इस मध्य विन्दु से अगले विकासों की व्याख्या देने में केवल दिशा सूचक सूत्र सा है। इस पुरुष पशु के बन्धन के पश्चात् क्या विकास होते हैं यह तो तस्मादश्वा अजायन्त। ये के चोभवादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्माज्जाता यजावयः" ऋचा में पूर्णतः दे दिया गया है, पर यह उपक्रम किस प्रकार चला इसका विवेचन ऐ० ब्रा० और श० प० ब्रा० के पूर्व सूचित तथा उद्धृत वाक्यों की पुनरावृत्ति से जान लेना आवश्यक है जिनको पढ़कर ऐसा लगेगा कि वे उद्धरण हमारे इस वाक्य रूप सूत्र के साक्षात् भाष्य से है जैसे — 'पुरुषं वै देवा पशुमालभन्त (अवध्नन् पुरुषं पशुम्) तस्मादालब्धात् मेध उपचक्राम उदक्रामत्सोऽश्वं प्राविशत् तस्मादश्वो-मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स किंपुरुषोऽभवत्तेऽश्वमालभन्त सोऽश्वादाल-ब्धादुदक्रामत्स गां प्रविशत्तस्माद्गौर्मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स गौर-मृगोऽभवत्ते गामालभन्त स गोरालब्धादुदक्रामत्सोऽविंप्राविशत्तस्मादविर्मेध्योऽभवद-थैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स गवयोऽभवत्तेऽविमालभन्त सोऽवेरालब्धादुदक्रामत्सो-ऽजंप्राविशत्तस्मादजो मेध्योऽभवदथैनमुत्क्रान्त मेधमत्यार्जन्त स उष्ट्रोऽभवत्सोऽजे ज्योक्तमिवारमत तस्मादेव एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमोयदजस्तेऽजमालभन्त सोऽजा-लब्धादुदक्रामत्स इमां प्राविशत्तस्मादियं मेध्याऽभवदथैन मुत्क्रान्तमेधमत्यार्जन्त स शरभोऽभवत्त ऐते उत्क्रान्तमेधा अमेध्या पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात् अस्या-मन्वगच्छत्सोऽनुगतो व्रीहिरभवत्तद्यत्पशौ पुरोडाशमनुनिर्वपन्ति स मेधेन नः पशूनेष्टमसत्केवलेन पशुनेष्टमसत् ॥"

इसके अनुसार तत्वों का पशुरूप में विकास इस प्रकार है—पुरुष पशु—अश्व-**किम्पुरुष**-**गौ**-गौरमृग-अवि-गवयः—अजः-उष्ट्र-इमां शरभ । पर हमारी ऋचा 'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः' उक्त इतने पशुओं में से सूत्ररूप में केवल पाँच का ही नाम देती है। यही पुरुष सूक्त के सूत्रों की सूत्रता है। इस उद्धरण की व्याख्या उक्त ऋचा में दे दी गई है। यहाँ तो इसे इसका सम्बन्ध भाष्य रूप में जतलाने के लिए दिया गया है। उक्त सब पशु सर्वा देवता भी हैं और एक दैवत्य भी। एक दैवत्य में इनका स्थान चतुर्थ सप्तक है सर्वदैवत्य में

सम्पूर्ण तत्व सम्पूर्ण दर्शन रूप एक एक तत्त्व है। प्रत्येक तत्त्व पुरुष भी है अश्व भी है, किम्पुरुष भी है, गौ भी है, अवि भी है, गवय भी है, अजा भी है, शरभ भी, उष्ट्र भी है (उषसख्नाता उष्ट्रः)।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

अथर्ववेद ने अपने पुरुष सूक्त में इस मन्त्र को नहीं दिया है। अन्य सभी वेदों में इसका पाठ अपरिवर्तित मिलता है। यह ऋचा बहुत प्राचीन है, यह ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१-१६४) में ५०वीं ऋचा है। पुरुष सूक्त में यह दुबारा उद्धृत है। यह प्रसिद्ध ऋचा है। प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसका अर्थ या भाष्य लिखा है, प्रायः सभी प्राचीन उपनिषद् इसका उद्धरण देते आये हैं। पुरुष सूक्त की रचना की प्रेरणा का मूलस्रोत यही मन्त्र प्रतीत होता है। इसका 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' पद को पुरुष सूक्त कई बार दुहरा कर देता है। इसका 'यज्ञ' शब्द पुरुष सूक्त की कुञ्जी है। इसके यज्ञ शब्द की व्याख्या 'देवाः यद्यज्ञं तन्वानाः' पद की व्याख्या में पिछली ऋचा में दी जा चुकी है। यह अतीव रहस्यमय ऋचा है। इसके दो भाष्य ऐ० ब्रा० तथा श० प० ब्रा० में मिलते हैं। पहिले उन्हीं को यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है। इन में ऐ० ब्रा० का भाष्य अधिक प्राचीन प्रतीत होता है :—ऐ० ब्रा० (१-३-१६)—"अग्नेर्यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इत्युतमया परिदधाति (परिधिः) "यज्ञेन वै तद्देवा यज्ञमयजन्त यदग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायस्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा इति छन्दांसि वै "साध्या देवास्तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गं लोकमायन्नादित्याश्चैवेहासन्नङ्गिरसश्च। "तेऽग्रेऽग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्ग लोक मायन्त्सैव स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः ॥"

अर्थ—"यज्ञ से देवताओं ने उस यज्ञ को किया, इसका अर्थ है, आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया, उससे वे स्वर्ग (पूर्वार्द्धीय तत्त्वों) को प्राप्त हुए। वे पूर्वार्द्धीय तत्त्व नित्य हैं अतः वे धर्म या धारणत्व या सत्यत्व या विभुत्व शक्ति से पहिले ही से विद्यमान थे। उन्होंने उस स्वर्ग की महिमा का सुख प्राप्त किया, वहाँ पूर्वज रूप साध्या देवता थे। छन्दों (गायत्र्यादि) का नाम साध्या देवता है। गायत्र्यादि अग्नि या प्राण रूप है। इन्होंने अपनी अग्नि से उसका विकास किया था। अतः वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। या आदित्यों और अङ्गिरसो ने पहिले युग में आत्माग्नि से पुरुषाग्नि का यज्ञ किया उससे वे स्वर्ग लोक पूर्वार्द्धीय, त्रिपादामृत के सुख के भागी बने। यह स्वर्ग्याहुति कहलाती है, यद्यपि अग्न्याहुति है।"

यहां पर आदित्यों और अङ्गिरसों के स्वर्गप्राति की जो चर्चा की गई है उसका इतिहास श० प० ब्रा० (१२-२-२ ९ से ११ तक) में इस प्रकार उल्लिखित है । "अथादित्याश्च ह वा अङ्गिरसश्च । उभये प्राजापत्या, अस्पर्द्धन्त वयम्पूर्वं स्वर्गलोकमेष्वामो वयम्पूर्वं इति । त आदित्या । चतुर्भिः-स्तोमैश्चतुर्भिःपृष्ठैर्लघुभिः सामभिः स्वर्गं लोकमभ्यप्लवन्त यदभ्यप्लवन्त तस्माद भिप्लवः ।" अन्वञ्च इव अङ्गिरस सर्वैः स्तोमैः सर्वैःपृष्ठैर्गुरुभिः सामभिः स्वर्ग लोकमस्पृशन्यदस्पृशंस्तस्मात्पृष्ठ्यः ।।" इसके अनुसार आदित्य और अङ्गिरस दोनों प्रजापति की सन्तान हैं । इन दोनों में स्वर्गप्राप्ति के लिए होड़ लगी । आदित्य देवताओं ने चार स्तोमों चार पृष्ठों और लघु सामों से स्वर्ग लोक को अभिप्लवित कर लिया अतः वे अभिप्लव कहलाते हैं । उधर अङ्गिरस ऋषियों ने सब स्तोमों से सब पृष्ठों से तथा ,ुरु सामों से स्वर्ग को केवल स्पर्शमात्र कर पाया । अत उन्हें 'पृष्ठ्य' या स्पर्श करने वाले कहते हैं । बात यह है । आदित्य २० वें से ३१ वें तक के १२ तत्त्व हैं तथा अङ्गिरस २५ वें से ३१ वे तक के ७ तत्त्व । आदित्यों के चार पाद है, अङ्गिरसों के भी चार ही पाद हैं । यही चार स्तोम और पृष्ठ हैं, आदित्यों का स्थान तृतीय सप्तक 'नाक' या स्वर्ग या दिव् (तृतीय सप्तक) भी है वे तो स्वर्ग और पृथिवी (चतुर्थ सप्तक) दोनों में हैं, अङ्गिरस केवल चतुर्थ सप्तकीय पृथिवी में रहते हैं । पर तृतीय सप्तकीय स्वर्ग या नाक को छूते हैं, अतः पृष्ठ्य हैं, आदित्यों के पश्चात् आते हैं इसलिए भी पृष्ठ्य हैं । आदित्यों का लघु साम उपांशु ध्वनि है अङ्गिरसों का गुरु साम स्फुट ध्वनि या परा वाणी है ।

प्रस्तुत ऋचा का जो भाष्य श० प० ब्रा० (१०-२-२-१ से ३ तक) ने दिया है वह बहुत स्पष्ट है अतः उसे भी यहां ज्यों के त्यों दे दिया जाता है "यान्वैतात्सप्तपुरुषान् । एकम्पुरुषमकुर्वन्स प्रजापतिरभवत्स प्रजा असृजत, स प्रजा सृष्ट्वोर्ध्वं उदक्रामत्स एतँल्लोकमगच्छत् यत्रैष एतत्तपति नो ह तर्हि अन्य एतस्मादत्र यज्ञिय आस तं देवा यज्ञेनैव यष्टुमध्रियन्त । तस्मादेतदृषिणाभ्य-नूक्तम्—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इति यज्ञेन हि तं यज्ञमयजन्त 'देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति ते हि धर्मा प्रथमेऽक्रियन्त । ते ह नाकं महिमानः सचन्ते ति स्वर्गो वै लोको नाको देवा महिमानस्ते देवा स्वर्गल्लोकं सचन्त ये तं यज्ञमयजन्नित्येतत् । 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा' इति प्राणा वै साध्या देवा त एतमग्रे एवमसाधयन्न तदेव बुभूषन्तस्त उ एवाप्येतर्हि साधयन्ति 'पश्चेदमन्यद-भवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूनेति, पश्चाहैवमन्यद्यज्ञियमास यत्किञ्चामृतम् ।।"

अर्थ - इस व्याख्या के अनुसार यह ऋचा, पूर्ववर्ती ऋचा की सप्तपरिधियों का ही समष्टि रूप में या एक पुरुष रूप में वर्णन दे रही है। वास्तव में सप्त-परिधियों का नाम ही सप्त पुरुषा है। जो ये सात ऋषि रूप सप्तपुरुष थे, उनकी एक समष्टि की गई, वह एक पूर्ण पुरुष कहलाया। उसका नाम प्रजापति है। उसी ने सारी प्रजा या सृष्टि की या सात पुरुषों की रचना की। इनकी रचना करके वह ऊर्ध्व को उत्क्रामित हो गया, वह वहां गया जहां वह तप करने लगा, और यज्ञिय दूसरे प्रस्तुत हो गये। तब देवताओं ने (तत्त्वों ने) उसकी प्राप्ति के लिए यज्ञसाधना करने का निश्चय दिया। यही ऋषि ने कहा है कि यज्ञ से उस यज्ञपुरुष की उपासना या विकास करने लगे। जिनका विकास करना था उनके मूल तत्त्वों की (सात पुरुषों की) उपस्थिति पहिले ही से थी, उनका निर्माण पहिले ही किया जा चुका था। स्वर्गलोग (पूर्वार्द्ध) का नाम नाक है, देवा उसकी महिमायें हैं, इन देवा रूप तत्त्वों ने उस स्वर्ग-लोक के लिए यज्ञ या विकास किया। उस स्वर्गलोक की सृष्टि रूप देवा या साध्या देवा सब प्राण रूप के हैं, उन्होंने पहिले इन्ही प्राणों की साधना की, अतः साध्या कहलाते हैं। क्यों कि उनकी साधना की जाती है। इसके पश्चात् अन्यद् या उत्तरार्द्ध की रचना हुई, उसे यजत्र अमर्त्य अमृत (भौतिकात्मा) कहते हैं। पूर्वार्द्ध दिन है उत्तरादूर्ध रात्रिः। यही दूसरा भाग दूसरा यज्ञिय था जिसकी चर्चा सब से पहिले की गई है। प्रजापति का ऊर्ध्व क्रमण पूर्वार्द्ध है यह तपः का स्थान या मार्ग है। भौतिकी उत्तरार्द्धीय तत्त्वों की सृष्टि हो जाने पर, उन उत्तरार्द्धीय तत्त्वों ने पूर्वार्द्धीय त्रिपादामृत को पाने का या अपनाने का जो यत्न किया वही यज्ञ है। साधक उत्तरार्द्धीय है, साध्या देवा पूर्वार्द्धीय। साध्या तत्त्व द्वादश मास के अनुसार १२ हैं। छान्दस और प्राण रूप हैं आदित्य और अङ्गिरस उत्तरार्द्धीय है अतः ऐ० ब्रा० उनकी साधना का प्रस्ताव उचित रूप से देता है जिसका समर्थन श० प० ब्रा० भी कर देता है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने लिखा है कि साध्या देवताओं (प्राणों) ने छन्दों को अमृत लाने के लिए भेजा। जैसे 'गायत्री सुपर्णो भूत्वा सोममाजहार' (८-४-१)

प्रस्तुत ऋचा का जो भाष्य यहां दिया गया है, वह स्वतः स्पष्ट है और स्वयं प्रामाणिक है।

उक्त ऋचा के स्थान में अथर्व ने दूसरा मंत्र दिया है जो कम महत्व का नहीं कहा जा सकता—१६—'मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः। राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि॥'' उस बृहत् शब्द ब्रह्म रूप देव के शिर के जिन सात सात तत्त्व वाले सप्तकों का विकास सप्तपुरुष रूप में हुआ वे उसी के अंशु या अंश या किरण रूप विकासीय विभाग हैं। इनमें से

उस पुरुष से उत्पन्न राजा सोम से पुनः द्वितीय अर्द्ध या उत्तरार्द्ध की सृष्टि हुई। यहां पर पुरुषात् शब्द उसी पुरुषपशु के २५ वें तत्त्व का सोम नाम से संकेत करता है। एक सृष्टि पूर्वार्द्ध की है जिससे पुरुष पशु (त्रिःसप्तसमिधों से) बना, उसका नाम सोम भी है। इस सोम से पुनः 'अधि + अजायत' दूसरी (भौतिक) सृष्टि (उत्तरार्द्ध रात्रि में) हुई। पर उत्तरार्द्ध दोनों सप्तपुरुषी सप्तकों के सप्तकों के सप्तती या एक एक में सात सात तत्त्व वालों के रूप में सब उसी बृहत् शब्द ब्रह्म रूप देव के शिर रूप प्रथम तत्त्व से ही हुए, वे सात सप्ततियाँ, उसी के अंशु या अंश या विकास हैं।

उत्तरनारायणी पुरुष सूक्त

यजुर्वेद इन सोलह ऋचाओं को षोडशकलं ब्रह्मोपासना, और पूर्व नारायणी नाम से पुकाराता है। इससे आगे यह वेद छह और मंत्र देता है जिनका नाम श० प० ब्रा० (१३–६–२–२०) 'उत्तरनारायणी' कहता है।

(१७)—"अद्भ्यः सम्भूतः पृथिव्यै रसाच्च विश्व कर्मणः समवर्तताग्रे। तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥" इस मंत्र के अर्थ को जानने के लिए पहिले 'विश्वकर्मा' और 'त्वष्टा' नामक दोनों शीर्षकों के लेख पढ़ लेने चाहिए। विश्वकर्मा चतुर्थ सप्तक का आदि पुरुष है जहां से आपः या नार या नृषद् का निर्माण होता है। यही आपो देवता सर्वप्रथम भौतिक सृष्टि का गर्भ धारण करते हैं 'कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे' (ऋ० वे० १०–८२–५)। यही आपः पृथिवी या भौतिकात्मा की योनि बनकर, भौतिकात्मा रूप रस का या 'रसौ वै सः' का या रसमय ब्रह्म का विकास करते हैं। ये दो तत्त्व इस सृष्टि के अग्रदूत हैं जिनको विश्वकर्मा ने आपोरूप और पृथिवी के रस रूप में सम्भृत कर रखा था। इन दोनों को त्वष्टा—त्रिशिरा का पिता, रूप या मूर्तता या खाका का स्वरूप देता है। 'य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपै रपिंशद्भुवनानि विश्वा' (ऋ० वे० १०–११०–९)। इससे वह रूप या मर्त्य या नर या नृषद् सप्तक के तत्त्वों या देवों को वह, सर्वप्रथम (भौतिकता का) आवरणीय खाके (देकर बौद्धिक साकारता) में (उस प्रकार) उत्पन्न करता है (जिस प्रकार का लक्ष विश्वकर्मा बताये रखता है) जिसको पूर्वार्द्ध में आजान देवता या मायामय देवता या समन्तात् ज्ञानमयमात्रशरीरी या अमृत शरीरी कहते हैं।

"वेदाहमेतम्पुरुषमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्यु मत्येति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय" ॥१८॥
२७ वै० यो० सू०

मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो महतोमहान् है, उस प्रकार तेजस्वी है जैसा आदित्य या त्रिपादामृत, और जो सदा भौतिकता की तामसिकता और अन्धकार दोनों से कोसों दूर है। उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है (भौतिकता की माया जीती जा सकती है) उस पुरुष को जानने का दूसरा मार्ग है ही नहीं। यही एक है।

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"॥१९॥

यह मंत्र 'स मातुर्योना परिवीतो' 'अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' (ऋ० वे० १-१६४-३२) का उद्बोधन करता है। जिस प्रकार ऋग्वेद की इस ऋचा में कहा गया है कि वह प्रजापति माता (पृथिवी चतुर्थ सप्तक, या इसमें उत्पन्न आपो देव्यः या इसके अधिष्ठात्ता आदित्य रूप गावः) की योनि में बहुप्रजा बीजरूप में प्रविष्ट होकर उस योनि के अन्दर गर्भ या निर्ऋति में प्रविष्ट हो गया उसी प्रकार यह यजुः का प्रस्तुत मंत्र भी कहता है कि प्रजापति उस निर्ऋति रूप गर्भ में स्वयं अजन्मा होते हुए भी बहुप्रजा बीजरूप में प्रविष्ट हुआ। उस गर्भ की योनि को केवल धीर (दार्शनिक योगी) ही देख या समझ सकते हैं। उस योनि के गर्भ या निर्ऋति में तो अखिल ब्रह्माण्ड या भुवन (अपने मौलिक स्वरूप या खाके या बीजरूप में) विद्यमान थे। योनि किसका नाम है और क्या है, यह 'अश्विनी' 'द्यावापृथिवी' और 'अहोरात्र' के शीर्षकों में देखें। संक्षेप में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के सम्मिलन बिन्दु के (⊏⊐) मध्यभाग का नाम योनि ओष्ठं, अश्विनी, गर्त, विषुवत्, सूर्यः चक्षुः सोमः चन्द्रः आदि है। इसको वही समझ सकता है जिसको वैदिक दर्शन का ढाँचा भलीभाँति विदित है। इसीलिए यह मंत्र इसी पर जोर देता है कि पहिले वैदिक दर्शन के ढाँचे को जानो, तब इसे समझो, इस योनि को वैदिक दर्शन के ढांचे को जानने वाले धीर दार्शनिक योगी ही देख या समझ सकते हैं, 'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा'। इसी योनि में तो अखिल भुवनों के मूलबीज भौतिकात्मा के रूप में विद्यमान रहते हैं। इसके पहिले तो वे सब केवल आत्मा के रूप में एक रूप में त्रिपादामृत रूप में थे, वही प्रजापति बना।

यो देवेभ्यो आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥ २०॥

वह पुरुष जो सात ऋषि रूप तत्वों के विकास के लिए तप करता है, इस तप की चर्चा सोलहवीं ऋचा की व्याख्या में उद्धृत श० प० श० १०-२-२-१ से ३ तक-'यान्वै सप्तपुरुषान्' आदि वाक्य में की जा चुकी है, यहां

उसी का संकेत है, जो बृहस्पति या वाग्पति रूप में देवताओं का पुरोहित या आदि प्राण रूप है। पुरोहित शब्द का अर्थ 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' ऋचा १५ के भाष्य में दे दिया गया है। और 'बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः ब्रह्मा' वाक्य प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलेगा और ब्रह्मणस्पति बृहस्पति सूक्तों में भी। श० प० ब्रा० ५-४-३-१२, १-६-२-२१ में बृहस्पति को ब्रह्म नाम से ही पुकारा है। यजु: (२-१२) भी 'बृहस्पतये ब्रह्मणे' कहकर इसका समर्थन करता है। यही इध्म रूप में सब देवताओं से पहिले उत्पन्न होता है, जो इन्द्र नाम से पुकारा जाता है, वह रोचिष्मान् अमृतमय प्राणमय इध्मवान् ब्रह्म है उसको हम नमस्कार करते है (मुखदिन्द्रश्चरग्निश्च' देखें)

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥

श० प० ब्रा० (७-४-२-२१; ७-५-२-१२) ने रुचं शब्द की व्याख्या में 'रुचममृतत्वं वै रुग्' 'प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचते' लिखा है। इससे मंत्र का आशय यह है। पहिले देवताओं ने त्रिपादामृत रूप और प्राणरूप ब्रह्म का विकास करते हुए कहा था कि जो ब्रह्म के इन ब्राह्मणों, या ब्राह्म विकासों को समझ सकेगा, उसके वश में सब देवता हो जावेंगे, अर्थात् वह तभी इन सब देवताओं या तत्त्वों का विकात भलीभाँति समझ सकेगा।

श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्यात्तम्।
इष्णन्निषाणामुम्म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२ ॥

'श्री:' नाम यज्ञ या दर्शन का है, तथा शिर का है। यज्ञ और दर्शन स्वरूप में श्री: शब्द पूरे यज्ञ और पूरे दर्शन के सब तत्त्वों का प्रतिनिधि है। पूरा यज्ञ या दर्शन एक यूप या स्तूप है। अतः इस यूप को 'अष्टाश्रिः' कहते हैं। पर जब यह शब्द शिर का वाचक होता है तब यह 'गायत्री' ब्रह्म तथा पूर्वार्द्ध का वाचक होता है जैसे "यज्ञस्य यो उत्तर (उत्तरायणः) आधारः श्रीर्वैशिरः, श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति असौ अमुस्यस्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः ॥" (श० प० ब्रा० १-४-१-५) तथा "चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष शिरः श्रीर्वैशिरः श्रीर्हि वैशिरः" (४-२-३-२० श० प० ब्रा०)। ऐ० ब्रा० (५-१-१) 'सोऽष्टाश्रिःर्कतव्यः अष्टाश्रिर्वै वज्रः (यज्ञः यूपः दर्शनं); श० प० ब्रा० (५-१-६-५) 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति' इत्यादि। श्री का विशेष अध्ययन 'श्रीः' नामक शीर्षक में देखें। यहां पर श्री पूर्वार्द्ध है, लक्ष्मी उत्तरार्द्ध है। लक्ष्मी नाम लक्ष्मवती, लक्षणवती चिह्नवती का है। पूर्वार्द्ध अमूर्त अरूप, अलिङ्ग आध्यात्मिक अलक्ष्म है, वह केवल श्री रूप एक रूप है। पर उत्तरार्द्ध,

मूर्त है, रूप है, सलक्ष्म है, सलिङ्ग है, भौतिक है, सर्वलोकमय है। अतः लक्ष्मी या लक्ष्मवान् या लक्ष्मवती है "भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधि वाचि" (ऋ० वे० १०–११–२)। ये श्रीः और लक्ष्मी दोनों दर्शन या यज्ञ या पुरुष की दो पत्नियाँ हैं। एक उजली दूसरी काली, एक शुक्लपक्षिणी, दूसरी कृष्णपक्षिणी, एक दिन स्वरूपिणी, दूसरी रात्रिरूपिणी। यही 'अहोरात्रे' हैं। इनका मध्यविन्दु अश्विनौ है जिनसे 'रूपम्' या मूर्त या भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। इस बिन्दु से अगल-बगल उत्तर दक्षिण की ओर (पार्श्वे) अश्विनी से उलटे सुलटे नक्षत्र गणना करके, प्रत्येक तत्त्व एक नक्षत्र का प्रतिनिधि होगा। पूर्वार्द्ध में कृत्तिका से रेवती तक, उत्तरार्द्ध में अश्विनी से रेवती तक द्विधा नक्षत्र गणना 'पार्श्वे नक्षत्राणि' का भाव है 'नक्षत्र गणना शैली से तत्त्व निर्णय' शीर्षक देखें। ये सब तत्त्व व्याप्त या व्यापक हैं। इनकी व्यापकता विवृतता रूप फलप्राप्ति की इच्छा करते हुए, मेरे लिए पूर्वार्द्ध (अयुम्) और उत्तरार्द्ध (सर्वलोक) दोनों की प्राप्ति की कामना करो।"

इति शम्

हिन्दी-सांख्यदर्शन

मूलग्रन्थ सहित

श्रीहरियाणा-शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रमाध्यक्ष-

पण्डित सीताराम शास्त्रि सम्पादित

HINDI SANKHYADARSHANA.

EDITED AND ANNOTATED

VIDYAMARTANDA

Principal, Shreehariana shekhawati Brahmacharyashram

Printed by P. Magni Rama S. Dhrama Press Meerut.

भूमिका

"हिन्दीसांख्य"

लिये इसके ?

सांख्य के छः (६) दर्शनों में सांख्य दर्शन सब से प्राचीन और [illegible] जाता है। इस दर्शन के आविष्कार के कर्त्ता महामुनि कपिलदेव जी हुवे हैं, जो भगवान् के २४ अवतारों में से अन्यतम अवतार हैं।

"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरयेसांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्॥"

[श्री० भा० १, ३, १०]

अर्थात्–५ वां कपिल नाम सिद्धेश्वर अवतार हुआ, जिसने काल से विलुप्त सांख्य शास्त्र को,–जिस में तत्वों के समूह का निर्णय किया गया है, आसुरि नाम अपनें शिष्य को पढ़ाया।

इस वाक्य के "कालविप्लुतम्" इस पद से यह भी निर्णय होता है, कि-कपिल देव से पहिले भी सांख्य शास्त्र था, किन्तु वह काल से विलुप्त हो गया था। तथा यह भी कि आप का प्रथम शिष्य आंसुरि हुआ।

भगवान् कपिल देव सांख्य शास्त्र के आविष्कार या पुनरुद्धार करने वाले, स्वायंभुव मनु के दौहित्र और कर्दम महर्षि के पुत्र थे। स्वायंभुव मनु १४ मनुओं में आद्य मनु थे,–

"स्वायंभुवो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव॥"

(रघुवं० १,)

उन्हों ने अपनी कन्या देवहूति नाम की कर्दम ऋषि से विवाही थी। स्वायंभुव मनु ब्रह्मावर्त्त देश में बर्हिष्मती नाम नगरी में रहते थे, और सप्तद्वीपा पृथ्वी के सम्राट् थे। कर्दम

महर्षि सरस्वती नदी के तीर पर बिन्दुसर
थे । उक्त मनु ने अपने स्थान से अपनी महारा
के साथ अपनी उक्त कन्या को रथ में बिठा कर व.
के स्थान में) जाकर ब्राह्म-विवाह-विधि से, जो सब ।
में प्रथम (उत्तम) कहा गया है, उस के साथ व्याह दी
फिर समय पाकर कर्दम के वीर्य से देवहूति में ९ कन्याएं
हुईं । पुनः देवहूति के प्रार्थनानुसार बहुत काल के पश्चात्
भगवान् के अंश से कपिल नाम पुत्र हुआ ।

"तस्यां बहुतिथेकाले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिवदारुणि ॥"

(श्री० भा० ३, २४, ६)

इस उपर्युक्त इतिहास के अनुसार कपिलदेव ब्राह्ममहा-कल्प के आरम्भ में हुये और उसी समय इस सांख्य शास्त्र का पुनरुद्भव (पुनर्जन्म) हुआ । इसी प्रकार यह शास्त्र कपिलदेव से आसुरि को, उससे पञ्चशिख को और उस से शिष्यपरम्परा के द्वारा ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ, तथा उन्होंने उस सांख्य को प्रचलित कारिकाओं में, जो "दुःखत्रयाभि-घातात्,, इस कारिका से आरम्भ होकर "परवादविवर्जि-ताश्चापि,, इस कारिका पर समाप्त होती हैं, लिखा ।

"एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेनच बहुधाकृतं तन्त्रम् ॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥

(सां० का० ७०-७१)

इसी ईश्वरकृष्णीय सांख्य के आधार पर यह हमारा

"हिन्दीसांख्य" है। पाठकों के सुखपूर्वक शास्त्र में प्रवेश के लिये इसके आरम्भ में चित्रावली लगाई है, जिस के द्वारा सांख्य के तत्वों को पाठक संक्षेप से अनायास समझ सकेंगे, और फिर ग्रन्थ के पढ़ने में भी उन्हें बहुत सुविधा होगी। ग्रन्थ के भीतर जिस कारिका (श्लोक) का अर्थ आरम्भ होता है, वहां पर भी सुख बोध के लिये विषयबोधक शीर्षक, उस के नीचे कारिका और उस के नीचे उसी की व्याख्या है। कहीं२ ग्रन्थ के भीतर भी समझाने के लिये चित्र लगाये गये हैं। विषय के क्लिष्ट होने के कारण जहां सरलता नहीं हो सकी है, उस के लिये विद्वानों से क्षमा प्रार्थनापूर्वक निवेदन है, कि- वे उस की सूचना देवें, जिससे कि- वह सुधार दूसरी आवृत्ति में कर दिया जावे।

भागवत सांख्य और यह सांख्य

भागवत पुराण के सांख्य में भी प्राकृतिक तत्व २४ ही हैं

"पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मन् चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः"

(श्री० भा० ३, २६; ११)

अर्थात्-५ महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) ५ तन्मात्र (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द) ४ अन्तः करण (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) ५ ज्ञानेद्रियें (श्रोत्र, त्वचा, दृक्, रसन, नासिका) ५ कर्मेन्द्रियें (वाणी, कर, चरण, लिङ्ग, गुद) यह प्रधान या प्रकृति का गण है।

ईश्वरकृष्णीय सांख्य में २५ वां तत्व पुरुष को बताया गया है, उसके स्थान में भागवत में काल तत्व कहा है।

"एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
संनिवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः" ॥

(श्री० भा० ३, २६, १५)

इस काल तत्व के संबन्ध में दो मत हैं। (१) कोई विद्वान् मानते हैं कि-यह पुरुष का ही प्रभाव है, जिससे अज्ञानी मनुष्य को भय होता है। (२) दूसरा सिद्धान्त मत यह है कि यह भगवान् ही काल रूप से प्रतीत होता है, जिस के सम्बन्ध से गुणों के साम्यरूप प्रधान (जड़) में भी चेष्टा हो जाती है, तथा वही भगवान् शरीरों के भीतर पुरुष रूप से है, और बाहर से वही कालरूप प्रतीत होता है।

"प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतोभयम् ।
अहंकारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः" ॥
"प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि !
चेष्टा यतः स भगवान् कालइत्युपलक्षितः ॥"
"अन्तःपुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।
समन्वेत्येष सत्वानां भगवानात्ममायया ॥"
(श्री० भा० ३, २६, १८)

ईश्वरकृष्णीय सांख्य निरीश्वरवादी और भागवसांख्य ईश्वरवादी है-यही इन दोनों का मतभेद है, कोई कहते हैं पूर्व सांख्य का प्रकृति और पुरुष के विवेक में ही तात्पर्य है, किन्तु ईश्वर के खण्डन में नहीं, इसी से उसने को ही दिखाया है, यह ठीक भी है। क्योंकि-वैदिक पुरुष का निरीश्वरवादी होना असंभव है।

समर्पणम्

"येन शुक्लेन महता सर्वं शुक्लीकृतं जगत् ।
विद्यया मुनये तस्मै कृतिर्मेऽस्तुसमर्हणम् ॥"

कार्तिक शुक्ला१५ } विद्वद्वशंवद—
सं० १९७३ वि० } सीतारामशर्मा

हिन्दी-सांख्य दर्शन

(सांख्य—पदार्थ)

—>:-o:-<—
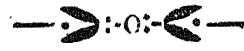
(१) तत्वों का संक्षप—(१) प्रकृति (२ पुरुष)

व्याख्या-

(क) (१) अव्यक्त (२) व्यक्त (३) पुरुष ।

(ख) (१) प्रकृति (२) महत्तत्व (३) अहंकार (४) मन (५) चक्षुः (६) श्रोत्र (७) घ्राण (८) रसन (९) त्वक् (१०) वाक् (११) हस्त (१२) पाद (१३) उपस्थ (१४) गुद (१५) शब्द (१६) स्पर्श (१७) रूप (१८) रस (१९) गन्ध (२०) आकाश (२१) वायु (२२) तेज (२३) जल (२४) पृथ्वी (२५) पुरुष ।

(२) करण-(१) महत्तत्व (बुद्धि) (२) अहंकार (अभिमान) (३) मन (४) चक्षुः (नेत्र) (५) श्रोत्र (कान) (६) घ्राण (नांक) (७) रसन (जिह्वा) (८) त्वक् (चर्म) (९) वाक् (वाणी) (१०) पाणि (हाथ) (११) पाद (पैर) (१२) पायु (गुदा) (१३) उपस्थ (लिङ्ग या योनि) ।

(३) अन्तःकरणत्रय-(१) बुद्धि (२) अहंकार (३) मन ।

(४) इन्द्रियें--(१) मन (२) चक्षुः (३) श्रोत्र (४) घ्राण (५) रसन (६) त्वक् (७) वाक् (८) पाणि (९) पाद (१०) पायु (११) उपस्थ ।

(५) ज्ञानेन्द्रियें--(१) चक्षुः (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) रसन (५) त्वक् ।

(६) कर्मेन्द्रियें--(१) वाक् (२) पाणि (३) पाद (४) पायु (५) उपस्थ ।

(७) ज्ञानकर्मेन्द्रिय--(१) मन ।

(८) ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियें--(१) दर्शन (देखना) (२) श्रवण (सुनना) (३) घ्राण (सूंघना) (४) आस्वादन (चाखना) (५) स्पर्श (छूना)

(९) कर्मेन्द्रियों की वृत्तियें (क्रियाएँ)--(१) वचन (बोलना) (२) आदान (लेना) (३) विहरण (चलना) (४) उत्सर्ग (त्यागना) (५) आनन्द ।

(१०) अन्तःकरणत्रय की वृत्तियें-(१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान (५) व्यान, ये शरीर के भीतर रहने वाले पांच वायु हैं ।

(११) बुद्धि की वृत्ति-(१) अध्यवसाय (निश्चयरूपज्ञान)

(१२) अहंकार की वृत्ति-(१) अभिमान ।

(१३) मन की वृत्ति— (१) संकल्प ।

(१४) तन्मात्र— (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस (५) गन्ध ।

(१५) भूत (महाभूत)—(१) आकाश (२) वायु (३) तेज (४) जल (५) पृथिवी ।

(१६) अव्यक्त— (१) मूल प्रकृति (प्रकृति = प्रधान = परमाव्यक्त) ।

(१७) व्यक्त—(१) महत्तत्व (२) अहंकार (३) मन (४) चक्षुः (५) श्रोत्र (६) घ्राण (७) रसन (८) त्वक् (९) वाक् (१०) पाणि (११) पाद (१२) पायु (१३) उपस्थ (१४) शब्द (१५) स्पर्श (१६) रूप (१७) रस (१८) गन्ध (१९) आकाश (२०) वायु (२१) तेज (२२) जल (२३) पृथिवी ।

(१८) प्रमाण- (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द ।

(१९) गुण - (१) सत्व (२) रजः (३) तमः ।

(२०) गुणों के स्वरूप- (१) सत्व सुखरूप, (२) रज दुःख रूप, (३) तम मोहरूप ।

(२१) गुणों के प्रयोजन-(१) सत्व का प्रकाश करना (२) रज का प्रवृत्ति (३) तम का नियमन करना या रोकना ।

(२२) केवल-अविकृति- (१) प्रकृति ।

(२३) केवल-विकृति- (१) मन (२) चक्षु (३) श्रोत्र (४) घ्राण (५) रसन (६) त्वक् (७) वाक् (८) पाणि (९) पाद (१०) पायु (११) उपस्थ (१२) आकाश (१३) वायु (१४) तेज (१५) जल (१६) पृथिवी ।

[२४] प्रकृति-विकृति- (१) महत्तत्व (२) अहंकार (३) शब्द (४) स्पर्श (५) रूप (६) रस, (७) गन्ध ।

[२५] अप्रकृति-अविकृति- (१) पुरुष ।

[२६] भाव- (१) धर्म (२) अधर्म (३) ज्ञान (४) अज्ञान (५) वैराग्य (६) अवैराग्य (७) ऐश्वर्य्य (८) अनैश्वर्य्य ।

[२७] बुद्धिका संक्षिप्त सर्ग [सृष्टि]-(१) विपर्यय (२) अशक्ति (३) तुष्टि (४) सिद्धि ।

[२८] बुद्धि का विस्तृत सर्ग- ८ विपर्यय, २८ अशक्तियें, ९ तुष्टियें ८ सिद्धियें (कुल ५०) ।

व्याख्या

(क) विपर्यय-(१) अविद्या (तम) (२) अस्मिता (मोह) (३) राग (महामोह) (४) द्वेष (तामिस्र) (५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्र) ।

अविद्या या तम आदि के भेद ।

(अ) अविद्या के भेद-(१) अव्यक्त (२) महत्तत्व (३) अहंकार (४) शब्द (५) स्पर्श (६) रूप (७) रस (८) गन्धतन्मात्र, इन आठ तत्वों में आत्म बुद्धिरूप अविद्या आठ प्रकार की होती है ।

(आ) अस्मिता के भेद-(१) अणिमा (२) लघिमा (३) गरिमा (४) महिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) वशित्व (८) ईशित्व । इन सिद्धियों की प्राप्ति से यह अभिमान होता कि-

यह अणिमा आदि हमारा सदाका ऐश्वर्य्य है, तद्रूप अस्मिता ८ प्रकार की होती है।

(इ) राग के भेद–[५ दिव्य] (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस (५) गन्ध [५ अदिव्य] (६) शब्द (७) स्पर्श (८) रूप (९) रस (१०) गन्ध।

(ई) द्वेष के भेद–(१० रागों के द्वेष और आठ सिद्धियों के द्वेष मिल कर १८ द्वेष होते हैं। अर्थात्-दिव्य अदिव्य भेद से १० प्रकार के शब्द आदि विषय परस्पर से उपहत होकर द्वेष के विषय होते हैं या इन पर द्वेष होता है, अतः द्वेष १० प्रकार का होता है, तथा ८ अणिमा आदि सिद्धियें स्वरूप से ही [अपने आप ही] कोपनीय होती हैं या इनपर कोप होता है, अतः इनके कारण से द्वेष भी ८ प्रकार का होता है। इस प्रकार द्वेष १८ प्रकार का है।

(उ) अभिनिवेश के भेद–अणिमा आदि ८ ऐश्वर्य और शब्द आदि १० विषय, कुल १८ विषयों या उपायों को प्राप्त हो कर देवताओं को भय होता है कि इन्हें असुर न छीनलें, इस प्रकार भय का विषय १८ प्रकार का होने से भय या अभिनिवेश १८ प्रकार का होता है।

(६)

(ख) अशक्तिएं—[११ इन्द्रियवधजन्य-] (१) मन्दता (२) अन्धता (३) बधिरता (४) अजिघ्रता

(७) (८) (९)

(१०) (११) (१२)
(५) जडता (६) कुण्ठिता (७) मूकता (८)
(१३) (१४) (१५)
कौराय (९) पंगुता (१०) क्लैव्य (११)
(१६) (१७)
उदावर्त्त [१७ बुद्धिवधजन्य] (१२) प्रकृति-
(१८)
विपरीता (१३) उपादानविपरीता (१४)
(१९) (२०)
कालविपरीता (१५) भाग्यविपरीता (१६)
(२१) (२२)
पारविपरीता (१७) सुपारविपरीता (१८)
(२३) (२४)
पारापारविपरीता (१९) अनुत्तमाम्भोविपरीता
(२५) (२६)
(२०) उत्तमाम्भोविपरीता (२१) अध्ययन-
(२७) (२८)
विपरीता (२२) शब्दविपरीता (२३) ऊह-
(२९)
विपरीता (२४) सुहृत्प्राप्तिविपरीता (२५)
(३०) (३१)
दानविपरीता (२६) आध्यात्मिकदुःखनाश-
(३२)
विपरीता (२७) आधिभौतिकदुःखनाशविपरीता
(३३)
(२८) आधिदैविकदुःखनाशविपरीता ।
(३४)
(ग) तुष्टियें—[४ आध्यात्मिकतुष्टियें-] (१) प्रकृति
(३५) (३६) (३७)
(२) उपादान (३) काल (४) भाग्य [५
(३८
बाह्यतुष्टियें] (५) अर्जनदोषदर्शनजन्य-

(३९)
विषयोपरमजन्या (६) रक्षणादोषदर्शनजन्य-
(४०)
विषयोपरमजन्या (७) क्षयदोषदर्शनजन्य-
(४१)
विषयोपरमजन्या (८) भोगदोषदर्शनजन्य-
(४)
विषयोपरमजन्या (९) हिंसादोषदर्शन-
जन्यविषयोपरमजन्या ।

(४३) (४४) (४५)
(घ) सिद्धियें—(१) अध्ययन (२) शब्द (३) ऊह
(४६) (४७) (४८)
(४) सुहृत्प्राप्ति (५) दान (६) आध्यात्मिक-
(४९)
दुःखनाश (७) आधिभौतिकदुःखनाश (८)
(५०)
आधिदैविक दुःखनाश ।

(२९) दूसरे प्रकार से विपर्यय-(१) अज्ञान ।

(३०) दूसरे प्रकार से अशक्ति के भेद-(१)अनैश्वर्य्य (२) अवैराग्य (३) अधर्म ।

(३१) दूसरे प्रकार से तुष्टि के भेद—(१) धर्म (२) वैराग्य (३) ऐश्वर्य ।

(३२) दूसरे प्रकार से सिद्धि-(१) ज्ञान ।

[३३] तीन दुःख—(१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक ।

[३४] आध्यात्मिकदुःख के भेद— (१) शारीर (शरीर में वात पित्त और कफके घटने तथा बढ़ने

से होने वाला दुःख) (२) मानस (मनमें काम क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि से होने वाला दुःख)।

[३५] आधिभौतिकदुःख- मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प आदि से होने वाला दुःख।

[३६] आधिदैविकदुःख-यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि से होने वाला दुःख।

(३७) व्यक्त के धर्म- (१) हेतुमत्त्व (सकारणता) (२) अनित्यत्व (३) अव्यापकत्व (४) क्रियावत्त्व (५) नानात्व (६) आश्रितत्व (७) लिङ्गत्व (८) सावयवत्व (९) परतन्त्रत्व।

[३८] अव्यक्त के धर्म- (१) कारणशून्यत्व (२) नित्यत्व (३) व्यापकत्व (४) अक्रियत्व (५) एकत्व (६) अनाश्रितत्व (७) अलिङ्गत्व (८) निरवयवत्व (९) स्वतन्त्रत्व।

[३९] व्यक्त अव्यक्त के साझे के धर्म- (१) त्रिगुणत्व (२) अविवेकित्व (३) विषयत्व (४) सामान्यत्व (५) अचेतनत्व (६) प्रसवधर्मित्व।

(४०) पुरुष के धर्म-(१) अत्रिगुणत्व (२) विवेकित्व (३) अविषयत्व (४) असामान्यत्व (५) चेतनत्व (६) अप्रसवधर्मित्व (७) कारणशून्यत्व (८) नित्यत्व (९) व्यापकत्व (१०) निष्क्रियत्व (११) अनाश्रितत्व (१२) अलिङ्गत्व (१३) निरवयवत्व (१४) स्वतन्त्रत्व (१५) नानात्व (१६) साक्षित्व (१७) द्रष्टृत्व (१८)

कैवलत्व (१६) मध्यस्थत्व (२०) अकर्तृत्व ।

(४१) चार वैराग्य–(१) यतमानसंज्ञा (२) व्यतिरेक संज्ञा (३) एकेन्द्रियसंज्ञा (४) वशीकारसंज्ञा ।

(४२) सूक्ष्म शरीर के १८ तत्व–(१) महत्तत्व (बुद्धि) (२) अहंकार (३) मन (४) चक्षुः (५) श्रोत्र (६) घ्राण (७) रसन (८) त्वक् (९) वाक् (१०) पाणि (११) पाद (१२) गुदा (१३) उपस्थ (१४) शब्दतन्मात्र (१५) स्पर्शतन्मात्र (१६) रूपतन्मात्र (१७) रसतन्मात्र (१८) गन्धतन्मात्र ।

(४३) षट्कोष—[तीनमातासे] (१) लोम (रोम) (२) लोहित (रक्त) (३) मांस [तीन पिता से] (४) स्नायु (सूक्ष्मनाड़ी) (५) अस्थि (हाड़) (६) मज्जा (चर्बी)।

(४४) दैवसर्ग--(देवताओं की उत्पत्ति) (१) ब्राह्म (ब्रह्मका) (२) प्राजापत्य (प्रजापति का) (३) ऐन्द्र (इन्द्र का) (४) पैत्र (पितरों का) (५) गान्धर्व (गन्धर्वों का) (६) याक्ष (यक्षों का) (७) राक्षस (राक्षसों का) (८) पैशाच (पिशाचों का)।

(४५) तिर्यग्योनिसर्ग— (१) मनुष्य (२) मृग (३) पक्षी (४) सरीसृप(५) स्थावर (वृक्षआदि) ।

(४६) मनुष्य सर्ग-- (१) मनुष्य ।

(४७) राजवार्तिक ग्रन्थ के ६० पदार्थ-(प्रधानमेंरहने वाले)(१) एकत्व(२) अर्थवत्व (३) परार्थता [पुरुष में रहने वाले] (४) अन्यत्व (५)अकर्तृत्व (६) बहुत्व [उभय गत या प्रधान और पुरुषदोनोंमें रहने वाले] (७) अस्तित्व (८) योग (९) वियोग [स्थूल सूक्ष्म में रहने वाले] (१०) स्थिति ५ विपर्यय, ८ सिद्धियें, ९ तुष्टियें, २८ अशक्तियें (६०)।

—:o:—
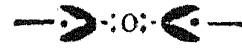
श्रीः

हिन्दी-सांख्य दर्शन

विद्याप्रदं गुरुं नत्वा तथा रुद्रं कृपाकरम् ।
ऐश्वरकृष्णसांख्यस्य हिन्दीभाषां करोम्यहम् ॥

सांख्यशास्त्र में प्रवृत्ति का कारण

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

(क) क्योंकि—सांख्यशास्त्रीयतत्वों के ज्ञान से तीनों दुःखों की निवृत्ति होती है, अतः उसमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अथवा तीनों दुःख विनाशी हैं, या उनका विनाश देखा जाता है, अतः उनके नाश के हेतु (सांख्य शास्त्र के तत्वों के ज्ञान) में इच्छा होती है।

(ख) यदि कहा जावे कि-लौकिक उपाय से तीनों दुःखों का नाश होता है, अतः सांख्य शास्त्र में इच्छा व्यर्थ है? ठीक नहीं, क्योंकि-उस दृष्ट उपाय से ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति नहीं होती। अवश्य ही होने वाली दुःखनिवृत्ति ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति, और जो दुःखनिवृत्ति होकर फिर निवृत्त नहीं होती वह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति कहलाती है। १॥

वैदिक उपाय की अनुपायता।

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

(क) आनुश्रविक या वैदिक उपाय भी दृष्ट उपायके स-

मान है। क्योंकि-वह अविशुद्धि, क्षय और अतिशय दोषों से युक्त है।

(ख) श्रेयान् या दुःखध्वंसरूप मोक्ष या वास्तविक कल्याण उससे (अविशुद्धि आदि दोष वाले से) विपरीत है। अर्थात् अविशुद्धि आदि दोष से रहित है, सुतराम् वह दोष युक्त उपाय का साध्य नहीं, तथा व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विज्ञान से होता है ॥ २ ॥

शास्त्र का संक्षिप्त अर्थ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयःसप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिःपुरुषः ॥३॥

(क) मूलप्रकृति (प्रधान) अविकृति (अकार्य) है।

(ख) महत् आदि ७ पदार्थ (महत्तत्व, अहंकार, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) प्रकृति विकृति या कार्य कारण रूप हैं।

(ग) सोलह (१६) पदार्थ (५ ज्ञानेन्द्रियें, ५ कर्मेन्द्रियें १ मन, ५ महाभूत आकाश आदि) विकाररूप हैं।

(घ) पुरुष न प्रकृति (कारण) है, और न विकृति कार्य है ॥ ३ ॥

प्रमाण और उसके भेद

(क) प्रमा का साधन प्रमाण होता है। अर्थात्-जिस वस्तु की सहायता से पुरुष को यथार्थ ज्ञान होता है, वह वस्तु प्रमाण कहलाती है।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनंच, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥४॥

(क) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण होते हैं सांख्य लोगों का अभिमान है, कि-और सब उपमान आदि प्रमाणों का इन तीन ही प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। यहां प्रत्यक्षका नाम 'दृष्ट' और शब्द प्रमाण का 'आप्तश्रुति' नाम लिया गया है।

(ख) प्रमाण का निरूपण इस लिये किया गया है कि प्रमेय वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रमाण से होता है यहां 'प्रमेय' नाम प्रकृति आदि २५ तत्वों का है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के लक्षण

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥५॥

(क) प्रतिविषय नाम अपने विषय के साथ मिला हुआ इन्द्रिय, उससे उत्पन्न होने वाला (अध्यवसाय) ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला साधन इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

(ख) लिङ्ग (व्याप्य या अल्प देश में रहने वाली वस्तु) और लिङ्गी (व्यापक या अधिक देश में रहने वाली वस्तु) के ज्ञानको अवलम्बन करके अनुमान प्रमाण होता है, अथवा व्याप्ति का ज्ञान अनुमान प्रमाण है। अर्थात्-दो सम्बन्धियों में से एक सम्बन्धी का ज्ञान होना अनुमान प्रमाण है, और उससे दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान होना उसका प्रयोजन है। जैसे पीलवान के ज्ञान से हाथी का ज्ञान। यहां पीलवान का ज्ञान अनुमान प्रमाण है, और हाथीका ज्ञान (अनुमिति) उस का प्रयोजन है। ऐसे ही धूम के ज्ञानसे अग्नि के ज्ञान को भी समझना। यह अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का है।

(ग) आप्तश्रुति (आप्तवाक्य) या प्रामाणिक पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण होता है ॥ ५ ॥

प्रमाणों का विषय भेद

सामान्यतस्तुदृष्टात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्
तस्मादपिचासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥६॥

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण (इन्द्रिय) का विषय घट (घड़ा) पट (वस्त्र) एवम् पृथिवी आदि है।

(ख) अनुमान प्रमाण से अतीन्द्रिय या प्रत्यक्ष के अविषय (पर्वतादि देशस्थ अग्नि आदि) पदार्थों की प्रतीति होती है।

(ग) और उस अनुमान प्रमाण से भी असिद्ध परोक्ष (महत् तत्व आदि या स्वर्ग अदृष्ट आदि) पदार्थों की सिद्धि शब्द प्रमाण से होती है ॥६॥

विद्यमान विषय में भी प्रत्यक्ष प्रमाण की अप्रवृत्ति के कारण।

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ७

अति दूर होने से विद्यमान वस्तु भी प्रतीत नहीं होती जैसे आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अति दूर हो जाने पर रहता हुआ भी नहीं दिखाई देता। (१) अत्यन्त समीप होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे नेत्र का अञ्जन। (२) इन्द्रिय का घात हो जाने से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे अन्धता (आंधेपन) वधिरता (बहरेपन) से दर्शन श्रवण नहीं होता (३) मन के अनवस्थान या अन्य विषय में लग जाने से

प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे काम आदि से जिस का मन किसी विषय में लग जाता है और उसे अच्छे प्रकाश में निकट वस्तु भी नहीं दिखाई देती। (४) अत्यन्त सूक्ष्म होने से भी वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे पृथिवी आदि के परमाणु नेत्र के समीप भी रहते हैं, किन्तु वे सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देते। (५) व्यवधान या किसी वस्तु के बीच में आने से वस्तु प्रतीत नहीं होती। जैसे दीवार आदि के बीच में आजाने से राजा की राणी आदि दिखाई न दे। (६) अभिभव या तिरस्कार से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दिन में सूर्य की किरणों से तिरस्कृत होने के कारण ग्रह नक्षत्र नहीं दिखाई देते। (७) समानाभिहार या समान वस्तु में मिल जाने से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे जलाशय में मेघ से गिरे हुये जल के विन्दु नहीं दिखाई देते। (८) इस श्लोक में जो "च" कार दिया है, इस से अनुद्भव (अप्रकटता) भी यहां समझना। जैसे दूध आदि की अवस्था में दही आदि को नहीं देखता।६।

प्रधान आदि के प्रत्यक्ष न होने का कारण

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्,कार्यतस्तदुपलब्धेः
महदादि तच्चकार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपंच ॥ ८ ॥

सूक्ष्मता के कारण प्रधान आदि वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु उनके अभाव या न होने से नहीं। क्योंकि उनकी उपलब्धि कार्य से होती है, और वह कार्य महत् आदि है, जो प्रकृति के समान रूप और विलक्षण रूपवाला है ॥८॥

सत्कार्यवाद के साधक

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।९।

(क) असत् (जो पहिले से नहीं है) कार्य को कोई कर नहीं सकता, इस से कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी सत् होता है ।

(ख) कार्य और कारण के सम्बन्ध से कार्य होता है, और असत् कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता, अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी विद्यमान है ।

(ग) सब कार्यों का सब स्थानों में सम्भव नहीं, अर्थात् यदि विना हुआ भी कार्य उत्पन्न हो, तो उसे सब स्थानों में होना चाहिये, किन्तु ऐसा संभव नहीं, अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पहिले भी सत् है

(घ) शक्त या शक्तिमान् कारण शक्य को बनाता है, और शक्त कारण का अविद्यमान कार्य शक्य नहीं हो सकता । क्योंकि कार्य को देखकर ही कारण की शक्ति होती है, अतः कार्य अपनी ०—० ।

(ङ) और कार्य कारण भाव से भी कार्य सत् है, अर्थात् कारण का कारणत्व कार्य की कार्यता से ही निरूपित होता है, और असत् कार्य से कारणत्व कल्पित नहीं हो सकता, अतः कार्य ०—० ।

व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य और वैधर्म्य ।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १०॥

व्यक्त (महत् आदि) के धर्म । हेतुमान् (सकारण) । अनित्य । अव्यापक । क्रियावान् । अनेक (नाना) । आश्रि-

श्रि (दूसरे में रहने वाला)। लिङ्ग (दूसरे का अनुमान कराने वाला)। सावयव (अवयवों या भागों वाला) और परतन्त्र (पराधीन)।

अव्यक्त या मूल-प्रकृति उससे विपरीत होती है। अर्थात्-कारणशून्य (उसका कोई कारण नहीं), नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित (किसी आधार में नहीं रहने वाली) अलिङ्ग (किसी वस्तु का अनुमान न कराने वाली), निरवयव (उस में कोई अवयव या भाग नहीं हैं) और स्वतन्त्र या स्वाधीन है।

व्यक्त अव्यक्त दोनों का साधर्म्य(समानधर्मता)
और उन से पुरुष का वैधर्म्य
(विरुद्ध धर्मता)।

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

(क) व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं।

(ख) और पुरुष उन दोनों (व्यक्त और अव्यक्त) से विलक्षण अर्थात्-अत्रिगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है। तथा नित्यत्व, स्वतन्त्रत्व, कारणशून्य-त्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, और निरवयवत्व, – इन विशेषणों से प्रकृति के सदृश और अनेकता से व्यक्त (महत् आदि) के सदृश है॥ ११ ॥

तीन गुण और उन के लक्षण

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः १२।

(क) सत्वगण प्रीतिरूप या सुखरूप और प्रकाश के अर्थ है

(ख) रजोगुण अप्रीति या दुःखरूप और प्रवृत्तिके अर्थ है।

(ग) तमोगुण विषाद या मोहरूप और नियम (प्रतिबन्ध) के लिये होता है ।

(घ) तीनों गुणों में प्रत्येक गुण की अन्य दो गुणों का अभिभव (तिरस्कार) करना, आश्रयण (दूसरे में रहना) करना, परिणामके अभिमुख (संमुख) करना और सहचार (संग रहना) करना वृत्तियें (क्रियायें) हैं ॥ १२ ॥

गुणों के प्रकाश आदि प्रयोजनों के हेतु

सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टम्, उपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥१३॥

(क) सत्वगुण लघु (हलका) होता है, अतएव (अग्नि के ऊद्ध्र्व ज्वलनका वायु के तिर्यक् गमन (तिरछा चलने) का और) इन्द्रियों में अर्थों (वस्तुओं) के प्रकाशन शक्ति का हेतु होता है ।

(ख) रजोगुण चल होता है, (अतएव प्रवर्त्तक होता है)

(ग) तमोगुण गुरु (भारी) होता है । अतएव आवरण (नियमन = अवरोध) करने वाला होता है ।

(घ) "अर्थतः" पुरुषार्थ (जीवों के अदृष्ट) वश परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले भी गुणों की दीपक, तैल, वत्ती और अग्नि के तुल्य समान कार्य में प्रवृत्ति होती है ॥१३॥

सत्व आदि गुणों में अविवेकित्व आदि की सिद्धि
और उसके लिये प्रधान की सिद्धि

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात् ।

कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपिसिद्धम्॥१४॥

(क) सत्व आदि गुण अविवेकित्व, विषयत्व और अचेतनत्व धर्म वाले हैं। क्यों कि ये सब त्रिगुण हैं। जो २ त्रिगुण वस्तु देखी जाती है, वह २ सब अविवेकि आदि ही है, इस के अतिरिक्त यह भी है कि जहां आत्मा या पुरुष में अविवेकित्व आदि धर्म नहीं है, वहां यह तीनों गुण भी नहीं हैं।

(ख) यदि कहा जावे कि अव्यक्त हो, तो उससे उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों में अविवेकित्व आदि सिद्ध हो सकता है, किन्तु अभी अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआ है? इस पर कहा जा सका है, कि कार्य को कारण गुणात्मक होने से अव्यक्त भी सिद्ध होता है। अर्थात् महत् आदि सब कार्य गुण वाले हैं, और कार्य में गुणों की अनुवृत्ति (आगम) कारण से ही होती है। जैसे नील वस्त्र में उस के कारण नील तन्तुओं से ही नील रूप की अनुवृत्ति होती है, अतः महत् आदि कार्यों में गुणों की अनुवृत्ति के अर्थ उनका कोई कारण होना चाहिये। इस रीति से उन का कारण सिद्ध होता है, तथा वही अव्यक्त है॥ १४॥

अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति।

माना भी जावे कि इस रीति से अव्यक्त सिद्ध हो गया, तथापि आपत्ति हो सकती है कि जिस प्रकार न्याय वैशेषिक के आचार्यों ने व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति मानी उसी प्रकार यहां भी मानना चाहिये। अर्थात् गौतम और कणाद मुनि मानते हैं कि परमाणु व्यक्त हैं, उन्ही से द्व्यणुक, उससे त्र्यणुक इत्यादि क्रम से महापृथिवी पर्यन्त सब जगत् उत्पन्न हो जाता है, तथा पृथिवी आदि में उन के कारणों के गुणों की

अनुवृत्ति ही जाती है । अतः व्यक्त से ही व्यक्त और उस का गुण उत्पन्न होता है, अव्यक्त रूप कारण की कल्पना व्यर्थ है ? इस आपत्ति पर यह कारिका—

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्त्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्

(क) भेदों (महत् आदिकों) का कारण अव्यक्त है । क्योंकि-कछुवे के अङ्गों का उसके शरीर के साथ विभाग और अविभाग होता है, ऐसे ही कारण में विद्यमान रहते हुये ही कार्य के कारण से विभाग और अविभाग होते हैं ।

(ख) कारण की शक्तिसे कार्य प्रवृत्त होता है, और कारणमें शक्ति कार्यकी अव्यक्तारूप ही होती है । सत्कार्य पक्ष में कार्य की अव्यक्तता × (अप्रकटता) से भिन्न कारण की कोई शक्ति नहीं । जैसे तिलों से उनमें रहता हुआ ही तैल प्रकट होता है, किन्तु बालू से नहीं ।

(ग) महत्तत्व को ही परम अव्यक्तता क्यों नहीं ? परिमित या अव्यापी होने से वह अव्यक्त कारण वाला है । क्योंकि जो २ वस्तु परिमित होती है वह सब अव्यक्त कारण वाली होती है । जैसे घट (घड़ा) आदि । और—

× अव्यक्तता नाम अज्ञात सत्ता का है । जैसे अँधेरे में कोई वस्तु रहे, और हम उसे न देखें, किन्तु इस से उस का वहां अभाव नहीं होता । इसी प्रकार सब कार्य अपनी उत्पत्तिसे पहिले अपने कारण में अप्रकटरूप से रहते उनका वहां अभाव नहीं होता । इसी अज्ञात सत्ताको अव्यक्तता कहते हैं

(घ) समन्वय या भिन्न वस्तुओं की समान रूपता होने से महत् आदिकों का कारण अव्यक्त है । जैसे घट कुण्डल आदिकों के कारण मृत्तिका-पिण्ड, सुवर्ण-पिण्ड आदि अव्यक्त हैं ॥ १५ ॥

अव्यक्त की प्रवृत्ति का प्रकार ।

अव्यक्त की प्रवृत्ति दो प्रकार से है । एक सृष्टिकाल की और दूसरी प्रलयकाल की । सृष्टिकाल में अव्यक्त (प्रकृति) के तीनों गुण मिलकर प्रवृत्त होते हैं, और वे उस समय आपस में कोई गौण और कोई मुख्य हो जाते हैं । क्योंकि-गौण मुख्य भाव के विना अनेक पदार्थों की मिलकर प्रवृत्ति नहीं हो सकती । तथा अपनी गौणता, मुख्यता के लिये वे न्यून अधिक हो जाते हैं, एवम् न्यूनाधिक भाव के लिये वे परस्पर में कोई उपमर्दक और कोई उपमर्दनीय हो जाते हैं । इसी प्रकार प्रलयकाल में अव्यक्त के तीनों गुण परस्पर से पृथक् होकर स्वतन्त्रता से अपने२ स्वरूप से ही प्रवृत्त होते हैं, इसी से सब कार्य जो अनेकतत्वों के मेल से बने हुये हैं, वे नष्ट हो जाते हैं या अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाते हैं । मानो कि-यह शरीर पांच भूतों से बना है, और पांचों पृथिवी आदि भूत अलग २ हो जावें, तो यह शरीर नष्ट ही हो ।

एक अव्यक्त से विचित्र २ कार्यों की उत्पत्ति ।

एक २ गुण के भिन्न २ मात्राओं के संमेलन से जल के समान नाना परिणाम होते हैं । जैसे मेघ का जल एक मधुर रस वाला ही नारियल और बिल्व आदिकों में नाना रस वाला हो जाता है ॥ १६ ॥

पुरुष या आत्मा की सिद्धि ।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

व्यक्त (शरीर आदि) और अव्यक्त (मूल प्रकृति) से भिन्न पुरुष है। क्योंकि—

(क) जो २ वस्तु संघात रूप है, अर्थात् अनेक वस्तुओं से मिल कर बनी है, जैसे शय्या आसन आदि, वह सब दूसरे के अर्थ देखी जाती है, ऐसे ही ये महत् तत्व और शरीर आदि हैं, इस लिये ये पर के अर्थ हैं। जो पर वस्तु है, वही आत्मा (पुरुष) है।

संघात दूसरे संघात के लिये नहीं।

ऐसा प्रश्न हो सकता है कि-एक संघात रूप वस्तु दूसरे संघात के लिये मान ली जावे, तो अन्य पुरुष वस्तु की कल्पना न करना पड़े ? इस का उत्तर यह है कि-यदि एक संघात दूसरे संघात के लिये माना जावेगा, तो वह भी संघात है, उस की परार्थता के लिये तीसरा संघात मानना होगा, एवम् उस की परार्थता के अर्थ ४था संघात कल्पित करना होगा। सुतराम् संघात को दूसरे संघात की अपेक्षा रहने से उसकी संख्या पूरी न होगी। इसे अनवस्था दोष कहते हैं। इसी के कारण उक्त प्रश्न नहीं उठ सकता, अतः संघात असंघात रूप पुरुष के अर्थ ही मानने से सुगति होती है।

दूसरा हेतु यह है कि जो २ त्रिगुण रथ आदि संघात हैं, वे सब दूसरे से अधिष्ठित या दूसरे के वश में रहते हुये देखे जाते हैं, अतः उन के समान त्रिगुण महत्तत्व और शरीर आदि के लिये भी दूसरे अधिष्ठाता की अपेक्षा होती है एवम् अधिष्ठित के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष सिद्ध होता है।

तीसरा हेतु यह है कि-जो२ त्रिगुण संघात शय्या आसन आदि हैं, वे सब भोग्य वस्तु हैं, अतः उन्हें अपने से विलक्षण (अत्रिगुण) भोक्ता की अपेक्षा रहती है। एवम् उन भोग्य वस्तुओं के भोक्ता रूप से पुरुष की सिद्धि होती है।

४ था हेतु यह है कि महत्तत्व और शरीर आदि, जितने प्रकृति से उत्पन्न हुये संसार में पदार्थ हैं, वे सब सुख, दुःख और मोह रूप हैं, अतः सुख को अनुकूलनीय या सुखी करने के लिये, दुःख को प्रतिकूलनीय या दुःखित करने के लिये, तथा मोह को मोहित करने के लिये दूसरे २ की अपेक्षा होती है। क्योंकि–सुख आदि सुख आदि को ही सुखित दुःखित तथा मोहित नहीं कर सकता। सुतराम् उन से विलक्षण सुखी आदि होने वाला दूसरा पदार्थ (पुरुष) सिद्ध होता है।

५वां हेतु सब से अधिक या बलवान् यह है कि शास्त्र कैवल्य या मोक्ष की प्रतिपादन करते हैं, और महापुरुष उस के लिये यत्न करते आये हैं। यदि संघात ही संघात है, तो फिर उस से अलग होने की इच्छा किस को हो और उससे वह अलग हो भी कैसे सकता है। सुतराम्-आत्मा संघात से अलग पदार्थ है ॥ १७ ॥

पुरुष (आत्मा) बहुत हैं।

पुरुष है,–यह प्रतिपादन किया गया, अब यह प्रश्न है कि–क्या वह पुरुष सब शरीरों में एक है, या प्रति शरीर अलग २ ? इस के उत्तर में प्रति शरीर पुरुष अलग २ है, यह प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद् युगपत्प्रवृत्तेश्च
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

पुरुष (आत्मा) बहुत हैं। क्योंकि–

(क) जन्म, मरण, और इन्द्रियें प्रति पुरुष अलग २ हैं।

(ख) सब पुरुष एक साथ एक कर्म में नहीं लगते।

(ग) और भिन्न २ पुरुषों में सत्व आदि तीनों गुण

भिन्न २ प्रकार से हैं। जैसे कोई अधिक सात्विक है, कोई अधिक रजोगुणी है और कोई अधिक तमोगुणी है।

पुरुष के धर्म।

पुरुष का बहुत्व सिद्ध करके अब विवेकज्ज्ञान के लिये, उसके धर्मों को कहता है—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यमाध्यस्थ्यं द्रष्टृत्व मकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

पुरुष का बहुत्व तो सिद्ध हो ही चुका है, किन्तु उस विपर्यास या विपरीत भाव, जो गत ११ वीं कारिका में दिखाया गया है, उससे इसके साक्षित्व (साक्षीपना) कैवल्य (दुःखत्रय से रहित होना) माध्यस्थ्य (उदासीनता) द्रष्टृत्व (दर्शन) और अकर्तृत्व (अकर्तापन) ये पांच धर्म भी सिद्ध होते हैं। उक्त ११ वीं कारिका में कहा गया है कि- व्यक्त- औरप्रधान,—'त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी हैं, और पुरुष इन दोनों से विरुद्ध धर्म वाला है'। इस से कहागया होता है, कि- पुरुष, अत्रिगुण (तीनों गुणों से रहित) विवेकी, अविषय असामान्य, चेतन, और अप्रसव- धर्मी हैं। यही वहां का विपर्यास है। अब ध्यान देंगे, तो, प्रतीत होगा कि-सच मुच ही उस विपर्यास से पुरुष में साक्षित्व आदि ५ धर्म सिद्ध होते हैं। अर्थात्—चेतन और अविषय होने से वह साक्षी और द्रष्टा होता है। क्योंकि- चेतन ही साक्षी हो सकता है, किन्तु अचेतन वस्तु नहीं। अर्थात् साक्षी वह होता है, जिसे कोई विषय दिखाया जावे। लोक में जिस प्रकार वादी प्रतिवादी दोनों अपने विवाद की बातको साक्षी के लिये दिखाते हैं, ऐसे ही प्रकृति भी अपने आचरण किये हुवे विषय को पुरुष के प्रति दिखाती है, अतः पुरुष उस का

साक्षी है। क्योंकि अचेतन विषय को विषय नहीं दिखाया जासकता। इस कारण चेतन और अविषय होने से पुरुष साक्षी और द्रष्टा होता है। एवम् त्रिगुण रहित होने से ही वह दुःखत्रय से रहित है। अर्थात् सत्व आदि गुण ही सुख दुःख आदि रूप हैं, और वे उसमें हैं नहीं अतएव वह दुःखमात्र से रहित है तथा दुःखत्रय का अभाव ही कैवल्य या मोक्ष का स्वरूप है, अतः अत्रिगुण होने से उस का कैवल्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार अत्रिगुण होने से ही यह मध्यस्थ या उदासीन है। क्योंकि सुखी सुख से तृप्त होता हुवा और दुःखी दुःख से द्वेष करताहुआ मित्रशत्रु की कक्षामें आजाता है, किन्तु मध्यस्थ नहीं होता। सुतराम् आत्मा सत्व आदि गुणों से रहित होने के कारण सुख दुःख से भी रहित है, और अतएव वह मध्यस्थ या उदासीन है। ऐसे ही विवेकी और अप्रसवधर्मी होने से वह अकर्त्ता है। प्रयोजन यह है कि- क्रिया जिस में होती है, वह कारक होता है, और क्रिया सब परिच्छिन्न (परिमित) वस्तु में होती है। परिमित वस्तु महत्तत्व से आरम्भ करके प्रकृति के सकल कार्य हैं। आत्मवस्तु व्यापक (विभु) है, उसमें क्रिया का संभव नहीं, अतः वह अकर्त्ता है अकर्त्ता पद से कर्त्ताके साथ करण, सम्प्रदान आदि अन्य कारकों का भी निषेध समझना चाहिये। कारण वे कारक भी क्रिया के सम्बन्धसे ही होते हैं। यहां 'प्रसव' नाम कार्य मात्र का है। कार्य पद में प्रकृति और पुरुष दोनों से अतिरिक्त सकल जड़समूह आता है, उन्हीं में चलन आदि क्रियायें भी हैं जबकि-आत्मा अप्रकृति है, तो उससे कोई कार्य होना संभव नहीं, अतः वह अप्रसवधर्मी होने से अकर्त्ता है, इसी प्रकार 'विवेकी' विशेषण भी उसे अकर्त्ताही सिद्ध करता है। क्योंकि हमारी समझ में 'विवेकी' नाम यहां विविक्त या अलग रहने

वाले का है। वह क्रिया तथा विकार (प्रसव) वालों से अलग है, इससे वह अकर्त्ता है ॥ १६ ॥

लिङ्ग चेतन के समान और पुरुष कर्त्ता के समान।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥

यद्यपि पहिली कारिका में यह युक्तियों से सिद्ध होचुका है कि-आत्मा अकर्त्ता है, किन्तु यह अनुभव के विरुद्ध है। अर्थात् सर्व साधारण को ऐसा अनुभव होता है कि-'मैं चेतन करने की इच्छा से क्रिया (कर्म) करता हूं' इस अनुभव में चेतन और कर्त्ता एक ही प्रतीत होता है। इस से सांख्य के उक्त मत में यह अनुभव नहीं घटता। क्योंकि-उसमें चेतन अकर्त्ता और कर्त्ता अचेतन है। इसी प्रश्न का उत्तर यहां यह दिया गया है,कि-उक्त अनुभव, जिसमें आत्मा अकर्त्ता प्रतीत होताहै भ्रान्ति रूप है। क्योंकि-आत्मा या पुरुष का अकर्तृत्व (अकर्त्तापन) युक्ति से सिद्ध होचुका। आत्मा में जो कर्तृत्व की प्रतीति होती है, वह लिङ्ग शरीर, जो महत् तत्व आदि १८ तत्वों के संयोग से बताया जायगा, उसके सम्बन्ध से प्रतीत होता है। अर्थात्–जैसे लाल पुष्प की लाली उसके संयोग से काच में प्रतीत होती है, किन्तु वह लाली पुष्प ही की है, काच की नहीं, ऐसे ही, लिङ्ग शरीरका कर्तृत्व पुरुष में प्रतीत होता है, वह लिङ्ग शरीर का ही है, वास्तव में पुरुष का नहीं अतः पुरुष कर्त्ता नहीं, कर्त्ता जैसा है। तथा कर्तृत्व का अनुभव भ्रान्तिरूप है। सर्वथा पुरुष उदासीन है।

जिस प्रकार लिङ्ग के संयोग से अकर्त्ता पुरुष कर्त्ता जैसा प्रतीत होता है, वैसे ही पुरुष के संयोगसे अचेतन लिङ्ग चेतन जैसा प्रतीत होता है, उस में भी चेतनत्व बुद्धि उसी प्रकार भ्रान्ति है ॥ २० ॥

पुरुष और लिङ्ग के संयोग का कारण ।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतःसर्गः ॥२१॥

पहिली कारिका के व्याख्यान में यह बात समझी गई कि- पुरुष और प्रधान या लिङ्ग के संयोग से उनमें परस्पर के कर्त्तृत्व और चेतनत्व धर्म भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं। किन्तु अभी यह बात समझ में नहीं आई, कि- इनका संयोग ही पहिले कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तरके लिये ही यह कारिका आई है। इस में कहा गया है कि- भोक्ता और भोग्य की योग्यता से ही इन दोनों का किसी अनादि काल में संयोग होगया था, और उनके संयोग से ही यह महत् आदि तत्वों या संसार की सृष्टि हुई। अर्थात्--जैसे-किसी भूखे आदमी को कोई फल मोदक आदि भक्ष्य वस्तु मिले और वह उसे खाने लगे। इस बात को ध्यान में देने से प्रतीत होगा कि-आदमी में भोजन करने की योग्यता है और फल आदि में भोग्यता की, इसी से उन के संयोग होते ही भोजन रूप क्रिया की सृष्टि होने लगती है यदि उनका संयोग न हो अथवा भोक्ता का भोक्ता के साथ तथा भोग्य का भोग्यके साथ संयोग हो भी जावे तो उनकी योग्यता वहां सृष्टि को प्रवृत्त नहीं कर सकती, बल कि- वह व्यर्थ ही रहेगी। ऐसे ही पुरुष की भोक्तृत्व याग्यता और प्रधान की भोग्यत्व योग्यता से उनका कभी संयोग हुआ,और उसी से सृष्टिका आरम्भ हुआ ऐसे ही कारिका में पंगु और अन्ध का दृष्टान्त भी है। इस की व्याख्या यों है कि- जैसे कोई पंगु और अन्ध दो मनुष्य हैं, और वे दोनों ही अपनें संघ के साथ वनमें जाते हुये डाकुओंके उपद्रव से अपनें साथियों से अलग होगये, तथा वनमें कहीं २

टकराते हुये आपस में दैव योग से मिले और उनका परस्पर में विश्वास हुआ । अन्धे में चलने की शक्ति है, और पंगु में देखने की, इसीसे अब वे दोनों मिलकर गमन और दर्शन क्रियाओं को कर सकते हैं, अतः पंगु अन्धे के कन्धे पर चढ़ा, तो अन्धा चला और पंगुने उसे राह बताई, सुतराम् वे अपने घर पर पहुंचे और दोनों ने अपना सम्बन्ध छोड़ा अर्थात् संयोग का त्याग किया । ऐसे ही चेतन पुरुष प्रकृति के साथ मिलकर उसके संयोग से ज्ञान गुण को प्राप्त होकर उसे छोड़ देता है, और वह भी अपना कार्य पूरा करके उसे छोड़ देती है । यही मोक्ष का स्थान है, तथा संयोग और उस से सृष्टि क्रम है ॥ २१ ॥

सृष्टि का क्रम ।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥

प्रकृति से महत् तत्व, उससे अहंकार, उस से १६ तत्व (५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें १ मन ५ तन्मात्र) और उनमें से भी ५ तन्मात्रों से ५ महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं ॥ अर्थात् शब्द तन्मात्रसे शब्द गुण वाला आकाश, (१) शब्द तन्मात्र से सहित स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्शगुणवाला वायु, (२) शब्द और स्पर्श तन्मात्र से सहित रूप तन्मात्र से शब्द स्पर्श और रूप गुण वाला अग्नि (३) शब्द, स्पर्श, रूप तन्मात्र से संयुक्त रस तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, और रस गुण वाला जल (४) और शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस तन्मात्र से युक्त गन्ध तन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, गन्धगुण वाली पृथिवी (५) उत्पन्न होती है ॥

प्रकृति, प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधानक, और माया, ये शब्द पर्य्याय (समान अर्थ के वाचक) हैं। महान्, बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति और ज्ञान ये सब पर्याय हैं। ऐसे ही अहंकार, भूतादि, वैकृत, तैजस और अभिमान, ये पर्याय हैं ॥ २२ ॥

बुद्धि का लक्षण और उस का धर्म ।

अध्यवसायोबुद्धिर्धर्मोज्ञानं विरागऐश्वर्य्यम् ।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

बुद्धि का लक्षण अध्यवसाय है। अर्थात् पुरुष मात्र ही जब किसी कर्म में प्रवृत्त होता है, उस समय अन्तःकरण में तीन वृत्तियें या क्रियाएं होती हैं, जैसे पहिले आलोचन (वस्तु का ज्ञान) फिर 'मैं इस में अधिकारी हूं' ऐसा अभिमान, फिर 'मुझे यह करना चाहिये' ऐसा अध्यवसाय या निश्चय ज्ञान होता है। इन में यह तीसरी वृत्ति या ज्ञान जिस में होता है, वही बुद्धि है। बुद्धि में (१) धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्य ये चार सात्विक धर्म रहते हैं, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य्य ये चार तामस धर्म रहते हैं।

वैराग्य की चार अवस्थाएं होती हैं, जिन के नाम— (१) यतमानसंज्ञा (२) व्यतिरेकसंज्ञा (३) एकेन्द्रियसंज्ञा और (४) वशीकारसंज्ञा हैं ॥ २३ ॥

अहंकार का लक्षण और उसका कार्य भेद ।

अभिमानोऽहंकारः तस्माद्द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः ।
एकादशकश्चगणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अभिमान (मैं हूं यह ज्ञान) अहंकार है। उस से दो प्रकार की सृष्टि होती है, (१) ग्यारह इन्द्रियें और (२)

पांच तन्मात्र (कुल १६) ॥ २४ ॥

एक अहंकार से जड़ और प्रकाश की उत्पत्ति

सात्विकएकादशकः प्रवर्त्ततेवैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, तैजसादुभयम् ॥२५॥

अहंकार में तीन गुण होते हैं-सत्व, रज, और तम। जब इन में सत्व गुण से रज और तम दब जाते हैं, उस समय अहंकार की वैकृत संज्ञा (नाम) होती है। उस वैकृत अहंकार से सत्वगुण की सहायता से ग्यारह इन्द्रियें उत्पन्न होती हैं। इसी से ये इन्द्रियें सात्विक कही जाती हैं। जिस समय तमोगुण से सत्व और रज तिरस्कृत हो जाते हैं, उस समय जो अहंकार है, उस की भूतादि संज्ञा और तमो-गुण के आधिक्य से 'तामस' संज्ञा भी हो जाती है, उस भूतादि या तामस नाम अहंकार से उस के समान स्वभाव वाले शब्द आदि ५ तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। एवम्—जब रजो गुण से सत्व और तम दब जाते हैं, या जित हो जाते है, उस समय उस की तैजस संज्ञा हो जाती है। उस तैजस अहंकार से दोनों (इन्द्रियें और तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं। क्योंकि—वैकृत अहंकार विकृत हो कर जब ११ इन्द्रियों को उत्पन्न करना चाहता है, तो वह निष्क्रिय होने के कारण अपने कार्य को कर नहीं सकता, अतः वह तैजस अहंकार जो क्रिया स्वभाव है, उस की सहायता लेता है, तथा तामस अहंकार भी निष्क्रिय होने से तन्मात्र रूप अपने कार्य को नहीं कर सकता अतः उसे भी तैजस अहंकार की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार वैकृत और भूतादि दोनों अहं-कारों के साथ उनके कार्य में सहायक होने के कारण यह दोनों प्रकार के कार्यों का कारण बनता है ॥ २५ ॥

ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥२६॥

(क) ज्ञानेन्द्रियें-चक्षु (नेत्र) श्रोत्र (कान) घ्राण (नाक) रसन (जिह्वा) त्वक् (त्वचा या चर्म)।

(ख) कर्मेन्द्रियें-वाक् (वाणी) हस्त, पाद, पायु (गुद) उपस्थ (लिङ्ग या योनि)॥

इन्द्र नाम आत्मा (पुरुष) का है, उसके जनाने वाले होने से या उसके सम्बन्ध से ये (इन्द्रिय) कहलाते हैं। इन इन्द्रियों के पृथक् २ लक्षण इनके कार्य से ही हैं। जैसे-रूपका ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय चक्षु है। शब्द को ग्रहण कराने वाला श्रोत्र, गन्धका ग्रहण कराने वाला घ्राण, रस का ग्रहण कराने वाला रसन, और स्पर्शका ग्रहण कराने वाला त्वक् इन्द्रिय है। कर्मेन्द्रियों के लक्षण उनके कार्यों से जानने चाहिये, जो २८ वीं कारिका में कहे जावेंगे॥ २६॥

ग्यारहवां इन्द्रिय (मन)।

उभयात्मकमत्रमनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च॥ २७॥

(क) इन इन्द्रियोंमें मन उभयात्मक अर्थात्-ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप है। क्योंकि-वह दोनों प्रकार की इन्द्रियों की प्रवृत्तिको कल्पित करता है।

(ख) संकल्प मनका असाधारण धर्म या लक्षण है। संकल्प, नाम समीचीन कल्पना या विशेष कल्पना का है। अर्थात्-पहिले अन्य इन्द्रियोंसे सामान्यरूप से ज्ञान होना है, जैसे 'यह कुछ वस्तु है' फिर उसी में विशेषण की कल्पना होती है, कि-यह

इसमें जाति है,यह गुण तथा यह क्रिया इत्यादि। यही विशेष कल्पना और संकल्प है। यही क्रिया जिस में होती है, वह मन है।

(ग) मन की गणना इन्द्रियों में इस लिये है, कि-वह भी अन्य इन्द्रियों के समान सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुआ है।

एक अहंकार से नाना इन्द्रियों की उत्पत्ति।

(घ) गुणों के परिणाम के भेद से एक ही अहंकार से नाना इन्द्रियें हो जाती हैं। जैसे कि- और भी बाह्य वस्तु-रूप रस आदि हो जाती हैं ॥ २७ ॥

दश इन्द्रियों की असाधारणवृत्तियें।

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों की शब्द आदि पांच विषयोंमें आलोचन मात्र (संमुग्धज्ञान = सामान्यज्ञान) वृत्ति मानी जाती है। जैसा कि- मनके लक्षण में समझायागया है। और ५ कर्मेन्द्रियों की क्रम से वचन, आदान, (लेना) वि-हरण, (चलना) उत्सर्ग, (छोड़ना बहाना = निकालना) और आनन्द, ये पांच वृत्तियें हैं ॥ २८ ॥

तीनों अन्तः करणों की वृत्तियें।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्च ॥ २९॥

तीनों अन्तः करणों की वृत्तियें या क्रियाएं अपने २ लक्षण के रूप से हैं। जैसे—बुद्धि की वृत्तिअध्यवसाय,अहंकार की अभिमान और मनकी संकल्प रूप वृत्ति है। ये इनकी

असाधारण या न्यारी २ वृत्तियें हैं, और ५ प्राण आदि वायु इनकी साधारण (सामान्य या साझे की) वृत्तियें हैं ॥ २९ ॥

तीनों अन्तः करणों की असधारण वृत्तियोंमें
प्रकार सहित क्रम और अक्रम ।

युगपच्चतुष्टयस्यतु वृत्तिः क्रमशश्च तस्यानिर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥३०॥

उस अन्तःकरणचतुष्टय (इन्द्रिय सहित मन, केवल मन, अहंकार और बुद्धि) की वृत्तियें दृष्ट (प्रत्यक्ष) विषय में एक साथ और क्रम से ही होती हैं। ऐसे ही अदृष्ट (परोक्ष) विषय में भी बाह्य इन्द्रिय के विना तीनों अन्तःकरणों (मन अहंकार और बुद्धि) की वृत्तियें दर्शन पूर्वक एक साथ तथा क्रम पूर्वक होतीहैं। यह वाचस्पति मिश्रका मत है। गौडपाद मानते हैं, कि-वर्त्तमान विषय में क्रम से और एक साथ भी चारों की प्रवृत्तियें होती हैं, किन्तु परोक्ष या भूत तथा भविष्यत् विषय में क्रम से ही वृत्तियें होती हैं।

यह बात कही गई है कि—बाह्य इन्द्रिय चक्षु आदि से सामान्य ज्ञान होता है, कि—'यह कुछ है, मनसे विशेष ज्ञान होता है' जैसे 'यह घड़ा है' या 'वस्त्र है' इत्यादि, अहंकार से अभिमान होता है, जो एक अपनी योग्यता का ज्ञानस्वरूप है, जैसे कि 'मैं इस वस्तु से ऐसा सम्बन्ध कर सकता हूं' या मैं इस में ऐसी योग्यता रखता हूं, अर्थात्—'मैं इसे उठा सकता हूं, छू सकता हूं, ले सकताहूं इत्यादि और बुद्धि से अध्यवसाय ज्ञान होता है, जिसका स्वरूप यह है, कि-'मैं यह करूं, या 'ऐसा करूं' सुतराम् ज्ञान की चार अवस्थाएं हुईं, किन्तु इनके क्रमके सम्बन्ध में अभी तक कुछ निर्णय नहीं किया गया, उसी के लिये यह कारिका है। इससे यह स्थिर किया

गया है कि-संयोगवश प्रत्यक्ष विषय में कभी चारों ज्ञान एक साथ होजाते हैं और कभी क्रमसे ही। जैसे-गाढ़ी अँधियारी रात्रि में कोई मनुष्य वन में जाता है, और उसे बिजली के प्रकाश के साथ सामने से कोई व्याघ्र अचानक दिखाई दे, वहां उसे सामान्य, विशेष, अभिमान और अध्यवसाय चारों ज्ञान एक ही साथ हो जाते हैं और वह एक साथ ही पीछे हटता है। ऐसे ही क्रमका उदाहरण मन्द अन्धकारमें लीजिये। पहिले मनुष्य को उसमें 'कुछ है'-ऐसा सामान्य ज्ञान होता है जो नेत्ररूप बाह्यइन्द्रिय का व्यापार है। और फिर टकटकी लगाकर देखने से 'धनुषबाण साधे हुये कोई चोर है, मुझे मारना ही चाहता है,-ऐसा प्रतीत होता है, यह विशेष ज्ञान मनका व्यापार है। फिर उसे अभिमान होता है कि-मैं यहां से हट सकता हूं, यह अहंकारका व्यापार है। और फिर इसी प्रकार वह अध्यवसाय करता है कि-मैं यहांसे हटूं, यह बुद्धि का व्यापार है॥ यह प्रत्यक्ष विषय में चारों इन्द्रियोंकी वृत्ति का क्रम और अक्रम हुआ। और जहां बाह्यइन्द्रिय नेत्र आदि का वस्तु से उचित सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् जानने योग्य वस्तु भूतकाल में है, या भविष्यत् कालमें है, या अतिदूर आदि होने के कारण वह दुर्ज्ञेय है, वहां तीन अन्तःकरणों (भीतरी-इन्द्रिय मन आदिकों) का ही व्यापार होता है किन्तु नेत्र आदि का नहीं। विशेष यह है कि-जिस विषय पर मन आदि को जाना है वह पहिले बाह्य इन्द्रियसे कभी अनुभव कर लिया गया हो, तभी उस विषय का उन से ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। जैसे किसी ने पहिले राजा का दर्शन किया है, उसी को कालान्तर में उसका मनसे स्मरण होता है। जिसने राजा को देखा नहीं उसे उसका स्मरण भी होता नहीं। यह

आभ्यन्तर इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्यविषय में स्मरणरूप और आभ्यन्तर सुख दुःख आदि विषय में प्रत्यक्ष रूप होता है ॥ ३० ॥

इन्द्रियों तथा तीनों अन्तःकरणों की परिचालना ।

यद्यपि इन्द्रियों की प्रवृत्ति का क्रम समझा गया, तथापि यह नहीं जाना गया कि-इनका प्रेरक कौन है या किस से ये परिचालित होती हैं? इसी के उत्तर में यह कारिका है—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकांवृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एवहेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१॥

जिस प्रकार अनेक चोर आपस में संकेत करके चोरी के स्थान में परस्पर के संकेत वश अपनी२ क्रियाओं को यथाक्रम करते हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियें भी अपनी२ वृत्तियों (क्रियाओं) में प्रवृत्त होती हैं, इनकी प्रवृत्तियों में पुरुषार्थ (पुरुष का अदृष्ट) ही कारण है । सुतराम् इन्द्रियें किसी चेतन अधिष्ठाता से परिचालित नहीं होतीं ॥ ३१ ॥

करण के भेद ।

करणंत्रयोदशविधम्, तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्य्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२

करण १३ प्रकार का होता है (११ इन्द्रियें १ बुद्धि १ अहंकार)। उनमें—

१-कर्मेन्द्रियों (वाणी आदिकों) का आहरण (लाना) कर्म है ।

२-अन्तःकरणों (बुद्धि अहंकार और मन) का प्राण आदिका अपनी वृत्तियों से धारण करना कर्म है ।

३-ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश करना कर्म है ।

(क) कर्मेन्द्रियों का आहार्य (आहरण करने योग्य) विषय १० प्रकार का है (१) दिव्य वचन (बोलना) (२) अदिव्य वचन (३) दिव्य आदान (लेना) (४) अदिव्य आदान (५) दिव्य विहार (चलना) (६) अदिव्य विहार (७) दिव्य उत्सर्ग (छोड़ना) (८) अदिव्य उत्सर्ग (९) दिव्य आनन्द (१०) अदिव्य आनन्द ।

(ख) तीनों अन्तः करणों का धार्य्य (धारण करने योग्य) विषय १० प्रकार का होता है—

(१) दिव्य प्राण (२) अदिव्य प्राण (३) दिव्य अपान (४) अदिव्य अपान (५) दिव्य समान (६) अदिव्य समान (७) दिव्य उदान (८) अदिव्य उदान (९) दिव्य व्यान (१०) अदिव्य व्यान ।

(ग) ज्ञानेन्द्रियों का प्रकाश्य (प्रकाश करने योग्य) विषय १० प्रकार का होता है-

(१) दिव्य शब्द (२) अदिव्य शब्द (३) दिव्य स्पर्श (४) अदिव्य स्पर्श (५) दिव्यरूप (६) अदिव्य रूप (७) दिव्य रस (८) अदिव्य रस (९) दिव्य गन्ध (१०) अदिव्य गन्ध ॥ ३२ ॥

तेरह (१३) प्रकार केकरण ।

अन्तःकरणंत्रिविधंदशधाबाह्यंत्रयस्यविषयाख्यम् । साम्प्रतकालंबाह्यंत्रिकालमाभ्यन्तरंकरणम् ॥३३॥

अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है बुद्धि, अहंकार, और मन । बाह्य इन्द्रिय दश प्रकार का होता है-५ ज्ञानेन्द्रियें और ५ कर्मेन्द्रियें ।

ये दशों बाह्य इन्द्रियें अन्तःकरण के ही विषय को प्रकट

करते हैं । अर्थात् जब ये तीनों अन्तःकरण विषय का संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय करना चाहते हैं, तब ये १० इन्द्रियें द्वार रूप हो जाती हैं—ज्ञानेन्द्रियें आलोचन (सामान्यज्ञान) से और कर्मेन्द्रियें अपने यथायोग्य व्यापार से द्वार भूत होती हैं ।

विशेषान्तर—

बाह्य इन्द्रियों का सामर्थ्य केवल वर्त्तमान विषय में रहता है, और बुद्धि आदि आभ्यन्तर करणों का सामर्थ्य भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों में होता है ॥३३॥

बाह्य इन्द्रियों के विषय ।

बुद्धीन्द्रियाणितेषां पञ्चविशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवतिशब्दविषया शेषाणितुपञ्चविषयाणि ।३४।

उन १० बाह्य इन्द्रियों में ५ ज्ञानेन्द्रियों के विशेष (स्थूल शब्द आदि और पृथिवी आदि जो शान्त, घोर तथा मूढ स्वभाव हैं) और अविशेष (तन्मात्र-सूक्ष्म शब्द आदि) विषय हैं । इस में भी यह विशेष है, कि योगियों का श्रोत्र (कान) सूक्ष्म शब्द और स्थूल (मोटा) शब्द दोनों को सुन सकता है, किन्तु हम लोगों का कान केवल मोटे शब्द को ही सुन सकता है । उन की त्वक् (चर्म) मोटे और सूक्ष्म दोनों प्रकार के स्पर्श को ग्रहण कर सकती है और हमारी त्वक (चर्म) मोटे ही स्पर्श को छू सकती है । एवम् उन के और हमारे नेत्र आदि में भी भेद है । अर्थात् उन के नेत्र आदि स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूप आदि को ग्रहण कर सकते हैं और हमारे केवल स्थूल ही विषय को ले सकते हैं ।

ऐसे ही कर्मेन्द्रियों में वाक् (वाणी) हमारी या योगियों की हो, स्थूल शब्द को ही उच्चारण कर सकती है, किन्तु

सूक्ष्म शब्द को नहीं। क्योंकि वाक् इन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द दोनों अहंकार रूप एक ही कारण से उत्पन्न हुये हैं। अर्थात् एक साथ उत्पन्न होने वाला बराबर वाले को अनुभव नहीं कर सकता। और शेष चार (गुदा, लिङ्ग या योनि, हाथ, और पैर) इन्द्रियों के रूप आदि ५ विषय हैं क्यों कि हस्त आदि चार इन्द्रियें जिन घट आदि वस्तुओं से सम्बन्ध करते हैं, वे सब शब्द आदि तन्मात्ररूप ही हैं, या उन्हीं से प्रकट हुये हैं।

गौडपाद आचार्य यहां कहते हैं कि मनुष्यों की ज्ञानेन्द्रियें सुख, दुःख और मोह रूप विषयों से युक्त शब्द आदिकों को प्रकाशित करती हैं और देवताओं की ज्ञानेन्द्रियें शब्द आदि को प्रत्यक्ष करती हैं, किन्तु उन्हें उन में सुख दुःख आदि की प्रतीति नहीं होती। कर्मेन्द्रियों में वाणी दोनों की बराबर है। (हमारी समझ में देवताओं की वाणी जैसे शुद्ध शब्द को उच्चारण कर सकती है, वैसे मनुष्यों की नहीं) और शेष इन्द्रियें (हाथ आदि) ५ विषयों को ग्रहण करती हैं। अर्थात् हाथ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पांचों विषय हैं, इसी से वह उक्त पांचों गुण वाली पृथ्वी में चलता है। ऐसे गुद आदि में भी योजना करना॥ हमारी समझ में दोनों व्याख्यानों का समुच्चय (मेल) हो सकता है। अर्थात् हमारी देवताओं तथा योगियों की इन्द्रियों की शक्ति में दोनों ही प्रकार से भेद का संभव है, अतः दोनों ही व्याख्यान स्वीकार करने योग्य हैं॥ ३४॥

करणों की परस्पर गौणता और प्रधानता

सान्तःकरणाबुद्धिःसर्वं विषयमवगाहतेयस्मात्।
तस्मात्त्रिविधंकरणंद्वारि, द्वाराणिशेषाणि ॥३५॥

अन्य दो अन्तः करणों (मन, अहंकार) सहित बुद्धि अर्थात् तीनों अन्तःकरण जिससे कि-भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में शब्द आदि सब विषयों को अवगाहन (ग्रहण) करते हैं, इससे उक्त तीनों अन्तःकरण द्वारि (प्रधान) और शेष बाह्य इन्द्रियें द्वार (अप्रधान या गौण) हैं ॥ ३५ ॥

मन और अहंकार दोनों की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥३६॥

ये सब बुद्धि के अतिरिक्त जितने करण हैं, अर्थात्-५ ज्ञानेन्द्रियें ५ कर्मेन्द्रियें, अहंकार और मन (कुल १२) सब दीपक के समान हैं । अपनें २ विषय को प्रकाश करनें वाले हैं । आपस में सब विलक्षण हैं, भिन्न २ विषय वाले हैं । और गुण विशेष हैं, सत्व आदि गुणों से उत्पन्न हुये २ हैं । पुरुष को जो २ कुछ विषय अपनें में भान होता हुआ प्रतीत होता है, उस सब को ये करण (इन्द्रियें) अपनें २ विषय के अनुसार प्रकाशित करके बुद्धि में स्थापित करते हैं । प्रयोजन यह है कि-जो विषय बाहरी इन्द्रियों में भासता है, वही भीतरी इन्द्रिय मन में विशेष रूप से पड़ता है, फिर वहीं अहंकार में पहुंचता है, जिसका कि- उसे अभिमान होता है, और वही विषय उस के द्वारा बुद्धि में चमकता है, जिसका कि-उसे अध्यवसाय (निश्चय) होता है । बस इससे आगे वह विषय कहीं नहीं जाता, अतः इनमें सर्व प्रधान बुद्धि ही है । इनके मत में इन्द्रिय आदि संघात का अध्यक्ष बुद्धि तत्व ही है । नैयायिकों के समान आत्मा अध्यक्ष नहीं है । अर्थात् उनके मतमें सब पदार्थों का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से आत्मा में ही उत्पन्न होता है, इन्द्रियें उसी के साधन हैं अतः वही अध्यक्ष

(प्रधान) है । इनके मत में सब ज्ञान बुद्धि में ही रहता है, आत्मा या पुरुष में उसकी छायामात्र पड़ती है और साक्षात् सम्बन्ध का ज्ञान भ्रान्ति रूप है । अतः बुद्धि ही प्रधान है ३६

फिर बुद्धि की प्रधानता ।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ३७

जिस कारण से कि-परुष के सब विषय के उपभोग को बुद्धि साधन करती है, और वही फिर प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) अन्तर को प्रकाशित करती है, अतः वही (बुद्धि) प्रधान है । जिस प्रकार कि-सर्वाध्यक्ष या प्रधान मन्त्री राजा के सब कार्यों का साक्षात् सम्पादन करने से प्रधान है, और ग्रामाध्यक्ष आदि उसके प्रति गौण रहते हैं । अर्थात्-बुद्धि परुष के साक्षात् सम्बन्ध से या ठीक उसी के साथ संयुक्त होने से पुरुष की छाया (छवि) को धारण कर लेती है, जो २ कुछ सुख, दुःख आदि बुद्धि में होता है वही पुरुष में दिखाई देता है, और सब पुरुष से दूर रहते हैं, जैसे अहंकार और पुरुष के बीच में बुद्धि पड़ जाती है, तथा और इन्द्रियों के बीच में अहंकार और बुद्धि पड़ती है । इसी से उनपर पुरुष की और पुरुष पर उनकी छाया नहीं पड़ती । सुतराम् उक्त प्रकार बुद्धि ही परुष के सब उपभोगों का साक्षात् साधन है, और वही प्रधान ॥ ३७ ॥

विशेष अविशेषों का विभाग ।

तन्मात्राण्यविशेषाः, तेभ्यो भूतानि पञ्चपञ्चभ्यः
एतेस्मृता विशेषाः, शान्ता घोराश्चमूढाश्च ॥३८॥

शब्द आदि ५ तन्मात्र अविशेष कहलाते हैं, और उन

शब्द आदि पांच तन्मात्रों से आकाश आदि ५ महाभूत होते हैं। ये ५ महाभूत विशेष कहलाते हैं। क्योंकि-ये कोई शान्त कोई घोर, और कोई मूढ होते हैं। अर्थात्—सूक्ष्म शब्द आदि तन्मात्र उपभोग योग्य नहीं होते हैं, इसी से उनके शान्तत्व आदि धर्मों का अस्मदादिकों को अनुभव नहीं होता, अतएव ये 'अविशेष' पद के वाच्य होते हैं। और आकाश आदि ५ भूत स्थूल होने से उनके शान्तत्व आदि धर्मों को हम अनुभव करते हैं, इसी से वे विशेष कहे जाते हैं ॥ ३ ॥

विशेषों के अवान्तर विशेष।

सूक्ष्मा मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाःस्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजानिवर्त्तन्ते ॥३९॥

प्रकृति से उत्पन्न होने वाले २४ तत्वों में से अनेक २ तत्वों के मेल से तीन विशेष वस्तुएं होती हैं, जिन से पुरुष का उपभोग सिद्ध होता है। जैसे १ सूक्ष्म शरीर जो १८ तत्वों से संग्रह किया हुआ होता है, २ रा माता पिता से उत्पन्न होने वाला स्थूल शरीर और ३ रा विशेष महाभूत हैं। इन्हीं तीन विभागों में बटे हुये सब प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म शरीर की स्थिति तत्वज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है, और माता पिता से होने वाले नष्ट हो जाते हैं, तथा उसके तत्व अपनें २ समान तत्व में मरण के अनन्तर मिल जाते हैं। इसी प्रकार महाभूत भी प्रलय काल में अपनें २ अव्यक्त कारण में मिल ही जाते हैं ॥ ३९ ॥

सूक्ष्म शरीर का निरूपण।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

लिङ्ग शरीर सृष्टि के आदि काल में प्रधान से प्रतिपुरुष अलग २ उत्पन्न किया गया है। असक्त है, अर्थात्-शिलामें भी प्रवेश कर जाता है। नियत या महाप्रलय तक ठहरने वाला है १-महत्तत्व १-अहंकार १-मन ५-ज्ञानेन्द्रियें ५-कर्मेन्द्रियें और ५ तन्मात्र कुल १८ तत्वों का समूहरूप है। षाट्कौशिक (६ कोशों के समूहरूप) स्थूल शरीरके विना अकेला भोगका स्थान नहीं बन सकता, और धर्म अधर्म आदि ८ भावों की वासना से युक्त होनेके कारण संसरण करता है (पूर्व२ शरीरको छोड़ २ कर नये २ शरीरको धारण करता है) ॥ ४० ॥

लिङ्ग शरीर को स्थूल शरीर की अपेक्षा।

चित्रंयथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्योविनायथाच्छाया।
तद्वद् विना विशेषै र्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

जिस प्रकार आश्रय (दीवार आदि) के विना और छाया वृक्ष आदि के विना नहीं रह सकती, उसी प्रकार स्थूल शरीर के विना लिङ्ग शरीर नहीं रहता (यहां तक कि-मृत्युके पश्चात् दूसरे शरीर के ग्रहण करने से पहिले उस अवान्तर में भी तात्कालिक अदृष्टनिर्मित एक पाञ्चभौतिक शरीर उसे मिल जाता है सर्वथा वह निराश्रय नहीं रहता) ॥४१॥

लिङ्ग शरीर की संसृति का प्रकार और कारण।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

पुरुषार्थ (जीवों के अदृष्ट) की प्रेरणा से युक्त होकर यह लिङ्ग शरीर धर्म, अधर्म और षाट्कौशिक शरीर के सम्बन्धसे नटके समान नानारूप (मनुष्यदेव तिर्यक्रूप) से व्यव-स्थित होता है। प्रकृतिके विभुत्व (महिमा) से उसे विलक्ष-

शरीरों की दुर्लभता नहीं है ॥४२॥

निमित्त और नैमित्तिक का विभाग।

सांसिद्धिकाश्चभावाःप्राकृतिकावैकृताश्चधर्माद्याः ।
दृष्टाःकरणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्चकललाद्याः॥४३॥

धर्म आदि भाव दो प्रकार के होते हैं, प्राकृतिक और वैकृतिक। प्राकृतिक सांसिद्धिक या स्वाभाविक कहे जाते हैं जैसे—सृष्टिके आदि कालमें भगवान् कपिलदेव महामुनि जन्म से ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य युक्त प्रकट हुये। इन में धर्म आदि जो भाव थे वे स्वाभाविक थे। और जो किसी देवता के आराधन आदि उपाय से उत्पन्न होते हैं, वे वैकृतिक असांसिद्धिक या अस्वाभाविक कहे जाते हैं। जैसे-प्राचेतस आदि महर्षियोंको धर्म आदिकी प्राप्तिहुई। ये भाव करणों में या इन्द्रियसमूहरूप लिङ्ग शरीर में रहते हैं॥ षाट्कौशिक शरीर की गर्भ में कलल, बुद्बुद, मांस-पेशी, अङ्ग प्रत्यङ्ग व्यूह आदि अवस्थायें होतीहैं। तथा गर्भसे बाहर निकले हुये स्थूल शरीर की बाल्य, कौमार, यौवन और बुढ़ापा अवस्थाएं होती हैं। (भावोंका विभाग निमित्त विभाग है और शरीरों का विभाग नैमित्तिक विभाग है)

गौड़पाद यहां भावों के तीन भेद मानते हैं-सांसिद्धिक, प्राकृत, और वैकृत। इनके उदाहरण में आदि विद्वान् कपिल सनकादि और अस्मदादि हैं इस मतमें सांसिद्धिक स्वाभाविक प्राकृत देवता के आराधन आदि उपाय से उत्पन्न और वैकृत अध्ययन से उत्पन्न हैं ॥४३॥

किस निमित्त का कौन नैमित्तिक है।

धर्मेणगमनमूर्ध्वंगमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेनचापवर्गो विपर्ययादिष्यतेबन्धः ॥४४॥

धर्म से ऊर्द्ध्वगमन (स्वर्ग आदि की प्राप्ति) अधर्म से अधोगति (नरक आदि दुःख की प्राप्ति) ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) और अज्ञान से बन्धन (संसार) माना गया है ॥ ४४ ॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयःसंसारोभवतिराजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥४५॥

जिनको आत्मज्ञान नहीं हुआ और उन्हें पहिले ही इस लोक तथा परलोक के सुख में वितृष्णा (अनिच्छा) हो गई तथा वे प्रकृति या उसके कार्य महत्तत्व आदि में ही आत्म बुद्धि करके उनकी उपासना करते हैं, उनका उनकी उपासना के अनुसार प्रकृति आदिमें लय हो जाता है और फिर संसार में आगमन होजाता है राजस राग से संसार होता है। ऐश्वर्य से इच्छा का अविघात होता है, अर्थात्-जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे वही मिल जाती है। एवम् अनैश्वर्य से इच्छा का विघात होता है, जिस वस्तु की इच्छा करता है वह उसे नहीं मिलती ॥ ४५ ॥

फल सहित आठ भाव।

(का० ४४—४५)

निमित्त	नैमित्तिक	निमित्त	नैमित्तिक
१ धर्म से	ऊर्द्ध्वगमन	५ वैराग्यसे	प्रकृतिलय।
२ अधर्म से	अधोगति।	६ अवैराग्य से	संसार
३ ज्ञान से	मोक्ष	७ ऐश्वर्य से	इच्छानभिघात
४ अज्ञान से	बन्धन।		

निमित्त	नैमित्तिक
अनैश्वर्य से	सर्वत्र इच्छा का विघात

बन्ध चित्र का० ४४—४५

बन्ध		अधिकारी	फल	काल	व्यवस्था
प्राकृत		ॐप्रकृति का उपासक	प्रकृतिलय	एकलक्ष	ॐप्रकृति को आत्म बुद्धि से उपासना करने वाला
वैकृत	(१)	इन्द्रिय में आत्मबुद्धि से चिन्तन करने वाला	विगतज्वरता	दश मन्वन्तर	
	(२)	बुद्धिकोआत्मबुद्धिसे उपासना करनेवाला	बुद्धिमेंलय	१० सहस्र	
	(३)	अहंकार को आत्मबुद्धि से उपासना करने वाला	अहंकार में लय	१ सहस्र	
	(४)	पृथिवीआदिभूतोंमें आत्मबुद्धिसेउपासक	भूतलय	१००	
दाक्षिणक	(१)	इष्टापूर्त्तकारी (यज्ञानुष्ठानकारी)	स्वर्ग	निर्धि कृत गयाकाल	
	(२)	ईश्वरार्पण बुद्धिसे इष्टापूर्त्तकारी	क्रममुक्ति		क्रम यह है कि— पहिले निष्काम कर्म, फिर उससे अन्तःकरणशुद्धि, फिर तत्वज्ञान, फिर मोक्ष ।

बुद्धि का संक्षिप्त सर्ग ।

एषप्रत्ययसर्गोविपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात्तस्यचभेदास्तुपंचाशत् ॥४६॥

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, और सिद्धि-यह बुद्धि का संक्षिप्त सर्ग (सृष्टि) है । गुणों के न्यून अधिक होने से जो उन का आपस में विमर्द होता है, या आपस में एक को दूसरा दबा कर प्रधान हो जाता है, उससे उसके ५० भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

संक्षिप्त सर्ग—चित्र (का० ४६)

कारण	कार्य
बुद्धि	(१) विपर्यय (२) अशक्ति (३) तुष्टि (४) सिद्धि ।

अन्तर्भाव चित्र (का० ४६)

जिसमें अन्तर्भाव	जिसका अन्तर्भाव
(१) विपर्यय	(१) अज्ञान ।
(२) अशक्ति	(२) अनैश्वर्य (३) अवैराग्य (४) अधर्म ।
(३) तुष्टि	(५) धर्म (६) वैराग्य (७) ऐश्वर्य ।
(४) सिद्धि	(८) ज्ञान ।

संक्षिप्त सर्ग के ५० भेदों की गणना ।

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधा,ऽष्टधासिद्धिः ॥४७॥

विपर्यय के ५ भेद होते हैं, अशक्ति,-बुद्धि आदि १३ करणों के वैकल्य (विकल हो जाने) से २८ प्रकार की, तुष्टि ९ प्रकार की और सिद्धि ८ प्रकार की होती है । इन सब का योग करने से ५० भेद होते हैं ॥

५० भेदों के नाम ।

(विपर्यय के भेदों के नाम)

(१) विपर्यय- (१) अविद्या (तमः) (२) अस्मिता (मोह) (३) राग (महामोह) (४) द्वेष (तामिस्र) (५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्र) ॥४७॥

विपर्यय के भेदों के भेद ।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधोमहामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथाभवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८॥

तम या अविद्या के ८ भेद हैं । मोह (अस्मिता) के ८ (हैं । महामोह (राग) के १० भेद हैं । तामिस्र (द्वेष) के १८ भेद हैं । अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) के १८ भेद हैं । कुल ६२ भेद हैं) ॥

व्याख्या ।

(१) तम या अविद्या अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार और शब्द आदि ५ तन्मात्रों में आत्म--बुद्धिरूप ८ प्रकार की होती है ।

(२) अस्मिता या मोह । देवताओंको ८ प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्तिसे "यह अणिमा आदि हमारा शाश्वतिक (सदाका) ऐश्वर्य है" ऐसा अभिमान होता है, तद्रूप अस्मिता ८ प्रकार की होती है ।

(३) राग या महामोह-दिव्य अदिव्य शब्द आदि दशविध रञ्जनीय (जिन में राग हो) विषयों में आसक्तिरूप दश प्रकार का महामोह होता है ।

(४) द्वेष (तामिस्र) दिव्य अदिव्य भेद से १० प्रकार के शब्द आदि विषय परस्पर से उपघात किये जाते हुये द्वेष के विषय होते हैं और अणिमा आदि ८ सिद्धियें

स्वरूप से ही कोपनीय होती हैं, अतः १० शब्द आदि और ८ अणिमा आदि मिलकर १८ क्रोध के विषय होने से क्रोध या द्वेष १८ प्रकार का होता है।

(५) अभिनिवेश (अन्धतामिस्र)। अणिमा आदि ८ ऐश्वर्य और शब्द आदि १०,कुल १८ विषयों या उपायों को प्राप्त होकर देवताओं को भय होता है, कि-इन्हें असुर न छीनलें। इस प्रकार भयका विषय१८प्रकारका होनेसे भय या अन्धतामिस्र भी १८ प्रकार का होता है ॥४८॥

२८ प्रकार की अशक्ति।

(११ इन्द्रिय बध, ६ अतुष्टियें और ८ असिद्धियें)

एकादशेन्द्रियबधाः सहबुद्धिबधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदशबधा बुद्धे र्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

१७ बुद्धि बधों के सहित ११ इन्द्रियों के बधरूप २८ प्रकार की अतुष्टि कही गई है। तुष्टियों और सिद्धियोंके विपरीत रूप सेअर्थात्-६ अतुष्टियों और ८असिद्धियों के रूप से बुद्धि-बध १७ होते हैं ॥ ४६ ॥

नवधा (६) तुष्टि।

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च, नवतुष्टयोऽभिमताः ।५०।

चार अध्यात्मिकी (भीतरी) तुष्टियें होती हैं। जिनके प्रकृति उपादानकाल और भाग्य ये नाम हैं विषयों से उपरति (निवृत्ति) के कारण बाह्य (बांहरी) तुष्टियें ५ होती हैं। सब मिलकर ६ तुष्टियें हैं।

व्याख्या।

'प्रकृति से आत्मा भिन्न वस्तु है'-ऐसा निश्चय करके फिर उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा विवेक साक्षा-

त्कार के लिये असत् उपदेश से सन्तुष्ट होकर जो पुरुष यत्न नहीं करता, उसको ये चार आध्यात्मिकी तुष्टियें होती हैं। क्योंकि-ये तुष्टियें प्रकृति से भिन्न आत्मा को लेकर होती हैं इसी से ये आध्यात्मिकी हैं। इन की विशेष व्याख्या इस प्रकार है कि—

(क) किसी ने किसी को उपदेश दिया कि- विवेक साक्षात्कार (प्रकृति और आत्माके भेद को अपनें अनुभवमें लाना) प्रकृति का ही परिणाम विशेष है, अतः उसे प्रकृति स्वयम्ही करदेंगी इससे तुझे ध्यान का अभ्यास नहीं करना चाहिये हे वत्स! तू इसी प्रकार रह। सो यह उस शिष्यको जो प्राकृती (•प्रकृति पर निर्भरता) तुष्टि होती है उसका नाम 'प्रकृति' (अम्भः) ही है।

(ख) [दूसरा उपदेश] यद्यपि वह विवेकख्याति प्रकृति से होती है, तथापि केवल प्रकृति से ही नहीं। क्योंकि-यदि प्रकृति से ही विवेक-ख्याति या तत्वज्ञान हो तो उस को सब के प्रति समान होनेके कारण सबको सब कालमें विवेकख्याति होना चाहिये? इस कारण हे वत्स! तू संन्यास धारण कर। संन्यास से तुझे वह ख्याति प्राप्त होगी। इस उपदेश से जो शिष्य को तुष्टि होती है, वह उपादान (सलिल) कहलाती है।

(ग) [तीसरा उपदेश] यद्यपि संन्याससे निर्वाण (मुक्ति) होती है, किन्तु तत्काल नहीं, अर्थात् वही संन्यास तुझे काल पाकर सिद्धि देगा, अतः तू उतावला मत हो, इस उपदेश से जो काल में तुष्टि होती है वह काल कहलाती है, दूसरा नाम इसका मेघ है।

(घ) [चौथा उपदेश] विवेक-ख्याति को न काल कर

सकता है, और न उपादान ही, किन्तु वह भाग्य से ही होती है इसीसे मदालसा के पुत्र अति बालक होने पर भी माता के उपदेश मात्र से ही विवेक-ख्यातिको प्राप्त हुये और मुक्त भी। उस में भाग्य ही कारण था, किन्तु और कुछ नहीं। इस उपदेश से जो भाग्य में तुष्टि है वह भाग्य (वृष्टि) कहलाती है।

जो तुष्टियें प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार आदि अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझ कर वैराग्य से होजाती हैं, वे सब बाह्य तुष्टियें हैं। क्योंकि-आत्म-ज्ञान के न होनेकी अवस्था ही में वे अनात्म (बाह्य) वस्तु के अवलम्बन से होती हैं। इन तुष्टियों का कारण वैराग्य है, और वह वैराग्य ५ कारणों से होता है, अतः वह पांच प्रकार का समझा जाता है; तथा उसके कारण ही उस से होने वाली तुष्टियें भी ५ ही मानी जाती हैं। अर्थात्-भोग्य विषय शब्द आदि ५ हैं, और उनके उपरम (वैराग्य) भी ५ हैं। विषय की संख्या के समान इस के कारण भी (१) अर्जन (२) रक्षण (३) क्षय (४) भोग (५) हिंसा, ये पांच हैं, इससे भी वैराग्य या उपरम ५ हैं। इनकी विशेष व्याख्या इस प्रकार है—

(क) [अर्जन] धनके अर्जन या संग्रह करनेके उपाय सेवा आदि हैं, जो सेवक आदि को दुःखित करने वाले हैं। क्यों कि-सेवा में क्रोधी स्वामी से कभी थप्पड़ या गर्दना आदि भी खाना पड़ता है। सुतराम् इन दुःखों को अनुभव करने वाले बुद्धिमान् उसमें प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार अन्य उपायों में भी दोष हैं, इस प्रकार जो विषयसे उपरम तुष्टि है वह 'पार' कहलाती है।

(ख) [रक्षण] धन किसी प्रकार इकट्ठा हो भी गया, तो उसके राजा, चोर, अग्नि जलप्रवाह आदि से नाश होजाने की

संभावना है, अतः उसकी रक्षा में महादुःख है, ऐसी भावना वाले को जो विषय से उपरम में तुष्टि है, वह दूसरी 'सुपार' तुष्टि है।

(ग) [क्षय] ऐसे ही बड़े परिश्रम से इकट्ठा किया हुआ धन भोग करने से क्षीण होजाता है, इस प्रकार उसके क्षय हो जाने की भावना करने वाले को जो विषय के उपरम में तुष्टि होती है, वह तीसरी 'पारापार' कहलाती है।

(घ) इसी प्रकार शब्द आदि विषयों के भोगाभ्यास से काम (मनोरथ) बढते हैं, और वे विषय की प्राप्ति न होने पर कामी पुरुषको दुःखित करते हैं इससे भोग दोषको जानने वालेको जो विषयसे उपरममें तुष्टि होती है, वह चौथी 'अनुत्तमाम्भ' कहलाती है।

(ङ) ऐसे ही दूसरे प्राणियों की हानि किये विना या सताये विना विषयों का उपभोग नहीं हो सकता, इस हिंसा दोष को देख कर जो विषय से उपरम में तुष्टि होती है, वह ५ वीं 'उत्तमाम्भ' कहलाती है।

ऐसे चार आध्यात्मिकी और ५ बाह्य तुष्टियों को मिलाकर ९ तुष्टियें होती हैं ॥ ५० ॥

गौण और मुख्य सिद्धियें ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयःसुहृत्प्राप्तिः ।
दानञ्चसिद्धयोऽष्टौसिद्धेपूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

तीन दुःखों के नाश तीन मुख्य सिद्धियें हैं। और सब (१) अध्ययन (२) शब्द (३) ऊह (४) सुहृत्प्राप्ति और (५) दान ये ५ सिद्धियें गौण हैं।

सिद्धिके पूर्व जो विपर्यय अशक्ति और तुष्टि के भेद से तीन प्रकार की बुद्धि की सृष्टि (का· ४६ में) देखी गई है,

उसको अंकुश संज्ञा है। क्योंकि वह सिद्धि को रोकती है।

गौणसिद्धियें-(१) अध्ययन (तार) (२) शब्द (सुतार) (शब्दसे अर्थ का ज्ञान) (३) ऊह (तर्क) (तारतर) (४) सुहृत्प्राप्ति (मित्र मिलन) (रम्यक) और (५) दान (सुदामुदित) (विवेकज्ञान की शुद्धि)

मुख्यसिद्धियें-(१) आध्यात्मिक दुःख का नाश (प्रमोद) (२) आधिभौतिक दुःख का नाश (मुदित) और (३) आधिदैविक दुःख का नाश (मोदमान) (कुल ८ सिद्धियें)॥५१॥

प्रकारान्तर से सिद्धियें।

(१) ऊह—जिस में पूर्व जन्म के अभ्यास से आप से आप तत्व ज्ञान हो जावे।

(२) शब्द—जिस में दूसरे के सांख्य शास्त्रीय अध्ययन को सुन कर तत्वों का ज्ञान उत्पन्न हो।

(३) अध्ययन—जिस में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध से संवाद पूर्वक ग्रन्थ और अर्थ दोनों प्रकार से सांख्य शास्त्र को अध्ययन करने से ज्ञान उत्पन्न हो।

(४) सुहृत्प्राप्ति—जिस में तत्वों के ज्ञाता मित्र की प्राप्ति से ज्ञान उत्पन्न हो।

(५) दान—जिस में धन के दान से सन्तुष्ट हो कर गुरु ज्ञान देवे, वह सिद्धि धन दान के कारण होने से 'दान' कहलाती है॥ ५१ ॥

प्रत्यय (बुद्धि) और तन्मात्र या भूत सर्ग का प्रयोजन

नविनाभावैर्लिङ्गं नविनालिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्योभावाख्यस्तस्माद्द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः।५२।

बुद्धि तत्व से दो प्रकार की सृष्टि होती है, एक सृष्टि भाव-सृष्टि है और दूसरी लिङ्ग-सृष्टि है। पहिली भावसृष्टि

का संक्षेप धर्म आदि ८भेदों में और विस्तार ५० भेदों में कहा गया है। तथा दूसरी लिङ्ग सृष्टि, अहंकार के द्वारा ११ इन्द्रियों और ५ तन्मात्रों के रूप में है, जिस का विस्तार स्थूल देह आदि स्थावर जङ्गम सभी है। इन दोनों सृष्टियों के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है, कि बुद्धि ने दो सृष्टियें क्यों कीं, एक ही सृष्टि से भी उस की चरितार्थता हो जाती ? इसी के उत्तर के अर्थ यह कारिका है।

इस का भाव यह है, कि-धर्म, अधर्म आदि भावों के विना लिङ्ग या तन्मात्र की सृष्टि का सम्भव नहीं। क्यों कि पूर्व २ संस्कारों (धर्म अधर्म आदिकों) के अनुसार ही पिछले २ या अपूर्व २ शरीरों की प्राप्ति होती है। एवम् लिङ्ग आदि के विना धर्म आदि भी नहीं हो सकते। क्योंकि धर्म अधर्म आदि सब स्थूल सूक्ष्म देह के ही साध्य हैं। इस प्रकार बीज अंकुर के दृष्टान्त पर दोनों सृष्टियों का प्रयोजन है। इसे अन्योऽन्याश्रय दोष भी न समझना चाहिये, क्योंकि जो बीज जिस अंकुर से होता है, वह अंकुर उसी बीज से नहीं होता, बलकि-वह किसी दूसरे बीज से हुआ है। ऐसे ही अंकुर पक्ष को भी समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

१४ प्रकार का भूत सर्ग।

अष्टविकल्पोदैवस्तैर्यग्योनश्चपञ्चधाभवति ।
मानुषकश्चैकविधः, समासतोभौतिकःसर्गः ॥५३॥

(क) ८ प्रकार का देव सर्ग (सृष्टि) है—(१) ब्रह्मा (२) प्रजापति (३) इन्द्र (४) पितर (५) गन्धर्व (६) यक्ष (७) राक्षस (८) पिशाच।

(ख) तिर्यग्योनि-सर्ग ५ प्रकार का-(१) पशु (२) मृग (३) पक्षी (४) सरीसृप (सर्पादि) (५) स्थावर (वृक्षादि)।

(ग) मनुष्य-सर्ग १ प्रकार का है। यह संक्षेप से १४ प्रकार का भूतसर्ग है ॥ ५३ ॥

तीन प्रकार से भूत सर्ग

ऊर्ध्वंसत्वविशालस्तमोविशालश्चमूलतःसर्गः ।
मध्येरजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

पहिला ऊर्ध्व सर्ग है, जिस में सत्वगुण की प्रधानता रहती है, एवम् उसकी परिस्थिति द्युलोक से सत्यलोक पर्यन्त है। २रा सर्ग मूलसर्ग या जीव की नीच गति का सर्ग है। इस में तमोगुण की प्रधानता है, इसी से यह मोहमय होता है, इस की गणना पशु से वृक्ष पर्यन्त है। और तीसरा मध्य (बीच) का सर्ग है, इस में रजोगुण की प्रधानता है, अतएव यह दुःख बहुल है, इस की गणना में सम्पूर्ण भूलोक है, जिस में सातों द्वीप और सातों समुद्र आजाते हैं ॥५४॥

सर्ग (सृष्टि) की दुःख रूपता ।

तत्रजरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोतिचेतनःपुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखंस्वभावेन ॥५५॥

उस पूर्वोक्त सृष्टि में सब स्थानों में जरा (बुढापा) और मरण के दुःख को चेतन पुरुष, लिङ्ग शरीर की निवृत्ति से पहिले प्राप्त होता रहता है। इस से संसार में दुःख स्वाभाविक है।

यद्यपि भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ प्रकार का सुख भोग भी है, तथापि जरा मरण का दुःख सर्वत्र समान है।

जो बुद्धि के (प्राकृत) गुण हैं, वे सब लिङ्ग शरीर में रहते हैं, और लिङ्ग शरीर पुरुष का सम्बन्धी है। क्योंकि पुर (लिङ्ग) में शयन करने से ही वह पुरुष है। अतः लिङ्ग

के द्वारा अध्यासवश पुरुष में भी दुःखों का सम्बन्ध हो जाता है ॥ ५५ ॥

निःसन्देह उक्त सब सर्ग प्रकृति से ही हुआ है।

इत्येषप्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थइवपरार्थआरम्भः ॥५६॥

(क) यह सब महत् तत्व आदि विशेष (स्थूल) भूत पर्यन्त जितना सर्ग है, वह सब प्रकृति का किया हुआ है। क्योंकि-

(१) सर्ग को अकारण मानने में सर्ग का अत्यन्त भाव (होता ही रहे कभी रुके नहीं) अथवा अत्यन्त अभाव ही हो (कभी सृष्टि हो ही नहीं)।

(२) ब्रह्म से भी सृष्टि नहीं। क्योंकि-चिति शक्ति में परिणाम का अभाव है।

(३) ईश्वर से अधिष्ठित प्रकृति से भी सृष्टि नहीं। क्योंकि-निर्व्यापार (व्यापार रहित) ईश्वर का अधिष्ठातृत्व हो नहीं सकता, अर्थात्—जब वह कुछ करता ही नहीं, तो वह अधिष्ठाता कैसे हो सकता या अधिष्ठाता उसे मान भी लिया जावे तो उससे क्या लाभ ? क्योंकि जैसे-क्रियाशून्य खाती की कुल्हाड़ी कुछ नहीं कर सकती।

(ख) प्रकृति का जो महत्तत्व (बुद्धि) आदि २३ तत्वों के रूप में आरम्भ या कार्य है, वही प्रत्येक पुरुष को क्रम प्राप्त (संयोगवश) मोक्ष का भी कारण हो जाता है। उस का आरम्भ ऐसा है, जैसा—कोई स्वार्थ के समान अपने मित्र के कार्य को विना अपने प्रयोजन के ही करे। हमें इसमें यह प्रतीति होती है, कि-इनके मतमें ईश्वर नहीं और न पुरुष में कोई क्रिया और ज्ञान आदि गुण ही है, जो कुछ है, वह

सब प्रकृति का ही है, और साक्षात् सम्बन्ध से उसी में रहता है। फिर अनादि काल से संसार में बंधा हुआ पुरुष छूट कैसे सकता है, यही प्रश्न इनके मनमें हुआ। यदि ये अनिर्मोक्ष को ही लेलेवें, तो इनके दर्शन को भी कौन पढ़े या कौन अन्धा इनके सम्प्रदाय के वश्य हो, सुतराम् इन्हें मोक्षका मार्ग भी बताना चाहिये जिसे और सब दर्शनकार भी अपने२ मतके अनुसार बता रहे हैं। यही सब सोच समझकर कह रहे हैं- " प्रति पुरुष०-०" अर्थात्-प्रकृति परिणाम शील है,तत्व-ज्ञान और उसके साधन भी सब प्राकृत हैं,इस रीति पर जब कभी तत्वज्ञान या प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान हो जायगा, तभी निर्वाण (मोक्ष) हो जायगा। इस में दूसरे का कोई आरम्भ मानना निष्प्रयोजन है ॥५६॥

विना अधिष्ठाता के प्रधान की प्रवृत्ति में युक्ति

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथाप्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथाप्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

जिस प्रकार वत्स (शिशु) की विवृद्धि या पोषण के लिये माता के स्तनोंका दूध अज्ञ होकर भी आपसे आप बहने लगता है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष या निर्वाणके लिये ज्ञान शून्य (जड़) प्रकृति भी प्रवृत्त होती है। अभिप्राय यह है,कि-उसको अपने चेतन अधिष्ठाता ईश्वर की अपनी प्रवृत्ति में कोई अपेक्षा नहीं है। सुतराम् वह अपने सृष्टि कार्य में स्व-तन्त्रता से प्रवृत्त होती है। इसीसे ईश्वर तत्वकी कल्पना भी विपक्षियों को अनावश्यक है ॥ ५७ ॥

" स्वार्थ इव " का दृष्टान्त ।

औत्सुक्यविनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्ततेलोकः ।

पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८॥

जिस प्रकार लोक अपने औत्सुक्य (चाव) या इच्छाओं को मिटाने के लिये क्रियाओं में प्रवृत्तहोता है,तथा उस कार्य के पूरी होने पर निवृत्त हो जाता है,वैसे ही अव्यक्त (प्रकृति) भी पुरुष के मोक्ष के अर्थ प्रवृत्त होता है तथा निवृत्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

प्रकृति का प्रवर्त्तक तो पुरुषार्थ हो सकता है, किन्तु निवृत्ति कैसे होगी ?

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथानित्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्यविनिर्वर्त्तते प्रकृतिः ५९

(समाधान–) रङ्ग (सभा) को नर्त्तकी (वेश्या) अपना नृत्य दिखाकर जिस प्रकार निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के प्रति अपने आपे को दिखाकर निवृत्त हो जाती है । प्रयोजन यह है कि -उसे निवर्त्तक (निवृत्त करने वाले) की कोई अपेक्षा नहीं है, किन्तु निवृत्ति उसकी स्वाभाविक हो जाती है ॥ ५९ ॥

केवल परार्थ-- आरम्भ के आक्षेप का समाधान ।

नानाविधैरुपायै रुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः
गुणवत्यगुणस्यसतः तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

(जिस प्रकार कोई भृत्य स्वयम् उपकारी भी होकर निर्गुण या अनुपकारी स्वामी का निष्फल आराधन करता है, उसी प्रकार) यह तपस्विनी गुणवती उपकारिणी प्रकृति पुरुष को अनुपकारी और निर्गुण होते हुये भी उसके अर्थ को विना प्रयोजन ही नाना प्रकारके उपायोंसे साधन करती है६०

वेश्या परिषद् को नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है,

और दर्शकों के कौतूहल के कारण फिर भी प्रवृत्त हो जाती है, ऐसे ही प्रकृति भी निवृत होकर फिर प्रवृत्त हो सकती है, जिस से कि- मुक्त हुए पुरुष का फिर बन्ध हो जाये ? इस आपत्ति के उत्तर के अर्थ यह कारिका है—

प्रकृतेःसुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीतिमेमतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

'प्रकृति से अधिक सुकुमार और कोई वस्तु नहीं है' यह मेरी (ईश्वर-कृष्ण की) मति है । जो " दृष्टाऽस्मि " (मैं देख लीगई) इस बुद्धि से फिर पुरुष के देखने में नहीं आती ॥ ६१ ॥

बन्धन (संसार) और मोक्ष पुरुष के नहीं, प्रकृति के हैं

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

तिस (इस) कारण से (का० ६१) वह पुरुष न बन्धन को प्राप्त होता है, न संसरण करता है अर्थात् एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीरमें नहीं जाता, और न मोक्षको ही प्राप्त होता है, किन्तु नाना गुणोंको आश्रय करने वाली प्रकृति ही संसरण करती है, बद्ध होती है, और मुक्त होती है ॥६२॥

प्रकृति के बन्ध और मोक्ष के साधन ।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

धर्म आदि ७ भावों से प्रकृति अपने से अपने को बांध लेती है, और वही प्रकृति पुरुषार्थ (मोक्ष या अपवर्ग) के प्रति एक भाव (तत्व ज्ञान) से अपने को मुक्त कर देती है तथा फिर भोग और अपवर्ग (मोक्ष) को नहीं करती ॥६३॥

सांख्य शास्त्र के तत्व का उपयोग।

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि नमे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवल मुत्पद्यते ज्ञानम्॥६४॥

इस सांख्यशास्त्र की रीति से जो तत्वों का निर्णय या निरूपण किया गया है उसके अनुसार तत्वों के अभ्यास करने से, उस में आदर करनेसे, निरन्तर दीर्घ काल तक मनन करने से प्रकृति और पुरुष के भेदको साक्षात्कार करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जो अविपर्यय या संशय तथा भ्रम से रहित होनेके कारण विशुद्ध, मिथ्या ज्ञानसे अमिश्रित होनेके कारण केवल, और किसी विषयका भी अपरिज्ञान न होनेके कारण अपरिशेष (सम्पूर्ण) होता है। उस ज्ञानका स्वरूप- "नास्मि" (मैं क्रिया शून्य हूं) "नाहम्" (अकर्त्ता हूं) "नमे" (स्वामिता रहित हूं) यह है॥ ६४॥

पूरे विशुद्ध केवल ज्ञान का फल।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिंपश्यतिपुरुषःप्रेक्षकवदवस्थितःस्वच्छः॥६५॥

उस विशुद्ध तत्व ज्ञान से भोग, और विवेक के साक्षात्कार के प्रसव से निवृत्त, तथा विवेक ज्ञानरूप अर्थ के वश या सामर्थ्य से धर्म आदि ७ रूपों से निवृत्त हुई हुई प्रकृति को पुरुष दर्शकके समान अवस्थित और निष्क्रिय होकर देखता है, किन्तु उस अवस्थामें भी सात्विकी बुद्धिसे पुरुष का संभेद रहता है, अथवा उसकी छाया पुरुषमें पड़ती रहती है, अन्यथा ऐसी प्रकृति का दर्शन भी नहीं घट सकता॥ ६५॥

मोक्ष के अनन्तर प्रकृति और पुरुष के रहते हुये भी सर्ग (सृष्टि) क्यों नहीं?

दृष्टामयेत्युपेक्षकएको, दृष्टाऽहमिति विरमत्यन्या।

सतिसंयोगेऽपितयोः प्रयोजनंनास्ति सर्गस्य ६६

"मैं इसे देख चुका" इस बुद्धि से उन दोनों में एक अर्थात् पुरुष प्रकृतिसे उपेक्षा कर देता है, और दूसरी प्रकृति इस लिये विरत या निवृत्त होजाती है कि-"मैं देखली गई" ऐसा उसे अपना प्रयोजन भाव प्रतीत होता है। इस कारण दोनों को उदासीन होने से उनका संयोग होने पर भी सर्ग (सृष्टि) का प्रयोजन नहीं है ॥६६॥

तत्वज्ञान के अनन्तर शरीर की स्थिति।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठतिसंस्कारवशात्,चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः॥६७॥

जब यथेष्ट (जैसा चाहिये) तत्वों का साक्षात्कार उदय होजाता है, उस समय धर्म आदि अकारण होजाते हैं,-किसी कार्य के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहते-जले हुये बीज के समान सुख दुःखरूप अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते, इसी से अब जो शरीर वर्त्तमान है वह कैसे रहे? किन्तु जैसे कुम्हार का चक्र एकवार घुमाकर छोड़ देने पर भी कुछ देर वेग के अधीन घूमता रहता है, ऐसे ही इस अन्तिम शरीर को जिस प्रारब्ध कर्मने प्रवृत्त किया है, उसके समाप्त होने तक यह उसी के अधीन खड़ा रहता है (अर्थात्-वेग के पूरा होते ही जैसे कुम्हार का चक्र निष्क्रिय होजाता है, ऐसे ही यह शरीर भी अपनी अन्तिम लीला को पूरी कर देता है-गिर जाता है या अपने अव्यक्त कारण में लीन हो जाता है। बस संसार उस पुरुष का पूरा होचुका तथा वह निर्वाण पद को प्राप्त होगया फिर उसे संसार न होगा। दीपक के निर्वाण (बुझ जाने) के दृष्टान्त से ही मोक्ष का नाम भी निर्वाण है) ॥६७॥

यदि संस्कारवश से शरीर है भी, तो कब इसका मोक्ष होगा?

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

संचित सम्पूर्ण कर्माशयों (धर्म अधर्मों)का तत्वज्ञानरूप अग्नि से बीजपना (अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति) दग्धहो गया, तथा प्रारब्ध (जिनका भोग वर्त्तमान है या जिनका फल स्वरूप यह वर्त्तमान शरीर है) कर्मों का भी उपभोग होचुका इससे शरीर (इस अन्तिम शरीर) का भेद (नाश) प्राप्त होते ही प्रधान को कृतकार्य होजाने से वह भी निवृत्त होजाता है, तथा पुरुष भी उस समय ऐकान्तिक (अवश्यंभावी) और आत्यन्तिक (अविनाशी) कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होजाता है, जिसका प्रस्ताव ग्रन्थ के आरम्भ में "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्" वाक्य से किया गया था ॥६८॥

शास्त्र का आविष्कार ।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

यह गुह्य (गुफामें रहने वाला जैसा) या स्थूल बुद्धि वालों को दुर्ज्ञेय पुरुषार्थ-ज्ञान (सांख्यशास्त्र) परमर्षि कपिलदेवने प्रथम समीचीन रीति से आख्यान किया था, जिसमें ज्ञान के निमित्तभूतों (पदार्थों) की स्थिति उत्पत्तिऔर प्रलय चिन्तन किये जाते हैं ॥६९॥

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपिपञ्चशिखायतेनच बहुधाकृतंतन्त्रम् ७०

इस पवित्र श्रेष्ठ शास्त्र को मुनि कपिलदेवने आसुरिनाम अपने शिष्य के लिये अनुकम्पा (दया) से प्रदान किया था,

आसुरिने अपने पञ्चशिख नाम शिष्यको दिया, और उस पञ्चशिखने इस शास्त्र को बहुत विस्तृत किया तथा प्रचार किया॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगत मीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ।७१।

इसी प्रकार शिष्य परम्परा से आये हुये इस शास्त्र को आर्यमति (श्रेष्ठबुद्धि ईश्वरकृष्ण ने समीचीन या उत्तम प्रकार से सिद्धान्त को जान कर आर्या छन्दोंमें संक्षेपसे कहा ॥७१॥

सप्तत्यांकिलयेऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्यषष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परिवादविवर्जिताश्चापि ७२

जो अर्थ ७० आर्या छन्दोंमें कहे गये हैं वेही अर्थ सम्पूर्ण षष्टितन्त्र या ६० पदार्थों के प्रतिपादक सांख्यशास्त्र के हैं। क्यों कि-इसमें आख्यायिकाएं और दूसरे शास्त्रों के वाद छोड़दिये गये हैं ॥७२॥

इति हिन्दीसांख्य दर्शनम्

श्रीहरिः शरणम्

सांख्य, न्याय और वैशेषिक
दर्शन का जीवात्मा
(सांख्य)

सांख्यदर्शन में आत्मा को किस प्रकारका माना गया है, इस प्रश्न के सम्बन्ध में जितनी बातें उस दर्शन में बताई गई हैं या स्वीकार की गई हैं, नीचे दिखाई जाती हैं—

१

सांख्यशास्त्रके आचार्य कहते हैं कि-आत्मामें सत्व, रजस् तथा तमोगुण नहीं है। प्रधान या प्रकृति से बिलकुल भिन्न है न प्रकृति या उसके महत्तत्व आदि कार्यों का उसमें कोईअंश सम्मिलित है, और न आत्मा ही का उनमें है। सर्वसाधारण का वह विषय नहीं है,किन्तु योग सम्पन्न या तत्वज्ञ पुरुषही उसे जान सकते हैं। चेतन है। सरूप या अपने समान तथा अपने से विलक्षण परिणाम से रहित है,अर्थात् वह किसी कार्यको उत्पन्न नहीं करता, जैसे कि-मृत्तिका घट, शराव आदि अनेक कार्यों को उत्पन्न करती रहती है।

उपर्युक्त सब धर्म ऐसे हैं, जो प्रकृति या उसके कार्यों में (महत्तत्व अहंकार, मन, चक्षुः, श्रोत्र, घ्राण, रसन, त्वक्, वाक् हस्त, पाद, गुद, उपस्थ, (लिङ्ग या योनि) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी में) नहीं रहते हैं।

१—हेतुमदनित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथाच पुमान् ॥

(सां० त० कौ० श्लोक १०;११)

आत्मा अनेक या अनन्त हैं यह अनेकत्व धर्म व्यक्त या प्रकृति के कार्य भूत महत्तत्वादिकोंका साधारण धर्म है। जैसे कि—आत्मा अनन्त हैं, उसी प्रकार महत्तत्वादिक भी सब अनन्त हैं।

अब आत्मा के वे धर्म कहे जाते हैं,जो प्रकृति या प्रधान से मिलते हैं।

आत्माका कोई उत्पन्न करने वाला या कारण नहीं है। इसीसे वह नित्य है। विभु अर्थात् व्यापक है, किसी स्थानमें भी उसका अभाव नहीं है। उसमें कोई क्रिया नहीं होती। वह किसीमें आश्रित होकर नहीं रहता। प्रधान या प्रकृति का वह अनुमान करानेवाला भी नहीं है, जैसे धूम, अग्निका अनुमापक है। उसमें कोई अवयव विभाग नहीं है, जैसेकि-वस्त्र में सूत्र तथा घटमें कपाल है। तथा आत्मा स्वतन्त्र है, अर्थात् जैसे पुरुषका अंश उसके बेटे-पोतों में अनुवर्त्तमान होता है, दीपक का तैल उसकी बत्तीमें आता रहता है, तथा प्रकृतिका अंश उसके कार्य महत्तत्व में और उसका उसके कार्य अहंकार में पूरण होता रहता है, वैसे आत्मा में किसी वस्तु का आपूर जो उक्त दृष्टान्तों में दिखाया गया है, नहीं होता। क्यों कि-वह किसी से उत्पन्न नहीं होता। उक्त सब लेख का संक्षिप्त तात्पर्यार्थ यह है कि-आत्मा शुद्ध स्फटिक के समान स्वच्छ या निर्गुण, आकाश के समान विभु (व्यापक) तथा नित्य और संख्या से अनन्त हैं।

सांख्य का लिङ्ग शरीर।

सांख्य के मत में सृष्टि के आरम्भ काल में प्रधान या प्रकृति एक २ आत्मा के पीछे एक २ लिङ्ग शरीर को उत्पन्न करती है। वह लिङ्ग शरीर अव्याहत होता है, अर्थात् शिला

में भी प्रवेश कर जाता है, संसार में कोई ऐसी कठोर वस्तु नहीं है, जिस में वह प्रवेश न कर सके। सृष्टि के आरम्भ से महाप्रलय तक बना ही रहता है। महत्तत्व (१) अहकार (२) मन (३) चक्षुः (४) श्रोत्र (५) घ्राण (६) रसन (७) त्वक् (८) वाणी (६) हस्त (१०) पाद (११) गुद (१२) उपस्थ (लिङ्ग या योनि) (१३) रूप (१४) रस (१५)गन्ध (१६) स्पर्श (१७)शब्द (१८) इन अठारह तत्वों का समुदाय रूप है। यही लिङ्ग शरीर पूर्व २ स्थूल शरीर को छोड़ता और नवीन २ को ग्रहण करता है। इस लिङ्ग शरीर के विना स्थूल शरीर आत्मा के भोग का साधन नहीं, बनता, इसी से इसकी कल्पना करनी पड़ती है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये आठों भाव इसी लिङ्ग शरीर में रहते हैं, इसीसे जन्म-मरण रूप संसार इसीको होता है, और इसी के द्वारा इसके आत्माका होता है, जो इसके साथ सम्बन्ध रखता है। वास्तव में उक्त आठों भाव, बुद्धि-जिसको महत्तत्व या अन्तः करण कहते हैं, और जो लिङ्ग शरीरके अठारह तत्वों में से एक है, उसी में रहते हैं, और उसमें रहने के कारण ही लिङ्ग शरीर में माने जाते हैं। महाप्रलयके अनन्तर जैसे कि-प्रधान बना रहता है नहीं रहता है किन्तु उसी प्रधान में जिससे कि-यह सृष्टि के आरम्भ कालमें उत्पन्न होता है, लय होजाने से ही इसे 'लिङ्ग' कहते हैं।

मोक्ष।

प्रकृतिका परिणाम बुद्धि है, अर्थात्-सृष्टि के आरम्भमें प्रकृति से पहले बुद्धिही उत्पन्न होती है, इस के महत्तत्व और अन्तःकरण ये दो नाम और हैं। सांख्य-- मतमें इसी बुद्धिमें सुख दुःख रहते हैं, इसीके सुख दुःखोंकी छाया आत्मा

में पड़ती है, इसीसे आत्मा सुख, दुःख वाला प्रतीत होता है इसी छायाको पुरुषका संसार समझना चाहिये । प्रकृति पुरुषके विवेक ज्ञानसे बुद्धिका नाश होजाता है, और उसके नाशके साथही सुख दुःखोंका भी नाश होजाता है, आत्मामें जिनकी छाया पड़ती है, उनके न रहनेसे आत्मा भी शुद्ध रह जाता है, इसी आत्मा की अवस्था का नाम मोक्ष है ।

न्याय-वैशेषिकका आत्मा ।

न्याय व वैशेषिक दर्शनके आचार्य कहते हैं कि-आत्मा विभु या व्यापक है (१) संख्यासे अनन्त है अर्थात् कितने आत्मा हैं, ऐसे गिना नहीं जासकता (२) नित्य है, अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में बना ही रहता है, उसका अभाव कभी नहीं होता (३) तथा प्रतिशरीर भिन्न होता है, एक कालमें उस का एकही शरीर से सम्बन्ध होता है, उसीमें सुख दुःखोंका उपभोग करता रहता है, यद्यपि वह सकल लोकों में रहता है, तो भी वह भिन्न लोकमें भी एक समयमें दूसरे शरीर को धारण नहीं कर सकता, किन्तु एक शरीरके नष्ट होनेके पश्चात् दूसरे शरीरको सृष्टि व महाप्रलय के मध्यकालमें मोक्ष होनेसे पहिले अवश्य ही धारण करता है (४) यह चारों बातें सांख्यवाले भी इसी प्रकार से आत्मामें स्वीकार करते हैं ।

---

(१) "विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा" (वै० ७, १, २२) "जीवात्मा प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च" (तर्क सं०)

(२) "नानात्मानोव्यवस्थातः" (व० ३, २, २०)

(३) "पूर्वाभ्यस्तस्मृत्युनुबन्धाज्जातस्यहर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः" (न्याय द० ३, १९१)

(४) "शरीरोत्पत्ति निमित्तवत्संयोगोत्पत्ति निमित्तकर्म" (न्याय द० ३, १, ६६)

इसके अतिरिक्त आत्मा में संख्या, परममहत्व-परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म, अधर्म, भावना-संस्कार,-जिससे कि-अनुभूत वस्तु का कालान्तर में स्मरण होता है, ये चौदह गुण रहते हैं, किन्तु सांख्य के समान निर्गुण नहीं है। (५)

न्याय और वैशेषिक दर्शन का मन।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में लिङ्ग शरीर की कल्पना नहीं है, वे लिङ्ग शरीर का कार्य केवल मन से ही ले लेते हैं, जीवन काल में तो उन के मत में सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर जो सांख्यमत में अठारह तत्वों से बना हुआ होता है, उस का कोई प्रयोजन नहीं है, शरीर के सब कार्य स्थूल शरीर से ही निकल जाते हैं, किन्तु मरण के पश्चात् जब एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में मनको प्रवेश करना पड़ता है, अथवा स्वर्ग तथा नरक में दूर देश में वहां के शरीर में प्रवेश करनेके लिये उसे जाना पड़ता है, उस काल में एक सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति मानते हैं, जिसका नाम प्रशस्तपादाचार्य जो वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार हैं " अतिवाहित " बताते हैं, इस शरीर की उत्पत्ति के मानने की आवश्यकता इन्हें इस लिए हुई कि सृष्टि के आरम्भ से महाप्रलय पर्य्यन्त शरीर में प्रवेश करकेही मन कार्य करता है। विना शरीर के सृष्टिकालमें कोई कर्त्ता हुआ नहीं देखा जाता है।

उस काल में भी इस अतिवाहिक शरीर की कल्पना प्रशस्तपादाचार्य के वचन से ही प्रतीत होती है सूत्रकार केवल मनकी ही गति कहते हैं।

---

(५)"तस्यगुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म संस्कार संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः" (प्रशस्तपाद-भाष्य म्)

मरणानन्तर मन में क्रिया तथा अतिवाहित शरीर की उत्पत्ति अदृष्ट वश से होती है। जीवनकाल में पहिले आत्मा में कोई प्रकार की इच्छा या द्वेष उत्पन्न होकर, प्रयत्न उत्पन्न होता है, उसकी सहायताको लिये हुए आत्मा और मनका संयोग होता है, उसी से फिर नेत्र तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियों के साथ संयोग होने के लिये मन में क्रिया होती है, क्यों कि-जैसा अभिप्राय होता है, उसी के अनुसार अन्य इन्द्रियों से विषयों, (रूपरसादिकों) का ज्ञान होता है। स्वतंत्रता से कोई इन्द्रिय किसी वस्तु के ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता इसी लिये आत्मा और चक्षुः आदि इन्द्रियों के बीच में मन के सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। क्यों कि-आत्मा व्यापक होने से सदा ही सब इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है, यदि बीच में कोई अन्य वस्तु न हो तो सब इन्द्रियोंसे दर्शन आस्वादन आदि कार्य एक ही काल में हो जावें, किन्तु ऐसा होता नहीं है॥

न्याय-वैशेषिक दोनों दर्शनों में मनके अतिरिक्त अन्य चक्षु आदि सब इन्द्रिय शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं; और उसके नाशके साथ नष्ट होजाते हैं। केवल मनही आत्मा का निरन्तर साथदेता रहताहै जब तककि-महाप्रलय न हो।

महाप्रलयके अनन्तर फिर सृष्टि के आरम्भसे पहिले निस्तब्ध (निश्चेष्ट) जैसा रहता है, जब सृष्टि का आरम्भ काल आताहै अदृष्ट (धर्म, अधर्म) के अनुसार उसमें क्रिया होने लगती है, जिसके कारण वह उस समयमें नवीन उत्पन्न हुए शरीरमें जा प्रवेश करताहै। सृष्टिके आरम्भ कालमेंसब आत्माओंके लिए जैसा २ अदृष्ट हो अलग २ शरीर उत्पन्न हो जाते हैं, और प्रत्येक आत्माओंके जो भिन्न २ मन हैं, वे उस उस

के शरीरमें प्रवेश कर लेते हैं। उसी समयसे फिर सब जीवात्मा अपने २ धर्म व अधर्मके अनुसार सुख दुःखोंको भोगने लगते हैं

न्या० वै० मोक्ष।

जब पुरुष ईश्वरार्पण बुद्धिसे निषिद्ध वर्जित कर्मोंका अनुष्ठान करता है, जिससे कि-फिर कोई नवीन सुख दुःखका बीज उसके आत्मा में उत्पन्न नहीं होता, और पूर्व संचित पाप पुण्यकी थैली भोगते २ खाली हो जाती है, उसी समय जीव का बन्धन टूट जाता है अर्थात् उसके पीछे जो परमाणु रूप मनका अदृष्टकारित सम्बन्ध लगा हुआ है, टूट जाता है, और जीव मुक्त हो जाता है। उस समय मन भी जड़ता को धारण कर लेता है आत्मा के साथ किसी प्रकारके कार्य करने की उसमें शक्ति नहीं रहती।

सांख्य, न्याय और वैशेषिक

तीनों दर्शनोंकेतात्पर्यका उद्घाटन

तीनों दर्शनोंके मतमें आत्मा नाना और विभुहै, अन्य२ आत्मा के विशेषणों में न्याय और वैशेषिक दर्शन दोनों समान विचार हैं,किन्तु सांख्य प्रायः उनसे पृथक् मार्ग पर चलता है। जिन बातोंमें उक्त दोनों पक्ष विभिन्न मत हैं, उनके सम्बन्ध में पहिले लिखा जा चुका है, अब उनके तुल्य सिद्धान्तों के अवलम्बन पर सम्मिलित भाव प्रकाशित किया जाता है।

ये तीनोंही दर्शनकार आत्मा को संख्यासे अनन्त और परिमाण से परम महान् समझते हैं। जितने जीवात्मा हैं, सभी आकाश तथा परमात्मा के समान व्यापक हैं,जिस प्रकार आकाश का अनुमान मात्र होता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी अनुमान से ही निश्चित होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का गोचर नहीं है। व्यापक होनेसे आत्मा चल फिर नहीं सकता

जो कुछ चलना फिरना होता है, वह सब शरीरों का है। मृत्यु के समय में भी आत्मा शरीर को छोड़ नहीं सकता। शरीर का छोड़ना तथा ग्रहण करना मन या सूक्ष्म शरीर का कार्य है स्वर्ग और नरक में मन या लिङ्ग शरीर ही आता जाता रहता है, आत्मा व्यापक होनेसे सदा ही स्वर्ग व नरक आदि सकल स्थानों में रहता ही है, सर्व काल में सब स्थानों में रहने पर भी सब स्थानों के सुख दुःखों को नहीं भोगता, किन्तु जहां उस का मन या लिङ्ग शरीर चला जाता है, वहीं सुख दुःखों को भोगता है सब स्थानों में आत्मा ज्ञान शून्य रहता है, किन्तु उसका मन जितने आत्मा को आकलित या व्याप्त कर लेता है उतने ही आत्म देश में ज्ञान रहता है मन परिमाण से अत्यन्त सूक्ष्म अथवा परमाणु रूप है वह कुछ बड़ा नहीं है उस परमाणु रूप मन के देश में ही जहां वह रहे या चला जाय, वहीं जितना आत्मा परमाणु परिमाण है, सुख दुःखों का अनुभव करता है, उस स्थान के अतिरिक्त अन्य सब विश्वव्यापी आत्मा सदा मुक्त तथा जड़ रूपसे अविशिष्ट रहता है, मानों एक मच्छर ने महाकाश को बद्ध कर रक्खा है, मच्छरके भीतर महाकाश के एक सूक्ष्म भाग के आजाने से महाकाश बद्ध हो जाता है, किन्तु उसके अतिरिक्त उस जगद्व्यापी महाकाशके मुक्त महाभाग से मुक्त नहीं, ऐसी ही सूक्ष्म शरीर या मन के कारण विभु आत्मा की शोच्य अवस्था है, संसारावस्था में जीवात्मा का यह वृत्तान्त है, मुक्तावस्था में समीप २ तीनों ही दर्शनों के मतमें संसारावस्था के समान जीवात्मा का (१) मन से संयोग नहीं छूटता, क्यों कि नित्य और परमाणु रूप होने से वह विभु आत्मा से बाहर जावे भी कहां? केवल उस के अदृष्टकृत सम्बन्ध का अभाव मात्र होता है प्रयोजन यह

१-सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार अव्यक्त रूपमें है।

है कि-पहिले के समान आत्मा के अन्तर्गत रह कर भी मन उससे उदासीन होजाता है, पहिले उस महान् आत्माके किसी एक स्थान में सुख दुःखोंका कांटा या मच्छर सा लड़ता रहता था, किन्तु अब वह लड़ना बन्ध होगया मुक्तावस्था से पहिले भी सूक्ष्म शरीर के मच्छर से अन्य स्थल में ज्ञान शून्य होने के कारण आत्मा मुक्त के अविशेष ही था, अब केवल उसके महत् स्वरूप में मच्छर का खटका ही कम हुआ है, आत्मा में कुछ चेतनपना है, तो यही है कि मुक्तावस्था से पहिले संसार दशा में मनके सम्बन्धसे उसे एक परमाणु देशमें ज्ञान होता है, ऐसी चेतनतो उसके मनोरूप छोटे से घर के भीतर ही रहती है, उस के बाहर आकाश से विशिष्ट उस में कोई अधिक महत्वकी बात नहीं है, जिस प्रकार कोई मनुष्य पुष्पों की गठरी को शिर पर रखकर जहां ले जाता है वहीं गठरी के भीतर रहते हुये पुष्प चले जाते हैं, उसी प्रकार मन या लिङ्ग जहां चलता रहता है, उसी के अन्तर्देश में बुद्धि, सुख, दुःख आदि धर्म भी रहते हुए खिसकते रहते हैं, जैसे २ शरीर गति के अनुसार एक देश से दूसरे देश में जाता है, वैसेही वैसे आकाश के समान पिछला २ आत्मा का भाग पीछे रहता जाता है, और आगे २ का आत्मभाग शरीर में आता जाता है, जिस प्रकार शरीर में सदा ही पूर्व २ का वायु निकलता रहता है, और नवीन २ भरता रहता है, वही व्यवस्था शरीर की गति के साथ शरीर में आत्म-भाग के सम्बन्ध की है।

मोक्षावस्था में जब तत्व-ज्ञान होता है, जिस से कि-उससे उस मनोरूप मच्छर का सम्बन्ध टूटेगा उसी आत्मदेश में तत्वज्ञान नहीं होता जिसमें कि-पहिले अज्ञान था, अर्थात् शरीर में निरन्तर आत्मदेशके परिवर्त्तन की धारा उस

की गतिके अनुसार अविच्छिन्न ही रहती है, जिस आत्मदेश को "मैं शरीरी हूं" "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" ऐसा ज्ञान होता है, उसी में "मैं अशरीरी हूं" "मैं सुख दुःख रहित तथा विभू हूं" ऐसा ज्ञान नहीं होता, सर्वथा अन्य आत्मदेशमें अज्ञान और अन्यही आत्मदेशमें ज्ञान उत्पन्न होता, अन्य ही देश बद्ध और अन्य ही मुक्त होता है।

सम्पूर्ण आत्मा में बंधन तथा मोक्षका प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि मनोदेश के अतिरिक्त देशमें आत्मा को न ज्ञान होता है, और न सुख दुःख आदि की प्रतीति होती है, इसी से वह अन्य देश में मुक्त ही रहता है।

सब शरीरों में सभी आत्मा रहते हैं, तथा उनके वहां रहने में किसी की अपेक्षा किसीमें विशेष नहीं है, देवदत्त के शरीर में जिस प्रकार देवदत्तका आत्मा रहता है उसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण आत्मा रहते हैं, किन्तु देवदत्त के मन के संयोग से देवदत्त के आत्माको ही ज्ञान होता है, अन्य सब आत्मा जो वहां उसके समान ही रहते हैं,उन्हें किसी प्रकारका बोध नहीं होता, जैसे आकाश कदाचित् संख्या से अनन्त हों, और वे सब मिल कर एक हो सकते हैं, इसी प्रकार सब आत्माभी मिल कर एकीभाव से रहते हैं, उनके विभाग का करने वाला कोई अन्य पदार्थ इन शास्त्रों में कल्पित नहीं है कि–जिसके मध्य में पड़ने से सब आत्मा परस्पर भिन्न रहें। विभु;आत्मा के भेद के स्वीकार करने में इन्हें यही आवश्यकता थी कि यदि एक ही आत्मा रहा तो एक के मुक्त होने पर सब जीव मुक्त होजायंगे, अर्थात्–संसार में कोई न कोई मुक्त होते ही सब संसार ही लय हो जायगा, सब संसार का एक दम नष्ट

होना तथा कभी कोई एक आत्मा मुक्त न हो ये दोनोंही बातें इनको स्वीकृत नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि-एकही आत्मा रहे तो सभी जीवोंको एक के सुखी या दुःखी होनेपर सुखी या दुःखी होना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इस लिए नाना आत्मा मानना आवश्यक है।

आत्माको विभु या व्यापक इसलिए मानते हैं कि-यदि विभु न हो,किन्तु परमाणु रूप ही हो तो शरीरके सर्व देशोंमें कण्टकादि वेधसे दुःख और अनुकूल द्रव्यके संयोग से सुखकी प्रतीति होती है, यह दोनों बातें न होंगी, किन्तु नाना आत्मा जब विभु हैं तो वे तत्वतः अलग २ किस रीति पर सिद्ध होंगे या ख्यालमें आवेंगे,इस बातकी अधिक चिन्ता नहीं की।

व्यापक आत्माके जन्म, मरण बन्ध, मोक्ष तथा स्वर्ग, नरकआदि लोकोंमें गमन की व्यवस्था कर ली है,जैसेकि-पहिले दिखाई जाचुकी है।

शरीरके बराबर विभुत्व (व्यापकत्व) मानने में शरीर की बृद्धि व ह्रासके साथ आत्माकी भी बृद्धि तथा ह्रास मानना होगा, जिससे आत्माकी अनित्यता आती है, इसलिए पूर्ण रूपसे आकाशके समान आत्माको विभु मानने को ये बाध्य होते हैं।

शुभ, अशुभ कर्मों से उत्पन्न होने वाले धर्म-अधर्म, जिन से आत्माओंको स्वर्ग और नरक आदि का भोग होता है, वे सब नित्य सम्बंध से आत्मा में ही रहते हैं।

जिस आत्माके शरीर द्वारा कर्मों का अनुष्ठान होता है, उनसे होनेवाला अदृष्ट (धर्म-अधर्म) उसी आत्मामें रहता है, और उस का परिपाक होने पर उसी आत्मा को उसके तत्लो-

कीय (जो उस लोकमें उत्पन्न हुआ है-) शरीर के द्वारा उस के स्वर्ग नरक आदि रूप फलोंका उपभोग होता है।

सब आत्माओंके समान देश होने परभी लिङ्ग या स्थूल शरीर किसी एकही आत्मासे सम्बन्ध किस प्रकार करता है? और किस रीति पर भिन्न २ शरीर पृथक् २ आत्माओंको कृतकर्म या कर्म सम्बंधी बना देते हैं? तथा किस चाल पर अलग २ आत्मा, फलों का उपभोग कर लेते हैं? इन विचित्र प्रश्नोंका उत्तर यही देते हैं कि–पृथक् २ मनों या लिङ्ग शरीरोंका सम्बन्ध, पृथक् आत्माओंके साथ अनादि कालसे चला आता है, एक मन या लिङ्ग शरीरका सभी आत्माओंसे समान रूप से संयोग होने परभी अपने आत्मा से उसका विलक्षण सम्बंध है, उसी के कारण उसके द्वारा अपने ही नियत आत्मा को फलोपभोग करता है, अन्य आत्माभी उसी प्रकार से भिन्न २ देशीय अपने २ लिङ्ग शरीरोंके द्वारा उपभोग करते हैं

मोक्षके पश्चात् लिङ्ग शरीरका नाश होजाता है, उसकी स्थिति का काल आत्माकी संसारके सम्बन्धके आरम्भसे मोक्ष होने तक ही है, नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनके मतमें मन नित्य है, और सब इन्द्रिय अनित्य हैं, इस कारण मोक्षके अनन्तर मन निष्फलही उड़ता फिरता है, और अमुक्त आत्मा बहुत हैं, किन्तु उनके प्रति नियत मन पृथक् २ हैं, इसलिए उनके साथ उस अनाथ मनका उपयोग नहीं।

उसका नाश इसलिए नहीं मानते कि–उनके मतमें परमाणु रूप सब द्रव्य नित्य हैं उनका नाश नहीं होता है। यही सिद्धान्त मनके नाश माननेमें गले पड़कर उन्हें उसके नाश मानने से हटा देता है।

सांख्यने न्याय वैशेषिक के समान आत्मामें ज्ञान, इच्छा,

प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष, तथा धर्म अधर्म साक्षात् सम्बन्ध से स्वीकार न कर उसको शुद्ध स्फटिक पाषाण के समान स्वच्छ या निर्गुण माना है, उस में ज्ञान आदि गुणों का सम्बन्ध ऐसा स्वीकार किया है, जैसा कि- लाल पुष्प पर काच या स्फटिक धरनेसे उसमें साक्षात् जैसा लाल रङ्ग प्रतीत होने लगता है, किन्तु वास्तविक नहीं, परमार्थतः-उनके मतमें अन्तःकरण में ही उक्त सब गुण रहते हैं, उससे वह अन्य दोनों दर्शनों में जो कई एक झंझट उपस्थित हो जाते हैं, उनसे बच जाता है उनके मत में आत्मा में ज्ञानादि गुण मनके साथ इस प्रकार चलते रहते हैं, जैसे-किसी सूत्र में कोई जलका बिन्दु हो, और उस पर उसी सूत्र में माणिक या गोली पोई (पोत) हुई हो, जिसके चलाने से सूत्र के भीतर रह करभी वह जलविन्दु गोली के साथ सरकता रहे, किन्तु पीछे या अन्यत्र नहीं रहता, इस चाल पर वह विन्दु सूत्र और गोली दोनों के ही भीतर रहा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि-गोली के भीतर सूत्र और सूत्र में विन्दु है। परन्तु सांख्यवालों ने समझा कि-" जब गोली के भी भीतर है, और उसके गमनके साथ ही वह चलता है तथा उससे अतिरिक्त वह कहीं मिलता भी नहीं" तो उसको उस सूत्र का धर्म न मानकर उस गोली का ही धर्म क्यों न माना जावे? तथा जिस आत्म देश में पहिले किसी वस्तुका अनुभव उत्पन्न होकर उससे उत्पन्न हुए भावना संस्कार के द्वारा जो फिर उसी वस्तुका स्मरण होता है, वह आत्मा के देशान्तर में ही होता है. जहां स्मरण काल में उसका लिङ्ग शरीर रहे, उसी प्रकार लिङ्ग शरीर के देशमें आत्मा ज्ञानवान् है और अन्य देश में ज्ञान शून्य. यह द्विविध भाव भी सांख्योंको मानना

न होगा, क्यों कि-यह एकान्त रूपसे ज्ञानादि गुणोंको अन्तः-करण सम्बन्धी मान कर आत्मा को निर्गुणमात्र कहते हैं, सब देश में आत्मा एकसा होने से द्वैविध्य नहीं आता है ।

(विद्यामार्तण्ड)

सीताराम शर्मा शास्त्री ।

यह निबन्ध "सारस्वत" अलीगढ़ के भाग ५ अङ्क २-३ में प्रकाशित हो चुका है ।

योग सूची -

- पेट
- सिर
- मधुमेह
- वीर्यदोष
- गला
- आँख
- गठिया
- नाभि
- गर्भाशय
- कमर दर्द
- फेफड़े
- यकृत
- बवासीर
- दमा
- अनिद्रा
- गैस
- जुकाम
- मानसिक शांति

रीढ़ की हड्डी
गला
हृदय रोग
रक्तचाप
सिर दर्द
पाचन शक्ति
मोटापा घटाना
बाल
प्लीहा
कद बढाना
कान
नींद

पेट की बिमारियों में -

1. उत्तानपादासन

2. पवनमुक्तासन

पेट की बिमारियों में...

3. वज्रासन

4. योगमुद्रासन

पेट की बीमारियों में...

5. भुजंगासन

6. मत्स्यासन
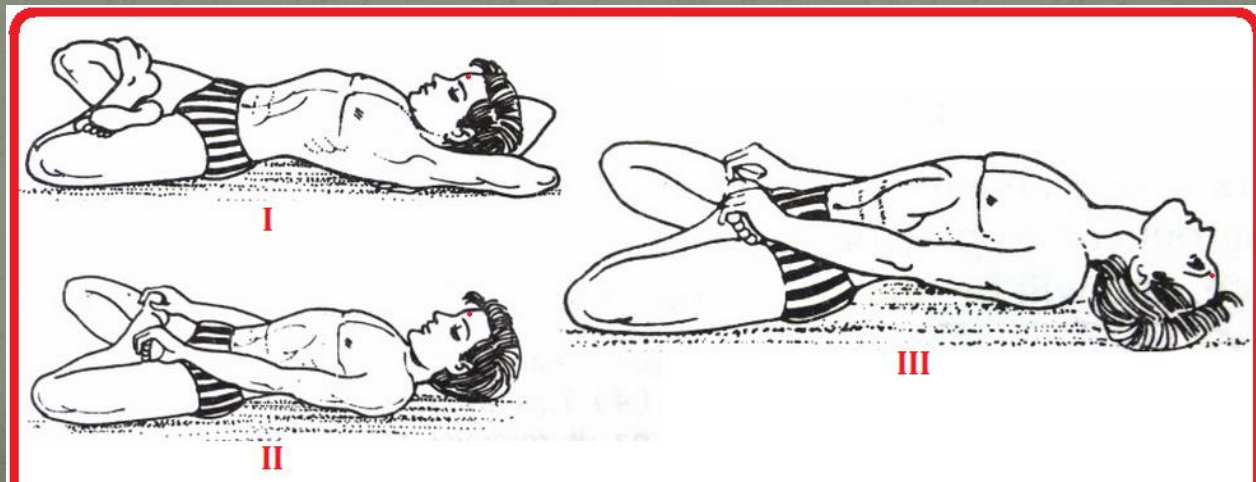
सिर की बिमारियों में -

1.सर्वांगासन
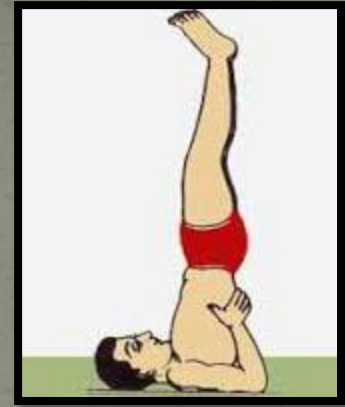
2. शीर्षासन
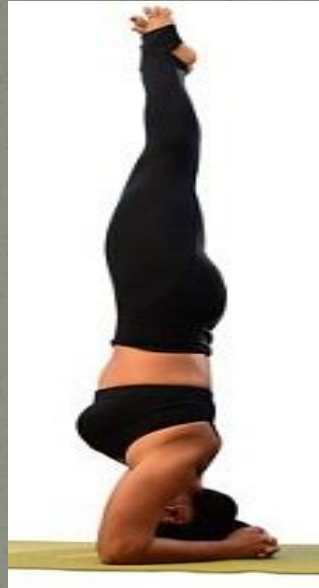
3. चन्द्रासन

मधुमेह के लिए योग

1. पश्चिमोत्तानासन
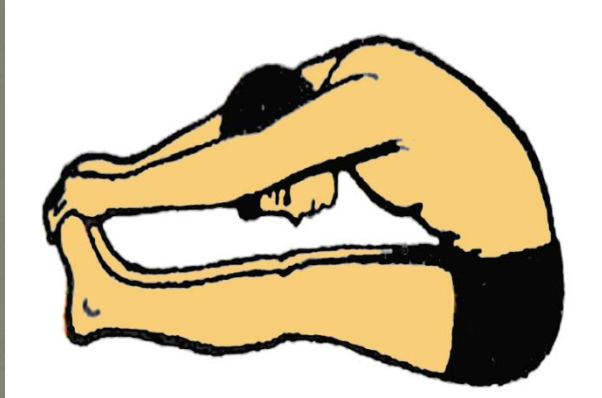
2. नौकासन

3. वज्रासन

4. भुजंगासन

मधुमेह में...

5. हलासन

6.शीर्षासन
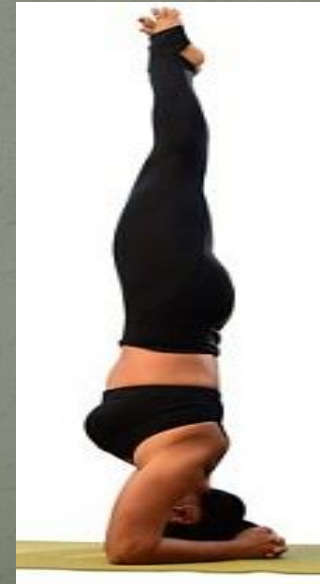
वीर्यदोष के लिए योग -

1. सर्वांगासन
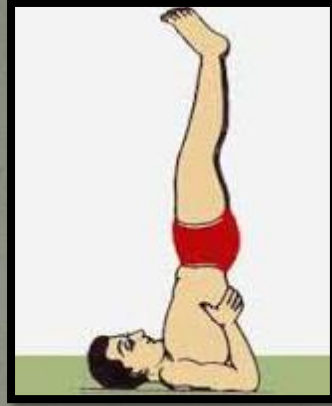
2. वज्रासन

3. योगमुद्रा

गले के लिए योग -

1. सुप्तवज्रासन

2. भुजंगासन

3. चन्द्रासन

आंखों के लिए योग-

1. सर्वांगासन
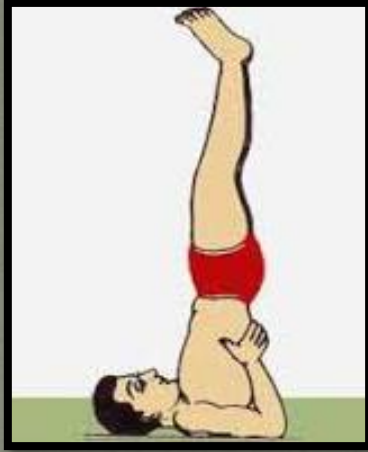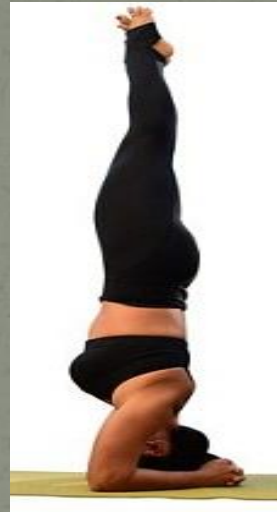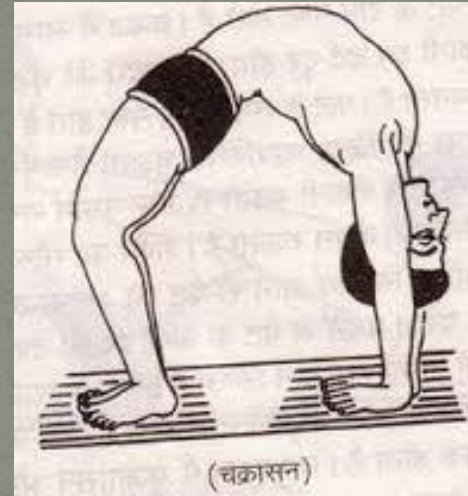
4.चक्रासन

3. भुजंगासन

गठिया के लिए योग -

1.पवनमुक्तासन -
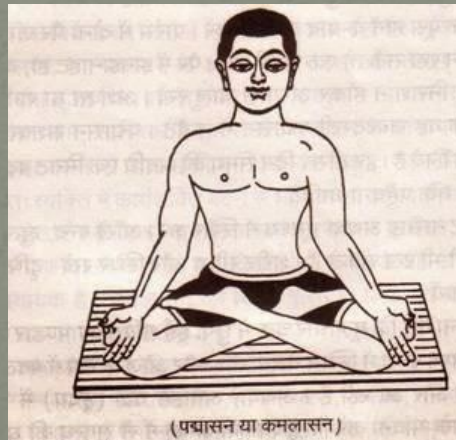
3. सुप्तवज्रासन -

2. पद्मासन -
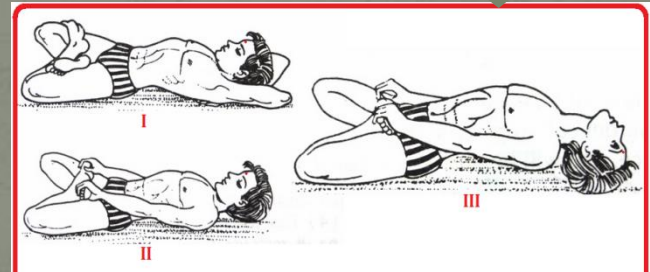
4. मत्स्यासन -

5. उष्ट्रासन
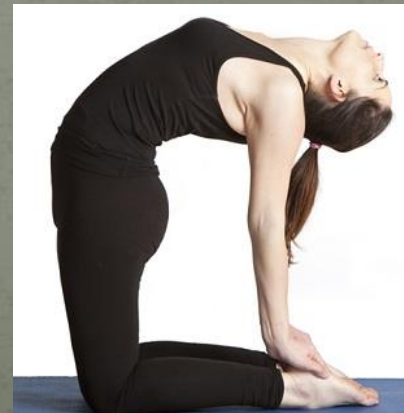
नाभि के लिए योग -

1. धनुरासन

2. नाभि-आसन

3. भुजंगासन

गर्भाशय -

1. उत्तानपादासन -

2. भुजंगासन

3. सर्वांगासन
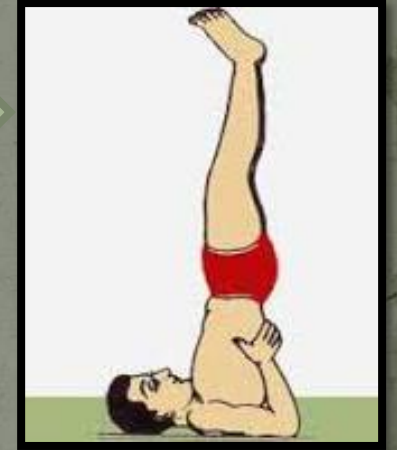
4. ताड़ासन
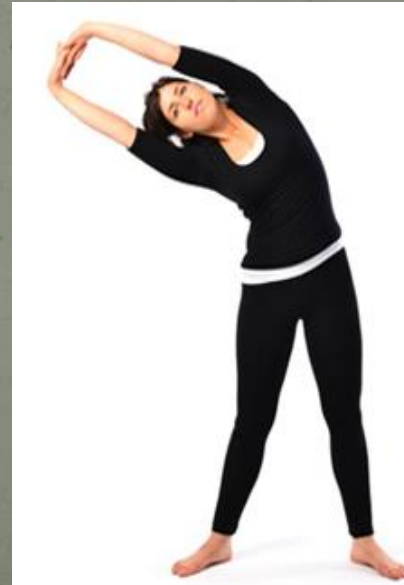
कमर दर्द -

1. हलासन

2. भुजंगासन

3. चक्रासन
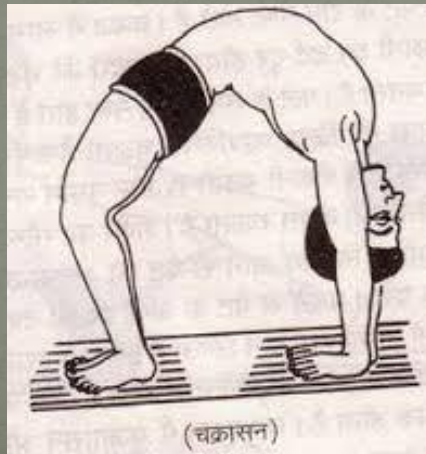
4. धनुरासन

फेफड़े के लिए

1. वज्रासन

2. मत्स्यासन

2. सर्वांगासन
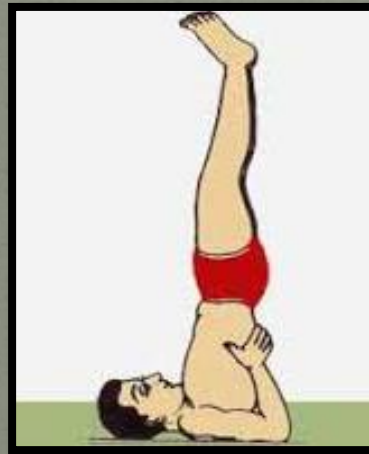
यकृत के लिए -

1.लतासन

2.पवनमुक्तासन

3.यानासन

गुदा,बवासीर,भंगदर आदि में -

1.उत्तानपादासन

2.जानुशिरासन
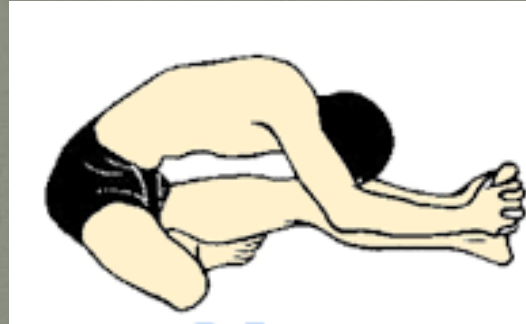
3.यानासन
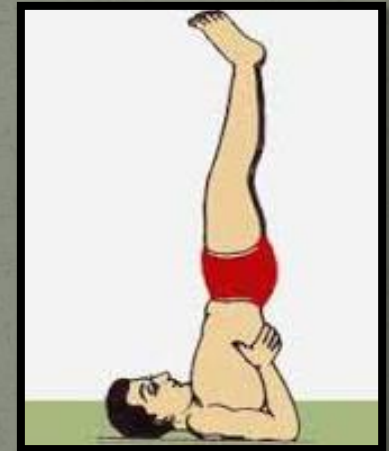
4. सर्वांगासन

दमा

1.सुप्तवज्रासन

2.मत्स्यासन
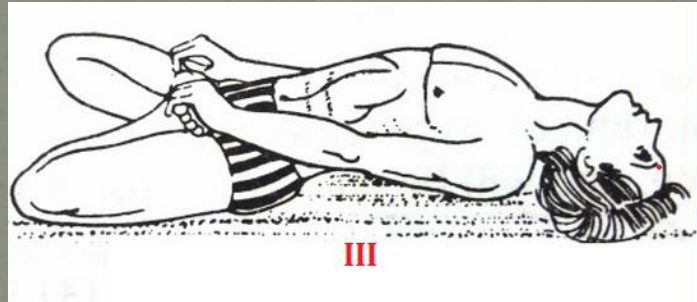
3.भुजंगासन

अनिद्रा -

1.शीर्षासन

2. सर्वांगासन
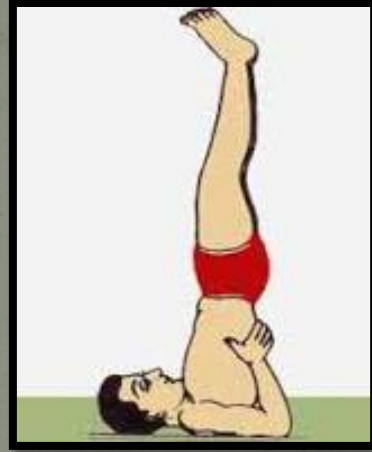
3.योगमुद्रासन

4. हलासन

गैस -

1.पवनमुक्तासन

2.जानुशिरासन
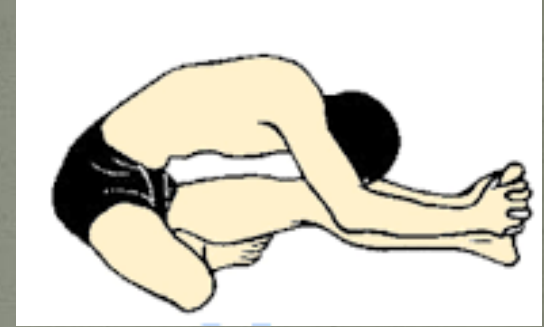
3.योगमुद्रा

4.वज्रासन

जुकाम -

1.शीर्षासन

2.सर्वांगासन
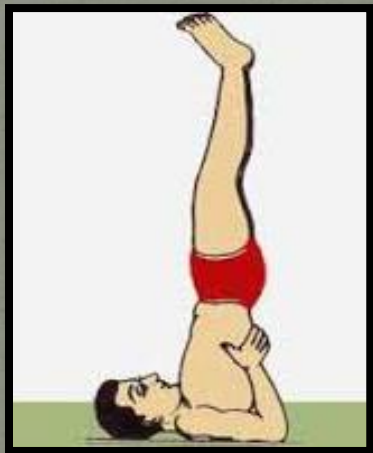
3.हलासन

मानसिक शांति के लिए

1.सिद्धासन

2.योगासन

3.योगमुद्रासन

4.शतुरमुर्गासन

5.खगासन

रीढ़ की हड्डी के लिए -

1. सर्पासन
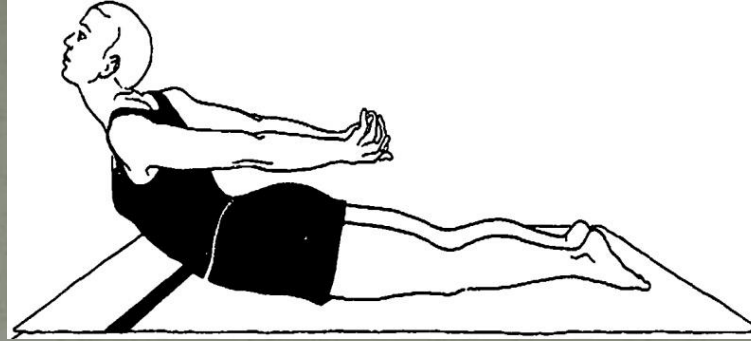
4.सर्वांगासन

2.पवनमुक्तासन

3.शतुरमुर्गासन
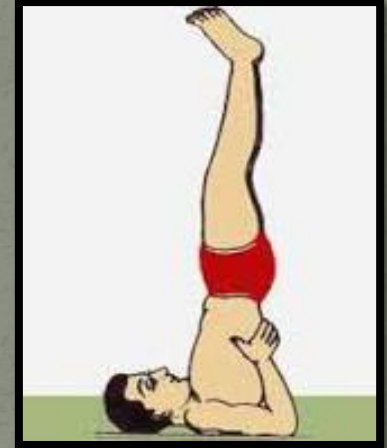
गठिया के लिए -

1. पवनमुक्तास

2. ताड़ासन

3. साइकिल संचालन

गुर्दे की बीमारी में -

सर्वांगासन
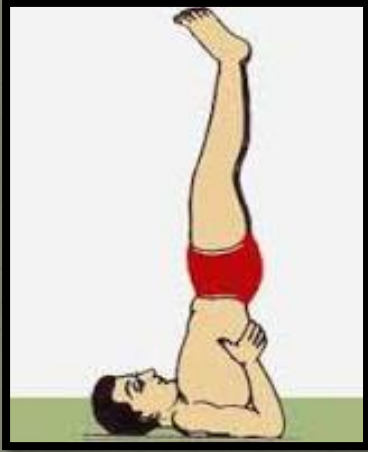
हलासन

वज्रासन

पवनमुक्तासन

गले के लिए

सर्पासन
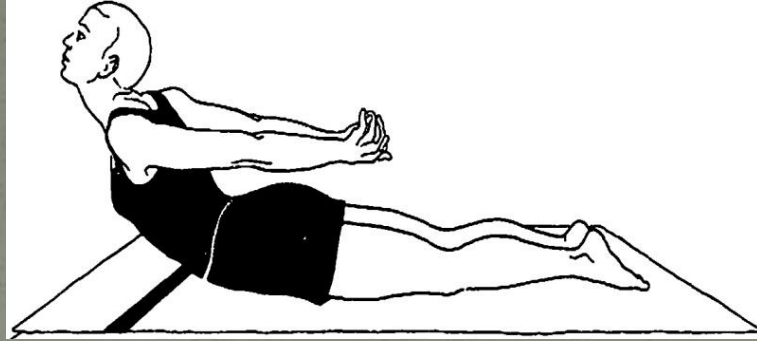
हलासन
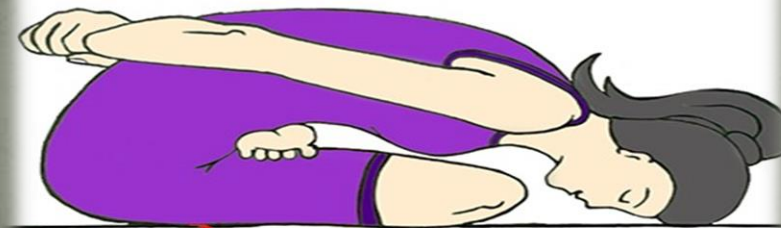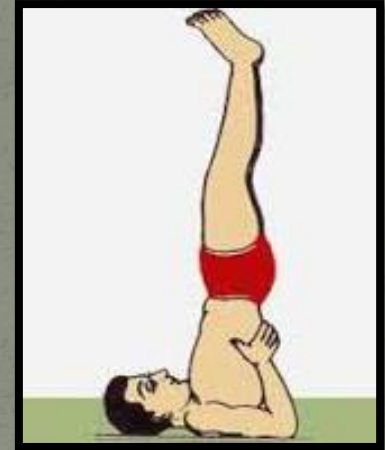
सर्वांगासन

योगमुद्रा

हृदय रोग के लिए -

शवासन

साइकिल संचालन
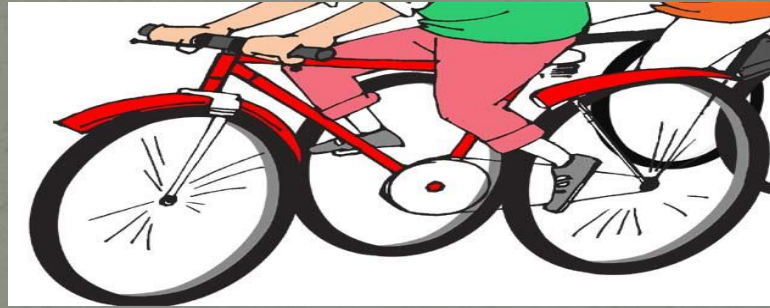
सिद्धासन

दमा के लिए -

1.सुप्तवज्रासन

2.सर्पासन
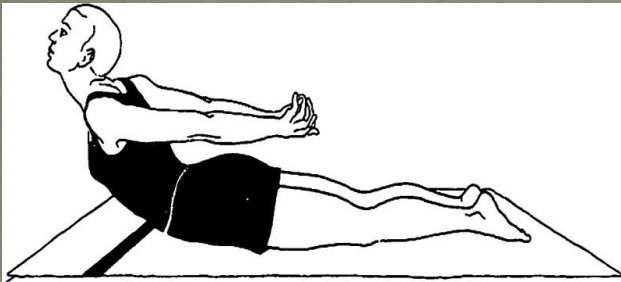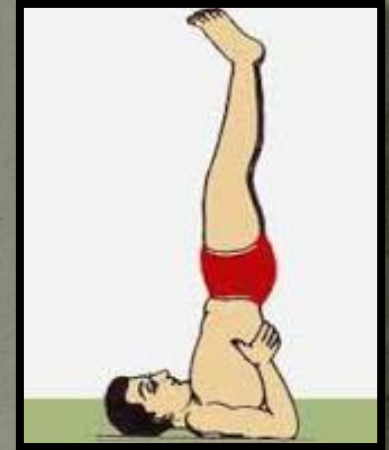
3.सर्वांगासन

4.पवनतुक्तासन

5.उष्ट्रासन

रक्तचाप के लिए–

1.योगमुद्रासन

2.सिदधासन

3.शवासन

4.शक्तिसंचालन
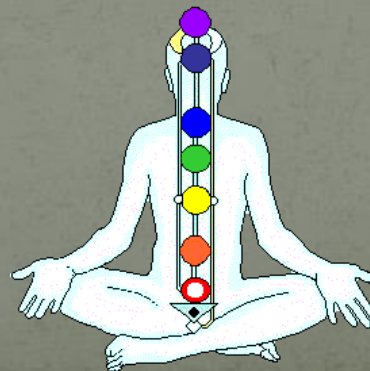
सिर दर्द के लिए

1.धनुरासन

2.शतुरमुर्गासन

3.सर्वांगासन
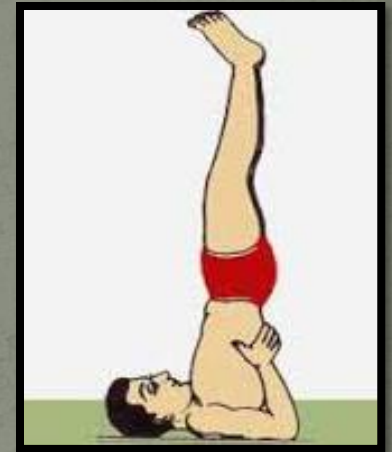
4.सर्पासन
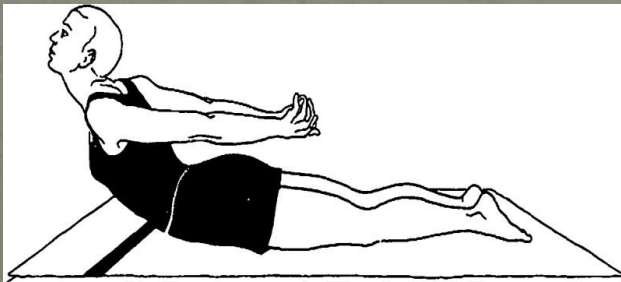
5.वज्रासन
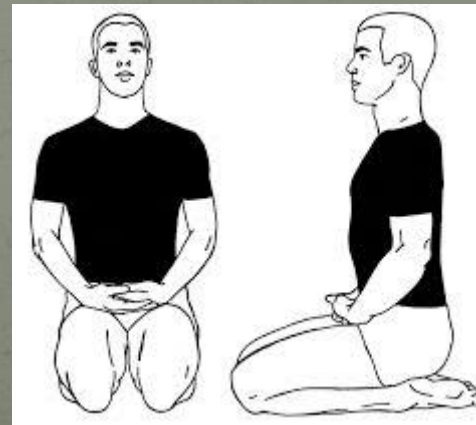
पाचन शक्ति बढ़ाने के लिए -

1.यानासन

2.नाभि आसन
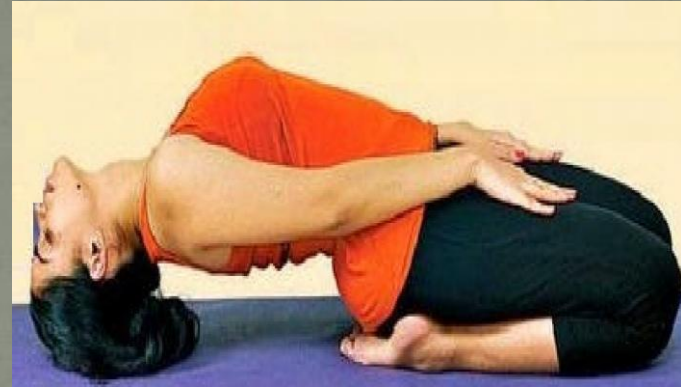
3.सर्वांगासन

4. वज्रासन
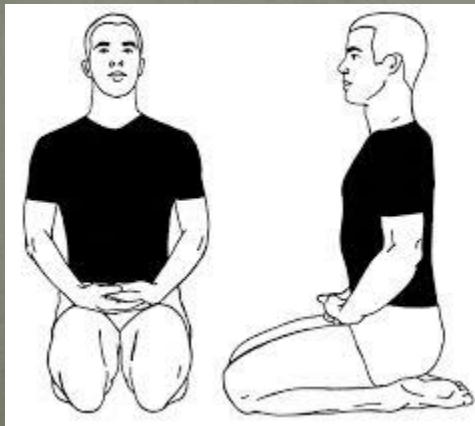
मोटापा घटाने के लिए–

4.पवनतुक्तासन

2. नाभि आसन
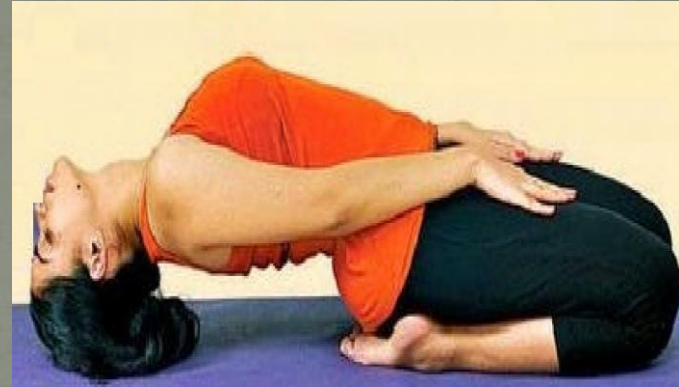
4.वज्रासन
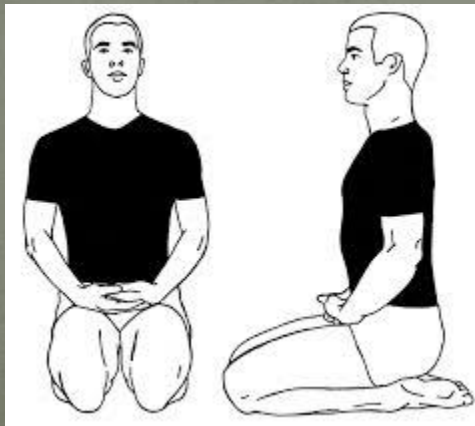
3.सर्वांगासन

5.सर्पासन
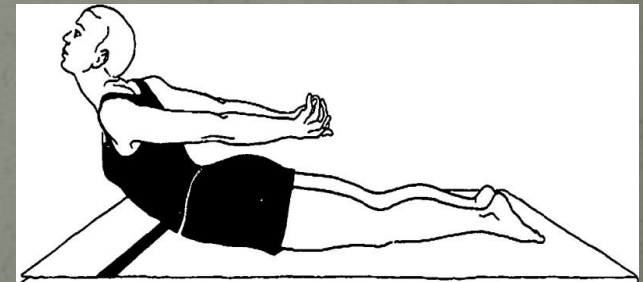
बालों के लिए -

1.वज्रासन

2.सर्वांगासन
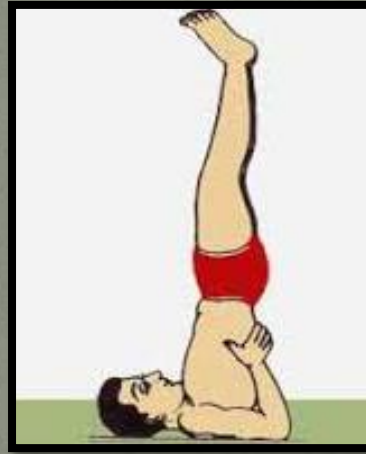
3.सर्पासन
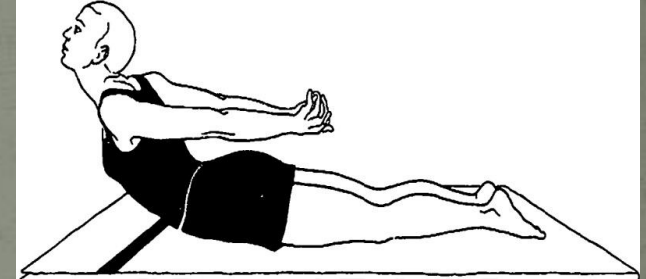
4.शतुरमुर्गासन

प्लीहा के लिए-

1.यानासन

2. नाभि आसन

3.सर्वांगासन

4.हलासन

कद बड़ा करने के लिए-
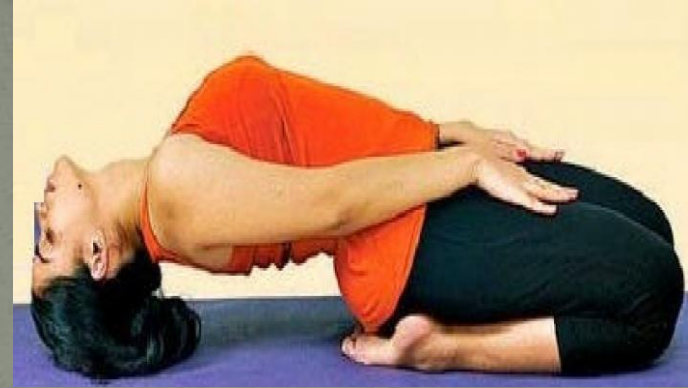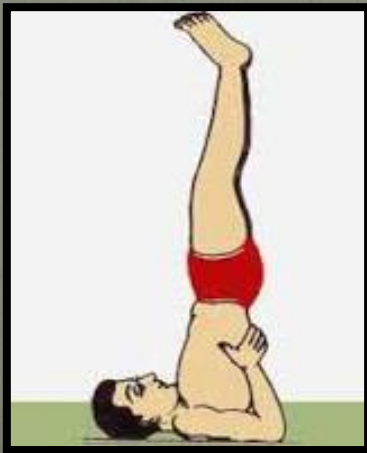
1.धनुरासन

2. ताड़ासन
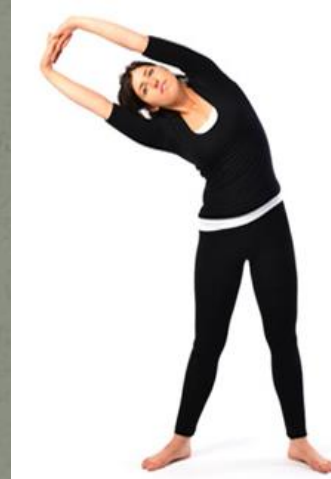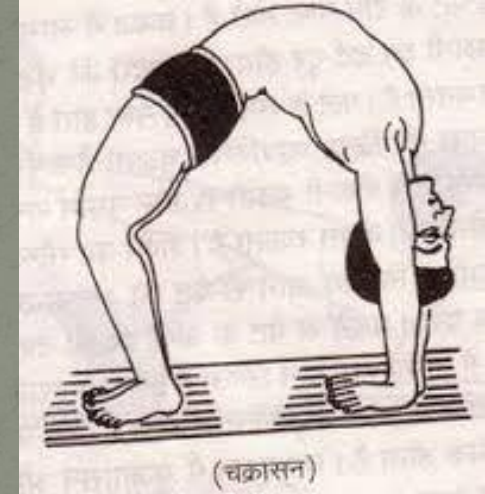
3.चक्रासन
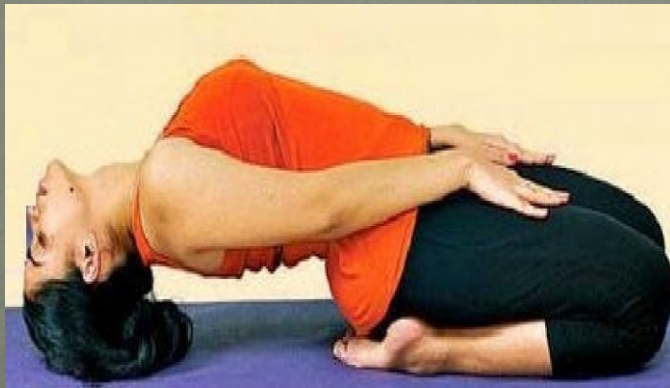
4.नाभि आसन

5.शक्तिसंचालन
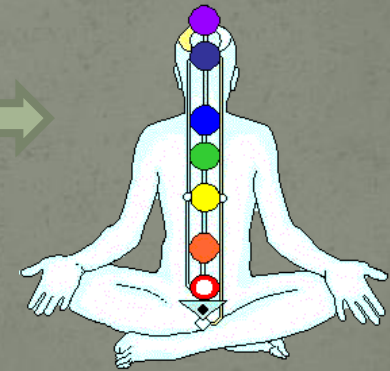
कानों के लिए–

1.सर्वांगासन
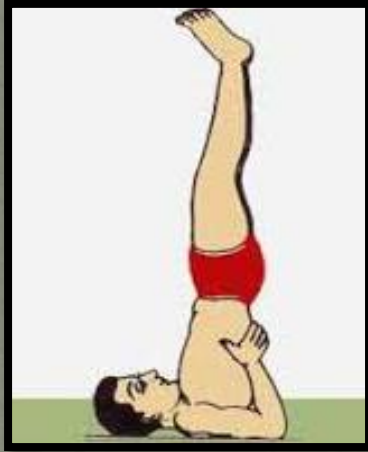
2.सर्पासन
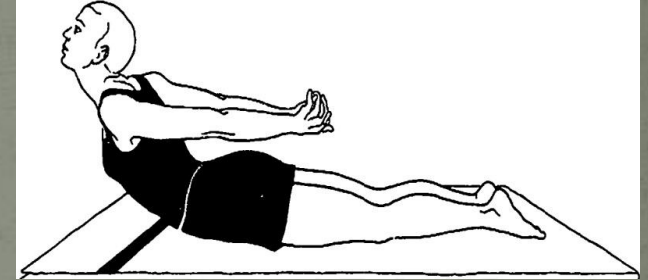
3.धनुरासन
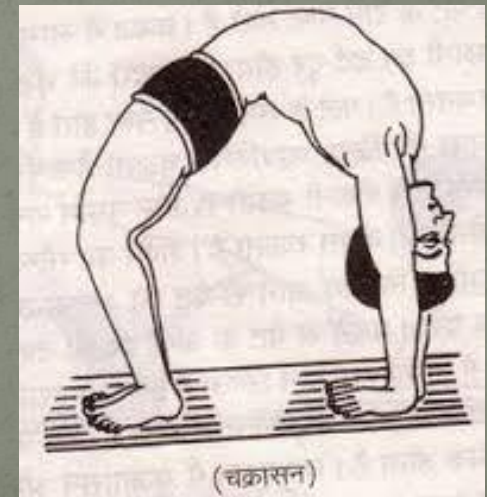
4.चक्रासन

नींद के लिए–

1.सर्वांगासन
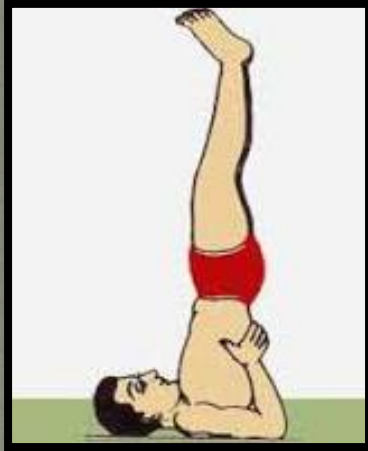
2.सर्पासन
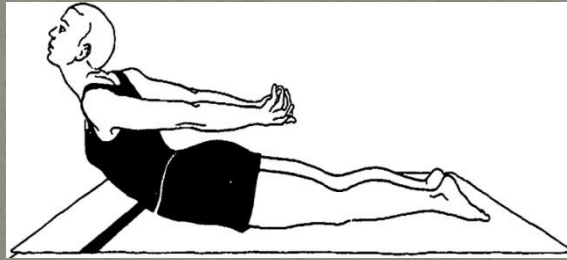
3.योगमुद्रासन

4. नाभि आसन

5. सुप्तवज्रासन

धन्यवाद

- 5000 वर्षों के ज्ञान के महासागर राजीव दीक्षित जी को सुनें और सुंदर एवं स्वावलम्बी स्वदेशी भारत बनाने में हमारा सहयोग दें।

स्वदेशी क्रान्तिकारी
राजीव दीक्षित जी
कृपया अधिक से अधिक शेयर करें।
योग करें निरोग रहें।
वेबसाइट

स्वदेशी क्रान्तिकारी रोबिन सिराना

योग दिग्दर्शिका

योगिराज पं० विजय प्रकाश मिश्र

योग दिग्दर्शिका

विशेष उपयोगी आसनों की विधि एवं उनसे होने वाले लाभ

योग दिग्दर्शिका

विशेष उपयोगी आसनों की विधि एवं उनसे होने वाले लाभ

लेखक

योगिराज पं० विजय प्रकाश मिश्र

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग

वाराणसी

योग दिग्दर्शिका

योगिराज पं० विजय प्रकाश मिश्र

प्रकाशक

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग

बी 27/98, ए-8, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी- 221010

टेलीफोन – (91-542) 2314060

e-mail:pilgrimspublishingvns@gmail.com

website-www.pilgrimsonlineshop.com

www.pilgrimsbookhouse.com

पिल्ग्रिम्स प्रथम संस्करण – 2015

सम्पादन — वशिष्ठमुनि ओझा

आवरण — क्रिस्टोफर बर्चेट

लेआउट — सुरेश जायसवाल

ISBN : 978-93-5076-062-8

मुद्रण : भारत

विषय-सूची

आसन करते समय ध्यान देने योग्य कुछ बातें

१. शरीर और वस्त्र को साफ रखें।

२. आसन हमेशा खुली व शुद्ध हवा में करना चाहिये।

३. आसन हमेशा खाली पेट करना चाहिये। चाय आदि कुछ भी न लें क्योंकि ये पेट में अम्ल से विष बन जाता है।

४. आसन कभी भी जल्दीबाजी में न करें।

५. आसन हमेशा प्रसन्नचित्त होकर करना चाहिये।

६. आसन करते समय किसी का अनावश्यक रूप से आना या कोई अप्रिय चर्चा न होनी चाहिये।

७. आसन प्रात: या सन्ध्या के समय करना चाहिये। आसन और भोजन के बीच चार घंटे का अन्तर रखें। आसन करने के तत्काल बाद कुछ न खाना चाहिये।

८. योगाभ्यासी को सदा सात्विक भोजन करना चाहिये और योगाभ्यासी को दूध जरूर लेना चाहिये ताकि शरीर एवं अंगों का विकास होता रहे।

९. साधारण आसन पहले और कठिन आसन बाद में करें।

१०. टूटे-फूटे अंगों वाले व्यक्तियों को सामान्य आसन ही करना चाहिये।

११. आसनों को करते समय बीच-बीच में शवासन जरूर करें।

१२. रजस्वला होने पर स्त्रियां ४-५ दिन तक पद्मासन या गोमुखासन ही करें।

१३. गर्भ धारण करने पर स्त्रियां केवल तीन मास तक ही आसन कर सकती हैं।

१४. स्वरयुक्त आसनों तथा कठिन आसनों को अत्यन्त सम्भाल कर करे।

१५. अपनी आसन-पद्धति में बिना जानकार व्यक्ति के कहे परिवर्तन नहीं करना चाहिये।

१. वज्रासन

विधि– दोनों जाँघों के आन्तारिक भाग को दोनों पिण्डलियों से मिलाकर घुटनों को आगे और पैरों को पीछे की ओर मोड़कर वज्राकृति बनाते हुए नितम्बों से कुछ आगे ले जाकर दोनों एड़ियों को मिलाकर नितम्बों को इन पर टिकाकर बैठ जाएँ। घुटनों पर हथेलियाँ रखकर, समकाय ग्रीव होकर बैठ जाएँ, दृष्टि को सामने सीध में रखें।

श्वास प्रक्रिया – वज्रासन में श्वास प्रक्रिया सामान्य रहती है।

लाभ– यह एक ऐसा आसन है जो कि आप खाना खाने के बाद भी कर सकते हैं। इस आसन में मेरुदण्ड सीधा होने से पाचन शक्ति ठीक ढंग से काम करती है जिससे ब्लडप्रेशर, वीर्य दोष, साइटिका, घुटनों का दर्द, पीलिया आदि रोग ठीक होते हैं। इसी आसन में बैठकर भस्तिका प्राणायाम भी किया जा सकता है। ध्यान रहे, इस आसन में बैठने पर शरीर मेरुदण्ड से लेकर सिर तक एक सीध में रखें। शरीर में अकड़न न आने दें।

निषेध – पैरों के टूटे अंगों वाले व्यक्ति इसे न करें।

२. अर्धमत्स्येन्द्रासन

विधि– जमीन पर बैठकर बाएँ पैर की एड़ी दाएँ नितम्ब के नीचे रखकर बाएँ पांव के बाएँ घुटने में दक्षिण भाग की ओर भूमि पर रख लें। फिर बायाँ हस्त दायें घुटने के बाहर ले जाकर दक्षिण पैर के पंजों को पकड़ें। दायाँ हाथ पीठ की तरफ घुमाकर दक्षिण जाँघ की ओर सटाकर गर्दन घुमाकर पीठ देखने का अभ्यास करें।

श्वास प्रक्रिया – सामान्य।

लाभ – यह आसन कब्ज, वीर्य दोष मिटाता है। साथ में हार्निया, मधुमेह को दूर करके पाचन शक्ति बढ़ाता है।

३. पद्मासन

विधि – सर्वप्रथम बाएँ पैर को दक्षिण जाँघमूल में एवं दाएँ पैर को वाम जाँघमूल में ऐसे लगायें कि नाभि के नीचे पेडू के मध्य में दोनों एड़ियाँ आ जुड़ें और दोनों पादतल दोनों जाँघों पर ठहर जाएँ। अब मेरुदण्ड ग्रीव शरीर को सीधा रखकर हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा बनाकर रख लें। दृष्टि को नासाग्र पर स्थित करें तथा शान्त बैठ जाएँ।

श्वास प्रक्रिया – श्वास प्रक्रिया सामान्य या प्राणायाम की विधि।

लाभ – इस आसन के अभ्यास से यह कटिभाग तथा इससे निचले भाग की नस-नाड़ियों को दृढ़ और लचीला बनाता है, श्वसन क्रिया को सम रखता है। इन्द्रियों और मन को शान्त कर यह विशेष रूप से एकाग्रता का सम्पादन करता है। अजीर्ण, आँव, वात, आँतों के रोग, वीर्य दोष को ठीक करता है।

निषेध – टूटे-फूटे अंगों वाले व्यक्ति इसे न करें। दोनों पैर के घुटने जमीन न छोड़ें और रक्तचाप वाले व्यक्ति इसे न करे।

४. उत्तानपादासन

विधि – पीठ के बल भूमि पर लेट जाएँ। दोनों हथेलियाँ जाँघों के दोनों ओर भूमि पर स्थापित करें। फिर दोनों पैरों को भूमि से लगभग छः इंच ऊँचा उठाकर पंजों का खिंचाव सामने देते हुए पैरों को सीधा तान दें। दृष्टि सामने पैरों के अँगूठों पर स्थिर रखें।
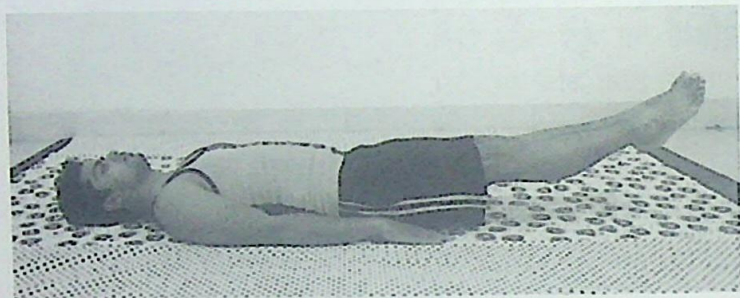
श्वास प्रक्रिया – इस आसन के दौरान जब पैर जमीन से उठायें तो श्वास बाहर लें, जब पैर उठा हो तो श्वास रुका होना चाहिये, पैर को जमीन पर लगाते हुए श्वास सामान्य कर दें।

लाभ – इस आसन के अभ्यास से यह हार्निया, आँत उतरना, फाइलेरिया, पेट में गैस पैदा होना, कब्ज और टांगों की दुर्बलता और मोटापा कम कर रक्त शुद्धि करता है। हृदय बलवान, नेत्र ज्योति तीव्र, सिर- पीड़ा दूर कर पाचन शक्ति तीव्र करता है।

निषेध – रक्तचाप वाले व्यक्ति इसे न करें, महिलाएं गर्भावस्था में न करें।

५. पवन मुक्तासन

विधि – सर्वप्रथम पीठ के बल चित लेट जाइए, अब बायें पैर को मोड़कर सीने से सटाइये और दोनों हाथों से मुड़े हुए पैर को बाँधकर घुटने से नासिका को सटाने का प्रयास करें। पूर्वावस्था में आने के बाद यही आसन दूसरे पैर से करना चाहिए। एक-एक पैर का अभ्यास करने के बाद दोनों पैरों से एक साथ मोड़कर करें। यह क्रिया तीन बार करें।

श्वास प्रक्रिया – पैर ऊपर ले जाते समय श्वास को बाहर निकाल दें और पैर खोलते हुए श्वास ग्रहण करें।

लाभ – इस आसन से उदर तथा हृदय सम्बन्धी तमाम विकार दूर होते हैं। वायु विकार से पीड़ित प्राणी के लिए यह आसन रामबाण सिद्ध होता है।

निषेध – हाई ब्लडप्रेशर एवं हृदय के रोगी इसे न करें।

६. नौकासन

विधि – सीधे पीठ के बल जमीन पर लेट जायँ। दोनों हाथों को पैर की सीध में रखें। टाँगों को भूमि पर इतना उठायें कि कमर जमीन से उठ जाए, साथ ही साथ गर्दन व सिर भी पैर के बराबर उठा लें। हाथ व घुटने मुड़ने न पाएँ। पैर के अंगूठे व नेत्र एक सीध में रहें।

श्वास प्रक्रिया – पैर को उठाते समय श्वास थोड़ा उदर से बाहर रखकर रोके रहें। श्वास लेते समय पूर्व स्थिति में आ जाएं।

लाभ – यह आसन अनावश्यक उद्गार (डकार), हिचकियां दूर करता है और छोटी बड़ी आंतों को बल प्रदान करता है।

निषेध – कमर-दर्द, रक्तचाप एवं सिर-दर्द वाले व्यक्ति इसे न करें।

७. शलभासन

विधि – भूमि पर पेट के बल लेटें, ठुड्डी भूमि पर लगी हुई हो, और हाथ-पैर को बाजू की सीध में शरीर के साथ लगायें। शरीर का वजन बाजुओं पर लाते हुए दोनों टाँगों को जहाँ तक हो सके पीछे की ओर उठाते हुए यथाशक्ति रोकें। यह क्रिया अभ्यास के दौरान एक-एक पैर से करते हैं और पूर्ण शलभ-आसन दोनों पैरों के साथ किया जाता है।
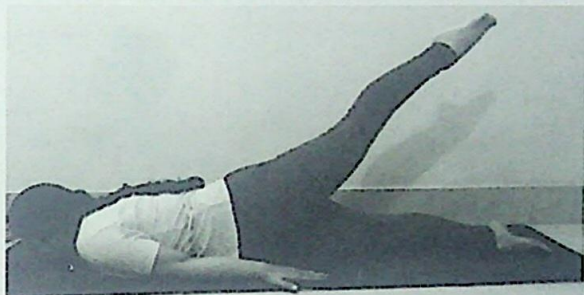
श्वास प्रक्रिया – गहरा श्वास लें और श्वास को रोककर पूरे शरीर को अकड़कर रोकें। श्वास को छोड़ना हो तो पैर जमीन पर रहे।

लाभ – कब्ज को दूर करके पेट पतला करने में मदद करता है। अग्निमन्दता के विकार दूर होते हैं, तथा भूख ठीक लगती है। गर्भाशय एवं मासिक धर्म सम्बन्धी विकार दूर होते हैं। कमर दर्द के लिए यह आसन लाभप्रद है।

निषेध – गर्भ, उदर पीड़ा, रक्तचाप एवं घुटने के दर्द में यह आसन न करें।

८. सर्पासन

विधि – बाजू शरीर से सीधे लगाकर, भूमि पर पेट के बल लेटें, माथा भूमि पर रखें, दोनों बाजुओं को कोहनियों से मोड़कर हथेलियां बगल के दोनों तरफ रखें। धीरे-से सिर को ऊपर उठायें, गर्दन अधिक से अधिक पीछे की ओर मोड़ें, अब बाजुओं का सहारा लेते हुए सीने, गर्दन, पेट का सारा भाग कमर तक उठाकर इसी स्थिति में रहें। दोनों पैर परस्पर सर्प की पूँछ जैसे मिले होने चाहिये।

श्वास प्रक्रिया – गर्दन उठाते समय पूरक कर थोड़ा श्वास उदर स्थल में रखकर कुम्भक किये रहें। जब गर्दन नीचे करनी हो, श्वास को छोड़ दें।

लाभ – इसके अभ्यास से दमा और कफ के विकार, ग्रीवा, छाती, उदर, कटि, आंत, पैर, भुजाएं, हथेलियां, पुष्ट-स्वस्थ, रीढ़ की अस्थियां लचीली बनी रहती हैं, गण्डमाला, गुल्म आदि रोग होने की सम्भावना नहीं रहती है।

निषेध – ज्वर से पीड़ित, रक्तचाप एवं गर्भावस्था में महिलाएं इस आसन को न करें।

९. धनुरासन

विधि – भूमि पर पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर ले जाकर घुटनों को मोड़कर पैरों को भी पीठ की ओर बढ़ा लें। दोनों हाथों से दोनों पैरों के टखने इस प्रकार पकड़कर ऊपर की ओर तानें कि पैरों की अँगुलियाँ भुजाओं की ओर हो जाएँ। नेत्र आसमान की ओर हों। इस प्रकार प्रत्यंचा लगे धनुष के समान शरीर बन जायेगा। यथासंभव इस स्थिति में रहकर पुनः जमीन पर आ जायें।

श्वास प्रक्रिया – पूरक करके श्वास को कुम्भक स्थिति में रखें। श्वास रोके हुए हाथों को छोड़कर आराम करें।

लाभ – इस आसन से मेरुदण्ड तथा उदर पर विशेष दबाव पड़ने से रीढ़ की शेरूकाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है जिससे समस्त मेरुदण्ड लचकीला होता है, मन्दाग्नि, तीव्र, वायुविकार, स्कन्धों से लेकर भुजाएं, हाथ तथा जांघ, घुटनों, पैरों की मांसपेशियां समस्त नस-नाड़ियां पुष्ट होती हैं। यह समय अनुसार कद भी बढ़ाता है।

निषेध – ध्यान रहे हृदय की धड़कन, रक्तचाप एवं कमजोर शरीर वाले इस आसन को कदापि न करें।

१०. सर्वांगासन

विधि – पीठ के सहारे चित होकर लेट जाएं और दोनों टांगें और पैर परस्पर जुड़े रहें। अब कंधों से पैरों तक का समस्त भाग ऊपर की ओर सीधा उठायें। दोनों भुजायें कोहनी तक दृढ़ता के साथ भूमि से जुटी रहें। फिर कोहनी के मोड़ से हाथों को उठाकर कमर को पकड़ कर कंधों से पैरों तक सारे शरीर को सीधा तान दें। समस्त शरीर दोनों कंधों और ग्रीव पर आ ठहरे। इस प्रकार टांगों को सीधा करते हुए तथा पैरों को मिलाते हुए यथाशक्ति इसी स्थिति में रहकर छोड़ दें।

श्वास प्रक्रिया – इस आसन में श्वास प्रक्रिया सामान्य रहती है।

लाभ – रक्त-शुद्धि, हृदय और मस्तिष्क को स्वस्थ कर नेत्र ज्योति को बढ़ाता है। वात रोग तथा रक्त विकार को दूर करता है। पेट की वायु बाहर निकालकर पाचन शक्ति तीव्र रखता है।

निषेध – रक्तचाप, पेट दर्द एवं हार्निया के मरीज इसे कदापि न करें।

११. हलासन

विधि – पीठ के बल सीधे लेट जायें। दोनों टाँगों को परस्पर मिलाकर सर्वांगासन की मुद्रा में आते हुए दोनों टांगों को परस्पर मिलाकर सिर के पीछे ले जाकर सीधा रखते हुए पैर से पंजों को भूमि पर टिका दें। हाथों की अंगुलियों को परस्पर गूँथ कर दोनों भुजाओं को कस लें।

श्वास प्रक्रिया – पैर को पीछे ले जाते हुए श्वास को उदर से बाहर कर देते हैं। जब तक पैर जमीन पर झुका रहे तब तक श्वास रोके रहें। श्वास लेते समय पैर को वापस जमीन पर कर दें।

लाभ – इस आसन के अभ्यास से सीना और पेट को पुष्ट कर रक्त का यथावत संचार होता है। जठराग्नि की वृद्धि होती है उदर वृद्धि एवं अतड़ियों के दुर्बलता का नाश हो जाता है।

निषेध – कमर दर्द एवं रक्तचाप वाले व्यक्ति इसे न करें।

१२. पश्चिमोतानासन

विधि – सीधे बैठकर पैर सामने फैलाकर परस्पर सटा दें। अब गर्दन को आगे झुकाते हुए मस्तक पैर में घुटने से सटाकर दोनों हाथ से पैरों का तलवा या अंगूठा पकड़ कर हाथों के घुटने को जमीन से चिपका कर यथाशक्ति रोकें।

श्वास प्रक्रिया – श्वास को बाहर निकालकर उड्डियानबन्ध लगाकर यथाशक्ति रोंकें, ध्यान रहे पैर जमीन से न उठने पाये।

लाभ – इस आसन को नियम से करने वाले साधक का पेट निकलना बंद होता है। साथ ही साथ वीर्य दोष, स्वप्न दोष, साइटिका, अजीर्ण, अपच, कब्ज, आदि रोग ठीक होते हैं। कंठ माला, नजला, जुकाम आदि भी ठीक होते हैं।

निषेध – कमर दर्द एवं रक्तचाप वाले व्यक्ति न करें।

१३. मत्स्यासन

विधि – पद्मासन लगाकर बैठ जायँ। इसके बाद पीछे की ओर हाथ में बल का सहारा लेते हुए इस प्रकार झुकें कि सिर की शिखा का भाग जमीन पर टिक जाय। ठुड्ढी ऊपर मध्य आकाश की ओर होगी। छाती ऊपर तनी हुई होनी चाहिए। हाथों में मध्य अंगुलियों से पैर के अंगूठे का भाग पकड़ लें, ध्यान रहे, जांघ जमीन न छोड़े।

श्वास प्रक्रिया – सामान्य
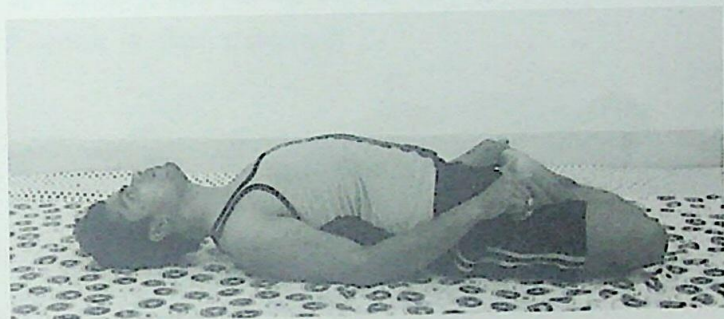
लाभ – इस आसन से शरीर के सभी अंगों का व्यायाम होता है। अतएव सब अंग पुष्ट होते हैं, मेरुदण्ड लचीला होता है, यह उदर सम्बन्धी विकारों को दूर करके अंगों को पुष्ट बनाता है।

निषेध – महिलाएं इसे गर्भावस्था में न करें। बाकी समय उनके लिए ज्यादा लाभकारी है। केवल रक्तचाप के मरीजों के लिए वर्जित है।

१४. मयूरासन

विधि – दोनों हाथों को ६५° के कोण पर फैलावें, मिली हुई हथेलियों को जमीन पर रखिए। पंजा घुटनों के बीच में रखते हुए कोहनी को मोड़कर पेट के मध्य भाग में मिलाइए। शरीर को कोहनियों पर तोलते हुए घुटनों को पीछे की ओर टाँगों को सीधा रखें। पैर, शरीर को दोनों हाथों पर संतुलित कीजिए यथाशक्ति रोकें।

श्वास प्रक्रिया – पूरक द्वारा थोड़ा श्वास उदर में रखते हैं।

लाभ – पाचन शक्ति ठीक होती है। पेट में रुकी वायु से उत्पन्न विकार दूर होते हैं। मंदाग्नि और वृद्धकोष्ठता दूर होती है। भुजदंड सुदृढ़ होते हैं। चेहरा कान्तिमान होता है।

निषेध – हाथ के टूटे-फूटे वाले व्यक्ति, रक्तचाप एवं पेट या कृत्रिम सीने के उपयोग वाले व्यक्तियों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

१५. सिंहासन

विधि – जैसा कि इस आसन के नाम से ही स्पष्ट है, अपने दोनों पैरों को पीछे की ओर और दोनों ऐड़ियों पर नितम्ब को स्थापित कर कुछ भाग सामने की ओर सीध में झुकते हुए दोनों घुटनों के बीच में दोनों हथेलियों को इस प्रकार जमीन पर रखें जिससे अंगुलियां भीतर की ओर झुकी रहें। अब बलपूर्वक पूरा मुख खोलते हुए आवें और मस्तक पर खिंचाव देने का यत्न करें। और अभ्यासी सिंह की कल्पना करें और अपने को उसी अनुरूप में डालने के लिए प्रयत्न करें।

श्वास प्रक्रिया – सामान्य

लाभ – इस आसन से सीना तथा दिल पुष्ट होता है नाड़ी संस्थान में दृढ़ता आती है, पेट का भारीपन दूर होता है, नेत्र ज्योति बढ़ती है एवं भुजाकृति सौम्य होती है। पौरुष एवं मनोबल बढ़ता है। साथ में चेहरे पर कांति भी आती है।

१६. योग मुद्रा

विधि – दोनों टाँगों को सामने करके बैठें। दाहिनी जाँघ पर बायाँ और बायीं जाँघ पर दायाँ पैर रखकर पद्मासन की स्थिति बना लें। हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर दाहिने हाथ से बायें हाथ की कलाई पकड़ें। धीरे से धड़ को आगे झुकायें और माथा जमीन पर लगायें।

श्वास प्रक्रिया – जब सीना व गर्दन झुकाते हैं तो श्वास को रेचक कर बाहर कर देते हैं। जब तक श्वास रुका हो तब तक मस्तक जमीन पर हो। श्वास लेना हो तो धीरे-धीरे गर्दन और सीना उठाकर पद्मासन में आ जायें।

लाभ – यह प्रमेह, वीर्य एवं आंतों का उतरना, घुटनों के दर्द आदि रोग ठीक करता है। उदर स्नायु बलवान करता है। रीढ़ के विकार दूर होते हैं। साथ ही साथ कब्ज भी दूर होता है।

निषेध – कमर दर्द, रक्तचाप एवं सिर दर्द वाले इसे न करें।

१७. सुप्त वज्रासन

विधि – सर्वप्रथम वज्रासन में बैठ जाएं। ध्यान रहे, एड़ियां गुदा मार्ग पर लगी रहें, पंजे जमीन से चिपके रहें, हाथों का सहारा लेते हुए पीठ के बल लेट जाएं। सिर जमीन में लग जाएं। कमर का भाग उठा रहे। घुटने जमीन न छोड़ें।

श्वास प्रक्रिया – श्वास को बाहर निकालते हुए लेट जाएं। जब श्वास रुका रहे तब तक रोकें। श्वास को लेना हो तो बैठ जायें। यही क्रिया ४-५ बार करें।

लाभ – इसके अभ्यास से पैरों के पंजे, घुटने, जांघें, कटि, पीठ, ग्रीवा पुष्ट और स्वस्थ बनती हैं।

निषेध – रक्तचाप, घुटने के दर्द वाले व्यक्ति इसे ज्यादा देर तक न करें।

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग से प्रकाशित योग की अन्य पुस्तकें

- शक्तियोग — योगिराज विजय प्रकाश मिश्र
- षटकर्म — योगिराज विजय प्रकाश मिश्र
- स्वर चिकित्सा — योगिराज विजय प्रकाश मिश्र
- सूर्यभेदन व्यायाम — दामोदर सातवलेकर
- योग साधना — दामोदर सातवलेकर
- योगासन — विद्या भास्कर शुक्ल
- चौरासी आसन — श्री नृसिंह शर्मा
- प्राणायाम — प्रसिद्ध नारायण सिंह
- यौगिक एवं संगीत चिकित्सा — संजय दास
- सरल व्यायाम — कालिदास माणिक
- योग आसन और स्वास्थ्य — संजय दास

योग दिग्दर्शिका जन-सामान्य को योग के विभिन्न रूपों का सम्यक ज्ञान कराने तथा आसनों का व्यावहारिक प्रशिक्षण देनेवाली ऐसी पुस्तक है जिसका अध्ययन कर, बिना किसी अन्य की सहायता लिए वांछित सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। विषय के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विवेचन के साथ ही साधना एवं अभ्यास के सुबोध चित्रों से विषय को सर्वग्राह्य बनाने वाली यह अन्यतम पुस्तक है।

पुस्तक के लेखक योगिराज पं० विजय प्रकाश मिश्र को योग साधना और सिद्धि विरासत में मिली है। अपनी चमत्कारी सिद्धियों से विश्व को विस्मित कर देनेवाले अपने पिता योगिराज श्री राजबलि मिश्र से कहीं अधिक ख्याति और कीर्ति अर्जित कर चुके योगिराज विजय प्रकाश मिश्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय से योग की शिक्षा प्राप्त कर पिछले कई दशकों से योग विद्या के प्रचार-प्रसार और प्रशिक्षण में सतत संलग्न हैं। योग तथा योग से संबंधित विषयों पर अनेक पुस्तकें लिख चुके श्री मिश्र 'योग' मासिक पत्रिका की देखरेख भी करते रहे हैं। हठयोग की अकल्पनीय शक्ति का प्रदर्शन कर इन्होंने अनेक बार अंतरराष्ट्रीय जिज्ञासुओं को विमुग्ध किया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त पिल्ग्रिम्स से प्रकाशित इनकी अन्य कृतियां प्रकाशित हैं–शक्तियोग, षट्कर्म और स्वर-चिकित्सा।

PILGRIMS PUBLISHING
◆ Varanasi ◆

www.pilgrimsbooks.com
www.pilgrimsonlineshop.com
www.pilgrimsbookhouse.com

₹ 50/-

ISBN : 978-93-5076-062-8

योगास्त्र
कर्मयोगी राजेश
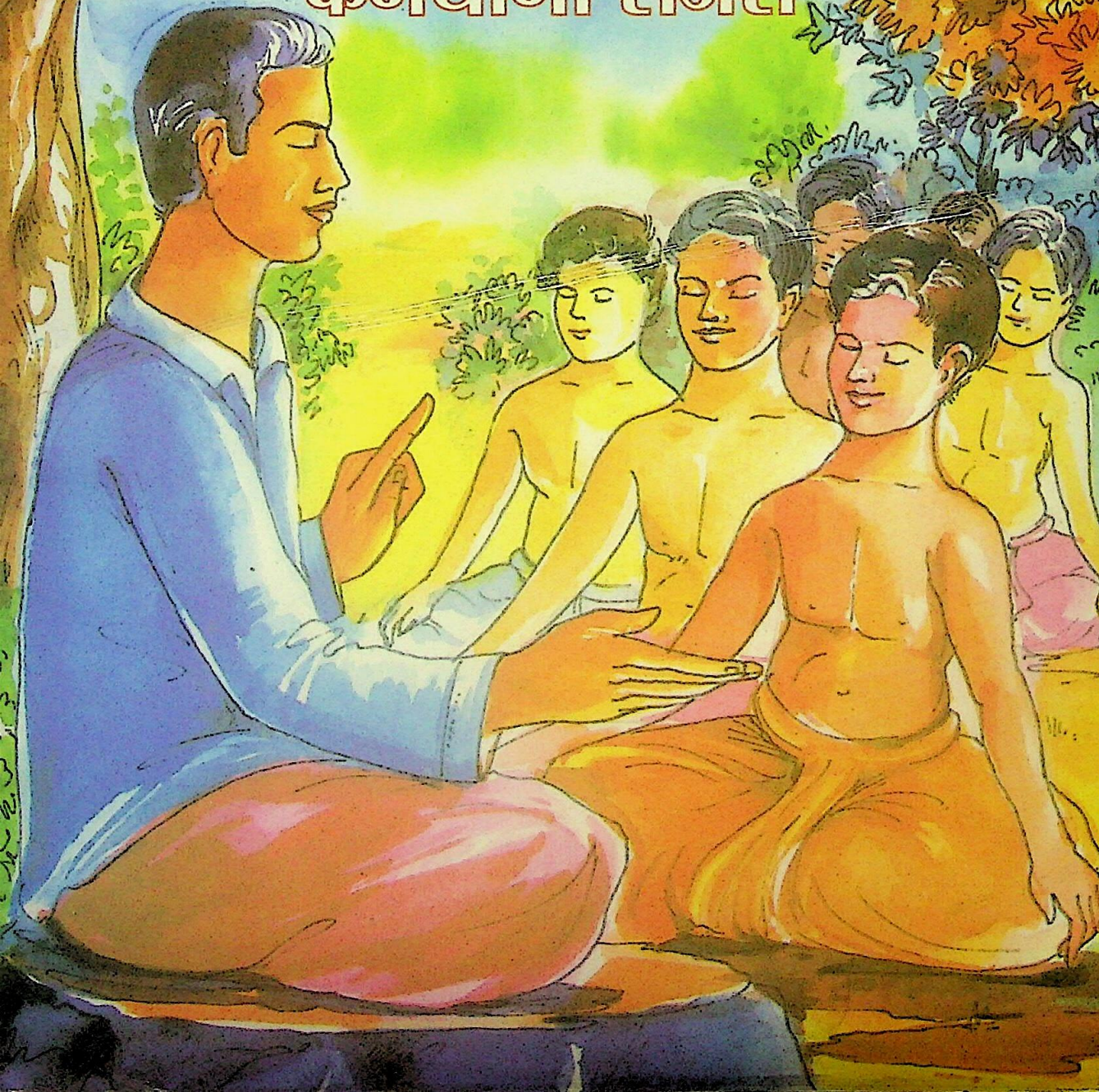
योगासन

कर्मयोगी राजेश

अंशिका प्रकाशन
प्रतापगढ़

ISBN No. 81-902899-1-8

प्रकाशक
अंशिका प्रकाशन
डांड़ी, पोस्ट–सगरा सुन्दरपुर
प्रतापगढ़

■

मूल्य | 30/- रुपये

■

संस्करण
प्रथम, 2007

■

लेजर कम्पोजिंग
श्वेता जॉब्स
इलाहाबाद

■

प्रिन्टर्स
एडवान्स क्रिएटिव सर्विसेज
इलाहाबाद

अनुक्रम

□

(अध्याय –1)

शरीर और मन

हमारा शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है। जैसे हाथ, पैर, नाक, कान, मुँह आदि। इन अंगों की सहायता से हम विभिन्न कार्य करते हैं। जैसे आँख से देखने का कार्य, मुँह से बोलने तथा खाने का कार्य, कान से सुनने का कार्य, पैर से चलने का कार्य आदि। हमारे कार्य दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के कार्य वे हैं जो हम अपने लिये करते हैं। और दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जिनसे हम दूसरों को प्रभावित करते हैं।

प्यारे बच्चों! जो कार्य हम अपने लिये करते हैं वे संख्या में पाँच हैं – (1) कान से सुनने का कार्य, (2) आँख से देखने का कार्य, (3) त्वचा से स्पर्श करने का कार्य, (4) जिह्वा से स्वाद लेने का कार्य और (5) नाक से सूँघने का कार्य। इन कार्यों से हमें अपने आस-पास के वातावरण का ज्ञान होता है। इन कार्यो को जिन अंगों से किया जाता है उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। अतः हमारी कुल पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। ये हैं – कान, आँख, त्वचा, जिह्वा और नाक ।

इसी प्रकार हम कुछ ऐसे कार्य भी करते हैं जिससे दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। जैसे बोलना, चलना, हाथ से विभिन्न प्रकार के कार्य करना आदि। इन कार्यों को करने वाले अंगों को कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी संख्या में पाँच होती हैं। वाणी, हस्त, पाद, मल त्याग का स्थान (उपास्थ) और मूत्र त्याग का स्थान (पायु)। इन अंगों की सहायता से किये

चतुर्थ प्राणायाम
पांचवी विधि
षट् चक्रद्योतक चित्र
चक्र
सहस्रार चक्र
ब्रह्म रन्ध्र
आज्ञा चक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपूरक चक्र
स्वाधिष्ठान
चक्र
मूलधार
चक्र
कुण्डलनी
अश्वनी
मुद्रा
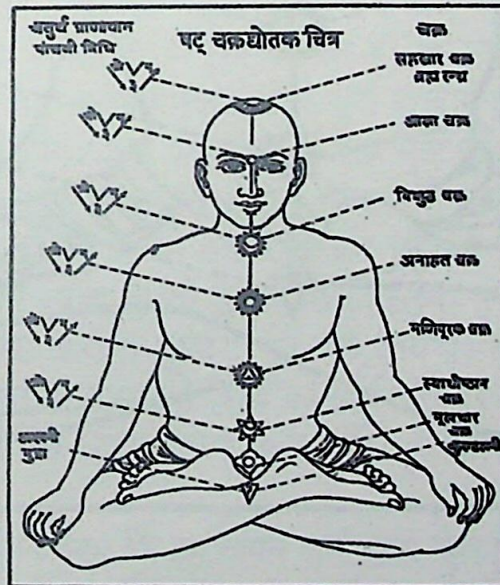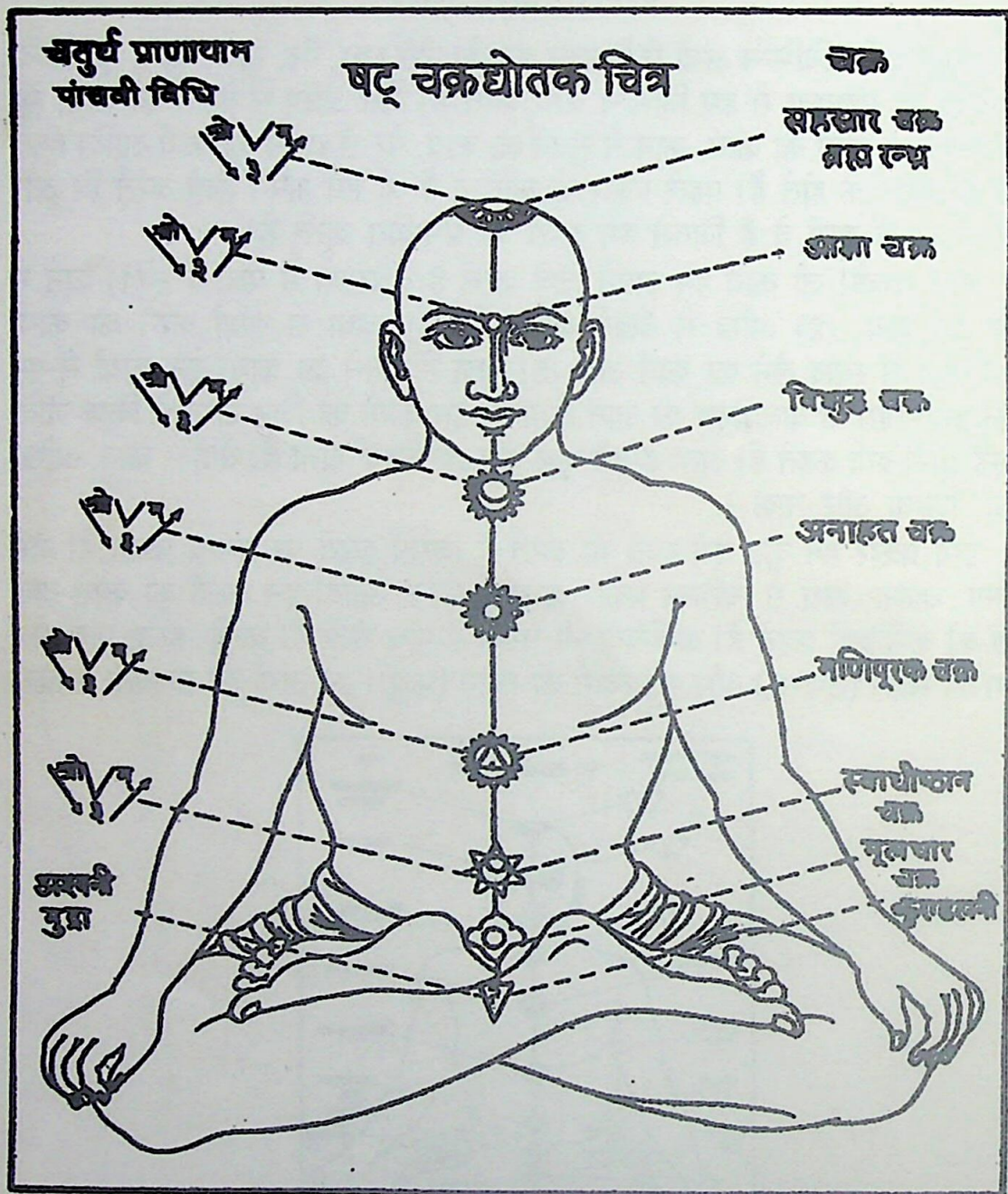
जाने वाले कार्यो का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिये इन कार्यो को कर्म भी कहते हैं।

प्यारे बच्चों! हमारे कर्मो का हमारे जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। हमारा कर्म जैसा होगा वैसा ही हमारा जीवन होगा। जब हम अच्छे कर्म करेंगे तो उसका दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा। इससे लोग हमें पसंद करेंगे। हमारे मित्रों की संख्या बढ़ती जायेगी। हमें मदद करने वाले मिल जायेंगे। नित प्रति नयी-नयी जानकारियाँ बढ़ती जायेंगी और हमारे प्रगति का मार्ग खुलता जायेगा। परन्तु जब हमारे कर्म अच्छे नहीं होंगे तो उसका दूसरों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इससे लोग हमें पसन्द नहीं करेंगे। मित्रों की संख्या में कमी आयेगी। लोगों से मदद मिलनी बंद हो जायेगी। हमारे प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। अतः हमें अपने कर्मों को शुद्ध और आचरण को पवित्र रखना चाहिये। अपने मन में बुरे भाव नहीं लाने चाहिये। मन के बुरे भावों का प्रभाव कर्मो पर पड़ता है।

प्यारे बच्चों! क्या तुमने कभी विचार किया है कि यदि कोई तुम्हें गाली दे या थप्पड़ मारे तो तुम्हें कैसा लगेगा? निःसंदेह बहुत बुरा लगेगा। बदले की भावना से तुम भी उस व्यक्ति को गाली देने या पीटने का प्रयत्न करते हो। यदि ऐसा नहीं कर पाते तो भी उसके प्रति मन में बुरा भाव तो अवश्य ही आयेगा। अब यह विचार करो कि, जब किसी का पीटना या गाली देना तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो, इसी प्रकार जब तुम किसी दूसरे को पीटोगे या गाली दोगे तो उसे भी बुरा लगेगा। अतः जो बर्ताव हमें अच्छा नहीं लगता वह बर्ताव हमें दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये।

क्यों भाई! क्या तुमने कभी किसी को दोस्त बनाया है? देखो, झूठ न बोलना। मुझे पता है, तुम्हारे कुछ दोस्त हैं। उनके साथ स्कूल जाना, साथ-साथ पढ़ना, खेलना, धमा-चौकड़ी करना तुम्हें कितना अच्छा लगता है, मैं सब जानता हूँ। कितना प्यारा लगता है जीवन भर दूसरे के साथ रहने की बात करना। एक-दूसरे के सुख-दुःख में हाथ बँटाना। मदद करना। मदद माँगना और यह अपनापन। दोनों एक-दूसरे के लिये सुख पहुँचाने की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हो। कितना अच्छा लगता है जब तुम्हारा दोस्त तुम्हारे प्रति अच्छा बर्ताव करता है। अरे भाई! तुम भी तो अपने मित्र को लाभ पहुँचाने वाला ही तो कार्य करते हो। अब सोचो, तुम्हारे मित्र ज्यादा हों तो तुम्हारे लिये कितना सुखमय होगा। तुम्हारे सभी कार्य आपसी मदद से निपट जायेंगे। तुम्हारा बल बढ़ जायेगा। तुम्हारे लिये नित्य प्रगति के रास्ते खुलते जायेंगे। कितना आसान है किसी को मित्र बनाना। अरे भाई! जब तुम किसी से अच्छा बर्ताव करोगे तो उसे अच्छा लगेगा और जाहिर है कि, वह तुम्हारा मित्र अवश्य बन जायेगा।

प्यारे बच्चों! अभी तुमने देखा कि हम अपने कर्मो द्वारा कैसे किसी को दोस्त या दुश्मन बना सकते हैं। अच्छे कर्मो से हम मित्र बना सकते हैं तो बुरे कर्मों से दुश्मन। मित्र हमारे

कार्यों में सहयोग करते हैं तो शत्रु हमें हानि पहुँचाते हैं। इससे हमारी प्रगति रुक जाती है। कौन नहीं चाहता कि उसकी प्रगति हो? इसका तो एक ही उपाय है कि हमारे मित्रों की संख्या बढ़े और शत्रुओं की संख्या घटे। अब चूँकि हम जान चुके हैं कि, मित्र और शत्रु बनाना हमारे हाथ में है। हमारे व्यवहार से ही मित्र और शत्रु बनते हैं। अतः तुम प्रगति चाहते हो तो आज से ही ऐसे कर्म करना प्रारम्भ कर दो जिससे दूसरों को सुख पहुँचे। फिर देखो, तुम्हारे मित्रों की संख्या बढ़ती जायेगी तथा शत्रुता बिना लड़े ही समाप्त हो जायेगी।

प्यारे बच्चों! वाणी द्वारा हम दूसरों को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। वाणी ही वह माध्यम है जिससे हम अपने मन के भावों को व्यक्त करते हैं। जैसा हमारे मन में भाव होता है वैसा ही हम बोलते हैं। यदि हमारे मन में क्रोध का भाव है तो हम कटु वचन कहेंगे। जब मन में लोभ होता है तो कपटपूर्ण वाणी ही निकलती है। किसी को हानि पहुँचाने के भाव से चुगली करते हैं तो अपने को बड़ा प्रदर्शित करने के भाव से बड़ी-बड़ी डींगें हाँकते हैं। प्यारे बच्चों! कटु वचन, झूठ बोलना, चुगली करना और बकवास करना ये सभी मन के बुरे भावों से उत्पन्न होते हैं। इनसे न तो हम कोई मित्र बना सकते हैं और न ही प्रगति कर सकते हैं। जो बालक इनके चक्र में फँस जाता है उसकी प्रगति रुक जाती है, और पूरे जीवन भर पश्चात्ताप के सिवा कुछ भी हाथ नहीं आता। अतः मन के बुरे विचारों को सदैव दूर भगाना चाहिये। बुरे विचारों को अच्छे विचारों के चिन्तन से दूर हटाकर अच्छे कार्य करने चाहिये।

प्यारे बच्चों! मन में किसी के प्रति बुरा भाव उत्पन्न होने पर पहले यह विचार करो कि यदि कोई तुमको कटु वचन कहे, तुम्हारी चुगली करे या तुमसे झूठ बोले तो तुम्हें कैसा लगेगा? जाहिर है कि बुरा लगेगा। अतः तुम्हें भी किसी के प्रति ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हारा यह व्यवहार उसे बुरा लगेगा। अब तुम्हें दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? इसे तुम भली-भाँति समझ सकते हो कि, कटु वचन के बजाय मृदु वचन, चुगली करने के बजाय प्रशंसा करके, झूठ के बजाय सत्य बोलकर और बकवास के बजाय मित भाषी होकर व्यवहार करना चाहिये।

अभी तुमने ऊपर पढ़ा कि हमारे मन का प्रभाव हमारी वाणी पर पड़ता है। वाणी ही नहीं हमारी सभी कर्मेन्द्रियों पर मन का प्रभाव रहता है। यदि हमारे मन के भाव अच्छे हैं तो हमारे सभी कार्यकलाप अच्छे होंगे। शरीर में स्फूर्ति रहेगी। हमारे हाव-भाव लोगों को आकर्षित करेंगे। हमारे व्यवहार में ही नहीं मुखमण्डल में भी ऐसी सौम्यता होगी कि जिसे देखते ही लोग प्यार उड़ेलना शुरू कर देंगे। परन्तु जब हमारे मन में बुरे भाव होंगे तो हमारी कर्मेन्द्रियाँ भी रुग्ण रहेंगी। हमारे हाथ-पैर शिथिल रहेंगे। वाणी कटु, व्यक्तित्व अनाकर्षक और शरीर अस्वस्थ रहेगा। लोग या तो घृणा करेंगे या उदासीन रहेंगे। इस प्रकार हमारे

मन का हमारी इन्द्रियों पर, स्वास्थ्य पर और हमारे कार्य-व्यवहार पर पूरा-पूरा प्रभाव रहता है। मन पर नियंत्रण रखकर, इन पर नियंत्रण तथा पूरा अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण कहा जाता है कि जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

मन पर नियंत्रण रखने के लिये, मन में आने वाले बुरे विचारों को अच्छे विचारों से दूर भगाने का निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

क्योंकि, अच्छे विचार तो बार-बार के प्रयत्नों से ही उत्पन्न होते हैं। यदि हम इसका अभ्यास बन्द कर दें तो बुरे विचार आसानी से घर जमाने लगते हैं। अच्छे विचारों से बुरे विचारों को दूर हटाने का प्रयत्न मानसिक व्यायाम कहलाता है। जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम करने से शरीर बलिष्ठ हो जाता है, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम से मन दृढ़ हो जाता है। दृढ़ इच्छा शक्ति वाले के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। ऐसे व्यक्ति ही समाज में अग्रणी होते हैं।

❑❑❑

(अध्याय – 2)

आसन

प्यारे बच्चों! पिछले अध्याय में तुमने पढ़ा कि मन के स्वस्थ होने पर हमारे सारे कार्यकलाप अच्छे होते हैं। परन्तु मन तभी स्वस्थ होता है, जब हम ठीक-ठीक देखें, ठीक-ठीक सुनें तथा ठीक-ठीक समझें। इसके लिये हमारी ज्ञानेन्द्रियों तथा मस्तिष्क का स्वस्थ रहना आवश्यक है। कहा भी गया है कि एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क होता है। अतः इससे यह साबित होता है कि हमारी इन्द्रियों, मन तथा मस्तिष्क का अटूट सम्बन्ध है। यदि इनमें से कोई एक अस्वस्थ है तो उसका प्रभाव अन्य पर भी पड़ता है। फलस्वरूप हमारे कार्यकलाप बुरे होते हैं। परन्तु इनमें से किसी एक के सुधार के साथ शेष दोनों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। जैसे पिछले अध्याय में देखा कि मन को स्वस्थ रखकर इन्द्रियों तथा मस्तिष्क का विकास किया जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों को भी स्वस्थ एवं बलिष्ठ बनाकर मन, मस्तिष्क को स्वस्थ बनाया जा सकता है। इन्द्रियों तथा शरीर को स्वस्थ बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के आसन बताये गये हैं। उनमें से कुछ निम्नवत् हैं।

(1) ताड़ासन – गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको सम रेखा में करके सीधा खड़ा होकर, एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रक्खे। ऊपर वाले हाथ को धीरे-धीरे नीचे ले जाये और नीचे वाले हाथ को धीरे-धीरे ऊपर ले आये। इसी प्रकार कई बार करे।

फल – सारे शरीर को नीरोग रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना, शौच शुद्धि, अर्श रोग का नाश करना आदि।

(2) गरुडासन – सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे। तत्पश्चात् दोनों हाथों को भी उसी प्रकार लपेट कर, हथेली में हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास ले जाय।

फल – पैरों के स्नायु की शुद्धि, अण्डकोष की वृद्धि को रोकना, घुटने और कोहनियों के दर्द का नाश करना।

(3) **द्विपाद मध्य शीर्षासन** – दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मस्तक को आगे की ओर झुकाकर, दोनों पैरों के बीच में ले जाकर पृथ्वी पर लगावे।

(4) **पाद हस्तासन** – सीधे खड़े होकर, धीरे-धीरे आगे की ओर झुककर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े। उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाये घुटने पर सिर लगा दे।

फल – तिल्ली, यकृत, कोष्ठबद्धता आदि का दूर होना। देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होती है।

(5) **हस्तपादांगुष्ठासन** – सीधा, समसूत्र में दोनों पैरों को मिलाकर खड़ा हो, एक पैर को सीधा उठाकर कटि प्रदेश की जगह तक ले जाय, एक हाथ से इस पैर के अँगूठे को पकड़कर सीधा ताने, दूसरा हाथ कमर पर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावे।

फल – पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयव बलवान होते हैं।

(6) **कोणासन** – पैरों को फैलाकर समसूत्र में खड़े हों। तत्पश्चात् एक हाथ को सीधा रखकर, दूसरे हाथ से बायीं ओर झुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल – पीठ, कमर का निरोग होना, स्नायुओं में रक्त और खून का संचार आदि।

(7) **मत्स्येन्द्रासन** – इसको पाँच भागों में विभक्त करने में सुगमता होगी।

(क) बायें पाँव का पंजा दाहिने पाँव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टूँडी में लगे और अँगुलियाँ पाल्थी के बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटने के पास, पंजा भूमि पर लगाकर रखे।

(ग) बायाँ हाथ दाहिने घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़े, दाहिने पाँव के पंजे को बाहर सटाकर रखे।

(घ) दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बायें पैर का पंजा पकड़ ले।

(ङ) मुख तथा छाती पीछे की ओर फिराकर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखे। इसी प्रकार दूसरी ओर से करे।
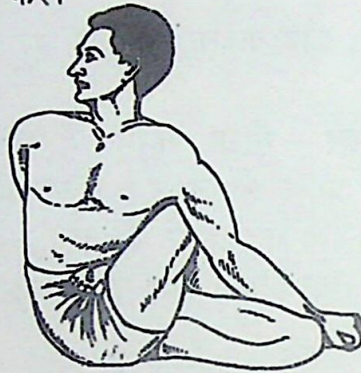
फल – पीठ, पेट में बल, पाँव, गला, बाहु, कमर, नाभि के निचले भाग तथा छांती के स्नायुओं का अच्छा खिंचाव होता है और पेट के सब रोग, अमावत, परिणाम शूल तथा आँतों के सब रोग नष्ट हो जाते हैं।

(8) वृश्चिकासन – कोहनी से पंजे का भाग भूमि पर रखकर, उसके सहारे सब शरीर को सँभाल कर दीवार के सहारे पाँव को ऊपर ले जाय, तत्पश्चात् पाँव को घुटनों में मोड़कर सिर के ऊपर रख दे। केवल पंजों के ऊपर ही सब शरीर को सँभाल कर रखने से भी यह आसन किया जाता है।
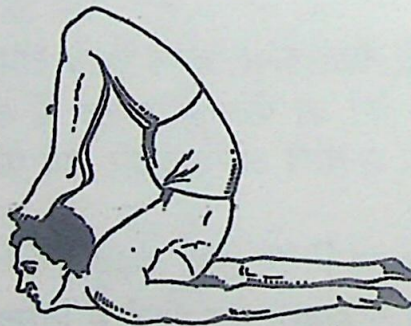
फल – हाथों और बाहों में बल वृद्धि, पेट तथा आँतों का निर्दोष होना, शरीर का फुर्तीला होना और हल्का होना, मेरुदण्ड का शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत एवं पाण्डु रोग आदि का दूर होना।

(9) गर्भासन – कुक्कुटासन करके हाथों की उँगलियों से दोनों कान पकड़े।

फल – आँतों का विकार दूर होना, शौच शुद्धि एवं क्षुधा वृद्धि।

(10) कूर्मासन – कुक्कुटासन करके दोनों हाथों को गर्दन के पीछे ले जाकर उँगलियों को एक दूसरे के साथ मिलाकर पकड़े।

फल – भूख लगना और आँतों का विकार दूर होना।

(11) मत्स्यासन – पद्मासन लगाकर चित्त लेटे, दोनों हाथों से दोनों पाँवों के अँगूठे को पकड़े और दोनों हाथों की कोहनियाँ जमीन पर टिका दे। सिर को पीछे मोड़कर छाती तथा कमर को भरसक उठाये।

फल – शौच शुद्धि, आँतों के सब रोगों का नाश।

(12) पदांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन – पृथ्वी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अँगूठे को पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार बार-बार करे। सिर, बायाँ पेट और नितम्ब पृथ्वी पर जमें रहे। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अँगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे। कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् अँगूठा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा। यह आसन महिलाओं के लिये भी उपयोगी है।

फल – कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कंद स्थान की शुद्धि एवं उदर सम्बन्धी रोग दूर होते हैं।

(13) पश्चिमोत्तानासन – दोनों पावों को उड्डीयान और मूलबंध के साथ सीधा फैलाकर, दोनों हाथों से अँगूठे को पकड़कर, शरीर को झुकाकर माथे को घुटने पर टिका दे। यथाशक्ति वहीं पर टिकाये रखे। प्रारम्भ में दस-बीस बार साँस छोड़ते हुए मस्तक को घुटने तक ले जाय और साँस भरते हुए ऊपर उठाये।

फल – पाचन शक्ति का बढ़ना, कोष्ठबद्धता दूर होना, सब स्नायु और कमर तथा पेट की नस-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को कम करना।

(14) सम्प्रसारण भूनमनासन – पैरों को सीधा करके यथाशक्ति चौड़ा फैलावे। फिर दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़कर सिर को भूमि में टिका दे।
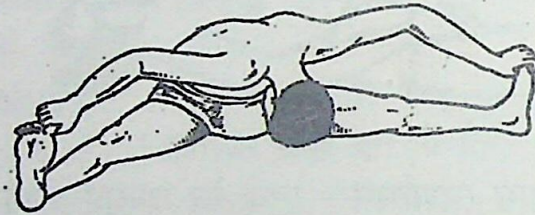
फल – इससे उरु और जंघा प्रदेश तन जाते हैं। पैर, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होते हैं तथा वीर्य स्थिर होता है।

(15) जानु सिरासन – एक पाँव को सीधा फैलाकर, दूसरे पाँव की एड़ी, गुदा और अण्डकोष के बीच में लगाकर, उसके पादतल से फैली हुई जाँघ को दबायें। मूल और उड्डीयान बन्ध के साथ फैले हुए पैर की दोनों उँगलियों को दोनों हाथों से खींचकर, धीरे-धीरे आगे झुककर माथे को पसारे हुए घुटने पर लगा दें। इसी प्रकार दूसरे पाँव को फैलाकर करें।

(16) **उष्ट्रासन** – वज्रासन के समान हाथों से एड़ियों को पकड़कर बैठे। तत्पश्चात् हाथों से पावों को पकड़े हुए नितम्बों को उठाये। सिर पीछे पीठ की ओर झुकावे और पेट भरसक आगे की ओर निकाले।

फल – यकृत, प्लीहा, आमवात आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ निरोग होता है।

(17) **सुप्त वज्रासन** – वज्रासन करके चित्त लेटे। सिर को जमीन से लगा हुआ रखे। पीठ के भाग को भरसक जमीन से ऊपर उठाये रखे और दोनों हाथों को बाँधकर छाती के ऊपर रखे अथवा सिर के नीचे रखे।

फल – पेट, छाती और गर्दन के रोग दूर करता है।

(18) **पार्वती आसन** – दोनों पैरों के तलुए इस प्रकार मिलावे कि अँगुलियों से अँगुलियाँ और तलुओं से तलुआ मिल जाय और मिले हुए भागों को इस प्रकार घुमावे कि उँगलियाँ नितम्बों के नीचे आ जायँ और एड़ियाँ अण्डकोष के नीचे मिलकर सामने दिखायी देने लगें।
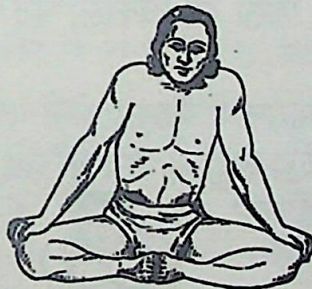
फल – घुटने, पैरों की उँगलियों, मणिबन्धों, अण्डकोषों और सीवनी के सब रोगों का नाश होता है। वीर्यवाही नसों का पवित्र होना भी बताया गया है। स्त्रियों के लिये भी यह आसन लाभदायक है।

(19) वकासन – दोनों हाथों के पंजों को जमीन पर रखकर, दोनों घुटनों को बाहुओं के सहारे ऊपर उठाकर पाँव सहित सारे शरीर को ऊपर उठावे। केवल हाथों के पंजे भूमि पर रहे, शेष शरीर उठाये रहें। घुटनों को अंदर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है।

फल - भुजदण्डों में बल वृद्धि, सीने का विकास, रक्त की शुद्धि और क्षुधा की वृद्धि।

(20) एक पादांगुष्ठासन – एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोष के बीच में लगाकर, उसी के अँगूठे को उँगलियों सहित पृथ्वी पर जमाकर, दूसरे पैर को ठीक उसके घुटने पर रखकर, उस पर सारे शरीर का भार सँभाल कर बैठे। नासाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर छाती को किंचित उभारे रहे। दायें-बाँयें दोनों अंगों से बारी-बारी से करे।

फल – वीर्य दोष का दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

(21) उत्थित पद्मासन – पद्मासन लगाकर, दोनों हाथ दोनों ओर जमीन पर रखकर, उनके ऊपर सारे शरीर को पेट के अंदर खींचे हुए और छाती को बाहर निकाले हुए भरसक पृथ्वी से ऊपर उठावे।

फल – बाहुबल की वृद्धि, छाती का विकास, पेट के रोगों का नाश और क्षुधा की वृद्धि।

(22) कुक्कुटासन – पद्मासन में बैठकर दोनों पावों के पंजे भीतर रहें, इस प्रकार दोनों जांघों और पिंडलियों के बीच से दोनों हाथ कोहनी तक नीचे निकालकर, पंजा भूमि पर टिकाकर, सारे शरीर को तोलकर रखे।

फल – उत्थित पद्मासन के समान लाभ। जठराग्नि का प्रदीप्त होना, आलस्य का दूर होना।

(23) आकर्ण धनुषासन – दोनों पाँव एक साथ मिलाकर जमीन पर फैलाकर, दोनों हाथों की उँगलियों से दोनों पाँव के अँगूठे पकड़ ले। एक पाँव सीधा रखकर, दूसरे पाँव को उठाकर उसी ओर के कान को लगावे। हाथ और पैरों के हेर-फेर से यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है।

(क) दाहिने हाथ से दायें पैर का अँगूठा पकड़कर, बायें पाँव का अँगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान से लगावे।

(ख) बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़कर, दाहिने पाँव का अँगूठा दायें हाथ से खींचकर दाहिने कान से लगावे।

(ग) दाहिने हाथ से बायें पैर का अँगूठा पकड़कर, उसके नीचे दाहिने पाँव का अँगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावे।

(घ) बायें हाथ से दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़कर, उसके नीचे बाँये पाँव का अँगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दायें कान से लगावे।

फल – बाहु, घुटना, जंघा आदि अवयवों को लाभ पहुँचता है।

(24) शीर्ष पादासन – चित्त लेटकर सिर के पृष्ठ भाग और दोनों पैरों की एड़ियों पर शरीर को कमान सदृश कर दे। इस आसन को पूरक करके करे और ठहरे हुए समय में कुम्भक बना रहे। तत्पश्चात् धीरे से रेचक करना चाहिये।
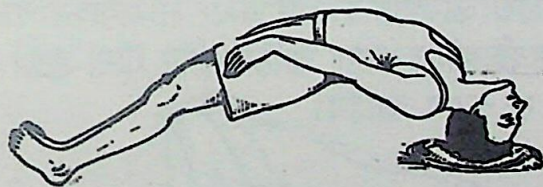
फल – मेरुदण्ड का सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों, गर्दन और पैरों का मजबूत होना।

(25) हृदय स्तम्भासन – चित्त लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर और दोनों पैरों

को आगे की ओर फैलावे, फिर पूरक करके जालन्धर बन्ध के साथ दोनों हाथों और दोनों पैरों को छः, सात इंच की ऊँचाई तक धीरे-धीरे उठावे और वहीं यथा शक्ति ठहरावे। जब श्वास निकालना चाहे तब पैरों और हाथों को भूमि पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल – छाती, हृदय, फेफड़े का मजबूत और शक्तिशाली होना और पेट के सब प्रकार के रोगों का दूर होना।

(26) उत्तानपादासन – चित्त लेटकर शरीर के सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दे। पूरक करके धीरे-धीरे दोनों पैरों को ऊपर उठावे, जितनी देर आराम से रख सके रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमि पर ले जाय और श्वास को धीरे-धीरे रेचक कर दे। प्रथम बार तीस अंश, द्वितीय बार पैंतालीस अंश और तीसरी बार साठ अंश तक पैरों को उठावे।
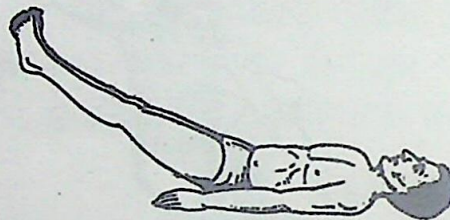
फल – इससे नितम्ब, कमर, पेट, और टाँगें निर्दोष होती हैं और वीर्य शुद्ध, पुष्ट और स्थिर होता है।

(27) हस्तपादांगुष्ठासन – चित्त लेटकर दोनों नासिका से पूरक करके बायें हाथ को कमर के निकट लगाये रखे, दूसरे दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़े और पूरे शरीर को भूमि पर सटाये रखे, दाहिना हाथ और पैर ऊपर की ओर उठाकर तना हुआ रखे। इसी प्रकार दाहिने हाथ को दाहिनी ओर कमर से लगाकर बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को पकड़कर पहले की भाँति करना चाहिये। फिर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़कर उपर्युक्त विधि से करना चाहिये।

फल – सब प्रकार के पेट के रोगों का दूर होना, हाथ-पैरों का रक्त संचार और बल वृद्धि।

(28) **पवन मुक्तासन** – चित्त लेटकर, पहले एक पाँव को सीधा फैलाकर, दूसरे पाँव को घुटने से मोड़कर पेट पर लगाकर दोनों हाथों से अच्छी प्रकार दबाये, फिर इस पाँव को सीधा करके दूसरे पाँव से भी पेट को खूब इसी प्रकार दबाये। तत्पश्चात् दोनों पावों को इसी प्रकार दोनों हाथों से पेट पर दबावे।

फल – उत्तानपादासन के समान लाभ है। वायु को बाहर निकालने में तथा शौच शुद्धि में विशेष लाभ है। बिस्तर पर लेटकर भी किया जा सकता है। देर तक, कई मिनट तक करते रहने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होती है।

(29) **उर्ध्व सर्वांगासन** – भूमि पर चित्त लेटकर, दोनों पैरों को तानकर धीरे-धीरे कन्धे और सिर के सहारे पूरे शरीर को ऊपर खड़ा कर दे। आरम्भ में हाथों के सहारे से उठावे, कमर और पैर सीधे रहें, दोनों पैरों के अँगूठे दोनों आँखों के सामने रहें। मस्तक कमजोर होने के कारण जो शीर्षासन नहीं कर सकते उन्हें इस आसन से लगभग वही लाभ पहुँचता है।

फल – रक्त शुद्धि, भूख की वृद्धि और पेट के सब विकार दूर होते हैं।

(30) **हलासन** – चित्त लेटकर दोनों पावों को उठाकर सिर के पीछे भूमि पर इस प्रकार लगावे कि पाँव के अँगूठे और अँगुलियाँ ही भूमि को स्पर्श करें। घुटनों सहित पाँव सीधे समसूत्र में रहे।
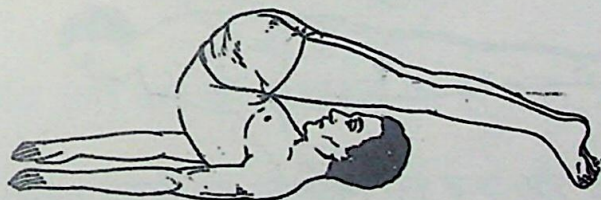
फल – कोष्ठबद्धता का दूर होना, जठराग्नि का बढ़ना, आँतों का बलवान होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत तथा अन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति और क्षुधा की वृद्धि।

(31) शवासन – शरीर के सभी अंगों को ढीला करके शव के समान चित्त लेट जाय। आसन करने के पश्चात् थकान दूर करने और चित्त को विश्राम देने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

(32) मस्तक पादांगुष्ठासन – पेट के बल लेटकर सारे शरीर को मस्तक और पैरों के अँगूठे के बल पर उठाकर कमान के सदृश शरीर को बना दे। शरीर को उठाते हुए पूरक, ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करना चाहिये।
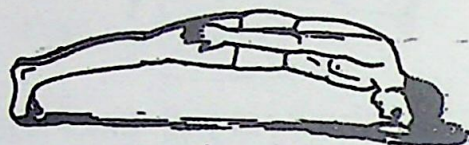
फल – मस्तक, छाती, पैर, पेट की आँतें तथा सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध और बलवान होती हैं। पृष्ठवंश और मेरुदण्ड के लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

(33) नाभ्यासन – पेट के बल समसूत्र में लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर आगे की ओर फैलाये, इसी प्रकार दोनों पैरों को भी फैलाये। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठाये। पैर और हाथों को एक या डेढ़ फिट की ऊँचाई तक ले जाय, सिर और छाती को आगे की ओर उठाये रखे, जब श्वास बाहर निकालना चाहे तो हाथों और पैरों को भूमि पर रखकर रेचक करे।

फल - नाभि की शक्ति का विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायुगोला तथा अन्य पेट के रोगों का दूर होना।

(34) मयूरासन – दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनों हाथों की कोहनियाँ नाभि स्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल बन्ध तथा उड्डीयान बन्ध के साथ सारे शरीर को उठाये।

फल – जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषों तथा पेट के रोग गुल्म, कब्ज आदि का दूर होना होता है। शरीर को निरोग और मेरुदण्ड को सीधा रखता है।

(35) भुजंगासन – पैरों के पंजे उल्टी ओर भूमि से टिकाकर हाथों को भी भूमि पर किन्चित टेढ़ा रखकर धड़ को कमर से ऊपर उठाकर भुजंगाकार होवे।
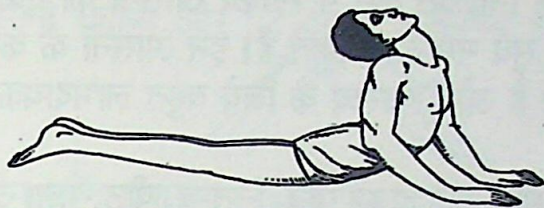
फल – जाँघ, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है। पेट की आँत मजबूत होती है और सभी प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

(36) शलभासन – पेट के बल लेटकर दोनों हाथों की उँगलियों की मुट्ठी बाँधकर कमर के पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिर को भूमि में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाशक्ति एक-डेढ़ फिट की ऊँचाई तक ले जाकर ठहराये, जब श्वास निकालना चाहे तब धीरे-धीरे पैर को भूमि पर रखकर रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैर को उठाये। फिर दोनों पैरों को उठाये।
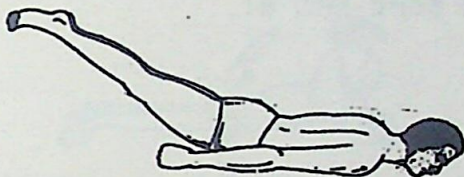
फल – जाँघ, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है। पेट की आँतें मजबूत होती हैं और सब प्रकार के उदर विकार दूर होते हैं।

(37) धनुरासन – पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों पैरों को पकड़ ले और शरीर को वक्रभाव से रखे। अथवा वज्रासन की भाँति एड़ियों पर बैठकर पीछे की ओर झुककर करना बताया गया है।
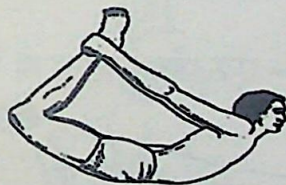
फल – कोष्ठबद्ध आदि उदर के सब विकारों का दूर होना, भूख तथा जठराग्नि का प्रदीप्त होना।

लगभग सभी आसन मुद्रायें और प्राणायाम मूल बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ किये जाते हैं। कहीं-कहीं जालन्धर बन्ध की भी आवश्यकता पड़ती है।

□□□

सूर्यभेदी नमस्कार

कुछ प्रमुख आसनों को एक निश्चित क्रम में रखकर आसनों की एक शृंखला बनायी गयी है इसे सूर्यभेदी व्यायाम या सूर्य नमस्कार कहते हैं। इन आसनों के करने से शरीर के सब अंगों का संचालन हो जाता है और स्वास्थ्य के लिये बहुत लाभदायक है। इनका क्रम निम्नवत है।

(1) नमस्कार आसन – सीधे खड़े होकर पाँव, नितम्ब, पीठ, गला और सिर समसूत्र में रखकर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

(2) उर्ध्व नमस्कार आसन – दोनों हाथों को सीधे ऊपर ले जाकर उर्ध्व दिशा में हाथ जोड़कर नमस्कार करना। इसमें पेट को यथासंभव आगे की ओर बढ़ाकर हाथों को जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है।

(3) हस्त पादासन – हाथों को ऊपर से नीचे लाकर दोनों पाँवों के दोनों ओर भूमि पर रख दे, घुटने सीधे रहें और पेट अंदर आकर्षित रहे।

(4) एक पाद प्रसरणासन – एक पाँव जितना हो सके पीछे ले जाकर सीधा फैलाना, हाथ जहाँ थे वहीं रहें।

(5) द्विपाद प्रसरणासन – दूसरे पाँव को भी पीछे ले जाकर सीधे फैलना। इसमें भूमि में पाँव के साथ पाँव और हाथ के साथ हाथ रखना होता है।
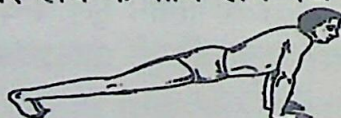
(6) **भूधरासन** – पाँव जितना पीछे ले जाये परन्तु घुटने सीधे रहना चाहिये और पाँव के तलवे जमीन को पूरे लगने चाहिये। कोहनी के साथ हाथ सीधे रखने चाहिये। ठोड़ी कण्ठ कूप से लगनी चाहिये और पेट अन्दर आकर्षित होना चाहिये।

(7) **अष्टांग प्रणिपातासन** – दोनों पाँव, दोनों घुटने, दोनों हाथ, छाती और मस्तक भूमि पर स्पर्श करना चाहिये। पेट भूमि को न लगना चाहिये। पेट को बल के साथ अन्दर खींचना चाहिये।
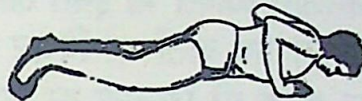
(8) **सर्पासन** – सर्प के समान इस आसन में सिर जितना पीछे ले जाय और छाती जितनी बढ़ सके बढ़ाये। हाथ और पाँव ही भूमि को स्पर्श करें, शेष शरीर भूमि से कुछ अन्तर पर रहे।
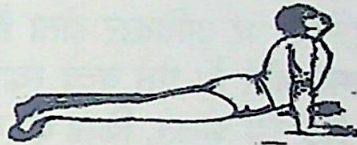
(9) **भूधरासन** – क्रम संख्या 6 की तरह।

(10) **द्वि-पाद प्रसरणासन** – क्रम संख्या 5 की तरह से।

(11) **एक-पाद प्रसरणासन** – क्रम संख्या 4 की तरह से।

(12) **हस्त पादासन** – क्रम संख्या 3 की तरह से।

(13) **उपवेशासन** – हस्त पादासन में हाथ और पैर को अपने स्थान में रखते हुए सरल रीति से बैठ जाय।

पुनः क्रम संख्या एक से उपरोक्त क्रमों को तेरह बार करे।

❑❑❑

अध्याय – 3

दिनचर्या

प्यारे बच्चों! तुम अपनी कक्षा के ऐसे छात्रों से तो परिचित होगे जो पढ़ने-लिखने में अव्वल हैं। जो खेल में अच्छा प्रदर्शन करते हैं। जो बहुत अच्छा गीत गा सकते हैं या जो नाटक, प्रहसन आदि सांस्कृतिक कार्यकलापों में अग्रणी रहते हैं। ये बच्चे विद्यालय की शान होते हैं। इनसे सभी छात्र मित्रता करना चाहते हैं तथा सभी अध्यापक स्नेह करते हैं। क्या तुमने इस बात पर विचार किया है कि लोग क्यों इनसे प्यार करते हैं? इनके व्यक्तित्व में वह कौन-सा गुण है जिससे अनजाने व्यक्ति भी इनसे आकर्षित हो जाते हैं? ये अपने क्षेत्रों में अग्रणी रहते हैं? आओ इन सब बातों पर विचार करें!

बच्चों! क्या तुमने इन श्रेष्ठ बच्चों की दिनचर्या का अध्ययन किया है? सबसे पहले तो यही देखने में आता है कि ये स्वस्थ होते हैं। इनके मुखमण्डल पर एक विशेष चमक होती है तथा शरीर के हाव-भाव आकर्षक होते हैं। यह इसीलिये है कि इनके मस्तिष्क, मन और इन्द्रियों में एकरूपता होती है। मन स्वस्थ होता है, इसलिये इनमें एक दृढ़ विश्वास होता है। मन के दृढ़ होने से इन्द्रियों पर अधिकार होता है। इसलिये ये थोड़े से अभ्यास से ही श्रेष्ठ प्रदर्शन करनें में समर्थ होते हैं। ऐसे बच्चे स्वाभाविक रूप से मृदु भाषी होते हैं। ये लड़ाई-झगड़ा नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, किसी की चुगली नहीं करते तथा बकवास नहीं करते। ये सभी को मित्र भाव से देखते हैं और यथासंभव दूसरों की मदद करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रत्येक बच्चे के मन में अच्छा बनने का भाव होता है। मैं जान रहा हूँ कि तुम भी सोचते हो कि तुम्हें सभी प्यार करें। सभी तुम्हारे कार्य की सराहना करें। तुम भी अपने रुचि के क्षेत्र में श्रेष्ठ प्रदर्शन करना चाहते हो। तुम डाक्टर, इन्जीनियर, श्रेष्ठ गायक या जो कुछ भी बनना चाहते हो, वह सब सम्भव है। वह सब तुम्हारे हाथ में है। तुम अभी से अपने मन, मस्तिष्क, इन्द्रियों तथा कार्यकलापों में एकरूपता लाने का अभ्यास करो, फिर देखो! लक्ष्य प्राप्त करना कितना आसान हो जाता है।
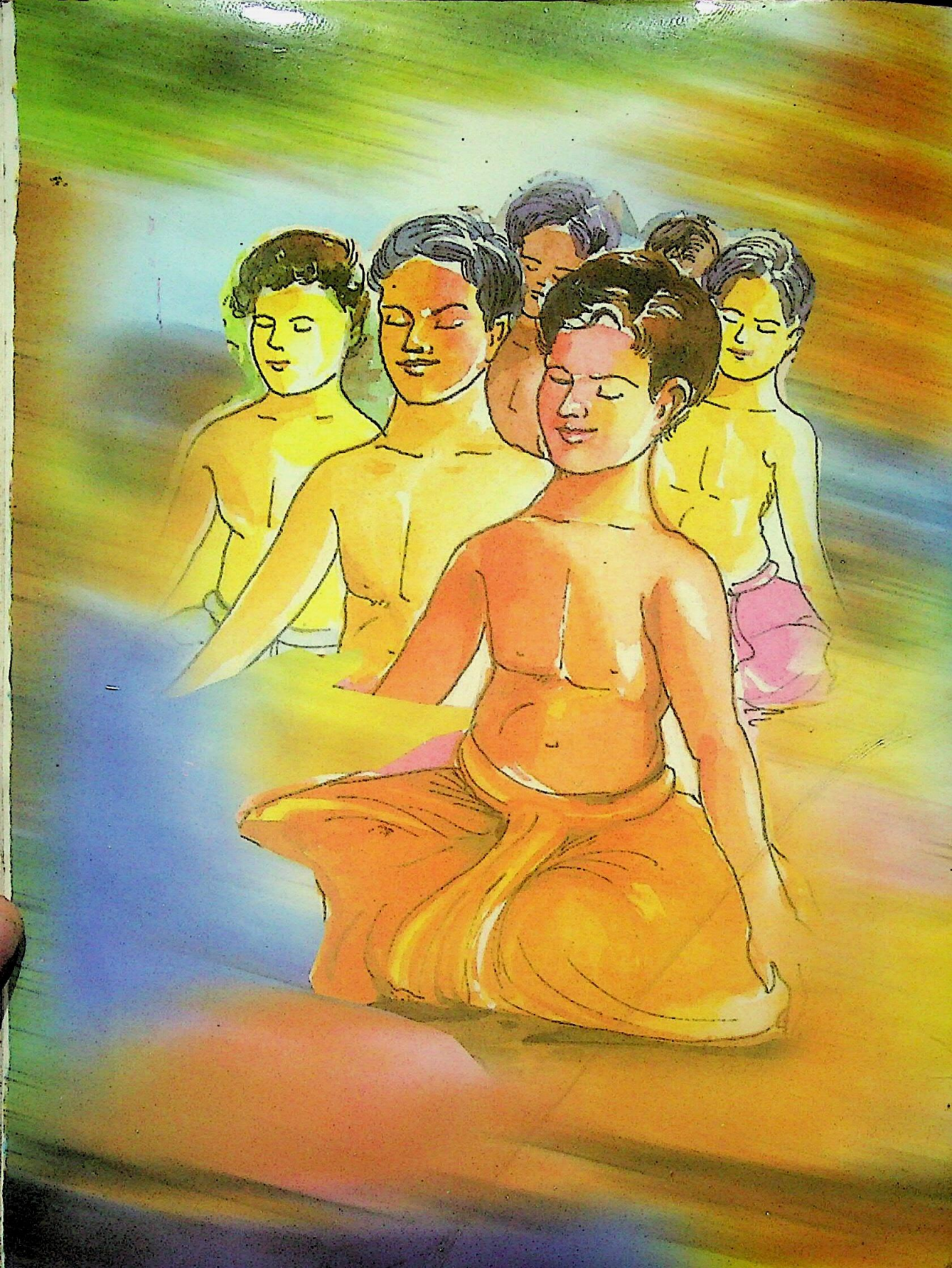
□□□

सुविधि

आसनचिकित्सा
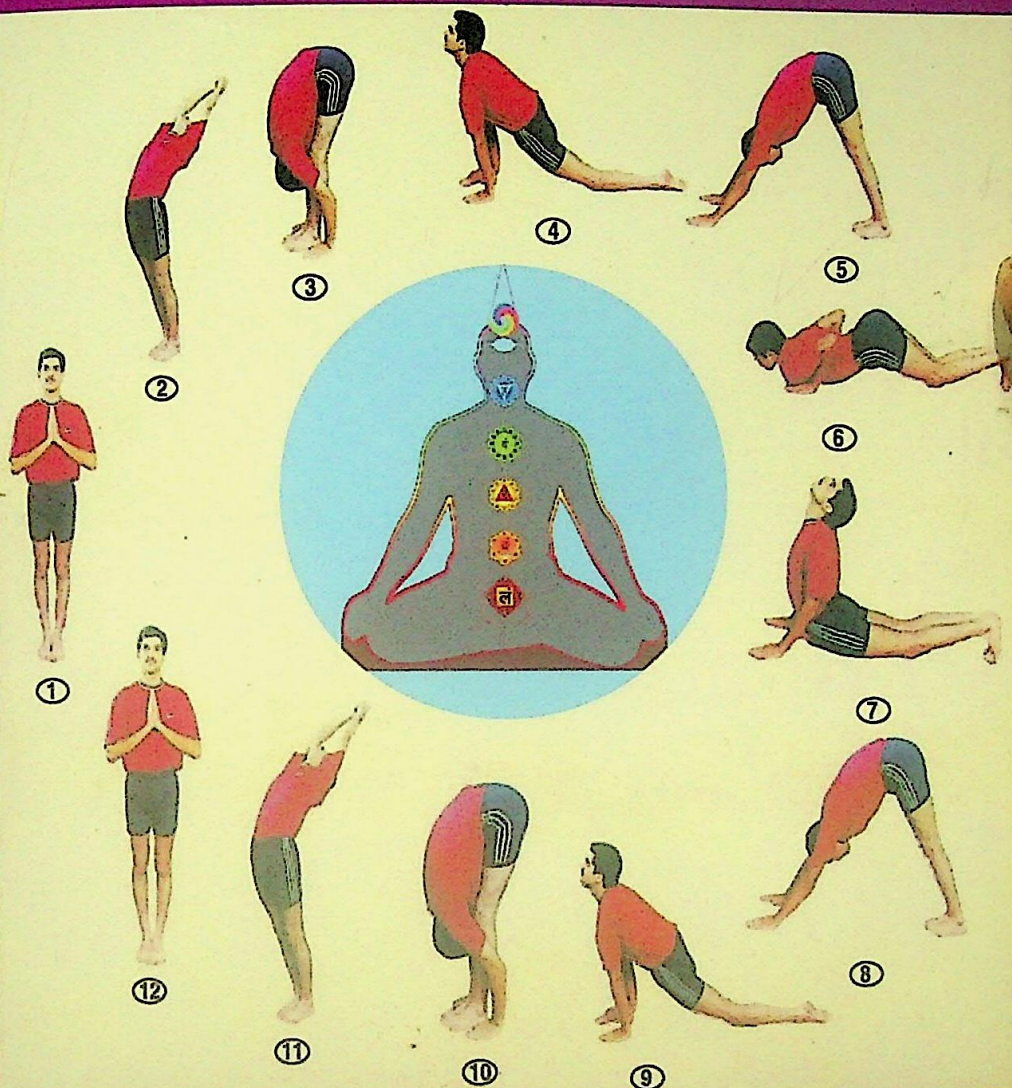
लेखक

परम पूज्य श्रमणकुलनन्दन,

पट्टाधीशाचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

इस पुस्तक के पुण्यार्जक

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती, आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) की सुविशुद्ध परम्परा के चतुर्थ-पट्टाधीश, परम पूज्य भवसागरपारग आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज के रजत दीक्षाजयन्ती के पावन अवसर पर आचार्यश्री को भावपूर्ण विनयांजलि अर्पित करते हैं।

विजयकुमार शिखरचन्द काला

बालाजी नगर

औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ४३१००१

९८२२०६४६२९

सुविधि आसनचिकित्सा

लेखक
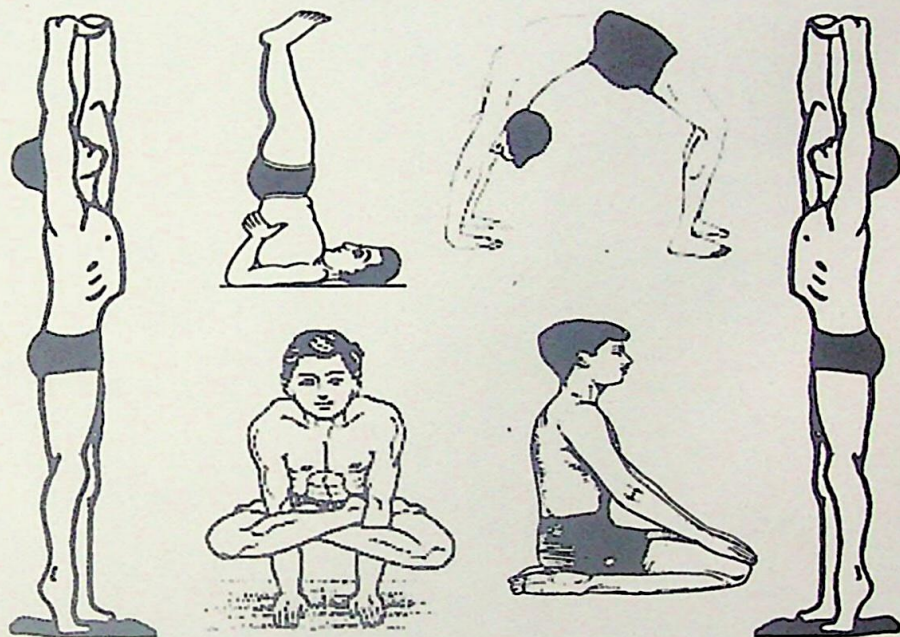
परम पूज्य श्रमणकुलनन्दन,
पट्टाधीशाचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

सुविधि आसनचिकित्सा
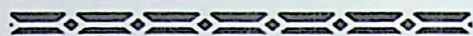
लेखकः- परम पूज्य जिनवाणीवरदपुत्र,
पट्टाधीशाचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

संस्करण - प्रथम = ११-५-२०१३ (१००० प्रति)

अवसर

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती, आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) की सुविशुद्ध परम्परा के चतुर्थ पट्टाधीश परम पूज्य आर्षमार्गशिरोमणि, जिनशासनप्रदीप, विद्या-वाचस्पति, तपश्चर्या-चक्रवर्ती, परम्पराचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज का पच्चीसवाँ दीक्षादिवस

पुनः प्रकाशन हेतु अर्थसहयोग - रुपये ३५/- मात्र

प्राप्तिस्थान -
भरतकुमार इन्दरचन्द पापड़ीवाल
३-४-९, पानदरिबा रोड़, अप्पा हलवाई के पास
औरंगाबाद (महाराष्ट्र)४३१००१
फोन = ०२४०-२३६८७८५
मोबाइल = ०९३७११४११०४
sanmati28@yahoo.com
suvidhiguru@gmail.com
suvidhiguru@yahoo.in
Website : www.jaingranths.com

SUVIDHI ASSAN CHIKITSA
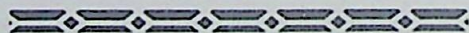
PARAMPARACHARYA SHREE SUVIDHISAGAR JI MAHARAJ

समर्पित

परम पूज्य तपोधनधारक,
मिथ्यात्वध्वंसक, सन्मार्गप्रदर्शक,
श्रमणकुलतिलक, आर्षमार्ग-उद्योतक,
सम्यक्त्व-शिरोमणि, मुनिकुंजर,
चारित्र-चक्रवर्ती, आचार्यश्री आदिसागर जी
महाराज (अंकलीकर) की सुविशुद्ध
परम्परा के अधिनायक,
परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
अध्यात्मदूत, निजात्मरसास्वादी,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी
महाराज के पट्टधर,
परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
अध्यात्मकुलदीपक, युगनायक,
महातपोमार्तण्ड, गुरुभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी
महाराज की परम पुनीत
स्मृति में--

आशीर्वाद

यह भारतभूमि सदा ही साधु-सन्तों के अवतरण, निष्क्रमण, आचरण एवं साधना से पवित्र/पावन/पुनीत होती रही है। भूतकाल की भाँति वर्तमानकाल में भी अनेक भव्य जीव अपनी आत्मा का उद्धार कर रहे हैं। उन्हीं में से मुनिकुंजर, समाधि-सम्राट्, अप्रतिम उपसर्गविजेता, आदर्श तपस्वी, महामुनि, दक्षिण भारत के वयोवृद्ध सन्त, आचार्य-परमेष्ठी श्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर), उनके पट्टाधीश, आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज, उनके शिष्य वात्सल्य-रत्नाकर, आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज-इन महापुरुषों की जीवनप्रणाली आगमोक्त रही है। इन्होंने स्वात्महित के साथ परहित भी किया है तथा अपनी तपोपूत आत्मा से भव्य आत्माओं को उपदेश दिया है। वह उपदेश ग्रन्थों के रूप में लिपिबद्ध है।

आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) ने भाद्रपद शुक्ला ४, वि. सं. १९२३ सन् १८६६ को महाराष्ट्र के अंकली ग्राम में जन्म लिया। मगसिर शुक्ला २, वि. सं. १९७० सन् १९१३ को सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि पर मुनिदीक्षा ली। जेष्ठ शुक्ला ५, वि. सं. १९७२ सन् १९१५ को जयसिंगपुर (काडगीमला-ऊदगाँव) में आचार्यपद को ग्रहण किया। फाल्गुन कृष्णा १३, वि. सं. २००० सन् १९४४ को ऊदगाँव (कुंजवन) में समाधिमरण किया। उन्होंने अपने दीक्षाकाल में **प्रायश्चित्त विधान** (प्राकृत) को भाद्रपद शुक्ला ५, वि. सं.१९७२ सन् १९१५, **दिव्यदेशना** (कन्नड) को मगसिर शुक्ला ११, वि. सं.१९९९ सन् १९४१, **जिनधर्मरहस्य** (संस्कृत) को मगसिर शुक्ला २, वि.सं.१९९९ सन् १९४२, **शिवपथ** (संस्कृत) को भाद्रपद शुक्ला ४, वि. सं. २००० सन् १९४३, **वचनामृत** (मराठी) को माघ शुक्ला १४, वि. सं. २००० सन् १९४३, **उद्बोधन** (कन्नड) फाल्गुन शुक्ला ११, वि. सं. २००० सन् १९४३, **अन्तिम दिव्यदेशना** (कन्नड) को फाल्गुन कृष्णा १३, वि. सं. २००१ सन् १९४४ में पूर्ण किया।

आचार्यश्री के पट्टाधीश, आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने वैशाख कृष्णा ९, वि. सं. १९६७ सन् १९१० को फिरोजाबाद में जन्म लिया। फाल्गुन

शुक्ला ११, वि. सं. २००० सन् १९४३ को ऊदगाँव में मुनिदीक्षा ग्रहण की। आश्विन शुक्ला १०, वि. सं. २००० सन् १९४३ को आचार्यपद ग्रहण किया। माघ कृष्णा ६, वि. सं. २०२८ सन् १९७२ को मेहसाना में समाधि प्राप्त की।

आचार्यश्री ने परम्परागत ज्ञान से अपने दीक्षाकाल में **प्रायश्चित्त विधान** (संस्कृत) को फाल्गुन शुक्ला १३, वि. सं. २००९ सन् १९५२, **वचनामृत** (अंग्रेजी) **वर्डस् ऑफ नेक्टर** (Words of Nector) को मगसिर कृष्णा १०, वि. सं. २००० सन् १९४३, **धर्मानन्द श्रावकाचार** (हिन्दी) को चैत्र शुक्ला १३, वि. सं. २००० सन् १९४३, **प्रबोधाष्टक** (संस्कृत स्वोपज्ञ टीकासहित) को फाल्गुन कृष्णा ११, वि. सं. २००४ सन् १९४७, **शिवपथ टीका** को मगसिर कृष्णा १०, वि. सं. २००४ सन् १९४७ **जिनधर्मरहस्य** (हिन्दी टीका) को फाल्गुन शुक्ला १३, वि. सं. २०१० सन् १९५४, **चतुर्विंशति स्तोत्र** (संस्कृत) को मगसिर शुक्ला ११, वि. सं. २०१८ सन् १९६१ इनकी रचना की।

आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज ने आश्विन कृष्णा ७, वि. सं. १९७२ सन् १९१५ को कोसमा में जन्म लिया। फाल्गुन शुक्ला १३, वि. सं. २००९ सन् १९५२ को सोनागिरि में मुनिदीक्षा ग्रहण की। मगसिर कृष्णा २, वि. सं. २०१८ सन् १९६० को टुण्डला में आचार्यपद प्राप्त किया। पौष कृष्णा १२, वि. सं. २०५१ सन् १९९४ को सम्मेदशिखर में समाधिमरण किया। आपने दीक्षाकाल में प्राप्त हुयेपरम्परागत ज्ञान को लिपिबद्ध किया। **जिनवाणी का वैभव** (हिन्दी) को कार्तिक शुक्ला १५, वि. सं. २००८ सन् १९५१, **हे आचार्य आदिसागर अंकलीकर** (हिन्दी) कार्तिक कृष्णा १०, वि. सं. २०३९ सन् १९८२, **सन्देश** (हिन्दी) अश्विन शुक्ला ९, (२३ अक्टूबर) को वि. सं. २०५० सन् १९९३ को प्रतिपादन कर पूर्ण किया।

सन्देश –

हमारी आचार्य परम्परा में प्रथम मुनिकुंजर आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर) हैं। आप आचार्य महावीरकीर्ति जी के दीक्षागुरु हैं। आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर) ने अपना आचार्यपद महावीरकीर्ति जी को दिया है।

जैन समाज में आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर) की परम्परा और आचार्य शान्तिसागर जी (दक्षिण) की परम्परा इस युग में निर्बाध चली आ रही है। समाज का कर्तव्य है कि किसी प्रकार का विवाद न करके दोनों आचार्य परम्परा को आगमसम्मत मान कर वात्सल्य से धर्मप्रभावना करें।

आचार्य सुविधिसागर जी ने आसनों के माध्यम से चिकित्सा की पद्धति को लिपिबद्ध किया है। यह उनका प्रयत्न स्त्युत्य है। आसन ही कायक्लेश तप के साधन बन कर मोक्षमार्ग में निमित्त बनते हैं। धर्म्यध्यान की साधना में आसनों का महत्त्व विस्मरणीय नहीं हो सकता। यह कृति सर्वोपयोगी सिद्ध होगी-इसका हमें पूर्ण विश्वास है।

लेखक महोदय आचार्य सुविधिसागर जी हैं। आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर) से आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने ज्ञान को प्राप्त किया। आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज से आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज ने ज्ञान प्राप्त किया। आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज तथा आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज से मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे सुविधिसागर जी ने प्राप्त किया है। इस प्रकार हमारे शिष्य ने परम्परागत ज्ञान प्राप्त करके प्रस्तुत कृति को ग्रन्थित किया है।

इस प्रकाशन के लिये मेरा शुभाशीर्वाद है।

– आचार्य सन्मतिसागर

कुंजवन २०१०

आसनविषयक विशेष नियम

- प्राणायाम का अभ्यास करने के उपरान्त ही आसन करने चाहिये।
- आसन का समय और संख्या निश्चित होनी चाहिये।
- यदि संख्याओं की वृद्धि करनी हो तो एक-एक, दो-दो संख्या बढ़ानी चाहिये।
- पुरुषों को लंगोट पहन कर ही आसन करने चाहिये।
- आसनों का क्रमविशेष ध्यान में रखना चाहिये, क्योंकि एक आसन के बाद उसका पूरक आसन किया जाता है। जैसे- मत्स्यासन के बाद हलासन।
- आसन के बाद मूत्रविसर्जन की क्रिया अवश्य पूर्ण करनी चाहिये, जिससे शरीर में एकत्र हुआ मल मूत्र द्वारा बाहर निकल सके।
- किसी को बद्धकोष्ठता पीड़ित कर रही हो तो उसे आधा किलो पानी पीकर भुजंगासनादि आसन करने चाहिये।

– परम्पराचार्य सुविधिसागर

मनोगत

स्थिर सुखमासनम्। शरीर का किसी एक स्थिति में सुखपूर्वक रहने को आसन कहते हैं। स्वास्थ्यलाभ और ध्यानसिद्धि के लिये आसन बहुत आवश्यक हैं। आसन शरीर की सहनशीलता के विकासक हैं। आसनों से रोगप्रतिरोधात्मक शक्ति का तीव्रगति से विकास होता है।

समय :- शौच आदि दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होने के बाद आसन करने चाहिये। आसन और स्नान में लगभग एक घण्टे का अन्तराल होना चाहिये। आसन पन्द्रह मिनट से तीस मिनट तक किये जाने चाहिये।

काल :- आसनों के लिये सूर्योदय के पूर्व का काल उचित माना गया है। सायंकाल में अथवा सूर्यास्त के बाद भी आसन किये जा सकते हैं। तेज धूप में आसन नहीं करने चाहिये। वज्रासन भोजन के बाद भी किया जा सकता है।

भोजन :- आसन की क्रिया सम्पन्न करने के लिये साधक का पेट खाली होना आवश्यक है। आसन के बीस मिनट बाद पेयाहार लिया जा सकता है। लगभग एक घण्टे बाद ही पूर्णाहार लेना चाहिये। आहार लेने के बाद यदि आसन करने हो तो कम से कम तीन घण्टे बाद करना चाहिये।

स्थान :- आसन के लिये स्वच्छ, हवादार, दुर्गन्धरहित, शान्त और एकान्त स्थान का चयन करना चाहिये।

श्वासक्रिया :- आसन की आरम्भिक स्थिति में श्वास सम होनी चाहिये। गति लयबद्ध होनी चाहिये। शेष विधि निर्देशानुसार करनी चाहिये।

चेतना का जागरण :- तटस्थतापूर्वक अंग-प्रत्यंगों का अवलोकन करना चाहिये। आसन के समय में सिर तनावरहित व सजग होना चाहिये।

आसन-समय :- प्रारम्भ में अल्प समय में प्रत्येक आसन का समापन कर क्रमानुसार समय की वृद्धि करनी चाहिये।

अंगविन्यास :- आसन करते समय शरीर को झटके नहीं लगने चाहिये।

आसन यद्यपि लाभकारी चिकित्सापद्धति है, तथापि अनेक अवस्थाओं में इसका निषेध किया गया है। यथा-

किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति, लम्बी बीमारी से मुक्त हुये व्यक्ति, गर्भवती स्त्री, बहुत अधिक अस्वस्थ शरीर वाले, भोग-विलास में लिप्त, ज्वरग्रस्त, लम्बे समय से सर्दी-जुकाम से पीड़ित, जिसका कान बहता हो, जिसके नेत्रों में लाली आ गयी हो, हृदयरोगी, भूख-प्यास से ग्रस्त पुरुषों व महिलाओं को आसन नहीं करने चाहिये। यदि करने हो तो चिकित्सक के सहयोग से आसन करने चाहिये। जिनका पूर्वाभ्यास हो, उन्हीं सरल आसनों का प्रयोग करना चाहिये।

स्नायविक दौर्बल्य और हृदय की दुर्बलता से युक्त जीव को शीर्षासन जैसे कठिनतम आसन नहीं करने चाहिये।

अण्डवृद्धि वालों को ऐसे आसन नहीं करने चाहिये, जिसमें नाभि के निचले भागों पर जोर पड़ता हो।

उच्च रक्तचाप वाले रोगियों को सिर के बल पर किये जाने वाले आसन नहीं करने चाहिये।

महिलाओं को मासिकधर्म के दिनों में आसन नहीं करने चाहिये तथा मयूरासन और सिद्धासन जैसे आसन उन्हें कभी नहीं करने चाहिये। गर्भ के चार माह व्यतीत होने पर कठिन आसन नहीं करने चाहिये।

जिनको कमर, पीठ और गरदन में पीड़ा रहती हो, उन्हें आगे झुकने वाले आसन नहीं करने चाहिये।

निरोगी जीवन जीने के इच्छुक पुरुष को नियमित रूप से आसनों का अभ्यास करना चाहिये।

आसनों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। आसनविदों ने आसनों के विषय में अपने-अपने अनुभव प्रस्तुत करते हुये अनेक कृतियों का निर्माण किया। दिगम्बर जैनागमों में कायक्लेश और ध्यान इन दो तपों के प्रकरण में आसन शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से पाया जाता है। किन्तु, उस पर कोई स्वतन्त्र कृति देखने में नहीं आयी। विचार था कि लगभग दो सौ आसनों पर बृहत्काय कृति का निर्माण करूँ। किन्तु, संघ के आग्रहवशात् केवल छत्तीस आसनों के परिचय को प्रकाशन की स्वीकृति देनी पड़ी। भविष्य में वह भी स्वप्न साकार करने का प्रयत्न करूँगा।

यह कृति आपके लिये मार्गदर्शन कर पाये तो श्रम सार्थक होगा।

सुविधिसागर

अनुक्रमणिका

आगम में आसनों का उल्लेख

चरणानुयोग के ग्रन्थों में आसनों के नाम पाये जाते हैं। यथा-

उत्कुटिकापर्यङ्कवीरासनमकरमुखाद्यासनम्।

(मूलाचार = ३५६ की टीका)

अर्थात् :- उत्कुटिकासन, पर्यंकासन, वीरासन, मकरमुखासन आदि आसन हैं।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं, वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च, कायोत्सर्गश्च सम्मतः।।

(ज्ञानार्णव = १३११)

अर्थात् :- पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन और कमलासन ये आसन ध्यान के लिये अभीष्ट माने गये हैं।

समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया।
मगरमुहहत्थिसुंडी गोणिसेज्जद्धपलियंका।।
वीरासण च दंडा य ---

(भगवती आराधना = २२६-२२७)

अर्थात् :- समपर्यंकासन, समपदासन, गोदोहासन, उत्करिकासन, मकरमुखासन, हस्तिसुण्डासन, पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन, दण्डासन--।

निश्चयेनात्मन अनन्येवस्थानं यत् तदासनमित्युच्यते। लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनाङ्गत्वेन यमनियमाद्यष्टाङ्गेषु मध्ये शरीरालस्यग्लानिहानाय नानाविधतपश्चरणभारनिर्वाहक्षमं भवितुं तत्पाटवोत्पादनाय यन्निर्दिष्टं पर्यङ्कार्द्धपर्यङ्कवीरवज्रस्वस्तिकपद्मकादिलक्षणमासनमित्युच्यते।

(आराधनासार = २६)

अर्थात् :- निश्चयनय से आत्मा का स्वकीय स्वभाव में स्थिर रहना ही आसन है। लोकव्यवहार के अनुसार स्वकीय स्वभाव में स्थिर रहने के निमित्तभूत यम, नियमादि आठ अंगों के मध्य में शरीर का आलस्य और ग्लानि को दूर करने के लिये, अनेक प्रकार के तपश्चरण के भार को वहन करने के लिये तथा स्व में स्थिरता लाने की पटुता को उत्पन्न करने के लिये शास्त्र में निर्दिष्ट पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन आदि अनेक प्रकार के आसन कहे गये हैं।

अर्द्ध मत्सेन्द्रासन

विधि :-

जमीन पर बैठ कर अपने पैरों को सामने की ओर फैला दीजिये। बाये पैर को घुटने से मोड़ कर एड़ी को गुदाद्धार के नीचे लगाइये। पैर के तलुवे को दायी जंघा के साथ लगा दीजिये। तदुपरान्त दाये पैर को घुटने से मोड़ कर खड़ा कर दीजिये। उसे बाये पैर की जंघा के ऊपर से ले जाते हुये जंघा के ऊपरी भूमि पर रख दीजिये। अब, बाये हाथ को दाये पैर के घुटने से पार करके अर्थात् घुटने को बगल में दबाते हुये हाथ से दाये पैर का अंगुठा पकड़ लीजिये। धड़ को दायी ओर ऐसा मोड़े कि बाये कन्धे का दबाव दाये पैर के घुटने पर पड़ता रहे। फिर दाये हाथ को पीठ के पीछे से घुमा कर बाये पैर की जंघा का नीचले भाग को पकड़ लीजिये। सिर को दाये भाग में इतना घुमाइये कि ठोड़ी और बाया कन्धा एक सीधी रेखा में आ जाये। छाती को तान कर ही रखिये। नीचे की ओर झुकना भी नहीं है।

विशेष बात यह है कि कमर को मोड़ते समय रेचक करना चाहिये। आसन की अन्तिम अवस्था में गहरी श्वास खींच कर पूरक करना चाहिये।

कुछ देर इस आसन की अवस्था में रह कर धीरे-धीरे पूर्वावस्था में आना चाहिये। पूर्ववर्ती स्थिति में आते समय रेचक करना चाहिये।

यह उक्त आसन की पहली आवृत्ति है। दूसरी आवृत्ति के लिये दाये पैर का प्रयोग करना चाहिये। दो आवृत्तियों में यह आसन पूर्ण होता है।

समय :-

इस आसन को दिन में एक बार करना चाहिये। पीठ की मांसपेशियाँ पर्याप्त लचीली हो जाने पर प्रत्येक ओर से कम से कम एक से दो मिनिट तक इस आसन में स्थिर रहना चाहिये। आरम्भ में पाँच/दस सेकन्द तक करना पर्याप्त है।

लाभ :-

कमजोर वृक्क और मूत्राशय की निर्बल पेशियों के लिये यह आसन अत्यन्त गुणकारी माना जाता है।

यह आसन कब्ज एवं अजीर्ण में लाभकारक होने से पाचनसंस्थान को स्वस्थ बनाने में सहयोग प्रदान करता है।

आमाशय, प्लीहा, मूत्राशय, छोटी आँत, अग्न्याशय और मधुमेह जैसे रोगों के लिये यह आसन अत्युपयोगी होता है।

इस आसन से कमर और पीठ के दर्द दूर होते हैं।

यह आसन मेरुदण्ड को लचीला बनाता है।

यह आसन पीठ की मांसपेशियों की मालिश करता है। यह नाड़ियों को शक्ति प्रदान करता है।

वात के रोग को दूर करने में यह आसन अपूर्व सहयोग करता है।

पीठ में स्थित अनेक नाड़ियों के लिये यह आसन शक्तिदाता है।

सम्पूर्ण शरीर में फैली हुयी मस्तिष्क से सम्बन्धित नाड़ियों को यह आसन शक्तिशाली और स्वस्थ बनाता है। इस प्रकार समस्त नाड़ीसंस्थान पर इस आसन का अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इस आसन के अभ्यास से उदररोगों को भली-भाँति गति मिलती है, जिससे जठराग्नि प्रज्वलित होकर क्षुधा में वृद्धिं होती है।

विकृत हुये यकृत और प्लीहा के लिये यह आसन लाभकारी है।

यह आसन सन्धिस्थानों के कष्टों को दूर करता है।

इस आसन को स्मरणशक्ति का विकासक माना गया है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय हाथ, पैर मोड़ना पड़ता है। उस समय अत्यन्त सजग रहना चाहिये। किसी भी प्रकार की शीघ्रता उचित नहीं है।

इस आसन को करते समय वार्तालाप नहीं करना चाहिये।

इस आसन को करते समय शरीर को थकाना नहीं चाहिये।

गर्भवती स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त थके हुये शरीर को विश्राम देने के लिये सुखासन का प्रयोग करना चाहिये।
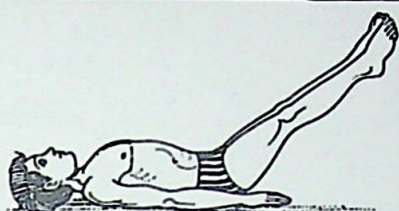
उत्तानपादासन

उत्तान और पाद इन दो शब्दों के संयोग से उत्तानपादासन इस शब्द की निष्पत्ति हुयी है।

उत्तान शब्द का अर्थ है-ऊपर की ओर। पाद शब्द का अर्थ है-पैर।

जिस आसन में पैरों को ऊर्ध्वदिशा की ओर फैलाया जाता है, उस आसन को उत्तानपादासन कहते हैं।

विधि :-

सर्वप्रथम पीठ के बल से जमीन पर लेट जाइये। दोनों हथेलियों से जमीन छूते हुये दोनों को अगल-बगल में भली-भाँति फैला दीजिये तथा दोनों पैरों के अंगूठों को मिला दीजिये। पैरों को तान कर रखिये।

तदुपरान्त गहरी श्वास लेकर दोनों पैरों को धीरे-धीरे इतना ऊपर उठाइये कि कमर भूमि से लग जाये तथा पैर लगभग दस-बारह इंच ऊँचे हो। श्वास को जितनी देर तक रोक सके, उतनी देर तक पैर ऊपर रखना चाहिये। घबराहट हो, उसके पहले ही धीरे-धीरे पैर भूमि पर रखने चाहिये। शरीर को शिथिल करके श्वास छोड़िये।

यह विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वावस्था में आने के समय क्रमशः पुनरागमन करना चाहिये तथा शरीर को झटका नहीं देना चाहिये।

समय :-

इस आसन को आरम्भ में सात से दस सेकन्द तक कर सकते हैं। क्रमशः बढ़ाते हुये इसे दो मिनट तक बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन पेट की समस्त भीतरी एवं बाहरी पेशियों को व्यायाम देता है, जिसके कारण पेन्क्रियाज की विकृतियाँ दूर होती हैं।

इस आसन को करने से कब्ज दूर होता है।

यह आसन चर्बी घटाता है।

इस आसन का प्रतिदिन अभ्यास करने से उदरवायु, अपचन और आँतों की व्याधियाँ ठीक होती हैं।

कमर और पीठ के कष्टों को दूर करने के लिये यह आसन अतिशय उपयोगी माना गया है।

यह आसन कमर और टांगों को बलशाली बनाता है।

यह आसन वीर्यवर्द्धक है-ऐसा मनीषियों का मत है।

इस आसन को करने से नितम्ब और जंघाओं की सन्धियों को बल मिलता है।

यह आसन सुषुम्ना में बल को उत्पन्न करता है।

इस आसन को करने से प्रजननविषयक ग्रन्थियों की सक्रियता बढ़ती है।

इस आसन के अभ्यास से स्मरणशक्ति की आशातीत वृद्धि होती है।

इस आसन को करने से भूख बढ़ती है।

इस आसन से मोटापा झड़ता है।

मस्तिष्कविषयक विकृतियों को दूर करने के लिये यह आसन अत्यावश्यक माना गया है।

नेत्रों से सम्बन्धित जितने विकार हैं, उन पर यह आसन रामबाण औषधि के रूप में स्वीकार किया गया है।

श्वास और रक्त के विकारों को दूर करना हो तो इस आसन को प्रतिदिन नियमपूर्वक करना चाहिये।

मासिकधर्मगत दोषों को दूर करने के लिये स्त्रीवर्ग के द्वारा यह आसन किया जाना चाहिये।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय पैरों को उठाने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। घबराहट होने से पहले ही पैरों को नीचे कर लेना चाहिये।

यदि इस आसन को करते समय जंघाओं में कुछ पीड़ा का अनुभव हो तो आसन का समापन कर देना चाहिये।

जितने मिनट तक यह आसन किया जाता है, उससे आधे समय तक पूर्णरूप से विश्राम करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त सुखासन करना लाभदायक है।

उष्ट्रासन

उष्ट्र शब्द का अर्थ ऊँट है। ऊँट की गरदन ऊपर की ओर उठी रहती है। इस आसन को करते समय ऊँट के समान ही ग्रीवादेश को ऊपर उठाया जाता है। अतः इस आसन को उष्ट्रासन कहते हैं।

विधि :-

दोनों घुटनों को मोड़ कर टाँगों को पीछे की ओर ले जाइये। पावों पर पंजे के बल से बैठ जाइये। नितम्बों का भार पंजों पर पड़ना चाहिये तथा घुटने से घुटना और एड़ी से एड़ी मिली रहनी चाहिये।

अब, धीरे-धीरे घुटनों से ऊपर सिर तक के भाग को ऊपर की ओर उठाना है। यह क्रिया करते समय कुहनियाँ सीधी रहनी चाहिये। तदुपरान्त श्वास को भीतर भरते हुये छाती को ऊपर की ओर उठाइये। सिर को पीछे की ओर ले जाइये। ठोड़ी आकाश की ओर रहनी चाहिये। गरदन अधिक से अधिक तनी हुयी होनी चाहिये। इस विधि में लगभग आधा मिनट तक स्थिर रहना चाहिये। धीरे-धीरे स्वाभाविक दशा को प्राप्त कर लगभग दो मिनट तक विश्राम करना चाहिये। इस आसन की प्रतिदिन तीन आवृत्तियाँ करनी चाहिये।

समय :-

आरम्भिक अवस्था में इस आसन को करने में लगभग एक मिनट का समय लगना चाहिये। अभ्यास की दशा में इस समय को क्रमशः तीन से चार मिनट तक बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन का अभ्यास मेरुदण्ड के कड़ेपन को दूर करता है।

इस आसन का अभ्यासी साधक बुढ़ापे को दूर करता है।

यह आसन ग्रीवा को दृढ़ बनाता है।

इस आसन को करने से जीवनीशक्ति की आशातीत वृद्धि होती है।

स्त्रीरोगों में इस आसन के प्रयोग को सर्वोत्तम माना है।

कटिशूल व पृष्ठशूल को नष्ट करने के लिये यह आसन अत्युपयोगी है।

कटि और उदर की चर्बी को छाँटने के लिये प्रतिदिन नियमितरूप से इस आसन को करना चाहिये।

इस आसन का नित्य अभ्यास करने से कामेन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं।

कण्ठरोग, श्वासरोग और हृदयरोग का विनाश इस आसन के द्वारा होता है।

इस आसन को करने से सीना विशाल बनता है।

इसके नियमित अभ्यास से कान्ति और बल का विकास होता है।

भुजदण्ड को सबल बनाने के लिये यह आसन सहयोगी बनता है।

इस आसन को विधिवत् लगाने से घुटनों, जंघाओं, पक्वाशय, उदरपेशियों, वक्ष, फैंफड़ों और ग्रीवा का व्यायाम उत्तम रीति से होता है। फलतः इस आसन को करने वाला इन अवयवों विषयक रोगों से मुक्त रहता है।

कब्ज, उदरवायु, अग्निमान्द्य, अपचन आदि विषयक समस्त दोषों का उपशमन इस आसन के द्वारा होता है।

इस आसन को करने से घुटनों के ऊपर का शारीरिक भाग तनाव में आता है। इससे ऊपरी अवयवों पर अत्यधिक सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

शरीर के अधःभाग पर भी यह आसन अपना प्रभाव छोड़ता है। फलतः पैरों की पिण्डलियों और पंजों का भी व्यायाम इस आसन के द्वारा होता है।

शारीरिक लचक को बढ़ाने में यह आसन अत्यन्त सहयोगी है।

इस आसन को सम्पन्न करने के उपरान्त जब शरीर सामान्य अवस्था में आता है, तब रक्तप्रवाह अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाता है। इससे रक्त का शुद्धिकरण भी सम्यक् होता है और प्रत्येक अवयव को सम्यक् मात्रा में मिलता भी है।

गैस, खट्टी डकारें, पाचनरोग आदि दुष्ट रोगों का विनाश करने के लिये इस आसन को करना आवश्यक है।

उदररोगों के लिये तो इससे अच्छा आसन कौनसा हो सकता है?

सावधानियाँ :-

यह आसन सर्वांगासन का विपरीत आसन है। अतः इसे सर्वांगासन के उपरान्त करना, अधिक लाभदायक है।

इस आसन के उपरान्त विश्राम की दृष्टि से सुखासन करना चाहिये।

गर्भवती महिलाओं को यह आसन नहीं करना चाहिये।

[illegible] और [illegible] के रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

एकपादप्रणामासन

विधि :-

समतल पृथ्वी पर शान्त चित्त से खड़े हो जाइये। पश्चात् एक पैर दूसरे पैर की जंघा पर रखिये तथा दोनों हथेलियों को छाती के सामने जोड़े अर्थात् प्रार्थनामुद्रा बनाइये। सिर को सीधा रखना चाहिये तथा दृष्टि भी सीधी रखनी चाहिये। यथासम्भव इस स्थिति में रह कर पुनः खड्गासन की स्थिति में आना चाहिये।

दूसरे चरण में पैर बदल कर यही क्रिया करनी चाहिये। इस प्रकार यह आसन दो चरणों में पूर्ण होता है।

समय :-

जितनी अवधि तक इस आसन को किया जा सकता है, उतनी अवधि तक उक्त आसन का अभ्यास किया जा सकता है। प्रारम्भ में १०/१५ सैकिण्ड तक करना उचित है। तत्पश्चात् अभ्यास को बढ़ाते हुये अपनी शक्ति के अनुसार अवधि का निर्द्धारण कर लेना चाहिये।

लाभ :-

स्नायु-संस्थान के सन्तुलन को कायम रखने के लिये यह आसन अत्यन्त उपयोगी माना गया है।

यह आसन पैरों, तलवों और टखनों की मांसपेशियों को सशक्त बनाता है।

इस आसन को करने से मानसिक तनाव दूर होता है।

आलस्य दूर करने के लिये इस आसन का अभ्यास उपयोगी है।

यह आसन शरीर के सभी जोड़ों के लिये लाभदायक है।

सावधानी :-

इस आसन को करते समय जो पैर पृथ्वीतल पर स्थित है, उस पैर का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। अन्यथा, वह पैर शरीर का भार न सम्भाल सकेगा और गिरने की सम्भावना होगी।

संस्कृतभाषीय कुक्कुट शब्द का अर्थ मूर्गा है। इस आसन के समय शरीर की आकृति मूर्गे के समान होती है। अतः इस आसन को कुक्कुटासन कहते हैं।

विधि :-

सर्वप्रथम पद्मासन लगा कर बैठ जाइये। तत्पश्चात् दोनों पैरों के बीच में दोनों ओर त्रिकोन जैसे रिक्त स्थान रहे, उनमें अपने हाथों को घुसाकर दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर जमावें।सम्पूर्ण शरीर का भार दोनों हाथों पर डालकर शरीर को जमीन से ऊपर उठाना चाहिये।

समय :-

जितनी देर सम्भव हो, उक्त अभ्यास करें। प्रारम्भ में १०/१५ सैकिण्ड तक करें। तत्पश्चात् अभ्यास को बढ़ाते जाइये।

लाभ :-

यह आसन हाथों की मांसपेशियों को मजबूत बनाता है।

इस आसन से बाँहें कन्धे एवं हाथ पुष्ट एवं सुडौल होते हैं।

इसका प्रतिदिन अभयास करने से पीठ और कन्धों की पीड़ा दूर होती हैं।

यह आसन उदरकृमियों का महाशत्रु है।

शारीरीक उत्साह व मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाने में यह आसन अत्यन्त सहयोगी होता है।

रजस्वला अवस्था में होने वाली बेचैनी, आने वाली शिथिलता और अतिशय पीड़ा यह आसन सहज ही दूर कर देता है।

आँतों की दुर्बलता के कारण जो अपानवायु उत्पन्न होती है, उससे पेट फूलता है। यह आसन आँतों की दुर्बलता को दूर करता है।

इस आसन को करने वाले मनुष्य को स्वप्नदोष नहीं होता।

टाईपिस्टों या अंगुलियों से काम करने वालों का यह आसन परम मित्र है।

जिनकी अंगुलियाँ कम्पित होती हैं, उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिये।

इस आसन के द्वारा शारीरिक और मानसिक सन्तुलन की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

इस आसन को करने से हाथों का व्यायाम भली-भाँति हो जाता है। फलतः तत्सम्बन्धित दोष दूर होने में सहयोग मिलता है।

इस आसन का अभ्यास करने से पद्मासन, उत्थित पद्मासन, लोलासन, तुलासन से प्राप्त होने वाले लाभ सहज ही प्राप्त होते हैं।

शरीर में उत्साहशक्ति का संचार करने के लिये इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।

मानसिक प्रसन्नता का विकास करने के लिये इस आसन को उत्तम और लाभप्रद माना गया है।

स्त्री अथवा पुरुष के कमरभाग से नीचे के अवयवों को बल प्रदान करने में इस आसन का योगदान स्वीकार किया जाता है।

यह आसन लैंगिक क्षमता का विकास करता है।

इस आसन के अभ्यास से कफजरोग दूर होते हैं।

वक्षस्थल का पुष्ट करने में यह आसन बहुमोल है।

इस आसन से वीर्य की रक्षा और वृद्धि होती है।

क्रोधादि काषायिक विकारों से दूर रहने के अभीप्सु साधकों को यह आसन प्रतिदिन और प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये।

हृदयरोग, क्षय, दमा जैसे रोगों का उच्चाटन करने में इस आसन से पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है।

इस आसन को करने से मुख की सुन्दरता विकसित होती है।

सावधानियाँ :-

कुछ व्यक्तियों के पैरों में अत्यधिक बाल पाये जाते हैं। उन्हें पिण्डलियों और जांघों के मध्य में हाथ डालने में कठिनाई हो सकती है।ऐसे लोग पैरों में तेल लगाकर अथवा स्नान करके यह आसन करना चाहिये। इससे हाथ बालों के ऊपर आसानी से फिसलकर अन्दर जा सकें। ऐसा करने से बालतोड़ नहीं होगा।

गोमुखासन

संस्कृतभाषीय गो शब्द का अर्थ गाय है। जिस आसन को करते समय शरीर की आकृति गाय के मुख के समान होती है, उस आसन को गोमुखासन कहते हैं।

विधि :-

सर्वप्रथम भूमिप्रदेश पर सुखपूर्वक बैठ जाइये। बाये पैर की एड़ी को नितम्ब के पास रखिये। दाये पैर को बायी जंघा के उपर रखिये। घुटने एक दूसरे के ऊपर रहने दीजिये।

पश्चात् बाये हाथ को ऊपर से पीठ के पीछे ले जाइये तथा दाहिने हाथ को भी दाहिने कन्धे पर से पीछे ले जाइये। हाथों को परस्पर बाँध लीजिये। धड़ सीधा लम्बा रहना चाहिये। दोनों हाथों की अंगलियों को परस्पर में फँसाने का प्रयत्न कीजिये।

इस क्रिया के काल में नेत्रों को नासाग्र रखिये। कुछ अवधि तक इस आसन में बैठ जाइये। पश्चात क्रमशः पूर्वस्थिति में आइये।

दूसरी आवृत्ति करते समय दाये पैर की एड़ी को नितम्ब के पास रखिये एवं बाये पैर को दाहिने जंघा के ऊपर रख कर इस आसन को कीजिये।

समय :-

प्रारम्भिक अवस्था में आठ से दस सेकन्द तक इस आसन को कीजिये। अभ्यास हो जाने पर इस अवस्था में जितनी देर तक बैठा जा सकता है, उतना बैठना चाहिये।

लाभ :-

इस आसन को करने से गठियारोग में लाभ होता है।

यह आसन अण्डकोष सम्बन्धित रोग को दूर करता है।

पैरों को निरोगी बनाने में अथवा पैरों की शक्ति का विकास करने में इस आसन से बहुत सहयोग प्राप्त होता है।

मधुमेह के रोगियों को इस आसन का अभ्यास प्रतिदिन करना ही चाहिये।

यह आसन पीठ से सम्बन्धित कष्टों को कम करता है।

कन्धों के कड़े पन को दूर करने में यह आसन अत्युपयोगी है।

यह आसन ग्रीवा के दोषों को दूर करता है।

लैंगिक विकारों से कष्ट पाने वाले रोगियों को प्रतिदिन इस आसन का अभ्यास नियमपूर्वक करना चाहिये।

यह आसन वक्षस्थल को शक्तिशाली बनाता है।

यह आसन वृक्कों को उत्प्रेरित करता है।

इस आसन से साइटिका विषयक कष्ट दूर होता है।

इस आसन को करने से पाँव और घुटने मजबूत होते हैं।

शारीरिक पेशियों एवं नाडियों को बलशाली बनाने के लिये यह आसन करना आवश्यक है।

इस आसन को करने से घुटने और पिण्डलियाँ सबल होती हैं।

दमा, राजयक्ष्मा आदि रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये यह आसन गुणकारी माना जाता है।

यह आसन अम्लपित्त का नाश करता है।

यह आसन बवासीर को रोकता है।

यह आसन कब्ज को दूर करता है।

इस आसन से क्षुधा बढ़ती है।

यह आसन विषमाग्नि को समाग्नि बनाता है।

सावधानियाँ :-

जिन रोगियों के घुटने, टखने तथा पैरों की अंगुलियाँ बुरे रूप में प्रभावित हैं, उनके लिये गोमुखासन की स्थिति में आना कठिन हो सकता है।

ऐसे व्यक्तियों को सलाह है कि वे भूपृष्ठ पर केवल घुटने मोड़ कर बैठ जायें तथा रीढ़ की हड्डी को ऊपर की ओर सीधी रखें। शरीर पर किसी प्रकार का बलप्रयोग न करें।

इस आसन को करते समय मेरुदण्ड को बिलकुल सीधा रखें।

प्रारम्भिक अवस्था में यह आसन अत्यन्त मन्दगति से करें।

इस आसन का अभ्यास कर लेने के उपरान्त विश्राम प्राप्त करने के लिये शवासन करना ही चाहिये।

गीध नामक पक्षी को गृद्ध कहते हैं। जिस आसन को करते हुये शरीर की आकृति गृद्धपक्षी के समान होता है, उस आसन को गृद्धासन कहते हैं।

विधि :-

सर्वप्रथम समतल भूमि पर ठीक से खड़े हो जाइये। तदुपरान्त बाये पैर को पृथ्वी पर जमा कर दाये पैर को बाये पैर में लता की भाँति लपेट दीजिये। इसी प्रकार दोनों भुजाओं को परस्पर में लपेट दीजिये। अंगुलियों को गिद्ध की चोंच-सी बना कर हाथों को मुख के सामने स्थिर कर लीजिये।

यथासम्भव काल तक इस आसन से स्थिर रहने के उपरान्त पुनः पूर्वस्थिति को प्राप्त कीजिये।

उक्त प्रक्रिया को पैर बदल कर कीजिये। इस प्रकार यह आसन दो चरणों में पूर्ण होता है।

समय :-

इस आसन को आरम्भिक अवस्था में आठ से दस सेकन्द तक कीजिये। अभ्यास हो जाने पर इसे दो मीनट तक किया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन पिण्डलियों की मांसपेशियों को सबल बनाता है।

इस आसन का नियमित अभ्यास हाथ पैरों को विकसित और पुष्ट करता है।

यह आसन रीढ़ की हड्डी को सुदृढ़ करता है।

पैर एवं हाथों की हड्डियों को पुष्ट करने में यह आसन सहायता करता है।

इस आसन के प्रयोग से गठिया तथा गृध्रसीवात (सायटिका) दूर होता है।

सावधानियाँ :-

आरम्भिक अवस्था में इस आसन को करते समय किसी विशेषज्ञ का सहयोग लेना चाहिये।
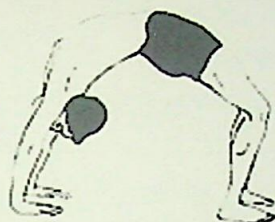
चक्रासन

इस आसन को करते समय शरीर की आकृति चक्र के समान बन जाती है। इसीलिये इस आसन का नाम चक्रासन पड़ा है।

विधि :-

सबसे पहले पीठ के बल लेट जाइये। धीरे-धीरे दोनों घुटनों को मोड़िये। एडियाँ नितम्बों से छुती हुयी होनी चाहिये। दोनों पैरो में लगभग एक फिट का अन्तर रखिये। हथेलियों को भूमि पर कनपटियों के बगल से घुमा कर इस प्रकार रखिये कि अंगुलियों के अगले हिस्से कन्धे की ओर रहें।

तदुपरान्त धीरे-धीरे धड़ को ऊपर उठाइये। मस्तक भी धीरे-धीरे सरकता जायेगा। इस प्रकार करते हुये ऐसी स्थिति में आ जाइये कि शरीर के ऊपरी भाग का भार मस्तक के ऊपरी भाग पर पड़े। उसके बाद हाथों को और पैरों को सीधा करते हुये मस्तक और शरीर को पूरी गोलाई में ऊपर उठाइये। शरीर को ऊपर की ओर खींच कर घुटनों को भी सीधा किया जा सकता है।

सात से आठ सेकन्द इसी आसन में स्थिर रहिये। पुनः विलोम क्रम से सहज अवस्था में आ जाइये।

समय :-

सहजरूप से जितनी देर तक इस आसन में रह सकते हैं, उतने समय तक ही इस आसन को करना चाहिये। आरम्भिक दिनों में यह आसन केवल पाँच सेकन्द से दस सेकन्दपर्यन्त करना चाहिये।

लाभ :-

यह आसन शरीर की सभी नाड़ियों एवं ग्रन्थियों के लिये लाभदायक है।

यह आसन रसस्रावों को उचित ढंग से प्रभावित करता है।

इस आसन के कारण स्त्रियों के प्रजननविषयक रोगों का नाश होता है।

इस आसन के द्वारा मेरुदण्ड पर तनाव पड़ने के कारण शरीर बूढ़ापे तक लचीला और फूर्तिला बना रहता है।

यह आसन आँख की दृष्टि का विकास करता है।

इस आसन के अभ्यासु का स्वर मधुर होता है।

कब्ज, उदरवायु, दमा, अपचन में यह आसन लाभदायक होता है।

इस आसन से त्वचा का रंग खिलता है।

इस आसन के प्रयोग से मस्तिष्क में रक्तप्रवाह अधिक होता है, जिससे उसके कार्यों में प्रगति होती है। स्मरणशक्ति की वृद्धि तीव्र होती है।

यह आसन शारीरिक सम्पूर्ण अवयवों को सशक्त बनाता है।

इस आसन को करने वाले साधक के जोड़ों में पीड़ा नहीं होती।

पाचनशक्ति की अभिवृद्धि के लिये यह आसन अत्युपयोगी है।

स्वप्नदोष से पीड़ित साधकों को यह आसन नियमितरूप से करना चाहिये।

चेहरे की झुर्रियाँ तथा शरीर की सिकुड़न को नहीं होने देना हो तो इस आसन को किया जाना चाहिये।

इस आसन से पैर के पंजे, टखने, पिण्डली, घुटने, जंघायें, पेट, पीठ, कन्धे, हाथ, गर्दन आदि समस्त जोड़ों, बन्धनों और मांसपेशियों का व्यायाम होता है।

यह आसन मेरुदण्ड को लचीला, स्वस्थ और सशक्त बनाता है।

पाचनशक्ति को सुदृढ़ करना, कब्ज को दूर करना आदि पाचनविषयक रोगों का विनाश करने के लिये यह आसन करना चाहिये।

इस आसन में स्त्रीशरीर के दोषों को दूर करने की क्षमता है।

सावधानियाँ :-

चक्रासन का अभ्यास श्वास को अन्दर रोक कर ही करना चाहिये।

उच्च रक्तचाप, हृदयरोग, पेट के आन्तरिक घाव, अस्वस्थ आँत, अस्थिदोष, नेत्ररोग अथवा ऊँचा सुनने के रोग से ग्रसित मनुष्य को यह आसन नहीं करना भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

यदि पहले किसी भी प्रकार का पीछे झुकने वाले अन्य साधारण आसनों का अभ्यास न किया हो तो यह आसन करने की जल्दी नहीं करे।

आसन करते समय शरीर पर अधिक जोर नहीं देना चाहिये तथा शरीर के साथ किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती भी नहीं करनी चाहिये।

स्त्रियों को गर्भावस्था में यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त विश्राम के हेतु से अवश्य शवासन करना चाहिये।

ताड़ासन

इस आसन के समय में शारीरिक आकृति ताड़, खजूर अथवा नारियल के वृक्ष के समान हो जाती है। इसी कारण से इस आसन को ताड़ासन कहते हैं।

विधि :-

सबसे पहले सावधान मुद्रा में खड़े हो जाना चाहिये। दोनों पैरों में चार से छह इंच का अन्तर होना चाहिये। अपनी भुजाओं को धीरे-धीरे सिर के ऊपर उठाइये। हथेलियाँ ऊपर की ओर ही रहनी चाहिये। अपनी दृष्टि को हाथों के अग्रभाग पर केन्द्रित कीजिये। नाक से श्वास लेकर उदर में वायु भरना चाहिये। वायु को अन्दर ही अन्दर रोक कर दोनों एड़ियों को उठा कर पंजो के बल पर खड़े रहना चाहिये। शरीर को ऊपर की ओर इस प्रकार उठाइये कि जैसे वह छत को छूने जा रहा हो। उस समय दृष्टि सामने किसी भी एक वस्तु पर स्थिर कर लेनी चाहिये। ऐसा अनुभव कीजिये कि आसनार्थी को कोई ऊपर की ओर खींच रहा है। इस आसन में आप अधिक से अधिक समय व्यतीत रिना चाहिये। तदुपरान्त आप धीरे-धीरे विलोमक्रम से सावधान मुद्रा में आना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भिक अवस्था में एक से दो मिनट तक इस आसन को करना चाहिये। उन दिनों में इस आसन को चार अथवा पाँच बार किया जा सकता है। शनैः शनैः समय और आवृत्तियों को बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन का नियमित प्रयोग करने से स्मरणशक्ति का आश्चर्यकारी विकास होता है।

यह आसन आलस्य को दूर करता है।

यह आसन शरीर की मांस नामक धातु का विकासक है।

जंघाबल बढ़ाने के इच्छुक मनुष्य को यह आसन अवश्य करना चाहिये।

यह आसन एकाग्रता का संवर्द्धक है।

इस आसन से मलाशय और आमाशय की मांसपेशियाँ विकसित होती हैं।

इस आसन को करने से शरीर में नियमितरूप से स्फूर्ति का संचार होता है।

यह प्रयोग थकावट को तत्काल दूर कर देता है।

इस आसन को करने से खड़े होकर कार्य करने में किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं आती।

यह आसन पेट की बीमारियों से हमेशा-हमेशा के लिये मुक्ति दिलाता है।

इस आसन को करने से एड़ियाँ मजबूत होती हैं।

इस आसन को करने से आँतें फैलती हैं।

इस आसन के द्वारा छाती, पैर, भुजा और कमर में खिंचाव आने के कारण से शारीरिक शक्ति की अतीव वृद्धि होती है।

शरीर की अवगाहना बढ़ाने के इच्छुक साधकों को इस आसन का प्रयोग नियमितरूप से करना चाहिये।

इस आसन के अनुप्रयोग से फैंफड़ों में मजबूती आती है।

यह आसन पेट के भारीपन को दूर करता है।

कब्ज दूर करके पेट को साफ करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

यह आसन मेरुदण्ड के सम्यक् विकास में सहायता करता है तथा जिन बिन्दुओं से स्नायु निकलते हैं, उनके अवरोधों को दूर करता है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय श्वास की गति सामान्य होनी चाहिये।

आसन के काल में शरीर को यथाशक्ति तान कर रखना चाहिये।

इस आसन को करते समय पेट को खाली रखना चाहिये।

इस आसन को करते समय शरीर पर अनावश्यक जोर नहीं लगाना चाहिये। जितना हो सके, उतना तनाव की स्थिति से बचना श्रेयस्कर है।

आसनसाधना के आरम्भिककाल में शरीर की मांसपेशियाँ कड़क होने के कारण पाँच-सात दिनों तक शरीर तनाव को सहन करने में असक्षम होता है। अतः शरीर जितना सहन कर सके, उतनी ही देर तक आसन करना चाहिये। जबरदस्ती करके शरीर को दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये।

जिस आसन को करते समय सम्पूर्ण शरीर का आकार गणीतीय त्रिकोण के समान हो जाती है, उसे त्रिकोणासन कहते हैं। मुख्यरूप से इस आसन को चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है। हमने दो ही अवस्थाओं के संग्रह को त्रिकोणासन माना है।

विधि :-

सावधान की सीधी स्थिति में खड़े हो जाइये। दोनों पैरों को इतना फैलाये कि उनमें दो से तीन फीट का दूरी रहना चाहिये। दृष्टि सामने स्थिर रखना चाहिये। हाथों को बगल में ढ़ीला करके लटकने दीजिये। पैरों को सीधा और कड़ा रखिये। किसी भी एक पैरों को बगल की ओर मोड़ लीजिये। पैर को इतना मोड़िये कि वह समकोन की स्थिति में हो जायें। उसके बाद जो पैर मोड़ा हो, उसी ओर के हाथ को नीचे की ओर ले जाकर अपने उसी पैर के अंगुठे को पकड़ ने का प्रयत्न कीजिये। दूसरा हाथ कन्धे की ही सीध में ऊपर उठाते जाइये। नीचे झुकते समय श्वास लीजिये एवं ऊपर उठते समय श्वास छोड़िये।

इस आसन को करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पैर सीधे ही रहने चाहिये।

कुछ देर तक इस आसन में स्थिर रह कर मूल अवस्था में आइये। तदुपरान्त दूसरे पैर से पुनः आसन करना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भिक अवस्था में यह आसन सात से आठ सेकन्द तक करना चाहिये। शनैः शनैः समय की वृद्धि की जानी चाहिये।

अभ्यास अवस्था में इस आसन को दो मीनट तक किया जा सकता है।

एक दिन में इस आसन के चार अथवा पाँच आवर्तन करने चाहिये।

लाभ :-

इस आसन को करने से पैर, जंघायें और नितम्बों की मांसपेशियों को बल मिलता है।

पैरों का सन्तुलन साधने के लिये इसका अभ्यास आवश्यक है।

इस आसन के द्वारा कमर और गरदन की पीड़ा को सदा-सर्वदा के लिये दूर किया जा सकता है।

इस आसन को करने से सीना बढ़ता है।

कब्ज दूर होकर शौच स्वच्छ होने में इस आसन से सहयोग मिलता है।

बढ़ती उम्र की बालिकाओं के लिये यह आसन लाभदायक है।

मेरुदण्ड, कुल्हे के जोड़, हाथों तथा हथेलियों पर इस आसन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

यह आसन नेत्रों की क्षमता को बढ़ाता है।

इस आसन से रीढ़ की हड्डी लचीली बनती है।

यह आसन मानसिक तत्परता की शक्ति देता है।

इस आसन के द्वारा पाचनक्रिया सुधरती है।

यह आसन क्षुधा की वृद्धि करता है।

इस आसन के माध्यम से मोटापे को दूर किया जा सकता है।

वायुनिःसरण की समीचीनता के लिये यह आसन करना चाहिये।

यह आसन मन को सबल बनाता है।

इस आसन से शरीर सुडौल बनता है।

इस आसन के द्वारा शरीर की स्फूर्ति भी विकसित होती है।

अपने बालकों की ऊँचाई को बढ़ाने के लिये उनके द्वारा यह आसन करवाया जाना चाहिये।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय शरीर में शिथिलता नहीं आनी चाहिये।

इस आसन को धीरे-धीरे करना चाहिये।

भोजन के उपरान्त यह आसन नहीं करना चाहिये।

गर्भवती महिला इस आसन को नहीं करें।

बाकी पूर्व आसन के समान सावधानिया रखे।

इस आसन को करने के उपरान्त विश्राम अवस्था में खड़े रहना चाहिये।
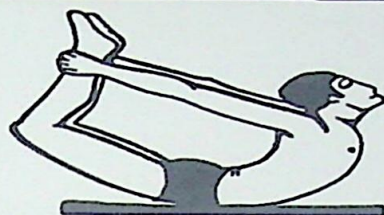
धनुरासन

धनु का अर्थ धनुष है। इस आसन को आसन करते समय शरीर का आकार धनुष्य के समान बनता है। इसीलिये इस आसन को धनुरासन कहते हैं।

विधि :-

भुजंगासन के समान ही पेट के बल जमीन पर लेट जाइये। पैरों को घुटनों से मोड़िये। अपने हाथों से दोनों पैरों के टखनों को पकड़िये। हाथों को सीधे रखते हुये पैरों के स्नायुओं को इस प्रकार खींचिये, जैसे आप उन्हें नितम्बों से अलग ऊपर की ओर ले जा रहे हैं। उसी समय जांघों के साथ सिर और सीने को भी जमीन से जितना ऊपर उठा सकते हैं, उठाने का प्रयत्न कीजिये। कुछ देर उसी स्थिति में स्थिर रहने के उपरान्त विलोम क्रम से धीरे-धीरे आसन का समापन करना चाहिये।

समय :-

आरम्भिक अवस्था में इस आसन को छह से सात सेकन्दों तक करना चाहिये। इस आसन को दिन में पाँच बार भी कर सकते हैं।

लाभ :-

यह आसन कोष्ठबद्धता, अजीर्ण, जिगर की कमजोरी इत्यादि रोगों को अतिशीघ्र दूर करता है।

इस आसन को करने से मेरुदण्ड लचीला और सशक्त होता है।

इस आसन के अभ्यास से उदरवर्ती अवयव ठीक होते हैं।

यह आसन पेट की चर्बी को घटाता है।

यदि निरन्तर यह आसन किया जाता है तो सायटिका दूर होता है।

बवासीर और मन्दाग्नि के निवारण में भी यह आसन सहयोगी है।

रीढ़ की हड्डी से निकलने वाले स्नायु को बलशाली बनाने के लिये प्रतिदिन यह आसन करना चाहिये।

इस आसन करने से भुजाओं और कन्धों की पेशियाँ लचीली बनती हैं।

छाती के विकार और दिल की कमजोरी को दूर करने के लिये इस आसन का नियमित प्रयोग करना चाहिये।

यह आसन पेट की गैस को नष्ट करता है।

मन्दाग्नि के कारण जिन्हें भूख नहीं लगती, उन्हें यह आसन प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

इस आसन के द्वारा कण्ठविषयक समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

गर्भाशयविषयक अशुद्धियों को दूर करना हो तो यह आसन करना चाहिये।

यह आसन मासिकधर्मविषयक पीड़ा को दूर करता है।

इस आसन को करने से स्वर में मधुरता आती है।

इस आसन को नेत्रज्योतिवर्द्धक माना गया है।

आँत, आमाशय तथा अन्य पचनांगों को यह आसन सुदृढ़ करता है।

गठिया, वात तथा जोड़ों की व्याधियों और अशुद्धियों को दूर करने के लिये यह आसन नियमितरूप से करना चाहिये।

अस्थियों के बन्धनों को लचीले और स्वस्थ बनाने के लिये तथा चरबी को कम करने के लिये इस आसन का अभ्यास किया जाना चाहिये।

ऑर्थराइटिस के रोगियों को इस आसन का लाभ उठाना चाहिये।

गैस, खट्टी डकारें, पाचनरोग आदि दुष्ट रोगों का विनाश करने के लिये यह आसन करना आवश्यक है।

सावधानियाँ :-

हर्निया और मेरुदण्ड की चक्कियों के विचलन (स्लिपडिस्क) के रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये। पैरों को उठाते समय सावधानी रखनी चाहिये। किसी भी प्रकार की शीघ्रता उचित नहीं है। आरम्भिक अवस्था में सहजतया जितनी देर आसन में रह सकते हैं, उतनी ही देर तक यह आसन करना चाहिये। शरीर को जबरन मोड़ना, ठीक नहीं है।

यह आसन महिलाओं को अवश्य करना चाहिये।

धनुरासन में शलभासन, भुजंगासन और नौकासन का सम्मिश्रण होने से उन आसनों का लाभ भी धनुरासन करने से प्राप्त होता है।

इस आसन के बाद शवासन करना अधिक श्रेयस्कर है।
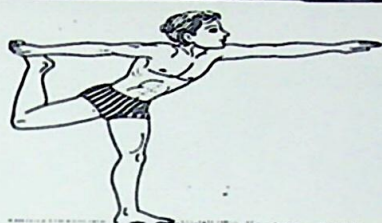
नटराजासन

वैदिक सम्प्रदाय में मान्यता है कि शंकर जी ने प्रसन्नता से ताण्डवनृत्य किया था। उसी कारण शंकर जी का नटराज यह नामकरण हुआ। नृत्य के समय शंकर जी का जो आकृतिबन्ध दिखायी पड़ा, वही आकृतिबन्ध इस आसन को करने वाले साधक का दिखायी देता है। यही कारण है कि इस आसन को नटराजासन कहा जाता है।

विधि :-

भूमि पर सीधे खड़े हो जाइये। हाथों को अगल-बगल में रहने दीजिये। शरीर को एकदम सीधा रखिये। दृष्टि भी सीधी होनी चाहिये। दाहिने पैर को पीछे की ओर मोड़ कर अधिक से अधिक ऊपर ले जाने का प्रयत्न कीजिये। पश्चात् दाये हाथ से मोड़े गये पैर के टखने को पकड़ कर अंगुठे को पकड़ लीजिये। पीछे मुड़े हुये दाये हाथ की कोहनी ऊपर की ओर मुड़ी हुयी होनी चाहिये।

बाँये हाथ को सामने करते हुये धड़ को सामने कुछ ऊपर उठाइये। हाथ से चिन्मुद्रा कीजिये और उसी पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित कीजिये। कुछ समय इसी अवस्था में खड़े रहिये। विलोमक्रम से शनैः शनैः पूर्ववर्ती अवस्था में आ जाइये।

कुछ समय विश्रान्ति लेकर दूसरे पैर से भी यह आसन करना चाहिये।

इस आसन को करते समय सहज अवस्था होनी चाहिये। शरीर के साथ किसी भी प्रकार की ज्यादती नहीं करनी चाहिये।

समय :-

पहले सप्ताह में प्रतिदिन चार बार इस आसन को कीजिये। आगे यथाशक्य आवृत्तियाँ बढ़ायी जा सकती हैं।

आरम्भिक दिनों में दस सेकन्द तक इस आसन को किया जा सकता है। अभ्यासदशा में इस समय को दो मीनट तक बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन तन्त्रिका-तन्त्र में सन्तुलन स्थापित करता है।

इस आसन से जंघाबल बढ़ता है।

शारीरिक नियन्त्रण और मानसिक एकाग्रता को प्राप्त करने में यह आसन सहायता प्रदान करता है।

इस आसन की एक ही क्रिया के द्वारा शरीर के छोटे-बड़े सभी जोड़ सक्रिय हो जाते हैं।

कन्धों के जोड़ों को, कूल्हे के जोड़ों को, घुटनों, टखनों, हथेलियों तथा अंगुलियों के जोड़ों को उचित रूप से सक्रिय करने का कार्य इस आसन के द्वारा सम्पन्न होता है।

इस आसन को करने से कमर लचीली बनती है।

यह आसन रीढ़ के कड़ेपन और दर्द को दूर करता है।

इस आसन के द्वारा पाचनशक्ति की वृद्धि होती है।

इस आसन को करने से नेत्रज्योति बढ़ती है।

भावनाभिव्यक्ति को सन्तुलित रखने का कार्य यह आसन करता है।

हाथ और पैरों की कार्यक्षमता का विकास करने के लिये इस आसन का अभ्यास किया जाना चाहिये।

इस आसन को करने से मोटापा दूर होता है।

यह आसन संकल्पशक्ति में आशातीत वृद्धि करता है।

जीवनीशक्ति का विकास करने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

यह आसन पौरुषबल का विकास करता है।

निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना हो तो इस आसन का नियमित अभ्यास करना चाहिये।

सावधानियाँ :-

शरीर को कष्ट पहुँचा कर इस आसन को नहीं करना चाहिये।

सामान्य आसनों में सफलता की प्राप्ति होने के उपरान्त ही इस आसन का अभ्यास किया जाना चाहिये।

शारीरिक थकावट को दूर करने के लिये इस आसन के उपरान्त विश्राम की स्थिति में खड़े रहना चाहिये।

पद्ममयूरासन

विधि :-

सबसे पहले पद्मासन से बैठ जाइये। तदुपरान्त शरीर को घुटनों के बल उठाइये। हथेलियों को घुटनो के सामने स्थापित कीजिये। अंगुलियाँ घुटनो की ओर मुड़ी हुई होनी चाहिये। कुहनियों को झुकाते हुयेउन्हे पेट के दोनों ओर ले आइये। सामने की ओर झुककर सीने को भुजाओं पर स्थित कीजिये।

अब धीरे-धीरे पैरों को उपर उठाइये। पूरा शरीर हथेलियों के सहारे जमीन से समानान्तर आना चाहिये। इस आसन की तीन से पाँच बार आवृत्ति की जा सकती है।

समय :-

आरम्भिक अवस्था में यह आसन दस सेकन्दों तक करना चाहिये। अभ्यास हो जाने पर इस आसन को दो मीनट तक किया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन मधुमेह का निवारक है।

इस आसन से पचनक्रिया सुव्यवस्थित होती है।

यह आसन प्लीहा के उपचार में सहयोगी है।

अन्ननलिका में संचित विषैले द्रव्य को दूर करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

यह आसन रक्तशुद्धिकरण की क्रिया को सम्पन्न करता है।

इस आसन से स्वादुपिण्डस्थ इंसुलिन का प्रमाए बढ़ता है।

इस आसन को करने वाले को पद्मासन तथा मयूरासन करने से होने वाले लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

सावधानियाँ :-

यह आसन किसी के मार्गदर्शन में ही करें।

अन्य आसनों के द्वारा शरीर सध जाने पर ही इस आसन को करें।

विधि :-

सबसे पहले आसनार्थी को पृथ्वीतल पर दोनों पैरों को फैला कर बैठ जाना चाहिये। उसके बाद दाये पैर को मोड़ कर उसको बायी जांघ पर इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे एड़ी कुल्हे की हड्डी का स्पर्श कर सके। तलवा ऊपर की ओर ही रहना चाहिये। तदुपरान्त बाया पैर मोड़ कर उसे दाहिनी जांघ पर रखना चाहिये। हाथों को दोनों घुटनों पर रखना है। दृष्टि नासाग्र होनी चाहिये। कमर, छाती, सिर तथा रीड की हड्डी बिलकुल स्थिर और सीधी रखनी चाहिये। आसन करते समय प्राणायाम की विधि का पूरा ध्यान रखना चाहिये।

इस आसन को करने से पैरों का आकार कमल जैसा होने के कारण इसको **कमलासन** भी कहते हैं।

समय :-

आरम्भिक दिनों में यह आसन एक मिनिट तक करना चाहिये। इसे क्रमशः बढ़ाते हुये घण्टों तक किया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन में प्रविणता को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने शरीर को अधिक काल तक स्थिर रख सकता है। इससे ध्यान की सिद्धि का फल प्राप्त होता है।

पद्मासन शारीरिक, स्नायविक एवं भावनात्मक समस्याओं से छुटकारा दिलाने में सहायक बनता है।

इस आसन से वात, पित्त और कफ, इन तीन दोषों का नाश होता है।

स्वप्नदोष और प्रमेह जैसी व्याधियों का नाश करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

इस आसन का अभ्यास स्मरणशक्ति को बढ़ाता है।

पेट के रोगों से छुटकारा पाना हो तो इस आसन को अवश्य करना चाहिये।

यह आसन वीर्यरक्षक होने के कारण बलवर्द्धक और आयुवर्द्धक है।

इस आसन को करने से धीरे-धीरे पैरों में लचीलापन आता है, जिससे अन्य आसनों को करने में किसी प्रकार की कठिनायी नहीं होती।

इस आसन को करने से स्त्रियों के गर्भाशयसम्बन्धित रोग दूर होते हैं।

इस आसन को करने पर जठराग्नि तीव्र होने से भूख बढ़ती है।

विशुद्ध नाड़ीतन्त्र से सम्पन्न पुरुष के द्वारा यदि यह आसन किया जाता है तो उसके शरीर पर रोगों की छाया भी नहीं पड़ सकती।

अनिद्रा के रोगियों को इसका अभ्यास करना ही चाहिये।

कुष्ठ, रक्तपित्त, पक्षाघात, क्षय, मलावरोध, दमा, हिस्टीरिया, धातुक्षय, कैंसर, त्वचा के रोग, उदरकृमि, नपुंसकत्व और वन्ध्यत्व जैसे रोगों का विनाश करने के लिये नियमितरूप से यह आसन किया जाना चाहिये।

मुख की तेजस्विता और स्वभाव में प्रसन्नता को बढ़ाने के लिये नियमितरूप से इस आसन को किया जाना चाहिये।

इस प्रकार यह आसन स्त्री-पुरुषों के लिये समानरूप से लाभदायक है।

मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिये यह आसन लाभदायक है।

इस आसन के कारण पैरों की रक्तवाहिनी नलिकायें सम्यक् रूप से कार्य करने लगती हैं। फलस्वरूप पैरों में सबलता आती है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय पैरों को अधिक तनाव नहीं देना चाहिये।

प्रारम्भिक अवस्था में यह आसन अधिक देर तक नहीं करना चाहिये।

साइटिका अथवा रीढ़ के नीचले भाग के आसपास किसी प्रकार की व्याधि से पीड़ित व्यक्तियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के बाद सुखासन करना लाभदायक है।

इस आसन को करते समय गरदन सीधी रखनी चाहिये।

इस आसन को करते समय जिनके पैर भूमिस्पर्श नहीं करते हो, उन्हें दोनों हाथों से शनैः शनैः दबाव देकर पैरों के भूमिस्पर्श कराने का प्रयत्न करना चाहिये।

आरम्भिक दिनों में दोनों पैर सहजरूप से एक दूसरों पर चढ़ते नहीं हैं। इसमें उत्साहहीन नहीं होना चाहिये। उत्साहपूर्वक अनवरत प्रयत्न करने से यह कार्य भी सहज हो जायेगा।
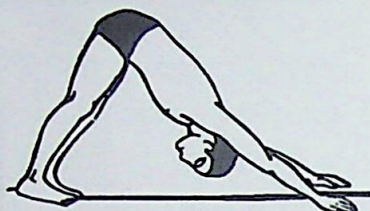
पर्वतासन

इस आसन को करते समय शरीर की आकृति पर्वत के समान होती है। अतः इस आसन को पर्वतासन कहना समुचित है।

विधि :-

पेट के बल पर लेट जाइये। हाथों को भूपृष्ठ पर जमाइये। तदुपरान्त पैरों को न हिलाते हुये और कमर को स्थिर रखते हुये शरीर को पीछे की ओर खींचिये। सिर को नीचे करके हनु को छाती से लगाइये। पैर के पंजे भूतल पर ही रहने चाहिये और नीतम्ब को यथाशक्य ऊपर की ओर खींच लेना चाहिये साथ में पेट को अन्दर की खींचना चाहिये।

समय :-

इस आसन को दस से पन्द्रह सेकन्द तक करना चाहिये। क्रमशः बढ़ाते हुये दो मीनट तक की अवधि बनायी जा सकती है।

लाभ :-

नाड़ीसंस्थान में सन्तुलन की प्राप्ति के लिये यह आसन उपादेय है।

इस आसन से शरीर बलशाली बनता है।

यह आसन छाती के विकास में सहयोगी बनता है।

इस आसन को करने से रक्तशुद्धि होती है।

फैंफड़ों के विकार दूर करने के लिये इस आसन को किया जाता है।

श्वास व दमा के रोगियों को यह आसन अवश्य करना चाहिये।

इस आसन से घुटने की पीड़ा दूर होती है।

उदरव्याधियों के लिये यह रामबाण औषध है।

इस आसन को करने से बद्धकोठता दूर होती है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये।

इस आसन को करने के उपरान्त मकरमुखासन करना चाहिये।

पश्चिमोत्तानासन

इस आसन को उग्रासन भी कहा जाता है। अनेक रोगों का संहारक होने से इसका उग्रासन यह नाम सार्थक ही है। अथवा, इसे करने में उग्र परिश्रम करना होता है। इसीलिये इसका नाम अन्वर्थक है।

विधि :-

सर्वप्रथम सामान्य अवस्था में बैठ जाइये। दोनों पैरों को एक दूसरे से सटा कर सामने की ओर पूरे विस्तार में फैला दीजिये। हाथों को जंघाओं पर रखिये। धीरे-धीरे धड़ को आगे की ओर झुका कर दोनों हाथों से अंगुठे को पकड़ने का प्रयत्न कीजिये। यदि सम्भव न हो तो टखनों को पकड़ना चाहिये।

मस्तक के द्वारा घुटनों को स्पर्श करने का प्रयत्न कीजिये। आगे झुकते समय रेचक करना चाहिये। झुकने के उपरान्त आठ से दस सेकन्द तक श्वासों को रोक कर रखना चाहिये। ऊपर उठते समय पुनः श्वास लीजिये।

जिन साधकों में कमरविषयक विकार हैं अथवा जो मोटापे से पीड़ित हैं, उन साधकों को इस आसन का अभ्यास करने में प्रथमतः कष्ट होगा। किन्तु, सहनशीलतापूर्वक इसका नियमित अभ्यास करने से उनके वे रोग सदा-सदा के लिये विनष्ट हो जायेंगे।

समय :-

आरम्भिक दिनों में यह आसन केवल पाँच मीनट पर्यन्त ही करना चाहिये। लगभग महिनेभर तक ठीक से अभ्यास करने के उपरान्त समय बढ़ाना चाहिये। इस आसन की अधिकतम अवधि दो मीनट की है।

लाभ :-

इस आसन को करने से कमर एवं नितम्बों की मांसपेशियों में स्वस्थता आती है।

यह आसन पेट की अनावश्यक चरबी को दूर करता है।

यह आसन मोटापा, बद्धकोष्ठता आदि रोगों का उपशमन करता है।

रीढ़ की नसों व मांसपेशियों में नये और ताजे रक्त का संचार करने का कार्य इस आसन के द्वारा सम्पन्न होता है।

इसके अभ्यास से पीठ की सभी प्रकार की पीड़ा दूर होती है।

यह आसन मस्तिष्क की नाड़ियों पर आश्चर्यजनक प्रभाव डालता है और मस्तिष्क के समस्त तनावों को दूर करके मानसिक सन्तुलन को बनाने में विशेष उपयोगी होता है।

शरीर का सबल और दीर्घजीवी बनाने के लिये इस आसन का अनुप्रयोग लाभदायक माना गया है।

इस आसन का अभ्यास करने से उदरवर्ती अवयव सुदृढ़ होते हैं।

इसके नियमित प्रयोग से पाचनसंस्थान सक्रिय होता है।

जिगर किड़नी और क्लोम की कार्यशीलता को बढ़ाने के लिये इस आसन को अत्युपयोगी माना गया है।

यह आसन सन्धियों को लचीली बनाता है।

इस आसन से मोटापा दूर होता है।

इस आसन का अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करने में अत्यधिक योगदान प्रदान करता है।

यह आसन पैरों के स्नायुओं को कार्यशील एवं सुदृढ़ बनाता है।

मधुमेह, अजीर्ण आदि रोगों में भी यह आसन लाभदायक है।

स्त्रियों के जननेन्द्रियविषयक समस्त रोगों को दूर करने में यह आसन प्रभावीरूप से सक्षम माना गया है।

सावधानियाँ :-

अभ्यास के आरम्भकाल में शरीर को दिये बिना ही इस आसन को सम्पन्न करना चाहिये। सहजतया जितना और जहाँ तक झुका जा सके, उतना और वहाँ तक ही झुकने का प्रयत्न करना चाहिये।

साइटिका, जीर्ण जोड़ों और पीठ की पीड़ा से ग्रसित रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन से उत्पन्न हुयी क्लान्ति को दूर करने के लिये सुखासन करना लाभप्रद है।
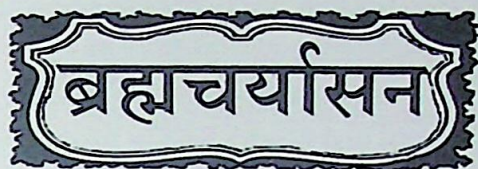
ब्रह्मचर्य जैसे महानतम व्रत की निर्दोष परिपालना करने में सहयोगी होने के कारण ही इस आसन को ब्रह्मचर्यासन कहते हैं।

विधि :- सर्वप्रथम जमीन पर पैर फैला कर बैठ जाइये। घुटने, एड़ी, पिण्डली और जंघायें परस्पर मिला लीजिये। दोनों हाथों को कुल्हे के पास ठीक से जमा लीजिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड इन सभी को सीधा रखना चाहिये। धीरे-धीरे श्वास को अन्दर खींचिये। श्वास भरते हुये हाथों के हथेलियों के बल पर नितम्ब के साथ पाददण्डों को ऊपर उठा लीजिये। जितनी देर तक इस आसन में स्थिर रह सकते हैं, रहने का प्रयत्न करना चाहिये। श्वास को रोके रखने का प्रयत्न भी करना चाहिये।

इस आसन की पुनः पुनः आवृत्ति करनी चाहिये।

समय :-

आरम्भिक दिनों में इस आसन का अभ्यास पाँच से दस मिनट तक करना चाहिये। धीरे-धीरे इस आसन के समय को बढ़ाते रहना चाहिये। इस आसन का अभ्यास जितना निर्दोष एवं अधिक काल तक होता रहेगा, कामवासना का विलय भी उसी गति में होता रहेगा।

लाभ :-

इस आसन का अभ्यास करने वाले साधक का ब्रह्मचर्य अखण्ड बनता है।

यह आसन कामशक्ति और उत्तेजना से युक्त भावनाओं को साधना में बदल देता है।

यह आसन स्मरणशक्ति का विकासक है।

इस आसन से रीढ़ की हड्डी सबल होती है।

यह आसन पाचनशक्ति को ठीक रखता है।

इस आसन से सहनशक्ति का विकास होता है।

मेरुदण्ड के स्नायु और उदरगुहा को ठीक रखने की इच्छा हो तो इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।

पृष्ठवंश की माँसपेशियों के लिये यह आसन लाभकारी है।

शरीर की ऊर्जा का रक्षण करने के लिये और मानसिक शक्ति का विकास करने के लिये यह आसन लाभदायक है।

यह आसन आत्मशक्ति को बढ़ाता है।

विशेष :-

इस आसन का अभ्यास करने वाले साधकों को शतावर्यादि चूर्ण का सेवन करना चाहिये। इस चूर्ण में शतावरी, बड़ी ईलायची, सफेद मुसली, अश्वगन्धा, गोक्षुर, मुलेठी और क्रौंच के बीजों का प्रयोग हता है। इन समस्त द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लेना चाहिये। प्रतिदिन भोजन के उपरान्त आधे चम्मच चूर्ण का सेवन गाय के दूध के साथ करना चाहिये।

इस आसन के अभ्यासु को अत्यधिक गरीष्ठ पदार्थों का सेवन टालना चाहिये। उष्णवीर्य वाले भोजनद्रव्य से भी दूर रहना चाहिये।

व्यसनों का सेवक व्रतों का परिपालन नहीं कर सकता। अतः व्यसनों को दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

मेरे गुरुदेव परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज सदैव यही कहा करते थे-

जिस साधक ने आसनों का भली-भाँति अभ्यास नहीं किया है, वह अपने व्रतों को परिशुद्ध नहीं रख सकता। आसन शरीर को सुस्थिर करता है, जिससे कायगुप्ति की परिपालना सहज ही हो जाती है। आसन केवल शरीर को ही नहीं, मन को भी प्रभावित करते हैं। फलतः साधक कषायों के मायाजाल से और आवेगों से मुक्त रह पाता है। रोगयुक्त जीव धर्म्यध्यान का पात्र ही नहीं हो सकता। आसन शरीर को रोगों से मुक्त रखने का कार्य करते हैं, जिससे साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः साधक को नियमपूर्वक प्रतिदिन आसनों का अभ्यास करना चाहिये।
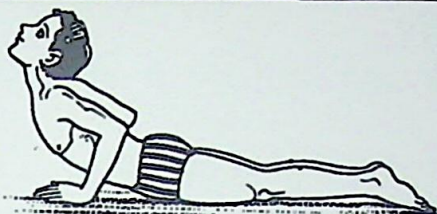
भुजंगासन

सर्प को भुजंग कहते हैं। इस आसन को करते समय शरीर की आकृति सर्प-फणा के समान होती है। इसीलिये इस आसन को भुजंगासन कहते हैं। कुछ योगशास्त्रज्ञ इस आसन को सर्पासन भी कहते हैं। ध्यातव्य है कि सर्पासन के नाम से एक और आसन है।

विधि :-

सर्व प्रथम सीधे फैले हुये दोनों पैरों को मिला करके पेट के बल पर सो जाइये। पैरों के दोनों अंगूठो को खींच कर रखिये।

हाथों को मस्तक की ओर ले जाइये तथा पैर के अंगूठे, नाभि, छाती, कपाल और हाथों के तलवे, ये सब पृथ्वी के सम तल में होने चाहिये। पश्चात् हाथों को धीरे-धीरे कमर की ओर ले जाइये। उसी प्रकार माथा और छाती को भी अतिशय मन्दगति से पीछे की ओर ले जाइये अर्थात् ऊपर की ओर उठाइये। पेट और नाभि को पृथ्वी पर स्पर्शित करने की अवस्था में स्थिर रखना चाहिये। अन्तिम स्थिति में आराम के साथ कुछ काल तक स्थित रहिये। आकाश की ओर देखते रहिये। पाँच से दस सेकन्द तक श्वास को रोक कर रखिये। उसके उपरान्त श्वास को धीरे-धीरे छोड़ते हुये मस्तक को भी पृथ्वी पर झुकाना प्रारम्भ कीजिये एवं मस्तक को किसी भी कनपटी के सहारे रखिये। कुछ देर शरीर को विश्राम दीजिये। विश्राम के उपरान्त दुबारा इस आसन को दुहराइये।

समय :-

इस आसन की एक आवृत्ति में एक से दो मिनट का काल लगना चाहिये। इस प्रकार एक दिन में पाँच आवृत्तियाँ की जा सकती है। यह कालावधि सिद्धसाधक की अपेक्षा से है। आरम्भिक काल में इस आसन के लिये दस सेकन्द का समय पर्याप्त माना जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन भूख को उत्तेजित करता है।

इस आसन से कोष्ठबद्धता दूर होती है।

स्वास्थ और यौवनशक्ति को प्रदान करने वाला होने से यह आसन अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

साधारणतया यह आसन उदर के सम्बन्धित समस्त अंगों, विशेषरूप से हृदय, और गुर्दों के लिये लाभदायक है।

अपचन, पेचिश, वायुविकार, पेटदर्द तथा पेट की अन्य गड़बडियों को दूर करने के लिये यह बहुत अच्छा आसन है।

यह आसन रीढ़ की हड्डी को लचीला बना कर मेरुदण्ड की अव्यवस्थाओं तथा पीठ के दर्द को ठीक करता है।

इस आसन से गर्भाशय की शुद्धि होती है।

कफज और पित्तज रोगों में यह आसन अत्यन्त लाभदायक है।

यह आसन हृदय को सबल बनाता है।

शरीर की सुदृढ़ता का विकासक होने से यह आसन सभी का मित्र है।

शारीरिक उष्णता की मात्रा को बढ़ाने के लिये इस आसन का अभ्यास करना आवश्यक है।

मासिकधर्म की अनियमितता के कारण पीड़ित होने वाली महिला को यह आसन अवश्य करना चाहिये।

इस आसन से महिलाओं के यौवन की सुरक्षा होती है और सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है।

इस आसन का अभ्यास करने वाली महिला का प्रसव सुखपूर्वक होता है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय किसी भी अवयव को उठाने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। आसन की प्रत्येक क्रिया सहजरूप से होनी चाहिये।

गर्भवती महिला को यह आसन नहीं करनी चाहिये।

जिस व्यक्ति को पेट में घाव हो, हर्निया हो अथवा आँत की व्याधि हो, उसे इस आसन का नियमितरूप से प्रयोग करना चाहिये।

चुल्लिका-ग्रन्थि की अधिक क्रियाशीलता से पीड़ित साधक को किसी योगप्रशिक्षक की अनुमति के बिना यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त मकरमुखासन करना चाहिये।

भौरे को भृंग कहते हैं। जिस आसन को करते हुये शरीर की आकृति छह पैरों वाले भौरे के समान होती है। इसीलिये इस आसन को भृंगासन कहते हैं। इसे भ्रमरासन भी कहते हैं।

विधि :-

सबसे पहले पृथ्वी तल पर ठीक से बैठ जाइये। तदुपरान्त घुटनों को मोड़ कर पैरों को पीछे की ओर ले जाइये। दायी एड़ी पर दाया नितम्ब और बायी एड़ी पर बाया नितम्ब टिका कर पंजों के बल पर लेट जाइये। पैर की एड़ियाँ एक-दूसरे से मिली हुयी रहनी चाहिये।

तदुपरान्त दीर्घ श्वास लेते हुये धीरे-धीरे सामने की ओर झुक जाइये तथा दोनों कुहनियों को घुटनों के बीच में रखते हुये कुहनी के द्वारा हथेलियों तक के भाग को पृथ्वी पर जमा दीजिये। हाथों की अंगुलियाँ परस्पर में मिली हुयी होनी चाहिये। उपर्युक्त स्थिति में सुखपूर्वक जितनी देर स्थिर रह सकते हैं, रहना चाहिये। श्वास को बाहर निकालते हुयेपुनः पूर्ववर्ती स्थिति में आना चाहिये।

समय :-

लगभग एक से दो मिनट तक इस आसन को करना चाहिये।

लाभ :-

इस आसन के अभ्यास से कन्धों, बाँहों और पैरों की निर्बलता दूर होती है।

मूत्रोत्सर्जनक्रिया विधिवत् पूर्ण करने में यह आसन सहायक बनता है।

इस आसन से पाचनशक्ति में वृद्धि होती है।

यह आसन पेट के भारीपन को दूर करता है।

उदरवात, कब्ज और अन्य उदरविकारों को यह आसन विनष्ट करता है।

वज्रासन से प्राप्त होने वाले लाभ भी इस आसन को करने से प्राप्त होते हैं।

इस आसन को करने से कुहनियाँ और भुजदण्ड बलिष्ठ होते हैं।

सावधानियाँ :-

इस आसन के उपरान्त मकरमुखासन करना चाहिये।

मण्डुकासन

संस्कृतभाषा में मेण्ढक को मण्डुक कहते हैं। इस आसन को करते समय शरीर की आकृति मेण्ढक के समान होती है। अतः इसे मण्डुकासन कहते हैं।

विधि :-

पृथ्वी तल पर मुलायम कपड़ा बीछा कर उस पर घुटनों को इस प्रकार रखिये, जिससे मुड़े हुये पैरों के दोनों अंगूठे आपस में मिल जाने चाहिये। दोनों मिली हुयी एड़ियों पर दोनों नितम्ब रख कर सीधा बैठ सके। तत्पश्चात् दोनों हाथो को मुड़े हुये घुटनों पर फैला कर रख दीजिये। यहाँ तक सुप्तवज्रासन की क्रिया हुयी।

तदुपरान्त बाये घुटने को बायी और दाये घुटने को दायी ओर करते हुये दोनों में दूरी लाइये। घुटनों में दूरी हो जाने के उपरान्त शरीर को सीधा करना चाहिये। दृष्टि को सामने रखना चाहिये। इस समय स्वाभाविक श्वास लेनी चाहिये। इस अवस्था में दस से बारह सेकन्द तक बैठे रहिये। पुनः विलोमक्रम से पूर्वस्थिति में आ जाइये। कुछ समय रुक कर इस आसन को दुहराया जा सकता है।

समय :-

पहले सप्ताह में प्रतिदिन दो बार इस आसन को करना चाहिये। एक आवृत्ति में लगभग पच्चीस से पैंतीस सेकन्द लगने चाहिये। शनैः शनैः इस आसन के काल को बढ़ाते जाना चाहिये।

लाभ :-

यह आसन पेट की वायु को बाहर निकालता है।

इस आसन से पैरों में शक्ति का संचार होता है।

इस आसन को नियमितरूप से करने पर गठियारोग में लाभ पहुँचता है।

यह आसन पाचनशक्ति को बढ़ा कर भोजन को शीघ्र पचाता है।

शरीर को निरोगी एवं फुर्तीला बनाने के इच्छुक को यह आसन करना चाहिये।

जंघाओं, कुल्हों तथा पेट के भागों का वजन घटाने के कार्य में इस आसन को अत्यधिक प्रभावकारी माना गया है।

यह आसन बवासीर का विनाशक है।

इस आसन को करने से यौनक्षमता बढ़ती है। लैंगिक समस्याओं से समाधान पाने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

स्त्री-पुरुष दोनों की मांसपेशियों तथा शरीर के नीचले भागों के स्नायुओं को सुडौल बनाने के कार्य को यह आसन भली-भाँति करता है।

यह आसन स्त्रियों के जननांगों का संरक्षक है।

यह आसन अन्तस्रावी ग्रन्थियों को कार्यक्षम बनाता है।

पद्मासन करते से जो शारीरिक लाभ प्राप्त होते हैं, वे सारे लाभ इस आसन को करने से भी प्राप्त होते हैं।

निद्रानाश, हिस्टिरिया और दमा जैसे रोगों का विनाश करने के लिये इस आसन का नियमितरूप से प्रयोग करना चाहिये।

शरीर के किसी गुप्तस्थान पर गाँठ हो गयी हो तो उसको दूर करने के लिये यह आसन अवश्य करना चाहिये।

शारीरिक, मानसिक एवं स्नायविक समस्याओं से छुटकारा पाने के लिये इस आसन का अनुप्रयोग आवश्यक माना गया है।

स्वप्नदोष हृदयरोग और प्रमेह जैसी व्याधियों का नाश करके लिये इस आसन से सहयोग प्राप्त होता है।

इस आसन को करने से धींरे-धींरे मांसपेशियों का व्यायाम होने के कारण पैरों में लचीलापन आता है।

मुख की तेजस्विता और स्वभाव में प्रसन्नता की अभिवृद्धि करने के लिये इस आसन को नियमितरूप से किया जाना चाहिये।

इस आसन को करने से कुष्ठ, रक्तपित्त, पक्षाघात, क्षय, मलावरोध, दमा, कैंसर, त्वचारोग, उदरकृमि, नपुंसकत्व और वन्ध्यत्व जैसे रोगों नष्ट होते हैं।

सावधानियाँ :-

इस आसन के बाद सुखासन करना चाहिये।

मासिकधर्म के काल में और गर्भावस्था में इस आसन को नहीं करना चाहिये।

आरम्भ में इस आसन को करने में कुछ कठिनाई हो सकती है, किन्तु शरीर में लचीलापन बढ़ने से इस आसन को करने में सुगमता होती है। आरम्भिक दिनों में किसी के मार्गदर्शन में इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।
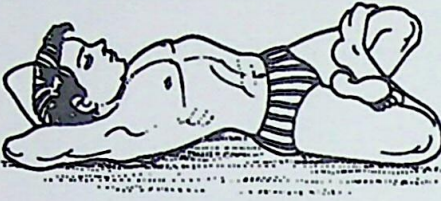
इस आसन में शरीर का आकार मछली जैसा बनता है। इसीलिये इस आसन को मत्स्यासन कहना समुचित है।

विधि :-

पद्मासन से सीधे बैठ जाइये। उसके बाद हाथों का सहयोग लेते हुए धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकते जाइये। इतना झुकना है कि मस्तक और पीठ भूमि का स्पर्श करने लगे। अत्यन्त सावधानीपूर्वक लेट जाइये। लेटने के बाद बाये हाथ से दाये पैर के अंगुठे को पकड़ लीजिये और दाये हाथ से बाये पैर के अंगुठे को पकड़ लीजिये। यदि आप चाहे तो कमर से ऊपर पीठ तीरछी करके छाती को ऊपर उठाया जा सकता है। मस्तक और नितम्ब तो भूमि पर स्थिर होगा तथा केवल पीठ ऊपर रहेगी। शरीर को ढीला छोड़ कर श्वास की प्रतिक्रिया शनैः शनैः जारी रखिये। दो से तीन मिनट के बाद उठ कर बैठ जाइये। फिर, श्वास लेकर पुनः इसी क्रिया को दुहराये।

इस आसन को सिद्धासन अथवा सुखासन से भी किया जा सकता है। परन्तु, लाभ की दृष्टि से पद्मासनपूर्वक आसन करना चाहिये।

समय :-

प्राथमिक दशा में लगभग दो मिनट तक यह आसन किया जा सकता है। अभ्यास होने पर समय को बढ़ा देना चाहिये।

लाभ :-

इस आसन को करने से सम्पूर्ण शरीर बलशाली बनता है।

उदर, गला, छाती आदि अवयवों की व्याधियों को यह आसन दूर करता है।

इस आसन को करने से कब्ज और मन्दाग्नि दूर होती है।

यौनकेन्द्रोंसहित पूर्ण सुषुम्ना को बलवान बनाने में तथा सक्रिय करने में यह आसन सहयोग प्रदान करता है।

इस आसन से फैंफडों और छाती की पेशियों में मजबूती आती है।

इस आसन को करने पर मेरुदण्ड अन्त तक सीधा रहता है।

दमा और खाँसी में यह आसन अत्यन्त लाभदायक है।

इस आसन के अभ्यास से नेत्रज्योति बढ़ती है।

इस आसन के द्वारा आँतों में जमा हुआ मैल दूर किया जा सकता है। फलतः उदररोगों का विनाश होने में सहयोग मिलता है।

यह आसन छाती को चौड़ी बना कर पेट की चर्बी को कम कर देता है।

इस आसन को करने से श्वास की क्रिया समीचीन रूप से चलती है।

इस आसन के कारण रक्तप्रवाह की गति बढ़ जाती है।

यह आसन त्वचारोगों का शत्रु है।

इस आसन के माध्यम से यकृत, प्लीहा एवं आमाशय की मालीश होती है, जिससे पाचन एवं मल-विसर्जन की क्रिया सम्यक् रूप से होती है।

यह आसन अपानवायु को निम्नगतिशील बनाता है।

यह आसन मोटापे को कम करता है।

यह आसन शरीर को सुडौल और सुन्दर बनाता है।

यह आसन दिल और दिमाग को पुष्ट बनाता है।

यदि किसी को धरण हुआ हो तो यह आसन उसका अचूक इलाज है।

इस आसन को करने से भूख भली-भाँति लगती है, जिससे अपचन दूर होता है तथा मन्दाग्नि भी दूर होती है।

यह आसन स्त्रियों के मासिकधर्म-सम्बन्धी समस्त रोगों को ठीक करके उसे नियमित बनाता है।

सावधानियाँ :-

सन्तुलन बनाने के लिये सर्वांगासन के बाद मत्स्यासन किया जाता है।

आसन करते समय शरीर पर अधिक जोर नहीं देना चाहिये।

आसन करते समय श्वाँसों की प्रक्रिया पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

कण्ठ के रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

आरम्भिक काल में अधिक समय तक इस आसन को नहीं करना चाहिये।

इस आसन को करते समय मस्तक के नीचे पतला कपड़ा अथवा नरम कपड़ा अवश्य लगाना चाहिये। इससे शारीरिक पीड़ा नहीं होगी।

इस आसन के उपरान्त सुखासन से विश्राम करना चाहिये।
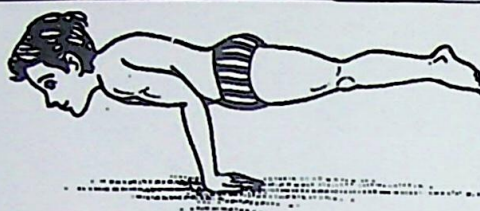
इस आसन को करते समय शरीर की आकृति मयूर के समान बनती है। अतः इस आसन को मयूरासन कहते हैं।

विधि :-

उकडूं बैठ जाइये। दोनों हथेलियों को घुटनों के बीच जमीन पर भली-भाँति जमा लीजिये। अंगुलियाँ पैरों की ओर पीछे रखिये। हाथों को कुहनियों के पास मोड़ कर पेट से सटा दीजिये। धीरे-धीरे सामने की ओर झुकिये। पश्चात् शरीर का भार कलाइयों पर रखे दोनों पैरों को भूमि से ऊंचा उठाइये। पैर पूर्ण रूप से सीधे रहेंगे-इसका ध्यान रखना चाहिये। यदि आप मस्तक से पाँव तक सीधे होकर जमीन के समानान्तर रहते हैं तो यह हंसाहन की स्थिति हुयी। हंसासन मयूरासन की आरम्भिक अवस्था है। दोनों पैरों को जहाँ तक ले जा सके, उतना ऊपर ले जाइये। यह मयूरासन हुआ।

छह से आठ सेकन्दपर्यन्त इस अवस्था में रह कर सावधानीपूर्वक मूल अवस्था में लौट आइये। इस आसन का विसर्जन करते समय सबसे पहले पैरों को भूमि पर रखना चाहिये। श्वास की गति सामान्य होने पर इस आसन की पुनरावृत्ति की जा सकती है।

समय :-

श्वास को जितनी देर तक रोका जा सकता है, उतने समय तक इस आसन को करना चाहिये। इस आसन को पाँच सेकन्द से बीस सेकन्द पर्यन्त किया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन के द्वारा पेट की पेशियों का प्रसारण-संकुचन होने से सभी अंग लाभान्वित होते हैं। विशेषकर कुहनियों और हथेलियों को शक्ति मिलती है।

यह आसन पाचनक्रिया को बढ़ाता है।

इस आसन से शारीरिक चयापचयक्रिया प्रेरित होती है। अतः शरीर के विभिन्न अंगों के रसस्राव में वृद्धि होती है।

इस आसन के माध्यम से चर्मरोग, फोड़े आदि दूर होते हैं।

यह आसन अन्ननलिका एवं आँतों को त्याज्य पदार्थों से रिक्त करता है।

रक्त से विषैले पदार्थों को दूर करके उसका शुद्धिकरण करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

मधुमेह के रोगियों को इस आसन का अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

रक्ताल्पता और रक्तविकारों को दूर करने के लिये यह आसन अतिशय उपयोगी माना गया है।

वात, पित्त और कफ, इन तीन दोषों की शुद्धि करने के लिये इस आसन का प्रयोग उत्तम माना गया है।

पेट का ट्यूमर, जलोदर, तिल्ली, लीवर की वृद्धि, उदरवायु आदि अनेक प्रकार के रोगों में यह आसन शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

इस आसन का अभ्यास करने से दृष्टिदोष और मस्तिष्कशूल दूर होता है।

यह आसन मस्तक, गरदन, पीठ, हाथ, पेट, पैर, जंघा आदि अवयवों को सम्यक् व्यायाम दिलाता है।

इस आसन के अभ्यास से त्रिदोषों का शमन होकर धातुसाम्यता रहती है।

सावधानियाँ :-

इस आसन का अभ्यास करने से पूर्व हंसासन करना चाहिये।

यह आसन अत्यन्त कठिन है। इसीलिये इसका अभ्यास किसी विशेषज्ञ के निरीक्षण में ही करना चाहिये। जिन्हें सामान्य आसनों का अभ्यास हो चुका है और जिनका शरीर लचीला हो गया है, उनको ही यह आसन करना चाहिये।

इस आसन के तत्काल बाद मस्तक के बल किये जाने वाले आसनों का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

इस आसन को करते समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिये।

शरीर को थकाये बिना इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।

गर्भवती महिलाओं को यह आसन नहीं करना चाहिये।

युवावस्था में ही इसका अभ्यास करना उचित माना गया है।

इस आसन को करते समय साधक का ध्यान मणिचक्रपुर पर रहना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त शारीरिक थकावट को दूर करने के लिये मक़रमुखासन अथवा शवासन करना चाहिये।

विधि :-

भूमि पर बैठ कर पैरों को फैला दीजिये। तदुपरान्त उन्हें घुटनों से मोड़िये। तलवों को नितम्बों के सम्मुख रखिये। दोनों पैरो में कम से कम आधा मीटर का अन्तर होना चाहिये। तत्पश्चात् हाथों की अंगुलियों से पैरों के अंगुठों को पकड़िये। कमर को धीरे-धीरे झुकाइये और दोनों पैरों को सीधा कीजिये। हाथों एवं पैरों में जितना तनाव दिया जा सकता है, उतना तनाव देना चाहिये। प्रारम्भिक अवस्था में पूरक, पैरों को फैलाते समय कुम्भक और आसन के अन्त में रेचक करना चाहिये। कुछ समय इस स्थिति में स्थिर रह कर पुनः पूर्वावस्था में आ जाइये। दृष्टि को नासाग्र रखना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भ में यह आसन एक मिनट तक करना चाहिये। धीरे-धीरे इस काल को बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन पैरों और बाहों को बल देता है।

इस आसन के द्वारा शरीर बलवान और फुर्तीला बनता है।

इस आसन को करने से पाचनक्रिया ठीक रहती है।

पीठ, नाभि और पेट को स्वस्थ रखने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

यह आसन यकृत तथा अन्य उदरस्थ अंगों को क्रियाशील बनाता है।

आँतों में स्थित कीटाणुओं को दूर करने में यह आसन सहयोग करता है।

यह आसन एकाग्रता एवं सन्तुलनशक्ति को बढ़ाता है।

वात, पित्त और कफ, इन तीन दोषों का विनाश कर सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ बनाने में यह आसन सहयोग प्रदान करता है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करने के उपरान्त सुखासन से विश्राम करना चाहिये।

साइटिका के रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन को करने से वीर्य ऊर्ध्वगतिशील होता है, जिससे शरीर वज्र के समान सुदृढ़ होता है। इसीलिये इस आसन को वज्रासन कहते हैं।

विधि :-

नमाज पढ़ने वालों की शारीरिक आकृति जैसी होती है, उसी आकृति में बैठ जाइये। दोनों पैरों की एड़ियाँ नितम्बों से सटी हुयी होनी चाहिये। पैरों के पंजों को एक दूसरे पर चढ़े हुये होने चाहिये। कमर को बिलकुल सीधी रखिये। दोनों हाथों करे घुटनों पर हथेलियों की ओर से टिका कर रखिये।

आँखें बन्द करके यह आसन किया जाये तो मानसिक शान्ति प्राप्त होगी। श्वास लम्बी, गहरी और धीरे-धीरे चलती रहनी चाहिये। छाती फैली हुयी और पेट पूर्णरूप से पिचका हुआ होना चाहिये।

समय :-

इस आसन का अभ्यास जितने अधिक समय तक किया जा सकता है, उतने समय तक अवश्य करना चाहिये।

यह ऐसा इकलौता आसन है, जो भोजन के उपरान्त किया जा सकता है।

फल :-

यह आसन मेरुदण्ड को सशक्त और सीधा करता है।

इस आसन को करने से पाचनशक्ति की आशातीत वृद्धि होती है।

यह आसन स्त्री और पुरुषों के यौनांगों को शक्ति प्रदान करता है।

सिरदर्द, आलस्य, शरीर में कड़ापन, क्रोध, चिन्ता, भय, यौनग्रन्थियों की कार्य -शीलता में मन्दता, किड़नी के काम में सुस्ती इत्यादिक विकृतियों की स्थिति में यह आसन नियमितरूप से करना चाहिये।

उदरवायु का नाश इस आसन के अभ्यास के द्वारा होता है।

यह आसन कब्ज को दूर करके उदररोगों से मुक्ति दिलाता है।

यह आसन पाण्डुरोग का विनाशक है।

आन्त्रवृद्धि से पीड़ित साधकों को यह आसन करना चाहिये।

रीढ़, कमर, घुटना और दोनों पैरों की शक्ति का वर्द्धन करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

इस आसन के कारण कमर और पैरों का वातरोग दूर होता है।

नेत्रज्योति का विकास करने में यह आसन करावलम्बन देता है।

यह आसन गर्भाशय, आमाशय, पक्वाशय आदि में रक्तप्रवाह की मात्रा को सुव्यवस्थित करता है।

स्नायविकबल की प्राप्ति के लिये इस आसन को करना आवश्यक है।

पेट के रोग, छाले आदि से छुटकारा दिलाने में यह आसन सहायक बनता है।

इस आसन को करने से मधुमेह दूर होता है।

साइटिका और रीढ़ के नीचले भाग में किसी प्रकार के कष्ट से ग्रस्त लोगों के लिये यह आसन मित्र के समान सहयोग करता है।

यह आसन जीर्ण मलावरोध का प्रबल विरोधी होने से मल के सम्यक् निष्कासन में अत्यधिक सहयोगी बनता है।

यह आसन मन की चंचलता को दूर कर स्थिर बुद्धि वाला बन जाता है।

इस आसन के द्वारा रक्ताभिसरण की क्रिया सुव्यवस्थित होने के कारण शरीर निरोगी और सुदृढ़ बनता है।

वज्रनाड़ी को अर्थात् वीर्यधारा नाड़ी को पुष्टि प्रदान करने के लिये यह आसन विशेषरूप से उपयोगी है।

जिन्हें विशेषरूप से उदररोगों की पीड़ा हो अथवा भोजन के पाचन में कठिनायी हो, उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिये।

यह आसन शुक्रदोष और वीर्यदोष को दूर करता है।

मानसिक निराशा को दूर करने के लिये यह आसन उपयोगी है।

सावधानियाँ :-

जिनकी हड्डियाँ लचीली न हो, उन्हें भूमि पर हाथ रख कर इस आसन का अभ्यास करना चाहिये। धीरे-धीरे भूमि का सहारा छोड़ कर हाथों को घुटनों पर रखने का अभ्यास करना चाहिये।

अर्श के रोगियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

वातायनासन

वातायन का अर्थ झरोखा, रोशनदान अर्थात् खिड़की है। इस आसन से शरीर की आकृति तदनुरुप बनायी जाती है। इसीलिये इसे वातायनासन कहते हैं।

विधि :-

पैरों को परस्पर मिलाते हुये सीधे खड़े हो जाइये। फिर, दाये पैर का घुटना मोड़िये और उसकी एड़ी को वाम जाँघ के मूलभाग पर स्थापित कीजिये। दोनों हाथों को जंघाओं से कुछ दूरी पर रखिये। अंगुलियाँ परस्पर मिली हुयी होनी चाहिये। उनका पृष्ठभाग सामने की ओर रहना चाहिये।

एक मिनट से तीन मिनट तक इसी स्थिति में स्वाभाविक रीति से श्वास को लेते और छोड़ते हुये स्थिर भाव से खड़े रहिये। यह ध्यान रहे कि हाथ, कमर, मेरुदण्ड, ग्रीवा और सिर सब तने हुये एंक सीध में रहने चाहिये। सीना उभरा हुआ होना चाहिये और दृष्टि सामने की ओर होनी चाहिये।

तदनन्तर दाहिने पैर को धीरे-धीरे नीचे लाकर भूमि पर स्थापित कीजिये। उपर्युक्त पद्धति से बाये पैर से भी यही क्रिया करनी है।

इसी विधि और इसी क्रम से एक से तीन बार तक यह आसन प्रतिदिन किया जा सकता है।

समय :-

प्रारम्भ में बीस से तीस सेकन्द तक ही शरीर को एक पैर पर साधने का अभ्यास करना चाहिये।

धीरे-धीरे प्रति सप्ताह पन्द्रह-पन्द्रह सेकन्द बढ़ाते हुये आसन की अवधि को तीन मिनट तक ले जाना चाहिये।

लाभ :-

यह आसन शारीरीक उत्साह व मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाने में अतिशय सहयोगी होता है।

इस आसन के अभ्यास से घुटने, कमर, पेट, मेरुदण्ड, ग्रीवादि अंगों का अच्छा व्यायाम होता है, जिससे इन अंगों की मांसपेशियों और नस-नाड़ियों में स्वास्थ्यकर तनाव उत्पन्न होता है। वह तनाव शिथिलन-शोधन और पोषण करता है।

शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में मिलने से तत्सम्बन्धित अंग सुपुष्ट हाते हैं।

इस आसन के नियमित अभ्यास से आमवात, सन्धिवात (गठिया), कटिशूल, हार्निया, शीघ्रपतन और स्वप्नदोष जैसे रोग दूर होते हैं।

इस आसन को करने से मेरुदण्ड की पुष्टता और प्रदर्शित क्रिया के साथ-साथ विचारशीलता, सात्त्विकता यथा आत्म-प्रसन्नता आती है।

इस आसन का प्रयोग करने से एकाग्रता की वृद्धि होती है।

इस आसन से रीढ़ की हड्डीविषयक विकार दूर होते हैं।

इस आसन के कारण श्वासप्रणाली में तनाव उत्पन्न होता है। इससे हृदयरोग तथा श्वासरोगों से मुक्ति मिलती है।

यह आसन रक्ताभिसरण की प्रक्रिया को सुचारु बनाता है।

यह आसन गठिया जैसे रोगों का विनाशक है।

इस आसन को करने से स्मरणशक्ति का विकास होता है।

यह आसन मूत्राशय को प्रभावित करता है। इससे मूत्रविषयक पथरी आदि समस्त रोगों का विनाश होता है।

इस आसन को करने से पाचनशक्ति और सहनशक्ति का विकास करता है।

इस आसन का अभ्यास करने से पीठ और कन्धों की पीड़ा दूर होती है।

यह आसन उदरकृमियों का महाशत्रु है।

रजस्वला अवस्था में होने वाली बेचैनी, आने वाली शिथिलता और प्राणान्तक पीड़ा को यह आसन सहज ही दूर करता है।

यह आसन तीन दोषों का विनाश कर शरीर को स्वस्थ बनाता है।

इस आसन के द्वारा पिण्डली, घुटने, जंघायें, पेट, पीठ, कन्धे, हाथ, गर्दन आदि समस्त जोड़ों, बन्धनों और मांसपेशियों का सम्यक् नियमन होता है।

सावधानियाँ :-

शरीर-सन्तुलन में अधीरता उचित नहीं है।

आसन की समाप्ति पर विश्राममुद्रा में खड़े रहिये।

सोकर उठते समय शरीर की जो क्रिया होती है, वही क्रिया इस आसन में की जाती है। अतः इसे शयनोत्थानासन कहते हैं।

विधि :-

पीठ के बल पर लेट जाइये। पैरों को परस्पर मिला लीजिये। एड़ी से एड़ी मिली हुयी होनी चाहिये। घुटने भी घुटनों से सटे हुये होने चाहिये। शरीर के किसी भी अंग में शिथिलता और वक्रता नहीं होनी चाहिये। धीरे-धीरे रेचक प्राणायाम को करते हुये सिर, गर्दन तथा हाथों को उठाते हुये कमान के आकार में अवस्थित हो जाइये। इस स्थिति में पेट पर पर्याप्त मात्रा में बल पड़ना चाहिये। दोनों हाथ सीधे और मिले हुये रहना चाहिये। हथेलियाँ खुली और ऊपर की ओर तनी हुयी होनी चाहिये। पाँच से दस सेकन्द तक इस स्थिति में रह कर पूरक करते हुये धीरे-धीरे लेट जाइये।

समय :-

एक आवृत्ति में पन्द्रह सेकन्द से बीस सेकन्द लगने चाहिये। एक दिन में इस आसन की पाँच से पन्द्रह आवृत्तियाँ होनी चाहिये।

लाभ :-

इस आसन के कारण दोनों हाथों की नस-नाड़ियों और मांसपेशियों की शिथिलता दूर होकर उनमें सबलता आती है।

उदरगुहा और उदरपेशियों पर इस आसन का सुखकर प्रभाव पड़ता है।

मोटापा घटाने के लिये इस आसन को उपयोगी माना गया है।

यह आसन पाचकाग्नि को बढ़ा कर कब्ज को दूर करता है।

यह आसन बल-वीर्य का वर्द्धक है।

तिल्ली, प्लीहा, मूत्राशय और अग्न्याशय के रोगों से पीड़ित रोगियों को यह आसन प्रतिदिन नियमपूर्वक करना चाहिये।

सावधानियाँ :-

इस आसन के बाद मकरमुखासन करना चाहिये।
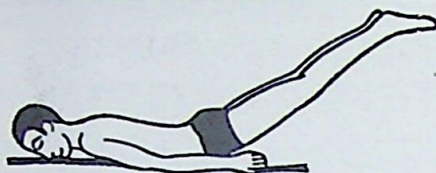
शलभासन

शलभ का अर्थ पतंगा है। इस आसन को करते समय शरीर की आकृति पतंगे के समान होती है। अतः इसका शलभासन यह सार्थक नाम है।

विधि :-

समतल भूमि पर पेट के बल लेट जाइये। मुख को जमीन की ओर ही रखिये। दोनों हाथों की हथेलियों को जाँघों से दबाते हुये बाहों को तान दीजिये। ठुड्डी भी तनी हुयी होनी चाहिये। दोनों एड़ियाँ एक दूसरे से सटी हुयी होनी चाहिये। धीरे-धीरे श्वास लेते हुये तथा बाहों, हाथों और छाती पर दबाव डालते हुये पैरों को ऊपर उठाइये। नाभि तक का भाग जमीन से ऊपर उठा लेना चाहिये। तदुपरान्त श्वास छोड़ते हुये पैरों को जमीन पर लाना चाहिये।

समय :-

इस आसन को प्रतिदिन चार बार करना चाहिये। शक्ति के अनुकूल समय का निर्द्धारण स्वतः साधक को ही कर लेना चाहिये। हाँ, आरम्भिक दिनों में इस आसन का अभ्यास दस से पन्द्रह सेकन्दों तक किया जाना चाहिये। प्रत्येक सप्ताह में दस सेकन्द का समय बढ़ाना चाहिये। क्रम से समय को बढ़ाते हुये इस आसन को दो से तीन मिनट तक करना चाहिये।

लाभ :-

मानसिक चिन्ता, तनाव, और निराशा की भावना को दूर करने के लिये इस आसन को उत्तम साधन माना गया है।

इस आसन की साधना से स्मरणशक्ति का अतीव विकास होता है।

यह आसन बवासीर को दूर करता है।

तिल्ली, प्लीहा, मूत्राशय और अग्न्याशय के रोगों का विनाश करने के लिये इस आसन को नियमपूर्वक करना चाहिये। इससे वे अंग न केवल सबल होते हैं, अपितु दीर्घजीवी भी होते हैं।

उदर से सम्बन्धित रोगों पर इस आसन का विशेष प्रभाव पड़ता है।

यह आसन मेरुदण्ड के नीचले हिस्से को मजबूत करता है।

यह आसन साइटिका नाड़ी को खींच कर हलका करता है।

इस आसन को करने से हृदय पुष्ट होता है।

पेट के विभिन्न रोगों को दूर करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

किडनी (वृक्क), जिगर क्लोम तथा पेट के सभी अवयवों को सक्रिय बनाने में यह आसन सहयोग प्रदान करता है।

आन्तरीक सक्रियता के कारण इस आसन से कब्ज, वायुविकार, अपचन, पेशिच, अतिसार, अम्लता एवं पेट तथा आँत की समस्त अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

कमर की मांसपेशियों की क्षीणता को दूर करके कमर को पूर्णतः स्वस्थ और लचीला बनाने का कार्य इस आसन के द्वारा सम्पन्न होता है।

महिलाओं के गर्भाशयविषयक समस्त रोगों का निर्मूलन करने के लिये इस आसन का विधिवत् उपयोग करना चाहिये। इस आसन के कारण मासिक धर्म में नियमितता आती है।

फैफड़ों तथा श्वास से सम्बन्धित समस्त रोगों का विनाश इस आसन के नियमित प्रयोग से किया जा सकता है।

यह आसन रीढ़ में लचीलापन लाने के साथ आँख, चेहरा, फैंफड़े, सीना, कण्ठ, कन्धा तथा शरीर के समस्त ऊपरी अवयवों को शक्ति प्रदान करने का कार्य इस आसन के द्वारा सम्पन्न होता है।

इस आसन के द्वारा उत्सर्जक इन्द्रियाँ बलशाली बनती हैं।

इस आसन को करने से यौनग्रन्थियों पर तनाव पड़ता है। उससे यौनशक्ति का विकास ही नहीं होता, अपितु नपुंसकता भी दूर होती है।

जिन बच्चों को बिस्तर पर मूत्र विसर्जन करने की आदत होती है, उन बच्चों से यह आसन कराना चाहिये।

मधुमेह के रोगियों को इस आसन का अभ्यास करने से लाभ पहुँचता है।

सावधानियाँ :-

इस आसन को भुजंगासन व धनुरासन के साथ करना चाहिये।

पेप्टिक अलसर, हर्निया और आँतों के कष्ट से पीड़ित रोगियों को इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

कमजोर हृदय वाले साधकों को इस आसन का अभ्यास निषिद्ध है।

शवासन

मृत मनुष्य के शरीर को शव कहते हैं। शव किसी प्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया नहीं करता। शव के समान ही इस आसन में क्रिया और प्रतिक्रियाओं का निरोध होने से इस आसन को शवासन कहा जाता है।

यह आसन तन और मन को पूर्ण विश्राम पहुँचाता है। दैनिक शारीरिक और मानसिक क्रिया सम्पन्न करते समय मनुष्य की शक्ति का क्षरण होता ही है। क्रियाओं के कारण नसों और पेशियों में तनाव उत्पन्न होता है। उससे रुधिर की ऊष्मा भी बढ़ती है। फलतः शरीर में स्फूर्ति को कायम करने वाले सूक्ष्मकोशों का क्षरण होता है। जब रक्त में मृतकोशों की संख्या अधिक हो जाती है, तब रक्ताभिसरण की प्रक्रिया मन्द होने लगती है। यही कारण है कि साधक थकान और विषाद का अनुभव करने लगता है। इससे मुक्ति पाने के लिये शवासन ही एकमात्र उपय के रूप में स्वीकृत है।

इस आसन को कोलाहल से रहित जनशून्य स्थान पर करना आवश्यक है।

विधि :-

पीठ के बल से जमीन पर लेट जाइये। दोनों हाथ अगल-बगल में रहने चाहिये। हथेलियाँ ऊपर की ओर खुली रहनी चाहिये।

दोनों पैरों के मध्य में आठ से नौ इंच का अन्तर रहना चाहिये। आँखों को सहजरूप में बन्द होने दीजिये। सम्पूर्ण शरीर को ढ़ीला छोड़ दिजिये। श्वास को की गति सामान्य रहनी चाहिये। मस्तिष्क को श्वास-प्रश्वासों के प्रति जागरुक रहने दिजिये। मन में किसी भी प्रकार के विचार को प्रवेश नहीं करने देना है, इससे मस्तिष्क सम्पूर्ण रूप से विश्रान्ति को प्राप्त कर सकेगा। इस समय तक शरीर में अत्यधिक शिथिलता का आविर्भाव होगा।

साधक को यह कल्पना करनी चाहिये कि इस आसन के कारण से उत्पन्न हुयी शिथिलता सम्पूर्ण शरीर को अपने स्वामित्व में ले रही है और धीरे-धीरे पैर, जंघायें, पेट, छाती आदि अवयवों को सम्पूर्ण शरीर को निश्चेष्ट बना रहा है।

समय :-

निरापद होने के कारण इस आसन को दीर्घकाल तक भी किया जा सकता है।

लाभ :-

यह आसन न्यूनतम समय में अधिकतम आत्मीय शक्ति का संचय करने में सहयोग प्रदान करता है।

यदि प्रत्येक आसन के बाद तत्तत् आसन से आधे काल तक शवासन किया जाता है तो वह आसन अधिक लाभदायक बनता है।

उच्च रक्तचाप में यह आसन लाभप्रद है।

मानसिक एकाग्रता को प्राप्त करने में यह आसन सहयोगी बनता है।

अनिद्रा, गैस की व्याधियाँ, फैंफड़े तथा हृदय के कष्ट एवं मानसिक रोगों से ग्रस्त साधकों को शीघ्र आराम पहुँचाने के लिये यह आसन अत्युपयोगी है।

जिन्हे कमजोरी, थकावट अथवा उत्साह का अभाव का अनुभव होता है, उन्हें तत्काल यह आसन करना चाहिये।

आध्यात्मिकविकास की दृष्टि से यह आसन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जब भी बचैनीरूपी नागिन अपना फन फैलाने लगे, साधक भय-शोक-वेदना, ईर्ष्या अथवा द्वेष से सम्पन्न हो तब उसे यह आसन करना चाहिये।

यह आसन आवेशों और आवेगों के प्रवाह को दूर करता है।

ऋषियों ने इसे मनोनिग्रह का अद्भूत उपाय के रूप में स्वीकार किया है।

यह आसन सन्तुलन को साधने में अपूर्व सहयोग देता है।

इस आसन के द्वारा अतीव चैतन्यता प्राप्त होती है।

दीर्घ काल के रोगियों के लिये तो यह आसन मित्रवत् माना गया है।

यह आसन नाड़ीदौर्बल्य, घबराहट आदि समस्याओं का समाधान है।

यह आसन अल्पकाल में दीर्घकालीक निद्रा का फल प्रदान करता है।

सावधानियाँ :-

आसन प्रारम्भ करने से पूर्ण जमीन पर चादर अवश्य बिछाइये, इससे शीत के प्रकोप से बचाव होगा।

हाथों की तलवे ऊपर की ओर ही रखे।

इस आसन को करते समय श्वास-प्रश्वास की नियमितता, समानता और दीर्घता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

शशांकासन

इस आसन में शरीर की आकृति खरगोश के समान होती है। इसीलिये इसे शशांकासन कहते हैं।

विधि :-

सर्वप्रथम वज्रासन से बैठ जाइये। तत्पश्चात् गहरी-गहरी साँस लीजिये तथा दोनों बाहुओं को ऊपर करके तान दीजिये। दोनों हाथों की हथेलियाँ खुली हुयी एवं सामने की ओर होनी चाहिये। धीरे-धीरे श्वास को छोड़ते हुये कमर को झुकाइये। बाहों को तानते हुये हथेलियों को भूमि का स्पर्श कराइये। मस्तक को भी भूमि से सटाना आवश्यक है। पुनः धीरे-धीरे हाथों को ऊपर ले जाइये और विलोमक्रम से लौटते हुये वज्रासन में स्थिर हो जाइये।

समय :-

इस आसन का समय क्रम से बढ़ाते हुये जाना चाहिये। अभ्यास के अनुसार ही समय का निर्धारण करना चाहिये।

लाभ :-

इस आसन को करने से स्मृतिदुर्बलता दूर होती है।

इस आसन से फैफडे मजबूत होते हैं।

इसके प्रयोग से बाँहें पुष्ट होती हैं।

यह आसन कमर व रीढ़ को सबल बनाता है।

जंघाओं का बल बढ़ाने के लिये इस आसन का अभ्यास करना चाहिये।

इस आसन का नियमित अभ्यासी साधक उदररोगों से दूर रहता है।

इस आसन का अभ्यास करने से हृदयरोगों से मुक्ति मिलती है।

आँतड़ियाँ, यकृत और अन्त्राशयों पर इसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

सावधानियाँ :-

गर्भवती महिलाओं को यह आसन नहीं करना चाहिये।

भोजन करने के बाद लगभग तीन घण्टे तक इस आसन को करना निषिद्ध है।

शीर्षासन

इस आसन को मस्तक के बल पर किया जाता है अर्थात् इस आसन को करते समय सम्पूर्ण शरीर का भार मस्तक पर आता है। इसीलिये इसे शीर्षासन कहते हैं।

विधि :-

पृथ्वी तल पर किसी कम्बल या मोटे तौलिये की तीन चार तह करके रखिये, जिससे गद्दी-सी बन जाये। सावधानीपूर्वक अपने घुटने को मोड़ कर गद्दी पर झुक जाइये। दोनों हाथों की अंगुलियों को गद्दी पर टिका दीजिये तथा कुहनियों में कन्धे से अधिक अन्तर रखिये। सिर को गद्दी पर टिका कर दोनों हाथों का सहारा दीजिये, जिससे कुहनियों के सहारे सिर का सन्तुलन बना रहे। तत्पश्चात् पैरों को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठा लीजिये। यथासम्भव इस अवस्था में स्थिर रह कर पुनः विलोमेक्रम से पूर्ववर्ती अवस्था में आना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भ में इस आसन को दस से पन्द्रह सेकन्द तक ही करना चाहिये। क्रमशः इस काल को आधे घण्टे तक बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

जिस प्रकार किसी शिशि की गन्दगी को साफ करने के लिये उसमें पानी भर कर उसे ऊपर, नीचे लोट-पोट करते हैं, उसी प्रकार शीर्षासन रक्तप्रवाह की गति में उलटफेर करके उसे पूर्णरूप से शुद्ध करता है।

आरोग्य को प्रदान करने की इसकी सामर्थ्य को देख कर ही योगविदों नेइसे समस्त आसनों का राजा कहा है।

यह आसन हृदयावसाद को दूर करता है। फलतः हृदय की शक्ति बढ़ने से साधक की आयु भी वृद्धि को प्राप्त होती है।

इस आसन को करने से नेत्रज्योति का विकास तीव्रगति से होता है।

जिनके बाल बहुत झड़ते हैं अथवा बालों में अत्यधिक खुश्की होती है, उनके लिये यह आसन बहुत हितकारी है। बालों की सम्यक् वृद्धि भी होती है।

इस आसन को करने से शरीर की स्फूर्ति बढ़ती है।

वीर्यदोष को मिटाने वाले इस आसन को करने से वीर्य गाढ़ा और ऊर्ध्वमुखी बनता है। इससे ब्रह्मचर्यव्रत के पालन में सुगमता होती है।

यह आसन वीर्य को ओज में परिवर्तित करता है, जिसके फल से शरीर सतेज और आलस्यहीन रहता है।

बुद्धि को सूक्ष्मग्राही बनाने के अभिलाषी साधकों को इस आसन का अभ्यास नियमितरूप से करना चाहिये।

त्वचा की शिथिलता और शुष्कता को दूर करने के लिये इस आसन को करना आवश्यक माना गया है। इससे नस-नस में तरुणाई की आभा फैलती है और साधक के जीवन की दीन-हीनता को दूर करता है।

यह आसन उदर पर पड़ने वाले नाड़ियों के भार को न्यून करता है, जिससे बद्ध अपानवायु स्वयं निस्सरण को प्राप्त होता है। पाचनशक्ति और क्षुधा की भी वृद्धि होती है।

गर्भाशय एवं जननेन्द्रियों के रोगों का विनाश करने के लिये स्त्रियों को इस आसन का अभ्यास करना ही चाहिये। इस आसन के नियमित अभ्यास से अनियमित मासिकधर्म, रक्तप्रदर, बहुमूत्रता, बीजाशय की आवृद्धि, कष्टार्त्तव और गर्भाशयशोथ जैसे स्त्री-रोग विनष्ट होते हैं। यह आसन स्त्रियों के सौन्दर्यवृद्धि का कारक है तथा अंगोपांगों का सुयोग्य विकासक है।

इस आसन से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का कार्य नियमित और समुचित चलता है।

मस्तिष्क, नाड़ीसंस्थान, श्वसनसंस्थान, पाचनसंस्थान और मलविसर्जनसंस्थान को सशक्त तथा सक्रिय बनाने के लिये यह आसन अत्युपयोगी माना गया है।

सावधानियाँ :-

प्रारम्भ में इसे दीवार के सहारे से करना चाहिये। प्रारम्भिक स्थिति में किसी को पास में अवश्य खड़ा करना चाहिये।

अन्य आसनों का भली-भाँति अभ्यास कर लेने के उपरान्त इस आसन को सावधानीपूर्वक करना चाहिये।

विशेष :-

योगविदों ने इस आसन के कपालासन, विपरीतकरणी, वृक्षासन आदि नाम भी स्वीकार किये हैं।

स्वस्तिकासन

विधि :-

पैरों को सामने की ओर फैला कर छाती और मेरुदण्ड को सीधा रख कर बैठ जाइये। बाये पैर को मोड़िये और पंजे को दायी जांघ की मांसपेशियों के पास रखिये। इसी प्रकार दाये पैर को मोड़िये और पैर की अंगुलियों को बायी जंघा व पिण्डलियों के मध्य में फँसाइये।

दोनों पैर की अंगुलियाँ दोनों जंघाओं और पिण्डलियों के मध्य में रहनी चाहिये। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर ज्ञानमुद्रा अथवा चिन्मुद्रा के रूप में सीधा ही रखिये। दृष्टि नासाग्रभाग पर स्थिर होनी चाहिये। इस अवस्था में कुछ काल व्यतीत कर पूर्वावस्था में क्रमशः लौटना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भिक अवस्था में दस से बारह सेकन्द तक इस आसन का अभ्यास कीजिये। शनैः शनैः समय को बढ़ाया जा सकता है।

लाभ :-

ध्यान की सिद्धि के लिये यह असन श्रेष्ठ माना गया है।

यह आसन मन को शान्त और स्थिर बनाता है।

इसके प्रयोग से चंचलता का विलोप होता है।

यह आसन स्वप्नदोष का दुर्दान्त शत्रु है।

इस आसन को करने से अस्थियों में बल का वर्द्धन होता है।

सिद्धासन तथा सिद्धयोनि आसन को करने से जो फल प्राप्त होते हैं, वे सभी इस आसन के द्वारा भी पाये जा सकते हैं।

सावधानियाँ :-

साइटिका, रीढ़ के नीचले भाग के विकारों से पीड़ित साधकों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त सुखासन करना चाहिये।

जमीन पर लेट कर सम्पूर्ण शरीर को ऊपर उठाने के कारण इस आसन को सर्वांगासन कहते हैं।

विधि :-

समतल भूमि पर पीठ के बल लेट कर यह आसन किया जाता है। साँस को भीतर खींचिये, फिर धीरे-धीरे साँस छोड़ते हुये पैरों को सीधा रखते हुये ऊपर की उठा दीजिये। पहले कमर तक पैर उठाने हैं, उसके पश्चात् पीठ का जो भाग जमीन पर है, उसे उठा कर दोनों हाथों से कमर पकड़ कर कन्धों से पैरो तक सारे शरीर को सीधा रखें। धड़ एवं पैर ग्रीवा से समकोण बनाते हुये सीधे रहने चाहिये। छाती से ठुड्डी का स्पर्श कीजिये। पैर और अंगुलियों को जहाँ तक ले जा सकते हैं, उतना ऊपर की ओर ले जाइये और शरीर में तनाव लाने का प्रयत्न कीजिये। दृष्टि पैर की अंगुलियों पर जमाइये। सामान्यरूप से श्वास लेते रहना चाहिये। कुछ सेकन्दों तक इस आसन में स्थिर रह कर पुनः धीरे-धीरे अपनी पूर्ववर्ती अवस्था में आना चाहिये। मूल स्थिति में आने के उपरान्त कुछ समय तक लेटे रहना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भिक अवस्था में इस आसन का अभ्यास कुछ सेकन्द तक ही करना चाहिये। प्रतिदिन आसन की कालमर्यादा को वृद्धिमान रखना चाहिये।

जिन्हें इस आसन का अभ्यास अच्छी तरह हो गया है, वे पन्द्रह मिनिट तक इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं।

लाभ :-

यह आसन चुल्लिकाग्रन्थी को क्रियाशील बनाता है। फलतः रक्तपरिवहन, पाचन, जननेन्द्रिय, स्नायुओं एवं ग्रन्थिसंस्थानों में सन्तुलन लाता है।

इस आसन के कारण शरीर का विकास समुचित होता है।

स्त्रीरोगों के लिये यह आसन अत्यन्त लाभदायक है। इससे मासिक धर्म नहीं आना अथवा अधिक आना जैसे रोग दूर होते हैं।

इस आसन को करने से बवासीर और मधुमेह में लाभ होता है।

इस आसन को करने से वृद्धावस्था रुकती है और दीर्घायु प्राप्त होती है।

मस्तिष्क में समीचीनरूप से रक्तप्रवाह होने के कारण इस आसन के अभ्यासु को अधिक मात्रा में प्राणवायु मिलती है। यही कारण है कि इस आसन का अभ्यास करने वाले साधक का मस्तिष्क पुष्ट एवं स्वस्थ होता है।

इसके अभ्यास से पैर, उदरप्रदेश, मेरुदण्ड और कण्ठप्रदेश मजबूत होता है।

कब्ज, उदरवायु के कारण होने कष्ट, इत्यादि रोगों के लिये यह आसन रामबाण औषधी के समान माना गया है।

इस आसन से दमा, खाँसी एवं हाथीपाँव जैसे रोग दूर हो जाते हैं।

लीवर और प्लीहा के रोग दूर करने के लिये यह आसन अत्युपयोगी है।

इस आसन को करने से स्मरणशक्ति बढ़ती है।

यह आसन स्वप्नदोष को दूर करता है।

मस्तक और नेत्रों के रोग भी इस आसन के कारण दूर होते हैं।

त्रिदोषों का शमन करने के लिये यह आसन उपयोगी है।

इस आसन से वीर्य का ऊर्ध्वारोहण होता है, जिससे मानसिक बल की वृद्धि होती है और मेधाशक्ति का विकास होता है।

इस आसन को करने से बाल सफेद नहीं होते, मुख पर झुर्रियाँ नहीं पड़ती और शरीर की त्वचा पर सिकुड़न नहीं आती।

मुख के मुँहासे और दागों को दूर करने के लिये यह आसन करना चाहिये।

सावधानियाँ :-

उच्च रक्तचाप, हृदयरोग की बीमारी चुल्लिका ग्रन्थि तथा यकृत की समस्या में इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

थाइराइड के अतिविकास वाले, अत्यधिक चरबी बाले साधकों को किसी अनुभवी से परामर्श लेकर ही इस आसन को करना चाहिये।

तिल्ली बढ़ने पर भी इस आसन को नहीं करना चाहिये।

नवागन्तुक साधक को यह आसन करते समय शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। आसन करते समय शरीर के साथ कभी भी जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये। किसी भी अंग को झुकाते समय अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिये।

इस आसन के उपरान्त क्लान्ति के शमनार्थ शवासन करना चाहिये।

लौकिक एवं पारलौकिक सिद्धियों की सिद्धि का कारण होने से इस आसन को सिद्धासन कहा जाता है।

विधि :-

इस आसन को किसी समतल भूमि पर करना चाहिये। पहले दाये पैर को मोड़ कर एड़ी को लिंग और गुदा के बीच के कोमल स्थान से सटा दीजिये। तदुपरान्त बाये पैर को मोड़ कर दाये पैर की पिण्डली से सटा दीजिये। हथेलियों को ज्ञानमुद्रा अथवा चिन्मुद्रा में रखना चाहिये। श्वासोच्छ्वास की गति सामान्य होनी चाहिये। इस आसन को करते समय कमर, पीठ, छाती, गर्दन आदि सम्पूर्ण शरीर सीधा रखना चाहिये। दृष्टि न तो अधिक खुली हो न बन्द। नासाग्रदृष्टि हो तो अत्युत्तम है। इस आसन को करते समय गुदा, मुत्रेन्द्रिय एवं पेट को सरलता से अन्दर की ओर खींचने का अभ्यास करना चाहिये। इस आसन का अभ्यास केवल पुरुषों को ही करना चाहिये।

समय :-

इस आसन को दोनों संध्याकाल में किसी एकान्त, शान्त तथा पवित्र स्थान पर करना चाहिये। शान्ति से जितनी देर बैठ सकते हैं, उतनी देर तक इस आसन में बैठना चाहिये। क्रमशः समय बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

लाभ :-

कमर के हिस्से के सभी जोडों की चिकित्सा करने में सिद्धासन बहुत प्रभावशाली माना गया है।

इस आसन को करने से कुल्हों के जोड़, घुटने तथा टखने सम्यक् प्रकार से सक्रिय हो जाते हैं।

इस आसन से शरीर की समस्त नाड़ियों का शुद्धिकरण होता है।

इस आसन को करने से रीढ़ की हड्डी सबल होती है।

ध्यान के लिये यह आसन अत्यन्त उपयोगी है।

इस आसन के अनुप्रयोग से वीर्य की रक्षा होती है।

इस आसन से मूलबन्ध और वज्रोलीमुद्रा स्वतः लग जाती है। परिणामस्वरूप कामशक्ति की तरंगें रीढ़प्रदेश से मस्तिष्क तक पहुँचने लगती है।

समस्त स्नायविक-प्रणाली को शान्त व सामान्य स्थिति में रखने के लिये यह आसन सहयोग प्रदान करता है।

इस आसन के द्वारा मन की एकाग्रता बढ़ती है।

इस आसन को करने से विचारों में पवित्रता आती हैं। फलस्वरूप ऐसे साधक के स्वप्नदोष दूर होते हैं।

यह आसन पाचनशक्ति को बढ़ाता है।

श्वासरोग, हृदयरोग, जीर्णज्वर, अजीर्ण, अतिसार, शुक्रदोष आदि रोगों को दूर करने के लिये यह आसन अत्यन्त लाभदायक है।

मन्दाग्नि, वातविकार, क्षय, दमा, मधुमेह, प्लीहा की वृद्धि, आदि अनेक रोग इस आसन के अभ्यास से स्वयं शमित हो जाते हैं।

काम का नियन्त्रक होने के कारण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने में यह आसन सहयोग प्रदान करता है।

मानसिकस्थिरता के लिये इस आसन की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

इस आसन के द्वारा मस्तिष्क स्थिर होता है। अतः इसके अनुप्रयोग से स्मरणशक्ति का आशातीत विकास होता है।

इस आसन से नाड़ीशुद्धि होती है।

कुण्डलिनीशक्ति के जागरण के लिये इस आसन को करना ही चाहिये।

सावधानियाँ :-

इस आसन को करते समय किसी भी अवयव को उठाने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। साइटिका और रीढ़ के नीचले भाग की गड़बड़ी से पीड़ित व्यक्तियों को यह आसन नहीं करनी चाहिये।

यदि इस आसन को अधिक देर तक करना हो तो नये अभ्यासी को अथवा जिज्ञासुओं को आसन करते समय नितम्बों को गद्दी के सहारे थोड़ा ऊपर उठा दिया जाय तो अधिक लाभप्रद होगा।

सिंह अपनी प्रकृति को स्वस्थ रखने के लिये अपनी जिह्वा को बाहर निकाल कर लम्बी कर लेता है। यही प्रमुख क्रिया इस आसन के माध्यम से होती है। इसीलिये इसे सिंहासन कहा जाता है।

विधि :-

भूमि पर कम्बल या शाल रख लीजिये। उसी पर वज्रासन से बैठ जाइये। घुटनों को दूर-दूर रखना चाहिये। यदि सम्भव हो तो सूर्य की ओर मुँह करके बैठना चाहिये। दोनों हाथों को घुटनों के तरफ मोड़ लीजिये। भुजाओं के सहारे थोड़ा आगे की ओर झूक जाइये। सिर पीछे की ओर उठाइये। जबड़ों को चौड़ा खोल दे तथा जितना हो सके, जीभ को उतना बाहर निकाल लीजिये। आँखों को भौहों के बीच रखिये। छह से सात सेकन्दपर्यन्त इस आसन में रह कर श्वास को खींचते हुये जीभ को पुनः अन्दर खींच लीजिये। श्वास तथा जीभ को खींचते समय शरीर को क्रमशः ढीला छोड़ दीजिये। पुनः उसी क्रिया को दुहराइये। नाक से श्वास लीजिये। श्वास को धीरे-धीरे छोड़ते हुयेगले से स्पष्ट और स्थिर आवाज् निकालिये।

जीभ को बाहर निकाल कर तथा दाये-बाये घुमा कर भी इस आसन को किया जा सकता है।

समय :-

सामान्य अवस्था में यह आसन दस बार करना चाहिये। किसी रोगविशेष में इस आसन को अधिक समय तक किया जा सकता है। आरम्भिक दिनों में यह आसन पाँच से दस सेकन्दपर्यन्त करना चाहिये। प्रत्येक सप्ताह में दस सेकन्दों का समय बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार बढ़ाते-बढ़ाते इस आसन का समय तीन मिनट तक ले जाना चाहिये।

लाभ :-

गले की तकलीफ, आवाज की खराबी तथा टांसिल-सूजन में यह आसन

औषधि का कार्य करता है।

गले, कान, नाक और मुँह की बीमारियों को दूर करने के लिये इस आसन को सर्वश्रेष्ठ माना गया हैं।

तोतलापन दूर करने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

यह आसन कण्ठ की नाड़ियों को प्रभावित करता है।

इस आसन को करने से श्वास की दुर्गन्ध दूर होती है।

यह आसन मुख को सुन्दर बनाता है।

इस आसन का अभ्यास स्वरयन्त्र को पुष्ट और सक्रिय करता है।

स्वर में मधुरता लानी हो तो यह आसन प्रतिदिन करना चाहिये।

साइनस, फैरिन्क्स और लैरिन्क्स का व्यायाम इसमें अत्यधिक मात्रा में होने के कारण साइनाइटिस (नासुर), गले और स्वरयन्त्र के प्रदाह को दूर करने में यह आसन अत्यधिक लाभ प्रदान करता है।

इस आसन के समय जिह्वा को बाहर निकाल कर उस पर तनाव दिया जाता है। इस कारण गले के कोमल स्नायुओं पर आरोग्यकारण तनाव आता है। इससे गले की सूजन, स्वर का बिघड़ना आदि रोगों से मुक्ति मिलती है।

इस आसन से खाँसी और जी-मचलना जैसे रोगों का विनाश होता है।

इस आसन में जिस प्रकार की बैठक होती है, उसके कारण से उत्सर्जक इन्द्रियों को चालना मिलती है।

यह आसन युवामहिलाओं को अवश्य करना चाहिये, क्योंकि इस आसन के द्वारा अनेक प्रकार के स्त्रीरोग दूर होते हैं। इतना ही नहीं, उनके अंगों का विकास सम्यक् रूप से होता है।

यह आसन जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

सावधानियाँ :-

यदि आसन करते समय शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती हो तो आसन को करना छोड़ देना चाहिये।

यदि जीभ को बाहर निकालने में कष्ट हो रहा हो तो अधिक देर तक इस आसन को नहीं करना चाहिये।

आसन करते समय श्वास नाक से ही लेनी चाहिये।

श्वास को छोड़ने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये।

इस आसन के बाद सुखासन करना लाभप्रद है।

सुप्त वज्रासन

यह आसन वज्रासन के अवान्तर प्रकार के रूप में ही है। वज्रासन की दशा में शयनमुद्रा यह आसन किया जाता है। अतः इसे सुप्तवज्रासन कहते हैं।

यह आसन अर्द्ध-कच्छपासन का विलोमरूप है। अर्द्ध-कच्छपासन में घुटने पेट से सटा कर हाथ ऊपर की ओर जोड़ने होते हैं। इस आसन में पेट के बल पर लेटा जाता है।

विधि :-

सर्वप्रथम वज्रासन से बैठ जाइये। पैरों को नितम्बों से थोड़ा अलग करके भुजाओं ओर कुहनियों के सहयोग लेकर पीछे की ओर धीरे-धीरे तब तक झुकते जाइये, जब तक कि मस्तक जमीन से स्पर्श न करे। इसी प्रकार पीठ और कन्धों का स्पर्श भी भूमि पर होना चाहिये। कमर पूर्णरूप से धनुषाकार रहनी चाहिये। घुटने भूमि पर ही होने चाहिये। हाथों को मस्तक के नीचे जमा दीजिये। आँखें बन्द करके शरीर को ढ़ीला छोड़ दीजिये। श्वास गहरी होनी चाहिये। तनाव से रहित रहने प्रयत्न कीजिये।

कुछ योगविदों का मत है कि एड़ियों को अलग करके चूतड़ को जमीन पर रख कर बैठना चाहिये। तदुपरान्त हाथों से एक-दूसरे भुजदण्ड को पकड़ कर उन पर सिर रख कर पीठ के बल पर लेटना चाहिये। यह विधि अपेक्षाकृत सरल है।

समय :-

शारीरिक लाभ के लिये इस आसन का अभ्यास एक से दो मिनट तक करना चाहिये। अध्यात्मिक लाभ के लिये इस आसन को करना हो तो अधिक समय तक भी किया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन को करने से कमर और पीठ का दर्द दूर होता है।

इस आसन को गले के रोगों को दूर करने वाला माना गया है।

यह आसन पैरों को सबल बनाता है।

इस आसन को करने से श्वास और दमे की व्याधि दूर होती है।

उदररोग का निष्कासन करने के लिये यह आसन करना चाहिये।

यह आसन पाचनशक्ति को बढ़ाता है।

इस आसन के अनुप्रयोग से पेट हल्का होता है।

यह आसन नेत्रज्योति का विकासक है।

इस आसन के कारण छाती चौड़ी हो जाती है।

नाभि अपने मूल स्थान से हट गयी हो तो इस आसन से वह ठीक होती है।

आमाशय के रोगों के लिये यह आसन बहुत उपयोगी है, क्योंकि यह आसन आँतों को शक्ति के साथ फैलाता व संकुचित करता है।

सम्पूर्ण शरीर को मस्तिष्क से जोड़ने वाले रीढ़ के मुख्य स्नायुओं में दबाव को सामान्य रखने के लिये यह आसन बहुत अच्छा है।

शीर्षस्थग्रन्थि, कण्ठस्थग्रन्थि, मूत्रपिण्डस्थग्रन्थि, ऊर्ध्वपिण्डस्थग्रन्थि, पुरुषार्थग्रन्थि आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का विशोधक होने से यह आसन भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का कारक है।

धातुक्षय, स्वप्नदोष, पक्षाघात, पथरी, बहरापन, तोतलापन, आँखों की दुर्बलता, गले का टॉन्सिल, श्वासनलिका की सूजन, क्षय और दमा जैसे रोगों को दूर करने के लिये इस आसन को करना चाहिये।

यह आसन धारणाशक्ति में आश्चर्यकारक वृद्धि करता है।

वज्रासन में प्राप्त होने वाले समस्त लाभ इस आसन से भी प्राप्त होते हैं।

थाइराइड की ग्रन्थि का कार्य सुचारुरूप से होने के कारण इस आसन के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्वास्थ्य में भी सुधार होता है।

कटिशूल, भृति और पार्श्वशूल की स्थिति में भी इस आसन के द्वारा लाभ उठाया जा सकता है।

सावधानियाँ :-

गर्भवती महिलाओं को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन को करते समय मेरुदण्ड पृथ्वी पर समतल होना चाहिये।

घुटनों को हठपूर्वक भूमि का स्पर्श कराने के लिये जंघाओं और घुटनों की मांसपेशियों व सन्धि बन्धनों में अनावश्यक तनाव उत्पन्न नहीं करना चाहिये।

इस आसन के उपरान्त शवासन करना चाहिये।
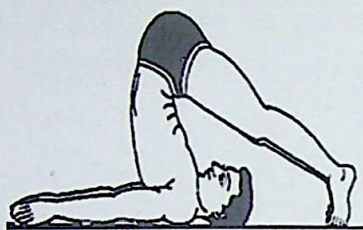
हलासन

इस आसन को करने से शरीर की आकृति हल (कृषिविषयक एक यन्त्र) के समान होती है। इसीलिये इस आसन को हलासन कहा जाता है।

विधि :-

पीठ के बल पर सीधे लेट कर यह आसन किया जाता है। हाथ शरीर से चिपके हुये होने चाहिये तथा जंघायें व पैर आपस में सटे हुये होने चाहिये। हथेलियों पर जोर देते हुये पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाइये। जब पैर बिलकुल ऊपर आ जावे तो कुछ क्षण रुक कर उन्हें सिर की ओर तब तक झुकाते चले जाइये, जब तक कि पैर के पंजे धरती पर आकर टिक न जाये।

तदुपरान्त हाथों को धीरे-धीरे सिर की ओर ले जाइये और पैरों के पंजों को पकड़ लीजिये। पंजों को पकड़ कर अपनी ओर खींचिये, जिससे साधक ठोड़ी गले के गड्ढे में आकर लग जाये। विलोमक्रम से आसन का समापन करना चाहिये।

समय :-

प्रारम्भिक दिनों में यह आसन लगभग बीस सेकन्द तक करना चाहिये। अभ्यास की दशा में एक/एक मिनट के अन्तर से तीन बार किया जा सकता है।

लाभ :-

इस आसन का नियमित अभ्यास करने वाले साधकों में उत्साहशक्ति, कार्यशक्ति, रोगनिवारणशक्ति आदि समस्त शक्तियों का विकास होता है।

इस आसन को करने से रुक-रुक कर लघुशंका आना, मधुमेह का बढ़ना आदि मूत्राशयविषयक रोगों से आराम मिलता है।

कष्टार्त्तव, कमरदर्द, बेचैनी आदि स्त्रीरोगों का विनाश करना हो तो स्त्रियों को इस आसन का नियमितरूप से प्रयोग करना चाहिये।

उदररोग, पीठ से सम्बन्धित रोग अथवा कण्ठ से सम्बन्धित रोगों को दूर करने के लिये इस आसन को प्रतिदिन करना चाहिये।

शरीर के बेडौल मोटापे को घटाने के लिये यह आसन उपयुक्त है।

कमर को पतली करने के लिये और फूर्तिलापन बढ़ाने के लिये इस आसन को किया जाना चाहिये।

इस आसन को करने वाले साधक का क्रोध शमन होता है।

बवासीर, अर्श, दमा, कफ, रक्तदोष आदि रोगों की पीड़ा को कम करने के लिये इस आसन का अभ्यास अपेक्षित है।

यह आसन नाड़ीतन्त्र को सबल बनाता है।

इस आसन के अनुप्रयोग से मस्तिष्क की ओर रक्तप्रवाह की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे धारणाशक्ति तथा जीवनीशक्ति की वृद्धि होती है और क्रोधादि मानसिक विकारों का शमन होने में सहयोग मिलता है।

इस आसन को करने वाला किसी युवक के समान बल और उत्साह को कायम रख सकता है।

शारीरिक शक्ति के विकास में इस आसन का सहयोग प्राप्त होता है, क्योंकि इस आसन से अन्तर्वर्ती अवयवों की समुचित मालिश होती है।

निरन्तर मस्तिष्कशूल से पीड़ित रहने वाले रोगियों को यह आसन अवश्य करना चाहिये।

इस आसन के द्वारा मेरुदण्ड सबल होता है। फलस्वरूप कमरविषयक कोई भी व्याधि शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकती।

इस आसन के कारण से गले की ग्रन्थियाँ और पेशियाँ सुचारुरूप से कार्य करने लगती है। फलतः कण्ठरोग छूमन्तर हो जाते हैं।

मधुमेह और हार्निया के रोगियों को यह आसन करना ही चाहिये।

मूत्राशय, शुक्राशय गर्भाशय की शुद्धि के लिये यह आसन किया जाता है।

सावधानियाँ :-

वृद्ध, दुर्बल, उच्च रक्तचाप से पीड़ित अथवा साइटिका से सहित जीवों को इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

जब तक पीठ की माँसपेशियाँ लचीली नहीं हो जाती, तब तक इसका पूर्ण अभ्यास नहीं करना चाहिये। सहजतया पैर जितने पीछे जा सकते हैं, उतने ही ले जाने चाहिये।

इस आसन का समापन करने के उपरान्त आसन के कारण शरीर में आयी हुयी थकावट को दूर करने के लिये शवासन करना चाहिये।

आगम में आसनों का उल्लेख

--पलियंक-कुक्कुटासण-गोदोहद्धपलियंक-वीरासण-मदयसयण-मयरमुह-हत्थिसोंडादीहि जं जीवदमणं सो कायकिलेसो।

(धवला = १३/५८)

अर्थात् :- पर्यंकासन, कुक्कुटासन, गोदुहासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन, मृतकासन, मकरमुखासन, हस्तिसुण्डासन आदि आसनों के द्वारा जीव का दमन किया जाता है, वह कायक्लेश नामक तप है।

यहाँ किसी को यह प्रश्न हो सकता है कि आसन शारीरिक क्रिया है। मोक्षमार्ग में इसका महत्व क्या है?

यह तो सभी के विदित है कि जैनधर्म में सम्पूर्ण क्रियाओं का उद्देश्य मोक्ष की सिद्धि है। जो-जो कार्य मोक्षमार्ग में सहयोगी बनते हैं, उनको जिनागम ने स्वीकार किया है। आसन भी मोक्षमार्ग में सहयोगी होने से उनका स्वीकार आगमज्ञों ने किया है।

कायिक चंचलता को काययोग कहते हैं। काययोग आस्रव का प्रत्यय है। आस्रव संसार का कारण है। आस्रव का निरोध करने को गुप्ति कहते हैं। कायिक चंचलता का निरोध करने से कायगुप्ति का लाभ होता है। कायगुप्ति श्रमणधर्म का एक अंग है, जो संवर का प्रमुख कारण है।

दिगम्बर जैनाचार्यों ने तप को संवर और निर्जरा का कारण माना है। **तपसा निर्जरा च**-यह सूत्र इसका स्पष्ट द्योतक है। बारह प्रकार के तप में कायक्लेश नामक तप है। विविध प्रकार के आसनों का समालम्ब लेने से कायक्लेश तप की सिद्धि होती है। इसका अर्थ हुआ कि आसन भी संवर और निर्जरा के कारण हैं।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि ध्यान को सर्वोत्तम तप माना गया है। ध्यान तप के लिये सर्वप्रथम कायिक स्थिरता की आवश्यकता होती है। कायिक स्थिरता का लाभ आसनों के माध्यम से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आसन ध्यान का और ध्यान मोक्ष का कारण होने से आसन भी मोक्ष का कारण है। अतः जैनाचार्यों ने आसनों को स्वीकार किया है।

लेखक का परिचय

– लेखिका – पूज्या गणिनी–आर्यिका श्री सुविधिमती माताजी

भारत देश की इस पावन वसुन्धरा पर श्रमण–संस्कृति की अजस्र धारा को प्रवाहित कर अनन्त भव्यात्माओं का विकास करने वाले अनेक दिगम्बर तपस्वी सन्त हुये हैं। उस सन्त–परम्परा में रवि के समान तेजस्वी और शशि के समान कान्तिशाली सन्तप्रवर हैं, मेरे आराध्य गुरुदेव परम पूज्य आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज। ये महान सन्त हैं। सरलता, गुरुभक्ति, आगमनिष्ठता, गुणानुराग, तार्किकता, निस्पृहता, श्रद्धा की अखण्डता, जिज्ञासा की प्रखरता, निर्भयता, निष्पक्षता, वात्सल्यता, लघुता, विनयता आदि अनेकानेक गुणरत्नों से युक्त सागर का नाम ही सुविधिसागर है। ऐसे अचिन्त्य–प्रज्ञाशक्ति के धारक, गुरुदेव का परिचय लिख पाना सहज नहीं है।

महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद नामक शहर में धर्मरत्न श्री इन्दरचन्द जी पापड़ीवाल (वर्तमान में संघस्थ मुनिश्री सुनम्रसागर जी महाराज) का घर–आँगन सब खिल उठा। सौभाग्यवती माता कंचनदेवी (वर्तमान में संघस्थ क्षुल्लिकाश्री सुध्येयमती माताजी) का प्रथम मातृत्व धन्य हो गया कि उनकी कोख से १९–३–१९७१ को ऐसे बालक ने जन्म लिया, जो विश्व के कल्याण को साधने वाला महान साधक बन गया।

नवजात बालक का नाम क्या रखा जाये? परिवार में इस विषय पर बहुत ऊहापोह हुये। सभी ने मिल कर पहले **यशवन्तकुमार** यह नाम रखा। दादी माँ (समाधिस्थ आर्यिकाश्री सुवर्णमती माताजी) इस नाम से सहमत नहीं हुयी। उन्होंने बालक को **मनोजकुमार** कहना प्रारम्भ किया। परिवार के कुछ सदस्यों को यह नाम अच्छा नहीं लगा। अतः उन्होंने बालक को **जयकुमार** यह संज्ञा दी। माता का प्यार बालक को **जयेश** कह कर पुकारने लगा। भाई, बहन और मित्रों के मध्य में यह नाम भी लम्बा था। अतः उन्होंने तो हमेशा **जय** कह कर ही पुकारा। इस प्रकार उस बालक ने बचपन में ही अनेक नामों को सुशोभित किया। जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जयकुमार भी स्वयं अपने जीवन को आदर्शमयी बना कर दूसरों को आदर्श की शिक्षा देने लगा। **कहो मत, करके दिखाओ**–यह नीति जयकुमार के जीवन का आदर्श थी।

संघर्ष उत्कर्ष का बीज है–यह उक्ति चरित्रनायक के जीवन पर सार्थक होती दिखायी देती है। जयकुमार को बचपन से ही नासूर नामक अक्षिरोग था। डेढ़ वर्ष की आयु पर्यन्त ही उनकी तीन बार शल्यचिकित्सा हो चुकी थी। पहली शल्यचिकित्सा के समय तो जयकुमार मात्र तीन दिन के थे। पन्द्रह वर्ष की आयु पर्यन्त छह बार नेत्रों की शल्यचिकित्सा हो चुकी थी।

एक बार चिकित्सकों ने माता कंचनबाई को सलाह दी कि बालक बहुत कमजोर और नेत्रशक्ति से हीन है। अतः इसे रोज एक/दो अण्डे खिलाये जाये। इससे इसका जीवन बच

जायेगा। अन्यथा, यह बालक अकालमरण को प्राप्त कर सकता है। माँ ने ओजपूर्ण शब्दों में कहा कि मुर्गी के होने वाले बच्चे को मार कर मैं अपने बच्चे को जीवित रखना नहीं चाहती। मेरे बेटे के भाग्य में अल्पायु और मेरे भाग्य में पुत्रसुख का अभाव ही लिखा हो तो विधि के इस लेख को कौन मिटा सकता है? यदि मेरा बेटा मर जाता है तो मैं दो दिन रो लूँगी, किन्तु मुर्गी के बेटे को मार कर मैं प्रसन्नता प्राप्त नहीं करना चाहती।

पाँच वर्ष तक भी जयकुमार ठीक से बैठ नहीं पाया। तब चिन्तित माता-पिता ने चिकित्सकों की शरण ग्रहण की। चिकित्सकों ने बताया कि बालक की रीढ़ की हड्डी कमजोर होने से बालक बैठ नहीं पा रहा है। जीवन भर सम्भवतः यह ठीक से नहीं बैठ पायेगा। आज भी आचार्यश्री की आँखें और कमर-ये दोनों अंग कमजोर हैं, किन्तु उनके आत्मबल की कितनी प्रशंसा की जाये कि वे सोलह-सोलह घण्टों तक अध्ययन करते हुये पाये जाते हैं। उनकी सहिष्णुता जगत् को यह शिक्षा प्रदान करती है कि लगन सच्ची हो तो प्रतिकूलतायें भी अनुकूलताओं में परिवर्तित हो जाया करती हैं तथा किसी भी क्षेत्र में सफलता पाने के लिये शारीरिक बल और बाह्य व्यवस्थाओं से अधिक आत्मबल आवश्यक होता है।

बाल्यकाल से ही जयकुमार की बुद्धि अतिशय तीक्ष्ण थी। पाठ्यविषय कितना ही कठिन क्यों न हो, उनके बुद्धिवैभव के कारण वह सरल हो जाया करता था। एक बार याद किया हुआ प्रकरण उन्हें सदा के लिये याद रह जाता है। परम पूज्य युगनायक, आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज उनके मस्तिष्क को कम्प्युटर की उपमा दिया करते थे। वाक्चातुर्य तो उन्हें मिला हुआ सृष्टि का अनोखा उपहार ही था। **मूर्ति लहान पण कीर्ति महान** यह उक्ति उन पर अक्षरशः घटित हुआ करती थी। विद्याध्ययन की लगन तथा प्रत्युत्पन्नमति के कारण वे अपने इष्ट-मित्रों में सर्वप्रिय थे।

साधु-सन्तों की वैयावृत्ति करना तथा दीन-अनाथों की सेवा-सुश्रुषा करना उनका स्वाभाविक गुण था। धार्मिक संस्कार तो जैसे उनमें पूर्वभव के ही अनुगामी थे। निरन्तर गृहत्याग करने के लिये आपका मन छटपटाया करता था। यही कारण है कि आपका लौकिक अध्ययन अधिक नहीं हो पाया।

छठीं, सातवीं तथा आठवीं कक्षा की पढ़ाई के लिये आपको बाहुबली (कुम्भोज) के बाल-ब्रह्मचर्याश्रम में रखा गया। उस समय श्रीक्षेत्र पर परम पूज्य आचार्यश्री समन्तभद्र जी महाराज विराजमान थे। वे आगम के तलस्पर्शी विद्वान तथा ज्येष्ठ सन्त थे। उनकी वन्दना करने के लिये अथवा उनसे शिक्षा पाने के लिये भी साधुओं का आगमन इस क्षेत्र पर हुआ करता था। अतः माता-पिता से दूर रहने का आपको कभी दुःख नहीं हुआ। आप तो गुरु-चरणों में रह कर अत्यानन्द में थे। आचार्यश्री का स्नेह आपको पुनः पुनः उनके चरणों में ले जाया करता था। आप भी गुरुदेव की सेवा कर पुण्यार्जन कर रहे थे। विद्यालय से अवकाश पाने के उपरान्त आप अपना अधिकांश समय गुरुचरणों में ही व्यतीत किया करते थे। गुरुसंगति आपकी पात्रता के विकास में कारण बनी। वही पात्रता का विकास आपकी संयमयात्रा का मुख्य कारण बना।

एक दिन विद्यालय में जयकुमार का ओजपूर्ण भाषण हुआ। उस कार्यक्रम में आचार्यश्री

समन्तभद्र जी महाराज का मंगल सानिध्य प्राप्त था। आचार्यश्री जयकुमार के भाषण को सुन कर बहुत प्रभावित हुये। उन्हें उस बालक में धर्म का भावी कर्णधार दिखाई देने लगा।

सायंकाल के समय जब जयकुमार गुरुवन्दना के लिये पहुँचे तो गुरुदेव ने कहा-आप होनहार बालक हैं। आप यदि अपने आपको धर्म को सौंप देते हो तो आपका तो भला होगा ही, साथ में अनेक भव्य जीवों का भी भला होगा। गुरुमुख से इतनी बड़ी बात सुन कर जयकुमार अभिभूत हो उठे। एक बार मन से मन के तार मिलने के बाद कौन बुद्धिमान विलम्ब करेगा? जिसे गुरुकृपा मिल जाती है, उसे तो मोक्षमार्ग ही क्या? साक्षात् मोक्ष ही मिल जाता है। जयकुमार शीघ्र ही श्रीफल लेकर आया और गुरुचरणों में समर्पित कर बोला-हे गुरुदेव! मैं आपके श्रीचरणों में नतमस्तक हूँ। मुझ पर अनुग्रह करते हुए आप मुझे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत प्रदान कीजिये। गुरुदेव ने कहा-बेटा! अभी तुम बहुत छोटे हो। जयकुमार ने कहा-गुरुदेव! आप जैसे महान अनुभवी के श्रीचरणों का आश्रय पाकर मैं अपने आप ही बड़ा बन जाऊँगा। गुरुदेव को व्रत देने में कुछ संकोच-सा हो रहा था। अतः उन्होंने टालने की दृष्टि से कहा कि तुम्हारे माता-पिता यहाँ नहीं हैं। तुम उन्हें आने दो। उनके आने पर व्रत-विषयक चर्चा करेंगे। किन्तु जयकुमार कहाँ मानने वाला था। उसने हाथ जोड़ कर कहा-गुरुदेव ! मेरी तो माता भी आप हैं और पिता भी। आपके अतिरिक्त मेरा इस दुनियाँ में कोई नहीं है। अतः मेरा उद्धार करने में विलम्ब मत कीजिये और मुझे यह महानतम व्रत प्रदान कर मुझ पर आपका आशीर्वाद बनाये रखिये।

ऐसे अनूठे शिष्य को प्राप्त करके कौन सद्गुरु आनन्दित नहीं होगा? फिर भी, आचार्यश्री अचानक इतने बड़े व्रत को देने तैयार नहीं हुये। उन्होंने समझाया कि अभी आप केवल आयु के पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से रहने का नियम कीजिये। उचित समय आने पर आगे की चर्चा करेंगे।

जयकुमार का मन नहीं मान रहा था, किन्तु गुरु आज्ञा अनुलंघ्यनीय होती है। यही सोच कर उसने आयु के पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहने का नियम कर लिया। उसी दिन उसने कन्दमूलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, शूद्रजलत्याग आदि अनेक प्रकार के नियम ले लिये। उसी दिन जयकुमार ने आजीवन जूते-चप्पल आदि का त्याग कर दिया। उस समय जयकुमार की आयु मात्र दस वर्ष की थी। गृहीत नियमों का परिपालन करते समय उनमें कभी प्रमाद नहीं आया।

आपने दसवीं की परीक्षा दी। परीक्षा के दूसरे ही दिन आपने गुरुचरणों में पहुँचने का मानस बनाया। आपने माता-पिता से अनुमति चाही। २८-४-१९८६ को आपने प्रातः पाँच बजे घर छोड़ा और गुरु-चरणों का वरण किया। उस समय आपकी आयु पन्द्रह वर्ष एक माह और नौ दिनों की थी। अल्पायु में इस प्रकार का अद्भुत साहस प्रशंसनीय है।

जयकुमार ने अक्षयतृतीया (ईसवी सन् १९८६) के पावन अवसर पर नेरी में (जलगाँव) आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण किया। गुरुदेव ने उनका नाम ब्रह्मचारी जैनेन्द्रकुमार रखा। उस दिन से आपने धोती-दुपट्टा इन दो वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों का भी त्याग कर दिया। धोतियों की संख्या भी परिमित कर केवल तीन ही रखी। आजीवन के लिये संकल्पपूर्वक घर का परित्याग कर दिया। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी के दिन आपने

अतिशय क्षेत्र कचनेर (औरंगाबाद) में सातवीं प्रतिमा का व्रत भी ग्रहण कर लिया। अस्वस्थ अवस्था में सायंकाल में जल की छूट रख कर आपने शेष काल में एकाशन का नियम भी लिया। दिनांक १०-३-१९८७ को आपने गुरुदेव से निवेदन किया कि आपका दीक्षादिवस दिनांक १३-३-१९८७ को आ रहा है। उसी दिन आप मुझे जिनदीक्षा दीजिये। गुरुदेव ने कहा कि मैं क्षुल्लक दीक्षा दे सकता हूँ। शिऊर नगर में दिनांक १३ मार्च १९८७ को जयकुमार क्षुल्लकश्री रवीन्द्रसागर जी महाराज बन गये।

क्षुल्लक अवस्था में आपका वर्षायोग न्यायडोंगरी (नाशिक) में हुआ था। आपकी चारित्रनिष्ठा से प्रभावित होकर गुरुदेव ने २१-१०-१९८७ को आपको ऐलक दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के उपरान्त आपका नाम ऐलकश्री रूपेन्द्रसागर जी महाराज रखा गया। आप गुरुचरणों से निकल कर अपने दादागुरु परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के श्रीचरणों में पहुँचे। संघ के साधुओं की वैयावृत्ति करना, ध्यान-अध्ययन में रत रहने का प्रयत्न करना आदि वृत्ति के कारण ऐलक जी ने संघ का मन मोह लिया। वैशाख शुक्ला सप्तमी (११ मई १९८९) के पावन अवसर पर प्रातःकालीन शुभ बेला में ऐलक जी की मुनिदीक्षा सम्पन्न हुयी। नवदीक्षित मुनि को गुरुदेव ने **सुविधिसागर** नाम प्रदान किया।

दीक्षा के उपरान्त आपकी ज्ञानपिपासा अत्यधिक तीव्र हो गयी। सागवाड़ा में हुये पहले वर्षायोग में ही आपने गुरु के आदेश से ज्योतिष में कुण्डली का अध्ययन किया तथा स्वर-ज्योतिष पढ़ा। उस वर्षायोग में गुरुदेव ने आपको आयुर्वेदशास्त्र और मन्त्रशास्त्र के अनेक रहस्यों से परिचित कराया। गुरुचरणों में बैठ कर अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी बन कर आप चारों अनुयोगों का अध्ययन करते थे। वर्षायोग के उपरान्त आपने गुरु के सानिध्य को छोड़ कर ज्ञान की प्राप्ति के साधन जुटाने प्रारम्भ किये। इसके फल से आप शीघ्र ही संस्कृत और प्राकृत भाषा के अध्येता बन गये। आपने अपने बल पर आगम, अध्यात्म, न्याय और आचारशास्त्रों का अध्ययन किया। विचारों की परिशुद्धि के लिये आप पुराणशास्त्रों का स्वाध्याय करते थे।

आप चारों ही अनुयोगों में पारंगत हैं। आपने लौकिक विषयों का भी भली-भाँति अध्ययन किया है। छन्द, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र, योगचिकित्सा, चुम्बकचिकित्सा, एक्युप्रेशरचिकित्सा, एक्युपंचरचिकित्सा, मालिशचिकित्सा, रेकी आदि का भी आपने विधिवत् अध्ययन किया है। अजैन ग्रन्थों का अध्ययन भी आपने अत्यन्त लगन से किया है। चारों वेद, अठारह पुराण, कुछ उपपुराण, एक सौ आठ उपनिषद, बीस स्मृतियों का अध्ययन कर आपने वैदिक ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया। गीता की सात संस्कृत टीकाओं का अध्ययन आपने किया है। कुराण शरीफ और कुराण हदीस भी आपने पढ़ा।

अन्य धर्मों के प्रमुख ग्रन्थ भी आपने पढ़े। इस प्रकार अध्ययन के क्षेत्र में आपने बहुत उन्नति की। आप तुलनात्मक अध्ययन के पक्षधर हैं। किसी मत की आलोचना करने की अपेक्षा आप उसे समझने में अधिक रुचि रखते हैं। आपका मानना है कि जैनाचार्यों ने अपने अनुभव के बल पर जिनेन्द्रवाणी का जो लिपिकरण किया है, वह पूर्णरूप से यथार्थ है। समयानुसार प्रतिपादन करने की शैली में परिवर्तन हो जाये तो जैनधर्म विश्वधर्म बन कर वैश्विक समस्याओं का निराकरण करने में सहयोगी बन सकता है।

जिनवाणी की सेवा करने वाले साधुओं में आपका नाम शीर्षस्थ है। श्रावकों को आप स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हैं। समाज को प्रकाशक के द्वारा निर्द्धारित किये गये मूल्य से आधे मूल्य में ग्रन्थ उपलब्ध हो-ऐसे प्रयत्न आपने अनेक स्थानों पर किये। आप समस्त श्रावकों को एक समान मानते हैं। अमीर-गरीब, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध आदि भेद आपके चरणों में नहीं पाया जाता। यही कारण है कि जो एक बार आपके चरणों में जुड़ जाता है, वह आपका होकर रहता है। जिनवाणी की सेवा आपका मूल ध्येय है।

यह सब सच होते हुए भी आप अपने आवश्यक कर्त्तव्यों के परिपालन में भी उतने ही नियमबद्ध हैं। आपका आहार शुद्ध और सात्विक है। यही कारण है कि आपको औषधियों के सेवन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। शिष्यों को भी आप यही समझाते हैं कि भ्रमरवृत्ति से आहार करो तो कभी कष्ट नहीं होगा। भोजनसंयम को आप सकलसंयम का मूलस्तम्भ मानते हैं। गुरुदेव ने आपकी पात्रता को विलोक कर १९९७ में ही आपके **आचार्यपद** की घोषणा कर दी। गुरुदेव का आदेश **रत्नत्रय निधि द्वार** नामक ग्रन्थ में प्रकाशित भी हो गया, किन्तु आपने उस पद का कभी प्रयोग नहीं किया।

दिनांक २०-६-२००४ का वह शुभ दिन भी आया। नरवाली (राजस्थान) में परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज ने अपने सुयोग्य शिष्य पर आचार्यपद के संस्कार किये। यह महानतम आश्चर्य था कि उस समय आचार्यश्री एक पाटे पर विराजमान थे और आचार्यपद को ग्रहण करने वाला शिष्य सिंहासन पर आरूढ़ था। मन्त्रसंस्कार के मध्य जब पैरों में चन्दन के द्वारा तिलक निकालने का अवसर आया तब गुरुदेव ने स्वयं ही अपने शिष्य के पैरों पर तिलक लगाया। स्वयं ने छत्तीस मूलगुणों के संस्कार किये। प्रतिष्ठाचार्यश्री महावीर जी जैन (गिंगला वाले), स्थानीय प्रतिष्ठाचार्यश्री कारुलाल जी जैन तथा संघसंचालिका मैनाबाई ने सिंहासनशुद्धि, पादपूजन आदि सम्पूर्ण संस्कार किये। प्रवचन में आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज ने एक महत्त्वपूर्ण रहस्य को उद्घाटित किया कि **हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालक पद पर नियुक्त करते हैं।** अर्थात् गुरुदेव ने उस दिन केवल आचार्यपद ही नहीं दिया था, अपितु उत्तराधिकारीत्व भी उद्घोषित किया था।

आचार्यश्री का वह प्रवचन आचार्यश्री के आशीर्वाद से प्रकाशित होने वाली **अंकलीकर वाणी** (जुलाई २००४) नामक मासिक पत्रिका में यथावत् प्रकाशित हुआ है। उसी का प्रकाशन **अक्षय-ज्योति** के आचार्यपद विशेषांक (अक्तुबर, २००४) में हुआ है। आपने २००४ का वर्षायोग ओबरी (राजस्थान) में किया तथा वर्षायोग के पश्चात् आप पुनः गुरुदेव के पास खमेरा पहुँचे।

आपने गुरुदेव से निवेदन किया कि प्रायश्चित्तग्रन्थ रहस्यग्रन्थ है। इसका अध्ययन गुरुमुख से हो तो अधिक उचित है। अतः आप मुझे इस ग्रन्थ का अध्ययन करा दीजिये। अपने उत्तराधिकारी को प्रायश्चित्तशास्त्र में पारंगत करने के लिये स्वयं गुरुदेव ने उस शास्त्र का अध्ययन कराया। इस अध्ययन में परम पूज्य आचार्यश्री चन्द्रसागर जी महाराज आपके सहपाठी थे।

ईसवी सन् २००७ में आचार्यश्री का वर्षायोग मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक भूमि मन्दसौर नगरी में हुआ। एक दिन राजीव गाँधी शासकीय महाविद्यालय में कालिदास समारोह का

आयोजन किया गया था। उस कार्यक्रम में आपको भी आमन्त्रित किया गया था। इस कार्यक्रम का आयोजन महाविद्यालय के अतिरिक्त कालिदास अकादमी-उज्जैन तथा मध्यप्रदेश सांस्कृतिक संरक्षक संघ-भोपाल ने किया था। चर्चा का विषय था-**मालवांचल और कवि कालिदास।** कार्यक्रम के अन्त में आपका मांगलिक प्रवचन हुआ। आपने कालिदास के दूतकाव्य पर आधारित जैन दूतकाव्य ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत किया।

प्रवचन के उपरान्त तीनों संस्थाओं के संयुक्त तत्त्वावधान में आपको **विद्या-वाचस्पति** यह अलंकरण प्रदान किया गया। मन्दसौर के वर्षायोग में ही आपने **समग्र जैन ग्रन्थकोश** जैसे संगणक कोश की महानतम रचना की। जैन ग्रन्थों की सुरक्षा के लिये किया गया यह अनुपम उद्यम है। सन् २००९ का वर्षायोग मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान) में सम्पन्न हुआ। गुरुदेव के आदेश को प्राप्त कर आपने वर्षायोग के तत्काल बाद वहाँ से विहार किया। विशाल संघ के साथ मात्र ढ़ाई माह में आपने चौदह सौ किलोमीटर का विहार पूर्ण किया। दिनांक १८-१-२०१० को प्रातःकालीन बेला में आप गुरुचरणों में पहुँचे। उस दिन संघ व समाज ने आपका जो भव्य स्वागत किया, वह चिरस्मरणीय है।

दिनांक २४-१२-२०१० को कोल्हापुर में परम पूज्य आगमकोविद, आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज का प्रातः कालीन बेला में (ब्रह्ममुहूर्त) में समाधिमरण हुआ। २००४ में गुरु महाराज के द्वारा नरवाली में की गयी उद्घोषणा के अनुसार उस दिन से आप उनके पट्टाधीश बन गये। पट्टाचार्यपद की अनुमोदना परम पूज्य स्याद्वादकेसरी, गणधराचार्यश्री कुन्थुसागर जी महाराज तथा परम्परा के लगभग पच्चीस आचार्यों ने की। आपने गुरुदेव की निषेधिका पर दिनांक ७-२-२०११ को तेल, दही, शक्कर और घी इन चार रसों का आजीवन के लिये त्याग कर दिया। दिनांक ७-११-२०११ के दिन आपको गणधराचार्यश्री ने **आर्षमार्ग-शिरोमणि**, पूना समाज ने **तपश्चर्या-चक्रवर्ती** और तामिलनाडू की जैन समाज ने **जिनशासनप्रदीप**, इन उपाधियों से विभूषित किया। अतिशय क्षेत्र पैठन की समाज ने आपको दिनांक ४-७-२०१२ के दिन **आकिंचन्य-श्रमणेश्वर** इस पद से अलंकृत किया।

उसी दिन आपने नमक का आजीवन के लिये त्याग कर दिया और साथ में पाँच फलों का भी आजीवन के लिये त्याग कर दिया। केवल चार अन्न के अतिरिक्त शेष अन्न का त्याग किया। समय-समय पर आप अपने त्याग में अभिवृद्धि करते रहते हैं।

आपका ज्ञान और ध्यान नित्य ही प्रवर्द्धमान रहें, आपके द्वारा की जाने वाली जिनवाणी की सेवा नित्य प्रति प्रगति करती रहें, आपका शिष्यरूपी उपवन निरन्तर हँसता-मुस्कुराता रहें, आपके द्वारा अपूर्व धर्मप्रभावना हों, आपकी अमृतवाणीरूपी गंगा में अवगाहन करके भव्यसमूह शान्ति प्राप्त करें, आपको स्वास्थ्यरूपी समृद्धि की प्राप्ति हों, आपकी कीर्ति जगत्-व्यापिनी बन कर जग के मैल का अपहरण करें, आप दीर्घायु होवें-मैं यही मंगल कामना करती हूँ।

हमारे परम सहयोगी

परम पूज्य मुनिप्रवरश्री सुहितसागर जी महाराज
के चरणों में शत-शत नमन।
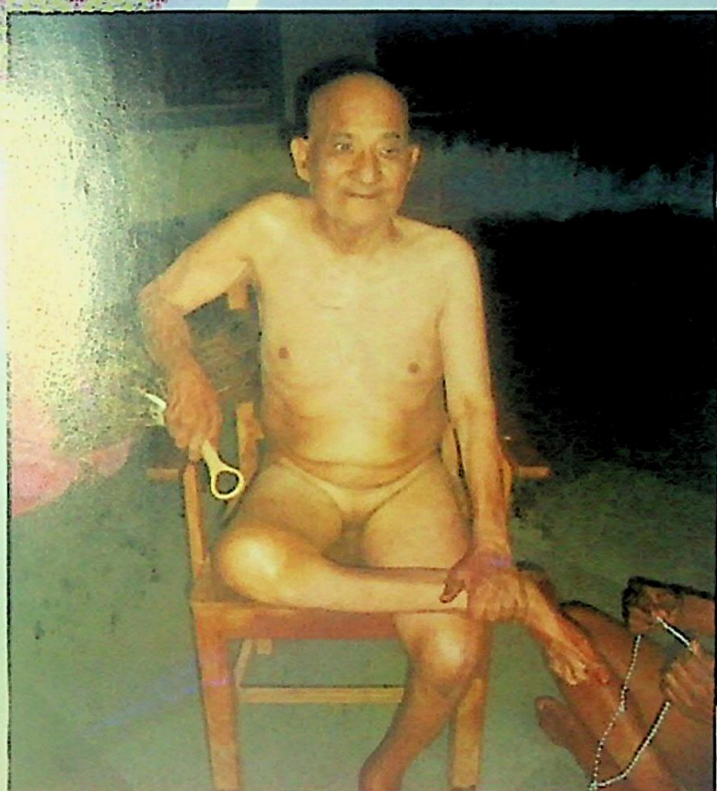
मुनिदीक्षा २३-३-२०१२
फलटन (महाराष्ट्र)

सल्लेखना ३१-३-२०१२
फलटन (महाराष्ट्र)

परमपूज्य मुनिश्री सुहितसागर जी महाराज

विनयावनत

श्रीमती विमलादेवी रतनलाल जी पाटनी
डॉक्टर राजेशकुमार, इंजिनियर नीलेशकुमार,
श्रीमती कश्मिरा जैन एवं समस्त पाटनी परिवार

।। श्रीमदादिमहावीरकीर्तिसन्मतिसुविधिसूरिवरेभ्यो नमः ।।

परम्परानायक

परम पूज्य सम्यक्त्व-शिरोमणि, चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

द्वितीय पट्टाधीश

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

तृतीय पट्टाधीश
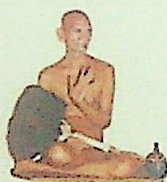
परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

चतुर्थ पट्टाधीश

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

आचार्यपदसंस्कार
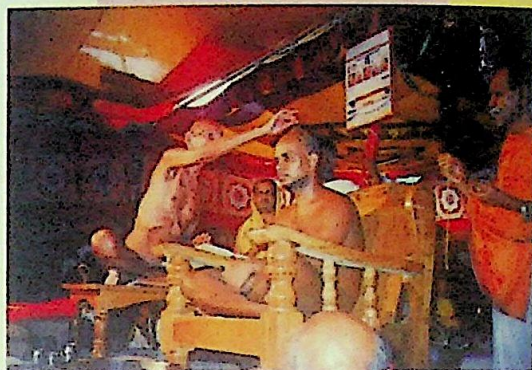
नरवाली (राजस्थान)

20 जून 2004

परम पूज्य महातपोमार्तण्ड, आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज कर-कमलों से मुनिश्री सुविधिसागर जी महाराज का आचार्यपदसंस्कार करते हुए

परम पूज्य आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज ही अंकलीकर परम्परा के

चतुर्थ-पट्टाधीश क्यों ?

卐 आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज ने अपने कर-कमलों से अपने पाँच शिष्यों पर आचार्यपद के संस्कार किये। उन सभी में ये एकमात्र ऐसे आचार्य हैं, जिनका संस्कार करते समय गुरुदेव ने उन्हें सिंहासन पर विठाया और स्वयं पाटे पर बैठे।

卐 गुरुदेव ने स्वयं अपने कर कमलों से पैरों पर चन्दन से तिलकदान क्रिया की।

卐 ये ऐसे इकलौते शिष्य हैं, जिन्हें प्रायश्चित्तशास्त्र स्वयं गुरुदेव ने पढ़ाया।

卐 ये ऐसे इकलौते शिष्य हैं, जिन्हें गुरुदेव के द्वारा सिंहासन प्रदान किया गया।

卐 ये ऐसे इकलौते शिष्य हैं, जिनके उत्तराधिकारित्व की उद्घोषणा 20 जून 2004 को स्वयं गुरुदेव ने अपने श्रीमुख से की थी।

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज की

उद्घोषणा

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी - जुलाई 2004) (अक्षयज्योति - अक्तूबर 2004)

विद्या-अविद्या और बन्ध-मोक्ष विषयों की व्याख्या

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास
के आधार पर

श्री जगदेवसिंह 'सिद्धान्ती'

• • •

ज्ञान का उत्कर्ष विद्या और अपकष है 'अविद्या'। 'अविद्या' कारण है बन्धन का और विद्या मार्ग खोलती है मोक्ष का।

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास मे ऋषि ने विद्या—अविद्या, बन्ध—मोक्ष में जीव की सत्ता, मोक्ष से पुनरावृत्ति, मोक्ष साधन, परमात्मा की व्याख्या, कर्मफल आदि विषयो का वैज्ञानिक युक्तिसगत विवेचन कर ससार के सभी पक्षों को राह दिखायी।

सिद्धान्तो के मर्मज्ञ विद्वान् विचारक ने ऋषि-मन्तव्यो को हृदयंगम कराने का लेख मे सफल प्रयास किया है।

—सम्पादक

• • •

नवम

विद्यां च ऽविद्यां च यस्तद्वेदोभय ७ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
यजुर्वेद ॥ अ० ४०॥ मन्त्र १४॥

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ-ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

अविद्या का लक्षण

अनित्याशुचिदु.खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥
योग द० ॥ साधन पाद ॥ सूत्र ५॥

जो अनित्य संसार और देहादि मे नित्य अर्थात् जो कार्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योग बल से यही देवो का शरीर सदा रहता है—वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है, अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र मे पवित्रबुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दु.ख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा मे आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है, यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है । इसके विपरीत अर्थात् अनित्य मे अनित्य और नित्य मे नित्य, अपवित्र मे अपवित्र और पवित्र मे पवित्र, दु.ख मे दुःख, सुख में सुख

अनात्मा मे अनात्मा और आत्मा मे आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् "वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूप यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूप न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया सा ऽविद्या" जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पडे अन्य मे अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है अर्थात् कर्म-उपासना अविद्या इसलिए है कि वह बाह्य और आन्तर क्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नही, इसी से मन्त्र मे कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु दुःख से पार कोई नही होता अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षण मात्र भी कर्म उपासना और ज्ञान से रहित नही होता इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

अधर्म अज्ञान मे बद्ध हुए जीव की मुक्ति नही होती। जीव के बन्ध और मोक्ष स्वभाव से नही होते किन्तु निमित्त से होते है। स्वभाव से होते तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नही होती। जीव और ब्रह्म स्वरूप से एक नही हैं। नवीनवेदान्तियो का यह कहना सत्य नही कि जीव ब्रह्मस्वरूप होने से परमार्थ मे बद्ध नही तो मुक्ति क्या ? जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण मे आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोग रूप बन्धन मे फँसता, उसके छुडाने का साधन करता, दु.ख से छुटने की इच्छा करता और दुःखो से छूट कर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त हो कर मुक्ति को भी भोगता है। यह कहना मिथ्या हैं कि जीव तो पाप-पुण्य रहित साक्षी मात्र है और शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म है, और आत्मा निर्लेप है, अपितु सत्य यह है कि देह और अन्त'करण जड है उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नही है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी उसको स्पर्श करता है उसी को शीत उष्ण का भान और भोग होता है, वैसे ही प्राण भी जड हैं न उनको भूख न पिपासा किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुधा तृषा लगती है, वैसे ही मन भी जड है न उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष शोक सुख दुःख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियो से अच्छे बुरे शब्दादि विषयो का ग्रहण करके जीव

सुखी दु:खी होता है, वैसे ही अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से सकल्प—विकल्प, निश्चय, स्मरण अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है, जैसे तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती वैसे ही देहेन्द्रिय अन्त:करण और प्राणरूप साधनो से अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख दु:ख का भोक्ता है। कर्मो का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करने वाला जीव है वही कर्मों मे लिप्त होता है, वह जीव है वह ईश्वर नही है। इस लिए जीव साक्षी नही है।

नवीनवेदान्तियो का कहना सत्य नही कि—(१) "ब्रह्म ही एक चेतन तत्त्व है, जीव की पृथक् स्वतन्त्र चेतन सत्ता नही। (२) अन्त.करणावच्छिन्न उपाधि के कारण ब्रह्म ही जीव कहलाता है। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अन्त:-करण मे पड कर जीव संज्ञा हो जाती है। (४) अध्यारोप=अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु को आरोप करके जिज्ञासु को बोध कराना होता। वास्तव मे सब ब्रह्म ही है।" उपर्युक्त चारो बाते मिथ्या है, क्योकि (१) ब्रह्म से जीव की स्वतंत्र सत्ता है, दोनो के धर्मों में भेद हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सत्यसंकल्प आदि गुणो वाला है परन्तु जीव इससे विपरीत एकदेशी, परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अच्छे बुरे गुणो का धारण और कर्मों का करने वाला है। (२) अन्त करणावच्छिन्न ब्रह्म जीव नही हो सकता। सत्यसंकल्प सर्वव्यापक अन्त:-करण मे क्यो बद्ध होवे–कोई कारण नही। (३) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हो ही नही सकता। प्रतिबिम्ब साकार वस्तु का साकार वस्तु मे होता है। ब्रह्म निराकार है तब उस का प्रतिबिम्ब नही हो सकता, जैसा कि आकाश का प्रतिबिम्ब नही। अज्ञान से लोग जल मे आकाश का प्रतिबिम्ब समझते हैं जो कि नीला-नीला दीखता है। यह आकाश का प्रतिबिम्ब नही किन्तु आकाश मे पृथ्वी और जल के कणो का प्रतिबिम्ब है। (४) अध्यारोप करने वाला जीव जब नवीनवेदान्तियो के मत मे ब्रह्म ही है, ब्रह्म ने ब्रह्म मे ही आरोप करके मिथ्या कल्पना क्यो करली ? यह कितना अनर्थ है। चले तो जीव को ब्रह्म बनाने, यहाँ ब्रह्म का स्वरूप ही बिगाड डाला। इस प्रकार के दोष ब्रह्म के नही हैं। मिथ्या सकल्प करने वाले जीवो के है।, जो कि अपने को ब्रह्म माने बैठे है। जीव का ब्रह्म मानना मिथ्या है। जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न अज्ञान और

बन्ध मे कभी नही गिरता, क्योकि अज्ञान परिच्छिन्न एकदेशी अल्प अल्पज्ञ जीव होता है सर्वज्ञ ब्रह्म नही ।

मुक्ति और बन्ध

"मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः" जिसमे छूट जाना हो उस को मुक्ति कहते है । जीव इच्छा पूर्वक दु:ख से छूट कर सुख को प्राप्त होते हैं और ब्रह्म मे रहते है ।

परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म—अविद्या—कुसङ्ग—कुसस्कार-बुरे व्यसनो से अलग रहने और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपात रहित, न्याय धर्म की वृद्धि करने, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढने, पढाने और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनो को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनो से मुक्ति और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा भग करने आदि काम से बन्ध होता है ।

मुक्ति मे जीव ब्रह्म मे रहता है अव्याहतगति अर्थात् उसको कही रुकावट नही, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है । मुक्ति मे जीव का स्थूल शरीर न होने पर भी उसके सत्य सकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब बने रहते है, भौतिक सग नही रहता । जैसे—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राण भवति, मन्वानो मनोभवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्त भवति, अहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति ॥—शतपथ-काण्ड १४ ॥

मोक्ष मे भौतिक शरीर वा इन्द्रियो के गोलक जीवात्मा के साथ नही रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं—जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, सकल्पविकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहङ्कार के अर्थ अहङ्कार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति मे हो जाता है और सङ्कल्प मात्र शरीर होता है । जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियो के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति मे सब आनन्द भोग लेता है ।

जीव की शक्ति मुख्य एक प्रकार की है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, सयोग, विभाग, सयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्ध ग्रहण तथा ज्ञान इन चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति मे भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है। मुक्ति मे जीव का ब्रह्म मे लय अथवा नाश नही होता अन्यथा मुक्ति का आनन्द कौन भोगता ? मुक्ति जीव की यही है कि दुःखो से छूट कर आनन्द स्वरूप सर्वव्यापक अनन्त परमेश्वर मे जीव का आनन्द मे रहना।

१—अभावं बादरिराह ह्येवम् ।। वेदान्त ४-४-१० ।।

२—भावं जैमिनि र्विकल्पामननात् ।। वेदान्त ४-४११ ।।

३—द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।। वेदान्त ४-४-१३

इन वेदान्त शारीरक सूत्रो मे १—व्यास जी के पिता बादरि मुक्ति मे जीव का और उसके साथ मन का भाव मानते है अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नही मानते। २—जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्म शरीर, इन्द्रियो और प्राणादि को भी विद्यमान मानते है अभाव नही। ३—व्यास मुक्ति मे भाव और अभाव इन दोनो को मानते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति मे बना रहता है। अपवित्रता पापाचरण, दुख अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।।

कठोपनिषद् अ० २।व० ६। मं०१।।

जब शुद्ध मन युक्त पांच ज्ञानेन्द्रिया जीव के साथ रहती हैं, बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सो ऽपिपासः सत्यकाम सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्य. स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ।।

छान्दो० प्र० ८खं० १२ मं० ५-६

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ।। य एते ब्रह्मलोके त वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ता: सर्वे च कामा: सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ।।छान्दो० प्र० ८।खं० १२।मं० ५-६

मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोधिष्ठानमात्तो वै सशरीर: प्रियाप्रियाभ्या न वै सशरीरस्य सत: प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्त्यशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत: ।।

छान्दो० प्र० ८। खं १२। मं० १।।

जो परमात्मा अपहृतपाप्मा सर्वपाप—जरा—मृत्यु—शोक—क्षुधा—पिपासा से रहित सत्यकाम सत्य सकल्प है उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिये, जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामो को प्राप्त होता है ।

जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से सब कामों को देखता प्राप्त होता हुआ रमण करता है । जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा मे स्थित होके मोक्ष सुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा को जो कि सबका अन्तर्यामी आत्मा है उसकी उपासना मुक्ति को प्राप्त करने वाले विद्वान् लोग करते हैं इससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं अर्थात् जो जो सकल्प करते है वह वह लोक और वह वह काम प्राप्त होता हैं और वे मुक्त जीव स्थूल शरीर को छोड कर संकल्पमय शरीर से आकाश मे परमेश्वर मे विचरते है । क्योकि जो शरीर वाले होते है वे सासारिक दु ख से रहित नही हो सकते ।

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा है कि हे पूजित धन युक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है और जैसे सिंह के मुख मे बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है इसलिए यह जीव सुख और दु ख से सदा ग्रस्त रहता है, क्योकि शरीर सहित जीवो की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म मे रहता है उसको सांसारिक सुख दु.ख का स्पर्श भी नही होता किन्तु सदा आनन्द मे रहता हैं ।

१ न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति ॥ छान्दो० प्र०८।खं० १५ ॥

२. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति. शब्दात् ॥ वेदान्त द०।४।४।१३

३ यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परम मम ॥ भगवद् गीता ॥

इन उपर्युक्त तीन वचनो से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुन ससार में कभी नही आता—तो यह बात ठीक नही है क्योकि वेद मे इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

२ अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ ऋग्वेद० मं १।सूक्त २४ म १-२

१ हम लोग किस का नाम पवित्र जाने ? कौन नाश-रहित पदार्थो के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है, हम को मुक्ति का सुख भुगा कर पुनः इस ससार मे जन्म देता और माता पिता का दर्शन कराता है ? (२) हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जाने जो हमको मुक्ति मे आनन्द भुगाकर पृथिवी मे पुनः माता पिता के सम्बन्ध मे जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है, वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है । ३ ॥

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ सांख्य अ० १ सू० १५६ ॥

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं । अत्यन्त उच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नही होता किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नही रहती ।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग ॥१॥ न्याय द० १।१।२२

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥२॥
न्याय द० १। १ ॥२॥

जो दु.ख का अत्यन्त विच्छेद होता है वही मुक्ति कहाती है क्योकि जब मिथ्याज्ञान अविद्या, लोभादिदोष, विषय, दुष्टव्यसनो मे प्रवृत्ति, जन्म और दु ख का उत्तर उत्तर के छूटने के पूर्व पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है । यहाँ अत्यन्त शब्द का अर्थ अत्यन्ताभाव नही है किन्तु अत्यन्त का अर्थ बहुत है,

जैसे "अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुख चास्य वर्त्तते" बहुत दु:ख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इसी प्रकार यहाँ भी अत्यन्त शब्द का अर्थ जानना चाहिये। अत: दु.ख का अत्यन्त विच्छेद सदा बना नही रहता।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

मुण्डक ३।खं० २।म० ६॥

जो मुक्त जीव मुक्ति मे प्राप्त होके ब्रह्म मे आनन्द को तब तक भोग के पुनः महा कल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इस की सख्या यह है कि चार लाख बत्तीस सहस्र वर्ष का कलियुग, आठ लाख चौसठ सहस्र वर्ष का द्वापर, बारह लाख छियानवे सहस्र वर्ष का त्रेता और सतरह लाख अठाईस सहस्र वर्ष का कृतयुग होता है। चारो को मिला कर एक चतुर्युगी होती है अर्थात् त्रितालीस लाख बीस सहस्र वर्षो की। ऐसी दो सहस्र चतुर्युगियो का एक आहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रो का एक महीना, ऐसे बारह महीनो का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। दूसरा प्रकार यह है कि उपर्युक्त एक सहस्र चतुर्युगी की सृष्टि आयु और एक सहस्र चतुर्युगी का प्रलय काल। सृष्टि को "अह.' दिन और प्रलय को रात्रि कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का काल एक अहोरात्र हुआ। ऐसे सौ वर्ष = (३६००० छत्तीस सहस्र अहोरात्रो) का एक परान्त काल होता है। इतना समय मुक्ति मे सुख भोगने का है।

मुक्ति से पुन. ससार मे आना ही पडता है, क्योकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं—इनका फल अनन्त नही हो सकता और मुक्ति से लौट कर संसार मे न आवे तो एक समय ससार का विच्छेद हो जाय। यदि यह मानें कि परमात्मा नये जीवो को पैदा करता है तो जीव अनित्य हो जाते हैं, तब उनका नाश भी मानना पडेगा। ऐसी दशा में मुक्ति का सुख कौन भोगे? और मुक्ति मे जाते रहे, लौटें नही तो मुक्ति मे भीड़ भडक्का हो जावे। इसके अतिरिक्त सुख दु:ख सापेक्ष पदार्थ है। यदि दु ख की सत्ता न हो तो सुख का भान भी कुछ नही हो सकता। कटु रस न होवे तो मधुर क्या कहावे और मधुर रस न होवें तो कटु क्या कहावे? क्योकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनो की परीक्षा होती है। ईश्वर अन्त वाले कर्मों का

फल अनन्त देवे तो न्याय नष्ट हो जाय । नये नये जीवो को उत्पन्न जिस कोष से परमात्मा करे और उस कोष मे आय न होवे तो कभी न कभी वह कोष रिक्त हो ही जावेगा । अतः मुक्ति मे जाना और वहाँ से लौटना यही व्यवस्था ठीक है । ब्रह्म मे लय हो जाना तो समुद्र मे डूब मरना है ।

जीव मुक्त होकर भी शुद्ध स्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव वाला होता है । परमेश्वर के सदृश कभी नही । मुक्ति जन्म मरण के सदृश नही अपितु अत्यन्त दीर्घ समय के लिए दुःखो से छूटकर सुख मे रहना साधारण बात नही । प्रतिदिन हमे भूख लगती है, उसको हटाने के लिए भोजन करते हैं तब मुक्ति के लिए यत्न करना तो अत्यावश्यक है ।

मुक्ति के कुछ साधन तो विद्या-अविद्या के प्रकरण मे कहे गये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं—(१) साधन जो मुक्ति चाहे वह जीवनमुक्त अर्थात् जिन मिथ्या भाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख हैं उनको छोड़ सुखरूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे । अधर्म को छोड धर्म अवश्य करें । क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है ।

सत्पुरुषो के सग से विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय अवश्य करे ।

पच कोषो का विवेचन करें। पच कोष ये हैं—

(१) अन्नमय—त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है ।

(२) प्राणमय—जिस मे प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँचो प्राणो हैं ।

(३) मनोमय—इसमे मन के साथ अहकार और पाच कर्मेन्द्रिया हैं ।

(४) विज्ञानमय—इसमे बुद्धि, चित्त और पाच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ।

(५) (आनन्दमय)—इसमे प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है । इन पाचो कोषों से जीव सब प्रकार के कर्म उपासना और ज्ञानादि व्यवहारो को करता है ।

तीन अवस्था—(१) जागृत, दूसरी स्वप्न और तीसरी सुषुप्ति है ।

तीन शरीर—(१) स्थूल जो दीखता है । (२) पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वो का समुदाय सूक्ष्म शरीर

कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि मे भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतो के अशो से बना है और (२) अभौतिक जीव के स्वाभाविक गुण रूप है। यह दूसरा स्वाभाविक शरीर मुक्ति मे भी साथ रहता है। इसी से जीव मुक्ति मे सुख को भोगता है। (३) तीसरा कारण शरीर जिस मे सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। यह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवो के लिये एक समान हैं। (४) तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमे समाधि से परमात्मा के आनन्द स्वरूप मे मग्न जीव होते हैं, इसी समाधि सस्कार जन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति मे भी यथावत् सहायक रहता है। इन सब कोष अवस्थाओं से जीव पृथक् है। यही जीव सब का प्रेरक सब का धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता, भोक्ता कहाता है। विना जीव के ये सब जड़ पदार्थ है।

जब इन्द्रिया अर्थों मे मन इन्द्रियो और आत्मा मन के साथ संयुक्त हो कर प्राणो को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों मे लगाता है। तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मो मे भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है, जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है वही मुक्ति जन्य सुखो को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

(२) दूसरा साधन—वैराग्य है। विवेक से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना।

(३) तीसरा साधन-षट्क सम्पत्ति है अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान (चित्त की एकाग्रता) ये ६ मिलकर तीसरा साधन कहाता है।

४–चौथा साधन—अधिकारी, सम्बन्ध, विषयी और प्रयोजन ये चार अनुबन्ध मिलकर चौथा साधन कहाता है।

५–इनके पश्चात् पाचवा साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार-ये श्रवण चतुष्टय पाँचवाँ साधन है।

सदा तमोगुण और रजोगुण से पृथक् रहकर सत्य अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या और विचारादि गुणो को धारण करे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इनका यथायोग्य व्यवहार करे। नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा

पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे । जिससे भीतर के मन आदि पदार्थों का साक्षात्कार होवे ।

अविद्या ऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ॥योग द० पाद २ । सूत्र ३॥

इन पाच क्लेशो को योगाभ्यास विज्ञान से छुड़ा के ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए ।

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भिन्न प्रकार की मुक्तियां मानते हैं । जैसे मोक्ष शिला, शिवपुर, चौथा आसमान, सातवां आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक, सालोक्य, सानुज्य, सारूप्य और सायुज्य । ये मुक्तियां नही किन्तु एक प्रकार का बन्धन हैं, क्योकि ये लोग स्थान विशेष में मुक्ति मानते है, वहा से छूट जावें, तो मुक्ति छूट गई ।

मुक्ति तो यही है, जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कही अटके नही । न भय, न शङ्का, न दु ख होता है ।

जन्म एक नही, अनेक होते हैं, परन्तु पूर्वजन्म की बातो का स्मरण नही होता, क्योकि जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नही ।इसलिये स्मरण नही रहता । जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है. अत. पूर्व और आगे के जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नही जान सकता । यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नही । ससार मे राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्रय, निर्बुद्धि, मूर्खता, सुख, दु:ख देखकर प्रत्यक्षादि प्रमाणो से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है । जैसे एक वैद्य और अवैद्य को रोग होवे तो वैद्य रोग का कारण जान लेता है । अवैद्य नही जान सकता, क्योकि उसने वैद्यक विद्या नही पढी । हा ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी यह जान लेता है कि मुझ से कोई कुपथ हो गया है । वैसे ही जगत् मे विचित्र सुख दु.ख आदि की घटती-बढती देख के पूर्वजन्म का अनुमान हो सकता है । पूर्वजन्म की व्यवस्था के अभाव मे परमेश्वर पक्षपाती हो जावे, क्योकि विना पाप के दारिद्रय आदि दु ख और विना पूर्व सञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और निर्बुद्धिता क्यो दी ? परमात्मा न्यायकारी है । परमात्मा जीवो के कर्मानुसार ही फल और फल के प्रमुख साधन देता है । जीवो को विना पाप पुण्य के सुख दु.ख देने से परमेश्वर पर दोष आता है । विना कर्म फल की न्याय व्यवस्था से सब जीव अधर्म युक्त हो जावे और धर्म क्यों करे ?

इसलिए पूर्वजन्म के पाप पुण्य के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के अनुसार भविष्यत् जन्म होते हैं। सब जीव स्वरूप से एक समान हैं, परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं। मनुष्य का जीव पश्वादि मे और पश्वादि का मनुष्य के शरीर मे और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है। जब पाप बढ जाता पुण्य न्यून होता है तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानो का शरीर मिलता है। जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का जन्म होता है। इसमे भी पुण्य पाप के उत्तम मध्यम निकृष्ट होने से मनुष्यादि मे भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्री वाले होते है और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर मे भोग लिया है पुन. पाप पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर मे आता और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर मे आता है।

जब शरीर से निकलता है, उसीका नाम "मृत्यु" और शरीर के साथ सयोग होने का नाम 'जन्म" है। जब शरीर छोड़ता है तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु मे रहता है। पश्चात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमश. वीर्य मे जा, गर्भ मे स्थित हो, शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हो तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हो तो पुरुष शरीर मे प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ स्थिति के समय स्त्री पुरुष के शरीर से सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण मे तब तक जीव पड़ा रहता है जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नही पाता, क्योकि उत्तम कर्मादि करने मे मनुष्यो मे उत्तम जन्म और मुक्ति मे महाकल्प पर्यन्त जन्म मरण दुखो से रहित होकर आनन्द मे रहता है।

मुक्ति अनेक जन्मो मे होती है क्योकि—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥
> मुण्डक २। खं० २। मं० ८ ॥

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञान रूपी गाँठ कट जाती, सब सशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते है तभी उस परमात्मा जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है उसमे निवास करता है। मुक्ति मे जीव की पृथक् सत्ता रहती है, जो परमेश्वर मे मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे और मुक्ति के सब साधन निष्फल हो जाये। वह तो मुक्ति नही किन्तु जीव का प्रलय समझना चाहिये। जब जीव परमेश्वर की आज्ञा पालन उत्तम कर्म सत्सग योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है वही मुक्ति को पाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।

तैत्तिरी० ब्रह्मानन्द वल्ली। अनु० १

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा मे स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा को जानता है वह उस व्यापक ब्रह्म मे स्थित हो के उस "विपश्चित" अनन्त विद्या युक्त ब्रह्म के साथ सब कामो को प्राप्त होता है यही मुक्ति कहाती है।

जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म मे स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तो के साथ मिलता, सृष्टि विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरो में अर्थात् जितने लोक ये दीखते है और नही दीखते उन सब मे घूमता है। वह सब पदार्थो को जो उसके ज्ञान के आगे हैं देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उस को सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है। यही सुख विशेष स्वर्ग और विषय तृष्णा मे फँसकर दु:ख विशेष भोग करना नरक कहाता है। "स्व:" सुख का नाम है "स्व: सुख गच्छति यस्मिन् स स्वर्ग:" "अतो विपरीतो दु खभोगो नरक इति" जो सांसारिक सुख है वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्त से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है। उससे विपरीत दु.ख भोग को नरक कहा जाता है। सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा और दु.ख का वियोग होना

चाहते हैं, परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा, क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—

छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति।

जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है, वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है। देखो मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति।

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥२॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥३॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्॥४॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥५॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥६॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥७॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥८॥

मनुस्मृति—अ० १२। श्लोक ८,९,२६,३१,३२,३३,३८,४०॥

अर्थात् यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी और शरीर से किये को शरीर अर्थात् सुख दुःख को भोगता है॥१॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्री गमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म, वाणी से किये पाप कर्मों से पक्षी

और मृगादि तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तमः और जब रागद्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये । ये तीन प्रकृति के गुण सब ससारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते है ॥३॥

जो वेदो का अभ्यास. धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियो का निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है । यही सत्त्व गुण का लक्षण है ॥४॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, अब आरम्भ मे रुचिता, धैर्यत्याग, असत्कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयो को सेवा मे प्रीति होती है तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझे मे वर्त्त रहा है ॥५॥

जब तमोगुण का उदय और अन्य दोनों का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापो का मूल बढता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिकता । अर्थात् वेद और ईश्वर मे श्रद्धा का न रहना, भिन्न अन्त:करण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव किन्ही व्यसनो में फंसना होवे तव तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानना चाहिये ॥६॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ सग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म की सेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥७॥

अब जिस जिस गुण से जिस जिस गति को जीव प्राप्त होता है उस उस को आगे लिखते हैं—

जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणी होते है वे नीच गति को प्राप्त होते हैं । इन प्रत्येक गुणो की भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन तीन प्रकार की गति होती हैं ॥८॥

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त वेग से जिस-जिस प्रकार जीव कर्म करता है उस उसको उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है । जो मुक्त होते है

वे गुणातीत अर्थात् सब गुणो के स्वभावो मे न फसकर महायोगी हो के मुक्ति का साधन करें क्योकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥ योगद० पा० १, सूत्र २-३॥

मनुष्य रजोगुण तमोगुण युक्त कर्मों से मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्धसत्त्वगुण युक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्म युक्त कर्म इनके अग्र भाग मे चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप मे जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥

इत्यादि साधन मुक्ति के लिए और करें और—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥

—सांख्य द० । अ० । १ सूत्र १ ॥

जो आध्यात्मिक अर्थात् शरीर सम्बन्धी पीडा, आधिभौतिक जो दूसरे प्राणियो से दु खित होना, आधिकदैविक जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन इन्द्रियो की चञ्चलता से होता है इस त्रिविध दु.ख को छुडाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है ।

टिप्पणियां

१. कर्म का ही आन्तरिक भेद उपासना है। आन्तरिक क्रिया विशेष होने से ज्ञान विशेष नही है। अत' कर्म और उपासना को मन्त्र मे अविद्या शब्द से कहा गया हैं । परन्तु मृत्यु दु.ख से पार करने के लिए कर्म और उपासना अनिवार्य हैं ।

२. मुक्ति का साधन केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल उपासना नही है। अपितु शुद्धकर्म, शुद्ध उपासना और शुद्ध ज्ञान तीनों के सहभाव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। कर्म की अवहेलना नही की जा सकती ।

३ मुक्ति मे जीव का संकल्पमय शरीर होता है । इसका यह अभिप्राय नही कि जब सकल्प किया तब ही स्थूल शरीर बना लिया, अपितु संकल्प का करना मन का धर्म है अतः मुक्ति मे जीव का दिव्य मानसिक शरीर होता है। इसी सकल्प के द्वारा जीव मुक्ति के आनन्द को भोगता है।

४. मुक्ति स लौटने के मन्त्रो पर ऋषि दयानन्द ने स्वतः प्रमाण वेदके सम्मुख आर्ष ग्रन्थो की भी वेद विरुद्ध होने से प्रबल शब्दों मे उपेक्षा की है।

५. "न च पुनरावर्त्तते"–(छान्दो०) और "अनावृत्तिः शब्दात्" (वेदान्त द०) की नवीनवेदान्तियो ने मुक्ति से न लौटने के पक्ष मे ढाल ग्रहण की। ऋषि दयानन्द ने "कस्य नून——और अग्नेर्वय · ···ऋग्वेद के दो मन्त्रो से इस ढाल का खण्डन कर दिया। इससे एक बहुत बड़ा उपकार यह हुआ कि आर्ष ग्रन्थो मे भी वेद विरुद्ध वचन का त्याग करने का साहस विद्वानो को हुआ। यदि इन उपनिषद् और दर्शन मे आये "आवर्तन" और अनावृत्ति शब्द का नवीनवेदान्ती शुद्ध अर्थ करते तो ऐसे आग्रह की आवश्यकता न होती। "आवर्त्तन" और "आवृत्ति" का अर्थ है अभ्यास, बार बार, चक्र। "आवर्त्तते" के साथ "न" पृथक् है और "आवर्त्तते" से पूर्व सूचक मिला हुआ ही है, अतः "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" एक ही भाव को कहते हैं। इनका सीधा अर्थ यह है कि मुक्ति प्राप्त होने पर संसार की भान्ति मुक्ति काल मे जन्म-मरण का अभ्यास नही होता। मुक्ति काल मे जन्म-मरण का बार-बार चक्र नही चलता। इसका इतना ही अर्थ है, परन्तु मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर इन शब्दो "न आवर्त्तते" और "अनावृत्ति" की गति ही नही यदि नवीनवेदान्ती इस सरल और स्पष्ट अर्थ को लेते तो आर्ष ग्रन्थो के शुद्ध भाव को प्रकट कर देते। मिथ्या अर्थ करने से उनके मिथ्या अर्थ का खण्डन करना आवश्यक था।

६. "अत्यन्त" शब्द का अर्थ ऋषि ने "बहुत" किया यह ठीक है। यह सर्वथा ग्राह्य है। इसी समुल्लास के अन्त मे सांख्य दर्शन के प्रथम सूत्र मे यह बात स्पष्ट है—

"तदत्यन्तदु खनिवृत्ति रत्यन्तपुरुषार्थ." अर्थात् दु.ख का अत्यन्त छुटकारा अत्यन्त पुरुषार्थ से होता है, यहाँ "पुरुषार्थ" शब्द के साथ आये "अत्यन्त" शब्द का अर्थ सब को "बहुत' ही करना पड़ता है। तब इसी भान्ति "दुःख निवृत्ति" के साथ पढ़े हुये "अत्यन्त" शब्द का भी यही अर्थ होता है। मनुष्य का पुरुषार्थ ससीम ही रहता है चाहे जितना बढे, सीमा से बाहर नही जा सकता। इसी प्रकार दु.ख का छुटकारा भी सीमा तक ही होगा। सीमा से अधिक नही। इसीलिये न्याय दर्शन मे "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" कहा है अर्थात् दु.ख से

अत्यन्त छुटकारे को मुक्ति कहते हैं । जैसे मोक्ष का अर्थ छुटकारा है वैसे ही "निवृत्ति" का भी है । यदि न्याय दर्शन को यह स्वीकार होता कि मुक्ति के पश्चात् दु:ख कभी नहीं होगा तो "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: की जगह "तदभावोऽपवर्ग." लिखते । "विमोक्ष" लिखा "अभाव" नही । "विमोक्ष" शब्द ही अपने अर्थ को स्पष्ट करता है । मोक्ष का अर्थ छुटकारा है । यद्यपि सुषुप्ति और समाधि मे भी दु:ख से मोक्ष होता है । परन्तु वह थोडी देर मे फिर आ जाता है इसलिए न्याय मे मोक्ष ही नही कहा । और यदि 'विमोक्ष' कहते अर्थात् विशेष छुटकारा, तो प्रलय काल मे विशेष छुटकारा होता है, तो वहाँ लक्षण व्याप्त हो जाता । इस दोष को भी दूर करने के लिये "अत्यन्तविमोक्ष" कहा । अर्थात् ३६ हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का जितना समय है उतने लम्बे काल तक मुक्ति से जीव नही लौटता अर्थात् मुक्ति के इस समय मे दु ख की आवृत्ति नही होती । मनुष्य की आयु का मान १०० वर्ष माना गया है । इसी भान्ति ब्रह्मलोक प्राप्ति की आयु भी १०० वर्ष है । सृष्टि की आयु और प्रलय की आयु ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष है । यह ब्रह्मलोक=मोक्ष मे रहने का एक दिन रात्रि है । जैसे १०० वर्ष मे ३६००० दिन रात्रि होते हैं वैसे ही ब्रह्मलोक=मोक्ष मे आनन्द भोगने के भी १०० वर्ष होते हैं । अत मुक्ति के १०० वर्ष सृष्टि और प्रलय के ३६००० गुणित हो गये । यही "अत्यन्त विमोक्ष" है । यही "अनावृत्ति" है । यही "न आवर्त्तते" है । जीव के साधन और सामर्थ्य ससीम हैं तो उन साधनो से उत्पन्न फल भी ससीम रहेगा, असीम नही हो सकता ।

७. जीव को इन्द्रियजन्य ज्ञान एक काल मे अनेक नही हो सकते, क्योकि उनमे मन की सन्निधि आवश्यक है । मन एक समय मे एक ही इन्द्रिय के साथ सयुक्त हो सकता है । परन्तु जीव को केवल मानस ज्ञान मे यह बन्धन नही । तब जीव एक काल मे अनेक ज्ञानो की प्राप्ति और स्मरण करता है ।

८. वर्त्तमान जन्म इससे पूर्व अनेक जन्मो के कर्मों के अनुसार होता है, केवल पूर्वजन्म मात्र से नही । इसी भान्ति भविष्यत् जन्म भी वर्तमान तथा पूर्व जन्मो के कर्मों के अनुसार मिलेगा ।

विशेष—ये टिप्पणियाँ ऋषिदयानन्द के मन्तव्य के अनुसार है, स्वतत्र नही ।

*

तन्त्रोक्त 'शब्द-ब्रह्म'
वर्ण-बीजाक्षर-साधना

५१ मातृकाओं
वर्णों
अक्षरों की साधना

प्रकाशक : परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

'अ-क-थ'-त्रिकोणात्मक श्री श्री गुरु-चक्र की जाग्रति
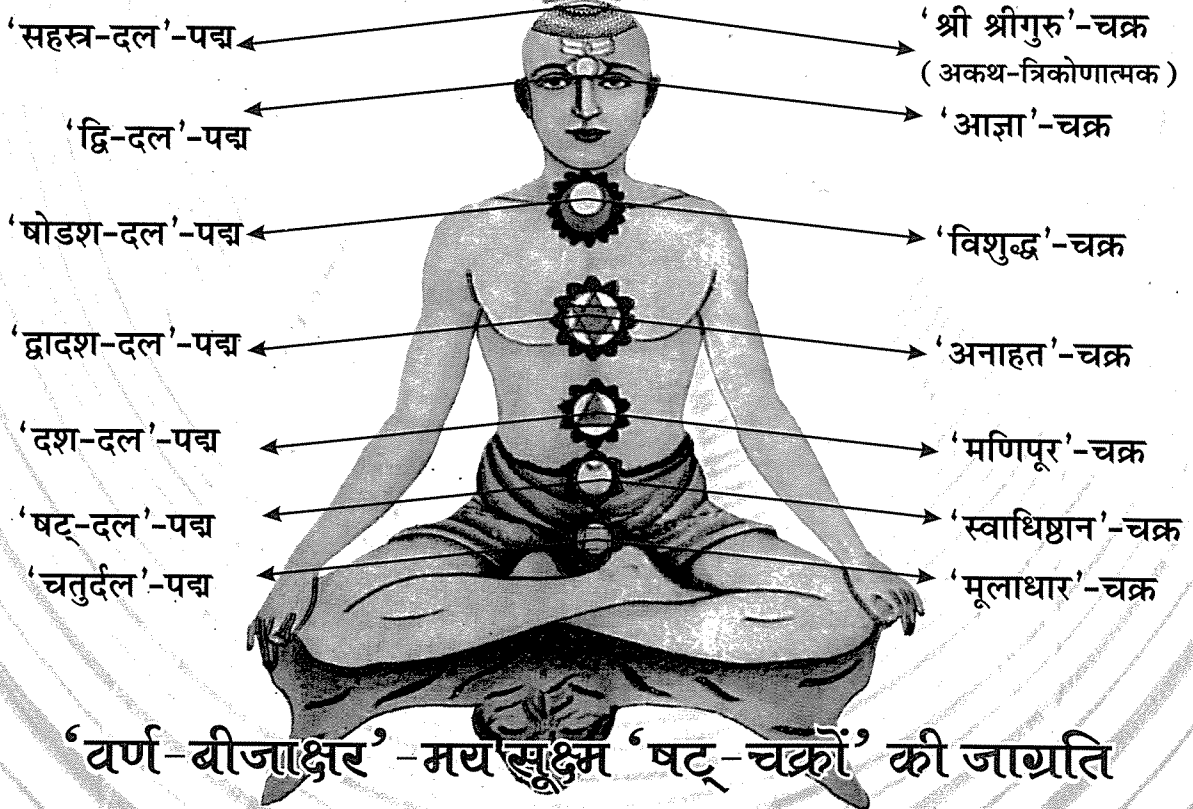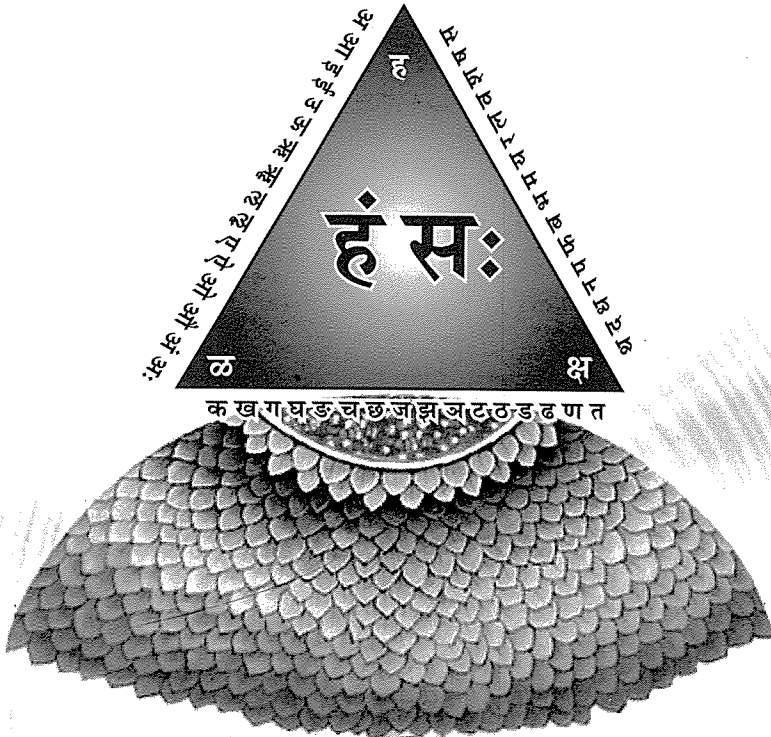
'वर्ण-बीजाक्षर'-मय सूक्ष्म 'षट्-चक्रों' की जाग्रति

वर्ष : ६८ 'कौल-कल्पतरु' चण्डी विशेष प्रस्तुति अङ्क : ३

तन्त्रोक्त शब्द-ब्रह्म
वर्ण-बीजाक्षर-साधना

'अ'-कार से 'क्ष'-कार तक ५१ मातृकाएँ-ध्यान, मन्त्र एवं साधना

'गुप्तावतार' बाबाश्री श्रीपादुकाभ्यां नमो नमः

***

सम्पादक
रमादत्त शुक्ल
ऋतशील शर्मा

***

प्रकाशक
पण्डित देवीदत्त शुक्ल स्मारक
परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग-राज-२११००६ ☎ ०५३२-२५०२७८३

अनुदान ४०/-

‘वर्ण-बीजाक्षर-मातृका’-साधना के प्रणेता

‘गुप्तावतार’ बाबाश्री

आविर्भाव
श्रावण कृष्णा त्रयोदशी
सं० १९४१ वि०

१२५ वीं जयन्ती
सोमवार,
२० जुलाई, २००९

मन्त्र-योग

‘मन्त्र’ के साथ ‘मातृकाओं’ का जप करने से ‘शब्द-बीज’ का विस्फोट होता है और उसके तत्त्व का ध्यान करके साधक ‘देवता’ को अपने सम्मुख कर सकता है।

***

साधक जिस ‘देवता’ का ध्यान करता है, उस ‘देवता’ के गुण उसके मन में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के गुण उसके मन में उतरते-उतरते एक दिन साधक में स्थाई रूप से आ जाते हैं और साधक ‘देवता’-मय हो जाता है। अतः साधक को सदैव मन में दिव्य मातृकाओं का मनन कर अभीष्ट गुणों को उत्पन्न करना चाहिए।

***

जो साधक इस प्रकार ‘मन्त्र-योग’ को उचित रीति से करता है, वह ‘गुरु’ एवं ‘इष्ट’ की कृपा से ‘जीवन-मुक्त’ हो जाता है।

***

जिन साधकों में किसी दूसरे ‘योग’ के करने की सामर्थ्य नहीं होती, वे भी इस ‘मन्त्र-योग’ को सहजता के साथ सिद्ध कर सकते हैं।

तन्त्रोक्त शब्द-ब्रह्म
वर्ण-बीजाक्षर-साधना

अनुक्रम

दो शब्द

'**शुभ-कृत्**' संवत् २०६६ वि० के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पर्व '**श्रीगुरु-पूर्णिमा**' एवं '**गुप्तावतार बाबाश्री की १२५वीं जयन्ती**' के पावन अवसर पर यहाँ **तन्त्रोक्त शब्द-ब्रह्म-स्वरूपा** '**वर्ण-बीजाक्षर-मातृका**'**-साधना** एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रस्तुत हो रही है।

'**शब्द-ब्रह्म**' की उपासना-हमारे देश '**भारत**' की अत्यन्त प्राचीन एवं सर्वाधिक चर्चित उपासना है। '**प्रणव**' या '**ॐ-कार**' आदि के रूप में इसका वीज '**वेदों**' में है। '**उपनिषद्**' में इसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि–

द्वे वाव बह्मणो रूपे, शब्द-ब्रह्म परं च यत् । शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः, परं-ब्रह्माधिगच्छत् ।।

अर्थात् '**शब्द-ब्रह्म**' और '**पर-ब्रह्म**' दोनों एक हैं। जो '**शब्द-ब्रह्म**' का स्वरूप जान लेता है, वह '**पर-ब्रह्म**' के स्वरूप को हृदयङ्गम कर लेता है।

'**उपनिषदों**' की भाँति '**पाणिनि**' की '**अष्टाध्यायी**' में भी '**शब्द-ब्रह्म की उपासना**' के सूत्र स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। वहाँ कहा गया है कि–'**शब्द का व्यवहार अनादि, अनन्त और सनातन है।**'

मुनि पाणिनि के '**अष्टाध्यायी**' पर **पतञ्जलि मुनि** ने जो '**महा-भाष्य**' लिखा है, उसमें भी '**शब्द**' को न केवल स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है अपितु उसके सन्दर्भ में स्वतन्त्र रूप से पहले-पहल '**स्फोट-वाद**' का प्रतिपादन भी हुआ है।

पुराणों में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि–'**शब्द-ब्रह्म परं ब्रह्म, नानयोर्भेद इष्यते।**' अर्थात् '**शब्द-ब्रह्म**' और '**पर-ब्रह्म**' में कोई भेद नहीं है।

यही नहीं, '**वैयाकरण**', '**नैयायिक**', '**मीमांसक**', '**वेदान्ती**'–प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने '**शब्दों**' के महत्त्व को स्वीकार किया है और उस पर दार्शनिक ढङ्ग से अपने-अपने विचार भी प्रस्तुत किए हैं।

'**वैयाकरणों**' के अनुसार–'**शब्द**' से ही '**अर्थ**' का बोध होता है और '**संसार का ज्ञान**' होता है। उसके अभाव में '**ज्ञान का प्रकाशत्व**' नष्ट हो जाता है। '**शब्द**' ही–सत्य है। आदि-आदि।

'**मीमांसकों**' के अनुसार–'**वर्ण**' नित्य हैं और ध्वनि से व्यक्त किए जाते हैं।

'**शाङ्कर वेदान्तियों**' ने तो और अधिक स्पष्ट रूप से '**शब्द-ब्रह्म**' को स्वीकार किया है, वे कहते हैं–'**शब्द**'**-तत्त्व** उसी प्रकार से विश्व का कारण है, जिस प्रकार से '**ब्रह्म**'–विश्व का कारण है।

'**शाङ्कर वेदान्तियों**' के बाद **काश्मीर के वसुगुप्त, अभिनव गुप्त एवं भर्तृहरि** जैसे अवतारी महा-पुरुषों ने सुन्दर उक्तियों के द्वारा '**शब्द-ब्रह्म की उपासना**' के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला है, उसके फल-स्वरूप ही विभिन्न '**तन्त्र**'-ग्रन्थों में इससे सम्बन्धित नाना प्रकार के विधि-विधान आज देखने को प्राप्त होते हैं।

'**काश्मीर**' के **अवतारी महा-पुरुषों** के अनुसार–'**निष्क्रिय ब्रह्म**' की अनन्त शान्त अवस्था में, उसकी स्वेच्छा से, '**शक्ति**' का स्फुरण अथवा '**स्पन्दन**' आरम्भ होता है। उससे '**नाद**' उत्पन्न होता है और वह जब घनीभूत हो '**बिन्दु**' का रूप धारण करता है, तभी उसका '**प्रसार**'–'**विमर्श**' होने लगता है। '**प्रसार**' के अन्तिम क्रम में **५० ध्वनियाँ–५० मातृका-वर्ण** ('अ'-से-'क्ष' तक) प्रकट होते हैं, जिन्हें '**मातृका**' अर्थात् '**प्यारी मैया**' कहते हैं।

शब्द-राशेर्भैरवस्य, यानुच्छूनतयान्तरी। सा मातेव भविष्यत्वात्, तेनासौ मातृकोदिता।।

अर्थात् '**शब्द**'**-राशि-रूपी भैरव (शब्द-ब्रह्म)** के अन्तर्गत स्पन्दित होनेवाली '**शक्ति**'-माता की तरह संसार को उत्पन्न करनेवाली है। वह '**मातृका**'–**प्यारी मैया** कहलाती है।

साधना हेतु विशेष मुहूर्त :

प्रस्तुत '**वर्ण-बीजाक्षर-मातृका**'-साधना वैसे तो कभी भी की जा सकती है, किन्तु विशेष अनुभूतियों हेतु कुछ विशेष मुहूर्त भी हैं। यथा–

- ★ प्रत्येक मास में **शनिवार** अथवा **मङ्गलवार** के दिन।
- ★ आषाढ़ **पूर्णिमा (श्रीगुरु-पूर्णिमा)** के दिन।
- ★ श्रावणी अर्थात् **श्रावण की पूर्णिमा** के दिन।
- ★ **नवरात्र, होली, दीपावली** जैसे पर्व।
- ★ **सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण** के दिन।

संसार को उत्पन्न करनेवाली उक्त '**मातृका**'-प्यारी मैया कैसी है? इसे स्पष्ट करते हुए **काश्मीर** के **अवतारी महा-पुरुष भगवान् वसुगुप्त** कहते हैं–'**ज्ञानाधिष्ठानं मातृका**'। अर्थात् यह ज्ञान का आधार है। अच्छे या बुरे सभी प्रकार के ज्ञान की जानकारी इसके द्वारा ही होती है। आवश्यकता है कि इसके द्वारा अपने लिए '**उपादेय**' को जाना जाए और '**हेय**' का परित्याग किया जाए।

लगभग इसी प्रकार से **अवतारी महा-पुरुष भगवान् भर्तृहरि** भी कहते हैं–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते।। *(वाक्-पदी)*

अर्थात् सब कुछ '**शब्दों**' से ही प्रकट होता है।

संक्षेप में, अत्यन्त प्राचीन काल से '**शब्द-ब्रह्म**'-सम्बन्धी उपर्युक्त जो विस्तृत विचार-विमर्श हमारे देश '**भारत**' में हुआ है, उसी के आधार पर '**तन्त्रों**' में सभी वर्ग के साधकों के लिए इससे सम्बन्धित विधि-विधानों एवं सिद्धान्तों का वर्णन हुआ है। सामान्य रूप से प्रायः सभी प्रधान '**तन्त्रों**' में इसकी चर्चा प्रारम्भ में ही देखने को प्राप्त होती है। '**कामधेनु तन्त्र**', '**मातृका-भेद तन्त्र**', '**वर्णोद्धार तन्त्र**', '**वर्ण-बीज-प्रकाश**', '**कङ्काल-मालिनी तन्त्र**' आदि में इसके सम्बन्ध में विशेष रूप से न केवल प्रकाश डाला गया है अपितु विशेष साधनाएँ भी बतायी गईं हैं।

उदाहरण के रूप में निम्न-लिखित कुछ उद्धरणों को देखिए। इनसे '**तन्त्रों**' का विशेष मन्तव्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। यथा–

''.....'**अ**'-कार से '**क्ष**'-कार तक के वर्ण '**मातृका-वीज**'-रूप हैं। यह '**मातृका-देवी**' **नाना विद्या-मयी तथा ब्रह्माण्ड-जननी है।.....**''

''.....**स्वयं परम कुण्डली ही** '**अ**'-**कार से** '**क्ष**'-**कार तक व्याप्त है। सारा चराचर विश्व** '**वर्ण**' **से ओत-प्रोत है।**

''.....**यदि साधक** '**बीज-वर्णों**' **का ध्यान अलग-अलग करता है, तो उसका परम कल्याण होता है।.....**''

'**तन्त्रों**' का उक्त गुप्त रहस्य आज से ६८ वर्ष पूर्व '**सद्-गुरुओं**' तक ही सीमित था। सन् १९४२ में जब '**चण्डी**'-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब **गुप्तावतार बाबाश्री** ने सभी **सद्-गुरुओं** से गोपनीय रहस्य को प्रकट करने के लिए '**आह्वान**' किया और '**मुमुक्षु मार्ग**' (**रहस्योद्घाटन**), '**श्री भैरवोपदेश**', '**सार्थ सौन्दर्य-लहरी**' में स्वयं इस '**गोपनीय विद्या**' को प्रकट किया, जिससे अनेकानेक साधक-बन्धु लाभान्वित हुए। यही नहीं, **बाबाश्री** के सूक्ष्म निर्देशानुसार ही '**चण्डी**' द्वारा इधर कई वर्षों से लगातार '**वर्ण-माला**' में '**जप**'-**विधान** को प्रस्तुत किया जा रहा है और आज उससे सम्बन्धित **साधना-विधि** सुन्दर पुस्तक के रूप में यहाँ दी जा रही है। आशा है कि इससे सभी साधक बन्धु लाभ उठाएँगे।

–ऋतशील शर्मा

श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग

तन्त्रोक्त शब्द-ब्रह्म

वर्ण-बीजाक्षर-मातृकाओं की साधना-विधि

निवेदन

शब्दार्थ-ब्रह्म-स्वरूपा वर्ण-बीजाक्षर-मातृका-साधना वास्तविक रूप में सद्-गुरुओं द्वारा की जानेवाली अत्यन्त गुप्त सूत्रात्मक साधना रही है। 'तन्त्रों' में इसके सूत्र यत्र-तत्र संक्षिप्त रूप में दिखाई देते हैं। यहाँ **'नित्योत्सव'**, **'वृहत् तन्त्र-सार'**, **'काम-धेनु तन्त्र'** एवं **'प्राण-तोषिणी तन्त्र'** आदि के आधार पर एक **'साधना'**-विधि दी जा रही है। आशा है कि आज जब जिज्ञासुओं को सद्-गुरु बहुत कठिनाई से मिलते हैं, तब सद्-गुरुओं की इस दुर्लभ विद्या से जिज्ञासु बन्धु विशेष रूप से लाभान्वित होंगे और **'शब्दार्थ-ब्रह्म-स्वरूपा : मन्त्र-विद्या'** के महत्त्व से वे भली-भाँति परिचित भी होंगे।

प्रस्तुत **'साधना'**-विधि के **पाँच खण्ड** हैं। **पहले खण्ड** में अपने शरीर में, **'सहस्रार'** में **'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'**-मय **'गुरु'-तत्त्व** का ध्यान-पूजन किया जाता है। **दूसरे खण्ड** में अपने शरीर से बाहर, **'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'**-मय प्रपञ्च का न्यास किया जाता है। **तीसरे खण्ड** में पुनः अपने शरीर में, सूक्ष्म षट्-चक्रों में **'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'** का न्यास किया जाता है। **चौथे खण्ड** में, अपने शरीर के स्थूल अङ्गों में **'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'** का न्यास किया जाता है और **पाँचवें खण्ड** में, ५० वर्ण-बीजाक्षर-मातृका का ध्यान कर उनका मन्त्र जपते हुए, उनसे सम्पुटित इष्ट-मन्त्र का 'जप' किया जाता है तथा सुमेरु 'क्ष'-कार का ध्यान कर उसका मन्त्र जपा जाता है।
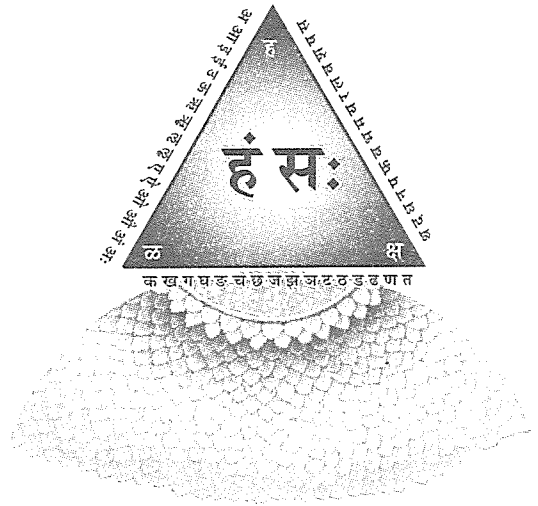
–ऋतशील शर्मा
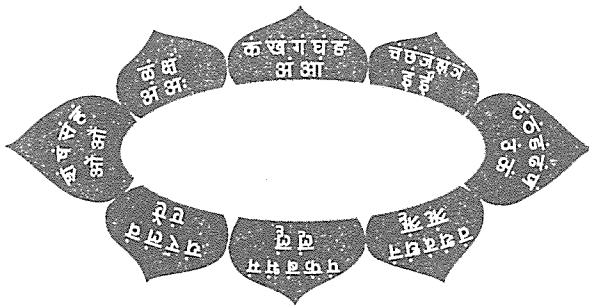
१. सहस्रार में 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-मय 'गुरु-तत्त्व' का ध्यान-पूजन

१. सबसे पहले दोनों भौंहों के बीच अपनी '**भृकुटि**' का मन-ही-मन ध्यान करे।

२. फिर '**भृकुटि**' की सीध में पीछे '**मेरु-दण्ड**' के ऊर्ध्व-भाग में स्थित '**सुषुम्णा नाड़ी**' में दो दलोंवाले कमल-पुष्प के समान विकसित '**आज्ञा-चक्र**' का ध्यान करे।

३ '**आज्ञा-चक्र**' के ऊपर सिर के सबसे ऊर्ध्व-भाग, जहाँ शिखा-बन्धन करते हैं, '**ब्रह्म-रन्ध्र**' में एक हजार पँखुड़ियोंवाले अधो-मुख महा-कमल के समान विकसित '**सहस्रार-चक्र**' का ध्यान करे।

४ '**सहस्रार-चक्र**' को कमल-पुष्प की डण्डी या नाल-जैसी सूक्ष्म एवं आकर्षक '**सुषुम्णा नाड़ी**' से युक्त देखे, जिसमें '**चित्रिणी नाड़ी**'-'**कुण्डलिनी**'-शक्ति है और जो '**सहस्रार**' से '**मूलाधार-चक्र**' तक व्याप्त है।

५. '**सहस्रार**'-रूपी महा-कमल को सदा आनन्द-मय तथा उसकी पँखुड़ियों को सदा सभी शक्तियों से युक्त होने की भावना करे। श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, हरित, चित्र-विचित्र, विविध प्रकार के रङ्गों से '**सहस्रार**'-रूपी महा-कमल की पँखुड़ियाँ सुशोभित हैं, ऐसा मन-ही-मन चिन्तन करे।

६ फिर '**सहस्रार**'-रूपी महा-कमल की सहस्र-पँखुड़ियों के बीच में ऊर्ध्व-मुख, गोलाकार-अमृत के सागर की भाँति विशाल, करोड़ों चन्द्रमा की प्रभा के समान सुन्दर '**बीज-कोष**' का मन-ही-मन ध्यान करे।

७. पुनः '**बीज-कोष**' में एक '**त्रिकोण**'-रूपी मण्डल का ध्यान करे, जिसकी तीनों भुजाओं में सभी **मातृका-वर्ण-बीजाक्षर** हों। यथा- '**त्रिकोण**'-रूपी मण्डल की बांई भुजा के रूप में क्रमशः '**अ**' से लेकर '**अः**' तक १६ '**स्वर**'-**वर्ण-बीजाक्षरों का ध्यान** करे और ऊपरी भुजा के रूप में क्रमशः '**क**' से लेकर '**त**' तक के १६ '**व्यञ्जन**'-**वर्ण-बीजाक्षरों का ध्यान** करे तथा दाहिनी भुजा के रूप में '**थ**' से लेकर '**स**' तक के १६ '**व्यञ्जन**'-**वर्ण-बीजाक्षरों का ध्यान** करे।

'**त्रिकोण**'-रूपी मण्डल के भीतर ऊपर के कोण में '**ह**' **वर्ण-बीजाक्षर** का, बाँएँ कोण में '**ळ**' **वर्ण-बीजाक्षर** का तथा दाँएँ कोण में '**क्ष**' **वर्ण-बीजाक्षर** का मन-ही-मन ध्यान करना चाहिए।

पूरे '**त्रिकोण**'-मण्डल को '**योनि-पीठ**' अथवा '**शक्ति-पीठ**' की भाँति एक विलक्षण तेज-पुञ्ज के रूप में मन-ही-मन ध्यान करना चाहिए तथा वहाँ '**पराहन्ता**' अर्थात् अपनी **शुद्ध** अहन्ता को एक ऐसे '**श्वेत हंस**' के रूप में विराजमान देखना चाहिए, जिसका शरीर सभी प्रकार के '**ज्ञान**' से मय हो, जिसके दोनों पंख '**आगम**' (वेद) और '**निगम**' (तन्त्र) के समान हों और जिसके दोनों चरण-'**शिव-शक्ति**'-मय हों तथा जिसकी चोंच-'**प्रणव**' (ॐ)-स्वरूपा एवं आँख और कण्ठ-साक्षात् '**काम-कला**'-रूप हों।

८. इसके बाद उक्त विलक्षण हंस-रूपी '**पराहन्ता**' के ठीक ऊपर **श्वेत-वर्ण वाग्भव-वीज 'ऐं'** का ध्यान करना चाहिए और इसी **वाग्भव-वीज 'ऐं' से समाहित श्रीगुरु-देव** का मन-ही-मन इस प्रकार ध्यान करना चाहिए कि उनके दो हाथ हैं-एक हाथ से वे '**वर**' दे रहे हैं और दूसरा हाथ '**अभय**'-मुद्रा से सुशोभित है। वे '**श्वेत-माला**' और '**श्वेत-गन्ध**' (चन्दन) धारण किए हुए हैं एवं **श्वेत-वस्त्रों** से शोभायमान हैं।

९. **श्री गुरु-देव** के बाँईं ओर **श्री गुरु-शक्त्यम्बा** लाल रङ्ग के वस्त्र पहने हुए और विविध आभूषणों से शोभित विराजमान हैं, ऐसा मन-ही-मन ध्यान करना चाहिए, साथ-ही-साथ यह चिन्तन करना चाहिए कि **श्री गुरु-देव** और **श्री गुरु-शक्त्यम्बा** दो स्वरूप दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में वे दोनों एक ही हैं। इसके बाद, '**श्री गुरु-पादुका-मन्त्र**' का '**जप**' करना चाहिए। यथा-

- पहले "**ऐं**"-इस बीज का मन में उच्चारण करते हुए **श्रीगुरु-देव** के बगल में **वाग्भव-बीज 'ऐं'** के स्वरूप को देखना चाहिए।
- फिर "**ह्रीं**"-यह बीज मन में उच्चारण करते हुए **श्री गुरु-देव** के ऊपर '**ह्रीं**' के स्वरूप का दर्शन करना चाहिए।
- तब "**श्रीं**"-यह बीज मन में बोलते हुए **श्री गुरु-शक्त्यम्बा** (श्री गुरु-शक्ति अम्बा) के दर्शन करना चाहिए।
- इसके बाद '**ह्-स्-ख्-फ्रें**'-इन चारों बीजों का **श्री गुरु-देव** की कटि (कमर) से ऊपर के शरीर को देखते हुए मन-ही-मन उच्चारण करना चाहिए।
- और '**ह्-स्-क्ष्-म्-ल्-व्-र्-यूँ**'-इन आठों बीजों का **श्री गुरु-देव** के कटि के नीचे श्री-चरणों तक के शरीर को देखते हुए मन-ही-मन उच्चारण करना चाहिए।
- पुनः '**स्-ह्-ख्- फ्रें**'-इन चार बीजों का **श्री गुरु-शक्त्यम्बा माँ** की कटि से ऊपर के शरीर को देखते हुए मन-ही-मन उच्चारण करना चाहिए।
- और '**स्-ह्-क्ष्-म्-ल्-व्- र्-यीं**'-इन आठों बीजों का **श्री गुरु-देव शक्त्यम्बा माँ** की कटि के नीचे श्री-चरणों तक के शरीर को देखते हुए मन-ही-मन उच्चारण करना चाहिए।
- इसके बाद '**हंसः**'- कहकर **श्री गुरु एवं श्री गुरु-शक्त्यम्बा** जिस विलक्षण '**हंस**'-रूपी **पराहन्ता** पर विराजमान हैं, उसका चिन्तन करना चाहिए।
- और '**सोऽहं**'- कहकर '**हंस**' के नीचे **श्री गुरु एवं श्री गुरु-शक्त्यम्बा की कृपा** से उत्पन्न '**नाद**' (᳘) का चिन्तन करना चाहिए।
- तथा '**स्हौः**'- कहकर '**नाद**' (᳘) के नीचे '**बिन्दु**' (·) का चिन्तन करना चाहिए।
- पुनः '**स्हौः**'-कहकर पूरे **सहस्त्र-दल पद्म** (हजार दलवाले कमल) का चिन्तन करना चाहिए और **सहस्त्रार** में सूक्ष्म-रूप से विराजमान **श्री गुरु-शक्त्यम्बा** एवं **श्री गुरु-देव** को मन-ही-मन **प्रणाम** करते हुए उनका **पूजन-तर्पण** करना चाहिए। यथा-
- '**श्री गुरु-शक्त्यम्बा-सहित श्री-श्रीनाथ-देव-श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः**'।

२. 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-मय प्रपञ्च-न्यास

'सहस्त्रार' में उक्त प्रकार से पूजन करने के बाद अपने शरीर के बाहर 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-मय प्रपञ्च का न्यास करना चाहिए। यथा—

१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'अं' प्रपञ्च-रूपायै श्रियै नमः।
२. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'आं' द्वीप-रूपायै मायायै नमः।
३. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'इं' जलधि-रूपायै कमलायै नमः।
४. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ईं' गिरि-रूपायै विष्णु-वल्लभायै नमः।
५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'उं' पत्तन-रूपायै पद्म-धारिण्यै नमः।
७. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ऊं' पीठ-रूपायै समुद्र-तनयायै नमः।
८. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ऋं' क्षेत्र-रूपायै लोक-मात्रे नमः।
९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ॠं' वन-रूपायै कमल-वासिन्यै नमः।
१०. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ऌं' आश्रम-रूपायै इन्दिरायै नमः।
११. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ॡं' गुहा-रूपायै मायायै नमः।
१२. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'एं' नदी-रूपायै रमायै नमः।
१३. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ऐं' चत्वर-रूपायै पद्मायै नमः।
१४. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ओं' उद्भिज्ज-रूपायै नारायण-प्रियायै नमः।
१५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'औं' स्वेदज-रूपायै सिद्ध-लक्ष्म्यै नमः।
१५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'अं' अण्डज-रूपायै राज-लक्ष्म्यै नमः।
१६. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'अः' जरायुज-रूपायै महा-लक्ष्म्यै नमः।
१७. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'कं' लव-रूपायै आर्यायै नमः।
१८. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'खं' तृप्ति-रूपायै उमायै नमः।
१९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'गं' कला-रूपायै चण्डिकायै नमः।
२०. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'घं' काष्ठा-रूपायै दुर्गायै नमः।
२१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ङं' निमेष-रूपायै शिवायै नमः।
२२. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'चं' श्वास-रूपायै अपर्णायै नमः।
२३. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'छं' घटिका-रूपायै अम्बिकायै नमः।
२४. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'जं' मुहूर्त्त-रूपायै सत्यै नमः।
२५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'झं' प्रहर-रूपायै ईश्वर्यै नमः।
२६. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ञं' दिवस-रूपायै शाम्भव्यै नमः।
२७. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'टं' सन्ध्या-रूपायै ईशान्यै नमः।
२८. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ठं' रात्रि-रूपायै पार्वत्यै नमः।
२९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'डं' तिथि-रूपायै सर्व-मङ्गलायै नमः।
३०. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ढं' वार-रूपायै दाक्षायण्यै नमः।

३१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'णं' नक्षत्र-रूपायै हैमवत्यै नमः।
३२. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'तं' योग-रूपायै महा-मायायै नमः।
३३. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'थं' करण-रूपायै महेश्वर्यै नमः।
३४. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'दं' पक्ष-रूपायै मृडान्यै नमः।
३५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'धं' मास-रूपायै रुद्राण्यै नमः।
३६. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'नं' राशि-रूपायै शर्वाण्यै नमः।
३७. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'पं' ऋतु-रूपायै परमेश्वर्यै नमः।
३८. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'फं' अयन-रूपायै काल्यै नमः।
३९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'बं' वत्सर-रूपायै कात्यायन्यै नमः।
४०. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'भं' युग-रूपायै गौर्यै नमः।
४१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'मं' प्रलय-रूपायै भवान्यै नमः।
४२. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'यं' पञ्च-भूत-रूपायै ब्राह्म्यै नमः।
४३. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'रं' पञ्च-तन्मात्र-रूपायै वागीश्वर्यै नमः।
४४. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'लं' पञ्च-कर्मेन्द्रिय-रूपायै वाण्यै नमः।
४५. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'वं' पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय-रूपायै सावित्र्यै नमः।
४६. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'शं' पञ्च-प्राण-रूपायै सरस्वत्यै नमः।
४७. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'षं' गुण-त्रय-रूपायै गायत्र्यै नमः।
४८. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'सं' अन्तःकरण-चतुष्टय-रूपायै वाक्-प्रदायै नमः।
४९. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'हं' अवस्था-चतुष्टय-रूपायै शारदायै नमः।
५०. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'ळं' सप्त-धातु-रूपायै भारत्यै नमः।
५१. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्सौः ह्सौः 'क्षं' दोष-त्रय-रूपायै विद्यात्मिकायै नमः।

३. 'मेरु-दण्ड'-स्थित सूक्ष्म छः चक्रों में वर्ण-बीजाक्षर-मातृका का न्यास

उक्त 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-मय 'प्रपञ्च-न्यास' करने के बाद पहले प्राणायाम करना चाहिए और उसके बाद अपने शरीर में सूक्ष्म छः चक्रों में न्यास करना चाहिए। यथा–

१. गले में, १६ दलोंवाले 'विशुद्ध चक्र' में–ॐ अं नमः। ॐ आं नमः। ॐ इं नमः। ॐ ईं नमः। ॐ उं नमः। ॐ ऊं नमः। ॐ ऋं नमः। ॐ ॠं नमः। ॐ ऌं नमः। ॐ ॡं नमः। ॐ एं नमः। ॐ ऐं नमः। ॐ ओं नमः। ॐ औं नमः। ॐ अं नमः। ॐ अः नमः।

२. हृदय में, १२ दलोंवाले 'अनाहत-चक्र' में– ॐ कं नमः। ॐ खं नमः। ॐ गं नमः। ॐ घं नमः। ॐ ङं नमः। ॐ चं नमः। ॐ छं नमः। ॐ जं नमः। ॐ झं नमः। ॐ ञं नमः। ॐ टं नमः। ॐ ठं नमः।

३. नाभि में, १० दलोंवाले 'मणिपुर-चक्र' में– ॐ डं नमः। ॐ ढं नमः। ॐ णं नमः। ॐ तं नमः। ॐ थं नमः। ॐ दं नमः। ॐ धं नमः। ॐ नं नमः। ॐ पं नमः। ॐ फं नमः।

४. लिङ्ग–मूल में, ६ दलोंवाले 'स्वाधिष्ठान–चक्र' में–ॐ बं नमः। ॐ भं नमः। ॐ मं नमः। ॐ यं नमः। ॐ रं नमः। ॐ लं नमः।

५. गुदा में, ४ दलोंवाले 'मूलाधार–चक्र' में– ॐ वं नमः। ॐ शं नमः। ॐ षं नमः। ॐ सं नमः।

६. भ्रू–मध्य में, २ दलोंवाले 'आज्ञा–चक्र' में– ॐ हं नमः। ॐ क्षं नमः।

४. स्थूल शरीर के विभिन्न अङ्गों में 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृकाओं' का न्यास

अपने शरीर में सूक्ष्म षट्–चक्रों में न्यास करने के बाद अपने स्थूल शरीर के विभिन्न अङ्गों में 'वर्ण–बीजाक्षर–मातृकाओं' का न्यास करना चाहिए। यथा–

'क्षं' नमः ललाटे।
'ळं' नमः मुख–वृत्ते।
'हं' नमः दक्ष–नेत्रे।
'सं' नमः वाम–नेत्रे।
'षं' नमः दक्ष–कर्णे।
'शं' नमः वाम–कर्णे।
'वं' नमः दक्ष नासायाम्।
'लं' नमः वाम नासायाम्।
'रं' नमः दक्ष गण्डे।
'यं' नमः वाम गण्डे।
'मं' नमः ऊर्ध्व ओष्ठे।
'भं' नमः अर्धा ओष्ठे।
'बं' नमः ऊर्ध्व दन्त–पंक्तौ।
'फं' नमः अधो दन्त–पंक्तौ।
'पं' नमः शिरसि।
'नं' नमः मुखे।
'धं' नमः दक्ष बाहु–मूले।

'दं' नमः दक्ष कूर्परे।
'थं' नमः दक्ष मणि–बन्धे।
'तं' नमः दक्ष कर–तले।
'णं' नमः दक्ष कराग्रे।
'ढं' नमः वाम बाहु–मूले।
'डं' नमः वाम कूर्परे।
'ठं' नमः वाम मणि–बन्धे।
'टं' नमः वाम कर–तले।
'ञं' नमः वाम कराग्रे।
'झं' नमः दक्षोरु मूले
'जं' नमः दक्ष जानुनि।
'छं' नमः दक्ष गुल्फे।
'चं' नमः दक्ष पाद–तले।
'ङं' नमः दक्ष पादाग्रे।
'घं' नमः वामोरु मूले
'गं' नमः वाम जानुनि।
'खं' नमः वाम गुल्फे।

'कं' नमः वाम पाद–तले।
'अः' नमः वाम पादाग्रे।
'अं' नमः दक्षे पार्श्वे।
'औं' नमः वाम पार्श्वे।
'ओं' नमः पृष्ठे।
'ऐं' नमः नाभौ।
'एं' नमः जठरे।
'ॡं' नमः हृदये।
'ऌं' नमः दक्षांशे।
'ॠं' नमः ककुदि।
'ऋं' नमः वामांशे।
'ऊं' नमः हृदयादि दक्ष करान्तम्।
'उं' नमः हृदयादि वाम करान्तम्।
'ईं' नमः हृदयादि दक्ष पादान्तम्।
'इं' नमः हृदयादि वाम पादान्तम्।
'आं' नमः हृदयादि कुक्षौ।
'अं' नमः हृदयादि मुखे।

५. ५१ 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृकाओं' का ध्यान एवं मन्त्र-जप

'वर्ण–बीजाक्षर–मातृका'–मय श्री श्रीगुरु–चक्र का ध्यान–पूजन, प्रपञ्च–न्यास एवं अपने शरीर के सूक्ष्म तथा स्थूल अङ्गों में न्यास करने के बाद ५१ 'वर्ण–बीजाक्षर–मातृकाओं' का ध्यान एवं मन्त्र–जप आगे प्रकाशित विधि के अनुसार करना चाहिए। ऐसा करने से शीघ्र मन्त्र–सिद्धि एवं दिव्य अनुभूतियों की प्राप्ति होती है।

१. वर्ण-बीजाक्षर-'अ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'केशव'
विष्णु-शक्ति-'कीर्ति'

रुद्र-रूप-'श्रीकण्ठ'
रुद्र-शक्ति-'पूर्णोदरी'

गणेश-रूप-'विघ्नेश'
गणेश-शक्ति-'ह्री'

काम-रूप-'काम'
काम-शक्ति-'रति'

क्षेत्रपाल-रूप-'अजर'

■ 'अ'-कार वर्ण का ध्यान ■

केतकी-पुष्प-गर्भाभां*, द्वि-भुजां हंस-लोचनाम्।
शुक्ल-पट्टाम्बर-धरां, पद्म-माल्य-विभूषिताम्।।
चतुर्वर्ग-प्रदां** नित्यं, नित्यानन्द-मयीं पराम्।
वराभय-करां देवीं, नाग-पाश-समन्विताम्।।

■ 'अ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ अकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'अ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'अ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ अकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'अ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ अकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो अकाराय ॐ

* 'केतकी-पुष्प-गर्भाभां' = श्वेत केतकी-पुष्प के भीतरी भाग जैसी विलक्षण चमकीली आभावाली।

** 'चतुर्वर्ग-प्रदाम्' = १. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष को प्रदान करनेवाली।

२. वर्ण-बीजाक्षर-'आ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नारायण'
विष्णु-शक्ति-'कान्ति'

रुद्र-रूप-'अनन्त'
रुद्र-शक्ति-'विरजा'

आं

गणेश-रूप-'विघ्न-राज'
गणेश-शक्ति-'श्री'

काम-रूप-'कामद'
काम-शक्ति-'प्रीति'

क्षेत्रपाल-रूप-'आप-कुम्भ'

'आ'-कार वर्ण का ध्यान

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि, षड्-भुजां रक्त-लोचनाम् ।
रत्न - कङ्कण - केयूर - हारोज्ज्वल - कलेवराम्।
सिद्धां सिद्धि-प्रदां सौम्यां, सिद्ध-गन्धर्व-सेविताम्*।।

'आ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ आकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'आ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'आ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ आकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'आ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ आकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो आकाराय ॐ

* 'सिद्ध-गन्धर्व-सेविताम्' = सिद्ध योगियों, स्वर्गीय गायकों द्वारा जपा जानेवाला।

३. वर्ण-बीजाक्षर-'इ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'माधव'
विष्णु-शक्ति-'तुष्टि'

रुद्र-रूप-'सूक्ष्म'
रुद्र-शक्ति-'शाल्मली'

इं

गणेश-रूप-'विनायक'
गणेश-शक्ति-'पुष्टि'

काम-रूप-'कान्त'
काम-शक्ति-'कामिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'इन्द्र-स्तुति'

'इ'-कार वर्ण का ध्यान

धूम्र-वर्णां महा-रौद्रीं, पीताम्बर-युतां पराम् ।
कामदां सिद्धिदां सौम्यां, नित्योत्साह-विवर्द्धिनीम्*।।

'इ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ इकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'इ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'इ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ इकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'इ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ इकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो इकाराय ॐ

* 'नित्योत्साह-विवर्द्धिनीम्' = नित्य उत्साह को बढ़ानेवाली।

४. वर्ण-बीजाक्षर-'ई'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'गोविन्द'
विष्णु-शक्ति-'पुष्टि'

रुद्र-रूप-'त्रि-मूर्ति'
रुद्र-शक्ति-'लोलाक्षी'

ई

गणेश-रूप-'शिवोत्तम'
गणेश-शक्ति-'शान्ति'

काम-रूप-'कान्ति-मान्'
काम-शक्ति-'मोहिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'इडाचार'

'ई'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां रक्त-वर्णां, रक्त-पुष्पोप-शोभिताम् ।
चारु-चन्दन-दिग्धाङ्गीं*, रक्त-पङ्कज-लोचनाम्।
रक्त - चीर - परीधानां, धर्म - कामार्थ - मोक्षदाम्।।

'ई'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ईकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ई'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ई'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ईकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ई'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ईकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ईकाराय ॐ

* 'चारु-चन्दन-दिग्धाङ्गीं' = चन्दन से लिप्त सुन्दर अङ्गोंवाली।

५. वर्ण-बीजाक्षर-'उ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'विष्णु'
विष्णु-शक्ति-'धृति'

रुद्र-रूप-'अमरेश्वर'
रुद्र-शक्ति-'वर्तुलाक्षी'

उं

गणेश-रूप-'विघ्न-कृत्'
गणेश-शक्ति-'क्षान्ति'

काम-रूप-'कामग'
काम-शक्ति-'कमल-प्रिया'

क्षेत्रपाल-रूप-'उक्त-संज्ञ'

'उ'-कार वर्ण का ध्यान

पीत-वर्णां त्रि-नयनां, पीताम्बर-धरां पराम्।
द्वि-भुजां जटिलां* भीमां**, सर्व-सिद्धि-प्रदायिनीम् ।।

'उ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ उकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'उ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'उ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ उकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'उ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ उकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो उकाराय ॐ

* 'जटिलां' = जटाधारी, सघन बालोंवाली।

** 'भीमां' = भयङ्कर।

६. वर्ण-बीजाक्षर-'ऊ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'मधु-सूदन'
विष्णु-शक्ति-'शान्ति'

रुद्र-रूप-'अर्घीश'
रुद्र-शक्ति-'दीर्घ-घोणा'

ऊं

गणेश-रूप-'विघ्न-हर्ता'
गणेश-शक्ति-'सरस्वती'

काम-रूप-'काम-चार'
काम-शक्ति-'विलासिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'ऊष्माद'

'ऊ'-कार वर्ण का ध्यान

द्वि-भुजां शुक्ल-वर्णां च, जटा-मुकुट-शोभिताम्।
शुक्ल-माल्याम्बर-धरां, चारु-चन्दन-भूषिताम्।
चतुर्वर्ग-प्रदां* नित्यां, रक्त-पङ्कज-लोचनाम्।।

'ऊ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ऊकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ऊ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ऊ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ऊकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ऊ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ऊकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ऊकाराय ॐ

* 'चतर्वर्ग-प्रदां' = १. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष को प्रदान करनेवाली।

७. वर्ण-बीजाक्षर-'ॠ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'त्रि-विक्रम'
विष्णु-शक्ति-'क्रिया'

रुद्र-रूप-'भाव-भूति'
रुद्र-शक्ति-'सुदीर्घ-मुखी'

गणेश-रूप-'गण-नायक'
गणेश-शक्ति-'स्वाहा'

काम-रूप-'कामी'
काम-शक्ति-'कल्प-लता'

क्षेत्रपाल-रूप-'ऋषि-सूदन'

■ 'ॠ'-कार वर्ण का ध्यान ■

षड्-भुजां नील-वर्णां च, नीलाम्बर-धरां पराम्।
नानालङ्कार - भूषाढ्यां, सर्वालंकृत - मस्तकाम्।।
भक्ति-प्रदां भगवतीं, भोग-मोक्ष-प्रदायिनीम्।
पञ्च - प्राण - मयं वर्णं, चतुर्ज्ञान - मयं सदा*।
रक्त - विद्युल्लताकारं, ॠ-कारं प्रणमाम्यहम्।।

■ 'ॠ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ ॠकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ॠ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ॠ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ॠकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ॠ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ ॠकाराय नमः
अभीष्ट-मन्त्र
नमो ॠकाराय ॐ

* 'चतुर्ज्ञान-मयं सदा' = चारों वेदों के ज्ञान से सदा युक्त।

८. वर्ण-बीजाक्षर-'ॠ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वामन'
विष्णु-शक्ति-'दया'

रुद्र-रूप-'अतिथि'
रुद्र-शक्ति-'गो-मुखी'

ॠं

गणेश-रूप-'एक-दन्त'
गणेश-शक्ति-'मेधा'

काम-रूप-'कामुक'
काम-शक्ति-'श्यामला'

क्षेत्रपाल-रूप-'समुक्त'

'ॠ'-कार वर्ण का ध्यान

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि, द्वि-भुजां पद्म-लोचनाम्।
सन्तप्त-स्वर्ण-वर्णाभां, सर्वालङ्कार-भूषिताम्।।
रक्त - पद्मेक्षणां देवीं, रत्न - हार - विभूषिताम्।
चतुर्ज्ञान - मयं वर्णं, पञ्च - प्राण - मयं सदा।
त्रि-शक्ति-सहितं वर्णं*, प्रणमामि सदा प्रिये! ।।

'ॠ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ॠकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ॠ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ॠ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ॠकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ऊ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ॠकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ॠकाराय ॐ

* 'त्रि-शक्ति-सहितं वर्णं' = १. इच्छा, २. क्रिया एवं ३. ज्ञान से युक्त वर्ण-मातृका।

९. वर्ण-बीजाक्षर-'ऌ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'श्रीधर'
विष्णु-शक्ति-'मेधा'

रुद्र-रूप-'स्थाणुक'
रुद्र-शक्ति-'दीर्घ-जिह्वा'

गणेश-रूप-'द्वि-दन्त'
गणेश-शक्ति-'कान्ति'

काम-रूप-'काम-वर्द्धन'
काम-शक्ति-'शुचि-स्मिता'

क्षेत्रपाल-रूप-'लुप्त-केश'

■ 'ऌ'-कार वर्ण का ध्यान ■

स्वर्ण-चम्पक-वर्णां च, स्वर्णालङ्कार-विग्रहाम्।
चतुर्भुजां त्रि-नयनां, रक्त-चन्दन-चर्चिताम्*।
प्रणमामि सदा देवीं, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।

■ 'ऌ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ ऌकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ऌ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ऌ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ऌकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ऌ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ऌकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ऌकाराय ॐ

* 'रक्त-चन्दन-चर्चिताम्' = रक्त-चन्दन से सुवासित।

१०. वर्ण-बीजाक्षर-'ॡ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'हृषीकेश'
विष्णु-शक्ति-'हर्षी'

रुद्र-रूप-'हर'
रुद्र-शक्ति-'कुण्डोदरी'

ॡं

गणेश-रूप-'गज-वक्त्र'
गणेश-शक्ति-'कामिनी'

काम-रूप-'वाम'
काम-शक्ति-'विस्मिता'

क्षेत्रपाल-रूप-'क्षेपक'

'ॡ'-कार वर्ण का ध्यान

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि, पीत-वर्णां* चतुर्भुजाम्।
पीताम्बर-परीधानां, नानालङ्कार-मस्तकाम्।।
विचित्र-माल्याभरणां, देव-दानव-सेविताम्।
चतुर्वर्ग-प्रदां नित्यां, नित्योत्साह-विवर्द्धिनीम्।।

'ॡ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ॡकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ॡ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ॡ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ॡकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ॡ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ॡकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ॡकाराय ॐ

* 'पीत-वर्णां' = पीले वर्ण से सूचित होनेवाले भाव अर्थात् ऐश्वर्य, सम्पत्ति, श्री, रजो-गुणादि, स्तम्भन से युक्त।

११. वर्ण-बीजाक्षर-'ए'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'पद्मनाभ'
विष्णु-शक्ति-'श्रद्धा'

रुद्र-रूप-'झिण्टीश'
रुद्र-शक्ति-'ऊर्ध्व-केशी'

गणेश-रूप-'निरञ्जन'
गणेश-शक्ति-'मोहिनी'

काम-रूप-'राम'
काम-शक्ति-'विशालाक्षी'

क्षेत्रपाल-रूप-'एक-दंष्ट्रक'

■ 'ए'-कार वर्ण का ध्यान ■

रक्ताम्बर-परीधानां, षड्-भुजां रक्त-लोचनाम्।
विचित्राभरणां नित्यां*, चतुर्वर्ग-प्रदायिनीम्।।

■ 'ए'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ एकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ए-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ए'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ एकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ए'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ एकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो एकाराय ॐ

* 'विचित्राभरणां नित्यां = सदा बहुरंगी मनोहर आभूषणों से सज्जिता।

१२. वर्ण-बीजाक्षर-'ऐ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'दामोदर'
विष्णु-शक्ति-'लज्जा'

रुद्र-रूप-'भौतिक'
रुद्र-शक्ति-'विकृत-मुखी'

ऐं

गणेश-रूप-'कपर्दी'
गणेश-शक्ति-'नटी'

काम-रूप-'रमण'
काम-शक्ति-'लेलिहाना'

क्षेत्रपाल-रूप-'ऐरावत'

'ऐ'-कार वर्ण का ध्यान

विचित्र-रूपिणीं देवीं, विचित्राम्बर-धारिणीम्*।
विचित्र - माल्याभरणां, चतुर्बाहु - समन्विताम्।।
नानालङ्कार - संयुक्तां, चतुर्वर्ग - फल - प्रदाम्।
देव-दानव-गन्धर्वैः, सेवितां मोक्ष-कांक्षिभिः।।

'ऐ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ऐकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ऐ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ऐ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ऐकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ऐ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ऐकाराय नमः
अभीष्ट-मन्त्र
नमो ऐकाराय ॐ

* 'विचित्राम्बर-धारिणीम्' = बहुरंगी मनोहर वस्त्रों को धारण करनेवाली।

१३. वर्ण-बीजाक्षर-'ओ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वासुदेव'
विष्णु-शक्ति-'लक्ष्मी'

रुद्र-रूप-'सद्योजात'
रुद्र-शक्ति-'ज्वालामुखी'

ओं

गणेश-रूप-'दीर्घ-वक्त्र'
गणेश-शक्ति-'पार्वती'

काम-रूप-'रति-नाथ'
काम-शक्ति-'दिगम्बरा'

क्षेत्रपाल-रूप-'ओघ-बन्धु'

■ 'ओ'-कार वर्ण का ध्यान ■

रत्नालङ्कार-संयुक्तां, पद्म-राग-प्रभां शुभाम्।
शरत् - पूर्णेन्दु - वदनां, विचित्र - वसनान्विताम्।।
चतुर्भुजां त्रि-नयनां, स्मेरास्यां नील-कुन्तलाम्।
विद्युद्-दाम-समानाङ्गीं*, मुक्ता-पंक्ति-स्रजं भजे।।

■ 'ओ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ ओकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ओ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ओ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ओकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ओ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ ओकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ओकाराय ॐ

* 'विद्युद्-दाम-समानाङ्गीं' = विद्युत के समान चमकीले अङ्गोंवाली।

१४. वर्ण-बीजाक्षर-'औ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'संकर्षण'
विष्णु-शक्ति-'सरस्वती'

रुद्र-रूप-'अनुग्रहेश्वर'
रुद्र-शक्ति-'उल्का-मुखी'

गणेश-रूप-'शंकु-कर्ण'
गणेश-शक्ति-'ज्वालिनी'

काम-रूप-'रति-प्रिय'
काम-शक्ति-'वामा'

क्षेत्रपाल-रूप-'रोगाधीश'

'औ'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां त्रि-नयनां, जटा-मुकुट-मण्डिताम्।
श्वेत - रोहित* - पीतादि - पुष्प - हारोपशोभिताम्।
सदा स्मेर-मुखीं** सौम्यां, चतुर्वर्ग प्रदायिनीम्।।

'औ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ औकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'औ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'औ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ औकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'औ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ औकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो औकाराय ॐ

* 'रोहित' = लाल।
** 'सदा स्मेर-मुखीं' = सदा मुस्कारानेवाली।

१५. वर्ण-बीजाक्षर–‘अं’-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप–‘प्रद्युम्न’
विष्णु-शक्ति–‘प्रीति’

रुद्र-रूप–‘अक्रूर’
रुद्र-शक्ति–‘श्री-मुखी’

गणेश-रूप–‘वृषभ-ध्वज’
गणेश-शक्ति–‘नन्दा’

काम-रूप–‘रात्रि-नाथ’
काम-शक्ति–‘कुब्जिका’

क्षेत्रपाल-रूप–‘अञ्जन’

‘अं’-कार वर्ण का ध्यान

जवा-दाडिम-पुष्पाभां*, द्वि-भुजां रक्त-लोचनाम्।
रक्ताम्बर - परीधानां, रक्तालङ्कार - भूषिताम्।
चतुर्वर्ग - प्रदां सौम्यां, वरदां नाग - शेखराम्।।

‘अं’-कार वर्ण का मन्त्र

‘ॐ अंकाराय नमः’

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले ‘अं’-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर ‘अं’-कार वर्ण के मन्त्र ‘ॐ अंकाराय नमः’ का १० बार जप करे।

तब ‘अं’-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ अंकाराय नमः
अभीष्ट-मन्त्र
नमो अंकाराय ॐ

* ‘जवा-दाडिम-पुष्पाभां’ = गुडहल एवं अनार के पुष्पों के समान आभावाली।

१६. वर्ण-बीजाक्षर-'अः'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'अनिरुद्ध'
विष्णु-शक्ति-'रति'

रुद्र-रूप-'महासेन'
रुद्र-शक्ति-'विद्या-मुखी'

अः

गणेश-रूप-'गण-नायक'
गणेश-शक्ति-'सुयशा'

काम-रूप-'रमा-कान्त'
काम-शक्ति-'नित्या'

क्षेत्रपाल-रूप-'अस्त्र-बाहु'

'अः'-कार वर्ण का ध्यान

सन्तप्त-हेम-वर्णाभां, सर्वालङ्कार-भूषिताम्।
रत्न-यज्ञोपवीतां च, रत्न-कङ्कण-राजिताम्।।
पूर्णेन्दु-वदनां सौम्यां, तुरीय-कर-संयुताम्*।
चन्द्र-सूर्याग्नि-रूपेण, नयन-त्रितयान्विताम्।
साधकाभीष्टदां नित्यां, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।

'अः'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ अःकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'अः'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'अः'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ अःकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'अः'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ अःकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो अःकाराय ॐ

* 'तुरीय-कर-संयुताम्' = चार हाथोंवाली।

१७. वर्ण-बीजाक्षर-'क'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'चक्री'
विष्णु-शक्ति-'जया'

रुद्र-रूप-'क्रोधीश'
रुद्र-शक्ति-'महा-काली'

गणेश-रूप-'गजेन्द्र'
गणेश-शक्ति-'काम-रूपिणी'

काम-रूप-'रममाण'
काम-शक्ति-'कल्याणी'

क्षेत्रपाल-रूप-'कंवल'

'क'-कार वर्ण का ध्यान

जवा-यावक*-सिन्दूर-सदृशीं कामिनीं पराम्।
चतुर्भुजां त्रि-नेत्रां च, बाहु-वल्ली-विराजताम्**।।
कदम्ब - कोरकाकार - स्तन - युग्म - विराजिताम्।
रत्न - कङ्कण - केयूर - हार - नूपुर - भूषिताम्।।

'क'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ककाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'क'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'क'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ककाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'क'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ककाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ककाराय ॐ

* 'यावक' = लाल महावर।

** 'बाहु-वल्ली-विराजिताम्' = सुन्दर गठीली भुजाओं से देदीप्यमान।

१८. वर्ण-बीजाक्षर-'ख'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'गदी'
विष्णु-शक्ति-'दुर्गा'

रुद्र-रूप-'चण्डेश'
रुद्र-शक्ति-'सरस्वती'

खं

गणेश-रूप-'शूर्प-कर्ण'
गणेश-शक्ति-'उग्रा'

काम-रूप-'निशाचर'
काम-शक्ति-'कुल्या'

क्षेत्रपाल-रूप-'खरखानल'

'ख'-कार वर्ण का ध्यान

बन्धूक-पुष्प-सङ्काशां, रत्नालङ्कार-भूषिताम्।
वराभय-करां नित्यामीषद्-हास्य-मुखीं* पराम्।।

'ख'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ खकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ख'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ख'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ खकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ख'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ खकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो खकाराय ॐ

* 'नित्यामीषद्-हास्य-मुखीं' = सदैव मुस्कराते हुए मुखवाली।

१९. वर्ण-बीजाक्षर-'ग'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'शार्ङ्गी'
विष्णु-शक्ति-'प्रभा'

रुद्र-रूप-'पञ्चान्तक'
रुद्र-शक्ति-'गौरी'

गणेश-रूप-'त्रि-लोचन'
गणेश-शक्ति-'तेजोवती'

काम-रूप-'नन्दक'
काम-शक्ति-'मदना'

क्षेत्रपाल-रूप-'गो-मुख'

'ग'-कार वर्ण का ध्यान

दाडिमी-पुष्प-सङ्काशां, चतुर्बाहु-समन्विताम्।
रक्ताम्बर-धरां नित्यां, रक्तालङ्कार-भूषिताम्।।

'ग'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ गकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ग'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ग'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ गकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ग'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ गकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो गकाराय ॐ

२०. वर्ण-बीजाक्षर-'घ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'खड्गी'
विष्णु-शक्ति-'सत्या'

रुद्र-रूप-'शिवोत्तम'
रुद्र-शक्ति-'त्रैलोक्य-विद्या'

घं

गणेश-रूप-'लम्बोदर'
गणेश-शक्ति-'सत्या'

काम-रूप-'नन्दन'
काम-शक्ति-'कामदा'

क्षेत्रपाल-रूप-'घण्टादो'

'घ'-कार वर्ण का ध्यान

मालती-पुष्प-वर्णाभां, षड्-भुजां रक्त-लोचनाम्।
शुक्लाम्बर-परीधानां, शुक्ल-माल्य-विभूषिताम्।।
सदा स्मेर-मुखीं रम्यां, लोचन-त्रय-राजिताम्।
निर्गुणं त्रि-गुणोपेतं, सदा त्रिगुण-संयुताम्।
सर्वगं* सर्वदं शान्तं, घ-कारं प्रणमाम्यहम्।।

'घ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ घकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'घ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'घ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ घकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'घ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ घकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो घकाराय ॐ

* 'सर्वगं' = विश्व-व्यापी।

२१. वर्ण-बीजाक्षर-'ङ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'शङ्खी'
विष्णु-शक्ति-'चण्डा'

रुद्र-रूप-'एक-रुद्र'
रुद्र-शक्ति-'मन्त्र-शक्ति'

ङं

गणेश-रूप-'महानन्द'
गणेश-शक्ति-'विघ्नेशी'

काम-रूप-'नन्दी'
काम-शक्ति-'सु-लोचना'

क्षेत्रपाल-रूप-'ङमन'

'ङ'-कार वर्ण का ध्यान

धूम्र-वर्णां महा-घोरां, ललज्जिह्वां* चतुर्भुजाम्।
पीताम्बर-परीधानां, साधकाभीष्ट-सिद्धिदाम्।।

'ङ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ङकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ङ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ङ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ङकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ङ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ ङकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ङकाराय ॐ

* 'ललज्जिह्वां' = लपलपाती हुई जिह्वावाली भीषण।

२२. वर्ण-बीजाक्षर-'च'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'हली'
विष्णु-शक्ति-'वाणी'

रुद्र-रूप-'कूर्म'
रुद्र-शक्ति-'आत्म-शक्ति'

चं

गणेश-रूप-'चतुर्मूर्ति'
गणेश-शक्ति-'सु-रूपिणी'

काम-रूप-'नन्दयिता'
काम-शक्ति-'सुलापिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'चण्ड-वारण'

'च'-कार वर्ण का ध्यान

तुषार-कुन्द-पुष्पाभां*, नानालङ्कार-भूषिताम्।
सदा षोडश - वर्षीयां, वराभय - करां पराम्।।
शुक्ल-वस्त्रावृत-कटिं, शुक्ल-वस्त्रोत्तरीयिणीम्।
वरदां शोभनां रम्यामष्ट - बाहु - समन्विताम्।।

'च'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ चकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'च'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'च'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ चकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'च'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ चकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो चकाराय ॐ

* 'तुषार-कुन्द-पुष्पाभां' = कर्पूर जैसे श्वेत एवं शीतल पुष्प जैसी आभावाली।

२३. वर्ण-बीजाक्षर-'छ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'मुषली'
विष्णु-शक्ति-'विलासिनी'

रुद्र-रूप-'एक-नेत्र'
रुद्र-शक्ति-'भूत-माता'

गणेश-रूप-'सदा-शिव'
गणेश-शक्ति-'कामदा'

काम-रूप-'पञ्च-वाण'
काम-शक्ति-'मर्दिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'छटाटाप'

■ 'छ'-कार वर्ण का ध्यान ■

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि, द्वि-भुजां तु त्रि-लोचनाम्।
पीताम्बर-धरां नित्यां, वरदां भक्त-वत्सलाम्*।।

■ 'छ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ छकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'छ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'छ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ छकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'छ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ छकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो छकाराय ॐ

* 'भक्त-वत्सलाम्' = भक्तों के लिए स्नेह-मयी।

२४. वर्ण-बीजाक्षर-'ज'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'शूली'
विष्णु-शक्ति-'विजया'

रुद्र-रूप-'चतुरानन'
रुद्र-शक्ति-'लम्बोदरी'

जं

गणेश-रूप-'आमोद'
गणेश-शक्ति-'मद-जिह्वा'

काम-रूप-'रति-सख'
काम-शक्ति-'कलह-प्रिया'

क्षेत्रपाल-रूप-'जटाल'

'ज'-कार वर्ण का ध्यान

नानालङ्कार - संयुक्तैर्भुजैर्द्वादशभिर्वृताम्।
रक्त-चन्दन-दिग्धाङ्गीं, चित्राम्बर-विधारिणीम्*।
त्रि-लोचनां जगद्धात्रीं, वरदां भक्त-वत्सलाम्।।

'ज'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ जकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ज'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ज'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ जकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ज'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ जकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो जकाराय ॐ

* 'चित्राम्बर-विधारिणीम्' = रङ्ग-बिरङ्गे परिधान धारण करनेवाली।

२५. वर्ण-बीजाक्षर-'झ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'पाशी'
विष्णु-शक्ति-'विरजा'

रुद्र-रूप-'अजेश'
रुद्र-शक्ति-'द्राविणी'

झं

गणेश-रूप-'दुर्मुख'
गणेश-शक्ति-'भूति'

काम-रूप-'पुष्प-धन्वा'
काम-शक्ति-'एकाक्षी'

क्षेत्रपाल-रूप-'ऋद्धीव'

'झ'-कार वर्ण का ध्यान

सन्तप्त-हेम-वर्णाभां*, रक्ताम्बर-विभूषिताम्।
रक्त-चन्दन-लिप्ताङ्गीं, रक्त-माल्य-विभूषिताम्।
चतुर्दश-भुजां देवीं, रत्न-हारोज्ज्वलां पराम्।।

'झ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ झकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'झ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'झ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ झकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'झ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ झकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो झकाराय ॐ

* 'सन्तप्त-हेम-वर्णाभां' = गर्म, चमकते हुए स्वर्ण जैसी आभावाली।

२६. वर्ण-बीजाक्षर-'अ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'अंकुशी'
विष्णु-शक्ति-'विश्वा'

रुद्र-रूप-'सर्व'
रुद्र-शक्ति-'नागरी'

अं

गणेश-रूप-'सुमुख'
गणेश-शक्ति-'भौतिका'

काम-रूप-'महा-धनु'
काम-शक्ति-'सुमुखी'

क्षेत्रपाल-रूप-'जड़श्वर'

'अ'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां धूम्र-वर्णां, कृष्णाम्बर-विभूषिताम्।
नानालङ्कार - संयुक्तां, जटा - मुकुट - राजिताम्।
ईषद्-हास्य-मुखीं* नित्यां, वरदां भक्त-वत्सलाम्।।

'अ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ अकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'अ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'अ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ अकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'अ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ अकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो अकाराय ॐ

* 'ईषद्-हास्य-मुखीं' = मन्द-मन्द मुस्कराहटवाली।

२७. वर्ण-बीजाक्षर-'ट'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'मुकुन्द'
विष्णु-शक्ति-'वित्तदा'

रुद्र-रूप-'सोमेश'
रुद्र-शक्ति-'खेचरी'

टं

गणेश-रूप-'प्रमोद'
गणेश-शक्ति-'सिता'

काम-रूप-'भ्रामण'
काम-शक्ति-'नलिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'टङ्क-पाणि'

'ट'-कार वर्ण का ध्यान

मालती-कुन्द-पुष्पाभां, पूर्ण-चन्द्र-निभेक्षणाम्*।
दश - बाहु - समायुक्तां, सर्वालङ्कार - भूषिताम्।
पर-मोक्ष-प्रदां नित्यां, सदा स्मेर-मुखीं पराम्।।

'ट'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ टकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ट'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ट'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ टकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ट'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ टकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो टकाराय ॐ

* 'पूर्ण-चन्द्र-निभेक्षणाम्' = पूरे चन्द्रमा के समान दृश्यमान।

२८. वर्ण-बीजाक्षर-'ठ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नन्दज'
विष्णु-शक्ति-'सुतदा'

रुद्र-रूप-'लाङ्गलि'
रुद्र-शक्ति-'मञ्जरी'

ठं

गणेश-रूप-'एक-पद'
गणेश-शक्ति-'रमा'

काम-रूप-'भ्रमण'
काम-शक्ति-'जयिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'ठाण-बन्धु'

'ठ'-कार वर्ण का ध्यान

पूर्ण-चन्द्र-निभां देवीं, विकसत्-पङ्कजेक्षणाम्*।
सुन्दरीं षोडश-भुजां, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।

'ठ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ठकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ठ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ठ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ठकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ठ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ ठकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ठकाराय ॐ

* 'विकसत्-पङ्कजेक्षणाम्' = खिले हुए कमल के समान दृश्यमान।

२९. वर्ण-बीजाक्षर-'ड'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नन्दी'
विष्णु-शक्ति-'स्मृति'

रुद्र-रूप-'दारुक'
रुद्र-शक्ति-'रूपिणी'

डं

गणेश-रूप-'द्वि-जिह्व'
गणेश-शक्ति-'महिषी'

काम-रूप-'भ्रममाण'
काम-शक्ति-'पालिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'डामर'

'ड'-कार वर्ण का ध्यान

जवा-सिन्दूर-सङ्काशां*, वराभय-करां पराम्।
त्रि - नेत्रां वरदां नित्यां, पर - मोक्ष - प्रदायिनीम्।।

'ड'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ डकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ड'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ड'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ डकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ड'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ डकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो डकाराय ॐ

* 'जवा-सिन्दूर-सङ्काशां' = सिन्दूर जैसे लाल गुडहल के फूल के समान आभावाली।

३०. वर्ण-बीजाक्षर-'ढ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नर'
विष्णु-शक्ति-'ऋद्धि'

रुद्र-रूप-'अर्द्ध-नारीश्वर'
रुद्र-शक्ति-'चित्रिणी'

ढं

गणेश-रूप-'शूर'
गणेश-शक्ति-'भञ्जिनी'

काम-रूप-'भ्रमा'
काम-शक्ति-'शिवा'

क्षेत्रपाल-रूप-'ढक्कावार'

'ढ'-कार वर्ण का ध्यान

रक्तोत्पल-निभां रम्यां, रक्त-पङ्कज-लोचनाम्।
अष्टादश-भुजां भीमां, महा-मोक्ष-प्रदायिनीम्*।।

'ढ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ ढकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ढ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ढ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ढकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ढ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ ढकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ढकाराय ॐ

* 'महा-मोक्ष-प्रदायिनीम्' = अन्तिम रूप से मोक्ष प्रदान करनेवाली।

३१. वर्ण-बीजाक्षर-'ण'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नरक-जित्'
विष्णु-शक्ति-'समृद्धि'

रुद्र-रूप-'उमा-कान्त'
रुद्र-शक्ति-'काकोदरी'

णं

गणेश-रूप-'वीर'
गणेश-शक्ति-'विकर्णपा'

काम-रूप-'भ्रान्त'
काम-शक्ति-'मुग्धा'

क्षेत्रपाल-रूप-'ण-वाण'

'ण'-कार वर्ण का ध्यान

द्वि-भुजां वरदां वन्द्यां, भक्ताभीष्ट-प्रदायिनीम्*।
राजीव-लोचनां नित्यां, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।

'ण'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ णकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ण'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ण'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ णकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ण'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ णकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो णकाराय ॐ

* 'भक्ताभीष्ट-प्रदायिनीम्' = भक्तों की इच्छाओं को पूरा करनेवाली।

३२. वर्ण-बीजाक्षर-'त'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'हरि'
विष्णु-शक्ति-'शुद्धि'

रुद्र-रूप-'आषाढ़ी'
रुद्र-शक्ति-'पूतना'

तं

गणेश-रूप-'षण्मुख'
गणेश-शक्ति-'भ्रकुटि'

काम-रूप-'भ्रामक'
काम-शक्ति-'स-विभ्रमा'

क्षेत्रपाल-रूप-'तड़िद्-देह'

'त'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां महा-शान्तां, महा-मोक्ष-प्रदायिनीम्।
सदा षोडश-वर्षीयां, रक्ताम्बर-धरां पराम्*।
नानालङ्कार - भूषां वा, सर्व - सिद्धि - प्रदायिनीम्।।

'त'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ तकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'त'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'त'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ तकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'त'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ तकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो तकाराय ॐ

* 'पराम्' = सभी प्रकार की सृष्टि का विधान करनेवाली चिच्छक्ति।

३३. वर्ण-बीजाक्षर-'थ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'कृष्ण'
विष्णु-शक्ति-'भुक्ति'

रुद्र-रूप-'दण्डी'
रुद्र-शक्ति-'भद्रकाली'

गणेश-रूप-'वरद'
गणेश-शक्ति-'लज्जा'

काम-रूप-'भृङ्ग'
काम-शक्ति-'चारु-नेत्रा'

क्षेत्रपाल-रूप-'स्थिर'

'थ'-कार वर्ण का ध्यान

नील-वर्णां त्रि-नयनां, षड्-भुजां वरदां पराम्।
पीत-वस्त्र-परीधानां, सदा सिद्धि-प्रदायिनीम्*।।

'थ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ थकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'थ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'थ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ थकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'थ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ थकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो थकाराय ॐ

* 'सदा सिद्धि-प्रदायिनीम्' = नित्य मन्त्र-सिद्धि अथवा वाक्-सिद्धि को प्रदान करनेवाली।

३४. वर्ण-बीजाक्षर-'द'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'सत्य'
विष्णु-शक्ति-'मुक्ति'

रुद्र-रूप-'अद्रि'
रुद्र-शक्ति-'योगिनी'

दं

गणेश-रूप-'वाम-देव'
गणेश-शक्ति-'दीर्घ-घोणा'

काम-रूप-'भ्रान्ताचार'
काम-शक्ति-'सुलोला'

क्षेत्रपाल-रूप-'दन्तुर'

'द'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां पीत-वस्त्रां, नव-यौवन-संस्थिताम्*।
अनेक - रत्न - घटित - हार - नूपुर - शोभिताम्।।

'द'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ दकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'द'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'द'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ दकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'द'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ दकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो दकाराय ॐ

* 'नव-यौवन-संस्थिताम्' = प्रत्यक्ष रूप से अनुग्रह करनेवाली।

३५. वर्ण-बीजाक्षर-'ध'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'सात्वत'
विष्णु-शक्ति-'मति'

रुद्र-रूप-'मीन'
रुद्र-शक्ति-'शङ्खिनी'

धं

गणेश-रूप-'वक्र-तुण्ड'
गणेश-शक्ति-'धनुर्द्धरा'

काम-रूप-'भ्रमावह'
काम-शक्ति-'चञ्चला'

क्षेत्रपाल-रूप-'धनद'

'ध'-कार वर्ण का ध्यान

षड् - भुजां मेघ - वर्णां च, रक्ताम्बर - धरां* पराम्।
वरदां शुभदां रम्यां, चतुर्वर्ग - प्रदायिनीम्।।

'ध'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ धकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ध'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ध'-कार वर्ण के मन्त्र '**ॐ धकाराय नमः**' का १० बार जप करे।

तब 'ध'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ धकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो धकाराय ॐ

* 'रक्ताम्बर-धरां' = रजो-गुण-मय सौभाग्य-स्वरूपा।

६. वर्ण-बीजाक्षर-'न'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'शौरि'
विष्णु-शक्ति-'क्षमा'

रुद्र-रूप-'मेष'
रुद्र-शक्ति-'गर्जिनी'

नं

गेश-रूप-'द्विरण्डक'
गेश-शक्ति-'यामिनी'

काम-रूप-'मोहन'
काम-शक्ति-'दीर्घ-जिह्वा'

क्षेत्रपाल-रूप-'नति-क्रान्त'

■ 'न'-कार वर्ण का ध्यान ■

दलिताञ्जन-वर्णाभां, ललज्जिह्वां सुलोचनाम् ।
चतुर्भुजां चकोराक्षीं, चारु-चन्दन-चर्चिताम्।
कृष्णाम्बर - परीधानामीषद् - हास्य - मुखीं सदा*।।

■ 'न'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ नकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'न'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'न'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ नकाराय नमः' का
० बार जप करे।

तब 'न'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ नकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो नकाराय ॐ

* 'कृष्णाम्बर-परीधानामीषद्-हास्य-मुखीं सदा' = तमो-गुण एवं रजो-गुण का सदैव पोषण करनेवाली।

७. वर्ण-बीजाक्षर-'प'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'शूरी'
विष्णु-शक्ति-'रमा'

रुद्र-रूप-'लोहित'
रुद्र-शक्ति-'काल-रात्रि'

पं

गणेश-रूप-'सेनानी'
गणेश-शक्ति-'रात्रि'

काम-रूप-'मोहक'
काम-शक्ति-'रति-प्रिया'

क्षेत्रपाल-रूप-'प्रचण्डक'

'प'-कार वर्ण का ध्यान

विचित्र-वसनां देवी, द्वि-भुजां पङ्कजेक्षणाम्।
रक्त-चन्दन-लिप्ताङ्गीं, पद्म-माला-विभूषिताम्।।
मणि - रत्नादि - भूषितां, केयूर - हार - विग्रहाम्।
चतुर्वर्ग-प्रदां नित्यां, नित्यानन्द-मयीं पराम्*।।

'प'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ पकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'प'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'प'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ पकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'प'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ पकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो पकाराय ॐ

* 'नित्यानन्द-मयीं पराम्' = सदैव आनन्दित रहनेवाली सृष्टि-विधायिनी शक्ति।

३८. वर्ण-बीजाक्षर–'फ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप–'जनार्दन'
विष्णु-शक्ति–'उमा'

रुद्र-रूप–'शिखी'
रुद्र-शक्ति–'कुब्जिनी'

गणेश-रूप–'ग्रामणी'
गणेश-शक्ति–'कामान्धा'

काम-रूप–'मोह'
काम-शक्ति–'लोलाक्षी'

क्षेत्रपाल-रूप–'फट्-कार'

'फ'-कार वर्ण का ध्यान

प्रलयाम्बुद-वर्णाभां*, ललज्जिह्वां चतुर्भुजाम्।
भक्ताभय-प्रदां नित्यां, नानालङ्कार-भूषिताम्।।

'फ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ फकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'फ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'फ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ फकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'फ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ फकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो फकाराय ॐ

* 'प्रलयाम्बुद-वर्णाभां' = सृष्टि-विघटन-स्वरूपी भयङ्कर घनघोर काली छटावाले बादलों जैसी आभावाली।

३९. वर्ण-बीजाक्षर-'ब'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'भू-धर'
विष्णु-शक्ति-'क्लेदिनी'

रुद्र-रूप-'छगलण्ड'
रुद्र-शक्ति-'कपर्दिनी'

गणेश-रूप-'मत्त'
गणेश-शक्ति-'शशि-प्रभा'

काम-रूप-'मोह-वर्द्धन'
काम-शक्ति-'शृङ्गिणी'

क्षेत्रपाल-रूप-'वीर-सङ्घ'

'ब'-कार वर्ण का ध्यान

नील-वर्णां त्रि-नयनां, नीलाम्बर-धरां पराम्*।
नाग-हारोज्ज्वलां देवीं, द्वि-भुजां पद्म-लोचनाम्।।**

'ब'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ बकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ब'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ब'-कार वर्ण के मन्त्र '**ॐ बकाराय नमः**' का १० बार जप करे।

तब 'ब'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ बकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो बकाराय ॐ

* 'नीलाम्बर-धरां पराम्' = ज्ञान, मोक्ष-दायिनी सृष्टि-विधायिनी-शक्ति।

** 'नाग-हारोज्ज्वलां देवीं' = भीषण से भीषण कष्टों का शमन करनेवाली परम औषधि-स्वरूपा शक्ति।

४०. वर्ण-बीजाक्षर–'भ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप–'विश्व-मूर्ति'
विष्णु-शक्ति–'क्लिन्ना'

रुद्र-रूप–'द्विरण्डेश'
रुद्र-शक्ति–'महा-वज्रा'

भं

गणेश-रूप–'विमत्त'
गणेश-शक्ति–'लोल-लोचना'

काम-रूप–'मदन'
काम-शक्ति–'पावना'

क्षेत्रपाल-रूप–'भृङ्ग'

'भ'-कार वर्ण का ध्यान

तडित्-प्रभां महा-देवीं, नाग-कङ्कण-शोभिताम्*।
चतुर्वर्ग-प्रदां देवीं, साधकाभीष्ट-सिद्धिदाम्।।

'भ'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ भकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'भ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'भ'-कार वर्ण के मन्त्र '**ॐ भकाराय नमः**' का १० बार जप करे।

तब 'भ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ भकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो भकाराय ॐ

* 'नाग-कङ्कण-शोभिताम्' = कड़े के रूप में नागों को धारण करनेवाली अर्थात् आपदाओं से रक्षा करनेवाली। शक्ति

४१. वर्ण-बीजाक्षर-'म'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वैकुण्ठ'
विष्णु-शक्ति-'वसुदा'

रुद्र-रूप-'महा-काल'
रुद्र-शक्ति-'जया'

गणेश-रूप-'मत्त-वाहन'
गणेश-शक्ति-'चञ्चला'

काम-रूप-'मन्मथ'
काम-शक्ति-'मदना'

क्षेत्रपाल-रूप-'मेघ-भासुर'

'म'-कार वर्ण का ध्यान

कृष्णां दश-भुजां भीमां, पीत-लोहित-लोचनाम्*।
कृष्णाम्बर-धरां नित्यां, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।**

'म'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ मकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'म'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'म'-कार वर्ण के मन्त्र '**ॐ मकाराय नमः**' का १० बार जप करे।

तब 'म'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ मकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो मकाराय ॐ

* 'पीत-लोहित-लोचनाम्' = 'पीत'-ऐश्वर्य, 'लोहित'-सौभाग्य प्रदान करनेवाली।

** 'कृष्णाम्बर-धरां' = 'काले रङ्ग के वस्त्र धारण करनेवाली अर्थात् सभी को अपने में समाहित करनेवाली।

४२. वर्ण-बीजाक्षर-'य'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'पुरुषोत्तम'
विष्णु-शक्ति-'वसुधा'

रुद्र-रूप-'कपाली'
रुद्र-शक्ति-'सुमुखेश्वरी'

गणेश-रूप-'जटी'
गणेश-शक्ति-'दीप्ति'

काम-रूप-'मातङ्ग'
काम-शक्ति-'माला'

क्षेत्रपाल-रूप-'युगान्त'

'य'-कार वर्ण का ध्यान

धूम्र-वर्णां महा-रौद्रीं, षड्-भुजां रक्त-लोचनाम्।
रक्ताम्बर-परीधानां, नानालङ्कार-भूषिताम्।।
महा-मोक्ष-प्रदां नित्यामष्ट-सिद्धि-प्रदायिनीम्।
त्रि-शक्ति-सहितं वर्णं, त्रि-विन्दु-सहितं तथा *।।

'य'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ यकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'य'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'य'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ यकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'य'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ यकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो यकाराय ॐ

* 'त्रि-शक्ति-सहितं...' = 'इच्छा-ज्ञान-क्रिया' तथा 'वाक्-काम-शक्ति'-मय वर्ण।

४३. वर्ण-बीजाक्षर–‘र’-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप–‘बली’
विष्णु-शक्ति–‘परा’

रुद्र-रूप–‘भुजङ्गेश’
रुद्र-शक्ति–‘रेवती’

रं

गणेश-रूप–‘मुण्डी’
गणेश-शक्ति–‘शुभगा’

काम-रूप–‘भृङ्ग-नायक’
काम-शक्ति–‘हंसिनी’

क्षेत्रपाल-रूप–‘रौरव’

‘र’-कार वर्ण का ध्यान

ललज्जिह्वां* महा-रौद्रीं, रक्तास्यां रक्त-लोचनाम्।
रक्त - वर्णामष्ट - भुजां, रक्त - पुष्पोपशोभिताम्।।
रक्त - माल्याम्बर - धरां, रक्तालङ्कार - भूषिताम्।
महा-मोक्ष-प्रदां नित्यामष्ट-सिद्धि-प्रदायिकाम्।।

‘र’-कार वर्ण का मन्त्र

‘ॐ रकाराय नमः’

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले ‘र’-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर ‘र’-कार वर्ण के मन्त्र ‘ॐ रकाराय नमः’ का १० बार जप करे।

तब ‘र’-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा–

ॐ रकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो रकाराय ॐ

* ‘ललज्जिह्वां’ = सदैव सक्रिय।

४४. वर्ण-बीजाक्षर-'ल'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'बलानुज'
विष्णु-शक्ति-'परायणा'

रुद्र-रूप-'पिनाकी'
रुद्र-शक्ति-'माधवी'

गणेश-रूप-'खड्गी'
गणेश-शक्ति-'दुर्भगा'

काम-रूप-'गायक'
काम-शक्ति-'विश्वतोमुखी'

क्षेत्रपाल-रूप-'लम्बोष्ठ'

'ल'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां पीत-वस्त्रां, रक्त-पङ्कज-लोचनाम्।
सर्वदा वरदां भीमां, सर्वालङ्कार-भूषिताम्।।
योगीन्द्र-सेवितां नित्यां, योगिनीं योग-रूपिणीम्*।
चतुर्वर्ग - प्रदां देवीं, नाग - हारोपशोभिताम्।।

'ल'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ लकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ल'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ल'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ लकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ल'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ लकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो लकाराय ॐ

* 'योगिनीं योग-रूपिणीम्' = डाकिनी आदि छः योगिनियाँ, जो जीवात्मा को परमात्मा से मिलाती हैं।

४५. वर्ण-बीजाक्षर-'व'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'बाल'
विष्णु-शक्ति-'सूक्ष्मा'

रुद्र-रूप-'खड्गीश'
रुद्र-शक्ति-'वारुणी'

वं

गणेश-रूप-'वरेण्य'
गणेश-शक्ति-'शिवा'

काम-रूप-'गीती'
काम-शक्ति-'नन्दिनी'

क्षेत्रपाल-रूप-'वसव'

■ 'व'-कार वर्ण का ध्यान ■

कुन्द-पुष्प-प्रभां देवीं, द्वि-भुजां पङ्कजेक्षणाम्।
शुक्ल-माल्याम्बर-धरां, रत्न-हारोज्ज्वलां पराम्।
साधकाभीष्टदां सिद्धां, सिद्धिदां सिद्ध-सेविताम्*।।

■ 'व'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ वकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'व'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'व'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ वकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'व'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ वकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो वकाराय ॐ

* 'सिद्ध-सेविताम्' = सिद्ध सन्तों, महात्माओं, साधकों द्वारा पूजित।

४६. वर्ण-बीजाक्षर-'श'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वृषघ्न'
विष्णु-शक्ति-'सन्ध्या'

रुद्र-रूप-'वकेश'
रुद्र-शक्ति-'वायवी'

गणेश-रूप-'वृष-केतन'
गणेश-शक्ति-'भर्गा'

काम-रूप-'नर्त्तक'
काम-शक्ति-'रमणी'

क्षेत्रपाल-रूप-'शुक-नन्द'

'श'-कार वर्ण का ध्यान

चतुर्भुजां चकोराक्षीं, चारु-चन्दन-चर्चिताम्।
शुक्ल-वर्णां त्रि-नयनां, वरदां च शुचि-स्मिताम्*।।
रत्नालङ्कार-भूषाढ्यां, श्वेत-माल्योपशोभिताम्।
देव-वृन्दैरभिवन्द्यां, सेवितां मोक्ष-कांक्षिभिः।।

'श'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ शकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'श'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'श'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ शकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'श'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ शकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो शकाराय ॐ

* 'शुचि-स्थिताम्' = मधुर मुस्कानवाली।

४७. वर्ण-बीजाक्षर-'ष'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वृष'
विष्णु-शक्ति-'प्रज्ञा'

रुद्र-रूप-'श्वेत'
रुद्र-शक्ति-'रक्षो-विदारिणी'

गणेश-रूप-'भक्ष्य-प्रिय'
गणेश-शक्ति-'भगिनी'

काम-रूप-'खेलक'
काम-शक्ति-'कान्ति'

क्षेत्रपाल-रूप-'षडाल'

'ष'-कार वर्ण का ध्यान

शुक्लाम्बरां शुक्ल-वर्णां, द्वि-भुजां रक्त-लोचनाम्।
श्वेत-चन्दन-लिप्ताङ्गीं, मुक्ता-हारोपशोभिताम्।।
गन्धर्व - गीयमानां च, सदानन्द - मयीं पराम्।
अष्ट-सिद्धि-प्रदां नित्यां, भक्तानन्द-विवर्द्धिनीम्*।।

'ष'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ षकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ष'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ष'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ षकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ष'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ षकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो षकाराय ॐ

* 'भक्तानन्द-विवर्द्धिनीम्' = भक्तों के आनन्द का वर्धन करनेवाली।

४८. वर्ण-बीजाक्षर-'स'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'हंसः'
विष्णु-शक्ति-'प्रभा'

रुद्र-रूप-'भृगु'
रुद्र-शक्ति-'सहजा'

सं

गणेश-रूप-'गणेश'
गणेश-शक्ति-'भोगिनी'

काम-रूप-'उन्मत्त'
काम-शक्ति-'कल-कण्ठी'

क्षेत्रपाल-रूप-'सुनामा'

■ 'स'-कार वर्ण का ध्यान ■

करीष-भूषिताङ्गीं* च, साट्टहासां दिगम्बरीम्।
अस्थि-माल्यामष्ट-भुजां, वरदाम्बुजेक्षणाम्।।
नागेन्द्र-हार-भूषाढ्यां, जटा-मुकुट-मण्डिताम्।
सर्व-सिद्धि-प्रदां नित्यां, धर्म-कामार्थ-मोक्षदाम्।।

■ 'स'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ सकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'स'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'स'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ सकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'स'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ सकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो सकाराय ॐ

* 'करीष-भूषिताङ्गीं' = भस्म से विभूषित।

४९. वर्ण-बीजाक्षर-'ह'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'वराह'
विष्णु-शक्ति-'निशा'

रुद्र-रूप-'नकुली'
रुद्र-शक्ति-'लक्ष्मी'

गणेश-रूप-'मेघ-नाद'
गणेश-शक्ति-'सुभगा'

काम-रूप-'मत्तक'
काम-शक्ति-'वृकोदरी'

क्षेत्रपाल-रूप-'हंध्रक'

■ 'ह'-कार वर्ण का ध्यान ■

चतुर्भुजां रक्त-वर्णां, शुक्लाम्बर-विभूषिताम्।
रक्तालङ्कार - संयुक्तां, वरदां पद्म - लोचनाम्।।
ईषद्-हास्य-मुखीं लोलां*, रक्त-चन्दन-चर्चिताम्।
स्याद् दात्रीं च चतुर्वर्ग-प्रदां सौम्यां मनोहराम्।
गन्धर्व - सिद्ध - देवाद्यैर्ध्यातामाद्यां सुरेश्वरीम्।।

■ 'ह'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ हकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ह'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ह'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ हकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ह'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा-

ॐ हकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो हकाराय ॐ

* 'लोलां' = लक्ष्मी।

५०. वर्ण-बीजाक्षर-'ळ'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'विमल'
विष्णु-शक्ति-'अमोधा'

रुद्र-रूप-'शिव'
रुद्र-शक्ति-'व्यापिनी'

गणेश-रूप-'व्यापी'
गणेश-शक्ति-'काल-रात्रि'

काम-रूप-'विलासी'
काम-शक्ति-'मेघ-श्यामा'

रुद्र-रूप महादेव ने प्रलयाग्नि से पृथ्वी का उद्धार करते समय पृथ्वी-बीज 'ल-कार' का भी दुबारा उद्धार किया था। अतः इस ल-कार को लेकर 'वर्ण-माला' में दो 'ल' हैं।

■ 'ळ'-कार (द्वितीय ल-कार) वर्ण का ध्यान ■

पाशाभय-कराळार्ण-मूर्तिः* श्वेता गज-स्थिता।

■ 'ळ'-कार वर्ण का मन्त्र ■

'ॐ ळकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

पहले 'ळ'-कार वर्ण का ध्यान करे, फिर 'ळ'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ ळकाराय नमः' का १० बार जप करे।

तब 'ळ'-कार वर्ण के मन्त्र से पुटित अपने अभीष्ट-मन्त्र का १० बार जप करे। यथा—

ॐ ळकाराय नमः

अभीष्ट-मन्त्र

नमो ळकाराय ॐ

* 'पाशाभय-कराळार्ण-मूर्तिः' = एक हाथ में 'पाश' और दूसरे हाथ में 'अभय-मुद्रा'-भयङ्कर स्वरूपवाली।

५१. वर्ण-बीजाक्षर-'क्ष'-कार मातृका की साधना

विष्णु-रूप-'नृसिंह'
विष्णु-शक्ति-'विद्युता'

रुद्र-रूप-'संवर्तक'
रुद्र-शक्ति-'माया'

गणेश-रूप-'गणेश्वर'
गणेश-शक्ति-'कालिका'

काम-रूप-'लोभ-वर्द्धन'
काम-शक्ति-'लोभ-वर्द्धिनी'

'क्ष'-कार वर्ण का ध्यान

क्ष-कारं शृणु चार्वङ्गि!, कुण्डली-त्रय-संयुतम्।
चतुर्वर्ग-मयं वर्णं, पञ्च-देव-मयं सदा।।
पञ्च-प्राणात्मकं वर्णं, त्रि-शक्ति-सहितं सदा।
त्रि-विन्दु-सहितं वर्णमात्मादि-तत्त्व-संयुतम्।
शरच्चन्द्र-प्रतीकाशं, हृदि भावय सुन्दरि!।।

'क्ष'-कार वर्ण का मन्त्र

'ॐ क्षकाराय नमः'

मन्त्र-सिद्धि का उपाय

'क्ष'-कार-वर्ण-माला का सुमेरु है। अतः इसके मन्त्र से पुटित अभीष्ट मन्त्र का जप नहीं किया जाता है।

अतः शरद् ऋतु के चन्द्र के समान अत्यन्त उज्ज्वल आत्मादि-तत्त्व-मय 'क्ष'-कार का केवल ध्यान कर, फिर 'क्ष'-कार वर्ण के मन्त्र 'ॐ क्षकाराय नमः' का १० बार जप किया जाता है।

'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-साधना हेतु यहाँ संक्षिप्त एवं वृहत् दो प्रकार की स्तुतियाँ दी जा रही हैं। समय-समय पर केवल इनका 'पाठ' कर 'वर्ण-बीजाक्षर-मातृका'-साधना कर सकते हैं। —सं०

अक्ष-माला-स्तुतिः

॥ पूर्व-पीठिका ॥

श्रीगायत्रीं त्रयीं विद्यां, प्रणम्य परमेश्वरीम्।
'अक्ष-माला-स्तुतिं' दिव्यां, करोमि सुखदां सताम्।।१

॥ मूल-स्तुति ॥

अथाऽव्यक्ताऽऽदि-शक्तिर्या, महा-देवीन्दिरेश्वरीम्।
उमोर्ध्व-केशी ऋग्वेदा, 'ऋ'-रूपा ऋद्धि-दायिनी।।१
लृप्तधर्माऽस्ति 'लृ'-नाम्नी, त्वेकाक्षर-विहारिणी।
ऐन्द्री ह्योङ्कार-रूपा या, चौपासन-फल-प्रदा।।२
अण्ड-मध्य-स्थिता देवी, 'अः'-कार-मनु-रूपिणी।
षोडशीं लोक-पूज्यां तां, सर्वदा संस्मराम्यहम्।।३
ततो व्यञ्जन-वर्णस्थां, कमलां खग-वाहनाम्।
गङ्गां च धर्मदां देवीं, 'ङ'-क्षरां प्रणमाम्यहम्।।४
चण्डिकां सततं वन्दे, देवीं छन्दोऽनुगां पराम्।
जयन्तीं क्षण-निर्घोषां, 'ञ'-रूप-वृष-वाहनाम् ।।५
टङ्क-वर्णान्वितां दिव्यां, 'ठ-ठ'-शब्द-निनादिनीम्।
डमरू-भूषणां देवीं, ढक्का-हस्तां नमाम्यहम्।।६
'ण'-वर्ण-रूपिणीं दिव्यां, तप्त-काञ्चन-भूषणाम्।
थावरां* सततं वन्दे, दण्डकारण्य-वासिनीम्।।७
धर्म-शीलां नदी-रूपां, पर-ब्रह्मात्मिकां तथा।
फलदां बहु-नेत्रां च, भवानीं प्रणतोऽस्म्यहम्।।८

मालिनीं तां महा-मायां, पञ्च-विंशति-वर्णिकाम्।
नत्वा पुनः स्मराम्यत्र, 'य'-क्षवर्णात्मिकाद्भुताम्।।९
यक्षिणीं योग-मायां तां, रामां लक्ष्मीं सुख-प्रदाम्।
वरदां शारदां दिव्यां, षण्मुखीं च सरस्वतीम्।।१०
हरि-रुद्र-प्रियां देवीं, क्षमा-शीलां नवात्मिकाम्।
पञ्चाशद्-वर्ण-रूपां तां, स्मरामि सर्वदा शुभाम्।।११
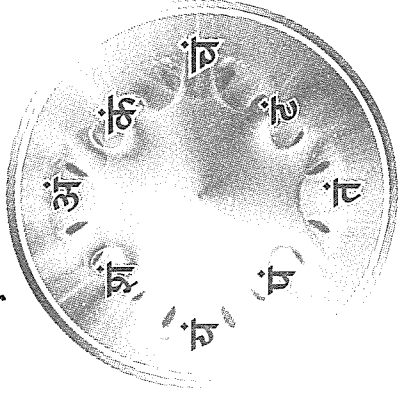
॥ फल-श्रुति ॥

इति रत्न-मयीं देवीं, गायत्री-तुष्टि-कारिणीम्।
स्तुतिं पठन्नरो नित्यं, ब्रह्म-सायुज्यमाप्नुयात्।।१

॥ श्री गार्ग्य-मुनि 'द्विजेन्द्र'-कवि-कृता 'अक्ष-माला-स्तुतिः'॥

* थावराम् = स्थावराम्

'अ' से लेकर 'क्ष' तक के सभी अक्षरों की आधार-स्वरूपा

श्री त्रि-वेणी देवी की स्तुति

ॐ-काराब्ज-निवास-मत्त-मधुपामुद्यान-पीठ-स्थिताम्।

ॐ-कारा-गण-काम-कल्प-लतिकामोजस्विनीमौषधीम्।।

ॐ-कारेश्वर-केवल-प्रिय-सखीमोङ्कार-नाद-प्रियाम्।

ॐ-कार-प्रभवां विचित्र-विभवां देवीं त्रिवेणीं भजे।।१।।

जो **ॐ-कार**-रूपी कमल-वाटिका के पीठ पर मस्त भौरों की तरह निवास करती हैं, **ॐ-कार** के उपासकों की कामना सिद्ध करने के लिए कल्प-वृक्ष के समान हैं, तेजोवर्धक औषधि के तुल्य हैं, **ॐ-कारेश्वर (कृष्ण)** की एक-मात्र प्रिय सखी हैं, जिन्हें **ॐ-कार**-शब्द प्रिय है, **ॐ-कार** से जिनकी उत्पत्ति हुई है और जो विचित्र ऐश्वर्य-शालिनी हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।१।।

अद्वैतामभि-वाञ्छितार्थ-फलदामव्याहतामव्ययाम्।

अष्टैश्वर्य-करामनन्त-जयदामब्ज-स्थितामक्षरीम्।।

आब्धि-ग्रास-नुतामशेष-जननीमर्काग्नि-कोटि-प्रभाम्।

अज्ञानान्ध-हरामपार-करुणां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२।।

जो अद्वैत-स्वरूपा, मनोवाञ्छित फल-दायिनी, अव्याहत गतिवाली, अविनाशिनी, आठो सिद्धियों को देनेवाली, सदा विजय प्राप्त करानेवाली, कमल पर स्थित **अक्षर**-स्वरूपा हैं, जिनकी स्तुति अगस्त्य जी किया करते हैं, जो जगज्जननी करोड़ों सूर्य एवं अग्नि के समान चमकनेवाली हैं, अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाली हैं और जो अपार करुणा-मयी हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२।।

आम्नायागम-सेविताधि-युगलामापीनुत्तुङ्ग-स्तनीम्।

आपो-ज्योति-रसाभि-पूर्ण-लहरीमानन्द-सन्धायिनीम्।।

आधारामरुणामनेक-कुशलामाकार-संशोभिताम्।

आदि-क्षान्त-समस्त-वर्ण-निलयां देवीं त्रिवेणीं भजे।।३।।

जिनके दोनों चरणों की सेवा वेद और तन्त्र-शास्त्र किया करते हैं, स्तन स्थूल एवं उत्तुङ्ग हैं, जिनका जल निर्मल, स्वादिष्ट तथा तरङ्गों से युक्त है, जो आनन्द देनेवाली हैं, सबको धारण करनेवाली हैं, जिनका वर्ण लाल है, जो अनेक कार्यों में कुशल हैं, जिनकी आकृति सुन्दर है और जो **'अ'** से लेकर **'क्ष'** तक के सभी अक्षरों की आधार हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।३।।

इष्टानिष्ट-विवर्जितामिह पर-स्वामैक्य-सौख्य-प्रदाम्।
इच्छा-सिद्धि-विलास-वैभव-परामिच्छा-क्रिया-संयुताम्।।
इच्छा-शक्ति-धनुः-शराभि-दधतीमिन्द्रार्चितामिन्दिराम्।
इष्टावाप्त-वरिष्ठ-वाक्-प्रकरिणीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।४।।

जो अच्छे और बुरे, अपने और पराए के भेद-भाव से दूर हैं तथा सुख प्रदान करानेवाली एक-मात्र स्वामिनी हैं, इच्छा-शक्ति, विलास-वैभव से सम्पन्न यथेच्छ आचरण करनेवाली हैं, इच्छा-शक्ति-रूपी धनुष और बाण को धारण करती हैं, इन्द्र जिनकी पूजा करते हैं, जो धन तथा मनो-कामना पूर्ण करती हैं, जिनकी वाणी बड़ी ही ओजस्विनी है— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४।।

ईषत् - स्मेरे-विराजमान-वदनामीशान-दैवार्चिताम्।
ईशित्वादि-समस्त-सिद्धि-सहितामीङ्कार-वर्णात्मिकाम्।।
ईशां काम-कलां विशुद्ध-मनसां विश्वेश्वरीमीश्वरीम्।
ईषन्त्री-सकलार्थ-दीपन-करीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।५।।

जिनका मुख मन्द-मन्द मुस्कान से सुशोभित है, शङ्कर जिनका पूजन करते हैं, जो **'ईशित्व'** (सबको वश में रखना) आदि सम्पूर्ण सिद्धियों से युक्त हैं, जिनका स्वरूप **ई-कार-**अक्षर-मय है, जो सबकी स्वामिनी हैं, **'काम'** की **'कला'** हैं, पवित्र अन्तःकरणवाली हैं, विश्व की शासिका हैं, ईश्वरी हैं तथा सकल पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।५।।

उत्फुल्लारुण - पद्म-नेत्र-युगलामुद्दण्ड-दैत्यापहाम्।
उद्योतोज्ज्वल-तीर्थ-राज-रमणीमुल्लास-तेजोवतीम्।।
उत्कर्षाभय-दान-पेशल-करामुच्छ्वास-शक्ति-प्रदाम्।
उर्वश्यर्चित-पादुकां पर-कलां देवीं त्रिवेणीं भजे।।६।।

प्रस्फुटित लाल कमल के समान जिनके नेत्र हैं, जो उद्दण्ड दैत्यों का नाश करनेवाली हैं, प्रभा से विलसित हैं, तीर्थ-राज प्रयाग की प्रिया हैं, उल्लास और तेज से युक्त हैं, उत्कर्ष एवं अभय-दान देने में सिद्ध-हस्त हैं, जीवन-शक्ति प्रदान करनेवाली हैं, जिनकी खड़ाऊँ की पूजा उर्वशी करती हैं तथा जो उत्कृष्ट कला-स्वरूपा हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।६।।

ऊर्ध्व-स्रोत-परा-सरां त्रि-नयनामूर्ध्व-स्वरामूर्ध्वगाम्।
ऊर्ध्वाश्वास-सुषुम्न-मार्ग-गमनामूर्ध्वे ज्वलज्ज्वालिनीम्।।
ऊर्ध्वाधः-परिपूर्ण-धाम-लहरीमूर्ध्व-प्रभां भास्वराम्।
ऊर्ध्व-स्थान-निवासिनीं शुभ-करीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।७।।

जो ऊर्ध्व-गामी प्रवाह से युक्त हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जिनका स्वर ऊर्ध्व है, जो ऊर्ध्व-गामिनी हैं, ऊर्ध्व-उच्छ्वास एवं सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से गमन करनेवाली हैं, ऊपर को उठनेवाली भास्वर-ज्वाला से देदीप्यमान हैं, ऊपर और नीचे अत्यन्त तेज तरङ्गों से व्याप्त हैं, ऊर्ध्व कान्तिवाली हैं, जाज्वल्यमान् हैं, ऊर्ध्व स्थान में निवास करनेवाली हैं तथा शुभ करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥७॥

ऋक्-सामैरभि-वन्दितां ऋषि-गणैर्ध्येयां जगन्मोहिनीम्।
ऋत्विक्-श्रोत्रिय-यज्ञ-सेवित-तरां ऋग्-दुःख-संहारिणीम्॥
ऋग्-घोरासुर-मर्दिनीं ऋतु-मतीं सिंहासनाधीश्वरीम्।
ऋक्-क्षामार्चित-पाद-पद्म-युगलां देवीं त्रिवेणीं भजे॥८॥

ऋग्वेद और साम-वेद जिनकी अभिवन्दना करते हैं, ऋषि-वृन्द जिनका ध्यान करते हैं, जो जगत् को मोह में डाल देती हैं, ऋत्विक् एवं श्रोत्रिय लोग यज्ञ द्वारा जिनकी उपासना करते हैं, जो ऋचाओं द्वारा दुःख का संहार तथा भयङ्कर असुरों का मर्दन करनेवाली हैं, ऋतु-मती हैं, सिंहासन की अधीश्वरी हैं और जिनके चरणारविन्दों की पूजा 'ऋग्-वेद' एवं 'साम-वेद' किया करते हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥८॥

ॠत्यकल्पित नासिकां ॠजु-करां ॠङ्कार-भूषोज्ज्वलाम्।
ॠ-दिव्यामृत - पूर्ण-हेम-लहरीं ॠ-वर्ण-सञ्चारिणीम्॥
ॠकाराक्षर-रूपिणीं गुरु-तरां ॠ-दीर्घ-सारां गणाम्।
ॠ-नित्यां ॠ-गणां भयापहारिणीं देवीं त्रिवेणीं भजे॥९॥

जिनकी नासिका **ॠ-अक्षर** के समान है, कल्याण-कारिणी हैं, जो **ॠकार**-रूप आभूषण से प्रकाशमान हैं, **ॠ-कार-रूप** दिव्य एवं अमृत-पूर्ण स्वर्ण-लहरी के समान हैं, **ॠ-वर्ण** के साथ सञ्चरण करनेवाली हैं, **ॠ-कार**-अक्षर-स्वरूपा हैं, अतिशय विशाल हैं, **दीर्घ ॠ-कार** की सार हैं, **ॠ-अक्षर** में नित्य रूप से अवस्थित हैं, **ॠ-कार** ही गण हैं, भय को दूर करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥९॥

ऌब्ध-द्रोह-विनाश-हेतु-चतुरां ऌ-ॡ-कपोलाक्षराम्।
ऌत्त-प्रेत-पिशाच-लुण्ठन-करां ऌ-ॡ-कला-शोभिताम्॥
ऌप्तां ऌप्त-विहीन-विद्रुम-लतां लोकेषु विख्यातिनीम्।
ऌ-ॡ-निर्मित-नील-कान्ति-चिकुरां देवीं त्रिवेणीं भजे॥१०॥

जो ईर्ष्या और द्रोह को नष्ट करने में पटु हैं, जिन्हें कपोल से उच्चरित होनेवाले **'ऌ'** और **'ॡ'** अक्षर प्रिय हैं, जिनके हाथ भूत, प्रेत और पिशाच के लूटने में दक्ष हैं, जो **'ऌ'** और **'ॡ'** अक्षरों की कला से सुशोभित हैं, जो जगत्-विख्यात हैं, जिनके केश **'ऌ'** और **'ॡ'** अक्षरों की नील-कान्ति से परिपूर्ण हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥१०॥

लॄ-कारां परम-प्रकाश-लहरीं लॄ-कार-मध्ये स्थिताम्।
लोभ-क्रोध-निराकरां सु-रुचिरां लावण्य-नीलालकाम्॥
लीला-लब्ध-यशस्विनीं स्थिर-तरां लॄ-ङ्कार-नित्यार्चिताम्।
लक्षार्क-प्रतिम-प्रदीप-कलिकां देवीं त्रिवेणीं भजे॥११॥

जो **'लॄ'** अक्षर से युक्त हैं, महा-प्रकाश की तरङ्ग-रूप हैं, लॄ-कार के बीच में रहनेवाली हैं, लोभ और क्रोध का निवारण करनेवाली हैं, अत्यन्त सुन्दरी हैं, घुँघराले तथा नीले रङ्ग के बालों से सुशोभित हैं, अपनी लीलाओं के द्वारा यश प्राप्त करनेवाली हैं, अत्यन्त स्थिर रहनेवाली हैं, **लॄकार** से नित्य पूजित होनेवाली हैं तथा लाखों सूर्य के समान देदीप्यमान हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥११॥

एक-प्राभव-शालिनीं निज-सुखामेकाग्र-चित्त-प्रदाम्।
एकां निश्चल-योगिनीमनुपमामेकाक्षरांशाश्रिताम्॥
एकाकार - विराजमान-तरुणीमेक-प्रतापाज्वलाम्।
एकाभां नव-यावकार्द-चरणां देवीं त्रिवेणीं भजे॥१२॥

जो महा-प्रभुता से सम्पन्न हैं, अपने आप आनन्दित रहनेवाली हैं, चित्त को एकाग्र करनेवाली हैं, अकेली रहनेवाली हैं, निश्चल होकर योगाभ्यास करनेवाली हैं, जो अनुपम हैं, एकाक्षर के भाग पर आधारित हैं, एक रूप में सदा युवती हैं, अद्भुत प्रताप से युक्त हैं, विशिष्ट शोभावाली हैं, चरणों में महावर लगाए हुई हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥१२॥

ऐंकारारुण-वह्नि-चक्र-निलयामैरावताधिष्ठिताम्।
ऐंकारांकुर-दीप्त-काञ्चन-लतामैङ्कार-वर्णात्मिकाम्॥
ऐंकाराम्बुधि-चन्द्रिकामसुरहामैङ्कार-पीठ-स्थिताम्।
ऐंकारासन-गर्भितानल-शिखां देवीं त्रिवेणीं भजे॥१३॥

अग्नि-समूहों को धारणा करनेवाली, **ऐंकार** के समान लाल तथा ऐरावत पर आसीन, **ऐंकार** के अंकुर के समान प्रकाशवती स्वर्ण-लता हैं, **ऐंकार**-अक्षर-स्वरूपा हैं, **ऐंकार**-रूपी समुद्र में चाँदनी के समान, असुरों को नाश करनेवाली, **ऐंकार** की पीठ पर विराजमान, **ऐंकार**-रूपी आसन पर स्थित अग्नि-शिखा हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥१३॥

औन्नत्यामभय - प्रदान-चतुरामौघ-त्रयाराधिताम्।
औद्धत्यामघ-शोषणां सु-विदुषामोघोघ-बुद्धि-प्रदाम्॥
औद्-गीतां सकलैः पुराण-पुरुषैर्वेदे पदैस्स-क्रमैः।
ओंकाराक्षर - राज-राज्य-वशगां देवीं त्रिवेणीं भजे॥१४॥

जो उन्नति और अभय प्रदान करने में चतुर हैं, गङ्गा-यमुना-सरस्वती जिनकी उपासना करती हैं, जो लोगों की उद्दण्डता और पापों का नाश करती हैं, विद्वानों को बुद्धि एवं आनन्द प्रदान करती हैं, वेद-पुराण जिनकी महिमा गाते हैं, जो **ओंकार**-अक्षर मन्त्र की वशीभूत हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।१४।।

अम्बाम्बर-मध्य-देश-ललितामम्बा-त्रयाराधिताम्।

अम्बोजोद्भव-याग-सिद्ध-वरदामम्भोज-पत्रेक्षणाम्।।

अन्तर्ध्यान-विधान-तत्त्व-विषदामङ्गा-सुधीमङ्गणाम्।

अङ्गस्यामनुभूति-भावन-रतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।१५।।

जो मध्य आकाश में शोभायमान होती हैं, तीनों महा-शक्तियाँ जिनकी आराधना करती हैं, जो ब्रह्माजी के यज्ञ को सफल करती एवं वरदान देती हैं, जिनकी आँखें कमल-पत्र के समान हैं, जो अन्तर्ध्यान होने की कला में निपुण हैं, जिनकी उपासना सुधी-गण किया करते हैं, जो अनुभूति एवं ध्यान में लीन रहती हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।१५।।

अर्कामाल-निरूपणामनिमिषामध्यात्म-विद्यां सुधाम्।

आद्यामक्ष-तरामनुग्रह-करां क्षीराब्धि-मध्य-स्थिताम्।।

अन्तर्याग - तपः-प्रसन्न-सुमुखीमष्टाङ्ग-योगीश्वरीम्।

आचार्यामवधूत - चर्य-महिमां देवीं त्रिवेणीं भजे।।१६।।

जो सूर्य के समान हैं, आत्म-चिन्तन में रत रहती हैं, जिनकी पलकें नहीं गिरतीं, जो अध्यात्म-विद्या की अमृत हैं, सबकी आदि हैं, धरती की धुरी हैं, दया-मयी हैं, क्षीर-सागर के मध्य में निवास करनेवाली हैं, यज्ञ और तप से प्रसन्न रहनेवाली हैं, अष्टाङ्ग-योग (१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि) की स्वामिनी हैं, अवधूताचार्य, संन्यासी लोग जिनकी महिमा गाते हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।१६।।

कर्पूरागुरु - कुंकुमाङ्कित-कुचां कर्पूर-वर्ण-स्थिताम्।

कष्टोत्कृष्ट-निकृष्ट-कर्म-दहनां कामेश्वरीं कामिनीम्।।

कामाक्षीं करुणा-रसार्द्र-हृदयां कल्पान्तर-स्थायिनीम्।

कस्तूरी-तिलकाभिराम-निलयां देवीं त्रिवेणीं भजे।।१७।।

जिनके स्तन कर्पूर, अगर और केसर से अङ्कित हैं, जिनका वर्ण कर्पूर के समान शुभ्र है, जो कष्ट-कारक उत्कृष्ट एवं निकृष्ट कर्मों को जलानेवाली हैं, काम की ईश्वरी कामिनी हैं, कामाक्षी हैं, जिनका हृदय करुणा-रस से सराबोर है, जिनका कल्पान्तर होने पर भी नाश नहीं होता, जो कस्तूरी-तिलक से सुशोभित तथा सुन्दरता की धाम हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।१७।।

खस्थां खड्ग-धरां खरासुर-हतां खट्वाङ्ग-हस्तां खगाम्।
खट्वस्थां खल-लोक-नाशन-करां खर्वीं खचेन्द्रार्चिताम्॥
खाकारां खम-वाहनार्चित-पदां खण्डेन्दु-भूषोज्ज्वलाम्।
ख-व्याप्तां कलि-दोष-खण्डन-करीं देवीं त्रिवेणीं भजे॥१८॥

जो आकाश में स्थित होती हैं, खड्ग को धारण करती हैं, दुष्ट असुरों को मारनेवाली हैं, खट्वाङ्ग नामक अस्त्र को हाथ में रखती हैं, आकाश में विचरण करनेवाली हैं, खट्वाङ्ग पर आसीन हैं, दुष्टों का नाश करनेवाली हैं, कद में छोटी हैं, गरुड़ द्वारा पूजित हैं, आकाश-जैसी विस्तृत आकृतिवाली हैं; ब्रह्मा से पूजित चरणोंवाली हैं, अर्ध-चन्द्र-रूपी आभूषण से उद्भासित हैं, आकाश में व्याप्त हैं तथा कलियुग के दोषों का नाश करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥१८॥

गायत्रीं गरुड़-ध्वजां गगनगां गन्धर्व-गान-प्रियाम्।
गम्भीरां गज-गामिनीं गिरि-सुतां गन्धाक्षतालंकृताम्॥
गङ्गा-गौतम-गर्ग-सन्नुत-पदां गां गौतमीं गोमतीम्।
गौरी - गर्व-गरिष्ठ-यौवन-वतीं देवीं त्रिवेणीं भजे॥१९॥

जो अपने गायकों (भक्तों) की रक्षा करती हैं, गरुड़ जिनका चिह्न है, जो आकाश में गमन करती हैं, जिन्हें गन्धर्वों का सङ्गीत प्रिय है, जो गम्भीर हैं, हाथी के समान मन्द गति से चलती हैं, पर्वत की पुत्री (पार्वती) हैं, गन्ध-अक्षतों से अलंकृत हैं, गङ्गा हैं, गौतम और गर्ग मुनि से वन्दित चरणोंवाली हैं, गो-स्वरूपा हैं, गौतमी हैं, गोमती हैं गौरी हैं और गर्व एवं गुरुता से परिपूर्ण जिनका यौवन है— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥१९॥

घण्टा-शङ्ख-धरां घन-स्तन-भरां घण्टा-निनाद-प्रियाम्।
घर्मघ्नां करुणा-कटाक्ष-लहरीं घोरासुरोच्चाटिनीम्॥
घां-घ्राणां घटिकां प्रसिद्ध-घुटिकां घ्रूणांघ्रुणोचिद्-घनाम्।
घातां दुष्ट-दुरासदां घन-कचां देवीं त्रिवेणीं भजे॥२०॥

जो घण्टा और शङ्ख धारण करती हैं, जिनके स्तन सघन एवं स्थूल हैं, जिन्हें घण्टा का शब्द प्रिय है, जो पाप का नाश करनेवाली हैं, दया-दृष्टि की लहर फेंकनेवाली हैं, भयङ्कर राक्षसों का उच्चाटन करनेवाली हैं, जिनकी नासिका लम्बी है, जो ज्ञान-स्वरूपा हैं, जिनके पास दुष्ट लोग नहीं पहुँच सकते और जिनके बाल सघन हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥२०॥

ज्ञानाज्ञान-विवर्द्धिनीं गुण-निधिं श्रीराज-राजेश्वरीम्।
ज्ञानानन्द-विचार-मुक्ति-फलदां ज्ञानेश्वरीं गोचरीम्॥
ज्ञानाक्षीं सुजनां सुरासुर-नतां प्रज्ञान-दीपांकुराम्।
ज्ञानाढ्यां कमलां कलङ्क-रहितां देवीं त्रिवेणीं भजे॥२१॥

जो ज्ञान और अज्ञान को बढ़ानेवाली हैं, गुणों की निधि हैं, राजाओं के राजा की भी शासिका हैं, ज्ञान, आनन्द, विवेक एवं मोक्ष को देनेवाली हैं, ज्ञानेश्वरी हैं, इन्द्रिय-गम्य हैं, ज्ञान की नेत्र हैं, सुन्दर व्यक्तित्व से पूर्ण हैं, सुर तथा असुरों की आराधनीया हैं, ज्ञान-रूपी दीपक की ज्योति हैं, ज्ञान से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी-स्वरूपा एवं कलङ्क से रहित हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२१।।

चन्द्रार्काग्नि-लसत्-त्रिनेत्र-कलितां चक्राधिराज-स्थिताम्।
चन्द्राग्नि-स्तन-भार-शोभन-वतीं चन्द्रार्क-ताराङ्किनीम्।।
चेतः-सद्मनि योगिनां विहरिणीं चित्सन्न-मोद-प्रदाम्।
चक्राधीश्वर-सद्म-मध्य-निलयां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२२।।

जो चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि-रूपी तीन नेत्रों से सुशोभित हैं, तीर्थ-राज में स्थित हैं, चन्द्र और अग्नि-रूपी स्तनों के भार से सुशोभित हैं, चन्द्र, सूर्य और तारा के चिह्नों से युक्त हैं, योगियों के चित्त में विहरण करनेवाली हैं, ज्ञान तथा आनन्द को देनेवाली और तीर्थ-राज प्रयाग के भवन में निवास करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२२।।

छायामात्म-विदां चराचर-गतां छत्राधि-राजेश्वरीम्।
छन्दोभिर्विविधैर्वरैस्सह - चरां चर्चा-भयच्छेदिनीम्।।
छन्नास्व-प्रभयां समस्त-जगतां चामीकरा-भासिनीम्।
छिन्नामासुर-कोटि-कोटि-शिरसां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२३।।

जो आत्म-ज्ञानियों की छाया हैं, चराचर में व्याप्त हैं, छत्र-सुशोभित साम्राज्ञी हैं, विविध प्रकार के उत्तम छन्दों के साथ चलनेवाली हैं, स्मरण-मात्र से भय का नाश करनेवाली हैं, अपनी प्रभा से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करनेवाली हैं, सुवर्ण के समान चमकनेवाली हैं और करोड़ों असुरों के सिरों का छेदन करनेवाली हैं, उन **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२३।।

जम्बू-द्वीप निवासिनीं जय-करीं जाड्यान्धकारापहाम्।
जल्पां जन्म-विवर्जितां जलधिजां ज्वाला-जगज्जीवनीम्।।
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुट-तरां ज्वालामुखीं जानकीम्।
जम्भाराति-समर्चिताङ्घ्रि-युगलां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२४।।

जो जम्बू-द्वीप की निवासिनी हैं, जय प्रदान करनेवाली हैं, अज्ञानता-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाली हैं, स्पष्ट वक्ता हैं, जन्म-मरण से रहित हैं, समुद्र में उत्पन्न हैं, ज्वाला-स्वरूपा हैं, संसार को जिलानेवाली हैं, जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति— तीनों अवस्थाओं में प्रकाशित होनेवाली हैं, ज्वाला-मुखी हैं, जानकी हैं और इन्द्र जिनके चरण-कमलों की पूजा करते हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२४।।

ॐ-कारामुष - लोचनामुल-मुलां जाड्यान्ध-कारापहाम्।
ॐ-ॐकार-उषध्वजाम्मु-नमनां जालन्ध्र-पीठ-स्थिताम्।।
ॐ-ॐ-ॐ-कृत नूपुराञ्चित-पदां जाज्वल्य-मान-प्रभाम्।
कान्तस्थां झटिति प्रसाद-करणीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।२५।।

जो ॐ-कार-स्वरूपा हैं, जिनके नेत्र दीप्ति-मान हैं, जो उल-उल-शब्द से युक्त हैं, अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाली हैं, ॐकार जिनका ध्वज है, जो 'उन-उन' शब्द से युक्त हैं, 'जालन्ध्र' के पीठ पर स्थित हैं, 'ॐॐॐ' शब्द करनेवाली पायल से जिनके चरण सुशोभित हैं, जिनकी कान्ति ज्वाज्वल्यमान है, जो स्मरणीय वाहन पर स्थित हैं, जो शीघ्र प्रसन्न होनेवाली हैं — ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२५।।

या याकार-विराजितां य-य-नखां निर्मानसीं निष्क्रियाम्।
निद्रां निर्विषयां चिदम्बर-समां निर्मत्सरां निर्ममाम्।।
निर्द्वन्द्वां प्रथमां प्रबन्ध-करणीं पञ्चाक्षरीं पार्वतीम्।।
निश्चिन्तां विमलां नरेन्द्र-विनुतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२६।।

जो 'या'-'या' के स्वरूप में विराजमान हैं, 'य' और 'य' के समान नखवाली हैं, मन की (चञ्चल) वृत्ति से रहित हैं, क्रिया से शून्य हैं, निद्रा और विषयों से रहित हैं, चित्-स्वरूपा हैं, आकाश के समान स्वच्छ हैं, ईर्ष्या एवं ममता से रहित हैं, निर्द्वन्द्व हैं, आद्या-शक्ति हैं, सबका प्रबन्ध करनेवाली हैं, "नमः शिवाय" के पञ्चाक्षर मन्त्र में निवास करनेवाली हैं, पार्वती हैं, निश्चिन्त हैं, राजाओं से स्तुत्य हैं— ऐसी **त्रिवेणी-देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२६।।

टङ्का-भासुर-भूभृतां विजयिनीं विश्वाधिकां सौख्यदाम्।
विख्यातां वर-वीर-वाग्भव-लतां वागु-बोधिनीं वासुकीम्।।
विश्वामित्र-समर्चितां विष-हरां विद्याश्रितां वैष्णवीम्।
वीरामर्जुन - भीम - धर्म-विनुतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२७।।

जो केवल शब्द-नाद से राक्षसों और राजाओं पर विजय प्राप्त करनेवाली हैं, विश्व-वरेण्य हैं, सुख-दायिनी हैं, प्रसिद्ध हैं, श्रेष्ठ वीरों की वाणी-रूपी लता हैं, वाणी का बोध करानेवाली हैं, वासुकी हैं, विश्वामित्र से पूजित हैं, विषों का हरण करनेवाली हैं, विद्या से सेवित हैं, वैष्णवी हैं, वीर अर्जुन और भीम के धर्म से समन्वित हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।२७।।

टंताराधिप - सेवितांघ्रि - युगलां बैकुण्ठ-लोकाधिपाम्।
विज्ञानां विरजां विशाल-महिमां वीणा-धरां वारुणीम्।।
वाणी-वासव-वन्दितां सुख-करां वागु-बोधिनीं वामनाम्।
कालां काम-कला-वतीं कवि-नुतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।२८।।

जिनके दोनों चरणों की सेवा चन्द्रमा करते हैं, जो बैकुण्ठ-लोक की स्वामिनी हैं, विज्ञान-स्वरूपा हैं, कालुष्य से रहित हैं, जिनकी महिमा अपार है, जो वीणा को धारण करती हैं, वरुण की प्रिय हैं, सरस्वती एवं इन्द्र से वन्दित हैं, सुख देनेवाली हैं, वाणी का बोध करानेवाली हैं, सुन्दरी हैं, काल-स्वरूपा हैं, काम-कला में निपुण हैं तथा कवियों द्वारा स्तुत्य हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥२८॥

डाकिन्यादिभिरावृतां धवलिनीं डाल्यादि-संसेविताम्।
रक्षो-द्रावण-कारिणीं दनुजहां ॐकारिणीं डामरीम्॥
दीर्घाङ्गीं दिविजां दिनेश-विनुतां दीनार्ति-विच्छेदिनीम्।
दुर्गां दुर्गति-नाशिनीं दुरतिहां देवीं त्रिवेणीं भजे॥२९॥

जो डाकिनी आदि से घिरी रहती हैं, जिनका वर्ण उज्ज्वल है, डाली (मातृका-गण) आदि जिनकी सेवा करती हैं, जो राक्षसों का संहार करती हैं, दानवों का विनाश करती हैं, ॐकार-शब्द का उच्चारण करती हैं, डामर (तन्त्र-शास्त्र) जिन्हें प्रिय हैं, लम्बे अङ्गोंवाली हैं, दिव्या हैं, सूर्य जिनकी प्रार्थना करते हैं, जो दीन-दुखियों की पीड़ा हरनेवाली हैं, दुर्गा-स्वरूपा दुःखों का नाश करनेवाली हैं तथा पापों का भञ्जन करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥२९॥

ढक्का-नाद-विनोदिनीं विभवदां दारिद्र्य-संहारिणीम्।
ढिं-ढिं-भूषण-भूषितां ढम-ढमा-ढङ्कार-वर्णात्मिकाम्॥
ढं-ढां-ढिं-ढिम-वर्तिनीं ढल-ढलां धम्मिल्ल-संशोभिताम्।
सायुज्यां पुरुषार्थ-साधन-करीं देवीं त्रिवेणीं भजे॥३०॥

जो डमरू के शब्द से मनोरञ्जन करनेवाली हैं, धन देनेवाली हैं, दरिद्रता का नाश करनेवाली हैं, ढिम-ढिम-शब्द करनेवाले आभूषणों से विभूषित हैं, ढम-ढमा-ढम शब्द करनेवाले अक्षरों की आत्मा हैं, ढं-ढां-ढिं-ढिं-शब्द के साथ नृत्य करनेवाली हैं, जूड़े से सुशोभित हैं और सायुज्य-मोक्ष एवं पुरुषार्थ को सिद्ध करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३०॥

णकारां नव-नान्त-दिव्य-हृदयां नीलाम्बरालंकृताम्।
नीलां नीरज-लोचनां निगमगां निरेश्वरीं नीरजाम्॥
नीलाङ्गीं नल-सेवितां कुवलयां कोलाहलां कोमलाम्।
नीलाराधित-पाद-पङ्कज-युगां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३१॥

जिनके नाम में 'ण' या 'न' अक्षर और 'त' एवं 'व' अक्षर जुड़े हुए हैं, जिनका हृदय दिव्य है, जो नील-वस्त्र से सुशोभित हैं, जिनका वर्ण नील है, नेत्र कमल के समान हैं, वेदों में जिनकी गति है, जो जल की स्वामिनी हैं, जल से उत्पन्न हैं, 'नल' नामक बन्दर से सेवित हैं, कमल के समान हैं, कोलाहल-प्रिय हैं, कोमल हैं और जिनके दोनों चरणारविन्दों की सेवा 'नील' नामक वानर ने की थी— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३१॥

तारां ताण्डव-साक्षिणीं तनु-लतां तन्त्र-त्रयाधीश्वरीम्।

तन्वीं तत्व-निधिं तपः-फल-करीं ताम्बूल-राजन्मुखीम्।

तत्त्वज्ञां तरुणीं तरान्तर-गतां ताप-त्रय-ध्वंसिनीम्।

तारा-हार-विराजित-स्तन-तलां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३२॥

जो तारण (उद्धार) करनेवाली स्वयं तारा-देवी हैं, ताण्डव-नृत्य की साक्षिणी हैं, सुन्दर शरीरवाली हैं, तीनों तन्त्र (तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-शास्त्र) की अधीश्वरी हैं, तन्वी हैं, तत्त्व की निधि हैं, तपस्या का फल देनेवाली हैं, जिनका मुख ताम्बूल से सुशोभित है, जो तत्त्व-ज्ञात्री हैं, तरुणी हैं, तीनों प्रकार (दैहिक, दैविक, भौतिक) के तापों का ध्वंस करनेवाली हैं और जिनके स्तन-तट पर ताराओं की माला विराजमान हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता॥३२॥

थ-थत्थैय - थ-थत्थैय-शब्द-रचनैर्माङ्गल्य-गीतोज्ज्वलैः।

सौन्दर्याप्सरसा-लसन्मृग-दृशां नृत्यै-र्विराजत्-सभाम्॥

थं-तत्त्वावरणां तटोप-तटिनीं तत्-सिद्धिदां तारिणीम्।

चातुर्यां परिपूर्ण-चन्द्र-वदनां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३३॥

"थ-थ-थैय्या"— इस प्रकार के शब्दों से ताल देकर माङ्गलिक गीत गाती एवं नाचती हुई सुन्दरी अप्सराएँ जिनकी सभा की शोभा बढ़ाती हैं, जो तत्त्व-ज्ञान से आवृत हैं, तटों एवं उप-तटों से युक्त हैं, सिद्धि की दात्री हैं, तारण करनेवाली हैं, चतुरता से परिपूर्ण हैं तथा चन्द्र-मुखी हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३३॥

दक्षां दैन्य-निवारिणीं दुरुगला दक्षेश्वर-ध्वंसिनीम्।

दिव्यां द्रव्य-समृद्धिदां दिन-मणिं दुतां दुराधर्षिणीम्॥

दीक्षां दानव-दाहिनीं सम-धियां दिव्याम्बरालंकृताम्।

दौहित्रीं दुहितां द्युतिं त्रिपथगां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३४॥

जो दक्ष हैं, दीनता का निवारण करनेवाली हैं, दक्ष के यज्ञ का ध्वंस करनेवाली हैं, दिव्या हैं, धन-समृद्धि देनेवाली सूर्य के समान प्रचण्ड हैं, दीक्षा-स्वरूपा हैं, दानवों को जलानेवाली हैं, सम-भाव रखनेवाली हैं, दिव्य वस्त्र एवं अलङ्कारों से सुसज्जित हैं, दौहित्री हैं, दुहिता हैं, कान्ति-स्वरूपा हैं और तीनों मार्गों पर चलनेवाली हैं— ऐसे **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३४॥

धन्यां धन्य-तरां धनाधन-करां धर्मार्थ-काम-प्रदाम्।

धर्मज्ञां धरणीं धनाधिप-नुतां धर्म-स्थितां धीमतीम्॥

धर्माधर्म-फल-प्रदां धन-वतीं धीराध्वनिं धीमिताम्।

धारा-ध्रां ध्रुव-पूजितां ध्रुव-पदां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३५॥

जो धन्य हैं, धन्य से बढ़कर हैं, धन और धनाभाव दोनों ही करनेवाली हैं, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं, धर्मज्ञा हैं, धारणा करनेवाली पृथ्वी-स्वरूपा हैं, कुवेर से पूजित हैं, धर्म में स्थित हैं, बुद्धि-मती हैं, धर्म और अधर्म के फलों को देनेवाली हैं, धन-वती हैं, धीमानों की गम्भीर ध्वनि हैं, प्रखर धारा से युक्त हैं, ध्रुव से पूजित हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३५॥

नादान्तां नव-यौवनां नव-रसां नाद-प्रियां नादिनीम्।
नाना-वेष-धरां नगाधिप-नुतां नारायणीं नर्मदाम्॥
नागेन्द्राभरणां नदी-नद-नुतां नित्यां निधिं निर्मलाम्।
निक्षेपां निखिलां निजां निरवधीं देवीं त्रिवेणीं भजे॥३६॥

जिनके अन्त में नाद है, जो नव-यौवना हैं, नवों रसोंवाली हैं, नाद जिन्हें प्रिय हैं, जो नाद से युक्त हैं, नाना प्रकार के वेश धारण करनेवाली हैं, नाग-राज से स्तुत हैं, नारायणी हैं, विनोद करनेवाली हैं, नागों के आभूषण से सुशोभित हैं, नदियों और नदों से स्तुत हैं, नित्य हैं, निधि हैं, निर्मल हैं, निक्षेप (धरोहर) स्वरूप हैं, सर्व-स्वरूपा हैं, स्वयं सब कुछ हैं, निःसीम हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३६॥

पश्यन्तीं पर-देवतां पुर-हरां पापौघ-विध्वंसिनीम्।
प्राणां पद्म-धरां प्रयाग-निलयां पाकारि-संसेविताम्॥
प्रत्यक्षां प्रणवां पुराण-पुरुषां प्राणेश्वरीं पद्मिनीम्।
बन्धूक-प्रसवारुणां वर-धरां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३७॥

जो दूसरे देवताओं को भी देखती हैं, त्रिपुरासुर का हरण करनेवाली हैं, पाप-समूह का विध्वंस करनेवाली हैं, प्राण-स्वरूपा हैं, कमल-धारिणी हैं, प्रयाग में निवास करनेवाली हैं, इन्द्र से परि-सेवित हैं, प्रत्यक्ष हैं, प्रणव हैं, पुराण-पुरुष हैं, प्राणेश्वरी हैं, पद्मिनी हैं, बन्धूक (गुल-दुपहरिया) फूल के समान लाल हैं और 'वर' नामक मुद्रा धारण करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३७॥

फालाक्षां भ्रमरां भ्रमापहरिणीं भ्रान्ताज्ञ-दूरी-कृताम्।
भासां भास्कर-सेवितां फणि-धरां फाकार-तत्त्व-प्रभाम्॥
भ्रष्ट-क्लेश-विनाशिनीं भुग-भुगां भोग-प्रदां भोगिनीम्।
भोगीन्द्राभरणां फलाफल-करां देवीं त्रिवेणीं भजे॥३८॥

जिनके नेत्र विशाल हैं, जो भ्रमर के समान हैं, भ्रम का निवारण करनेवाली हैं, अज्ञानता को दूर करनेवाली हैं, कान्ति-मती हैं, सूर्य से सेवित हैं, सर्प धारण करनेवाली हैं, 'फ'-अक्षर जैसी आकृतिवाली हैं, तत्त्वों से जगमगाती हैं, क्लेश का विनाश करनेवाली हैं, भोग प्रदान करनेवाली हैं, भोगिनी हैं, साँपों के आभूषणों से विभूषित हैं एवं सुफल तथा कुफल— दोनों को देनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥३८॥

बालां वाम-शशाङ्क-वद्ध-मुकुटां पद्मासनाधिष्ठिनीम्।
भेदाभेद-विभेद-भेदन-करीं बाधापहा-ब्राह्मणीम्।।
बोधाबोध-बलां बुधार्चित-पदां बुद्धि-प्रदां बोधिनीम्।
ब्रह्मास्त्रां बगलां बल-प्रमथिनीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।३९।।

जो बाला हैं, जिनका मुकुट वक्र-चन्द्र से सुशोभित हैं, जो पद्मासन पर विराजमान हैं, जो भेदाभेद को मिटानेवाली हैं, बाधाओं को दूर करनेवाली हैं, ब्राह्मणी हैं, बोधाबोध तथा बल-स्वरूपा हैं, जिनके चरणों की पूजा बुद्धिमान् लोग किया करते हैं, जो बुद्धि देनेवाली हैं, बोध करानेवाली हैं, ब्रह्मास्त्रा हैं, बगलामुखी देवी हैं और दुष्ट बल का मन्थन करनेवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।३९।।

भव्यां भक्ति-वशां भवाब्धि-तरणीं भामां भवानीं भवाम्।
भद्रां भाग्य-वरां भयापहरणीं भक्ति-प्रियां भारतीम्।।
भाषां भानु-मतीं भगाक्ष-निहतां भ्रान्तां जगद्-भावनाम्।
भर्गां भार्गव-सन्नुतां भगवतीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।४०।।

जो भव्य हैं, भक्ति से वशीभूत होनेवाली हैं, संसार-रूपी सागर पार करने के लिए नौका के समान हैं, भामा हैं, संसार की भवानी हैं, भद्रा हैं, उत्तम भाग्यवाली हैं, भय का अपहरण करनेवाली हैं, भक्ति-प्रिय हैं, भारती हैं, भाषा हैं, भानु-मती हैं, इन्द्र-कर्मों को और संसार की भ्रान्त भावनाओं को निहत करनेवाली हैं, तेज-स्वरूपा हैं और परशुरामजी से स्तुत हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४०।।

मायां मङ्गल-दायिनीं मनसिजां माहेश्वरीं माधुरीम्।
माहेन्द्रीं मकर-ध्वजां मधु-मतीं मन्द-स्मितोद्यन्मुखीम्।।
मुक्तां मां मद-लालसां मलयजां माया-वतीं मानिनीम्।
मीनाक्षीं महतीं महेश्वर-नुतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।४१।।

जो माया हैं, मङ्गल-दायिनी हैं, मन से उत्पन्न होनेवाली हैं, शिव की प्रिया हैं, माधुरी हैं, इन्द्राणी हैं, मकर-ध्वजा हैं, मधु-मती हैं, जिनका मुख मन्द मुस्कान से सुशोभित है, जो मुक्त-स्वरूपा हैं, लक्ष्मी हैं, मद-लालसा हैं, मलय-पर्वत से उत्पन्न हैं, मायावती हैं, मानिनी हैं, मछली के समान नेत्रोंवाली हैं, महान् हैं और शिव से स्तुत हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४१।।

यात्रा-सिद्धि-करीं यशः-सुख-करीं यात्रोत्सवा-यातुनाम्।
यज्ञाङ्गां यम-सन्नुतां यत-नदीं यज्ञार्चितां योगिनीम्।।
यामा-यक्ष-समर्चितां यति-नतां यन्त्र-स्थितां यामिनीम्।
यलायल - कृताध-मारि-विनुतां देवीं त्रिवेणीं भजे।।४२।।

जो यात्रा को सुफल बनानेवाली हैं, यश और सुख प्रदान करनेवाली हैं, यात्रा में उत्सव प्रदान करनेवाली हैं, यज्ञ की अङ्ग-स्वरूपा हैं, यम-राज से भली-भाँति स्तुत हैं, नदियों का भली-भाँति संयमन करनेवाली हैं, यज्ञ में पूजित होनेवाली हैं, यज्ञों द्वारा पूजित हैं, साधुओं के द्वारा नमस्कृत हैं, रात्रि में यन्त्र पर स्थित हैं, (तन्त्रानुसार 'यन्त्र' पर स्थित) और यत्न-पूर्वक 'या'-लीला से नीचे दिखाए हुए शत्रु द्वारा प्रणत हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४२।।

राज्ञीं राज-सुपूजितां रघु-नतां रामां रमां राकिनीम्।
राका-चन्द्र-मुखीं रसां रस-वतीं राज्य-प्रदां रागिणीम्॥
राधा-रक्षण-तत्परां रवि-नुतां रम्भां रथान्तः-स्थिताम्।
राधा-रत्न-किरीट-कुण्डल-धरां देवीं त्रिवेणीं भजे॥४३॥

जो राजा-रानियों से सु-पूजित हैं, रघु से स्तुत हैं, रामा हैं, लक्ष्मी हैं, पूर्णिमा की रात्रि को चाहनेवाली हैं, पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुखवाली हैं, पृथ्वी-स्वरूपा हैं, रस-वती हैं, राज्य देनेवाली हैं, रागिणी हैं, राधा की रक्षा करने में तत्पर रहनेवाली हैं, सूर्य से स्तुत हैं, हाथी से युक्त रथ पर स्थित हैं और रत्न एवं रत्न से भिन्न वस्तु का मुकुट तथा कुण्डल धारण करनेवाली हैं — ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥४३॥

लक्ष्मी-लक्षण-लक्षितां लव-लवा लाक्षारुणांघ्रि-द्वयाम्।
लक्ष्यां लक्ष्मण-सेवितां लघु-तरां लास्य-प्रियां लाकिनीम्।
लक्ष्यार्थां ललितां लसत्-कुच-भरां तन्वीं लघु-श्यामलाम्।
लावण्यां लय-वर्जितां सु-ललनां देवीं त्रिवेणीं भजे॥४४॥

जो लक्ष्मी के लक्षणों से सम्पन्न हैं, जिनके दोनों चरण महावर के समान लाल हैं, जो देखने योग्य हैं, लक्ष्मण द्वारा सेवित हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, नृत्य-प्रिय हैं, योगिनी हैं, प्रयोजन सिद्ध करनेवाली हैं, ललित हैं, कुचों के भार से शोभाय-मान हैं, सूक्ष्मा हैं, किञ्चित् श्याम-वर्णा हैं, सौन्दर्य-मयी हैं और नाश से रहित हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥४४॥

वाशिष्ठां वसुधां वरां वसु-मतीं वागर्थ-विज्ञानदाम्।
वाराहीं वरुणां वराभय-करां वागीश्वरीं वाग्भवीम्॥
वश्याकर्षण-वाग्-विलास-करणीं वाक्-सिद्धि-सम्पत्-करीम्।
वामाक्षीं बरदां वदान्य-विभवां देवीं त्रिवेणीं भजे॥४५॥

जो वशिष्ठजी से स्तुत हैं, पृथ्वी-स्वरूपा हैं, वसु-मती हैं, वाणी, अर्थ तथा विज्ञान को देनेवाली हैं, वराह-रूप-धारी विष्णु की शक्ति हैं, वरुणा हैं, वर और अभय नामक मुद्राओं को हाथों में धारण करनेवाली हैं, वाणी की ईश्वरी हैं, वाणी से उत्पन्न होनेवाली हैं, वशीकरण, आकर्षण तथा वाणी का वैभव प्रदान करनेवाली हैं, वाक्-सिद्धि एवं सम्पत्ति देनेवाली हैं, वामाक्षी हैं, वर देनेवाली हैं, महा-दानी हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ॥४५॥

श्यामां चक्र-धरां शशाङ्क-वदनां शत्रु-क्षयां शारदाम्।
शास्त्रां शास्त्र-करां शमाशम-करां शङ्खेन्दु-कुन्दोज्ज्वलाम्॥
शान्तां प्रांश-वरीं शताक्षर-मयीं शेषादि-संसेविताम्।
शङ्का-टङ्क-विदारिणीं शशि-कलां देवीं त्रिवेणीं भजे॥४६॥

जो श्यामा हैं, चक्र धारण करनेवाली हैं या मन्त्र-शास्त्र के अनुसार 'चक्र-पूजन' में बैठनेवाली हैं, चन्द्र-मुखी हैं, शत्रुओं का क्षय करनेवाली हैं, सरस्वती हैं, शास्त्र-स्वरूपा हैं, स्वयं शास्त्रों को बनानेवाली हैं, शान्ति और अशान्ति— दोनों ही उत्पन्न करनेवाली हैं, शङ्ख, चन्द्रमा एवं कुन्द-पुष्प के समान उज्ज्वल हैं, शान्त हैं, शताक्षर-मयी हैं, शेष आदि से संसेवित हैं, शङ्काओं का उन्मूलन करनेवाली हैं और चन्द्रमा की कला के समान हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४६।।

षड्-योगैर्विहितां षडर्थ-सहितां षाड्-गुण्य-सम्भाविताम्।
षट्-चक्रोर्ध्व-गतां षडध-विनतां षट्-कूल-मध्य-स्थिताम्।।
षट्-कर्मातुरतां षडूर्मि-रहितां षड्-दर्शनाधिष्ठिताम्।
षड्-योगिन्याभि-सेविताधि-युगलां देवीं त्रिवेणीं भजे।।४७।।

योगाभ्यास से प्रयुक्त छः प्रकारों से जिनकी उपासना की जाती है, जो छः प्रकार के अर्थों से युक्त हैं, षड्-गुणों (उपाय, सन्धि आदि) से सम्मानित हैं, षट्-चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) के द्वारा ऊर्ध्व-गामिनी हैं, छः कूलों के मध्य में (गङ्गा + यमुना + सरस्वती = २ × ३ = ६) स्थित हैं, षट्-कर्मों (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण) के करने में व्यग्र रहती हैं, छः ऊर्मियों (भूख, प्यास आदि से) रहित हैं, छः दर्शनों (सांख्य, वेदान्त आदि) की आधार-शिला हैं और छहों योगिनियाँ जिनके चरणों की सेवा निरन्तर करती रहती हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४७।।

सर्वज्ञां सकलार्थदां सम-रसां सौभाग्यदां स्वामिनीम्।
सर्वानन्द-मयीं समस्त-जननीं सम्मोहिनीम् सुन्दरीम्।।
स्वस्थां सर्व-फल-प्रदां समयिनीं सौभाग्य-विद्येश्वरीम्।
साकारां समयेश्वरीं सु-मनसां देवीं त्रिवेणीं भजे।।४८।।

जो सर्वज्ञा हैं, सभी प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाली हैं, एक रसवाली हैं, सौभाग्य देनेवाली हैं, स्वामिनी हैं, सबको आनन्द देनेवाली हैं, सबकी जननी हैं, सबको मोहित करनेवाली हैं, सुन्दरी हैं, स्वस्थ हैं, सभी फलों की दात्री हैं, समय की अपेक्षा करनेवाली हैं, सौभाग्य और विद्या की ईश्वरी हैं, साकार हैं, समयेश्वरी हैं और सुन्दर मनवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४८।।

हव्याज्यैरभि-पूजितां हल-धरां हं-क्षं-स्थलाधीश्वरीम्।
हंसा-हंस-गतिं हतासुर-गतिं हस्तीन्द्र-कुम्भ-स्तनीम्।।
हस्ते पुस्तक-धारिणीं हरि-हर-ब्रह्मात्मिकां हस्तिनीम्।
हस्तीन्द्रानन-वन्दितांघ्रि-युगलां देवीं त्रिवेणीं भजे।।४९।।

हवनीय घृतों से जिनकी पूजा की जाती है, जो हल को धारण करनेवाली हैं, **'हं'** और **'क्षं'** अक्षरों के स्थान की अधीश्वरी हैं, 'हंस' और 'हंस' से भी इतर जिनकी गति है, जो असुरों की गति को विनष्ट करनेवाली हैं, गज-राज के कुम्भ-स्थल के समान जिनके स्तन हैं, जो हाथ में पुस्तक धारण किए हुई हैं, ब्रह्मा, विष्णु एवं शङ्कर को भी अपने हाथों में लिए हुए हैं, गणेश जिनके दोनों चरणों की वन्दना करते हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।४६।।

लं-तत्त्वार्चित-पाद-पद्म-युगलां लक्ष्यागमार्धातुगाम्।
लक्ष्यालक्ष्य-विलक्ष्य-लक्षण-वतीं लक्ष्यार्थ-संसिद्धिताम्।।
लीला-लोल-विलास-कज्जल-लसन्नेत्र-त्रयां चिन्मयीम्।
लाकारां शरदेन्दु-सुन्दर-मुखीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।५०।।

'लं'-तत्त्व से जिनके दोनों चरणारविन्दों की पूजा की जाती है, लक्ष्य-शास्त्र में जिनकी प्रवृत्ति है, जो लक्षणा के योग्य, लक्षण के न योग्य और विशिष्ट लक्षण के योग्य लक्षणों से समन्वित हैं, लक्ष्य-अर्थ की सिद्धि देनेवाली हैं, जिनके तीनों नेत्र लीला से चञ्चल और बिलास एवं काजल से सुशोभित हैं, जो चित्-स्वरूपा हैं, **'लं'** अक्षर की आकृति-जैसी हैं, और शरच्चन्द्र के समान सुन्दर मुखवाली हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।५०।।

क्षत्रां क्षात्र-विशारदां क्षत-धरां क्षौमाम्बरालंकृताम्।
क्षुद्रोपद्रव-नाशिनीं क्षय-हतां क्षामापहां क्षेमदाम्।।
क्षुत्-तृष्णाऽप-हतां क्षितीश-विनुतां क्षेत्रां क्षिति-क्षेत्रगाम्।
क्षेत्रज्ञां सुगमार्क्ष-वर्ण-पृथिवीं देवीं त्रिवेणीं भजे।।५१।।

जो क्षात्र-धर्म का अवलम्बन करनेवाली हैं, युद्ध-विद्या में निपुण हैं, घावों को धारण करनेवाली हैं, रेशमी वस्त्र से अलंकृत हैं, क्षुद्रों द्वारा किए हुए उपद्रवों का नाश करनेवाली हैं, क्षय और क्षीणता को दूर करनेवाली हैं, कल्याण करनेवाली हैं, भूख-प्यास को मिटानेवाली हैं, राजाओं से नमस्कृत हैं, क्षेत्र-स्वरूपा हैं, पृथ्वी-स्वरूपा हैं, क्षेत्र-गामिनी हैं, क्षेत्र को जाननेवाली हैं और धरती की धुरी के समान हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।५१।।

अ-आ-दिव्य-शिरो-मुखाब्ज-ललितां 'इ'-'ई'-सुनेत्रां उ-'ऊ'—
कर्णां 'ऋ'-'ॠ'-सुनासिका-सुरचना 'ऌ'-'ॡ'-कपोल-द्वयाम्।।
'ए-ऐ'-ओष्ठ-युगां परात्पर-तरां 'ओ-औ'-सुदन्तोज्ज्वलाम्।
अ-मूर्ध्वां कलितां असर्ग-रसनां देवीं त्रिवेणीं भजे।।५२।।

जिनके 'अ' और 'आ' दिव्य मस्तक, 'इ' और 'ई' सुन्दर नेत्र, 'उ' और 'ऊ' कान हैं, 'ऋ' और 'ॠ' सुडौल एवं सुन्दर नाक हैं, 'लृ' और 'लॄ' दोनों गाल हैं, 'ए' और 'ऐ' दोनों ओठ हैं, 'ओ' और 'औ' सुन्दर चमकते हुए दाँत हैं, 'अं' मूर्धा तथा 'अः' जीभ है और जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।५२।।

कं-खं-गं-घं-ङं-दक्ष-बाहु-कमलां चं-छं-जं-झं-ञान्विताम्।
वामां वाम-करां वशिष्ठ-विनुतां टं-ठं-डं-ढं-णान्विताम्।।
दक्षांघ्रि-तथदधनार्चित-पदां वामाख्य-विद्याऽऽश्रिताम्।
पं - फाकार-कटि-प्रदेश-रचितां देवीं त्रिवेणीं भजे।।५३।।

'कं खं गं घं' और 'ङं' बीज-मन्त्रों से जिनकी दाहिनी भुजा सुरक्षित है, चं छं जं झं और 'ञं' से जिनकी बाँईं भुजा लक्ष्मी के समान है, वशिष्ठ ने जिनकी स्तुति की है, 'टं ठं डं ढं' और 'णं' से युक्त जिनका दाहिना पैर है, 'तं थं दं धं नं' से जिनके चरणों की पूजा की जाती है, जो ('वाम-मार्ग' नामक तन्त्र-विद्या) के ज्ञान पर आश्रित हैं, 'पं' तथा 'फं' के आकार से जिनके कटि-भाग की रचना की गई है— ऐसी **त्रिवेणी देवी** की मैं वन्दना करता हूँ।।५३।।

इदं त्रिवेण्या प्रयतः पुनात्मा, स्तोत्रं पठेत् साधु समाहितात्मा।
तस्यार्थ-कामाः सकला भवेयुः, सिद्धा ध्रुवं नात्र वितर्कणा स्यात्।।५४।।

जो मनुष्य पवित्र एवं सावधान होकर इस **'त्रिवेणी-स्तोत्र'** का पाठ करेंगे, उनकी सकल कामनाएँ निश्चित रूप से सिद्ध होंगी— इसमें सन्देह नहीं।।५४।।

।।श्रीत्रिवेणी-देवी-स्तोत्रं।।

प्रस्तुत-कर्त्ता : श्रीजयदेव मिश्र 'जपाचार्य'

विशेष— श्लोक ५२ और ५३ में **'वर्ण-माला'** के सभी बीज-मन्त्रों से भगवती त्रिवेणी देवी की आराधना की गई है। **'वर्ण-माला'** में ही समस्त **बीज-मन्त्र** एवं **संसार की सारी विद्या एवं अविद्या** निहित हैं। अतः यदि सम्पूर्ण पाठ भक्त-जन न कर सकें, तो केवल इन्हीं दो श्लोकों (५२-५३) का पाठ कर लेने से पूर्ण फल का लाभ कर सकते हैं।

श्रीत्रिवेणी-स्तोत्र

प्रस्तुत **'श्रीत्रिवेणी-स्तोत्र'** भगवती की असीम अनुकम्पा से **'तीर्थ-राज-प्रयाग'**-निवासी **श्रीस्वामी जयदेव जी मिश्र** को प्राप्त हुआ था। **श्रीमिश्र जी** ने स्वयं इस सन्दर्भ में इस प्रकार लिखा है—

''...**'श्रीत्रिवेणी-स्तोत्र'** के **लेखक** एवं **रचना-समय** अज्ञात है, किन्तु जो रचना प्रस्तुत है वह एक **अनुपम निधि** है। सम्पूर्ण रचना 'ॐ' से लेकर **'स्वरों'** एवं **'व्यञ्जनों'** के क्रमानुसार लिखी गई है, जो **स-स्वर** एवं **माधुर्य-प्रसाद-गुण** से ओत-प्रोत है...यह स्तोत्र **भगवती जाह्नवी (गङ्गा)** के समान ही **गति-प्रवाहिनी** है। सम्पूर्ण कृति, अपने आप में बेजोड़ है।....''

'वर्ण-बीजाक्षर' द्वारा 'तत्त्वों' का ज्ञान
बिम्ब
प्रतिबिम्ब
पृथिवी क
जल ख
अग्नि ग
वायु घ
आकाश ङ
गन्ध च
रस छ
रूप ज
स्पर्श झ
शब्द ञ
उपस्थ ट
पायु ठ
पाद ड
पाणि ढ
वाक् ण
घ्राण त
रसना थ
चक्षु द
त्वचा ध
श्रोत्र न
मनस् प
अहङ्कार फ
बुद्धि ब
प्रकृति भ
पुरुष म
राग य
विद्या र
कला ल
माया व
महामाया श
शुद्ध विद्या ष
ईश्वर स
सदाशिव ह
शक्ति क्ष
क्ष शक्ति
ह सदाशिव
स ईश्वर
ष शुद्धविद्या
श महामाया
व माया
ल कला
र विद्या
य राग
म पुरुष
भ प्रकृति
ब बुद्धि
फ अहङ्कार
प मनस्
न श्रोत्र
ध त्वचा
द चक्षु
थ रसना
त घ्राण
ण वाक्
ढ पाणि
ड पाद
ठ पायु
ट उपस्थ
ञ शब्द
झ स्पर्श
ज रूप
छ रस
च गन्ध
ङ आकाश
घ वायु
ग अग्नि
ख जल
क पृथिवी
काश्मीर के प्रसिद्ध ग्रन्थ
('श्रीपरा-त्रिंशिका' के अनुसार)
'तत्त्वों' के ज्ञान के द्वारा 'पर-ब्रह्म' का ज्ञान
(सारूप्य, सालोक्य तथा सायुज्य-मुक्ति की प्राप्ति)
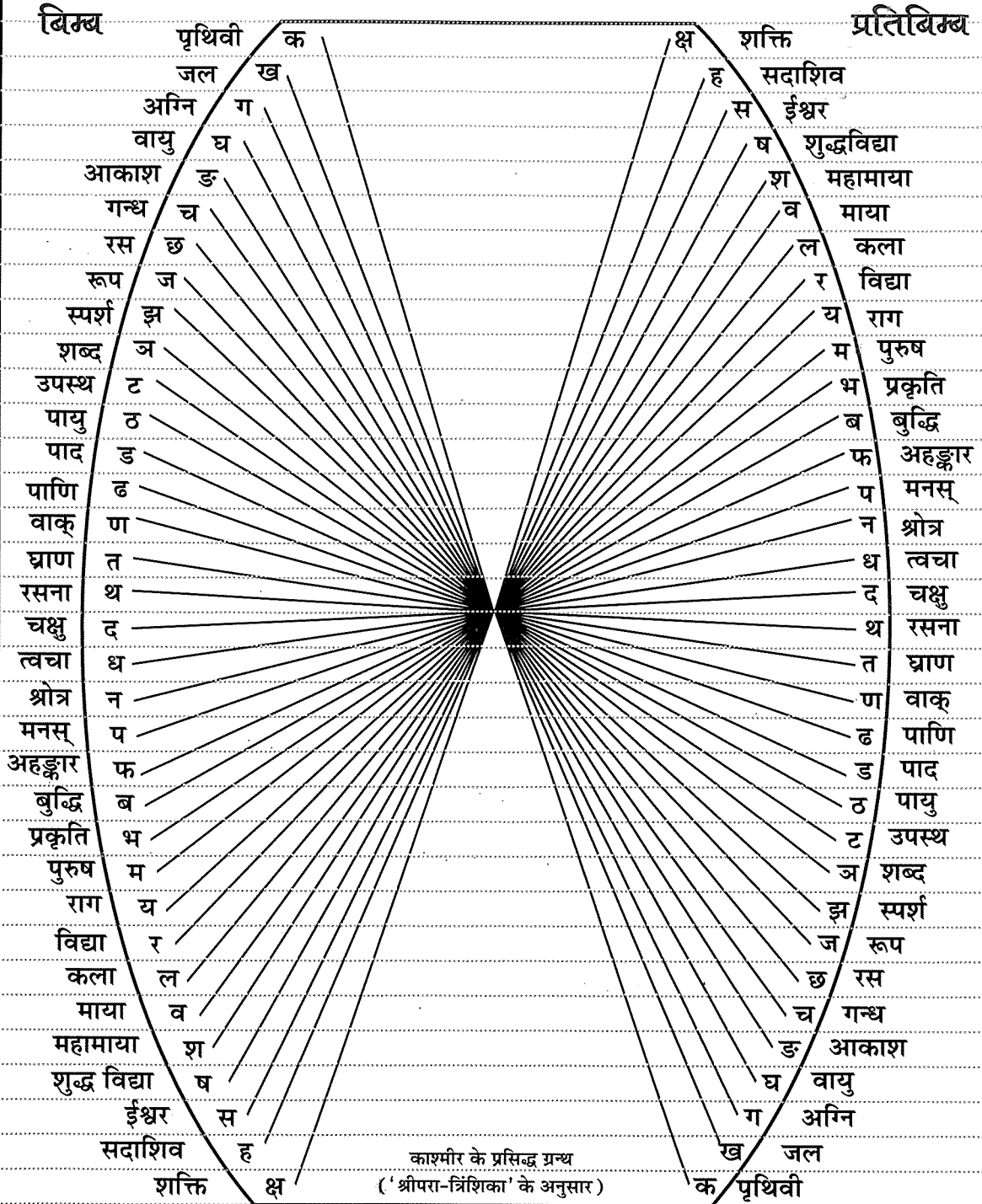
रजि० सं० ३२९८१/५७

द्वि-मुखी आठ 'विमर्श'-शक्तियाँ

१. 'अं' (ब्राह्मी), २. 'कं' (माहेशी), ३. 'चं' (कौमारी),
४. 'टं' (वैष्णवी), ५. 'तं' (वाराही), ६. 'पं' (ऐन्द्री),
७. 'यं' (चामुण्डा), ८. 'शं' (महा-लक्ष्मी)।

आठ विमर्श-शक्तियों की द्वि-मुखी क्रिया

★ सामान्य मनुष्यों में– प्रति-क्षण नाना प्रकार के 'अच्छे-बुरे' की कल्पना करते रहन और 'ब्रह्म-रन्ध्र' में विद्यमान 'चित्-शक्ति' को पीछे रखकर, उन्हें सदा नाना प्रका के सुखों-दुःखों की अनुभूति कराते रहना।

★ साधकों में– 'वर्ण-बीजाक्षरों' में अन्तर्निहित 'तत्त्व'-ज्ञान की अनुभूति कराकर उन 'शिव'-भाव पर पहुँचाना।

प्रकाशक : श्रीऋतशील शर्मा, श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग-६ ☎ ०९४५०२२२

1000
रामायण प्रश्नोत्तरी
राजेंद्र प्रताप सिंह

1000

रामायण प्रश्नोत्तरी

राजेद्रं प्रताप सिंह

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

परम श्रद्धेय गुरुवर

पं. राज बली पांडेयजी

को सादर समर्पित

नीलाम्बुज-श्यामल-कोमलाङ्गं

सीतासमारोपितवामभागम्।

पाणौ महासायक-चारुचापं

नमामि रामं रघुवंशनाथम्।।

स्वकथ्य

रामायण भारतीय एवं हिंदू वाङ्मय का सर्वाधिक पूज्य एवं समादृत ग्रंथ है। रामचरित की पावन गंगा सदियों से हिंदू समाज-मानस में कल-कल प्रवाहित होती आई है। संसार के किसी भी भाग में रहनेवाले हिंदू रामायण—रामचरित—के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं भावनात्मक जुड़ाव रखते हैं। रामायण से संबंधित कथाओं-उपकथाओं की चर्चा सर्वत्र बड़ी ही आस्था व श्रद्धा से की जाती है। अनेक बार हम उस कथा को सुन चुके होते हैं, फिर भी बार-बार सुनने-जानने को मन उत्सुक रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना का प्रयोजन ऐसे व्यक्तियों को रामायण संबंधी ज्ञान से समृद्ध कराना है, जो रामायण के विषय में अधिकाधिक जानना चाहते हैं, इसमें अभिरुचि रखते हैं। समय के अभाव के कारण रामायण जैसे ग्रंथ को पढ़कर उसे आत्मसात् कर पाने का अवसर आज सबके पास नहीं है। यह पुस्तक पाठकों को बहुत सूक्ष्मता और सरलता से रामायण के प्रमुख बिंदुओं, वस्तुनिष्ठ तथ्यों और महत्त्वपूर्ण संदर्भों से परिचित कराती है। इस पुस्तक में रामायण में उल्लिखित केंद्रीय और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को दिया गया है। इसमें प्रश्नों के माध्यम से श्रीराम, सीता, लक्ष्मण, दशरथ, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, भरत, शत्रुघ्न, हनुमान, बालि, अंगद, सुग्रीव, जांबवान्, नल, नील तथा रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद, विभीषण, मंदोदरी आदि प्रमुख पात्रों के साथ ही विभिन्न पर्वतों, नगरों एवं नदियों के संबंध में सुस्पष्ट और संक्षिप्त जानकारी मिलती है। राक्षसों एवं श्रीराम की सेना के बीच युद्ध में किए गए पराक्रमों तथा श्रीराम व रावण और लक्ष्मण व मेघनाद आदि के मध्य युद्ध में प्रयुक्त विभिन्न शस्त्रों एवं दिव्यास्त्रों के नाम, उनके प्रयोग और परिणामों के साथ ही राक्षसों द्वारा किए गए विचित्र माया-युद्धों का भी रोमांचक वर्णन है। साथ ही रामायण में वर्णित ऋषियों, महर्षियों व राजर्षियों के पावन चरित्रों का भी परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त लगभग डेढ़ सौ विभिन्न पात्रों के माता, पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री, पितामह, पौत्र, नाना, मामा आदि जैसे संबंधों का विस्तृत एवं खोजपरक वर्णन भी। इसमें चौदह अध्यायों के अंतर्गत कुल 1000 प्रश्न दिए गए हैं। ये सभी प्रश्न रामायण से संदर्भ लेकर, चुनकर बनाए गए हैं। 'क्या नाम था', 'रोमांचक जानकारियाँ', 'महत्त्वपूर्ण स्थान', 'अस्त्र-शस्त्र', 'वरदान और शाप', 'नामों की निर्मिति', 'संख्याओं को भी जानें' तथा 'संबंधों का सागर' जैसे महत्त्वपूर्ण अध्यायों में वर्गीकृत ये प्रश्न सहज ही पाठकों को रामायण संबंधी अनेकानेक जानकारियाँ प्रदान करते हैं। यथार्थतः यह पुस्तक रामायण का संदर्भ कोश है।

कई बार ऐसे अवसर आते हैं, जब हम रामायण का कोई संदर्भ जानना चाहते हैं और ग्रंथ के पन्ने-पर-पन्ने पलटते जाते हैं; ढूँढ़ते हैं, खोजते हैं, किंतु वह नहीं मिलता। ऐसे में यह पुस्तक पाठकों को अपार सहयोग देगी। यह आम पाठकों के लिए तो महत्त्वपूर्ण है ही, लेखकों, संपादकों, पत्रकारों, वक्ताओं, शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है।

पुस्तक के अंत में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं। परिशिष्ट-**1** में 'श्रीराम की वंश-परंपरा का परिचय', परिशिष्ट-**2** में 'राजा जनक की वंश-परंपरा का परिचय' तथा परिशिष्ट-**3** में 'लंका-नरेश रावण का वंश-वृक्ष' दिया गया है। आशा है, तीनों परिशिष्ट पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने में प्रमुख रूप से 'वाल्मीकीय रामायण' की सहायता ली गई है, तथापि इसमें 'श्रीरामचरितमानस' एवं 'अद्‍भुत रामायण' से संबंधित तथा लोक-प्रसिद्ध अन्य कथा-प्रसंगों की भी अल्पाधिक सहायता ली है।

परम श्रद्धेय मनीषी-विद्वान् डॉ. श्याम बहादुर वर्माजी का मैं कृतज्ञ रहूँगा, जिन्होंने पांडुलिपि-निर्माण में समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन किया। मेरे संपादक मित्रों—श्री प्रेमपाल शर्मा एवं श्री अशोक कुमार 'ज्योति' ने पुस्तक को सँवारने में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया उसके लिए उनका हार्दिक आभार। प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करते समय प्रिय जीवनसंगिनी श्रीमती उषा सिंह ने जिस समर्पण-भाव से सहयोग दिया, बिखरे-फैले व अव्यवस्थित कागजों को जिस आत्मीयता से सहेजा, उसके लिए 'धन्यवाद' शब्द कम होगा।

और अंततः, पुस्तक आपके हाथों में है। अपने परिश्रम के मूल्यांकन तथा उसके सत्-असत् का निर्णय मैं आप पर छोड़ता हूँ।

—राजेंद्र प्रताप सिंह

266, डबल स्टोरी, वेलकम
सीलमपुर-III, दिल्ली-110053

1

क्या नाम था

1. श्रीराम की सेना के दो अभियंता वानरों के नाम बताइए।
(क) अंगद-हनुमान
(ख) सुग्रीव-अंगद
(ग) केसरी-सुषेण
(घ) नल-नील
उत्तर. (घ) नल-नील

2. जिस विमान पर बैठकर श्रीराम लक्ष्मण-सीता सहित लंका से अयोध्या आए थे, उसका क्या नाम था?
(क) गरुड
(ख) पुष्पक
(ग) सौभ
(घ) नीलकुंज
उत्तर. (ख) पुष्पक

3. लंका के उस प्रसिद्ध वैद्य का क्या नाम था, जिसे लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने हेतु हनुमानजी लंका से उठा लाए थे?
(क) मातलि
(ख) विश्रवा
(ग) सुषेण
(घ) रैभ्य
उत्तर. (ग) सुषेण

4. लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने हेतु हनुमानजी जो ओषधि लेकर आए थे, उसका क्या नाम था?
(क) प्राणदायिनी बूटी
(ख) संजीवनी बूटी
(ग) अमृतांजनी
(घ) योगिनी
उत्तर. (ख) संजीवनी बूटी

5. राजा जनक का मूल नाम क्या था?
(क) सीरध्वज
(ख) शतध्वज
(ग) कपिध्वज
(घ) मकरध्वज
उत्तर. (क) सीरध्वज

6. कैकेयी की उस दासी का क्या नाम था जिसने कैकेयी को राम को वनवास और भरत को राजगद्दी माँगने के लिए बहकाया था?
(क) देविका
(ख) सुजाता
(ग) मंथरा

(घ) सुहासिनी
उत्तर. (ग) मंथरा

7. वाल्मीकि रामायण की रचना जिस छंद में हुई है उसका क्या नाम है?
(क) चौपाई
(ख) सोरठा
(ग) सवैया
(घ) अनुष्टुप्
उत्तर. (घ) अनुष्टुप्

8. उस गुप्तचर का क्या नाम था जिसके कहने पर श्रीराम ने सीताजी का परित्याग कर दिया था?
(क) सुमालि
(ख) मणिभान
(ग) दुर्मुख
(घ) छंदक
उत्तर. (ग) दुर्मुख

9. कैकेयी की उस दासी का क्या नाम था जो मायके से ही उसके साथ आई थी?
(क) सुभदा
(ख) मंथरा
(ग) रेवती
(घ) नलिनी
उत्तर. (ख) मंथरा

10. उस तीर्थ का क्या नाम था जिसमें डुबकी लगाकर श्रीराम ने परमधाम को प्रस्थान किया था?
(क) समंतपंचक
(ख) गोमंतक
(ग) गोप्रतार
(घ) नारदकुंड
उत्तर. (ग) गोप्रतार

11. महर्षि विश्वामित्र का क्षत्रिय दशा का क्या नाम था?
(क) रुक्मरथ
(ख) विश्वरथ
(ग) चित्ररथ
(घ) दशरथ
उत्तर. (ख) विश्वरथ

12. बालि और सुग्रीव जिस वानर से उत्पन्न हुए थे उसका क्या नाम था?
(क) ऋक्षराज
(ख) जंभन
(ग) मैंद
(घ) गंधमादन
उत्तर. (क) ऋक्षराज

13. रामायणकालीन सरयू नदी को वर्तमान में क्या कहते हैं?
(क) यमुना

(ख) घाघरा
(ग) गोमती
(घ) गंगा
उत्तर. (ख) घाघरा

14. समुद्र में रहनेवाली उस नागमाता का क्या नाम था, जिसने समुद्र लाँघते हुए हनुमानजी को रोका था और उन्हें खा जाने को उद्यत हुई थी?
(क) त्रिजटा
(ख) मंथरा
(ग) बलंधरा
(घ) सुरसा
उत्तर. (घ) सुरसा

15. राजा दशरथ ने पुत्रोत्पत्ति हेतु जो यज्ञ किया था, उसका क्या नाम था?
(क) राजसूय
(ख) पुत्रेष्टि
(ग) वैष्णव
(घ) अश्वमेध
उत्तर. (ख) पुत्रेष्टि

16. राजा जनक के पुरोहित का क्या नाम था?
(क) सीरध्वज
(ख) वसिष्ठ
(ग) शतानंद
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ग) शतानंद

17. महर्षि विश्वामित्र की तपस्या जिस अप्सरा ने भंग की थी उसका क्या नाम था?
(क) उर्वशी
(ख) जानपदी
(ग) घृताची
(घ) मेनका
उत्तर. (घ) मेनका

18. श्रीराम ने जिन वृक्षों की ओट लेकर वानरराज बालि को मारा था, उनका क्या नाम था?
(क) साल वृक्ष
(ख) वट वृक्ष
(ग) शमी वृक्ष
(घ) अशोक वृक्ष
उत्तर. (क) साल वृक्ष

19. राजा जनक के छोटे भाई का क्या नाम था?
(क) कुशनाभ
(ख) कुश
(ग) कुशध्वज
(घ) सीरध्वज
उत्तर. (ग) कुशध्वज

20. शत्रुघ्न के पुरोहित का क्या नाम था?
(क) शतानीक
(ख) उपमन्यु
(ग) आरुणि
(घ) कांचन
उत्तर. (घ) कांचन

21. रामायण जिस युग से संबंधित है उसका क्या नाम है?
(क) द्वापरयुग
(ख) त्रेतायुग
(ग) सत्ययुग
(घ) कलियुग
उत्तर. (ख) त्रेतायुग

22. समुद्र-मंथन से जो अश्व निकला था उसका क्या नाम है?
(क) चेतक
(ख) बाज
(ग) उच्चैःश्रवा
(घ) सुमाली
उत्तर. (ग) उच्चैःश्रवा

23. अशोक वाटिका का दूसरा नाम क्या था?
(क) प्रमदावन
(ख) कदलीवन
(ग) मधुवन
(घ) वृंदावन
उत्तर. (क) प्रमदावन

24. महर्षि वाल्मीकि का बचपन का क्या नाम था?
(क) रत्नेश
(ख) रत्नसेन
(ग) रत्नाकर
(घ) रत्नाभ
उत्तर. (ग) रत्नाकर

25. उन महर्षि का क्या नाम है जिनके बारे में कहा जाता है कि वे अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में डाकू थे?
(क) वाल्मीकि
(ख) विश्वामित्र
(ग) परशुराम
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (क) वाल्मीकि

26. उस हाथी का क्या नाम था जिसे सगर-पुत्रों ने पृथ्वी धारण करते हुए देखा था?
(क) अश्वत्थामा
(ख) कुवलयापीड
(ग) विरूपाक्ष
(घ) शत्रुहंता

उत्तर. (ग) विरूपाक्ष

27. लंका-दहन के पश्चात् हनुमान जिस पर्वत पर चढ़कर, समुद्र लाँघकर वापस आए थे उसका क्या नाम है?
(क) अरिष्ट
(ख) मैनाक
(ग) गिरनार
(घ) विंध्याचल
उत्तर. (क) अरिष्ट

28. महर्षि वसिष्ठ की गाय का क्या नाम था?
(क) कपिला
(ख) सुरभि
(ग) धेनु
(घ) शैलोदा
उत्तर. (ख) सुरभि

29. अवधी भाषा में रचित रामायण का क्या नाम है?
(क) अवधी रामायण
(ख) रामचरितमानस
(ग) कंब रामायण
(घ) अध्यात्म रामायण
उत्तर. (ख) रामचरितमानस

30. कुबेर के सेनापति का क्या नाम था?
(क) मणिमान्
(ख) मणिग्रीव
(ग) मणिध्वज
(घ) मणिभद्र
उत्तर. (घ) मणिभद्र

31. उस सागर का क्या नाम था देवताओं और असुरों ने जिसका मंथन किया था?
(क) क्षीरोद सागर
(ख) प्रशांत सागर
(ग) कश्यप सागर
(घ) विष्णु सागर
उत्तर. (क) क्षीरोद सागर

32. लंका जाने के लिए पुल बाँधते समय श्रीराम ने जिस शिवलिंग की स्थापना की थी, उसका क्या नाम है?
(क) एकलिंग
(ख) पशुपतिनाथ
(ग) रामेश्वर
(घ) ज्योतीश्वर
उत्तर. (ग) रामेश्वर

33. विभीषण के उस अनुचर का क्या नाम था, जिसने पक्षी का रूप धारण कर, लंका जाकर रावण की रक्षा-व्यवस्था तथा सैन्य-शक्ति का पता लगाया था?
(क) आशुवंत

(ख) अनल
(ग) अघ
(घ) अभि
उत्तर. (ख) अनल

34. उस पर्वत का क्या नाम है जो समस्त पर्वतों का राजा है?
(क) हिमालय
(ख) मैनाक
(ग) गिरनार
(घ) अरिष्ट
उत्तर. (क) हिमालय

35. रामायण के प्रथम कांड का क्या नाम है?
(क) अरण्यकांड
(ख) बालकांड
(ग) अयोध्याकांड
(घ) किष्किंधाकांड
उत्तर. (ख) बालकांड

36. रामायण के अंतिम कांड का क्या नाम है?
(क) सुंदरकांड
(ख) किष्किंधाकांड
(ग) उत्तरकांड
(घ) बालकांड
उत्तर. (ग) उत्तरकांड

37. उस हाथी का क्या नाम है जो श्वेत वर्ण का था?
(क) शत्रुंजय
(ख) ऐरावत
(ग) अश्वत्थामा
(घ) कुवलयापीड
उत्तर. (ख) ऐरावत

38. लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने हेतु जिस ओषधि को वैद्य ने मँगाया था उसका क्या नाम था?
(क) कंचनप्रभा
(ख) लोचनप्रभा
(ग) संजीवनी बूटी
(घ) ब्राह्मी बूटी
उत्तर. (ग) संजीवनी बूटी

39. तृतीय प्रजापति का क्या नाम है?
(क) दक्ष
(ख) शेष
(ग) प्रचेता
(घ) क्रतु
उत्तर. (ख) शेष

40. उस ब्राह्मण का क्या नाम था जिसे श्रीराम ने कहा था कि वह अपने दंड (डंडे) को जहाँ तक फेंक सकेंगे वहाँ तक की गायें उन्हें मिल जाएँगी?
(क) त्रिजट
(ख) कश्यप
(ग) अश्वकेतु
(घ) अश्वसेन
उत्तर. (क) त्रिजट

41. कुबेर को ब्रह्माजी ने जो विमान दिया था उसका क्या नाम था?
(क) वायुपुत्र
(ख) सौभ
(ग) पुष्पक
(घ) तीव्रगामी
उत्तर. (ग) पुष्पक

42. किस देवता का एक नाम 'सर्पमाली' है?
(क) विष्णु
(ख) इंद्र
(ग) वरुण
(घ) शिव
उत्तर. (घ) शिव

43. किस ऋषि को 'समुद्रचुलुक' कहते हैं?
(क) भरद्वाज
(ख) अगस्त्य
(ग) याज्ञवल्क्य
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ख) अगस्त्य

44. पूर्वजन्म में रावण का क्या नाम था?
(क) बलंधर
(ख) भस्मासुर
(ग) प्रतापभानु
(घ) अघासुर
उत्तर. (ग) प्रतापभानु

45. राजा निमि की राजधानी का क्या नाम था?
(क) वैजयंत
(ख) कुशस्थली
(ग) अहिच्छत्र
(घ) चित्रकूट
उत्तर. (क) वैजयंत

46. किस देवता का एक नाम 'स्थाणु' है?
(क) विष्णु
(ख) गणेश
(ग) इंद्र

(घ) शिव
उत्तर. (घ) शिव

47. उस मणि का क्या नाम है जो समुद्र-मंथन से उत्पन्न हुई थी?
(क) कौस्तुभ
(ख) पारस
(ग) वैदूर्य
(घ) स्यमंतक
उत्तर. (क) कौस्तुभ

48. नलकूबर जिस अप्सरा पर आसक्त था, उसका क्या नाम था?
(क) मेनका
(ख) उर्वशी
(ग) रंभा
(घ) घृताची
उत्तर. (ग) रंभा

49. हनुमान जब अशोक वाटिका में सीताजी से मिलने गए थे, उस समय वे जिस वृक्ष पर छिपे थे उसका क्या नाम था?
(क) अशोक
(ख) शमी
(ग) साल
(घ) अश्वत्थ
उत्तर. (क) अशोक

50. इंद्र के प्रसिद्ध हाथी का क्या नाम था?
(क) अश्वत्थामा
(ख) कुवलयापीड
(ग) ऐरावत
(घ) गजेश
उत्तर. (ग) ऐरावत

51. कुबेर के हाथी का क्या नाम है?
(क) महापद्म
(ख) शत्रुहंता
(ग) कुवलयापीड
(घ) हिमपांड्र
उत्तर. (घ) हिमपांड्र

52. यम के हाथी का क्या नाम है?
(क) ऐरावत
(ख) महापद्म
(ग) विरूपाक्ष
(घ) अश्वत्थामा
उत्तर. (ख) महापद्म

53. वरुण के हाथी का क्या नाम है?

(क) सौमनस
(ख) हिमपांड्र
(ग) महापद्म
(घ) ऐरावत
उत्तर. (क) सौमनस

54. उस समुद्र का क्या नाम था जिसका जल रक्त वर्णी था?
(क) क्षीरोद सागर
(ख) भवसागर
(ग) लोहित सागर
(घ) प्रशांत महासागर
उत्तर. (ग) लोहित सागर

55. श्रीराम आदि चारों भाइयों के विवाह कार्य जिस ऋषि ने संपन्न कराए थे उसका क्या नाम था?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) अत्रि
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ख) वसिष्ठ

56. जिस महर्षि ने श्रीराम के दुःखमय जीवन की भविष्यवाणी की थी उनका क्या नाम था?
(क) दुर्वासा
(ख) परशुराम
(ग) वाल्मीकि
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) दुर्वासा

57. उस कौए का क्या नाम था जिसने गरुडजी को रामकथा सुनाई थी?
(क) विगत
(ख) विनत
(ग) काकभुशुंडि
(घ) नागभुशुंडि
उत्तर. (ग) काकभुशुंडि

58. अमरावती किसकी पुरी का नाम था?
(क) शिव
(ख) इंद्र
(ग) कुबेर
(घ) रावण
उत्तर. (ख) इंद्र

59. अश्वमेध यज्ञ के अश्व के मस्तक पर जो पत्र बाँधा जाता था उसका क्या नाम था?
(क) विजयपत्र
(ख) रणपत्र
(ग) घोषपत्र
(घ) जयपत्र
उत्तर. (घ) जयपत्र

60. शत्रु द्वारा चलाए हुए अस्त्र को निष्फल करने की विधि का क्या नाम है?
(क) रभस
(ख) रजस
(ग) यमस
(घ) नभस
उत्तर. (क) रभस

61. उस राक्षस का क्या नाम था जिसने सीता की हत्या न करने के लिए रावण को समझाया था?
(क) महोदर
(ख) प्रघस
(ग) सारण
(घ) सुपार्श्व
उत्तर. (घ) सुपार्श्व

62. समुद्र-मंथन से जो भयानक विष निकला था उसका क्या नाम है?
(क) हलाहल
(ख) यमद
(ग) वत्सनाभ
(घ) नीलकंठ
उत्तर. (क) हलाहल

63. समुद्र-मंथन हेतु जिस पर्वत को मथानी बनाया गया था उसका क्या नाम था?
(क) हिमालय
(ख) मैनाक
(ग) मंदराचल
(घ) गिरनार
उत्तर. (ग) मंदराचल

64. रामायण के सबसे बड़े कांड का क्या नाम है?
(क) सुंदरकांड
(ख) युद्धकांड
(ग) उत्तरकांड
(घ) किष्किंधाकांड
उत्तर. (ख) युद्धकांड

65. रामायण के सबसे छोटे कांड का क्या नाम है?
(क) बालकांड
(ख) अरण्यकांड
(ग) सुंदरकांड
(घ) उत्तरकांड
उत्तर. (ख) अरण्यकांड

66. राजा जनक के उस मंत्री का क्या नाम था जो जनक की आज्ञा से राजा दशरथ को बुलाने के लिए अयोध्या गए थे?
(क) सदानंद
(ख) शतानंद
(ग) यौधेय

(घ) सुदामन्
उत्तर. (घ) सुदामन्

67. उस सरोवर का क्या नाम था, जो एक योजन लंबा तथा इतना ही चौड़ा था?
(क) पंपासर
(ख) अमृतसर
(ग) पंचाप्सर
(घ) मानसर
उत्तर. (ग) पंचाप्सर

68. उस पर्वत का क्या नाम है जो सिंधुनद और समुद्र के संगम पर स्थित था तथा जिसके सौ शिखर थे?
(क) नीलगिरि
(ख) हेमगिरि
(ग) मेरु
(घ) महेंद्र
उत्तर. (ख) हेमगिरि

69. आठवें वसु का क्या नाम है?
(क) सावित्र
(ख) सोम
(ग) अनल
(घ) प्रत्यूष
उत्तर. (क) सावित्र

70. रावण ने सुग्रीव के पास जो दूत भेजा था उसका क्या नाम था?
(क) प्रघस
(ख) महोदर
(ग) शुक
(घ) धूम्राक्ष
उत्तर. (ग) शुक

71. उस वानर यूथपति का क्या नाम था जो गेरू के समान लाल रंग का था?
(क) गंधमादन
(ख) गवय
(ग) मैंद
(घ) द्विविद
उत्तर. (ख) गवय

72. उस वानर यूथपति का क्या नाम था जो चाँदी के समान धवल वर्ण का था?
(क) सुषेण
(ख) अंगद
(ग) गज
(घ) श्वेत
उत्तर. (घ) श्वेत

73. उस ग्रह का क्या नाम है जो समय-समय पर सूर्य और चंद्रमा पर ग्रहण लगाता है?
(क) राहु

(ख) केतु
(ग) शनि
(घ) बुध
उत्तर. (क) राहु

74. प्रभाव किसके मंत्री का नाम था?
(क) अंगद
(ख) नल
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ग) सुग्रीव

75. रामायणकालीन काशी का वर्तमान में क्या नाम है?
(क) कुरुक्षेत्र
(ख) गया
(ग) पटना
(घ) वाराणसी
उत्तर. (घ) वाराणसी

76. रामायणकालीन लवपुर का वर्तमान में क्या नाम है?
(क) लाहौर
(ख) इलाहाबाद
(ग) देहरादून
(घ) वाराणसी
उत्तर. (क) लाहौर

77. रामायणकालीन नगरी मधुपुरी का वर्तमान में क्या नाम है?
(क) मथुरा
(ख) वाराणसी
(ग) चंडीगढ़
(घ) कुरुक्षेत्र
उत्तर. (क) मथुरा

78. 'मारुत' किस देवता का नाम है?
(क) अग्नि
(ख) इंद्र
(ग) वायु
(घ) शनि
उत्तर. (ग) वायु

79. इंद्र के प्रसिद्ध उद्यान का क्या नाम था?
(क) काम्यक
(ख) नंदन (कानन)
(ग) प्रमदा
(घ) सौरभ
उत्तर. (ख) नंदन (कानन)

80. इंद्र के सारथि का नाम बताइए?
(क) दारुक
(ख) मातलि
(ग) अधिरथ
(घ) सुवर्चा
उत्तर. (ख) मातलि

81. उस गंधर्वी का क्या नाम है जिसने अपनी तीन पुत्रियों का विवाह माल्यवान्, सुमाली और माली (राक्षस) के साथ किया था?
(क) केतुमती
(ख) सुलोचना
(ग) मंदोदरी
(घ) नर्मदा
उत्तर. (घ) नर्मदा

82. उस वानर का क्या नाम है जो एक सरोवर-जल में अपनी परछाईं देखकर उससे युद्ध करने के लिए कूदा और स्त्रा् बन गया था?
(क) गवय
(ख) सुषेण
(ग) द्विविद
(घ) ऋक्षराज
उत्तर. (घ) ऋक्षराज

83. मेघनाद जिस देवी की पूजा किया करता था उसका क्या नाम था?
(क) सरस्वती
(ख) दुर्गा
(ग) निकुंभिला
(घ) लक्ष्मी
उत्तर. (ग) निकुंभिला

84. हनुमानजी की माता पूर्वजन्म में एक अप्सरा थीं। अप्सरा रूप में उनका क्या नाम था?
(क) घृताची
(ख) पुंजिकस्थला
(ग) उर्वशी
(घ) जानपदी
उत्तर. (ख) पुंजिकस्थला

85. लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर करने हेतु हनुमानजी जिस पर्वत को ओषधि सहित उठाकर लाए थे उसका क्या नाम था?
(क) ऋष्यमूक
(ख) मैनाक
(ग) अंजन
(घ) द्रोणगिरि
उत्तर. (घ) द्रोणगिरि

86. सीताजी की खोज में लंका पहुँचने पर हनुमानजी ने जिस विमान को देखा था उसका क्या नाम था?
(क) जयंत

(ख) पुष्पक
(ग) गरुड
(घ) सौभ
उत्तर. (ख) पुष्पक

87. उस राक्षसी का क्या नाम था जो लंका के समीप समुद्र में रहती थी और उड़ते हुए जीवों को खींच लेती थी तथा खा जाती थी?
(क) बलंधरा
(ख) प्रघसा
(ग) त्रिजटा
(घ) सिंहिका
उत्तर. (घ) सिंहिका

88. कुब्जा इनमें से किसका नाम है?
(क) कैकेयी
(ख) मंथरा
(ग) सुलोचना
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (ख) मंथरा

89. लंका में राक्षसों के कुल देवता का जो स्थान था उसका क्या नाम था?
(क) अशोक वन
(ख) निकुंभिला
(ग) चैत्य प्रासाद
(घ) कदंब वर्त
उत्तर. (ग) चैत्य प्रासाद

90. रामायण महाकाव्य का दूसरा नाम क्या था?
(क) रावण-वध
(ख) पौलस्त्य-वध अथवा दशानन-वध
(ग) निशाचर-वध
(घ) इंद्रजित्-वध
उत्तर. (ख) पौलस्त्य-वध अथवा दशानन-वध

91. श्रीराम द्वारा (बालि-वध के निमित्त) बालि से युद्ध करते हुए सुग्रीव ने अपने गले में जो माला पहन रखी थी उसका क्या नाम था?
(क) गजपुष्पी लता
(ख) विजयमाल
(ग) केतुमाल
(घ) चारुहास
उत्तर. (क) गजपुष्पी लता

92. श्रीराम को वन से वापस लाने के लिए जाते हुए भरत जिस नौका से गंगा के पार उतरे थे उसका क्या नाम था?
(क) भवतारिणी
(ख) चंद्रहास
(ग) देववर्णिनी

(घ) स्वस्तिक
उत्तर. (घ) स्वस्तिक

93. आज की व्यास नदी का रामायण काल में क्या नाम था?
(क) सरयू
(ख) गंगा
(ग) विपाशा
(घ) मंदाकिनी
उत्तर. (ग) विपाशा

94. उस धनुष का क्या नाम था, महर्षि परशुराम ने श्रीराम को (सीता स्वयंवर में) जिसपर बाण चढ़ा देने की चुनौती दी थी?
(क) गांडीव
(ख) अजगव
(ग) शाङ्‍र्ग
(घ) वैष्णव
उत्तर. (घ) वैष्णव

95. उत्तर कुरु प्रदेश में स्थित कुबेर के उपवन का क्या नाम था?
(क) चित्ररथ
(ख) नंदन
(ग) काम्यक
(घ) प्रमदा
उत्तर. (क) चित्ररथ

96. 'कलहप्रिय' किसका नाम था?
(क) नारद
(ख) गणेश
(ग) श्रीकृष्ण
(घ) शकुनि
उत्तर. (क) नारद

97. उस यज्ञ का क्या नाम है, जो 'पवित्र' नामक सोमयज्ञ से प्रारंभ और 'सौत्रामणि' से समाप्त होता है?
(क) अश्वमेध
(ख) राजसूय
(ग) वैष्णव
(घ) विश्वजित्
उत्तर. (ख) राजसूय

❑

2

रोमांचक जानकारियाँ

98. रावण के परिवार का वह कौन योद्धा था जो राम-रावण युद्ध में श्रीराम की ओर से लड़ा था?
(क) महोदर
(ख) विभीषण
(ग) प्रहस्त
(घ) माल्यवान्
उत्तर. (ख) विभीषण

99. वह कौन वीर था जिसने रावण को बंदी बनाकर कारागार में डाल दिया था और उसके (रावण के) पितामह के निवेदन पर उसे मुक्त किया था?
(क) कृतवीर्य
(ख) सहस्रार्जुन
(ग) गय
(घ) दशरथ
उत्तर. (ख) सहस्रार्जुन

100. वह कौन वीर था जो रावण को छह माह तक अपनी काँख (बगल) में दबाए रहा था?
(क) सहस्रार्जुन
(ख) कुबेर
(ग) मय
(घ) बालि
उत्तर. (घ) बालि

101. जब ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ से श्रीराम व लक्ष्मण को माँगने आए थे उस समय तमाम तर्कों के मध्य दशरथ ने ऋषि से अपनी कितनी अवस्था बताई थी?
(क) 60,000 वर्ष
(ख) 70,000 वर्ष
(ग) 80,000 वर्ष
(घ) 90,000 वर्ष
उत्तर. (क) 60,000 वर्ष

102. लक्ष्मण, हनुमान, भरत और शत्रुघ्न को किन दो भाइयों ने युद्ध में पराजित कर दिया था?
(क) रावण-कुंभकर्ण
(ख) बालि-सुग्रीव
(ग) लव-कुश
(घ) खर-दूषण
उत्तर. (ग) लव-कुश

103. कुंभकर्ण के शयन हेतु रावण ने जो घर बनवाया था वह कितना लंबा-चौड़ा था?
(क) 2 योजन लंबा, 1 योजन चौड़ा
(ख) 3 योजन लंबा, 2 योजन चौड़ा
(ग) 4 योजन लंबा, 4 योजन चौड़ा

(घ) 2 योजन लंबा, 2 योजन चौड़ा
उत्तर. (क) 2 योजन लंबा, 1 योजन चौड़ा

104. वह कौन राक्षस था जो एक बार में छह मास तक सोता रहता था?
(क) रावण
(ख) कुंभकर्ण
(ग) मेघनाद
(घ) अतिकाय
उत्तर. (ख) कुंभकर्ण

105. रावण ने किसे प्रसन्न करने के लिए अपने दसों शीश भेंट कर दिए थे?
(क) शनि
(ख) ब्रह्मा
(ग) अग्नि
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) ब्रह्मा

106. वह कौन था जो बिना माता के ही, केवल पिता से, जनमा था?
(क) विभीषण
(ख) दशरथ
(ग) अश्वपति
(घ) मिथि
उत्तर. (घ) मिथि

107. इनमें से किसने एक पाँव पर खड़े होकर पाँच हजार वर्षों तक तपस्या की थी?
(क) शंबूक
(ख) दशरथ
(ग) विभीषण
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ग) विभीषण

108. सीता-हरण के पूर्व सोने का मृग बनकर कौन आया था?
(क) सुबाहु
(ख) मारीच
(ग) कालनेमि
(घ) रावण
उत्तर. (ख) मारीच

109. पत्थर की शिला बनी अहल्या का उद्धार किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) लक्ष्मण
(ग) दशरथ
(घ) हनुमान
उत्तर. (क) श्रीराम

110. वह कौन महर्षि थे जिन्होंने पिता की आज्ञा से अपनी माता का सिर काट लिया था?
(क) वाल्मीकि

(ख) धौम्य
(ग) अगस्त्य
(घ) परशुराम
उत्तर. (घ) परशुराम

111. वह कौन महर्षि थे जो संपूर्ण समुद्र-जल को चुल्लू में भरकर पी गए थे?
(क) अत्रि
(ख) अगस्त्य
(ग) दुर्वासा
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ख) अगस्त्य

112. शूर्पणखा राक्षसी के नाक-कान किसने काटे थे?
(क) सीता
(ख) राम
(ग) लक्ष्मण
(घ) हनुमान
उत्तर. (ग) लक्ष्मण

113. वह कौन महर्षि थे जो क्षत्रिय होते हुए भी अपनी तपस्या के बल पर ब्रह्मर्षियों में गिने जाते हैं?
(क) वसिष्ठ
(ख) परशुराम
(ग) विश्वामित्र
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

114. वह कौन राजा था जिसे महर्षि विश्वामित्र सशरीर स्वर्गलोक भेज रहे थे?
(क) गाधि
(ख) त्रिशंकु
(ग) सहस्रार्जुन
(घ) जनक
उत्तर. (ख) त्रिशंकु

115. इनमें से कौन था जो सूर्य को फल समझकर खाने के लिए उसके पास चला गया था?
(क) जांबवान्
(ख) सुरसा
(ग) हनुमान
(घ) कालनेमि
उत्तर. (ग) हनुमान

116. वह कौन महर्षि थे जिन्होंने अपनी पत्नी को प्रस्तर-शिला बन जाने का शाप दिया था?
(क) अत्रि
(ख) वसिष्ठ
(ग) वाल्मीकि
(घ) गौतम
उत्तर. (घ) गौतम

117. वह कौन रीछ था, जिसकी सृष्टि ब्रह्मा ने अपनी जँभाई से की थी?
(क) शोणिवान
(ख) जांबवान्
(ग) ऋक्षराज
(घ) ऋक्षकेतु
उत्तर. (ख) जांबवान्

118. श्रीराम के राज्याभिषेक के समय निम्न में से कौन पाँच सौ नदियों का जल लाया था?
(क) नील
(ख) सुग्रीव
(ग) जांबवान्
(घ) नल
उत्तर. (ग) जांबवान्

119. वह कौन राक्षसी थी जिसने सीता को, रावण को अस्वीकृत करने पर, खा जाने की धमकी दी थी?
(क) प्रघसा
(ख) ताड़का
(ग) प्रमोदिनी
(घ) त्रिजटा
उत्तर. (क) प्रघसा

120. वह कौन ऋषि थे जिन्होंने क्रुद्ध होकर गंगा के समस्त जल को पी लिया था?
(क) जह्नु
(ख) दुर्वासा
(ग) याज्ञवल्क्य
(घ) धौम्य
उत्तर. (क) जह्नु

121. वह कौन था जिसने अपने पिता की आज्ञा से उनका वृद्धत्व स्वीकार कर उन्हें अपना यौवन दे दिया था?
(क) भरत
(ख) पुरु
(ग) प्रतीप
(घ) श्रीराम
उत्तर. (ख) पुरु

122. वह कौन ऋषि था जो अपने पिता की आज्ञा से गायों का वध करता था?
(क) उपयाज
(ख) कंडु
(ग) परशुराम
(घ) याज
उत्तर. (ख) कंडु

123. अश्विनीकुमारों ने किस ऋषि को ओषधि के द्वारा वृद्ध से युवा बना दिया था?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) जमदग्नि
(ग) च्यवन
(घ) अत्रि

उत्तर. (ग) च्यवन

124. वह कौन राक्षस था जो राम-लक्ष्मण का अपहरण करके उन्हें पाताल ले गया था?
(क) मेघनाद
(ख) अहिरावण
(ग) कुंभकर्ण
(घ) सुमाली
उत्तर. (ख) अहिरावण

125. वह कौन सा पर्वत था जो साठ हजार पर्वतों के मध्य में स्थित था?
(क) कैलास
(ख) मैनाक
(ग) महेंद्र
(घ) मेरु
उत्तर. (घ) मेरु

126. वह कौन राक्षस था, जिसे श्रीराम व लक्ष्मण ने गड्ढे में गाड़ दिया था?
(क) विराध
(ख) कुंभकर्ण
(ग) मारीच
(घ) सुबाहु
उत्तर. (क) विराध

127. वह कौन राक्षस था जिसने यम के साथ युद्ध किया था?
(क) मेघनाद
(ख) रावण
(ग) विभीषण
(घ) अतिकाय
उत्तर. (ख) रावण

128. मकरध्वज किस जंतु के गर्भ से जनमा था?
(क) कच्छप
(ख) मत्स्य
(ग) ग्राह
(घ) सर्प
उत्तर. (ख) मत्स्य

129. वह कौन वानर यूथपति था जो मृत्यु का पुत्र था?
(क) सुमुख
(ख) कुमुद
(ग) गंधमादन
(घ) सुषेण
उत्तर. (क) सुमुख

130. अयोध्या का वह कौन राजकुमार था, जो नगर के बालकों को पकड़कर सरयू नदी के जल में फेंक देता था?
(क) भगीरथ
(ख) लक्ष्मण

(ग) असमंज
(घ) दिलीप
उत्तर. (ग) असमंज

131. वह कौन मनुष्य था, जिसने राजा अंबरीष का यज्ञपशु बनना स्वीकार कर लिया था?
(क) त्रिशंकु
(ख) शुनःशेप
(ग) असमंज
(घ) त्रिकुट
उत्तर. (ख) शुनःशेप

132. अयोध्या का वह कौन प्रतापी राजा था जिसके पुत्रों ने संपूर्ण पृथ्वी को भेद डाला था?
(क) दशरथ
(ख) श्रीराम
(ग) भरत
(घ) सगर
उत्तर. (घ) सगर

133. राजा सगर के यज्ञाश्व का अपहरण किस देवता ने कर लिया था?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) शिव
(घ) विष्णु
उत्तर. (क) इंद्र

134. निम्न में वह कौन है जो सिर नीचे कर तपस्या कर रहा था?
(क) त्रिशंकु
(ख) मेघनाद
(ग) शंबूक
(घ) शुनःशेप
उत्तर. (ग) शंबूक

135. विष्णु ने किस स्त्रा् का सिर काट लिया था?
(क) अहल्या
(ख) भृगु-पत्नी
(ग) अंजना
(घ) अनसूया
उत्तर. (ख) भृगु-पत्नी

136. किस वानर योद्धा ने प्रतपन जैसे वीर राक्षस की आँखें निकाल ली थीं?
(क) नील
(ख) हनुमान
(ग) सुग्रीव
(घ) नल
उत्तर. (घ) नल

137. वह कौन राक्षस था, जो जनमते ही हजारों लोगों का भक्षण कर गया था?

(क) कुंभकर्ण
(ख) खर
(ग) दूषण
(घ) सुबाहु
उत्तर. (क) कुंभकर्ण

138. वह कौन था जिसने सोलह हजार नारियों को बंदी बनाकर रखा था तथा एक लाख नारियों से एक साथ विवाह करना चाहता था?
(क) रावण
(ख) दुंदुभि
(ग) कुंभकर्ण
(घ) मारीच
उत्तर. (ख) दुंदुभि

139. वह कौन देवता था, जो रावण के डर से कौआ बन गया था?
(क) वरुण
(ख) यम
(ग) वायु
(घ) शनि
उत्तर. (ख) यम

140. लंका की वह कौन राक्षसी थी, जिसने कभी मिथ्या भाषण नहीं किया था?
(क) प्रघसा
(ख) शूर्पणखा
(ग) त्रिजटा
(घ) ताड़का
उत्तर. (ग) त्रिजटा

141. वह कौन वानर वीर था जो रावण के दरबार में पाँव जमाकर खड़ा हो गया था और जिसने उसे हिला भी देने की चुनौती दी थी?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ख) अंगद

142. राजा जनक द्वारा खेत में हल जोतने पर कौन उत्पन्न हुआ था?
(क) उर्मिला
(ख) श्रुतकीर्ति
(ग) सीता
(घ) मांडवी
उत्तर. (ग) सीता

143. जो दस हजार महारथियों के साथ अकेला ही युद्ध करने में समर्थ हो, वह क्या कहलाता था?
(क) अर्धरथी
(ख) अतिरथी
(ग) रथी

(घ) महारथी
उत्तर. (ख) अतिरथी

144. वह कौन राजा था जिसने अपने पुत्र को अपना वृद्धत्व देकर उससे उसका यौवन ले लिया था?
(क) अंबरीष
(ख) गय
(ग) दशरथ
(घ) ययाति
उत्तर. (घ) ययाति

❑

3

नामों की निर्मिति

145. महर्षि वाल्मीकि का नाम ‘वाल्मीकि’ कैसे पड़ा?
(क) ‘मरा, मरा’ जपने के कारण
(ख) रामायण की रचना करने के कारण
(ग) तपस्या करते समय वल्मीक (बाँबी) से ढक जाने के कारण
(घ) लूट-मार करने के कारण
उत्तर. (ग) तपस्या करते समय वल्मीक (बाँबी) से ढक जाने के कारण

146. मेघनाद का एक नाम ‘इंद्रजित्’ क्यों था?
(क) इंद्र को युद्ध में पराजित कर देने के कारण
(ख) रावण का पुत्र होने के कारण
(ग) कठोर तपस्या करने के कारण
(घ) लक्ष्मण को मूर्च्छित कर देने के कारण
उत्तर. (क) इंद्र को युद्ध में पराजित कर देने के कारण

147. सीताजी को ‘जानकी’ क्यों कहते हैं?
(क) पृथ्वी से उत्पन्न होने के कारण
(ख) जनक की पुत्री होने के कारण
(ग) श्रीराम द्वारा त्याग दिए जाने के कारण
(घ) हल के फल से उत्पन्न होने के कारण
उत्तर. (ख) जनक की पुत्री होने के कारण

148. महर्षि परशुराम का नाम ‘परशुराम’ कैसे पड़ा?
(क) क्षत्रियों का संहार करने के कारण
(ख) अत्यंत क्रोधी होने के कारण
(ग) परशु धारण करने के कारण
(घ) शिवभक्त होने के कारण
उत्तर. (ग) परशु धारण करने के कारण

149. सरयू नदी का नाम ‘सरयू’ कैसे पड़ा?
(क) तीव्र गति से बहने के कारण
(ख) अनेक धाराओं में बहने के कारण
(ग) ब्रह्मसर (मानस) से निकलने के कारण
(घ) अयोध्या के निकट बहने के कारण
उत्तर. (ग) ब्रह्मसर (मानस) से निकलने के कारण

150. प्रसिद्ध गजराज ऐरावत का नाम ‘ऐरावत’ कैसे पड़ा?
(क) इरावती का पुत्र होने के कारण
(ख) श्वेत वर्ण का होने के कारण
(ग) समुद्र से उत्पन्न होने के कारण
(घ) दैवी शक्तियाँ प्राप्त होने के कारण
उत्तर. (क) इरावती का पुत्र होने के कारण

151. महर्षि परशुराम को ‘भार्गव’ क्यों कहते थे?
(क) शिव का भक्त होने के कारण
(ख) क्षत्रियों का संहार करने के कारण
(ग) भृगु वंश में जनमने के कारण
(घ) अति कोपी होने के कारण
उत्तर. (ग) भृगु वंश में जनमने के कारण

152. राजा सगर का नाम ‘सगर’ कैसे पड़ा?
(क) गर (विष) सहित जनमने के कारण
(ख) सागर (समुद्र) में स्नान करने के कारण
(ग) समुद्र से युद्ध करने के कारण
(घ) समुद्र को खुदवाया था, इस कारण
उत्तर. (क) गर (विष) सहित जनमने के कारण

153. इंद्र को ‘देवराज’ क्यों कहते हैं?
(क) असुरों को पराजित करने के कारण
(ख) वृत्रासुर का वध करने के कारण
(ग) देवताओं का राजा होने के कारण
(घ) ऐरावत हाथी की सवारी करने के कारण
उत्तर. (ग) देवताओं का राजा होने के कारण

154. शिवजी का एक नाम ‘नीलकंठ’ क्यों था?
(क) नीलकंठ पक्षी को अभयदान देने के कारण
(ख) नीले वर्ण का होने के कारण
(ग) हलाहल विष पीने से कंठ नीला पड़ जाने के कारण
(घ) शरीर पर राख लपेटे रहने के कारण
उत्तर. (ग) हलाहल विष पीने से कंठ नीला पड़ जाने के कारण

155. राक्षसों को ‘यातुधान’ क्यों कहा जाता है?
(क) ब्रह्मा द्वारा वर दिए जाने के कारण
(ख) अति वीर व पराक्रमी होने के कारण
(ग) ऋषियों का यज्ञ विध्वंस करने के कारण
(घ) उन्हें यातु विद्या (जादू) का ज्ञान था, इस कारण
उत्तर. (घ) उन्हें यातु विद्या (जादू) का ज्ञान था, इस कारण

156. राक्षसों को ‘निशाचर’ क्यों कहते हैं?
(क) उनकी कुरूपता के कारण
(ख) मांस भोजी होने के कारण
(ग) निशा (रात्रि) में विचरण करने के कारण
(घ) सुरापान करने तथा परस्त्र्-हरण करने के कारण
उत्तर. (ग) निशा (रात्रि) में विचरण करने के कारण

157. राक्षसों को ‘राक्षस’ क्यों कहा जाता है?
(क) मांसाहार और मद्यपान करने के कारण
(ख) मानवभक्षी होने के कारण
(ग) देवताओं से युद्ध में अपनी रक्षा करने के कारण
(घ) ब्रह्मा द्वारा जल की सृष्टि करने पर उसकी ‘रक्षा’ करने के कारण

उत्तर. (घ) ब्रह्मा द्वारा जल की सृष्टि करने पर उनकी 'रक्षा' करने के कारण

158. भरत की माता कैकेयी का 'कैकेयी' नाम कैसे पड़ा?
(क) दशरथ से वरदान माँगने के कारण
(ख) राम को वन भिजवाने के कारण
(ग) देव-असुर संग्राम में दशरथ का सारथ्य करने के कारण
(घ) केकय देश की राजकुमारी होने के कारण
उत्तर. (घ) केकय देश की राजकुमारी होने के कारण

159. मेघनाद का नाम 'मेघनाद' कैसे पड़ा?
(क) मंदोदरी का पुत्र होने के कारण
(ख) जनमते ही मेघ के समान गर्जना करने के कारण
(ग) सुलोचना के साथ विवाह करने के कारण
(घ) कठोर तपस्या करने के कारण
उत्तर. (ख) जनमते ही मेघ के समान गर्जना करने के कारण

160. सीताजी को 'सीता' क्यों कहते हैं?
(क) राजा जनक की पुत्री होने के कारण
(ख) खेत की कूँड़ में जन्म लेने के कारण
(ग) श्रीराम से विवाह करने के कारण
(घ) स्वयंवर के द्वारा विवाह होने के कारण
उत्तर. (ख) खेत की कूँड़ में जन्म लेने के कारण

161. हनुमानजी का नाम 'हनुमान' कैसे पड़ा?
(क) इंद्र द्वारा वज्र का प्रहार करने से इनकी हनु (ठोढ़ी) टेढ़ी हो गई थी, इस कारण
(ख) अत्यंत बलशाली थे, इस कारण
(ग) लंका को जला देने के कारण
(घ) अविवाहित रहने के कारण
उत्तर. (क) इंद्र द्वारा वज्र का प्रहार करने से इनकी हनु (ठोढ़ी) टेढ़ी हो गई थी, इस कारण

162. विश्वामित्र का एक नाम 'कौशिक' क्यों था?
(क) कुश के कुल में उत्पन्न होने के कारण
(ख) केशों का रंग सुनहला होने के कारण
(ग) ब्रह्मर्षि पद प्राप्त करने के कारण
(घ) अति हठी होने के कारण
उत्तर. (क) कुश के कुल में उत्पन्न होने के कारण

163. कार्त्तिकेय का एक नाम 'षण्मुख' क्यों है?
(क) गंगा से उत्पन्न होने के कारण
(ख) कृत्तिकाओं द्वारा पाले जाने के कारण
(ग) कृत्तिकाओं का स्तनपान करने हेतु छह मुख धारण करने के कारण
(घ) राक्षसों का संहार करने के कारण
उत्तर. (ग) कृत्तिकाओं का स्तनपान करने हेतु छह मुख धारण करने के कारण

164. अतिकाय राक्षस को 'अतिकाय' क्यों कहा जाता था?
(क) माया-युद्ध करने के कारण
(ख) अत्यंत विशाल शरीर का होने के कारण

(ग) अधिक भोजन करने के कारण
(घ) ऋषियों के यज्ञों का विध्वंस कर देने के कारण
उत्तर. (ख) अत्यंत विशाल शरीर का होने के कारण

165. गंगा का एक नाम 'भागीरथी' क्यों पड़ा?
(क) शिव द्वारा जटाओं में बाँध लेने के कारण
(ख) ब्रह्मा के कमंडलु में समा जाने के कारण
(ग) तीव्र वेग से बहने के कारण
(घ) भगीरथ द्वारा पृथ्वी पर लाए जाने के कारण
उत्तर. (घ) भगीरथ द्वारा पृथ्वी पर लाए जाने के कारण

166. सहस्रार्जुन को 'कार्तवीर्य' क्यों कहा जाता है?
(क) रावण को पराजित करने के कारण
(ख) कृतवीर्य का पुत्र था, इस कारण
(ग) सहस्र भुजाओंवाला होने के कारण
(घ) प्रजा के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के कारण
उत्तर. (ख) कृतवीर्य का पुत्र था, इस कारण

167. श्रीराम को 'दाशरथि' क्यों कहा जाता है?
(क) दसों इंद्रियों को जीत लेने के कारण
(ख) उच्च कोटि का योद्धा होने के कारण
(ग) रावण का वध करने के कारण
(घ) दशरथ के पुत्र थे, इस कारण
उत्तर. (घ) दशरथ के पुत्र थे, इस कारण

168. च्यवन ऋषि का नाम 'च्यवन' क्यों था?
(क) अत्यंत क्रोधी होने के कारण
(ख) च्यवनप्राश जैसी ओषधि बनाने के कारण
(ग) माता के गर्भ से स्वयमेव गिर पड़े थे और गतिशील थे, इस कारण
(घ) शरीर की बनावट टेढ़ी होने के कारण
उत्तर. (ग) माता के गर्भ से स्वयमेव गिर पड़े थे और गतिशील थे, इस कारण

169. रावण का एक नाम 'दशग्रीव' क्यों था?
(क) दसों दिशाओं को जीत लेने के कारण
(ख) दस ग्रीवाओं सहित जन्म लेने के कारण
(ग) प्रकांड विद्वान् होने के कारण
(घ) इंद्र को पराजित कर देने के कारण
उत्तर. (ख) दस ग्रीवाओं सहित जन्म लेने के कारण

170. सीता का एक नाम 'वैदेही' क्यों था?
(क) पृथ्वी से जन्म लेने के कारण
(ख) श्रीराम से विवाह करने के कारण
(ग) भूमि में समा जाने के कारण
(घ) विदेह जनक की पुत्री होने के कारण
उत्तर. (घ) विदेह जनक की पुत्री होने के कारण

171. कार्त्तिकेय का नाम 'कार्त्तिकेय' कैसे पड़ा?

(क) गंगा द्वारा उत्पन्न किए जाने के कारण
(ख) असुरों का संहार करने के कारण
(ग) कृत्तिकाओं द्वारा पाले जाने के कारण
(घ) शिव का पुत्र होने के कारण
उत्तर. (ग) कृत्तिकाओं द्वारा पाले जाने के कारण

172. गंगा का एक नाम 'त्रिपथगा' क्यों है?
(क) तीनों लोकों में बहने के कारण
(ख) शिव द्वारा जटा में बाँध लेने के कारण
(ग) ब्रह्मा के शाप के कारण
(घ) भगीरथ द्वारा पृथ्वी पर लाए जाने के कारण
उत्तर. (क) तीनों लोकों में बहने के कारण

173. श्रीराम को 'राघव' क्यों कहा जाता है?
(क) राक्षसों का वध करने के कारण
(ख) पितृभक्त होने के कारण
(ग) लंका-विजय करने के कारण
(घ) रघु वंश में जनमने के कारण
उत्तर. (घ) रघु वंश में जनमने के कारण

174. महर्षि अगस्त्य ऋषि का नाम 'कुंभज' कैसे पड़ा?
(क) विंध्याचल पर्वत को झुका देने के कारण
(ख) कुंभ (घड़ा) से जनमने के कारण
(ग) क्रोधी स्वभाव का होने के कारण
(घ) समुद्र को पी जाने के कारण
उत्तर. (ख) कुंभ (घड़ा) से जनमने के कारण

175. महर्षि अगस्त्य का एक नाम 'सिंधुप' क्यों था?
(क) सिंधु (समुद्र) को पी जाने (पार जाने) के कारण
(ख) सिंधु से युद्ध करने के कारण
(ग) सिंध में जन्म लेने के कारण
(घ) कुंभ से जनमने के कारण
उत्तर. (क) सिंधु (समुद्र) को पी जाने (पार जाने) के कारण

176. समुद्र का एक नाम 'सागर' कैसे पड़ा?
(क) गर (विष) धारण करने के कारण
(ख) लक्ष्मण द्वारा पराजित होने के कारण
(ग) राजा सगर द्वारा खुदवाने के कारण
(घ) अति विस्तृत होने के कारण
उत्तर. (ग) राजा सगर द्वारा खुदवाने के कारण

177. शिव का एक नाम 'पिनाकी' क्यों है?
(क) 'पिनाक' नामक त्रिशूल धारण करने के कारण
(ख) शीघ्र क्रोध में आ जाने के कारण
(ग) गले में सर्प की माला पहनने के कारण
(घ) नंदी (बैल) पर सवारी करने के कारण
उत्तर. (क) 'पिनाक' नामक त्रिशूल धारण करने के कारण

178. गरुड को ‘वैनतेय’ क्यों कहा जाता है?
(क) अति विनम्र स्वभाव का होने के कारण
(ख) विष्णु का वाहन होने के कारण
(ग) विनता का पुत्र होने के कारण
(घ) सदैव विनत रहने के कारण
उत्तर. (ग) विनता का पुत्र होने के कारण

179. देवताओं को ‘सुर’ क्यों कहा जाता है?
(क) असुरों से युद्ध करने के कारण
(ख) वारुणी (सुरा) को ग्रहण करने के कारण
(ग) समुद्र-मंथन करने के कारण
(घ) संगीत विद्या में निपुण होने के कारण
उत्तर. (ख) वारुणी (सुरा) को ग्रहण करने के कारण

180. राजा जनक के पूर्वज मिथि का नाम ‘मिथि’ कैसे पड़ा था?
(क) मिथिला के राजा थे, इस कारण
(ख) राजा निमि के मृत शरीर को मथने से उत्पन्न होने के कारण
(ग) समुद्र मंथन किया था, इस कारण
(घ) पिता के माथे से उत्पन्न थे, इस कारण
उत्तर. (ख) राजा निमि के मृत शरीर को मथने से उत्पन्न होने के कारण

181. दैत्यों का नाम ‘दैत्य’ कैसे पड़ा?
(क) देवताओं से युद्ध करने के कारण
(ख) ब्रह्मा के शाप के कारण
(ग) दिति के पुत्र थे, इस कारण
(घ) समुद्र से जन्म लेने के कारण
उत्तर. (ग) दिति के पुत्र थे, इस कारण

182. राजा जनक के वंश का नाम ‘मैथिल’ कैसे पड़ा?
(क) राजा मिथि के नाम से चला, इस कारण
(ख) मिथिला में शासन था, इस कारण
(ग) प्रजापालक व न्यायशील थे, इस कारण
(घ) इस वंश में सीताजी का जन्म हुआ, इस कारण
उत्तर. (क) राजा मिथि के नाम से चला, इस कारण

183. दानवों को ‘दानव’ क्यों कहा जाता है?
(क) दनु द्वारा उत्पन्न होने के कारण
(ख) नरभक्षी होने के कारण
(ग) गंधर्वों का वध कर देने के कारण
(घ) मानवों का शत्रु होने के कारण
उत्तर. (क) दनु द्वारा उत्पन्न होने के कारण

184. महर्षि विश्वामित्र श्रीराम को ‘काकुत्स्थ’ क्यों कहते थे?
(क) राजा ककुत्स्थ के वंशज थे, इस कारण
(ख) काक (कौए) की प्राणरक्षा करने के कारण
(ग) राक्षसों का संहार करने के कारण
(घ) अहल्या का उद्धार करने के कारण

उत्तर. (क) राजा ककुत्स्थ के वंशज थे, इस कारण

185. यक्षों का नाम 'यक्ष' कैसे पड़ा?
(क) श्वेत वर्ण के थे, इस कारण
(ख) ब्रह्माजी द्वारा उत्पन्न सागर जल का यक्षण (पूजन) करने के कारण
(ग) राक्षसों से युद्ध किया था, इस कारण
(घ) ब्रह्मा द्वारा वरदान देने के कारण
उत्तर. (ख) ब्रह्माजी द्वारा उत्पन्न सागर जल का यक्षण (पूजन) करने के कारण

186. महर्षि अगस्त्य का नाम 'अगस्त्य' कैसे पड़ा?
(क) अग (अर्थात् पर्वत) को स्तंभित कर देने के कारण
(ख) अग (पर्वत) से मित्रता होने के कारण
(ग) समुद्र को पी जाने के कारण
(घ) घड़े से उत्पन्न होने के कारण
उत्तर. (क) अग (अर्थात् पर्वत) को स्तंभित कर देने के कारण

187. पार्वतीजी का नाम 'पार्वती' क्यों था?
(क) पर्वत पर रहती थीं, इस कारण
(ख) शिवजी के साथ विवाह होने के कारण
(ग) पर्वत (हिमालय) की पुत्री थीं, इस कारण
(घ) पर्वत पर तपस्या करने के कारण
उत्तर. (ग) पर्वत (हिमालय) की पुत्री थीं, इस कारण

188. शिवजी का एक नाम 'आशुतोष' कैसे पड़ा?
(क) पूरे शरीर पर भभूत (राख) लपेटे रहने के कारण
(ख) शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, इस कारण
(ग) गले में सर्पों की माला पहनने के कारण
(घ) विष को पी जाने के कारण
उत्तर. (ख) शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, इस कारण

189. अहल्या, जिनका श्रीराम ने उद्धार किया था, का नाम 'अहल्या' कैसे पड़ा?
(क) हल्य (विरूपता) लेश मात्र भी न होने के कारण (यह नाम ब्रह्मा ने दिया था)
(ख) बिलकुल भी न हिलने (जड़वत्) के कारण
(ग) पति द्वारा शापित होने के कारण
(घ) श्रीराम द्वारा उद्धारित होने के कारण
उत्तर. (क) हल्य (विरूपता) लेश मात्र भी न होने के कारण (यह नाम ब्रह्मा ने दिया था)

190. बालि (वानर) का नाम 'बालि' कैसे पड़ा?
(क) स्त्री बने ऋक्षराज की ग्रीवा (गरदन) पर सूर्य के वीर्य के गिरने से उत्पन्न होने के कारण।
(ख) स्त्री बने ऋक्षराज के बालों पर इंद्र का वीर्य गिरने से उत्पन्न होने के कारण
(ग) अत्यंत बली होने के कारण
(घ) युद्ध के समय शत्रु का आधा बल उसके पास आ जाने के कारण
उत्तर. (ख) स्त्री बने ऋक्षराज के बालों पर इंद्र का वीर्य गिरने से उत्पन्न होने के कारण

191. सुग्रीव का नाम 'सुग्रीव' कैसे पड़ा?
(क) अति सुंदर ग्रीवा होने के कारण
(ख) बालि से पराजित होने के कारण

(ग) स्त्रा् बने ऋक्षराज की ग्रीवा (गरदन) पर सूर्य का वीर्य गिरने से उत्पन्न होने के कारण
(घ) लंका अभियान में श्रीराम की सहायता करने के कारण
उत्तर. (ग) स्त्रा् बने ऋक्षराज की ग्रीवा (गरदन) पर सूर्य का वीर्य गिरने से उत्पन्न होने के कारण

192. कुश और लव का नाम 'कुश' तथा 'लव' कैसे पड़ा?
(क) जुड़वाँ जनमने के कारण
(ख) अल्पायु में ही वीरता दिखाने के कारण
(ग) महर्षि वाल्मीकि ने कुशाओं का एक मुट्ठा और उनके लव लेकर दोनों बालकों की भूत-बाधा का निवारण करने के लिए रक्षा-विधि का उपदेश दिया था, इस कारण
(घ) रामायण का गान करने के कारण
उत्तर. (ग) महर्षि वाल्मीकि ने कुशाओं का एक मुट्ठा और उनके लव लेकर दोनों बालकों की भूत-बाधा का निवारण करने के लिए रक्षा-विधि का उपदेश दिया था, इस कारण

193. गंगा को 'जाह्नवी' क्यों कहते हैं?
(क) शिव की जटा से निकलने के कारण
(ख) ब्रह्मा के कमंडलु से निकलने के कारण
(ग) स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के कारण
(घ) जह्नु ऋषि की जंघा से निकलने के कारण
उत्तर. (घ) जह्नु ऋषि की जंघा से निकलने के कारण

❑

4

संख्याओं को भी जानें

194. रामायण में कुल कितने कांड हैं?
(क) 8
(ख) 10
(ग) 6
(घ) 7
उत्तर. (घ) 7

195. रामायण माहात्म्य में कुल कितने अध्याय हैं?
(क) 5
(ख) 10
(ग) 15
(घ) 18
उत्तर. (क) 5

196. रामायण में कुल कितने सर्ग हैं?
(क) 100
(ख) 500
(ग) 800
(घ) 1000
उत्तर. (ख) 500

197. रामायण में कुल कितने श्लोकों की रचना की गई है?
(क) 10,000
(ख) 24,000
(ग) 50,000
(घ) 60,000
उत्तर. (ख) 24,000

198. लक्ष्मण ने कितने वर्षों तक निद्रा का त्याग किया, जिससे वे मेघनाद का वध कर सके?
(क) 12
(ख) 13
(ग) 14
(घ) 15
उत्तर. (क) 12

199. लंका जाने हेतु समुद्र पर बनाए गए सेतु की लंबाई कितनी थी?
(क) 10 योजन
(ख) 50 योजन
(ग) 100 योजन
(घ) 150 योजन
उत्तर. (ग) 100 योजन

200. लक्ष्मण एक बार में कितने बाण चला सकते थे?
(क) 10
(ख) 20
(ग) 50
(घ) 500
उत्तर. (घ) 500

201. श्रीराम समुद्र से मार्ग देने के लिए विनय करते हुए उसके तट पर कितने दिनों तक प्रतीक्षारत बैठे रहे थे?
(क) 1 दिन
(ख) 2 दिन
(ग) 3 दिन
(घ) 5 दिन
उत्तर. (ग) 3 दिन

202. लंका नगरी कुल कितनी दूरी में फैली हुई थी?
(क) 10 योजन चौड़ी और 20 योजन लंबी
(ख) 5 योजन चौड़ी और 5 योजन लंबी
(ग) 4 योजन चौड़ी और 6 योजन लंबी
(घ) 3 योजन चौड़ी और 5 योजन लंबी
उत्तर. (क) 10 योजन चौड़ी और 20 योजन लंबी

203. मंदोदरी के अतिरिक्त रावण की अन्य कितनी पत्नियाँ थीं?
(क) 800
(ख) 900
(ग) 1,000
(घ) 1,100
उत्तर. (ग) 1,000

204. राजा जनक ने अपनी कन्याओं (सीता, उर्मिला आदि) के निमित्त दहेज में उन्हें सहेलियों के रूप में कितनी-कितनी कन्याएँ दी थीं?
(क) 50-50
(ख) 100-100
(ग) 60-60
(घ) 80-80
उत्तर. (ख) 100-100

205. रानी कौशल्या को अपने आश्रितों का पालन करने के लिए अयोध्या शासन की ओर से कुल कितने ग्राम मिले हुए थे?
(क) 1,000
(ख) 2,000
(ग) 3,000
(घ) 4,000
उत्तर. (क) 1,000

206. श्रीराम को कुल कितने वर्षों का वनवास मिला था?
(क) 12
(ख) 14

(ग) 13
(घ) 11
उत्तर. (ख) 14

207. रावण कुल कितने भाई थे?
(क) 3
(ख) 4
(ग) 2
(घ) 6
उत्तर. (क) 3

208. महर्षि विश्वामित्र के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 5
(ख) 10
(ग) 100
(घ) 110
उत्तर. (ग) 100

209. कार्तवीर्य अर्जुन के कितनी भुजाएँ मानी जाती हैं?
(क) 20
(ख) 100
(ग) 500
(घ) 1,000
उत्तर. (घ) 1,000

210. श्रीराम कुल कितने भाई थे?
(क) 3
(ख) 4
(ग) 2
(घ) 5
उत्तर. (ख) 4

211. राजा दशरथ की कितनी पत्नियाँ थीं?
(क) 6
(ख) 4
(ग) 2
(घ) 3
उत्तर. (घ) 3

212. रावण के कुल कितने सिर थे?
(क) 10
(ख) 20
(ग) 30
(घ) 40
उत्तर. (क) 10

213. कौशल्या के कितने पुत्र थे?

(क) 4
(ख) 1
(ग) 2
(घ) 3
उत्तर. (ख) 1

214. सुमित्रा के कितने पुत्र थे?
(क) 3
(ख) 1
(ग) 1 भी नहीं
(घ) 2
उत्तर. (घ) 2

215. कैकेयी के कितने पुत्र थे?
(क) 3
(ख) 2
(ग) 1
(घ) 1 भी नहीं
उत्तर. (ग) 1

216. कुशनाभ की कितनी कन्याएँ थीं?
(क) 5
(ख) 20
(ग) 100
(घ) 200
उत्तर. (ग) 100

217. श्रीराम के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 2
(ख) 3
(ग) 4
(घ) 5
उत्तर. (क) 2

218. राजा जनक कुल कितने भाई थे?
(क) 3
(ख) 5
(ग) 7
(घ) 2
उत्तर. (घ) 2

219. रामायण के बालकांड में कुल कितने सर्ग हैं?
(क) 60
(ख) 70
(ग) 75
(घ) 77
उत्तर. (घ) 77

220. रामायण के बालकांड में कुल कितने श्लोक हैं?
(क) 1,000
(ख) 1,527
(ग) 1,550
(घ) 2,270
उत्तर. (घ) 2,270

221. ताड़का राक्षसी को कितने हजार हाथियों का बल प्राप्त था?
(क) 200
(ख) 500
(ग) 1,000
(घ) 2,000
उत्तर. (ग) 1,000

222. राजा सगर के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 5,000
(ख) 60,001
(ग) 70,005
(घ) 75,003
उत्तर. (ख) 60,001

223. त्रेतायुग कुल कितने वर्ष का माना गया है?
(क) 12,96,000
(ख) 13,50,000
(ग) 15,11,310
(घ) 17,41,600
उत्तर. (क) 12,96,000

224. संपाति और जटायु (गृद्ध) में कितनी दूरी तक देखने की क्षमता थी?
(क) 80 योजन
(ख) 90 योजन
(ग) 100 योजन
(घ) 110 योजन
उत्तर. (ग) 100 योजन

225. जांबवान् ने सुग्रीव को कुल कितने सैनिक दिए थे?
(क) 5,00,00,000
(ख) 10,00,00,000
(ग) 15,00,00,000
(घ) 20,00,00,000
उत्तर. (ख) 10,00,00,000

226. जांबवान् में कितनी दूरी तक छलाँग लगाने की क्षमता थी?
(क) 90 योजन
(ख) 100 योजन
(ग) 120 योजन
(घ) 150 योजन

उत्तर. (क) 90 योजन

227. इंद्रजानु (वानर) कितने करोड़ वानरों को लेकर श्रीराम की सहायता हेतु आया था?
(क) 5,00,00,000
(ख) 7,00,00,000
(ग) 10,00,00,000
(घ) 11,00,00,000
उत्तर. (घ) 11,00,00,000

228. समुद्र-मंथन से कुल कितने रत्न निकले थे?
(क) 5
(ख) 10
(ग) 14
(घ) 25
उत्तर. (ग) 14

229. रावण के कितनी भुजाएँ थीं?
(क) 10
(ख) 20
(ग) 40
(घ) 60
उत्तर. (ख) 20

230. समुद्र-मंथन के समय कुल कितनी अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं?
(क) 2,00,00,000
(ख) 6,00,00,000
(ग) 8,00,00,000
(घ) 10,00,00,000
उत्तर. (ख) 6,00,00,000

231. परशुराम ने कुल कितनी बार क्षत्रियों का संहार किया था?
(क) 10
(ख) 21
(ग) 31
(घ) 60
उत्तर. (ख) 21

232. शिव की जटा से छूटकर गंगा की कितनी धाराएँ हो गई थीं?
(क) 5
(ख) 6
(ग) 7
(घ) 8
उत्तर. (ग) 7

233. वसुओं की कुल कितनी संख्या मानी जाती है?
(क) 5
(ख) 6

(ग) 7
(घ) 8
उत्तर. (घ) 8

234. कुबेर की समानता की इच्छा से रावण ने कितने हजार वर्षों की तपस्या की थी?
(क) 1,000
(ख) 2,000
(ग) 5,000
(घ) 10,000
उत्तर. (घ) 10,000

235. श्रीराम की सहायता हेतु हनुमानजी के साथ कुल कितने वानर आए थे?
(क) 10,00,00,00,000
(ख) 11,00,00,00,000
(ग) 12,00,00,00,000
(घ) 13,00,00,00,000
उत्तर. (क) 10,00,00,00,000

236. राजा सगर की कुल कितनी रानियाँ थीं?
(क) 2
(ख) 5
(ग) 8
(घ) 12
उत्तर. (क) 2

237. राजा सगर के कितने पुत्रों को कपिल मुनि ने भस्म कर दिया था?
(क) 10,000
(ख) 20,000
(ग) 60,000
(घ) 70,000
उत्तर. (ग) 60,000

238. प्रजापतियों की संख्या कुल कितनी है?
(क) 10
(ख) 20
(ग) 30
(घ) 40
उत्तर. (क) 10

239. वानर यूथपति गवाक्ष कितनी सेना लेकर सुग्रीव के पास आए थे?
(क) 1,00,00,00,000
(ख) 2,00,00,00,000
(ग) 10,00,00,00,000
(घ) 12,00,00,00,000
उत्तर. (ग) 10,00,00,00,000

240. अश्विनीकुमारों की संख्या कितनी है?

(क) 2
(ख) 3
(ग) 4
(घ) 5
उत्तर. (क) 2

241. माता कौशल्या ने कितने मास का गर्भ-धारण कर श्रीराम को जन्म दिया था?
(क) 10
(ख) 12
(ग) 13
(घ) 14
उत्तर. (ख) 12

242. त्रिशिरा राक्षस के कुल कितने सिर थे?
(क) 2
(ख) 3
(ग) 10
(घ) 16
उत्तर. (ख) 3

243. धूम्र (रीछ) कुल कितनी सेना लेकर श्रीराम की सहायता हेतु आया था?
(क) 1,00,00,00,000
(ख) 5,00,00,00,000
(ग) 10,00,00,00,000
(घ) 20,00,00,00,000
उत्तर. (घ) 20,00,00,00,000

244. लोकपाल कुल कितने हैं?
(क) 4
(ख) 5
(ग) 8
(घ) 10
उत्तर. (ग) 8

245. नल कितनी सेना लेकर श्रीराम की सहायता के लिए आए थे?
(क) 1,00,00,01,100
(ख) 1,00,02,00,000
(ग) 1,00,04,02,000
(घ) 1,50,0055,000
उत्तर. (क) 1,00,00,01,100

246. अश्वमेध यज्ञ कितने समय में समाप्त होता है?
(क) 6 माह
(ख) 10 माह
(ग) 1 वर्ष
(घ) 2 वर्ष
उत्तर. (ग) 1 वर्ष

247. सप्तर्षियों की कुल कितनी संख्या है?
(क) 5
(ख) 7
(ग) 8
(घ) 10
उत्तर. (ख) 7

248. वानर यूथपति तार कितने वानरों को लेकर राम की सहायता के लिए आए थे?
(क) 2,00,00,000
(ख) 3,00,00,000
(ग) 5,00,00,000
(घ) 7,00,00,000
उत्तर. (ग) 5,00,00,000

249. वे कुल कितने अस्त्र थे, जो प्रजापति कृशाश्व के पुत्र थे तथा जिन्हें महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराम को प्रदान किया था?
(क) 48
(ख) 49
(ग) 50
(घ) 52
उत्तर. (ख) 49

250. ऋषि वसिष्ठ के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 80
(ख) 90
(ग) 100
(घ) 106
उत्तर. (ग) 100

251. गंधमादन (वानर) एक छलाँग में कितनी दूर तक जा सकता था?
(क) 10 योजन
(ख) 20 योजन
(ग) 30 योजन
(घ) 50 योजन
उत्तर. (घ) 50 योजन

252. सुषेण (वानर) एक छलाँग में कितनी दूर तक जा सकता था?
(क) 80 योजन
(ख) 90 योजन
(ग) 100 योजन
(घ) 105 योजन
उत्तर. (क) 80 योजन

253. अंगद एक छलाँग में कितनी दूर तक जा सकते थे?
(क) 70 योजन
(ख) 80 योजन
(ग) 90 योजन

(घ) 100 योजन
उत्तर. (घ) 100 योजन

254. श्रीराम की सहायता को आए लंगूर जाति के वानरों की कुल कितनी संख्या थी?
(क) 80,00,000
(ख) 1,00,00,000
(ग) 1,50,00,000
(घ) 2,00,00,000
उत्तर. (ख) 1,00,00,000

255. रामायण के अनुसार सबसे बड़ी संख्या कौन सी है?
(क) महाखर्व
(ख) महापद्म
(ग) महाशंकु
(घ) महौघ
उत्तर. (घ) महौघ

256. देवताओं ने कुल कितने वानरों को उत्पन्न किया था?
(क) 10,00,00,000
(ख) 11,00,00,000
(ग) 12,00,00,000
(घ) 13,00,00,000
उत्तर. (क) 10,00,00,000

257. नक्षत्रों की कुल कितनी संख्या है?
(क) 20
(ख) 25
(ग) 27
(घ) 29
उत्तर. (ग) 27

258. बिंदु सरोवर से निकलकर गंगा की कौन सी धारा भगीरथ के पीछे-पीछे चल पड़ी थी?
(क) 5वीं
(ख) 7वीं
(ग) 8वीं
(घ) 9वीं
उत्तर. (ख) 7वीं

259. राजा दशरथ की पटरानी कौशल्या को उनके विवाह के समय मायके से स्त्री-धन के रूप में कुल कितने ग्राम प्राप्त हुए थे?
(क) 200
(ख) 500
(ग) 800
(घ) 1,000
उत्तर. (घ) 1,000

260. इंद्र की उपाधि कितने यज्ञ करके प्राप्त की जा सकती थी?

(क) 100
(ख) 90
(ग) 80
(घ) 70
उत्तर. (क) 100

261. कुश की कितनी पत्नियाँ थीं?
(क) 5
(ख) 3
(ग) 6
(घ) 1
उत्तर. (घ) 1

262. लव की कितनी पत्नियाँ थीं?
(क) 1
(ख) 2
(ग) 3
(घ) 4
उत्तर. (ख) 2

263. भरत के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 7
(ख) 2
(ग) 4
(घ) 3
उत्तर. (ख) 2

264. इक्ष्वाकु (श्रीराम के पूर्वज) के कुल कितने पुत्र थे?
(क) 50
(ख) 60
(ग) 80
(घ) 100
उत्तर. (घ) 100

265. विष्णु के अवतारों में श्रीराम का अवतार कौन सा था?
(क) 7वाँ
(ख) 8वाँ
(ग) 9वाँ
(घ) 10वाँ
उत्तर. (क) 7वाँ

266. रामायण के अनुसार कुल कितने आदित्य हैं?
(क) 10
(ख) 11
(ग) 13
(घ) 12
उत्तर. (घ) 12

267. रामायण के अनुसार कुल कितने रुद्र हैं?
(क) 9
(ख) 10
(ग) 11
(घ) 12
उत्तर. (ग) 11

268. राजा दशरथ के कुल कितने मंत्री थे?
(क) 6
(ख) 7
(ग) 8
(घ) 9
उत्तर. (ग) 8

269. दिन में कुल कितने मुहूर्त बीतते हैं?
(क) 15
(ख) 16
(ग) 17
(घ) 18
उत्तर. (क) 15

270. श्रीराम ने खर के साथ युद्ध में उसके कितने सैनिकों का संहार किया था?
(क) 5,000
(ख) 10,000
(ग) 14,000
(घ) 20,000
उत्तर. (ग) 14,000

271. मल्लयुद्ध में कुल कितने प्रकार के मंडल बताए जाते हैं?
(क) 3
(ख) 4
(ग) 5
(घ) 6
उत्तर. (ख) 4

272. धनुर्वेद के कुल कितने भेद माने जाते हैं?
(क) 9
(ख) 4
(ग) 3
(घ) 6□
उत्तर. (ख) 4

❑

5

किसने क्या कहा था

273. 'हे वृक्षो! हे लताओ-पुष्पो! हे मृगो, पक्षियो! क्या तुमने सीता को देखा है? यदि देखा हो तो बता दो, वह कहाँ हैं?' ये प्रश्न किसके हैं?
(क) लक्ष्मण
(ख) शत्रुघ्न
(ग) श्रीराम
(घ) जटायु
उत्तर. (ग) श्रीराम

274. 'हे श्रीराम! मैंने आपका क्या बिगाड़ा था, जो मुझे इस प्रकार मारा? यदि आपने कहा होता तो मैं रावण को आपके चरणों पर ला पटकता।' श्रीराम से इस प्रकार किसने कहा था?
(क) ताड़का
(ख) बालि
(ग) खर
(घ) मारीच
उत्तर. (ख) बालि

275. 'हे लक्ष्मण! इस समुद्र से मार्ग दे देने के लिए हम तीन दिनों से विनय कर रहे हैं; किंतु यह मान ही नहीं रहा है। मैं अभी एक बाण मारकर इसे सुखा दूँगा; क्योंकि बिना भय के प्रीति नहीं होती।' ये उद्गार किसके हैं?
(क) श्रीराम
(ख) भरत
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) श्रीराम

276. 'हे मित्र जांबवान्! तुम तब तक जीवित रहोगे जब तक कि प्रलय और कलियुग नहीं आ जाते।' जांबवान् को यह आशीर्वाद किसने दिया था?
(क) भरत
(ख) सुग्रीव
(ग) हनुमान
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

277. 'यदि मैं जानता कि इस प्रकार मुझे अपने अनुज का बिछोह सहना पड़ेगा तो मैं पिता की आज्ञा न मानता।' यह विलाप-स्वर किसका है?
(क) दशरथ
(ख) रावण
(ग) मेघनाद
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

278. 'हे श्रीराम! जानकी सीता का आचरण सर्वथा शुद्ध है। पाप इसे छू भी नहीं सका है। मैंने सहस्रों वर्षों तक

घोर तपस्या की है। यदि सीता में कोई दोष हो तो मुझे उस तपस्या का फल न मिले।' यह घोषणा किसने की थी?
(क) वाल्मीकि
(ख) वसिष्ठ
(ग) याज्ञवल्क्य
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (क) वाल्मीकि

279. 'रावण, मेरे पाँव को तुमने जिस तरह पकड़ा है, यदि ऐसे ही श्रीराम के चरण पकड़ते तो तुम्हारा कल्याण हो जाता।' रावण को इस तरह किसने धिक्कारा था?
(क) हनुमान
(ख) सुग्रीव
(ग) नील
(घ) अंगद
उत्तर. (घ) अंगद

280. 'हे माँ पृथ्वी! यदि श्रीराम के अतिरिक्त किसी अन्य का मैंने स्वप्न में भी विचार किया हो तो तू फट जा और मुझे अपनी गोद में समा ले।' पृथ्वी से यह प्रार्थना किसने की थी?
(क) कौशल्या
(ख) शूर्पणखा
(ग) सीता
(घ) कैकेयी
उत्तर. (ग) सीता

281. 'हे कुलघातिनी कैकेयी! तूने श्रीराम को वनवास दिलाकर महापातक किया है। तू मेरे पिता की हत्यारिन है! तूने ऐसा कर मुझे भी पाप का भागी बना दिया है। तू माँ कहलाने के योग्य नहीं।' ये शब्द किसके हैं?
(क) भरत
(ख) लक्ष्मण
(ग) शत्रुघ्न
(घ) दशरथ
उत्तर. (क) भरत

282. 'रावण यदि रसातल में भी छुप जाय अथवा पितामह ब्रह्मा के पास भी चला जाय, तो भी अब वह मेरे हाथों से बच न सकेगा।' ये उद्गार किसके थे?
(क) बालि
(ख) लक्ष्मण
(ग) श्रीराम
(घ) हनुमान
उत्तर. (ग) श्रीराम

283. 'यदि आज साक्षात् शिव भी मेघनाद की रक्षा हेतु आ जाएँ तो भी मैं सौगंध खाकर कहता हूँ कि उसे जीवित नहीं छोड़ूँगा!' यह ललकार किसकी थी?
(क) श्रीराम
(ख) लक्ष्मण
(ग) हनुमान
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) लक्ष्मण

284. 'मैं अपने भाइयों की सौगंध खाकर कहता हूँ कि युद्ध में पुत्रों, भृत्यजनों व बंधु-बांधवों सहित रावण का वध करके ही रहूँगा।' यह प्रतिज्ञा किसकी थी?
(क) बालि
(ख) सहस्रबाहु
(ग) लक्ष्मण
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

285. 'हे राम! तुमने शिव के धनुष को तोड़ दिया है। उसी समाचार को सुनकर मैं एक अन्य उत्तम धनुष लेकर तुम्हारे पास आया हूँ, जिसपर तुम बाण चढ़ाओ।' श्रीराम से ऐसा किसने कहा था?
(क) वसिष्ठ
(ख) परशुराम
(ग) नारद
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ख) परशुराम

286. 'हे रघुनंदन! मैंने एक हजार वर्षों तक उपवास किया है। आज मेरे उस व्रत की समाप्ति का दिन है, इसलिए इस समय आपके यहाँ जो भी भोजन हो वही मैं ग्रहण करूँगा।' श्रीराम से यह किसने कहा था?
(क) परशुराम
(ख) वाल्मीकि
(ग) दुर्वासा
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ग) दुर्वासा

287. 'हे प्रभु! आपके प्रति मेरा स्नेह सदैव बना रहे। आप में ही मेरी निश्चल भक्ति रहे। आपके अतिरिक्त और कहीं भी मेरा आंतरिक अनुराग न हो।' श्रीराम से यह विनती किसने की थी?
(क) हनुमान
(ख) भरत
(ग) विभीषण
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (क) हनुमान

288. 'प्रिय हनुमान! संसार में मेरी कथा जब तक प्रचलित रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्ति भी अमिट रहेगी, और तुम्हारे शरीर में प्राण भी रहेंगे।' हनुमान से यह किसने कहा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) विभीषण
(ग) श्रीराम
(घ) भरत
उत्तर. (ग) श्रीराम

289. 'विभीषण! रावण बल-पराक्रम से संपन्न तथा महामनस्वी था। मृत्यु के साथ ही वैर भी समाप्त हो जाता है। रावण जैसे तुम्हारा भाई था वैसे ही मेरा भी है। तुम इसका दाह-संस्कार करो।' विभीषण से ये वचन किसने कहे थे?
(क) लक्ष्मण
(ख) कुंभकर्ण
(ग) खर
(घ) श्रीराम

उत्तर. (घ) श्रीराम

290. 'हे लंका नरेश! यह वानर कोई गुप्तचर नहीं लगता, अपितु दूत दिखाई देता है। अतः इसका वध करना उचित नहीं। आप इसे कोई दंड देकर छोड़ सकते हैं।' रावण को यह परामर्श किसने दिया था?
(क) अतिकाय
(ख) सुमाली
(ग) विभीषण
(घ) मेघनाद
उत्तर. (ग) विभीषण

291. 'मैं प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ।' यह वाक्य किस ऋषि ने कहा था?
(क) वाल्मीकि
(ख) अत्रि
(ग) परशुराम
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (क) वाल्मीकि

292. 'भैया! भरत सेना सहित आ रहे हैं। लगता है, वे हमपर आक्रमण करेंगे। हमें युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए।' यह किसने किससे कहा था?
(क) हनुमान ने सुग्रीव से
(ख) लक्ष्मण ने श्रीराम से
(ग) सुग्रीव ने बालि से
(घ) शत्रुघ्न ने श्रीराम से
उत्तर. (ख) लक्ष्मण ने श्रीराम से

293. 'हे श्रीराम! आपने वैष्णव धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा दी है, इससे मैं जान गया हूँ कि आप देवेश्वर विष्णु ही हैं।' श्रीराम से यह किसने कहा था?
(क) विश्वामित्र
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) परशुराम
(घ) अत्रि
उत्तर. (ग) परशुराम

294. 'हे राम! मैं कामरूपिणी राक्षसी और रावण की बहन हूँ।' श्रीराम को यह परिचय किसने दिया था?
(क) कुंभीनसी
(ख) शूर्पणखा
(ग) त्रिजटा
(घ) हेमा
उत्तर. (ख) शूर्पणखा

295. 'महर्षि! आप एक धनुष के टूटने पर क्यों इतने विकल हो गए? अरे, मैंने तो बचपन में ऐसे न जाने कितने धनुष तोड़े थे। तब तो आप इतने क्रोधित न हुए थे।' यह वक्तव्य किसका है?
(क) श्रीराम
(ख) भरत
(ग) शत्रुघ्न
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (घ) लक्ष्मण

296. ‘हे प्रभु राम! भले ही लक्ष्मण मुझपर बाण चला दें, किंतु आपके चरण धोए बिना मैं आपको पार नहीं उतार सकता।’ ये वचन किसके हैं?
(क) केवट
(ख) गय
(ग) हनुमान
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (क) केवट

297. ‘हे राजन्! श्रीराम और लक्ष्मण को मुझे दे दीजिए, ताकि यज्ञ में विघ्न डालनेवाले राक्षसों का संहार हो सके।’ यह आग्रह राजा दशरथ से किसने किया था?
(क) विश्वामित्र
(ख) जनक
(ग) परशुराम
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) विश्वामित्र

298. ‘हे राम! मैं कैकेयी के दिए हुए वर के कारण मोह में पड़ गया हूँ। मेरी बात मानो, मुझे बंदी बनाकर स्वयं ही अब अयोध्या के राजा बन जाओ।’ श्रीराम से यह बात किसने कही थी?
(क) भरत
(ख) वसिष्ठ
(ग) दशरथ
(घ) सुमंत्र
उत्तर. (ग) दशरथ

299. ‘यदि भरत युवराज-पद स्वीकार करे तो उसके द्वारा की जानेवाली श्राद्ध आदि विधियाँ मुझ तक न पहुँचें।’ यह किसने कहा था?
(क) कैकेयी
(ख) दशरथ
(ग) सुमित्रा
(घ) कौशल्या
उत्तर. (ख) दशरथ

300. ‘हे रावण! राजा मांधाता तुम्हारा युद्ध का मद उतार देंगे।’ यह किसने कहा था?
(क) देवर्षि नारद
(ख) पुलस्त्य
(ग) अंगद
(घ) देवर्षि पर्वत
उत्तर. (घ) देवर्षि पर्वत

301. ‘हे श्रीराम! मैं यह रिक्त रथ लेकर अयोध्या कैसे जा सकूँगा? आपके बिना ये घोड़े इस रथ को कैसे खींच पाएँगे? अतः मैं अयोध्या वापस नहीं जाऊँगा।’ यह किसका वक्तव्य है?
(क) सुमंत्र
(ख) भरत
(ग) शत्रुघ्न
(घ) त्रिजट
उत्तर. (क) सुमंत्र

302. 'हे अग्निदेवता! यदि मैंने पति की सेवा की है और पातिव्रत्य धर्म का सत्य हृदय से पालन किया है तो हनुमान के लिए तुम शीतल बन जाओ।' अग्निदेव से यह प्रार्थना किसने की थी?
(क) अंजनी
(ख) सीता
(ग) सुलोचना
(घ) सरमा
उत्तर. (ख) सीता

303. 'श्रीराम! तुम मधुर फल-मूल से संपन्न चित्रकूट पर्वत पर जाओ। मैं उसी को तुम्हारे लिए उपयुक्त निवास-स्थान मानता हूँ।' श्रीराम से यह किसने कहा था?
(क) अत्रि
(ख) भरद्वाज
(ग) परशुराम
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ख) भरद्वाज

❑

6

वरदान और शाप

304. रामायण में कुल कितने वरदानों का वर्णन है?
(क) 82
(ख) 90
(ग) 100
(घ) 110
उत्तर. (क) 82

305. रामायण में कुल कितनों शापों का वर्णन है?
(क) 40
(ख) 48
(ग) 61
(घ) 72
उत्तर. (ग) 61

306. श्रीराम की सेना के किस वानर योद्धा को यह वरदान प्राप्त था कि उसके हाथ के स्पर्श मात्र से पत्थर पानी पर तैरेंगे?
(क) नल
(ख) नील
(ग) अंगद
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (क) नल

307. रावण को नर व वानरों के अतिरिक्त किसी से भी अवध्य होने का वरदान किसने दिया था?
(क) शिव
(ख) नारद
(ग) ब्रह्मा
(घ) विष्णु
उत्तर. (ग) ब्रह्मा

308. हनुमानजी को युद्ध में कभी न थकने का वरदान किसने दिया था?
(क) यम
(ख) वरुण
(ग) सूर्य
(घ) इंद्र
उत्तर. (क) यम

309. हनुमानजी को किसी भी शस्त्र से अवध्य होने का वरदान किसने दिया था?
(क) विश्वामित्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) नारद
(घ) शनि

उत्तर. (ख) ब्रह्मा

310. रावण को सिद्धिमंत्र किस देवता से प्राप्त हुआ था?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) विष्णु
(घ) शिव
उत्तर. (ख) ब्रह्मा

311. सुमाली (राक्षस) को अजेयता और चिर जीवन का वरदान किसने दिया था?
(क) इंद्र
(ख) विष्णु
(ग) शिव
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (घ) ब्रह्मा

312. किसने विभीषण को चिरजीवी होने का वर दिया था?
(क) ब्रह्मा
(ख) विष्णु
(ग) इंद्र
(घ) महेश
उत्तर. (क) ब्रह्मा

313. किसने हनुमान को उनकी इच्छा के अधीन ही मृत्यु होने का वर दिया था?
(क) वायु
(ख) इंद्र
(ग) वरुण
(घ) श्रीराम
उत्तर. (ख) इंद्र

314. अहल्या को पत्थर की शिला हो जाने का शाप किसने दिया था?
(क) भरद्वाज
(ख) अगस्त्य
(ग) गौतम
(घ) परशुराम
उत्तर. (ग) गौतम

315. इनमें से किसे यह शाप था कि बिना स्मरण कराए वह अपने बल को नहीं पहचान सकेंगे?
(क) अंगद
(ख) नल
(ग) जांबवान्
(घ) हनुमान
उत्तर. (घ) हनुमान

316. हनुमानजी को वरुणपाश से तथा जल में अवध्य रहने का वर किसने दिया था?
(क) वायु
(ख) कुबेर

(ग) वरुण
(घ) अग्नि
उत्तर. (ग) वरुण

317. इंद्र को किसने वृषणहीन (अंडहीन) हो जाने का शाप दिया था?
(क) ब्रह्मा
(ख) गौतम
(ग) पुलस्त्य
(घ) धौम्य
उत्तर. (ख) गौतम

318. हनुमानजी को अपने कालदंड से अवध्य तथा रोगमुक्त रहने का वरदान किसने दिया था?
(क) कुबेर
(ख) वरुण
(ग) यम
(घ) वायु
उत्तर. (ग) यम

319. किसने हनुमानजी को वरदान में अपने तेज का सौवाँ अंश दिया था?
(क) इंद्र
(ख) सूर्य
(ग) वरुण
(घ) यम
उत्तर. (ख) सूर्य

320 किस ऋषि के शाप के कारण काकभुशुंडि कौए की योनि में जनमे थे?
(क) वसिष्ठ
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) परशुराम
(घ) लोमश
उत्तर. (घ) लोमश

321. ऋषि वसिष्ठ ने किस राजा को विदेह (शरीर रहित) हो जाने का शाप दिया था?
(क) गय
(ख) दशरथ
(ग) निमि
(घ) सहस्रार्जुन
उत्तर. (ग) निमि

322. ऋषि वसिष्ठ को किसने विदेह (शरीर-रहित) हो जाने का शाप दिया था?
(क) दशरथ
(ख) ब्रह्मा
(ग) निमि
(घ) नारद
उत्तर. (ग) निमि

323. निम्न में से कौन राजा वसिष्ठ-पुत्रों के शाप से चांडाल बन गया था?

(क) शंबूक
(ख) गय
(ग) कुशध्वज
(घ) त्रिशंकु
उत्तर. (घ) त्रिशंकु

324. 'जा दशरथ! तू भी हमारी तरह पुत्र-वियोग में तड़पकर प्राण-त्याग करेगा।' दशरथ को यह शाप किसने दिया था?
(क) जनक
(ख) रावण
(ग) वसिष्ठ
(घ) श्रवण कुमार के माता-पिता
उत्तर. (घ) श्रवण कुमार के माता-पिता

325. 'भगवन्, मुझे ऐसा वर दो कि मैं छह महीने सोऊँ और एक दिन जागूँ।' ब्रह्मा से यह वर किसने माँगा था?
(क) कुंभकर्ण
(ख) रावण
(ग) विभीषण
(घ) मेघनाद
उत्तर. (क) कुंभकर्ण

326. 'महाराज, मैं दो वर माँगती हूँ—पहला, राम को चौदह वर्ष का वनवास और दूसरा, भरत को राजगद्दी।' दशरथ से ऐसा किसने कहा था?
(क) सुमित्रा
(ख) कौशल्या
(ग) मंथरा
(घ) कैकेयी
उत्तर. (घ) कैकेयी

327. 'बालि! युद्ध की इच्छा से जो तुम्हारे सामने आएगा उसका आधा बल स्वयमेव तुम्हारे शरीर में आ जाएगा।' यह वर बालि को किसने दिया था?
(क) शिव
(ख) ब्रह्मा
(ग) सरस्वती
(घ) श्रीराम
उत्तर. (ख) ब्रह्मा

328. 'हे रावण! मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि तुम्हारा और तुम्हारे कुल का सर्वनाश वानरों के ही हाथ होगा।' रावण को यह शाप किसने दिया था?
(क) नंदीश्वर
(ख) नारद
(ग) पुलस्त्य
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (क) नंदीश्वर

329. 'हे निषाद! तुझे कभी भी शांति न मिले; क्योंकि क्रौंच पक्षी के इस जोड़े में से एक को तुमने बिना किसी अपराध के ही मार डाला है।' यह शाप किसने दिया था?

(क) राम
(ख) वाल्मीकि
(ग) नारद
(घ) दशरथ
उत्तर. (ख) वाल्मीकि

330. ‘हे रंभा! मैं काम और क्रोध को अपने वश में करना चाहता हूँ और तू मुझे काम की ओर धकेलना चाहती है! मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू दस हजार वर्षों तक पत्थर की प्रतिमा बनी खड़ी रहेगी।’ रंभा अप्सरा को यह शाप किसने दिया था?
(क) वसिष्ठ
(ख) नारद
(ग) विश्वामित्र
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

331. ‘रावण, यदि आज के बाद तू किसी पर-स्त्रा् के साथ बलात् समागम करेगा तो तेरे सिर के सौ टुकड़े हो जाएँगे।’ रावण को यह शाप किसने दिया?
(क) ब्रह्मा
(ख) शिव
(ग) नारद
(घ) सीता
उत्तर. (क) ब्रह्मा

332. ‘हे पितामह ब्रह्मा! मुझे वर दीजिए, जब युद्ध के निमित्त किए जानेवाले जप और होम को पूर्ण किए बिना ही मैं युद्धक्षेत्र में युद्ध करने लगूँ, तभी मेरा विनाश हो।’ ब्रह्मा से यह वर किसने माँगा था?
(क) रावण
(ख) कुंभकर्ण
(ग) मेघनाद
(घ) खर
उत्तर. (ग) मेघनाद

333. ‘हे प्रजापति ब्रह्मा! आप मुझे वर दें कि बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आने पर भी मेरी बुद्धि धर्म में ही लगी रहे।’ ब्रह्मा से यह वर किसने माँगा था?
(क) कुंभकर्ण
(ख) मेघनाद
(ग) विभीषण
(घ) खर
उत्तर. (ग) विभीषण

334. ‘हे रावण! मेरे समान रूप और पराक्रमवाले ही तेरे कुल का नाश करेंगे।’ यह शाप रावण को किसने दिया था?
(क) बालि
(ख) सीता
(ग) पुंजिकस्थला
(घ) नंदीश्वर
उत्तर. (घ) नंदीश्वर

7

अस्त्र-शस्त्र

335. महर्षि परशुराम ने श्रीराम को किस धनुष पर बाण चढ़ाने की चुनौती दी थी?
(क) गांडीव
(ख) शाङ्र्ग
(ग) अजगव
(घ) वैष्णव
उत्तर. (घ) वैष्णव

336. श्रीराम ने किस अस्त्र का प्रयोग कर रावण का वध किया था?
(क) वारुणास्त्र
(ख) जृंभकास्त्र
(ग) वायव्यास्त्र
(घ) ब्रह्मास्त्र
उत्तर. (घ) ब्रह्मास्त्र

337. मेघनाद ने हनुमानजी को अशोक वाटिका में किस अस्त्र से बाँध लिया था?
(क) ब्रह्मपाश
(ख) चर्मपाश
(ग) लौहपाश
(घ) इंद्रपाश
उत्तर. (क) ब्रह्मपाश

338. रावण की उस तलवार का नाम बताइए, जो उसने शिवजी से प्राप्त की थी?
(क) संहारिणी
(ख) चंद्रहास
(ग) विजयिनी
(घ) चंद्रावल
उत्तर. (ख) चंद्रहास

339. किस अस्त्र के द्वारा मेघनाद का वध हुआ था?
(क) ब्रह्मशिरस्
(ख) ब्रह्मास्त्र
(ग) वारुणास्त्र
(घ) ऐंद्रास्त्र
उत्तर. (घ) ऐंद्रास्त्र

340. उस अस्त्र का नाम बताइए, जो शत्रु को बाँध लेता है?
(क) जृंभकास्त्र
(ख) वारुणास्त्र
(ग) नागपाश
(घ) अंजलिकास्त्र
उत्तर. (ग) नागपाश

341. वज्र नामक अस्त्र किस ऋषि की हड्डियों से बना था?
(क) वसिष्ठ
(ख) अत्रि
(ग) वाल्मीकि
(घ) दधीच
उत्तर. (घ) दधीच

342. 'मोदकी' और 'शिखरी' नामक प्रसिद्ध गदाएँ श्रीराम को किसने दी थीं?
(क) विश्वामित्र
(ख) वाल्मीकि
(ग) वसिष्ठ
(घ) परशुराम
उत्तर. (क) विश्वामित्र

343. श्रीराम को नारायणास्त्र किसने प्रदान किया था?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) अगस्त्य
(ग) विश्वामित्र
(घ) अत्रि
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

344. 'ब्रह्मशिर' नामक अस्त्र किसका था?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) शिव
(घ) नारद
उत्तर. (ख) ब्रह्मा

345. वज्रास्त्र, ऐषीकास्त्र और वायव्यास्त्र श्रीराम को किसने प्रदान किए थे?
(क) लोमश
(ख) परशुराम
(ग) इंद्र
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

346. दंडचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा ऐंद्रचक्र—ये सभी अस्त्र श्रीराम को किस ऋषि ने दिए थे?
(क) विश्वामित्र
(ख) अत्रि
(ग) भरद्वाज
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (क) विश्वामित्र

347. धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश नामक अस्त्र श्रीराम को किसने प्रदान किए थे?
(क) परशुराम
(ख) वसिष्ठ
(ग) विश्वामित्र
(घ) वाल्मीकि

उत्तर. (ग) विश्वामित्र

348. शिखरास्त्र, क्रौंचास्त्र और सौम्यास्त्र श्रीराम को किसने दिए थे?
(क) अगस्त्य
(ख) विश्वामित्र
(ग) वसिष्ठ
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ख) विश्वामित्र

349. सम्मोहनास्त्र व मानवास्त्र किनके प्रिय अस्त्र हैं?
(क) देवताओं के
(ख) गंधर्वों के
(ग) पिशाचों के
(घ) राक्षसों के
उत्तर. (ख) गंधर्वों के

350. वह कौन सा अस्त्र है जो पिशाचों का प्रिय अस्त्र माना जाता है?
(क) वारुणास्त्र
(ख) जृंभकास्त्र
(ग) ऐंद्रास्त्र
(घ) मोहनास्त्र
उत्तर. (घ) मोहनास्त्र

351. 'तेजःप्रभ' नामक अस्त्र किस देवता का है?
(क) वरुण
(ख) इंद्र
(ग) सूर्य
(घ) शिव
उत्तर. (ग) सूर्य

352. 'शिशिर' नामक अस्त्र किस देवता का है?
(क) सोम
(ख) शनि
(ग) ब्रह्मा
(घ) अग्नि
उत्तर. (क) सोम

353. मनु का अस्त्र इनमें से कौन सा है?
(क) शिखर
(ख) सौम्य
(ग) रुचिर
(घ) शीतेषु
उत्तर. (घ) शीतेषु

354. इनमें से कौन सा अस्त्र है जो पूर्व में प्रजापति कृशाश्व का पुत्र नहीं है?
(क) रुचिरास्त्र
(ख) नारायणास्त्र

(ग) पंथानास्त्र
(घ) मकरास्त्र
उत्तर. (ख) नारायणास्त्र

355. इनमें से कौन सा अस्त्र है जो पूर्व में प्रजापति कृशाश्व का पुत्र था?
(क) ऐंद्रास्त्र
(ख) ब्रह्मास्त्र
(ग) रुचिरास्त्र
(घ) ब्रह्मशिरास्त्र
उत्तर. (ग) रुचिरास्त्र

356. 'ब्रह्मदंड' किस ऋषि का अस्त्र था?
(क) अत्रि
(ख) अगस्त्य
(ग) वसिष्ठ
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ग) वसिष्ठ

357. विष्णु के चक्र को क्या कहा जाता था?
(क) संहारक
(ख) सुदर्शन
(ग) प्रियदर्शन
(घ) प्रियंक
उत्तर. (ख) सुदर्शन

358. ऋषि विश्वामित्र ने किस देवता की तपस्या कर दिव्यास्त्र प्राप्त किए थे?
(क) ब्रह्मा
(ख) विष्णु
(ग) शिव
(घ) इंद्र
उत्तर. (ग) शिव

359. वह कौन सा अस्त्र है जिसके प्रयोग से शत्रु सेना निद्रित हो जाती है?
(क) ऐंद्रास्त्र
(ख) जृंभकास्त्र
(ग) वारुणास्त्र
(घ) शिखरास्त्र
उत्तर. (ख) जृंभकास्त्र

360. जिस बाण का अग्र भाग सीधा गोल हो उसे क्या कहते हैं?
(क) नाराच
(ख) भल्ल
(ग) अंजलिक
(घ) वत्सदंत
उत्तर. (क) नाराच

361. जिस बाण का अग्र भाग फरसे के समान हो उसे क्या कहते हैं?

(क) शूल
(ख) क्षुर
(ग) भल्ल
(घ) सिंहदंष्ट्र
उत्तर. (ग) भल्ल

362. जिसका मुख भाग हाथों की अंजलि के समान हो उस बाण को क्या कहते हैं?
(क) भल्ल
(ख) अंजलिक
(ग) वत्सदंत
(घ) नाराच
उत्तर. (ख) अंजलिक

363. जिस बाण का अग्र भाग बछड़े के दाँतों के समान दिखाई देता हो उसे क्या कहा जाता है?
(क) नाराच
(ख) अंजलिक
(ग) भल्ल
(घ) वत्सदंत
उत्तर. (घ) वत्सदंत

364. सिंह की दाढ़ के समान अग्र भागवाले बाण को क्या कहते हैं?
(क) सिंहदंष्ट्र
(ख) क्षुर
(ग) शूल
(घ) वत्सदंत
उत्तर. (क) सिंहदंष्ट्र

365. जिस बाण का अग्र भाग क्षुरे की धार के समान हो उसे क्या कहते हैं?
(क) अंजलिक
(ख) नाराच
(ग) क्षुर
(घ) भल्ल
उत्तर. (ग) क्षुर

366. इनमें से कौन सा अस्त्र है?
(क) तलवार
(ख) अंजलिक
(ग) गदा
(घ) खड्ग
उत्तर. (ख) अंजलिक

367. इनमें से कौन सा शस्त्र है?
(क) नाराच
(ख) भल्ल
(ग) अंजलिक
(घ) तलवार
उत्तर. (घ) तलवार

368. विष्णु के धनुष का नाम बताइए।
(क) शाङ्र्ग
(ख) अजगव
(ग) वैष्णव
(घ) गांडीव
उत्तर. (क) शाङ्र्ग

369. किस अस्त्र का प्रयोग कर श्रीराम ने कुंभकर्ण का वध किया था?
(क) ब्रह्मास्त्र
(ख) वरुणास्त्र
(ग) ऐंद्रास्त्र
(घ) जृंभकास्त्र
उत्तर. (ग) ऐंद्रास्त्र

370. विभीषण को ब्रह्मास्त्र किसने दिया था?
(क) विष्णु
(ख) कुबेर
(ग) ब्रह्मा
(घ) शिव
उत्तर. (ग) ब्रह्मा

371. श्रीराम को 'जृंभकास्त्र' किसने दिया था?
(क) वाल्मीकि
(ख) विश्वामित्र
(ग) वसिष्ठ
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ख) विश्वामित्र

372. श्रीराम को 'वायव्यास्त्र' किसने दिया था?
(क) वसिष्ठ
(ख) परशुराम
(ग) दशरथ
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

373. श्रीराम को 'वरुणपाश' किसने दिया था?
(क) विश्वामित्र
(ख) अत्रि
(ग) परशुराम
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (क) विश्वामित्र

374. 'सार्चिमाली' नामक अस्त्र श्रीराम को किसने दिया था?
(क) वाल्मीकि
(ख) अत्रि
(ग) विश्वामित्र
(घ) अगस्त्य

उत्तर. (ग) विश्वामित्र

375. 'सर्पनाथ' नामक अस्त्र श्रीराम को किसने दिया था?
(क) शृंगी
(ख) जाबालि
(ग) अत्रि
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

376. मेघनाद को 'ब्रह्मशिरस्' नामक अस्त्र किसने दिया था?
(क) ब्रह्मा
(ख) शिव
(ग) अग्नि
(घ) दुर्गा
उत्तर. (क) ब्रह्मा

377. श्रीराम को 'सत्यवान्' नामक अस्त्र किसने दिया था?
(क) शिव
(ख) ब्रह्मा
(ग) विश्वामित्र
(घ) इंद्र
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

378. 'सत्यकीर्ति' नामक अस्त्र श्रीराम को किसने दिया था?
(क) परशुराम
(ख) विश्वामित्र
(ग) याज्ञवल्क्य
(घ) अत्रि
उत्तर. (ख) विश्वामित्र

379. 'रुचिर' नामक अस्त्र श्रीराम को किसने समर्पित किया था?
(क) भरद्वाज
(ख) इंद्र
(ग) शिव
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

380. लक्ष्मण किस अस्त्र से युद्ध करते थे?
(क) तलवार
(ख) धनुष-बाण
(ग) गदा
(घ) खड्ग
उत्तर. (ख) धनुष-बाण

381. वज्र नामक अस्त्र किस देवता का था?
(क) इंद्र
(ख) वरुण

(ग) विष्णु
(घ) वायु
उत्तर. (क) इंद्र

382. हनुमान किस शस्त्र से युद्ध करते थे?
(क) तलवार
(ख) खड्ग
(ग) गदा
(घ) दंड
उत्तर. (ग) गदा

383. 'नागपाश' नामक अस्त्र मेघनाद को किसने दिया था?
(क) रावण
(ख) शिव
(ग) ब्रह्मा
(घ) इंद्र
उत्तर. (घ) इंद्र

384. नागपाश किस देवता का अस्त्र है?
(क) इंद्र
(ख) वायु
(ग) वरुण
(घ) अग्नि
उत्तर. (ग) वरुण

385. महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को जो दिव्य धनुष दिया था वह किसका था?
(क) विष्णु
(ख) ब्रह्मा
(ग) शिव
(घ) परशुराम
उत्तर. (क) विष्णु

386. वह कौन सा अस्त्र है जिसके प्रयोग करने पर पत्थरों की वर्षा हेने लगती थी?
(क) वायव्यास्त्र
(ख) वरुणास्त्र
(ग) पर्वतास्त्र
(घ) अंजलिकास्त्र
उत्तर. (ग) पर्वतास्त्र

387. राजा दशरथ ने भ्रमवश श्रवणकुमार पर जिस बाण का प्रहार किया था, उसे क्या कहते हैं?
(क) ऐंद्रास्त्र
(ख) शब्दवेधी
(ग) जृंभकास्त्र
(घ) ब्रह्मशिरस्
उत्तर. (ख) शब्दवेधी

388. राजा जनक ने श्रीराम को (दहेजस्वरूप) जो दिव्य धनुष, अभेद्य कवच, अक्षय बाणों से भरे तूणीर और

सुवर्ण-भूषित खंग दिए थे, वे उन्हें (जनक को) किसने प्रदान किए थे?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) महात्मा वरुण
(घ) शिव
उत्तर. (ग) महात्मा वरुण

389. ‘तामस’ नामक भयंकर अस्त्र का देवता कौन है?
(क) राहु (तमोग्रह)
(ख) सूर्य
(ग) वरुण
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (क) राहु (तमोग्रह)

390. उस अस्त्र का नाम बताइए जिसका प्रहार कर लव ने (वाल्मीकि आश्रम के निकट) अयोध्या से आई श्रीराम की सेना को निद्रित कर दिया था?
(क) जृंभकास्त्र
(ख) वायव्यास्त्र
(ग) वारुणास्त्र
(घ) पाशुपतास्त्र
उत्तर. (क) जृंभकास्त्र

391. लोहे के काँटों से भरी हुई चार हाथ लंबी गदा को क्या कहा जाता था?
(क) शतघ्नी
(ख) प्राणांतक
(ग) विजयिनी
(घ) चंद्रहास
उत्तर. (क) शतघ्नी

392. राजा जनक ने श्रीराम को (दहेजस्वरूप) कुल कितने दिव्य धनुष दिए थे?
(क) 5
(ख) 3
(ग) 1
(घ) 2
उत्तर. (घ) 2

393. लवणासुर के पास जो महान् शूल था वह उसे किसने दिया था?
(क) मधु
(ख) मारीच
(ग) खर
(घ) सुबाहु
उत्तर. (क) मधु

❑

8

महत्त्वपूर्ण स्थान

394. महर्षि वाल्मीकि का आश्रम किस नदी के तट पर था?
(क) सरयू
(ख) नर्मदा
(ग) चर्मण्वती
(घ) तमसा
उत्तर. (घ) तमसा

395. श्रीराम के वन चले जाने पर भरत उनके वियोग में अयोध्या से दूर किस स्थान पर रह रहे थे?
(क) नंदिग्राम
(ख) पंचवटी
(ग) महेंद्र पर्वत पर
(घ) तमसा नदी के तट पर
उत्तर. (क) नंदिग्राम

396. जिस समय राम वनवास के लिए जा रहे थे उस समय भरत व शत्रुघ्न कहाँ थे?
(क) अयोध्या में ही
(ख) आखेट हेतु वन गए थे
(ग) भरत के ननिहाल (केकय देश) में
(घ) वसिष्ठ के आश्रम पर
उत्तर. (ग) भरत के ननिहाल (केकय देश) में

397. वनवास काल में श्रीराम सर्वाधिक समय तक किस स्थान पर ठहरे थे?
(क) समुद्र तट पर
(ख) चित्रकूट में
(ग) किष्किंधा पर्वत पर
(घ) भरद्वाज आश्रम में
उत्तर. (ख) चित्रकूट में

398. शबरी किस वन में रहती थी?
(क) मतंग वन
(ख) काम्यक वन
(ग) दंडक वन
(घ) वृंदावन
उत्तर. (क) मतंग वन

399. किष्किंधा से बालि द्वारा निष्कासित किए जाने के बाद सुग्रीव कहाँ रहने लगे थे?
(क) ऋष्यमूक पर्वत पर
(ख) महेंद्र पर्वत पर
(ग) इंद्रकील पर्वत पर
(घ) मैनाक पर्वत पर
उत्तर. (क) ऋष्यमूक पर्वत पर

400. लंका पहुँचकर श्रीराम की वानर सेना किस पर्वत के पास ठहरी थी?
(क) सुमेरु
(ख) सुवेल
(ग) ऋष्यमूक
(घ) नील
उत्तर. (ख) सुवेल

401. हनुमानजी ने किस पर्वत पर चढ़कर समुद्र लाँघने हेतु छलाँग लगाई थी?
(क) रैवतक
(ख) महेंद्र
(ग) कांचन
(घ) मलयगिरि
उत्तर. (ख) महेंद्र

402. लंका नगरी किस पर्वत पर स्थित थी?
(क) गंधमादन
(ख) सुमेरु
(ग) त्रिकूट
(घ) कैलास
उत्तर. (ग) त्रिकूट

403. विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी, संजीवकरणी व संधानी नामक ओषधियाँ किस पर्वत पर पाई जाती थीं?
(क) पारियात्र
(ख) हिमालय
(ग) कांचन
(घ) महोदय
उत्तर. (घ) महोदय

404. महर्षि परशुराम का आश्रम किस पर्वत पर था?
(क) सुमेरु
(ख) मंदराचल
(ग) महेंद्र
(घ) किष्किंधा
उत्तर. (ग) महेंद्र

405. श्रीराम, सीता व लक्ष्मण ने शृंगवेरपुर के निकट किस नदी को पार किया था?
(क) गंगा
(ख) तमसा
(ग) गोदावरी
(घ) यमुना
उत्तर. (क) गंगा

406. कुश-लव का जन्म कहाँ हुआ था?
(क) अयोध्या में
(ख) वाल्मीकि आश्रम में
(ग) पंचवटी में
(घ) अशोक वाटिका में

उत्तर. (ख) वाल्मीकि आश्रम में

407. वनवास से लौटकर श्रीराम ने अपनी जटाएँ कहाँ कटवाई थीं?
(क) अयोध्या राजभवन में
(ख) नंदिग्राम में
(ग) सरयू नदी के तट पर
(घ) वाल्मीकि आश्रम में
उत्तर. (ख) नंदिग्राम में

408. मेघनाद (लक्ष्मण से युद्ध करते समय) युद्धक्षेत्र छोड़कर यज्ञ करने के हेतु किस स्थान पर चला गया था?
(क) शुक्राचार्य के आश्रम पर
(ख) लंका के एक मंदिर में
(ग) अपने राजभवन में
(घ) निकुंभिला में
उत्तर. (घ) निकुंभिला में

409. नंदिग्राम अयोध्या की किस दिशा में स्थित था?
(क) उत्तर
(ख) पश्चिम
(ग) पूर्व
(घ) दक्षिण
उत्तर. (ग) पूर्व

410. खर और दूषण कहाँ रहते थे?
(क) दंडक वन में
(ख) लंका में
(ग) किष्किंधा पर्वत पर
(घ) चित्रकूट में
उत्तर. (क) दंडक वन में

411. श्रीराम द्वारा सीता को वनवास दिए जाने पर वह (सीता) कहाँ रही थीं?
(क) वाल्मीकि आश्रम में
(ख) विश्वामित्र आश्रम में
(ग) पंचवटी में
(घ) अशोक वाटिका में
उत्तर. (क) वाल्मीकि आश्रम में

412. पंचवटी, जहाँ श्रीराम सीता-लक्ष्मण सहित वनवास काल में पर्णकुटी बनाकर रह रहे थे, किस नदी के किनारे स्थित था?
(क) चर्मण्वती
(ख) गोदावरी
(ग) तमसा
(घ) गंगा
उत्तर. (ख) गोदावरी

413. वनवास के समय श्रीराम से मिलने भरत किस स्थान पर गए थे?
(क) किष्किंधा पर्वत

(ख) लंका में
(ग) चित्रकूट
(घ) समुद्र तट पर
उत्तर. (ग) चित्रकूट

414. भरद्वाज ऋषि का आश्रम किस नदी के किनारे पर था?
(क) तमसा
(ख) नर्मदा
(ग) सरयू
(घ) गंगा-यमुना के संगम पर
उत्तर. (घ) गंगा-यमुना के संगम पर

415. निषादराज गुह का निवास कहाँ पर था?
(क) चित्रकूट
(ख) शृंगवेरपुर
(ग) कुशस्थली
(घ) नंदिग्राम
उत्तर. (ख) शृंगवेरपुर

416. सीता का हरण करके ले जाने पर रावण ने उन्हें सबसे पहले कहाँ रखा था?
(क) अशोक वाटिका में
(ख) एक गुफा में
(ग) अपने अंतःपुर में
(घ) विभीषण के महल में
उत्तर. (ग) अपने अंतःपुर में

417. विराध राक्षस कहाँ रहता था?
(क) दंडक वन
(ख) काम्यक वन
(ग) मिथिला
(घ) पाताल
उत्तर. (क) दंडक वन

418. ऋषि अगस्त्य कहाँ रहते थे?
(क) महेंद्र पर्वत पर
(ख) दंडकारण्य
(ग) समुद्र में
(घ) मिथिला में
उत्तर. (ख) दंडकारण्य

419. काजल और मेघ के समान काले वानर किस पर्वत पर पाए जाते थे?
(क) कांचन
(ख) अंजन
(ग) ऋष्यमूक
(घ) मैनाक
उत्तर. (ख) अंजन

420. किस नदी में स्नान करने पर माना जाता है कि संतानक लोक प्राप्त होता है?
(क) गंगा
(ख) गोदावरी
(ग) सरयू
(घ) ताप्ती
उत्तर. (ग) सरयू

421. वानर यूथपति पनस किस पर्वत पर रहते थे?
(क) पारियात्र
(ख) कांचन
(ग) मैनाक
(घ) अंजन
उत्तर. (क) पारियात्र

422. सर्वप्रथम हनुमान की भेंट श्रीराम से किस स्थान पर हुई थी?
(क) ऋष्यमूक पर्वत
(ख) पंपा सरोवर
(ग) लंका
(घ) पंचवटी
उत्तर. (क) ऋष्यमूक पर्वत

423. गंगा शिव की जटा से छूटकर किस स्थान पर जाकर गिरी थीं?
(क) गोमुख
(ख) अयोध्या
(ग) गंगोत्तरी
(घ) विंदु सरोवर
उत्तर. (घ) विंदु सरोवर

424. वह कौन सा पर्वत है जिसका स्वरूप सूर्य के वरदान से सुवर्णमय बन गया था?
(क) मंदराचल
(ख) मैनाक
(ग) सुमेरु
(घ) त्रिकूट
उत्तर. (ग) सुमेरु

425. शिवजी का वास-स्थान किस पर्वत पर है?
(क) ऋष्यमूक
(ख) कैलास
(ग) महेंद्र
(घ) सुमेरु
उत्तर. (ख) कैलास

426. किस वन को ‘जनस्थान’ कहा जाता था?
(क) दंडक वन
(ख) काम्यक वन
(ग) मधु वन
(घ) नंदन वन

उत्तर. (क) दंडक वन

427. सीताजी की खोज के लिए सुग्रीव ने वानर यूथपति विनत को किस दिशा में भेजा था?
(क) पूर्व
(ख) दक्षिण
(ग) उत्तर
(घ) पश्चिम
उत्तर. (क) पूर्व

428. 'रामशिला' किस स्थान पर स्थित है?
(क) गया
(ख) अयोध्या
(ग) वाराणसी
(घ) प्रयाग
उत्तर. (क) गया

429. प्राग्ज्योतिष नगर किस पर्वत पर स्थित था?
(क) मैनाक
(ख) वराह
(ग) कैलास
(घ) महेंद्र
उत्तर. (ख) वराह

430. सीताजी की खोज के लिए सुग्रीव ने वैद्युत पर्वत के क्षेत्र में किसे भेजा था?
(क) हनुमान
(ख) जांबवान्
(ग) नील
(घ) विनत
उत्तर. (क) हनुमान

431. सीता की खोज के लिए सुग्रीव ने वृषभ को किस दिशा में भेजा था?
(क) पूर्व
(ख) उत्तर
(ग) दक्षिण
(घ) पश्चिम
उत्तर. (ग) दक्षिण

432. किस पर्वत पर विश्वकर्मा ने ऋषि अगस्त्य हेतु एक दिव्य भवन का निर्माण किया था?
(क) मेरु
(ख) गंधमादन
(ग) विंध्य
(घ) कुंजर
उत्तर. (घ) कुंजर

433. सीता की खोज के लिए सुग्रीव ने मालव देश में किसे भेजा था?
(क) विनत
(ख) नल

(ग) अंगद
(घ) वृषभ
उत्तर. (क) विनत

434. सौवीर देश में किसका आधिपत्य था?
(क) जनक
(ख) दशरथ
(ग) रावण
(घ) बालि
उत्तर. (ख) दशरथ

435. इंद्र किस दिशा के लोकपाल माने जाते हैं?
(क) पूर्व
(ख) पश्चिम
(ग) उत्तर
(घ) दक्षिण
उत्तर. (क) पूर्व

436. दक्षिण-पूर्व दिशा का लोकपाल कौन माना जाता है?
(क) यम
(ख) कुबेर
(ग) वरुण
(घ) अग्नि
उत्तर. (घ) अग्नि

437. यम किस दिशा के लोकपाल माने जाते हैं?
(क) दक्षिण
(ख) पूर्व
(ग) उत्तर
(घ) पश्चिम
उत्तर. (क) दक्षिण

438. कुबेर किस दिशा के लोकपाल माने जाते हैं?
(क) पश्चिम
(ख) उत्तर-पूर्व
(ग) उत्तर
(घ) दक्षिण-पश्चिम
उत्तर. (ग) उत्तर

439. दक्षिण-पश्चिम दिशा का लोकपाल कौन माना जाता है?
(क) वरुण
(ख) सूर्य
(ग) इंद्र
(घ) अग्नि
उत्तर. (ख) सूर्य

440. वरुण किस दिशा के लोकपाल माने जाते हैं?

(क) दक्षिण-पूर्व
(ख) उत्तर
(ग) पश्चिम
(घ) पूर्व
उत्तर. (ग) पश्चिम

441. कुरु देश किस नदी के तट पर स्थित था?
(क) गंगा
(ख) तमसा
(ग) शैलोदा
(घ) नर्मदा
उत्तर. (ग) शैलोदा

442. ब्रह्माजी का भवन किस पर्वत पर स्थित था?
(क) अरिष्ट
(ख) मेरु
(ग) ऋष्यमूक
(घ) नील
उत्तर. (ख) मेरु

443. वानर यूथपति शरभ किस पर्वत पर निवास करते थे?
(क) मैनाक
(ख) कांचन
(ग) अंजन
(घ) साल्वेय
उत्तर. (घ) साल्वेय

444. केकय देश की राजधानी का क्या नाम था?
(क) राजगृह
(ख) मगध
(ग) गया
(घ) मधुपुर
उत्तर. (क) राजगृह

445. शृंगवेरपुर किस नदी के तट पर स्थित था?
(क) गोदावरी
(ख) सरयू
(ग) गंगा
(घ) तमसा
उत्तर. (ग) गंगा

446. लवपुर किसने बसाया था?
(क) राम
(ख) रावण
(ग) कुश
(घ) लव
उत्तर. (घ) लव

447. वानर यूथपति प्रमाथी किस पर्वत पर रहता था?
(क) मैनाक
(ख) साल्वेय
(ग) मंदार
(घ) कांचन
उत्तर. (ग) मंदार

448. मतंग ऋषि के शाप के भय से बालि किस पर्वत पर नहीं जाता था?
(क) ऋष्यमूक
(ख) सुमेरु
(ग) नील
(घ) अंजन
उत्तर. (क) ऋष्यमूक

449. वह कौन सा देश था जो सुंदर अश्वों के लिए प्रसिद्ध था?
(क) मिथिला
(ख) गया
(ग) बाह्लीक
(घ) अयोध्या
उत्तर. (ग) बाह्लीक

450. ऋचीक मुनि का आश्रम किस पर्वत पर था?
(क) महेंद्र
(ख) भृगुतुंग
(ग) कैलास
(घ) विंध्याचल
उत्तर. (ख) भृगुतुंग

451. सीताजी की खोज के लिए सुग्रीव ने हनुमान एवं अंगद को किस दिशा में भेजा था?
(क) दक्षिण
(ख) पूर्व
(ग) पश्चिम
(घ) उत्तर
उत्तर. (क) दक्षिण

452. वानर यूथपति केसरी किस पर्वत पर रहता था?
(क) सुमेरु
(ख) किष्किंधा
(ग) कांचन
(घ) मंदराचल
उत्तर. (ग) कांचन

453. सीताजी की खोज के लिए सुग्रीव ने पांड्य देश में किसको भेजा था?
(क) नल
(ख) जांबवान्
(ग) अंगद
(घ) सुषेण

उत्तर. (ग) अंगद

454. वनवास-गमन के समय श्रीराम सारे अयोध्यावासियों को किस स्थान पर सोते छोड़कर चले गए थे?
(क) चित्रकूट
(ख) भरद्वाज आश्रम
(ग) शृंगवेरपुर
(घ) अत्रि आश्रम
उत्तर. (ग) शृंगवेरपुर

455. भरत अपने बचपन में कहाँ रहते थे?
(क) आश्रम
(ख) ननिहाल
(ग) नंदिग्राम
(घ) अयोध्या
उत्तर. (ख) ननिहाल

456. सीता स्वयंवर के समय राजा जनक ने कुशध्वज को किस नगरी से बुलवाया था?
(क) सांकाश्या
(ख) गया
(ग) अयोध्या
(घ) चंपा नगरी
उत्तर. (क) सांकाश्या

457. सीताजी की खोज में लंका सर्वप्रथम कौन पहुँचा था?
(क) अंगद
(ख) जांबवान्
(ग) हनुमान
(घ) गंधमादन
उत्तर. (ग) हनुमान

458. श्रीराम का जन्म कहाँ हुआ था?
(क) प्रयाग
(ख) अयोध्या
(ग) मिथिला
(घ) शृंगवेरपुर
उत्तर. (ख) अयोध्या

459. हनुमानजी की भेंट सीताजी से सर्वप्रथम किस स्थान पर हुई थी?
(क) अशोक वाटिका
(ख) चित्रकूट
(ग) शृंगवेरपुर
(घ) भरद्वाज आश्रम
उत्तर. (क) अशोक वाटिका

460. प्रतिष्ठानपुर किस नदी के किनारे स्थित था?
(क) चर्मण्वती
(ख) नर्मदा

(ग) गंगा-यमुना के संगम पर
(घ) कावेरी
उत्तर. (ग) गंगा-यमुना के संगम पर

461. श्रीराम के मित्र प्रतर्दन कहाँ के राजा थे?
(क) कोशल
(ख) काशी
(ग) प्रतिष्ठानपुर
(घ) केकय
उत्तर. (ख) काशी

462. सुदामा नामक पर्वत किस देश में स्थित था?
(क) बाह्लीक
(ख) गया
(ग) काशी
(घ) लंका
उत्तर. (क) बाह्लीक

463. दक्षिण में स्थित देश चोला में सीता की खोज करने को सुग्रीव ने किसे भेजा था?
(क) सुषेण
(ख) अंगद
(ग) विनत
(घ) मैंद
उत्तर. (ख) अंगद

464. सीताजी की खोज में सुग्रीव ने मगध देश में किसे भेजा था?
(क) विनत
(ख) हनुमान
(ग) द्विविद
(घ) तार
उत्तर. (क) विनत

❑

9

संबंधों का सागर

माता

465. श्रीराम की माता का क्या नाम था?
(क) कैकेयी
(ख) सुमित्रा
(ग) कौशल्या
(घ) मंथरा
उत्तर. (ग) कौशल्या

466. हनुमानजी की माता कौन थीं?
(क) अंजनी
(ख) कृतिका
(ग) अहल्या
(घ) सुलक्षणा
उत्तर. (क) अंजनी

467. दशरथ की माता कौन थीं?
(क) शांता
(ख) सुयशा
(ग) इंदुमती
(घ) कैकेयी
उत्तर. (ग) इंदुमती

468. रावण की माता कौन थी?
(क) मंदोदरी
(ख) कैकसी
(ग) मंथरा
(घ) सुलोचना
उत्तर. (ख) कैकसी

469. जटायु (गृद्ध) की माता कौन थी?
(क) श्येनी
(ख) प्राक्षा
(ग) दिति
(घ) कुंदवा
उत्तर. (क) श्येनी

470. मंदोदरी की माता का क्या नाम था?
(क) प्रभा
(ख) हेमा
(ग) उर्वशी

(घ) रुक्मिणी
उत्तर. (ख) हेमा

471. विभीषण की माता कौन थी?
(क) मंदोदरी
(ख) कैकसी
(ग) उर्वशी
(घ) प्रभा
उत्तर. (ख) कैकसी

472. खर की माता का क्या नाम था?
(क) पुष्पोत्कटा
(ख) त्रिजटा
(ग) मंदोदरी
(घ) युगंधरा
उत्तर. (क) पुष्पोत्कटा

473. दूषण की माता का क्या नाम था?
(क) क्रोधवशा
(ख) हेमा
(ग) वाका
(घ) प्रभा
उत्तर. (ग) वाका

474. मेघनाद की माता का क्या नाम था?
(क) कैकसी
(ख) विपाशा
(ग) दिति
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (घ) मंदोदरी

475. मारीच (राक्षस) की माता कौन थी?
(क) ताड़का
(ख) कैकसी
(ग) शूर्पणखा
(घ) नंदिनी
उत्तर. (क) ताड़का

476. नल (वानर) की माता कौन थी?
(क) मेनका
(ख) घृताची
(ग) उर्वशी
(घ) जानपदी
उत्तर. (ख) घृताची

477. लक्ष्मण की माता कौन थीं?
(क) सुमित्रा

(ख) कौशल्या
(ग) कैकेयी
(घ) मंथरा
उत्तर. (क) सुमित्रा

478. महर्षि परशुराम की माता कौन थीं?
(क) जाह्नवी
(ख) रेणुका
(ग) रेवती
(घ) लोमा
उत्तर. (ख) रेणुका

479. शत्रुघ्न की माता कौन थीं?
(क) सुमित्रा
(ख) कैकेयी
(ग) कौशल्या
(घ) इंदुमती
उत्तर. (क) सुमित्रा

480. भरत की माता कौन थी?
(क) कौशल्या
(ख) सुमित्रा
(ग) मंथरा
(घ) कैकेयी
उत्तर. (घ) कैकेयी

481. अंगद की माता का क्या नाम था?
(क) रूमा
(ख) तारा
(ग) अहल्या
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (ख) तारा

482. लवणासुर की माता कौन थी?
(क) कैकसी
(ख) ताड़का
(ग) कुंभीनसी
(घ) कृतिका
उत्तर. (ग) कुंभीनसी

483. शतानंद (जनक के पुरोहित) की माता का क्या नाम था?
(क) शबरी
(ख) सुलोचना
(ग) कैकसी
(घ) अहल्या
उत्तर. (घ) अहल्या

484. अकंपन राक्षस की माता कौन थी?
(क) कैकसी
(ख) सुरसा
(ग) केतुमती
(घ) त्रिजटा
उत्तर. (ग) केतुमती

485. पूरु की माता कौन थी?
(क) देवहूति
(ख) देवयानी
(ग) शर्मिष्ठा
(घ) युगंधरा
उत्तर. (ग) शर्मिष्ठा

486. इंद्र की माता का क्या नाम था?
(क) अदिति
(ख) उमा
(ग) सरस्वती
(घ) लक्ष्मी
उत्तर. (क) अदिति

487. अतिकाय (रावण-पुत्र) की माता कौन थी?
(क) मंदोदरी
(ख) त्रिजटा
(ग) धान्यमालिन्
(घ) वज्रज्वाला
उत्तर. (ग) धान्यमालिन्

488. कुबेर की माता कौन थी?
(क) सत्यवंध्या
(ख) देववर्णिनी
(ग) अंजनि
(घ) गायत्री
उत्तर. (ख) देववर्णिनी

489. सुरसा की माता का क्या नाम था?
(क) कद्रू
(ख) क्रोधवशा
(ग) उर्वशी
(घ) युगंधरा
उत्तर. (ख) क्रोधवशा

490. विराध राक्षस की माता का क्या नाम था?
(क) शतह्रदा
(ख) पुष्पोत्कटा
(ग) वाका
(घ) मंदोदरी

उत्तर. (क) शतह्लदा

491. महोदर राक्षस की माता कौन थी?
(क) त्रिजटा
(ख) वज्रज्वाला
(ग) पुष्पोत्कटा
(घ) वाका
उत्तर. (ग) पुष्पोत्कटा

492. नागों की माता कौन थी?
(क) त्रिजटा
(ख) मंदोदरी
(ग) सुरसा
(घ) हेमा (अप्सरा)
उत्तर. (ग) सुरसा

493. दुंदुभि दैत्य की माता कौन थी?
(क) हेमा (अप्सरा)
(ख) अदिति
(ग) सुलोचना
(घ) प्रघसा
उत्तर. (क) हेमा (अप्सरा)

494. महर्षि दुर्वासा की माता का क्या नाम था?
(क) अरुंधती
(ख) अहल्या
(ग) गार्गी
(घ) अनसूया
उत्तर. (घ) अनसूया

495. सिंहिका राक्षसी किसकी माता थी?
(क) राहु
(ख) चंद्रमा
(ग) दैत्य
(घ) रावण
उत्तर. (क) राहु

पिता

496. हनुमानजी के पिता कौन थे?
(क) बालि
(ख) सुग्रीव
(ग) हयग्रीव
(घ) केसरी
उत्तर. (घ) केसरी

497. रावण का पिता कौन था?
(क) विश्रवा

(ख) पुलस्त्य
(ग) सुमाली
(घ) अहिरावण
उत्तर. (क) विश्रवा

498. ताड़का (राक्षसी) के पिता का क्या नाम था?
(क) सुकेतु
(ख) मारीच
(ग) सुबाहु
(घ) रावण
उत्तर. (क) सुकेतु

499. जटायु का पिता कौन था?
(क) वासुकि
(ख) सूर्य
(ग) अरुण
(घ) कालनेमि
उत्तर. (ग) अरुण

500. जांबवान् के पिता का क्या नाम था?
(क) ऋक्षवंत
(ख) गद्गद
(ग) ऋक्षराज
(घ) भवनद
उत्तर. (ख) गद्गद

501. बालि का पिता कौन था?
(क) ऋक्षराज
(ख) जांबवान्
(ग) ऋक्षवान्
(घ) कंबोदर
उत्तर. (क) ऋक्षराज

502. सुग्रीव के पिता का क्या नाम था?
(क) केसरी
(ख) माल्यवान्
(ग) जांबवान्
(घ) ऋक्षराज
उत्तर. (घ) ऋक्षराज

503. खर-दूषण का पिता कौन था?
(क) सुबाहु
(ख) सुकेतु
(ग) विश्रवा
(घ) बालि
उत्तर. (ग) विश्रवा

504. नल (वानर) का पिता कौन था?
(क) मय
(ख) विश्वकर्मा
(ग) बालि
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) विश्वकर्मा

505. नील (वानर) का पिता कौन है?
(क) विश्वकर्मा
(ख) मय
(ग) अग्निदेव
(घ) केसरी
उत्तर. (ग) अग्निदेव

506. राजा दशरथ के पिता का क्या नाम था?
(क) दिलीप
(ख) अज
(ग) रघु
(घ) अग्निपर्ण
उत्तर. (ख) अज

507. अंगद (वानर) का पिता कौन था?
(क) सुग्रीव
(ख) नील
(ग) बालि
(घ) नल
उत्तर. (ग) बालि

508. श्रीराम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के पिता कौन थे?
(क) अज
(ख) दशरथ
(ग) जनक
(घ) रघु
उत्तर. (ख) दशरथ

509. मंदोदरी के पिता का क्या नाम था?
(क) मय
(ख) सुमाली
(ग) मारीच
(घ) सुबाहु
उत्तर. (क) मय

510. (सती) सुलोचना का पिता कौन था?
(क) आर्यक (नाग)
(ख) तक्षक (नाग)
(ग) वासुकि (नाग)
(घ) अश्वसेन (नाग)

उत्तर. (ग) वासुकि (नाग)

511. महर्षि परशुराम के पिता का क्या नाम था?
(क) भरद्वाज
(ख) जमदग्नि
(ग) वसिष्ठ
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ख) जमदग्नि

512. महर्षि विश्वामित्र के पिता का क्या नाम था?
(क) जमदग्नि
(ख) अत्रि
(ग) गाधि
(घ) कश्यप
उत्तर. (ग) गाधि

513. सुमाली (राक्षस) का पिता कौन था?
(क) मय
(ख) सुकेश
(ग) पुलस्त्य
(घ) विश्वश्रवा
उत्तर. (ख) सुकेश

514. लवणासुर का पिता कौन था?
(क) रावण
(ख) प्रहस्त
(ग) मधु दैत्य
(घ) पुलस्त्य
उत्तर. (ग) मधु दैत्य

515. शतानंद (जनक के पुरोहित) के पिता कौन थे?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) गौतम
(ग) जमदग्नि
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ख) गौतम

516. महाराज गाधि के पिता का क्या नाम था?
(क) कुशनाभ
(ख) सगर
(ग) कृतवीर्य
(घ) कुशध्वज
उत्तर. (क) कुशनाभ

517. सुंद दैत्य का पिता कौन था?
(क) उपसुंद
(ख) मारीच

(ग) दूषण
(घ) जंभ
उत्तर. (घ) जंभ

518. वानर यूथपति मारीच का पिता कौन था?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) वसिष्ठ
(ग) मरीचि
(घ) जमदग्नि
उत्तर. (ग) मरीचि

519. उल्कामुख और अनंग (वानर) का पिता कौन था?
(क) केसरी
(ख) हुताशन
(ग) सुषेण
(घ) द्विविद
उत्तर. (ख) हुताशन

520. महोदर राक्षस का पिता कौन था?
(क) पुलस्त्य
(ख) धूम्राक्ष
(ग) प्रघस
(घ) विश्रवा
उत्तर. (घ) विश्रवा

521. मांधाता के पिता का क्या नाम था?
(क) युवनाश्व
(ख) हर्यश्व
(ग) अग्निवर्ण
(घ) मरु
उत्तर. (क) युवनाश्व

522. त्रिशिरा राक्षस का पिता कौन था?
(क) खर
(ख) दूषण
(ग) रावण
(घ) मारीच
उत्तर. (ग) रावण

523. मांडवी व श्रुतकीर्ति के पिता कौन थे?
(क) सीरध्वज
(ख) कपिध्वज
(ग) शतध्वज
(घ) कुशध्वज
उत्तर. (घ) कुशध्वज

524. राजा जनक के पिता कौन थे?

(क) ह्रस्वरोमा
(ख) उदावसु
(ग) ककुत्स्थ
(घ) मिथि
उत्तर. (क) ह्रस्वरोमा

525. ककुत्स्थ के पिता का नाम बताइए।
(क) दिलीप
(ख) भगीरथ
(ग) रघु
(घ) मांधाता
उत्तर. (ख) भगीरथ

526. कैकेयी के पिता का क्या नाम था?
(क) अश्वपति
(ख) कुशध्वज
(ग) मोरध्वज
(घ) सुषेण
उत्तर. (क) अश्वपति

527. अंशुमान का पिता कौन था?
(क) सगर
(ख) असमंज
(ग) भगीरथ
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (ख) असमंज

528. विराध राक्षस का पिता कौन था?
(क) जव
(ख) मय
(ग) बक
(घ) अघ
उत्तर. (क) जव

529. जमदग्नि ऋषि के पिता कौन थे?
(क) भरद्वाज
(ख) वसिष्ठ
(ग) दुर्वासा
(घ) ऋचीक
उत्तर. (घ) ऋचीक

530. पूरु के पिता कौन थे?
(क) ययाति
(ख) कुरु
(ग) गय
(घ) देवापि
उत्तर. (क) ययाति

531. नहुष के पिता कौन थे?
(क) आयु
(ख) ककुत्स्थ
(ग) पूरु
(घ) यौधेय
उत्तर. (क) आयु

532. रघु के पिता कौन थे?
(क) दिलीप
(ख) भगीरथ
(ग) अज
(घ) ककुत्स्थ
उत्तर. (क) दिलीप

533. कुबेर के पिता कौन थे?
(क) पुलस्त्य
(ख) ब्रह्मा
(ग) विश्रवा
(घ) अहिरावण
उत्तर. (ग) विश्रवा

534. ऋषि दुर्वासा के पिता कौन थे?
(क) अत्रि
(ख) भरद्वाज
(ग) व्यास
(घ) जगदग्नि
उत्तर. (क) अत्रि

535. त्रिशंकु का पिता कौन था?
(क) गालव
(ख) पृथु
(ग) गाधि
(घ) व्यास
उत्तर. (ख) पृथु

536. स्वयंप्रभा के पिता कौन थे?
(क) ऋचीक
(ख) मेरुसावर्णि
(ग) विश्वसह
(घ) पर्जन्य
उत्तर. (ख) मेरुसावर्णि

537. रावण के पितामह कौन थे?
(क) सुमाली
(ख) पुलस्त्य
(ग) विश्रवा
(घ) माल्यवान्

उत्तर. (ख) पुलस्त्य

538. श्रीराम के पितामह कौन थे?
(क) रघु
(ख) दिलीप
(ग) भगीरथ
(घ) अज
उत्तर. (घ) अज

539. वह कौन वानर था, जो वानरों का पितामह था?
(क) संनादन
(ख) गंधमादन
(ग) सुषेण
(घ) केसरी
उत्तर. (क) संनादन

पत्नी

540. भरत की पत्नी का क्या नाम था?
(क) मांडवी
(ख) श्रुतकीर्ति
(ग) उर्मिला
(घ) सुचेता
उत्तर. (क) मांडवी

541. लक्ष्मण की पत्नी का क्या नाम था?
(क) श्रुतकीर्ति
(ख) उर्मिला
(ग) मांडवी
(घ) सुलक्षणा
उत्तर. (ख) उर्मिला

542. शत्रुघ्न की पत्नी का क्या नाम था?
(क) मांडवी
(ख) श्रुतकीर्ति
(ग) तारा
(घ) यशोधरा
उत्तर. (ख) श्रुतकीर्ति

543. मेघनाद की पत्नी कौन थी?
(क) मौर्वी
(ख) सुलोचना
(ग) कुमुदिनी
(घ) सुहासिनी
उत्तर. (ख) सुलोचना

544. विभीषण की पत्नी का क्या नाम था?
(क) सुमति

(ख) सुरसा
(ग) संगणा
(घ) सरमा
उत्तर. (घ) सरमा

545. कुंभकर्ण की पत्नी का क्या नाम था?
(क) वज्रज्वाला
(ख) बलंधरा
(ग) मौर्वी
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (क) वज्रज्वाला

546. शूर्पणखा किसकी पत्नी थी?
(क) केकभ
(ख) विद्युज्जिह्व
(ग) पूर्णनाभ
(घ) जव
उत्तर. (ख) विद्युज्जिह्व

547. राजा जनक की पत्नी का क्या नाम था?
(क) सुमित्रा
(ख) हेमा
(ग) सुनयना
(घ) सुगंधा
उत्तर. (ग) सुनयना

548. कुश की पत्नी का क्या नाम था?
(क) देविका
(ख) कंजानना
(ग) सुमति
(घ) चंपका
उत्तर. (घ) चंपका

549. बालि की पत्नी का क्या नाम था?
(क) रूमा
(ख) अहल्या
(ग) तारा
(घ) सुलोचना
उत्तर. (ग) तारा

550. सुग्रीव की पत्नी का क्या नाम था?
(क) तारा
(ख) रूमा
(ग) मौर्वी
(घ) गांधारी
उत्तर. (ख) रूमा

551. अहल्या किस ऋषि की पत्नी थीं?
(क) अत्रि
(ख) वसिष्ठ
(ग) गौतम
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (ग) गौतम

552. अत्रि ऋषि की पत्नी कौन थीं?
(क) अरुंधती
(ख) रोहिणी
(ग) केतकी
(घ) अनसूया
उत्तर. (घ) अनसूया

553. वसिष्ठ ऋषि की पत्नी कौन थीं?
(क) रेणुका
(ख) रेवती
(ग) अरुंधती
(घ) विजया
उत्तर. (ग) अरुंधती

554. जमदग्नि ऋषि की पत्नी कौन थीं?
(क) रेणुका
(ख) रेवती
(ग) देवकी
(घ) विजया
उत्तर. (क) रेणुका

555. राजा सगर की दूसरी पत्नी का क्या नाम था?
(क) सुनीति
(ख) शुभा
(ग) सुमति
(घ) श्रुतकीर्ति
उत्तर. (ग) सुमति

556. महर्षि कश्यप की पत्नी का क्या नाम था?
(क) अदिति
(ख) शतरूपा
(ग) शर्मिष्ठा
(घ) श्रुतकीर्ति
उत्तर. (क) अदिति

557. महर्षि विश्वामित्र की पत्नी कौन थीं?
(क) सती
(ख) सुलक्षणा
(ग) माद्री
(घ) शांता

उत्तर. (क) सती

558. इक्ष्वाकु की पत्नी का क्या नाम था?
(क) मांडवी
(ख) सुनयना
(ग) अलंबुषा
(घ) सरमा
उत्तर. (ग) अलंबुषा

559. ऋषि याज्ञवल्क्य की पत्नी का क्या नाम था?
(क) युगंधरा
(ख) मैत्रेयी
(ग) अनसूया
(घ) अरुंधती
उत्तर. (ख) मैत्रेयी

560. राका, पुष्पोत्कटा और बलाका किसकी पत्नियाँ थीं?
(क) रावण
(ख) विश्रवा
(ग) कुंभकर्ण
(घ) प्रहस्त
उत्तर. (ख) विश्रवा

561. इंद्र की पत्नी का क्या नाम था?
(क) अंजनि
(ख) सती
(ग) अहल्या
(घ) शची
उत्तर. (घ) शची

562. सुमति और कंजानना इनमें से किसकी पत्नियों के नाम हैं?
(क) लव
(ख) कुश
(ग) शत्रुघ्न
(घ) चंद्रकेतु
उत्तर. (क) लव

563. चंद्रमा की पत्नी का क्या नाम था?
(क) रोहिणी
(ख) रेवती
(ग) उमा
(घ) रेणुका
उत्तर. (क) रोहिणी

पुत्र - पुत्री

564. हनुमानजी का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) कपिध्वज

(ख) शतध्वज
(ग) मकरध्वज
(घ) सीरध्वज
उत्तर. (ग) मकरध्वज

565. लक्ष्मण का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) लव
(ख) चंद्रकेतु
(ग) कुश
(घ) सुमंत्र
उत्तर. (ख) चंद्रकेतु

566. कुंभकर्ण का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) अक्षकुमार
(ख) मेल्ह
(ग) मकराक्ष
(घ) निकुंभ
उत्तर. (घ) निकुंभ

567. भरत का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) तक्ष
(ख) चंद्रकेतु
(ग) कुश
(घ) अंगद
उत्तर. (क) तक्ष

568. संपाति का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) जटायु
(ख) दीर्घायु
(ग) चिरायु
(घ) सुपार्श्व
उत्तर. (घ) सुपार्श्व

569. दशरथ की पुत्री इनमें से कौन थी?
(क) सुयशा
(ख) सुनंदा
(ग) शांता
(घ) सुनयना
उत्तर. (ग) शांता

570. विभीषण की पुत्री इनमें से कौन थी?
(क) ललिता
(ख) कला
(ग) सुकन्या
(घ) मीनाक्षी
उत्तर. (ख) कला

571. शत्रुघ्न का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) चंद्रकेतु
(ख) अंगद
(ग) सुबाहु
(घ) लव
उत्तर. (ग) सुबाहु

572. भरत का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) अंगद
(ख) कुश
(ग) पुष्कल
(घ) चंद्रकेतु
उत्तर. (ग) पुष्कल

573. महर्षि वसिष्ठ का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) सुयज्ञ
(ख) आरुणि
(ग) उपमन्यु
(घ) वेद
उत्तर. (क) सुयज्ञ

574. बालि की पुत्री इनमें कौन थी?
(क) सुभद्रा
(ख) लीलाक्षी
(ग) मीनाक्षी
(घ) सुहागी
उत्तर. (क) सुभद्रा

575. लक्ष्मण का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) कुश
(ख) श्रीदाम
(ग) अंगद
(घ) लव
उत्तर. (ग) अंगद

576. अतिकाय राक्षस किसका पुत्र था?
(क) विभीषण
(ख) रावण
(ग) मेघनाद
(घ) खर
उत्तर. (ख) रावण

577. इंद्र के सारथि मातलि का पुत्र कौन था?
(क) जयंत
(ख) सिद्धार्थ
(ग) गोमुख
(घ) यशोमुख

उत्तर. (ग) गोमुख

578. खर राक्षस का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) दूषण
(ख) मकराक्ष
(ग) सुबाहु
(घ) अंगारक
उत्तर. (ख) मकराक्ष

579. शत्रुघ्न का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) शत्रुघाती
(ख) कुश
(ग) चंद्रकेतु
(घ) तक्ष
उत्तर. (क) शत्रुघाती

580. नलकूबर किसका पुत्र था?
(क) अग्नि
(ख) कुबेर
(ग) वरुण
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) कुबेर

581. त्रिशंकु का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) अंबरीष
(ख) रोमपाद
(ग) गय
(घ) धुंधुमार
उत्तर. (घ) धुंधुमार

582. नारदजी किसके मानस-पुत्र थे?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) विष्णु
(घ) वरुण
उत्तर. (ख) ब्रह्मा

583. विश्वामित्र का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) हविष्यंद
(ख) अंगद
(ग) गंधमादन
(घ) कुशीनर
उत्तर. (क) हविष्यंद

584. भगीरथ का पुत्र इनमें से कौन था?
(क) अज
(ख) अंशुमान

(ग) दिलीप
(घ) ककुत्स्थ
उत्तर. (घ) ककुत्स्थ

नाना -मामा

585. रावण की नानी निम्न में से कौन थी?
(क) कौतुमती
(ख) कुंभीनसी
(ग) कैकसी
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (क) कौतुमती

586. ताड़का रावण की क्या लगती थी?
(क) नानी
(ख) चाची
(ग) बुआ
(घ) बहन
उत्तर. (क) नानी

587. रावण का नाना कौन था?
(क) अहिरावण
(ख) पुलस्त्य
(ग) मय
(घ) माल्यवान्
उत्तर. (ख) पुलस्त्य

588. भरत के मामा इनमें से कौन थे?
(क) शेष
(ख) मार्कंडेय
(ग) युधाजित्
(घ) अश्वपति
उत्तर. (ग) युधाजित्

589. सुग्रीव का मामा इनमें से कौन था?
(क) दधिमुख
(ख) अग्निमुख
(ग) अग्निवर्ण
(घ) अग्निकेतु
उत्तर. (क) दधिमुख

590. श्रीराम के नाना का क्या नाम था?
(क) अश्वपति
(ख) भानुमान
(ग) ककुत्स्थ
(घ) मांधाता
उत्तर. (ख) भानुमान

591. भरत के नाना का क्या नाम था?
(क) शतध्वज
(ख) उदावसु
(ग) अश्वपति
(घ) अश्वजित्
उत्तर. (ग) अश्वपति

592. हनुमानजी के नाना का क्या नाम था?
(क) केसरी
(ख) कुंजर
(ग) वृषभ
(घ) सुषेण
उत्तर. (ख) कुंजर

593. अंगद के नाना का क्या नाम था?
(क) मैंद
(ख) सुषेण
(ग) कुंजर
(घ) तार
उत्तर. (घ) तार

594. मारीच रावण का क्या लगता था?
(क) चाचा
(ख) मामा
(ग) दादा
(घ) नाना
उत्तर. (ख) मामा

595. लवणासुर रावण का क्या लगता था?
(क) मामा
(ख) भानजा
(ग) फूफा
(घ) नाना
उत्तर. (ख) भानजा

596. मेघनाद के मामा का क्या नाम था?
(क) बलंधर
(ख) अघासुर
(ग) दुंदुभि
(घ) अतिकाय
उत्तर. (ग) दुंदुभि

597. प्रहस्त राक्षस रावण का क्या लगता था?
(क) चाचा
(ख) मामा
(ग) भाई
(घ) नाना

उत्तर. (ख) मामा

❑

10

काल के गाल में

598. श्रवणकुमार की हत्या किसके हाथों हुई थी?
(क) लक्ष्मण
(ख) विभीषण
(ग) दशरथ
(घ) जनक
उत्तर. (ग) दशरथ

599. जटायु किसके हाथों मारा गया था?
(क) संपाति
(ख) सुग्रीव
(ग) बालि
(घ) रावण
उत्तर. (घ) रावण

600. कौशल्या की मृत्यु कब हुई थी?
(क) श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ समाप्त होने के पश्चात्
(ख) श्रीराम के वनवास के समय
(ग) दशरथ की मृत्यु के तत्काल बाद
(घ) सीता-हरण के पश्चात्
उत्तर. (क) श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ समाप्त होने के पश्चात्

601. अशोक वाटिका में हनुमानजी के हाथों रावण का कौन सा पुत्र मारा गया था?
(क) अक्षकुमार
(ख) मेघनाद
(ग) देवांतक
(घ) नरांतक
उत्तर. (क) अक्षकुमार

602. अयोध्या के राजा मांधाता किसके हाथों मारे गए थे?
(क) लवणासुर
(ख) रावण
(ग) मधु
(घ) कुंभकर्ण
उत्तर. (क) लवणासुर

603. महर्षि जमदग्नि की हत्या किसने की थी?
(क) रावण
(ख) सहस्रार्जुन
(ग) कुंभकर्ण
(घ) बालि
उत्तर. (ख) सहस्रार्जुन

604. लंकिनी राक्षसी को किसने घूँसों से प्रहार करके मार डाला था?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) नील
(घ) विनत
उत्तर. (क) हनुमान

605. बालि का वध किसके हाथों हुआ था?
(क) रावण
(ख) सुग्रीव
(ग) श्रीराम
(घ) मारीच
उत्तर. (ग) श्रीराम

606. मेघनाद का वध किसने किया था?
(क) लक्ष्मण
(ख) श्रीराम
(ग) हनुमान
(घ) अंगद
उत्तर. (क) लक्ष्मण

607. खर-दूषण को किसने मारा था?
(क) भरत
(ख) लक्ष्मण
(ग) श्रीराम
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ग) श्रीराम

608. रावण का वध किसने किया था?
(क) लक्ष्मण
(ख) श्रीराम
(ग) विभीषण
(घ) हनुमान
उत्तर. (ख) श्रीराम

609. कुंभकर्ण को किसने मारा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) हनुमान
(ग) सुग्रीव
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

610. ताड़का राक्षसी का वध किसने किया था?
(क) दशरथ
(ख) जनक
(ग) लक्ष्मण
(घ) श्रीराम

उत्तर. (घ) श्रीराम

611. लवणासुर का वध किसने किया था?
(क) शत्रुघ्न
(ख) भरत
(ग) लक्ष्मण
(घ) चंद्रकेतु
उत्तर. (क) शत्रुघ्न

612. सुबाहु राक्षस किसके हाथों मारा गया था?
(क) श्रीराम
(ख) लक्ष्मण
(ग) सुग्रीव
(घ) नील
उत्तर. (क) श्रीराम

613. मारीच को किसने मारा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) हनुमान
(ग) विश्वामित्र
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

614. कालनेमि (राक्षस) को किसने मारा था?
(क) श्रीराम
(ख) हनुमान
(ग) परशुराम
(घ) बालि
उत्तर. (ख) हनुमान

615. सिंहिका राक्षसी को किसने मारा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) भरत
(ग) मेघनाद
(घ) हनुमान
उत्तर. (घ) हनुमान

616. शंबूक का वध किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) लक्ष्मण
(ग) विश्वामित्र
(घ) दशरथ
उत्तर. (क) श्रीराम

617. दुंदुभि दैत्य को किसने मारा था?
(क) मेघनाद
(ख) लक्ष्मण

(ग) बालि
(घ) हनुमान
उत्तर. (ग) बालि

618. सुंद दैत्य को किस मुनि ने शाप देकर मार डाला था?
(क) अगस्त्य
(ख) वाल्मीकि
(ग) जाबालि
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) अगस्त्य

619. विराध राक्षस का वध किसने किया था?
(क) शत्रुघ्न-भरत
(ख) लव-कुश
(ग) हनुमान-अंगद
(घ) राम-लक्ष्मण
उत्तर. (घ) राम-लक्ष्मण

620. अकंपन राक्षस का वध किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) अंगद
(ग) हनुमान
(घ) नल
उत्तर. (ग) हनुमान

621. अग्निकेतु राक्षस को किसने मारा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) श्रीराम
(ग) भरत
(घ) हनुमान
उत्तर. (ख) श्रीराम

622. अतिकाय राक्षस का वध किसने किया था?
(क) हनुमान
(ख) लक्ष्मण
(ग) अंगद
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ख) लक्ष्मण

623. प्रहस्त का वध किसने किया था?
(क) नील
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) हनुमान
उत्तर. (क) नील

624. रावण के सेनापति प्रघस को किसने मारा था?

(क) केसरी
(ख) सुग्रीव
(ग) बालि
(घ) अंगद
उत्तर. (ख) सुग्रीव

625. निकुंभ का वध किसने किया था?
(क) हनुमान
(ख) लक्ष्मण
(ग) शत्रुघ्न
(घ) लव
उत्तर. (क) हनुमान

626. वृत्रासुर को किसने मारा था?
(क) शिव
(ख) श्रीराम
(ग) हनुमान
(घ) इंद्र
उत्तर. (घ) इंद्र

627. रावण के एक सेनापति विरूपाक्ष को किसने मारा था?
(क) हनुमान
(ख) मेघनाद
(ग) लक्ष्मण
(घ) श्रीराम
उत्तर. (क) हनुमान

628. रावण के एक सेनापति दुर्धर का वध किसने किया था?
(क) लक्ष्मण
(ख) अंगद
(ग) हनुमान
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ग) हनुमान

629. रावण के एक सेनापति यूपाक्ष को किसने मारा था?
(क) सुग्रीव
(ख) नल
(ग) हनुमान
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ग) हनुमान

630. रावण के एक सेनापति भासकर्ण का वध किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) हनुमान
(ग) शत्रुघ्न
(घ) विभीषण
उत्तर. (ख) हनुमान

631. शंबरासुर का वध किसने किया था?
(क) इंद्र
(ख) श्रीराम
(ग) विष्णु
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (क) इंद्र

632. रावण-पुत्र देवांतक को किसने मारा था?
(क) श्रीराम
(ख) लक्ष्मण
(ग) हनुमान
(घ) अंगद
उत्तर. (ग) हनुमान

633. रावण-पुत्र नरांतक का वध किसने किया था?
(क) नल
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ख) अंगद

634. राक्षस-प्रमुख यज्ञकोप का वध किसने किया था?
(क) रावण
(ख) लक्ष्मण
(ग) विभीषण
(घ) श्रीराम
उत्तर. (घ) श्रीराम

635. शंबर दैत्य को किसने मारा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) हनुमान
(ग) श्रीराम
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ग) श्रीराम

636. सर्पास्य राक्षस का वध किसने किया था?
(क) लक्ष्मण
(ख) श्रीराम
(ग) भरत
(घ) अंगद
उत्तर. (ख) श्रीराम

637. प्रहस्त-पुत्र जंबुमाली का वध किसने किया था?
(क) सुग्रीव
(ख) गंधमादन
(ग) हनुमान
(घ) जांबवान्

उत्तर. (ग) हनुमान

638. रश्मिकेतु राक्षस को किसने मारा था?
(क) श्रीराम
(ख) मेघनाद
(ग) रावण
(घ) हनुमान
उत्तर. (क) श्रीराम

639. रुधिराशन राक्षस को किसने मारा था?
(क) विष्णु
(ख) इंद्र
(ग) श्रीराम
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (ग) श्रीराम

640. किस देवता ने कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया था?
(क) ब्रह्मा
(ख) विष्णु
(ग) इंद्र
(घ) शिव
उत्तर. (घ) शिव

641. त्रिपुरासुर का वध किसने किया था?
(क) शिव
(ख) राम
(ग) लक्ष्मण
(घ) इंद्र
उत्तर. (क) शिव

642. विहंगम राक्षस, जो खर का साथी था, को किसने मारा था?
(क) दशरथ
(ख) श्रीराम
(ग) मेघनाद
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (ख) श्रीराम

643. मय राक्षस का वध किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) भरत
(ग) इंद्र
(घ) हनुमान
उत्तर. (ग) इंद्र

644. कबंध राक्षस को किसने मारा था?
(क) बालि
(ख) अंगद

(ग) हनुमान
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (क) बालि

645. राजा सुधन्वा का वध किसने किया था?
(क) दशरथ
(ख) रावण
(ग) लवणासुर
(घ) जनक
उत्तर. (घ) जनक

646. परधाम-गमन हेतु श्रीराम ने किस नदी में जल-समाधि ली थी?
(क) गंगा
(ख) सरयू
(ग) तमसा
(घ) गोमती
उत्तर. (ख) सरयू

❑

11

राज्याधिपति

647. अयोध्या के प्रथम राजा कौन थे?
(क) दिलीप
(ख) दशरथ
(ग) इक्ष्वाकु
(घ) रघु
उत्तर. (ग) इक्ष्वाकु

648. दशरथ कहाँ के राजा थे?
(क) मिथिला
(ख) लंका
(ग) कैकय
(घ) अयोध्या
उत्तर. (घ) अयोध्या

649. रावण कहाँ का राजा था?
(क) कैकय
(ख) अलकापुरी
(ग) लंका
(घ) माहिष्मती
उत्तर. (ग) लंका

650. बालि (वानर) कहाँ का राजा था?
(क) माहिष्मती
(ख) किष्किंधा
(ग) अलकापुरी
(घ) अहिच्छत्र
उत्तर. (ख) किष्किंधा

651. जनक कहाँ के राजा थे?
(क) केकय
(ख) अलकापुरी
(ग) मिथिला
(घ) अयोध्या
उत्तर. (ग) मिथिला

652. लव कहाँ के राजा थे?
(क) केकय
(ख) कुंडिनपुर
(ग) अहिच्छत्र
(घ) श्रावस्ती
उत्तर. (घ) श्रावस्ती

653. कुश कहाँ के राजा थे?
(क) कुशस्थली
(ख) कौशांबी
(ग) मगध
(घ) लवपुर
उत्तर. (क) कुशस्थली

654. सहस्रार्जुन कहाँ का राजा था?
(क) मधुपुर
(ख) लंका
(ग) अयोध्या
(घ) माहिष्मती
उत्तर. (घ) माहिष्मती

655. निषादराज गुह कहाँ के राजा थे?
(क) चित्रकूट
(ख) शृंगवेरपुर
(ग) मलयगिरि
(घ) पाटलिपुत्र
उत्तर. (ख) शृंगवेरपुर

656. अलकापुरी का राजा कौन था?
(क) मय
(ख) कुबेर
(ग) रावण
(घ) विभीषण
उत्तर. (ख) कुबेर

657. पूरु कहाँ के राजा थे?
(क) काशी
(ख) माहिष्मती
(ग) लंका
(घ) विदेह
उत्तर. (क) काशी

658. कांपिल्य का राजा कौन था?
(क) ब्रह्मदत्त
(ख) उच्छिन्न
(ग) धर्मदत्त
(घ) वसुदत्त
उत्तर. (क) ब्रह्मदत्त

659. गय, जिसने रावण की अधीनता स्वीकार कर ली थी, कहाँ का राजा था?
(क) विदेह
(ख) काशी
(ग) गया
(घ) कुशस्थली

उत्तर. (ग) गया

660. लवणासुर कहाँ का राजा था?
(क) गया
(ख) मधुपुर
(ग) काशी
(घ) लंका
उत्तर. (ख) मधुपुर

661. रोमपाद कहाँ के राजा थे?
(क) अंगदेश
(ख) कांपिल्य
(ग) कौशांबी
(घ) लवपुर
उत्तर. (क) अंगदेश

662. अंबरीष कहाँ के राजा थे?
(क) लंका
(ख) गया
(ग) अयोध्या
(घ) काशी
उत्तर. (ग) अयोध्या

663. प्राप्तिज्ञ कहाँ के राजा थे?
(क) मधुपुर
(ख) मगध
(ग) केकय
(घ) मिथिला
उत्तर. (ख) मगध

664. कारुपथ का राजा इनमें से कौन था?
(क) चंद्रकेतु
(ख) कुश
(ग) अंगद
(घ) भरत
उत्तर. (ग) अंगद

665. अश्वपति कहाँ के राजा थे?
(क) केकय
(ख) गया
(ग) मगध
(घ) लंका
उत्तर. (क) केकय

666. भानुमान कहाँ के राजा थे?
(क) मधुपुर
(ख) माहिष्मती

(ग) कोशल
(घ) किष्किंधा
उत्तर. (ग) कोशल

667. श्रीराम के पश्चात् अयोध्या का राजा कौन बना था?
(क) लव
(ख) कुश
(ग) चंद्रकेतु
(घ) अंगद
उत्तर. (ख) कुश

668. रावण के पहले लंका का राजा कौन था?
(क) सहस्रबाहु अर्जुन
(ख) बालि
(ग) कुबेर
(घ) मय
उत्तर. (ग) कुबेर

669. रावण के वध के पश्चात् लंका का राजा कौन बना था?
(क) माल्यवान्
(ख) विभीषण
(ग) शत्रुघ्न
(घ) कुबेर
उत्तर. (ख) विभीषण

670. बालि की मृत्यु के पश्चात् किष्किंधा का राजा कौन बना था?
(क) अंगद
(ख) सुग्रीव
(ग) हनुमान
(घ) नील
उत्तर. (ख) सुग्रीव

671. सुग्रीव के पश्चात् किष्किंधा का राजा कौन बना था?
(क) अंगद
(ख) शत्रुघ्न
(ग) विभीषण
(घ) बालि
उत्तर. (क) अंगद

672. लवणासुर के वध के पश्चात् मधुपुर का राजा कौन बना था?
(क) विभीषण
(ख) लक्ष्मण
(ग) भरत
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (घ) शत्रुघ्न

673. श्रीराम के अयोध्या का राजा बनने पर युवराज कौन बना था?

(क) लक्ष्मण
(ख) भरत
(ग) शत्रुघ्न
(घ) लव
उत्तर. (ख) भरत

❑

12

अंशावतार

674. श्रीराम किसका अंशावतार थे?
(क) इंद्र
(ख) सूर्य
(ग) विष्णु
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (ग) विष्णु

675. सीता किसका अवतार थीं?
(क) सती
(ख) लक्ष्मी
(ग) सरस्वती
(घ) शक्ति
उत्तर. (ख) लक्ष्मी

676. रावण किसका अवतार था?
(क) हिरण्यकशिपु
(ख) बलंधर
(ग) भस्मासुर
(घ) पुलस्त्य
उत्तर. (क) हिरण्यकशिपु

677. लक्ष्मण किसका अवतार थे?
(क) शेष
(ख) विष्णु
(ग) अग्नि
(घ) सूर्य
उत्तर. (क) शेष

678. हनुमान किसके अंश से उत्पन्न हुए थे?
(क) धर्म
(ख) वायु देव
(ग) अश्विनीकुमार
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (ख) वायु देव

679. श्रीराम में विष्णु का कितना अंश था?
(क) पूर्णांश
(ख) अर्धांश
(ग) तृतीयांश
(घ) चतुर्थांश
उत्तर. (ख) अर्धांश

680. लक्ष्मण में विष्णुजी का कितना अंश था?
(क) चतुर्थांश
(ख) अर्धांश
(ग) अष्टमांश
(घ) तृतीयांश
उत्तर. (ग) अष्टमांश

681. शत्रुघ्न में विष्णुजी का कितना अंश था?
(क) अष्टमांश
(ख) तृतीयांश
(ग) चतुर्थांश
(घ) अर्धांश
उत्तर. (क) अष्टमांश

682. भरत में किस देवता का चतुर्थांश था?
(क) ब्रह्मा
(ख) शिव
(ग) विष्णु
(घ) वायु देव
उत्तर. (ग) विष्णु

683. वानर वीर अंगद किसके अंश से जनमे थे?
(क) बृहस्पति
(ख) अग्नि
(ग) विश्वकर्मा
(घ) वरुण
उत्तर. (क) बृहस्पति

684. राजा दशरथ किसके अवतार थे?
(क) इंद्र
(ख) वरुण
(ग) धर्म
(घ) स्वायंभुव मनु
उत्तर. (घ) स्वायंभुव मनु

685. बालि किसके अंश से उत्पन्न था?
(क) सूर्य
(ख) इंद्र
(ग) धर्म
(घ) वायु देव
उत्तर. (ख) इंद्र

686. सुग्रीव किसके अंश से जनमे थे?
(क) सूर्य
(ख) वायु देव
(ग) इंद्र
(घ) धर्म

उत्तर. (क) सूर्य

687. कपिल मुनि किसके अंशावतार थे?
(क) ब्रह्मा
(ख) महेश
(ग) विष्णु
(घ) इंद्र
उत्तर. (ग) विष्णु

688. महर्षि परशुराम किसके अंशावतार थे?
(क) विष्णु
(ख) शिव
(ग) वरुण
(घ) अग्नि
उत्तर. (क) विष्णु

689. वानर यूथपति श्वेत का जन्म किसके अंश से हुआ था?
(क) इंद्र
(ख) अग्नि
(ग) शिव
(घ) सूर्य
उत्तर. (घ) सूर्य

690. केसरी (वानर) किसके अंश से जनमे थे?
(क) सूर्य
(ख) वायु देव
(ग) बृहस्पति
(घ) अग्नि
उत्तर. (ग) बृहस्पति

691. सुषेण (वानर) किसके अंश से जनमा था?
(क) वरुण
(ख) ब्रह्मा
(ग) शिव
(घ) इंद्र
उत्तर. (क) वरुण

692. वानर यूथपति दधिमुख में किसका अंश था?
(क) वरुण
(ख) इंद्र
(ग) सूर्य
(घ) चंद्रमा
उत्तर. (घ) चंद्रमा

693. मैंद (वानर) किसके अंश से उत्पन्न था?
(क) ब्रह्मा
(ख) अश्विनीकुमार

(ग) सूर्य
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) अश्विनीकुमार

694. गंधमादन (वानर) को किसने अपने अंश से उत्पन्न किया था?
(क) कुबेर
(ख) वरुण
(ग) शिव
(घ) चंद्रमा
उत्तर. (क) कुबेर

695. वानर यूथपति द्विविद किसके अंश से जनमा था?
(क) अश्विनीकुमार
(ख) विष्णु
(ग) वायु देव
(घ) धर्म
उत्तर. (क) अश्विनीकुमार

696. वानर यूथपति तार किसके अंश से जनमे थे?
(क) इंद्र
(ख) चंद्रमा
(ग) बृहस्पति
(घ) सूर्य
उत्तर. (ग) बृहस्पति

697. वानर यूथपति ज्योतिर्मुख किस देवता के अंश से उत्पन्न था?
(क) अग्नि
(ख) सूर्य
(ग) वायु देव
(घ) शनि
उत्तर. (ख) सूर्य

698. गज, गवाक्ष और गवय (वानर)—ये किसके अंश से जनमे थे?
(क) ब्रह्मा
(ख) बृहस्पति
(ग) यमराज
(घ) वायुदेव
उत्तर. (ग) यमराज

699. वेगदर्शी (वानर) किसका अंश था?
(क) मृत्यु
(ख) वरुण
(ग) अग्नि
(घ) इंद्र
उत्तर. (क) मृत्यु

700. हेमकूट (वानर) किसके अंश से जनमा था?

(क) इंद्र
(ख) वायुदेव
(ग) बृहस्पति
(घ) वरुण
उत्तर. (घ) वरुण

❑

13

इनमें से

701. इनमें से किसने श्रीराम की सेना-हेतु लंका जाने के लिए समुद्र पर पुल बाँधा था?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) नल
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ग) नल

702. इनमें से कौन रावण को पराजित नहीं कर पाया?
(क) बालि
(ख) सहस्रार्जुन
(ग) श्रीराम
(घ) कुबेर
उत्तर. (घ) कुबेर

703. इनमें से राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ किसने करवाया था?
(क) ऋष्यशृंग
(ख) भरद्वाज
(ग) विश्वामित्र
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) ऋष्यशृंग

704. इनमें से कौन ऋषि थे जो राजा दशरथ के गुरु तथा मंत्री थे?
(क) जाबालि
(ख) परशुराम
(ग) भरद्वाज
(घ) वाल्मीकि
उत्तर. (क) जाबालि

705. लंका-दहन के दौरान इनमें से किसके भवन में हनुमानजी ने आग नहीं लगाई थी?
(क) सुषेण
(ख) कुंभकर्ण
(ग) विभीषण
(घ) प्रहस्त
उत्तर. (ग) विभीषण

706. इनमें से चिरजीवी कौन माना जाता है?
(क) अंगद
(ख) हनुमान
(ग) मेघनाद
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (ख) हनुमान

707. इनमें से कौन चिरजीवी नहीं माना जाता है?
(क) हनुमान
(ख) विभीषण
(ग) अंगद
(घ) परशुराम
उत्तर. (ग) अंगद

708. इनमें से किसे अपमानित कर रावण ने लंका से निकाल दिया था?
(क) प्रघस
(ख) प्रहस्त
(ग) विभीषण
(घ) मारीच
उत्तर. (ग) विभीषण

709. इनमें से कौन है, जो भेद लेने के लिए वानर का रूप धारण कर श्रीराम की वानरी सेना में जा घुसा था?
(क) प्रहस्त
(ख) अक्ष
(ग) निकुंभ
(घ) सारण
उत्तर. (घ) सारण

710. इनमें से कौन श्रीराम का दूत बनकर लंका गया था?
(क) सुग्रीव
(ख) हनुमान
(ग) अंगद
(घ) नल
उत्तर. (ग) अंगद

711. इनमें से कौन है जो हास्यकार था और श्रीराम के साथ उनके मनोरंजन हेतु रहता था?
(क) द्विविद
(ख) मैंद
(ग) सुराजि
(घ) तार
उत्तर. (ग) सुराजि

712. इनमें से किस वीर ने श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ के अश्व को पकड़ने का साहस किया था?
(क) लव
(ख) लवणासुर
(ग) मेघनाद
(घ) सुबाहु
उत्तर. (क) लव

713. इनमें से किस ऋषि के साथ विश्वामित्र का भयंकर युद्ध हुआ था?
(क) वसिष्ठ
(ख) अगस्त्य
(ग) अत्रि
(घ) याज्ञवल्क्य

उत्तर. (क) वसिष्ठ

714. इनमें से कौन ऋषि हैं जो एक शरीर से अयोध्या में रहते हुए भी दूसरे शरीर से सप्तर्षि मंडल में रहते थे?
(क) विश्वामित्र
(ख) भरद्वाज
(ग) वसिष्ठ
(घ) परशुराम
उत्तर. (ग) वसिष्ठ

715. इनमें से कौन एक ही माता से जनमे हैं?
(क) राम-लक्ष्मण
(ख) भरत-शत्रुघ्न
(ग) राम-भरत
(घ) लक्ष्मण-शत्रुघ्न
उत्तर. (घ) लक्ष्मण-शत्रुघ्न

716. इनमें से कौन जुड़वाँ जनमे थे?
(क) राम-लक्ष्मण
(ख) भरत-शत्रुघ्न
(ग) रावण-अहिरावण
(घ) लव-कुश
उत्तर. (घ) लव-कुश

717. इनमें से कौन अविवाहित था?
(क) जनक
(ख) हनुमान
(ग) सुग्रीव
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (ख) हनुमान

718. इनमें से जटायु का भाई कौन है?
(क) संपाति
(ख) गरुड
(ग) वासुकि
(घ) मकराक्ष
उत्तर. (क) संपाति

719. इनमें से किसने श्रीराम को सीता-हरण का समाचार दिया था?
(क) हनुमान
(ख) जटायु
(ग) अंगद
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ख) जटायु

720. इनमें से कौन थी जिसके जूठे बेर श्रीराम ने खाए थे?
(क) अहल्या
(ख) अनसूया

(ग) शबरी
(घ) त्रिजटा
उत्तर. (ग) शबरी

721. इनमें से आदि कवि किसे कहा जाता है?
(क) वाल्मीकि
(ख) भवभूति
(ग) विश्वामित्र
(घ) तुलसीदास
उत्तर. (क) वाल्मीकि

722. इनमें से ‘दशानन’ किसका नाम था?
(क) मेघनाद
(ख) विभीषण
(ग) कुंभकर्ण
(घ) रावण
उत्तर. (घ) रावण

723. इनमें से ‘अयोनिजा’ कौन थी?
(क) कौशल्या
(ख) सीता
(ग) अहल्या
(घ) सुलोचना
उत्तर. (ख) सीता

724. इनमें से ‘विदेह’ किसका नाम था?
(क) दशरथ
(ख) विभीषण
(ग) जनक
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (ग) जनक

725. इनमें से किस मुनि के साथ महर्षि विश्वामित्र की बहन सत्यवती का विवाह हुआ था?
(क) वसिष्ठ
(ख) ऋचीक
(ग) अत्रि
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ख) ऋचीक

726. इनमें से कौन था जो गंगा को पृथ्वी पर लाया था?
(क) अंशुमान्
(ख) सगर
(ग) असमंज
(घ) भगीरथ
उत्तर. (घ) भगीरथ

727. इनमें से राजा दशरथ का मंत्री कौन था?

(क) संजय
(ख) अकोप
(ग) शतानंद
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ख) अकोप

728. इनमें से देवताओं का सेनापति कौन बना था?
(क) गणेश
(ख) अर्जुन
(ग) भगीरथ
(घ) कार्त्तिकेय
उत्तर. (घ) कार्त्तिकेय

729. इनमें से किस राक्षसी ने राक्षसों के विनाश तथा श्रीराम की विजय का स्वप्न देखा था?
(क) त्रिजटा
(ख) सुरसा
(ग) ताड़का
(घ) पूतना
उत्तर. (क) त्रिजटा

730. इनमें से किसको उसकी पूँछ में आग लगाकर राक्षसों ने दंडित किया था?
(क) अंगद
(ख) सुग्रीव
(ग) नल
(घ) हनुमान
उत्तर. (घ) हनुमान

731. इनमें से किसने 'वैष्णव' धनुष का निर्माण किया था?
(क) विश्वकर्मा
(ख) मय
(ग) इंद्र
(घ) शिव
उत्तर. (क) विश्वकर्मा

732. इनमें से किसने शिव धनुष का निर्माण किया था?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) परशुराम
(ग) विश्वकर्मा
(घ) जनक
उत्तर. (ग) विश्वकर्मा

733. इनमें से 'श्रीरामचरितमानस' का रचयिता कौन है?
(क) वाल्मीकि
(ख) तुलसीदास
(ग) भवभूति
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (ख) तुलसीदास

734. इनमें से लक्ष्मण ने किस राक्षसी के नाक-कान काट लिये थे?
(क) लंकिनी
(ख) अयोमुखी
(ग) प्रघसा
(घ) त्रिजटा
उत्तर. (ख) अयोमुखी

735. इनमें से लक्ष्मण ने किस राक्षसी के नाक-कान नहीं काटे थे?
(क) अयोमुखी
(ख) ताड़का
(ग) त्रिजटा
(घ) शूर्पणखा
उत्तर. (ग) त्रिजटा

736. इनमें से कौन तैंतीस वैदिक देवताओं की माता थी?
(क) शतरूपा
(ख) अदिति
(ग) अरुंधती
(घ) शची
उत्तर. (ख) अदिति

737. इनमें से वह कौन योद्धा था, जो गोह के चमड़े से बने दस्ताने पहनकर युद्ध करता था?
(क) मेघनाद
(ख) प्रहस्त
(ग) सुग्रीव
(घ) बालि
उत्तर. (क) मेघनाद

738. इनमें से कौन दो भाई थे जिनकी मुखाकृति समान थी?
(क) राम-लक्ष्मण
(ख) बालि-सुग्रीव
(ग) खर-दूषण
(घ) भरत-शत्रुघ्न
उत्तर. (ख) बालि-सुग्रीव

739. इनमें से 'वैश्रवण' किसका नाम था?
(क) कुबेर
(ख) विश्वामित्र
(ग) हनुमान
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) कुबेर

740. इनमें से किसकी पीठ पर बैठकर श्रीराम ने रावण से युद्ध किया था?
(क) सुग्रीव
(ख) नल
(ग) हनुमान
(घ) नील

उत्तर. (ग) हनुमान

741. इनमें से ‘सिंधुजा’ किसका नाम है?
(क) लक्ष्मी
(ख) सीता
(ग) मंदोदरी
(घ) रूमा
उत्तर. (क) लक्ष्मी

742. इनमें से किस स्तोत्र की रचना रावण ने की थी?
(क) महिम्न स्तोत्र
(ख) रामरक्षा स्तोत्र
(ग) शिवतांडव स्तोत्र
(घ) विष्णु महिम्न स्तोत्र
उत्तर. (ग) शिवतांडव स्तोत्र

743. इनमें से किसका नाम ‘एकाक्षपिंगली’ भी था?
(क) कुबेर
(ख) विभीषण
(ग) भरत
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (क) कुबेर

744. इनमें कौन देवासुर संग्राम में राजा दशरथ के साथ गई थी?
(क) कौशल्या
(ख) सुमित्रा
(ग) कैकेयी
(घ) मंथरा
उत्तर. (ग) कैकेयी

745. इनमें से किसे ‘बजरंगबली’ भी कहा जाता है?
(क) सुग्रीव
(ख) लक्ष्मण
(ग) शिव
(घ) हनुमान
उत्तर. (घ) हनुमान

746. इनमें से किसे ‘महादेव’ भी कहा जाता है?
(क) गणेश
(ख) शिव
(ग) ब्रह्मा
(घ) विष्णु
उत्तर. (ख) शिव

747. प्लक्ष इनमें से किसका मंत्री था?
(क) रावण
(ख) दशरथ

(ग) जनक
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (घ) सुग्रीव

748. इनमें से कौन ऋषि हैं जो सदैव वीणा लिये रहते थे?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) नारद
(ग) परशुराम
(घ) धौम्य
उत्तर. (ख) नारद

749. इनमें से कौन है जो 'नारायण-नारायण' कहता हुआ तीनों लोकों में विचरण करता था?
(क) विश्वामित्र
(ख) गौतम
(ग) नारद
(घ) दुर्वासा
उत्तर. (ग) नारद

750. महर्षि वाल्मीकि को 'रामायण' की रचना के लिए इनमें से किसने कहा था?
(क) ब्रह्मा
(ख) श्रीराम
(ग) शिव
(घ) नारद
उत्तर. (घ) नारद

751. इनमें से रावण का आराध्य देव कौन था?
(क) शिव
(ख) विष्णु
(ग) इंद्र
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (क) शिव

752. इनमें से विष्णु का अवतार कौन है?
(क) लक्ष्मण
(ख) हनुमान
(ग) परशुराम
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ग) परशुराम

753. इनमें से किसका नाम 'गिरिजा' है?
(क) सीता
(ख) पार्वती
(ग) मंदोदरी
(घ) सुलोचना
उत्तर. (ख) पार्वती

754. इनमें से किसने गायत्री मंत्र की रचना की थी?

(क) वाल्मीकि
(ख) वसिष्ठ
(ग) भरद्वाज
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

755. इनमें से रीछों का अधिपति कौन था?
(क) धूम्र
(ख) धूम्राक्ष
(ग) धूम्रकेतु
(घ) धूम्रसेन
उत्तर. (क) धूम्र

756. 'रामरक्षास्तोत्र' में इनमें से किसकी आराधना की गई है?
(क) शिव
(ख) श्रीराम
(ग) गणेश
(घ) हनुमान
उत्तर. (ख) श्रीराम

757. इनमें से विष्णु का वाहन कौन है?
(क) उल्लू
(ख) हिरण
(ग) गरुड
(घ) नंदी (बैल)
उत्तर. (ग) गरुड

758. इनमें से शिव का वाहन कौन है?
(क) चूहा
(ख) नंदी (बैल)
(ग) मयूर
(घ) तोता
उत्तर. (ख) नंदी (बैल)

759. इनमें से किसका वाहन महिष (भैंसा) है?
(क) यमराज
(ख) वरुण
(ग) सूर्य
(घ) वायु
उत्तर. (क) यमराज

760. इनमें से किसका वाहन हंस है?
(क) लक्ष्मी
(ख) सरस्वती
(ग) विष्णु
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) सरस्वती

761. इनमें से किसका वाहन उलूक (उल्लू) है?
(क) इंद्र
(ख) लक्ष्मी
(ग) वरुण
(घ) शनि
उत्तर. (ख) लक्ष्मी

762. इनमें से कार्त्तिकेय का वाहन कौन है?
(क) मयूर
(ख) चूहा
(ग) नंदी (बैल)
(घ) गरुड
उत्तर. (क) मयूर

763. इनमें से कामदेव का वाहन कौन है?
(क) हिरण
(ख) मयूर
(ग) कपोत
(घ) शुक (तोता)
उत्तर. (घ) शुक (तोता)

764. इनमें से कौन ऋषि सप्तर्षियों में नहीं माने जाते हैं?
(क) जगदग्नि
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) वसिष्ठ
(घ) कश्यप
उत्तर. (ख) याज्ञवल्क्य

765. इनमें से कौन आदि राक्षसों में है?
(क) रावण
(ख) सुंद
(ग) हिरण्यकशिपु
(घ) हेति
उत्तर. (घ) हेति

766. इनमें से किससे देवताओं ने रावण-वध का उपाय करने को कहा था?
(क) विष्णु
(ख) इंद्र
(ग) दशरथ
(घ) नारद
उत्तर. (क) विष्णु

767. राष्ट्रवर्द्धन इनमें से किसका मंत्री था?
(क) विभीषण
(ख) जनक
(ग) दशरथ
(घ) रावण

उत्तर. (ग) दशरथ

768. इनमें से किसने लव-कुश को रामायण काव्य का पारायण कराया था?
(क) विश्वामित्र
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) वाल्मीकि
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (ग) वाल्मीकि

769. परमधाम-गमन के समय श्रीराम ने इनमें से किसे भूतल पर ही रहने का आदेश दिया था?
(क) मैंद
(ख) नल
(ग) जांबवान्
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ग) जांबवान्

770. ब्रह्माजी इनमें से किसकी नाभि-नाल से उत्पन्न हुए थे?
(क) शिव
(ख) विष्णु
(ग) अदिति
(घ) लक्ष्मी
उत्तर. (ख) विष्णु

771. इनमें से कौन देवता हैं जो सृष्टि-रचना का कार्य करते हैं?
(क) इंद्र
(ख) शिव
(ग) ब्रह्मा
(घ) विष्णु
उत्तर. (ग) ब्रह्मा

772. इनमें से कौन राक्षस था जो धर्मात्मा था?
(क) महोदर
(ख) विभीषण
(ग) कुंभकर्ण
(घ) दूषण
उत्तर. (ख) विभीषण

773. इनमें से किस देवता ने लंका में सीताजी को हविष्यान्न खिलाया था?
(क) शनि
(ख) सूर्य
(ग) वरुण
(घ) इंद्र
उत्तर. (घ) इंद्र

774. इनमें से जांबवान् का भाई कौन था?
(क) वज्र
(ख) जृंभ

(ग) धूम्र
(घ) प्रहस्त
उत्तर. (ग) धूम्र

775. इनमें से कौन छठे अंतरिक्ष में निवास करता है?
(क) गरुड
(ख) कुबेर
(ग) कामदेव
(घ) यम
उत्तर. (क) गरुड

776. इनमें से कौन देवता रावण का भाई था?
(क) वरुण
(ख) वायु
(ग) कुबेर
(घ) यम
उत्तर. (ग) कुबेर

777. श्रीराम ने इनमें से किस वानर से कहा था कि वह कलियुग की समाप्ति तक जीवित रहेगा?
(क) अंगद
(ख) द्विविद
(ग) नल
(घ) हनुमान
उत्तर. (ख) द्विविद

778. इनमें से किस देवता के चार मुख हैं?
(क) इंद्र
(ख) विष्णु
(ग) शिव
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (घ) ब्रह्मा

779. इनमें से कौन देवता त्रिनेत्रधारी हैं?
(क) शिव
(ख) वायु
(ग) अग्नि
(घ) सूर्य
उत्तर. (क) शिव

780. इनमें से किन दो भाइयों में शत्रुता थी?
(क) रावण-कुंभकर्ण
(ख) बालि-सुग्रीव
(ग) खर-दूषण
(घ) जटायु-संपाति
उत्तर. (ख) बालि-सुग्रीव

781. इनमें से सती किसे कहा जाता है?

(क) अहल्या
(ख) मंदोदरी
(ग) श्रुतकीर्ति
(घ) सुलोचना
उत्तर. (घ) सुलोचना

782. इनमें से 'पंक्तिरथ' किसका नाम था?
(क) दशरथ
(ख) जनक
(ग) गय
(घ) विभीषण
उत्तर. (क) दशरथ

783. इनमें से किसकी गणना पंच कन्याओं में होती है?
(क) सुलोचना
(ख) रूमा
(ग) मंदोदरी
(घ) उर्मिला
उत्तर. (ग) मंदोदरी

784. इनमें से कौन थी जो अपने दूसरे जन्म में सीता के रूप में जनमी थी?
(क) हेमा
(ख) वेदवती
(ग) अरुंधती
(घ) अनसूया
उत्तर. (ख) वेदवती

785. इनमें से 'महेंद्र' किसे कहा जाता है?
(क) शत्रुघ्न
(ख) मेघनाद
(ग) इंद्र
(घ) हनुमान
उत्तर. (ग) इंद्र

786. इनमें से किस पतिव्रता की अग्निपरीक्षा ली गई थी?
(क) सुलोचना
(ख) मंदोदरी
(ग) अहल्या
(घ) सीता
उत्तर. (घ) सीता

787. इनमें से किस ऋषि में प्रतिसृष्टि के सर्जन की क्षमता थी?
(क) धौम्य
(ख) जाबालि
(ग) विश्वामित्र
(घ) दुर्वासा
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

788. इनमें से किन भाइयों का विवाह एक साथ हुआ था?
(क) राम-लक्ष्मण
(ख) भरत-शत्रुघ्न
(ग) राम-भरत
(घ) चारों भाइयों का
उत्तर. (घ) चारों भाइयों का

789. इनमें से किस ऋषि के परामर्श पर राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था?
(क) वसिष्ठ
(ख) परशुराम
(ग) याज्ञवल्क्य
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) वसिष्ठ

790. इनमें से 'नागमाता' किसे कहते हैं?
(क) सुरसा
(ख) सिंहिका
(ग) त्रिजटा
(घ) मंदोदरी
उत्तर. (क) सुरसा

791. इनमें से किसका संबंध सूर्यवंश से था?
(क) जनक
(ख) रावण
(ग) दशरथ
(घ) सहस्रार्जुन
उत्तर. (ग) दशरथ

792. इनमें से वह कौन राजा है जो नक्षत्र होकर आकाश में प्रकाशित होता है?
(क) त्रिशंकु
(ख) दशरथ
(ग) गय
(घ) अंशुमान्
उत्तर. (क) त्रिशंकु

793. इनमें से कौन सा नाम है, जो रावण के पुत्र का भी था और उसके भाई का भी?
(क) त्रिशिरा
(ख) मेघनाद
(ग) दूषण
(घ) अक्षकुमार
उत्तर. (क) त्रिशिरा

794. इनमें से 'उपेंद्र' किसे कहा जाता है?
(क) शत्रुघ्न
(ख) लक्ष्मण
(ग) भरत
(घ) दशरथ

उत्तर. (ख) लक्ष्मण

795. इनमें से वह कौन सी महौषधि है जो शरीर में धँसे हुए बाण आदि को निकालकर घाव भरने और पीड़ा दूर करने के काम आती है?
(क) सावर्ण्यकरणी
(ख) विशल्यकरणी
(ग) संजीवकरणी
(घ) संधानी
उत्तर. (ख) विशल्यकरणी

796. इनमें से कौन सी महौषधि है, जो युद्ध के कारण रंगतहीन हुए शरीर में पहले की-सी रंगत ला देती है?
(क) संजीवकरणी
(ख) संधानी
(ग) सावर्ण्यकरणी
(घ) विशल्यकरणी
उत्तर. (ग) सावर्ण्यकरणी

797. इनमें से कौन सी महौषधि है, जो मूर्च्छा दूर कर चेतना प्रदान करती है?
(क) विशल्यकरणी
(ख) सावर्ण्यकरणी
(ग) संधानी
(घ) संजीवकरणी
उत्तर. (घ) संजीवकरणी

798. इनमें से कौन सी महौषधि है, जो टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने के काम आती है?
(क) संधानी
(ख) विशल्यकरणी
(ग) संजीवकरणी
(घ) सावर्ण्यकरणी
उत्तर. (क) संधानी

799. श्रीराम ने इनमें से किसका परित्याग कर दिया था?
(क) शत्रुघ्न
(ख) भरत
(ग) लव
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (घ) लक्ष्मण

800. इनमें से कौन दो भाई गांधर्व विद्या (संगीत शास्त्र) के तत्त्वज्ञ थे?
(क) राम-लक्ष्मण
(ख) बालि-सुग्रीव
(ग) लव-कुश
(घ) नल-नील
उत्तर. (ग) लव-कुश

801. इनमें वानरराज कौन था?
(क) सुग्रीव

(ख) हनुमान
(ग) नल
(घ) मैंद
उत्तर. (क) सुग्रीव

802. इनमें गृद्धराज कौन था?
(क) जटायु
(ख) हनुमान
(ग) द्विविद
(घ) गुह
उत्तर. (क) जटायु

803. इनमें निषादराज कौन था?
(क) गय
(ख) सुमंत्र
(ग) गुह
(घ) संपाति
उत्तर. (ग) गुह

804. इनमें से कौन थी, जो गंधर्वराज शैलूष की पुत्री थी?
(क) ताड़का
(ख) लंकिनी
(ग) प्रघसा
(घ) सरमा
उत्तर. (घ) सरमा

❑

14

विविध

805. ‘रामायण’ के रचयिता कौन थे?
(क) विश्वामित्र
(ख) वाल्मीकि
(ग) वसिष्ठ
(घ) परशुराम
उत्तर. (ख) वाल्मीकि

806. वाल्मीकीय रामायण किस भाषा में रचित है?
(क) अवधी
(ख) संस्कृत
(ग) भोजपुरी
(घ) ब्रज
उत्तर. (ख) संस्कृत

807. श्रीराम, सीता व लक्ष्मण को वनवास के लिए अयोध्या की सीमा तक छोड़ने कौन गया था?
(क) दशरथ
(ख) भरत
(ग) सुमंत्र
(घ) गुह
उत्तर. (ग) सुमंत्र

808. हनुमान के लंका जाते समय सीताजी के लिए श्रीराम ने कौन सी वस्तु अपनी पहचान के रूप में दी थी?
(क) भुजबंध
(ख) पुष्प
(ग) खड़ाऊँ
(घ) मुद्रिका (अँगूठी)
उत्तर. (घ) मुद्रिका (अँगूठी)

809. किसके यह बताने पर कि रावण की नाभि में अमृत है, श्रीराम रावण को मार सके थे?
(क) हनुमान
(ख) सुषेण
(ग) विभीषण
(घ) कुंभकर्ण
उत्तर. (ग) विभीषण

810. संजीवनी बूटी लाते समय हनुमानजी को मार्ग में ही किसने बाण से प्रहार कर गिरा दिया था?
(क) शत्रुघ्न
(ख) मेघनाद
(ग) भरत
(घ) रावण
उत्तर. (ग) भरत

811. सीता-हरण के पश्चात् जब श्रीराम-लक्ष्मण सीता को खोज रहे थे तब उन्हें मार्ग में सीताजी के रूप में कौन मिला था?
(क) सती
(ख) अनसूया
(ग) अरुंधती
(घ) शूर्पणखा
उत्तर. (क) सती

812. वह कौन ऋषि थे जिन्होंने श्रीराम को वन-गमन से विमुख करने की चेष्टा की थी?
(क) वसिष्ठ
(ख) अत्रि
(ग) भरद्वाज
(घ) जाबालि
उत्तर. (घ) जाबालि

813. नाक-कान काटे जाने के बाद शूर्पणखा सबसे पहले अपने किस भाई के पास गई थी?
(क) रावण
(ख) विभीषण
(ग) कुंभकर्ण
(घ) खर
उत्तर. (घ) खर

814. श्रीराम और सीता ने वनवास के लिए प्रस्थान करते समय अपने सब बहुमूल्य वस्त्राभूषण किसे दान कर दिए थे?
(क) उपयाज
(ख) याज
(ग) सुयज्ञ
(घ) आरुणि
उत्तर. (ग) सुयज्ञ

815. श्रीराम जिस रथ पर सवार हो रावण से युद्ध कर रहे थे, वह किसने भेजा था?
(क) वायु
(ख) शिव
(ग) इंद्र
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (ग) इंद्र

816. रावण से युद्ध करते समय श्रीराम के रथ का सारथ्य कौन कर रहा था?
(क) भरत
(ख) अंगद
(ग) मातलि
(घ) विभीषण
उत्तर. (ग) मातलि

817. रावण का अंतिम संस्कार किसने किया था?
(क) खर
(ख) विभीषण

(ग) दूषण
(घ) कुंभकर्ण
उत्तर. (ख) विभीषण

818. श्रीराम के वनवास से लौटकर आने की सूचना भरत को किसने दी थी?
(क) अंगद
(ख) हनुमान
(ग) नल
(घ) विनत
उत्तर. (ख) हनुमान

819. ब्रह्मा से वर माँगते समय कुंभकर्ण की जिह्वा पर कौन देवी आकर विराजमान हो गई थीं?
(क) दुर्गा
(ख) सरस्वती
(ग) लक्ष्मी
(घ) पार्वती
उत्तर. (ख) सरस्वती

820. लंका जाने हेतु समुद्र पर सेतु बाँधते समय श्रीराम ने किस देवता की आराधना की थी?
(क) विष्णु
(ख) ब्रह्मा
(ग) शिव
(घ) वरुण
उत्तर. (ग) शिव

821. जिस दिन श्रीराम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी उस दिन कौन सी तिथि थी?
(क) नवमी
(ख) दशमी
(ग) एकादशी
(घ) द्वादशी
उत्तर. (ख) दशमी

822. राजा दशरथ की रानियों में ज्येष्ठ कौन थीं?
(क) कैकेयी
(ख) सुमित्रा
(ग) कौशल्या
(घ) कोई नहीं
उत्तर. (ग) कौशल्या

823. जब रावण सीताजी का हरण कर ले जा रहा था तो उस समय रास्ते में उसका प्रतिरोध किस वीर ने किया था?
(क) जटायु
(ख) संपाति
(ग) हनुमान
(घ) अंगद
उत्तर. (क) जटायु

824. रावण का वह कौन सा भाई था जो श्रीराम की शरण में आ गया था?
(क) कुंभकर्ण
(ख) त्रिशिरा
(ग) विभीषण
(घ) खर
उत्तर. (ग) विभीषण

825. लंका को किसने जलाया था?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) हनुमान

826. राक्षसों से यज्ञ की रक्षा हेतु राजा दशरथ से श्रीराम-लक्ष्मण को कौन ऋषि माँगकर ले गए थे?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) गालव
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (क) विश्वामित्र

827. अयोध्या का कुलगुरु कौन था?
(क) परशुराम
(ख) विश्वामित्र
(ग) वसिष्ठ
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ग) वसिष्ठ

828. सीता स्वयंवर की क्या शर्त थी?
(क) शिव-धनुष उठाना
(ख) शिव-धनुष भंग करना
(ग) सीताजी को पराजित करना
(घ) जनक को पराजित करना
उत्तर. (क) शिव-धनुष उठाना

829. लंका जाकर सीताजी का पता किसने लगाया था?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) जटायु
उत्तर. (क) हनुमान

830. अयोध्या में श्रीराम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा किसने दी थी?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) परशुराम
(घ) वाल्मीकि

उत्तर. (क) विश्वामित्र

831. दशरथ इनमें से किस वंश के थे?
(क) यदु वंश
(ख) कुरु वंश
(ग) पूरु वंश
(घ) रघुवंश
उत्तर. (घ) रघुवंश

832. श्रीराम का जन्म किस तिथि को हुआ था?
(क) सप्तमी
(ख) अष्टमी
(ग) नवमी
(घ) दशमी
उत्तर. (ग) नवमी

833. श्रीराम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न में अपने क्रोधी स्वभाव के लिए कौन जाना जाता है?
(क) शत्रुघ्न
(ख) लक्ष्मण
(ग) राम
(घ) भरत
उत्तर. (ख) लक्ष्मण

834. सीता स्वयंवर हेतु जो धनुष प्रयोग किया गया था वह किसका था?
(क) परशुराम
(ख) शिव
(ग) जनक
(घ) विष्णु
उत्तर. (ख) शिव

835. वह कौन ऋषि थे जो सीता स्वयंवर में श्रीराम व लक्ष्मण पर क्रोधित हुए थे?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) वाल्मीकि
(घ) परशुराम
उत्तर. (घ) परशुराम

836. लव-कुश के गुरु कौन थे?
(क) वाल्मीकि
(ख) विश्वामित्र
(ग) कण्व
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (क) वाल्मीकि

837. अशोक वाटिका में सीताजी ने हनुमानजी को कौन सी वस्तु निशानी के रूप में दी थी?
(क) चूड़ामणि
(ख) मुद्रिका

(ग) पुष्प
(घ) स्वर्ण-मुद्रा
उत्तर. (क) चूड़ामणि

838. महर्षि वाल्मीकि किस वंश में उत्पन्न हुए थे?
(क) इक्ष्वाकु
(ख) भृगु
(ग) चंद्र
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ख) भृगु

839. त्रिजटा राक्षसी विभीषण की क्या लगती थी?
(क) बुआ
(ख) नानी
(ग) चाची
(घ) बहन
उत्तर. (घ) बहन

840. लंका का निर्माण किसने किया था?
(क) विश्वकर्मा
(ख) रावण
(ग) कुबेर
(घ) सुमाली
उत्तर. (क) विश्वकर्मा

841. श्रीराम को वन से वापस अयोध्या लाने के लिए इनमें से कौन नहीं गया था?
(क) जनक
(ख) सुमंत्र
(ग) भरत
(घ) दशरथ
उत्तर. (घ) दशरथ

842. भरत ने अयोध्या के सिंहासन पर श्रीराम की कौन सी वस्तु रखकर उनके वापस आने तक राज्य चलाया था?
(क) मुद्रिका
(ख) पीतांबर
(ग) राजमुकुट
(घ) खड़ाऊँ
उत्तर. (घ) खड़ाऊँ

843. सीताजी का पता लगाने हेतु लंका जाते समय हनुमानजी का स्वागत किस पर्वत ने किया था?
(क) सुमेरु
(ख) मैनाक
(ग) मंदराचल
(घ) किष्किंधा
उत्तर. (ख) मैनाक

844. दशरथ की तीनों रानियों ने गर्भ-धारण हेतु किस वस्तु का सेवन किया था?
(क) जंबु फल
(ख) कदली फल
(ग) चरु
(घ) नारिकेल
उत्तर. (ग) चरु

845. श्रीराम-लक्ष्मण को बला और अतिबला विद्या का ज्ञान किसने कराया था?
(क) नारद
(ख) विश्वामित्र
(ग) वसिष्ठ
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ख) विश्वामित्र

846. शुनःशेप की रक्षा किसने की थी?
(क) वाल्मीकि
(ख) अंबरीष
(ग) विश्वामित्र
(घ) त्रिशंकु
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

847. सिद्धार्थ अयोध्या में किस पद पर थे?
(क) मंत्री
(ख) महामात्य
(ग) गुप्तचर प्रमुख
(घ) सेना प्रमुख
उत्तर. (क) मंत्री

848. राजा दशरथ का सारथि कौन था?
(क) अधिरथ
(ख) सुमंत्र
(ग) शार्दूल
(घ) संजय
उत्तर. (ख) सुमंत्र

849. सीताजी का हरण करने रावण किस वेश में आया था?
(क) देव वेश
(ख) राक्षस वेश
(ग) साधु वेश
(घ) वानर वेश
उत्तर. (ग) साधु वेश

850. राजा दशरथ की वह कौन रानी थी जो उनके साथ युद्धों में भाग लेती थी?
(क) कैकेयी
(ख) कौशल्या
(ग) सुमित्रा
(घ) कोई नहीं

उत्तर. (क) कैकेयी

851. कुशनाभ की पुत्रियाँ किसके कोप से कुब्जा हो गई थीं?
(क) इंद्र
(ख) चंद्रमा
(ग) वायु
(घ) सूर्य
उत्तर. (ग) वायु

852. वनवास में श्रीराम आदि के शृंगवेरपुर पहुँचने पर किसने उनका स्वागत किया था?
(क) गय
(ख) गुह
(ग) प्राप्तिज्ञ
(घ) सुग्रीव
उत्तर. (ख) गुह

853. श्रीराम लक्ष्मण व सीता सहित वनवास के लिए किस वेश में गए थे?
(क) साधु वेश
(ख) वनवासी वेश
(ग) राजसी वेश
(घ) तपस्वी वेश
उत्तर. (घ) तपस्वी वेश

854. रामायण में किष्किंधाकांड के बाद कौन सा कांड आता है?
(क) अरण्यकांड
(ख) लंकाकांड
(ग) सुंदरकांड
(घ) अयोध्याकांड
उत्तर. (ग) सुंदरकांड

855. वह कौन राक्षस था जिसने रावण को सीता-हरण की सलाह दी थी?
(क) मारीच
(ख) अकंपन
(ग) दूषण
(घ) सुबाहु
उत्तर. (ख) अकंपन

856. श्रीराम व सीता के साथ और कौन वन गया था?
(क) शत्रुघ्न
(ख) लक्ष्मण
(ग) भरत
(घ) दशरथ
उत्तर. (ख) लक्ष्मण

857. संपाति (गृद्ध) के पंख कैसे जल गए थे?
(क) सूर्य की प्रखर किरणों से
(ख) आग लगने से

(ग) रावण द्वारा काट दिए जाने से
(घ) ऋषियों के शाप से
उत्तर. (क) सूर्य की प्रखर किरणों से

858. प्रहस्त कौन था?
(क) रावण का गुप्तचर
(ख) श्रीराम का एक मंत्री
(ग) दशरथ का गुप्तचर
(घ) रावण का एक सेनापति
उत्तर. (घ) रावण का एक सेनापति

859. महोदर, प्रहस्त, धूम्राक्ष, मारीच, शुक व सारण—ये सब लंका में किस पद पर थे?
(क) अमात्य
(ख) सारथि
(ग) गुप्तचर
(घ) सेनापति
उत्तर. (क) अमात्य

860. लंका जाने हेतु समुद्र पर बनाए गए पुल को किसने तैयार किया था?
(क) नल
(ख) अंगद
(ग) हनुमान
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) नल

861. ऋषि भरद्वाज के गुरु कौन महर्षि थे?
(क) परशुराम
(ख) वेदव्यास
(ग) वाल्मीकि
(घ) याज्ञवल्क्य
उत्तर. (ग) वाल्मीकि

862. हनुमानजी के बल और पराक्रम की परीक्षा हेतु देवताओं ने किसे राक्षसी के रूप में उनके मार्ग-विरोध (लंका जाते समय) के लिए भेजा था?
(क) एकजटा
(ख) प्रघसा
(ग) सुरसा
(घ) त्रिजटा
उत्तर. (ग) सुरसा

863. वह कौन राक्षस था जिसने माया से श्रीराम का कटा हुआ शीश दिखाकर सीताजी को विचलित करने का प्रयास किया था?
(क) विद्युज्जिह्व
(ख) निकुंभ
(ग) सुबाहु
(घ) प्रहस्त
उत्तर. (क) विद्युज्जिह्व

864. सीता स्वयंवर में जाते समय श्रीराम-लक्ष्मण के साथ कौन ऋषि थे?
(क) परशुराम
(ख) च्यवन
(ग) विश्वामित्र
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (ग) विश्वामित्र

865. 'रामरक्षास्तोत्र' की रचना किसने की थी?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) जाबालि
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) विश्वामित्र

866. तारकासुर एवं देवताओं के युद्ध में देवताओं का सेनापति कौन था?
(क) कार्त्तिकेय
(ख) जयंत
(ग) इंद्र
(घ) विष्णु
उत्तर. (क) कार्त्तिकेय

867. देवताओं का चिकित्सक कौन था?
(क) कुबेर
(ख) धन्वंतरि
(ग) सुश्रुत
(घ) अश्विनीकुमार
उत्तर. (घ) अश्विनीकुमार

868. पुष्पक विमान का निर्माण किसने किया था?
(क) कुबेर
(ख) मय
(ग) लक्ष्मण
(घ) विश्वकर्मा
उत्तर. (घ) विश्वकर्मा

869. रावण का शरीर किस वर्ण का था?
(क) नील
(ख) गौर
(ग) रक्त
(घ) कृष्ण
उत्तर. (घ) कृष्ण

870. श्रीराम के शरीर का वर्ण कैसा था?
(क) नील
(ख) रक्त
(ग) गौर
(घ) पीत

उत्तर. (क) नील

871. लक्ष्मण का शरीर किस वर्ण का था?
(क) पीत
(ख) नील
(ग) गौर
(घ) रक्त
उत्तर. (ग) गौर

872. भरत का शरीर किस वर्ण का था?
(क) रक्त
(ख) गौर
(ग) नील
(घ) पीत
उत्तर. (ग) नील

873. श्रीराम की आज्ञा से सीता को वन में छोड़ने कौन गया था?
(क) लक्ष्मण
(ख) शत्रुघ्न
(ग) हनुमान
(घ) भरत
उत्तर. (क) लक्ष्मण

874. देवताओं के गुरु कौन थे?
(क) ब्रह्मा
(ख) बृहस्पति
(ग) इंद्र
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (ख) बृहस्पति

875. राक्षसों का गुरु कौन था?
(क) विश्वामित्र
(ख) वसिष्ठ
(ग) शुक्राचार्य
(घ) परशुराम
उत्तर. (ग) शुक्राचार्य

876. रावण और मांधाता के बीच शांति स्थापित कराने में किस महर्षि ने मध्यस्थता की थी?
(क) जाबालि
(ख) परशुराम
(ग) गालव
(घ) वसिष्ठ
उत्तर. (ग) गालव

877. गाधि का जन्म किस यज्ञ के करने से हुआ था?
(क) राजसूय
(ख) वैष्णव

(ग) अश्वमेध
(घ) पुत्रेष्टि
उत्तर. (घ) पुत्रेष्टि

878. मेघनाद द्वारा प्रयुक्त नागपाश से बँध जाने पर श्रीराम-लक्ष्मण को किसने मुक्त कराया था?
(क) गरुड
(ख) हनुमान
(ग) अंगद
(घ) इंद्र
उत्तर. (क) गरुड

879. विष्णु ने वामन रूप में किसके गर्भ से जन्म लिया था?
(क) कद्रु
(ख) अदिति
(ग) विनता
(घ) शर्मिष्ठा
उत्तर. (ख) अदिति

880. राम आदि चारों भाइयों में द्वितीय कौन था?
(क) भरत
(ख) लक्ष्मण
(ग) शत्रुघ्न
(घ) कोई नहीं
उत्तर. (क) भरत

881. म्लेच्छों की उत्पत्ति कहाँ से हुई थी?
(क) ब्रह्मा के नेत्रों से
(ख) शिव की जटाओं से
(ग) विष्णु के अँगूठे से
(घ) कामधेनु के रोमकूपों से
उत्तर. (घ) कामधेनु के रोमकूपों से

882. हनुमानजी को प्रथम बार रावण के समक्ष कौन ले गया था?
(क) मेघनाद
(ख) विभीषण
(ग) अक्षकुमार
(घ) कुंभकर्ण
उत्तर. (क) मेघनाद

883. ऋक्षबिल (गुफा) में हनुमान-अंगद आदि की भेंट किससे हुई थी?
(क) सुरसा
(ख) लंकिनी
(ग) स्वयंप्रभा
(घ) अहल्या
उत्तर. (ग) स्वयंप्रभा

884. वनवास काल में शृंगवेरपुर के पास श्रीराम के चरण किसने धोए थे?

(क) शबरी
(ख) अहल्या
(ग) केवट
(घ) सती
उत्तर. (ग) केवट

885. गायत्री मंत्र में किस देवता की आराधना है?
(क) सूर्य
(ख) वरुण
(ग) अग्नि
(घ) यम
उत्तर. (क) सूर्य

886. पंचवटी में सीताजी की कुटिया के आगे लक्ष्मणरेखा किसने खींची थी?
(क) श्रीराम
(ख) भरत
(ग) हनुमान
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (घ) लक्ष्मण

887. वह कौन ऋषि थे, जिन्होंने 'मरा-मरा' का जाप कर तपस्या की थी?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) दुर्वासा
(ग) वाल्मीकि
(घ) भरद्वाज
उत्तर. (ग) वाल्मीकि

888. लोकपालों के हाथियों को क्या कहा जाता है?
(क) विरूपाक्ष
(ख) दिग्गज
(ग) कुवलयापीड
(घ) शत्रुंजय
उत्तर. (ख) दिग्गज

889. दशरथ ने किस राजा को अपनी पुत्री पोष्य पुत्रिका के रूप में दी थी?
(क) जनक
(ख) गय
(ग) रोमपाद
(घ) वसुदान
उत्तर. (ग) रोमपाद

890. जब श्रीराम ने स्वर्ण-मृग को बाण मारकर गिरा दिया था उस समय उसके मुख से विलाप के स्वर में क्या निकला था?
(क) हे राम!
(ख) हा लक्ष्मण!
(ग) हे भगवान्!
(घ) बचाओ!

उत्तर. (ख) हा लक्ष्मण!

891. भरत का वह कौन मंत्री था, जो श्रीराम के वनवास से वापस अयोध्या लौटने पर उनके स्वागतार्थ गया था?
(क) वसुद्धव
(ख) शतानंद
(ग) अर्थसाधक
(घ) सौजन्य
उत्तर. (ग) अर्थसाधक

892. महर्षि वाल्मीकि को रामकथा किसने सुनाई थी?
(क) विष्णु
(ख) नारद
(ग) ब्रह्मा
(घ) शिव
उत्तर. (ख) नारद

893. ‘रभस’ नामक यौद्धिक विधि श्रीराम ने किससे सीखी थी?
(क) अत्रि
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) वसिष्ठ
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (घ) विश्वामित्र

894. प्राजापत्य पुरुष द्वारा प्रदत्त चरु का कितना भाग दशरथ ने कौशल्या को दिया था?
(क) दो-तिहाई
(ख) आधा
(ग) एक-तिहाई
(घ) तीन-चौथाई
उत्तर. (ख) आधा

895. प्राजापत्य पुरुष द्वारा प्रदत्त चरु का कितना भाग दशरथ ने कैकेयी को दिया था?
(क) एक-तिहाई
(ख) चौथाई
(ग) आधा
(घ) आठवाँ
उत्तर. (ख) चौथाई

896. प्राजापत्य पुरुष द्वारा प्रदत्त चरु का कितना भाग सुमित्रा को मिला था?
(क) आधा
(ख) एक-तिहाई
(ग) आठवाँ
(घ) चौथाई
उत्तर. (घ) चौथाई

897. काकभुशुंडि पूर्वजन्म में क्या थे?
(क) ब्राह्मण
(ख) क्षत्रिय

(ग) वैश्य
(घ) शूद्र
उत्तर. (क) ब्राह्मण

898. श्रीराम के वनवास काल की कथा रामायण के किस कांड के अंतर्गत है?
(क) उत्तरकांड
(ख) अरण्यकांड
(ग) किष्किंधाकांड
(घ) बालकांड
उत्तर. (ख) अरण्यकांड

899. ताड़का (राक्षसी) राक्षसी होने से पूर्व क्या थी?
(क) गंधर्वी
(ख) यक्षिणी
(ग) दानवी
(घ) देवी
उत्तर. (ख) यक्षिणी

900. 'सनाभ' किस पर्वत का एक नाम है?
(क) महेंद्र
(ख) कैलास
(ग) मैनाक
(घ) किष्किंधा
उत्तर. (ग) मैनाक

901. किस ऋषि ने सीताजी की शुद्धता का दावा किया था?
(क) वाल्मीकि
(ख) विश्वामित्र
(ग) भरद्वाज
(घ) परशुराम
उत्तर. (क) वाल्मीकि

902. रावण-बंधुओं में सबसे छोटा कौन था?
(क) रावण
(ख) विभीषण
(ग) कुंभकर्ण
(घ) कोई नहीं
उत्तर. (ख) विभीषण

903. श्रीराम सहित सभी भाइयों में सबसे छोटा कौन था?
(क) राम
(ख) लक्ष्मण
(ग) शत्रुघ्न
(घ) भरत
उत्तर. (ग) शत्रुघ्न

904. श्रीराम के दरबार में किसने रामायण का गान किया था?

(क) लव-कुश
(ख) नारद
(ग) वाल्मीकि
(घ) जाबालि
उत्तर. (क) लव-कुश

905. राजा दशरथ की रानी कैकेयी किस वर्ण की थीं?
(क) क्षत्रिय
(ख) ब्राह्मण
(ग) वैश्य
(घ) शूद्र
उत्तर. (क) क्षत्रिय

906. रामायण का प्रमुख नायक कौन है?
(क) दशरथ
(ख) जनक
(ग) श्रीराम
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (ग) श्रीराम

907. पंचवटी में प्रवेश करते समय श्रीराम, लक्ष्मण व सीता के साथ और कौन था?
(क) हनुमान
(ख) जटायु
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ख) जटायु

908. कुबेर को पुष्पक विमान किसने दिया था?
(क) इंद्र
(ख) शिव
(ग) सूर्य
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (घ) ब्रह्मा

909. शूरसेन जनपद किसने बसाया था?
(क) शत्रुघ्न
(ख) भरत
(ग) श्रीराम
(घ) लक्ष्मण
उत्तर. (क) शत्रुघ्न

910. गंगा पार करने पर सीताजी केवट को उतराई के रूप में कौन सी वस्तु दे रही थीं जिसे केवट ने लेने से मना कर दिया था?
(क) मुद्रिका
(ख) वस्त्र
(ग) धन
(घ) स्वर्ण-मुद्रा

उत्तर. (क) मुद्रिका

911. ‘बरवै रामायण’ की रचना किसने की थी?
(क) वाल्मीकि
(ख) विश्वामित्र
(ग) वसिष्ठ
(घ) तुलसीदास
उत्तर. (घ) तुलसीदास

912. हहा और हूहू कौन थे?
(क) राक्षस
(ख) वानर
(ग) गंधर्व
(घ) यक्ष
उत्तर. (ग) गंधर्व

913. अनल, अनिल, हर और संपाति—ये किसके मंत्री थे?
(क) सुग्रीव
(ख) जनक
(ग) विभीषण
(घ) भरत
उत्तर. (ग) विभीषण

914. ‘सर्वतापन’ किसका नाम है?
(क) इंद्र
(ख) सूर्य
(ग) वायु
(घ) वरुण
उत्तर. (ख) सूर्य

915. हनुमानजी को समुद्र-लंघन के लिए किसने उत्साहित किया था?
(क) सुग्रीव
(ख) अंगद
(ग) नल
(घ) जांबवान्
उत्तर. (घ) जांबवान्

916. लंका पर आक्रमण हेतु समुद्र पर सेतु बाँधते समय वानरों द्वारा पत्थरों पर कौन सा शब्द अंकित किया गया था?
(क) राम
(ख) सीता
(ग) तारणहार
(घ) हे प्रभु
उत्तर. (क) राम

917. अशोक वाटिका में हनुमान ने किंकर नामक जिन राक्षसों को मारा था उन्हें किसने भेजा था?
(क) कुंभकर्ण

(ख) कुबेर
(ग) रावण
(घ) मेघनाद
उत्तर. (ग) रावण

918. लंगूर जाति के काले मुँहवाले वानरों का यूथपति कौन था?
(क) मैंद
(ख) गवाक्ष
(ग) कुमुद
(घ) सुषेण
उत्तर. (ख) गवाक्ष

919. वानरों की उत्पत्ति किनसे हुई थी?
(क) देवताओं और गंधर्वों
(ख) ब्रह्मा
(ग) इंद्र
(घ) सूर्य
उत्तर. (क) देवताओं और गंधर्वों

920. राजा दशरथ की पुत्री का विवाह किससे हुआ था?
(क) ऋष्यशृंग
(ख) वसिष्ठ
(ग) गय
(घ) रोमपाद
उत्तर. (क) ऋष्यशृंग

921. सीता-हरण के समय असली सीता के स्थान पर माया से नकली सीता की सृष्टि किसने की थी?
(क) इंद्र
(ख) ब्रह्मा
(ग) अग्नि
(घ) वरुण
उत्तर. (ग) अग्नि

922. शुक और सारण लंका में किस पद पर थे?
(क) सारथि
(ख) गुप्तचर प्रमुख
(ग) सेनापति
(घ) अमात्य
उत्तर. (घ) अमात्य

923. महोदर राक्षस रावण का क्या लगता था?
(क) भाई
(ख) चाचा
(ग) दादा
(घ) मामा
उत्तर. (क) भाई

924. जब सूर्य को पकड़ने के लिए हनुमान उछले थे उस समय कौन सा ग्रह सूर्य पर ग्रहण लगाना चाहता था?
(क) केतु
(ख) शनि
(ग) राहु
(घ) बुध
उत्तर. (ग) राहु

925. वह कौन ऋषि थे जिन्होंने रामायण की अधिकांश घटनाओं का पूर्व दर्शन कर लिया था?
(क) विश्वामित्र
(ख) वाल्मीकि
(ग) जमदग्नि
(घ) कश्यप
उत्तर. (ख) वाल्मीकि

926. विजयादशमी का पर्व किस मास की किस तिथि को मनाया जाता है?
(क) आश्विन शुक्ल दशमी
(ख) आश्विन कृष्ण दशमी
(ग) ज्येष्ठ शुक्ल दशमी
(घ) चैत्र शुक्ल दशमी
उत्तर. (क) आश्विन शुक्ल दशमी

927. श्रीराम ने सेतुबंध रामेश्वरम् की स्थापना किस मास की किस तिथि को की थी?
(क) वैशाख शुक्ल द्वादशी
(ख) ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी
(ग) आषाढ़ कृष्ण अष्टमी
(घ) ज्येष्ठ शुक्ल दशमी
उत्तर. (घ) ज्येष्ठ शुक्ल दशमी

928. शत्रुघ्न का जन्म किस नक्षत्र में हुआ था?
(क) आश्लेषा
(ख) रेवती
(ग) स्वाति
(घ) मृगशिरा
उत्तर. (क) आश्लेषा

929. 'काशीनाथ' किस देवता को कहा जाता है?
(क) ब्रह्मा
(ख) शिव
(ग) शनि
(घ) सूर्य
उत्तर. (ख) शिव

930. राजा दशरथ की मृत्यु का समाचार भरत को किसने दिया था?
(क) कौशल्या
(ख) सुमित्रा
(ग) कैकेयी
(घ) लक्ष्मण

उत्तर. (ग) कैकेयी

931. राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात्—किसी भी राजकुमार के उपस्थित न रहने के कारण—उनके शव को किस तरल पदार्थ में डुबोकर रखा गया था?
(क) तेल
(ख) घी
(ग) गंगाजल
(घ) गोदुग्ध
उत्तर. (क) तेल

932. विश्वामित्र को 'महर्षि' की उपाधि से किस देवता ने विभूषित किया था?
(क) इंद्र
(ख) विष्णु
(ग) ब्रह्मा
(घ) नारद
उत्तर. (ग) ब्रह्मा

933. लवणासुर का वध करने के लिए श्रीराम ने किसे भेजा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) भरत
(ग) हनुमान
(घ) शत्रुघ्न
उत्तर. (घ) शत्रुघ्न

934. शुक्राचार्य का समस्त शिल्प-वैभव प्राप्त करने के लिए मयासुर ने किसकी तपस्या की थी?
(क) ब्रह्मा
(ख) शिव
(ग) इंद्र
(घ) विष्णु
उत्तर. (क) ब्रह्मा

935. रावण के किस अंग में अमृत था?
(क) नाभि
(ख) आँख
(ग) कान
(घ) नाक
उत्तर. (क) नाभि

936. ऋक्षराज (ऋक्षराट्) वानर का जन्म ब्रह्मा के किस अंग से हुआ था?
(क) मुँह
(ख) हाथ
(ग) आँख
(घ) कान
उत्तर. (ग) आँख

937. किसने वामन-रूप धारण कर राजा बलि से तीन पग भूमि दान में माँगी थी?
(क) इंद्र

(ख) विष्णु
(ग) शिव
(घ) ब्रह्मा
उत्तर. (ख) विष्णु

938. श्रीराम से सुग्रीव का परिचय किसने कराया था?
(क) हनुमान
(ख) नल
(ग) नील
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) हनुमान

939. बर्बर जाति के लोग महर्षि वसिष्ठ की गाय के किस अंग से उत्पन्न हुए थे?
(क) मुँह
(ख) पेट
(ग) थन
(घ) कान
उत्तर. (ग) थन

940. श्रीराम को ब्रह्मा का यह संदेश किसने सुनाया था कि उनकी (राम की) जीवन-अवधि अब समाप्त हो चुकी है, अतः स्वर्गलोक चले आएँ?
(क) इंद्र
(ख) वायु
(ग) सूर्य
(घ) काल
उत्तर. (घ) काल

941. सुतीक्ष्ण मुनि किसके शिष्य थे?
(क) धौम्य
(ख) याज्ञवल्क्य
(ग) अगस्त्य
(घ) जमदग्नि
उत्तर. (ग) अगस्त्य

942. किस ऋषि ने श्रीराम को स्व-अर्जित ब्रह्मलोक एवं स्वर्गलोक देने चाहे थे, जिसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया था?
(क) जमदग्नि
(ख) शरभंग
(ग) धौम्य
(घ) ऋचीक
उत्तर. (ख) शरभंग

943. लंका के राजा पद पर विभीषण का राज्याभिषेक किसने किया था?
(क) श्रीराम
(ख) सुग्रीव
(ग) माल्यवान्
(घ) लक्ष्मण

उत्तर. (घ) लक्ष्मण

944. जटायु (गृद्ध) का दाह-संस्कार किसने किया था?
(क) संपाति
(ख) श्रीराम
(ग) लक्ष्मण
(घ) हनुमान
उत्तर. (ख) श्रीराम

945. वनवास काल में सीताजी को दिव्य हार, वस्त्राभूषण और अंगराग किसने प्रदान किए थे?
(क) अरुंधती
(ख) शूर्पणखा
(ग) अनसूया
(घ) अंजनी
उत्तर. (ग) अनसूया

946. सीता स्वयंवर में जिस धनुष का प्रयोग किया गया था, वह राजा जनक को किसने दिया था?
(क) ब्रह्मा
(ख) वरुण
(ग) शिव
(घ) इंद्र
उत्तर. (ख) वरुण

947. दंडक वन में श्रीराम, सीता व लक्ष्मण पर किस राक्षस ने आक्रमण किया था?
(क) विराध
(ख) प्रहस्त
(ग) प्रघस
(घ) कबंध
उत्तर. (क) विराध

948. ऋषियों के उस समुदाय को क्या कहते हैं, जो कहा जाता है कि ब्रह्मा के नख से उत्पन्न हुआ है?
(क) वालखिल्य
(ख) सलिलाहार
(ग) उन्मज्जक
(घ) वैखानस
उत्तर. (घ) वैखानस

949. महर्षियों के उस समुदाय को क्या कहते हैं, जो कहा जाता है कि ब्रह्माजी के रोम से प्रकट हुआ है?
(क) सजप
(ख) वालखिल्य
(ग) वायुभक्ष
(घ) पंचाग्निसेवी
उत्तर. (ख) वालखिल्य

950. मुनियों के उस समुदाय को क्या कहा जाता है, जो पत्तों का आहार करता है?
(क) वैखानस
(ख) उन्मज्जक

(ग) पत्राहार
(घ) सलिलाहार
उत्तर. (ग) पत्राहार

951. कंठ तक पानी में डूबकर तपस्या करनेवाले ऋषियों को क्या कहा जाता है?
(क) वैखानस
(ख) वालखिल्य
(ग) उन्मज्जक
(घ) वायुभक्ष
उत्तर. (ग) उन्मज्जक

952. ऋषियों के उस समुदाय को क्या कहा जाता है, जो केवल जल पीकर ही रहता है?
(क) सलिलाहार
(ख) सजप
(ग) पंचाग्निसेवी
(घ) उन्मज्जक
उत्तर. (क) सलिलाहार

953. वायु पीकर जीवन-निर्वाह करनेवाले ऋषियों के समुदाय को क्या कहा जाता है?
(क) सुपार्श्व
(ख) वैखानस
(ग) सजप
(घ) वायुभक्ष
उत्तर. (घ) वायुभक्ष

954. निरंतर जप करनेवाले ऋषियों के समुदाय को क्या कहा जाता है?
(क) वालखिल्य
(ख) उन्मज्जक
(ग) सजप
(घ) सुपार्श्व
उत्तर. (ग) सजप

955. गरमी के मौसम में ऊपर से सूर्य का तथा चारों ओर से अग्नि का ताप सहन करनेवाले ऋषियों के समुदाय को क्या कहा जाता है?
(क) उन्मज्जक
(ख) पंचाग्निसेवी
(ग) वायुभक्ष
(घ) वैखानस
उत्तर. (ख) पंचाग्निसेवी

956. संपाति को सीता-हरण की जानकारी किसने दी थी?
(क) सुपार्श्व
(ख) जटायु
(ग) अंगद
(घ) हनुमान
उत्तर. (क) सुपार्श्व

957. राजा दशरथ के दाह-संस्कार के समय उनके परिवार की कौन स्त्रा् उपस्थित नहीं थी?
(क) कौशल्या
(ख) सीता
(ग) कैकेयी
(घ) सुमित्रा
उत्तर. (ख) सीता

958. जब लक्ष्मण किष्किंधापुरी जाकर सुग्रीव पर क्रोधित हो रहे थे, उस समय सुग्रीव ने उन्हें शांत करने के लिए किसे भेजा था?
(क) रूमा
(ख) नील
(ग) तारा
(घ) जांबवान्
उत्तर. (ग) तारा

959. राजा निमि किसके पूर्वज हैं?
(क) दशरथ
(ख) जनक
(ग) रावण
(घ) युधाजित्
उत्तर. (ख) जनक

960. नाभाग किसके पूर्वज हैं?
(क) रावण
(ख) युधाजित्
(ग) दशरथ
(घ) जनक
उत्तर. (ग) दशरथ

961. दशरथ की कौन सी रानी रुष्ट होकर कोपभवन में चली गई थी?
(क) कौशल्या
(ख) सुमित्रा
(ग) कैकेयी
(घ) कोई नहीं
उत्तर. (ग) कैकेयी

962. श्रीराम, सीता व लक्ष्मण के वन-गमन के पश्चात् उनका संदेश दशरथ को किसने सुनाया था?
(क) निषादराज गुह
(ख) भरत
(ग) जनक
(घ) सुमंत्र
उत्तर. (घ) सुमंत्र

963. लंका पहुँचने पर हनुमानजी ने रावण को सर्वप्रथम किस स्थिति में देखा था?
(क) नृत्य करते हुए
(ख) सोते हुए
(ग) गाते हुए

(घ) घूमते हुए
उत्तर. (ख) सोते हुए

964. हनुमानजी ने लंका पहुँचकर सीताजी को कैसे पहचाना था?
(क) मुखाकृति से
(ख) केशों से
(ग) आभूषणों से
(घ) पादुका से
उत्तर. (ग) आभूषणों से

965. मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये कौन हैं?
(क) मरुत्
(ख) प्रजापति
(ग) आदित्य
(घ) देवता
उत्तर. (ख) प्रजापति

966. चित्रकूट पहुँचकर श्रीराम आदि ने किस ऋषि के दर्शन किए थे?
(क) वाल्मीकि
(ख) भरद्वाज
(ग) अगस्त्य
(घ) अत्रि
उत्तर. (क) वाल्मीकि

967. वनवास के लिए जाते समय लक्ष्मण को किसने उपदेश दिया था?
(क) दशरथ
(ख) कौशल्या
(ग) सुमंत्र
(घ) सुमित्रा
उत्तर. (घ) सुमित्रा

968. राजा दशरथ का वह कौन मंत्री था जो अर्थशास्त्र का ज्ञाता था?
(क) जयंत
(ख) विजय
(ग) सुमंत्र
(घ) अकोप
उत्तर. (ग) सुमंत्र

969. वसिष्ठ के अतिरिक्त अन्य कौन ऋषि थे, जो राजा दशरथ के ऋत्विज् (पुरोहित) थे?
(क) गौतम
(ख) वामदेव
(ग) मार्कंडेय
(घ) जाबालि
उत्तर. (ख) वामदेव

970. राजा दशरथ की मुख्य पटरानी कौन थीं?
(क) कैकेयी

(ख) सुमित्रा
(ग) कौशल्या
(घ) तीनों
उत्तर. (ग) कौशल्या

971. राक्षसों के निर्दलन के लिए शिवजी की सलाह से देवतागण किसके पास गए थे?
(क) ब्रह्मा
(ख) इंद्र
(ग) सूर्य
(घ) विष्णु
उत्तर. (घ) विष्णु

972. मूर्च्छित लक्ष्मण के लिए विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी, संजीवकरणी और संधानी नामक महौषधियाँ कौन लाया था?
(क) हनुमान
(ख) अंगद
(ग) सुग्रीव
(घ) जांबवान्
उत्तर. (क) हनुमान

973. लकड़ी के उन पुलों को क्या कहा जाता था, जिन्हें जब आवश्यकता होती (शत्रु के आक्रमण के समय) तब यंत्रों की सहायता से गिरा दिया जाता था?
(क) काष्ठसेतु
(ख) काष्ठबंध
(ग) संक्रम
(घ) सेतुबंध
उत्तर. (ग) संक्रम

974. तक्षक नाग के शरीर का रंग कैसा था?
(क) धूम्र वर्ण
(ख) नील वर्ण
(ग) पीत वर्ण
(घ) रक्त वर्ण
उत्तर. (घ) रक्त वर्ण

975. वानरों का हाथियों से किस कारण वैर था?
(क) हाथी का रूप धारण करके आए शंबसादन राक्षस को वानरराज केसरी द्वारा मार डालने के कारण
(ख) वानरों द्वारा हाथियों के जंगल को आग लगा देने के कारण
(ग) इंद्र के हाथी ऐरावत द्वारा वानरों को मारने के कारण
(घ) वानरराज सुग्रीव द्वारा ऐरावत को पराजित कर देने के कारण
उत्तर. (क) हाथी का रूप धारण करके आए शंबसादन राक्षस को वानरराज केसरी द्वारा मार डालने के कारण

976. दूषण किसका सेनापति था?
(क) रावण
(ख) सहस्रार्जुन
(ग) खर
(घ) बालि

उत्तर. (ग) खर

977. वनवास से अयोध्या वापस आते हुए श्रीराम ने किसे अपना दूत बनाकर भरत के पास भेजा था?
(क) लक्ष्मण
(ख) जांबवान्
(ग) विभीषण
(घ) हनुमान
उत्तर. (घ) हनुमान

978. संपाति को जटायु की हत्या का समाचार किसने सुनाया था?
(क) जांबवान्
(ख) सुषेण
(ग) अंगद
(घ) द्विविद
उत्तर. (ग) अंगद

979. राजा जनक की ओर से श्रीराम के विवाह का निमंत्रण लेकर राजा दशरथ के पास कौन गया था?
(क) वसिष्ठ
(ख) शतानंद
(ग) परशुराम
(घ) विश्वामित्र
उत्तर. (ख) शतानंद

980. लंका पर आक्रमण के हेतु सेतुबंध बाँधने के अवसर पर शिवलिंग की स्थापना किसने की थी?
(क) श्रीराम
(ख) विभीषण
(ग) जनक
(घ) हनुमान
उत्तर. (क) श्रीराम

981. रावण के साथ युद्ध में विजय-प्राप्ति के लिए श्रीराम को 'आदित्यहृदय' का पाठ करने को किस ऋषि ने कहा था?
(क) याज्ञवल्क्य
(ख) अगस्त्य
(ग) वाल्मीकि
(घ) अत्रि
उत्तर. (ख) अगस्त्य

982. चार शालाओं से युक्त गृह को, जिसकी प्रत्येक दिशा में एक-एक करके चार द्वार हों, उसे क्या कहते हैं?
(क) नंद्यावर्त
(ख) वर्धमान्
(ग) सर्वतोभद्र
(घ) स्वस्तिक
उत्तर. (ग) सर्वतोभद्र

983. जिस गृह में तीन ही द्वार हों, पश्चिम दिशा की ओर द्वार न हो, उसे क्या कहा जाता है?
(क) स्वस्तिक

(ख) नंद्यावर्त
(ग) वर्धमान्
(घ) सर्वतोभद्र
उत्तर. (ख) नंद्यावर्त

984. जिस गृह में दक्षिण के सिवाय अन्य तीन दिशाओं में द्वार हों, उसे क्या कहते हैं?
(क) वर्धमान्
(ख) स्वस्तिक
(ग) नंद्यावर्त
(घ) सर्वतोभद्र
उत्तर. (क) वर्धमान्

985. जिस गृह में केवल पूर्व दिशा की ओर द्वार हो, अन्य तीन दिशाओं में न हो, उसे क्या कहा जाता है?
(क) सर्वतोभद्र
(ख) वर्धमान्
(ग) नंद्यावर्त
(घ) स्वस्तिक
उत्तर. (घ) स्वस्तिक

986. साँप के फनों में दिखाई देनेवाली नील रेखा को क्या कहते हैं?
(क) स्वस्तिक
(ख) शिरो रेखा
(ग) नील रेखा
(घ) फण रेखा
उत्तर. (क) स्वस्तिक

987. वह चौकी, जिसपर पासा बिछाया या खेला जाय, क्या कहलाती है?
(क) द्यूत चौकी
(ख) द्यूत पट्ट
(ग) द्यूत फलक
(घ) द्यूत आसन
उत्तर. (ग) द्यूत फलक

988. रौद्र, सार्प, मैत्र, पैत्र, वासव, आप्य, वैश्व, ब्राह्म, प्राज, ईश, ऐंद्र, ऐंद्राग्न, नैऋत, वारुणार्यमण, भगी—ये क्या हैं?
(क) प्रजापति
(ख) महर्षि
(ग) मरुत्
(घ) मुहूर्त
उत्तर. (घ) मुहूर्त

989. अंतःपुर के अध्यक्ष को क्या कहा जाता था?
(क) अंतर्वेशिक
(ख) अंतराध्यक्ष
(ग) अंतःपाल
(घ) अंतःरक्षक
उत्तर. (क) अंतर्वेशिक

990. पहरेदारों को काम बतानेवाले अधिकारी को क्या कहा जाता था?
(क) प्रहरी प्रमुख
(ख) प्रदेष्टा
(ग) प्रहरी नायक
(घ) द्वार अध्यक्ष
उत्तर. (ख) प्रदेष्टा

991. आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, परिवह और परावह—ये कौन हैं?
(क) प्रजापति
(ख) गंधर्व
(ग) मरुत्
(घ) यक्ष
उत्तर. (ग) मरुत्

992. चतुरंगिणी सेना किसे कहा जाता था?
(क) जिसके रथों में चार घोड़े जुते हों
(ख) जिसका ध्वज चार रंगों का हो
(ग) जो चार अंगों—हाथी, घोड़े, रथ व पैदल—वाली हो
(घ) जो चारों दिशाओं में विजय प्राप्त कर चुकी हो
उत्तर. (ग) जो चार अंगों—हाथी, घोड़े, रथ व पैदल—वाली हो

993. बत्तीस सेर की माप को क्या कहा जाता था?
(क) वितान
(ख) व्याम
(ग) द्रोण
(घ) वायुत्
उत्तर. (ग) द्रोण

994. दोनों भुजाओं को दोनों ओर फैलाने पर एक हाथ की उँगलियों के सिरे से दूसरे हाथ की उँगलियों के सिरे तक जितनी दूरी होती है, उसे क्या कहते हैं?
(क) व्याम
(ख) वायुत्
(ग) वितान
(घ) द्रोण
उत्तर. (क) व्याम

995. प्राण-त्याग के लिए किए जानेवाले अनशन को क्या कहते हैं?
(क) निर्जल अनशन
(ख) आमरण अनशन
(ग) प्राणोत्सर्ग कर्म
(घ) प्रायोपवेशन
उत्तर. (घ) प्रायोपवेशन

996. महिरावण (अद्‌भुत रामायण के अनुसार) रावण का कौन लगता था?
(क) पुत्र
(ख) भाई
(ग) पिता

(घ) मामा
उत्तर. (क) पुत्र

997. श्रीराम के अश्वमेध यज्ञ में सीताजी के स्थान पर उनकी जिस प्रतिमा को श्रीराम की पत्नी-रूप में बैठाया गया था, वह किस धातु की थी?
(क) स्वर्ण
(ख) लौह
(ग) ताम्र
(घ) कांस्य
उत्तर. (क) स्वर्ण

998. गंधर्वराज शैलूष विभीषण का क्या लगता था?
(क) मामा
(ख) पिता
(ग) श्वसुर
(घ) साला
उत्तर. (ग) श्वसुर

999. भरत-शत्रुघ्न के श्वसुर कौन थे?
(क) सीरध्वज
(ख) शतध्वज
(ग) मकरध्वज
(घ) कुशध्वज
उत्तर. (घ) कुशध्वज

1000. मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मंत्रमुक्त—ये चारों भेद किस वेद के हैं?
(क) सामवेद
(ख) धनुर्वेद
(ग) आयुर्वेद
(घ) ऋग्वेद
उत्तर. (ख) धनुर्वेद

❑

परिशिष्ट-1

श्रीराम की कुल-परंपरा का क्रमशः परिचय*

17. ध्रुवसंधि
(प्रसेनजित्)
18. भरत
19. असित
20. सगर
21. असमंज
22. अंशुमान
23. दिलीप
24. भगीरथ
25. ककुत्स्थ
26. रघु
27. प्रवृद्ध (कल्माषपाद)
28. शंखण
29. सुदर्शन
30. अग्निवर्ण
31. शीघ्रग
32. मरु
33. प्रशुश्रु्रक

34. अंबरीष

35. नहुष

36. ययाति

37. नाभाग

38. अज

39. दशरथ

40. श्रीराम

❑

* वाल्मीकि रामायण पर आधारित।

परिशिष्ट-2

राजा जनक की कुल-परंपरा का क्रमशः परिचय*

* वाल्मीकि रामायण पर आधारित।

❑

परिशिष्ट-3

लंका-नरेश रावण का वंश-वृक्ष

❑❑❑
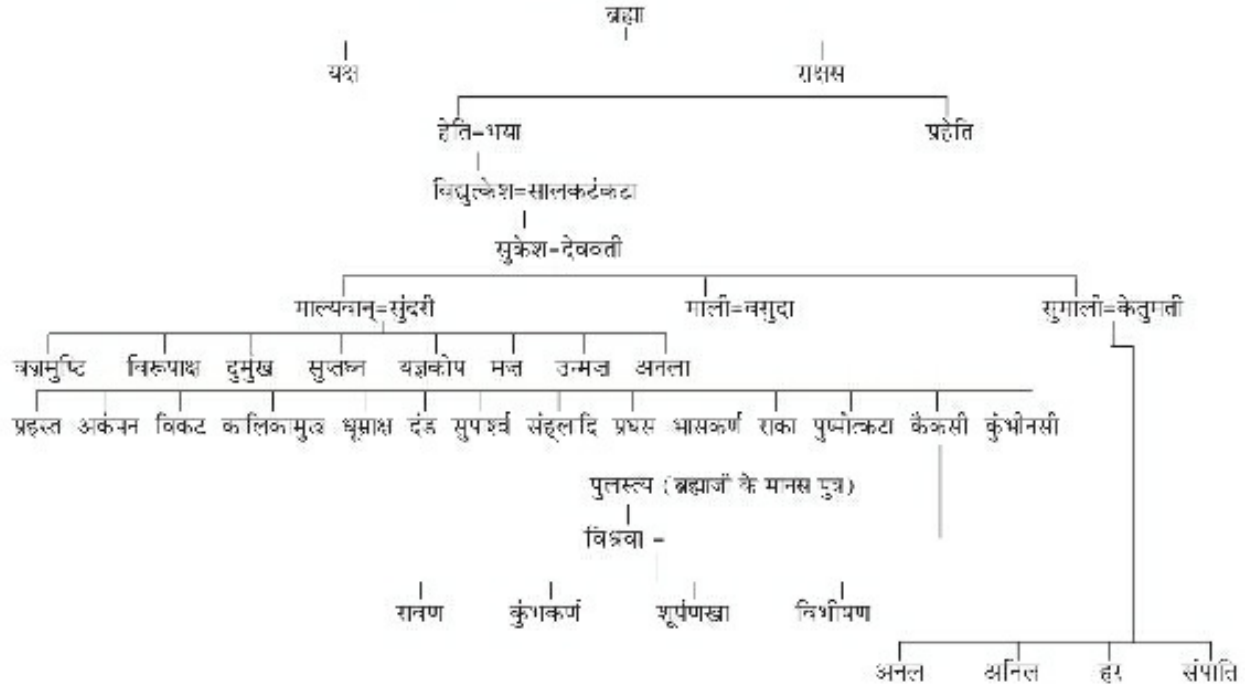
श्रीगणेशदत्तगुरुभ्यो नमः

प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वती (टेंबे)
स्वामी महाराजविरचितं

योगरहस्यम्।

प.पू.योगिराज वामन दत्तात्रेय गुळवणीमहाराजप्रणीत

विवरणासहित

श्रीसद्गुरु प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज कवीश्वर समग्र लेखन समिति
श्रीवासुदेव निवास, पुणे - ४.

श्रीगणेशदत्तगुरुभ्यो नमः।

प्रस्तावना

स्मृतोऽप्यवति यो विघ्नं निघ्नमम्बासुतः स्तुतः।
गंधर्वस्थः स हि कलौ मलौघघ्नोऽस्तु मे हृदि।।
नमस्ते शारदे देवि वीणावादनतत्परे।
सरस्वती जगन्माता सा मे बुद्धिं प्रचोदयात्।।
वासुदेव यतिं वन्दे वामनं मम सद्गुरुम्।
कवीश्वरं दत्ताख्यं याचे मतिप्रकाशनम्।।
वाङ्मयं वासुदेवस्य गहनं सागरादपि।
चिंतनाय प्रवृत्तोऽस्मि मन्दोऽप्यन्तरशुद्धये।।

श्रीवासुदेवनिवास आश्रमाच्या निर्मितीच्या उपलक्षाने एका स्मारिकेच्या स्वरूपांत योग-भक्ति-दर्शन या नांवाचा एक ग्रंथ शके १८८७ च्या गुढीपाडव्याला (दि.२३-३-१९६६) प्रकाशित झाला. त्या ग्रंथांत संप्रदायांतील साधकांना अत्यंत उपयुक्त असे मौलिक आध्यात्मिक वाङ्मय प्रसिद्ध झाले. त्यांत प.पू.योगिराज श्रीगुळवणीमहाराजांचे योगरहस्यावरील विवरणही प्रकाशित झाले होते. प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वतींच्या एका अधिकारी शिष्याचे हे विवरण संप्रदायांतील आणि संप्रदायाच्या बाहेरीलही सर्व साधकांना आणि जिज्ञासूंना अत्यंत उपकारक ठरेल यांत शंका नाही. प.प.श्री थोरल्या महाराजांच्या ह्या छोट्याशा प्रकरणांत प्रतिपादलेला हठयोगाचा अभ्यास श्रीगुरुमहाराजांनी उत्तम प्रकारे केलेला होता हे सुप्रसिद्धच आहे. अनेक साधकांना त्यांनी हठयोगाचे उत्कृष्ट फलपर्यवसायी असे मार्गदर्शनही केलेले आहे. ह्याशिवाय श्रीगुरुमहाराजांना प.प.श्रीलोकनाथतीर्थ स्वामी महाराजांकडून कुंडलिनीशक्तिपातविद्येचे दीक्षागुरुत्वही लाभले होते. योगरहस्याच्या विवरणाला जोडून श्रीगुरुमहाराजांनी ह्या कुंडलिनी

योगाचेही निरूपण केले आहे. तसेच ह्या दोनही संप्रदायांचे शास्त्रप्रामाण्य आणि एकसूत्रता स्पष्ट केली आहे.

ह्या ग्रंथाचे कर्ते श्रीगुरुमहाराजच असले तरी ह्याचे प्रत्यक्ष लेखन प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज कवीश्वर यांच्याकडून झाले आहे असे समजल्यावरून आम्ही प.पू.श्रीदत्तमहाराजांनी विचारले, योगरहस्य ह्या ग्रंथाचे विवरण आपण लिहिले आहे हे खरे आहे का ? त्यावर त्यांनी आपल्या परोक्ष पद्धतीने, ''लिहिले म्हणजे केले असे होत नाही'',असे उत्तर दिले. एकूण ग्रंथाची लेखनशैलीवरही श्रीदत्तमहाराजांची छाप स्पष्ट जाणवते. त्यावरून ह्या विवरणाच्या लेखनकार्यांत त्यांचा सिंहाचा वाटा होता असे समजायला हरकत नाही.. त्याचे गमक म्हणून आम्ही ह्या ग्रंथाच्या शीर्षकांत त्यांचे लेखक म्हणून नांव समाविष्ट केले आहे. श्रीगुरुमहाराजांचे श्रीदत्तमहाराजांवरील पुत्रवत् वात्सल्य ध्यानांत घेतां हे त्यांना आवडेलच असा विश्वास वाटतो.

योग ह्या शब्दाची अवस्था अतिपरिचयादवज्ञा अशी सध्यां झालेली आहे. योग शब्दाचा 'योगा' शरीराच्या कसरतींनाच योग म्हटले जाते. गल्लोगल्ली अशा योगाचे शिक्षक आढळतात. आठ अंगे असलेला हा योग सर्वत्र आसन या अंगापुरताच सीमित झालेला दिसतो. अशा परिस्थितीत खऱ्या योगाचे जिज्ञासूही थोडेच असणार आणि मार्गदर्शक तर त्याहूनही कमी. परदेशाची वारी केल्याशिवाय योग्याची गुणवत्ता ठरत नाही. अशा स्थितीत योगाविषयीं विपरीत कल्पनांचा खूपच प्रादुर्भाव झाला आहे. त्यामुळे खरा योग काय आहे? त्याचे स्वरूप आणि उपयुक्तता काय आहे? योगाचा अभ्यास कुणी करावो? कसा करावो? योगाभ्यासी पुरुष कसा ओळखावा? ह्या सर्व प्रश्नांची समाधानकारक उत्तरे सहजासहजी मिळत नाहीत. ह्या छोटेखानी पुस्तकांतून योगाची अशी ओळख जिज्ञासूंना होऊं शकते ही किमान उपलब्धीही दुर्लक्षणीय नाही. योगाची व्याख्या, त्याची सर्व अंगे, त्याचा इतर आध्यात्मिक शास्त्रांशी असलेला संबंध इत्यादि गोष्टी श्रीस्वामीमहाराजांसारख्या महान योग्याच्या ह्या ग्रंथांत आधिकारिक

(Authentic) वाणीने मांडल्या आहेत. त्यावरील विवेचन त्यांचेच महनीय शिष्यप्रवर प.पू.योगिराज गुळवणीमहाराजांनी केले आहे.

आधुनिक आयुर्विज्ञानाला फक्त स्थूल मानवी देहाचीच माहिती आहे. कारण ते ऐंद्रिय संनिकर्षांवरच पूर्णतया अवलंबून आहे. आधुनिक उकरणांनी इंद्रियांच्या शक्तीत परिमाणात्मक (quantitative) वाढ करतां येते. परंतु इंद्रियांच्या गुणात्मक क्षमता (qualitative faculties) बदलत नाहीत. विज्ञानापासून झालेल्या बोधावर मानवी संवेदनांच्या विचारशक्तीच्या मर्यादा असतात. अतींद्रिय विषयांच्या बाबतीत आधुनिक विज्ञान मुग्धच असते. योगशास्त्रांत मानवाच्या स्थूल अन्नमय देहाशिवाय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आणि आनंदमय कोशांचा विचार आहे. ह्या सर्व कोशांत झांकलेले आपले स्वरूप (आत्मस्वरूप) जाणणे हेच योगाचे अतिम लक्ष्य आहे. ह्यालाच आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष, निर्वाण इत्यादि संज्ञा आहेत. ह्या सर्वांचा विचार करून प्रयोगाने सिद्ध होणारे हो योगशास्त्र भारतांतील महर्षींच्या शतकानुशतकांच्या संशोधनाचा परिपाक आहे. ह्या प्राचीन, प्रत्यक्षावगम्य शास्त्राचे ह्या पुस्तकांत संक्षिप्त तरीही निःसंदिग्ध आणि निश्चयात्मक प्रतिपादन आहे.

भक्तियोग, कर्मयोग आणि ज्ञानयोग हे तीन भिन्न नसून एकाच अष्टांगयोगाचे टप्पे आहेत. क्रमाक्रमाने या तीनही योगांचा अभ्यास केल्यानेच मनुष्याच्या जीवनाचे सार्थक जो मोक्ष तो प्राप्त होतो. एकाच मार्गाचा आग्रह धरला तर ध्येयप्राप्ती होणार नाही हे या ग्रंथांत सप्रमाण आणि सयुक्तिक दाखविले आहेत. त्यानंतर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आणि समाधि यां योगांगांचे क्रमाने निरूपण आहे.

यांतील आसन आणि प्राणायाम यांना हठयोग अशी संज्ञा आहे. हठयोगाला हटयोग संबोधून तो कांही तरी हट्टाने करण्याचा अभ्यास आहे अशी एक विपरीत समजूत आहे. 'ह' आणि ''ठ हे प्राण आणि अपान यांचे पर्यायी शब्द आहेत. त्यांचा योग म्हणजे प्राणमय कोशावर नियंत्रणाचा अभ्यास.

हा योगाभ्यासांतला एक आवश्यक टप्पा आहे. प्राणाचा लय झाल्याशिवाय चित्ताच्या वृत्ती थांबू शकत नाहीत. त्यासाठी मानवाच्या अंतरांतले चैतन्य जागवणे नितांत आवश्यक आहे. त्यालाच कुंडलिनीची जाग्रति किंवा शक्तिचालन असे नांव आहे. प्राणायामाचे हे एक प्रमुख उद्दिष्ट आहे. त्याचे वर्णन इथे केले आहे. अर्थातच हा अभ्यास योग्य मार्गदर्शकाच्या देखरेखीनेच करायचा आहे.

प्राणाच्या जयानंतर मनाचे नियंत्रण करायचे आहे. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान या मनाच्या नियंत्रणाच्या पायऱ्या आहेत. समाधि म्हणजे चित्तवृत्तिनिरोध हे योगाचे परमसाध्य आहे. ह्या सर्वांचा सूत्ररूपाने निर्देश करून शेंवटी यमनियमांचा उल्लेख तेवढा केला आहे.

आध्यात्मिक साधक, जिज्ञासू, अभ्यासक यांना तर हा ग्रंथ फारच उपकारक आहे. बऱ्याच साधकांची आणि भक्तांची अशी समजून असते की योग हा आपला विषय नाही. तो कष्टाचा आणि धोक्याचा मार्ग आहे. इत्यादि. त्या लोकांनी श्रीज्ञानेश्वर महाराजांचे 'एऱ्हवी सोपे योगासारिखे। कांही आहे?' हे वचन लक्षांत घ्यावे अशी विनंति आहे. योगाचे कांही प्रकार, कांही क्रिया, आसने, बंध इत्यादि अधिकारी गुरूच्या मार्गदर्शनाखालीच कराव्यात. अन्यथा त्यांत धोका असतो हे खरे आहे. पण योगाचे अनेक प्रकार कुणालाही करतां येण्यासारखे आहेत. विशेषतः कुंडलिनी शक्तिपात योग हा अगदीच सुरक्षित आहे. सर्व जातींच्या, सर्व धर्मांच्या, सर्व वयांतील स्त्रीपुरुषांना हा अभ्यास सहज करतां येतो. हठयोगाच्या कठिण वाटणाऱ्या क्रिया, बंध, प्राणायाम हे सर्व साधकाच्या अंतरांतील जागृत झालेली चिच्छक्ति विनासायास करवून घेते. क्रमशः साधकाच्या अवस्थेनुसार त्या त्या वेळी त्या क्रिया होतात व साधकाची आध्यात्मिक उन्नति होत राहते. साधनेचे अंतिम साध्य जो आत्मसाक्षात्कार तो होईपर्यंत ही चैतन्यमयी शक्ति सतत कार्यशील राहते. त्यामुळेच हा मार्ग सुरक्षित आणि खात्रीचा आहे. हे प्रतिपादनही ह्या ग्रंथाच्या उपसंहारांत वाचतां येईल.

ह्या ग्रंथाचे पुनर्मुद्रण करतांना त्याची मांडणी वाचकांना सोयीची होईल

अशी केली आहे. मूळ ग्रंथांत बहुतेक ठिकाणी संस्कृत उद्धरणांचा भावार्थ दिलेला असला तरी अनेक जागीं तो नव्हता. तिथे तळटीपांतून मराठी भावार्थ दिला आहे. अशा प्रकारे हा ग्रंथाची वाचकांना उपयुक्तता वाढविण्याचा आमचा प्रयत्न आहे. गुरुभक्त श्री.प्रमोद पोटभरे यांनी ह्या छपाईंत घेतलेले परिश्रम उल्लेखनीय आहेत.

हा ग्रंथ सिद्ध करण्यात पुढाकार घेतलेल्या `प.पू.ब्रह्मश्री दत्तमहाराज समग्र चरित्र समितीने ही संपादनसेवा करण्याची संधि मला दिली ह्याबद्दल मी कृतज्ञ आहे. प.पू.योगतपस्वी श्रीनारायणकाका ढकणे महाराज यांच्या आत्मीय मार्गदर्शनाचा, त्यांच्या उत्तेजनाचा व श्रीवासुदेवनिवास आश्रमाच्या माध्यमांतून केलेल्या सक्रिय सहकार्यावांचून हा ग्रंथ प्रकाशांत येणे अशक्यच होते. हे त्यांचेच कार्य त्यांनी आमच्याकडून करून घेतले अशीच आमची भावना आहे.

शेवटी हा योगमार्गाचे रहस्य उलगडून दाखविणारा ग्रंथ जिज्ञासूंना उद्बोधक, साधकांना मार्गदर्शक आणि ज्ञानीजनांना आनंदवर्धक होवो अशी प्रार्थना दत्तनामक गणेश आणि वामननामक दत्ताच्या चरणीं करून ही सेवा त्यांच्याच चरणी समर्पित करतो.

पुणे दि.

श्रीदत्तचरणगजाभिलाषी

वासुदेव व्यंकटेश देशमुख

श्रेष्ठ पुंजन्मसाफल्यं कार्यं योगत्रयाश्रयात् ।
समाख्यातद्विसाहस्री संहितासंग्रहस्त्वयम् ।।१।।

अर्थः - श्रेष्ठ अशा पुरुषजन्माचे साफल्य ज्ञान, कर्म व भक्ती या तीन योगांच्या आश्रयाने करावे. हाच एकंदर मागे सांगितलेल्या द्विसाहस्रीसंहितेचा सारभूत अर्थ आहे.

विवरणः - श्रीमहाराजांच्या संस्कृत, प्राकृत अनेक ग्रंथांमध्ये द्विसाहस्री श्रीगुरुचरित्र हा ग्रंथ फार महत्त्वाचा आहे. हा ग्रंथ श्रीमहाराजांनी पूर्वाश्रमांतच तयार केला असून याची टीका मात्र मागाहून संन्यासाश्रम स्वीकारल्यानंतर द्वारकेस चातुर्मास्य मुक्काम असताना झालेली आहे. त्यावेळी मूळ द्विसाहस्रीची पोथीसुद्धा जवळ नव्हती. हा मूळ ग्रंथ माणगावी शके १८०६ मध्ये तयार झाला. नंतर १५ वर्षांनी म्हणजे शके १८२१ मध्ये त्याची टीका, प्रभासपट्टण व द्वारका येथील मुक्कामात तयार झाली. याबद्दल श्रीमहाराजांनीच पुढील श्लोकात खुलासा केला आहे. हे श्लोक द्विसाहस्रीनंतर बोधरहस्याच्या शेवटी दिलेले आहेत.

'ज्ञानं त्रयोदशाध्यायैः कर्मयोगं च पंचभिः ।
पंचभिर्भक्तियोगं च कारयामास योगिराट् ।।१।।
पाश्चात्य पाथोधितटे नवानां टीका प्रभासेऽभ्युदिताऽखिलानां ।
श्रीद्वारकायां चरितस्य तस्य श्रीसद्गुरोर्वेदनुतस्य तस्य ।।२।।
शालिवाहशके क्ष्माश्विवसुभूमिमिते (१८२१) त्वियम् ।
टीका संपूर्णतां प्राप्ता चातुर्मास्ये ह्यवर्षके ।।३।। (संवत् १९५६)'

अर्थः - तेरा अध्यायांनी ज्ञान, पाच अध्यायांनी कर्मयोग व पाच अध्यायांनी भक्तियोग, माझ्याकडून योगिराजांनी करविला. पश्चिम समुद्राच्या तीरावर प्रभासक्षेत्रात नऊ अध्यायांची टीका निर्माण झाली. आणि वेदांनी स्तुती केलेल्या त्या सद्‌गुरूंच्या चरित्राची बाकी राहिलेल्या अध्यायांची टीका द्वारकेत निर्माण झाली. शके १८२१ मध्ये अवर्षण पडलेल्या चातुर्मास्यात ही टीका पूर्ण झाली. याप्रमाणे द्विसाहस्री गुरुचरित्राच्या टीकेबद्दल श्रीमहाराजांनी स्वतः वरीलप्रमाणे

उल्लेख केलेला आहे. द्विसाहस्री गुरुचरित्रामध्ये एकंदर तेवीस अध्याय आहेत. त्यांपैकी प्रथम एक ते तेरा अध्यायांत ज्ञानयोग, चौदा ते अठरा अध्यायात कर्मयोग व एकोणीस ते तेवीस या पाच अध्यायात भक्तियोग सांगितला आहे. श्रीसरस्वती गंगाधरांनी मराठी ओवीबद्ध जे श्रीगुरुचरित्र केलें आहे, त्याचेच संस्कृतमध्ये रूपान्तर म्हणजे द्विसाहस्री गुरुचरित्र होय. मराठी गुरुचरित्रातील चोवीस अध्यायांपर्यंत ज्ञानयोग सांगितला. पंचवीस ते सदतीसपर्यंत कर्मयोग व पुढे अडतीस ते एकावन्न अध्यायापर्यंत भक्तियोग अशी एकदर श्रीगुरुचरित्राची रचना श्रीमहाराजांच्या अभिप्रायाप्रमाणे दिसते. द्विसाहस्री गुरुचरित्राच्या टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी अनेक महत्त्वाच्या विषयांचे सांगोपांग विवेचन केले आहे. त्यातच, चौदाव्या अध्यायाच्या व एकोणिसाव्या अध्यायाच्या आरंभी ज्ञान, कर्म व भक्ती या तीन योगांच्या उपयुक्ततेबद्दल श्रीमहाराजांनी सप्रमाण विचार मांडलेले आहेत. चौदाव्या अध्यायाच्या आरंभी टीकेमध्ये श्रीमहाराज लिहितात -

'एवं त्रयोदशाध्यायैर्ज्ञानकाण्डः समर्थितः ।
शुद्धान्तःकरणोऽनेन मुच्यते कर्मबन्धनात् ।। १।।
येऽशुद्धमानसास्तेषां पापकर्मक्षयाय ही ।
वैराग्योत्पत्तये चेयं पंचाध्यायी वितन्यते ।। २।।'

पहिल्या श्लोकाने ज्ञानाचा उपयोग सांगितला असून दुसऱ्या श्लोकात कर्माचे प्रयोजन सुचविले आहे. ज्याचे चित्त शुद्ध झाले आहे, म्हणजे ज्याला विषयसुखाची इच्छा मुळीच राहिली नाही, अशा विरक्त पुरुषाला ज्ञानाच्या प्रभावाने कर्मबंधनापासून मुक्त होता येते. म्हणजे त्याच्या सर्व कर्मांचा क्षय होतो. सुखदुःख भोगण्याकरिता पुनः त्याला जन्म घ्यावा लागत नाही. हे ज्ञानाचे सर्वोत्कृष्ट फल दाखविले आहे. ज्यांचे मन अशुद्ध आहे त्यांच्या पापाचा क्षय होऊन त्यांना उत्तम वैराग्य उत्पन्न होण्याकरिता कर्मकांड सांगितले आहे, असे कर्माचे प्रयोजन दुसऱ्या श्लोकात सांगितले आहे. चित्तशुद्धी म्हणजेच तीव्र वैराग्य उत्पन्न होणे. सर्व विषय सोडण्याची इच्छा होणे. याकरिता शास्त्रविहित कर्मे निष्ठेने केली पाहिजेत. पाप जोपर्यंत आहे, तोपर्यंत, ज्ञानाची व त्याच्या साधनांची आवडच निर्माण होत नाही -

‘ महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ।।’

या श्लोकात सांगितल्याप्रमाणे, महापापी लोकांना ज्ञान, योग व श्रवण-मननादी त्याची साधने बिलकुल आवडत नाहीत. इतकेच नव्हे तर तो ज्ञानयज्ञ त्याला नकोसा होतो. ज्याला श्रवण, मननादी साधनांची मनापासून आवड नसेल तो पापी आहे असे समजण्यास हरकत नाही. म्हणून ईश्वरार्पण बुद्धीने कर्माचे अनुष्ठान केले असता आत्मानात्मविचाराची आवड निर्माण होते व अशा तीव्र जिज्ञासेने श्रवणादी साधने घडतील व आत्मज्ञान उत्पन्न होणेस उशीर लागत नाही. सर्व दुःखांना कारण असणारे अज्ञान घालविण्याकरिता ज्ञानावाचून दुसऱ्या कशाचीही अपेक्षा नाही. ते ज्ञान उत्पन्न होण्याकरिता शमदमादी साधनांपेक्षा नाही. शम, दम इत्यादी उत्पन्न होण्याकरिता बुद्धिशुद्धीवाचून दुसरे काहीही साधन लागत नाही. आणि ही बुद्धिशुद्धी होण्यास नित्य नैमित्तिक कर्माखेरीज दुसऱ्या कशाचीही अपेक्षा नाही. याप्रमाणे कर्माचा परंपरेने ज्ञानाला उपयोग होतो. हा विषय वार्तिकसारामध्ये पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

‘ महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते ।
प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः ।।
रुचिद्वारोपकुर्वन्ति कर्माण्यत्मविमुक्तये ।
अज्ञानस्याविरोधित्वान्न साक्षादात्मबोधवत् ।।
अविद्यायां न चोच्छितौ ज्ञानादन्यदपेक्षते ।
ज्ञानोत्पत्तौ तु नैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ।।
शमाद्युत्पत्तये नान्यद् बुद्धिशुद्धेरपेक्षते।
बुद्धिशुद्धौ च नित्यादिकर्मभ्यो नान्यदिष्यते ।
पारंपर्येण कर्मैवं ज्ञानायैवोपयुज्यते ।।’

याप्रमाणे, ज्ञानाला अपेक्षित अशी चित्तशुद्धी व्हावी म्हणून शास्त्राने कर्मयोग

सांगितला आहे. कर्मयोगाचा भक्तीलाही उपयोग आहे हे द्विसाहस्रीच्या एकोणिसाव्या अध्यायाच्या आरंभी टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी स्पष्ट केले आहे. ते असे -

'एवं पंचभिरध्यायैः प्रोक्ता नित्यक्रिया यया ।
पवित्रत्वं योग्यता च नान्यथेह द्विजन्मनः ।।१।।
श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहीति श्रुतेरियं ।
शुद्धान्तःकरणानां च ध्यानार्थं भक्तिरुच्यते ।।२।।'

नित्यनैमित्तिककर्मांनी पवित्रता व ज्ञानयोग्यता ही फले प्राप्त होतात म्हणून कर्मयोगाचे विवेचन पूर्वी केले. श्रद्धा, भक्ती व ध्यानयोग ही तीन साधने, ज्ञानाकरिता श्रुतीमध्ये सांगितली आहेत, चित्तशुद्धी झालेल्या साधकांना ध्यानयोग साधावा म्हणून भक्तीचे प्रतिपादन केले आहे. ध्यान म्हणजे मनाची एकाग्रता. ध्यानाचे स्वरूप पंचदशीकार सांगतात.

'मूर्तिप्रत्यय सांतत्याऽत्मन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं, तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ।।'

एकाच विषयाबद्दल तैलधारेप्रमाणे अविच्छिन्न मनोवृत्ती राहाणे याला ध्यान म्हणतात. पण मनाच्या चांचल्य दोषामुळे ध्यानाला प्रतिबंध होतो. त्या करिता ती मनाची चंचलता दूर केली पाहिजे. हाच मनाचा विक्षेप दोष आहे. मनाचे एकंदर चार दोष श्रीविद्यारण्यांनी पुढील प्रार्थनेत दाखविले आहेत -

'लयविक्षेपकषायरसास्वादेभ्यो रक्षितं चित्तमविघ्नेन ब्रह्मण्यवस्थितं भूयादिति भवन्तो महान्तोऽनुग्रण्हन्तु'

लय, विक्षेप, कषाय व रसास्वाद या दोषांपासून आमचे चित्त सुरक्षित राहून ते निर्विघ्नपणाने परमात्म्याचे ठिकाणी स्थिर व्हावे असा आपला महापुरुषांचा अनुग्रह आमच्यावर व्हावा, असा या प्रार्थनेचा अभिप्राय आहे.

लय म्हणजे निद्रा. ध्यानाभ्यास करणाऱ्या मनुष्याला झोपेचा

प्रतिबंध होतो. तसेच दुसरा दोष **विक्षेप**. म्हणजे अनेक विषयांचे चिंतन. **कषाय** म्हणजे कामक्रोधादिकांच्या वेगाने मनाची स्तब्धता; मन विवेकशून्य होणे. आणि **रसास्वाद** म्हणजे मिळालेल्या सुखाचेच सारखे चिंतन करणे.

या मनोदोषांचा अनुभव संसारात प्रत्येकाला येत असतो. हे दोष जाईपर्यंत सच्चिदानन्दरूप परमात्म्याचे ध्यान व्यवस्थित होणें शक्य नाही. जीवाचे तर सामर्थ्य, हे दोष दूर करण्यासारखे दिसत नाही. म्हणून श्रीविद्यारण्यांनी हे दोष दूर करण्याबद्दल समर्थांची प्रार्थना केली आहे. हे दोष भक्तिप्रभावाने पूर्णपणे नाहीसे होऊन चित्ताची स्थिरता प्राप्त होते; म्हणून भक्तियोगाचे महत्त्व, शास्त्रकारांनी व संतांनी फार वर्णन केले आहे. भक्ती शब्दाचे तीन अर्थ श्रीमहाराजांनी दाखविले आहेत. ते असे -

'भक्तिर्नामेश्वरानुरक्तिः । भजेर्भावे क्तिनि, भजनं भक्तिः ।
भजेर्वाधिकारे क्तिनि, भजनाय विभज्येते जीवेश्वरावस्याम्।
भजेः करणे क्तिनि वा भज्यन्ते कामकर्मादिदोषा यया सा इति ।'

भक्ती म्हणजे भजन हा एक अर्थ. भजनाकरिता जीव व ईश्वर - उपासक व उपास्य - असा विभाग ज्या अवस्थेमध्ये होतो, ती अवस्था म्हणजे भक्ती. हा दुसरा अर्थ. काम, कर्म इत्यादी दोष जिच्या योगाने नाहीसे होतात ती भक्ती, हा तिसरा अर्थ. यापैकी तिसऱ्या अर्थाने भक्तीचे फल सुचविले आहे.

भक्तिप्रभावाने मनुष्य निष्काम होऊन कर्मबंधनातून मुक्त होतो. जन्ममरणाच्या फेऱ्यातून कायमचा सुटतो. याबद्दलचा क्रम, 'भक्तिरेवानुत्तमात्र' (श्रीगुरुचरित्र अ. १९-२) या श्लोकाच्या टीकेत, श्रीमहाराजांनी स्पष्ट मांडून भक्तीचे महत्त्व दाखविले आहे -

१) **'प्रथममसंगतया भगवदुद्देशेन स्वाश्रमोचित-कर्मानुष्ठानम् ।**
२) **ततो महत्सेवा,**
३) **ततस्तत्कृपा,**
४) **ततस्तद्धर्मश्रद्धा,**

५) **ततो भगवत्कथाश्रवणम्,**
६) **ततो भगवति रतिः,**
७) **तया च देहद्वयविवेकज्ञानम्,**
८) **ततो दृढा भक्तिः,**
९) **ततो भगवत्तत्त्वज्ञानम्,**
१०) **ततस्तत्कृपया सर्वज्ञात्वादिभगवद्गुणाविर्भावः'**

भक्तिमार्गातील दहा भूमिकाच येथे दाखविल्या आहेत.

१) प्रथम असंगतेने म्हणजे फलेच्छा व कर्तृत्वाभिमान सोडून ईश्वराकरिताच आपापल्या आश्रमास उचित अशा **कर्मांचे अनुष्ठान** करणे. असंगतेचा अर्थ श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी असाच सुचविला आहे.

' तैसा कर्तृत्वाचा मद । आणि कर्मफळाचा आस्वाद ।
या दोहोंचेही नांव बंध । कर्माचा कीं ।।'

कर्तृत्वाचा गर्व व फळाची अभिलाषा यांनाच कर्मांचा बंध म्हणतात. हा संग शब्दाचा अर्थ आहे. अर्थात्च असंग होऊन कर्म करणे म्हणजे कर्तृत्वाभिमान व फलेच्छा टाकून कर्म करणे ही भक्तीची पहिली भूमिका आहे. म्हणजे असा कर्मयोग हा ज्ञान व भक्ती यांचा पायाच आहे. यावरून भक्तिमार्गांतही कर्माची आवश्यकता सिद्ध होते. कर्म व भक्ती दोघांचा समुच्चय शास्त्रकारांना इष्ट आहे. भक्ती ही, कर्म व ज्ञान दोघांनाही उपकारक आहे.

'अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' (ईशावास्य), **'कर्मणा पितृलोकः'**, **'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते'**

इत्यादी वाक्यांचा विचार केला असता, अभक्ताने केलेले कर्म, परम पुरुषार्थाचा लाभ करून देण्यास अयोग्य ठरते. पितृलोकप्राप्ती इत्यादी त्याचे फल नश्वरच आहे, म्हणून केवळ कर्म, म्हणजे ईश्वर-प्रेमावाचून असलेले कर्म, करण्यापेक्षा ते ईश्वराकरिताच वर सांगितल्याप्रमाणे जर केले जाईल, तर ते भक्तीची प्रथम भूमिका ठरून अविनाशी मोक्षफल प्राप्त करून घेण्याची योग्यता उत्पन्न करते म्हणून भक्तीसहित कर्म असले पाहिजे. तसेच भक्तीसुद्धा कर्मसहितच असली पाहिजे. आम्ही देवाची भक्ती करतो, आम्हाला कर्माची जरूरी नाही,

अशा कल्पनेने '**कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**'ही भगवंताची आज्ञा मोडून स्वधर्माचरण सोडून देणे, स्वैराचारी बनणे, हाही मार्ग शास्त्रसंमत नाही. याप्रमाणे ईश्वराकरिता निष्कामबुद्धीने स्वकर्मानुष्ठान करीत राहणे ही भक्तीची प्रथम भूमिका आहे हे लक्षात ठेवले पाहिजे.

यानंतर दुसरी भक्तीची भूमिका, **महत्सेवा**–ईश्वराच्या उद्देशाने स्वकर्मानुष्ठान केले असता, महापुरुषांची-सद्गुरुंची भेट होऊन त्यांच्या सेवेचा योग येतो. याबद्दल श्रीमहाराज सांगतात -

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणात्सताम्।
ईशप्रसादस्तद्रूपः सुलभश्चात्र सद्गुरुः ॥
सद्गुरोः संप्रसादेऽस्य प्रतिबंधक्षयस्तथा।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात् ॥'

ईश्वरसेवाबुद्धीने स्वधर्माचे आचरण केले असता ईश्वराचा प्रसाद होतो, म्हणजेच सद्गुरूंची प्राप्ती होते. नंतर सद्गुरुप्रसादाने सर्वज्ञानप्रतिबंध दूर होतात आणि सर्व दुर्भावना लुप्त होऊन मुक्तिदायक विज्ञान एका क्षणात उत्पन्न होते. याप्रमाणे महत्सेवा ही दुसरी भूमिका.

त्या सेवेने संतुष्ट झालेल्या महापुरुषांची कृपा ही भक्तीची तिसरी भूमिका आहे. त्यानंतर त्यांच्या धर्माबद्दल श्रद्धा. श्रद्धेनंतर भगवंताच्या कथेचे श्रवण. श्रवणानंतर भगवंताचे ठिकाणी प्रेमाची उत्पत्ती. त्या प्रेमामुळे; स्थूल, सूक्ष्म दोनीही देहाहून आपण निराळे आहोत हे ज्ञान. त्यानंतर दृढ भक्ती त्यानंतर भगवंताचा साक्षात्कार. आणि नंतर भगवंताच्या कृपेने सर्वज्ञत्वादि, भगवंताच्या, दिव्य गुणांचा त्या भक्तांच्या ठिकाणी आविर्भाव होणे. याप्रमाणे भक्तिभूमिकांचा क्रम आहे.

भक्तियोगाचे महत्त्व व उपयुक्तता फार मोठी आहे. कर्मयोग हा चित्तशुद्धीकरिता सांगितला आहे, पण तोसुद्धा भक्तियोगावाचून निर्दोष होत नाही. ईशावास्य उपनिषदामध्ये **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते'** या मंत्राने केवळ कर्माची निंदा केली आहे व 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' या मंत्राने उपासनासहित कर्माचे प्राशस्त्य वर्णिलेले आहे. कर्माला जसा भक्तियोग पोषक

आहे, तसाच तो ज्ञानयोगालादेखील उपकारक आहे.

'भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।', 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते', (श्रीमद्‌भगवतगीता १०:१०) **'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'** (श्रीमद्‌भगवतगीता १८:५५) इत्यादी भगवद्वचनांवरून भक्ती ही ज्ञानद्वारा मोक्षापर्यंत साहाय्यक होणारी आहे असे ठरते. कदाचित् ज्ञानी आचार्यांच्या प्रसादाने ज्ञान उत्पन्न झाले तरी, असंभावना, विपरीतभावना, संशय इत्यादी चित्तदोषांमुळे ते ज्ञान कार्यकारी ठरत नाही.

कर्म, भक्ती व ज्ञान यांचे स्वरूप

वेदस्वरूप भगवान्, भगवत्स्वरूप जाणणाऱ्या महर्षींच्या स्मृती, आणि ज्यामुळे आत्मग्लानी न होता चित्त प्रसन्न होते असे कर्म, ही तीन धर्माची मूल प्रमाणे आहेत. हे धर्मराजा ! मानवधर्माची, पुढीलप्रमाणे तीस लक्षणे आहेत -

१. सत्य, २. दया, ३. तपस्या, ४. शुचिता, ५. तितिक्षा, ६. उचित व अनुचित याचा विचार, ७. मनाचा संयम, ८. इंद्रियांचा संयम, ९. अहिंसा, १०. ब्रह्मचर्य, ११. त्याग, १२. स्वाध्यायाध्ययन, १३. सरलता, १४. सन्तोष, १५. समदृष्टी महात्म्यांची सेवा, १६. हळूहळू सांसारिक भोगांपासून निवृत्ती, १७. मनुष्यांच्या अभिमानाने केलेल्या प्रयत्नांचे फल उलटच मिळत असल्याचे पाहाणे, १८. मौन, १९. आत्मचिन्तन, २०. प्राणिमात्रांकरिता अन्नवस्त्रादिकांचा यथाशक्ती विभाग, २१. सर्व प्राण्यांचे ठिकाणी विशेषतः मनुष्यांचे ठिकाणी आपल्याच आत्म्याची तसेच इष्टदेवतेची भावना, २२. ते ३०. संतांचा परम आश्रय अशा भगवान् श्रीकृष्णांच्या, नाम, गुण, लीला यांचे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, त्याची सेवा, पूजा व नमस्कार, त्याचे दास्य, सख्य व आत्मसमर्पण.

याप्रमाणे तीस प्रकारचा सर्व मनुष्यांचा साधारण धर्म आहे. याचे आचरण केल्याने सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होतो. हाच विषय पुढील श्लोकात आलेला आहे

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः ।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति ।।
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।।
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ।
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः ।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ।।
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ।।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति ।।

(श्रीमद्भागवत ७।११।७-१२)

वरीलप्रमाणे तीस प्रकारचा मानवधर्म, श्रीनारदमहर्षींनी धर्मराजाला सांगितला आहे. हा सामान्यधर्म झाला. याशिवाय चार वर्ण व चार आश्रम यांचे धर्म व स्त्रीधर्म यांचे विवेचनही श्रीनारदांनी केलेले आहे. श्रीमद्भागवतामध्ये सप्तमस्कंधाच्या ११ ते १५ या पांच अध्यायांतून हा विषय आला आहे. सांप्रत विशेषधर्माचे आचरण फारच कमी होत चालले आहे. धर्म व अधर्म हे ज्या प्रमाणाने ठरविले त्या वेद प्रमाणाची तर ओळखसुद्धा राहाते किंवा नाही असा संशय निर्माण झाला आहे. म्हणून आपल्या हिंदू धर्मामध्ये धर्माधर्माबद्दल जी प्रमाणे पुरातन कालापासून चालत आलीं आहेत. त्याबद्दल प्रथम विचार करणेचा आहे.

प्रमाणविचार

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' या श्लोकात श्रीमनूंनी वेद, तदनुरोधी स्मृती, सज्जनांचा आचार, व पवित्र अंतःकरण अशी चार प्रमाणे, धर्माधर्म निर्णयाबद्दल सांगितली आहेत. यातही मुख्य प्रमाण वेद आहे. वैदिक संस्कृतीचा मूल आधार वेदच आहे.

'वेदोनारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम', 'शब्दब्रह्म परब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू' इत्यादी वचनांवरून वेद हे साक्षात् ईश्वराचे वाङ्मयस्वरूप असल्याचे सिद्ध होते. या वाङ्मयाचे रक्षण करणे हेच ब्राह्मणाचे मुख्य कर्तृव्य स्मृतिकार मानतात.

'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।
अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जघांसति।
उत्तमाङ्गोद्भवाज्जैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः'

इत्यादी वचने पाहाता वेदाध्ययन हे ब्राह्मणांचे मुख्य कर्तव्य ठरते. वेदवाङ्मय हे कोठे तरी ग्रंथालयात ठेवण्याकरिता नसून ते ब्राह्मणांनी नित्य आपल्या कंठात ठेवले पाहिजे. ही वेद रक्षणाची जबाबदारी वैदिक संस्कृतीमध्ये ब्राह्मणांवर टाकलेली आहे. म्हणूनच तीन ऋणांपैकी ऋषिऋणातून मुक्त होण्याकरिता अध्ययन हेच साधन शास्त्रकारांनी सांगितले आहे. याचप्रमाणे उत्तम अध्ययनाने शास्त्रज्ञान संपादन, त्याचे अध्यापन म्हणजे प्रवचन व्याख्यानरूप ब्राह्मणानेच करावे, इतरांनी अध्यापन करू नये, हीसुद्धा जबाबदारी मनूंनी ब्राह्मणांवरच टाकली आहे. ते श्लोक असे -

'विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥
पुनाति पंङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ।

(मनुस्मृति १-१०३-१०५)

या श्लोकांवरून मनूंचा अभिप्राय असा दिसतो की, ब्राह्मणाने अध्ययनाने उत्तम प्रकारे पूर्ण वेदार्थज्ञान मिळवून ते इतरांनाही अध्यापनद्वारा करून द्यावे. हे कर्तव्य, अध्यापनरूप फक्त ब्राह्मणाचेच आहे. क्षत्रिय व वैश्य यांनी फक्त अध्ययनच करावे असा अभिप्राय पुढील श्लोकावरून दिसून येतो -

'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।'(म.२।१६)

या श्लोकावरील टीकाकारांचे स्पष्टीकरण -

गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः, न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः। एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापन-व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति 'विदुषा ब्राह्मणेन' (१।१०३) इत्यत्र व्याख्यातम् । याप्रमाणे ब्राह्मणाचे मुख्य धन वेदार्थान् हेच असल्यामुळे तेच धन अधिकाधिक मिळविण्याकरिता ब्राह्मणाने प्रयत्नशील राहिले पाहिजे. असा ज्ञानधन, तपस्वी ब्राह्मण स्वतः तर, कायिक, वाचिक व मानसिक कर्मदोषांतून मुक्त होतोच. तसेच इतरही दोषयुक्त केवल व्यक्तीला नाही, तर समूहालाही दोषमुक्त करू शकतो व स्वतःच्या पित्रादी पूर्वजांना व पुत्रादि अवरजांनाही पवित्र करू शकतो. आणि तोच ज्ञानधन ब्राह्मण

खरा सत्प्रात्र असल्याने संपूर्ण पृथ्वीचेही दान घेण्यास योग्य आहे, असे प्रख्यात समाजशास्त्रज्ञ मनूंचे मत आहे. अशा ब्राह्मणापासून पृथ्वीवरील सर्व मानवांचे आपले कर्तव्य शिकावे असे मनू सांगतात -

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥' (मनुस्मृति २।२०)

हे महत्त्व केवळ एका ब्राह्मण व्यक्तीचे किंवा ज्ञातीचे नसून, ज्ञानाचे व तन्मूलक आचाराचे आहे. यालाच ब्राह्मण्य म्हणता येईल. याच्याच रक्षणाने वैदिकधर्माचें रक्षण होते व धर्ममर्यादा रक्षणाने जगताचे रक्षण होते असा स्पष्ट अभिप्राय श्रीशंकराचार्य महाराजांनी श्रीभगवद्गीता भाष्याचे आरंभी व्यक्त केला आहे -

'द्विविधो ही वेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। जगतः स्थितिकारणं, प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यःस धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिरनुष्ठीयमानः। दीर्घेण कालेनानुष्ठातृणां कामोद्भवाद्ध्रीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेण अधर्मेणा-भिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने चाधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन किल संबभूव । ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानाम् ।'[१]

[१] *वेदांत प्रतिपादलेला धर्म प्रवृत्तीपर आणि निवृत्तीपर असा दोन्ही प्रकारचा आहे. जगाच्या स्थितीचे कारण असणारा तसेच प्राणीमात्रांच्या ऐहिक आणि पारत्रिक कल्याणाचा कारक हा (वैदिक) धर्म ,कल्याणाची इच्छा करणाऱ्या ब्राह्मणादि (चार) वर्णांनी आणि (ब्रह्मचर्यादि चार) आश्रमांनी (अवश्यमेव) आचरला पाहिजे. प्रदीर्घ काळाच्या ओघाने आचरणशील जीवांच्या मनांत वासना उद्भवून विवेक आणि विज्ञान ह्यांचा ऱ्हास होतो. त्यामुळे अधर्म वाढीला लागतो आणि धर्माला वरचढ होऊं लागतो. अशा वेळी जगाच्या स्थितीचा सांभाळ करण्याच्या इच्छेने तो आदिकर्ता नारायण म्हणवणारा विष्णु, भूमीवरील ब्रह्मदेवच अशा ब्राह्मणत्वाच्या रक्षणासाठी वसुदेवाच्या अंशापासून देवकीच्या गर्भांत आविर्भूत झाला ब्राह्मणत्वाच्या रक्षणानेच वैदिक धर्माचे रक्षण होते. (कारण) वर्णाश्रमभेद हा त्या ब्राह्मण्याच्या आश्रयानेच टिकून आहे.*

याप्रमाणे श्रीमनू, श्रीशंकराचार्य इत्यादी महनीयांचा अभिप्राय लक्षात ठेवून श्रीसद्गुरू वासुदेवानन्दसरस्वती स्वामीमहाराजांनी यावज्जीव वेदार्थ ज्ञान व आचार (भारतीय अप्रतिम धन) यांच्या रक्षणाकरिताच आटोकाट प्रयत्न केला. **'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यम्'** असे श्रीमनू म्हणतात. तसेच आचाराचेही महत्त्व आत्महितेच्छु पुरुषाने ओळखून आचारपालनात तत्पर असले पाहिजे असेही मनूंनी पुढीलप्रमाणे सांगितले आहे -

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ।।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफल भावयेत् ।।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ।।

(मनुस्मृति १।१०८-११०)

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इत्यादी वचनांवरून अत्यंत पवित्र असे ज्ञान धारण करण्याची पात्रता आचारामुळेच प्राप्त होते. म्हणूनच **'यः क्रियावान्स पण्डितः**'असा आपला स्पष्ट अभिप्राय धर्मराजांनी व्यक्त केलेला आहे.

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् 'या श्लोकात श्रीमनुजींनीही, विप्रांचा नाश होण्याची जी कारणे दाखविली आहेत. त्यांमध्ये आचारत्याग हे एक कारण दाखविले आहे. हे ब्राह्मणांनी लक्षात ठेवून स्वाचारपरिपालनाकडे यावच्छक्य लक्ष देणे हितावह ठरणारे आहे. आपण युद्ध सोडून भिक्षा मागून राहाणार, हिंसा करणार नाही, ही अर्जुनाची कर्तव्यविमुखबुद्धि पाहून त्याला आचारमार्गावर आणण्याकरिता भगवंताला गीतोपदेश करावा लागला. श्रीमहाराजांना श्रीदत्तप्रभूंनी काश्मिरात जाण्याचा आदेश दिला असताही त्यांनी

तो मान्य केला नाही, यात श्रीमहाराजांची इच्छा, आज्ञाभंग करण्याची नसून आचारपरिपालनाचीच दिसून येते. श्रीशिवाजीराजांनी महाराष्ट्र राज्य स्थापन केल्यावर, 'उदंड जाहलें पाणी स्नानसंध्या करावया' इत्यादी उद्‌गार श्रीसमर्थांनी जे काढले आहेत ते खऱ्या ब्राह्मण्याचेच द्योतक आहेत.

याप्रमाणे वेदप्रमाणसिद्ध कर्मयोग, त्यातील न्यूनाधिकत्व दोष दूर करून त्याची पूर्णता करणारा भक्तियोग व या दोहोंचेही फल असणारा मोक्षदायक ज्ञानयोग हे तीनही योग आपल्या ठिकाणी स्थिर होण्याकरिता प्रयत्नशील राहाणे हेच मनुष्य जन्माचे खरे फल आहे आणि द्विसाहस्रीसहितेचा हाच सारांश आहे. असे या प्रथम श्लोकात श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे.

कर्म, भक्ति आणि ज्ञान

भक्तिं विना न साफल्यं कर्मणः कर्मणा विना ।
न च ज्ञानं विना ज्ञानान्न मोक्षो यस्य कस्यचित् ॥२॥

अर्थ :- भक्तीवाचून कर्म सफल होत नाही. कर्मावाचून ज्ञान नाही आणि ज्ञानावाचून कोणालाही मोक्ष मिळणार नाही.

विवरण :- श्रीमहाराजांनी या श्लोकात तीन सिद्धान्त दाखविले आहेत.

पहिला मुख्य सिद्धान्त, ज्ञानाशिवाय मोक्ष कोणालाही मिळू शकत नाही हा आहे. मुक्तीकरिता ज्ञान कोणते आवश्यक आहे ? ते कसे संपादन करता येईल ? त्याचा अधिकारी कोण ? इत्यादी विचार, श्रीमहाराजांनी, 'बोधरहस्य' या संक्षिप्त प्रकरणात, संपूर्णपणे मांडलेला आहे.

दुसरा सिद्धान्त, ज्ञान कर्मावाचून होणार नाही हा सांगितला आहे.

तिसरा सिद्धान्त कर्माचे साफल्य, भक्ती उत्पन्न झाल्यावाचून नाही हा मांडलेला आहे.

प्रथमसिद्धान्त स्पष्ट समजण्याकरिता, बोधरहस्याचा अभ्यास निष्ठेने होणे आवश्यक असल्याचे पूर्वी सांगितलेच आहे. कर्माशिवाय ज्ञान नाही हा दुसरा महत्त्वाचा सिद्धान्त आहे. येथे कर्म म्हणजे स्वकर्म विवक्षित आहे. वाटेल ते कर्म वाटेल त्याने करावे हे सांगण्याची आवश्यकता नाही. म्हणून

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥[१]

या श्लोकात भगवान्, स्वकर्म हेच ज्ञानाचे साधन असल्याचेच स्पष्ट सांगत आहेत. त्याचे स्पष्टीकरण श्रीज्ञानराजांनी पुढीलप्रमाणे फारच मार्मिकपणाने केले आहे.

तैसे स्वामींचिया मनोभावा । न चुकिजे हेचि परमसेवा ।
येर ते गा पांडवा । वाणिज्य करणें ॥१३॥

म्हणौनि विहित क्रिया केली । नव्हे, तयाची खूण पाळिली ।
जयापासूनि कां आली । आकाश भूतें ॥१४॥

जो अविद्येचिया चिंधिया । गुंडूनि जीव बाहुलिया ।
खेळवीतसे तिगुणिया । अहंकार रज्जू ॥१५॥

जेणें जग हें समस्त । आंत बाहेरी पूर्ण भरित ।
जाले असें दीपजात । तेजें जें जैसे ॥१६॥

तयां सर्वात्मका ईश्वरा । स्वकर्मकुसुमांची वीरा ।
पूजा केली होय अपारा । तोषालागीं ॥१७॥

---

[१] *सर्व जीवमात्रांची उत्पत्ती ज्यापासून होते आणि ज्याने हे सर्व दृश्य जगत व्यापलेले आहे त्याची आपल्या (विहित) कर्माने पूजा करूनच मानव सिद्धी पावतात.*

म्हणौनि तिये पूजें । रिझलेनि आत्मराजें ।
वैराग्यसिद्धि देइजे । पसाय तया ॥१८॥

जियें वैराग्यदशे । ईश्वराचेनि वेधवशें ।
हें सर्वही नावडे जैसे । वांत होय ॥१९॥

प्राणानाथाचिया आधीं । विरहिणीतें जिणेंही बाधी ।
तैसें सुखजात त्रिशुद्धी । दुःखचि लागे ॥२०॥

सम्यक् ज्ञान नुदैजता । वेधेंचि तन्मयता ।
उपजे ऐसी योग्यता । बोधाची लाहे ॥२१॥

म्हणौनि मोक्षलाभालागी । जो व्रतें वाहतसें आंगीं ।
तेणें स्वधर्म आस्था चांगी । अनुष्ठावा ॥२२॥ (ज्ञानेश्वरी अ.१८)

वरील विवेचनावरून स्वकर्माचे महत्त्व लक्षात येण्यासारखे आहे. तात्पर्य हेच की, प्रत्येकाने स्वकर्म कोणते ते व्यवस्थित समजून घेऊन ते व्यवस्थितपणे आचरण करीत राहिले पाहिजे. या योगाने ईश्वरप्रसाद होऊन ज्ञानप्राप्ती होणे शक्य आहे. अशी ईश्वराची मानवाला आज्ञा आहे. पण या आज्ञेकडे सांप्रत कोणाचे लक्ष आहे? लहानापासून थोरापर्यंत सर्वत्र आज बुद्धिस्वातंत्र्य वाढत चालले आहे. लोकशाहीच्या नावाखाली बुद्धिवादाचा प्रचार अमर्याद होऊन राहिला आहे. पूर्ण सुखी, कृतार्थ महापुरुषांना शास्त्राधिष्ठित बुद्धिवाद, आज वाङ्मयरूपाने सर्वांच्या समोर असूनही, आपल्या बुद्धीला पटेल तेच खरे या विलक्षण मोहामुळे, सज्जनांचे विचार पाहाण्यासही आज कोणास सवड होऊ शकत नाही.

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'[१]

[१] *पृथ्वीवरील सर्व मानवांनी, या देशांत जन्माला आलेल्या ब्राह्मणापासूनच, आपापले आचार शिकून घ्यावेत.*

असे गौरवोद्धार ज्यांच्याबद्दल, प्रख्यात समाजशास्त्रज्ञ मनूने काढले आहेत तेच भारतातील ऋषींच्या वंशात जन्माला आलेले ब्राह्मण आज सर्व बाबतीत परप्रत्ययनेय बुद्धीचे बनून राहिले आहेत. इतकेही असून, आपण बुद्धिवादी असल्याचा व्यर्थ अहंकार मात्र त्यांचा किंचितही कमी होत नाही. श्रीमहाराजांनी तर आपल्या आचरणाने, ब्राह्मणांच्यापुढे एक विशुद्ध आदर्श निर्माण करून ठेवला आहे. प्रत्येकाने स्वधर्माचे आचरण अत्यंत दक्षतेने करावे हेच त्यांचे मुख्य सांगणे असे. कर्माशिवाय ज्ञान होणे शक्य नाही हा सिद्धान्तही येथे श्रीमहाराजांनी याकरिताच मांडलेला आहे. योगरहस्य प्रतिपादन करीत असतानाही, कर्मयोग अपरिहार्य असल्याचे, त्यांनी प्रथमच बजावले आहे. भक्तीवाचून कर्माचे साफल्य नाही हा एक सिद्धान्त येथे श्रीमहाराजांनी मांडला आहे. म्हणजे कर्माचे महत्त्व येथे दोन प्रकारांनी स्पष्ट केले आहे. ज्ञानाकरता तर कर्माची आवश्यकता आहेच, पण ते कर्म असे घडले पाहिजे की, ज्याच्यापासून भक्तीही निर्माण झाली पाहिजे. जर ती निर्माण झाली नाही तर ते कर्म खरे सफल झाले असे म्हणता येणार नाही. चित्तशुद्धी हे कर्माचे जर फल असले तर तेही भक्तीचा प्रादुर्भाव झाल्यावाचून पूर्णपणे पदरात पडू शकत नाही.

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच ।'

इत्यादी भगवद्भक्ताची लक्षणे याची सूचक आहेत. श्रद्धेने कर्मानुष्ठान केल्यामुळे विवेक, वैराग्य इत्यादी गुणांचा प्रादुर्भाव होत राहिल्याने चित्त शुद्ध झाले असे मानले तरी. 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'

'कोणाही जीवाचा न घडो मत्सर । वर्म सर्वेश्वरपूजनाचें'

ही अंतःकरणाची शुद्धी म्हणजे भक्तीचा प्रादुर्भाव होय. आणि हा झाल्याशिवाय कर्माचे खरे फल मिळाले नाही असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. याकरिता ज्ञानाकरिता कर्म तर केलेच पाहिजे पण तेसुद्धा असे करावे की, ज्याच्यामुळे भक्तीही निर्माण होऊन त्याचे खरे फल पदरात पडल्याप्रमाणे होईल.

असा एकंदर भावार्थ या श्लोकाचा आहे. श्रीभागवतकारही पुढील श्लोकात असेच सांगत आहेत.

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुसां विश्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।'

उत्तम धर्मानुष्ठान करूनही जर भगवद्कथेची आवड निर्माण झाली नाही तर ते धर्मानुष्ठान व्यर्थ श्रमरूप आहे असा याचा अभिप्राय आहे.

भक्तियोग

वरील विवेचनावरून भक्तीचे महत्त्व लक्षात येईल. कर्म आणि ज्ञान या दोघांनाही पोषक भक्तियोग आहे. केवल कर्म न करता त्याच्याबरोबर उपासनाही चालू असावी असा कर्म व उपासना यांचा समुच्चय शास्त्रविहित असल्याचे प्रथम श्लोकाच्या विवरणात दाखविलेच आहे. कर्माने भक्तिभूमिका प्राप्त करून घेऊन ज्ञानी व्हावे हे या श्लोकात दिग्दर्शित केले आहे. याचेच स्पष्टीकरण करण्याकरिता कर्मयोग भक्तिसहित कसा असावा? असा कर्मयोग भक्तिपर्यवसायी होऊन सफल कसा होतो? भक्तीचे मुख्य, गौण प्रकार कोणते ? इत्यादी विचार भक्तिशास्त्रास अनुसरून या ठिकाणी संक्षेपाने करणे अप्रस्तुत ठरणार नाही.

कर्म कसे करावे याबद्दल भगवद्गीतेमध्ये एका श्लोकात भगवंतांनी दिग्दर्शन केले आहे. तो महत्त्वाचा श्लोक असा -

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।

(भ. ३।३०)

यावर भगवान् श्रीशंकराचार्यांचे भाष्य असे आहे -

'मयीति । **मयि** वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि **सर्वाणि कर्माणि, संन्यस्य** निक्षिप्य, अध्यात्मचेतसा विवेकबुद्ध्या, अहं कर्ता ईश्वराय

भृत्यवत्करोमीत्यनया बुद्धया । किं च **निराशीः** त्यक्ताशीः। **निर्ममः** ममभावश्च निर्गतो यस्य तव स त्वं **निर्ममो भूत्वा, युध्यस्व विगतज्वरः** विगत संतापो विगतशोकः सन्नित्यर्थः ॥३०॥'

श्रीज्ञानेश्वरमहाराज या श्लोकाचे विवरण असे करतात -

' तरी उचित कर्में आघवी । तुवां आचरोनि मज अर्पावी । परि चित्तवृत्ति विन्यसावी । आत्मरूपीं ॥८६॥ हे कर्म मी कर्ता । कां आचरेन या अर्था। हा अभिमान झणे चित्ता । रिघो देसी ॥८७॥ तुवां शरीरपरा नोहावें । कामनाजात सांडावे । मग अवसरोचित भोगावे । भोग सकल ॥ ८८॥ आतां कोदंड घेऊनि हातीं । आरूढ पा इये रथीं । देई आलिंगन वीरवृत्ती । समाधानें ॥८९॥ जगीं कीर्ति रूढवी । स्वधर्माचा मान वाढवी । इया भारापासोनी सोडवी । मेदिनी हे ॥९०॥ आतां पार्था निःशंक होई । या संग्रामा चित्त देई। एथ हे वांचूनि कांहीं । बोलो नये ॥९१॥'

मी ईश्वराचा नोकर आहे, त्याच्या आज्ञेप्रमाणे मी हे स्वकर्म करीत आहे. ही भावना ठेवून कर्मे करावीत. हीच ईश्वरापर्णबुद्धी कर्म करताना असणे जरूर आहे. तसेच फलेच्छा व कर्तृत्वाभिमान यांचा त्याग करून कर्मे करावीत आणि 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' या आज्ञेप्रमाणे फलाची सिद्धी अथवा असिद्धी यांविषयी समबुद्धि ठेवणे म्हणजे हर्ष किंवा विषाद न मानणे हेही कर्म करताना आवश्यक आहे. म्हणजे, ईश्वरार्पणबुद्धी, फलेच्छात्याग, कर्तृत्वाभिमानत्याग व सिद्धी व असिद्धीबद्दल साम्य ही कर्मयोगाची चतुःसूत्री आहे. यातही ईश्वरापर्णबुद्धी मुख्य आहे. यामुळेच फलकामना व कर्तृत्वाभिमान सुटून ते कर्म भक्तिपर्यवसायी होते.

**'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥'**

या श्लोकामध्ये ईश्वरार्पणबुद्धीच दाखविली आहे. यामुळेच सर्वही कर्म, भागवत धर्म बनून ते चित्तशोधक ठरते. याप्रमाणे भक्ती ही कर्मयोगाचे साफल्य करणारी आहे ज्ञानी मनुष्याचा तर, भगवद्भजन हा स्वभावच बनून गेलेला असतो.

'सकलमिदमहं च वासुदेवः' अशी अखंड ज्ञानवृत्ती असल्यामुळे, **'ठेविलें अनंतें तैसेचि रहावें। चित्तीं असो द्यावे समाधान।'** अशा स्थितीत जो निरंतर राहू शकतो व आपल्या पूर्ण आनंदमय जीवनाने इतरही अधिकारी साधकांचे जीवन जो आनन्दमय बनवू शकतो त्या ज्ञानी पुरुषाचे तर भक्ती हे जीवनच बनून राहिलेले असते. याबद्दल श्रीभगवान् सांगतात.

'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'[१]

या श्लोकावरील श्रीज्ञानराजांचे विवेचन पहा -

'तरी जयाचे चोखटे मानसीं । मी होऊनि असे क्षेत्रसंन्यासी।
जया निजेल्याते उपासी । वैराग्य गा ॥८८॥

जयाचिया आस्थेचिया सद्भावा। आंत धर्म करी राणिवा।
जयाचे मन ओलावा। विवेकासी ॥८९॥

जे ज्ञानगंगे नाहाले। पूर्णता जेऊनि धाले।
जे शांतीसी झाले। पल्लव नवे ॥९०॥

जे परिणामा निघाले कोंभ । जे धैर्यमंडपाचे स्तंभ ।
जे आनंदसमुद्रीं कुंभ । चुबुकुळोनि भरिले ॥९१॥

यया भक्तीची येतुली प्राप्ति। जे कैवल्याते परते सर म्हणती।
जयाचिये लीळेमाजी नीति। जियाली दिसे ॥९२॥

[१] *शमदमादी दैवी संपदेचा आश्रय करणारे, महात्मे मीच ह्या भूतभौतिक जगताचे अविनाशी कारण आहे हे जाणून अनन्यचित्ताने माझेच भजन करतात. (चिंतन करतात.)*

जे आघवांचिकरणी। लेइले शांतीचीं लेणीं ।
जयांचे चित्त गवसणी । व्यापका मज ।।९३।।

ऐसे जे महानुभाव । दैविये प्रकृतीचे दैव ।
जे जाणेनिया सर्व । स्वरूप माझे ।।९४।।

मग वाढतेनि प्रमें । मातें भजती जे महात्मे ।
परी दुजेपण मनोधर्मे । शिवतले नाहीं ।।९५।।

ऐसें मीच होऊनि पांडवा । करिती माझी सेवा ।
परी नवलावो तो सांगावा । असे आइके ।।९६।।

ज्ञानी मनुष्याच्या भक्तीचे, स्वतः ज्ञानियांच्या राजाने केलेले हे दिव्य वर्णन आहे. यापुढेही सेवेचे पुष्कळ वर्णन आहे. ते किती लिहावे? याप्रमाणे भक्तियोग हा कर्म व ज्ञान या दोघांनाही पोषक आहे. इतकेच नव्हे तर तो स्वतंत्र पुरुषार्थ आहे असा एक महत्त्वाचा सिद्धान्त श्रीमधुसूदन-सरस्वतींनी भक्तिरसायन ग्रंथांत स्पष्टपणे मांडला आहे. श्रीमधुसूदन-सरस्वती हे, अद्वैत वेदान्त शास्त्रातील एक फार मोठे अधिकारी पुरुष म्हणून प्रसिद्ध आहेत. **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** हा सिद्धान्त, सप्रमाण सिद्ध करण्याकरिता अद्वैतसिद्धीसारखे विद्वन्मान्य ग्रंथ त्यांनी लिहिले आहेत. अशा अधिकारी महापुरुषांचे भक्तीबद्दल, पुढीलप्रमाणे विचार आहेत. भक्तियोग हा साक्षात् पुरुषार्थरूप आहे याबद्दल पुढील वचने प्रमाण आहेत.

'नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । (१)
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ।।'

(भागवत २:२:३)

(१) *या संसारचक्रांत सांपडलेल्यांना भगवान वासुदेवाच्या भक्तियोगावांचून अन्यकल्याणकारी मार्गच नाही.*

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विश्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥'[१]

(भागवत १:२:८)

'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥'[२]

(भाग. १०-४७-२४)

'भगवान्ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया ।
तदध्यवस्य कूटस्थे रतिरात्मन्यतो भवेत् ॥'[३]

(भाग २:२:३४)

'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥'[४]

(भाग. ३-२५-४४)

'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म- ।
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत् ॥
किं त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ॥'[५]

(भाग. ४:९:९-१०)

---

[१] *धर्माचे उत्तम आचरणही, जर त्यापासून मनुष्यांच्या (मनांत) भगवत् कथांची आवड उत्पन्न झाली नाही, तर केवळ (व्यर्थ) श्रमच आहेत.*

[२] *दान, व्रत, तप, होम जप, स्वाध्याय, निग्रह या आणि अशा सर्व पुण्यकर्मांचे श्रीकृष्णाचरणी भक्ति हेच (एकमेव) साध्य आहे.*

[३] *भगवान ब्रह्मदेवांनीही तीन वेळां आपल्या बुद्धीने शोधून हाच निश्चय केला की कूटस्थ भगवंताच्या ठिकाणी जेणेकरून गोडी उत्पन्न होईल (तोच सर्वश्रेष्ठ मार्ग आहे.)*

[४] *या लोकांत मानवांना परमकल्याणाच्या प्राप्तीसाठी तीव्र भक्तियोगाने स्थिर केलेले चित्त मला अर्पण करावे.*

[५] *देहधारी मनुष्यांनासुद्धा जो परमानंद तुझ्या पदकमलांच्या ध्यानाने, भजनाने वा कथाश्रवणाने प्राप्त होतो तो तुझ्या सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूपांतही होत नाही मग कालाच्या खड्गाने विमाने भंगून ज्यांना पुनश्च भूलोकीं पडावे लागते अशा देवांची काय गोष्ट?*

या भागवतातील श्लोकामध्ये, कोठे भक्तियोग हा पुरुषार्थ असल्याचे सुचविले आहे, तर कोठे साक्षात्‌च शब्दाने तसे सांगितले आहे. अनेक जन्मांच्या सुकृतांनी भक्ती उत्पन्न होते. सर्व वेदांचे तात्पर्य भक्तीमध्ये आहे इत्यादी वर्णनावरून, अर्थातच भक्तियोग पुरुषार्थ असल्याचे सूचित होते. शेवटच्या दोन श्लोकात तर, निःश्रेयस, निर्वृति या शब्दांनी भक्तियोग, पुरुषार्थ असल्याचे साक्षात्‌च दाखविले आहे. याप्रमाणे भक्तियोग हा सर्व साधनांचे साध्य असा स्वतंत्र पुरुषार्थ आहे असे ठरते. पुढील काही श्लोकांवरून भक्तियोग हा ज्ञानदीकांचे साधन आहे असे दिसते. ते श्लोक असे

'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥'[१]

(भाग. १:२:७)

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥'[२]

(भाग. २:३:१०)

'केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणां।[३]
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्नेन नीहारमिव भास्करः ॥'(भाग.६-१-१५)

वरील श्लोकांवरून भक्ती हे एक साधन असल्याचे दिसते. मग भक्ती हे साध्य का साधन असा प्रश्न उपस्थित झाला असता, याचे समाधान असे की-

[१] *भगवान वासुदेवांच्या ठायीं जडलेला भक्तियोगच अहैतुक वैराग्य आणि ज्ञानाची उत्पत्ती करतो.*

[२] *निष्काम, सर्वकांमी किंवा मोक्षकामी बुद्धीमंताने परमपुरुषाची तीव्र भक्तियोगाने आराधना करावी.*

[३] *कुणीकुणी वासुदेवाविषयींच्या केवळ भक्तीनेच, सूर्याने धुक्याचा निरास व्हावा तशी पापें निःशेष धुवून टाकतात.*

फलरूप-भक्ती व साधनरूप-भक्ती असे भक्तीचे दोन प्रकार आहेत. अंतःकरण ईश्वराकार बनून राहणे ही साध्यभक्ती आणि असे ईश्वराकार अंतःकरण ज्याच्या योगाने केले जाते ती श्रवणकीर्तनादीरूप साधनभक्ती.

'**भज्यते** सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया' अशा करणव्युत्पत्तीने भक्ती शब्द साधन-बोधक आहे. आणि

'**भजन**मन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिः' अशा भावव्युत्पत्तीने भक्ती शब्द, फलबोधक आहे याबद्दल प्रमाण असे -

'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।[१]
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।।'
(भा. ११।३।३१)

'इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।[२]
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ।।'(भा. ११।३।३२)

या श्लोकामध्ये पहिली भागवतधर्मरूप साधनभक्ती व तिच्यापासून उत्पन्न होणारी दुसरी फलभक्ती असे भक्तीचे दोन प्रकार दाखविले आहेत. भक्तीचे सामान्य लक्षण श्रीमधुसूदनसरस्वतींनी पुढील श्लोकात दाखविले आहे-

'द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ।।'
(भक्तिरसायन १।३)

---

[१] *दुःख-दैन्य-पाप यांचे हरण करणाऱ्या हरीचे स्मरण आणि परस्परांना स्मरण करून देणे या (साधन)भक्तीने उद्भवलेल्या (साध्य) भक्तीमुळे काया रोमांचाने बहरून जाते. (अष्टसात्त्विकभाव प्रकट होतात.)*

[२] *अशा ह्या भागवतधर्मांचे आचरण केल्याने त्यांपासून (साधनभक्तीपासून) उद्भवलेल्या भक्तीने तो हरिपरायण भक्त दुस्तर अशी मायाही सहज तरून जातो.*

भगवंताचे गुण ऐकत असताना, चित्त हे पातळ, जलासारखे होते. त्यावेळी त्याची अखंड धारेप्रमाणे असणारी जी ईश्वराकारवृत्ती तिला भक्ती असे म्हणतात. चित्तद्रव्य हे स्वभावतः कठिण आहे, जशी लाख स्वभावतः कठिण आहे. पण ती अग्निसंयोगाने विरघळून पातळ होते. मग पातळ झालेल्या लाखेमध्ये जो छाप उठवावा तो आकार त्या लाखेमध्ये दिसू लागतो. याचप्रमाणे कामक्रोधादी विषयतापाने (ते जर भगवद्विषयक असतील तर) चित्त पातळ झालेल्या वेळी त्याच्यामध्ये भगवंताचा आकार तयार होतो अशी चित्ताची भगवदाकारता म्हणजेच भक्ति होय. हेच भक्तीचे स्वरूप पुढील श्लोकात दाखविले आहे.

'मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।[१]
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।।' (भाग. ३।२९।११।१२)

गंगाजल समुद्राला मिळत असता मध्ये केव्हाही खंड पडत नाही. त्याप्रमाणे भगवत्स्वरूपाचे ठिकाणी अखंड धारेप्रमाणे सतत राहाणारी मनोवृत्ती म्हणजे भक्तियोग होय. काम, क्रोध, भीती, स्नेह, हर्ष, शोक, दया इत्यादी, ज्या विषयाबद्दल ज्यावेळी अत्यंत उत्कट असतील त्या वेळी चित्त विरघळून तो विषय चित्तामध्ये इतका बेमालूम स्थिर, मिसळून जातो की, नंतर चित्त दुसऱ्या विषयाकडे जाऊन कठिण झाले तरी तो विषय त्या चित्तातून कधीच जाऊ शकत नाही. लाख पातळ झाल्यानंतर त्यामध्ये जो रंग टाकला जाईल. तो रंग ती घट्ट झाल्यावरही तसाच कायम राहातो. याप्रमाणे चित्ताचा द्रवीभाव झाला असता ज्या विषयाचा आकार त्याच्यामध्ये प्रविष्ट होतो त्यालाच, संस्कार, वासना, भाव इत्यादी संज्ञा शास्त्रकारांनी दिलेल्या आहेत. आणि कामादि विकारांनी सामान्यतः चित्त चलित झाले, थोडासा द्रवीभाव त्याला आला, अशा वेळी जो विषयाकार त्याला येतो तो कायमचा नसल्यामुळे त्याला वासनाभास असे म्हणतात. भगवान्

[१] *माझ्या गुणकर्मांच्याकेवळ श्रवणाने सर्वांतर्यामी अशा माझ्या स्वरूपांत मन सागरांत मिळणाऱ्या गंगेसारखे अविच्छिन्न गतीने प्रवाहित होणे हेच निर्गुण भक्तीचे लक्षण जाणावे.*

हा पूर्ण आनंद स्वरूप असल्याने, कामाने, भयाने, द्वेषाने, स्नेहाने कोणत्याही उत्कट उपायाने चित्त तदाकार करणे हेच मुख्य कर्तव्य आहे. गोपींचे चित्त उत्कट कामाने भगवदाकार झाले. कंसाचे उत्कट भीतीने तदाकार झाले. उत्कट द्वेषाने शिशुपालादिकांचे तदाकार झाले. उत्कट स्नेहाने पांडवांचे चित्त तदाकार झाले. आणि हे सर्वही उद्धरून गेले. पूर्वोक्त उत्कट कामादिकांमुळे चित्ताची उत्पन्न होणारी द्रवावस्था हीच प्रणय, अनुराग, स्नेह इत्यादी स्वरूप आहे. ही द्रवावस्था तीन प्रकारची असल्याने असा उत्तम भक्तही तीन प्रकारचा आहे.

१) चित्त द्रुत होऊन भगवदाकार झाले असताही प्रपंच सत्यरूपाने ज्याला भासतो तो प्राकृत भागवतोत्तम,

२) ज्याचे चित्त भगवदाकार झाले असता ज्याला प्रपंच भासतो पण मिथ्यारूपाने भासतो, असा भागवतोत्तम मध्यम आहे. आणि

३) ज्याला फक्त भगवानच भासतो, सत्य किंवा मिथ्या कोणत्याही रूपाने प्रपंचाचे भान ज्याला बिलकूल नसते तो उत्तम भागवतोत्तम आहे.

याची क्रमाने उदाहरणे अशी आहेत -

'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।।[१]
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः।।'(भाग.११।२।४१)

'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्।।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदषियत् सदिवावभाति।।'[२]
(भाग. १०।१४।२२)

[१] *आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, तारे, सर्व प्रणिमात्र, दिशा, वृक्ष, नद्या, समुद्र ही सर्व परमात्म्याच्या शरीराचीच अगें आहेत असे समजून जो सर्व चराचरांना अनन्यभावाने वंदन करतो*

[२] *मायेपासून झालेले हे सर्व स्वप्नसारखे असत्स्वरूप, अत्यंत दुःखद जगत तुझ्याच अनंत सच्चदानंदस्वरूपाच्या अधिष्ठानामुळे खरे असल्यासारखे भासते.*

'ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृतचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यभुभये मुने ॥' (१)

(भाग. १।६।१७।१८)

याप्रमाणे भक्तिरसायन ग्रंथात श्रीमधुसूदन-सरस्वतींनी भक्तीचे सविस्तर विवेचन केले आहे. हा ग्रंथ जरी संस्कृत भाषेमध्ये असला तरी श्रीदासगणूमहाराजांनी याचे मराठी भाषेमध्ये ओवीबद्ध भाषांतर उत्तम प्रकारे केले आहे. ते पाहिले असता संस्कृतानभिज्ञ जिज्ञासूंनाही भक्तिस्वरूपाबद्दल संपूर्ण ज्ञान होईल असा विश्वास वाटतो. श्रीदासगणूमहाराजांचे संपूर्ण ग्रंथांचे प्रकाशन त्यांचे सच्छिष्य भागवत्प्रेमशील श्रीमान् अनंतराव आठवले, प्रिन्सिपाल आयुर्वेदमहाविद्यालय, पुणे, हे करीत असल्याने त्यांचेकडे चौकशी केली असता भगवद्भक्तिरसायन ग्रंथ मिळू शकेल.

तसेच श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु या नावाचा श्रीरूपगोस्वामीविरचित ग्रंथ पांचशे पानांचा काशीस विद्याविलास मुद्रणालयामध्ये छापलेला आहे. हा ग्रंथ संस्कृत असून सटीक आहे. या ग्रंथावरून सांगोपांग भक्तिस्वरूपाची उत्तम माहिती होण्यासारखी आहे. पांडित्य व ईश्वरप्रेम या दोन्हीचाही समन्वय ग्रंथकर्त्याचे ठिकाणी झालेला असल्यामुळे या ग्रंथाचे विशेष महत्त्व आहे. (२)

---

(३) *हरीच्या चरणकमलांचे भक्तीने सुखावलेल्या अतुकंठित मनाने ध्यान करतांना माझे डोळे पाणावले आणि हळूहळूं माझ्या हृदयांत हरि प्रकटला. प्रेमातिभराने शरीरांतून रोमांच प्रस्फुटित झाले, सुखाचा जणूं पूर लोटला आणि माझे भान हरपले. अंतर्बाह्य कशाचीच जाणीव मला राहिली नाही.*

योगाचे स्वरूप आणि उपयुक्तता

न ज्ञानं जीवति प्राणे मनस्यपिलयं नयेत्
यस्तौ गच्छति मोक्षं स योगी नान्यः कथंचन ।।३।।
चले प्राणे चलं चित्त निश्चले निश्चलं तयोः ।।
नष्ट एकतरे नाशो द्वयोरपि स योगतः ।।४।।

अर्थ : - प्राणवायूची दोन्ही नासिकेतून वाहाण्याची क्रिया व मनाची संकल्प विकल्पात्मक क्रिया जोपर्यंत चालू आहे, म्हणजेच प्राण व मन जोपर्यंत जिवंत आहेत, तोपर्यंत आत्मज्ञान होऊ शकत नाही. म्हणून प्राण व मन यांना जो लीन करू शकतो तोच योगी मोक्षाला जाऊ शकतो. दुसरा केव्हांही जाणे शक्य नाही. (३)

प्राण जोपर्यंत चालू आहे तोपर्यंत चित्ताचीही हालचाल चालूच राहाते. प्राण, निश्चल-स्थिर झाला तर चित्तही स्थिर होते. त्या दोघांपैकी कोणा तरी एकाचा नाश झाल्यास दोघांचाही नाश होतो. तो नाश मात्र, योगानेच साध्य आहे. (४)

विवरण : - दुसऱ्या श्लोकात मुख्य, मोक्षाचे साधन असणाऱ्या ज्ञानाचे महत्त्व, **'विना ज्ञानान्न मोक्षो यस्यकस्यचित्'** या वाक्याने श्रीमहाराजांनी वर्णिलेले आहे. या दोन श्लोकांमध्ये, प्राण व मन यांच्या स्वाभाविक क्रिया ज्ञानास प्रतिबंधक असल्यामुळे त्या बंद केल्या पाहिजेत. त्याचा उपाय म्हणून योगाचा पुरस्कार श्रीमहाराज करीत आहेत. प्राण व मन जिवंत असेपर्यंत ज्ञान होणे शक्य नाही असा एक योगशास्त्रातील मुख्य सिद्धान्त, **'न ज्ञानं जीवति प्राणे मनस्यपि'** या वाक्याने श्रीमहाराजांनी येथे स्पष्टपणे मांडला आहे. मनाबरोबर येथे इंद्रियेही अभिप्रेत आहेत. इंद्रियेही जिवंत असेपर्यंत ज्ञान होणार नाही. येथे प्राण, मन व इंद्रिये यांचे जीवन म्हणजे काय ते योगशास्त्रकार सांगतात -

'इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनम् । स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनम् । नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनम् । तत्तद्भावनाशस्तेषां मरणमत्र विवक्षिनम् । न तु स्वरूपतस्तेषां नाशः।'

(हठयोगप्रदीपिका टीका ४।१५)

अर्थ : - डाव्या व उजव्या नाकपुडीतून वाहण्याची जी क्रिया म्हणजे निरंतर चालू असणारा श्वासोच्छ्वास, याचा अर्थ प्राण जिवंत असणे. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध अशा आपापल्या विषयांचे ज्ञान करून देणे याचा अर्थ, इंद्रिये जिवंत असणे. नानाविध विषयांबद्दल बरे वाईट विचार उत्पन्न होणे याचा अर्थ, मन जिवंत असणे. या तिघांचा नाश होणे म्हणजे यांच्या स्वरूपाचा नाश विवक्षित नसून वरीलप्रमाणे चालू असणाऱ्या त्यांच्या व्यापारांचा नाश हा अर्थ येथे अभिप्रेत आहे.

याबद्दलही योगशास्त्रकार सांगतात -

ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः ।
ध्येयाकारावेशात् विषयान्तरव्यापारराहित्येन स्थितिः मनसो लयः।
अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
तदुक्तं योगबीजे -
'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एवहि' इति ॥

अर्थ : - मस्तकात जाऊन क्रियाशून्यस्थितीत राहाणे म्हणजे प्राणाचा लय. ईश्वरस्वरूपाशी तदाकार झाल्यामुळे इतर विषयांबद्दल वृत्तिशून्य होऊन राहाणे म्हणजे मनाचा लय. या दोघांचा लय झाल्यावाचून इतर शेकडो उपाय केले तरी मोक्ष प्राप्त होत नाही. तेच योग-बीज ग्रंथात सांगितले आहे- नाना प्रकारच्या केवळ विचारांनी, मन साध्य होत नाही म्हणूनच प्राणाचा जय म्हणजेच मनाचा जय होय.

वरील विवेचनावरून, स्वाभाविक चालू असणारे श्वासोच्छ्वास थांबले पाहिजेत व मन निर्विचार झाले पाहिजे. तरच मोक्ष मिळण्याची शक्यता आहे असे दिसते. श्वासोच्छ्वास थांबणे म्हणजे मृत्यू इतकेच स्थूल दृष्टीने चालू व्यवहारात प्रसिद्ध आहे. निर्विकार मन होणे म्हणजे झोप किंवा मूर्च्छा एवढीच लोकांची कल्पना आहे. पण जिवंत असतानादेखील श्वासप्रश्वासरूप प्राणाच्या क्रिया थांबविता येतात व झोप, मूर्च्छा नसूनही मन निर्विचार होऊन शकते. हेच योगशास्त्रासारखे प्रयोगशास्त्र सांगत आहे. आणि तो प्रयोग ज्यांनी सिद्ध केला आहे अशा श्रीमहाराजांच्या सारख्या सिद्ध पुरुषांनीही येथे;

'नष्ट एकतरे नाशो द्वयोरपि स योगतः ।'

या वाक्याने, योगच त्या स्थितीला साधक असल्याचे सांगितले आहे. ज्ञानाला योगाची अत्यंत आवश्यकता आहे याबद्दल हठयोगप्रदीपिकेच्या टीकाकारांनी सप्रमाण विवेचन केले आहे. त्यापैकी काही अंश पुढीलप्रमाणे आहे

एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् ।[१]
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् ।[२]
तथाहि -'अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः' इति ।
तद्दर्शनमात्मदर्शनम् ।[३]
'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्। मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति।[४]
'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति ।[५]

---

[१] *यावरून योगावांचून (आत्म)ज्ञान किंवा मोक्ष हे दोन्ही साधत नाहीत हे सिद्ध होते.*

[२] *वेद, स्मृति, पुराण आणि इतिहास या सर्वांचा हाच सिद्धांत आहे.*

[३] *तसेच - आतां त्याच्या दर्शनाचा एकमेव उपाय म्हणजे योग. त्याचे म्हणजे आत्म्याचे दर्शन.*

[४] *अध्यात्मयोगाच्या अभ्यासाने देवाचे मनन करून बुद्धिमंत सुखदुःखांचा त्याग करतो.*

[५] *श्रद्धा, भक्ति, ध्यान आणि योग यांनी त्याला जाण.*

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति इति।[१]
'त्रिरुन्नतं प्राप्य समं शरीरं। हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्माव्हयेन प्रतरेत विद्वान्।
स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' इति ।।[२]
'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः।[३]
यतिधर्मप्रकरणे मनुः -
'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहद्वयं विहायाशु मुक्ती भवति बन्धनात्।'[४]
याज्ञवल्क्यस्मृतौ -
'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणां।[५]
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।'
महर्षिमातंगः -
'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः।[६]
योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।'

---

[१] *जेव्हा पांचही ज्ञानेंद्रियें मनासह निरुद्ध होतात. बुद्धीसुद्धां निश्चल होते तिलाच परम गति म्हणतात. त्याच इंद्रियांना स्थिर करणाऱ्या धारणेलाच योग म्हणतात. तेव्हा (साधक) प्रमादरहित होतो.*

[२] *त्रिभंगाकृति सरळ (मानवी) शरीर प्राप्त झालेल्या विद्यावंताने इंद्रियें आणि मन यांचा चित्तांत निरोध करून ब्रह्माच्या आवाहनाने सर्व भयावह विषयांचे उल्लंघन करावे.*

[३] *ॐ काराच्या स्वरूपांत आत्म्याचे ध्यान करावे.*

[४] *देहद्वयांचा त्याग केल्याने (संसार)बंधनातून लगेच मुक्ति होते.*

[५] *यज्ञ, आचार, अहिंसा, दान, स्वाध्याय इत्यादि कर्मांपेक्षां योगाने आत्मदर्शन करणे हाच सर्वश्रेष्ठ धर्म आहे.*

[६] *अग्निष्टोमादि सगळे सोडून योगाभ्यासात रमणारा शांत, उत्तम ब्राह्मण परब्रह्माची प्राप्ती करून घेतो.*

'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं ।[१]
शांतये कर्मणामन्यद्योगन्नास्ति विमुक्तये ।।'
दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम् -
'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।[२]
अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम् ' ।।

इत्याद्याः स्मृतयः ।
महाभारते योगमार्गे व्यासः
'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ।।
यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् ।
यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः।।
यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः।
नरः सेव्य महादुःखं जरामरणसागरं ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।' इति ।[३]
भगवद्गीतायां -

---

[१] *ब्राह्मण, क्षत्रिय. वैश्य, स्त्रिया आणि शूद्र या सर्वांना पावन करून शांती देणारे योगावांचून अन्य कर्म नाही.*
[२] *तें ब्रह्म स्वसंवेद्य आहे. कुमारीला जसे संभोगसुखाची कल्पना येऊं शकत नाही किंवा जन्मांधाला घडा दिसत नाही तसेच योगाचे ज्ञान नसलेल्याला ते कळणारच नाही.*
[३] *निकृष्ट वर्णाचा माणूस, धर्म करूं इच्छिणारी स्त्री, हेसुद्धा, सर्वधर्मज्ञ, नाकर्ता, धार्मिक, श्रेष्ठ, महापापी, पुरुषव्याघ्र किंवा नपुंसक असा कोणताही पुरुष, संसारसागरांतील महादुःख भोगणारे सगळेच या (योग) मार्गाने परमगतीला पावतात. योगाची जिज्ञासा असलेले सुद्धां शब्दब्रह्माच्या पुढे जातात.*

'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।।[१]
'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्' इत्यादि च ।

आदित्यपुराणे -
'योगत्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता'।
स्कंदपुराणे -
'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति।।'[२]
कूर्मपुराणे शिववाक्यम् ।
'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् ।
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ।।
योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरं ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति' ।।[३]
गरुडपुराणे -
'तथा यतेत मतिमान्यथास्यान्निर्वृतिः परा ।
योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ।।
भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।
परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ।।

---

[२] *मनावर ताबा ठेवून सतत आत्म्याचे ध्यान करणारा योगीच माझ्या ठिकाणच्या निर्वाणात्मक परमशांतीला पावतो.*

[३] *योगानेच ज्ञान उत्पन्न होते. माझ्या ठायी चित्त एकाग्र होणे हाच योग.*

आत्मज्ञानानेच मुक्ति होते. ते (आत्मज्ञान) योगावांचून होत नाही. तो योग दीर्घकाल अभ्यासानेच साधतो.

[३] *याच्या पुढे ज्या परमदुर्लभ योगाने सूर्यसंकाश परमात्म्याला पाहतां येते त्याचे मी निरूपण करतो. योगरूपी अग्नि पापांना निःशेष जाळून टाकतो आणि चित्ताला प्रसन्न करणारे ज्ञान होऊन त्या ज्ञानाने (योगी) परमपदाला पावतो.*

स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः ॥
निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥

संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् ।
न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥
आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः ।
अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥
तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः ।
प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥'(१)
विष्णुधर्मेषु -
'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् ।
अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥
इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा ।
योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥'(२)
वासिष्ठे -
'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका ।
योगगारूडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति' ।(३)

---

(१) *त्यासाठी बुद्धिवंताने परमसुखाच्या प्राप्तीसाठी झटावे. ती योगानेच लाभते, अन्य कोणत्याही उपायाने नाही. संसारतापाने पोळलेल्या जीवांना योग हेच परम औषध आहे. परमेश्वराच्या ठायी मति जडल्याने बुद्धीतच ज्याला विरक्ती उत्पन्न होते तोच समस्त क्लेशांच्या समूहांना योगाग्नीत भस्म करून परम निर्वाण पावतो यांत कांहीच संशय नाही. उत्तम योगसिद्धी मिळवून जो आत्मसाक्षात्काराने परिपूर्ण झाला आहे त्याने करावयाचे कांही कार्य दिसत नाही. त्याने सर्व कांही केले आहे. (तो कृतकृत्य आहे) तो आत्मसुखांतच रमलेला, सदा पूर्ण सुखांत परमानंदांत असल्याने बाह्य विषयांपासून पूर्ण विरक्त असतो. तपश्चर्येने आत्मानुभूति घेतलेले जितेंद्रिय महान योगी योगानेच हा संसाररूपा महासागर तरून जातात.*

(२) *पूर्वी देवांनी आणि देवर्षींनी, स्त्री-पुरुषादि सर्व जीवांच्या - अगदी किडे-मुंग्याच्यासुद्धा परमकल्याणाचा मार्ग कपिलमुनींना विचारला तेव्हां त्यांनी `योग हाच त्या सर्वांच्या कल्याणाचा मार्ग आहे असे उत्तर दिले.*

(३) *रामा, संसारविषाची ही अतिदुःसह बाधा योगरूपी पवित्र गारुड मंत्रानेच शांत होते.*

वरील सर्व श्रुती, स्मृती, इतिहास, पुराण यातील वाक्यांवरून ज्ञानप्राप्तीला व त्याच्या द्वाराने मोक्षाला योगाची अत्यंत आवश्यकता आहे हे कळून येईल. याबद्दल आणखीही काही विवेचन टीकाकारांनी सप्रमाण केले आहे. तेही पाहाण्यासारखे आहे -

'अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्येते।[१]
देव्युवाच ।

ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ।।

ईश्वर उवाच ।
देहान्ते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ।।

पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ।।

ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।[२]
देव्युवाच ।

---

[१] *यासंबंधी योगबीजांत एक महत्त्वाचा शिवपार्वती संवाद आहे तो पाहण्यासारखा आहे.*
देवी म्हणतात - हे दयासुधासागरा, देवेशा, जे ज्ञानी पुरुष मृत्यू पावतात त्यांची काय गति होते ते सांगा.
[२] *ईश्वर म्हणतात - देहपातानंतर ज्ञान्यालाही पुण्य आणि पाप यांचे फल भोगावे लागते. ते ज्याप्रमाणे असेल त्यानुसार भोगून झाल्यावर तो पुनश्च ज्ञानी होऊन जन्म घेतो. त्यानंतर पूर्वपुण्याईने त्याला सिद्ध पुरुषांची संगति लाभते आणि त्या सिद्धांच्या कृपेनेच तो योगी होतो, अन्यथा नाही. मग संसाराचा लय होतो, अन्यथा नाही हे शिवाचे वचन आहे.*

ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा ।
सर्वे वदन्ति सङ्गेन जयो भवति तर्हि किम् ।

विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्' ।।(१)

वरील ईश्वर-गौरीसंवादावरून योग हे महत्त्वाचे आवश्यक साधन असल्याचे सिद्ध केले आहे. ज्ञानी मनुष्यालासुद्धा पाप-पुण्याचे फल भोगण्याकरिता पुनः जन्म घ्यावा लागतो. नंतर तो सिद्धाच्या संगतीने योगी होऊन मुक्त होतो. हे वर्णन आरंभी थोडे अर्थवादात्मक केले आहे. त्यामुळे हे 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्' या श्रीशंकराचार्यांच्या सिद्धांताच्या विरुद्ध असल्याचे भासण्याचा संभव आहे. हीच शंका पार्वतीच्या प्रश्नाने उत्थापित करून शेवटी उपसंहारामध्ये समन्वय दाखविला आहे. खड्गाने जय मिळतो असे म्हणतात पण अंगात वीर्य पराक्रम नसेल तर तो कसा मिळेल ? तेव्हा ज्ञानाने मोक्ष मिळतो हा सिद्धान्त खरा आहे पण तत्पूर्वी योगवीर्य संपादन करणे जरून आहे असा एकंदर भावार्थ आहे.

आणखी दोन शंकाचे समाधान करून शेवटी टीकाकारांनी उपसंहार केला आहे. तो असा -

ननु जनकादीनां योगमन्तरेणाप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठित योगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि - (२)

---

(१) *देवी म्हणतात - ज्ञानानेच मोक्ष मिळतो असे ज्ञान्यांचे प्रतिपादन आहे आणि सगळे तर सत्संगानेच मोक्षाची प्राप्ती असे म्हणतात. यांत जय कुणाचा?(याचे समाधान असे आहे की) युद्ध केल्याविना नुसत्या शौर्याने कसा जय मिळेल? तसेच योगाशिवाय केवळ ज्ञानानेच मोक्ष कसा होईल?*

(२) *असं जर आहे तर जनकादकांना योगाभ्यासाशिवायच प्रतिबंधरहित ज्ञान आणि मोक्ष झाले असे वेदवचन आहे ते कसे? सांगतो. त्यांना पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगांच्या संस्कारांमुळे ज्ञानलाभ झाला असे पुराणादींत सांगितले आहे. उदाहरणार्थ -*

'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः ।[१]
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ।
संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥
धर्मव्याधादयः सप्तशूद्राः पैलवकादयः ।
मैत्रेयी सुलभा शांङ्र्गी शांडिलीच तपस्विनी ॥
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः'

इति । किंच पूर्वजन्मानुष्ठित योगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः सन्ति। तत्रोपदेशमन्तरेणैवात्मसाक्षात्कारवन्तो भवेयुः। तथा हि हिरण्यगर्भवसिष्ठ-नारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रुयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रुयते पुराणादौ तदयोगिपरं, तदुक्तं गरुड पुराणे -

'योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहृतः ।
योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः ॥

स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् ।
ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥[२]

---

[१] *जैगीषव्यादि ब्राह्मण, तसेच असितदि, जनकादि क्षत्रिय, तूलाधीरादि वैश्य यांना त्यांच्या पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगामुळे परम सिद्धी लाभली. धर्मव्याधादि सप्तशूद्र, पैलवकादि तसेच मैत्रेयी, सुलभा, शांङ्र्गी ,शांडिली ह्या तपस्विनीनासुद्धा पूर्वी त्यांनी अभ्यासलेल्या योगानेच श्रेष्ठतर ज्ञाननिष्ठा मिळाली.*

[२] *अर्थात् पूर्वजन्मी अभ्यासलेल्या योगाच्या तारतम्यानुसार कुणी ब्राह्मण, कुणी ब्राह्मणपुत्र, कुणी ब्रह्मर्षि, कुणी मुनि तर कुणी भक्त झालेले दिसतात. त्या त्या वर्णांत त्यांना उपदेशाशिवायत साक्षात्कार झालेला आहे. त्याचप्रमाणे, हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव हे जन्मतःच सिद्ध असल्याचे पुराणांतरी वर्णन आढळते. पुराणांत केवळ ब्राह्मणच मोक्षाचे अधिकारी असल्याचे जे प्रतिपादन आहे ते जे योगी नाहीत त्यांच्यासंबंधांत आहे. गरुडपुराणांत याविषयीं सांगितले आहे*

अनूचानः स्मतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परं।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत् 'इति ॥

शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्ति लभेदित्यर्थः।
इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन
सर्व एव मुच्यन्त इति सिद्धम्।
योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः।
'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव इत्यादिभगवद्वचनादित्यलम्'।[१]

योगाने प्रतिबंध दूर होऊन ज्ञानद्वारा मोक्ष मिळतो असा सिद्धान्त व ईश्वर-गौरी संवादावरून दाखविला आहे. यावर अशी शंका घेतली की, जनकादीकांनी योगाभ्यास केला नसता त्याना ज्ञान कसे झाले ? या शंकेचे समाधानही असे दिले आहे की - जनकादीकांचा काही हाच पहिला जन्म नाही. मागे अनेक जन्म त्यांचे झाले असणारच. त्या वेळी त्यांचा योगाभ्यास झालेला असला पाहिजे. त्याच संस्काराचा या जन्मात त्यांना उपयोग झाला असे मानण्यास हरकत नाही. नारद, शुक, वामदेव इत्यादी पुरुष जन्मतःच सिद्ध असलेले दिसतात. त्यावरून त्यांचे पूवजन्मात योगादी साधनानुष्ठान झाले असले पाहिजे असे गृहीत

---

[२] ज्यांच्याजवळ पूर्वजन्मानुष्ठित योगाचा अभ्यास नाही त्याना योगाच्या प्राप्तीसाठी शूद्र वैश्यादि वर्णानुक्रम आहे. साधुसंतांची कृपा नसेल तर स्त्रीजन्मानंतर शूद्रत्व, त्यानंतर वैश्यत्व, मग क्षत्रियत्व आणि नंतर ब्राह्मण होऊन श्रुतिस्मृतींचा अभ्यास करून, यज्ञादिकांचे अनुष्ठान करून, कर्मसंन्यास करतो. मग तो ज्ञान प्राप्त करून घेतो आणि मग योगी होऊन क्रमाने मुक्ति पावतो. या सर्वांचा सारांश शूद्रवैश्यादिक्रमाने योगी होऊनच मुक्त होतो. अशा रीतीने योगाचा अधिकार सर्वच मानवमात्रांना असल्याने योगापासून उत्पन्न झालेल्या तत्त्वज्ञानाने सर्वच मुक्त होतात असे सिद्ध होते. भ्रष्ट झालेल्या योग्यालाही शूद्रादि क्रम लागत नाही हे 'शुचीनां श्रीमतां गेहे.., 'अथवा योगिनामेव इत्यादि भगवद्वचनांवरून सिद्ध होते.

धरणे भाग आहे. तसेच योगमार्गामध्ये सर्वच अधिकारी आहेत. योगाभ्यास प्राधान्याने करून ज्ञान प्राप्त करून घेणारा व इतर मार्गाला प्राधान्य देऊनच ज्ञानभूमीपर्यंत पोचणारा असे साधकांचे दोन वर्ग मानले आहेत. यापैकी अयोगी साधकांमध्ये ब्राह्मणच मोक्षाधिकारी असल्याचे एक मत वर टीकाकारांनी मांडले असून तो क्रमाने योगभूमीपर्यंत कसा येतो याबद्दल गरुड पुराणातील उतारा दिला आहे. योगिपुरुष कदाचित् भ्रष्ट झाला तरी त्याला शूद्रवैश्य इत्यादी क्रमाने जावे लागत नाही. असे भगवद्गीतेचे प्रमाण देऊन उपसंहार केला आहे. याप्रमाणे हटयोगप्रदीपिकेच्या टीकाकारांनी चतुर्थोपदेशाच्या पंधराव्या श्लोकाच्या टीकेत वरीलप्रमाणे योगाचे महत्त्व मांडलेले आहे. तेच श्रीमहाराजांनी योगरहस्याच्या तिसऱ्या व चौथ्या श्लोकामध्ये स्पष्ट केले आहे. (३-४)

अष्टांयोगांत कर्म, भक्ति, ज्ञान यांचा अंतर्भाव

भक्तिक्रियाज्ञानयोगान्मुक्तिरुक्तापि तत् त्रयम् ।
ज्ञेयं साष्टांगयोगांतर्गतं द्वैधमतोऽत्र नो ।।५।।

अर्थ : - भक्ती, कर्म व ज्ञान यातील योगांपासून मुक्ती मिळते असे सांगितले असले तरी ते तीनही योग, अष्टांग योगातच अंतर्भूत होतात, याबद्दल कोणाचाही मतभेद किंवा विरोध नाही.

विवरण : - कर्म, भक्ती व ज्ञान हे तीनही योग अष्टांगयोगात अन्तर्भूत होतात असा एक सिद्धान्त श्रीमहाराजांनी या श्लोकात मांडला आहे. यावरून श्रीमहाराजांची योगमार्गाबद्दल आग्रही वृत्ती होती अशी समजूत होण्याचा संभव आहे. म्हणून प्रथम हा सिद्धान्त सप्रमाण सिद्ध करून, याबद्दल श्रीमहाराजांचा अभिप्राय काय आहे त्याचेही विवरण करावयाचे आहे. हाच सिद्धान्त हठयोगप्रदीपिकेचे टीकाकार श्रीब्रह्मानंद यांनी चतुर्थोपदेशात ११४ श्लोकांच्या टीकेत मांडला आहे. तो ग्रंथ असा -

ननु , योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्'

इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायाः, तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगांगेष्वन्तर्भावात् । तथाहि ।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधानात्मसाक्षात्कार हेतुतया श्रवणमनन निदिध्यासनान्युक्तानि। तत्र श्रवणमनने नियमान्तर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः। स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनं; स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायी ग्राह्यः। तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः। नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन।

'सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः'
इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमान्तर्गतिरुक्ता।

'अधितवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकं ।
पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः'

इति युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमान्तर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः। तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् ईश्वरार्पण बुद्धया निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य, 'तपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमान्तर्गते क्रियायोगेऽन्तर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम् ।

'उपवासपराकादि कृच्छ्रचांद्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्' इति ।
स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः -

'वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः।
सत्त्वशुद्धिकरं पुसां स्वाध्यायं परिचक्षते' इति।
ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम् -
'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः।
सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम्' इति।

क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति, 'समाधिभावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च' इत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पंतजलिना। भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरितिकरणव्युत्पत्त्या, 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं।अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इति नवविधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते। तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽन्तर्भावः।

तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पंतजलिना'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'इति। ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः। भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या, फलभक्तिरभिधीयते। सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते। तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिक प्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति। मधुसूदन-सरस्वतीभिस्तु

'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पक-वृत्तिर्भक्तिः' इति। तस्यास्तु; 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि इति श्रुतेः' भक्त्या मामभिजानाति 'इति स्मृतेश्च आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम्। भक्तास्तु , सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद् दुःखासंभिन्न निरतिशयसुखधारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः। तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावन्तर्भावः। एवंच अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम्'

वरील ग्रंथाचा भावार्थ : - कर्म, भक्ती व ज्ञान हे तीनच योग भगवंतांनी सांगितले असता योगाचा पुरस्कार का केला असा प्रश्न करून त्याचे समाधान

असे केले आहे की वरील तिघांचा योगाच्या अंगामध्ये अंतर्भाव होत असल्याने अष्टांग योग हा कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचा समन्वयरूप आहे. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी अशी योगांची आठ अंगे आहेत. संप्रज्ञात आहेत. यापैकी संप्रज्ञात समाधी हा आठ अंगांपैकी शेवटचे अंग असून यांचा अंगी जो योग तो म्हणजे असंप्रज्ञात समाधी होय. यांपैकी नियमरूप अंगामध्ये ज्ञानयोगाचा अंतर्भाव होतो.

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

या सूत्रामध्ये पतंजलींनी पांच नियम सांगितले आहेत. आत्मज्ञान व त्याची साधने श्रवण, मनन व निदिध्यासन हा ज्ञानयोग वरील नियमांपैकीं स्वाध्यायामध्ये श्रवणाचा अंतर्भाव होतो. स्वाध्याय म्हणजे मोक्षशास्त्रांचे अध्ययन. हे मुख्यार्थनिर्णयपर्यवसायि झाले पाहिजे. त्याकरिता श्रवण व मनन यांची जरूरी आहे. उपक्रम, उपसंहार इत्यादी लिंगांनी वेदान्ततात्पर्यार्थाचा निर्णय करणे म्हणजे श्रवण व त्याचेच युक्तींनी पुनः पुनः चिंतन करणे म्हणजे मनन. या दोघांचा स्वाध्यायरूप नियमामध्ये अंतर्भाव होतो. निदिध्यासन म्हणजे इतर विषय सोडून ध्येयस्वरूपाकार चित्त होणे म्हणजेच ध्यान. अर्थात् निदिध्यासनाचा ध्यानरूप योगांगात अंतर्भाव होतो. याप्रमाणे ज्ञानयोगाचा अंतर्भाव अष्टांग योगात कसा होतो ते सांगितले. ईश्वरार्पण बुद्धीने निष्काम कर्मानुष्ठान करणे म्हणजे कर्मयोग. याचा अंतर्भाव नियमरूप योगांगातच होतो. त्याबद्दल विशेष विचार असा. पांच नियमांपैकी तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान या तिघांना क्रियायोग असे पतंजली म्हणतात. याबद्दल,

'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'

असे त्यांचे सूत्र आहे. उपवास, कृच्छ्र, चांद्रायणादी व्रतांनी शरीर शोषण करणे म्हणजे तप. उपनिषत्, शतरुद्रीय, प्रणव इत्यादीकांचा जप म्हणजे स्वाध्याय आणि नवविधा भक्ती म्हणजे ईश्वरप्रणिधान. या क्रियायोगामध्ये कर्मयोग व

भक्तियोग दोघांचाही अंतर्भाव होतो. श्रवणकीर्तनादीरूप नवविध भक्तीला साधनभक्ती असे म्हणतात. हिचा ईश्वरप्रणिधानरूप नियमात अंतर्भाव होतो. ही भक्ती समाधिद्वारा आत्मज्ञानाला साधन होते. याबद्दल 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' असे पतंजलींचे सूत्र आहे. दुसरी फलरूप भक्ती म्हणजे प्रेमभक्ती होय. ईश्वरचरणाविषयी अंतःकरणात उप्तन्न झालेला निर्व्याज, अव्यभिचारी असा अविच्छिन्न प्रेमप्रवाह म्हणजे प्रेमभक्ती. अशी नारायणतीर्थांची व्याख्या आहे. चित्त प्रेमार्द्र होऊन ईश्वराकार होणे म्हणजे प्रेमभक्ती असे मधुसूदन-सरस्वती म्हणतात. या दोनीही व्याख्येप्रमाणे प्रेमभक्ती म्हणजे सविकल्पक अंतःकरणवृत्तिरूप असून ती आत्मज्ञानद्वारा मोक्षरूप पुरुषार्थाचे साधन आहे. भक्तिशास्त्रज्ञ प्रेमभक्तीलाच परमपुरुषार्थरूप मानतात. दुःखाचा जेथे बिलकूल संबंध नाही अशी निरतिशय सुखधारा म्हणजे प्रेमभक्ती असे भक्तिशास्त्रज्ञ म्हणतात. सुख हाच पुरुषार्थ असल्यामुळे अशी सुखधारारूप प्रेमभक्ती ही ज्ञानद्वारा पुरुषार्थ साधन नसून ती स्वतःच पुरुषार्थरूप आहे असे भक्तांचे मत आहे. या भक्तीचा संप्रज्ञात समाधीमध्ये अंतर्भाव होतो. ध्येय वस्तूशिवाय इतर सर्व वृत्तीचा निरोध होणे म्हणजे संप्रज्ञात समाधी होय. याप्रमाणे कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचाही समावेश अष्टांग योगामध्ये होतो असे सप्रमाण विवेचन वरील संस्कृत टीकेमध्ये ब्रह्मानंदांनी केले आहे. तोच सिद्धान्त श्रीमहाराजांनी या पाचव्या श्लोकात मांडलेला आहे.

अष्टांग योगामध्ये, कर्म, ज्ञान व भक्ती या तिघांचा अंतर्भाव होतो या श्रीमहाराजांच्या लिहिण्याचा अभिप्राय लक्षपूर्वक समजून घेणे जरूर आहे. नाही तर घोटाळा होण्याचा संभव आहे. योग हेच काय ते एकमेव मोक्षाचे साधन आहे. दुसरी साधने निरुपयोगी आहेत, असा कदाचित् समज, योगाविषयी स्वाभाविक आवड असणाऱ्यांचा होण्याचा संभव आहे. म्हणून विचार करण्याची आवश्यकता आहे. जगामध्ये कोणतेही कार्य एकाच कोणत्या तरी कारणापासून होत नाही. तार्किकांच्या सिद्धान्ताप्रमाणे पाहिले असता, ईश्वर, ईश्वराचे ज्ञान,

इच्छा व प्रयत्न, काल, दिशा, प्रागभाव व अदृष्ट ही आठ साधारण कारणे प्रत्येक कार्याला असतात. शिवाय, समवायि, असमवायि व निमित्त अशी तीन असाधारण कारणे प्रत्येक कार्यास निराळी आहेतच.

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ।।' (भ.गीता १८:१४,१५)

याप्रमाणे प्रत्येक कर्माला पाच कारणे असतात असे श्रीभगवान् सांगतात. तात्पर्य, अनेक कारणांच्या सामग्रीपासून प्रत्येक कार्य तयार होते हा सिद्धान्त सर्वमान्य आहे. याला अनुसरून अष्टांगयोग हा अनेक कारण समुदायरूप आहे असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. योगाभ्यास करणाऱ्याला कर्म, भक्ती व ज्ञान या तिघांचीही जरूरी आहे. त्याशिवाय योगसाधन पूर्ण होणारच नाही. 'आम्ही फक्त योग तेवढा जाणतो. त्याकरिताच आमचा हा आश्रम आहे. येथे कर्म, भक्ती, योग वगैरे आम्ही काही जाणत नाही, 'आम्हाला फक्त स्नानसंध्यादी कर्म तेवढे ठावूक आहे. तेच आम्ही करणार. भक्ती ज्ञान योग वगैरे आम्ही कांही जाणत नाही;' 'आम्हांला फक्त पांडुरंगाची भक्ती पुरे आहे; कर्म, ज्ञान, योग वगैरे दुसरे कांही नको;' 'आम्ही फक्त ज्ञानचर्चा करूनच मोक्षाला जाऊ असा आमचा विश्वास आहे. तेव्हा स्नानसंध्या, पूजा, प्राणायाम इत्यादी उठाठेव पाहिजे कोणाला?' असे विविध विचारप्रवाह लोकांच्यामध्ये चालू असलेले आपण ऐकतो. पण या विचाराप्रमाणे तरी व्यवहार चालू आहे काय? एकसाधननिष्ठा असणे ही चूक नाही पण तसा एकसाधननिष्ठ असणारा साधक, इतर साधनाप्रमाणे खाणे, पिणे, राग, द्वेष, घर-दार, भार्या, पुत्र इत्यादि सर्व व्यवहारांविषयी उदासीन असतो. इतर साधनमार्गाची निंदा करायला त्याला अवसरच कुठे आहे ? शिवाय

'श्रद्धां भागवते शास्त्रे, अनिन्दामन्यत्र चापि हि'

या वचनाने; स्वतःच्या साधनमार्गावर श्रद्धा ठेवणे याच्याबरोबरच इतर मार्गांची निंदा न करणे हेही साधकाचे कर्तव्य दाखविले आहे.

'कोणाही जीवाचा न घडो मत्सर । वर्म सर्वेश्वर पूजनाचे'

यात श्रीतुकाराम महाराज हेच सुचवीत आहेत. नुसत्या जेवणाची गोष्ट आपण घेऊ. जेवणात नाना पदार्थ असले तरच आपली प्रसन्नता असते. त्यात चटणी किंवा भाजी एकही कमी पडलेले आपणास खपत नाही. अशा आपल्या सवयी जाण्याकरिताच एकभुक्त, एकवाढ, एकान्त, चांद्रायण इत्यादी नियम शास्त्राने सांगितले आहेत.

'सर्पाः पिबन्ति पवनं किमु दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
वन्यैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ।।'[१]

या श्लोकात खरी एकनिष्ठा सुचविली आहे. एकाच दुधापासून बनविले जाणारे पेढे, बर्फी, श्रीखंड, बासुंदी, मलई इत्यादी अनेक पदार्थ बेसुमार सेवन करूनही अतृप्त असणारे व नानाविध रोगांमुळे चिकित्सकांच्या स्वाधीन होणारे आम्ही मानव, आणि, केवल ओला वाळला कसलाही चारा खाऊन बलवान् राहाणारे व नेहमी मानवाकरिता अविश्रांत श्रम करणारे पशू यांच्यामध्ये, आहाराच्या दृष्टीने एकनिष्ठ कोण ठरतील याचा विचार मानवानी केला आहे काय? याप्रमाणे आहार, विहार प्रत्येक बाबतीत मानांची धरसोड आहे हे 'वैश्वरूप्याच्च पुरुषमतीनाम्' या वाक्याने, श्रीभगवत्पाद सुचवीत आहेत. याप्रमाणे असणाऱ्या मानवाच्या

[१] *सर्प वायू पिऊन राहतात म्हणून काय ते दुर्बल असतात का ? वाळले गवत खाऊनच हत्ती बलिष्ठ होतात. ऋषिमुनि रानांतल्या मेव्यावरच काळ कंठतात. संतोष हेच पुरुषाचे खरे पोषण आहे.*

स्वभावधर्मास अनुसरूनच शास्त्राने विविध साधनांचा आविष्कार केला आहे. महाविद्यालयामध्ये ऐच्छिक विषय कोणताही ज्याच्या त्याच्या आवडीप्रमाणे अभ्यासाकरिता घेतला तरी आवश्यक विषय सर्वांना अभ्यासावेच लागतात. तात्पर्य अष्टांगयोग हे साधन सर्व साधनांचा समन्वय असलेले असे आहे. याचा अभ्यास करणाऱ्यांना, कर्म, ज्ञान व भक्ती हे तीनही अपरिहार्य आहेत. आपापल्या अधिकाराप्रमाणे; सिद्धदशा प्राप्त होईपर्यत सर्व साधनांचे अवलंबन करणे प्रशस्त आहे हेच श्रीमहाराजांना या श्लोकात सुचवावयाचे आहे. श्रीमहाराजांच्या चरित्रात, गरुडेश्वरची त्यांच्या निर्याण दिवसाची हकीकत अशी दिली आहे -

अत्यंत अशक्ततेमुळे श्रीमहाराजांना दुसऱ्यांनी उठवून बसवावे लागत होते. पण तसे इतरांनी त्यांना आसनावर बसवावे व तशा स्थितीत श्रीमहाराजांनी संध्यावंदनादी करावे. शेवटी शेवटी अत्यंत ग्लानीमुळे हातात पाणीच राहीना तेव्हाच, ईशेच्छा म्हणून श्रीमहाराज स्वस्थ राहिले. त्यांनी योगाभ्यास केला तरी कर्म, भक्ती, ज्ञान यांचा त्याग केव्हाच केला नाही. ज्यांच्या नुसत्या शब्दाने दगडामातीची भिंत देखील चालू लागली ते योगिश्रेष्ठ ज्ञानियांचे राजे भावार्थ दीपिकेत लिहितात -

'लिंग का प्रतिमा दिठी । देखत खेंवो अंगेष्टी ।
लोटिजे कां काठी । पडली जैसी'

याप्रमाणे मूर्तिपूजेचाही आदेश श्रीज्ञानराजांनी का दिला आहे ? हे लक्षात घेऊन साधकांनी शिष्टाचारप्राप्त त्या त्या साधनांचे अनुष्ठान श्रद्धेने करीत राहाणे यातच त्यांचे पूर्ण कल्याण आहे. उगीच अमूक साधनच श्रेष्ठ आहे. असा वाद घालून स्वतःचे व्यर्थ कालक्षपण व इतरांचा बुद्धिभेद करण्याने पुरुषार्थ तो कोणता साधणार आहे?

या सर्व विवेचनाचा सारांश इतकाच आहे की, अष्टांगयोगामध्ये बाकीच्या तीन योगांचा अंतर्भाव आहे असे लिहून, श्रीमहाराजांनी, सर्वही योगांचा समन्वयच

सुचविलेला आहे. म्हणून कोणत्याही प्रकारे अभिनिवेश न ठेवता ईशस्मरणपूर्वक आपापले साधन निष्ठेने करून साधकाने आत्मकल्याण साधण्याकडे विशेष लक्ष द्यावे.

योगाभ्यासासाठी जीवनशैली

नात्यश्नतोनश्नतोऽतिसुप्तस्यैष न जाग्रतः ।
युक्तचेष्टाहारनिद्रागतेर्योगो भवेत्सुखः ॥ ६ ॥
तस्माद्वैराग्यतोऽभ्यासं गुरोरग्रे वितन्वतः ।
योगस्य प्राप्य संसिद्धिं विद्वान्मुक्तो भवेद्द्रुतम् ॥७॥

अर्थ : - अति खाणाऱ्याला, अगदीच कमी खाणाऱ्याला, अतिशय झोप घेणाऱ्याला व अति जाग्रण करणाऱ्याला योग साध्य होत नाही. तर हालचाल, आहार, झोप व गती हे सर्व आवश्यक तेवढेच करणाऱ्या साधकालाच योग सुखावह होतो. (६)

म्हणून, वैराग्यपूर्वक गुरूच्या दृष्टीसमोर अभ्यास करणाऱ्या साधकाला, योगाची फलसिद्धी प्राप्त होऊन, तो आत्मज्ञान संपन्न होतो व शीघ्र मुक्त होतो. (७)

विवरण : - योगाभ्यास करणाऱ्याला काय वर्ज्य आहे व काय कर्तव्य आहे ते प्रथम या दोन श्लोकात, श्रीमहाराज सुचवीत आहेत -

आहार, निद्रा, शरीर, वाणी व मन यांचे व्यापार या बाबतीत योगसाधकाने दक्षता घेणे आवश्यक आहे. आपणास मानवेल इतकाच आहार नित्य घ्यावा. त्यापेक्षा अधिक किंवा कमीही असू नये. भुकेपेक्षा अधिक खाल्ले तर झोप, आळस व विविध रोग यांनी प्रतिबंध झाल्यामुळे अभ्यास बंद होईल. तसेच, भूक असतानाही खाल्ले नाही तरीही शरीर, मन थकून जाईल व अभ्यास मुळीच होणार नाही. सामान्यतः आहाराचे प्रमाण शास्त्रात असे दिले आहे.

'अर्धमशनस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥'

अर्ध-पोटी असावे ही म्हण खरी आहे. अर्धे पोट भरेल इतकेच भोजन, त्या वेळी करावे. एक भाग भरेल इतके पाणी घ्यावे आणि प्राणवायूचा संचार खालीवर व्यवस्थित चालू राहाण्याकरिता एक भाग पोटाचा रिकामा ठेवावा. हा आहाराचा नियम योगाभ्यास करणाऱ्यालाच हितावह आहे. असे नसून सर्वांनाच तो हितावह ठरणारा आहे. अन्नाची आवश्यकता कोणाला किती आहे? अभ्यासाने ती साध्य होणारी आहे. याबद्दल स्मृतिकार सांगतात-

'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः।
द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥'

संन्याशाने आठ घासच खावेत. वानप्रस्थाने सोळा, गृहस्थाने बत्तीस आणि ब्रह्मचाऱ्याने लागेल इतके खावे. संन्याशाला फक्त चिंतनादि मानसिक अभ्यासच करावयाचा असतो. इतर कोणताही व्यवहार त्याला नसल्यामुळे त्याला फक्त आठ घासच भोजन करण्यास सांगितले आहे. म्हणूनच तीन घरी भिक्षेमध्ये जेवढे अन्न येईल त्यातूनही देवतादिकांचा भाग काढून ठेवून राहिलेला भाग भक्षण करावयाचा असतो. आत्मचिंतनामध्ये मन अधिक अधिक निमग्न करण्याचाच त्याने अभ्यास ठेवला पाहिजे. फक्त जीवनधारणाकरिता अन्नाचे आठ घास व पाणी याचीच अनुज्ञा त्याला आहे. वनात राहाण्याऱ्या वानप्रस्थ पुरुषाला सोळा घासांची अनुज्ञा आहे. त्याला स्वतःच सर्व जीवनसाधन संपादन करावे लागत असल्यामुळे कष्ट अधिक आहेत. म्हणून संन्याशाच्या दुप्पट भोजन त्याला सांगितले. गृहस्थाला त्याच्यापेक्षाही दुप्पट म्हणजे बत्तीस घासापर्यंत परवानगी आहे. त्याला अर्थातच संसार चालविण्याकरिता बरेच श्रम पडत असल्यामुळे ही इतकी तरतूद केली आहे. आणि गुरुगृहात राहून, पाणी आणणे, लाकडे फोडणे इत्यादी गुरुसेवा करून अभ्यास करणाऱ्या विद्यार्थ्यांला मात्र घासांचा नियम

ठेवला नाही. त्याला लागेल इतके त्याने जेवावे अशी परवानगी देऊन ठेवली आहे. याचा अर्थ एकाच वेळी भरपूर जेवावे असा नसून वरीलप्रमाणे अर्धपोटीच त्याने राहावे. पण तीन वेळाही त्याने आहार केला तरी चालेल. त्याची गुरुसेवा चांगली चालून विद्याभ्यासही आलस्यरहित स्थितीत व्हावा हाच उद्देश आहे. तात्पर्य; हित, मित व मेध्य म्हणजे पवित्र आहार असावा. हा नियम सर्वांनाच लागू आहे. आहार किती घ्यावा हा याबद्दलचा आतापर्यंत विचार झाला. हितावह आहार कोणता हे पुढील श्लोकात सांगितले आहे. आहार पवित्रही असला पाहिजे. शुचिर्भूतपणाने स्वयंपाक करून तो देवाला निवेदन करूनच मग भोजन करावे असाच साधुपुरुषांचा आचार आहे. आणि तो धर्मशास्त्रसंमत आहे. सांप्रत लोकांची प्रवृत्तीच सर्व बंधने झुगारून देण्याकडे विशेष आहे. आणि स्वराज्य मिळूनही राजशासन धर्माविषयी उदासीन आहे. त्यामुळे धर्माधर्माचे ज्ञान नाही, इच्छाही नाही. राज्यकर्ते याला अनुकूल. अशा स्थितीत वरीलप्रमाणे प्राथमिक आहाराचा नियम पाळून योगाभ्यासाची पात्रता संपादन करणारे खरे साधक कितीसे सापडतील ? हा आहाराचा नियम तर सर्वांनाच उपकारक आहे. या नियमाचे परिपालन धर्मबुद्धीने जर होत राहील, तर भारतवर्षाला धान्याची चिंता करण्याचा व इतर राष्ट्रांवर अवलंबून राहण्याचा प्रसंगच आला नसता. आठवड्यातून एक वेळ उपवास करा असे सांगण्याची पाळीच आली नसती. सोमवार, एकादशी, संकष्टी, प्रदोष इत्यादी व्रते शास्त्रविहितच असल्याने ती करणाऱ्यांचा उपवास आपोआपच घडून येतो. शास्त्राप्रमाणे वागणारे लोकच, न सांगताही आज राष्ट्रास पोषक असे वागत आहेत असे कबूल करणे भाग आहे. असो.

आहाराप्रमाणे झोपेच्याबाबतीतही व्यवस्थितपणा पाहिजे. अतिनिद्रा किंवा अतिजागरण उपयोगी नाही. सामान्यतः सूर्यास्तानंतर एक-दीड प्रहरानंतर झोपणे व रात्रीच्या शेवटच्या प्रहरात उठणे हा नियम हितावह आहे. कोंबडा ओरडल्याबरोबर योगेश्वर श्रीकृष्ण जागे होऊन प्रथम आत्मचिंतन करीत असत असे श्रीभागवतामध्ये वर्णन केले आहे. तसेच जास्ती श्रम करणे, जास्ती बोलणे,

जास्ती चालणे हेही साधकाला वर्ज्य आहे, योगाचे मुख्य साध्य चित्त व प्राण याचे स्थैर्य हे आहे. याला वरील सर्व गोष्टी प्रतिबंधक असल्याने त्या वर्ज्य सांगितल्या आहेत. हठयोगप्रदीपिकाग्रंथात योगाला प्रतिबंध करणारे दोष व योगसिद्धी करून देणारे गुण क्रमाने पुढील दोन श्लोकात दाखविले आहेत.

'अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च निश्चयात्
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥'

(हठयोगप्रदीपिका १-१५-१६)

अति खाणे, अति श्रम करणे, अति बडबड करणे, रोज नक्त भोजन, केवळ फलाहार इत्यादी नियम करणे, नेहमी लोकामध्ये वावरणे आणि विषयासक्ती हे सहा दोष, योगाचा नाश करतात आणि मी चित्त स्थिर करीनच असा उत्साह, साध्य-असाध्य हा विचार दूर सारून साधनाकडे प्रवृत्त होणे हे साहस; यावज्जीव प्रयत्न करीत राहणे, कधीही खिन्न न होणे हे धैर्य; संपूर्ण दृश्य विषय, मृगजळाप्रमाणे आभासमात्र अस्थिर आहेत, फक्त परमात्माच स्थिर आहे ही दृढबुद्धी म्हणजे तत्त्वज्ञान; शास्त्राचे व गुरूंचे सांगणे पूर्णपणे खरे आहे असा विश्वासरूप निश्चय; योगाभ्यासाला प्रतिकूल अशा विषयासक्त लोकांच्या संगतीचा त्याग; या सहा गुणांनी योगाची फलसिद्धी होते. याला अनुसरूनच, सातव्या श्लोकात, श्रीमहाराजांनी, योगाभ्यास करीत असताना वैराग्याची आवश्यकता प्रतिपादन केली आहे. आहारविहारादिकातील न्यूनाधिकता सोडून पूर्ण संयमाने वागणे, विषयासक्ती कमी करण्याचा प्रयत्न करणे आणि गुरूंच्या सान्निध्यात असणे हे तीन निर्बंध, योगाभ्यास करणाराने कटाक्षाने पाळले पाहिजेत. असे सहा व सात या दोन श्लोकांत श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे.

क्षाराम्लतिक्तकटुरुक्षकदन्नशाक-
स्त्र्यग्न्यध्वभाङ् न लभतेऽकुशलोऽस्य सिद्धिं ।
शुंठीसितासुमनशालिसदन्नमुद्ग -
चक्षुष्यशाकघृतदुग्धसदम्बुपथ्यम् ॥८॥

अर्थ : - खारट, आंबट, कडू, तिखट, स्निग्ध नसलेले जोंधळे, उडीद इत्यादी धान्य, आणि प्रायः सर्व भाज्या असे पदार्थ, विशेष आवडीने खाणारा, स्त्रीसंग करणारा कामातुर, अग्नीजवळ बराच वेळ शेकत बसणारा, नेहेमी पायी प्रवास करणारा आणि अभ्यासात हुषारी नसणारा, अशा मनुष्याला योगाची फलसिद्धी प्राप्त होत नाही. सुंठ, साखर, गहू, तांदूळ, वरई, सावे, मूग, डोळ्याला हितकारक अशा भाज्या, तूप, दूध, उत्तम शुद्ध पाणी हे सर्व योगाभ्यास करणाऱ्याला पथ्यरूप हितावह असे आहे. (८)

विवरण : - या श्लोकामध्ये आहार कोणता हितावह आहे त्याची नावनिशीवार नोंद केली आहे. जोंधळा, उडीद, मसूर ही धान्ये वर्ज्य असून, तांदूळ, गहू, मूग, सावे, वरई ही ग्राह्य आहेत. तसेच पायाने फार प्रवास नसावा. साक्षात् अग्निसंपर्क नसावा व ब्रह्मचर्याने राहून योगाभ्यास करावा. तूप, दूध व पाणीसुद्धा स्वच्छ व पवित्र असे सेवन करावे. भाज्या फार कोणत्याच न खाणे चांगले, फक्त पाच भाज्या डोळ्यास हितकर अशा घेण्यास हरकत नाही. सर्वही भाज्या डोळ्यास तितक्या हितकार नाहीत. फक्त पाच भाज्या तेवढ्या हितकारक आहेत याबद्दल प्रमाण श्लोक श्रीमहाराजांनी या श्लोकाच्या टीकेमध्ये पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

' सर्व शाकमचक्षुष्यं चक्षुष्यं शाकपंचकम् ।
जीवन्ती वसुमत्स्याक्षी मेघनादा पुनर्नवा ॥'

यांची नांवे हिंदीमध्ये काही सापडली आहेत ती अशी -

(१) जीवन्ती-जीवई, जीयाती; (२) वस्तु-हेतुया; (३) मत्स्याक्षी-मछेछी, छछ मछरी; (४) मेघनादा-चवराई, चवळी अत्समरुषा;(५) पुनर्नवा-करला या पाचही भाज्यांचे गुण वाग्भट; भावप्रकाश इत्यादि वैद्यक ग्रंथात उत्तम प्रकारे वर्णन केले आहेत.

सद्देशे मठिकामध्ये निश्चिन्तो गुरुशिक्षितः ।
कुशाजिनांशुकेष्वेव हठयोगं समभ्यसेत् ॥९॥

अर्थ : - पवित्र देशात, एखाद्या लहानशा कुटीमध्ये, प्रथम दर्भासन त्यावर कृष्णाजिन व त्यावर चांगले स्वच्छ वस्त्र अशा तयार केलेल्या आसनावर बसून, निश्चिंत होऊन, गुरुकडून शिक्षण घेत घेत हठयोगाचा अभ्यास उत्तम प्रकारे करावा.

विवरण : - योगाभ्यासाचे स्थान; उत्तम देश व त्यामध्ये लहानशीच एकट्यापुरती जागा असे असावे. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकार म्हणतात -

'सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुः प्रमाणपर्यन्त शिलाग्निजडवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥१२॥'

(हठयोगप्रदीपिका १)

'जेथ आराणुकेचेनि कोडे । बैसलिया उठो नावडे ।
वैराग्यासी दुणीव चढे । देखिलिया जें ॥'

इत्यादी वर्णन, सहाव्या अध्यायाच्या अकराव्या श्लोकावरील श्रीज्ञानेश्वर महाराजांचे, याबद्दल पाहाण्यासारखे आहे. गुरुच्या देखरेखीखालीच हा अभ्यास व्हावा हे महाराजांनी 'गुरुशिक्षितः' या पदाने या श्लोकात, पुनः सुचविले आहे.

हठयोग शब्दाचा अर्थ, श्रीमहाराजांनी, 'प्राणपानयोर्योगः' असा टीकेमध्ये दिला आहे. याबद्दल हठयोग प्रदीपिकाकार सांगतात -

'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राण कंठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ।।१-४७।।'

याची टीकाः - 'अपानमपानवार्युमूर्ध्वंमुत्थाप्याधारकुंचनेन, प्राणवायुं कंठादधः अधोभागे नयेत् प्रापयेत्'

याचे स्पष्टीकरण श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी सहाव्या अध्यायाच्या चौदाव्या श्लोकात असे केले आहे -

'नासापुटौनी वारा । जो जातसे अंगुळे बारा ।
तो गचीये धरूनी माघारा । आंत घाली ।।२३६।।

तेथ अधावरौते आकुंचे । ऊर्ध्वातळौते खाचे ।
तया खेंवामाजी चक्राचे । पदर उरती ।।३७।।

कुंडलिनी जागृत झाली असताना प्राणापानांचा योग होतो. याला लागणाऱ्या जालंधरबंधादि पूर्वाभ्यासाची माहिती योगज्ञच देऊ शकतील (९)

आसन

गुदमेंढ्रोर्ध्वस्थगुल्फमासीनो यतगुः समः
भ्रुमध्यदृग्वाऽन्यपीठैः सिद्धं तत्राप्यदोऽस्ति सत् ।।१०।।

अर्थ : - हा अभ्यास सिद्धासनाने किंवा दुसऱ्या कोणत्याही आसनाने युक्त होऊन करावा. त्यातही हे सिद्धासन उत्तम आहे. ते असे-गुद व वृषण यावर पायांच्या टाचा ठेवून भुवयांमध्ये दृष्ट लावून जितेंद्रिय राहून समस्थितीत ताठ बसणे हे सिद्धासन होय. सर्व आसनांत हे श्रेष्ठ आहे. (१०)

विवरण : - गुदावर एका पायाची टाच व वृषणावर दुसऱ्या पायाचा घोटा ठेवणे ही मुख्य क्रिया या सिद्धासनात आहे. गुरूंचे देखरेखीखाली याचा अभ्यास चांगला होईल. या आसनाचे महत्त्व हठयोगप्रदीपिकेत असे दाखविले आहे.

'उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनीकला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ।। (१-४२)

उन्मनी अवस्था व मूलबंध, जालंधरबंध, उड्डीयानबंध हे तीनही बंध हे सर्व नुसते सिद्धासन जर दृढ उत्तम प्रकारे लागले तर अनायासाने साध्य होते. त्याकरिता आयास पडत नाही. नुसत्या सिद्धासनाच्या अभ्यासानेच बारा वर्षात योगसिद्धि प्राप्त होते असे दुसऱ्या एका श्लोकात सांगितले आहे. (१०)

प्राणायाम

वायु शक्त्येडयापूर्य हृदि स्थाप्य हनुं जपन् ।
हंसं शक्त्या कुंभयित्वा पश्चादाकर्षितोदरः ।।११।।
शनैर्विरेचयेदेष प्राणायामः सुसिद्धिदः ।
पंचध्यान्ह्यान्ह्याशीत्यन्तैः प्रतिसन्ध्यसुयामकैः ।।१२।।
गन्तव्यमार्गस्थशक्तिचालनाद्भस्त्रया भवेत् ।
नाडीशुद्धिस्त्रिमासोर्ध्वं प्राणो याति लयं सहृत् ।।१३।।

अर्थ : - शक्तीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने वायू आत घेऊन म्हणजे पूरक करून, हृदयावर हनुवटी ठेवून गायत्री-मंत्र किंवा सोहंमंत्र यांचा मानसिक जप करीत राहून, शक्तीप्रमाणे कुंभक करून नंतर आपले पोट ज्याने आत ओढले आहे, अशा साधकाने तो वायू हळूहळू उजव्या नाकपुडीने बाहेर सोडावा म्हणजे रेचक करावा. हा प्राणायाम उत्तम सिद्धि देणारा आहे. असे पूरक, कुंभक व रेचक मिळून होणारे प्राणायाम प्रतिदिवशी त्रिकाल करावेत व ते पाच पाच या प्रमाणाने वाढवून ऐंशीपर्यंत न्यावेत. तसेच, भस्त्रिका व प्राणवायूच्या गमनाला योग्य अशा मार्गातील शक्तीचे चालन करावे. याप्रमाणे प्राणायाम, भस्त्रिका व शक्तिचालन

या तीन साधनांच्या अभ्यासाने तीन महिन्यांनंतर सर्व नाड्यांची शुद्धी होते आणि प्राणवायू चित्तासह विलीन होतो. (११-१२-१३)

विवरण : - प्राणायामाचे स्वरूप, त्याच्या अभ्यासाची पद्धत व त्याचे फल हे विषय वरील तीन श्लोकांतून मांडलेले आहेत. पूरक, कुंभक व रेचक यांना प्राणायाम असे म्हणतात.

'प्राणस्य शरीरान्तःसंचारिवायोर्निरोधनं आयामः प्राणायामः'

अशी प्राणायामाची व्याख्या ब्रह्मानंदांनी केली आहे. शरीरात संचार करणाऱ्या वायूचे निरोधन म्हणजे प्राणायाम होय.

'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम्'

असे श्रीगोरक्षनाथही सांगतात. रेचक प्राणायाम, पूरक प्राणायाम व कुंभक प्राणायाम असे प्राणायामाचे तीन प्रकार आहेत.

'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः'

उदरातून वायु बाहेर काढणे याला रेचक म्हणतात.

'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः'

बाहेरून उदरात वायु भरणे याला पूरक म्हणतात.

'संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत्'

एखाद्या कुंभात जसे पाणी भरून ठेवतात तसे वायू उदरात भरून ठेवणे याला कुंभक म्हणतात. सहित-कुंभक व केवल-कुंभक असे कुंभकाचे दोन प्रकार आहेत.

'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहित कुंभकः'

रेचकानंतर केला जाणारा व पूरकानंतर केला जाणारा असे दोन प्रकारचे सहित-कुंभक आहेत. रेचकपूर्वक केला जाणारा कुंभक, रेचकप्राणायामात अंतर्भूत होतो. सूर्यभेदन, उज्जायी इत्यादी सर्व प्रकार पूरकपूर्वक कुंभकाचेच आहेत. रेचक किंवा पूरक न करता, नासिकेत असणारा वायू स्थिर करणे याला केवल-कुंभक असे म्हणतात -

'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुं ।
सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'

हे केवल-कुंभकाचे वर्णन आहे. केवल कुंभकावस्था ही सर्वश्रेष्ठ अवस्था आहे. ईशगुरुकृपेनेच केवलकुंभकाची सिद्धि होणारी आहे. प्राणायाम सांगत असताना, पूरकानंतर 'हृदिस्थाप्य हनुं' आणि कुंभकानंतर 'पश्चादाकर्षितोदरः' असे सांगितले आहे. पूरकानंतर जालंधरबंध करावा व कुंभकानंतर रेचकाच्या पूर्वी उड्डीयानबंध करावा असे, श्रीमहाराज सुचवीत आहेत. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकारांचीहि संमती पुढीलप्रमाणे आहे -

'पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ।
कुंभकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ (२।४५)'

याचे फल पुढील श्लोकात सांगितले आहे.

'अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ (२।४६)'

या श्लोकात तिसरा मूलबंध दाखविला असून, या तीन बंधांच्या अभ्यासाने प्राणवायू सुषुम्ना नाडीत प्रवेश करतो असे फल सांगितले आहे. या तीनही बंधांचे सविस्तर वर्णन, हठयोगप्रदीपिकेच्या तृतीय उपदेशामध्ये आलेले आहे. पूरक, कुंभक व रेचक यांपैकी पूरक डाव्या नाकपुडीने करून उजव्या नाकपुडीने रेचक करावा असे येथे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. पुनः उजव्या नाकपुडीने पूरक व

डाव्या नाकपुडीने रेचक करावा असा पक्ष हठयोगप्रदीपिकाकारांनी मांडला आहे. पूरक हळूहळू किंवा वेगाने कसाही केला तरी चालेल. रेचक मात्र हळूहळूच केला पाहिजे. जोराने केल्यास शक्तिक्षय होतो. कुंभक मात्र अति प्रयत्नाने करावा याबद्दल -

'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्'

आत घेतलेला वायू, केश, नखे या सर्वांमध्ये पसरेपर्यंत कुंभक अत्यंत प्रयत्नाने कारावा असे हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात. या वरील टीकाकारांचे विवरण असे.

'तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः। यत्नेन कुंभकः क्रियते तथा तस्मिन् गुणाधिक्यं भवेत्। यथा यथाच शिथिलः कुंभकः स्यात्तथा तथा गुणाल्पत्वं स्यात्। अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम्। पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः। वेगादपि कृते पूरके दोषाभवात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेवकर्तव्यः। वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च' (१)

याप्रमाणे प्राणायाम सांगून, तो उत्तम सिद्धी देणारा आहे असे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. तीन महिनेपर्यंत प्राणायामाचा अभ्यास व्यवस्थित झाला असता त्याचे प्राथमिक फल म्हणजे सर्व नाड्यांची शुद्धी होणे हे आहे. तो अभ्यास कसा करावा याची काही कल्पना श्रीमहाराजांनी येथे दिली आहे. प्रातःकाली, मध्यान्हकाली व सायंकाळी असा तीनही वेळ प्राणायामाचा अभ्यास करावा. प्रत्येक वेळी ऐंशी प्राणायाम करावेत. अरुणोदयापासून सूर्योदयानंतर तीन घटकांपर्यंत काल हा प्रातःकाल होय. दिवसाच्या पाच भागांपैकी मधला काल

(१) *त्यासाठी कुंभक अति प्रयत्नपूर्वक करावा. यत्नपूर्व कुंभक केल्याने तो अधिक गुणकारी होतो. कुंभक जेवढा शिथिल होईल तेवढाचा त्याचा गुणही कमी होतो. याविषयी योग्यांचा अनुभव प्रमाण आहे. पूरक हळूंहळूं अथवा वेगानेही करतां येतो. रेचक मात्र हळूंहळूंच केला पाहिजे. कारण रेचक वेगाने केल्यास बलहानी होते. म्हणून रेचक वेगाने न करतां सावकाशच करावा. इत्यादि अनेक प्रकारे ग्रंथकारांनी सांगितले आहे.*

मध्यान्हकाल, आणि सूर्यास्तापूर्वी व नंतर तीन घटका हा संध्याकाल होय. या तीन कालाप्रमाणे मध्यरात्रीही अभ्यास करावा असे हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात.

'प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ।
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत ।। (२११)'
'अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत् त्रिसध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः'

अर्धरात्री प्राणायाम करण्याची शक्ती नसेल तर त्रिकाल करावेत असा शिष्टसंप्रदाय आहे असे टीकाकार सांगतात. प्रत्येक वेळेस ऐंशी याप्रमाणे चार वेळा प्राणायाम केले तर प्रत्येक दिवशी तीनशे वीस (३२०) प्राणायम होतात. तीन वेळा केले तर दोनशे चाळीस (२४०) होतात. म्हणजे तीन महिन्यांत २१,६०० इतके प्राणायामाचे पूर्ण होतात. म्हणजे रोजच्या श्वास संख्येइतके प्राणायाम होतात. प्राणायामाचे एक पुरश्चरणच पूर्ण होते असे म्हणण्यास हरकत नाही. कनिष्ठ, मध्यम व उत्तम असे तीन प्रकार प्राणायामाचे आहेत. बारा मात्रांचा कनिष्ठ, चोवीस मात्रांचा मध्यम व छत्तीस मात्रांचा उत्तम याबद्ल गोरक्षनाथं सांगतात.

'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः।
उत्तमे त्रिगुणा मात्रा प्राणायामे द्विजोतमैः ।।'

मात्राकालाचे वर्ण पुढील श्लोकात स्कंदपुराणामध्ये दिले आहे.

'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम्।
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते।।'

मात्राकालाबद्दल यावल्क्यांचे वचन असे आहे

'अंगुष्टांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् ।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ।।'

फार सावकाश नाही व फार त्वरेने नाही अशा रीतीने गुढग्यावरून हात फिरवून एक चुटकी वाजवावी. याला लागणारा काल म्हणजे मात्रा असे याज्ञवल्क्यांचे मत दिसते.

'एक श्वासमयी मात्रा प्राणायामे निगद्यते'

असे दुसरे एक स्कंदपुराण वचन आहे. याचे व्याख्यान, योगचिंतामणिकार असे करतात -

'निद्रावशंगतस्य पुंसो यावतत्कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते इति।'

'मनुष्य झोपेत असताना, श्वास बाहेर जाऊन आत येण्यास जितका काल लागतो तो मात्रा काल समजावा.' याप्रमाणे निरनिराळ्या प्रकारांनी मात्राकाल सांगितला आहे. याज्ञवल्क्यांनी दाखविलेला तो उत्तम प्राणायामाचा काल समजावा म्हणजे विरोधाची प्रसक्ती नाही. प्राणवायू ब्रह्मरंध्रात स्थिर होणे हे उत्तम प्रणायामाचे लक्षण हठयोगप्रदीपिकेत पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततोवायुं निबन्धयेत्॥' (२-१२)

प्राणायाम करीत असताना घाम येणे हे कनिष्ठ प्राणायामाचे लक्षण होय. शरीर कापणे हे मध्यम प्राणायामाचे लक्षण आणि ब्रह्मरंध्रात (टाळूमध्ये) प्राण जाऊन राहाणे हे उत्तम प्राणायामाचे लक्षण आहे. प्राणायाम करीत असताना घाम आला तरी तोच घाम चांगले चोळून शरीरात जिरवावा म्हणजे शरीर बळकट व हलके होते. प्राणायामाचा प्राथमिक अभ्यास चालू असताना भोजनामध्ये दूध, तूप असणे आवश्यक आहे. तोच अभ्यास दृढ झाला असता म्हणजे केवलकुंभक सिद्ध झाल्यानंतर मात्र तसा नियम नाही. तीन महिने प्राणायामाचा अभ्यास वर सांगितल्याप्रमाणे केला असता नाडीशुद्धी होते असे श्रीमहाराजांनी तेराव्या श्लोकात सांगितले आहे. नाडीशुद्धी झाल्याची चिन्हे पुढीलप्रमाणे आहेत -

'यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिन्हानि ब्राह्यतः।
कायस्य कृशताकांतिस्तदा जायेत निश्चितम्॥१९॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥२०॥'

(हठयोगप्रदीपिका २)

मेद व कफ ज्याच्या शरीरात अधिक आहेत त्याने प्रथम ते दूर करण्याकरिता प्राणायामाभ्यासाच्यापूर्वी षट्कर्माचा अभ्यास करावा. ती षट्कर्में अशी -

'धौतिर्बस्तिस्तथानेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥२२॥'

(हठयोगप्रदीपिका २)

वरील षट्कर्मांची माहिती योग्य मार्गदर्शकाकडून करून घ्यावी. या सहा कर्मांचे फलही तेथेच सांगितलेले आहे -

'षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥२॥'

(हठयोग २।३६)

ही षट्कर्मे अनावश्यक आहेत कारण प्राणायामच सर्व मलांची शुद्धी करण्यास समर्थ आहे असे याज्ञवल्क्यादी आचार्यांचे मत आहे. याला अनुसरूनच येथे श्रीमहाराजांनी षट्क्रिया न सांगता प्राणायामापासूनच आरंभ केला असावा. तेराव्या श्लोकात प्राणायामाबरोबरच भस्त्रा व शक्तिचालन करण्यास श्रीमहाराजांनी सांगितलेले आहे. या दोन्हींचेही स्पष्टीकरण पुढे ग्रंथातच आले आहे. (११-१२- १३)

लीनं सपंचविपलद्विपलं सोऽसुयामकः ।
ब्रह्मरन्ध्रे वर्धमानः प्रत्याहारादयः स तु ॥१४॥

स्वकालद्वादशगुणोत्तरकालावधिः स्मृतः ।
समाधिर्द्वादशदिनसाध्यः परमदुर्लभः ॥१५॥

अर्थ :- ब्रह्मरंध्रात, (टाळूमध्ये) दोन पळे व पाच विपळे (५० सेकंद) इतका कालपर्यंत प्राण लीन झाला (स्थिर झाला) म्हणजे तो उत्तम प्राणायाम समजावा. आणि तोच प्राण तेथे अधिक स्थिर होऊ लागला असता, प्रत्याहारादी पुढील अंगे सिद्ध होतात. आपल्या काळाच्या बारा पट काल, उत्तरांगाचा काळ समजावा. प्राणायामाच्या बारा पट काळ म्हणजे पंचवीस पळे, (१० मिनिटे) इतका काळ प्राण ब्रह्मरंध्रात स्थिर राहू लागला म्हणजे प्रत्याहार सिद्ध झाला असे समजावे. प्रत्याहाराच्या बारा पट म्हणजे पाच घटका काळ (२ तास) धारणेचा समजावा. साठ घटका म्हणजे एक दिवस (चोवीस तास) हा ध्यानाचा काळ समजावा. याच्या बारा पट म्हणजे बारा दिवस, हा समाधीचा काळ समजावा. बारा दिवसांचा साध्य झालेला समाधी फारच दुर्लभ आहे. (१४ - १५)

विवरण :- प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी यांच्या सिद्धीची कालमर्यादा १४ व १५ या दोन श्लोकांतून दाखविली आहे. सर्व योगसाधनांमध्ये प्राणायाम मुख्य आहे. तो सिद्ध झाला तर पुढील प्रत्याहारदिकांची सिद्धी होते नाहीतर होत नाही. वस्तुत: प्राणायामच उत्तरोत्तर वाढत जाऊ लागला म्हणजे तोच प्रत्याहारादि शब्दांनी सांगितला जातो. हेच स्कंदपुराणात पुढील श्लोकांनी सांगितले आहे -

‘प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः ।
प्रत्याहारद्विषट्केण धारणा परिकीर्तिता ॥
भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्ड यातायातं निवर्तते ॥ ’

याला अनुसरूनच या दोन श्लोकांत महाराजांनी प्राणायामापासून समाधीपर्यंत सर्व अंगांचा सिद्धिकाल सांगितला आहे. हठयोगप्रदीपिकेच्या द्वितीयोपदेशातील बाराव्या श्लोकाच्या टीकेत ब्रह्मानंदांनी शेवटी स्पष्टीकारण केले आहे -

'बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः। यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम्। यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम्। '[१]

पण प्राणायामाची सिद्धी होणे आवश्यक आहे. ती होणेकरिता तीन महिनेपर्यंत अभ्यास कसा केला पाहिजे हे मागील श्लोकात सांगितले आहे. जालंधरबंध, उड्डियानबंध व मूलबंध या तीन बंधांनी युक्त असा प्राणायामाचा अभ्यास व्हावा यांपैकी जालंधरबंध व उड्डियानबंधाची सूचना श्रीमहाराजांनी, 'हृदि स्थाप्य हनुं' व 'पश्चादाकर्षितोदरः' या दोन वाक्यांनी केली आहे. तिसरा मूलबंध, हठयोगप्रदीपिकेत अधिक सांगितला आहे. या तीनही बंधांची संक्षिप्त लक्षणे टीकाकारांनी सांगितली आहेत. ती अशी -

(१) कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदिस्थापनं जालधरबंध :,
(२) 'प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः,
(३) पार्ष्णिभागेन (गुल्फयोरधः प्रदेशः) योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं (योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं) गुदस्याकुंचनं मूलबंधः[२]

प्रत्येक बंधाचे फल तेथेच दाखविले आहे. मूलबंधाचे वर्णन करीत असताना हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात -

---

[१]*बंधपूर्वक केलेल्या प्राणायामाचा जेव्हा १२५ विपळे स्थिर होतो तेव्हां तो ब्रह्मरंध्रांत प्रवेश करतो. ब्रह्मरंध्रांत गेलेला प्राण जेव्हां २५ विपळांपर्यंत टिकतो तेव्हां प्रत्याहार (होते). जेव्हां (तो प्राण) पांच घटकांपर्यंत (ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ती धारणा. जेव्हां ६० घटका (प्राण ब्रह्मरंध्रांत) राहतो ते ध्यान. (आणि) बारा दिवसपर्यंत (प्राण ब्रह्मरंध्रांत स्थिर झाला की समाधि असे हे सर्व रमणीय आहे.*

[२]*१) गळा ओढून हनुवटी छातीला टेकवणे हा जालंधरबंध. २) विशेष प्रयत्नांनी बेंबीचा भाग पाठीकडे खेंचणे हा उड्डियाणबंध. ३) टांचेच्या खालच्या भाग योनिस्थानावर (गुद आणि लिंग यांच्यामधली शिवण) जोराने दाबून गुदाचे आकुंचन हा मूलबंध.*

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।।६६।।
ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।।६७।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्तासंप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगाभिः सदा ।।६९।।[१] (ह. यो. प्र. ३)

या श्लोकावर टीकाकारांनी सविस्तर विवरण केले आहे. ते पहावे. कुंडलिनी शक्ती जागृत होऊन सुषुम्नानाडीत प्रवेश करते असे फल मूलबंधाचे दिले आहे. प्राणायामाभ्यासाचे वेळी तीनही बंधांची आवश्यकता पुढील श्लोकात दाखविली आहे.

'अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः।। ४६।। (ह.यो.प्र. २)

हे तीनही बंध गुरूमुखातून नीट समजून घ्यावेत (१४ । १५)

भस्त्रिका

समासीनो यतास्योऽन्तः प्राणं दक्षिणया त्यजेत्।
सारं लगति हृत्कंठकपोलावध्यसौ यथा।। १६।।

लोहकारस्य भस्त्रावच्छक्त्याश्वापूर्य रेचयेत्।
वामां मध्यानामिकाभ्यां धृत्वा जाते श्रमे विधेः।। १७।।

[१] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

पीत्वा प्राणं कुम्भयित्वा धृत्वाङ्गुष्ठेन दक्षिणम्।
वामया रेचयेन्मन्दं तथाथ प्राग्वदाचरेत्।। १८।।
द्विनाड्यभ्यासाद्यामार्धं शक्तिर्मार्गं ददात्यरम्।
भस्त्रेयं सर्वदोषघ्नी रूक्पापघ्न्यपि सिद्धिदा।। १९।।

अर्थ :- समस्थितीत ताठ बसून, मुख झाकून, आतला वायू उजव्या नाकपुडीने बाहेर टाकावा म्हणजे रेचक करावा. तो जोराने आवाज होईल असा करावा. हृदय, कंठ व गाल यांच्यापर्यंत तो प्राण जाऊन पोचेल इतक्या जोराने रेचक करावा. डावी नाकपुडी, मध्यमा व अनामिका या दोन बोटांनी दाबून धरून, उजव्या नाकपुडीनेच, लोहाराच्या भात्याप्रमाणे शक्तीप्रमाणे लवकर लवकर वायू आत घेऊन बाहेर सोडावा. येथे फक्त पूरक व रेचकच आहे. कुंभक नाही. असे करीत असता श्रम झाले तर विधीप्रमाणे प्राणवायू आत घेऊन म्हणजे पूरक करून, उजवी नाकपुडी आंगठ्याने दाबून धरून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक सावकाश करावा. नंतर पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक व रेचक सारखे, जलद, जोराने करावेत. याप्रमाणे क्रमाने दोनी नाकपुडींनी, अर्धा प्रहरपर्यंत पूरक व रेचक यांचा रोज अभ्यास केला तर त्याने शक्ती शीघ्र मार्ग देते ही सर्व कफादी दोषांचा नाश करणारी, रोग व पाप यांचा नाश करणारी, सिद्धिदायक अशी भस्त्रा नावाची क्रिया आहे. (१६-१७-१८-१९)

विवरण :- या चार श्लोकांत, भस्त्रिका कशी करावी, व तिचे फल काय हे श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे. कुंभकाचे आठ प्रकार हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले असून त्यांपैकी भस्त्रिका या प्रकाराचे विशेष वर्णन केले आहे. ते श्लोक असे

'सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ।। ४४।।

याप्रमाणे कुंभकाचे आठ प्रकार दाखविले. भस्त्रिकेचे सविस्तर विवेचन पुढील श्लोकातून आले आहे -

'ऊर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।। ५८।।

सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।। ५९।।

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ।। ६०।।

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्रा वेगेन चाल्यते ।। ६१।।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ।। ६२।।

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ।। ६३।।

विधिवत्कुभकं कृत्वा रेचयेदिड्यानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।। ६४।।

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थ कफाद्यर्गलनाशनम् ।। ६५।।

सम्यग्गात्रसमुद्भूत ग्रंथित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्राख्यं कुंभकं त्विदम् ।।६६।।

(हठयोगप्रदीपिका २)

पद्मासन घालून भस्त्रिकेचा अभ्यास करावा असे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे मत आहे याला श्रीमहाराजांचा विरोध दिसत नाही. या अभ्यासाचे वेळी तोंड बंद पाहिजे. उजव्या नाकपुडीने रेचकपूरक सारखे जोराने प्रथम करावेत. असे करीत

असता दमल्यासारखे वाटल्यास उजव्या नाकपुडीने पूरक करून रेचक न करता, उजवी नाकपुडी बंद करून कुंभक करावा व डाव्या नाकपुडीने रेचक प्रथम सावकाश करावा आणि मग पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरक जोरात सुरू करावेत. कुंभकानंतर रेचक करणे असल्यास, तो मात्र सावकाशच केला पाहिजे. लोहाराच्या भात्याप्रमाणे वारा घेण्याचे व सोडण्याचे काम सारखे चालू ठेवावे. हा डाव्या नाकपुडीने रेचक पूरकाचा अभ्यास चालू असल्यास श्रम वाटल्यास पूर्वीप्रमाणे डाव्या नाकपुडीने पूरक झाल्याबरोबर ती बंद करून कुंभक करावा व उजव्या नाकपुडीने पूर्वीप्रमाणे रेचक पूरक जोराने सारखे सुरू करावेत. हा अभ्यास अर्धा प्रहरपर्यंत तरी करावा असे श्रीमहाराज सांगतात. हा भस्त्रिकाभ्यास एकेका नाकपुडीने क्रमाने करावा यापेक्षा दुसरी पद्धत अशी की -

डावी नाकपुडी बंद करून उजव्या नाकपुडीने प्रथम पूरक करावा. लगेच ती नाकपुडी बंद करून डाव्या नाकपुडीने रेचक करावा. म्हणजे एका नाकपुडीने पूरक व दुसऱ्या नाकपुडीने रेचक असे सारखे जलद करावे. असे शंभर वेळ करून श्रम वाटल्यास, पूरकोत्तर कुंभक करून डावीने सावकाश रेचक करावा आणि नंतर डावीने पूरक व उजवीने रेचक असा अभ्यास सुरू करावा. पूर्वीच्या पद्धतीत अभ्यासाचा आरंभ रेचकापासून असून, रेचक - पूरक दोनीही एकाच नाकपुडीने करावयाचे आहेत आणि दुसऱ्या पद्धतीत, अभ्यासारंभ पूरकापासून असून एकीने पूरक तर लगेच दुसरीने रेचक करावयाचा आहे. या दोन्हीही पद्धती, हठयोगप्रदीपिकेच्या द्वितीयोपदेशातील चौसष्टाव्या श्लोकाच्या टीकेत ब्रम्हानंदांनी दाखविल्या आहेत तो ग्रंथ असा -

भस्त्राकुंभकस्येवं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजा-नामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरका: कार्या:। श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांऽगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत्। पश्चादिडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य

वामनासिकापुटेन भस्त्रावझ्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः।

वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणानासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) झटित्यगुंष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बंधपूर्वकं (कुंभकं) कृत्वा इडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद् भस्त्रावत्। पुनः पुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा (तत्) अनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः।'

या भस्त्रिकेच्या दोन पद्धतींपैकी पहिली पद्धती श्रीमहाराजांनी येथे सांगितली आहे. ही भस्त्रिका सुप्त कुंडलिनी शक्तीला जागृत करणारी असून, सुषुम्नानाडीतील वायूच्या गतीला प्रतिबंधक असणारे कफादिदोष नष्ट करणारी आहे. 'शक्तिर्मार्गिददात्यरं' 'सर्वदोषघ्नी' या पदांनी, श्रीमहाराजांनी हेच सुचविले आहे. भस्त्रिकाकुंभक, त्रिदोषहर असून तो सर्वदा हितकर आहे असे टीकाकार सांगतात.

'सर्वेषां कुंभकांना सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ। सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हितौ। भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः। सर्वेषां कुंभकाना सर्वंरोगहरत्वेऽपि, सूर्यभेदेनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इतिबोध्यम् ।'[१]

[१] *सर्वच कुंभक सर्वकाळ हितकर असले तरी सूर्यभेदन आणि उज्जायी हे उष्ण असून बहुधा शीतकाळांत हितकर असतात. तसेच सीत्कारी आणि शीतली हे शीतल असल्याने उष्णकाळांत हितकर असतात. भस्त्रा कुंभक मात्र सर्वकाळीं हितकर असतो. सर्वच कुंभक सर्वच रोग दूर करतात. तरी पण सूर्यभेदन मुख्यतः वातहारक आहे. उज्जायी मुख्यतः कफहारक व सीत्कारी शीतली मुख्यतः पित्तहारक आहेत. भस्त्रा कुंभक मात्र तीनही दोषांचा निवारक आहे हे ध्यानांत ठेवावे.*

याप्रमाणे भस्राकुंभक विशेष महत्त्वाचा असल्याने तो अवश्य नेहमी करावा. बाकीचे कुंभक यथासंभव करावेत असे ब्रह्मानंद लिहितात

'अतएव इदं भस्रा इत्याख्यायस्येति भस्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थ:। सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्या:'

म्हणून भस्रिकेचाच अभ्यास येथे श्रीमहाराजांनी सांगितला आहे.

(१६-१७-१८-१९)

शक्तिचालन

शिश्ननाभ्यन्त:स्थकंदं सति वज्रासने पदौ ।
धृत्वा दृढं प्रपीड्यारं भस्रां सिद्धासनास्थित: ॥ २०॥

समाकुंचितनाभिर्द्राक्कुर्याच्छक्तिश्चलत्यत: ।
यामार्धाभ्यासतो धैर्यान्मध्यनाड्यां समुद्‌गता॥ २१॥

ऊर्ध्वाकृष्टा भवत्किंचिच्छक्तिर्नाडीमुखं त्यजेत् ।
तत: स्वतो व्रजत्यूर्ध्वं प्राणोऽतस्तां विचालयेत ॥ २२॥

चालनात्सर्वसिद्ध्यप्तिर्मडलाद्योगिनो न तु ।
रूग्भ्यो भयं यमाच्चापि नेतोऽन्यन्नाडिशोधनम् ॥ २३॥

अर्थ :- वज्रासन घालून आपले दोनी पाय हातांनी धरून; पायांच्या टाचानी शिश्न व नाभि यांच्यामध्ये नऊ अंगुले असणाऱ्या कंदावर ताडन करावे. नंतर सिद्धासनावर बसून गुरूपासून समजून घेतलेल्या परिधान युक्तीने नाभीचे आकुंचन करून लवकर लवकर भस्रिका करावी. यामुळे शक्ती चलित होते. असाच धैर्याने अर्धा प्रहरपर्यंत अभ्यास केल्याने सुषुम्नानाडीमध्ये सावध झालेली शक्ती किंचित् वर आकृष्ट होते व सुषुम्नानाडीचे मुख सोडून देते. नंतर मार्ग मोकळा झाल्यामुळे प्राणवायू आपोआप वर ब्रह्मरंध्राकडे जाऊ लागतो. म्हणून त्या शक्तीचे चालन करावे. या शक्तीचालनाभ्यासाने योगी पुरुषाला सर्व सिद्धींची

प्राप्ती चाळीस दिवसांत होते. रोगांचे व यमाचेही भय राहात नाही. या शक्तिचालनाशिवाय दुसरे नाडी शुद्धीचे साधन नाही. (२०-२१-२२-२३)

विवरण :- या चार श्लोकांमध्ये शक्तिचालन नावाच्या मुद्रेचे विवेचन श्रीमहाराजांनी केले आहे. हठयोगामध्ये एकंदर दहा मुद्रा सांगितल्या आहेत त्या अशा आहेत -

'महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ।। ६।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ।। ७।।

(हठयोगप्रदीपिका ३/६-७)

१) महामुद्रा, २) महाबन्ध, ३) महावेध, ४) खेचरी, ५) उड्डयानबंध, ६) मूलबंध, ७) जालंधरबंध, ८) विपरीतकरणी, ९) वज्रोली, १०) शक्तिचालन

अशा दहा मुद्रा योगशास्त्रामध्ये दाखविल्या आहेत. यापैकी जालंधरबंध, उड्डयानबंध, खेचरी, विपरीतकरणी, वज्रोली व शक्तिचालन या सहा मुद्रांचा उल्लेख योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केलेला आहे. त्यातही, शक्तिचालनमुद्रेचे विवेचन या चार श्लोकात सुस्पष्ट केले आहे.

शक्ती म्हणजे कुंडलिनी. तिचे चालन करणे म्हणजे तिला हालविणे, जागे करणे असा सामान्यत: शक्तिचालन शब्दाचा अर्थ आहे. कुंडलिनीची सात नावे पुढीलप्रमाणे आहेत.

'कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शद्बाः पर्यायवाचकाः ।। १०४।।'(ह. यो. प्र. ३)

योगासंबंधी असणाऱ्या शास्त्रामध्ये कुंडलिनी ही सापाप्रमाणे ३।। वेटोळे घालून, शेपूट मुखात घेऊन, मूलाधारात म्हणजे गुदाच्यावर दोन बोटे या

स्थानात सुषुम्नारूप ब्रह्माचे द्वार अडवून निजली आहे, असे वर्णन केलेले आढळते. पायाच्या तळव्यापासून मस्तकावरील केसापर्यंत आपल्या हाताच्या बोटांनी ९६ बोटे इतके प्रमाण शरीराचे आहे. शरीराच्या बरोबर मध्यभागी ४८ बोटांवर कुंडलिनीचे निवासस्थान आहे. याबद्दल हठयोगप्रदीपिकाकार स्पष्टीकरण करतात -

'कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।। १०७।।'

(ह. यो. प्र. ३)

कंदाच्यावर कुंडलिनी शक्ती निजलेली आहे. तिचे चालन करण्याकरिता कंद ताडन करावे असे 'शिश्नाभ्यंतस्थकंदं प्रपीड्य' या वाक्याने श्रीमहाराज येथे सुचवीत आहेत. कंद म्हणजे काय ते पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

'ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबर लक्षणम्।। ११३।।'

(ह.यो.प्र.३)

गुदस्थानापासून वर एक वीतभर म्हणजे बारा बोटे, या मापाचे, ज्याची लांबी रुंदी चार बोटे आहे असे, मऊ, शुभ्र, एखाद्या कमलांतरी गुंडाळलेल्या वस्त्रासारखे हे कंदाचे स्वरूप आहे असे योगी लोकांनी वर्णन केले आहे.

श्रीमहाराजांनी टीकेमध्ये, 'शिश्ननाभ्यंत:स्थं नवांगुलकंदं' असे सांगितले आहे. याचा अभिप्राय असा आहे की -

गुदापासून दोन बोटे सोडून एक बोट मापाचे शरीराचे मध्यस्थान आहे. त्या मध्यस्थानापासून नऊ अंगुले कंदस्वरूप आहे. म्हणजे गुदापासून ते बारा अंगुले म्हणजे वीतभर आहे असे हठयोगप्रदीपिकाकारांना म्हणावयाचे आहे म्हणजे काही विरोध नाही. याबद्दल याज्ञवल्क्य असे सांगतात -

'गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेंढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः।
देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्॥

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलं।
चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम्॥

अंडाकृतिवदाकार भूषितं च त्वगादिभिः।
चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्॥'[१]

श्रीगोरक्षनाथही कंदाचे विवेचन पुढील श्लोकात करतात-

'ऊर्ध्वं मेंढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत्।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥'[२]

याप्रमाणे कंदस्थानामध्ये राहाणारी कुंडलिनी शक्ती, कंदताडनाने जागृत होऊन सुषुम्ना नाडीतून वर जाऊ लागते. त्यामुळे प्राणही ब्रह्मरंध्राकडे जाऊ लागतो आणि पुढे क्रमाने तो ब्रह्मरंध्रात स्थिर झाला असता, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादी पुढील अंगाची सिद्धी होते. इतकेच नाही तर, या शक्तिचालनाच्या अभ्यासाने, चाळीस दिवसात सर्व सिद्धीचा लाभ होतो, नाडी शुद्धी होते, इत्यादी फल याचे सांगितले आहे. या अभ्यासाचा प्रकार सर्व योग्य गुरूकडूनच समजून येईल. (२०-२१-२२-२३)

---

[१] *गुदाच्या दोन अंगुळे वर आणि लिंगाच्या दोन अंगुळे खाली देहाच्या मधोमध मानवांच्या शरीराचा मध्यबिंदु (तंत्रग्रंथांत) सांगितला आहे. मनुष्यांच्या कंदाचे ठिकाण ह्या देहाच्या मध्यबिंदूपासून नऊ अंगुळे वर चार अंगुळे लांब आणि तेवढेच रुंद आहे. त्याचा आकार अंडाकृतीप्रमाणे असून त्याच्यावर त्वचादींनी ते सजवलेले आहे. चतुष्पाद, पक्षी इत्यादि तिर्यक् प्राण्यांत ते उदराच्या मध्यावर असते.*

[२] *लिंगाच्या वर आणि बेंबीच्या खाली पक्ष्याच्या अंडाच्या आकाराची कंद नांवाची योनि आहे तिथून (शरीरांतील) बाहत्तर हजार नाड्या उगम पावतात.*

खेचरी मुद्रा

चालितायामपि प्राणो बद्धा चेद्रसना सुखम् ।
वज्रत्यूर्ध्वं सिद्धिपूर्वं राजयोगपदप्रद: ।। २४।।

अर्थ :- कुंडलिनी शक्तीची हालचाल सुरू झाली असता, जिव्हा जर एका विशिष्ठ ठिकाणी ठेवली तर प्राणवायू , सुखाने वर ब्रह्मरंध्राकडे जातो व तो आणिमादिसिद्धी देऊन राजयोगाचीही भूमिका देतो (२४)

जिव्हां मूलशिरां छित्वा रोममात्रं प्रघर्षयेत् ।
पथ्यासैंधवचूर्णैर्गां प्राग्वत्सप्तदिनैर्मुहु: ।। २५।।
षण्मासादिति जिव्हाध: शिराबंधो विनश्यति ।
मुद्रा स्यात्खेचरी त्र्यध्वे योजितावाङ्मुखीकला ।। २७।।

अर्थ :- जिभेच्या खाली असणारी शीर, एक केसभर छेदाची आणि हिरडा व सैंधव यांचे चूर्ण तेथे चोळावे. याप्रमाणे सात दिवसांनी पुन: पूर्वीप्रमाणे छेदन वगैरे करावे. असे सहा महिनेपर्यंत केले असता, जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचे बंधन नष्ट होते. नंतर तीन नाड्यांच्या मार्गात पडजिभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रामध्ये, वर अग्र करून ती जीभ घातली असता, खेचरी मुद्रा सिद्ध होते. (२५ - २६)

विवरण :- वरील श्लोकामध्ये खेचरी मुद्रेचे महत्त्व प्रतिपादन केले आहे. खेचरीचे लक्षण हठयोगप्रदीपिकाकार असे करतात.

'कपालकुहरे जिव्हा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।' (३।३२)

पडजिभेपासून वर मस्तकापर्यंत असणाऱ्या छिद्रामध्ये जीभ घालून, दृष्टी भ्रुमध्यावर ठेवून बसणे म्हणजे खेचरी मुद्रा होय. टीकाकारांचे स्पष्टीकरण असेच आहे -

‘कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीतिलक्षणं सिद्धम् ।’

याकरिता जीभ बरीच लांब करावी लागते. तो अभ्यास २५ व २६ या श्लोकांमध्ये सुचविला आहे. जीभ किती लांब झाली पाहिजे व त्याकरिता कोणते उपाय रोज केले पाहिजेत ते हठयोगप्रदीपिकाकारांनी पुढील श्लोकात सांगितले आहे -

‘छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।’ (३।३३)

जीभ तोंडाबाहेर काढली असता ती वर भुवयांच्या मध्यापर्यंत जाऊन पोचली पाहिजे इतकी लांबी जिभेची झाली पाहिजे. त्याकरिता छेदन, चालन व दोहन असा तीन प्रकारचा अभ्यास सहा महिनेपर्यंत करण्यास सांगितले आहे. जिभेच्या खाली जी शीर आहे ती तोडली असता हळूहळू जिभेची वाढ करता येते. त्याकरिता छेदन हा पहिला उपाय. तो सुद्धा एकदम न करता पहिले दिवशी, निवडुंगाच्या पानाप्रमाणे अत्यंत तीक्ष्ण सूक्ष्म शस्त्राने केसभरच ती शीर कापून हिरडा व सैंधव यांच्या वस्त्रगाळ केलेल्या चूर्णाने त्या कापलेल्या जागी चोळावे. याप्रमाणे सात दिवस करावे. नंतर आठवे दिवशी आणखी केसभर ती शीर जिभेच्या खालची कापावी व हिरडा-सैंधव यांच्या चूर्णाने ती जागा चोळावी. याप्रमाणे छेदन व घर्षण हा अभ्यास चालू असतानाच, चालन व दोहन हेही उपाय चालू ठेवावेत. चालन म्हणजे -- दोन्ही हातांचे अंगठे व तर्जनीत जीभ धरून, ती बाहेर उजव्या व डाव्या बाजूने हळूहळू खेचणे. तसेच दोहन म्हणजे - दोनी हातांच्या आंगठ्यात व तर्जनीत जीभ धरून ती धार काढतात त्याप्रमाणे सारखी तोंडाबाहेर खाली खाली ओढणे. याप्रमाणे, छेदन, चालन, दोहन हा अभ्यास रोज चालू केला असता जिभेच्या खाली असणाऱ्या शिरेचा बंध तुटून जीभ लांब होते. नंतर ती तोंडाच्या आतच पाठीमागे वळवून पडजीभेच्यावर असणाऱ्या छिद्रातून ती लांब झालेली जीभ, आतून भुवईपर्यंत घालून बसणे म्हणजे खेचरी

मुद्रा होते. इडा, पिंगला व सुषुम्णा या तीन नाड्या पडजीभेच्या वरच्या छिद्रातून वर जातात. त्या मार्गाने जीभेचे अग्र मस्तकापर्यंत नेऊन बसणे. याबद्दलचे हठयोगप्रदीपिकाकारांचे श्लोक असे आहेत.

'स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३४।।

तत:सैंधव-पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।३५।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्ययुक्तं समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ।।३६।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।।३७।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमापि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।३८।। (तृतीयोपदेश)

हा सर्व विषय श्रीमहाराजांनी २४ ते २६ या तीन श्लोकातून व त्यांच्या टीकेतून चर्चिलेला आहे. छेदन, चालन व दोहन याबद्दल टीकाकार ब्रह्मानंदाचे स्पष्टीकरण असे आहे -

'एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्र छेदनं, सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं युक्तः सन् समाचरेत्'।

'चालनं, हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यत: परिवर्तनं। दोह: करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं। तै: कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् तावत्। कियत्, यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धि:।' (२४ - २५ - २६)

सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे कदापि स्पृशन्ति नो।
विषार्तिरुग्जराक्षुत्तृण्निद्रातंद्रामृतिक्रिया:।। २७।।

स्त्र्याश्लेषितस्यापि बिंदुर्न क्षरत्यूर्ध्वमेति स:।
चलितश्चेद्योनिमुद्राबद्धो मुक्त: स भोग्यपि।। २८।।

अर्थ :- याची जिव्हा मनासह आतील आकाशात संचार करते. याला विषाची बाधा, रोग, म्हातारपण, भूक, तहान, झोप, ग्लानी, मृत्यू इत्यादिकांचा केव्हाही स्पर्श होत नाही. (२७)

स्त्रीने आलिंगन दिले असताही याचे वीर्य चलित होत नाही. ते वरच जाते. कदाचित् चलित झाल्यास वज्रोली मुद्रेने प्रतिबद्ध होऊन वर जाते. खाली येत नाही. असा हा भोगी असूनही मुक्त आहे. (२८)

विवरण :- वरीलप्रमाणे सहा महिनेपर्यंत व्यवस्थित अभ्यास होऊन खेचरी मुद्रा सिद्ध झाली असता तिचे फल या दोन श्लोकांत दाखविले आहे. या मुद्रेला खेचरी असे नाव का दिले याचे उत्तर, सहज्जिव्हा चरत्यस्य खे' या वाक्याने श्रीमहाराजांनी दिले आहे. अन्तर्मुख झालेले मन व जिव्हा ही दोनीही भ्रूमध्यातील आकाशात, आज्ञाचक्रात स्थिर होऊन राहातात. त्यामुळे या पुरुषाला कोणत्याही विषाची बाधा होत नाही. भूक, तहान, झोप व मृत्यू यांचाही संबंध सुटतो. इतकेच नव्हे तर, हा खेचरी सिद्ध झालेला पुरुष ऊर्ध्वरेता होतो. याचे वीर्यस्खलन कधीही होत नाही. वीर्य सतत ऊर्ध्वगामी बनते. हाच विषय हठयोगप्रदीपिकेत पुढील श्लोकातून वर्णिलेला आहे -

'चित्तं चरति खे यस्माज्जिव्हा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।। ४१।।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वत:।
न तस्य क्षरते बिंदु: कामिन्याश्लेषितस्य च।। ४२।।

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।। ४३।।

(हठयोगप्रदीपिका तृतीयोपदेश)

प्रपंचात व परमार्थात विशेष उन्नती होण्याकरिता ब्रह्मचर्याची आवश्यकता आहे याबद्दल विचारी पुरुषांचे दुमत नाही. वीर्याचे रक्षण करणे म्हणजेच ब्रह्मचर्य होय. पण वीर्याचे रक्षण कोणत्या प्रकाराने होते याचे ज्ञान फारच थोड्या लोकांना आहे. बहुतेक डॉक्टर लोक असे सांगतात की, वीर्यरक्षण करण्याकरिता कामाचा वेग रोखला गेला तर नाना प्रकारचे रोग होणेचा संभव आहे. या त्यांच्या सांगण्याचा अर्थ असा आहे की, वीर्य तयार झाल्यानंतर त्याची बाहेर पडण्याची प्रवृत्ति असते. तो वेग रोख णे हानिकारक आहे. पण अत्यंत विषयासक्तीमुळे अस्वाभाविक रीतीने अनावश्यक परिमाणात वीर्य बनवून ते नष्ट करण्याने तर फारच मोठी हानी आहे. अशा मनुष्याला क्षयासारखे भयंकर रोग उद्‌भवतात. ही गोष्ट निश्चित आहे की अत्यंत विषयासक्तीत सापडल्याने अस्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून ते नष्ट होऊ लागले तर शरीर धारण करणाऱ्या धातूवरच तो कुऱ्हाडीचा आघात होत आहे. पण स्वाभाविक रीतीने वीर्य बनून जर त्याचे रक्षण होऊ शकेल तर ब्रह्मचर्य पालनाचा पूर्ण लाभ होऊ शकतो. डॉक्टरांच्या मतानुसार वीर्याची उत्पत्ती अशी होते - पुरुषाला जेव्हा कामाचा वेग उत्पन्न होतो तेव्हा त्याचे रक्त वेगाने अंडकोशातील ग्रंथीकडे येऊ लागते. त्या ग्रंथीतून निघणाऱ्या एका विशिष्ट रसाचे संमिश्रण त्या रक्तात झाले असता रक्ताचे, लाल रंगाचे कीटाणू वीर्याच्या श्वेत कीटाणू रूपाने परिणाम पावतात. या कीटाणूंमध्ये जननशक्ती असते. हे जर बाहेर टाकले तर काही हानी नाही. त्यांचे कार्य, बाहेर पडून स्त्रीच्या गर्भाशयात गर्भस्थिति करणे हेच आहे. हे जर रोखले जातील तर स्वप्नदोष व प्रमेहादी रोग होण्याचा संभव आहे. अशी स्थिति असल्यामुळे ब्रह्मचर्यपालनाचे काय तात्पर्य आहे, ही गोष्ट विचारणीय ठरेल असे डॉक्टर लोकांचे मत आहे.

आमच्या महर्षींचे सांगणे असे आहे की, वीर्य म्हणजे प्राणशक्तीच असल्याने ते नष्ट होण्याने प्राणशक्तीचाच ऱ्हास होणारा आहे. अपानशक्तीचे उत्थान झाल्यानंतर उदानरूपी अग्नीच्या संयोगाने वीर्याची प्राणशक्ती उर्ध्वगामिनी होते. अशा योगी पुरूषाचे वीर्य स्खलित होत नाही आणि मैथुनसमयी स्खलित झाले तरी त्याचे ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट होत नाही. वज्रोलिमुद्रा म्हणून योग शास्त्रामध्ये एक मुद्रा आहे. या मुद्रेची सिद्धी अभ्यासाने, त्या योग्याने मिळविली असल्याने, स्वप्नदोषामुळे इंद्रियात उतरलेले किंवा मैथुनसमयी बाहेर पडलेलेही वीर्य तो योगी पुन: वर खेचू शकतो. ते वीर्य पुन: वर चढू लागते. पण ते वीर्याशयात किंवा मूत्राशयात पुन: प्रवेश करीत नाही, तर उदानशक्तीच्या उष्णतेने योनिस्थानातील रुधिरात मिळून जाते. आणि त्यामुळे प्राण, वेगाने सुषुम्ना नाडीतून ऊर्ध्वगामी होत राहतो. योगी लोक, या प्रक्रियेला रजवीर्याचा योग मानतात. याबद्दल प्रमाण असे -

'योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ।
रजो वसति जंतूनां देवीतत्त्वं समाहितम् ।।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृत: ।'

(योगशिखोपनिषत्)

याचा अर्थ :- प्रत्येक जीवाच्या शरीरात योनिस्थानरूप महाक्षेत्रामध्ये, जास्वंदीच्या फुलासारख्या रंगाचे रज असते. याला देवीतत्व म्हणतात. त्या रजाचा व वीर्याचा संयोग झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. गुद व उपस्थ या दोघांच्यामध्ये, शिवणीच्यावर त्रिकोणाकृति असे एक मृदू स्थान आहे, यालाच योनिस्थान म्हणतात. त्याठिकाणी वीर्य चढले असता उष्णता उत्पन्न होते. जी वीर्य आणि रज यांचा योग करणाऱ्या रासायनिक क्रियेची सूचक होते. याबद्दल आणखीही प्रमाण असे -

'गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ।
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ।।
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।।'
(योगचूडामणि उपनिषत्, ध्यानबिन्दु उपनिषत्)

याचा अर्थ :- गलित झालेले वीर्य जेव्हा योनिस्थानामध्ये नेले जाते तेव्हा ते अग्निमध्ये पडून दग्ध होऊ लागले असता, ते वज्रोलीमुद्रेच्या अभ्यासाने वर खेचून घेतले जाते. त्या बिंदूमध्ये दोन प्रकार आहेत. एक श्वेत दुसरा रक्त. श्वेत बिंदूला वीर्य म्हणतात, लाल बिंदूला रज म्हणतात. पोवळयासारखा रंग असलेले रज योनिस्थानात राहाते. वीर्य वीर्याशयरूपी चंद्रस्थानात वीर्य राहाते. या दोघांचे ऐक्य होणे फार दुर्लभ आहे. असे ऊर्ध्वरेते योगी पुरूष गृहस्थातही असू शकतात. वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास इत्यादि उदाहरणे प्रसिद्ध आहेत. याप्रमाणे खेचरी व वज्रोली दोनही मुद्रांचे महत्व श्रीमहाराजांनी या श्लोकातून सुचविले आहे. कुंडलिनी जागृत झाल्यावाचून मात्र या दोनही मुद्रांची सिद्धी होऊ शकत नाही. (२७-२८)

विपरीतकरणी

सुधान्तःस्त्रवतीन्दोस्तां ग्रसत्यर्कस्ततो जरा।
अधःशीर्षोर्ध्वपत्तिष्ठेद्बह्वाहारः शनैः शनैः।। २९।।

याममात्रं ततः सिद्धिर्व्यस्तेयं करणीष्टदा।
वलीपलितवेपघ्नी मृत्युहर्त्री सुधाप्रदा।। ३०।।

अर्थ :- टाळूपासून आत अमृतस्राव होत असतो ते अमृत जठराग्नीमध्ये पडून भस्म होते. त्यामुळे म्हातारपण येते. म्हणून खाली मस्तक आणि वर पाय करून रहावे. हळूहळू एक प्रहरपर्यंत अशा स्थितीत राहता आले म्हणजे सिद्धी प्राप्त होते. यामुळे आहार हळूहळू अधिक वाढतो. या स्थितीला विपरीत - करणी असे म्हणतात. अंगावर सुरकुत्या पडणे, अकाली केस पांढरे होणे, शरीर कापणे इत्यादि दोष दूर करणारी, अमृत देणारी मृत्यूला दूर सारणारी अशी ही विपरीतकरणी आहे. (२९-३०)

विवरण :- दहा मुद्रांपैकी विपरीतकरणी नावाची मुद्रा व तिचे फल या दोन श्लोकांमध्ये श्रीमहाराजांनी सांगितले आहे - माणसाला म्हातारपण का येते याबद्दल योगशास्त्रकारांचे असे म्हणणे आहे की - टाळूच्या मूल भागात असणाऱ्या चंद्रापासून अमृतस्राव होत असतो. अमृत खाली पडते, ते नाभीस्थानात असणारा अग्निस्वरूप सूर्य तो भक्षण करतो. त्यामुळे शरीराला म्हातारपण येते. हा विषय पुढील श्लोकात आलेला आहे -

'यत्किंचिद् ग्रसते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सुर्यस्तेन पिंडो जरायुत:।।' (ह.यो.प्र.३। ७७)

याबद्दल टीकाकारांनी गोरक्षनाथांचेही प्रमाण दिले आहे.

'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मक: ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूलेच चन्द्रमा:।।
वर्षत्यधोमुखश्चद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रवि: ।
करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ।।'

हे अमृत खाली पडू नये याकरिता खेचरीमुद्रा सांगितली, तशीच ही विपरीतकरणी मुद्राही सांगितली आहे. ते अमृत खाली पडू नये याकरिता पाय वर व मस्तकाचा भाग खाली करून राहाणे ही विपरीतकरणी येथे श्रीमहाराजांनी सांगितली आहे. म्हणजे नाभिपासून पायापर्यंतचा भाग वर गेल्यामुळे तो सूर्य वर

झाला व अमृतस्रावी चंद्र खाली आला. त्यामुळे आता ते अमृत सूर्यरूपी अग्नीत न पडता तसेच शरीरात राहू शकते. याचा अभ्यास कसा करावा हे पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध:शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।। ७९।।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।। ८०।।

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अध:शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।। ८१।।

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। ८२।।

(ह. यो. प्र. ३)

अभ्यासाचा प्रकार टीकाकारांनी पुढीलप्रमाणे स्पष्ट दाखविला आहे -
'कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्यबाहुमूलादारभ्य कूर्मरपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां, स्कंधाभ्यां, गलपृष्ठभागशिर: पृष्ठभागाभ्यांच भूमिमवष्टभ्याध:शिरो भवेत्। ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपाद: प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् । दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिन वृद्धया अभ्यसेत्।'

प्रथम उताणे पडून दोनी हातांनी कंबर धरून तो कंबरेपासून खालचा पायापर्यंत असलेला भाग वर उचलावा. याप्रमाणे संपूर्ण शरीर हळूहळू हाताच्या कोपरांनी, नंतर खांद्यांनी धरून कंठाचा व मस्तकाचा मागील भाग भूमीवर टेकून बाकी सर्व शरीर वर करून पहिल्या दिवशी एक क्षणभरच रहावे. असा अभ्यास दुसरे दिवशी, तिसरे दिवशी क्षणाक्षणांनी वाढवावा. याप्रमाणे एक प्रहर अशा स्थितीत राहाता आले म्हणजे विपरीतकरणी सिद्ध झाली. जरा व मृत्यूला जिंकणारी

ही आहे. पण हा अभ्यास करणाऱ्याचा जठराग्नी फार वाढत असल्याने, या साधकाला आहार मात्र अधिक घ्यावा लागतो नाहीतर तो अग्नी शरीराचा नाश करेल. हा सर्व विषय २९ व ३० या श्लोकात श्रीमहाराजांनी मांडलेला आहे, (२९ - ३०)

योगसिद्धी

स्वास्थ्येऽग्नौ दीप्तेंऽगसादे नाडीशुद्धावनामये।
नादस्फुटत्वे सुदृष्ट्याः सिद्धिर्बिंदौ जिते सति।।३१।।

अर्थ :- वीर्य स्थिर झाले असता, मुख उत्तम कांतियुक्त होणे, जठराग्नी प्रदीप्त होणे, शरीर कृश होणे, नाडीशुद्धी होणे, रोगराहित्य, नाद स्पष्ट होणे, इत्यादी फले प्राप्त होऊन दृष्टीही उत्तम होते. (३१)

विवरण :- वरीलप्रमाणे, खेचरी, वज्रोली इत्यादी अभ्यासाने वीर्य स्थैर्य झाल्याचे फल या श्लोकात सांगितले आहे. मुख्य नाडीशुद्धी हे फल महत्त्वाचे आहे. नाडीशुद्धी झाल्याची चिन्हे, हठयोगप्रदीपिकाकारांनी पुढीलप्रमाणे दाखविली आहेत -

'यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिन्हानि बाह्यतः।
कायस्य कृशतां कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ।। १९।।

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ।। २०।।

(द्वितीयोपदेश)

सर्व नाड्या मलरहित झाल्या असता वरील सर्व फले दिसू लागतात. यांपैकी शरीर कृश व तेजस्वी होणे हे बाहेर दिसणारे चिन्ह आहे. जठराग्नी प्रदीप्त होणे, इच्छेप्रमाणे कुंभक होणे, अनाहतध्वनि अभिव्यक्त होणे ही फले फार महत्त्वाची आहेत.

योगमार्गातील विघ्ने

विविधा उपसर्गाः प्राक्संभवंत्यत्र योगिनः ।
सद्गुरोर्दृढभक्त्या ते प्रणश्यंति न चान्यथा ।। ३२।।

अर्थ :- योगाभ्यासी पुरुषाला प्रथम नाना प्रकारची विघ्ने उत्पन्न होतात. पण ती सर्व सद्गुरूंच्या दृढ भक्तीने नाश पावतात. याशिवाय दुसरा उपाय नाही. (३२)

विवरण :- सद्गुरूंची दृढभक्तीच, निर्विघ्न योगसिद्धी करणारी आहे असे या श्लोकात सांगितले आहे. योगाभ्यासात फार विघ्ने येतात त्यासंबंधी विवेचन ब्रह्मानंदांनी एका ठिकाणी पुढीलप्रमाणे केले आहे -

‘एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायान्ति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेपि प्रदर्श्यन्ते । दत्तात्रेयः -

‘आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते।
पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठीच तृतीयो मंत्र।।
चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः।। ’ इति।
मार्कंडेयपुराणे -

‘उपसर्गाः प्रवर्तन्ते दृष्टे ह्यात्मनि योगिनः
ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे।।

काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति।
स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ।।

देवत्वममरेशत्वं रसायनवचयःक्रियाम् ।
मरूत्प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा।।

श्राद्धानां सर्वदानानां फलानि नियमास्तथा।
तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि।।

अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति।
विघ्नमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत्।।
ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते।।' इति।[१]

याशिवाय योगशास्त्रातही अनेक अंतराय दाखविले असून ते सर्व ईश-गुरुप्रसादानेच दूर होतात असे सांगितले आहे. (३२)

कारणं कर्मारुरुक्षोर्योगिनो योगमुत्तमं।
शमः कारणमस्याग्रे योगारूढस्य योगिनः।। ३३।।

अर्थ :- उत्तम योगभूमिकेवर चढून जाण्याची इच्छा असणाऱ्यास कर्म हेच उपयोगी पडणारे आहे. आणि पुढे, योगारूढ झालेल्या योग्याला, शम - कर्मत्याग, हेच उपयुक्त ठरणारे आहे. (३३)

विवरण :- योगाचा साधक व योगसिद्ध या दोघांचे कर्तव्य या श्लोकात दाखविले आहे. अशाच अर्थांचा भगवद्गीतेतील सहाव्या अध्यायात तिसरा श्लोक आहे. त्यावरील श्रीशंकराचार्यांचे भाष्य असे आहे.

---

[१] *(दत्तप्रभू अलर्काला सांगतात.) आत्मसाक्षात्कारच्या वेळीं योगी पुरुषाच्या समोर जी विघ्ने प्रकट होतात ती संक्षेपाने सांगतो. त्याला मानवी भोगांची कामना होते आणि तो काम्य कर्मांचे अनुष्ठान करूं लागतो. दानाची उत्तमोत्तम फळे, स्त्री विद्या, इन्द्रजालादि माया, सोने, चांदी, धन तसेच स्वर्गीय वैभव, देवत्व, इंद्रपद, रसायने इत्यादींच्या क्रिया, हवेत उडण्याची शक्ति, यज्ञ, जल आणि अग्नीत प्रवेश करण्याचे सामर्थ्य; श्राद्ध, विविध दाने, नियम, व्रत, इष्ट, पूर्त, देवांची उपासना या सर्वांची फळे त्याला हवीशी वाटूं लागतात. अशा प्रकारची विघ्ने आली असतां प्रयत्नपूर्व त्यांचे निवारण केले पाहिजे. ब्रह्मचिंतनात मन लावले की ही विघ्ने दूर होतात.*

'ध्यानयोगस्य फलनिरपेक्ष: कर्मयोगोबहिरंगं साधनमिति तं संन्यासत्वेन स्तुत्वाऽधुनाकर्मयोगस्य ध्यानयोगसाधनत्वं दर्शयति आरुरुक्षोरारोढुमिच्छतोऽनारूढस्य ध्यानयोगेऽवस्थातुमशक्तस्यैवेत्यर्थ:। कस्यारुरुक्षोर्मुने: कर्मफलसंन्यासिन इत्यर्थ:। किमारुरुक्षोर्योगं, कर्म कारणं साधनमुच्यते। योगारूढस्य पुनस्तस्यैव, शम उपशम:सर्व कर्मभ्यो निवृत्ति: कारणं योगारूढत्वस्य साधनमुच्यत इत्यर्थ:। यावद्यावत्कर्मभ्य उपरमते तावत्तावन्निरायासस्य जितेंद्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटिति योगारूढो भवति। तथा चोक्तं व्यासेन -[१]

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति चित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दंडनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरम: क्रियाभ्य:।। इति।

योग शब्दाचा अर्थ चित्तसमाधान असा भगवान् शंकराचार्य करतात. 'परो हि योगो मनस: समाधि:' असे भगवान् श्रीकृष्ण सांगतात. मन अखंडित एकाच ठिकाणी स्थिर राहाणे यालाच ध्यानयोग असेही श्रीमदाचार्यांनी भगवद्गीतेच्या सहाव्या अध्यायाच्या आरंभी म्हटले आहे. हा ध्यानयोग ब्रह्मज्ञानाचे अंतरंग साधन आहे. आणि कर्मयोग हा ध्यानयोगाचा व तद्द्वारा ज्ञानयोगाचे बहिरंग साधन आहे. योगाभ्यास करू इच्छिणाऱ्याने कर्म अवश्य केले पाहिजे. कर्मयोगाने निर्मल झालेले चित्तच योगाने स्थिर होऊ शकते आणि जशी जशी

---

*[१] फलाची अभिलाषा न ठेवतां आचरलेला कर्मयोग हे ध्यानयोगाचे बहिरंग साधन असल्याने त्याची संन्यासत्वाने स्तुति करून आता (पुढीलोकांत) कर्मयोग ध्यानयोगाचे साधन कसा आहे ते दाखवतात. **आरुरुक्षो**: आरोहणाची इच्छा करणारा - म्हणजेच अजून ध्यानयोगांत स्थिर न होऊं शकणारा, **मुने**: कर्मसंन्यासी, कुठे आरोहण करण्याची इच्छा असणारा? तर **योगं** योगावर. त्याच्यासाठी **कर्म** हेच **कारण** साधन आहे. **योगारूढस्य तस्य** तोच पुन्हा योगारूढ झाला असतां **शम**: उपशम म्हणजे सर्व कर्मांपासून निवृत्ति हे योगारूढतेचे म्हणजे ध्यानयोगांत स्थिरावण्याचे **कारणं** साधन आहे.जसा जसा तो कर्मापासून उपरत होतो तसे तसे त्या जितेंद्रिय पुरुषाचे चित्त अनायास समाधीत लीन होऊं लागते. अशा रीतीने तो तत्काळ योगारूढ होतो. व्यासांनी (महाभारत शांतिपर्व १७५:३७) असेच म्हटले आहे.*

योगाभ्यासामध्ये उन्नती होत जाईल तशी तशी सर्व कर्मांपासून निवृत्ती म्हणजे शम अपेक्षित आहे. याने चित्तविक्षेप नाहींसा होऊन पूर्ण योगारूढ स्थितीचा लाभ होतो. याकरिताच शास्त्रानेही विधीपूर्वक कर्मत्यागरूप संन्यासाश्रम सांगितला आहे. गृहस्थाला नाना प्रकारच्या कर्तव्यामुळे चित्तविक्षेप होणे अपरिहार्य आहे. म्हणून योगारूढ स्थिति मिळविण्याकरिता सर्व कर्मत्यागरूप शमाची अपेक्षा आहे. हेच श्रीभगवत्पादांनी सांगितले आहे आणि श्रीमहाराजांनीही या श्लोकात तेच व्यक्त केले आहे. (३३)

प्रत्याहार

कामवेगसहोऽतर्दृक् सुखारामोऽभितो यतिः ।
ब्रह्मनिर्वाणमेत्येव ब्रह्मभूतोऽमलः समः ।। ३४।।

अर्थ :- काम विकाराचे उपशमन करणारा, आत आत्म्याकडेच दृष्टी ठेवणारा, सर्वव्यापक अशा आत्मस्वरूपानंदातच रममाण होणारा, द्वंद्वातीत, शुद्ध असा ब्रह्मस्वरूप झालेला संन्यासी निश्चित मोक्षावस्थेला जाऊन पोचतो. (३४)

विवरण :- आता यापुढे योगाच्या अंगांपैकी प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी यांचे निरूपण श्रीमहाराजांनी केले आहे. या श्लोकामध्ये 'अंतर्दृक्' या पदाने प्रत्याहार सुचविला आहे श्रोत्र, त्वक, चक्षु, रसना व घ्राण या इंद्रियांचे, क्रमाने शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध हे विषय आहेत. या आपापल्या विषयाकडे जाऊन राहिलेली इंद्रिये खेचून शरीरातील त्यांच्या त्यांच्या स्थानात स्वस्थ ठेवणे याला प्रत्याहार म्हणतात. पतंजल योगसूत्राच्या द्वितीय पादातील ५४ व ५५ या सूत्रांमध्ये प्रत्याहाराचे स्वरूप व त्याचे फल दाखविले आहे. प्राणायामाने चित्त स्थिर होते. चित्त स्थिर झाल्यामुळे इंद्रियेही स्थिर होतात. त्यांचा विषयाशी संबंध सुटतो. इंद्रियांवर पूर्ण ताबा मिळविणे, जितेंद्रिय होणे हे प्रत्याहाराचे फल आहे. हे स्थितप्रज्ञाच्या लक्षणांपैकी एक लक्षण, 'वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'

या वाक्याने भगवंतानी सांगितले आहे. हा प्रत्याहार कसा सिद्ध होतो व शेवटी तो योगी कसा मुक्त होतो हे या श्लोकात श्रीमहाराजांनी दाखविले आहे. कामक्रोधादिविकारांचा वेग प्रथम जिंकला पाहिजे तरच त्याचे चित्त आत्मस्वरूपाचे ठिकाणी स्थिर राहू शकते, तोच योगारूढ होऊ शकतो.

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात ।
काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी स नरः।।'

(भ.गीता ५:२३)[१]

या श्लोकात भगवान् हेच सांगत आहेत. हे 'कामवेगसहः' या पदाने येथे श्रीमहाराज सुचवीत आहेत. तसेच,

'सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः '

या श्लोकात सांगितल्याप्रमाणे स्वतःच्या बुद्धीलाच कळणाऱ्या अनंत सुखात तो योगारूढ पुरूष रममाण झालेला असतो हे येथे 'सुखारामः' या पदाने सुचविले आहे. अर्थातच असा पुरूष सम म्हणजे द्वंद्वातीत झालेला असतो. या श्लोकात श्रीमहाराजांनी, 'यतिः' असा पदप्रयोग केला आहे. तो, संन्यासी हाच मुख्य अधिकारी आहे हे सुचविण्याकरिता आहे. त्यालाच योगारूढ अवस्था पूर्ण रीतीने निर्विघ्नपणे प्राप्त होणे शक्य आहे. अनेक उपाधीमध्ये ज्यांचे चित्त निमग्न झाले आहे अशा गृहस्थादिकांना योगारूढ अवस्था दुःसाध्य आहे असा श्रीमहाराजांचा अभिप्राय आहे. (३४)

---

[१] *जो शरीर पडण्याच्या आधीच ह्या लोकींच कामक्रोधादिकांचा वेग सहन करतो तोच .योगी आणि सुखी माणूस होय.*

धारणा, ध्यान आणि समाधी

कश्चिद्धारणयोपास्ते ध्यानात्कश्चित्समाधिना।
आत्मानमेवमाप्त्वेमां सिद्धिं मुक्तो भवत्यसौ।। ३५।।

हृद्युपास्यो धारणया वराभयकरो हरिः।
प्रादेशमात्रः सुसिद्धः खेचरीमुद्रया युतः।। ३६।।

अंगुष्ठमात्रं पुरुषं दत्तात्रेयं दिगंबरम्।
ध्यायेत्सिद्धासनासीनं द्युनिशं कंठसंस्थितम्।।३७।।

सहस्रदलपद्मस्थं सुसूक्ष्मं शान्तमुज्वलम्।
समाधिना द्वादशाहं तन्मयो भावयेत्परम्।। ३८।।

अर्थ :- कोणी धारणेने आत्म्याची उपासना करतो. कोणी ध्यानाने, तर कोणी समाधीने. याप्रमाणे या सिद्धीला मिळवून हा मुक्त होतो. (३५)

वरद व अभय हस्त असणारा, टीचभर आकाराचा, उत्तम सिद्ध व खेचरी मुद्रेने युक्त अशा हरीची हृदयात धारणेने उपासना करावी. (३६)

अंगुष्ठाएवढा, दिगंबर, सिद्धासनावर बसलेला व कंठामध्ये स्थित जो पुरुष दत्तात्रेय, त्याचे अहर्निश ध्यान करावे. (३७)

सहस्रदल पद्मावर असणारा, अत्यंत सूक्ष्म, शांत, देदीप्यमान् अशा परमात्म्याला, बारा दिवसांपर्यंत तन्मय होऊन समाधीने त्याची भावना करावी. (३८)

विवरण :- धारणा, ध्यान व समाधी यांचे निरूपण व त्यांचे फल या चार श्लोकांतून वर्णिलेले आहे. धारणा, ध्यान व समाधी यांची लक्षणे पातंजलदर्शनातील तृतीय पादाच्या आरंभीच दिली आहेत. ती अशी -

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' 'तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्' 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:'

बाह्य किंवा आंतर ध्यानाधार विशेष देशामध्ये चित्त स्थिर करणे म्हणजे धारणा. त्या विशिष्ट देशात ध्येयस्वरूपाकार चित्तवृत्तीची एकाग्रता अखंडित राहाणे, ध्येयाकारच वृत्ती सारख्या राहाणे याला ध्यान म्हणतात. त्याच ध्यानामध्ये ध्येय, ध्यान, ध्याता यांचा भासणारा भेद जाऊन फक्त ध्येयच ज्यामध्ये भासते अशी ध्यानाची परिपक्व अवस्था म्हणजेच समाधी होय. चित्त धारणेचे दहा देश गरुडपुराणात पुढीलप्रमाणे दाखविले आहेत.

'प्राङ्नाभ्यां हृदये चाथ तृतीये च तथोरसि ।
कण्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र-भ्रूमध्य-मूर्धसु ।।
किंचित्तस्मात्परस्मिंश्च धारणा दशकीर्तिता: ।।'

या श्लोकात शरीरातील दहा स्थाने धारणाश्रय म्हणून सांगितली आहेत. याशिवाय भगवंताची मूर्त रूपेही धारणाश्रय सांगितली आहेत. जसे विष्णुपुराणात पुढीलप्रमाणे आहे -

'मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनि:स्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।

चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्।
तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा।।

एतदाधिष्ठितोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्मकुर्वत:।
नापयाति यदा चित्तं सिद्धांतां मन्यते तदा।।'

मूर्त अशा भगवंताच्या स्वरूपाच्या ठिकाणी चित्त स्थिर करणे हीही धारणाच आहे. ही इतकी दृढ झाली पाहिजे की इतर कोणतेही काम करीत असताना देखील चित्त, त्या भगवत्स्वरूपाला सोडून दुसरीकडे थोडेसुद्धा गेले न

पाहिजे. यालाच उत्तम भगवद्‌भक्त म्हणतात. धारणा, ध्यान व समाधी यांचा विषय प्राय: एकच असतो. हे तीनही एकाच विषयाचे दृढ झाले असता त्याला संयम असे म्हणतात. प्रथम स्थूल विषय, नंतर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अशा क्रमाने घेऊन चित्त पूर्ण स्थिर करावे. याकरिता छत्तीसाव्या श्लोकात हृदयरूप देशात एक टीचभर अशा मूर्त हरिस्वरूपाचे ठिकाणी चित्ताची धारणा करण्यास सांगितले. पुढे या धारणेने चित्त स्थिर झाल्यावर पुढे अंगुष्ठाएवढ्या दिगंबर मूर्तीचे ध्यान कंठदेशात करण्यास सांगितले आहे. याची सिद्धि एक दिवसभर ध्यान होऊ लागले म्हणजे झाली असे समजावे. ध्यानावस्था सिद्ध झाल्यानंतर समाधीचा अभ्यास सांगितला. त्याचा विषय मात्र अत्यंत सूक्ष्म, शांत, तेजोमय भगवत्स्वरूप असून स्थान ब्रह्मरंध्रांतील सहस्त्रदलपद्म आहे. पूर्वीची धारणाही हृदयातील अष्टदल अनाहत चक्र व ध्यान कंठातील विशुद्धि चक्रात सांगितले आहे. अत्यंत सूक्ष्म, तेजोमय भगवत्स्वरूपाकार चित्तवृत्ति होऊन लागलेल्या समाधीची मर्यादा बारा दिवस सांगितली आहे.

'अवध्य: सर्वशस्त्राणामशक्य: सर्व देहिनाम्।
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्त: समाधिना ।'[१]

असे समाधीचे मोठे फल सांगितले आहे. (३-३६-३७-३८)

शांभवीमुद्रा आणि नादानुसंधान

अन्तर्लीनसहृत्प्राणोऽपश्यन्नचलदृग्बहि:।
मुद्रेयं शांभवी शून्याऽशून्यलक्ष्मपदप्रदा।। ३९।।

तद्वान् दृढासनो दक्षकर्णे रुद्धबिलो ध्वनिम्।
त्रिग्रंथिभेदं शृणुयात्सुसूक्ष्मं स समाधिभाक्।। ४०।।

[१] *समाधी साधलेला योग्याचा कोणत्याही शस्त्राने, कुणीही देहधारी वध करू शकत नाही; कोणत्याही मंत्राचा वा यंत्राचा त्याच्यावर प्रयोग होऊं शकत नाही.*

अर्थ :- चित्तासह ज्याचा प्राण ब्रह्मरंध्रात लीन झाला आहे, ज्याची दृष्टी उघडी पण स्थिर आहे असा समाधिस्थ पुरुष बाह्य विषयाकडे न पाहाता राहतो. अशी ही शांभवीमुद्रा, शून्य व अशून्य असे परमात्मस्वरूप प्राप्त करून देणारी आहे. (३९)

ती शांभवी मुद्रा धारण करणारा, दृढ आसनावर बसणारा, ज्याने अंगुष्ठांनी कान, तर्जनींनी डोळे, मध्यमांनी नासिका व इतर बोटांनी मुख अशी सर्व छिद्रे बंद केली आहेत. तो समाधीत असणारा पुरुष, उजव्या कानामध्ये, अत्यंत सूक्ष्म बंशीनादासारखा हृदय, कंठ व भ्रूमध्य यांतील ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथी यांचा भेद करणारा अनाहतध्वनी ऐकू शकतो. (४०)

विवरण :- या दोन श्लोकामध्ये शांभवी मुद्रा व तिचे फल दाखविले आहे. शांभवी मुद्रा या शब्दाचा अर्थ टीकेमध्ये श्रीमहाराजांनी दाखविला आहे. तो असा -

'श्यति दुःखं तनूकरोतीति शं आनन्दः, स भवत्यस्मादिति शंभुरात्मा, 'एष ह्येवानन्दयति' [१] इति श्रुतेः । तस्येयं शांभवी । मुदं निर्विकल्पानन्दं रातीति मुद्रा'

शं म्हणजे आनंद ज्यापासून उत्पन्न होतो तो शंभू म्हणजे आत्मा. त्या आत्म्याची ही मुद्रा म्हणून हिला शांभवी मुद्रा म्हणतात. आत्मस्वरूपाचा निर्विकल्प आनंद देणारी अशी ही मुद्रा आहे. हिचे वर्णन हठयोगप्रदीपिकाकार असे करतात.

'अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शांभवीमुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता॥' (४।३६)

आत चित्तवृत्ती व बाहेर डोळे सारखे उघडे ही शांभवीमुद्रा होय. डोळे उघडे असूनसुद्धा बाह्य कोणत्याही विषयाचे भान नाही. कारण चित्तवृत्ती,

[१] *तैत्तिरीय उपनिषद २:७.*

आत्मानंदात निमग्न झाल्यामुळे मनाचा डोळ्यांशी संबंधच नसतो. खेचरी मुद्रा व शांभवी मुद्रा यांचे आत्मानंदप्राप्तिरूप फल एकच आहे. फक्त भेद इतकाच की, - शांभवी मुद्रेमध्ये दृष्टी बाहेर लावून राहाणे आहे, आणि खेचरी मुद्रेच्या वेळी दृष्टी भ्रूमध्यात ठेवून राहाणे आहे. शांभवी मुद्रासमयी चित्त हृदयस्थानात स्थिर झालले असते आणि खेचरीच्या वेळी ते भ्रूमध्यदेशात स्थिर झालेले असते इतकाच दोनी मुद्रामध्ये फरक आहे.

शांभवी मुद्रेनंतर उजव्या कानामध्ये निरनिराळे नाद ऐकू येणे व त्या नादांच्या अनुसंधानात चित्त लीन होणे हे श्रीमहाराजांनी दाखविले आहे. तेच पुढील श्लोकात हठयोगप्रदीपिकाकार सांगतात -

'मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधी:॥६७॥ (चतुर्थोपदेश)

हे नाद नाना प्रकारचे ऐकू येतात. त्याकरिता प्रथम पराङ्मुखीमुद्रा करावी लागते. म्हणजे कान, डोळे, नाक, मुख ही सर्व छिद्रे बोटांनी बंद करणे. त्याबद्दल स्पष्टीकरण असे आहे -

'अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णो तर्जनीभां च चक्षुषी ।
नासापुटौ तथाऽन्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च ॥'

दोन आंगठे दोन्ही कानांमध्ये घालावयाचे. आंगठ्या जवळच्या दोन्ही हातांच्या तर्जनीनी दोन्ही डोळे झाकावयाचे. मधल्या दोन बोटांनी दोन्ही नाकपुड्या बंद करावयाच्या आणि राहिलेल्या दोन बोटांनी मुख बंद करावयाचे याप्रमाणे सर्व छिद्रे बंद करून बसले असता, सुषुम्ना नाडीत अभिव्यक्त होणारा नाद उजव्या कानाने ऐकू येऊ लागतो. अगोदर भ्रमरध्वनीप्रमाणे, नंतर वेणुध्वनीप्रमाणे, घंटानादासारखा, समुद्राच्या ध्वनीसारखा, गर्जना करणाऱ्या पर्ज्यन्यासारखा असे विविध नाद ऐकू येतात हेच पुढील श्लोकात दाखविले आहे -

'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी
नादोऽसौ वंशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः।
घंटानादानुकारी तदनु च जलधिर्ध्वानधीरो गभीरो
गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः।।'(१)

(त्रिपुरासारसमुच्चय)

आरंभ, घट, परिचय व निष्पत्ति अशा नादाच्या चार अवस्था सांगितल्या आहेत. प्राणायामाच्या अभ्यासाने हृदयातील अनाहतचक्रात असणाऱ्या ब्रह्मग्रंथीचा जेव्हा भेद होतो तेव्हा हृदयाकाशात भूषणांच्या ध्वनीसारखा ध्वनी उत्पन्न होतो ही आरंभावस्था. प्राणवायू अपानाशी ऐक्य संपादून व नादबिंदू यांचे ऐक्य करून जेव्हा कंठस्थ मध्यचक्रात येऊन राहातो तेव्हा ती घटावस्था होय. त्या वेळी कंठस्थ विष्णुग्रंथीचा भेद होऊन कंठाकाशामध्ये भेरी शब्दासारखा शब्द ऐकू येऊ लागतो. प्राणायामाभ्यासाने प्राण भ्रूमध्याकाशात येऊन राहिला असता, त्याठिकाणी विशिष्ट वाद्यासारखा ध्वनी ऐकू येऊ लागतो व रुद्रग्रंथीचा भेद होतो. त्या वेळी चित्तवृत्तिरूप आनंद लुप्त होऊन स्वाभाविक आत्मानंद अभिव्यक्त होतो आणि त्रिदोषजन्य दुःखांच्या संवेदना, जरा, क्षुधा, तृषा, निद्रा या सर्वांतून तो योगी पूर्णपणे मुक्त होतो ही तिसरी परिचयावस्था होय. चौथ्या निष्पत्ती अवस्थेमध्ये प्राण ब्रह्मरंध्रात येऊन स्थिर होतो. त्या वेळी अत्यंत सूक्ष्म असा बासरीसारखा ध्वनी उजव्या कानामध्ये ऐकू येऊ लागतो. या अवस्थेत चित्त अत्यंत एकाग्र झालेले असते. यालाच राजयोग असे म्हणतात. या अवस्थेपर्यंत पोचलेला योगी, ईश्वराप्रमाणे सृष्टिसंहार करण्यास समर्थ होतो. याप्रमाणे नादानुसंधानाचे सविस्तर वर्णन हठयोगप्रदीपिकेच्या चतुर्थ उपदेशामध्ये केलेले आहे. तेच या श्लोकात,

(१) *हा नाद सुरुवातीला धुंद भुंग्याच्या थव्यांच्या गुंजारवासारखा ॐकाराचा संस्कार करणारा, नंतर वेळूतून हवा फुंकल्यासारखा बांसरीसारखा, त्यानंतर घंटानादासारखा, मग समुद्राच्या गाजासारखा गंभीर, मग गरजणाऱ्या पावसाच्या घोषासारखा नाद ब्रह्मनाडीच्या पोकळीत ऐकायला येतो.*

संक्षेपाने श्रीमहाराजांनी सुचविले आहे. ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रंथी व रुद्रग्रंथी या काही मांस, स्नायू यांच्या बनलेल्या गाठी नसून, रजोगुण, सत्त्वगुण व तमोगुण यांचीच विशिष्ट स्वरूपे आहेत. प्रथम ब्रह्मग्रंथीचा भेद झाल्याबरोबर काम-क्रोधादी राजस भाव शांत होऊन प्रेम, दया, अहिंसा इत्यादी सात्त्विक भाव जागृत होतात. परंतु रुद्रग्रंथीचा भेद होऊन निद्रा, आलस्य, मोह, दंभ इत्यादि तामस भाव शांत होईपर्यंत ते सात्त्विक भाव दबून असतात. रुद्रग्रंथीचे स्थान आज्ञाचक्राच्या वर आहे. जिचा भेद सर्वांच्या मागाहून होतो. तो होणे अत्यंत कठीण आहे. या तीनही ग्रंथींचा भेद उपशम झाला असता मनुष्य त्रिगुणातीत होतो व त्याचा सहजानंद-आत्मानंद अभिव्यक्त होतो. हे सर्व नादोपासनेने होते म्हणून उपनिषदांचे श्रवण, मनन करण्याची शक्ति नसणाऱ्या अव्युत्पन्न लोकांनाही सहजानंद मिळावा म्हणून हे नादानुसंधान रूप नादोपासन हठयोगप्रदीपिकाकारांनी सांगितले आहे.(३९-४०)

यम आणि नियम

यमेन दशधा नूनं दशधा नियमेन च ।
आसनाद्येन षट्केन योगोऽष्टांगोयमुच्यते ।। ४१।।

अर्थ :- दहा प्रकारच्या यमाने, दहा प्रकारच्या नियमाने आणि आसनादि सहा प्रकारांनी मिळून हा योग, अष्टांगयोग म्हणून सांगितला जातो.(४१)

विवरण:- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व संप्रज्ञात समाधी ही आठ अंगे असल्यामुळे याला अष्टांगयोग असे नाव पडले आहे. त्यांपैकी आसनापासून समाधीपर्यंत सहा अंगांचे विवेचन आतापर्यंत श्रीमहाराजांनी केले आहे. या श्लोकात यम दहा व नियम दहा इतकाच उल्लेख केला आहे. ते प्रकार असे -

'अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ऱ्ही मती च तपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः॥'

पातंजल सूत्रामध्ये पाच यम व पाच नियम सांगितले आहेत. सामान्यतः, यम म्हणजे दोषाभावरूप असून नियम हे गुणरूप आहेत. ही दोन अंगे शेवटपर्यंत कटाक्षाने पाळणे आवश्यक आहे. प्रथम साधन म्हणून आणि योगसिद्धी मिळाल्यावर देखील लोकसंग्रहाकरिता यांची आवश्यकता आहेच. (४१)

एतेनाष्टांगयोगेन प्रबुद्धः स्वल्पसंविदा ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तो देही ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ४२॥
इदं रहस्यं परमं नाख्येयं यस्य कस्यचित् ॥

इतिश्री प.प.श्रीवासुदेवानन्द-सरस्वती विरचितं योगाख्यं प्रथमं रहस्यम्।

अर्थ :- या अष्टांगयोगामुळे, अत्यंत सूक्ष्म वस्तू जे ब्रह्म, त्याला जाणणारा असा हा शरीरी जीव, पापपुण्यातून मुक्त होऊन ब्रह्मरूप होतो. हे श्रेष्ठ रहस्य वाटेल त्या अनिधकारी पुरुषाला सांगू नये. (४२-४३)

विवरण :- अष्टांगयोगाचे वर्णन या लहान ग्रंथात श्रीमहाराजांनी केले आहे. याच्या अभ्यासाने जीव ब्रह्मज्ञानी होऊन मुक्त होतो हे योगाचे फल या शेवटच्या श्लोकात सांगितले आहे. तसेच अधिकार पाहिल्याशिवाय वाटेल त्याला त्याचा उपदेश करू नये अशी धोक्याची सूचनाही मुद्दाम शेवटी दिली आहे. (४२ - ४३)

उपसंहार

भगवद्गीतेच्या सहाव्या अध्यायात परमयोगी म्हणजे श्रेष्ठयोगी कोण त्याचे वर्णन पुढील श्लोकात केले आहे -

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत: ।। ३२।।'

श्रेष्ठ योगी, तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय या तिघांचा सारखा अभ्यास करीत राहून, दृष्ट दु:खाची निवृत्ती करून जीवन्मुक्तिसुखाचा अनुभव घेत समाधी अवस्थेतच प्राय: असतो. कदाचित् प्रारब्धकर्मामुळे समाधीतून व्युत्थान झाले तर त्या वेळी सर्व प्राणिमात्रांचे ठायी आपल्याप्रमाणेच सुख किंवा दु:ख तो पहात असतो. आपल्या दु:खाचा जसा परिहार करावा तसाच दुसऱ्याच्याही दु:खाचा करतो. स्वत:प्रमाणेच इतरांच्याही सुखाकरिता झटतो हा परमयोगी होय. आणि नुसते तत्त्वज्ञान ज्याला झाले आहे पण मनोनाश व वासनाक्षय यांचा अभ्यास नसल्याने ज्याला जीवन्मुक्ती-सुखाचा अनुभवच नाही आणि ज्याचा दृष्ट दु:खाचा अनुभव संपलेला नाही, शरीरपातानंतरच ज्याला मुक्ती मिळणारी आहे, असा योगी अर्थातच अपरम-कनिष्ठ दर्जाचा, योगी होय. म्हणून तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय या तिघांचाही अभ्यास सतत, मिळूनच केला पाहिजे कारण शेकडो जन्म मागे लागलेला हा संसार तशाच चिरकाल दृढ अभ्यासावाचून जाणे शक्य नाही हे वसिष्ठ सांगतात -

'जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसन्तति: ।
सा चिराभ्यासयोगेन न विना क्षीयते क्वचित् ।।'

तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय हे तीनीही एकमेकाला पोषक आहेत. हे संपूर्ण विश्व, अद्वितीय, सच्चिदानंदरूप आत्म्याच्या ठिकाणी कल्पनेने भासते. अर्थात ते खोटे आहे, आत्माच एक खरा आहे, तो मी आहे असे ज्ञान म्हणजे तत्त्वज्ञान होय. पेटलेल्या अग्नीच्या ज्वाला जशा सारख्या एका मागून एक उत्पन्न

होतात तशा मनाच्या वृत्ती सारख्या उद्‌भवत असतात. त्या वृत्ती कमी कमी होता होता, धश्वनरहित अग्नीप्रमाणे मन वृत्तिशून्य होऊन राहाणे म्हणजे मनोनाश होय. त्या त्या प्रसंगी एकदम काम, क्रोध इत्यादी वृत्ती मनामध्ये ज्या उत्पन्न होतात त्यांना कारण असणारा चित्तातील सूक्ष्म संस्कार म्हणजे वासना. अशुद्ध कामक्रोधादी वासना या आसुरी संपत्तिरूप आहेत आणि शुद्ध वासना म्हणजे दैवी संपत्तिरूप आहेत. पूर्ण विवेकाभ्यासाने चित्तवृत्तींचा उपशम दृढ झाला असता बाहेरील निमित्त उद्‌भवले तरी क्रोधादि विकार उत्पन्नच न होणे याचे नाव वासनाक्षय होय. संपूर्ण विश्व मिथ्या आहे असे तत्त्वज्ञान झाले असता, शशशृंगाप्रमाणे आपल्याला जगाचा काहीच उपयोग नाही असे ज्ञानी मनुष्याला वाटत असल्यामुळे बाह्य विषयाकार मनोवृत्तीच उत्पन्न होत नाही. त्यामुळे हळूहळू वृत्ती शून्य होत जाणाऱ्या मनाचा निरिंधन अग्नीप्रमाणे नाश होतो. मन नष्ट झाले असता, संस्काराला उद्‌बोधक बाह्य निमित्तच नाहीसे झाल्यामुळे क्रोधादी वृत्तीच उत्पन्न होऊ शकत नाहीत. त्यामुळे मनाचा नाश म्हणजे वृत्तिशून्य अवस्था होते. मनाच्या वृत्ती बंद पडल्यामुळे शमदमादिकांचा उद्‌भव होऊन तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते. तत्त्वज्ञान उत्पन्न झाल्यामुळे रागद्वेषादी वासनांचा क्षय झाल्याने प्रतिबंध दूर झाल्यामुळे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते. याप्रमाणे तत्त्वज्ञान, मनोनाश व वासनाक्षय हे तीनीही वरीलप्रमाणे परस्परांना पोषक आहेत. म्हणून या तिघांचाही सारखाच अभ्यास मुमुक्षूने करणे योग्य आहे. यामध्येही, प्रयोजनानुसार मुख्य, अमुख्य असा अभ्यास ठरतो. मुमुक्षूला जीवन्मुक्ती व विदेहमुक्ती दोन प्रयोजने आहेत. विदेहमुक्तीची इच्छा असणाऱ्यास तत्त्वज्ञानाभ्यास मुख्य आहे. बाकीचे दोन गौण आहेत. जीवन्मुक्तीची इच्छा असणाऱ्यास मनोनाश व वासनाक्षय मुख्य असून तत्त्वज्ञान गौण आहे असा या अभ्यासामध्ये फरक आहे. श्रवण, मनन, निदिध्यासन हे तत्त्वज्ञानाचे उपाय प्रसिद्ध आहेत. शुद्ध वासना अधिकाधिक निर्माण करून मलिन वासनांचा क्षय करीत राहाणे हा वासनाक्षयाचा उपाय शास्त्रसंमत आहे. एकच महायोग चार प्रकारच्या अंतर्भूमिकामुळे चार प्रकारचा शास्त्रकारांनी दाखविला आहे. तो असा

श्रीस्वामीमहाराजप्रणीत कुंडलिनीयोग

'मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका: क्रमात् ।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ।।'

(योगशिखोपनिषत्)

मंत्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोग असे चार योगाचे प्रकार वरील श्लोकात दाखविले आहेत. गुरूपदिष्ट मंत्राचा जप, सच्छास्त्राचा अभ्यास, मंत्रदेवतेचे चिंतन हा सर्व मंत्रयोग होय. याचे फल समाधिसिद्धी हे आहे. चित्त लीन, वृत्तिशून्य होणे याला लययोग म्हणतात. षट्चक्रांच्या वेधाने प्राण स्थिर झाला असता लययोग सिद्ध होतो. गुद, उपस्थ, नाभी, हृदय, कंठ व भ्रूमध्य या सहा स्थानात क्रमाने आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा या नावांची सहा चक्रे आहेत. काही ठिकाणी आठ चक्रे तर काही ठिकाणी नऊ चक्रेही दाखविली आहेत. ती अशी -

'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूर्ययोध्या ।
तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ।।
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्य अरे त्रिप्रतिष्ठते।।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदु: ।।'

(अथर्ववेद कां. १० सूक्त २ मंत्र ३१-३२)

अर्थ :- आठ चक्रे आणि नऊ द्वारे असलेली ही (तनु) देवतांची अयोध्यापुरी आहे. या पुरीमध्ये जो सुवर्णमय कोश ज्योतीने आवृत आहे तोच स्वर्ग आहे. त्या सुवर्णमय कोशात, जो तीन अरांनी तीन प्रकारांनी प्रतिष्ठित आहे, आत्मरूपी यक्ष राहात आहे, त्याला ब्रह्मवेत्ते लोक जाणतात. या मंत्रात आठ चक्रांचा उल्लेख आहे. नऊ चक्रांचा उल्लेख असलेले प्रमाण असे -

'नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ।।'

(शुक्लयजुर्वेदमण्डल ब्राह्मणोपनिषत् ४)

अर्थ :- नऊ चक्रे, सहा आधार, तीन लक्ष्य व पाच आकाश यांचे चांगल्या प्रकारे ज्ञान ज्याला नाही तो नुसता नावाचा योगी आहे. ऋग्वेदातील सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषदामध्येही नऊ चक्रांचे सविस्तर वर्णन आहे. सहा प्रसिद्ध चक्रांची नांवे व स्थाने वर दिलेली आहेतच. याशिवाय कंठस्थ विशुद्ध-चक्राच्यावर तालुचक्र सहावे; भ्रूचक्र, ज्याला ज्ञाननेत्र म्हणतात ते सातवे; आज्ञाचक्र आठवे व त्याच्यावर मूर्धास्थानात आकाशचक्र नववे सांगितले आहे. सहस्रारच आकाशचक्र आहे. याला चक्रांत घेतले नाही तर आठच चक्रे होतात. या चक्राचे स्थान सुषुम्ना नाडीच्या आत आहे. सुषुम्ना नाडीचे वर्णन पुढीलप्रमाणे केले आहे -

'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः सदेहभृत् ।
दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाडीति कथ्यते।।'

(योगशिखोपनिषत्)

गुदाच्या पाठीमागच्या भागात एक वीणादंड देहाला धारण करणारा आहे. तो मोठ्या हाडाचा बनविलेला असून वरपर्यंत गेला आहे. त्याच्यामध्ये ब्रह्मनाडी म्हणजे सुषुम्ना आहे. त्या सुषुम्नेतून प्राण वर चढू लागला असता तो आज्ञाचक्रात येऊन पोचला म्हणजे चित्तलयरूप लययोग सिद्ध होतो. मनाचे संकल्प विकल्प शांत होऊन पूर्ण एकाग्रता होणे हे लययोगाचे प्रयोजन आहे.

आज्ञाचक्राच्या वर ब्रह्मारंध्रातील सहस्रारामध्ये प्राण जाऊन स्थिर झाला असता राजयोगाची प्राप्ती होते. यामुळे निर्बीज समाधी, प्राणलय, चित्तलय, द्रष्टा जीव, वृत्तिरूप टाकून आपल्या मूलस्वरूपाने परब्रह्मरूपाने राहाणे इत्यादी फले प्राप्त होतात.

मंत्रयोग, लययोग व राजयोग या तीन योगप्रकारांचे संक्षिप्त वर्णन वरीलप्रमाणे दिले आहे. योगाचा चौथा प्रकार हठयोग हा आहे. याचेच प्राधान्याने वर्णन योगरहस्यामध्ये श्रीमहाराजांनी केले आहे. आरंभी नवव्या श्लोकात, 'हठयोगं समभ्यसेत्' असा तेथे उपक्रम करून पुढील निरूपण केले आहे. त्या श्लोकाच्या टीकेत हठयोग शब्दाचा अर्थ पुढीलप्रमाणे दिला आहे -

'हकार उच्यते सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
इति तयो: प्राणापानयो योगो हठयोग: ॥'

प्राण व आपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग. हे ऐक्य दोन प्रकारांनी करता येते. प्राणाचे अपानाशी मेलन किंवा अपानाचे प्राणाशी मेलन या दोन प्रकारांनी प्राण व अपान यांचे ऐक्य म्हणजे हठयोग सिद्ध होतो. हेच भगवद्गीतेत चौथ्या अध्यायात,

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे'

या वाक्याने सांगितले आहे. अपान शक्तीचे स्थान गुद व उपस्थ आहे. म्हणजे आधारचक्राच्या समीप अपान वायु असून त्याची अधोगती आहे. प्राणवायू हृदयाच्या वरच्या भागात काम करीत आहे. त्यापैकी, ' अपाने जुह्वति प्राणं' हा प्रकार म्हणजे अपानाशी प्राणाचा योग करणे. याची पद्धत अशी -

अपान शक्तीत प्राणाची आहुती देण्याकरिता प्राणाला खाली आणले पाहिजे. प्रथम हळू हळू पूरकाने प्राणवायू फुप्फुसात खेचून घ्यावा. नंतर कंठाचा संकोच करून - जालंधरबंध करून त्या वायूला जोराने खाली दाबावे लागते. या अभ्यासाने प्राणशक्ती वरच्या भागातील सर्व नाड्यांतून खेचली जाऊन खाली उतरू लागते आणि हळूहळू कंदाच्या जवळ मूलाधार चक्रात येते. त्याच्या अगोदरच साधकाने सिद्धासन किंवा गुदाचे संकोचन करून मूलबंध यांच्या द्वाराने खाली जाणाऱ्या अपानशक्तीला रोखून धरलेले असते. त्या अपानाशी वरून येणाऱ्या प्राणाचे ऐक्य होते, याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेच्या

द्वारातून आत प्रवेश करतात. ते द्वार मूलाधार व स्वाधिष्ठान यांच्या मध्ये असणाऱ्या कुंडलिनीच्या स्थानावरच आहे. याप्रमाणे प्राण व अपान दोनी एक होऊन सुषुम्नेत प्रविष्ट झाले असता, घटावस्था म्हणून योगाची दुसरी अवस्था सिद्ध होते आणि तो पुरुष थोड्या प्रयत्नाने किंवा केवळ संकल्पानेही प्राणाचा प्रवाह शरीरातील कोणत्याही भागात सहज नेऊ शकतो. प्राणापानाच्या ऐक्याची दुसरी पद्धती अशी आहे -

आत घेतलेला वायू रेचकद्वारा हळूहळू बाहेर सोडून, मूलबंध, तसेच पोट पाठीकडे आत खूप ताणावयाचे म्हणजे उड्डियानबंध करून खालच्या अपानाला वरच्या भागात खेचून घेतले असता वर अपान व प्राण यांचे ऐक्य होते, यालाच भगवद्गीतेमध्ये प्राणात अपानाची आहुती देतात असे म्हटले आहे. याप्रमाणे प्राणापानांचे ऐक्य, करून त्यांचा सुषुम्नेमध्ये प्रवेश झाला म्हणजे प्राणायामाची सिद्धी झाली असे समजावे. प्राणायामाची होणारी सिद्धी, नाडीशुद्धी, प्राणलय व चित्तलय या प्रकारची योगरहस्यामध्ये तेराव्या श्लोकात श्रीमहाराजांनी दाखविली आहे. दुसऱ्या पद्धतीप्रमाणेच प्राणापानांचे ऐक्य, हठयोगप्रदीपिकाकारांनी दाखविले आहे, ते श्लोक असे -

'अधोगतिमपानं व ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः।। ६२।।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।। ६४।।[१]

---

[१] *स्वाभाविक खाली जाणारा अपान (गुदाच्या) आकुंचनाने बळाने वर चढवण्याला योगी मूलबंध म्हणतात. प्राण आणि अपान तसेच नाद आणि बिंदू यांचे मूलबधाने ऐक्य केल्याने योग उत्तम प्रकारे सिद्ध होतो यांत संशय नाही.*

या श्लोकाचा भाव टीकाकार वर्णन करतात -

'अयं भाव:। मूलबंधे कृतेऽपान: प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरिगत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्निगच्छत:। ततो योगसिद्धि:।' [१] (तृतीयोपदेश)

अपान उर्ध्वगती होऊन पुढे काय काय कार्य होते ते पुढील श्लोकातून दाखविले आहे -

'अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वन्हिमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ।। ६६।।

ततो यातो वन्ह्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ।। ६७।।

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजंगीव नि:श्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।। ६८।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत्।' [२]

(तृतीयोपदेश)

[१] *याचा भावार्थ. मूलबंध केल्याने प्राण अपानासह मिळून सुषुम्णेत प्रवेश करतो. तेव्हां नादाची अभिव्यक्ति होते. नंतर नादासह प्राण आणि अपान हृदयाच्या वर जाऊन बिंदूशी एकरूप होऊन टाळूकडे जातात. मग योग सिद्ध होतो.*

[२] *अपान वर चढू लागला की तो अग्निमडलांत जातो तेव्हां त्या वायूच्या आघाताने अग्नीची मोठी ज्वाळा निर्माण होते. त्या अग्नि आणि अपानवायूंमध्ये उष्ण असा प्राणवायू शिरतो. त्यायोगें देहस्थित अग्नीचा मोठा भडका होऊन त्या प्रदीप्त अग्नीने झोंपलेली कुंडलिनी संतप्त होऊन काठीने मारलेल्या नागिणीसारखी फूत्कार करीत (वेटोळीं सोडून) सरळ होते आणि बिळांत शिरावे तशी ब्रह्मनाडीत (सुषुम्णेत) प्रवेश करते. त्यासाठी योग्यांनी नित्य मूलबंधाचा अभ्यास करावा.*

मूलबंधाच्या अभ्यासाने अपान ऊर्ध्वगती होऊन वन्हिमंडलापर्यंत येतो. हे वन्हिमंडल त्रिकोणाकृति नाभीच्या खाली आहे. याबद्दल याज्ञवल्क्यांचे विवरण असे आहे -

'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभं ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदां ।।
मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद् ब्रवीमते ।
तन्मध्ये तु शिखातन्वी सदा तिष्ठति पावके।। '

अपानवायू खालून वर येऊ लागला असता, त्याच्या आघाताने नाभी खालच्या त्रिकोणाकृती मंडलात असणारी जठराग्नीची सूक्ष्म ज्वाला वाढू लागते. नंतर तो वायू व वन्ही वर तापलेल्या प्राणात जाऊन मिसळतात. त्यामुळे खालून अपानाच्या आघाताने पेटलेला जठराग्नी वरून प्राणाच्या आघाताने अत्यंत प्रदीप्त होतो. त्यामुळे अत्यंत संतप्त झालेली निद्रिस्त कुंडलिनीशक्ती चांगली जागी होते व आपली साडेतीन वेटोळी सोडून सरळ होते आणि सुषुम्ना नाडीमध्ये प्रवेश करते. याप्रमाणे कुंडलिनी शक्ति जागृत करण्याचे उपाय व ती जागृत झाली असता मिळणारी सिद्धी यांचे वर्णन वीस ते तेवीस श्लोकांपर्यंत श्रीमहाराजांनी केले आहे. आसन, प्राणायाम, मुद्राबंध यांचा अभ्यास म्हणजे हठयोगाचा अभ्यास याने कुंडलिनी जागृत होते. या योगाप्रमाणेच दुसराही कुंडलिनीयोग शास्त्रसंमत असा आहे. त्याबद्दल थोडेसे दिग्दर्शन करून हा विषय पूर्ण करावयाचा आहे.

कुंण्डलिनी योग

विश्वातील चेतन, अचेतन सर्व विभागांमध्ये एक विलक्षण शक्ती अनुभवसिद्ध आहे. परस्परविरोधी पंचभूतांमध्ये दिसून येणारा समन्वय, त्या शक्तीच्या नियमनामुळेच आहे असे मान्य करावे लागते. नाही तर परस्परांच्या धर्मसांकर्याने जगाचा नाश झाला असता. ही शक्ति परब्रह्माची किंवा परमात्म्याची

आहे असे, 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' इत्यादि वाक्यांवरून सिद्ध होते. याबद्दल पंचदशीकार सांगतात -

'शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषुवस्तुषु।। ३८।।

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु।। ३९।।

(पंचदशी ३)

याच ईश्वरशक्तीची अभिव्यक्ती, त्या त्या उपाधीमुळे कमीजास्ती प्रमाणात असलेली दिसते. मनुष्यामध्ये बाल, तरुण, निरोगी, रोगी इत्यादी अवस्थामध्ये शक्ती कमी-जास्ती असलेली दिसून येते याला कारण, असंग, निर्विकार आत्मस्वरूप मानता येत नाही. तर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धी इत्यादी उपाधीमुळेच हा शक्तिभेद मान्य करावा लागतो. ही शक्ती शक्तिमानाहून भिन्नही ठरविता येत नाही. पंचमहाभूतांच्या आधाराने व्यक्त होणाऱ्या या शक्तीला जड शक्ती किंवा भौतिक शक्ती असे म्हटले जाते आणि शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि इत्यादीकांच्या आश्रयाने अभिव्यक्त होणारी हीच शक्ती चेतन शक्ती समजली जाते. मनुष्यामध्ये असणाऱ्या या आध्यात्मिक शक्तीलाच कुंडलिनी म्हणतात. कुंडलिनीचा आकार सर्पासारखा मानलेला आहे ब्रह्मांडधारी शेषही सर्परूपच आहे. तात्पर्य समष्टी किंवा व्यष्टिरूप पिंडब्रह्मांड धारण करणारी ही शक्ती एकच आहे.

'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'[१]

(छांदोग्य १। ११। ५)

'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः।(छांदोग्य ६। ८। २)[२]

[१] *हे सर्वच जीवमात्र प्राणानेच (जीवनांत) प्रवेश करतात आणि प्राणानेच (जीवन) सोडतात.*

[२] *मन हे प्राणानेच बद्ध आहे.*

स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः

(कौषीतकी उपनिषत् ३। ८)[१]

इत्यादी वाक्यांमध्ये वर्णिलेला प्राण म्हणजे हीच शक्ती आहे. उपनिषदांमध्ये प्राणोपासनेचे महत्त्व दाखविले आहे. हा प्राण म्हणजे प्राणवायूपेक्षा भिन्न ईश्वररूप आहे.

'हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा प्राण इत्यभिधीयते'

या वाक्यात वर्णिलेला हिरण्यगर्भ किंवा प्राण, केवल वायूरूप नसून सर्वही सूक्ष्म शरीरांचा नियामक परमात्माच आहे.

'अत एव प्राणः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२३) या अधिकरणामध्ये प्राण म्हणजे ब्रह्म असा निर्णय सूत्रभाष्यामध्ये केला आहे. याबद्दल शास्त्रामध्ये पुढीलप्रमाणे वर्णन आले आहे.

'ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।

महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी।।'

ही शक्ती सुवर्णाप्रमाणे भासणारी सत्व, रज व तम या तीन गुणांना व्यक्त करणारी विष्णूची-व्यापक परमात्म्याची निर्भय करणारी शक्ती आहे असे समजावे. या परब्रह्मरूपी शक्तीला महाकुंडलिनी असेही म्हणतात. हीच जीव शक्तीही असून कुंडलयुक्त तेजोमय प्राणाकारही आहे.

कुंडलिनी शक्तीला बुद्धिमान् मनुष्याने, तिच्या स्थानातून म्हणजे मूलाधारातून भ्रूमध्यापर्यंत संचलित केले पाहिजे. यालाच शक्तिचालन म्हणतात. याबद्दल प्रमाण असे-

[१] *तो हा प्राणच प्रज्ञात्मा, आनंद आणि अजरामर आहे.*

'कुण्डल्येव भवच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥'

सद्गुरूंच्या शक्तिपातदीक्षेने या शक्तीचे चालन होते. म्हणजे ती जागृत होते. गुरू हे आपल्या शिष्याचे ठिकाणी आध्यात्मिक शक्तीचा पात करून त्याचे परतत्वाशी ऐक्य घडवून आणतात. याबद्दल आगमग्रंथात पुढील उल्लेख आला आहे

'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतु शक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्य मूर्तिस्थः॥'

शक्तिपाताचे प्रयोजन आणखी एके ठिकाणी असे दिले आहे -

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम्॥

तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥'

मायेचा बाध तत्त्वज्ञानानेच होतो. अन्य कर्मादिकांनी होत नाही. वेदान्त महावाक्यापासून उत्पन्न होणारा जीव ब्रह्मैक्याचा अनुभव म्हणजे ज्ञान होय. ते ज्ञान, ईश्वरप्रसादाने सद्गुरूंची कृपादृष्टी पडली असता अधिकारी शिष्याला महावाक्यद्वारा शक्तिपाताने उत्पन्न होते.

शक्तिपात या शब्दामुळे उत्पन्न होणारे काही आक्षेप व त्यांचे समाधान शक्तिरहस्यामध्ये पुढीलप्रमाणे केले आहे-

'व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम्।
उर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च॥

सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत्स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशबद्धेषु संवृता।
पक्कदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते॥'

अर्थ :- ही श्रेष्ठ शक्ती सर्वव्यापक अशी आहे. तर मग तिचा पात होतो असे कसे म्हणता येईल? सर्वव्यापक नसणारा मूर्त पदार्थ वरून खाली येणे, जसे वरून फेकलेला चेंडू खाली पडणे याला पात असे म्हणतात. हा सर्वव्यापक शक्तीचा कसा संभवतो? असा येथे आक्षेप घेतला असता, याचे समाधान असे की - तुमचा आक्षेप सत्य आहे. पण येथे शक्तिपात शब्दाचा अभिप्राय असा आहे - ही शक्ती परमात्म्याप्रमाणे सर्वव्यापक, स्वाभाविक, नित्य अशी आहे हे खरे, पण अनेक जन्मांच्या पाप-वासनारूप पाशांनी जखडलेल्या जीवांच्या ठिकाणी ही शक्ती आच्छादित झालेली असते. ज्यांचे मनोदोष परिपक्क झालेले असतील अशा अधिकारी पुरुषांच्या त्या दोषांचा समूल उच्छेद होऊन सद्गुरू कृपेने ती शक्ती त्या अधिकारी, पुरुषांचे ठिकाणी अभिव्यक्त होते. यालाच शक्तिपात अशी औपचारिक संज्ञा आहे. शिष्यामध्ये असणाऱ्या शक्तीला जागे करणे यालाच शक्तिपात असे म्हणतात. शक्तिजागृतीने प्राणवायू ऊर्ध्वगामी होतो. आणि चित्त व प्राण दोघांचाही पूर्ण लय होतो म्हणून या कुंडलिनी योगाला महायोग असे म्हणतात. म्हणजे हा योग पातंजलादियोगापेक्षा निराळा आहे असे नसून हाही त्यांच्याप्रमाणेच चित्तवृत्तिनिरोधरूपच आहे. पण हा गुरुकृपेने शीघ्र प्राप्त होतो. इतर मार्ग परिश्रमसाध्य आहेत इतकाच विशेष यामध्ये आहे. मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग या सर्व भूमिका क्रमाने या कुंडलिनी योगामध्ये अंतर्भूत होतात असा अभिप्राय आहे.

गुरुतत्त्व

शक्ती जागृत होण्याकरिता, सद्गुरूंच्याकडे जाणे आवश्यक आहे. शक्तिपात करण्याचे सामर्थ्य असणारे व निग्रहानुग्रहशक्ति असणारे सद्गुरु असतात. ते शिष्याची परीक्षा करून योग्यता असल्यास शक्तिपातदीक्षा देतात. ही दीक्षा होताच, जसे एका दिव्याने दुसरा दिवा लागतो त्याप्रमाणे गुरुशक्तीच्या संबंधाने शिष्याची कुंडलिनीशक्ति जागृत होते. त्यामुळे दिव्यज्ञान-प्राप्तीला प्रतिबंधक पातक, चित्तचांचल्य, अज्ञानाचे आवरण इत्यादी सर्व दोषांचे निरसन हळूहळू अभ्यासाने होऊ लागते. शक्तिपात दीक्षेची गुरुपरंपरा, अनादिकालापासून चालत आलेली आहे. बहुतेक सर्व संप्रदायांमध्ये न्यूनाधिक शक्तिसंचार मंत्रोपदेशद्वारा होत असतो. मंत्रामध्ये जेवढी अक्षरे असतील तितके लक्ष जपाने मंत्रचैतन्यशक्ति जागृत होते. कलियुगामध्ये चौपट जपाची आवश्यकता, 'कलौ स्यात्तु चतुर्गुणम्' इत्यादी वाक्यांनी दाखविली आहे. म्हणजे गायत्री मंत्राचा पुरश्चरण जप ९६ लक्ष करावा लागेल. जप संख्येच्या दशांश हवन, हवनाच्या दशांश तर्पण, तर्पणाच्या दशांश मार्जन आणि मार्जनाच्या दशांश ब्राह्मणभोजन याप्रमाणे मंत्राचे पंचांग पुरश्चरण झाले म्हणजे तो मंत्र चेतन, सिद्ध होतो. म्हणजे साधकाचे ठिकाणी गुरुतत्त्व जागृत होते किंवा मंत्रदेवतेचे प्रत्यक्ष दर्शन होते. मानव गुरु जरी असंख्य असले तरी सर्वांमध्ये गुरुतत्त्व हे शुद्ध पारमार्थिक तत्त्व एकच आहे. म्हणूनच योगशास्त्रामध्ये - 'स (एव) पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र १। २६) असे ईश्वराचे लक्षण केले आहे. कुंडलिनी शक्तिसुद्धा ईश्वररूपच आहे. तीच सर्व मंत्ररूप व सर्व देवतारूप आहे. ती जागृत होऊन सुषुम्ना नाडीतून तिचे आरोहण, अवरोहण सुरू होण्याकरिता सद्गुरूंच्या साहाय्याची अत्यंत अपेक्षा आहे. याकरिता सद्गुरूंच्या समागमाची फार जरूरी आहे. दूरदेशामुळे तो होत नसल्यास ध्यानादिद्वाराने तरी तो मिळविला पाहिजे. गुरुतत्त्व ज्यांच्या ठिकाणी पूर्णपणे जागृत झाले आहे तेच शिष्याला साहाय्यक होत असल्यामुळे त्यांना

सद्‌गुरु म्हणतात. याकरिताच 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:' इत्यादी श्लोकात त्रिमूर्ती स्वरूपाने केलेली त्यांची स्तुती यथार्थ आहे. कुंडलिनी ही सर्वशक्तिसंपन्न ईश्वराची चिन्मयी शक्ती आहे. हिलाच, वेदान्ताचे आचार्य चितिशक्ती म्हणतात; भक्तीचे आचार्य आल्हादिनीशक्ती; योगी लोक कुण्डलिनीशक्ती; व मंत्रयोगी मंत्रचैतन्यशक्ती असे म्हणतात. गुरु-शिष्यांचा संबंध पितापुत्राप्रमाणे वात्सल्यपूर्ण असा आहे. गुरूविषयी आदरभावना शिष्याच्या अंत:करणात नित्य असली पाहिजे. गुरू साक्षात् ईश्वररूप आहे ही भावनाच शिष्याच्या उन्नतीस कारण आहे असे, 'यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादी शास्त्रवचनांवरून सिद्ध होते. मूर्तीचे पूजन केले असता जसे देवाचे पूजन होते तसे गुरूचे पूजन केले असताही देवाचीच पूजा होते. गुरूंविषयी किंवा गुरुबंधूविषयी ईर्ष्या, असूया, द्वेष, वैमनस्य इत्यादि दोष शिष्याच्या मनात कधीच उत्पन्न होऊ नयेत याबद्दल दृष्ट, अदृष्ट प्रयत्न सतत केला पाहिजे. नाहीतर या दोषांमुळे जागृत झालेल्या शक्तीचा विकास स्थगित होण्याचा संभव आहे. ज्या गुरुकुलामध्ये परस्पर सौहार्द भावना उत्तम प्रकारची आहे तेथे गुरुतत्त्वाचा विकास अधिकाधिक सर्वकल्याणप्रद असा होत राहतो. आणि जेथे या दोषांचा प्रवेश झाला त्या गुरुकुलातील गुरुतत्त्वाची झालेली अभिव्यक्ती ही लुप्त होऊन जाते. या करिताच वेदामध्ये पुढीलप्रमाणे प्रार्थना केलेली आहे. 'ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।' गुरू, शिष्य आम्ही दोघांनीही एकमेकांचे रक्षण करावे; दोघांनी मिळून भोगामध्येही परस्पर साहाय्य करावे. परस्पर सहाय्यक बनून बल, वीर्य, तेज यांची वृद्धी करावी; साधन, अध्ययन यांच्या द्वाराने सर्व गुरुबंधू तेजस्वी बनावेत; कोणीही कोणाचा द्वेष करू नये, आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक या तीनीही विभागांमध्ये पूर्ण शान्ती रहावी. असा वरील प्रार्थनेचा अभिप्राय आहे.

दीक्षेचे प्रकार

गुरूकृपाद्वारा कुंण्डलिनी शक्ती जागृत होणे यालाच शक्तिपात किंवा वेधदीक्षा असे म्हणतात. सद्‌गुरू हस्तस्पर्शाने, मंत्रोपदेशाने, दृष्टीने किंवा संकल्पाने श्रद्धाळू शिष्यामध्ये शक्तीचा संचार करीत असतात. यामध्ये संकल्प हा सर्वांमध्ये अनुस्यूत असल्याने तोच मुख्य आहे. स्पर्शादिक बाह्य साधन आहे. स्पर्शद्वारा होणारी दीक्षा स्थूलदीक्षा, मंत्रोपदेशद्वारा होणारी सूक्ष्म, दृष्टीद्वारा सूक्ष्मतर आणि संकल्पानेच होणारी दीक्षा सूक्ष्मतम दीक्षा होय. यांपैकी एक, दोन किंवा तीनीही द्वारांचा उपयोग इच्छेप्रमाणे सद्‌गुरू करीत असतात. काही उत्तम अधिकारी शिष्यांमध्ये संकल्पावाचूनही शक्तिपात झाल्याची उदाहरणे आहेत. याकरिताच सत्संगाचे माहात्म्य शास्त्रकारांनी फार वर्णन केले आहे. श्रीमहाराजांचाही एक अभंग प्रसिद्ध आहे. तो असा

'सदा संतांपासी जावे। त्यांचे जवळी बैसावे।। १।।
उपदेश ते न देती। तरी ऐकाव्या त्या गोष्टी।। २।।
तेची उपदेश होती। त्याही कष्ट नष्ट होती।। ३।।
वासुदेव म्हणे संत। संगे करिती पसंत।। ४।।'

या दीक्षा, अधिकारीभेदामुळे भिन्न आहेत. कनिष्ठ, मध्यम व उत्तम असे तीन प्रकारचे अधिकारी आहेत. काही लोकांना शक्तीचा पूर्ण विकास होण्यासाठी कालावधीची अपेक्षा दिसते ते मंद अधिकारी समजावेत. काहींना प्रथमच जोराने शक्ती जागृति झाल्यासारखी दिसते. पण पूर्ण विकास हळूहळूच होत राहतो, हे मध्यम अधिकारी होत. काही थोड्याच मंडळींना मात्र गुरूच्या स्पर्शाने, दृष्टीने किंवा मंत्रोपदेशाने तत्काल विकासाचा आरंभ होऊन तो अधिकाधिक होत राहतो असे लोक उत्तमाधिकारी समजावेत. झाडावर मुंग्यांना चढून जाण्यास बराच कालावधी लागतो. वानरांना एका शाखेवरून दुसऱ्या अशा क्रमाने वर जावे

लागते. पण ते मुंग्यांपेक्षा लवकर वर जाऊन पोचतात. पण पक्षी मात्र एकदमच वरच्या शाखेवर जाऊ शकतात. याप्रमाणे साधकांचा अवस्थाभेद दिसून येतो.

शक्तिपात दीक्षेची प्रक्रिया

शक्तिपात दीक्षा कशी होते याबद्दल शास्त्रकारांचा अभिप्राय असा आहे - पातंजल योगसूत्रामध्ये चित्तस्थैर्याचे अनेक उपाय प्रथमपादामध्ये दाखविले आहेत. त्यामध्ये 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' (योगसूत्र १ - ३७) असे एक सूत्र आहे. हे सूत्र शक्तिपातदीक्षेला प्रमाणभूत आहे. याचा अर्थ - ज्यांचे राग-द्वेषादी मनोदोष पूर्णपणे नाहीसे झाले आहेत अशा निर्मल मनाच्या महापुरुषांचे चित्त. ज्याचा विषय म्हणजे आलंबन (आधार) झाले आहे असे योगाभ्यासी पुरुषाचे चित्त-स्थिर होते असा याचा सामान्यत: अर्थ आहे.

महापुरुषांचा संकल्प अमोध असतो. अमुक शिष्याचे चित्त स्थिर व्हावे असा त्यांचा संकल्प झाल्याबरोबर त्यांच्या त्या संकल्पयुक्त चित्ताच्या आश्रयाने शक्तीचा संचार शिष्याच्या चित्तात होऊन त्याचा वृत्तिनिरोध होतो. याप्रमाणे शिष्याला, वीतराग पुरुषाच्या चित्ताचे आलंबन मिळते. सिद्धपुरुषांची संकल्पशक्ती फार मोठी असते. परकायाप्रवेश सिद्धीचे वर्णन करीत असताना श्रीभागवतामध्ये श्रीकृष्णपरमात्मा असे सांगतात -

'परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूत: षडंघ्रिवत्॥'

(११ - १५ -२३)

दुसऱ्याच्या शरीरात प्रवेश करू इच्छिणाऱ्या योगी पुरुषाने, त्या शरीरात मी आहे अशी भावना करावी. अशा दृढ भावनेमुळे त्याचे लिंगशरीर वायुरूप बनून, एका फुलावरून दुसऱ्या फुलावर जाणाऱ्या भ्रमराप्रमाणे, दुसऱ्याच्या शरीरात प्रवेश करू शकते. याठिकाणी दृढ संकल्पाचेच महत्त्व व्यक्त केले आहे. तात्पर्य, सद्गुरूंच्या चित्ताचे द्वाराने शिष्यामध्ये शक्तिसंचार होतो असे सिद्ध होते.

प्राणशक्ती परमात्म्याची छाया आहे. तो प्राण बाहेर आदित्य, अग्नी, आकाश, सामान्य वायू व सामान्य तेज या रूपाने राहात असून, शरीरामध्ये प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान या रूपाने राहातो. आदित्यादी बाह्य रूपाने प्राण, अपान इत्यादी आंतर रूपांवर अनुग्रहही करतो. हा विषय प्रश्नोपनिषदातील तिसऱ्या प्रश्नात आलेला आहे. चित्ताचा व शक्तीचा किती दृढ संबंध आहे हेही त्यातील पुढील मंत्रात सुचविले आहे -

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशांततेजः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥ यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति। प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥' (प्रश्नोपनिषत् ३। ९ - १०)

तेजच उदान आहे. म्हणून ज्याचे तेज उपशान्त झाले आहे तो, ते तेज पुनः उत्पन्न करण्याकरिता, इंद्रियांचा मनामध्ये लय करतो म्हणजे प्रत्याहार करतो, आणि चित्ताची एकाग्रता करतो. मनुष्याला एकाग्र चित्तामुळे प्राणशक्ती प्राप्त होते असा या श्रुतिवाक्याचा अभिप्राय दिसतो. तो प्राण तेजाने युक्त होऊन संकल्पित सिद्धी प्राप्त करून देतो. चित्तनिरोध केला असता आदित्य, अग्नी, आकाश, वायु, तेज इत्यादी बाह्य पदार्थातील शक्ती आत खेचून घेता येतात. एकाग्र चित्त करणारा योगी पुरुष प्राणशक्तीला उदान रूप तेजाने युक्त करून तेजोमय बनतो. आणि त्याच प्राणशक्तीला, दुसऱ्याच्या ठिकाणीही दृष्टिद्वारा चाक्षुषप्राणाच्या साहाय्याने; अथवा मंत्रद्वारा अग्निस्वरूप समानशक्तीच्या आधाराने; किंवा स्पर्शद्वारा वायुस्वरूप व्यानशक्तीच्या आश्रयाने त्या शक्तीचे संक्रमण करू शकतो. तात्पर्य, योगी पुरुष आपल्या संकल्पाप्रमाणे प्राणशक्तीचा संचार शिष्यामध्ये करू शकतो. याबद्दल हे उपनिषद्वाक्य सूचक प्रमाण आहे. श्रीशंकराचार्य महाराजांनी या वाक्याचा अर्थ निराळा केला आहे. तथापि काही योगाभ्यासी पुरुषांचे मताने वरीलप्रमाणे, शक्तिपात दीक्षेला पोषक प्रमाणभूत असा याचा अर्थ दाखविला आहे. योगदृष्टीने, वरील उपनिषद्वाक्यामध्ये, शक्ती संपादन करण्याचे रहस्य स्पष्टपणे

दाखविले आहे. ज्याचे ब्रह्मतेज उपशान्त- क्षीण, झाले आहे असा मनुष्य आपली इंद्रिये, मन यांचा संयम स्वत: करू शकत नाही. त्याला शक्तिपातद्वारा गुरूच्या शक्तीच्या आलंबनाने तो संयम सुकर होतो. शक्तिपातानंतर शिष्याची शक्ती जागृत झाल्यावर तो स्वत:च आपल्या इंद्रियादिकांचा संयम करण्यास समर्थ होतो. मनोनिरोध जसा जसा होत जाईल तसा तसा शक्तिसंचयही अधिकाधिक होत रहातो.

शक्तीचा विकास

हा शक्तिपात मात्र धर्माधर्माची साम्यावस्था प्राप्त झाली असतानाच घडून येतो. ही अवस्था, शक्तिपातरूप कार्यावरूनच अनुमानाने मागाहून आपणास कळून येणारी आहे. या दीक्षेला सर्व वर्णाचे बाल, वृद्ध, तरुण, स्त्री, पुरुष सर्वही अधिकारी आहेत. दीक्षा झाल्यानंतर कंबलासन किंवा मृगाजिनादिकावर बसून पवित्र, एकांत स्थानात एकट्याने किंवा गुरुबंधूबरोबर हा अभ्यास नित्य करावा.

अभ्यासाने शक्तीचा विकास सर्वही कोशातून होत राहातो. अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय असे पाच कोश आहेत. स्थूल पार्थिव शरीर म्हणजे अन्नमय कोश होय. त्याच्या आत सर्व नाड्यातून व्यापलेला शक्तिमय प्राणमय कोश आहे. हृदयामध्ये अनेक वृत्तिरूप मनोमयकोश आहे. मस्तकामध्ये विज्ञानमयकोश आहे. या जन्मात किंवा पूर्वजन्मात केलेल्या बऱ्या वाईट कर्मांचे संस्कार विज्ञानमय कोशामध्ये साठून राहतात. हा कोश संस्काराशय आहे. याचा नित्यमुक्त ईश्वराला मात्र काही संबंध नाही. म्हणूनच 'क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर:' (योगसूत्र १-२४) या ईश्वरलक्षणात आशयाचा संबंध ईश्वराला नाही असे योगसूत्राकार सांगतात. पाचवा आनन्दमय कोश. हा आनन्दप्रचुर आहे. याची उत्कट स्फूर्ती सुषुप्तिसमयी असते. या पाचही कोशांचा विकास शक्तिपातानंतर होऊ लागतो. मुख्यत: प्राणशक्ती ऊर्ध्वगामी

होऊ लागते, करिता प्रथम प्राणमय कोशाचा विकास सुरू होतो. याची चिन्हे - डोके, डोळे, सबंध शरीर जड होणे इत्यादी आहेत. तसेच अन्नमय कोश म्हणजे स्थूल शरीराचा विकासही होतो. याची चिन्हे शरीर कापू लागणे, घुमू लागणे इत्यादि शारीरिक क्रिया सुरू होतात, मनामध्ये आनंद भरून जातो, केव्हा केव्हा निद्रासुद्धा येते, चित्तवृत्तींचा निरोध होऊ लागतो हा मनोमय कोशाचा विकास समजावा. दिव्यशब्दश्रवण, दिव्यरूपदर्शन, दिव्यस्वर्ग, दिव्यरस, दिव्यगंध यांचे ज्ञान होणे हा विज्ञानमय कोशाचा विकास होय. निरुपाधिक, निर्विषय, सात्त्विक आनंदाची अभिव्यक्ती म्हणजे आनंदमय कोशाचा विकास समजावा.

'महाकुंण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः ॥' (योगकुंण्डलिन्युपनिषत्)

कुंण्डलिनी परब्रह्मस्वरूप आहे तसेच ती शब्दब्रह्ममय म्हणजे प्रणवस्वरूप आहे. अकार, उकार व मकार हे क्रमाने तमोगुण, रजोगुण व सत्त्वगुण आहेत; आणि अर्धमात्रेपासून उत्पन्न होणारा ध्वनी- जो शुद्ध आत्मस्वरूपाचा अभिव्यंजक आहे, अशा साडेतीन मात्रा म्हणजे कुंडलिनी शक्तीची साडेतीन कुंडले समजावीत. ही आत्मशक्ती, मूलाधारात निजलेली आहे. आपल्या मुखात पुच्छ घेऊन, सुषुम्नेचे द्वार आडवून ही निजली असल्याचे दाखविले आहे. ही शक्ती जागी झाल्याबरोबर त्रिगुणात्मक बंधन ढिले पडते. आपली कुंडले सोडून ही सरळ सर्पाप्रमाणे होते व सुषुम्नेतून वर जाऊ लागते. हिचे जागे होणे व ऊर्ध्वगमन करणे हा प्रत्यक्ष अनुभव योगी पुरुषास येऊ लागतो.

योगाभ्यास, तीव्र वैराग्य, ज्ञान, भक्ती अथवा स्वतंत्र प्राणायामाभ्यास इत्यादि उपायांनी कुंण्डलिनी शक्ती जागृत होते. गुरुकृपेने होणाऱ्या शक्तिपातानेही जागृत होते. या प्रक्रियेमध्ये शक्तिजागृतीकरिता साधकाला विशेष आयास पडत नाहीत. अविद्या व विद्या अशा दोन अवस्था कुंडलिनीच्या आहेत. अविद्या अवस्थेमध्ये ती निद्रिस्त राहून संसारबंधनाला कारण होते. आणि विद्यावस्थेमध्ये

जागृत होऊन मोक्षप्रद होते. जागृत झाल्यानंतर तिची तीन रूपे अथवा तीन अवस्था आहेत. क्रियारहित, क्रियाशील व लयावस्था. पहिल्या क्रियारहित अवस्थेमध्ये मनुष्याची प्रवृत्ती विवेक, वैराग्य इत्यादि सद्‌गुणांकडे होते; पण मोक्ष साधनाचा आरंभ होत नाही. जागृत झालेली शक्ति फक्त पाप नाश करण्याचे कार्य करीत असते, पापनाश झाल्यानंतर क्रियाशील बनते, समाधी किंवा मोक्षावस्थेत शक्ती ब्रह्मात विलीन होते. ही तिसरी लयावस्था. सुप्तावस्थेत ती कंदस्थानात असत; क्रियारहित अवस्थेत स्वाधिष्ठानस्थानात राहाते; क्रियाशील अवस्थेत विशुद्धचक्रस्थानात राहून, मूलाधारापासून सहस्रारापर्यंत आरोहण-अवरोहण करीत राहाते. लयावस्थेमध्ये आज्ञाचक्रापासून ब्रह्मरंध्रापर्यंत राहाते. स्थूल, सूक्ष्म व कारण अशा तीन शरीराच्या क्रियाही भिन्न भिन्न असतात. शक्ती क्रियाशील अवस्थेत असताना हठयोगातील विविध आसने, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, भक्तीतील विविध अवस्था, नृत्य, गीत, सामगान, प्रणवोच्चारण, नामसंकीर्तन, मंत्रयोग, ज्ञानयोग इत्यादी अनेक क्रियांचा अनुभव साधकाला येऊ लागतो. या क्रियाही ज्याच्या त्याच्या प्रकृतीप्रमाणे, पूर्वसंस्काराप्रमाणे भिन्न भिन्न होत राहातात. सर्वांच्या सारख्या होत नाहीत. यामुळेच शक्तिपात योगाला सहजयोग किंवा स्वाभाविक योग असेही नाव पडले आहे. या क्रिया सुरू झाल्या असता कोणतीही हानी होण्याचा संभव नाही. कारण शक्तीच्या क्रियाशीलतेमुळे स्वाभाविक क्रियाच, त्या त्या साधकाच्या विकसित होतात आणि देश, काल, ऋतू यांच्या अनुरोधानेच साधकाच्या शरीर, मन, प्राण इत्यादिकांना अनुकूलच राहात असतात.

चक्रांचा वेध व योगभूमिका

जागृत झालेली शक्ती सुषुम्नेत प्रवेश करते आणि चक्राचा वेध करते. त्यामुळे सर्व नाड्यांची शुद्धी होते. सर्व नाड्यांचा संबंध सुषुम्नानाडीशी आहे. सुषुम्ना नाडीच्या शाखा-उपशाखातून निघालेल्या सर्व नाड्या शरीराच्या सर्व

भागात व्यापून राहिल्या आहेत. सुषुम्ना नाडीत प्रविष्ठ झालेली शक्ती चक्रांचा वेध करून सर्वही नाड्यांमधून वेगाने फैलावते. उंच टाकीमध्ये भरलेले पाणी, सर्व नळातून वेगाने वाहाते. एखाद्या नळात कदाचित काही प्रतिबंध असेल तर तोही त्या पाण्याच्या वेगामुळे आपोआप दूर होतो. याप्रमाणे सर्वत्र पसरलेली ती शक्ती प्राणामयकोशामध्ये प्राणाचे संचालन करते; त्यामुळे प्राणायामाची सिद्धी प्राप्त होते. प्राणाचा अपानाशी योग, अपानाचा प्राणाशी योग, दोघांचाही गतिनिरोध आणि केवल कुंभक अशा चारही प्रकारच्या प्राणायामांची सिद्धी, शक्ती जागृत होऊन क्रियाशील झाल्यावर आपोआप होते. त्यामुळे सुषुम्ना मार्गाचा वेध होऊन चित्ताची लयावस्था प्राप्त होते. तसेच मातृकाशक्तीचाही उद्‌बोध होऊन सिद्धमंत्रांची प्राप्ति होते. मातृकाशक्तीही कुंण्डलिनीशक्तीचेच एक रूप आहे, जिच्यामध्ये अकारापासून क्षकारापर्यंत सर्व वर्णमाला असून पद, वाक्य यांची रचनारूप वैखरी वाणी प्रकट होते. याकरिता कुंण्डलिनीला सरस्वतीही म्हटले आहे. ही सरस्वती सिद्ध झाली असता मंत्रादिकांचा विकास होऊ लागतो व योगी पुरुषामध्ये व्याख्यानशक्ती, कवित्वशक्ती इत्यादी शक्तींचा उद्‌भव होतो. 'अनादिष्टस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रबोधनम्' हे फल शास्त्राकारांनी दाखविले आहे. तसेच शक्तीच्या क्रियाशीलतेमुळे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधी ही योगाची आठही अंगे हळू हळू सिद्ध होऊ लागतात. शृंगार, वीर, करूण, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र आणि प्रेमात्मकभक्ती अथवा शान्त, अशा नवविध भावांनी तो साधक संपन्न होतो. सिद्धांचे दर्शन, इष्टदेवतेचे दर्शन त्याला घडते. ऊर्ध्वरेतस्त्व, खेचरीमुद्रा, रागद्वेष, काम, क्रोधादी वासनांचा समूल नाश होणे इत्यादी महत्त्वाची फलेही साधकाला प्राप्त होतात. तसेच, सूर्य, चंद्र, अग्नी, दीप, वीज, नक्षत्र इत्यादी तेजांचे दर्शन साधकाला होऊ लागते. डोळे उघडे असताना, डोळे बंद करून ध्यानावस्थेत किंवा समाधि अवस्थेत याप्रमाणे तीन प्रकारांनी ज्योतिर्दशन घडते. हे दर्शन ब्रह्मदर्शनच आहे

याबद्दल श्वेताश्वतरादी उपनिषदातून वर्णन आले आहे. ब्रह्म अव्यक्त असले तरी चित्तोपाधीमुळे वरीलप्रमाणे त्याचे व्यक्त दर्शन घडते. अभ्यासाने शक्तिविकास होऊन राहिला असता, आरंभ, घट, परिचय व निष्पत्ती या चार भूमिका प्राप्त होतात. इंद्रिय, मन यांची बहिर्मुखता कमी होऊन ती अन्तर्मुख होणे ही आरंभ भूमिका. सुषुम्ना नाडीतून प्राण ऊर्ध्वगामी होऊन नखशिखान्त त्याची स्थिरता होणे ही घटावस्था. ब्रह्मरंध्रामध्ये जाऊन प्राण स्थिर होणे ही परिचयावस्था आणि जीवनन्मुक्तिदशा प्राप्त होणे ही निष्पत्ती भूमिका. याप्रमाणे नाना प्रकारच्या सिद्धींचीही प्राप्ती योगी पुरुषाला होते. हे सर्व, ज्याचा अधिकार जसा असेल तसे घडून येते. नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग आत्मस्वरूपाला या फलांचा काहीच संबंध नाही. तो परमानंदरूप असून त्याच्याच आनंदलेशाचा अनुभव सर्व विश्वाला मिळून राहिला आहे. वरील सर्व फलसिद्धी विकसित चित्ताच्या भूमिका आहेत. समाधी अवस्थेच्या अभ्यासाने आत्मस्वरूपाचा साक्षात्कार झाल्यानंतर सर्वच द्वंद्वाची निवृत्ती म्हणजे मुक्तीची प्राप्ती होणारी आहे. हे मानव जीवनाचे शेवटचे मुख्य फल आहे. याकरिता श्रीमहाराजांनी 'श्रेष्ठपुंजन्मसाफल्यं कार्यं योगत्रयाश्रयात्। समसख्यातद्विसाहस्त्री-संहितासंग्रहस्त्वयम्' याप्रमाणे योगरहस्याच्या आरंभ-श्लोकात साधकाला कर्तव्याचा स्पष्ट आदेश दिलेला आहे.

नित्य साधनाभ्यासाचे महत्त्व

योगसाधन हे ज्ञानाचे अंतरंग साधन असून ते प्रारब्धकर्मांचाही प्रतिबंध करू शकते. हे प्रत्यक्ष फलदायी प्रयोगशास्त्र आहे. याचे महत्त्व हठयोगप्रदीपिकेचे टीकाकार ब्रह्मानंद यांनी पुढीलप्रमाणे वर्णन केले आहे

'यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम्।[१] तदुक्तं विष्णुधर्मे -

'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मण: संक्षयावह:।
यो योग: पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' इति। [२]

विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्- 'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यास: प्रबल:। अतएव योगिनामुद्दालक-वीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तं- 'देहं जह्यात्समाधिना' इति।[३] (हठयोगप्रदीपिका ३।८२)

असा सर्वश्रेष्ठ फलदाता योग असूनही इंद्रियांच्या विषयसक्तीमुळे हा अत्यंत कठीण वाटतो. त्यामुळे इकडे प्रवृत्ती, सर्वांची होत नाही. याबद्दल श्रीज्ञानेश्वर महाराजांनी फार सुंदर विवेचन केले आहे. ते असे -

---

[१] *जो साधक एक प्रहर नित्य अभ्यास करतो तो काळाला म्हणजे मृत्यूला जिंकतो. यावरून योगाने प्रारब्धकर्माचाही प्रतिबंध होतो असे दिसते.*

[२] *हे पृथ्वीपते, आपल्या देहाच्या उत्पत्तीला कारण असलेल्या कर्माचाही संक्षय करणारा जो योग त्याचे लक्षण ऐक.*

[३] *विद्यारण्यही जीवन्मुक्तीत म्हणतात - जसे प्रारब्धकर्म हे तत्त्वज्ञानाहून प्रबल तसाच कर्मापेक्षां योगाभ्यास प्रबल आहे. त्यामुळेच उद्दालक, वीतहव्य इत्यादी योग्यांच्या स्वेच्छेने देहत्याग करण्याचे स्पष्टीकरण होते.*

'आता तुझे मनोगत जाणोनी। काही एक आम्ही म्हणोनी। ते निके चित्त देवोन। परिसावे गा।। ५९।। तूं प्राप्तीची चाड वाहसी। परी अभ्यासी दक्ष न होसी। तें सांग पां काय बिहसी। दुवाडपर्णे ।। ३६०।। तरी पार्था हे झणे। सायास घेशी हो मनें। वायां बागूल इये दुर्जनें। इंद्रिये करिती ।। ६१।। पाहे पां आयुष्यातें अढळ करी। जे सरतें जीवित वारी। तया औषधातें वैरी। काय जिव्हा न म्हणे ।। ६२।। ऐसें हितासी जें जें निके। तें सदाचि या इंद्रिया दुखे। येऱ्हवी सोपें योगासारिखे। कांही आहे ।। ६३।। (ज्ञानेश्वरी ६।१९।३५९-३६३)

तात्पर्य, पूर्ण वैराग्य बाणवून घेऊन योगाभ्यास करणाऱ्यास योगसाधन अत्यंत सोपे व महाफलप्रद आहे. हाच अभिप्राय श्रीमहाराजांनी -

'तस्माद्वैराग्यतोऽभ्यासं गुरोरग्रे वितन्वतः ।
योगस्य प्राप्य संसिद्धिं विद्वान् मुक्तो भवेद् द्रुतम् ।।'

या श्लोकात मोठ्या कळकळीने व्यक्त केला आहे. आधिभौतिक विकासालाच प्राधान्य देणाऱ्या पाश्चात्यांच्या संसर्गामुळे आध्यात्मिक शक्तीची कल्पना तरी भारतवर्षासारख्या अध्यात्मविद्याप्रधान देशात राहाते किंवा नाही अशी परिस्थिति आज निर्माण होऊन राहिली आहे. अर्थ आणि काम याच्या पलीकडे काहीच नाही ही पाश्चात्यांची विचारसरणी भारतातही अधिकाधिक प्रसृत होऊ लागल्यामुळे धर्म, नीति, श्रद्धा, भक्ती, सदाचार इत्यादि ईशप्रसादसंपादक साधनांचा ऱ्हास होऊन राहिला आहे. अशा स्थितीत योगासारखी श्रद्धाधनसाध्य साधने दुर्मिळ होतील यात नवल ते काय? सर्वांचे कल्याण व्हावे या वात्सल्यपूर्ण दृष्टीने ज्या भगवंतांनी अर्जुनाला, 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि' असे आवर्जून सांगितले, त्यांनाच शेवटी

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

असे उद्गार काढण्याची पाळी आली. त्रिविध दुःखांचा आघात सारखा

होत आहे; त्यातून पूर्ण मुक्त होण्याची निश्चित साधनपद्धती, प्रत्येकाच्या अधिकारानुरूप ईश्वराने शास्त्ररूपाने पुढे मांडलेली आहे; साधन मार्गातील उद्भवणारे अंतराय दूर करून अत्यंत आत्मीयतेने मार्गदर्शन करू इच्छिणारे सिद्ध पुरुष, ईश्वराच्या आदेशानुसार सर्व कालात ते कार्य करून राहिले आहेत. अशी सर्व प्रकारची अनुकूलता असूनही नास्तिक्य व उपेक्षा यांचेच प्राबल्य वाढते. असलेले पाहूनच की काय 'अरतिर्जनसंसदि' या भगवद्वचनानुसार चिरंतन समाधिसुखात राहू इच्छिणारे श्रीज्ञानेश्वर महाराज शेवटी जी प्रार्थना करितात तीच प्रार्थना करून व बुद्धिप्रेरक दिव्य शक्तिसंपन्न सद्गुरुमूर्तीजवळ भक्तियाचना करून या लेखनाचा आम्ही समारोप करीत आहोत -

''चन्द्रमे जे अलांछन। मार्तंड जे तापहीन।
ते सर्वाही सदा सज्जन । सोयरे होतू ।। १।।
किंबहुना सर्वसुखी । पूर्ण होवोनी त्रिलोकी ।
भजिजो आदिपुरूषी। अखंडित ।। २।।

त्वयि भक्तिं मेवर्धय दुर्हृत्तम ईश नाशय अशेषम् ।
यच्च तवेष्टं तत्कुरु मयि भोः सर्वज्ञ वक्तुमसमर्थः।। १।।

श्रीगुरूचरणारविन्दार्पणमस्तु.

श्रीगुरूसेवार्थी,
-वामन दत्तात्रेय गुळवणी
अध्यक्ष,
श्रीवासुदेवानंद-सरस्वती ग्रंथ प्रकाशन मंडळ,
'पुणे'